॥ सार्थ श्रीज्ञानेश्वरी ॥

(गीता-ज्ञानोर्मि)

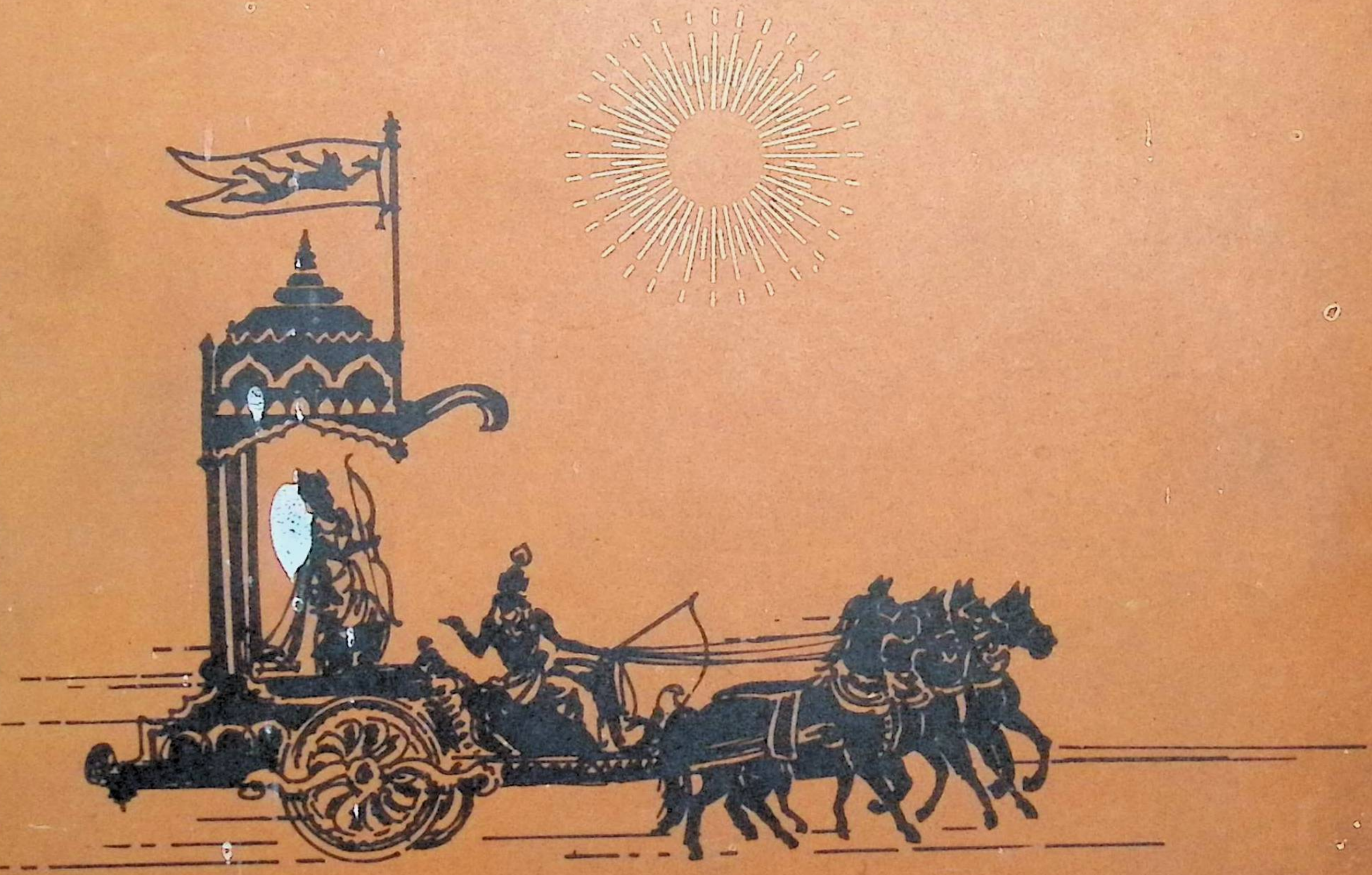

अनुवादिका - डॉ. श्रीमती उर्मिला जामदार

भारतीय विद्या भवन, बम्बई - ४००००७

डॉ. सौ उर्मिला जामदार

जन्म- २१ आक्टूबर १९२१, नागपुर
शिक्षा- बी.एस.सी. एल.एम.पी. (म.प्र.)
सामाजिक कार्य:-

१. अध्यक्षा : महिला योग मंडल जबलपुर
२. प्रांताध्यक्षा : महाकौशल विभाग विश्व हिंदू परिषद
३. माजी अध्यक्षा : बाल तरुण समाज १९८२-८३
४. उपाध्यक्षा : दत्त भजन मण्डल १९८४
५. उपाध्यक्षा : रोज सोसायटी १९७६
६. अध्यक्षा : तराना सांस्कृतिक संस्था १९८४
७. सदस्या : संगीत समाज
८. सदस्या : इंडियन मेडिकल एसोसियेशन
९. सदस्या : इंडियन आब्स्टेट्रिकल एण्ड गायनोकालाजीकल सोसायटी तथा अन्य अनेक सामाजिक उत्थान के कार्यों में संलग्न

संचालिका : त्रिवेणी मैटर्निटी होम, जबलपुर

☐ ज्ञानेश्वरी पद्य अनुवाद प्रारंभ
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् २०३६ (सन् १९७९)

☐ अनुवाद कार्य
आषाढ़ शुक्ल एकादशी संवत् २०४१ (सन् १९८४)

गद्यानुवाद संवत् २०४५ (सन् १९८८) में संपूर्ण हुआ

Funding by IKS-MoE

श्री:

नमः कमलकान्ताय
जगद् कल्याण कारिणो ।
वीरराघवपूज्याय
गीतामृतदुहे नमः ॥

मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी
दिनांक: 2.12.1995

DIRECTOR
BHARATIYA VIDYA BHAVAN
KASTURBA GANDHI MARG
NEW DELHI-110001

Funding by IKS-MoE

सार्थ

श्री ज्ञानेश्वरी

(गीता ज्ञानोर्मि)

संत ज्ञानेश्वर विरचित
मराठी भावार्थ दीपिका पर
आधारित

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
९६०

Vidya Bhawan's Sri Sankaracha... Sanskrit Ma...

960

सार्थ

श्री ज्ञानेश्वरी

(गीता ज्ञानोर्मि)

अनुवादिका

डॉ. (श्रीमती) उर्मिला जामदार

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya ★
960

१९८८
भारतीय विद्या भवन
कुलपति मुंशी मार्ग
मुंबई– ४००००७

© सर्वाधिकार सुरक्षित

सार्थ श्री ज्ञानेश्वरी

अनुवादिका

डा. (श्रीमती) उर्मिला जामदार

प्रथम संस्करण : १९८८

मूल्य : २०० रु.

प्रकाशक :-

श्री सु. रामकृष्णन
कार्यसचिव, भारतीय विद्याभवन
कुलपति मुंशी मार्ग
मुंबई – ४०० ००७

मुद्रक :-

हर्ष प्रिन्टर्स
२५६६, राइट टाउन, जबलपुर

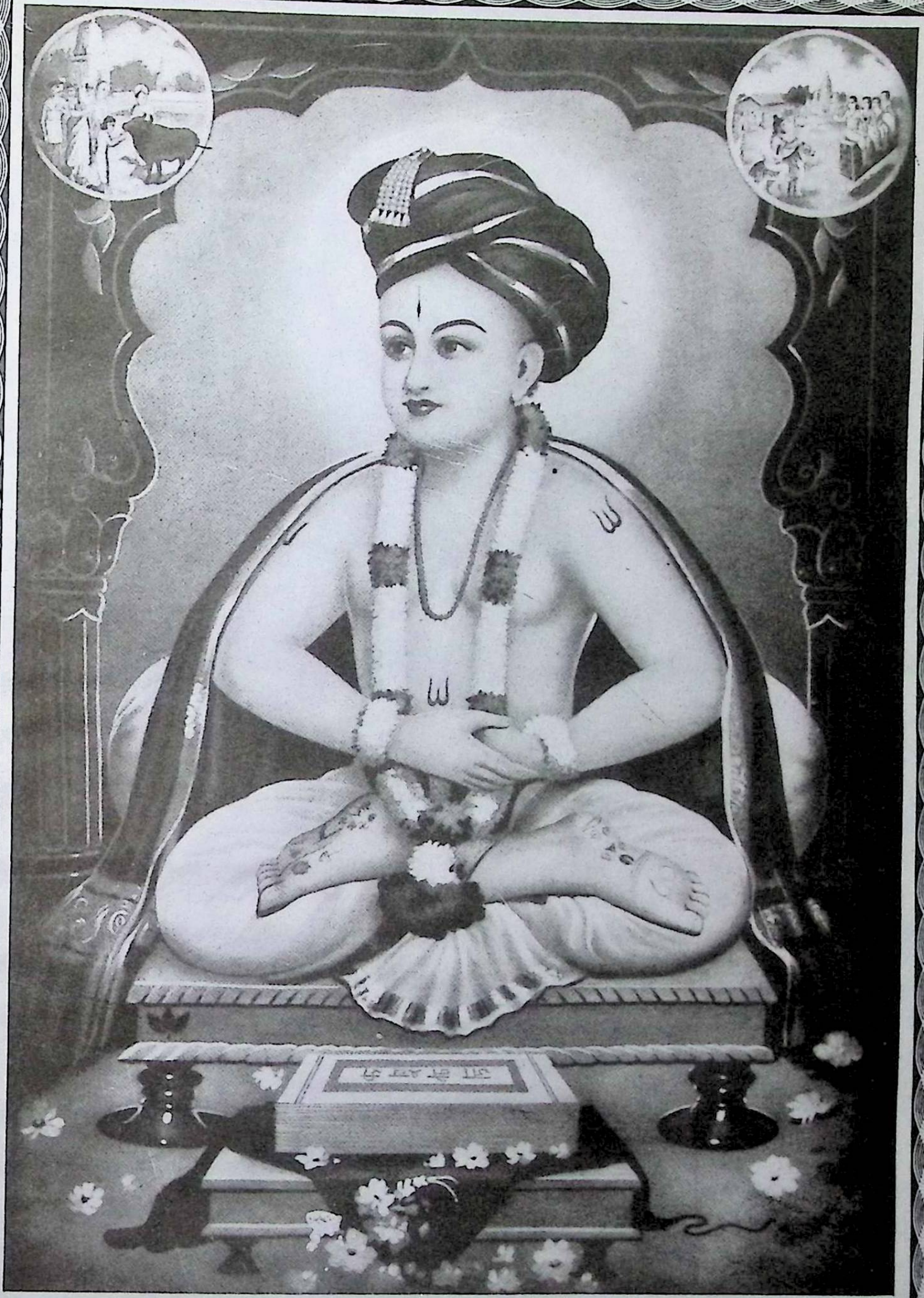

संत शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर महाराज

जन्म-शक संवत्सर ११९७-गुरुवार श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

समाधिलीन-शक संवत्सर १२१८ कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी

Funding by IKS-MoE

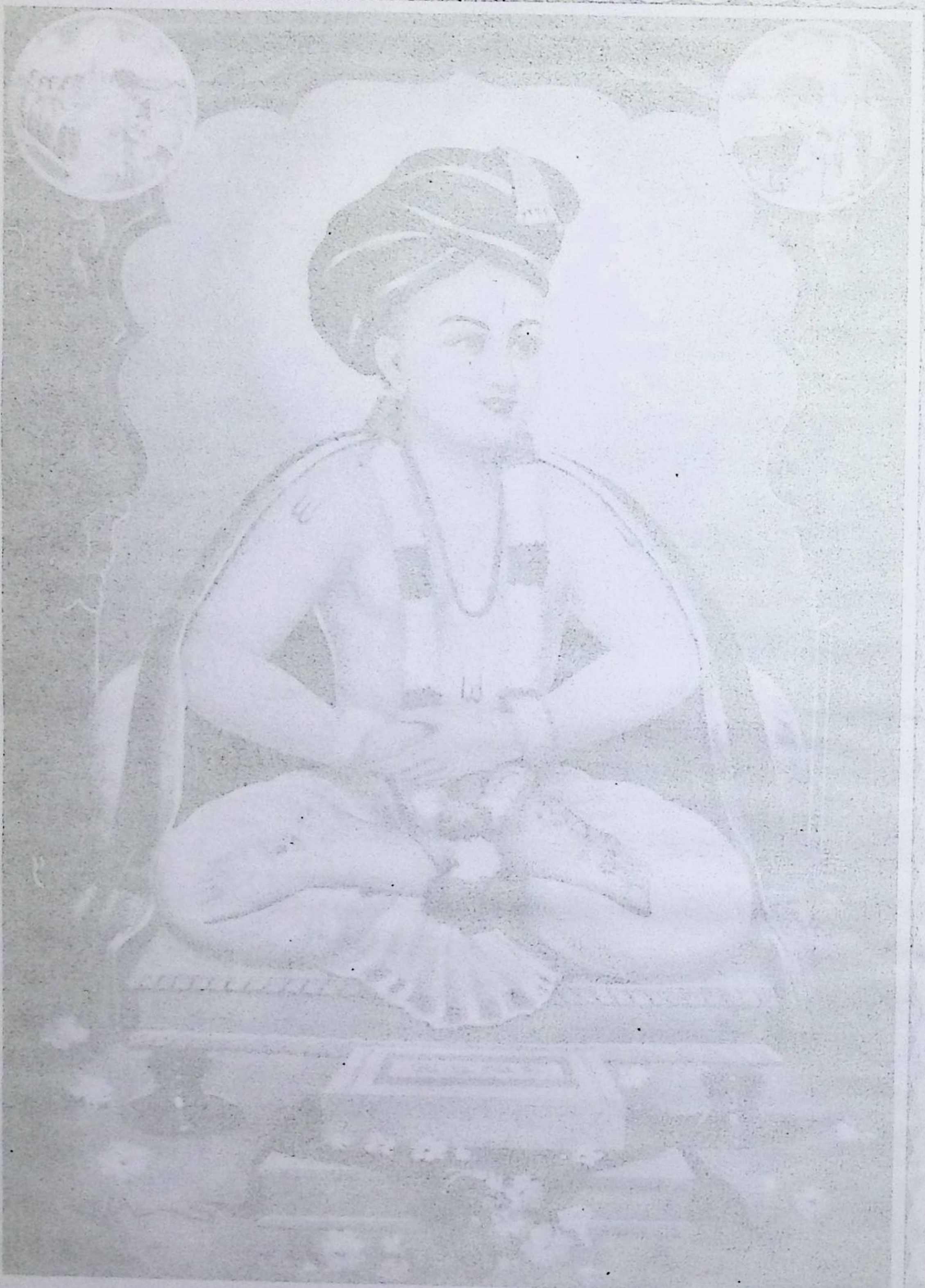

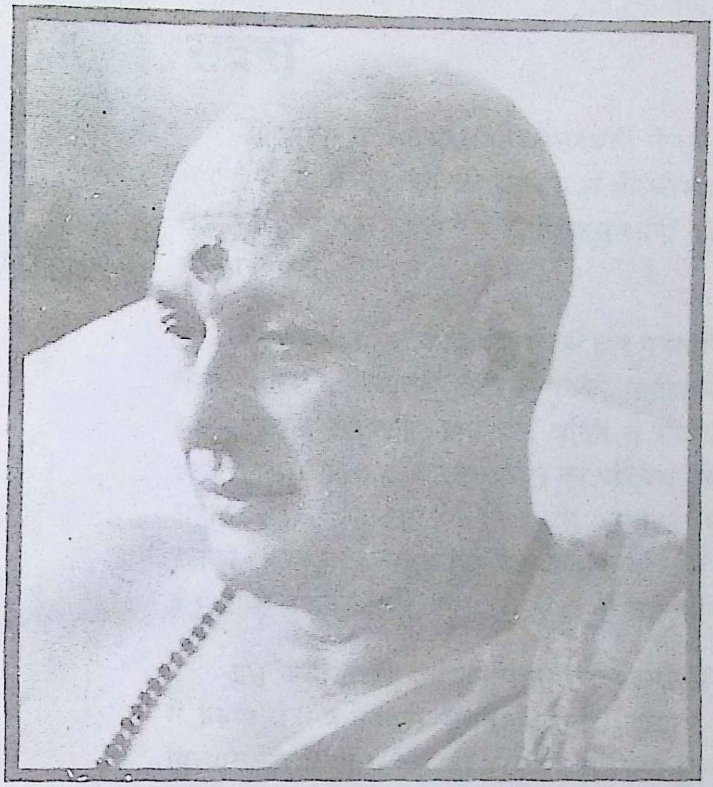

-: परमहंस सत्यानन्द सरस्वती :-

वर्तमान विश्व के महान योगीश्वर, बिहार योग विद्यालय एवं अंतर्राष्ट्रीय योग-मित्र-मंडल के संस्थापक एवं संचालक, मेरे परम पूज्य गुरुदेव परम हंस स्वामी सत्यानंद सरस्वती जिनके आशीर्वाद से यह अनुवाद कार्य संपन्न हुआ। उनके पावन चरणों में शत् शत् नमन।

Funding by IKS-MoE

शंकर दयाल शर्मा
उप राष्ट्रपति, भारत
नई दिल्ली

संदेश

महाराष्ट्र के संतश्रेष्ठ श्री ज्ञानदेवजी ने सात सौ पचहत्तर वर्ष पूर्व सन् १२१२ में १६ वर्ष की अल्पायु में ही श्रीमद्भगवद्गीता का संदेश सामान्य जनों तक पहुंचाने के लिये आम लोगों की भाषा (पुरानी मराठी) में ज्ञानेश्वरी की रचना की।

ज्ञानदेव की यह अद्वितीय रचना हमें परमार्थिक अनुभवों की खान नजर आती है। आत्मा के स्वरूप को पहचानने, जीवन में गुरू की महिमा, कर्म, उपासना, ज्ञान और भक्ति से संबंधित भावों का दिग्दर्शन तथा मानव जीवन के अस्तित्वबोध का परिचय, गीता के माध्यम से, इस महान ग्रंथ से मिलता है। निःसन्देह जागतिक परमार्थिक वाङ्मय में इसका स्थान बहुत ऊंचा है। काव्यात्मक दृष्टि से भी यह ग्रंथ अनमोल है। साहित्य के सभी गुण इस ग्रंथ में उत्कृष्टता से प्रकट हुये हैं।

इस असाधारण ग्रंथ का पद्यानुवाद हिन्दी में सौ. उर्मिला जामदार ने किया है। ज्ञानेश्वरी मूलतः ''ओवी'' छंद में निबद्ध है। इसी छंद विन्यास का उयपोग श्रीमती जामदार ने किया है- यह इनकी रचना की विशेषता है।

हमारे देश में सभी भारतीय भाषाओं में अनेक महान साहित्य/ग्रंथ उपलब्ध हैं। परन्तु मुख्य बात यह है कि समान विचारधारा वाले काव्य/ ग्रंथ/ कृति या रचनाएं, चाहें वे किसी भी भारतीय भाषा में हों, उनका दूसरी भारतीय भाषा में अनुवाद कर जनमानस तक पहुंचाने की चेष्टा करनी चाहिये ताकि सम्यक ज्ञान और समग्र विकास के लिये सभी भाषाओं का साहित्य देशवासियों को उपलब्ध हो सके। इससे जहां एक ओर समानता और परस्पर सद्भाव की भावना प्रबल होती है वहीं दूसरी ओर एक महान रचना का तत्त्व और ज्ञान अन्य भाषी लोगों को भी मिलता है जैसा कि ज्ञानेश्वरी से। अभी कुछ दिन पहले 'ज्ञानेश्वरी' के तमिल भाषा में प्रकाशित एक पुस्तक के विमोचन का सुअवसर मुझे मिला था। अतः इसी भावना से साहित्य जगत को श्रीमती जामदार की यह रचना लोकार्पण की जा रही है। जिससे कि हिन्दी भाषी तथा अन्य सभी लोग इसका लाभ उठाएंगे, ऐसी मेरी कामना है।

शंकर दयाल शर्मा

दिनांक २२ जून, १९८८
१ आषाढ़, १९१० (शक)

(शंकर दयाल शर्मा)

Funding by IKS-MoE

आत्मनिवेदन

भारतीय आध्यात्मिक वाङ्गमय में श्रीमद्भगद्गीता सर्वाधिक माननीय ग्रन्थ है। इसने जितना अधिक भारतीय मेधा को प्रभावित किया है उतना किसी अन्य ग्रन्थ ने नहीं। जगद्गुरु शंकराचार्य से प्रारंभ करके आज तक असंख्य आचार्यों ने गीता का विविध दृष्टि से व्याख्यान किया है। अनेक सन्तों, विचारकों ने भी इसपर विवेचन प्रस्तुत किया है।

महाराष्ट्र के सर्वाधिक प्रसिद्ध सन्त श्री ज्ञानदेवजी अपनी आध्यात्मिक साधना और उदात्त भावना के लिए श्रद्धा के साथ स्मरण किये जाते हैं। केवल सोलह साल की आयु में सन्त ज्ञानेश्वरजी ने ''भावार्थ दीपिका'' नामक एक अद्भुत रचना गीता के व्याख्यान के रूप में की है। यह कृति पुरानी मराठी भाषा में है। गीता के श्लोकों की 'ओवी' नामक छन्द में यह रचना है।

यह ''भावार्थ दीपिका'' केवल अनुवाद मात्र नहीं है। सन्त हृदय में आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है। जिसके ज्ञान से उसे सभी तत्त्व हस्तामलकवत् हो जाते हैं, जो उसके जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पूंजी होती है। वह आत्म-तत्त्व श्री ज्ञानेश्वर के नाम से प्रचलित ''ज्ञानेश्वरी'' नामक ग्रंथ में अनुस्यूत हैं। स्वानुभव से प्राप्त ज्ञानरत्न इस ग्रंथ में सर्वत्र विकीर्ण है। सामान्यजन के उपयोग के लिये यह गंभीर गहन तत्त्व-चिन्तन अत्यन्त प्रबोधक शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। इसीलिये यह चिन्तन जन-जन का कण्ठहार बन सका।

''भावार्थ दीपिका'' अथवा ''ज्ञानेश्वरी'' में सन्त ज्ञानेश्वरी का सन्तत्व, उनका विदेहत्व, आत्मसाक्षात्कार की उद्दीप्त अनुभूति तथा एक रससिद्ध कवि की कविता भी दृष्टिगोचर होती है। इस ग्रन्थ का प्रारंभ मंगलाचरण से होता है। मंगलाचरण के रूप में श्री सरस्वती की वंदना और श्री गणेश की वाङ्गमयीन मूर्ति का प्रस्तुतीकरण असाधारण रूप से चमत्कारजनक है। उपमानों की सुदीर्घ परम्परा प्रखर ग्रीष्म में घनी, शीतल और सुखद छाया की तरह मन में शान्ति पहुंचाती है। ये प्रतीक जीवन से सीधे जुड़े हुए चिर-परिचित होने से अर्थ-बोध तक पाठक को पहुंचाने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। श्री ज्ञानेश्वरी की यह काव्यात्मकता उसके तत्त्वचिन्तन के साथ उपलब्ध होने पर 'मणिकान्चन' योग की सृष्टि करती है।

श्री शंकराचार्यजी ने गीता भाष्य की भूमिका में ''तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसार संग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्'' हैं। व्याख्यानों की इतनी विविध और बहुसंख्यक परम्परा होने पर भी वह अत्यन्त दुरूह है। उसके अर्थ को खोजते - खोजते भटक जाने की पूरी संभावना है। ऐसी अवस्था में 'ज्ञानेश्वरी' इस गीता - समुद्र को पार करने के लिये अत्यन्त सुदृढ़ एवं विशाल पोत है। जैसे - जैसे आप 'ओवियों' के क्रम से आपको जोड़ते जाते हैं वैसे - वैसे यह ग्रन्थ आपको अपने रस में आप्लावित करता जाता है। यह ऐसा आप्लावन है, ऐसा निमंत्रण है जहां से हटने का मन में थोड़ासा भी विचार नहीं आता। इतना महत्वपूर्ण, इतना आकर्षक और तत्त्व गहन ग्रन्थ निश्चय ही असाधारण है।

मैंने यह अनुभव किया कि 'ज्ञानेश्वरी' प्राचीन मराठी में है। जिस हिन्दी-भाषा क्षेत्र से मैं सम्बद्ध हूं वहां सन्त ज्ञानेश्वरजी के विद्वत्ता पूर्ण विचारों के प्रति जनसाधारण एवं विद्वज्जनों में आकर्षण होने पर भी उनमें उनका प्रवेश नहीं था, अतः यह कामना प्रभु की प्रेरणा से मन में पल्लवित हुई कि ज्ञानेश्वरी का परिचय, अपने मूल रूप से अत्यन्त निकट सम्बद्ध रखते हुये, हिन्दी भाषी जगत को कराया जावे। कामना पुष्पित हुई तो ''ओवी''

Funding by IKS-MoE

छंद में ही हिन्दी पद्यानुवाद स्वाभाविक रूप से अन्तःप्रेरणा से होने लगा। यह हिन्दी पद्यानुवाद मूल 'ज्ञानेश्वरी' के अत्यन्त निकट होने के कारण इसकी शब्दावली को भी मुख्यतः मूलानुगामी रखा गया। श्री ज्ञानेश्वरजी के कुछ प्रिय शब्द एवं वाक्य प्रकार कहीं-कहीं मूल रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। अर्थबोध की सुविधा के लिए हर एक ओवी का गद्य अनुवाद प्रस्तुत है।

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से एवं गुरुजनों के शुभाशीर्वाद से इस अलौकिक ग्रंथराज का हिन्दी अनुवाद (पद्य एवं गद्य) शक सन् १९७९ चैत शुद्ध प्रतिपदा से प्रारंभ होकर शक सन् १९८८ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही संपूर्ण हुआ है। यद्यपि इसका प्रणयन स्वान्तः सुखाय ही हुआ है फिर भी अखिल विश्व को इसका व्यापक उपयोग हो इस अभिलाषा से इसे गीताप्रेमी सुधीजनों के सामने उपस्थित किया जा रहा है।

यह पद्यरचना श्री ज्ञानेश्वरजी के प्रिय मूल ओवीछन्द में ही है। यह छंद हिन्दी साहित्य का अपरिचित होने के कारण इसके विषय में संक्षिप्त विवरण उपयुक्त होगा।

'ज्ञानेश्वरी' जितनी सरल हैं उतनी हा गहन, अतः उसमें मुझ जैसी अल्पमति से त्रुटी होना स्वाभाविक है। सहृदय पाठकों से सविनय प्रार्थना है कि उन त्रुटियों के लिये क्षमा करते हुये इसका आस्वाद करें। अन्त में यही कहा जा सकता है:-

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये"। ॐ तत्सत्॥

सौ. उर्मिला जामदार

गुरु पूर्णिमा
संवत २०३८
जबलपुर, म.प्र.

Funding by IKS-MoE

संस्कारधानी (जबलपुर) के गणमान्य विद्वज्जनों की ग्रंथ के विषय में सम्मतियाँ

☐ महंत रामचंद्र दास जी

कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन उत्तम जीवन जीने के और ईश्वर प्राप्ति के साधन हैं और यही मानव जीवन का लक्ष्य है। विश्व में जितने विकसित प्रज्ञा के लोग साधना मार्ग में आये वे सब गीता का आश्रय लिये। उनमें से महान सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता को उपासना प्रधान जाना और माना और उस मार्ग को स्वच्छ, सुगम और ऋजु बनाने की दृष्टि से उस पर एक विश्वविख्यात ग्रंथ लिखा जिसका नाम ज्ञानेश्वरी है। ज्ञानेश्वरी ग्रंथ जो ओवीछंद में निबद्ध है, भक्तिरस के समुद्र के समान है। यद्यपि गीता पर अनेक आचार्य, चिन्तक, दार्शनिक, मनीषियों ने विविध प्रकार की व्याख्या की है और बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे हैं किंतु भगवद्भक्ति रस रसिक उपासकों के लिये ज्ञानेश्वरी अद्वितीय ग्रंथ है। उस ज्ञानेश्वरी ओवियों को श्रीमती डॉ. उर्मिला जामदार ने उसी छंद में हिंदी में अनुवादित किया है, यह उनकी तीव्र जिज्ञासा और उत्तम भगवद्भक्ति का प्रमाण है। उनका यह पुनीत प्रयास उनको समस्त भगवद्भक्तों की पंक्ति में बैठायेगा और हिंदी भाषा-भाषी उनका गुणानुवाद गायेंगे। ऐसा मुझे विश्वास है।

☐ डॉ. वेणीशंकर झा

श्री ज्ञानेश्वरी को समझने के लिये बड़ी साधना और तपस्या की आवश्यकता है। मराठी भाषियों के लिये भी उसकी भाषा सुलभ नहीं है। उसके मर्म को अपनाकर उसे हिन्दी में व्यक्त करना असाधारण धैर्य और साहस का काम है जिसे डॉ. सौ. उर्मिला जामदार ने बड़ी कुशलता से और सुंदरता से निभाया है। ज्ञानेश्वरी के छंदों में ही हिंदी काव्य बद्ध किया है और इस प्रयोग से सन्तकाव्य का सान्निध्य प्राप्त है। रचना शैली और शब्द ध्वनि भी बड़ी सरलता से ज्ञानेश्वरी के भाव और रस का पूर्ण आनंद विकसित करती है। श्रीमती डॉ. सौ. उर्मिला जामदार धन्य हैं। इस स्तर का कार्य बिना भगवद् कृपा के सार्थक नहीं होता।

☐ गिरिजानंदन दुबे

प्राचार्य, जबलपुर विद्यापीठ

'चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति' ज्ञानी मनुष्य ही अज्ञानियों को मार्ग दिखाते हैं। भारतीय वाङ्गमय की आत्मा है वेद। उसका प्राण है प्रस्थानत्रयी- उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र। इनमें श्रुति, अनुभूति और युक्ति के रूप में वेद ही विवृत हुआ है।

मराठी भाषा-भाषी जनता ही प्राचीन मराठी भाषा से विभूषित इस ज्ञानेश्वरी का ज्ञानासव पान करें और हिंदी भाषा-भाषी जन इसके अमृतादान से वंचित रहें यह तो ज्ञानेश्वरी के ऐश्वर्य को संकुचित रहने देना होगा।

सौभाग्यवती उर्मिला जामदार के उदात्त हृदय को ज्ञानेश्वरी के ऐश्वर्य का यह भाषा-बन्धन केवल अप्रियकर ही नहीं प्रतीत हुआ अपितु वह उन्हें अपनी मुक्ति और प्रसार के लिये भी प्रेरणा देता रहा है।

परमात्मा की अहैतुकी कृपा ने उन्हें अनुवाद के लिये प्रेरित किया।

श्रीमती जामदार ने उन्हें ज्ञानेश्वरी का यह अनुवाद उसके अपने मूलरूप से निकटतम संबंध बनाये रखते हुये ही किया है। प्रभु प्रेरणा से यह अनुवाद ओवी छंद में ही प्रस्फुटित हो उठा है। यह हिन्दी पद्यानुवाद मूल का अनुगमन करता है और उसकी भाषा के सांचे में ढालकर प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। प्रभावोत्पादक वाक्य कहीं-कहीं तो मूलरूप में ही प्रस्तुत कर दिये गये हैं।

सौभाग्यवती उर्मिला जामदार का हिंदी भाषा-भाषी जनता को कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने हमें हमारी सहज भाषा में ही ज्ञानेश्वरी का ज्ञान और रसास्वादन प्रदान कर अनुगृहीत किया है।

ज्ञानेश्वरी का मौलिक आनन्द उर्मिला की भाषान्तरित ऊर्मियों में उठाने की कामना करते हुए वेद की वाणी में ही-

'भद्रादधि श्रेयः प्रेहि'
तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

☐ डॉ. कृष्णकान्त चतुर्वेदी

आचार्य एवं अध्यक्ष—संस्कृत पाली प्राकृत
स्नातकोत्तर एवं अनुसंधान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर
डीन फॅकल्टी ऑफ आर्ट्स, रानी दुर्गावती वि.वि. जबलपुर

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यच्छास्त्रविस्तरैः।"

'ज्ञानेश्वरी' सन्त ज्ञानेश्वर द्वारा प्रसूत गीता की काव्यव्याख्या है। महाराष्ट्र की सन्त परंपरा की अत्यधिक विशेषता ज्ञान, भक्ति दोनों की सक्रिय अभिव्यक्ति है। केवल अन्तर्मुखी बौद्धिक ज्ञान अथवा भाव विव्हल, वेगवती धारा के समान भक्ति-मात्र उनकी काम्य नहीं है। ज्ञानपूर्वक भक्ति उससे प्रेरित सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ी हुई कार्य-परम्परा जिसे सक्रिय भक्ति और ज्ञान कहा जा सकता है वह अपने अनूठे रूप में महाराष्ट्र के संतो में पाई जाती है।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र की उसी परम्परा के कवि-हृदय, सरस कोमल साथ ही गंभीर साधना के साधक व्यक्तित्व हैं। उनके द्वारा गीता सम्बंधी विचार-विमर्श अन्य विद्वान आचार्यों के समान केवल बुद्धिगम्य शास्त्र-चिन्तन नहीं है। वे सहृदय रसिक की तरह गीता का काव्यानुगायन करते हैं क्योंकि गीता की व्याख्या नहीं गायन मात्र ही हो सकता है वह भी उसकी अनुगूंज से परिपूर्ण।

ज्ञानेश्वरी का प्रारम्भ, मंगलाचरण-गणेश वंदन प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से प्राचीन महत्वपूर्ण वांग्मय की ओर संकेत करता है। यही क्रम सरस्वती वन्दना और गीता माहात्म्य में भी प्राप्त है। प्रतीकों, उपमानों आदि की सहायता से अपनी बात कहना उनकी अपनी विशेष शैली है। इससे वे गूढ़ से गूढ़ अर्थ को सभी के लिये सहज और सुबोध्य बना देते हैं। ज्ञानेश्वरी में योग साधना के अत्यन्त गहन प्रकरण भी इसी कारण गीता-ज्ञान के क्रम में स्वाभाविक से प्रतीत होते हैं।

यह पद्यानुवाद ज्ञानेश्वरी को हिंदी भाषी क्षेत्र में समझाने के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। ज्ञानेश्वरी के अर्थ बोध की हिन्दी क्षेत्र में कठिनाई विषयगत गंभीरता के साथ-साथ, उसका पुरानी मराठी में रचित होना भी है। आधुनिक मराठी भाषा के शब्द प्रयोग हिंदी जगत के लोगों के लिये उतने अपरिचित नहीं हैं। परिणामतः ज्ञानेश्वरी इस क्षेत्र के लिये उतनी आत्मीय नहीं बन सकी जितनी कि उसकी महत्ता को देखते

हुये होनी चाहिये थी। इसके अतिरिक्त यह अनुवाद मूल रचना से अत्यधिक निकट रहे यह भी जिज्ञासु पाठक की अपेक्षा हो सकती है। इन दृष्टियों से प्रस्तुत पद्यानुवाद ज्ञानेश्वरी की छंद-योजना को यथावत स्वीकार करते हुये उपलब्ध हुआ है।

इस अनुवाद में यह समन्वय और सन्तुलन स्थापित किया गया है कि मूल का प्राण अक्षुण्ण रहे और हिन्दी का आवरण कथञ्चिद उसे पहना दिया जावे। यह बात निम्नलिखित उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

मूल- जैसे भ्रमर परागु नेती। परि कमल दलें नेणती।
तैसी परी आहे सेवती। ग्रंथी इये।।

अनु.- जैसे भ्रमर पराग लेत। नहीं कमलदल जानत।
वैसी कुशलरीत। ग्रन्थ सेवन की।।मंग.५०।।

मूल- ऐसे हळुवारपण जरी येईल। तरीच हे उपेगा जाईल
एऱ्हवी आघवी गोठी होईल। मुकिया बहिरयाची।

अनु.- ऐसी अंग में सूक्ष्मता। तब ही उपयोग तत्त्वता।
नहीं तो होगी वार्ता। मूक-बधिर की।।६।२६।।

मूल- ये मऱ्हाठिचिया नगरी। ब्रह्मविद्याचा सुकाळु करी।
घेणे देणे सुखाचि वरी। ही देई या जगा।।

अनु.- इस देशी भाषा नगरी में निःशेख। भरदो ब्रह्मविद्या अशेख।
लेना देना सुख ही सुख। होवे जग में।।१२।१६।।

ज्ञानेश्वरी में विषय प्रतिपादन जिस शैली में हुआ है उसका ज्ञान यह अनुवाद भली भांति कराता है। प्राचीन साहित्य में प्रायः इस प्रकार का गूढ़-रहस्य शिव-पार्वती संवाद के रूप में पाए जाते हैं। रामचरितमानस में रामकथा के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने भी यही क्रम स्वीकार किया। किन्तु गीता के संबंध में यह धारणा ज्ञानेश्वर की अनूठी है और उसे उन्होंने आकर्षक ढंग से कहा भी है-

अनु.- इस गीतार्थ का महत्त्व। स्वयं शम्भू वर्णन करत।
श्री भवानी प्रश्न-पूछत। विस्मित होकर।।
हर कहे अनोखा। देवी जैसा रूप आपका।
नित्य-नूतन देखा। गीता-तत्त्व।।गी.मा. ७०-७१।।

☐ गोविन्द मोरेश्वर रानडे

भू.पू. प्राचार्य चंचला बाई महिला महाविद्यालय तथा
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, मराठी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय

श्रीमती डॉ. उर्मिला जामदार ने उक्त ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ का ओवीबद्ध अनुवाद हिन्दी में करने का एक साहसिक प्रयास किया है। वैसे तो आज की ग्रांथिक मराठी की तुलना में इस ग्रन्थ की भाषा बहुत पुरानी तथा बड़े प्रमाण में व्यवहार बाह्य कही जा सकती है। परन्तु मूल संस्कृत के असंख्य तद्भव तथा अपभ्रष्ट शब्दों से युक्त यह तत्कालीन भाषा आज भी सामान्य जन भाषा के ही सन्निकट है। अनुवाद करते हुये श्रीमती

Funding by IKS-MoE

जामदार ने इस बात का कटाक्षपूर्ण ध्यान रखा है कि यथा सम्भव ज्ञानेश्वरजी की शब्द योजना का किनारा छोड़ा न जावे या यह भी कहा सकता है कि उनका यह अनुवाद एक दृष्टि से ज्ञानेश्वरी का छायानुवाद है। श्रद्धा भक्ति के पठन- मनन करनेवाले उनके द्वारा प्रज्वलित इस दीपिका में ज्ञानेश्वरजी को अभिप्रेत भावार्थ का सम्यक दर्शन कर सकते हैं। वैसे तो प्रस्ताविक मंगलाचरण, गणेश शारदा वंदनादि से ही बानगी का कार्य पूर्ण हो सकता था। परन्तु श्रीमती जामदार ने छठवें, नवें तथा बारहवें अध्याय पूर्ण रूपेण अनुहित कर एक बहुत कष्टसाध्य कार्य किया है। श्रीमती जामदार ने संपूर्ण ज्ञानेश्वरी के १८ अध्यायों का पूर्ण रूपेण अनुवादित कर एक बहुत कष्टसाध्य कार्य किया है।

दिनाँक – ७–६–८८

*

Funding by IKS-MoE

॥ॐ॥

ऋण निर्देश

"अत्रेशात्मप्रदानेन यो मुक्तो भगवानृणात्।
दत्तात्रेयं तमीशानं नमामि ऋणमुक्तये॥"

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध ब्रह्मीभूत श्री नाना महाराज साखरे प्रणीत श्री संतग्रंथमाला के अन्तर्गत "सार्थ सटीक ज्ञानेश्वरी" की नवम् आवृत्ति सौभाग्यवश मुझे अनुवाद के लिये प्राप्त हुई, अतः मैं सर्वप्रथम उनके पावन चरणों में अपने श्रद्धासुमन समर्पित करती हूं।

स्थानीय श्रीनृसिंह मन्दिर के प्रमुख आचार्य महन्त श्रीरामचन्द्रदास जी ने इस पुनीत कार्य में मुझे आशीर्वाद प्रदान कर अनुगृहीत किया, उनके चरणों में नतमस्तक होकर मैं कृतज्ञता ज्ञापन करती हूं।

जिनकी प्रेरणा एवं सहयोग से यह काव्यानुवाद संपन्न हुआ वह मेरी प्रिय गुरुभगिनी जबलपुर की प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी प्रवचनकर्त्री प्राध्यापिका श्रीमती माई पिंपळेजी, को मैं हृदय से धन्यवाद देती हूं।

इस ईश्वरीय लेखनकार्य में जबलपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रमुख आचार्य डॉ. श्री कृष्णकान्त चतुर्वेदीजी ने विशेष रुचि दिखाकर जो बहुमूल्य सहयोग दिया है उसके लिये मैं उनकी अत्यन्त ऋणी हूं।

इस रचना कार्य में मेरे पूज्य पतिदेव डॉ. जर्नादन बळवंत जामदार जी ने जो मुझे अविस्मरणीय सहयोग दिया तथा मेरे अन्य प्रिय सुहृदजन, बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय के माजी कुलपति स्व. पं. वेणीशंकर जी झा, पूज्य जेठजी ज्ञानेश्वरी के मार्मिक रसज्ञ श्री काकाजी जामदार, ज्ञानेश्वरी के सखोल अभ्यासक श्री अनन्तराव जी वैद्य, मेरी ज्येष्ठ भगिनी श्रीमती सुशीलाबाई तनखीवाले एवं प्राचार्य श्री दादासाहेब तनखीवाले ने जो अमूल्य और सक्रिय सहयोग दिया उसके लिये मैं उनक सबकी अत्यंत ऋणी हूं।

इस पुस्तक के मुख पृष्ठ का बाह्यरूप कलात्मक शैली से संवारने-सजाने का कार्य श्री प्रशान्त जोशी डी आर्ट्स, जबलपुर ने किया उसके लिये मैं उनकी ऋणी हूं।

इस अनुवाद का मुद्रण कार्य संपन्न करने में स्थानीय 'हर्ष प्रिन्टर्स' के प्रमुख श्री सोहनलालजी अग्रवाल एवं उनके उत्साही कार्यकर्ताओं ने जो सहयोग दिया उसके लिये मैं उनकी अत्यंत आभारी हूं।

अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त 'भारतीय विद्या भवन, बंबई' के कार्यकारी सचिव श्री रामकृष्णन जी ने प्रकाशन का कार्यभार संभालने की स्वीकृति दी इसके लिये मैं भवन की अत्यन्त आभारी हूं।

ॐ तत्सत्
सौ. उर्मिला जामदार
अनुवादिका

विशेष.......

☐ ७ जुलाई १९८८ को उपराष्ट्रपति श्री शंकरदयाल शर्मा द्वारा '**श्री ज्ञानेश्वरी**' का लोकार्पण अनुष्ठान संपन्न हुआ। दिल्ली स्थित उनके गृह निवास पर आयोजित हुए समारोह में केन्द्रीय मंत्री श्री वसन्त साठे, भारतीय विद्या भवन के कार्यकारी सचिव श्री रामकृष्णन तथा अनेक गणमान्य लोग उपस्थित थे।

☐ परमहंस स्वामी सत्यानंद सरस्वती जी द्वारा प्रेषित संदेश उनकी मूल लिपि में–

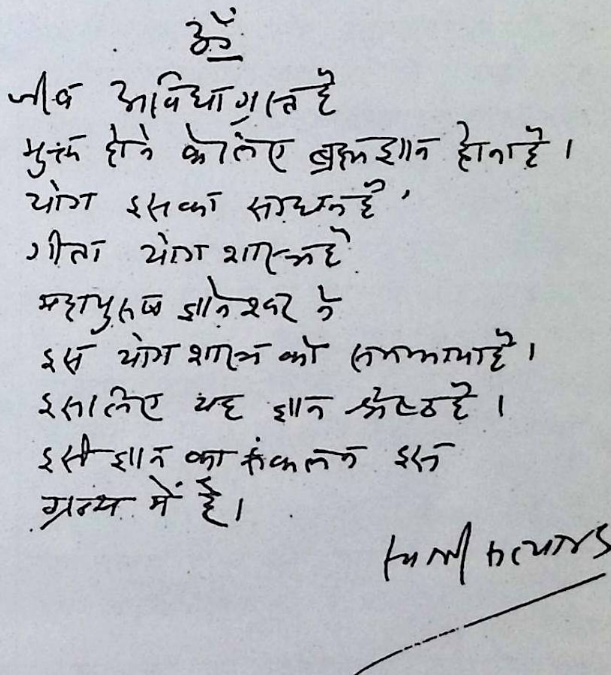

ॐ

जीव अविद्याग्रस्त है
मुक्त होने के लिए ब्रह्मज्ञान होना है।
योग इसका साधन है'
गीता योग शास्त्र है
महापुरुष ज्ञानेश्वर ने
इस योग शास्त्र को समझाया है।
इसलिए यह ज्ञान श्रेष्ठ है।
इसी ज्ञान का संकलन इस
ग्रन्थ में है।

दिनांक ८-८.८८ स्वामी सत्यानंद

☐ प्रस्तावना के अंतर्गत प्रकाशित गीता के अनुनायक संत ज्ञानेश्वर जी के चरित्र का लेखन **डॉ. कृष्णकांत चतुर्वेदी** आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत पाली प्राकृत, स्नातकोत्तर एवं अनुसंधान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर डीन फॅकल्टी ऑफ आर्ट्स, रानी दुर्गावती वि.वि. जबलपुर

☐ इस कृति के गद्यानुवाद का कार्य प्राध्यापिका एवं सुप्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी प्रवचनकर्त्री **श्रीमती प्रमिला पिंपळे** जी द्वारा किया गया है।

प्रस्तावना

गीता के अनुनायक सन्त ज्ञानेश्वर

(ज्ञानेशो भगवान् विष्णुः)

भारतवर्ष अपनी प्राचीनता के कारण, सांस्कृतिक वैभव के कारण तो प्रसिद्ध है ही साथ ही उसकी महनीयता महापुरुषों के बार-बार और बहुत बड़ी संख्या में अवतरण के कारण भी है। जीवन की व्यवस्था और समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति का ऐसा कोई चित्र नहीं है जिससे संबद्धित अनेकों महापुरुषों का जन्म यहां न हुआ हो। हमारी परंपरा प्रभु के अवतारों को न केवल मानती है अपितु उनकी लीला और यशोगाथा से मनुष्य जीवन की कृतकृत्यता का अनुभव करती है। ऊंच-नीच, जाति-पांति, संपन्न-विपन्न, क्षेत्र-विशेष आदि सभी सीमाओं को तोड़कर प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक काल में प्रभु के, उनके भक्तों के, महान विचारकों, वैज्ञानिकों, विभिन्न क्षेत्र के आविष्कारकों के, जन्म इस देश में हुये हैं। उनके कृतित्व से देश को गौरव अनुभव करने का अवसर मिला है तथा श्रेष्ठ जीवन जीने का आदर्श भी प्राप्त हुआ है।

महाराष्ट्र की भूमि जहां अपने शौर्य और चारित्रिक दृढ़ता के लिये प्रसिद्ध है वहीं उसने देश को अध्यात्म, भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र में भी असाधारण विभूतियां प्रदान की, परम संत ज्ञानेश्वर उनमें श्रेष्ठतम है। उनका प्रभा मंडल न केवल महाराष्ट्र तक अपितु संपूर्ण देश में व्याप्त था और आज तो संपूर्ण विश्व में उनकी ज्ञानेश्वरी का प्रभाव, चिंतन के विकास की दृष्टि से प्राप्त होता है। ऐसे महिमा मंडित व्यक्तित्व से अपना देश कभी ऋणमुक्त नहीं हो सकता। भारतीय समाज की उनके प्रति भक्ति और कृतज्ञता बहुत स्वाभाविक है।

सन्त ज्ञानेश्वर में वंश परंपरा से भक्ति-ज्ञान और साधना के संस्कार विद्यमान थे। उनके पूर्वजों में श्री हरिहर पंत कुलकर्णी विख्यात व्यक्ति थे। शक संवत् १०६० के लगभग वे आपेगांव में कारोबार देखते थे। उनके प्रपितामह त्र्यंबक पंत महान् सिद्ध, गोरखनाथ जी से परिचित थे। उनसे श्री पंत ने उपदेश भी ग्रहण किया था। इस पुण्य संयोग के कारण इस वंश में साधना भक्ति की धारा प्रवर्तित हुई। इसी क्रम में संत ज्ञानदेव के पितामह गोविंद पंत और पितामही नीरा बाई को सिद्ध गहिनीनाथ की कृपा और उपदेशामृत प्राप्त हुआ था। इन्हीं के यहां वृद्धावस्था में संत प्रवर ज्ञानेश्वर के पिता श्री विट्ठलपंत का जन्म हुआ था। यह परिवार अपने वंशानुक्रम से सदाचार संपन्न और भगवद्भक्ति परायण थे। इसी भांति संत ज्ञानेश्वर की मां रखुमा (रुक्मिणी) बाई का भी परिवार एक समृद्ध, सुसंस्कृत, सदाचार-संपन्न एवं भगवद्भक्त था। ज्ञानदेव जी के नाना श्री सिद्धेश्वरपंत कुलकर्णी थे। वे चाकण, आलंदी आदि चौबीस गांव के अधिकारी थे। इन्हीं सात्विक, धर्मपरायण दंपत्ति, श्री विट्ठलपंत और रखुमाबाई के यहां शक संवत् ११९७ में खास श्रीकृष्णजन्माष्टमी को रात्रि में ठीक बारह बजे भगवान ज्ञानेश्वर का जन्म हुआ। इसीलिये इन्हें श्री विष्णु भगवान का 'ज्ञानावतार' कहते हैं। विट्ठलपंत की चार संतानों में सबसे बड़े श्री निवृत्तिनाथ, उनके अनुज ज्ञानदेव और सोपानदेव तथा अनुजा मुक्तादेवी थीं।

महापुरुषों के अवतरण के जैसे निश्चित उद्देश्य होते हैं, वैसे ही उनके आविर्भाव की पृष्ठ भूमि भी होती है। सन्त ज्ञानेश्वर के माता-पिता दोनों के पूर्वज भक्ति परायण और महापुरुषों के कृपा पात्र थे। उनका विवाह केवल भोग-सुख के लिये नहीं था अपितु एक ईश्वरीय संयोग था जो प्रभु की कृपा और इच्छा से संपन्न हुआ था। विट्ठल ने बाल्यावस्था से ही भारतीय आध्यात्मदर्शन और शास्त्र का अभ्यास किया था। इसके अतिरिक्त उस समय पर्यटन और तीर्थाटन का भी अपना महत्व था। उन्होंने उसके

द्वारा भी अपना अनुभव संपन्न किया था। इन दोनों धाराओं के कारण उनके व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार की परिपक्वता आ गई थी। इसके अतिरिक्त सांसारिक सुख भोगों से वैराग्य की प्रवृत्ति भी उनमें बचपन से ही थी। तीर्थाटन के क्रम में उन्होंने द्वारका जाकर भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन किये। वहां से पिंडारक मालुकातीर्थ होकर नासिक के सुप्रसिद्ध सप्तश्रृंगी पर्वत पर पहुंचे। नासिक के समीप कपालेश्वर का पूजन करके द्वादश ज्योतिर्लिंगों में महत्वपूर्ण त्र्यंबकेश्वर भगवान के दर्शन किये। भीमा नदी कें तट पर भीमाशंकर के दर्शन करते हुये उनके मन में प्रेरणा जागी कि विट्ठल भगवान के सान्निध्य में पहुंचा जाये। उसी यात्रा के मार्ग पर इंद्रायणी नदी के तीर पर उपस्थित सिद्धेश्वर भगवान का मंदिर अलंकापुर नामक स्थान पर था। तीर्थयात्रियों के लिये यह स्थान बड़ा रुचिकर था, अतः वहां भीड़ लगी रहती थी। विट्ठलपंत को यहीं सिद्धेश्वरपंत कुलकर्णी ने देखा। विट्ठलपंत की तेजस्वी आकृति से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने इनको अपने घर आमंत्रित किया। श्री विट्ठलपंत के परिवार का परिचय पाकर उन्होंने अपनी कन्या रुक्मिणी का विवाह उनसे कर देने का निश्चय किया। रात्रि को जहां सिद्धेश्वरपंत को श्री पंढरीनाथ भगवान ने स्वप्न में विट्ठलपंत से अपनी कन्या का विवाह करने का निर्देश दिया वहीं दूसरी ओर विट्ठलपंत को भी प्रभु ने स्वप्न में ऐसा ही निर्देश दिया। जिस दंपत्ति के यहां श्री ज्ञानेश्वर महाराज का आविर्भाव होने वाला हो भगवान की प्रेरणा मूल में न हो यह केसे संभव है? परिणामतः ज्येष्ठमास के मंगल मुहूर्त में अपनी कन्या रुक्मिणी का विवाह विट्ठलपंत से कर दिया। इस सबसे उनकी तीर्थयात्रा का क्रम टूटा। उन्होंने पंढरपुर जाकर भगवान पांडुरंग के दर्शन किये। उनके साथ उनकी पत्नी और श्री सिद्धेश्वर पंत का परिवार था। तदुपरान्त अपने संकल्प के अनुसार उन्होंने रामेश्वर की यात्रा की। वहां से आलंदी लौटने पर अपनी पत्नी तथा श्वसुर के साथ अपने माता-पिता के पास अपने गांव आ गये। बहू के साथ अपने पुत्र को देखकर उनके पिता गोविन्दपंत और माता नीरा बाई को बड़ी प्रसन्नता हुई कि न केवल तीर्थयात्रा से विट्ठलपंत सकुशल लौट आए अपितु सर्वगुणसंपन्न सुशील बहू भी प्रतिष्ठित परिवार से ले आये। कुछ समय ही प्रसन्नतापूर्वक बीता होगा कि विट्ठलपंत के माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। सिद्धेश्वर पंत अपने दामाद की विरक्त-वृत्ति से परिचित थे। अतः आग्रह करके वे उनको अलंकापुरी में लिवा लाये।

श्री विट्ठलपंत का जीवन अनासक्त योग का उत्तम उदाहरण था। संतति कोई थी नहीं बार-बार विचार करने पर उन्हें यही लगता कि सन्यास ले लिया जाय। उन्होंने अपनी पत्नी से अनुमति चाही। पत्नी ने पिता से परामर्श किया। पिता श्री सिद्धेश्वर पंत ने कहा कि संतति हो जाये तो चले जाना। परंतु विट्ठलपंत के मन में तो लगन लगी थी। वे बार-बार पत्नी से आग्रह करते। एक बार अत्याधिक आग्रह से दुःखी होकर उसने अनिच्छा से कह दिया 'चले जाइये'। वे उसे ही अनुमति मानकर काशी चले गये वहां उन्होंने स्वामी श्रीपादजी (कुछ के मतानुसार श्री रामानन्द जी) से दीक्षा ली तथा उनका नाम ''चैतन्याश्रम'' पड़ गया। एक बार श्री श्रीपाद जी ने आश्रम का भार अपने शिष्य पर सौंपकर रामेश्वर की यात्रा पर निकल पड़े मार्ग में वे अलंकापुरी पहुंचे। रखुमाबाई (रुक्मिणी) ने उनके दर्शन किये और प्रणाम किया तो स्वामी जी ने आशीर्वाद दिया कि ''पुत्रवती भव''। वह रो पड़ी इस असंभव आशीष पर। स्वामी जी के पूछने पर उसने अपना वृत्तान्त सुनाया। श्री स्वामी जी समझ गये कि यह व्यक्ति अन्य कोई नहीं उनका शिष्य ''चैतन्याश्रम'' ही है। वहां से ही वे वापिस लौटे साथ में रखुमाबाई भी थीं। उनकी आज्ञा से श्री विट्ठलपंत पुनः गृहस्थाश्रम में लौट आए। उन्होंने तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुये यह चिन्ता नहीं की कि समाज के भयंकर विवाद को कैसे सहन करें? वे गुरु आज्ञा को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। गणमान्य ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार कर दिया। उन्हें जातिच्युत भी कर दिया गया। गांव के बाहर एक कुटी बनाकर बारह वर्ष इन्होंने

परिश्रम और कष्ट में बिताये।

इसी पवित्र, साधनाशील, कष्ट को प्रभु कृपा माननेवाले तपस्वी दंपत्ति के यहां श्री निवृत्तिनाथ के अनुज के रूप में भगवान ज्ञानदेव जी का जन्म हुआ। शक संवत् ११९५ में निवृत्तिनाथ, शकसंवत् ११९७ में ज्ञानदेव, ११९९ में सोपान देव तथा १२०१ में मुक्ताबाई ने जन्म लिया।

श्री विट्ठलपंत ने सन्यास लेकर पुनः गृहस्थ आश्रम स्वीकार किया था इसलिये उनको और उनकी संततियों को घोर कष्ट सहन करने पड़े। समाज का हर तरह से तिरस्कार पाकर भी ये बालक विद्याध्ययन तथा अन्य साहित्यिक संस्कारों में ऐसे विकसित हुये जैसे कीचड़ में से कमल। श्री ज्ञानदेव जी के पिता स्वयं भी शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान थे। उन्होंने अपने पुत्रों को स्वयं विद्या-दान दिया। पिता की विरक्त वृत्ति, तीर्थाटन का अभ्यास, प्राचीन तत्त्वशास्त्र में असाधारण गति आदि बातों ने श्री ज्ञानदेव के बाल्यावस्था के संस्कारों का निर्माण किया था।

इसी बीच सामाजिक प्रताड़ना से क्षुब्ध होकर तपश्चर्या का निश्चय करके श्री निवृत्तिनाथ त्र्यम्बकेश्वर क्षेत्र पहुंचे। वहां गोदावरी के उद्‌गम ब्रह्म-गिरी की प्रतिदिन परिक्रमा करने का संपल्प करके तपस्या करने लगे। एक बार सिंह को देखकर उसके भय से त्रसित होकर इधर-उधर भागे तो उन्हें परमसिद्ध सन्त गहिनी नाथ के दर्शन हुये। उनके आशीर्वाद से, उनकी कृपा से उन्होंने अध्यात्म विद्या का रहस्य पा लिया। वे न केवल अभय हो गये अपितु अध्यात्म के आनन्दमय साम्राज्य में विचरण करने लगे। इसी असाधारण अध्यात्म संपत्ति का लाभ उन्होंने अपने अनुजों और अनुजा को कराया। जैसे ही निवृत्तिनाथ तपस्या में सफल होकर वापिस लौटे उनके पिता के सामने अपने पुत्रों के उपनयन का प्रश्न जटिलता के साथ खड़ा था। श्री निवृत्तिनाथ की अवस्था उपनयन योग्य थी परन्तु आलंदी के ब्राह्मण तो पहले ही उनका बहिष्कार कर चुके थे वे कैसे उनका उपनयन कराते? श्री विट्ठलपंत और उनकी पत्नी ने ब्राह्मणों से प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि इसके लिये प्रायश्चित करना होगा। देह-त्याग के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। विट्ठलपंत देह की असारता से भली भांति परिचित थे परिणामतः उन्होंने अपने पुत्रों के कल्याण के लिए देह-त्याग करने का निश्चय किया और उसकी सूचना देकर घर से निकल पड़े। उनके पीछे-पीछे उनकी पत्नी भी चल पड़ी उन्होंने पंडितों द्वारा दिये गये निर्णय को व्यवहार में ला दिया।

माता-पिता के असमय अवसान ने बच्चों का संकट बढ़ा दिया। निवृत्तिनाथ ने ब्राह्मण सभा से पूछा कि अब हमारे बारे में क्या निर्णय है? ब्राह्मणों ने कहा कि पैठण हमारा ज्ञान-केन्द्र है वहां से शुद्धि पत्र लाने पर ही उपनयन संस्कार होगा। उस समय पैठण नगर दूसरी काशी कहलाता था।

निवृत्तिनाथ और सोपानदेव इस पक्ष में नहीं थे। उनके मन के वैराग्य ने इन आत्मबाह्य आचारों में पढ़ने से अनिच्छा व्यक्त की थी। परन्तु ज्ञानदेव जी ने समाज की धर्मव्यवस्था को सम्मान देते हुये यह आग्रह किया कि पैठण से शुद्धि-पत्र लेकर उपनयन संस्कार संपन्न कराना चाहिये। आलंदी के ब्राह्मणों का पत्र लेकर वे पैठण पहुंचे। वहां के पंडित समाज ने यही कहा कि सन्यासियों के पुत्रों के लिये उपनयन का कोई विधान नहीं है। श्री ज्ञानदेव जी तथा उनके भाइयों का उपद्रवी तत्त्वों ने उपहास किया। यहां तक कि एक भैंसे की ओर संकेत करते हुये कहा कि "इसका नाम भी तो ज्ञाना है क्या यह आपसे अभिन्न होने के कारण वेद-मन्त्र के उच्चारण में समर्थ है" श्री ज्ञानदेव जी ने कहा 'अवश्य'। उनके इंगित मात्र से वह पशु भी वेद मंत्र का उच्चारण करने लगा। इसी तरह से उनके कुछ अन्य चमत्कार देखकर पैठण का विद्वत समाज चमत्कृत हो गया। उसने उन्हें आदर पूर्वक शुद्धि-पत्र प्रदान किया। पैठण में उनके प्रभाव से एक नए वातावरण की सृष्टि हुई। वे पुनः आलंदी लौटे। तब तक पैठण के समाचार आलंदी में पहुंच चुके थे। वहां का वातावरण बदल चुका था। वे

ही पंडित जो कल तक उपेक्षा और उपहास का प्रदर्शन कर रहे थे वे ही अब श्री ज्ञानदेव जी के चमत्कारों से अत्याधिक प्रभावित थे। श्री ज्ञानदेव जी की ख्याति बढ़ती जा रही थी। बहुत बड़ी संख्या में लोग उनके यहां उनके दर्शनार्थ आने लगे थे। अपने-अपने गांवों में भी उन्हें आमंत्रित किया जा रहा था। श्री निवृत्तिनाथ तथा श्री ज्ञानदेव जी के उपदेशामृतों से पूर्ण-तत्त्व में अवस्थित होने का अलभ्य लाभ लोगों को मिल रहा था। वस्तुतः प्रथम ज्ञानोपदेश श्री निवृत्तिनाथजी के द्वारा ज्ञानदेव को मिला था। फिर वे स्वयं भी तो चिदंश के साक्षात् अवतार ही थे अतः उनमें निरन्तर दिव्य चेतना का विस्तार होता जा रहा था।

श्रीमद्भगवतगीता भारतीय तत्त्व-चिन्तन का असाधारण ग्रन्थ रत्न है। प्रायः सभी प्राचीन महापुरुषों ने अपने कृतित्त्व की सफलता गीता के व्याख्यान, प्रवचन और भाष्य में मानी है। श्री ज्ञानदेव जी ने शक सं १२१२ में, छोटी सी उमर में गीता की सुप्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी नामक टीका लिखी। ज्ञानेश्वरी का लेखन यद्यपि अल्प वय में श्री ज्ञानदेव जी ने किया परन्तु उसमें विचार और साधना की असाधारण प्रौढ़ता है। बहुत से दुरूह प्रसंगों को, जटिल ग्रंथियों को अत्यन्त सहजता के साथ उन्होंने सुलझाया है कि देखकर आश्चर्य होता है। साहित्य की दृष्टि से भी ज्ञानेश्वरी अतुलनीय और अनुपमेय है। ओवी छन्द में जिस सरलता, सहजता एवं काव्य के रस अलंकार संबंधी चमत्कारों का दर्शन पाठक ज्ञानेश्वरी में करता है तो वह उसके काव्य सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है। ज्ञानेश्वर जी ने अपने अग्रज और आध्यात्मिक गुरु श्री निवृत्तिनाथ की प्रेरणा से 'अमृतानुभव' अथवा 'अनुभवामृत' नाम से साधना के परम-रहस्य को उद्घाटित करने वाला ग्रंथ लिखा। इन दो ग्रंथों की रचना के आधार पर सहज ही कहा जा सकता है कि श्री ज्ञानेश्वर जी एक ओर योगिराज, तत्व चिन्तक तो थे ही दूसरी ओर वे साहित्य शिरोमणि भी थे। उनकी तुलना यदि इन दृष्टव्यों से किसी से की जा सकती है तो वह है आदि शंकराचार्य जिनका इन दोनों क्षेत्रों में समान अधिकार था। जिन ग्रंथों को समझने के लिये बड़े से बड़े विद्वानों का पूरा जीवन कम पड़ता है उन ग्रंथों का प्रणयन छोटी सी अवस्था में श्री ज्ञानदेव जी के द्वारा होना एक विलक्षण कार्य है।

श्री ज्ञानदेव जी के समकालीन एक सिद्ध महापुरुष थे श्री चांगदेव जी महाराज। कहा जाता है कि अपने योग से वे चौदह सौ वर्षों से अपना शरीर धारण किये हुये थे। उन्होंने सुना कि पशु के मुंह से श्री ज्ञानदेव जी ने वेद मंत्रों का उच्चारण कराया। उन्होंने एक पत्र उनको भेजना चाहा। परन्तु यह तय न कर पाने के कारण कि सम्बोधन कैसे करें, कोरा कागज ही पत्र के रूप में भेज दिया। उसके उत्तर में श्री ज्ञानदेव जी के मन में श्री चांगदेव के नाम स पंसठ ओवियों में विस्तृत उत्तर भेजा। उत्तर पढ़कर चांगदेव जी के मन में श्री ज्ञानदेव जी से मिलने की जिज्ञासा प्रबल हो उठी। वे सिंह पर सवार होकर सर्प का चाबुक लेकर ज्ञानदेव जी से मिलने चल पड़े। जब श्री ज्ञानदेव को उनके आने का समाचार मिला तब वे एक दीवाल पर बैठे थे। जड़ चेतन में ऐकात्म्य का अनुभव करने वाले श्री ज्ञानदेव जी ने जड़ दीवाल को सिद्ध महापुरुष के स्वागतार्थ वाहन बनाकर चलने की आज्ञा दी। श्री चांगदेव जी यह दृश्य देखकर स्तब्ध रह गये। उन्होंने ज्ञानदेव की शरण ली और शिष्यत्व स्वीकार किया।

उनके जीवन वृत्ति का अवलोकन करने पर इस तरह के कुछ अन्य भी चमत्कार के प्रसंग मिल सकते हैं परन्तु उनका उल्लेख बहुत आवश्यक नहीं है। ऐसे महापुरुषों का आविर्भाव चमत्कार प्रदर्शन के लिये नहीं होता अपितु वे लोक-कल्याण और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने के लिये ही अवतरित होते हैं। उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता न अपनी कोई व्यक्तिगत इच्छा बची रहती है।

ऐसे योगी और श्रेष्ठ सिद्ध की भूमिका पर प्रतिष्ठित होने पर भी उनके मन में तीर्थ यात्रा का विचार उठा। अपने साथ उन्होंने पंढरपुर से नामदेव जी को लिया। द्वारकादि सप्त-तीर्थ की

यात्रा के माध्यम से सम्पूर्ण भारत पर उनके व्यक्तित्व की अनूठी छाप पड़ी। आलंदी उनका मुख्य केंद्रस्थान था। श्री निवृत्तिनाथ सोपानदेव तथा मुक्ताबाई के साथ उन्होंने भक्तिज्ञान और साधना की त्रिवेणी बहा दी थी। एक समय के माता-पिता विहीन समाज से परित्यक्त बालक आज सारे संसार की श्रद्धा के केंद्र बने।

इतने महान कार्य करने और ज्ञानेश्वरी जैसा अद्भुत ग्रंथ लिखने आदि के कारण आपकी मान्यता विद्वत शिरोमणि, योगिराज और परम संत के रूप में की जाने लगी थी। यहं सब कार्य उन्होंने इक्कीस वर्ष की अवस्था में पूरा कर लिया था।

अपना कार्य पूर्ण हुआ यह अनुभव करके श्री ज्ञानदेव जी महाराज ने पांडुरंग के चरणों में समाधिस्थ होने की इच्छा व्यक्त की। श्री पांडुरंग के परम भक्त नित्यसेवी संत नामदेव को जब इस इच्छा का ज्ञान हुआ तब से अत्यन्त दुःखी हुये। उनके समाधिस्थल का स्थान निर्धारित किया गया। यह समाचार जैसे-जैसे फैला सभी भाव विव्हल होकर आलंदी की ओर दौड़ पड़े। दूर-दूर से विभिन्न संत समुदाय अपनी-अपनी पताकायें एवं कीर्तन मंडलियां लेकर इस महान संत के अंतिम दर्शन के लिये दौड़ पड़े। आलंदी संत-समागम से किसी बहुत बड़े तीर्थ के समान हो गई थी। सभी बहुत दुःखी थे कि जिस महापुरुष के प्रतिदिन मार्गदर्शन प्राप्त होता था उसका निरोधान हो जायेगा। यहां तक कि परम विरक्त श्री निवृत्तिनाथ का कण्ठ भी भर आया। श्री सोपानदेव और मुक्ताबाई सिसकियां भरकर रो रहे थे। इंद्रायणी नदी के किनारे श्री सिद्धेश्वर भगवान के सामने अन्दर जाकर समाधि-स्थल को स्वच्छ किया गया। सन्त श्री नामदेव के पुत्रों ने समाधिस्थल की स्वच्छता का कार्य अपने हाथ से किया। सारा वातावरण भगवन्नाम, संकीर्तन और श्री ज्ञानदेव महाराज की जय-जयकार से गूंज रहा था। श्री ज्ञानदेव जी का षोडशोपचार विधि से पूजन किया गया। श्री ज्ञानदेव जी जीवित ही समाधि-स्थल की ओर बढ़े। पहले उन्होंने भगवान की बड़ी स्तुति बड़ी भाव प्रवण भाषा में की। १०९ श्लोकों की स्तुति ने वातावरण को भक्तिमय बना दिया था। श्लोक पाठ करते-करते श्री ज्ञानदेव जी ने गुफा में प्रवेश किया। उस समय उनके साथ उनके आध्यात्मिक गुरु श्री निवृत्तिनाथ हाथ पकड़कर अंदर ले जा रहे थे। शक संवत् १२१८ कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के पवित्र दिन श्री ज्ञानदेव जी महाराज ने 'संजीवनी' समाधि ली। गुफा का द्वार श्री निवृत्तिनाथ जी ने एक बड़ी शिला से बंद किया। इस प्रकार एक असाधारण व्यक्तित्व की इह लीला का विश्राम हुआ। यह पहला अवसर था जब सशरीर किसी ने समाधि लेकर अपने स्थूल शरीर को भी तेज पुंज के रूप में परिवर्तित कर लिया।

उनकी समाधि ग्रहण करने की आठ माह की अवधि में श्री निवृत्तिनाथ, श्री सोपानदेव एवं मुक्ताबाई ने अपनी इहलीला समाप्त की। एक साथ सारी विभूतियों का तिरोधान हो गया। अपने असाधारण योगदान से इस परिवार के सदस्यों ने देश की आध्यात्मिक साधना को संपन्न बनाया।

श्री ज्ञानदेव जी की ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभाव केवल मराठी साहित्य के ही नहीं अपितु संपूर्ण भारतीय आध्यात्मिक वांड्मय के अत्यधिक भा स्वर रत्न हैं। उसके आलोक से असंख्य साधकों के साधना पथ आलोकित हुए हैं। जीवन के गहन अनुभव विश्वसनीयता के साथ इसके प्रतिबिंबित हुये हैं। उनके व्यक्तित्व में वैदिक वांड्मय का संपूर्ण तत्त्व-ज्ञान, भक्ति की भागीरथी और साधना की दिव्य-शक्ति अपने परम उत्कर्ष में दृष्टिगोचर होती है। इतनी कम अवस्था में इतना महान कार्य कर पाना उनकी दिव्य-शक्ति की सूचना देता है। ऐसी असाधारण विभूति युग चेतना को प्रभावित करने तथा लोकोपकार के लिए ही आविर्भूत होती है। उनके चरणों में असंख्य श्रद्धापूरित प्रणाम निवेदन करके उनसे हम प्रार्थना कर सकते हैं उनका व्यक्तित्व और कृतित्व आज के संघर्षशील विश्व को शान्ति और आध्यात्मिक चेतना प्राप्त करने में प्रेरक, मार्गदर्शक और सहायक बनेगा।

नाथ संप्रदाय

संतश्रेष्ठ श्री ज्ञानदेवजी के ग्रंथों में अनुभव का अमृत भरा हुआ है। उसमें ज्ञानेश्वरी ग्रंथ नाथ संप्रदाय में श्री गुरु परंपरा प्राप्त समाधिधन है। वह विश्व के लिये खुला किया हुआ निधि है ऐसा स्वयं ज्ञानदेव कहते हैं। ज्ञानेश्वरी ग्रंथ के समाप्ति में ज्ञानदेवजी ने गुरुपरंपरा का निम्नलिखित उल्लेख किया है। आप कहते हैं, क्षीरसिंधु परिसर में। शक्तिदेवी के कर्ण कुहर में। कहा जो त्रिपुरारी ने। जाने कब।।१७५१।। वह क्षीर कल्लोल में स्थित। मकर उदर में गुप्त। जो थे उनके हाथ। हुआ प्राप्त।।५२।। वही जानो मत्स्येंद्रनाथ। सप्तश्रृंगीपर जो। चौरंगीनाथ। भग्नावयव भेटते ही वह होत। संपूर्ण सर्वांग में।।५३।। तब समाधि अव्यत्यया। भोग इच्छा से दिया। मुद्राज्ञान श्री गोरक्षराया। - को मीननाथ ने।।५४।। तब भूतजात यह समस्त। देखकर कलिकाल ग्रस्त। आज्ञादेत गहिनीनाथ। श्रीनिवृत्तिनाथ को ऐसी।।५७।। जो आद्यगुरु श्रीशंकर! उनका रहस्यज्ञान अपार। शिष्य परंपरा से समग्र। प्राप्त हमको।।५८।। सो वह लेकर पूर्ण। उबारने कलि पीड़ित जन। दौड़कर शीघ्र छुड़ाओ बंधन। सर्व प्रकार से।।५९।। तब आर्त की दया से। गीतार्थ ग्रथन मिष से। जो वर्षत शांत रस से। सो ग्रंथ यह।।१७६१।। (ज्ञा.१८/१७६१)

जिस नाथ संप्रदाय ने ज्ञानदेवजी जैसा अमोल रत्न महाराष्ट्र को दिया, उनकी परंपरा का उगमस्थान उत्तर भारत है। नाथपंथ के आदि गुरु भगवान श्री शंकर हैं। इस पंथ का विशेष प्रचार अष्टम या नवम् शतक सर्वमान्य है। क्योंकि नाथसंप्रदाय के प्रचारक श्री. गोरक्षनाथजी का काल दशम शतक सर्वमान्य हुआ है। इस पंथ को अन्य अनेक नाम प्राप्त हैं विशेष रूप से यह सिद्धार्थ मार्ग, योगबीज, योगमार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूतमत, अवधूत संप्रदाय आदि नाम सुप्रसिद्ध करते हैं। विशेष रूप से सिद्धार्थ मत या सिद्धमत नाम से यह पंथ विशेष रूप से जाना जाता है। नाथ संप्रदाय के आचार्य स्वय सिद्ध होते थे। अतः उनकी पद्धति सिद्ध सिद्धांत पद्धति नाम से प्रचलित है। डॉ. बागची के अनुसार श्री मत्स्येंद्रनाथजी के कौलज्ञान निर्णय के अनुसार योगिनी कौलमार्ग संप्रदाय ऐसा उनका कौलमत सिद्धान्त था। कौलमार्ग सत्कार्यवादी था। कार्य के अव्यक्त अवस्था का नाम कारण है। एवं कारण की व्यक्त अवस्था कार्य होती है।।

श्री आद्यशंकरार्चाय के अनन्तर गोरक्षनाथ जैसे प्रभावशाली एवं महिमान्वित व्यक्ति इस देश में अन्य नहीं हुआ। भारत के कोने-कोने में उनकी शिष्य परंपरा है ऐसा उन्होंने प्रवास करके लोक जागृति का महान दिव्य कार्य किया है। उन्होंने शक्तिशाली धर्म मार्ग योगपरंपरा से सर्वत्र प्रचलित किया है।

श्री गोरक्षनाथजी ने प्रचुर ग्रंथ संपत्ति का निर्माण किया। संस्कृत भाषा में उनकी ग्रंथ रचना कालानुसार कुछ लुप्त हुई है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ३८ ग्रंथों का उल्लेख अपने नाथसंप्रदाय ग्रंथ में किया है। उसमें अमनस्क, अमरौध शासनम्, गोरक्षपद्धति, गोरक्ष संहिता, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति यह महत्वपूर्ण ग्रंथ श्री गोरक्षनाथजी द्वारा लिखित है। हिंदी में गोरक्षबानी सुप्रसिद्ध है। गोरखनाथजी के सिद्धान्त के अनुसार जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही सूक्ष्मरूप में पिंड देह में है। इस देह में मुख्य कार्यकारी शक्ति भगवती कुण्डलिनी है। विश्वव्यापिनी शक्ति का ही यह देहस्थित रूप है। अतः नाथसंप्रदाय के अनुसार शरीर उपासना का प्रमुख साधन है। शिवशक्ति का ऐक्य ही सहज समाधि है। वही उपासना का ध्येय है। मोक्षप्राप्ति के लिये मानव का साध्य वही है। मन के द्वारा सहज समाधि प्राप्त करना ही अंतिम साध्य है।

गोरखनाथजी के शिष्य श्री गहिनीनाथजी द्वारा श्री ज्ञानदेवजी के प्रपितामह का अनुग्रह हुआ था। श्री गहिनी नाथजी ने ही श्री निवृत्तिनाथजी को अनुग्रहित किया। यह छोटासा अनुग्रह का पौधा श्री गुरु निवृत्तिनाथजी की कृपा से श्री ज्ञानदेवजी ने आकाश तक पहुंचाकर विशाल एवं व्यापक किया श्री ज्ञानदेवजी योगी, भक्त एवं ज्ञानी थे। ज्ञानदेवजी ने योग भकित एवं ज्ञान का समन्वय पंढरपुर में श्री पांडुरंग विट्ठल भगवान के चरणों में समर्पित हुआ। पंढरपुर नाथसंप्रदाय का आदि पीठ बना। आद्य

शंकराचार्य जी ने भी पंढरपुर का उल्लेख महायोगपीठ नाम से किया है। नाथसंप्रदाय को भक्तिमार्ग का अधिष्ठान देकर श्री ज्ञानदेवजी ने वारकरी संप्रदाय बलशाली बनाया। कबीर, नानकजी, ज्ञानदेव इन सब संतों ने श्री गोरखनाथ जी को ही अपना परमगुरु समझा है। किन्तु ज्ञानदेवजी ने अपनी आलौकिक प्रतिभा से सब पंथों का समन्वय करते हुए भक्ति एवं ज्ञान के अधिष्ठान पर नाथसंप्रदाय को महानता प्रदान की।

श्री ज्ञानदेवजी पंथराज अर्थात कुंडलिनी योग

कुंडलिनी योग को महायोग कहते हैं। नाथ संप्रदाय के अनुसार पिंडदेह में रहते हुए देह के आसक्ति का त्याग करना यह नाथ संप्रदाय का रहस्य है (ज्ञा.अ.६/२९१) संत ज्ञानदेवजी ने कुंडलिनी जागृति एवं योगमार्ग का विस्तृत विवेचन ज्ञानेश्वरजी के छठवें अध्याय में किया है। प्रसंगानुसार अन्य अध्याय में भी नामोल्लेख किया है। कुंडलिनी योग के प्रति उनकी आत्मीयता स्थान-स्थान पर मुखर हुई है। मानो उन्होंने इसी मार्ग से अंतिम सिद्धि प्राप्त की है। अन्य उपासना के मार्ग एवं साधना का भी उन्होंने अत्यंत भावपूर्ण उल्लेख किया है किंतु कुंडलिनी योग उनके अंतरंग का विशेष प्राकट्य है ऐसा प्रतीत होता है। आसन से प्रारंभ करके समाधि स्थिति पर्यंत अत्यंत बारीकी से विस्तृत विवेचन अनुभव से ओतप्रोत भावपूर्ण है। प्रत्येक अध्याय में कुंडलिनी योग के उल्लेख की आवश्यकता न रहते हुए भी उन्होंने कभी-कभी ऐसा किया है।

योगशिखोपनिषद में मन्त्रो लभो हठो राजयोगोन्तर्भूमिका क्रमात्। एव एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।। ऐसा उल्लेख है। मंत्रयोग, हठयोग लययोग एवं राजयोग से कुंडलिनी जागृति होती है ऐसा कहा जाता है। ईश्वरप्रसाद से या सद्गुरु कृपा से कुंडलिनी जागृत होकर सुखानुभव प्राप्त होता है। कुंडलिनी जागृति के निम्नलिखित मार्ग कुंडलिनी महायोग ग्रंथ में दिये हैं।

स्वामी विष्णुतीर्थ लिखते हैं:–

१ योगाभ्यासात् तीव्र वैराग्याश्च।।
२ ज्ञानभक्तिभ्यां वा।।
३ प्राणायामाद्वा।।
४ शक्ति पाताद् विशेषेण।।

शक्तिपात का अर्थ अतिंद्रिय विषय ग्रहण करने का सामर्थ्य प्राप्त करा देना है। श्रीगुरुकृपा से कुंडलिनी जागृत होती है। किंतु शिष्य की भूमिका गुरुप्रसाद ग्रहण करने योग्य होना चाहिये। कुंडलिनी जागृति के अनन्तर अनायास साधना होती ही रहती है। इस शक्ति को देवात्मिका शक्ति भी कहते हैं। तंत्रमार्ग का विशेष कुंडलिनी योग ही है। शक्ति उपासना के दो मार्ग होते हैं। पंच मकार के मार्ग को वाममार्ग कहते हैं। शक्ति उपासना का अत्यन्त शुद्ध मार्ग है वही कुंडलिनी मार्ग से नाम से सुप्रसिद्ध है। ब्रह्मांड में स्थित आदि शक्ति देह में कुंडलिनी शक्ति नाम से सुप्रसिद्ध है। यही चित्शक्ति है। यही ज्ञानरूपा है।

कुंडलिनी शक्ति जागृत होनेपर साधक का आसन स्थिर होता है। उड्डियान, जालंधर एवं मूलबंध अपने आप लगते हैं। जिव्हा खेचरी मुद्रा में प्रविष्ट होती है। शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर होती है। बाह्य संज्ञा नष्ट होकर मन स्थिर होता है। अपने आप कुंभक होता है। मूलाधार से सहस्त्रार तक सुषुम्ना के मार्ग से प्राण प्रवाहित होने लगता है। इस अवस्था में विभिन्न अंतर्नाद सुनाई देते हैं। विविध मंत्र, विविध देवताओं के दर्शन दिव्य स्पर्श, गंध आदि का अनुभव होता है।

शक्ति उत्थान के साथ प्राण एवं अपान का उत्थान होकर सुषुम्ना प्रवाहित होती है। सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरंध्र तक पहुंचकर वहां शिवशक्ति का ऐक्य होता है। यही कुंडलिनी जागृति का प्राप्तव्य है। यही समाधि है। यही परमानंद की प्राप्ति है।

कुंडलिनी योग से मन, प्राण एवं शरीर संघटित होता है। शरीर तिरस्कृत नहीं है। वह भगवद्प्राप्ति का साधन एक उपकरण है ऐसा बोध होता है।

Digitized by IKS-MoE

धर्माचरण का अधिष्ठान शरीर है। संत ज्ञानदेवजी इस योग को पंथराज कहते हैं अतः योग एवं भक्ति में अभेद है। जिसको जो मार्ग भगवद्प्राप्ति के लिए उचित प्रतीत होता है उसका अनुसरण करते हुये मनुष्य जीवन सफल बनाना चाहिये यही श्री ज्ञानदेवजी की इच्छा है।

कर्मयोग

श्री ज्ञानदेवजी की दृष्टि से भगवद्गीता के अनुसार साधना का प्रारंभ कर्म है। कर्म एवं उससे संलग्न प्रपंच की कल्पना सर्व भारतीय दर्शन शास्त्र का मूल आरंभ उपनिषद है। जैसा कर्म किया होगा वैसा जन्म प्राप्त होता है। भगवद्गीता ने यह कल्पना मान्य की है। 'यं यं' वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमैवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः। जन्म-मृत्यु की कल्पना इसमें सुस्पष्ट है। अगला जन्म यथा कर्म होता है।

श्री ज्ञानदेवजी गीता को अध्यात्म शास्त्र मानते हैं। यहां अविद्यानाश यह स्थल। मोक्षोपादान फल। इन दोनों को साधन केवल ज्ञान है (ज्ञा.) ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। श्री ज्ञानदेवजी दुराग्रही नहीं हैं। नाथ पंथ के स्वयं अधिकारी होते हुये भी श्री गीता में केवल कुंडलिनी योग है, ऐसा उनका आग्रह नहीं है। उनकी पद्धति समन्वय की है। तेरहवें अध्याय में प्रकृति पुरुषं चैव इस श्लोक की व्याख्या करते हुये प्रकृति एवं पुरुष दोनों स्वतंत्र तत्त्व हैं, ऐसा वे कहते हैं। श्री गीता में कर्म का प्राधान्य होने से ज्ञानदेवजी ने कर्म को मान्यता दी है। प्रथमाध्याय 'शास्त्र प्रवृत्ति प्रस्ताव' है। द्वितीयाध्याय में मोक्षदानी स्वतंत्र। ज्ञान प्रधान यह शास्त्र है। अज्ञानी बद्ध जीवों को मोक्ष प्राप्त करने का साधनारंभ तृतीय अध्याय में है। देह नाशवंत है ऐसा ज्ञान सतसमागम से एवं सत् शास्त्र श्रवण से उत्पन्न होने पर संसार बंधन से मुक्त होने की अभिलाषा मन में उत्पन्न होती है। अतः विहित कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करना चाहिये।

श्री गीता में विविध प्रकार से भक्ति एवं उपासना मार्ग बताया गया है। उपासना करने के लिये विहित कर्म का त्याग अपेक्षित नहीं है। उस "सर्वात्मक ईश्वर"– की स्वकर्म कुसुमों से वीर। पूजा करते होवे अपार। संतोष प्राप्त। उस पूजन से संतुष्ट ईश्वर। साधक को वैराग्य सिद्धि प्रसाद रूप में। भक्त को देता है॥ज्ञा॥

जीवन मुक्त प्राप्त पुरुषों ने भी कर्म करना चाहिये। उससे अज्ञानी जीवों को मार्ग दर्शन होता है। प्राप्त पुरुषों को लोकोद्धार की जिम्मेदारी रहती है। अतः ज्ञानियों एवं संतों ने सत्कर्म का विशेष आचरण करना चाहिये। (अ. ३/१४६-१६०)

गीता का उपदेश करने के उपरांत भगवान पूछते हैं, 'कश्चित एतत् श्रुतं पार्थ'। (गी.) हमने जैसे जिस रीति से (अ. १८/१५४६-४९) यह पूछा है क्या यह तुमने सुना है?। अंतरंग कारण से भगवान ने यह प्रश्न पूछा ऐसा ज्ञानदेवजी सूचित करते हैं। ज्ञानदेवजी के सिद्धांतों में ज्ञान एवं कर्म में विरोध नहीं है। गीता केवल संन्यासपरक नहीं है। उपदेश करने के पूर्व मोहग्रस्त अर्जुन युद्ध क्षेत्र छोड़कर जाने वाले थे। उपदेश सुनने के उपरान्त स्वानंद रस में डूबकर कर्तव्य परांमुख न होवे इसीलिये उन्हें युद्ध प्रवृत्त किया। ब्रह्मत्व की प्राप्ति होने के उपरान्त कर्म छोड़ना यह अंतिम स्थिति नहीं है। दिव्य कर्म करते रहना चाहिये। मूल गीता में नीति का व्यवहार बताया है। नहि देहभृतां शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। ज्ञानदेवजी कहते हैं, देहकी मूर्ति प्राप्त होने परकर्म का विषाद मानना मूर्खता है। (ज्ञा.) शरीर का उपादनकारण कर्म है। जन्म का कारण भी कर्म है। (अ. ९/४०३) निसर्ग के नियमों में बदल नहीं हो सकता। प्रकृति के अनुसार कर्म होते ही रहते हैं। अतः कर्म का त्याग असंभव है। ज्ञानदेवजी कहते हैं, विश्व का कारण भी कर्म है। कर्म स्वभाव से। विश्वाकार संभवत ऐसे। वह सम्यक दृष्टि से। जानो यहां (अ. ४/८९) अतः संपूर्ण कर्मत्याग अशक्य है।

कर्मपाश:- कर्म से उत्पन्न होने वाले बंधन से छुटकारा पाने का मार्ग कर्तृत्वमद एवं फलास्वाद का त्याग है। कर्म बंधनकारक नहीं है। (अ. १८/

२०४) यह कर्म सिद्धि की जड़ है। शरीर से अखंड कर्म होते रहेंगे। किंतु आत्मा अकर्ता एवं अभोक्ता है। (अ. १८/३०६-३१३)

स्थूल, सूक्ष्म, कारण संघात से आत्मा भिन्न है, यह गीता की आत्म विषयक कल्पना है। अनादित्वात् निर्गुणत्वात (गी.।१३/३१) आत्मा निर्गुण निरुपाधि, अनन्त, अद्वय, ज्ञानधन है। स्वभावतः उसमें कोई परिवर्तन का संभव नहीं। आत्मा साक्षी भी नहीं। वह कुछ करता नहीं। कराता भी नहीं। कर्तृत्वाभिमान से एवं कर्म फलाशा से जीवात्मा कर्मफल में बद्ध होता है। कर्ता न होते हुये भी 'मैं कर्ता हूं' ऐसा समझता है। इसमें ही मुक्ति का बीज है। अहंकार छूटने पर वह मुक्त है। श्री गीता की दृष्टि से वही श्रेष्ठ है, जो कर्म करता है किंतु कर्मफल की आकांक्षा नहीं रखता। श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं- 'कर्म से ही कर्म की श्रृंखला टूटती है' अतः निष्काम बुद्धि से कर्तव्य का अहंकार छोड़कर कर्म करना। (ज्ञा. १८/१६३-१६४)

ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म पूर्ण होगा या नहीं होगा, यह मनुष्य के स्वाधीन नहीं है। कर्म पूर्ण होने के लिये परिस्थिति की अनुकूलता चाहिये। कर्म का प्रारंभ या कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होती है। यश अपयश का फल सृष्टिनियंता के हाथ रहता है। इस विश्व का चालक ईश्वर है। उसी की सत्ता से यह विश्वचक्र घूमता रहता है। यह श्री गीता का सिद्धांत है। 'ईश्वर सर्व भूतानां हृदद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (गी. १८/६१)

अतः कर्मसिद्धि का आग्रह न करते हुये कर्म कर्तव्य एवं कर्म फल भगवान को समर्पित करना चाहिये। यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। (गी. ९/२७) कर्म ईश्वरार्पण करने से समत्व का भाव निर्माण होता है। श्रीगीता अधिकार भेद बताती है। अतः उसमें प्रमुखतः गुणकर्म विचार प्रकट किया है। जैसी जिसकी प्रकृति होगी उसके अनुरूप उसके कर्म होंगे। कर्म में भिन्नता होते हुए भी सब कर्म ईश्वरार्पण करने से उसमें समत्व उत्पन्न होता है। कर्म ईश्वरार्पण करने से दूसरे जन्म का बीज नष्ट होता है। अग्निकुंड में बीज प्रक्षिप्त। अंकुर दशा से होत मुक्त। (ज्ञा. ९/४०२)

श्री गीता जिसको दिव्य कर्म कहती है, जिसको ब्रह्मकर्म कहती है, वह स्थिति प्राप्त होने के लिये कर्ता का अहंभाव नष्ट होना चाहिये, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने का यही अंतरंग रहस्य है। श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं, जब कभी कर्म करोगे तब उसके फल का त्याग करते जाइये। (ज्ञा. १२/१२८-१३३) कर्म के अहंकार का त्याग करो। जो कर्म हो रहा है, वह ईश्वर सत्ता से हो रहा है। यह भाव रखने से अर्पण न करते ही कर्म समर्पित होता रहता है। (ज्ञा. १२/१३४) इससे जन्म परम्परा टूटती है। अतः भगवान की इच्छा समझकर कर्म करना श्रेष्ठ योग है। यही भक्ति की उत्तम स्थिति है। ईश्वरार्पण कर्म ब्रह्मरूप होने से कर्ता भी ब्रह्मरूप होता है। ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हतम्। बह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥२४॥ (गी. ४/२४) ॐ तत् सत् इस नाम की सहायता से कर्ता ब्रह्मरूप होता है। (ज्ञा. १७/३७३-७७)

ज्ञान प्रधान संन्यासः— योगः कर्मसु कौशलम् यह श्री गीता का प्रमुख सिद्धांत है। यही गीता का ज्ञान प्रधान संन्यास है। आश्रम संन्यास का आग्रह गीता नहीं करती अंतःकरण से त्याग न करते हुए केवल बाह्य त्याग ज्ञानदेवजी को मान्य नहीं। जिसका ऐहिक ठीक नहीं उसका परत्र क्या पूंछना?। जो प्रपंच अच्छा नहीं कर सकता वह परमार्थ क्या करेगा? अतः इस लोक एवं परलोक का कल्याण करनेवाला धर्म-इह लोक में अभ्युदय एवं परलोक में उत्तमगति एवं निःश्रेयस् दृष्टादृष्ट विजय प्राप्त करा देता है। अतः कर्म का त्याग न करते हुये प्रकृति के देह के साथ तादात्म्य का त्याग होना चाहिये। संकल्प छूटने के उपरान्त सांख्ययोग एवं कर्मयोग एक ही होता है। ज्ञानदेवजी कहते हैं, जहां संन्यास से संकल्प टूटता है। वहां योगरहस्य प्राप्त होता है। श्री गीता का संन्यास ज्ञानप्रधान है। मुक्त होने के उपरान्त कर्म पूर्व संस्कार के अनुसार होते हैं। ज्ञान से संचित एवं क्रियमाण जल जाता है। किंतु जब तक प्रारब्ध है तब तक शरीर से कर्म होते रहते हैं। अतः कर्म का संन्यास करने के लिये गीता आग्रह

नहीं करती। 'कर्म मैं कर रहा हूं' इस बुद्धि का संन्यास गीता में अभिप्रेत है। बुद्धिरहित कर्म निष्काम कर्म है। आत्मज्ञान से जब साधक को यह ज्ञान होता है, कि 'मैं स्थूल, सूक्ष्म देह से भिन्न हूं' तब बुद्धि का भी त्याग होता है।

गीता की समाधि:– व्यवहार में जिसको समाधि कहते हैं उससे गीता द्वारा उल्लेखित समाधि भिन्न है। श्री गीता मृत देह की समाधि या भूमिगत या जल समाधि का विचार नहीं करती। जिस स्थिति को गीता संन्यास कहती है उसी को समाधि कहती है। हर्षामहर्ष भयो द्वेर्ग.... की चर्चा करते समय जो हर्षशोक रहित। आत्मबोधपरिपूरित। ऐसा कर्म करता है। (गी. २/६४) इस अवस्था से कर्म प्रारंभ होता है। एवं समाप्ति निष्काम कर्म में होती है।

कर्म में अकर्म एवं अकर्म में कर्म देखनेवाला योगी कहलाता है। सिद्धि, संन्यास, समाधि, नैष्कर्म स्थिति यह सब एक ही स्थिति है। द्वैत संबंध शून्य, क्रियारहित, ज्ञानधन आत्मस्थिति ही नैष्कर्म स्थिति कहलाती हैं। जहां कर्म, कर्ता, कार्य की स्थिति नहीं, जहां कर्म का बोध नहीं, ऐसी अवस्था समाधि स्थिति कहलाती है। यही समत्व योग की स्थिति है। यही सिद्धि है। इसके उपरांत जीव को कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रहता।

नैष्कर्म होने का मार्ग:– स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। (गी. १८/४५) इस श्लोक से प्रारंभ करके नैष्कर्म्यसिद्धिं परमा संन्यासेनधिगच्छिति (गी. १८/४९) इस श्लोक तक नैष्कर्म स्थिति की उत्तम चर्चा श्री गीता करती है। शास्त्र संस्कारयुक्त साधक कर्म छोड़कर नैष्कर्म होने का प्रयास नहीं करता। अतः वह विहित कर्म करता ही रहता है। ईश्वरार्पण बुद्धि से किया हुआ कर्म ही भगवान की परम सेवा है। यह विहित कर्म पांडव। (ज्ञा. १८/९०६) सर्वात्मक भगवान को स्वकर्म से पूजन अत्यन्त प्रिय है। भगवान इस पूजन से संतुष्ट होकर उसे वैराग्य सिद्धि का प्रसाद देते हैं।

भक्तियोग

भक्ति प्रधान भागवत धर्म का अधिष्ठान ज्ञानेश्वरी में दिखाई देता है। श्री भगवत् गीता में कर्म, भक्ति, योग एवं ज्ञान का उत्कृष्ट समन्वय है। इसी से गीता का श्रेष्ठत्व है। कर्म, योग ज्ञान इन सबका अन्त भक्ति में होता है। गीता कहती है 'ये तु सर्वाणि कर्माणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। (गी. १२/६) श्री गीता की ईश्वर विषयक कल्पना 'ईश्वर सब भूतों के हृदय में रह कर सबके वृत्तियों का प्रकाशन करता है।' (गी. १८/६१) उसके द्वारा विश्व का व्यवहार चलाता है। यह गीता की स्वतंत्र कल्पना है। 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' ऐसे ज्ञानी को पराभक्ति प्राप्त होती है। अतः कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति के ही विधि प्रकार हैं। ईश्वरनिष्ठा को भक्ति कहते हैं। मन्मना भव, मामेकं शरणं व्रज, यह गीता की आत्मा है। ईश्वर भक्ति प्रत्येक साधना का अधिष्ठान है श्री गीता का पंद्रहवां अध्याय ज्ञान कांड का अंतिम अध्याय है। यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत (गी. १५/१९) इस श्लोक से इस अध्याय की समाप्ति हुई है।

अतः ज्ञानयोग भी भक्ति में समर्पित हुआ है। श्री गीता में ज्ञान योग कर्म स्वतंत्र रीति से प्रकट न होते हुये भक्ति के विभिन्न प्रकार के रूप में प्रकट हुये हैं। ईश्वर निष्ठा के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह गीता कहती है। ज्ञानदेवजी ने भक्ति, ज्ञान, कर्म, योग का अपूर्व समन्वय प्रकट किया है। ज्ञानदेव जी स्वयं ज्ञानी, योगी, भक्त एवं कर्मयोगी थे। उत्कृष्ठ आचार संपन्नता उन्हें अभिप्रेत है। 'भीतर से ज्ञान से उज्जवल। कर्म से बाह्य शरीर का प्रक्षालन' ऐसा अन्तर्बाह्य शुद्ध भक्त एवं ज्ञानी उन्हें पसंद है।

ज्ञानेश्वरी का भक्ति रूप थोड़ा भिन्न है, यह मेरा भक्तियोग जानो। 'इसको हमारी परमभक्ति कहो' ऐसी व्याख्या भी उन्होंने प्रसंग के अनुसार की है। मय्यावेश्य मनो ये मां (गी. १२/२) इस श्लोक की चर्चा में ज्ञानदेवजी कहते हैं देखो अस्तगिरी समय। सूर्यबिंब होत अदृष्य। पश्चात रश्मि कौन्तेय। संचरत उसमें। (ज्ञा. १२/३५-३८) कामनारहित, अनन्य शरणगति, आदि लक्षण भक्तों में, कैसे उत्पन्न होते हैं। इसका यथार्थ वर्णन इसमें हैं। कोई भी प्रमेय सिद्ध करने के लिये ज्ञानदेवजी दृष्टांतों का

Funding by IKS-MoE

उपयोग करते हैं। कभी-कभी दृष्टांत के विभिन्न भागों की परिस्फुटता करने के लिये अनेक दृष्टांत देते हुये भक्ति के विभिन्न प्रकार प्रकट करते हैं।

किरणों का जीवन सूर्य होता है। भगवान भी भक्तों का जीवन है। सूर्यास्त के समय सूर्य के साथ उसकी रश्मि भी जाती है। भगवद् स्मरण भक्तों का जीवन है शरीर, वाचा, मानस। इस विध अनन्य योग से अर्जुन। समर्पत जीव, अंग मन (ज्ञा. १२/८२) इससे भक्ति नित्य विकसित होती है। बढ़ती है। किंतु भक्ति में कमी नहीं होती। भक्ति का झरना नित्य बहता, रहता है। गंगाजी का प्रवाह नित्य सागर में समर्पित होता रहता है। तद्वत भक्त भक्ति करता ही रहता है, भक्ति में प्रेम प्रमुख होता है। बाह्य उपचार गौण होते हैं। पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं इस श्लोक की चर्चा करते हुये ज्ञानदेवजी कहते हैं, पत्र पुष्प, फल केवल निमित्त है। जहां भक्ति में आत्मसर्पण प्रमुख है। जहां श्री लक्ष्मी जी का श्रेष्ठत्व पर्याप्त नहीं है। श्री शंभु का तप अल्प प्रतीत होता है। जब श्रेष्ठत्व का अहंकार छोड़कर सबसे छोटे बनकर व्युत्पत्ति को भूलकर, धन का अहंकार छोड़कर भगवान को शरीर भी न्यौछावर किया जाता है, तब अपना आंतरिक प्रेम भगवान को समर्पित होता है। भगवान भक्त का आंतरिक भाव एवं भक्तिप्रेम देखते हैं।

सगुणोपासना :– परमार्थ में आवश्यक तपश्चर्य में भगवतपूजन को अग्रस्थान है। नवम अध्याय में अवजानन्ति मां मूढा इस श्लोक की चर्चा करते हुये ज्ञानदेवजी अज्ञानी भक्तों के लक्षण बताते हैं। विकृत कल्पनाओं का निषेध आप करते हैं। प्रतिमापूजन में अतिरेकी व्यवस्था का ज्ञानदेवजी ने स्पष्ट निषेध किया है।

भगवान के सगुण स्वरूप का सुंदर वर्णन ग्यारहवें अध्याय में आता है। नील वर्ण नीलोत्पल को। नीलिमा देत! आकाश को। प्रभा इंद्रनील मणि को। दातार! आपसे ही। (ज्ञा. ११/६००-६०४) श्री गीतारूपी वैष्णव प्रासाद में सबको प्रवेश है। उसमें श्री शंभुमहादेव एवं श्रीहरी दोनों को समान पूजनीय स्थान है।

व्यभिचारी भक्ति :– प्रत्येक देवता के अनुसार भिन्न भाव से उपासना करने के लिये अज्ञान से कुछ तो भी करते रहना ज्ञानदेवजी को मान्य नहीं। उसको आप व्यभिचारी भक्ति कहते हैं।

कीर्तन भक्ति :– 'सतत कीर्तयन्तो मां' इस पद की व्याख्या करते हुये ज्ञानदेवजी कहते हैं, कीर्तन रंग के नटन से। नष्ट सब प्रायश्चित जैसे। जहां पाप नामशेष से हुए सहज। (ज्ञा. ९/१९७-२१०) इसमें भजन के साधनों की चर्चा करते हुये विचारों के साथ उनका लोकोत्तर प्रभाव का विशेष वर्णन किया है। कीर्तन भक्ति से सब दोष नष्ट होते हैं। विश्व को सुखी करने का उसमें सामर्थ्य हैं। कीर्तन भक्ति करनेवाले हरिदास मेघसदृश उदार होते हैं क्योंकि वे श्रीहरि के प्रेम की वर्षा करते हैं। अन्य साधन करने से एक ही साधक का उद्धार होता है। किंतु कीर्तन भक्ति से सुननेवाले अनंत भक्तों का उद्धार होता है। बैकुंठ में मृत्यु के उपरांत कभी कोई अकेला जाता है। कीर्तन भक्ति में मृत्युलोक ही बैकुंठ बन जाता है।

भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न होने पर प्रतिमा पूजन करना यह भक्ति नहीं होती। भक्त के अंतःकरण में भक्ति दृढ़ होने से संपूर्ण शांती होती है। संपूर्ण जीवन ईश्वर भक्ति प्रेम से व्याप्त होता है। पराभक्ति, अव्यभिचारी भक्ति, गुरवी भक्ति, अनन्य भक्ति यह सर्वश्रेष्ठ भक्ति कहलाती है। किसी भी कार्य का प्रारंभ सकाम होता है। किंतु उसकी फलप्राप्ति नैष्कर्म्य सिद्धि में या ज्ञानप्रधान संन्यांस में होना चाहिये। अध्याय १७ में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थि एवं ज्ञानी ऐसे चार प्रकार के भक्तों का निर्देश आता है। भगवान गीता में कहते हैं, ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा है। ज्ञानदेवजी कहते हैं, ज्ञानी इसको स्वसंवित्ति कहते हैं। शैव इसको शक्ति कहते हैं। किंतु हम तो इसको परमभक्ति कहते हैं।। ज्ञानोत्तर भक्ति, अव्यभिचारी भक्ति, गुरवी भक्ति, अनन्य भक्ति सब एक है। भक्ति का अधिष्ठान अद्वैत ज्ञान है। ब्रह्म रूप महात्मा अद्वैत ज्ञान का त्याग न करते हुए भक्ति सुख का आनंद ले सकता है।

शरणागति के दो प्रकार हैं।

Funding by IKS-MoE

(१) कर्तृतंत्र शरणागतिः– कर्तृतंत्र शरणागति के अंतर्गत दण्डवत प्रणाम करना, काया, वाणी, मन से होने वाली सब क्रियाएं अंतर्भूत हैं।

(२) वस्तुतंत्र शरणागतिः– में भक्त भगवद्रूप होने पर भगवन्मय अवस्था में रहते हुये भक्ति करना शरणागति होती है। सुवर्ण मणि सुवर्ण को। आवे कल्लोल जैसा पानी को। वैसे धनंजय मुझको। आना शरण तुम। (ज्ञा.१८/१४००) वैसी यह न पहली ना दूसरी। न चौथी या तीसरी। जो यह सहज स्थिति मेरी। भक्ति नाम। (ज्ञा.१८/१११३) भगवद्रूप देह से भगवन्मय अवस्था में होने वाला कार्य भक्ति है। वह कहेगा वह स्तवन, जो कर्म करेगा वही भगवद्पूजन होता है।

अव्यभिचारी भक्तिः– विश्व रूप में भगवान प्रकट है इस भावना से अपने सहित संपूर्ण विश्व को भगवद्रूप देखना ही अव्यभिचारी भक्ति कहलाती है। भक्ति, ज्ञान, योग, कर्म सबका इसमें समन्वय है। अरे ऐसे यह समरस से। दृष्टि विकसित होवे जैसे। तब ही उसको भक्ति ऐसे। कहत हम। (ज्ञा.१४/३८७-८८)

गुरवी भक्तिः– छोटी चीटी से ब्रह्मा तक सर्वत्र परमात्मा व्याप्त है ऐसे समझते हुये सबको प्रणाम करना, श्रेष्ठत्व देना गुरवी- श्रेष्ठ भक्ति है। सजीव निर्जीव न मानत। जो देखत उसको पूजत। मद्रूप भाव से। (ज्ञा.९/२२२-२८)

ज्ञानोत्तर प्रेमलक्षणा भक्तिः– अद्वैतानुभव के अनन्तर भगवन्मय होकर भगवद्भक्ति करने वाले भक्त प्रेमलक्षणा भक्ति का आस्वाद नित्य लेते हैं। ज्ञानदेवजी कहते हैं- जिनको ऐसी भक्ति की प्राप्ति। कैवल्य को दूर लोटत किरीटि। (ज्ञा.९/१९२-९७)

ज्ञानेश्वरी में अद्वैत ज्ञान के अधिष्ठान पर भक्तिमाता विराजमान हैं किंबहुना अद्वैतज्ञान एवं भक्ति का मधुर मंगल समन्वय है। अद्वैत में नींव पर ज्ञानेश्वरजी ने भक्ति का विशाल एवं सुंदर प्रासाद निर्माण किया है।

भक्ति की उदारताः– भक्ति में जीव को पवित्र बनाने की शक्ति होती है। श्री गीता के नवम् अध्याय में भक्ति का अपूर्व महात्म्य वर्णन किया है। मनुष्य दुष्ट आचरण का होते हुये भी जब उससे पूर्व कर्म का पश्चाताप होता है तब वह भक्ति करने लगता है। उसका पूर्व पाप नष्ट होता है।

ऐसे भगवत भक्त का उद्धार होने में समय नहीं लगता। जो अमृत में रहता है उसकी मृत्यु नहीं होती। अनन्य शरणागति से अंतःकरण की वृत्तियां भगवान को समर्पित करके भक्त को स्वरूप शांति मिलती है। भगवद् भक्ति के बिना किये हुये सब कर्म पाप कहलाते हैं। पुण्यात्मक पाप स्वर्गप्राप्ति करा देता है। पापात्मक पाप से नरक प्राप्ति होती है। मद्रूप होकर भक्ति करने से मेरी प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान गीता में कहते हैं। भगवान के नाम से कथाश्रवण में, भगवान की लीलाओं में मन लगाना चाहिये। मनुष्य जन्म प्राप्त होनेपर भक्ति न करने से जन्म व्यर्थ होता है। (ज्ञा.९/४४९-५६)

भक्ति मार्ग में जाति अप्रमाण है विषय, विराग, द्वेष से स्मरण करनेवाले भी मुक्त हुए हैं। भक्ति उदारता से मुक्त हुए हैं। भक्ति उदारता से मुक्त करती है अतः वह श्रेष्ठ है। पतित को भी पवित्र बनाने में भक्ति उदार है। भगवान कहते हैं, कुल की शुद्धता, अपना ज्ञान, रूप, अवस्था आदि का विश्वास रखना व्यर्थ है। भक्ति का मार्ग अपनाने में ही जीवन की सार्थकता है। अतः भक्ति को छोड़ना नहीं चाहिये। दीन, दुर्बल को भवसागर से पार जाने के लिये भक्तिमार्ग सुलभ, सरल मार्ग है। ज्ञानदेवजी कहते हैं जो भगवान के प्रिय होते हैं। वह सिद्धि चतुर्थ पुरुषार्थ । लेकर अपने हाथ। अनुसरत भक्ति पंथ। जग को भी देत। (ज्ञा.१२/२१९)

ज्ञानयोग

मोक्षदानी स्वतंत्र। ज्ञानप्रधान यह शास्त्र। (ज्ञा.अ.१८/१४३६) ऐसा स्वयं ज्ञानदेव कहते हैं। भगवद्गीता को श्री ज्ञानदेवजी ज्ञानप्रधान शास्त्र समझते हैं। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' (गी.अ.४) गीता कहती है। उपासना के सब मार्गों में ज्ञान श्रेष्ठ है। वह शुद्ध ज्ञान भगवद्स्वरूप जानने के लिये, स्वरूप को समझने के लिए होना चाहिये।

भगवान के शुद्ध स्वरूप को जानने के उपरान्त ही भगवद्प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। किन्तु ज्ञान प्राप्ति के लिये विरक्ति की आवश्यकता होती है। विरक्ति के बिना कहीं। ज्ञान को स्थिरता नहीं। यह ज्ञान जिसके हाथ। वही मुक्ति को समर्थ। (ज्ञा.अ.१५/३०) मोक्षप्राप्ति करा देनेवाला ज्ञान प्रकट करने के लिये श्री गीता का प्राकट्य है ऐसा श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं। ज्ञानेश्वरी ग्रंथ नाम सदृश ज्ञान की ईश्वरी है।

श्री गीता में भगवद्प्राप्ति के जितने साधन बताये हैं उसमें कर्मयोग प्रथम सीढ़ी है। ज्ञानयोग अंतिम सीढ़ी है। देखो परमात्मसुखनिधान। प्राप्ति प्रीत्यर्थ योगीजन। जागृत जो रहत डाल के अंजन। उन्मेष नेत्र में। (ज्ञा.अ.४/१६०) तीसरे अध्याय में ''ज्ञानयोगेन साख्यानां। कर्मयोगेन योगिनाम्'' यह दो प्रकार की निष्ठा प्रकट की है। ज्ञानदेवजी की दृष्टि से यह दोनों स्वतंत्र निष्ठाएं नहीं हैं। एकहि साधनामार्ग के यह दो विभाग हैं। ज्ञानयोग की नीव कर्मयोग है। ज्ञानयोग कर्मयोग का कलश है। उपासना करनेवाले की योग्यता के अनुसार साधक उपासना में अग्रसर होते रहते हैं। ऐसी उच्च भूमिका अन्त में प्राप्त होती है। ज्ञानदेवजी कहते हैं ये दोनों मार्ग यद्यपि भिन्न हैं किंतु प्राप्तव्य एक ही है। इनमें एक मार्ग विहंग मार्ग कहलाता है। (ज्ञा.३/४३) अन्य को पिपिलिका मार्ग (ज्ञा.३/४२) कहते हैं।।

पूर्व तैयारी के बिना ज्ञानयोग का आचरण नहीं हो सकता। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते (गी.अ.७/१९) इस श्लोक पर ज्ञानदेवजी ने विस्तृत व्याख्या करके विषय को स्पष्ट किया है। इस उपासना की प्रथम सीढ़ी सद्वासना है। योगवासिष्ठय आदि ग्रंथ में इसको ही शुभेच्छा कहते हैं। काम, क्रोध आदि विकार मनुष्य को विषय विकार को छोड़ने नहीं देते। कर्तृत्व एवं फलास्वाद छोड़कर वैराग्य का सहारा लेकर जब साधक आगे बढ़ने का प्रयास करता है तब उसे सत्संग मिलता है। गुरुकृपा प्राप्त होती है। ज्ञान का प्रकाश मिलता है। सर्वत्र समभाव प्रतीत होता है। इसप्रकार से सद्वासना, सत्समागम, विहित कर्म का अहंकार त्याग, फलाशा छोड़कर कर्म करना, कर्मसाम्य दशा, गुरुकृपा, महाकाव्य श्रवण, मनन, निदिध्यान एवं आत्मसाक्षात्कार ऐसा ज्ञानमार्ग का क्रम ज्ञानदेवजी बताते हैं। इसकी विस्तृत व्याख्या श्री ज्ञानदेवजी ने अठारह अध्याय में की है।।

दो प्रकार के साधकों का वर्णन ज्ञानदेवजी ने किया है। साधक तीव्र बुद्धि या मंदबुद्धि होता है। तीव्र बुद्धि साधक कर्पूर सदृश, स्पर्श होते ही प्रज्वलित होनेवाला होता है। मंदबुद्धि साधक गोबर के कंडे के सदृश होता है। धीमे धीमे जलते हुये उसकी ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है। किन्तु मंदबुद्धि तथा तीव्रबुद्धि साधकों को साधना करना ही है। पूर्व संस्कार के अनुसार असंभावना, विपरीत भावना आदि दोष नष्ट होते हैं तब गुरुकृपा प्राप्त होती है। गुरुकृपा प्राप्त होते ही वृत्ति स्वरूपाकार होती है। जिनकी बुद्धि ब्रह्माकार नहीं होती उनको काम्यकर्म एवं निषिद्ध कर्म का त्याग करके निष्काम भावना से नित्य, नैमित्तिक कर्म करना चाहिये। स्वकर्म का फल ईश्वरार्पण करके तीव्र वैराग्य की सहायता से आत्मसाक्षात्कार के लिए योग्य साधन उपलब्ध करना चाहिये। गुरुकृपा हुई, उपदेश प्राप्त हुआ, उपासना प्रारंभ की किंतु जैसे औषधि लेते ही रोग से मुक्ति नहीं मिलती। वैसे महावाक्य का उपदेश मिलने पर भी पूर्व संस्कार एकदम नष्ट नहीं होते। मनन निदिध्यासन, आदि प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये। श्री गुरुदेव मार्गदर्शन अवश्य करते हैं, किंतु साधक को प्रयत्न करना चाहिये।

यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार यह सब इंद्रिय शुद्धि के साधन हैं। उसके अभ्यास से अनायास प्रायश्चित होता है। एकान्त में बैठकर साधक को उपासना करनी चाहिये। गृहत्याग करने की आवश्यकता नहीं है। आत्मसाक्षात्कार के लिये मन एवं इंद्रिय पवित्र बनने के उपरान्त उसको किसी के सानिध्य की या अन्य मित्र की आवश्यकता नहीं होती। वही अपना मित्र एवं वही अपना साथी होता है। देहनिर्वाह के लिए आवश्यक श्रम करते हुये साधक शरीर, इंद्रिय एवं मन पर अपना अधिकार कर लेता है। अन्त में उसको स्वरूपज्ञान होता है। बुद्धि निश्चय से आत्मज्ञान। ब्रह्मरूप समझे स्वयं

Funding by IKS-MoE

को आपुन। ब्रह्मनिष्ठा राखत पूर्ण। तत्परायण अहर्निशी ।।ज्ञा.।। ऐसा ज्ञानदेवजी कहते हैं। अतः ध्याता, ध्येय, ध्यान की एकरूपता होने तक उसको ध्यान करना चाहिये। इसको ही 'अहंग्रह' उपासना भी कहते हैं।

ध्यान के मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित होते रहते हैं। साथ में वैराग्यरूपी साथी रहता है। तथापि अहंकार, काम, क्रोध आदि षड्रिपु मार्ग में विघ्न उत्पन्न करते हैं। उन पर विवेक एवं वैराग्य के आश्रय से साधक विजय प्राप्त करता है। अहं ब्रह्माऽस्मि वृत्ति भी बंधनकारक है ऐसा ज्ञानदेवजी अमृतानुभव ग्रंथ में कहते हैं। कर्पूर जलने पर शेष नहीं रहता। (ज्ञा.अ.१८/१२११) अतः देह नष्ट होने पर भी या देह रहते हुए ब्रह्मावस्था होती है। इसको ब्रह्मशांती कहते हैं। यही उत्तम पुरुष है। यही ब्रह्म है। गुरुकृपा से साधक को यह स्थिति प्राप्त होती है। यह ज्ञान हृदय में प्रकट होते ही इस अनिरुप्य ज्ञान के लक्षण शरीर पर दिखाई देने लगते हैं। यह वह स्थिति है जहां वाणी मौन होती है (ज्ञा.अ.१३/१७७-८३) यही ज्ञानयोग की अंतिम ब्राह्मी स्थिति है।

ज्ञानेश्वरी में प्रतिपादित धर्म कल्पना

जग का अंधत्व करके नष्ट। खोलते लक्ष्मी के मंदिर पार्थ। निकलत जैसा भास्कर। परिक्रमा को। (अ.१६ ओवी २००)

यह उदाहरण है भगवान भास्कर का जिसका उदय ही जगतीतलका अंधकार हटाकर उसे आलोकित करने के लिये होता है। मनुष्य मात्र का अज्ञान तथा उससे उत्पन्न समस्त दोषों का नाश करने का कार्य धर्म भी ठीक उसी तरह करता है, **'सर्वेनः सुखिनः संतु'** यही धर्म का लक्ष्य है। दुनिया के सारे साधु संतों ने तथा विचारकों ने भी धर्म का यही उद्देश्य बताया है। मनुष्य का जीवन धर्म से नियंत्रित होता है इसलिये तो अन्यान्य जीवसृष्टि से उसकी अलग पहिचान है कि वह परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

यह धर्म क्या है? जैमिनी, व्यास, कणाद, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि हमारे चिंतनशील पूर्वज ऋषि मुनियों ने समय-समय पर अपने अपने ढंग से धर्म की व्याख्या की है। उनमें से कुछ ये हैं- उपदेश के द्वारा जो ज्ञात हो वही धर्म है। जो समाज धारणा करे वही धर्म है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करने का जो मार्ग है वही धर्म है। सदाचार, अहिंसा, दान, वेदोक्त क्रिया कर्म ही धर्म है। इस प्रकार धर्म की अनेक व्याख्यायें की गई हैं। देवऋषि नारद ने धर्म में भक्ति का भी समावेश किया है यह उनकी विशिष्टता है। उनके धर्म का स्वरूप सर्वजन सुलभ मावनधर्म है जिसमें भक्ति की प्रधानता है। समूचे विश्व का संतोष, विश्वात्मक देवता की संतुष्टि, यही नारद प्रणीत धर्म का लक्ष्य है। साधुसंतों की दृष्टि में भी मानव कल्याण ही धर्म का उद्देश्य है। संत प्रवर ज्ञानेश्वरजी ने अपनी भावार्थ दीपिका का समापन जिस पसायदान से किया है उसमें उनकी धर्म विषयक कल्पना का सारा निचोड़ है। भारत में तथा अन्यत्र विभिन्न उपासना पंथ हैं। अनेक संप्रदाय हैं जिनका अपना-अपना अलग़ दर्शन है। पर इस सबके बावजूद इन सबका अंतिम हेतु 'बहुजन सुखाय' कार्यरत रहना ही है। अपने को इनमें से किसी पंथ संप्रदाय का अनुयायी कहलानेवाला इस सिद्धांत से विचलित हो भटक जाते हैं इसका कारण यह है कि संपत्ति का लोभ, सत्ता की पिपासा तथा अधिकाधिक सुखोपभोग की लिप्सा को वे नियंत्रित नहीं कर पाते। इसीमें से पनपते हैं हिंसा, अन्याय, अत्याचार आदि दोष जिनसे पूर्णतः छुटकारा दिलाने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है धर्मानुसरण। मानव कल्याण का वही एकमात्र उपाय है। धर्म वह है जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है, उनमें पारस्परिक मैत्रीभाव उपजाता है। यर्जुर्वेद में भी कहा गया है कि सारे प्राणी आपस में प्रेमसद्भाव से रहें। ज्ञानेश्वरजी ने पसायदान में जो कामना की है वह यही है कि **'बढ़े भूतों में परस्पर विशेष। मित्र भाव'** इस मित्रता का आधार कर्मकांड अथवा उपासना पद्धति नहीं तो नैतिक आचरण है। जो हमारे लिये अहितकर है उसमें दूसरों का हित कैसे हो सकता है इस बात को समझकर चलना ही सर्वोत्तम धर्माचरण है।

बताये गये हैं वेही मानवधर्म आधार हैं। इन गुणों का विकास करने में ही मानव कल्याण निहित है। इसी नैतिक आध्यात्मिक भावना से प्रेरित मनुष्य की अवस्था **'वासुदेव सर्वमिति'** ऐसी हो जाती है। उसे मानव मात्र में ही परमात्मा का दर्शन होने लगता है। वह स्वयं विश्वात्मक मानव हो जाता है। उसका ईश्वर विश्वात्मक देव होता है। मानव धर्म में नीति को सर्वोपरि स्थान है। अतः निर्वैर, अनाग्रही तथा **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** वृत्ति ही मानवधर्म की आधारशिला है जिस पर ज्ञानेश्वरजी ने सर्वाधिक बल दिया है और यह वृत्ति प्राप्त करना असंभव नहीं है, यदि मनुष्य मात्र अपना विहित कर्तव्य कर्म प्रामाणकि ढंग से करता रहे, संतों के चरित्र में भी हम यही पाते हैं कि वे कर्तव्य कर्म को ही धर्माचरण मानते रहे। ज्ञानेश्वरी में इस बात को इस प्रकार कहा गया है-

वही कर्म स्वभाव प्राप्त। आचरण को शास्त्रोक्त। बुद्धि करना सुस्थित। वीरोत्तम तुम। (अ. १८ ओवी ८८८)

इस प्रकार पार्थ!। करे स्वयं जो कर्म विहित। वैराग्य द्वार में वह स्थिर होत। निकट मोक्ष के जो। (अ. १८ ओवी ८९६)

शास्त्रपूत कर्म का आचरण करने में यदि कोई शंका अज्ञान हो तो उसे किसी ज्ञाता से समझ लेना आवश्यक है। इसप्रकार अपनी क्षमता योग्यता के अनुसार किये जाने वाले स्वीकृत कर्तव्य कर्म को ही वास्तविक अर्थ में धर्माचरण कहा जाता है। ज्ञानेश्वरी ने यही निर्देश दिया है-

'उस सर्वात्मक ईश्वर-। को स्वकर्म कुसुमों से वीर। पूजा करत होवे अपार। संतोष पार्थ। (अ. १८ ओवी ९१७)

उस सर्वांतरवासी विश्वात्मक परमात्मा की पूजा स्वकर्म कुसुमों से ही होती है। उसीसे वह संतुष्ट होता है। एक बार अपना कर्तव्य विवेक विचार पूर्वक चुन लेने पर वही हमारा इष्ट, हमारा धर्म हो जाता है। क्षत्रिय का कुलधर्म आव्हान देनेवाले शत्रु से जूझना ही है, उसके लिये अन्य कोई धर्म हो ही नहीं सकता। भगवान कृष्ण ने संभ्रमित पार्थ को उसका धर्म क्या है यह विशद रूप से समझाया तब जाकर वह अपना क्षात्र कर्म ही धर्म समझकर युद्ध के लिये प्रवृत्त हुआ। स्वधर्म और परधर्म को समझ लेना उचित है। इनमें तुलना का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे के धर्म के आधार पर अपने धर्म की श्रेष्ठ-कनिष्ठता नहीं आंकी जा सकती। घी में जल से अधिक गुण हों भी तो मछली को उनसे क्या लेना देना होगा? इस संदर्भ में ज्ञानेश्वरीने तो यही चेतावनी दी है कि-

अतः स्वधर्म का स्वीकार। और परधर्म का परिहार। यही नियम धर्नुधर। क्यों न करना? (अ. १८ ओवी ९३४)

गीता प्रणीत **'स्वधर्मे निधनं श्रेयो पर धर्मो भयावहः'** इस चेतावनी का यह कितना सुंदर भावानुवाद है इसकी और विशद व्याख्या करते हुये ज्ञानेश्वरजी कहते हैं:-

अतः करना स्वधर्म। जो नष्ट करत श्रम। उचित देगा परम। पुरुषार्थ राज। (अ.१८ ओवी ९५०)

संकट यदि आवे घोर। न बिसारिये सिद्धमंत्र। वैसा स्वधर्म यदि दुष्कर। न छोड़ो कभी। (अ. १८ ओवी ९५१)

सारांश यह कि स्वकर्तव्यपालन से अथवा स्वधर्माचरण से श्रम परिहार भी होता है तथा परमपुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति भी सहज सुलभ हो जाती है। ऐसे कई संतों के उदाहरण दियें ज़ा सकते हैं जिन्होंने भगवद्भक्त कहलाने के लिये अपने विहित कर्तव्यकर्म का त्याग नहीं किया। अपने कुल के परंपरागत व्यवसायों का पूरा भान रखते हुए तथा उनका निर्वाह करते हुये उन्होंने ईश्वर के प्रति अपना पूरा ध्यान लगाया। नामदेव शिंपी, सांवता माली, गोरोबा कुम्हार आदि मराठी तथा कबीर, छीपा, रैदास आदि उत्तर भारतीय संतों की परम्परा इसकी साक्षी है। इन सभी संतों ने इह परकल्याण हेतु मनुष्य को धर्माचरण की ही सीख दी है। पर साथ ही उन्होंने ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये स्वकर्तव्यकर्म को ही धर्म का पर्यायवाची माना है।

अंत में यह कि मनुष्य मात्र के सर्वांगीण विकास

मनु प्रणीत दशविध धर्म में धैर्य, क्षमाशीलता, संयम-नियम, अचौर्य, सत्य, अक्रोध आदि जो लक्षण हेतु समय-समय पर जो नैतिक, आध्यात्मिक सिद्धांत हमारे प्राचीन सुधिजनों ने प्रस्थापित किये हैं। उन्हीं में धर्म निहित है। संसार के सभी धर्मों का अंतिम उद्देश्य एक ही है, और वह है मानव कल्याण एवं विश्वशांति। इन तमाम धर्म-पंथ संप्रदायों के बाह्यरूप में तथा सिद्धांतों में कुछ अंतर अवश्य है परंतु आध्यात्मिक दृष्टि से वे सब एक ही हैं। विश्व भी तो आखिर कुटुंब का ही विराट रूप है। विज्ञान संसार के सारे मानवों की परस्पर दूरी समाप्त कर उन्हें एक दूसरे के निकट लाने में बहुत हद तक सफल हुआ है। अतः आज तो सारी मानव जाति का एक ही धर्म होना परम आवश्यक हो गया है ताकि संसार से सारा कलुष भेद सदा के लिये समाप्त हो जावे। समूचे विश्व का विकास "**परस्परं भावयंतः**' एक दूसरे को समझकर, दूसरों की भावनाओं का समादर कर ही हो सकता है। धर्म का लक्ष्य हृदयों को जोड़ना है। समस्त उपासना पंथ तथा संप्रदाय मूलतः परस्पर पूरक हैं। अतः मानवधर्म को अपनाने में ही विश्व कल्याण है। इसी को ध्यान में रखते हुये ज्ञानेश्वरी के अंतिम पसायदान में यही कामना की गई है कि दुरितों का तिमिर जावे। विश्व स्वधर्म सूर्य उदित होवे।। विश्व मानवधर्मरूपी सूर्य से सदा-सदा के लिये आलोकित हो उठे।

— श्री काकाजी जामदार
प्राध्यापक डॉ. गो.मो. रानडे

Funding by IKS-MoE

ज्ञानदेव जी की अलौकिक विश्वात्मक प्रार्थना

पसायदान

अब हे विश्वात्मक सदये। इस वाग्यज्ञ से तोषिये। संतोष से मुझे दीजिये। पसायदान यह।।१७९३।। हो खलों का कुटिलत्व नाश। उन्हें सत्कर्म में रति हो अशेष। बढ़े भूतों में परस्पर विशेष। मित्र भाव।।९४।। दुरितों का तिमिर जावे। विश्व स्वधर्म सूर्य उदित होवे। जो जो वांछत सो वह पावे। प्राणिजात।।९५।। वर्षत सकल मंगलमय। ईश्वर निष्ठों का समुदाय। अनवरत भूमंडल में यह। मिले सबको।।९६।। चलते कल्पतरू का आरव। चेतन चिंतामणि का गांव। मुखरित मूर्त अर्णव। पियूष के जो।।९७।। चंद्रमा जो अलांछन। मार्तण्ड जो तापहीन। वे सबको सदा सज्जन। होवे प्रिय।।९८।। किंबहुना त्रिलोक पूर्ण। होवे सब सुख से संपूर्ण। करे आदिपुरुष का भजन। अखंडित।।९९।। और ग्रंथोपजीविक। इस जग में विशेख। होवे दृष्टादृष्ट सुख। प्राप्त उनको।।१८००।। तब कहत श्री विश्वेशराव। होगा इंच्छित दान पसाव। हुआ इस वर से ज्ञानदेव। सुखी संपूर्ण।।१।।

Funding by IKS-MoE

अध्यायानुक्रम

अध्याय	अध्याय का नाम	श्लोक संख्या	ओवीसंख्या	पृष्ठ
१	अर्जुनविषाद्योग	४७	२६७	२
२	सांख्ययोग	७२	३६०	२८
३	कर्मयोग	४३	२७६	६४
४	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	४२	२२४	९०
५	कर्मसंन्यासयोग	२९	१८०	११४
६	आत्मसंयमयोग	४७	४९७	१३६
७	ज्ञानविज्ञानयोग	३०	२१०	१८२
८	अक्षरब्रह्मयोग	२८	२७१	२०४
९	राजविद्याराजगुह्ययोग	३४	५३५	२३०
१०	विभूतियोग	४२	३३५	२७६
११	विश्वरूपदर्शनयोग	५५	७०८	३१६
१२	भक्तियोग	२०	२४७	३८४
१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग	३४	११७०	४०८
१४	गुणत्रयविभागयोग	२७	४१५	४९८
१५	पुरुषोत्तमयोग	२०	५९९	५३४
१६	देवासुरसंपद्विभागयोग	२४	४७३	५८६
१७	श्रद्धात्रयविभागयोग	२८	४३३	६२८
१८	मोक्षसंन्यासयोग	७८	१८१०	६६६
		७००	९०३०	

Funding by IKS-MoE

श्री गणेशाय नमः।। श्रीगोपालकृष्णाय नमः।। ॐ अस्य श्रीमद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः। अनुष्टप् छन्दः।। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता।। अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे, इति बीजम्।। सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, इति शक्तिः।। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः, इति कीलकम्।। अथ क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः, इति तर्जनीभ्यां नमः।। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च, इति मध्यमाभ्यां नमः।। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः, इत्यनामिकाभ्यां नमः।। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः।।' नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च, इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।। इति करन्यासः।। अथ हृदयादिन्यासः।। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः, इति हृदयाय नमः।। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः, इति शिरसे स्वाहा।। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च, इति शिखायै वषट्।। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः, इति कवचाय हुम्।। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतोशोऽथ सहस्त्रशः, इति नेत्रत्रयाय वोषट्।। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च, इति अस्त्राय फट्।। श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः।। ॐ ।। पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिनां मध्यमहाभारतम्। अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।।१।। नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायपत्रनेत्र। येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वलितो ज्ञानमयः प्रदीपः।।२।। प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये। ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीताभृतदुहे नमः।।३।। सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।४।। वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्। देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।५।। भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला। अश्वत्थामाविकर्ण-घोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी सोत्तीर्णा खुल पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः।।६।। पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधना-बोधितम्। लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे।।७।। मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।।८।। यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषिदैर्गायन्ति यं सामगाः। ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगण देवाय तस्मै नमः।।९।। इति श्रीमद्भगवद्गीतान्यासध्यानादि।।

अध्याय-पहला

सारांश

तब प्रथम जो अध्याय। वह 'शास्त्र प्रवृत्ति प्रस्ताव।।अ.१८-१४३५।।

श्री गीता का प्रथम अध्याय 'शास्त्र प्रवृत्ति प्रस्ताव' है। भगवान श्रीकृष्ण गीता शास्त्रोपदेश करने क्यों प्रवृत्त हुये यह इस अध्याय में वर्णित है। भगवदुपदेश का अनुवाद करने के पूर्व श्री ज्ञानेश्वजी ने ॐ वाचक शब्द का उपयोग करके परमात्म रूप श्रीगणेशजी की काव्यमय वंदना प्रथम बीस ओवियों में की है। तदनंतर चातुर्य वागर्थ और कला की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती को नमन किया है। (२१) जिनकी कृपा से ज्ञानेशजी पूर्णाकाम हुये उन श्री निवृत्तिनाथजी को वंदन करते-हुये गुरु महिमा वर्णित किया है। (२२-२७) गीता जिस महाभारत ग्रंथ का भाग है उस ग्रंथ के गौरव का 'परमार्थ की जन्मभूमि' 'सर्व विद्याओं का मूलपीठ' 'काव्यों का राव' आदि विशेषणों से महात्म्य और श्रेष्ठता का वर्णन किया है। (२८-९९) महाभारत वर्णन के उपरान्त जिस गीता ग्रंथ पर व्याख्यान करना है उस भगवद्गीता का, 'भारत पद्म पराग' 'जिसका विरक्त, संत, सोऽहंभावी पारंगत मुनि' सेवन करते हैं और प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव और शंकर जिसकी प्रशंसा करते हैं, इस प्रकार गुणगान किया है। (५०-५५) श्रोताओं ने इस गीता ग्रंथ का सेवन स्थिर अंतकरण से और कोमलता से किस प्रकार करना चाहिये यह भी सूचित किया है। (५६-६८) सामने जो थोर श्रोता बैठे हैं उनका अनादर हो गया होगा इस आशंका का परिहार 'मैं आपका अबोध बालक हूं'। बालक की तोतली बोली से माता-पिता प्रसन्न होते हैं- संतुष्ट होते हैं इन शब्दों से दिया है। (६३-६५) जिस गीता ग्रंथ का विचार करते-करते भगवान शंकर की मति विस्मित हो गयी और वेद भी कुंठित हुआ है ऐसे अगाध ग्रंथ पर व्याख्यान करने के लिये मैं अल्पज्ञ, मंद मति, बालक उद्युक्त हुआ हूं यह मेरा धाष्ट्र्य है। इसका मुझे ज्ञान है। (६६-७४) किंतु जिस गुरु कृपा के आधार पर विश्वास करके यह अगाध कार्य करने का मैंने दुःसाहस किया है वह गुरुकृपा ही मेरे हाथ से यह कार्य पूर्ण करेगी यह आत्मविश्वास प्रकट करके गुरुकृपा की महती वर्णित है। (७५-७८) 'मैं कठपुतली हूं और मुझे नचानेवाले' 'सूत्रधार' मेरे सद्गुरु श्री निवृत्तिनाथ हैं। ग्रंथ का आरंभ करने से पूर्व मैंने उनसे आशीर्वाद पूर्वक आज्ञा मांगी है। (७९-८२) तदउपरांत भगवदुक्ती का अनुवाद करने के लिये श्री ज्ञानदेव प्रारंभ करते हैं। (८३-८४)

'धर्म क्षेत्र में मेरे और पंडु के पुत्र क्या करते हैं?' इस धृतराष्ट्र के प्रश्न का उत्तर संजय देते हैं। प्रथमतः उभय पक्षों के रथी-महारथी उनके रथ इनका वर्णन करने के उपरान्त अर्जुन के रथ का और भगवान के भक्त वात्सल्य का वर्णन किया है। ज्ञानदेव की वर्णन शैली हृदयंगम है। युद्ध क्षेत्र में जो शंख निनाद हुआ। उस नाद से प्रत्यक्ष आदि पुरुष विस्मित हो गये। अब युद्ध की सब सज्जता हो गयी है। उभय पक्ष में प्रलयकालीन मेघवृष्टिवत बाणों की वृष्टि होने का समय आ गया है। इसका वर्णन श्री ज्ञानदेवजी करते हैं। (८५-१६६) इसी क्षण में अर्जुन ने सहर्ष सैन्य देखा और अपना रथ दोनों सैन्यों के मध्य भाग में खड़ा करने के लिए भगवान को बोला। दोनों सेना के मध्य रथ खड़ा होनेपर अर्जुन ने एक विपरीत बात देखी। भीष्म, द्रोणादिक, गुरुजन, आप्त स्वकीयों को शत्रु दल में देखकर अर्जुन के मन में करुणा उदित हुई। परिणामतः अर्जुन की वीरवृत्ति लुप्त हुई। प्रत्यक्ष भगवान शंकर को भी युद्ध में परास्त करनेवाले अर्जुन के दात्र शिथिल हो गये। गांडीव धनुष उसके हाथ से गिर गया इस प्रकार करुणास्वद अर्जुन का चित्र श्री ज्ञानेश्वरजी ने प्रत्यक्ष खड़ा किया है। (१८६-२०४) 'मैं युद्ध से क्यों परावृत्त हो रहा हूं' इसकी कारण मीमांसा करके अपने वृत्ती का समर्थन अर्जुन ने किया है। इसका अनुवाद इस अध्याय के अंत तक श्री ज्ञानेशजी ने किया है। क्षत्रियोचित्त वीरवृत्ति नष्ट होकर अयोग्य सत्व प्रधान वृत्ति अर्जुन में प्रादुर्भूत हुई है। मुझे विजय नहीं चाहिये, राज्य की अपेक्षा नहीं। जिनके साथ युद्ध करके मैं राज्य प्राप्ति करूंगा, वे आचार्य पितर-पितामह इन सबका संहार मेरे हात से होगा।

परिणामतः मैं पापभागी होऊंगा। यह अर्जुन के अंतःकरण का भाव। कौरव जाने या न जाने। किन्तु मेरा हित-अनहित मैं समझता हूं। मेरे हाथ से कुल नाश, साथ ही साथ कुलधर्मनाश, परिणामतः अधर्म, वर्णसंकट, और अन्त में नरक की प्राप्ति होगी इस प्रकार अवनति मेरे युद्ध प्रवृत्ती से होने वाली है इसलिये मैं युद्ध से निवृत्त होता हूं। निःशस्त्र अवस्था में कौरवों ने मेरा वध किया तो भी मेरा कल्याण है। इस हत बल स्थिति में अर्जुन ने रथ त्याग करके शस्त्रसंन्यास किया। अर्जुन के इस विषाद युक्त स्थिति का मार्मिक वर्णन श्री ज्ञानेश्वरजी ने किया है। (२०५-२७३)

इस स्थिती में युद्ध प्रसंग होते हुए भी भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के विषाद को नष्ट करके उसे परमार्थ का उपदेश देकर क्षत्रियोचित धर्म के लिये प्रेरित करते हैं और इस अध्याय की समाप्ति करते हैं।

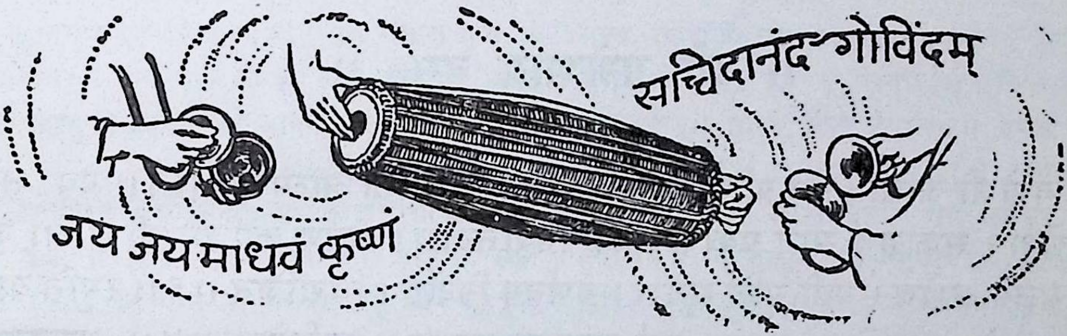

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - पहला

।। श्री गणेशाय नमः ।।

ॐ नमोजी आद्या। वेद प्रतिपाद्या। जय जय स्वसंवेद्या आत्मरूपा ।।१।। देव! तुम ही गणेश। सकलार्थ मति प्रकाश। कहे निवृत्तिदास। श्रवण कीजिये जी ।।२।। जो शब्द ब्रह्म अशेष। वही मूर्ति सुवेश। वर्णवपु निर्दोष। विराजित ।।३।। स्मृति वही अवयव। देखो आंगिक भाव। पूर्ण लावण्य लाघव। अर्थशोभा ।।४।। अष्टादश पुराण। वे ही मणि भूषण। पद पद्धति कुंदन। प्रमेय रत्नों की ।।५।। पदबंध नागर। रंग दिया अंबर। साहित्य बाना सुंदर। प्रकाश मान ।।६।। काव्य नाटक देखा। कटि योजना सकौतुका। रुनझुनत क्षुद्र घंटिका। अर्थध्वनि ।।७।। नाना प्रमेय प्रकार। श्लेषादिक अलंकार। मार्मिक पद झंकार। रत्न मंडित ।।८।। व्यासादि की सुमत। कटि मेखला शोभन। विमलता झलकत। पल्लव दशा ।।९।। देखिये! षड्दर्शन कहत। वही सुंदर भुजाकृत। विसंवाद धारण करत। आयुध हस्त ।।१०।। तर्क सोही फरश। नीति भेद अंकुश। वेदांत महारस। मोदक सोहे ।।११।। एक हस्त में दंत। जो स्वभावतः खंडित। सोही बौद्धमत संकेत। वार्तिकों का ।।१२।। पद्मकर वरद। सहज सत्कारवाद। धर्म प्रतिष्ठा सिद्ध। अभय हस्त ।।१३।। देखो !विवेकवंत सुविमल। वही शुंडादंड सरल। परमानंद केवल। महासुखों का ।।१४।। संवाद सोहे दशन। जो समता शुभ्रवर्ण। देव उन्मेषसूक्ष्मेषण। विघ्नराज ।।१५।। मुझे प्रतीत दो कर्ण। मीमांसो श्रवण स्थान। बोध मदामृत मुनिजन। अलि सेवत ।।१६।। प्रमेय प्रवाल सुप्रभ। द्वैताद्वैत निकुंभ। समसमा सोहे इभ-। मस्तक स्थान ।।१७।। उपरि दशोपनिषद। उदार ज्ञान मकरंद। सुमन मुकुट सुगंध। विराजित ।।१८।। अकार चरण युगल। उकार उदर विशाल। मकार महामंडल। मस्तकाकार ।।१९।। तीन

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - पहला

।। श्री गणेशाय नमः ।।

हे निर्गुण ब्रह्म! आत्मरूप! आप समस्त सृष्टि के आदिस्वरूप हो। वेदों का ही आप प्रतिपाद्य विषय हो! आप के स्वरूप को जानने वाले आप स्वयं ही हो। आपको मेरा प्रणाम। आपकी मैं जय जय कार करता हूं।।१।। श्री निवृत्तिनाथ के दास श्री ज्ञानेश्वर जी कहते हैं, हे देव! सकल विश्व के बुद्धि को ज्ञान का प्रकाश देने वाले जो गणेश, वह आप ही हो! कैसे वह श्रवण कीजिये।।२।। स्वर और व्यंजन आपके रूप की सुंदर कान्ति है। शब्द मात्र अर्थात संपूर्ण वेद आपकी उत्तम गणेश मूर्ति है।।३।। देखो कि मन्वादिक स्मृतियाँ उस शरीर के अवयव हैं, एवं उसकी रचना अवर्णनीय है। उनका सुंदर अर्थ यही सौंदर्य की खान है।।४।। अठारह पुराण ये रत्नभूषण हैं, पदयोजना उनकी बनावट है एवं गर्भित अर्थ यही उसका कुंदन है।।५।। उत्तम पद रचना से गणेश मूर्ति का वस्त्र रंगा है और साहित्यरूपी शब्दालंकार युक्त उसका दैदीप्यमान ताना बाना है।।६।। काव्य एवं नाटकों की सकुशल योजना कटिसूत्र में लगे हुए छोटे-छोटे घुंघरुओं की जगह है और उनका गूढ़ार्थ यही उन घुंघरुओं की मंजुल ध्वनि है।।७।। सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर श्लेषादिक अलंकार उन घुंघरुओं में जड़े हुए रत्न प्रतीत होते हैं।।८।। व्यास आदि की उत्तम बुद्धि यही (पटका) मेखला कटि प्रदेश में विराजती है एवं उनकी बुद्धि की ऋजुता उस मेखला के जरतारी पल्लवों के अग्रभाग के समान शोभा देती है।।९।। देखिये, भिन्न-भिन्न तत्त्व सिद्धांतों को षड्दर्शन कहते हैं वहीं इस गणेशजी के छः हाथ हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न मतांतर रूपी आयुध धारण किये हैं।।१०।। गणाद शास्त्र रूप हाथ में तर्क शास्त्र रूपी परशु है, न्याय शास्त्र अंकुश है और वेदांत शास्त्र यह सुमधुर मोदक है।।११।। वार्तिकारों के भाष्य द्वारा स्वभावतः खंडित हुआ बौद्धमत एक हाथ में लिये खंडित दंत के स्थान में है।।१२।। कल्याणकारी वरदायक हस्त यह सत्कारवाद या ब्रह्मवाद का प्रतीक है। तथा धर्म प्रतिष्ठा करनेवाला छटवां स्वयंसिद्ध अभयहस्त है।।१३।। महासुख के परमानंद की प्राप्ति करानेवाला निर्मल सुविचार ही आपका सरल शुंडादंड है।।१४।। वैसे मतभेदों का परिहार करनेवाला उत्तम संवाद यह आपके सुंदर शुभ्रवर्ण दातों का स्थान है एवं उन्मेष या ज्ञानतेज का स्फुरण विघ्नराज गणेशजी के चमकते हुये सूक्ष्म नेत्र हैं।।१५।। पूर्व और उत्तर मीमांसा मुझे गणेशजी के दो कर्ण प्रतीत होते हैं। तथा बोधामृत यह गंडस्थल से स्त्रावित होनेवाला मद है जिसका सेवन करनेवाले मुनिजन ये भ्रमर हैं।।१६।। तत्त्वार्थ यह गंडस्थल के ऊपर विराजमान मूंगों के सदृश हैं एवं द्वैत-अद्वैत सिद्धांत उस गज मस्तक पर शोभा देता है।।१७।। ज्ञान मकरंद से परिपूर्ण दश उपनिषद ही उस गंडस्थल के मुकुट के ऊपर शोभा देनेवाले सुगंधित पुष्प हैं।।१८।। ओंकार में स्थित अकार उस गणेश मूर्ति के दो चरण, उकार उसका विशाल उदर एवं

Funding by IKS-MoE

तत्त्व एक हुए। शब्द ब्रह्म प्रकट भये। गुरुकृपा नमन किये। आदि बीज।।२०।। जो अभिनव वाग् विलासिनी। चातुर्यार्थ कलाकामिनी। सो श्री शारदा विश्वमोहिनी वंदी मैंने।।२१।। मेरे हृदयस्थ सद्गुरु। पार किया संसार सागरू। विशेष अत्यादरू। विवेक बोध में।।२२।। नेत्रांजन जहां पावत। तहां दृष्टिज्ञान प्रकटत। मार्ग स्पष्ट दिखत। महानिधि का।।२३।। या चिंतामणि हुआ प्राप्त। सदा विजय मनोरथ। वैसा मैं पूर्ण काम श्री निवृत्त। कहे ज्ञानदेव।।२४।। अतः सूज्ञे गुरु भजिजे। स्वयं कृतकार्य होईजे। जैसे मूल सिंचन से सहजे। शाखा पल्लव संतोषत।।२५।। तीर्थ सकल त्रिभुवन में। होत समुद्र अवगाहन में। या अमृत रसास्वादन में। रस सकल।।२६।।

वैसा वांछित मनोरथ। पूर्ण करे जो समर्थ। सो अभिनमित श्री गुरुनाथ। बारंबार।।२७।। अब सुनिये कथा गहन। जो सब कौतुक जन्मस्थान। या अभिनव उद्यान। विवेक तरुका।।२८।। सर्व सुखों की आदि। प्रमेय महानिधि। नव रस सुधाब्धि। परिपूर्ण जो।।२९।। या परमधाम प्रकट। सकल विद्या मूलपीठ। शास्त्रजाता विशिष्ट। आधार स्तंभ।।३०।। सकल धर्म आधार। सज्जनों का जिव्हार। लांवण्य रत्न भण्डार। शारदाजी का। ।।३१।। नाना कथा रूप भारती। प्रकट भयी त्रिजगती। अविष्कार महामती। व्यास मुनी का।।३२।। अतः यह काव्य राव। ग्रंथ गुरुबती का ठाव। नवरस को प्रकट भाव। विशेष रूप।।३३।। सुनो सज्जन सुमता। शब्द श्री सत् शास्त्रीयता। महाबोध में कोमलता। प्रकट भयी।।३४।।

चतुरता प्रवीण भयी। प्रमेय को सुरुचि आयी। भाग्यश्री वर्धित हुई। महासुख की।।३५।। माधुर्य को मधुरता। श्रृंगार को सुंदरता। योग्यता को श्रेष्ठता। शोभत यहां। ।।३६।। कला को कुशलता प्राप्त। पुण्य को अधिक प्रताप। अतः जन्मेजय का पाप। सहज नष्ट।।३७।। यदि देखे क्षणैक। रस में सुरसता अधिक। गुण सगुण अत्यैक। वर्धमान।।३८।। भानु तेज प्रकटत। त्रैलोक्य पूर्ण प्रकाशत। व्यास मति जगत शोभत। प्रकाश युक्त।।३९।। जेसे सुक्षेत्र में बीज। प्रस्फुटत सहज। भारत में अर्थजात सहज। प्रकटत। ।।४०।। अथवा नगरांतर में बसिजे। स्वयं नागर होईजे। वैसे व्यासोक्ति तेजे। आलोकित सकल।।४१।। होवे यौवनावस्था प्राप्त। लावण्य शोभा अतुलित। जैसी न्यारी प्रकटत। अंगना अंग में।।४२।। होत वसंतागमन। प्रगट वन शोभाखान। आदि से अति सुहावन। सृष्टि रूप।।४३।। नाना घनीभूत सुवर्ण। जैसे प्रतीत साधारण। अलंकार सौंदर्य पूर्ण। शोभा न्यारी।।४४।। वैसे व्यासोक्ति अलंकृत। इतिहास पुराण प्रतिष्ठित। लीनता अंगी धरत। महाभारत में।।४५।। नहीं जो ज्ञान भारत में। पावत नहीं त्रिलोक में। इसीलिये कहा वर्णन में। "व्यासोच्छिष्ट जगत्रय"।।४६।। ऐसी यह सुरस कथा। जो उद्गम

मकार सर्व अवयवों में श्रेष्ठ महामंडलाकार मस्तक का स्थान है।।१९।। जिस ऊँकार में अकार, उकार और मकार एकत्र हुए उसमें पूर्ण शब्दब्रह्म का (वेदों का) समावेश हुआ उस आदि बीज को मैं सद्गुरु श्री निवृत्तिनाथजी की कृपा से प्रणाम करता हूं।।२०।। अब अपूर्व वाणी में विलास करनेवाली, चातुर्य और कला की स्वामिनी एवं संपूर्ण विश्व को मोहित करनेवाली जो देवी सरस्वतीजी हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूं।।२१।। मेरे हृदय में निवास करनेवाले सद्गुरु जिनकी कृपा से (विवेक बोध से) मैं संसार-महापूर से उत्तीर्ण हुआ अतः मेरी विवेक के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न हुई।।२२।। जिस तरह पांव से पैदा हुए बालक की आंख में अंजन डालने से उसकी नजर को विशेष सामर्थ्य प्राप्त होकर उसे भूमिगत द्रव्यनिधि स्पष्ट दिखने लगती है।।२३।। अथवा चिंतामणि प्राप्त होने पर वांछित मनोरथ सर्वकाल पूर्ण होते हैं, उसी तरह श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि श्री गुरु निवृत्तिनाथजी की कृपा से मैं पूर्णकाम हूं।।२४।। इसलिये श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि वृक्ष की जड़ को पानी से सींचने से जिस प्रकार शाखा पल्लव अपने आप तुष्ट-पुष्ट होते हैं उसी प्रकार जो सूज्ञ है उन्होंने गुरु की सेवा करके कृतकृत्य होना चाहिये।।२५।। जैसे त्रिभुवन में जितने तीर्थ हैं उन सब का पुण्य एक समुद्र स्नान से प्राप्त होता है अथवा अमृत रस का सेवन करने से सब रसों का सेवन होता है।।२६।। वैसेहि इच्छित मनोकामना पूर्ण करनेवाले जो गुरुदेव हैं, उन्हें मैं पुनः-पुनः प्रणाम करता हूं।।२७।। अब आगे सृष्टि की सब ऐतिहासिक कथाओं को जो उद्गम स्थान है एवं जो अध्यात्म विवेकरूप वृक्षों का अपूर्व उद्यान है, उसकी परम कथा सुनिये।।२८।। जो सब सुखों का कारण है, महासिद्धांतों का आगार है एवं नवरस से परिपूर्ण अमृतसिंधु ही है-।।२९।। जो मोक्ष का प्रकट स्थान है अथवा जो सर्व विद्या का आदि स्थान है, किंबहुना जो सकल शास्त्रों का आधार है।।३०।। जो समस्त धर्मों का उद्गम स्थान है, सज्जनों का हृदय है अथवा सरस्वतीजी के सौंदर्यरूप रत्नों का निधान है।।३१।। किंवा जो साक्षात वाणी ही श्री व्यासजी की बुद्धि में प्रवेश करके कथा रूप से त्रिलोक में प्रकट हुई है।।३२।। इसलिये यह कथा सब काव्यों का राजा तथा सब ग्रंथों की महत्ता का स्थान है। यहां से शृंगारादि नवरसों को विशेष सुरस प्राप्त हुआ है।।३३।। प्रबुद्ध सज्जन गण सुनिये, इस कथा से ही शब्द रूपा श्री लक्ष्मीजी को सत्शास्त्रीयता प्राप्त होकर आत्मबोध को विशेष शोभा आई है।।३४।। यहां चातुर्य प्रवीण हुआ, तत्त्वार्थ को और भी सुरुचि आई तथा इस कथा से ही महासुख का सौभाग्य वर्धित हुआ।।३५।। माधुर्य को मधुरता, श्रृंगार को सुंदरता एवं योग्य वस्तु को श्रेष्ठता प्राप्त होकर सब उत्तम रूप से शोभा देने लगे हैं।।३६।। इस कथा से कला को कौशल्य एवं पुण्य को अधिक प्रताप प्राप्त हुआ है जिसके कारण (अठारह दिन में महाभारत के अठारह पर्व सुनकर) जन्मेजय का ब्रह्महत्या का पातक सहज नष्ट हुआ।।३७।। क्षणभर सोचकर देखें तो श्रृंगारादि रसों में अधिक सौंदर्य एवं गुण को विशेष गुण इस कथा के द्वारा प्राप्त हुआ।।३८।। जिस तरह सूर्य के उदित होने से त्रिलोक प्रकाशमान होता है, उसी तरह यह कथा श्री व्यासजी की बुद्धि से प्रकट होने के कारण ज्ञान रूपी प्रकाश से युक्त होकर शोभा देने लगा है।।३९।।जैसे उत्तम क्षेत्र में बीज बोने पर उसका सहज रूप से विस्तार होता है। वैसे भारत में यह संपूर्ण ज्ञान प्रकट हुआ।।४०।। अथवा नगर में रहने से जिस तरह व्यक्ति ज्ञानी होता है उसी तरह श्री व्यासजी की वाणी के तेज से संपूर्ण जगत शुद्ध एवं ज्ञानमय हुआ है।।४१।। जैसे यौवन दशा प्राप्त होने पर ललना के अंगों में अनुपमेय सौंदर्य विशेष रूप से प्रकट होता है।।४२।। जिस प्रकार वसंत ऋतु के आगमन से उद्यान में वनश्री को विशेष शोभा आती है-।।४३।। अथवा सोने का गोला देखने में साधारण प्रतीत होता है किंतु उसी से बने आभूषणों की शोभा निराली दिखती है।।४४।। वैसे ही श्री व्यासजी के द्वारा अलंकृत समस्त इतिहास और पुराण लीनता धारण करके जग में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये महाभारत आख्यान के रूप में आये हैं।।४५।। इसीलिये कहा गया है कि महाभारत में जो कथा नहीं है वह संपूर्ण त्रिलोक में नहीं है। अतः समस्त जगत में जितनी भी कथायें हैं वे सब श्री व्यासजी के उच्छिष्ट रूप में हैं।।४६।। सकल विश्व में सुरस और परमार्थ का उद्गम स्थान ऐसी यह कथा

Funding by IKS-MoE

परमार्था।मुनि कहे नृपनाथा। जन्मेजय को।।४७।। जो अद्वितीय उत्तम। पवित्रैक
निरूपम। परम मंगल धाम। श्रवण कीजियेजी।।४८।। अब भारत कमल पराग।
गीताख्य सुप्रसंग। वक्ता स्वयं श्रीरंग। श्रोता अर्जुन।।४९।। कि यह शब्द
ब्रह्माब्धि। मंथन करत व्यास बुद्धि। प्रकटत निरवधि। नवनीत यह।।५०।।
ज्ञानाग्नि संपर्क। पाक सिद्ध विवेक। हुआ पद परिपाक। घृतामोद।।५१।। विरागी
जिसे अपेक्षत। नित्य संत अनुभवत। ब्रह्मनिष्ठ सतत स्मरत। सोहं रूप।।५२।। जो
भक्ति से श्रवणीय। त्रिजगत में आदि वंद्य। भीष्म पर्व सुनय (सुनीति)।।।५३।।
भगवद्गीता जिसे कहिजे। ब्रम्हेश स्वयं प्रशंसिजे। सनकादिक सेविजे।
आदरयुक्त।।५४।। जैसी शरदीय चंद्रकला। मध्ये अमृत-कणिका कोमला। चुगत
मन से सकुशला। चकोर- चूजे।।।५५।। वैंसे सूज्ञ रसिक श्रोता। अनुभाविजे यह
कथा। लाकर अति कोमलता। चित्तवृत्ति में।।५६।। यह शब्द रहित संवादिजे।
इंद्रियों बिना भोगिजे। वाणी पूर्व पाविजे। प्रमेय सिद्धि।।५७।। जैसे भ्रमर पराग
लेत। नहीं कमलदल जानत। वैसी कुशल रीत। ग्रंथ सेवन की।।५८।। या अपना
ठाँव न छांडत। प्रकटत चंद्रमा आलिंगत। अपूर्ण अनुराग भोगत। कुमुदिनी
हृदय।।५९।। ऐसा जो गंभीर। अंतः करण जिसका स्थिर। वही जाने कथासार। न
अन्य।।६०।। अहो अर्जुन के समान। श्रवण में पूर्ण सावधान। वे कृपालु संत जन।
अवधान देवें।।६१।। सुन बालक का तुतलाना। अति संतोष समाधाना। पावत सहज
पितर मना। स्वभावतः।।६२।। आपका सखोल हृदय। प्रभु सदा दयामय। दुलार से
करत विनय। चरण में।।६३।। अंगीकृत आपका देखिये। अब न्यून मेरा सहिये।
क्षमा सहज कीजिए। प्रार्थना किसलिये?।।६४।। किंतु मेरा अपराध अन्य। जो मैं
गीतार्थ में महान। आपको मांगत अवधान। श्रवण के लिये।।६५।। यह दुष्कर
गीतार्थ। साहस करे मेरा चित्त। क्या सूर्य के समक्ष खद्योत। शोभा देत?।।६६।।
क्षुद्र चोंच से आपुन। टिट्टिभ समुद्र करे प्राशन। वैसा मेरा यह प्रयत्न। दुष्कर
अति।।६७।।

यदि आकाश को लिपटाना। स्वयं उससे विशाल होना। यह तत्त्वार्थ
समझाना। अनाकलनीय।।६८।। इस गीतार्थ का महत्व। स्वयं शंभू वर्णन करत।
श्री भवानी प्रश्न पूछत। विस्मित होकर।।६९।। हर कहे अनोखा। देवी जैसा रूप
आपका। नित्य नूतन देखा। गीता तत्व।।७०।। यह वेदार्थ-सागर। जिस निद्रित की
घरघर। वह स्वयं सर्वेश्वर। प्रत्यक्ष वर्णित।।७१।। ऐसा जो अगाध। जहां भ्रमित
प्रत्यक्ष वेद। वहां मैं अति मतिमंद। अल्पबुद्धि।।७२।। यह अपार कैसे जानिजे।
महातेज किससे प्रकाशिजे। गगन मुट्ठी में समाइजे। मशक से कैसे?।।७३।। किंतु
यहां एक आधारू। मैं कहत साधारू। सानुकूल सद्गुरु। कहे ज्ञानदेव।।७४।। वैसा
मैं बालक मूर्ख। करत हूं अविवेक। संतकृपा दीपक। सोज्वल होत।।७५।। लोह का

वैशंपायन ऋषि जन्मेजय राजा को बता रहे हैं-।।४७।। जो कथा अद्वितीय, उत्तम, पवित्र, उपमारहित एवं परम मंगल मोक्ष का धाम है वह आप श्रवण कीजिये ।।४८।। अब इसमें महाभारत यही एक कमल है और स्वयं भगवान श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को बताया हुआ सुंदर गीता-विषय यही उस कमल पुष्प का पराग है।।४९।। अथवा श्री व्यासजी ने वेदरूप समुद्र का अपनी बुद्धिरूपी मथानी से मंथन कर के यह गीतारूपी अपार नवनीत निकाला है।।५०।। इस नवनीत को ज्ञानरूपी अग्निपर तपाकर विचाररूपी उफान से गीतापद के परिपक्व होने पर गीता रूप घी का सुगंध महकने लगा है।।५१।। जिसकी वीतरागी कामना करते हैं, संत नित्य अनुभव लेते हैं एवं ब्रह्मज्ञानी जिस सोऽहं (मैं वही ब्रह्म हूं) रूप का नित्य स्मरण करते हैं।।५२।। जो भक्तिद्वारा श्रवणीय, त्रैलोक्य में परम पूज्यनीय है, वह नीति तत्त्व भीष्म पर्व में प्रतिपादित है।।५३।। जिसे श्री भगवद्गीता कहते हैं, ब्रह्मा और शंकर जिसकी स्तुति करते हैं, तथा सनकादिक अति आदर से जिसका सेवन करते हैं।।५४।। जिस प्रकार शरद ऋतु की पूर्णिमा की चांदनी के सूक्ष्म अमृत कण चकोर पक्षी के छोटे बच्चे कुशलता से मनसे चुगते हैं।।५५।। उसी प्रकार रसिक श्रोताओं ने, अति कोमल चित्त से भगवद्गीतार्थ का अनुभव लेना चाहिये।।५६।। इस गीतार्थ की शब्दोच्चार के बिना ही चर्चा कीजिये, इंद्रियों के बिना ही इसका अनुभव लीजिये तथा कुछ कहने के पूर्व ही प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि को प्राप्त कीजिये।।५७।। कमलदल के अनजाने में जिस तरह भ्रमर उसके पराग का सेवन करते हैं वैसी ही उस ग्रंथसेवन की श्रेष्ठ पद्धति है।।५८।। अथवा अपना स्थान न छोड़ते हुये चंद्र के प्रकाशित होते ही उसको आलिंगन करनेवाली कुमुदिनी का हृदय अपूर्व अनुराग का भोग करता है।।५९।। उसी प्रकार शमदम से जिसका अंतःकरण स्थिर हुआ है वही उस कथा का रहस्य जान सकेगा, अन्य दूसरे नहीं। इसलिये सुनो! जो अर्जुन के समान श्रवण करने के लिये योग्य हो, वे कृपालु संत जन अपना ध्यान इस गीतार्थ की ओर देवें।।६१।। जिस प्रकार अपने बालक की तुतली वाणी सुनकर माता-पिता को स्वभावतः अधिक संतोष होता है।।६२।। प्रभो, आपका गंभीर अंतःकरण सदा दयामय है। इसलिये मैं दुलार से आपके चरणों में विनती करता हूं।।६३।। देखिये, वैसे आप सज्जनों द्वारा मैं अंगीकृत हूं ही। अतः अब मेरी न्यूनता सहकर मुझे सहज ही क्षमा कीजिये। अब मुझे प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता?।।६४।। किंतु मेरा अपराध कुछ और ही है जो मैं यह महान गीतार्थ स्पष्ट करने की कोशिश करता हूं तथा सुनने के लिये आपका अवधान मांगता हूं।।६५।। यह गीतार्थ काम बड़ा ही कठिन है। किंतु इसका विचार न करते हुये उसको स्पष्ट करने के लिये मेरे चित्त में साहस उत्पन्न हुआ है। क्या सूर्य के सामने जुगनू शोभा देगा?। समुद्र द्वारा अपने अंडे बहा ले जाने के कारण, उससे बदला लेने के लिये क्षुद्र टिट्टिभ पक्षिणी द्वारा अपनी छोटी सी चोंच से समुद्र को सुखाने का प्रयास करती है वैसे ही गीतार्थ का व्याख्यान करने मेरे लिये अत्यंत कठिन है।।६७।। यदि आकाश को बाहों में पकड़ना है तो उससे विशाल बनना पड़ेगा। उसी तरह इस गीतार्थ का व्याख्यान करने के लिये मुझसे अधिक योग्य पुरुष की आवश्यकता है। क्योंकि यह कार्य स्वयं मेरी शक्ति के बाहर का है।।६८।। इस गीतार्थ का महत्व, वर्णन स्वयं शंकर भगवान करते हैं, श्री भवानीजी उस समय विस्मित होकर उनसे प्रश्न करती हैं।।६९।। इस पर शंकर भगवान कहते हैं कि देवी! जैसा आपका विलक्षण रूप नित्य नूतन प्रतीत होता है वैसे ही यह गीता तत्त्व भी नित्य नूतन अतएव बुद्धि को अगम्य है।।७०।। यह वेदार्थरूप सागर जिसकी निद्रावस्था की निश्वास मात्र है, उस सर्वेश्वर के द्वारा इसका प्रत्यक्ष वर्णन किया गया है।।७१।। ऐसा यह गीताशास्त्र अति गहन होने के कारण जहां साक्षात् वेद भी भ्रमित हुए वहां मुझ जैसे अल्प बुद्धि मतिमंद की क्या कथा!।।७२।। यह गीता तत्त्व अगाध है। इसे कैसे जाना जाए? इस महातेज को और किससे प्रकाशित किया जाए? छोटे से मशक के छोटीसी मुट्ठी में व्यापक गगन कैसे समा सकता है?।।७३।। श्री ज्ञानेदवजी कहते हैं, मैं प्रभावपूर्वक कहता हूं कि इस पर भी एक आधार है कि मेरे गुरू मुझको अति अनुकूल हैं।।७४।। वैसे यद्यपि मैं बालक अज्ञानी और अविवेकी हूं तथा संत

कनक होत। पारस में यह सामर्थ्य। कि मृत ही होत जीवित। अमृतसिद्धि ।।७६।। या सिद्ध सरस्वती प्रसन्न होत। मूक सुंदर वाचा पावत। यहां केवल वस्तुशक्ति सामर्थ्य। आश्चर्य कैसे? ।।७७।। जिसकी स्वयं कामधेनु माता। उसको सब सुलभ सर्वथा। प्रवर्तत ग्रंथ कथा-। कथन में ।।७८।। इसलिये न्यून को पूर्ण। अधिक वह सान। कर लीजिये कृपा निधान। विनय नम्र ।।७९।। अब दीजिये अवधान। मेरी वाणी आपके आधीन। जैसे चेष्टत सूत्राधीन। दारू यंत्र ।।८०।। वैसा मैं अनुग्रहीत। साधुजन आज्ञांकित। जो स्वेच्छा से अलंकारत। प्राणिमात्र ।।८१।। तब कहे गुरुनाथ। न बोलिजे अन्य बात। अब ग्रंथ में दीजे चित्त। शीघ्रातिशीघ्र। ।८२।। सुन गुर्वाज्ञा निवृत्तिदास। पावे परम उल्हास। सुनिये कहे मन को अवकाश। देके पूर्ण ।।८३।।

धृतराष्ट्र उवाच–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पांडवाश्चैव किम कुर्वत संजय ।।१।।

तब पुत्रप्रेम से मोहित। धृतराष्ट्र नृप पूछत। कहो संजय बोलिये बात। कुरु क्षेत्र की ।।८४।। जो धर्मालय कथित। गये जहां लेकर हेत। मेरे पुत्र और पंडुसुत। युद्ध काज का ।।८५।। वे वहां इस अवसर पर। क्या करत हैं परस्पर। कथन करो शीघ्र। मुझको सब ।।८६।।

संजय उवाच–

दृष्टवा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा। आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।।२।।

तब बोले संजय। उछलत पांडव सैन्य। जैसा भयंकर महाप्रलय। कृतांत मुख ।।८७।। वैसे वह घनदाट। सज्ज होत एक बाट। जैसे उफनत कालकूट शमवत कौन? ।।८८।। अथवा बड़वानल भड़कत। प्रलयवात पोखत। शोषत सागर उछलत। अंबर तक ।।८९।। वैसे दल दुर्धर। नाना व्यूह परिकर। अवगमत भयंकर। उस समय ।।९०।। देखके वह दूर्योधन। अवहेलित तुच्छ जान। जैसे न गणिजे पंचानन। गजघण्टा को ।।९१।।

दुर्योधन उवाच–

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्। व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।।३।।

तब द्रोण के सन्निध। जाकर कहत विबुध। उछलत दलभार किस विध। पाण्डवों का ।।९२।। गिरी दुर्ग जैसे चलत। वैसे विविध व्यूह शोभत। रचना करत बुद्धिमतं। द्रुपद कुमर ।।९३।। जो आप से दीक्षित। विद्यानिधि मूर्तिमंत। चतुर सैन्य सिंह बिखरत। देख देख ।।९४।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि। युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।

और भी असाधारण। शस्त्रास्त्रों में प्रवीण। क्षात्र धर्म में निपुण। महावीर ।।९५।। बल पराक्रम से योग्य। भीमार्जुन तुल्य। सकौतुक सहज वर्ण्य।

Funding by IKS-MoE

कृपारूपी दीप से मैं उज्वल (योग्य) हुआ हूं।।७५।। पारस पत्थर में यह सामर्थ्य है कि लोहा सोना हो जाता है अथवा अमृतपान से मृत जीवन प्राप्त करता है।।७६।। अथवा प्रत्यक्ष सरस्वती प्रसन्न होते ही मूक को भी सुंदर वाणी प्राप्त होती है। इसमें क्या आश्चर्य? यह तो केवल वस्तु महात्म्य ही है।।७७।। प्रत्यक्ष कामधेनु जिसकी माता हो, उसको क्या दुर्लभ हो सकता है? इसलिये मैं यह कथा ग्रंथ लिखने के लिए प्रवृत्त हुआ हूं।।७८।। अतः इसमें जो न्यून (कमी) है वह पूर्ण करके जो अधिक हो उसे छोड़ दीजिये। यही आपसे मेरी नम्र प्रार्थना है।।७९।। जैसे नाचनेवाली कठपुतली सूत्रधार के सूत्र के सहारे नाचती है वैसी मेरी वाणी आपके आधीन होने के कारण अब आप इधर ध्यान दीजिये।।८०।। वैसे आपने मुझपर अनुग्रह किया ही है और जो सब प्राणीमात्र की बुद्धि को अपनी इच्छा से अलंकृत करते हैं, उन साधुजनों ने भी मुझे आज्ञा दी है।।८१।। तब श्री गुरुनाथ कहने लगे कि अब अन्य विषयों का आख्यान बंद करके गीतार्थ कहने की ओर जल्दी से जल्दी ध्यान दो।।८२।। ऐसी श्री गुरु की आज्ञा सुनकर श्री ज्ञानदेवजी परम उल्हहित होकर कहने लगे कि आप-अपना संपूर्ण अवधान देकर इस कथा को सुनिये।।८३।।

धृतराष्ट्र उवाचः-

राजा धृतराष्ट्र ने कहा धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?।।१।।

तब पुत्र प्रेम से मोहित होकर राजा धृतराष्ट्र संजय से कुरुक्षेत्र की वार्ता पूछने लगे।।८४।। जिस कुरुक्षेत्र को धर्म का स्थान कहते हैं, जहां मेरे पुत्र और पांडु के पुत्र युद्ध करने के लिये गये हैं।।८५।। वे वहां इस समय परस्पर क्या-व्यवहार कर रहे हैं वह मुझे शीघ्र बताओ।।८६।।

संजय उवाच-

इस पर संजय बोला- उस समय राजा दूर्योधन ने व्यूह रचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखकर और द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा।।२।। हे आचार्य! आपके बुद्धिमान शीर्ष द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पांडपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये।।३।।

तब संजय ने कहा, हे राजन! महाप्रलयकाल में जैसे काल का मुख विस्तीर्ण होता है वैसे ही पाण्डव सेना विस्तृत दिखने लगी।।८७।। जिस प्रकार उफनते हुये कालकूट विष का शमन करने में कोई समर्थ नहीं होता उसी प्रकार एक ही दिशा की ओर हमला करने के लिये सज्ज पांडव सेना को कौन रोक सकेगा?।।८८।। जिस प्रकार प्रदीप्त वड़वानल प्रलयवात से और क्षुब्ध होकर समुद्र के जल का शोषण करके आकाश तक पहुंचता है।।८९।। वैसे ही पाण्डवों की डरावनी सेना अनेक व्यूह रचना से तैयार होकर अति भयंकर प्रतीत होने लगी है।।९०।। किंतु जिस प्रकार हाथियों के झुंड को सिंह कः पदार्थ मानता है उसी प्रकार दूर्योधन उस पाण्डव सेना को तुच्छ दृष्टि से देखने लगा।।९१।। तब राजा बुद्धि मान दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास जाकर उनसे कहने लगा कि देखिये, पांडवों की सेना किस प्रकार उछल रही है।।९२।। बुद्धिमान द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने सेना की ऐसी ज्ञानपूर्ण व्यूह रचना की है कि वह चलते हुए दुर्ग के समान प्रतीत होती है।।९३।। देखिये, जिस धृष्टद्युम्न को आपने शिक्षा देकर ज्ञानी बनाया उसी ने यह सेनासिंह चारों तरफ फैलाया है।।९४।।

इस सेना में महान शस्त्रास्त्रों वाले युद्ध में भीम और अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं। जैसे सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद।।४।।

इसके अतिरिक्त शस्त्रास्त्रों में प्रवीण एवं क्षात्र-धर्म में निपुण ऐसे अनेक महान योद्धा यहां उपस्थित हैं।।९५।। जो बल और पराक्रम से भीमार्जुन के समान हैं ऐसे योद्धाओं का यहां सहज

बतलाऊं मैं।।९६।। यहां युयुधान सुभट। आया हुआ विराट। महारथी श्रेष्ठ। द्रुपद वीर।।९७।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्। पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्। सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

चेकितान धृष्टकेत। काशीराज वीर विक्रांत। उत्तमौजा नृपनाथ। शैब्य देखो।।९८।। कुंतिभोज युधामन्य। पुरुजितादि सब अन्य। देख सुभद्राहृदयनंदन। प्रति अर्जुन।।९९।। और भी द्रौपदी कुमर। ये सब महारथी वीर। अनगिनत अपार। पहुंचे यहां।।१००।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम। नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः। अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

अब अपने दल नायक। जो रूढ़वीर सैनिक। आप आदि प्रमुख। निर्देशु मैं।।१।। यह भीष्म गंगानंदनु। जो प्रताप तेजस्वी भानु। रिपुगज पंचाननु। कर्णवीरु।।२।। इन एक-एक का मनोव्यापार। करे विश्व का संहार। पूरा कृपाचार्य वीर। अकेला एक।।३।। यहां विकर्ण महावीर। अश्वत्थामा पैलपार। सदैव जिसका डर। कृतांक मन में।।४।। समितिंजय सोमदत्त। ऐसे और भी बहुत। जिनका बल अपरमित। धाता न जाने।।५।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः। नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः।।९।।

जो शस्त्रविद्या पारंगत। मंत्रावतार मूर्त। जिनसे अस्त्रजात समस्त। रूढ़ होत।।६।। ये अप्रतिमल्ल जगत में जान। वीरता प्रताप संपूर्ण। समर्पित जीव प्राण। मेरे काज।।७।। जैसा पतिव्रता हृदय। पतिबिन न स्पर्शत अन्य। वैसा मैं अनन्य। इन सुभटों का।।८।। मेरे कार्य पूर्ति कारण। न गिनत स्वयं के प्राण। ऐसे अति उत्तम महान। स्वामिभक्त।।९।। युद्ध निपुण चतुर। कीर्ति कुशलता अपार। क्षात्रनीति साचार। रूढ़ इन्हीं से।।११०।। ऐसे सर्वतोपरि निपुण। मेरे दल में विद्यमान। अनगिनत सुजान। अपार वीर।।११।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्। पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

सर्व क्षत्रियों में सुभट। जो जगजेठी जंगश्रेष्ठ। सेनाधिपत्य का पाट। उस भीष्म को।।१२।। इसके बल अधीन। दुर्ग जैसा रचित सैन्य। न कोई वीर समान। लोकत्रय में।।१३।। पहिले ही समुद्र जैसा। अति दुस्तर होत वैसा। उस पर वड़वानाल सरिसा। सहायकर्ता।।१४।। अथवा प्रलय वन्हीं महावात। इन दोनों का सांधात। वैसा यह गंगासुत। सेनापति।।१५।। अब जूझे इससे कौन। अल्प सांच पांडवसैन्य। पर रचना कुशल महान। दिखत अतुल।।१६।। उस पर भीमसेन समर्थ। हुआ उसका सेनानाथ। कहकर नृप इतनी बात। स्तब्ध होत।।१७।।

रूप से नाम निर्देश करूंगा।।९६।। जहां महायोद्धा युयुधान राजा विराट राजा एवं श्रेष्ठ महारथी द्रुपद राजा आये हैं।।९७।।

और धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान काशिराज, पुरुजित, कुंतिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य तथा पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रोपदी के पांचों पुत्र यह सबही महारथी हैं।।५/६।।

चेकितान, धृष्टकेतु, पराक्रमी काशीराज, नृपश्रेष्ठ उत्तमौजा और राजा शैब्य आदि नरपुंगवों की ओर देखिये।।९८।। कुंतिभोज, युधामन्यु और पुरुजित आदि राजागण यहां आये हैं। और यह देखिये कि देवि सुभद्रा के हृदय को आल्हाद देनेवाला वीर अभिमन्यु जो प्रति अर्जुन ही है।।९९।। और द्रौपदी पुत्र एवं अन्य सब महारथी जिनकी गणना करना असंभव है, ऐसे असंख्य वीर यहां उपस्थित हैं।।१००।।

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! हमारे पक्ष में भी जो- जो प्रधान हैं उनको आप समझ लीजिए। आपके जानने के लिए मेरी सेना के जो- जो सेनापति हैं उनके नाम बतलाता हूं।।७।।

अब मैं अपने सैन्य के आप आदि जो प्रमुख वीर हैं उनका प्रसंगानुसार नाम निर्देश करूंगा।।१।।

एक तो स्वयं आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा है।।८।।

बल एवं शौर्य से प्रतिसूर्य ऐसे यह गंगानंदन भीष्म एवं शुत्ररूप हाथी को सिंह के समान भासमान यह पराक्रमी वीर कर्ण।।२।। इनमें से एक-एक के संकल्पमात्र से संपूर्ण विश्व का संहार हो सकता है, और क्या कहूं, अकेले कृपाचार्य ही इसके लिये समर्थ हैं।।३।। इस ओर वीर विकर्ण हैं और उस ओर प्रत्यक्ष काल को भी जिसका डर लगता है वह अश्वत्थामा है।।४।। युद्ध में सदैव विजयी यह सोमदत्त तथा जिनके शूरता का अंत प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव भी जानने में असमर्थ हैं ऐसे और भी कई वीर यहां हैं।।५।।

और भी बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्र- अस्त्रों से युक्त मेरे लिये जीवन की आशाको त्यागने वाले सब के सब युद्ध में चतुर हैं।।९।।

जो शस्त्र विद्या में निपुण एवं मंत्र विद्या के साक्षात अवतार हैं, इतनाही नहीं समस्त अस्त्रविद्या जगत में इन्हीं से प्रसिद्ध हुई है।।६।। यद्यपि ये अति प्रतापवान हैं, संपूर्ण जगत के योद्धाओं के बेजोड़ हैं, ये मेरे लिये अपने प्राण भी देने के लिये कृतसंकल्प हैं।।७।। जैसे पतिव्रता स्त्री के मन को और किसी का विचार स्पर्श नहीं करता, वैसे इन वीरों के लिये मैं ही एकमात्र हूं।।८।। मेरे कार्य की पूर्ति के लिये ये अपने प्राणों की भी पर्वा नहीं करते, ऐसे ये निःसीम स्वामीभक्त हैं।।९।। ये युद्धकला में प्रवीण हैं। एवं उनकी कीर्ति तथा कौशल्य अपार है, इतना ही नहीं साक्षात क्षत्रिय धर्म इन्हीं से प्रचलित है।।११०।। इस प्रकार हमारी सेना में सभी विद्याओं में प्रवीण अनगिनत पराक्रमी योद्धा हैं।।११।।

और भीष्मतिामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सुगम है।।१०।।

उनमें से सब क्षत्रियों में श्रेष्ठ एवं जगत के सभी योद्धाओं में अधिक प्रतापी जो भीष्माचार्य उन्हीं को संपूर्ण सेना का आधिपत्य दिया गया है।।१२।। उन्होंने यह सब सेना नियंत्रित करके दुर्ग के समान दिखाई देनेवाली व्यूह रचना की है। इनकी वीरता के आगे सारा त्रिभुवन तुच्छ लगता है।।१३।। यदि सोचा जाए तो जिसप्रकार समुद्र स्वभावतः दुस्तर होता है, उस पर भी यदि वड़वानल सहायक हो तो क्या कहना?।।१४।। अथवा प्रलयकाल की भीषण अग्नि को महावात की सहायता प्राप्त होकर दोनों का जैसा संयोग होता है, उसी प्रकार हमारी अपरा सेना को महाप्रतापी गंगासुत भीष्प सेनापति के रूप में प्राप्त हुए हैं।।१५।। अब ऐसी सेना के साथ कौन युद्ध करने का साहस करेगा? पांडवसेना बास्तव में छोटी है किंतु उसकी कुशल रचना से वह बहुत बड़ी एवं असीम दिख रही है।।१६।। और इसका सेनापति वीर शिरोमणि भीमसेन है। इतना कहकर राजा दुर्योधन स्तब्ध हो गया।।१७।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः। भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

तब नृप पुनः बोलत। सब सेनापति को आदेशत। अपने दलभार त्वरित। करो सिद्ध।।१८।। जिनके आधीन जितनी। रण में स्थित अक्षौहिणी। कीजे उसकी निगरानी। महारथियों। ।१९।। अपनी अक्षौहिणी सम्हालिये। भीष्माज्ञा सम्मानिजे। द्रोण को कहत कीजिये। निगरानी सबकी।।१२०।। मानो भीष्म को मुझसमान। यत्न से करो उसका रक्षण। वे ही कुरुसैन्य के महान। आधार स्तंभ।।२१।।

संजय उवाच—

तस्य संजयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः। सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखः दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

सुनके नृप की यह बात। वृद्ध सेनापति संतोषत। अति आनंद से करत। सिंहनाद।।२२।। वह नाद अति विलक्षण। दोनों सैन्य में संपूर्ण। प्रतिध्वनि अंबर में दारुण। न समावत।।२३।। साथ यह प्रतिरव। वीरवृत्ति प्रभाव। दिव्यशंख भीष्मदेव। आस्फुरित।।२४।। ये दो नाद एकत्रित। त्रैलोक्य बधिरि भूत। गिरे आकाश होके खंडित। अवनीपर।।२५।। धड़धड़त अंबर। उछलत सागर। क्षोभत चराचर। छूटत कंप।।२६।। वह महाघोष गजर। दुमदुमत गिरिकंदर। गर्जत रण वाद्य स्वर। दोनों दल में।।२७।।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः। सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

रणवाद्य नाना प्रकार। नाद जिनका भयंकर। कांपत बलवंत धीर। महाप्रलय में।।२८।। भेरी निशान मांदल। शंख झांज ढोल। भयासुर रण कोलाहल। सुभटों का।।२९।। आवेग से दंड टोकत। गर्जत परस्पर पुकारत। महामद गजझुंड होत। निरंकुश यहां।।१३०।। वहां भीरू की क्या बात। कस्पट सम उड़त जात। दचकत स्वयं कृतांत। डरत मन में। ।३१।। कइयों के खड़े- खड़े प्राण जात। कइयों की बोलती बंद होत। शूरवीर को छूटत। कंपकंपी तन में।।३२।। ऐसा अद्‌भुत तुमुल (युद्धनाद)। सुन ब्रह्मा होत विकल। देव कहत प्रलयकाल। भासत आज।।३३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ। माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।१४।।
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः। पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

ऐसा स्वर्गलोक भयभीत। देख के वह आकांत। तब पांडव दल अंतर्गत। क्या वर्तत।।३४।। जो विजय का निजसार। महातेज का भंडार। गरुड़ जैसे अश्वचार। शोभत जहां।।३५।। पंखयुक्त मेरू जैसा। रथश्रेष्ठ विराजे वैसा। व्यापत पूर्ण दशदिशा। तेज जिसका।।३६।। जहां स्वयं अश्वसंचालन। करे वैकुंठाधिपति कृष्ण। उस रथ के गुण। बरनूं कैसे।।३७।। ध्वज के ऊपर वानर। जो मूर्तिमंत शंकर। सारथी शाङ्‌र्गधर। अर्जुन को।।३८।। देखो नवल प्रभु का। अद्‌भुत प्रेम भक्त का। जो सारथ्य पार्थ का। स्वयं करे।।३९।। सेवक पीछे राखत। आप आगे

Funding by IKS-MoE

इसलिये सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुये आप लोग सब के सब ही निःसंदेह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें।।११।।

तब फिर से राजा सब सेनापतियों को आदेश देते हुये कहने लगा कि आप अपनी सेना को शीघ्र सज्जित करो।।१८।। हे महारथियों! जिनके अधिकार में जितनी अक्षौहिणी सेना है वे उसकी अच्छी तरह से देखरेख करें।।१९।। और अपनी अक्षौहिणी सेना संभालिये, भीष्म की आज्ञा का सम्मान कीजिये तथा दुर्योधन द्रोणाचार्य को कहता है कि आप इन सब की निगरानी कीजिये।।१२०।। भीष्म को मेरे समान मानना। इनका यत्नपूर्वक रक्षण करना। वे ही इस कौरव सेना के आधारस्तंभ हैं।।२१।।

इसप्रकार द्रोणाचार्य से कहते हुये दूर्योधन के वचनों को सुनकर कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दूर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंहनाद के समान गर्जकर शंख बजाया।।१२।।

राजा की यह बात सुनकर सेनापति भीष्म को संतोष हुआ और उन्होंने अतिआनंद से सिंह गर्जना की।।२२।। यह विलक्षण नाद दोनों सेनाओं में गूंज उठा। उसकी भीषण प्रतिध्वनि आकाश तक में न समा सकी।।२३।। इस प्रतिध्वनि के साथ ही भीष्मदेव ने वीरवृत्ति से अपना दिव्य शंख बजाया।।२४।। ये दो नाद जब एकत्रित हुए तब त्रिभुवन बधिरीभूत हुआ एवं ऐसा प्रतीत हुआ मानो आकाश खंडित होकर पृथ्वी पर गिर रहा है।।२५।। उस समय आकाश में मेघगर्जना होने लगी, समुद्र उफलने लगा तथा यह जड़चेतन विश्व भयभीत होकर कंपित होने लगा।।२६।। इस महानाद के घोष से गिरिकंदरों में प्रतिध्वनि निनादित हुई। उसी समय दोनों सेनादल में रणवाद्य बजने लगे।।२७।।

इसके उपरान्त शंख, नगारे तथा ढोल, मृदंग आदि बाजे एक साथ ही बजे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।।१३।।

नानाविध रणवाद्यों की वह ध्वनि महाप्रलय के समान प्रतीत होनेवाली भयंकर थी उससे महापराक्रमी धैर्यवान वीर योद्धाओं को भी कंपकंपी छूटी।।२८।। भेरी, निशान, मांदल, शंख, झांज, ढोल इत्यादि रणवाद्यों का गजर एवं वीरों की गर्जना प्रारंभ हुई।।२९।। कोई आवेश से बाहू ठोकने लगे, एक दूसरे को जोर से आव्हान देने लगे तथा मदोन्मत्त हाथी निरंकुश होकर स्वैर संचार करने लगे।।१३०।। वहां कायरों की क्या कथा? वे तो सूखे घास के समान इतस्ततः भटकने लगे। साक्षात यमराज विस्मित होकर भयमीत हुये।।३१।। कई एक खड़े-खड़े निष्प्राण हो गये। कईयों की वाणी कुंठित हो गई तथा शूर वीरों के शरीर में कंप छूटने लगा।।३२।। ऐसा वह भयंकर युद्धनाद सुनकर ब्रह्मा भी व्याकुल हुए। तथा इंद्रादि देव, आज तो साक्षात प्रलयकाल आया है ऐसा कहने लगे।।३३।।

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये।।१४।। उनमें श्रीकृष्ण ने पांचजन्य नामक और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया । वृकोदर भीमसेन ने पौण्ड्र नामक भीषण महाशंख बजाया।।१५।। कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंत विजय नामक शंख और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नाम के शंख बजाये।।१६।।

इस प्रकार जब स्वर्गलोक में हाहाकार मचा तब पांडव सेना में क्या हुआ देखो।।३४।। जो रथ स्वयं विजय का स्थान है एवं महातेज का भण्डार है, तथा जिसको गरुड़ के समान चार अश्व शोभा देते हैं।।३५।। महाराज पंखयुक्त मेरू पर्वत के समान वह रथश्रेष्ठ वहां विराजमान था। उसका तेज दश दिशा में व्याप्त हुआ था।।३६।। जिस रथ का संचालन स्वयं वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्ण कर रहे थे, उस रथ का गुणवर्णन कैसा किया जाये?।।३७।। जिस रथ के ध्वज स्तंभ पर साक्षात शंकर जी के अवतार श्री हनुमान विराजमान हैं। शारङ्र्गपाणी भगवान श्रीकृष्ण जी अर्जुन के साथ ही बने हैं।।३८।। देखो, कैसा प्रभु का कौतुक है, भक्त के प्रति कैसी अद्‌भुत प्रीति है जो स्वयं पार्थ का सारथ्य कर रहे हैं।।३९।। सेवक को पार्श्व में रखा और

सज्ज होत। पांचजन्य आस्फुरित। लीलया सहज।।१४०।। किंतु वह घोष घोर। गर्जत वहां भयंकर। जैसा उदित हो भास्कर। नक्षत्र लोपत।।४१।। तैसे वाद्य स्वर बहुत। कौरव दल में निनादत। वे लुप्तप्राय होत। समस्तहि।।४२।। तैसे वाद्य स्वर बहुत। ध्वनि जिसका गंभीर। देवदत्त धनुर्धर। आस्फुरित।।४३।। दोनों शब्द अद्भुत। हुए जहां एकत्रित। तहां ब्रह्म-कटाह शतकूट। होत गमत।।४४।। तब भीमसेन आवेशत। महाकाल जैसा उछलत। भीषण पौण्ड्र आस्फुरत। महाशंख।।४५।। वह महाप्रलय जलधर। जैसा गर्जत गंभीर। तब अनंत विजय युधिष्ठिर। आस्फुरित।।४६।। नकुल सुघोषक। सहदेव मणिपुष्पक। आस्फुरित भयकारक। कंपत काल।।४७।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः। धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते। सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्। नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

वहां भूपति अनेक। द्रुपद द्रौपदे यादि। यह काशिपति देख। महावीर।।४८।। अभिमन्यु अर्जुन का सुत। सात्यकि अपराजित। धृष्टद्युम्न नृपनाथ। शिखण्डी आदि।।४९।। विराटादि नृपवर। सैनिक प्रमुख वीर। नाना शंख निरंतर आस्फुरित।।१५०।।

सुन के महाघोष निर्घात। शेष कूर्म चकित होत। हड़बड़ा के त्यजत। भू भार को।।५१।। तीन लोग डगमगत। मेरु मंदार आंदोलित। समुद्र जल उछलत। कैलास पर्यंत।।५२।। पृथ्वी तल उलटत। अंबर भूमि पर गिरत। जहं तंह बिखरत। नक्षत्र माला।।५३।। सृष्टि गई रे गई। देव जाति निराधार भई। ऐसी एक घोषणा हुई। देव लोक में।।५४।। दिन में सूर्यगति रुकत। जैसा प्रलयकाल पावत। वैसा हाहाकार होत। त्रिभुवन में।।५५।। देख के आदि पुरुष विस्मित। कहें शीघ्र होत अंत। शंखनाद अति अद्भुत। अवरोधत।।५६।। इसलिये विश्व सुरक्षित। ना तो युगान्त निश्चित। जब महाशंख आस्फुरित। कृष्णादिक।।५७।। वह घोष बंद होत। किंतु प्रतिध्वनि घूमत। दल भार विध्वंस करत। कौरवों का।।५८।। जैसे गज-झुंड चलत। सिंह सहज विदारत। तैसे हृदय भेदत। कौरवों का।।५९।। वह ध्वनि जब सुनत। त्वरित धैर्य छूटत। परस्पर कहत जात। दक्ष रे दक्ष।।।१६०।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।

वहां पुरुषार्थी सुधीर। महारथी बली वीर। पुरनपि दलभार। आश्वासित।।६१।। तब दोनों दल समान। उछलत होत द्विगुण। क्षोभत सब त्रिभुवन। आवेश से।।६२।। बाण पर बाण धनुर्धर। वर्षत वहां निरंतर। जैसे प्रलयांतक जलधर। अनिवार होत।।६३।। तब संग्राम में सिद्ध होत। सकल कौरव दल देखत। लीलयाव। धनुष उठावत। पंडुकुंवर।।६४।।

Funding by IKS-MoE

स्वयं सामने सज्जित होकर उन्होंने अपना पांचजन्य नामक शंख लीलापूर्वक बजाया।।१४०।। सूर्य के उदित होते ही जैसे नक्षत्र लुप्त होते हैं उसी प्रकार उस शंख के भयंकर नाद से।।४१।। कौरव सेना में बजनेवाले बहुत प्रकार के वाद्यस्वर लुप्तप्राय हो गये।।४२।। गंभीर नादवाला दूसरा देवदत्त नामक शंख धनुर्धर अर्जुन ने बजाया।।४३।। वे दोनों नाद जहां एकत्रित हुए वहां मानो ब्रह्मांड शतशः खंडित हो रहा है ऐसा प्रतीत होने लगा।।४४।। तब भीमसेन ने भी आवेश में आकर महाकाल जैसे उछलते हुए अपना पौण्ड्र नामक भीषण शंख बजाया।।४५।। उस शंख की ध्वनि महाप्रलयकाल की मेघगर्जना के समान भयंकर थी। इसके साथ ही युधिष्ठिर ने अनंत विजय नामक अपना शंख बजाया।।४६।। नकुल ने सुघोष नामक तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया।।४७।।

श्रेष्ठ धनुषवाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्ट्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सातयकि।।१७।।

तथा राजा द्रुपद और द्रौपदी के पांचों पुत्र और बड़ी भुजावाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु- इन सबने हे राजन! अलग-अलग शंख बजाये।।१८।। और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये।।१९।।

श्रेष्ठ द्रुपदराजा, महावीर काशीराज, द्रौपदी के पुत्र एवं अनेक राजा और वीर वहां उपस्थित थे।।४८।। वैसे ही अर्जुन पुत्र अभिमन्यु, अजिंक्य सात्यकि, नृपश्रेष्ठ, धृष्टद्युम्न, शिखंडी आदि।।४९।। विराट इत्यादि जो-जो सेनानायक थे वे अपने अपने शंख निरंतर बजाने लगे।।१५०।। उस भीषण ध्वनि के आघात से शेष तथा कूर्म भयभीत हुआ और घबराहट में भूभार त्यागने के लिये तत्पर हुए।।५१।। त्रिभुवन डगमगाने लगा; मेरू और मंदराचल पर्वत झूलने लगा तथा समुद्र का जल कैलाश पर्यंत उछलने लगा।।५२।। पृथ्वीतल उलटने लगा, आकाश खंडित होकर भूमिपर गिरने लगा तथा नक्षत्र मालाएं टूटकर जहां-तहां बिखरने लगीं।।५३।। "पृथ्वी डूबी रे डूबी, अब स्वर्गलोक निराश्रित हुआ" ऐसी एक घोषणा देवलोक में हुई।।५४।। सूर्य की गति दिन में ही रुक गई और प्रलयकाल के समान त्रिलोक में हाहाकार मच गया।।५५।। वह देखकर भगवान श्रीकृष्ण विस्मित हुए और शीघ्र ही पृथ्वी का विनाश होगा यह जानकर उन्होंने वह दारुण शंखनाद बंद किया।।५६।। इसलिये विश्व सुरक्षित रहा नहीं तो जब कृष्णादि ने शंखनाद किया तभी उसका अंत हो जाता।।५७।। वह शंखनाद बंद हुआ किंतु उसकी प्रतिध्वनि सुन के कौरवों का सेनादल ध्वस्त हो गया।।५८।। जैसा सिंह गजझुंड को सहज विदारण करता है वैसा वह प्रतिध्वनि सुनकर कौरवों का हृदय विदीर्ण हुआ।।५९।। वह ध्वनि सुनकर उनका साहस शीघ्र ही छूट गया एवं वे परस्पर कहने लगे, "सावधान रे सावधान।।१६०।।

अर्जुन उवाचः-

हे राजन! उसके उपरान्त कपिध्वज अर्जुन ने खड़े हुए धृतराष्ट्रपुत्रों को देखकर उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराज से यह वचन कहा, हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिये।।२०-२१।।

वहां बल और पुरुषार्थ से युक्त महारथियों ने पुनश्च अपनी सेना को धैर्य देते हुये आश्वासित किया।।६१।। तब वे दोनों समान दल दुगने आवेग से युद्ध के लिये तैयार हुये। उस आवेशयुक्त सेनाओं से संपूर्ण त्रिभुवन त्रस्त हो उठा।।६२।। जिस प्रकार प्रलयकाल के मेघ निरंतर वृष्टि करते हैं उसी प्रकार धनुर्धारी वीर वहां बाणों की वृष्टि करने लगे।।६३।। तब संग्राम के लिये सिद्ध सकल कौरव दल को देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुन ने अपना धनुष सहज उठाया।।६४।।

Funding by IKS-MoE

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते। सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्। कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः। धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुध्देर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

तब अर्जुन कहत जी सुनिये। अब अपना रथ चलाइये। दोनों दल बीच स्थापिये। शीघ्राति शीघ्र।।६५।। मैं इनको क्षणैक। निहारू वीर सैनिक। सिद्ध यहां अशेख। युद्धार्थ जो।।६६।। रण में वीर नाना। इनमें से किससे जूझना। यह तो मुझे देखना। आवश्यक।।६७।। बहुत करके कौरव। ये आतुर दुःस्वभाव। करत भीरु दुराग्रह भाव। युद्ध काज का।।।६८।। इनको युद्ध की हवस। रण में न धरत साहस। सुनो राजा परिहास। संजय कहे।।६९।।

संजय उवाच-
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत। सेनयोररुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।
भीष्मद्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्। उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।
तत्रापश्यात्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्। आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।२६।।
श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि। तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत।

सुनो, अर्जुन इतना कहत। तब श्रीकृष्ण रथ त्वरित। दो दल बीच व्यवस्थित। खड़ा करत।।१७०।। जहां भीष्म द्रोणादिक। आप्तवर सन्मुख। पृथ्वीपैति अनेक। उपस्थित।।७१।। वहां स्थिर करके रथ। अर्जुन खड़ा देखत। वह दलभार समस्त। संभ्रम से।।७२।। कहत, देव, देख देख। ये तो गोत्रगुरु अशेख। कृष्ण मन में क्षणैक। विस्मित होत।।७३।। वे अपने मन में कहत। यह क्या बात। जो अर्जुन के हृदय में वसत। आश्चर्यकारी।।७४।। परंतु सबका मनोगत। जानत सहज हृदयस्थ। मौन धरे निवान्त। उस समय।।७५।। तब तहां पार्थ सकल। पितृ पितामह केवल। गुरुबंधु मातुल। देखत जात।।७६।। सुहृदजन समधी श्वसुर। अपने सब इष्टमित्र। कुमर पौत्र धनुर्धर। अवलोकत।।७७।। संकट में अनेक बार। किया रक्षण उपकार। जब वे सान श्रेष्ठ एकत्र। उपस्थित यहां।।७८।। ऐसे सब गोत्रज। मन में लिये युद्धकाज। दोनों दलों में सज्ज। दृष्टि देखत।।७९।।

तब मन में खिन्न होत। सहज कृपा उपजत। अपमानित होके त्यागत। वीरवृत्ति।।१८०।। जो स्वयं उत्तम कुलीन। लावण्यवती गुण संपन्न। वर्चस्व न साहत स्त्री का अन्य। स्वतेज बल से।।८१।। या तपोबल से ऋद्धि। लभत भ्रंशत बुद्धि। तब वह विरक्त सिद्धि। भूलतः सहज।।८२।। अथवा नवप्रीत के काज। कामुक बिसरत कांता निज। गुणहीन अनुबंध सहज। भ्रमित जैसा।।८३।। वैसा अर्जुन का अंतःकरण। उपजत जहां कारुण्य। सहज पुरुषार्थ गुण। लुप्त होत।।८४।। अशुद्ध मंत्रोच्चार करत। मांत्रिक भूतोन्माद पावत। वैसे अर्जुन वीर

जब तक मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामनावालों को अच्छी प्रकार देख लूं कि इस युद्ध रूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है।।२२।।

और दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहनेवाले जो-जो ये राजालोग इस सेना में आये हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देखूंगा।।२३।।

तब अर्जुन अच्युत को कहने लगे, हे देव अब अपना रथ चलाओ और दोनों दल के बीच शीघ्रातिशीघ्र खड़ा करो।।६५।। वहां युद्ध के लिये सिद्ध जो वीर है, उनको मैं एकक्षण निहारूंगा।।६६।। क्योंकि रण में अनेक वीर आये हुये हैं, उनमें से किस किसके साथ मुझे युद्ध करना है यह देखना आवश्यक है।।६७।। बहुत करके ये कौरव स्वभाव से ही उतावले तथा दुष्टबुद्धि हैं। भीरु होते हुये भी दुराग्रह से युद्ध करने की इच्छा कर रहे हैं।।६८।। इनको युद्ध की कामना है किंतु रण में साहस दिखाने में ये असमर्थ हैं। संजय राजा धृतराष्ट्र को आगे कहने लगा, "इनकी ईर्षा तो देखो।"।।६९।।

संजय बोला, हे धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे हुये महाराज श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने और संपूर्ण राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके ऐसा कहा कि, हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख।।२४/२५।। उसके उपरांत पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुये पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यो को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा। इस प्रकार उन खड़े हुये संपूर्ण बंधुओं को देखकर वह अत्यंत करुणा से युक्त हुआ कुंतीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला।।।२६/२७।।

राजा सुनो! अर्जुन का यह कहना सुनते ही श्रीकृष्ण ने त्वरित रथ चलाया एवं दोनों सेना के बीच खड़ा किया।।१७०।। जहां भीष्म द्रोणादि निकट संबंधी और अनेक राजा विपक्ष में खड़े थे।।७१।। वहां रथ खड़ा करके अर्जुन वह संपूर्ण सेना को संभ्रम में देखने लगा।।७२।। कहने लगा, हे देव! देखो, देखो, ये तो सब हमारे गोत्र गुरु हैं।" यह सुनकर कृष्ण को क्षणभर आश्चर्य हुआ।।७३।। वे अपने मन में कहने लगे, "अर्जुन के हृदय में यह कौन सी नई आश्चर्यकारक बात उठी है"।।७४।। लेकिन दूसरों का मनोगत सहज जाननेवाले अंतर्यामी सब जान गये और उस समय मौन रहे।।७५।। तब वहां पार्थ अपने सब गोत्रज, पिता, पितामह, गुरुबंध और मामा आदि को देखने लगा।।७६।। अपने इष्ट मित्र, समधी, श्वसुर, पुत्र, पौत्र आदि को वहां देखा।।७७।। जिनके ऊपर अनेक बार उपकार किया, संकटकाल में उनका रक्षण किया, और भी अनेक छोटे-बड़े लोगों को उपस्थित देखा।।७८।। ये सब गोत्रज दोनों सेना में युद्ध करने के लिये सज्ज हुए अर्जुन ने देखे।।७९।। उस समय उसके मन में करुणा उत्पन्न हुई और वह व्याकुल हो उठा, जिसके कारण वीरवृत्ति अपमानित होकर अर्जुन को छोड़कर चली गयी।।१८०।। जैसे स्वयं कुलीन लावण्यवती एवं गुणसंपन्न स्त्री अपने तेजोबल के कारण अन्य स्त्रियों का वर्चस्व नहीं सहती।।८१।। या तप सामर्थ्य से सिद्धियां प्राप्त होने पर विरागी पुरुष की बुद्धि भ्रमित होकर वह वैराग्य को भूल जाती है।।८२।। अथवा नवीन स्त्री के प्रीति के कारण कामी पुरुष अपनी पत्नी को भूलता है। वह गुणहीन योग्यताहीन रहते हुए भी उससे लगाव रखता है।।८३।। वैसा अर्जुन वीर होते हुए भी अपने मन में मोह को स्थान देने से उसका पुरुषार्थ नष्ट हो गया।।८४।। मांत्रिक यदि गलत मंत्रोच्चारण-करता है तो स्वयं ही भूत उन्माद से पीड़ित होता है, उसी

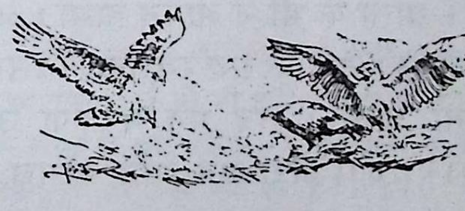

ग्रसित महामोह से।।८५।। अतः धैर्य होत नष्ट। हृदय अत्यन्त द्रवीभूत। जैसे चंद्रकला स्पर्शत। सोमकान्त।।८६।। वैसे वीर पार्थ। अति स्नेह से मोहित। तब सखेद बोलत। श्री अच्युत कों।।८७।।

अर्जुन उवाच –

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।
गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

कहत, अवधारो, देव। देखा यह समुदाव। तब गोत्रवर्ग सर्व। उपस्थित यहां।।८८।। ये संग्राम को उद्युक्त। हुए यहां समस्त। किन्तु इनसे युद्ध उचित। कैसे होत?।।८९।। इन सब से युद्ध कार्य। कल्पना मुझे असह्य। मन बुद्धि ठाँय। स्थिर न रहत।।१९०।। देख देह कंपत। मुख अति शुष्क होत। विकलता उपजत। अवयवों को।।९१।। सर्वांग में रोमांच उठत। अति संताप उभड़त। हाथ शिथिल होत। गांडीव पर से।।९२।। हाथ से धनुष फिसलत। न जाने कब गिरत। ऐसा हृदय व्याप्त। आप्त मोह से।।९३।। जो वज्र से भी कठिन। दुर्धर अति दारुण। उसमें स्नेह असाधारण। नवल अति।।९४।।

जिसने युद्ध में हर को हराया। निवात कवच का नाम मिटाया। उस अर्जुन को महामाया। ग्रासत क्षण में।।९५।। जैसे भ्रमर सहज भेदत। कठिन से कठिन काष्ठ। किन्तु कलिका मध्य अटकत। अति कोमल।।९६।। तब त्यजत अपने प्राण। किन्तु न करत दल छेदन। वैसी कोमलता कठिन। स्नेह की देखो।।९७।। ये आदि पुरुष की माता। धाता के भी न आवत हाथा। अतः भ्रमत नृप पार्था। संजय कहे।।९८।। बोले तब अर्जुन। देख के सब स्वजन। बिसरत निज अभिमान। संग्राम का।।९९।। कैसी सदयता आवत। तब मन में कृपा उपजत। कृष्ण को त्वरित कहत। न रहिये यहां।।२००।। मेरा मन अति कोमल। वाणी होत विकल। जो वधना इन सकल। आप्तजन को।।१।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव। न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

यदि ये कौरव वधिये। क्यों न युधिष्ठिर को वधिये? ये दोनों तो देखिये। स्वजन बंधु।।२।। जल जाय यह युद्ध!। यह तो अति निषिद्ध। मेरा मन सुबुद्ध। कदापि न माने।।३।।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च। किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च। त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः। मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

न विजय की कांक्षा। न मुझे राज्य की आशा। न भोग की अभिलाषा। कहे पार्थ।।४।। राज्य सुख त्यागेंगे। दारुण दुःख भोगेंगे। जीवन अपना देंगे। इन्हीं के

प्रकार अर्जुन को महामोह ने जकड़ लिया।।८५।। इसलिये उसका धैर्य नष्ट हुआ और उसका हृदय द्रवीभूत हो गया, ठीक वैसे ही जैसे चंद्रकिरणों से स्पर्श होते ही चंद्रकांत मणि द्रवित हो जाता है।।८६।। वैसे ही वीर अर्जुन अब अति स्नेह से मोहित होकर दुखी चित्त से अच्युत से कहने लगा।।८७।।

हे श्रीकृष्ण! इस युद्ध की इच्छवाले खड़े हुये स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुये जाते हैं। और मुख भी सूख जाता है तथा मेरे शरीर में कंप और रोमांच होता है।।२८/२९।।

तथा हाथ से गाण्डीव धनुष गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूं।।३०।।

हे देव! मेरी बात सुनो, मैंने यह समस्त सेना को देखा तो लगा कि सब मेरे गोत्रजही यहां उपस्थित हैं।।८८।। ये सब यहां युद्ध के लिये तत्पर हैं लेकिन इनके साथ युद्ध करना हमें कैसे उचित होगा?।।८९।। इनके साथ जूझने की कल्पना भी मुझे असह्य है, मेरा मन, बुद्धि विचलित होने लगा है।।१९०।। यह देखो, मेरे सभी अंग में कंप और मुंह सूख रहा है तथा सारे अंग विकल हो रहे हैं।।९१।। सर्वांग रोमांचित हो गया है, मन को अति संताप हो रहा है तथा मेरा हाथ शिथिल पड़ गया है।।९२।। और मेरे हाथ से फिसलकर गांडिव कब गिर गया यह भी मुझे ज्ञात नहीं है।।९३।। जो मेरा हृदय वज्र से भी कठोर एवं निष्ठुर था वह संबंधियों के असामान्य स्नेह से इतना मोहित हुआ है वह बड़ा ही आश्चर्य है।।९४।। जिसने युद्ध में महादेवजी को हराया, निवात-कवच राक्षसों का नामोनिशान मिटाया उस अर्जुन को एक पल में महामोह ने घेर लिया।।९५।। ठीक वैसे ही जैसे भ्रमर कठिन से कठिन काष्ठ को छेदता है किंतु कोमल कमल कलिका में बंदी हो जाता है।।९६।। तब वह अपना प्राण त्याग देता है किंतु कमल दल का छेदन नहीं करता, वैसे यह आप्तजनों के स्नेह की कोमलता बड़ी कठिन है।।९७।। संजय कहते हैं, राजा धृतराष्ट्र! यह मोह परमेश्वर की माया है। यह ब्रम्हदेव के भी नियंत्रण में नहीं आती, इसीलिये उसने अर्जुन को भ्रमित कर दिया।।९८।। सुनो! राजा, अपने आप्त जनों को देखकर अर्जुन का युद्ध विजयी होने का सब अभिमान नष्ट हो गया।।९९।। न जाने कैसी दया उसके मन में उमड़ आई और तब मन करुणा से भर गया वह त्वरित कृष्ण को कहने लगा, "अब यहां रहना युक्त नहीं है"।।२००।। इन सब को मारने का विचार मन में आते ही मेरा कोमल चित्त अति व्याकुल हुआ है और मेरे मुंह से शब्द भी नहीं निकल रहा है।।१।।

और हे केशव! लक्षणों को भी विपरित ही देखता हूं। तथा युद्ध में अपने कुल को मारकर कल्याण भी नहीं देखता।।३१।।

यदि भाई होने पर इन कौरवों को मारूं तो क्यों न युधिष्ठिर को मारूं? ये दोनों तो मेरे अपने ही गोत्रज हैं।।२।। जले युद्ध! तो महापाप है। मेरा सुविचारी मन इस निषिद्ध कार्य के लिये कदापि तैयार नहीं है।।३।।

और हे कृष्ण ! मैं विजय को नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता, हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है?।।३२।।

क्योंकि हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादिक इच्छित हैं वे ही यह सब धन और जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं।।३३।।

जो कि गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी संबंधी लोग हैं।।३४।।

इस प्रकार निंद्य प्रकार से प्राप्त विजय मुझे नहीं चाहिये। न मुझे राज्य की आकांक्षा है, न ऐसे भोग भोगने की कामना है।।४।। मैं राज्यभोग त्यागने एवं

Funding by IKS-MoE

लिये।।५।। किन्तु इनका कर के घात। स्वयं राज्यभोग लेत। स्वप्न में भी विचार न आत। कदापि मन में।।६।। किसलिये जन्म लेना। जो श्रेष्ठों का अहित चिन्तना। किन के लिये जीना। प्रतिकूल होकर।।७।। पुत्रेच्छा करत कुल। क्या उसका यही फल। जो मारिये केवल। गोत्रज अपने।।८।। यह मन में कैसे धरिजे। कैसे वज्र जैसे होईजे। उनकी तो सेवा कीजे। यही धर्म।।९।। जो जो प्राप्त कीजिये। वह समस्त इन्हें दीजिये। यह जीवन भी अर्पिये। उनके काज।।२१०।। हम दिगंत के भूपाल। पराजित करके सकल। संतुष्ट अपना कुल। करना योग्य।।११।। परंतु ये समस्त। कैसे कर्म विपरीत। जो हुये यहां उद्यत।।१२।। अंतःपुर के स्त्री पुत्र। त्याग के विविध भंडार। शस्त्राग्रपे जिव्हार (हृदय)। रखत ये।।१३।। इनको कैसे मारूं? कैसा शस्त्राघात करूं। निज आप्तेष्ट (हृदय) संहारू? कैसे उचित।।१४।। न जानत तुम ये कौन? इस पार भीष्म द्रोण। जिनके उपकार असाधारण। हम पर बहुत।।१५।। यहां शालक श्वसुर मातुल। और बंधुवर्ण सकल। पुत्र पौत्र केवल। आप्तजन।।१६।। सुनो ये अत्यंत निकट। सकल हमारे इष्ट। इनसे युद्ध की बात अनिष्ट। महापाप।।१७।।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन। अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

यदि ये करत विपरीत। हम को यहां मारत। तथापि इनका घात। मन में न चिंतू मैं।।१८।। त्रिलोक का निष्कलंकित। राज्य यदि होवे प्राप्त। तथापि यह अनुचित। न करूंगा मैं।।१९।। ऐसा यदि कर्म बिकट। करके कौन सम्मान देत। कैसे मुख देखत। कृष्ण आपका।।२२०।।

निहत्य धार्त्राष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन। पाप मेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।।३६।।

जो करे आत्मघात। महादोष वह पावत। प्राप्त तुम दूर होत। निःसंशय।।२१।। कुलहरण महापातक। हम को जड़त अशेख। तब आपका श्रीमुख। कैसे देखे?।।२२।। जैसे उद्यान में अनल। संचरत देख के प्रबल। तब क्षण एक भी कोकिल। स्थिर न रहे।।२३।। अथवा सकर्दम सरोवर। अवलोककर चकोर। न सेवत अव्हेर। करत जात।।२४।। वैसे हे देवदेवेश!। होते मेरा पुण्य नाश। फसत जहां मायापाश। बिछड़त आप।।२५।।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्। स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

अतः यह निंद्य कृत्य। न करूं मैं दोषमुक्त। इस संग्राम में शस्त्र। न धरूं मैं।।२६।। होगा तेरा अंतराय। तुम बिन दुख असह्य। इससे मेरा हृदय। विदीर्ण होत।।२७।। इसलिये कौरव मारिये। तब राज्य उपभोगिये। यह असंभव जानिये। अर्जुन कहे।।२८।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः। कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्। कुलक्षयकृत दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३९।।

कठिन से कठिन दुख सहने के लिये तैयार हूं।।५।। किंतु इसका वध करके स्वयं राज्यभोग भोगना यह विचार तो स्वप्न में भी नहीं आ सकता है।।६।। यदि गुरुजनों का अहित चिंतन करना है, तो जन्म ही किस लिये? इनके विरुद्ध जाकर हमें किस लिये जीना है?।।७।। कुल में पुत्र प्राप्ति की इच्छा करते हैं, क्या इसका यही फल है कि, पुत्र अपने गोत्रज का ही वध करें।।८।। इनके विषय में अपना मन वज्र सा कठोर करें यह कैसे संभव है? इनकी तो सेवा करना ही हमारा धर्म है।।९।। जो-जो हम प्राप्त करते हैं, वह सब इनको देना हमारा कर्तव्य है। अपना जीवन भी हमने इनके लिये अर्पण कर देना चाहिये।।२१०।। हमको तो देश विदेश के राजाओं को पराजित करके अपने कुल को संतोष देना चाहिये।।११।। कैसी विपरित कर्म की गति है जो ये सब यहां हम से युद्ध करने के लिये तत्पर हुए हैं।।१२।। स्त्री, पुत्र, धन सबका त्याग करके ये शस्त्रों की नोक पर अपना प्राण रख रहे हैं।।१३।। इनको कैसे मारूं? इनपर शस्त्र का वार कैसे करूं? अपने आत्मजनों का घात अपने ही हाथ से करूं? यह कैसे उचित है?।।१४।। प्रभु, क्या आप जानते नहीं ये कौन हैं? वे देखो दूसरी ओर भीष्म और द्रोण खड़े हैं। इनके हम पर असंख्य असाधारण उपकार हैं।।१५।। यहां हमारे बहनोई, श्वसुर, मातुल, पुत्र, पौत्र इत्यादि सब संबंधी उपस्थित हैं।।१६।। सुनो कृष्ण! ये हमारे अत्यंत निकट के संबंधी हैं। इनसे युद्ध करना महापाप है।।१७।।

इसलिये हे मधुसूदन! मुझे मारनेपर भी अथवा तीन लोक के राज्य के लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिये तो कहना ही क्या है।।३५।।

ये कुछ अनुचित करते हुये हमको मारते हैं, तब भी इनके मारने का विचार मन में भी नहीं करना चाहिये।।१८।। त्रिभुवन का निष्कलंक राज्य भी अगर मुझे प्राप्त हो तब भी यह अनुचित कर्म मैं नहीं करूंगा।।१९।। ऐसा कुकर्म करने से कौन हमें सम्मान देगा? और फिर हम आपके सम्मुख कैसे खड़े हो सकेंगे?।।२२०।।

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।।३६।।

इससे हे माधव! अपने बान्धव धृहराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिये हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे।।३७।।

जो आत्मीय जनों को मारता है वह महादोषी होता है। और अनायास पाये हुये आप इस दोष से दूर हो जायेंगे।।२१।। कुल का संहार यह महापाप है, उसके भागी हम हो जायेंगे, फिर आप का श्रीमुख कैसे देख सकेंगे?।।२२।। जैसे उपवन में भयंकर आग लगने पर कोकिल क्षणभर भी वहां नहीं ठहरती।।२३।। अथवा सरोवर कीचड़ से भरा देखकर चकोर पक्षी उसका तिरस्कार करके दूर चला जाता है।।२४।। वैसे ही देवेश! मेरे पुण्यफल का नाश होगा। और माया के बंधन में फसते ही आप मुझसे बिछुड़ जायेंगे।।२५।।

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए लोग कुल के नाशकृत दोष को और मित्रों के साथ विरोध करने में पाप को नहीं देखते हैं।।३८।।

इसलिये यह अनुचित एवं निंदनीय कर्म करने के लिए इस युद्ध में मैं शस्त्र धारण नहीं करूंगा।।२६।। हे कृष्ण! इससे तेरा वियोग होगा। तुम्हारे बिना तो असह्य दुख प्राप्त होंगे, उससे मेरा हृदय विदीर्ण होगा।।२७।। इसीलिये इन कौरवों को मारने के पश्चात भी राज्यसुख का उपभोग कर पाना यह असंभवनीय बात है।।२८।।

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुये ये लोग कुल के नाशकृत दोषों को और मित्रों के साथ विरोध करने में पाप नहीं देखते हैं, परंतु हे जनार्दन! कुल के नाश करने से होते हुये दोष को जाननेवाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये?।।३९।।

Funding by IKS-MoE

ये अभिमान-मद से उन्मत्त। यद्यपि युद्धार्थ उद्यत। तथापि हमको अपना हित। देखना युक्त।।२९।। ये विपरित कैसे कीजिये। जो आप्त स्वकीय मारिये। जानबूझ के सेविये। कालकूट।।२३०।। यदि मार्ग में चलत चलत। सिंह सामने आवे अकस्मात। तब टालनाहि उसे युक्त। लाभकारी।।३१।। अथवा छोड़ के प्रकाश। अंधकूप में करत प्रवेश। क्या लाभ हे देवेश!। पावत वहां?।।३२।। या सामने अग्नि प्रदीप्त देखकर दूर न हटत। तब क्षण में भस्म करत। सहज भाव से।।३३।। वैसे यह दोष मूर्त। अंग से उपजत निश्चित। स्वपक्ष के यहां प्रवृत्त। होगा किसलिये?।।३४।। उस समय मार्ग। कहे, देव सुनो समर्थ। इस कल्मश का अर्थ। बतलाऊं मैं।।३५।।

कुलक्षये प्रणश्यन्तिं कुलधर्माः सनातनाः। धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

जैसे काष्ठ से काष्ठ मथत। वहाँ वन्हि उपजत। काष्ठजात पूर्ण जलत। प्रदीप्त होके।।३६।। तैसा गोत्रज का परस्पर। मत्सर से वध साचार। तब महादोष घोर। कुल को नाशत।।३७।। अतः कुलक्षय से इस। कुलधर्म पावत नाश। अधर्म का होत प्रवेश। कुल के बीच।।३८।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।४१।।

जहां सासारासार विचार। योग्यायोग्य आचार। विधिनिषेध साकार। नष्ट होत।।३९।। जलता दीप बुझाइये। फिर अंधकार में भटकिये। सरल मार्ग से लटपटिये। वैसा व्यवहार यह।।२४०।। कुल में कुलक्षय होत। तब आद्यधर्म विलोपत। फिर क्या और बचत। पाप बिन।।४१।। जब यम नियम लुप्त होत। इंद्रिया स्वैर भटकत। इसलिये व्यभिचार घटत। कुल स्त्रियों से।।४२।। उत्तम अधम संचार। होत परस्पर वर्णसंकर। जातिधर्म सदाचार। नष्ट समूल।।४३।। चौगड्डे पर बलि रखत। चौ बाजू से काक झड़पत। वैसे महापातक संचरत। कुल में ऐसे।।४४।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

तब कुल अशेख। तथा सब कुल घातक। दोनों पावत घोर नरक। इस पाप से।।४५।। देखो वंशवृद्धि समस्त। इस प्रकार होत दूषित। पूर्व पुरुष स्वर्गस्थ। पावत पतन।।४६।। जहां नित्यादि क्रिया रुकत। नैमित्तिक बंद होत। कौन किसको देत। तिलोदक वहां।।४७।। जैसी नखाग्र को व्याल डसत त्वरित शिखांत पहुंचत। आप्तवध से आब्रह्मकुल समस्त। आप्लावित।।४८।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन। नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्। यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

ये कौरव अभिमान मद से उन्मत्त होकर युद्ध के लिये तत्पर हैं। तथापि हमको अपना हित देखना उपयुक्त होगा।।२९।। ऐसी विपरीत बात कैसी की जाए? अपने आत्मीयजनों को स्वयं मारना ही कालकूट विष का सेवन करना है।।२३०।। यदि मार्ग में चलते-चलते सिंह सामने आता है तो उसको टालना ही युक्त और लाभकारी है।।३१।। प्रकाशयुक्त स्थान को छोड़कर अंधेरी कोठरी में प्रवेश करने से, हे देवेश! हमें क्या लाभ होगा?।।३२।। प्रदीप्त अग्नि को देखकर जो दूर नहीं हटते उनको वह अपने स्वाभाविक धर्म से एक क्षण में भस्म कर देता है।।३३।। वैसे ही यह हमारे द्वारा साक्षात दोषपूर्ण कार्य होने जा रहा है, यह जानकर भी इसमें प्रवृत्त कैसे हो?।।३४।। उस समय अर्जुन कहने लगे "हे कृष्ण इस भयंकर पाप से जो अनर्थ होगा वह मैं आपको बतलाता हूं।।३५।।

क्योंकि कुल के नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नाश होने से संपूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है।।४०।।

जैसे लकड़ी से लकड़ी पर घर्षण करने से अग्नि उत्पन्न होती है और प्रदीप्त होने पर सभी लकड़ियों को भस्म करती है।।३६।। वैसे एकही वंश में उत्पन्न होकर एक दूसरे का ईर्षा से वध करने के महादोष से संपूर्ण कुल का नाश होता है।।३७।। इस कुल क्षय से कुलधर्म का नाश होगा तथा उस कुल में अधर्म का प्रवेश होगा।।३८।।

तथा हे कृष्ण! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं। और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है।।४१।।

यहां सारासार विचार, योग्य अयोग्य आचार तथा कर्तव्य अकर्तव्य का विधिनिषेध नष्ट होता है।।३९।। जैसे जलता हुआ दीप बुझाकर अंधेरे में चलते समय सीधे रास्ते पर भी आदमी लड़खड़ाता है, वैसे ही यह मुझे प्रतीत होता है।।२४०।। जब कुल का क्षय होता है, फिर वहां पाप के सिवा और क्या बचेगा।।४१।। यम और नियम नष्ट होते हैं तथा इंद्रियां स्वैरवर्तन करने लगती हैं, इसीलिये कुलस्त्रियों में पापाचरण बढ़ जाता है।।४२।। उत्तम जाति की स्त्रियों की अधम जाति के पुरुषों से संगति होगी। इसप्रकार वर्णसंकर होगा तथा जाती धर्म तथा सदाचार समूल नष्ट होगा।।४३।। जैसे चौगड्डे पर रखी हुई बलि पर कौए चारों ओर से टूट पड़ते हैं, वैसे ही ऐसे कुल में महापातक का संचार होता है।।४४।।

और वह वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिये ही होता है। लोप हुई पिंड और जल की क्रियावाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं।।४२।।

तब वह संपूर्णकुल तथा उस कुल का घात करनेवाले दोनों को घोर नरक-प्राप्त होता है।।४५।। इसप्रकार उस वंश की वृद्धि में रुकावट उत्पन्न होकर कुल के स्वर्गस्थ पूर्वजों का अधः पतन होता है।।४६।। जिस कुल में नित्य नैमित्तिक कर्म नहीं होता, उस कुल में कौन किस को तिलोदक देगा?।।४७।। देखो नखाग्र में सर्प के काटते ही उसका विष मष्तक तक तेजी से पहुंचता है, वैसे आप्तघात से उत्पन्न पाप में संपूर्ण कुल नष्ट हो जाता है।।४८।।

और इन वर्णसंकर कारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।।४३।।

तथा हे जनार्दन! नष्ट हुये कुल धर्म वाले मनुष्यों का अनंतकाल तक नरक में वास होता है ऐसा हमने सुना है।।४४।।

अहो! शोक है कि हम लोग बुद्धिमान होकर भी महान पाप करने को तैयार हुये हैं जोकि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिये उद्यत हुये हैं।।४५।।

देव सुनो और एक।यहां घटत महापातक। संगदोष से यह लौकिक। नष्ट
होत।।४९।। दुर्भाग्य से आग लगत। तब अपना घर जलत। प्रज्वलित भस्म करत।
अन्य गृह भी।।२५०।। वैसे उस कुल की संगत। जो-जो लोग पावत। उनको विघ्न
बाधत। इस निमित्त।।५१।। नाना दोष सकल। अर्जुन कहे वह कुल। तब महाघोर
केवल। निरय भोगत।।५२।। पावत यह नरक घोर। कल्पान्त न होत उद्धार। ऐसा
अधःपात भयंकर। कुलक्षय से।।५३।। देव, सुनकर अर्थ नाना। न उपजत मन में
घृणा। हृदय वज्र सा करना। युक्त न होत।।५४।। जिसके लिये अपेक्षिजे राज्य सुख।
वह देह तो क्षणिक। जानकर कुलक्षय अविवेक। त्याज्य सर्वथा।।५५।। जो ये श्रेष्ठ
पूज्य। हमने देखा माना वध्य। यह पाप बड़ा अक्षम्य। हुआ हमसे।।५६।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः। धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

अब इसके आगे जीना। उससे अच्छा शस्त्र त्यागना। इनके बाण सहना। अधिक
उत्तम।।५७।। यदि आवे मरण। वह भी श्रेयस्कर जान। किंतु यह दारुण। पाप न
कर्तव्य।।५८।। ऐसे देख के सकल। अर्जुन ने, अपना कुल। कहे, यह राज्य केवल।
निरय भोग।।५९।।

संजय उवाच-

एकमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४७।।

ऐसे उस अवसर में। अर्जुन कहे समर में। सुनो राजा धृतराष्ट्र मैं। संजय कहत
हूं।।२६०।। तब उदास अत्यंत। अनिवार विकल होत। रथ नीचे उतरत पार्थ।
अति व्यथित।।६१।। जैसा राजकुंवर पदच्युत। सर्वथा होत उपहृत। कि रवि
राहुग्रस्त। प्रभाहीन।।६२।। जैसे महासिद्धी संभ्रम। तपस्वी को होत भ्रम। तब
उफनत काम। दीन होत।।६३।। वैसा वह धनुर्धर। अत्यंत दुःखजर्जर। दिखत जहां
रहंवर। छोड़ा उसने।।६४।। धनुष-बाण त्यागत। न रोकत। अश्रुपात। सुन नृप
क्या वर्तत। संजय कहे।।६५।। अब श्री वैकुंठनाथ। देख के सखेद पार्थ। इसविध
करत परमार्थ। निरूपण।।६६।। वह सविस्तार आगे कथा। सुनिये सकौतुक
सर्वथा। श्री ज्ञानदेव रचयिता। निवृत्तिदास।।२६७।।

इति श्री ज्ञानदेव विरचितायां भावार्थ दीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दी अनुवादे
श्रीमद्भगवद्गीता सूपानेषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे
अर्जुन विषाद योगो नाम प्रथमोऽध्यायः श्लोक ४७ ओवियां २६७

• • •

Funding by IKS-MoE

हे कृष्ण! यहां और भी महापातक पैदा होता है, जिस दोष से लौकिक आचार नष्ट होते हैं।।४९।। दुर्भाग्य से घर में आग लगने से, प्रदीप्त अग्नि अन्य घरों को भी भस्म करती है।।२५०।। उसी प्रकार ऐसे दूषित कुल के संपर्क से दूसरे लोगों को भी विघ्नबाधा होती है।।५१।। अर्जुन कहते हैं, देव वह कुल नाना दोषों के कारण घोर नरक यातना भोगता है।।५२।। इस नरक से कल्पांत तक भी उनका उद्धार नहीं होता, इतना अधःपतन उस कुलक्षय से होता है।।५३।। हे देव! यह सब अपने कान से सुनने के बाद भी उसके प्रति अपने मन में घृणा उत्पन्न नहीं होती? उलटे इस निंद्य कर्म को करने के लिये अपने हृदय को वज्र के समान बनाना सर्वथा अयुक्त है।।५४।। जिसलिए राज्यसुख की कामना करना वह शरीर तो क्षणिक है। कुलक्षय अविचार है, यह जानकर उसको त्याज्य समझना चाहिये।।५५।। ये सब श्रेष्ठ और पूज्य आत्मीयजन यहां है, उनको हमने वध करने योग्य माना यह हम से अक्षम्य पाप हुआ है।।५६।।

यदि मुझे शस्त्र रहित न सामना करनेवाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें तो वह मारना भी मेरे लिये अति कल्याणक कारक होगा।।४६।।

अब जीवित रहने से तो, शस्त्र त्याग कर इसके बाणों से बिध जाना अधिक अच्छा है।।५७।। यदि मृत्यु भी आती है तो भी यह श्रेयस्कर है किंतु यह दारुण कर्म कभी भी करणीय नहीं है।।५८।। यह सब अपना कुल देखकर अर्जुन कहता है, "कि यह राज्य केवल नरक भोग मात्र ही है।।५९।।

संजय उवाच–

संजय बोला कि रणभूमि में शोक से उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।।४७।।

हे राजा धृतराष्ट्र! मैं संजय आपसे कहता हूं कि, उस समय अर्जुन ने युद्ध में यह बात कही।।२६०।। तब वह (अर्जुन) अत्यंत उदास होता हुआ, असाधारण विकलता का अनुभव करते हुये अत्यंत दुखी होकर रथ के नीचे उतर पड़ा।।६१।। जैसे कोई राजकुमार अपने पद से भ्रष्ट होकर सर्वथा समाप्त हो जाता है अथवा जैसे सूर्य राहू से ग्रस्त होने पर प्रकाशहीन हो जाता है।।६२।। जैसे महा सिद्धिओं के माया से तपस्वी के मन में भ्रम उत्पन्न होता है उससे काम वर्धित होकर वह अत्यंत दीन हो जाता है।।६३।। वैसे ही वह कुशल धनुर्धर था किंतु दुख से अत्यंत जर्जर होने के कारण उसने अपने श्रेष्ठ रथ को छोड़ दिया।।६४।। उसने धनुषबाण को त्याग दिया। अश्रुपात न रोक सका। संजय कहता है, "राजा सुनो! आगे क्या होता है।।६५।। श्री वैकुंठनाथ कृष्ण अर्जुन को देखकर उसको किस प्रकार परम ज्ञान का निरूपण करते हैं।।६६।। श्री निवृत्तिनाथ के दास· ज्ञानदेव द्वारा रचित अत्यंत कौतुकभरी यह कथा का विस्तृत विवरण अब आगे सुनो।।२६७।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

● ● ●

अध्याय-दूसरा

सारांश

मोक्षदानी स्वतंत्र। ज्ञानप्रधान यह शास्त्र। इस प्रकार दूजे में सूत्र। डाला पार्थ।।१८-१४३६।।

श्री ज्ञानेश्वरजी के मतानुसार यद्यपि श्री गीताजी में कर्म, उपासना और ज्ञान इन मार्गत्रयी की चर्चा की गयी है, तथापि गीताशास्त्र यह मुख्यतः ज्ञानप्रधान है। जीव के अपेक्षित मोक्षप्राप्ति के लिये वह स्वतंत्र शास्त्र है। इस अध्याय में सांख्य शास्त्र का अभिप्राय कथन कर के बुद्धियोग का भी विवेचन श्रीकृष्ण चंद्रजी ने संक्षेपतः किया है। इसीका अनुवाद श्री ज्ञानेश्वरजी ने कैसा किया है। सो अब देखिये।

रणक्षेत्र में अपने सम्मुख। स्थित आप्त समुदाय को। देखकर अर्जुन शोकग्रस्त और करुणार्द्रचित्त हो गया। पंक मग्न राजहंस की तरह उसकी स्थिति देखकर उसे इस महामोह से मुक्त करने के लिये श्रीकृष्ण ने उपदेश करने का प्रारंभ इस अध्याय में किया है। (१-५) प्रथमतः अर्जुन को उसके शौर्य, सामर्थ्य, और पराक्रम इत्यादि गुणों का स्मरण देकर 'सांप्रति शस्त्र त्याग करना षंढत्व है। इससे तेरी प्रतिष्ठा नष्ट होगी और जिस इह परलोक की तू चिंता करता है, वह दोनों लोक तुझे नहीं मिलेंगे ऐसा बतलाया। (६-२७) इतना कहने पर भी अर्जुन भगवान को ही समझाने लगा। वह कहता है कि हे भगवन्! यह युद्ध नहीं, यह घोर पातक है। इष्ट, मित्र, समधी, पूज्य गुरुजन इनका वध मेरे हाथ से हो रहा है। अरे रे! यह पाप करने की अपेक्षा भिक्षावृत्ति का अवलंबन करना योग्य है। (८-४९) इस प्रकार का भाषण करके उसने भगवान की ओर देखा। उसने देखा कि श्रीकृष्ण को अपना कथन अच्छा नहीं लगा। तत्काल अर्जुन ने भगवत् शरणागत का स्वीकार किया और विनम्र भाव से प्रार्थना करने लगा कि मुझे मेरा हित समझता नहीं। इस अवस्था में योग्य और धर्म्य क्या है, यह मुझे बताओ। (४७-६३) भगवान तो प्रसन्न होने की राह देख ही रहे थे। श्री ज्ञानेवश्वरजी ने यहां ही बड़ा सुंदर रूपक सामने खड़ा किया है। अर्जुन को मोहरूप सर्प ने दंश किया है। उसको विषबाधा हो गई है। उस विष बाधित अर्जुन को बचाने के लिये, जिसके दृष्टिपात में विष नष्ट करने का सामर्थ्य है, ऐसे भगवानरूपी सपेरे दौड़ते हैं। (५८-६५) ज्ञानेश्वरी में यहां से आध्यात्मिक उपदेश प्रारंभ होता है। भगवान का कथन और औपचारिक था। किंतु जैसे सद्वैद्य असाध्य रोग जानकर विचारपूर्वक निदान करता है और दिव्यौषधि की योजना करता है वैसे ही अर्जुन के 'मैं युद्ध नहीं करूंगा, मैं पाप का भागी होऊंगा'' इस कथन पर विचार करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश किया है। (६५-९५) प्रथमतः अर्जुन के नेत्रों पर छाया हुआ अज्ञान का अंधकार नष्ट करने के लिये श्रीकृष्ण कहते हैं 'इस जगत् का चालक सर्वशक्तिमान् समर्थ ईश्वर है। उसके संकल्पानुसार सृष्टि का उत्पत्ति विनाशक्रम निरन्तर चलता आ रहा है। तूं क्यों अहंता ले रहा है?। (९६-१२४) तूं भ्रांतिवश इंद्रिय और देह पर दृष्टि देकर खड़ा है। अतएव तुझे जन्म-मृत्यु दिख रहे हैं। किंतु देहेन्द्रियातीत व्यक्ति को केवल आत्मा दिखता है। यह सत्य है कि देहादि उपाधि और चैतन्य इनका मिलाप हुआ है। उनको अलग-अलग करना कष्ट साध्य है। परंतु सदसद्विवेक का आश्रय लेकर संत उपाधि नष्ट करके शाश्वत सर्वव्यापी जनम-मरण रहित चैतन्य का बोध करा देते हैं। किसी भी शस्त्र से सर्वान्तरयामी चैतन्य का घात अशक्य है। शस्त्र से शरीर का नाश होता है। शरीर का नाश अटल है। वस्त्र जीर्ण होते ही मानव नूतन वस्त्र परिधान करता है, तथैव देहोत्पत्ति होती है और देह नष्ट भी होता है। जैसे आकाश में मेघ आते हैं और जाते हैं। इसप्रकार सृष्टिक्रम माया से दृग्गोचर होता है। अतएव, आत्मा अमर है इस दृष्टि से किया, तो भी तुझे युद्ध करना ही श्रेयस्कर है। (१२५-१४५)

इस प्रकार अविनाशी आत्मा और नाशवंत किंतु पुनर्जन्म लेने वाला देह इनका विचार करके आगे, जिस धर्म को अर्जुन को चिंता लगी थी उस धर्म का विचार किया है। युद्ध ही क्षत्रियोचित धर्म है। गोरस कितना ही पथ्यकर हो किंतु नवज्वरग्रस्त को मारक ही होता है। उसीप्रकार दया, करुणादि ब्राह्मणोचित गुण क्षत्रियों को युद्ध के समय अंगीकृत करना नाश का कारण है। बहुजन्म समर्जित पुण्योदय से क्षत्रियों को युद्ध प्रसंग आता है। इस सुअवसर का त्याग करके तू अपनी सुकीर्ति क्यों मलीन कर रहा है। ये विपक्षी कौरव तेरी बदनामी करेंगे। सारांशतः तेरे शस्त्र संन्यास से तेरी अपकीर्ति होगी और तू अधर्म का भागी बनेगा। इसके विपरीत यदि तू युद्ध करेगा, तो तेरा हित होगा। यदि जय मिलेगा तो राज्य मिलेगा और युद्ध में मृत्यु हुई तो स्वर्ग प्राप्ति होगी। जय हो या पराजय, तेरा कल्याण ही होगा। इसप्रकार समत्व बुद्धि रखकर तू धर्म्य युद्ध को प्रवृत्त हो जा। जो प्राप्त होगा उसको सहन करना ही श्रेयस्कर ही इससे तू पापभागी नहीं बनेगा। (१४६-१९६)

इसप्रकार संक्षेप में सांख्यस्थिति कथन करके, आगे वज्रवत्, अभेद्य, रक्षक, निष्काम कर्मयोग मैं तुझे बतलाऊंगा, ऐसा कहकर श्रीकृष्ण कर्मयोग की चर्चा प्रारंभ करते हैं। जिस बुद्धि को एकमात्र ईश्वर का आधार है, उस अनासक्त बुद्धि से स्वधर्माचरण करने का कौशल्य प्राप्त हुआ तो प्रपंचोपाधि में रहते हुए भी वह उपाधि मनुष्य को बाधा नहीं करती। ईश्वर का त्याग करके ईश्वर सुख की अपेक्षा करनेवाले दुर्बुद्धि लोगों का संग करना छोड़ दे। वेदों में अधिकारानुसार तुझसा अनेक साधनों का विवेचन है। तेरे लिए निष्काम कर्म करना ही सर्वथैव योग्य है। ईश्वरार्पण बुद्धि से किया हुआ कर्म यदि अपूर्ण रह गया तो भी वह ईश्वर चरणों में प्रविष्ट होता है, अतएव परिपूर्ण है। इस बुद्धि से कर्म करना ही योग का सार है। देहेन्द्रिय पर तेरी बुद्धि स्थित है, परिणामतः वह मोहग्रस्त है। जब यह बुद्धि शुद्ध होगी तब तुझे साक्षात समाधि का अनुभव आयेगा। (१९७-२७५) समाधिसुख का अद्भुत वर्णन सुनते ही अर्जुन ने उत्सुकता से पूछा इस प्रकार की समाधि अनुभूति किसको प्राप्त हुई? उनकी स्थिति और आचरण आप मुझे कहिये। ऐसी विनती अर्जुन ने भगवान को की। भगवान ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहना प्रारंभ किया। (२७६) पंचोपाधि का त्याग करके अंतर्यामी आनंद से जो तृप्त है, कामना रहित है, दुःख के प्रसंग से जो उद्विग्न नहीं होता, अपने आनंद का प्रकाश कौमुदीवत सबको समभाव से देता है, इंद्रियों का स्वामी है, इस प्रकार के ईश्वर को हृदय में स्थित करके विषयों को तुच्छ मानता है। (२७७-३०३) जिसके इंद्रिय स्वाधीन नहीं, उसको सुख लेश की भी प्राप्ति अशक्य है। पूर्णप्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होने वालों को इंद्रिय निग्रह की महती आवश्यकता है। विषय स्मृति संपूर्ण नाश का बीज है। किंतु स्थितप्रज्ञ सदा जागृत रहते हैं। अनंत सुख सागर में भजन करने के कारण वे ऋद्धि-सिद्धि ऐश्वर्य को तुच्छ मानते हैं। इसप्रकार के परमानंद से पुष्ट पुरुष जगद्रूप बनकर जगत में रहते हैं। इस बोध से परिपूर्ण होने के कारण मृत्यु के ऐसे पुरुष आनंद से देह विसर्जन करते हैं। (३०३-३५१) भगवदुपदेश सुनकर अर्जुन हर्षित हुआ। भगवान ने अपने मन की बात बतलायी ऐसा उसे लगा। यह अपना विचार अगले अध्याय में अर्जुन श्रीकृष्ण क. कथन करेगा। (३५१-३६०)

● ● ●

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - दूसरा

संजय उवाच –

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

तब संजय कहे नृप को। सुनो, देखो पार्थ को। अति विकल शोकाकुल को। रुदन करत।।१।। वहां कुल देख कर समस्त। स्नेह उपजत अद्भुत। उससे द्रवित होत चित्त। कैसे देखे।।२।। जैसे लवण जल में घुलत। या वायु से अभ्र छटत। वैसे सधीर किंतु द्रवत। हृदयांतर में।।३।। अतः ममता से आकुल। दिखत अति व्याकुल। कर्दम में रूपत विकल। राजहंस जैसा।।४।। इस विध वह पंडुकुँवर मोह से अति जर्जर। देख के श्री शारर्ङ्गधर। क्या कहत।।५।।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।२।।

अच्युत कहे पार्थ। क्या यह यहां सार्थ? तुम कौन? क्या यथार्थ कार्य तेरा।।६।। यह क्या हुआ तुमको?। क्या न्यून है मन को?। जो धरत हो खेद को। इस समय।।७।। तू अनुचित कभी न करत। धीर कभी न छोड़त। तेरे नाम से कांपत। अपयश स्वयं।।८।। तुम निधि वीरता का। मुकुटमणि क्षत्रियों का। तेरे शौर्य का डंका त्रिभुवन में।।९।। तुमने युद्ध में हर हराया। निवात कवच का नाम मिटाया। गंधर्व से सामना किया। दिखाया शौर्य अद्भुत।।१०।। तुम्हारा यश अतुलित। त्रैलोक्य न्यून भासत। ऐसा महान पुरुषार्थ। पार्थ तेरा।।११।। सो तुम आज धैर्य को। छोड़ के वीरवृत्ती को। अधोमुख रुदन को। करत यहां?।।१२।। हे विचारवंत अर्जुन!। करुणा से क्यों होत दीन? क्या अंधःकार से भानु। ग्रसित होत?।।१३।। क्या मेघ से डरत पवन? या अमृत को प्राप्त होत मरण? पावक को भक्षत ईंधन?।

BVRSSMV

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - दूसरा

960

संजय उवाचः-

संजय बोला कि पूर्वोक्त प्रकार से करुणा करके व्याप्त और आंसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन ने यह वचन कहा॥१॥

तब संजय राजा धृतराष्ट्र से कहता है कि आप सुनें॥१॥ देखिये पार्थ अत्यंत व्याकुल शोकाकुल होकर रुदन कर रहा है। वहां पर संपूर्ण वंश को देखकर मन में अद्भुत स्नेह उत्पन्न हो रहा है। उससे चित्त कैसे द्रवित होता है इसे देखिये॥२॥ जैसे पानी में नमक घुल जाता है, जैसे तेज वायु से बादल घट जाते हैं वैसे ही धैर्ययुक्त होने पर भी अंतःकरण द्रवित हो रहा है॥३॥ इसलिये ममता से आकुल वह (अर्जुन) कीचड़ में फंसे हुए व्याकुल राजहंस के समान दिखाई दे रहा है॥४॥ इस प्रकार उस पाअडु कुमार को मोह से अत्यंत जीर्ण-शीर्ण देख कर श्री शार्ङ्गधर क्या बोलते हैं, यह देखिये॥५॥

हे अर्जुन! तुमको इस विषम स्थल में यह अज्ञान किस हेतु से प्राप्त हुआ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों से आचरण किया गया है, न स्वर्ग को देनेवाला है, न कीर्ति को करनेवाला है॥२॥

श्रीकृष्ण ने कहा हे पार्थ! (जो कुछ तू कह और सुन रहा है) क्या वह यहां सार्थक है? तू कौन है? वास्तव में तेरा क्या कार्य है? (यह तो विचार कर)॥६॥ यह तुझको क्या हुआ, तेरे मन में इस समय क्या कमी है। जो तूअब खिन्न हो रहा है॥७॥ तू कभी अनुचित कार्य नहीं करता, धैर्य को तू कभी नहीं छोड़ता, और तेरे नाम से तो अपयश कांपता है॥८॥ तू वीरता की निधि है, क्षत्रियों का मुकुटमणि है, त्रिभुवन में तेरे शौर्य का डंका बज रहा है॥९॥ तुमने युद्ध में शिव को परास्त किया निवातकवच का नाम तक मिटा दिया गंधर्व का सामना किया ये तेरे सामने सामना यश गवां बैठे॥१०॥ हे पार्थ! तेरा यश अतुलित है उसके सामने त्रैलोक्य तुच्छ है। इस प्रकार का तेरा महान पुरुषार्थ है॥११॥ तुम आज धैर्य और वीरवृत्ति को छोड़कर यहां मुख नीचे करके रो रहे हो॥१२॥ अरे विचारवान अर्जुन तू इस मोह और करुणा से इतना दीन क्यों हो रहा है? क्या कभी अंधकार के द्वारा सूर्य आत्मसात् किया जा सकता है॥१३॥ इस संसार में मेघ से वायु कभी डरती है? क्या अमृत की मृत्यु भी हो सकती है?। क्या लकड़ी अग्नि को कभी

जगत में।।१४।। कि लवण से जल द्रवत? संसर्ग से कालकूट मरत? या महाफणी को निगलत दर्दुर कभी।।१५।। जंबुक चढ़त गजराज। वैसा अघटित काज। वह आश्चर्य तुम आज। दिखावत सबको।।१६।। इसलिये हे अर्जुन!। मोह को न देना स्थान। त्वरित करके सधीर मन। सावधान।।१७।। छोड़ दे यह मूर्खता। धारण कर धनुष्य-भाता। कैसी अनाठाँय सदयता। युद्ध प्रसंग में।।१८।। तुम तो ज्ञाता अर्जुन। करो विचार हे सुजान। संग्राम में यह कारुण्य। उचित कोई?।।१९।। यह तो कीर्ति का नाश। पारलौकिक अपभ्रंश। कहत जगन्निवास। अर्जुन को।।२०।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।३।।

अतः शोक न करना। पूर्ण धीरज धरना। इस खेद को छोड़ना। पंडुकुँवर।।२१।। तुमको न यह उचित। इससे प्राप्त यश नाशत। आगे अब अपना हित। सोचना युक्त।।२२।। यहां संग्राम का अवसर। यहां कारुण्य क्लैब्य घोर। क्या ये अभी सगे सहोदर। हुए तेरे?।।२३।। क्या ये पहिले नहीं ज्ञात? अपने गोत्रज नहीं परिचित? वृथा अतिशयोक्ति करत। दुःखी होत।।२४।। आज का यह युद्धकाज। क्या जन्म में अपूर्व अचरज? यह तो निरन्तर व्याज। परस्पर वैर का।।२५।। अब यदि आप्त मोह कीजे। प्राप्त प्रतिष्ठा गवाँइजे। इह पर दोनों खोइजे। एक साथ।।२६।। हृदय का यह दुर्बलपन। नहीं कल्याण का कारण। यह संग्राम में अंधःपतन। क्षत्रियों का।।२७।। ऐसा वह कृपावंत। नाना विध प्रबोधत। सुनकर सब पंडुसुत। क्या कहत?।।२८।।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन। इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अर्जुन कहत यह युद्ध। निश्चित सर्वथा प्रमाद। श्रेष्ठों से स्पष्ट भेद। होत हमसे।।२९।। देख माता-पितर अर्चिजे। सदा संतोष पाईजे। पश्चात उन्हीं को वधिजे। युक्त कैसे?।।३०।। संतवृन्द को नमन करिजे। उनको निरन्तर पूजिजे। किंतु उनको स्वयं निंदिजे। यह तो निंद्य।।३१।। ये गोत्र गुरु नित्य। मुझको सदा पूजनीय। भीष्म-द्रोण अति प्रिय। शिरसावंद्य।।३२।। स्वप्न में भी इनके साथ। सहत न शत्रुत्व की बात। तब प्रत्यक्ष इनका घात। करना योग्य?।।३३।। जल जाये यह जीवन!। धिग् मेरा विद्याध्ययन। क्या इनका संहरण। कुशलता मेरी?।।३४।। मैं तो द्रोण से दीक्षित। इन से धनुर्वेद मुझे विदित। कैसे करूं शिष्य उपकृत। घात उनका?।।३५।। जिनसे पाईजे कृपावर। उनसे करूं दुराचार। क्या मैं हूं भस्मासुर?। कहे अर्जुन।।३६।।

गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

समुद्र गंभीर कहत। किंतु वह भी क्षुब्ध होत। द्रोण मन में न उमजत। क्षोभ कभी।।३७।। यह अपार गगन। उसका भी होगा मान। किंतु अगाध गहन। हृदय

Funding by IKS-MoE

खा सकती है।।१४।। क्या कभी नमक से जल प्रस्त्रवित होता है?।।१५।। क्या किसी के संसर्ग से कालकूट विष की मृत्यु हो सकती है?। क्या महा भयंकर मणिधर सर्प को मेंढक खा सकता है?।।१५।। जैसे कोई शृगाल गजराज पर सवारी करे आज इस प्रकार अघटित आश्चर्य तुम सब लोगों को दिखा रहे हो।।१६।। इसलिये अर्जुन मोह को स्थान मत दो। अपने चित्त को सावधान करके शीघ्र ही धैर्य धारण करो।।१७।। यह मूर्खता छोड़, अपना धनुष तरकश संभाल इस युद्ध जैसे प्रसंग में यह अनवसर की दया (तुझ में कैसे) आ गई।।१८।। हे सुजान अर्जुन! तुम तो ज्ञाता हो तुम स्वयं विचार करो क्या युद्ध में यह करुणा उचित है?।।१९।। जगन्निवास श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं- यह तो कीर्ति का विनाश है और परलोक को भी भ्रष्ट करता है।।२०।।

इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे में योग्य नहीं है, हे परंतप! तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिये खड़ा हो।।३।।

हे पांडु कुमार इसलिये तुमको शोक नहीं करना चाहिये। इस खेद को छोड़कर धीरज धारण करना चाहिये।।२१।। तुम्हारे लिये यह उचित नहीं है इससे अब तक प्राप्त यश नष्ट हो जायेगा अब तो तुमको अभी अपने विषय में हित का विचार करना चाहिये।।२२।। यह संग्राम का अवसर है यहां तुमको घोर करुणा और कायरता घेरे हैं क्या ये सभी तेरे अभी-अभीसगे सहोदर हुए हैं।।२३।। क्या तुझे यह पहले मालूम नहीं था? क्या तू अपने वंशधरों से पूर्ण परिचित नहीं था?। तू व्यर्थ में अतिशयोक्ति कर रहा है, और दुखी हो रहा है।।२४।। आज तो यह युद्ध सामने आ गया है क्या तेरे जीवन में यह अपूर्व आश्चर्य के समान है? यह तो परस्पर वैर का निरन्तर प्राप्त होनेवाला परिणाम है।।२५।। अगर अब तुझे मोह व्याप्त होता है तो तू प्राप्त प्रतिष्ठा खो देगा तथा एक साथ इहलोक और परलोक खो बेठेगा।।२६।। हृदय की यह दुर्बलता कभी कल्याण का कारण नहीं बन सकती यह तो क्षत्रियों का संग्राम में अधःपतन ही माना जायेगा।।२७।। इस प्रकार कृपालु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को तरह-तरह से समझाया यह सुनकर पांडुपुत्र क्या कहता है वह (सुनिये)।।२८।।

तब अर्जुन बोला कि हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के प्रति किस प्रकार बाणों से युद्ध करूंगा, क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं।।४।।

अर्जुन बोला युद्ध तो निश्चित रूप से सर्वथा प्रमाद ही है इसका स्पष्ट कारण बड़ों से हमारा संघर्ष होगा।।२९।। जिन मातृ-पितृ की पूजा कर हम सदैव संतोष को प्राप्त करते हैं, उन्हें हम दुख दें, क्या यह उचित है?।।३०।। हे कृष्ण! जिन की सदा पूजा की, नमन किया ऐसे पूज्यनीय संतजनों की हम स्वयं कैसे निंदा करें। यह तो अपने आप में निंदनीय है।।३१।। ये मेरे वंशगुरु मुझे सदैव पूज्य रहे हैं अत्यंत प्रिय भीष्म और द्रोण तो मेरे लिये शिर से वंद्य हैं।।३२।। इनसे शत्रुता की बात तो मुझे स्वप्न में भी सहन नहीं होगी। तब क्या प्रत्यक्ष इनका वध करना उचित है?।।३३।। यह जीवन नष्ट हो जाय, मेरे विद्याअध्ययन को धिक्कार है क्या मेरी कुशलता इन्हीं के मारने में है।।३४।। मैंने गुरुवर्य द्रोण से दीक्षा ली है, धनुर्वेद से इन्हीं ने मुझे परिचित कराया मैं इनके उपकार से उपकृत इनका प्रिय शिष्य इनकी हत्या कैसे करूं?।।३५।। अर्जुन कहता है जिनसे कृपा और स्नेह निरंतर मुझे मिले और मैं उनके साथ दुराचरण करूं, क्या मैं भस्मासुर हूं?।।३६।।

इसलिए इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूं, क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा।।५।।

समुद्र को अत्यंत गंभीर कहा जाता है, किंतु वह भी क्षुब्ध होता है किंतु गुरु द्रोण के मन में कभी भी क्षोभ नहीं पैदा होता।।३७।। यह निस्सीम आकाश इसका स्वभाव है कि इसकी भी कोई सीमा हो किंतु

इनका।।३८।। कभी अमृत भी बिगड़त। कालवश वज्र भी फूटत। किंतु मनोधर्म न बदलत। आचार्य का।।३९।। स्नेह के लिये माता। माता से जग में सदयता। यह तो स्वयं सर्वथा। कृपामूर्ति।।४०।। यह कारुण्य का आदि। सकल गुणों का निधि। विद्या सिंधु निरवधि। अर्जुन कहे।।४१।। सर्व दृष्टि से यह श्रेष्ठ। हमारे लिये कृपावंत। बोलो, इन का घात। कीजे कैसा?।।४२।। इनको रण में मारना। स्वयं राज्यभोग भोगना। यह कदापि न चिंतना। प्राणांत में भी।।४३।। यह धर्म महाकठिन। यह राज्यभोग तो महान। किंतु इससे भिक्षायाचन। श्रेयस्कर हमें।।४४।। देव! नव निशित शर मारिये। इनके जिव्हार भेदिये। रक्त रंजित भोग भोगिये। मन को न भाए।।४५।। सुन यह कथन। देख अच्युत को अप्रसन्न। होकर मन में भयभीत। अर्जुन बोले।।४६।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो। यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

मेरे मन की बात। सोचकर कह दी स्पष्ट। परंतु क्या युक्तायुक्त। आप ही जानो।।४७।। जिनसे बैर की बात। सुनके प्राण त्यागना युक्त। वे यहां खड़े उद्युक्त। युद्ध काज से।।४८।। अब इनको मारना। या रण को त्यागना। इष्टानिष्ट कहना। न जानूं मैं।।४९।।

कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

हमको क्या उचित। सोचकर भी न सूझत। जो मोह से यह चित्त। व्याकुल मेरा।।५०।। जब तिमिरा वरुद्ध नेत्र। दृष्टि तेज क्षीण होत। निकट होकर न दिखत। वस्तुजात।।५१।। वैसे मेरा मन। भ्रांति से ग्रसित पूर्ण। न जानत कुछ ज्ञान। हिताहित।।५२।। अच्युत! आपकी विचारिये। उचित हमको कहिये। जो सखा सर्वस्व जानिये। आप हमको।।५३।। आप गुरु-बंधु पिता। आप हमारे इष्ट देवता। आप सदा रक्षणकर्ता। आपत् काल में।।५४।। जैसे शिष्य को गुरु। सर्वथा न करत अव्हेरु। या सरिता को सागरु। त्यजत कैसे?।।५५।। अथवा बालक छोटा। छोड़ दे यदि माता। जी न सकत सर्वथा। सुनो कृष्ण।।५६।। अतः हमको उचित। और जो धर्म सम्मत। शीघ्र कहो वह बात। पुरषोत्तम।।५७।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

ये सब गोत्रज देख। उपजत मन में शोक। वह न जाये बिना सीख। आप के प्रभु।।५८।। यदि सार्वभौम राज्य प्राप्त। इंद्रपद होत हस्तगत। मोह से मेरा मन विमुक्त। कदापि न होत।।५९।। दग्ध बीज लीजिये। सुक्षेत्र में बोइये। भूरि जल से सींचिये। न अंकुरत कभी।।६०।। जब आय नष्ट होत। औषधि सब जात व्यर्थ।

Funding by IKS-MoE

इनका हृदय तो अगाध और गंभीर है।।३८।। कभी अमृत भी परिवर्तित हो सकता है?। कालवश कभी वज्र भी छिन्न-भिन्न हो सकता है! किंतु आचार्य के मन का स्वभाव कभी नहीं बदलता।।३९।। स्नेह के लिये मां का स्वभाव होता है क्योंकि संसार में ममता उसी से सिद्ध होती है किंतु हमारे यह आचार्य तो स्वयं सर्वथा कृपामूर्ति हैं।।४०।। अर्जुन कहता है ये करुणा ममता के आदि स्थान हैं संपूर्ण गुणों के आगार हैं। विद्या के निःसीम समुद्र हैं।।४१।। ये हर प्रकार से श्रेष्ठ हैं, मेरे ऊपर कृपालु हैं आप ही कहिये इनका वध कैसे किया जाये?।।४२।। इनको युद्ध में मारकर, और स्वयं राजसुख भोगना यह तो कभी सोचूंगा नहीं। चाहे मेरे प्राण भले ही चले जायें।।४३।। यह कर्म बहुत कठिन है, राज्य भोग से भी बिकट है मेरी दृष्टि में तो इस संग्राम से अधिक अच्छा भिक्षा मांगकर जीवन जी लेना है।।४४।। हे देव! नए तीखें शरों का प्रहार करूं, इनके अंतःकरण को छलनी कर दूं, रक्तरंजित राजभोग भोगूं यह मन को रुचिकर नहीं लगता।।४५।। अपनी इस बात से अच्युत श्रीकृष्ण को अप्रसन्न देखकर मन में भयभीत होकर अर्जुन ने कहा।।४६।।

और हम लोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।।६।।

मेरे मन में जो बात थी वह मैंने सोचकर आपसे सब स्पष्ट कह दी अब इसमें क्या उचित है क्या अनुचित? यह आप ही जानें।।४७।। जिनके प्रति शत्रुता के आचरण से मृत्यु को मैं अधिक ग्राह्य मानता हूं वे आज सिद्ध होकर मेरे सामने युद्ध के लिये खड़े हैं।।४८।। अब क्या इनका वध करूं? या रणस्थल छोड़ दूं? इसमें क्या ग्राह्य क्या त्याज्य मैं नहीं जानता।।४९।।

इसलिये कायरतारूप दोष करके उतहृह हुये स्वभाववाला और धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपको पूछता हूं, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो, वह मेरे लिये कहिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूं, इसलिये आपके शरण हुए मेरे को शिक्षा दीजिए।।७।।

मेरा चित्त मोह से इतना व्याकुल हो गया है कि सोचने पर भी समझ में नहीं आता कि मेरे लिये क्या उचित है।।५०।। जब नेत्र अंधकार से ढक जाते हैं तब उनका तेज क्षीण हो जाता हैं और पास होने पर भी पदार्थ दिखाई नहीं देते।।५१।। उसी प्रकार से मेरा मन पूणर्तः भ्रान्त है अपने हिताहित का ज्ञान नहीं कर पा रहा।।५२।। हे अच्युत! आप विचार करके जो उचित हो वह हमसे कहिये आप मेरे सखा हैं सर्वस्व है!।।५३।। आप हमारे गुरु, बंधु, पिता, इष्ट देवता यहां तक कि साक्षात मां हैं, आप ही आपत्ति में सदैव हमारे रक्षक रहे हैं।।५४।। जैसे गुरु शिष्य को कभी भी नहीं छोड़ता एवं समुद्र कभी सरिता को नहीं त्यागता है।।५५।। सुनो हे कृष्ण, यदि छोटा शिशु अपनी मां को सर्वथा छोड़ दे तो वह कभी भी जीवित नहीं रह सकता।।५६।। हे पुरुषोत्तम, जो बात हमको उचित हो और धर्मानुकूल हो वह आप शीघ्र कहें।।५७।।

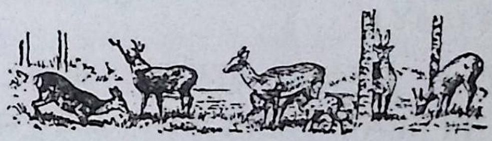

क्योंकि भूमि में निष्कंटक धन-धान्यसंपन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपन को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूं, जोकि मेरी इंद्रियों के सुखानेवाले शोक को दूर कर सकें।।८।।

इन सभी वंशजों को देखकर मन में दुख पैदा होता है, हे प्रभु वह आपके उपदेश के बिना नहीं जायेगा।।५८।। यदि मुझे सार्वभौम राज्य प्राप्त हो, इंद्र का पद भी हस्तगत हो जाए तोभी मेरा मन मोह से कदापि मुक्त नहीं होगा।।५९।। यदि दग्ध बीज लिया जाए और उसे अच्छे खेत में बोया जाय तो भी कभी अंकुर नहीं निकलेगा।।६०।। जब आयु समाप्त हो जाती है तब सभी प्रकार की औषधियां

Funding by IKS-MoE

वहां एक ही परमामृत। लाभकारी।।६१।। वैसे यह राज्यभोग समृद्धि। नहीं मानत जीवबुद्धि। यहां प्रेरक कृपानिधि। दया आपकी।।६२।। ऐसा अर्जुन बोलत। क्षण एक भ्रांति नाशत। पुनरपि होत ग्रसित। महा मोह से।।६३।। इसका सवर्म हृदयकल्लार। कारुण्य पूर्ण यहं अवसर। मोहकाल सर्प लहर। ग्रासत पुनः।।६४।। सुन अर्जुन की पुकार। जिसका दृष्टिपात विषहर। सो सपेरा शारङ्गधर। दौड़त त्वरित।।६५।। अतः वह पार्थ। मोह फणिग्रस्त। यदर्थ यह दृष्टान्त। दिया मैंने।।६६।। देखिये वहां फालगुन भ्रांति से ग्रसित पूर्ण। जैसा भास्कर भगवान। अभ्राच्छादित।।६७।। अथवा वह धनुर्धर। दुःख से हुआ जर्जर।।६८।। जैसे दावानल से गिरिवर। ग्रीष्मकाल में।।६८।। वहां सहज सुनील। कृपामृत से सजल। वर्षत श्री गोपाल। महामेघ।।६९।। सुदशनों की सुंदर द्युति। विद्युल्लता की दीप्ति। सुगंभीर वचनोक्ति। मेघगर्जना सम।।७०।। अब होगी उदार वृष्टि। अर्जुनाचल पावेगा तृप्ति। होगी नव पल्लव निर्मित। उन्मेष की।।७१।। यह कथा सुरस गहन। सुनिये देकर अवधान। श्री ज्ञानदेव करत निरूपण। निवृत्तिदास।।७२।।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप। न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह।।९।।

संजय कहत नृपनाथ। पुनरपि शोकाकुल पार्थ। सखेद कृष्ण को कहत। न लड़ूंगा मैं।।७३।। ऐसा सहसा कहत। खड़ा मौन धरत। श्रीकृष्ण विस्मय पावत। देखकर उसे।।७४।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

मन ही मन में कहत कृष्ण। अर्जुन सर्वथा अनजान। इस अवसर इसको ज्ञान। बोधु कैसे?।।७५।। यह समझत किस प्रकार। कैसा स्वीकारत धीर। जैसा ग्रह को पंचाक्षर। अनुमानत।।७६।। असाध्य देखकर व्याधि। अमृतसम दिव्य औषधि। वैद्य योजत निरवधि। अंतिम क्षण में।।७७।। वैसा वहां श्री अनन्त। दोनों दलमध्य विचारत। किस विध पार्थ होत मुक्त। महाभ्रांति से।।७८।। अज्ञान कारण जानत। सरोष कृष्ण बोलत। जैसा मातृक्रोध में गुप्त। स्नेह वसत।।७९।। अथवा औषधि का कटुत्व। व्याप्त एक अमृत तत्त्व। प्रत्यक्ष गुणतत्त्व। प्रकटत।।८०।। वैसा ऊपर से उदास। परन्तु अति सुरस। ऐसा वचन हृषीकेश। उपदेशत।।८१।।

श्री भगवान उवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

तब अर्जुन को कहत। आज एक नवल होत। जो तुम करत अकस्मात। अविवेक यहां।।८२।। होकर स्वयं सज्ञान। न छोड़त अज्ञान। हमको उपदेशत ज्ञान। नीति तत्त्व।।८३।। जात्यंध को होत उन्माद। तब वह धावत स्वच्छंद। वैसा यह प्रज्ञामद।

व्यर्थ हो जाती हैं तब एक ही परमामृत लाभकारी होता है।।६१।। इस जीव की बुद्धि इन सभी लय की समृद्धि और योगों को महत्व नहीं देती अब तो हे कृपानिधि! आपकी दया ही एकमात्र प्रेरक है।।६२।। इस प्रकार अर्जुन बोल रहा है एक क्षण के लिये भ्रांति नष्ट हो जाती और फिर वह महामोह से ग्रसित हो जाती है।।६३।। इसका हृदय कमलव्रण से युक्त है और यह करुणापूर्ण प्रसंग उपस्थित हुआ है मोहरूपी कालसर्प का विष वेग असह्य हो रहा है।।६४।। अर्जुन की पुकार सुनकर श्री शाङ्र्गधर जो दृष्टि मात्र से विष हरनेवाला सपेरा है त्वरित गति से दौड़ रहा है।।६५।। इसलिये वह पाप मोहरूपी सर्प से डंसा गया है जिसके लिये मैंने यह उदाहरण दिया।।६६।। देखिये वहां अर्जुन भ्रान्ति से उसी प्रकार पूरी तरह छिप गया जिस तरह मेघ से सूर्य आच्छादित हो जाता है।।६७।। अथवा वह धनुर्धर दुख से उसी प्रकार जर्जर हो गया जैसे ग्रीष्मकाल में दावानल से बड़ा पर्वत जर्जर हो जाता है।।६८।। वहां कृपामृत से भरा पूरा नील वर्ण महामेघ रूपी श्री गोपाल ने अमृत वृष्टि की।।६९।। उनकी सुंदर दंतपक्ति मानो विद्युत की दीप्ति थी और सुगंभीर वाणी मेघ का मंद गंभीर गर्जन था।।७०।। अब व्यापक वृष्टि होगी अर्जुन रूपी पर्वत को तृप्ती मिलेगी और मनोमुग्धकारी जब कोपलों का क्रमशः उन्मेष होगा।।७१।। निवृत्तिदास ज्ञानदेव इस सुरस गंभीर कथा का वर्णन कर रहे हैं मन लगा कर इसे सुनिए।।७२।।

संजय बोला, हे राजन! निद्रा को जीतनेवाला अर्जुन अंतर्यामी श्रीकृष्ण के प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्री गोविंद भगवान को युद्ध नहीं करूंगा ऐसे स्पष्ट कहकर चुप हो गया।।९।।

संजय कहता है कि हे नृपराज अब पुनः शोक से व्याकुल अर्जुन खेदपूर्वक कृष्ण से कहता है कि मैं तो नहीं लड़ूंगा।।७३।। सहसा कहकर चुप होकर अर्जुन खड़ा रह गया कृष्ण उसको देखकर आश्चर्य चकित रह गए।।७४।।

उसके उपरान्त हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अंतर्यामी श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकयुक्त अर्जुन को हंसते हुये ये वचन कहा।।१०।।

मन ही मन में श्री कृष्ण ने कहा अर्जुन सर्वथा अनजान है इस अवसर पर इसको ज्ञान किस प्रकार दूं।।७५।। यह धैर्यवान पुरुष इस ज्ञान को किस प्रकार समझेगा, किस प्रकार इसे स्वीकार करेगा। यह वैसा ही है जैसे ग्रह के लिये पंचाक्षर मंत्र की शक्ति का अनुमान करता है।।७६।। जैसे वैद्य असाध्य रोग को देखकर अंतिम क्षण में अमृत के समान दिव्य औषधि का निरंतर प्रयोग करता है।।७७।। उसी प्रकार अनंत श्री विभूशित भगवान श्रीकृष्ण दोनों दल के मध्य स्थित होकर विचार करते हैं कि यह पार्थ किस प्रकार इस महाभ्रान्ति से मुक्त होगा।।७८।। अज्ञान के कारण को जानते हुए श्रीकृष्ण कुछ रोष पूर्वक बोलते हैं। जैसे मां के क्रोध में गुप्त स्नेह निवास करता है।।७९।। अथवा जैसे औषधि में कटुत्व में भी एक अमृतत्त्व निवास करता है वह अप्रत्यक्ष गुणतत्त्व (उपचार के रूप में) प्रकट होता है।।८०।। ऊपर से उदासीन दिखाई देनेवाला किंतु अत्यंत सरस वचनों में हृषीकेश ने अर्जुन को उपदेश दिया।।८१।।

श्री भगवान उवाच:-

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा अयोग्य बात के लिये तुम शोक करते हो एवं पांडित्य की बातें कर रहे हो। विवेकीकृत व्यक्ति के लिये शोक नहीं करते या जीवित व्यक्ति के लिये भी शोक नहीं करते।।११।।

तब अर्जुन से वे कहते हैं कि तुम आज एक नवीन और अचानक आश्चर्य का आचरण कर रहे हो।।८२।। तुम ज्ञानवान होकर अज्ञान नहीं छोड़ रहे हो और हमें नीतितत्त्व तथा ज्ञान का उपदेश दे रहे हो।।८३।। जैसे जन्मांध को जब पागलपन सवार

भासत तेरा।।८४।। सस्वरूप न जानत। कौरव कारण शोक करत। हमको बहु विस्मय होत। बारंबार।।८५।। बोलो अब अर्जुन। क्या त्रिभुवन तेरे स्वाधीन?। यह अनादि विश्वनिर्माण। असत्य कांई?।।८६।। यहां समर्थ एक ईश्वर। जिससे पंचतत्त्व संसार। क्या यह कथनसार। वृथा सर्व।।८७।। जन्म-मृत्यु तुम स्वयं सृजत। सांप्रत तो यह ही प्रतीत। तथा तुम से ही नाश पावत। सृष्टि सब।।८८।। तेरा यह वृथा अहंकार। जो इनका न करेंगे संहार। तब क्या ये होंगे निरंतर। चिरंतन।।८९।। यह अनादि सिद्ध सर्व। जन्ममरण स्वस्वभाव। व्यर्थ न धर शोकभाव। पार्थ यहां।।९०।। जो स्वतः विचारवन्त। जानत ये दोनों भ्रान्त। अतः शोक न उचित। किसी एक का।।९१।।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

सुनो अर्जुन सत्य। हम तुम सब भूपत। न होत नित्य अनित्य। दोनो भ्रांत।।९२।। यह सृष्टि एवं विनाश। भासत पूर्ण मायावश। अन्यथा वस्तु अविनाश। तत्त्वतः देख।।९३।। जैसे वायू में तोय हिलत। तरंगाकार भासत। यहां कौन कहां उपजत। कहना कठिन।।९४।। जहां बंद होत पवन। वहां जल ही जल संपूर्ण कौन किस में विलीन। विचारणीय।।९५।।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

सुनो शरीर एक। किंतु वयसाभेद अनेक। यह प्रत्यक्ष देख। प्रमाण तू।।९६।। यहां प्रथम कुमारत्व। तारुण्य में होत लुप्त। परन्तु देह नाशत। दोनों संग।।९७।। वैसे चैतन्य में अनन्त। शरीशांतर होत जात। जो जाने उस को न होत। व्यामोह दुःख।।९८।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

अज्ञान का यही कारण। जो होत इंद्रिया आधीन। इनमें व्याप्त अंतःकरण। भ्रमत पूर्ण।।९९।। इंद्रियां नाना विषय सेवत। हर्ष शोक उत्पन्न करत। आसक्त अंतर आप्लावत। निरन्तर।।१००।। देख, शब्दादि की व्याप्ति। निंदा तथा स्तुति। द्वेषाद्वेष उत्पत्ती। श्रवणमात्र से।।१।। मृदु एवं कठिन। स्पर्श के दोनों गुण। शरीर संग कारण। संतोष खेद का।।२।। भयंकर एवं सुरेख। यह रूप का स्वरूप देख। जिस कारण सुख-दुख। नेत्रद्वार से।।३।। सुगंध तथा दुर्गंध। यह परिमल भेद। घ्राणेंद्रिय से विषाद। या संतोष।।४।। तैसे विविध रस। उद्‌भवत प्रीतित्रास। इसलिये यह अपभ्रंश। विषयसंग से।।५।। यदि इंद्रियाधीन होत। तब शीतोष्णता पावत। सुख-दुख दोनों भोगत। प्राणिजात।।६।। इन विषय बिना काही। अन्य पदार्थ रम्य नाही। ऐसा इंद्रियों का नित्य होई। स्वभाव जानो।।७।। इन विषयों का स्वरूप। रोहिणी का जैसा आप। कि स्वप्न का आभासरूप। भद्रजाति।।८।। यह

होता है।।८४।। तब वह स्वच्छन्द भागता है उसी प्रकार यह तेरा ज्ञानमद है। अपने स्वरूप को नहीं पहचानता, कौरवों के लिये शोक करता है।।८५।। मुझे बार-बार बहुत आश्चर्य हो रहा है। अर्जुन तू बोल क्या यह तीनों लोक तेरे आधीन हैं? क्या यह अनादि विश्व का निर्माण असत्य है?।।८६।। यह एकमात्र ईश्वर ही सक्षम है जिससे पंचतत्त्व रूप संसार की सृष्टि हुई है क्या यह सभी कथन सारहीन हैं?।।८७।।इस समय तो ऐसा लग रहा है कि जन्म और मृत्यु के सृजनकर्ता तुम्ही हो तथा सारी सृष्टि तुमसे ही विनाश पाती है।।८८।। तेरा अहंकार व्यर्थ है यदि तू इनका संहार नहीं करेगा तो क्या ये चिरन्तन अमर हो जायेंगे।।८९।। यह अनादि काल से प्रमाणित है कि जन्म मृत्यु व्यक्ति का स्वभाव ही है। इसलिये तू यहां व्यर्थ शोक मत कर।।९०।। जो स्वतः विचारवान है वे जानते हैं कि ये दोनों (जन्म-मृत्यु) भ्रांतियां ही हैं। अतः इनमें से किसी भी एक के लिये शोक करना उचित नहीं है।।९१।।

क्योंकि आत्मा नित्य है, इसलिये शोक करना अयुक्त है। वास्तव में न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था अथवा यह राजालोग नहीं थे और न ही ऐसा है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।।१२।।

हे अर्जुन सुनो! हम तुम और ये सभी राजा नित्य या अनित्य नहीं होते। ये दोनों भ्रांतिजन्य हैं।।९२।। वह निरंतर रहेंगे या उनका नाश निश्चित है यह भ्रांति दूर होने से वस्तुतः यह दोनों सत्य नहीं हैं (ऐसा प्रतीत होगा)।।९३।। जन्म-मृत्यु मायावश अनुभव कराते हैं। वास्तविक सत्य वस्तु आत्मा अविनाशी है। जैसें वायु से जल हिलते ही तरंग निर्माण हुये। अतः किसने किसको कहां जन्म दिया ऐसा कहोगे?।।९४।। वायु की गति रुकते ही जल अपनेआप स्थिर होता है। अब बताओ किसका नाश हुआ? विचार करो।।९५।।

जीव को देह में जिस प्रकार से बाल्य, तारुण्य, एवं वार्धक्य अपने आप प्राप्त होता है उसी के अनुसार एक देह का नाश होते ही दूसरा देह प्राप्त होता है। अतः जो आत्मा नित्य है ऐसा जानता है उसको जन्म-मृत्यु की भ्रांति उत्पन्न नहीं होती।।१३।।

और यह देखो! शरीर तो एक ही है। अवस्था के अनुसार उनको अनेक दशाएं प्राप्त होती हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।।९६।। प्रथम बाल्य, तारुण्य एवं वार्धक्य क्रमशः प्राप्त होता है। किंतु शरीर की अवस्थाओं के साथ शरीर का नाश नहीं होता।।९७।। यह देखो। चैतन्य अलग-अलग शरीर धारण करता है शरीर नष्ट भी होता है। यह जो समझ लेता है, उसको भ्रांतिजन्य दुःख कभी होता नहीं।।९८।।

हे अर्जुन! इंद्रियों का संयोग शीत-उष्ण, सुख-दुख देने वाले हैं। वह उत्पत्ति एवं विनाश से युक्त होने से अनित्य है। अतः हे भारत! उसको तुम्हें सहना होगा।।१४।।

यह न जानने के लिए इंद्रियों की अधीनता ही कारण है। इंद्रियां अंतःकरण पर अधिकार जमा लेती हैं। फलस्वरूप उन्हें भ्रम होता है।।९९।। इंद्रियां विषयों का सेवन करती हैं। उससे सुख-दुख उत्पन्न होता है। वह अपने संसर्ग से अंतःकरण ग्रसित करती हैं।।१००।। शब्दादि विषयों में एक स्थिति नहीं रहती उनको इन विषयों से कभी सुख, कभी दुख प्राप्त होता है। निंदा एवं स्तुति शब्दों की व्याप्ति है। कर्णद्वार से निंदा या स्तुति के शब्दों का सेवन होगा जैसा क्रोध या लोभ अंतःकरण में उत्पन्न होगा।।१।। मृदु या कठिन स्पर्श विषय के दो प्रकार हैं। त्वचा संयोग से संतोष या दुःख उसी का कारण है।।२।। भयानक या सुंदर यह विषय नेत्रों के द्वारा सुख-दुख उत्पन्न करते हैं।।३।। सुगंध या दुर्गंध नासिका के संयोग से सुख-दुख उत्पन्न करते हैं।।४।। उसी के अनुसार (मीठा या कडवा) रस रुचि-अरुचि निर्माण करता है। अतः इन विषयों की संगति अधोगति का कारण है।।५।। जब (मनुष्य) इंद्रियों के स्वाधीन होता है तब उसको शीतोष्ण का अनुभव होता है। अंत में वह सुख-दुख का अनुभव करता है।।६।। इंद्रियों को विषयों के बिना अन्य कुछ योग्य प्रतीत नहीं होता। ऐसा उसका स्वभाव है।।७।। यह विषय कैसे हैं। मृगजल जिस प्रकार आभासात्मक है। स्वप्न में देखा हुआ हाथी केवल भासमय होता है।।८।। वैसे यह विषय क्षणभंगुर है।

विषय सदा अनित्य। सर्वथा त्यागना युक्त। न धरो इन की संगत। धनुर्धर।।९।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

विषय जिसको न बाधत। वह सुख-दुख के परे होत। कदापि गर्भवास संगत। न पावत।।११०।। वह नित्यरूप पार्थ। जानिजे ब्रह्मरूप यथार्थ। इंद्रिय विषयों से समस्त। अलिप्त जो।।११।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

और एक बात। तुझको बतलाऊं पार्थ। विचार से ज्ञानी जानत वस्तुरूप।।१२।। इस चराचर में गुप्त। चैतन्य वसत सर्वगत। वह तत्त्वज्ञानी सन्त। स्वीकारत।।१३।। जल में पय मीनत। एकरूपता पावत। राजहंस एक जानत। पृथक्करण।।१४।। अथवा अग्निमुख में अशुद्ध। सुवर्ण होत विशुद्ध। वैसा विवेक तर्क शुद्ध। बुद्धिमंत का।।१५।। बुद्धि चातुर्य से। दधिमंथन करने से। अंत में मक्खन जैसे। प्राप्त पार्थ।।१६।। तूष बीज एक साथ। उड़ावनी से कण स्थित। उड़त वह भूसा पार्थ। जानो तुम।।१७।। अतः यह ज्ञान सामर्थ्य। नाशत सब प्रपंचमात्र। एक तत्त्व यथार्थ। शेष बचत।।१८।। अशाश्वत का नहीं अस्तित्व। नहीं शाश्वत का अनित्यत्व। ज्ञानी विवेकी ज्ञानत तत्त्व। उभय पक्ष।।१९।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

देखो सारासार विचार। तब असार यह संसार। एक ब्रह्म साचार नित्य तत्त्व।।१२०।। यह लोकत्रयाकार। जिसका स्वयं विस्तार। वहां नामवर्ण आकार। लक्षण नाही।।२१।। जो सर्वदा सर्वगत। जन्ममरण के अतीत। यत्न से भी उस का घात। कदा न होत।।२२।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोप्रिमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

यह संपूर्ण शरीरजात। स्वभावतः नाशवंत। अतः युद्ध करना युक्त। पंडुकुंवर।।२३।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

तुम देहाभिमान सहित। शरीर मानत सत्य। मैं मारिता ये मरत। कहत जात। किन्तु अर्जुन तुम अनजान। तत्व को यथार्थ जान। स्वयं को न वधिता मान। न ये वध्य।।२४।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

वेदविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

जैसे स्वप्न देखिजे। उसको सत्य मानिजे। जागृत होकर पाइजे। वृथा सर्व।।२५।। वैसी यह सब माया। भ्रममूल साच अविद्या। क्या शस्त्राघात से छाया। छिन्न होत?।।२६।। या पूर्ण कुंभ उलटत। प्रतिबिंब नष्ट होत। किंतु भानु न

Funding by IKS-MoE

अतः हे धनुर्धर!। तुम इसका त्याग करो। उसके पीछे नहीं लगना।।९।।

हे पुरुष श्रेष्ठ! यह विषय संबंध जिस पुरुष को उपद्रव नहीं देते, जिसको सुख-दुख समान है, ऐसा धीर पुरुष मोक्षप्राप्ति के लिए योग्य है।।१५।।

इन विषयों में वह लिप्त नहीं होता। उसको सुख-दुख दोनों का अनुभव नहीं रहता। पुनः पुनः गर्भवास भी उसे प्राप्त नहीं होता।।१०।। इंद्रियों के विषय से वह आलिप्त रहता है। हे पार्थ! उसको पूर्ण ब्रम्हरूप समझना चाहिये।।११।।

अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता। (विद्यमान एवं अविद्यामान) वस्तुओं का निर्णय तत्त्ववेत्ता दर्शनशास्त्री जानते हैं।।१६।।

अब अर्जुन तुम्हें मैं और एक बात बताता हूं। वह वस्तुस्वरूप ज्ञानी विचार से जानते हैं।।१२।। देहादि प्रपंच में संर्वत्र चैतन्य गुप्तरूप से निवास करते हैं। तत्त्व जाननेवाले संत वह पहचानकर उसको आत्मसात करते हैं।।१३।। दूध-पानी में एकरूप हो जाता है। किंतु राजहंस उसको अलग करता है।।१४।। या चतुर लोग अग्नि की सहायता से कलुष निकालकर शुद्ध सुवर्ण अलग करते हैं।।१५।। बुद्धि चातुर्य से दधि मंथन करने से अंत में मक्खन निकलता है।।१६।। भूसा एवं धान्य फटकने से अनाज एकत्रित होता है एवं भूसा अलग हो जाता है। उसी के अनुसार विवेक विचार से जो मिथ्या प्रतीत होता है ऐसी उपाधियों का ज्ञानी पुरुष त्याग करते हैं।।१७।। उसी के अनुसार विवेक विचार से जो मिथ्या प्रतीत होता है। ऐसे प्रपंच का ज्ञानी पुरुष त्याग करते हैं। अंत में केवल एक तत्व शेष रहता है।।१८।। जो अशाश्वत है उसकी सत्ता नहीं है और जो शाश्वत पदार्थ है उसका अनित्यत्व नहीं है। ज्ञानी और विवेकी पुरुष परमात्मा और जगत दोनों इन पक्षों को जानते हैं।।१९।।

जो संपूर्ण विश्व में व्याप्त है वह सत् अविनाशी है ऐसा समझना। अविनाशी वस्तु का विनाश करने की क्षमता किसी में नहीं है।।१७।।

सार एवं असार का विचार करने पर असारता को भ्रांति समझना सार स्वभावतः नित्य है।।२०।। यह तीनों लोक जिसका विस्तार है उसका नाम, वर्ण, आकार नहीं है।।२१।। जो शाश्वत, सर्वव्यापी एवं जन्म-मृत्यु विरहित है उसका प्रयत्न करने पर भी नाश नहीं होता।।२२।।

नित्य अविनाशी अगम्य आत्मा का यह देह विनाशी है। अतः हे अर्जुन! तुम युद्ध करो।।१८।।

यह शरीर स्वभावतः विनाशी है। अतः हे अर्जुन! युद्ध करना तुम्हारे लिए उचित है।।२३।।

यह आत्मा मरनेवाली है ऐसा जो समझता है। एवं मरनेवाला है ऐसा जो समझते हैं उन दोनों को कुछ ज्ञान नहीं है। यह किसी को मारता नहीं। या किसी से मारा नहीं जाता।।१९।।

तुम देहाभिमान से मैं मारनेवाला एवं यह मरनेवाले हैं ऐसा कहते हो। हे अर्जुन! तुम सत्य तत्व नहीं समझते, तत्वतः विचार करने से तुम मारनेवाले नहीं हो एवं यह (कौरव) मरनेवाले नहीं है।।२४।।

(आत्मा) कभी जन्मता नहीं या कभी उसकी मृत्यु नहीं होती यह एक बार उत्पन्न होकर पुनः होगा ऐसा भी नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य क्षयरहित, अनादि है। शरीर नष्ट होने पर भी उसका नाश नहीं होता।।२०।। हे पार्थ! इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, जन्मरहित, एवं क्षयरहित ऐसा जानता है वह पुरुष मारेगा भी कैसे। किसको मारने के लिए प्रवृत्त करेगा।।२१।।

स्वप्न में दिखाई देनेवाली वस्तु तब तक सत्य प्रतीत होती है जब जागृति नहं होती। जागृति में कुछ भी नहीं है।।२५।। वैसी यह माया समझना। तुम व्यर्थ भ्रम में पड़े हो। छाया को मारने से शरीर पर घाव नहीं होता।।२६।। भरा हुआ जल का घड़ा उड़ेलने से सूर्य के प्रतिबिंब के साथ सूर्य का नाश

नाशत। उसके साथ।।२७।। मठ भीतर आकाश जैसा। मठाकृत भासे तैसा। मठ भंग से स्वरूप वैसा। अपरिवर्तित।।२८।। शरीर का होत नाश। परन्तु आत्मा तो अविनाश। भ्रांतिमूल अन्य भास। सर्वथा त्याज्य।।२९।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

जैसे जीर्ण वस्त्र त्यागत। नूतन परिधान करत। वैसे देहांतर स्वीकारत। चैतन्य नाथ।।१३०।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयाति मारुतः।।२३।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

यह अनादि नित्य सिद्ध। निरुपाधि विशुद्ध। अतः शस्त्रादिक से छेद। इसका न होत।।३१।। यह महाप्रलय से नाप्लवत। अग्नि दाह न संभवतः। महाशोष न प्रभवत। मारूत का यहां।।३२।। अर्जुन यह नित्य। अचल और शाश्वत। सर्वत्र सदोदित। परिपूर्ण।।३३।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

यह तर्क शास्त्र से दृष्टि-। गोचर नहीं किरीटी। ध्यान इसके भेंट के प्रति। उत्सुक सदा।।३४।। मन को यह दुर्लभ होत। साधन से नहीं प्राप्त। जीव मात्र में श्रेष्ठ। अनंत रूप।।३५।। यह गुणत्रय रहित। अनादि अविकृत। निराकार अतीत। सर्वरूप।।३६।। अर्जुन ऐसा इसे देख। सर्वगत सकलात्मक। तब सहज होत विमुक्त। शोकताप।।३७।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि।।२६।।

यदि आत्मा अविनाशी जानत। या नित्य जात मृत मानत। शोक न करना युक्त। पंडुकुंवर।।३८।। जो आदि स्थिति अंत। निरन्तर होत नित्य। जैसा प्रवाह अनुस्यूत। गंगाजल का।।३९।। यह प्राणी ज्ञात संपूर्ण। उद्गम स्थान में न टूटत। समुद्र में निरन्तर मीनत; प्रवाह रूप से कीच में दिखत। जैसे पार्थ।।१४०।। वैसे उत्पत्ति स्थिति लय। रहत एकत्र कौन्तेय। स्वाभाविक व्यवस्था यह। टालना न शक्य।।४१।। यह प्राणिजात संपूर्ण। जन्म क्षय आधिन। यहा शोक का न कारण। धनुर्धर।।४२।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

उपजत वह नाशत। नाशत पुनरपि उपजत। जैसे यह घटिका यंत्र। परिभ्रमत।।४३/४४।। स्वाभाविक उदय अस्त। जैसा नित्य अखंडित। वैसा जन्ममरण होत। अनिवार्य।।४५।। महाप्रलय अवसर। त्रैलोक्य का होत संहार। अतः आदि अंत साचार। अपरिहार्य।।४६।। इस कारण हे पार्थ!। शोक करना व्यर्थ। होने के लिये व्यथित। न कोई विषय।।४७।। यहां और एक बात। अन्यान्य

नहीं होता ॥२७॥ आकाश मठ में मठ के आकार का दिखता है। वह तो नित्य अपने मूल स्वरूप में ही रहता है ॥२८॥ तद्वत शरीर के नाश के साथ प्राणी के मूल स्वरूप का नाश नहीं होता। अतः स्वरूप में नाश की भ्रांति का आरोप नहीं करना चाहिये ॥२९॥

जिस प्रकार से पुरुष जीर्ण वस्त्र का त्याग करके नये वस्त्र खरीदता है तद्वत आत्मा जीर्ण शरीर को छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करती है ॥२२॥

पुराने जीर्ण वस्त्र का त्याग करके नये वस्त्र धारण करते हैं, तद्वत यह आत्मा एक देह त्याग कर दूसरे देह का स्वीकार करती है ॥१३०॥

आत्मा को शस्त्र तोड़ नहीं सकता, अग्नि जलाती नहीं, पानी भिंगोता नहीं एवं वायु सुखाती नहीं ॥२३॥ इस आत्मा का छेद नहीं होता, दाह नहीं होता, आर्द्रता एवं शुष्कता अशक्य है। यह नित्य, सर्वव्यापी है, स्थिर अचल एवं सनातन है ॥२४॥

यह आत्मा अनादि, नित्यसिद्ध, उपाधिरहित, एवं अत्यंत शुद्ध है। अतः इसका शस्त्रादि से घात नहीं होता ॥३१॥

यह आत्मा अव्यक्त, अचिंत्य एवं अविकारी है ऐसा कहा जाता है। अतः इसको इस प्रकार से जानने से तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥२५॥

यह आत्मा प्रलयकालीन जल से डूबती नहीं। अग्नि से जलती नहीं। वायु की महाशोषण शक्ति का प्रभाव इसके ऊपर चलता नहीं ॥३२॥ हे अर्जुन! यह नित्य, स्थिर, शाश्वत होते हुए सर्वत्र व्याप्त है ॥३३॥ हे अर्जुन! तर्क दृष्टि से यह दिखाई नहीं देगी। ध्यान इससे मिलने के लिए नित्य उत्कंठित रहता है ॥३४॥ मन के लिए यह दुर्लभ है। साधनों को यह प्राप्त न होनेवाला है। अर्जुन! यह पुरुषोत्तम अनन्त है ॥३५॥ यह त्रिगुण रहित आकार के परे, अनादि, अविकार एवं सर्वव्यापी है ॥३६॥ हे अर्जुन! ऐसा इसको समझ लो। यह सकलात्मक है। इसको पहचानो। फलस्वरूप तुम्हारा सब शोक अपने आप नष्ट हो जायेगा ॥३७॥

हे महाबाहो! यह आत्मा नित्य उत्पन्न होती है एवं मृत्यु को प्राप्त होती है ऐसा यदि तुम समझते हो तब भी शोक करना योग्य नहीं है ॥२६॥

यह ऐसा है यह न जानते हुए नष्ट होनेवाला है ऐसा यदि तुम समझते हो तो भी हे अर्जुन! शोक करना उचित नहीं है ॥३८॥ गंगाजल का प्रवाह जैसा अखंड रहता है वैसे उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश अखण्ड है ॥३९॥ गंगाजल उद्‌गम स्थान में टूटता नहीं तथा समुद्र में अव्याहत मिलता ही रहता है। बीच में केवल बहते हुए दिखता है ॥१४०॥ तद्वत उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश तीनों ही एक साथ रहते हैं। ऐसा समझना। किसी प्राणी से वह रुक नहीं सकता ॥४१॥ अतः इन सबका शोक करने का कारण नहीं है। क्योंकि मूलतः यह स्वाभाविक व्यवस्था है ॥४२॥

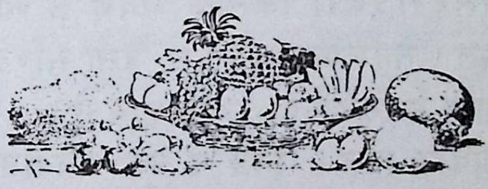

जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु निश्चित है। जो मृत होता है उसका जन्म निश्चित है। अटल बातों के लिये शोक करना अनुचित है ॥२७॥

हे अर्जुन! यह जीवलोग जन्ममृत्यु के अधीन हैं। ऐसा देखकर तुम्हारे मन में यदि योग्य प्रतीत न होता हो तथापि उसमें शोक करने के लिये कारण नहीं है क्योंकि जन्म-मृत्यु कोई टाल नहीं सकता ॥४३॥

जो कुछ उत्पन्न होता है उसका नाश होता है। नष्ट हुआ पुनः उत्पन्न होता है। हे अर्जुन! चक्र सदृश यह क्रम अखण्ड चलता है। ॥४४॥ उदय एवं अस्त अपने आप जिस प्रकार निरंतर होता जाता है। तद्वत जन्म-मृत्यु विश्व में टाल नहीं सकते ॥४५॥ महाप्रलय के समय त्रैलोक्य का संहार होता है किंतु उत्पत्ति-नाश निश्चित होता है ॥४६॥ यह यदि तुम समझ पाते हो तो शोक क्यों करते हो ॥४७॥ और एक विचार करो। हे अर्जुन!

विचार से भी पार्थ। न तुको करना युक्त। शोक कभी।।४८।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

यह सब प्राणिजात। जन्म के पूर्व अमूर्त। जन्म पश्चात पावत। व्यक्ताकार।।४९।। वे जहां लय पावत। पूर्व स्थिति एक लगत। अन्य अवस्था न प्रवेशत। निःसंशय।।१५०।। मध्ये जो प्रतिभास। निद्रित का स्वप्नाभास। आकार भासत मायावश। स्वस्वरूप।।५१।। पवन स्पर्शत नीर। भासत तरंगाकार। पर इच्छा से अलंकार। व्यक्त कनक।।५२।। वैसा सफल साकार। जानो सब मायाकार। जैसे लागत अंबर। अभ्रपट से।।५३।। जो आदि से भास मात्र। उसके लिये रुदन व्यर्थ। देखो अक्षय अनन्त। चैतन्य एक।।५४।। उसकी लगन लगत। संत को विषय त्यागत। उसके लिये विरक्त। वनवासी होत।।५५।। जिस लक्ष्य के प्राप्यर्थ। करत ब्रह्मचर्यादि व्रत। कठोर तप आचरत। मुनीश्वर।।५६।।

आश्चर्यवतपश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

एक स्थिर चित्त अर्जुन। करके केवल निरीक्षण। विस्मरण संपूर्ण। संसार जात।।५७।। कित्येक गुणान गात। चित्त उपरति पावत। निरवधि तल्लीन होत। निरंतर।।५८।। कित्येक श्रवण से शान्त। देहाभिमान से निवृत्त। अनुभव मात्र से पावत। तद्रूपता।।५९।। जैसा सरिता ओघ समस्त। समुद्रमध्य प्रविशत। किन्तु कदापि न निवर्तत। स्थानाभाव से।।१६०।। तैसी योगीश्वरों की सुमत। मिलते ही एकाकार होत। कभी न पुनः प्रवेशत। संसार में।।६१।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात्सर्वाणि भूतान्रि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

जो सर्वत्र व्याप्त। सर्वदा अवध्य होत। सर्वात्मक सर्वगत। शुद्ध चैतन्य।।६२।। जिस चैतन्य का स्फुरण। जग स्थिति अंत कारण। इसलिये शोक अकारण। कदापि न युक्त।।६३।। देखो वैसे भी पार्थ। क्यों न माने तेरा चित्त। जो शोक करना अनुचित। बहुप्रकार से।।६४।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। धर्माद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

क्यों न सोचत अर्जुन। क्या यह मन में चिंतन। तारक स्वधर्म संपूर्ण। भूले तुम।।६५।। इन कौरवों को कुछ संकट। या तुझको हुआ अनुचित। अथवा समय प्राप्त। युगान्त का?।।६६।। तथापि अपना धर्म। न त्यागन सुवर्म!। क्या ऐसे ऐसे कृपालुत्व से तुम। तर जाओगे कभी?।।६७।। सुनो हे पार्थ!। दया से यदि तेरा चित्त। द्रवित क्या यह उचित? युद्धप्रसंग में यह?।।६८।। यदि हो गोक्षीर। और आवे नवज्वर। होवे विषसम साचार। अतः त्याज्य वह।।६९।। वैसे कर्म अनुचित। किया समय पर अनुचित। होवे अहितकारी पार्थ। सुनिश्चित।।१७०।। परधर्म का आचरण। होवे नाशका कारण। इसलिये हे अर्जुन!। सावधान होना तुम।।७१।।

अन्य प्रकार से विचार करनेपर भी तुम्हें शोक करना नहीं चाहिये ।।४८।।

जन्म के पूर्व प्राणिमात्र अव्यक्त रूप में रहते हैं। बीच में प्रकट दिखाई देते हैं। मृत्यु के बाद फिर अव्यक्त में बन जाते हैं। तब शोक किसलिए ?।।२८।।

सब जीव जन्म के पूर्व निराकार थे। जन्म के उपरान्त उन्हें आकार प्राप्त हुआ ।।४९।। नष्ट होने पर वह जहां जाते हैं वहां निःसंशय अपने मूल अव्यक्त अवस्था में रहते हैं।।१५०।। बीच में जो व्यक्त स्वरूप दिखाई देता था वह निद्रित के स्वप्न सदृश है। तद्वत सत्स्वरूप चैतन्य में माया से यह जगदाकार दिखाई देता है ।।५१।। या उदक वायु के स्पर्श से तरंग का आकार बनता है। या सुवर्ण के विविध अलंकार बनते हैं ।।५२।। तद्वत यह साकार सृष्टि माया से उत्पन्न हुई है। जिस प्रकार से आकाश में मेघों का पर्दा उत्पन्न होता है ।।५३।। तद्वत मूलतः जिसका अस्तित्व नहीं उसके लिये तुम रो रहे हो। निर्विकार चैतन्य को ध्यान से देखो।।५४।। इन चैतन्य की प्राप्ति के लिए व्याकुलता उत्पन्न होते ही संतों को विषय छोड़ देते हैं। विरक्त आत्म प्राप्ति के लिए अरण्यवास स्वीकारते हैं।।५५।। बड़े-बड़े मुनि ब्रह्मचर्यादि व्रतों का तथा तपों का आचरण उसी की प्राप्ति के लिए करते हैं।।५६।।

आत्मा को कोई आश्चर्य से देखते हैं। कोई आश्चर्य से बोलते हैं। कोई आश्चर्य से सुनते हुये देहभाव भूल जाते हैं। इस प्रकार से देखकर, सुनकर एवं वर्णन करते हुए भी कोई इसको जानते नहीं।।२९।।

स्थिर अंतःकरण के लोग उसका निरीक्षण करते हुए प्रपंच को भूल जाते है ।।५७।। उसके गुणों का वर्णन करते हुए अंतःकरण में वैराग्य उत्पन्न होकर अमर्याद अखण्ड तन्मयता किसी-किसी को प्राप्त होती है ।।५८।। कोई स्वरूप वर्णन सुनते ही शांत होकर देहभाव भूल जाते हैं। कोई अनुभव से तद्रूप होते हैं ।।५९।। सब नदियां सागर में समर्पित होती हैं। वह लौटकर कभी आती नहीं ।।१६०।। तद्वत श्रेष्ठ योगियों की बुद्धि आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होते ही तद्रूप होती है। किंतु तद्रूप होने के उपरांत वह देह तादात्म्य पर आती नहीं ।।६१।।

अर्जुन! सबके देह में यह आत्मा सर्वदा अमर है। अतः किसी भी प्राणी के लिये शोक करना योग्य नहीं है ।।३०।।

जो सर्वत्र सर्व देह में है। करने से जिसका नाश होता नहीं वह विश्व-व्यापी चैतन्य को देखो ।।६२।। यह सब विश्व स्वभावतः उत्पन्न होता है। एवं नष्ट होता है। अब बताओ इसमें शोक करने लायक क्या है?।।६३।। किन्तु हे अर्जुन! विचार से देखा जाए तो तुम्हारे अंतःकरण को क्यों उचित प्रतीत नहीं होता। यह मुझे समझता नहीं। इसका शोक करना अनेक प्रकार से अयोग्य है।।६४।।

स्वधर्म का विचार करने पर भी व्याकुलता योग्य नहीं है। क्योंकि कर्तव्यप्राप्त युद्ध से क्षत्रियों के लिये दूसरी हित की बात नहीं है।।३१।।

तुम अभी भी विचार क्यों नहीं करते? यह मन में क्या धरा है जिससे तर जाते हैं वह स्वधर्म तुम भूल गये हो ।।६५।। इन कौरवों को कुछ भी हुआ या तुम्हें अनुचित प्रसंग प्राप्त हुआ, या युगान्त का समय आ गया।।६६।। तथापि स्वधर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। विचार करो। कृपालुत्व धारण करके क्या तुम तर जाओगे ?।।६७।। हे अर्जुन! दया से तुम्हारा चित्त यद्यपि द्रवित हुआ तथापि युद्ध के समय यह क्या उचित है?।।६८।। गौ दुग्ध भी पथ्य के लिए विषवत होने से नहीं दिया जाता। विशेषतः नवज्वर में वह मारक होता है।।६९।। तद्वत अनुचित कर्म अनुचित समय पर करने से वह अहितकर होता है। अतः तुम अब सावधान होना ।।१७०।। तुम बिनाकारण शोकाकुल हो रहे हो। जिसका आचरण करने से कभी दोष नहीं लगता उस स्वधर्म का आचरण करो ।।७१।। सीधे मार्ग से

Funding by IKS-MoE

जैसे सन्मार्ग आचरत। सर्वथा अपाय न पावत। कि दीपाधार से चलत। न लड़खड़त कभी।।७२।! वैसे ही हे पार्थ!। स्वधर्माचरण युक्त। सकल कामपूर्णत्व। सहज प्राप्त।।७३।। न अन्य पर्याय नीका। संग्राम बिना क्षत्रियों का। अतः निःशंक होकर इन का। सामना कीजे।।७४।। मन से निष्कपट होना। आवेश से युद्ध करना। अब और कैसे समझाना। सुधी तुम।।७५।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृत्तम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

सांप्रत यह युद्ध अर्जुन!। पूर्व जन्मो का पुण्य। सकल धर्म निधान। प्राप्त तुझ को।।७६।। यह संग्राम का अर्थ। मूर्तिमंत स्वर्ग सार्थ। तव प्रताप से पार्थ। प्रकट यहां।।७७।। किंबहुना तव गुण से मोहित। प्रीति से होकर आसक्त। कीर्ति स्वयंवर रचत। तेरे काज।।७८।। क्षत्रिय बहु पुण्य करत। युद्ध का अवसर लभत। जैसे मार्ग से चलत पावत। चिंतामणि।।७९।। जम्हाई देत खोलत मुख। अचानक पड़त पीयूख। वैसा यह संग्राम देख। प्राप्त यहां।।१८०।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

यदि इसको त्यागिकर। व्यर्थ शोक करत जात। स्वयं अपना घात। करोगे तुम।।८१।। पूर्वजों ने जो कमाया। वह सब यश गमाया। यदि शस्त्र त्याग किया। रण में इस।।८२।। प्राप्त कीर्ति नाशित जग अभिशाप सहत। निंदापात्र स्वयं होत। स्वकर्म से।।८३।। जैसी भर्तार बिना वनिता। उपहास पावत सर्वथा। वैसी हीन अवस्था। स्वधर्म बिना।।८४।। रण में शव छांडत। चौबाजू से गिद्ध विदारत। वैसे स्वधर्महीन को व्यापत। महादोष।।८५।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

अतः स्वधर्म यदि त्यागत। वह पाप का भागी होत। अपयश का दाग न मिटत। कालान्त तक।।८६।। ज्ञानी धरत जीवित। जब तक न अपकीर्ति पावत। ऐसे अकेले लौटत। समरांगण से अब।।८७।। तुम सदय निर्मत्सर। न चाहत युद्ध अवसर। किंतु यह बात कुरूवीर। न मानेंगे कभी।।८८।। ये चौबाजू से घेरेंगे। बाणों की बौछार करेंगे। कदापि न छोड़ेंगे। पार्थ तुमको।।८९।। इत्युपरि यदि जीवित। सकल कीर्ति नाशत। जीवन दुःसह होत। मरण से भी।।१९०।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः। येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

एक और विचार युक्त। आवेश से रण में प्रवेशत। दयार्द्र होकर निवर्तत। युद्ध से पुनः।।९१।। तुम ही कहो अर्जुन। यह तेरा कारुण्य। वैरी कौरव दुर्जन। क्या मानत सत्य?।।९२।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः। निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

कहेंगे गया रे गया। वीर अर्जुन भीरू भया। कटु उक्ति निंदनीया। प्राप्त होत।।९३।। लोग यत्न से बहुत। अर्पित अपना जीवित। वर्धमान करत पार्थ।

Funding by IKS-MoE

चलने से अपाय नहीं होता या दीप प्रकाश से पैर में ठोकर नहीं लगती ॥७२॥ तद्वत हे पार्थ! स्वधर्म का आचरण करने से सब इच्छाएं स्वाभाविक पूरी होती हैं ॥७३॥ अतः तुम क्षत्रियों को युद्ध के बिना अन्य कुछ उचित नहीं है। यह ध्यान में रखना ॥७४॥ मन में कपट न रखते हुये आवेश से युद्ध करो। अब ज्यादा क्या बताया जाए ॥७५॥

हे पार्थ! इस प्रकार का युद्ध खुला हुआ स्वाभाविक स्वर्गद्वार है। भाग्यवान क्षत्रियों को ही यह प्राप्त होता है ॥३२॥

हे अर्जुन! सांप्रत युद्ध देखो। युद्ध के निमित्त तुम्हारा भाग्य प्रकट हुआ है या सब धर्मों का निधि तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुआ है ॥७६॥ इसको क्या युद्ध कहेंगे? युद्ध के रूप में मूर्तिमंत स्वर्ग प्रकट हुआ है। या तुम्हारा प्रताप उदित हुआ है ॥७७॥ तुम्हारे गुणों पर लुब्ध होकर कीर्ति उत्कट इच्छा से तुम्हारा वरण करने के लिए आई है ॥७८॥ क्षत्रियों को बहुत पुण्य करने के उपरांत ऐसा युद्ध करने का अवसर प्राप्त होता है। रास्ते से चलते हुए अकस्मात पैर से ठोकर लगने से चिंतामणि रत्न की प्राप्ति हुई ॥७९॥ जम्हाई के लिए मुंह खोलते ही अकस्मात मुख में अमृत गिरा। तद्वत यह युद्ध अकस्मात आया है ऐसा समझना ॥१८०॥

ऐसा कर्मण्य प्राप्त संग्राम यदि तुम नहीं करोगे तो स्वधर्म एवं कीर्ति का नाश होकर पाप की प्राप्ति होगी ॥३३॥

ऐसा संग्राम छोड़कर यदि तुम शोक करने बैठोगे तो स्वयं का घात करोगे ॥८१॥ आज इस युद्ध में शस्त्र छोड़ देने से पूर्वजों ने प्राप्त किया यश। यहां नष्ट करोगे ॥८२॥ तुम्हारी कीर्ति नष्ट होगी। विश्व तुम्हें अपमानित करेगा। महापातक ढूंढ़ते हुए तुम्हारे पास पहुंचेंगे ॥८३॥ पति विरहित स्त्री सब प्रकार से अनादर को प्राप्त होती है, स्वधर्म त्याग से वैसी दशा प्राप्त होती है ॥८४॥ युद्ध भूमि पर पड़ा हुआ शरीर जिस प्रकार से गिद्ध नोचते हैं। वैसे महादोष स्वधर्मरहित पुरुष को है ॥८५॥

सब लोग सर्वकाल तुम्हारी अपकीर्ति कहते जायेंगे। वह अपकीर्ति माननीय पुरुष के लिये मरण से भी अधिक दुःखदायक होती है ॥३४॥

अपना स्वधर्म छोड़ने से तुम पाप के भागी हो जाओगे। अपकीर्ति कल्पांत तक नष्ट नहीं होगी ॥८६॥ जब तक अपकीर्ति का स्पर्श नहीं हुआ तब तक सयाने लोग जीवित रहते हैं। अब बताओ। यहां से कैसे लौट जाओगे ॥८७॥ मत्सर छोड़कर केवल दयाबुद्धि से युद्ध छोड़कर तुम यदि जाओगे किंतु तुम्हारी यह स्थिति किसी को मान्य नहीं होगी ॥८८॥ तुमको यह चारों तरफ से घेर लेंगे। शर वर्षा करेंगे। उस समय कृपालुत्व से तुम बच नहीं पाओगे ॥८९॥ यदि इस प्राण संकट से बचोगे तो भी वह बचना भी मृत्यु से बदतर होगी ॥१९०॥

भय के कारण तुम रणमैदान से लौट गये ऐसे महारथी कहेंगे। तुम्हारा सम्मान करने वाले ही तुम्हें तुच्छ समझेंगे ॥३५॥

हे अर्जुन! इस बात को तुम सोचते नहीं कि उत्सुकता से तुम युद्ध के लिये तो आये हो एवं दया उत्पन्न होने के कारण लौट गये ॥९१॥ तुम्हारा यह व्यवहार दुष्ट वैरी क्या सत्य मानेंगे? यह बताओ ॥९२॥

तुम्हारे शत्रु तुम्हारे लिये अपशब्द कहेंगे। तुम्हारे सामर्थ्य की निंदा करेंगे। इससे दुखदायक और क्या है? ॥३६॥

वह कहेंगे, यह भाग गया! अर्जुन हमसे डरता है। ऐसा दोष तुम्हें प्राप्त होगा यह क्या अच्छा है? बताओ ॥९३॥ लोक अनेक प्रकार से कष्ट करते हैं। प्रसंग से अपना प्राणत्याग भी करते हैं। किंतु हे

Funding by IKS-MoE

स्वकीर्ति को।।९४।। वैसी कीर्ति निःसीम। तुझको प्राप्त निरूपम। तेरे गुण उत्तम। त्रिलोक में।।९५/९६।। दशदिशा के भूपत। भाट बनकर बखानत। जो सुनकर आतन्कित। कृतांतादिक।।९७।। ऐसी महिमा गहन। जैसी गंगा पावन। सुन सुभट सुजान। विस्मित होत।।९८।। पौरुष तेरा अद्भुत। सुनकर ये समस्त। कुरुवीर होत विरक्त। जीवित हेतु।।९९।। जैसी सिंह की गर्जना। मत्त गज को काल समाना। वैसी समस्त कौरव सेना। आतंकित तुझसे।।२००।। जैसे पर्वत वज्र को। अथवा विषधर गरुड़ को। वैसे अर्जुन ये तुमको। मानत सदा।।१।। वह महात्म्य नाशत। हीनत्व क्षुद्र पावत। यदि पार्थ निवर्तत। बिना युद्ध।।२।। यदि पलायन चाहत। ये तुझको पकड़त। नाना कुशब्द बोलत। अश्रवणीय।।३।। तब हिय होत विद्ध। क्यों न 'शौर्य से कीजे युद्ध?। जीतकर कौरव निंद्य। महीतल भोगिजे।।४।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

यदि संग्राम में जूझत। निज जीवित समर्पित। स्वर्ग सुख श्रेष्ठ लभत। सुनिश्चित।।५।। अतः हे वीर श्रेष्ठ!। न कर विचार भ्रष्ट। धनुष लेकर उत्तिष्ठ। युद्ध काज को।।६।। देखो स्वधर्म आचरत। सकल दोष नाशत। क्यों भ्रमित करत चित्त। पापशंकी!।।७।। कहो कोई डूबत नौका से?। ठेकर न लगे सुमार्ग से। किन्तु न चले यदि अच्छे से। संभव वह भी।।८।। मारक होत अमृत। यदि विष के संग सेवत। स्वधर्म दोष पावत। फलाशापूर्वक यदि।।९।। अतः हे पार्था!। कर्म फल त्यज सर्वथा। करो क्षात्रवृत्ति वीरता। पूर्वक युद्ध।।२१०।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

सुख में संतोष पाना। दुःख से विषाद न करना। तथा लाभा-लाभ न धरना। मन में कभी।।११।। युद्ध में होगा विजय। या देह नष्ट कौन्तेय। भविष्य की चिन्ता व्यर्थ। न करना तुम।।१२।। अपने लिये उचित। स्वधर्म सदा आचरत। जो लभत सो चुप रहकर। सहन कीजे।।१३।। ऐसा जिसका निश्चय वह न दोष पात्र होय। इसलिये जूझना योग्य। निभ्रांत होकर।।१४।।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु। बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

यह सांख्यस्थिति मुकुलित। तुझको निरूपित संक्षिप्त। अब बुद्धि योग सुनिश्चित। करो श्रवण।।१५।। जिस बुद्धि ये युक्त। पुरुष यदि होत पार्थ। कर्मबंध समस्त। न बाधत।।१६।। वज्र कवच धारण कर। 'शस्त्र वर्षा सहकर। पावत विजय सुवीर। अबाधित।।१७।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

वैसा ऐहिक न नाशत। और मोक्ष भी सुनिश्चित। धर्मानुष्ठान पूर्वकृत। सफल होत।।१८।। कर्माधार से वर्तना। किंतु कर्मफल न चाहना। जैसे मांत्रिक ने न पाना। भूतबाधा कभी।।१९।। इस कारण जो सुबुद्धि। स्वयं निरासक्त निरवधि।

Funding by IKS-MoE

धनुर्धर! अपनी कीर्ति बढ़ाते हैं।।९४।। वह तुम्हें अनायास संपूर्ण प्राप्त है। आकाश जिस प्रकार से अद्वितीय है।।९५।। तद्वत अनंत उपमा रहित तुम्हारी कीर्ति है। तीनों लोगों में तुम्हारे उत्तम गुण प्रसिद्ध हैं।।९६।। देश-विदेश के राजा स्तुतिपाठक बनकर तुम्हारी कीर्ति का वर्णन करते हैं। वह सुनकर यमादिककों को भी भय उत्पन्न होता है।।९७।। ऐसी तुम्हारी श्रेष्ठता गंगाजल सदृश निर्मल है। वह देखकर श्रेष्ठ वीर भी आश्चर्यचकित होते हैं।।९८।। तुम्हारा अपूर्व पराक्रम सुनकर सबने अपने जीवन की आशा छोड़ दी है।।९९।। सिंह गर्जना से मदोन्मत्त हाथी को प्रलयकाल प्रतीत होता है। तद्वत कौरवों में तुम्हारा भय समाया है।।२००।। पर्वत वज्र को एवं साँप गरुड़ को समझते हैं। तद्वत हे अर्जुन (ये) तुम्हे समझते हैं।।१।। यदि युद्ध न करके तुम लौट जाओगे तो तुम्हारी श्रेष्ठता नष्ट होगी। तुम्हें हीनता प्राप्त होगी।।२।। तुम भागकर जाने का विचार करोगे, किंतु कौरव तुम्हें जाने नहीं देंगे। तुम्हें पकड़कर तुम्हारी फजीहत करेंगे। तुम्हारे सम्मुख तुम्हारी निंदा करेंगे।।३।। उस समय तुम्हारा हृदय विदीर्ण होगा। उससे तो आज शौर्य से लड़ते क्यों नहीं? इन पर विजय प्राप्त करने से पृथ्वी के राज्य का तुम उपभोग करोगे।।४।।

मृत्यु होने से स्वर्ग प्राप्त होगा। विजयी होने से पृथ्वी का उपभोग करोगे। अतः हे अर्जुन! दृढ़ निश्चय करके युद्ध के लिये सिद्ध होना।।३७।।

समरांगण पर युद्ध करते हुए मृत्यु आने से स्वर्ग सुख बिना कष्ट से प्राप्त होगा।।५।। अतः हे अर्जुन! इन बातों का विचार नहीं करना। धनुष धारण करके उठो एवं शीघ्र युद्ध प्रारंभ करो।।६।। देखो स्वधर्म का आचरण करने से पाप नष्ट होते हैं। अतः (युद्ध करने से) पाप लगेगा यह भ्रांति तुम्हारे मन में कैसी आई?।।७।। हे अर्जुन! यह बताओ! नौका में बैठने से कोई कैसे डूबेगा? अच्छे मार्ग से चलने से ठोकर नहीं लगती। यदि अच्छे से चलते न बनता हो तब वह भी होगा।।८।। विष के साथ दूध का सेवन करने से मृत्यु निश्चित होगी। तद्वत फलाशा से, स्वधर्म से भी दोष उत्पन्नन होता है।।९।। अतः पार्थ! सब प्रकार की फलाशा छोड़कर क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करो, जिससे तुम पाप के भागी नहीं बनोगे।।२१०।।

सुख-दुख, लाभ-हानी, यशापयश, एक जैसा समझकर युद्ध के लिए सिद्ध होना। ऐसा करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा।।३८।।

सुख के समय संतोष नहीं होना चाहिये। दुख के समय खिन्नता नहीं आनी चाहिये।।११।। युद्ध में जय मिलेगा या देह नष्ट होगा, इन बातों की चिंता करने की आवश्यकता नहीं है।।१२।। अपने लिये योग्य स्वधर्म का आचरण करते हुए जो प्रसंग प्राप्त होगा उसको शांति से सहना चाहिये।।१३।। जब मन की ऐसी तैयारी होगी तब स्वाभाविक पाप नहीं लगेगा। अतः तुम अब युद्ध करो।।१४।।

हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोग के विषय में कही गई और इसी को अब निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन कि जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बंधन को अच्छी तरह से नाश करेगा।।३९।।

अब तक तुम्हें ज्ञानमार्ग संक्षेप में बताया। अब निष्काम कर्मयोग निश्चित बताता हूं। वह तुम सुनो।।१५।। हे अर्जुन! निष्काम कर्मयोग में बुद्धि जिसको साध्य हुई, उसको कर्मबंध की बाधा नहीं होती।।१६।। वज्रसदृश कवच पहनने से शस्त्रवर्षा सहज सही जाती है, शरीर को शस्त्र स्पर्श न होते विजय प्राप्त होती है।।१७।।

इस निष्काम कर्मयोग में प्रारंभ किये कर्म का नाश नहीं होता। संकट प्राप्त नहीं होते। इस धर्म का यदि थोड़ा (अनुष्ठान) करोगे, तो वह बड़े भय से रक्षा करेगा।।४०।।

कर्मयोग में पूर्वापार कर्म शुद्धता से होता है उस कर्मयोग में इहलोक के भोगों का नाश न होते हुए मोक्ष प्राप्ति होती है।।१८।। कर्म के आश्रय से व्यवहार करो किंतु कर्मफल पर दृष्टि नहीं रखना। मंत्र जाननेवाले को भूत बाधा नहीं होती।।१९।। अनासक्त कर्म करने की बुद्धि आत्सात होते ही

जन्म-मरण उपाधि। कदा न बाधत।।२२०।। जहां न संचरत पुण्य-पाप। जो सूक्ष्म अति निष्कंप। गुणत्रयादिका लेप। न स्पर्शत कभी।।२१।। अर्जुन यदि पुण्यवश प्राप्त। अल्प भी हृदय में प्रकाशत। तब अशेष नाशत। संसार भय।।२२।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

जैसी दीप नलिका सूक्ष्म। पसरत तेज असीम। वैसी सद्बुद्धि ससीम। न मानो तुम।।२३।। जो अपेक्षत सन्त। चराचर में न होत प्राप्त। सर्वथा दुर्लभ पार्थ। सद्वासना यह।।२४।। जगत में पत्थर बहुवस। न होत पारस सरिस। प्राप्तशत अमृत लेश। दैव-योग से ही।।२५।। वैसी दुष्प्राय जो सद्बुद्धि। जिसको ईश्वर एक अवधि। जैसे गंगा को उदधि। निरन्तर।।२६।। वैसे बिना ईश्वर प्राप्ति। जिसको न अन्यगति। वह एकमेव सद्वृत्ति। जग में अर्जुन।।२७।। इसके बिना अन्य। दुर्बुद्धि निश्चित जान। वहां निरन्तर स्थान। अविवेकवन्त को।।२८।। अतः इनको हे पार्था!। प्राप्त स्वर्ग संसार अवस्था। आत्मसुख सर्वथा। दुष्प्राप्य सदा।।२९।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवारताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

ये वेदाधार बोलत। केवल कर्म प्रतिष्ठित। किंतु कर्मफल में आसक्त। रहत सदा।।२३०।। कहत संसार में जन्म लेना। यज्ञादिक कर्म करना। तब स्वर्गसुख अवश्य भोगना। मनोहर।।३१।। इसके बिना अन्य। न यह लोक में सुख अर्जुन। दुर्बुद्धि अयोग्य प्रतिपादन। ऐसा करत।।३२।। देखो कामना अभिभूत होकर कर्म आचरत। केवल भोग में चित्त। रखत नित्य।।३३।। क्रियाविशेष अनुष्ठान। धर्म में होकर निपुण। आचरत विधि विधान। बहुविध।।३४।। किंतु त्रुटि एक करत। स्वर्गकाम मन में धरत। यज्ञपुरुष को विस्मरत्त। भोक्ता जो।।३५।। कर्पूर की रास रचना। अग्नि से जला देना। अथवा मिष्ठान्न में मिलाना। कालकूट।।३६।। दैव से अमृत कुंभ पाया। वह पांव से उलटाया। व्यर्थ स्वधर्म गंवाया। सकाम कर्म से।।३७।। यत्न से पुण्य पावत। उससे संसार वांछत। क्या कीजे न जानत। मूढ़ जन।।३८।। गृहिणी पाकसिद्धि करत। मोल से उसको बेचत। भोग प्राप्यर्थ आचरत। अविवेकी धर्म।।३९।। अतः हे पार्थ!। जो अर्थवादरत। वे दुर्बुद्धि सार्थ। निश्चित जानो।।२४०।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

तीनों गुणों से आवृत्त। यह वेद जानो निर्भ्रांत। यहां उपनिषद समस्त। सात्विक

उपाधि में रहते हुए भी उसको उपाधि की बाधा नहीं होती।।२२०।। जिस बुद्धि में पुण्य-पाप आदि कर्म फल का प्रवेश नहीं होता, जो सूक्ष्म एवं अत्यंत निश्चित हुई है, जिसको रजत आदि गुणों का स्पर्श नहीं होता।।२१।। अर्जुन! वह बुद्धि पुण्य कर्म से हृदय में यत्किंचित प्रकट हुई हो, तब संसार भय पूर्ण नष्ट होता है।।२२।।

हे अर्जुन! यहां निश्चयात्मक (ईश्वरनिष्ठ) बुद्धि एक ही है। जो अनिश्चित है। उनको अनेक भेदों से युक्त ऐसी अनंत शाखाएं बुद्धि में होती हैं।।४१।।

छोटी दीप-ज्योति का प्रकाश भी सर्वत्र फैलता है, तद्वत सद्‌बुद्धि को छोटी नहीं कहना चाहियें।।२३।। अर्जुन! विचारवंत लोग ऐसी बुद्धि की अपेक्षा करते हैं। क्योंकि सृष्टि में सद्‌बुद्धि दुर्लभ है।।२४।। जिस प्रकार अन्य वस्तुएं विपुल प्रमाण में प्राप्त होती हैं किंतु पारस नहीं मिलता। या अमृतबिंदु प्राप्त होने के लिये दैवयोग की आवश्यकता होती हैं।।२५।। तद्वत परमात्मा जिसका अंतिम ध्येय है वह सद्‌बुद्धि दुर्लभ है। गंगा नदी को जिस प्रकार समुद्र के बिना अन्य गति नहीं है।।२६।। तद्वत जिसको भगवान के बिना अन्य आश्रय स्थान नहीं है वही विश्व में एक सद्‌बुद्धि कहलाती है।।२७।। इससे अन्य बुद्धि, दुर्बुद्धि समझना। उसमें अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। अविचारी लोग उसमें रममाण होते हैं।।२८।। अतः पार्थ। उनको स्वर्ग, संसार, नरक प्राप्त होते हैं। उनको आत्मसुख का यत्किंचित दर्शन नहीं होता।।२९।।

हे अर्जुन! वेदों के अर्थवाद में रत होनेवाले अविवेकी (स्वर्ग सुख और दुर्लभ साधन कर्म के अतिरिक्त) दूसरा कुछ नहीं ऐसा कहनेवाले पुष्पयुक्त वृक्ष के अनुसार मनोहर वेदवाणी के आधार से कहते जाते हैं।।४२।।

वेद वचनों के प्रमाण देकर बोलनेवाले एवं केवल कर्म मार्ग का श्रेष्ठत्व सिद्ध करते हैं। किंतु वे कर्मफल के लोभी होते हैं।।२३०।। वह कहते हैं मृत्युलोक में जन्म लेने पर यज्ञादि कार्य करते हुये मनोहर स्वर्ग सुख का उपभोग करना चाहिये।।३१।। इसके बिना इस लोक में अन्य सुख नहीं है। ऐसा ये दुर्बुद्धि प्रतिपादन करते हैं।।३२।।

विषयोपयोग में तत्पर एवं स्वर्ग प्राप्ति की अभिलाषा करनेवाले भोग एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये उसमें विपुल कर्म बताये गये हैं। वह जन्मरूपी कर्मफल देनेवाले हैं।।४३।।

अर्जुन देखो! केवल सुखोपभोग की दृष्टि रखकर फलाशा से व्याप्त वह दुर्बुद्धि कर्म करते हैं।।३३।। अनेक प्रकार के कर्मानुष्ठान से, विधि विधान में यत्किंचित गलती न करते हुए दक्षता से वे धर्माचरण करते हैं।।३४।।

विषय एवं ऐश्वर्य में आसक्त, वाणी से जिनकी विवेक बुद्धि भ्रष्ट हुई है ऐसे पुरुषों के अंतःकरण में आत्मतत्त्व विषयक बुद्धि का उद्‌भव नहीं होता।।४४।।

वह एक त्याज्य बात करते हैं, वह यह कि स्वर्ग की इच्छा मन में रखते हैं। किंतु यज्ञभोक्ता परब्रह्म परमात्मा को ही भूल जाते हैं।।३५।। जिस प्रकार कर्पूर की राशि करके उसको अग्निस्पर्श कराने से, या मिष्टान्न में जालिम विष मिलाने से।।३६।। या दैवयोग से प्राप्त अमृतघट लथाड़कर उलटा करने से जैसा व्यर्थ जाता है। वैसा फल की अभिलाषा से किया हुआ धर्म व्यर्थ जाता है।।३७।। प्रयास करके पुण्य प्राप्ति करने पर संसार की अपेक्षा करना व्यर्थ है। किंतु जिनको सद्‌बुद्धि नहीं है ऐसे अज्ञानियों को यह समझता नहीं क्या करेंगे?।।३८।। जैसे कुशल गृहिणी उत्तम मिष्ठान्न बनाकर धन प्राप्ति के लिए उसे बेच दे तद्वत यह अविचारी लोग सुखोपभोग की आशा से प्राप्त धर्म गंवाते हैं।।३९।। अतः हे अर्जुन! वेदों के अर्थवाद में मग्न लोगों के मन में पूर्णतः दुर्बुद्धि का वास होता है, यह ध्यान में रखना।।२४०।।

हे अर्जुन! त्रिगुणों का प्रतिपादन वेद करते हैं। तुम त्रिगुणातीत द्वंद रहित, नित्य सत्त्व गुणसंपन्न, योग क्षेम की चिंता न करनेवाला आत्मनिष्ठ बनो।।४५।।

वेद तीन गुणों से व्याप्त है ऐसा तुम निःसंशय समझो। उसमें उपनिषदादि भाग सात्त्विक

Funding by IKS-MoE

होत ।।४१।। शेष रजतात्मक। जहां निरूपित कर्मादिक। जो केवल स्वर्ग सूचक। धनुर्धर ।।४२।। इसलिये हे अर्जुन!। ये सुख-दुख का कारण। इनको अपना मन। कदापि न देना तुम ।।४३।। तुम गुणत्रय को त्यागना। निर्द्वंद्व निर्योगक्षेम होना। आत्मसुख न होने देना। वंचित कभी ।।४४।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४६।।

यदि वेदों में बहुत। विविध मार्ग प्रबोधित। जिससे होत अपना हित। वही ग्राह्य ।।४५।। जैसे गभस्तिर प्रकटत। अशेष मार्ग स्पष्ट होत। क्या सब पर एक साथ। चलना युक्त? ।।४६।। अथवा उदकमय सकल। यदि होत महीतल। लेना उतना ही जल केवल। आवश्यक जितना ।।४७।। वैसा जो ज्ञानवन्त। वेदोपदेश मानत। अपेक्षित स्वीकारत। शाश्वत जो ।।४८।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

अतः हे पार्थ!। देखे यदि तत्त्वतः। तुमको उचित होत। स्वधर्म यह ।।४९।। करके विचारणा समस्त। तब यदि मन को प्रतीत। न तुम त्यागना युक्त। विहीत कार्य ।।२५०।। किंतु कर्मफल की आस न कीजे। कुकर्म संगत न धरिजे। यह सत्क्रिया ही आचरिये। कर्मफल बिना ।।५१।।

योगस्थः कुरु कर्माणि संङ्गं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८।।

तुम योगस्थ होकर। फलाशा का त्याग कर। अर्जुन चित्त लगाकर। करो कर्म ।।५२।। किंतु कृतकर्म जान। दैव से यदि होत पूर्ण। विशेष संतोष हे अर्जुन!। न करो कदा ।।५३।। या किसी एक कारण। सिद्ध न होत रहे अपूर्ण। मन में होकर उद्विग्न। क्षोभ न करना ।।५४।। कर्म यदि हुआ पूर्ण। और यदि रहा अपूर्ण। हुआ सकल संपूर्ण। मानो ऐसा तुम ।।५५।। देखो सब कर्माचरण। करो आदिपुरुष को अर्पण। तब वह सहज पूरिपूर्ण। जानो पार्थ ।।५६।। सकल सद्सत्कर्म। समसमा मनोधर्म। यही योगस्थिति उत्तम। मानत सन्त ।।५७।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।४९।।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

अर्जुन समत्व चित्तका। वही सार ज्ञान योग का। जहां मन एवं बुद्धि का। ऐक्य होत ।।५८।। वह बुद्धि योग पार्थ। कर्मयोग से उत्तम निश्चित। किंतु पावत योगस्थिति यथार्थ। कर्मोत्तर ही ।।५९।२६०।। अतः बुद्धियोग श्रेष्ठ। अर्जुन स्थिर कीजे चित्त। मन से कर्मफल हेत। त्यागो सर्वथा ।।६१।। जो बुद्धियोग आचरत। वे ही होत पारंगत। उभयबंध से मुक्त। पापपुण्य के ।।६२।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीपिणः। जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

ज्ञानी कर्म आचरत। किंतु कर्म फल न कांक्षते। अतः यातायात लोपत। जन्ममृत्यु की ।।६३।। तव निरामय सहित। पद पावत अच्युत। वे ज्ञानी योग युक्त।

है।।४१।। हे अर्जुन! केवल स्वर्ग सूचक ऐसे कर्मों का जिसमें निरूपण है वह सब रजोगुण व तमोगुण से युक्त है।।४२।। अतः वह केवल सुख-दुख के कारण है। ऐसा तुम ध्यान में रखना। उसमें यदि तुम्हारा मन जायेगा। ऐसा नहीं होना चाहिये।।४३।। तीनों गुणों को तुम छोड़ दो। मैं एवं मेरा ऐसा भाव धरना नहीं। अंतःकरण में आत्मसुख को भूलना नहीं।।४४।।

सर्वत्र यद्यपि जल है किन्तु प्यास के अनुसार जल पीते हैं। तद्वत ज्ञानी संपूर्ण वेदों का विचार करके उसमें से स्वयं अपेक्षित ज्ञान का ग्रहण करते हैं।।४६।।

यद्यपि वेदों में अनेक विषयों की चर्चा है, विधि निषेध के अनेक प्रकार सूचित किये हैं उसमें से अपने लिए हितकर उतना ही ग्राह्य होता है।।४५।। जैसे सूर्योदय के साथ यद्यपि सब मार्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं किंतु सब रास्तों से चलते हैं क्या? यही मुझे बताओ।।४६।। पृथ्वी पर जल विपुल मात्रा में है। उसमें से आवश्यकतानुसार लिया जाता है।।४७।। तद्वत ज्ञानी वेदार्थ का विचार करते हैं। उसमें से शाश्वत एवं इष्ट को ग्रहण करते हैं।।४८।।

कर्म करने का तुम्हारा अधिकार है। कर्म फल की इच्छा नहीं करना। कर्मफल हेतुभूत तुम्हें नहीं होना चाहिये। किंतु कर्म न करने पर आग्रह (मन में) नहीं होना चाहिये।।४७।।

अतः अर्जुन सुनो! इस दृष्टि से स्वकर्म इस समय तुम्हारे लिये उचित है।।४९।। सब बातों का विचार करने पर यह बात हमारे मन में निश्चित हुई कि तुम्हें अपना विहित कर्म नहीं छोड़ना चाहिये।।२५०।। कर्म फल की आशा नहीं करना। निषिद्ध कर्म करने की प्रवृत्ति भी नहीं होना चाहिये। यह सदाचार निष्काम बुद्धि से आचरण में लाना।।५१।।

हे अर्जुन! योगयुक्त होकर फल की अभिलाषा छोड़कर पूर्ण एवं अपूर्ण कर्म के प्रति मन समतोल रखते हुए तुम कर्म करना। मन का समतोल ही योग कहलाता है।।४८।।

हे अर्जुन! निष्काम कर्मयोग से युक्त होकर कर्मफल की अभिलाषा छोड़कर मनःपूर्वक विहित कर्म करना चाहिये।।५२।। दैव के अनुकूलता से किया हुआ कर्म यथासांग समाप्त हुआ उसमें संतुष्ट होने की आवश्यकता नहीं है।।५३।। किसी कारण से प्रारंभ किया हुआ कर्म पूर्ण न होते हुए अधूरा रहा तब भी असंतोष करने की आवश्यकता नहीं।।५४।। कर्म पूर्ण हुआ तब अपना कार्य हुआ या अधूरा रहा तो भी वह सफल हुआ ऐसा समझना।।५५।। जितना कर्म होगा उतना भगवान को समर्पित करने से वह परिपूर्ण हुआ ऐसा समझो।।५६।। पूर्ण एवं अपूर्ण कर्म के प्रति मन का समत्वल ही सत्य योगस्थिति है। उसकी ज्ञानी पुरुष प्रशंसा करते हैं।।५७।।

हे अर्जुन! निष्काम कर्म से फलाशायुक्त कर्म निकृष्ट है। तुम बुद्धि का आश्रय लेना। फलाशा से कर्म करनेवाले दीन होते हैं।।४९।। बुद्धियुक्त पुरुष इस लोक में पुण्य एवं पाप का त्याग करते हैं। अतः योग के लिए प्रयत्न करो। कुशलता पूर्वक कर्म ही योग है।।५०।।

हे अर्जुन! चित्त की समता योग का मर्म है ऐसा समझना। इस योग में मन एवं बुद्धि का ऐक्य रहता है।।५८।। हे पार्थ! बुद्धियोग का विचार करके सकाम कर्म का भाग कमी योग्यता का प्रतीक होता है।।५९।। किंतु प्रारंभ में सकाम कर्म करने से अंत में निष्काम कर्मयोग की प्राप्ति होती है। ऐसा करते हुए सकाम कर्म से कर्तृत्व मद एवं फलास्वाद छोड़कर शेष कर्म स्वाभाविक योगस्थिति कहलाती है।।२६०।। अतः बुद्धियोग पक्की नींव पर निर्माण किया गया है। उस पर हे अर्जुन अपना मन स्थिर करो। मन में फलाशा का त्याग करो।।६१।। बुद्धियोग का आश्रय लेने वाले ही संसारसागर पार कर जाते हैं। उनकी पाप एवं पुण्य के बंधन से मुक्तता होती है।।६२।।

बुद्धियोग का अवलंब करनेवाले ज्ञानी कर्मफल का त्याग करके जन्मबंधन से मुक्त होकर निरामय मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।।५१।।

निष्काम कर्मयोगी कर्म करते हुए कर्म फल को मन से भी स्पर्श नहीं करते। हे अर्जुन! उनका जन्म मृत्यु का आवागमन बंद होता है।।६३।। बुद्धि

धनुर्धर।।६४।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

ऐसी स्थिति तब प्राप्त। जब होइजे मोह से मुक्त। वैराग्य ज्ञान संचरत। सहज मन में।।६५।। वहां निष्कलंक गहन। प्रकटत आत्मज्ञान। निरिच्छ होत मन। स्वाभाविक।।६६।। उस समय अर्जुन। किसी वस्तु का ज्ञान। अथवा पूर्व घटना का स्मरण। नष्ट पूर्ण।।६७।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

इंद्रियों की संगति। जो चंचल करत मनोगति। वह स्थिर होत मति। आत्मरूप में।।६८।। समाधि सुख में केवल। जब बुद्धि होत निश्चल। तब प्राप्त होत सकल। योगस्थिति।।६९।।

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

तब अर्जुन कहे, देव!। यह अभिप्राय सर्व। मुझको कहो अभिनव। कृपानिधि।।२७०।। तब कहत अच्युत। जो तेरे मन में व्याप्त। पूछो वह प्रश्न पार्थ। निःसंकोच।।७१।। यह सुनकर अर्जुन। कहे निरुपिजे हे कृष्ण!। स्थितप्रज्ञ का लक्षण। कैसे जाने?।।७२।। किसको स्थिर बुद्धि कहत?। कौन चिन्ह से जानत?। जो समाधि सुख में स्थित। निरंतर।।७३।। कैसी उसकी अवस्था होत। कौन रूप में जग में वर्तत। हे देव!, हे लक्ष्मीकान्त!। कहो मुझ से।।७४।। तब परब्रह्म अवतरण। जो षड्गुणाधिकरण। वह साक्षात नारायण। क्या बोलत?।।७५।।

श्री भगवान उवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

सुनो अर्जुन नरेशा। अति बलवत्तर अभिलाषा। करत स्वसुख नाशा। निरंतर।।७६।। जो सर्वदा नित्यतृप्त। अंतःकरण ज्ञानयुक्त। किंतु होत विषयासक्त। जिस संग से।।७७।। वह काम जब नाशत। आत्म संतोष में मन रमत। वही स्थितप्रज्ञ होत। पुरुष जान।।७८।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

नाना दुःख होत प्राप्त। उद्विग्न न जिसका चित्त। सुख में न हो आसक्त। जिसका मन।।७९।। अर्जुन उस का चित्त। सहज कामक्रोध रहित। भयलेश न उद्भवत। परिपूर्ण जो।।२८०।। ऐसा जो निरवधि। यह जान स्थिरबुद्धि। निरसत सब उपाधि। भेद रहित।।८१।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

जो सर्वत्र सदा सम। जैसा पूर्ण चंद्रमा सुवर्म!। न जाने अधमोत्तम। देत प्रकाश सम।।८२।। ऐसी अखण्ड समता। भूतमात्र से सदयता। अखंडित चित्त स्थिरता।

योग से आचरण करनेवाले आनंद से परिपूर्ण अच्युत पद प्राप्त करते हैं।।६४।।

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप मलिनता का त्याग करेगी, तब तुम सुनी हुई बातों के प्रति या भविष्य की बातों के प्रति विरक्त हो जावोगे।।५२।।

अर्जुन! जब तुम मोह छोड़ दोगे एवं मन में वैराग्य धारण करोगे तब तुम्हें ऐसी स्थिति प्राप्त होगी।।६५।। शुद्ध एवं गंभीर आत्मज्ञान उत्पन्न होगा। उससे तुम्हारा मन स्वाभाविक रीति से निरिच्छ होगा।।६६।। तब कुछ और ज्ञान प्राप्त करना या किए हुए का स्मरण करना यह भाव भी नहीं रहेगा।।६७।।

ग्रस्त हुई तुम्हारी बुद्धि निश्चल होकर समाधिसुख में स्थिर होगी तब तुम्हें संपूर्ण योगस्थिति प्राप्त होगी।।५३।।

इंद्रियों की संगति में बुद्धि सर्वत्र भटकती है। वह अपने स्वरूप में स्थिर होगी।।६८।। केवल समाधिसुख में ही जब बुद्धि स्थिर होगी तब संपूर्ण निष्काम कर्मयोग तुम्हें साध्य हुआ ऐसे समझना।।६९।।

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! समाधिसुख अखंड भोगनेवाले स्थितप्रज्ञ को पहचानने के कौनसे लक्षण हैं? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है? कैसे रहता है एवं कैसे चलता है?।।५४।।

अर्जुन ने कहा, हे देव! यह सब अभिप्राय मैं आपसे पूछता हूं। हे करुणासागर! वह तुम मुझे बताओ।।२७०।। श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! तुम्हें जो योग्य प्रतीत होगा वह खुले दिल से मुझे पूछना।।७१।। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, हे देव! स्थितप्रज्ञ किसको कहते हैं? उसको कैसे पहचाना जाता है? मुझे बताओ।।७२।। जिसको स्थिरबुद्धि कहते हैं। जो निरंतर समाधिसुख का अनुभव करता है। कौन से लक्षणों से पहचाना जाता है।।७३।। वह किस स्थिति में रहता है? कैसा व्यवहार करता है? हे लक्ष्मीपती मुझे बताओ।।७४।। ऐश्वर्य के षड्गुणों के आश्रय स्थान एवं परब्रह्म का अवतार श्रीकृष्ण ने क्या कहा वह सुनिये।।७५।।

श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! मन की सब इच्छाओं का त्याग करके स्वयं स्वस्वरूप में संतुष्ट रहता है ऐसे पुरुष को स्थितप्रज्ञ कहते हैं।।५५।।

श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! मन में रहनेवाली उत्कट विषयासक्ति आत्मसुख में बाधा उत्पन्न करती है।।७६।। जो नित्य तृप्त है! जिसका अंतःकरण नित्य आनंद से परिपूर्ण है। ऐसे जीवात्मा का भी जिस काम की संगति में पतन होता है।।७७।। वह काम जिसका संपूर्ण नष्ट हुआ है, जिसका मन निरंतर आत्मसुख में निमग्न रहता है वह पुरुष स्थितप्रज्ञ है ऐसा समझना।।७८।।

दुःख प्राप्त होने से जिसका मन उद्विग्न नहीं होता। सुख प्राप्त होने पर जिसका मन निरीच्छ रहता है। प्रीति, भय, क्रोध जिसके नष्ट हुए हैं। उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं।।५६।।

दुःख प्राप्त होने पर जिसका अंतःकरण उदास नहीं होता। एवं जो सुख की अभिलाषा में कभी लिप्त नहीं होता।।७९।। हे अर्जुन! जिसको स्वभावतः ही कामक्रोध नहीं रहते। उसको भय का स्पर्श नहीं होता। ऐसा वह परिपूर्ण होता है।।२८०।। ऐसा जो अमर्याद है। जो देहप्रपंचादि उपाधियों को छोड़कर भेदरहित रहता है वह स्थिरबुद्धि है ऐसा समझना।।८१।।

जिसकी कहीं भी आसक्ती नहीं होती। शुभ या अशुभ प्राप्त होने पर भी उसे आनंद या विषाद नहीं होता। तब उसकी बुद्धि स्थिर है ऐसा समझना।।५७।।

परिपूर्ण चंद्रप्रकाश उत्तम-अधम भेद नहीं करता। तद्वत जो नित्य सर्वत्र समबुद्धि से व्यवहार करता है।।८२।। निरंतर समता एवं भूतमात्र के प्रति जिसमें सदयता रहती है। किसी भी अवस्था में

अविचल सदा।।८३।। इच्छा प्राप्ति से संतुष्ट। दुःख प्राप्ति से न विषाद प्राप्त। न कभी प्रभावित। दोनों से पार्थ।।८४।। ऐसे हर्ष शोकरहित। जो आत्मबोध सहित। वह जानो प्रज्ञायुक्त। धनुर्धर।।८५।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

अथवा कूर्मांग सदृश। प्रसरत अवयव अशेष। पुनः सकुचत इच्छावश। अपने आप।।८६।। वैसी इंद्रिया स्वाधीन। वर्तत इच्छा समान। उसकी प्रज्ञा जान। प्रतिष्ठित।।८७।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते।।५९।।

अर्जुन अन्य एक। सुन विशेष कौतुक। इन विषयों को साधक। त्यजत नित्य।।८८।। श्रोत्रादि इंद्रियां निवारत। किन्तु रसना स्वाधीन न करत। वे सहस्त्रधा होत ग्रसित। विषयों से इन।।८९।। जैसे उपरि कोपल तोड़त। जड़ में जल सींचत। तब कहो कैसा होवत। नाश वृक्ष का।।२९०।। उदक के बल कारण अधिक पुष्ट वृक्ष जाना। वैसे प्रगटत विषय उफान। रसना द्वार से।।९१।। अन्य इंद्रियों के विषय। निग्रह से नष्ट कौन्तेय। रसना का न निग्रह शक्य। जो जीवनाधार वह।।९२।। किंतु जब साधक। होत परब्रह्म उन्मुख। इंद्रियनिग्रह अशेख। सहज घटत।।९३।। तब शरीर भाव नाशत। इंद्रियां विषय विस्मरत। जब सोहंभाव प्रतीत। प्रगट होत।।९४।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

यदि सोचे अर्जुन। इंद्रियजय महाकठिन। यत्न से भी इनका दमन। दुष्कर अति।।९५।। अभ्यास जिनका पहरेदार। यमनियम उसकी बागुर। मन मुट्ठि के अंदर निरंतर।।९६।। वे भी होत व्याकुल। ऐसा इंद्रियों का बल। मंत्रज्ञ को पिशाच्च भूल पाडत जैसा।।९७।। देखो यह विषय विष। करके ऋद्धि-सिद्धि का मिष। योगियों को करके स्पर्श। करत वश।।९८।। ऐसी इंद्रियों की शक्ति। अभ्यास में उपजत विरक्ति। मन की रुकत गति। स्तब्ध होत।।९९।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

इसलिये हे पार्था! नष्ट करो उनको सर्वथा। सर्व विषयों की आस्था। छोड़ कर सदा।।३००।। वह एक तू जान। योगनिष्ठा का कारण। फंसत जिसका मन विषय सुख में।।१।। जो आत्मबोध से युक्त। विचरत जगत में सन्तत। मुझको कदा न विस्मरत। हृदयस्थ को।।२।। बाह्यतः विषय त्याग पार्थ। किन्तु मन में विषय ध्यान नित्य। मानत संसार सत्य। निश्चत जानो।।३।। जैसा विष का लेश-। मात्र होत भूयस। निभ्रांत करत नाश। जीवित का।।४।। वैसी यह विषय शंका पार्थ। मन में यदि वसत किंचित। संपूर्ण नष्ट करत। विवेक ज्ञान को।।५।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

जिसके चित्त में बदल नहीं होता ।। ८३।। कुछ अच्छा प्राप्त होने पर उसके मन पर संतोष का प्रभाव नहीं रहता। दुःखद स्थिति में (खिन्नता) विषाद उत्पन्न नहीं होते ।। ८४।। तद्वत जो हर्ष शोक रहित रहता है। आत्मज्ञान से संपन्न है। वह स्थिरबुद्धि है ऐसा हे अर्जुन! तुम समझना ।। ८५।।

जिस प्रकार से कछुआ अपने अवयव समेट लेता है तद्वत अपनी इंद्रियां विषय सुख से जो अलिप्त कर लेता है। तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई है ऐसा समझो ।। ५८।।

जिस प्रकार से कछुआ खुशी से अपने अवयव फैलाता है एवं अपनी इच्छानुसार भीतर खींच लेता है ।। ८६।। तद्वत जिसका इंद्रियों पर अधिकार रहता है। उसकी इच्छा के अनुसार इंद्रियां व्यवहार करती हैं। उसकी बुद्धि स्थिर हुई है ऐसा समझना ।। ८७।।

आहार न करनेवालों के रस विषय को छोड़कर बाकी सब विषय निवृत्त होते हैं। किंतु परब्रह्म का ज्ञान होते ही रस विषय सह अन्य सब विषयों की आसक्ती नष्ट होती है ।। ५९।।

अर्जुन! आश्चर्यकारक एक बात और सुनो! साधक निग्रह करके विषयों का त्याग करते हैं ।। ८८।। श्रोत्रदि इंद्रियों पर नियंत्रण करते हैं। किंतु जिव्हा पर नियंत्रण नहीं रहता। उनको सब विषय पुनः घेर लेते हैं ।। ८९।। जैसे वृक्ष के ऊपरी पत्ते तोड़कर जड़ में पानी देने से वृक्ष का नाश नहीं होता ।। २९०।। पानी के संसर्ग से वह फैल कर बढ़ता जाता है। तद्वत रसेंद्रिय द्वारा विषय वासना मन में पनपती है ।। ९१।। अन्य इंद्रियों के विषय नष्ट होते हैं। तद्वत जिव्हा का रस विषय निग्रह से नष्ट नहीं किया जाता। क्योंकि उसके बिना जीवित नहीं रह सकते ।। ९२।। हे अर्जुन! अपरोक्षानुभव से परब्रह्म अवस्था प्राप्त होती है तब ऐसे रसना का नियमन करना साध्य होता है ।। ९३।। जब अहंब्रह्माऽस्मि का अनुभव आता है तब शरीर के कामक्रोध आदि विकार नष्ट होते हैं एवं इंद्रियां अपने विषय भूल जाती हैं ।। ९४।।

हे अर्जुन! स्थिर बुद्धि होने के लिए प्रयत्न करनेवाले विवेकी पुरुष का मन उच्छश्रृंखल इंद्रियां बलात् विषयों के तरफ खींचती है ।। ६०।।

हे अर्जुन! इंद्रियां उच्छश्रृंखल रहती हैं। नित्य सम्हालकर रहनेवाले साधक ।। ९५।। स्वयं पर अभ्यास का पहरा रखते हैं। मन को यमनियम की बाड़ करते हैं। मन को नित्य संयमित करते हैं ।। ९६।। उन साधकों को भी यह इंद्रियां व्याकुल कर देती हैं। इंद्रियों का प्रताप ऐसा है। पिशाच्य जिस प्रकार से मांत्रिक को ठगता है ।। ९७।। तद्वत यह विषय ऋद्धि-सिद्धि के रूप में प्राप्त होते हैं। अंत में इंद्रियों के मार्ग से साधकों के मन पर विजय प्राप्त करते हैं ।। ९८।। ऐसा मन अभ्यास के लिए दुर्बल बन जाता है। इंद्रियों की शक्ति ऐसी है ।। ९९।।

इंद्रियों का संयमन करके योगमुक्त होकर मेरे प्रति चित्त एकाग्र करना चाहिये। इंद्रियों पर जिसने विजय प्राप्त की है उसकी बुद्धि स्थिर है समझो ।। ६१।।

हे अर्जुन! विषयों की आसक्ति छोड़कर जो इंद्रियों का सर्वस्वी दमन करता है ।। ३००।। जिसका अंतःकरण विषयसुख की लालसा से ठगता नहीं। ऐसा पुरुष योगनिष्ठा का अधिकारी है, ऐसा तुम समझो ।। १।। वह आत्मज्ञान से निरंतर संपन्न रहता है। मुझे अंतःकरण से कभी भूलता नहीं ।। २।। बाह्यतः विषयों का त्याग करनेवाले के मन में विषय वासना रखने से संपूर्ण संसार उसके लिए सत्य है ऐसा समझो ।। ३।। जिस प्रकार से विष की एक बूंद भी निःसंशय प्राणहीन करती है ।। ४।। तद्वत विषयों के सूक्ष्म संस्कार यदि मन में शेष रहे तब वह संपूर्ण विचारों का नाश करते हैं ।। ५।।

विषयों का चिंतन करनेवाले पुरुषों को उसके प्रति आसक्ती उत्पन्न होती है। आसक्ति से काम उत्पन्न होता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से संमोह। संमोह से स्मृतिभ्रंश। स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश होता है। एवं बुद्धि नाश से उस पुरुष का नाश होता है ।। ६२/६३।।

Funding by IKS-MoE

यदि मन में विषय स्मरत। निस्संग को भी संग उपजत। संग में प्रगटत मूर्त। अभिलाषा।।६।। जहां काम होत उत्पन्न। क्रोध वहां विद्यमान। क्रोध से सम्मोह जान। सुनिश्चित।।७।। सम्मोह से व्याप्त व्यक्ति। नाश पावत स्मृति। प्रचण्ड वात से ज्योति। नाशत जैसी।।८।। दिनमणि पावत अस्त। निशा तेज को ग्रसत। वैसी स्मृति भ्रंश से होत। दुर्दशा जीव की।।९।। तब अज्ञान केवल। आप्लवत विवेक सकल। वहां बुद्धि होत विकल। हृदयान्तर में।।३१०।। पलायन प्रसंग प्राप्त। जात्यंध सैर धावत। वैसा भ्रमित बुद्धि मंत। साधक पार्थ।।११।। जब होत स्मृतिभ्रंश। सर्वथा वहां बुद्धिनाश। पावत समूल विनाश। ज्ञानजात।।१२।। जहां चैतन्य नष्ट होत। जो दशा शरीर पावत। वैसी बुद्धिनाश से होत। जीवदशा।।१३।। सुनो हे अर्जुन। विस्फुलिंग स्पर्शत ईधन। प्रदीप्त होत त्रिभुवन। भस्म करत।।१४।। वैसे यह विषय ध्यान। यदि कदाचित करत मन। उससे होत अधःपतन। निश्चित जान।।१५।।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

अतः विषय समस्त। त्यागे मन से पार्थ। तब राग द्वेष नष्ट। होत स्वयं।।१६।। पार्थ अन्य एक बात। यदि राग द्वेष नाशत। विषय संग न बाधत। कदापि उसको।।१७।। जैसा सूर्य आकाशगत। रश्मिकर से स्पर्शत। क्या संगदोष से लिप्त। होवे कदा?।।१८।। वैसा इंद्रियार्थ उदासीन। आत्मरस से निर्भिन्न। जो काम-क्रोध विहीन। वर्तत जग में।।१९।। विषय सर्वथा जान। न मानत स्वरूप से भिन्न। तब कहो किसको कौन। बाधक होत?।।३२०।। यदि उदक में उदक डूबत। या अग्नि से अग्नि जलत। तब ही विषय राग से आप्लावित। परिपूर्ण जो।।२१।। ऐसा पुरुष जो केवल। रहत होकर निखिल। उसकी प्रज्ञा अचल। निर्भ्रान्त जानो।।२२।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

देखो प्रसन्नता अखण्डित। चित्त में जिसके वसत। वहां न प्रवेश प्राप्त। संसार दुःख को।।२३।। जैसा अमृत का निर्झर। प्रसवत जिसका जठर। उसको क्षुधातृष्णा का डर। कुछ भी नहीं।।२४।। हृदय यदि प्रसन्न रहत। वहां दुःख कैसे भासत?। बुद्धि स्वयं रमत। आत्मस्वरूप में।।२५।। जैसा निर्वात स्थल में दीप। सर्वथा न पावत कंप। वैसा स्थिर बुद्धि स्वस्वरूप। योगयुक्त।।२६।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

यह मर्म न जो जानत। उसका बुद्धिनाश होत। गुण सब उसको बाधत। विषयादिक।।२७।। बुद्धिनाश से पार्था। स्थिरता न पावे सर्वथा। स्थैर्य के प्रति न आस्था। उपजत कभी।।२८।। निश्चलत्व की भावना। मन में न जिसके अर्जुना। तब शांति समाधाना। पावत कैसे?।।२९।। जहां नहीं शान्ति का लेश। नही वहां

Funding by IKS-MoE

अंतःकरण में विषयों की याद रखने के संग छोड़ दिए पुरुषों को भी पुनः विषयासक्ति लुब्ध करती है। विषयाशक्ति से विषय प्राप्ति की इच्छा प्रकट होती है।।६।। जहां काम उत्पन्न होता है वहां क्रोध अपना स्थान पहले से ही बना लेता है। जहां क्रोध आया वहां कार्याकार्य का विचार नहीं होता।।७।। जिस प्रकार से तूफान में दीपक बुझ जाता है। तद्वत संमोह प्रकट होते ही स्मृति का नाश होता है।।८।। सूर्यास्त के समय निशा सूर्य तेज को निगल जाती है तद्वत स्मृति नाश होते ही प्राणी की दुर्दशा होती है।।९।। सर्वत्र अज्ञान का अंधेरा छा जाता है। सबके ऊपर उसका ही आवरण होता है। इस समय बुद्धि हृदय में व्याकुल हो जाती है।।३१०।। जन्मांध दौड़धूप में दीन होकर निरुपाय से यत्र-तत्र दौड़ने लगता है। वैसी अर्जुन! बुद्धि में भ्रांति उत्पन्न होती है।।११।। इस प्रकार से स्मृति में भ्रंश उत्पन्न होते ही बुद्धि सर्व प्रकार से कुंठित होती है। उससे संपूर्ण ज्ञान समूल नष्ट होता है।।१२।। प्राण निकल जाने पर जैसी शरीर की दशा होती है तद्वत बुद्धिनाश से पुरुषों की स्थिति होती है। ऐसा समझो।।१३।। अतः हे अर्जुन! लकड़ी में अग्निस्पर्श होने से प्रज्जवलित होकर त्रिभुवन को नष्ट करने के लिये वह समर्थ होती है।।१४।। तद्वत विषय चिंतन मन से यद्यपि अनायास अल्प मात्रा में होने पर भी इनको पतन ढूंढ़ते हुए पहुंच जाता है।।१५।।

किंतु प्रीति-द्वेष रहित वश किये हुए इंद्रियों से विषयों का उपभोग लेनेवाला एवं जिसने मन अपने स्वाधीन किया है ऐसे पुरुष को मन की प्रसन्नता प्राप्त होती है।।६४।।

सब विषय मन से निकाल डालना चाहिये। जिससे राग-द्वेष अपने आप नष्ट हो जायेंगे।।१६।। राग-द्वेष का नाश होने पर इंद्रियां विषयों में रममाण होने पर भी बाधा नहीं करती।।१७।। जिस प्रकार से आकाश स्थित सूर्य संपूर्ण विश्व को अपने किरणरूपी हाथों से स्पर्श करता है, किन्तु संगदोष से लिप्त नहीं होता।।१८।। तद्वत विषयों के प्रति जो अनासक्त है। आत्मानन्द में तल्लीन है। काम, क्रोध रहित है।।१९।। विषयों में जिसको आत्म-स्वरूप के बिना अन्य कुछ दिखता नहीं उसको विषयों की बाधा नहीं होती। ऐसे में कौन किसको बाधा करेंगे?।।३२०।। जल-जल में नहीं डूबता, अग्नि-अग्नि को नहीं जलाता। वैसा पूर्णावस्था प्राप्त पुरुष विषयों के संगति में लिप्त नहीं होता।।२१।। जो केवल शुद्ध आत्मस्वरूप बनकर रहता है उसकी बुद्धि स्थिर हुई है ऐसा तुम निःसंशय समझो।।२२।।

प्रसन्नचित्त से सब दुःखों का नाश होता है। चित्त प्रसन्न रखने वाले की बुद्धि शीघ्र स्थिर होती है।।६५।।

जिनका अंतःकरण नित्य प्रसन्न रहता है वहां संसार दुःख का प्रवेश नहीं होता।।२३।। जिस प्रकार से अमृत का झरना जिसके हृदय में उत्पन्न होता है उसको भूख प्यास का भय नहीं होता।।२४।। तद्वत अंतःकरण प्रसन्न होते ही दुःख कहां? तब परमात्म स्वरूप में बुद्धि स्वाभाविक स्थिर हो जाती है।।२५।। जिस प्रकार से निर्वात स्थान में दीपक रखने से दीप-ज्योति स्थिर हो जाती है। तद्वत योग युक्त पुरुष स्वस्वरूप में स्थिर बुद्धि से रहता है।।२६।।

योग युक्त न होने से बुद्धि स्थिर नहीं होती। स्थिरता की उसको इच्छा भी नहीं रहती। जिसको इच्छा नहीं उसको शांति नहीं। जिसको शांति नहीं उसको सुख प्राप्ति कहां से होगी?।।६६।।

योगयुक्त होकर रहने का विचार जिसमें नहीं है वह विषयों में जकड़ जाता है।।२७।। हे अर्जुन! उसकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती। बुद्धि स्थिरता की उत्कट इच्छा भी उसके मन में उत्पन्न नहीं होती।।२८।। निश्चलत्व की कल्पना भी जिसके मन में स्पर्श नहीं कर सकती, उसको शांति लाभ कहां से होगा?।।२९।। जिस प्रकार से पापी मनुष्य मोक्ष का विचार भी नहीं कर सकता। तद्वत जहां शांति की आर्द्रता नहीं है, वहां सुख यत्किंचित भी नहीं

सुख को प्रवेश। जैसे पापी को मोक्ष। दुष्प्राप्य सदा।।३३०।। दग्धबीज अंकुरण। वैसा अशान्त को सुखकारण। सर्वथा अशक्य जान। जगत में।।३१।। देखो अस्थैर्य मन का। वही कारण दुःख का। इसलिये इंद्रियों का। दमन युक्त।।३२।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

इंद्रियां जो जो वांछत। यदि पुरुष आचरत। तदा कभी न तरत। विषय सिन्धु।।३३।। नौका तटपर पहुंचत। पुनः बाढ़ग्रस्त होत। वैसा प्राप्त पुरुष दुःख पावत। विषय दुलार से।।३४/३५।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

इसलिये हे अर्जुन। यदि इंद्रियां होत स्वाधीन। न उसके समान। सार्थक अन्य।।३६।। सुनो हे पार्थ। जैसे कूर्मांग समस्त। प्रसरत तथा सकुचत। स्वेच्छा से वह।।३७।। वैसे इंद्रियां वश होत। आज्ञा जिसकी मानत। उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित। सर्वथा जानो।।३८।। अन्य एक गहन पूर्णत्व का लक्षण। तुझको हे अर्जुन। बतलाऊं मैं।।३९।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

जब भूतमात्र निद्रित। तब जो रहे जागृत। जब जीव जागृत। निद्रा करे जो।।३४०।। वह एक निरुपाधि। अर्जुन वह स्थिरबुद्धि। सोहि जानो निरवधि। मुनीश्वर।।४१।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

पार्थ! और एक लक्षण। स्थित प्रज्ञ की पहिचान। जैसी अक्षोभता अक्षुण्ण। समुद्र में।।४२।। यदि सरिता ओघ समस्त। परिपूर्ण होकर समर्पित। तदापि अधिक न होत ईशत्। सीमा न छोड़े वह।।४३।। अथवा ग्रीष्मकाल में सरिता। शुष्क होत समस्ता। तथापि न्यून न होवे पार्था। समुद्र जैसा।।४४।। तैसी पाकर ऋद्धि-सिद्धि। न उल्हसित जिसकी बुद्धि। न छोड़े धीरज असिद्धि-। से कदापि जो।।४५।। या सूर्य के घर में पार्थ। क्या दीपमात्र से प्रकाश होत?। यदि दीप न प्रकाशित। रहे अंधेरे में वह?।।४६।। देखो ऋद्धि-सिद्धि उसमें। प्राप्ता-प्राप्त न खेद मन में। मग्न रहत अंतर में। महासुख में।।४७।। स्वगृह शोभा के सामने। इंद्र भुवन को तुच्छ जाने। कैसा भिल्लपर्ण कुटि से माने। समाधान वह?।।४८।। जो अमृत को मानत हीन। न करत कांजी सेवन। वैसा स्वसुख में मग्न। ऋद्धि न चाहे।।४९।। पार्था ये नवल देख। न गणत वह स्वर्गसुख। ऋद्धि-सिद्धि भी अशेख। सामान्य माने जो।।३५०।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

ऐसा आत्मबोध से तृप्त। जो परमानन्द से संतुष्ट। वो ही स्थिरबुद्धि निश्चित।

Funding by IKS-MoE

रहता ॥३३०॥ अग्नि में जला हुआ बीज जिस प्रकार अंकुरित नहीं होता तद्वत अशांत पुरुष को सुख प्राप्ति नहीं होती ॥३१॥ अतः मन की चंचलता दुःख का सार है। अतः इन्द्रियों का निग्रह करना आवश्यक है ॥३२॥

इन्द्रियां विषयों में आसक्त रहती हैं। उसके साथ मन जब जाता है तब जल में वायु से दिशाहीन भटकनेवाली नौका के सदृश वह बुद्धि को भी भटकाता है ॥६७॥

इंद्रियों की तृप्ति के लिए पुरुष व्यवहार करते हैं। विषय सागर के पार पहुंचने का प्रयास करते हैं ॥३३॥ नौका किनारे पर पहुंचने के उपरांत तूफान आ जाने से उसको धोखा उत्पन्न हो जाता है ॥३४॥ तद्वत आत्मप्राप्ति हुए पुरुषों के इन्द्रियों की तृप्ति में लीन होते ही वे संसार दुःख से व्याप्त हो जाते हैं ॥३५॥

अतः हे महाबाहो! जिनकी इंद्रियां विषयों से संपूर्ण अलिप्त हो जाती हैं उनकी बुद्धि स्थिर (आत्मस्वरूप) है ऐसा समझना ॥६८॥

इंद्रियों पर यदि विजय प्राप्त हुई तो उससे अन्य प्राप्त करने लायक कुछ शेष नहीं रहता ॥३६॥ कछुआ प्रसन्न होते ही अपनी इंद्रियां फैलाता है। मन में इच्छा करते ही अपनी इंद्रियां भीतर खींच लेता है ॥३७॥ तद्वत जिसकी इंद्रियां उसके वश में रहती हैं। उसके कहने के अनुसार व्यवहार करती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर रहती है ऐसा समझना ॥३८॥ अब और एक पूर्णावस्था में पहुंचे पुरुष का गूढ़ लक्षण मैं तुम्हें बताता हूं। सुनो ॥३९॥

और हे अर्जुन! संपूर्ण भूत प्राणियों के लिए जो रात्रि है उस नित्य शुद्ध बोध स्वरूप परमानन्द में भगवत् को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान क्षण भंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते हैं तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है ॥६९॥

सब लोग आत्मस्वरूप के विषय में अज्ञानी रहते हैं। उस विषय में ज्ञानी जागृत रहता है। जीव प्रापंचिक विषय में जागृत रहता है। उस विषय में आत्मज्ञानी निद्रिस्त रहता है ॥३४०॥ वह सत्य में निरुपाधिक है। हे अर्जुन उसकी बुद्धि स्थिर होती है। एवं वह अखंड मुनिश्वर है ऐसा समझना ॥४१॥

जैसे जल सर्वत्र भरा हुआ होते ही अपनी मर्यादा न छोड़ते हुए समुद्र में प्रविष्ट होता है। तद्वत जिस पुरुष में सर्व इच्छाएं प्रविष्ट होते हुए भी उसको शांति प्राप्त होती है। विषयों की इच्छा करने वालों को शांति प्राप्त नहीं होती ॥७०॥

हे अर्जुन! एक और प्रकार उसको पहचानने का है। जैसी समुद्र में निरंतर शांति रहती है ॥४२॥ यद्यपि सब नदियों के प्रवाह जल से परिपूर्ण समुद्र में समर्पित होते रहते हैं, तथापि वह (अहंकार से) फूलता नहीं। एवं अपनी मर्यादा छोड़ता नहीं ॥४३॥ अथवा ग्रीष्म ऋतु में सब नदियों का जल कम होने पर एक भी नदी का जल उसमें समर्पित न होने से उसका जल समाप्त नहीं होता ॥४४॥ तद्वत ऋद्धि-सिद्धिओं की प्राप्ति होने पर भी जिसका मन उछलता नहीं। प्राप्त न होने पर वह अपना धैर्य छोड़ता नहीं ॥४५॥ यह बताओ सूर्य के घर में प्रकाश के लिए दीपक की क्या आवश्यकता है? दीपक न जलाने से क्या वह अंधेरे से व्याप्त हो जायेगा? ॥४६॥ देखो। उस प्रकार से ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हुई, या अप्राप्त रही, उसका उसको ध्यान नहीं रहता। वह अंतःकरण में आत्मसुख में तल्लीन रहता है ॥४७॥ अपने इस ऐश्वर्य से इंद्रभुवन भी उसको तुच्छ प्रतीत होता है। किरात की झुग्गी की क्या वह इच्छा करेगा? ॥४८॥ अमृत की भी अवहेलना करनेवाला जिस प्रकार से (कांजी) को स्पर्श नहीं करता तद्वत जिसने आत्मसुख का अनुभव किया है वह ऋद्धि-सिद्धि का भोग नहीं करता ॥४९॥ हे अर्जुन! क्या आश्चर्य है देखो, जहां स्वर्गसुख की गिनती नहीं वहां ऋद्धि-सिद्धि का क्या उपयोग? ॥३५०॥

जो पुरुष सब इच्छाओं का त्याग करके विरिच्छ, ममत्त्वरहित एवं अहंकार रहित होकर संचार करता है, उसको शांति प्राप्त होती है ॥७१॥

आत्मज्ञान से जो तृप्त हुआ है, परमानंद से पोषित

Funding by IKS-MoE

जानो पार्थ।।५१।। जो अहंभाव को छोड़त। सकल कामना त्यागत। विश्व होकर विचरत। विश्वमध्ये।।५२।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

ये ब्राह्मी स्थिति निस्सीम। अनुभव से होत निष्काम। वह पावत परब्रह्म। अनायास।।५३।। चिद्रूप में लीन होत। मृत्यु कभी न बाधत। देहभाव न आकुलित। स्थितप्रज्ञ को।।५४।। वही ये आत्मस्थिति। स्वमुख से कहत श्रीपति।। निवेदक अर्जुन के प्रति। संजय कहे।।५५।। ऐसा कृष्णवाक्य सुनत। अर्जुन मन में कहत। यह वो हमको सम्मत। विचारसरणी।।५६।। जो कर्मजात अशेष। निषेधत स्वयं सर्वेश। युद्धकर्म अनुचित सर्वशः। इसलिये।।५७।। सुन अच्युत का कथन। हर्षित होत अर्जुन। पूछेगा मार्मिक प्रश्न। आशंकित।।५८।। वह प्रसंग सुंदर। जो सकल धर्म का आगार। अथवा विवेकामृत सागर प्रान्तहीन।।५९।। स्वयं सर्वज्ञनाथ। निरूपित श्री अनन्त। ज्ञानदेव वर्णन करत। निवृत्तिदास।।३६०।।

इतिश्री ज्ञानदेव विरचितायां भावार्थ दीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दी अनुवादे ज्ञानसंन्यासयोगो नाम द्वितियोऽध्यायः (श्लोक ७३ ओवियां ३६०)

● ● ●

Funding by IKS-MoE

है, वही सत्य में स्थिरबुद्धि है ऐसा तुम समझना।।५१।। अहंकार का त्याग करके, सब कामना छोड़कर जगद्रूप बनकर जग में वह विचरण करता है।।५२।।

हे अर्जुन! यह ब्रह्मविषयक अवस्था है। यह प्राप्त होने पर मोह नहीं होता। अंत समय में भी इस अवस्था में स्थिर होकर वह ब्रह्मानंद प्राप्त करता है।।७२।।

यह ब्रह्मस्थिति अमर्याद है। निष्काम पुरुष इसका अनुभव करते हैं। वह अनायास परब्रह्म अवस्था प्राप्त करते हैं।।५३।। चिद्रूप में एकरूप होने के अनंतर प्राण निकलते समय होनेवाली व्याकुलता ब्रह्मस्थिति के कारण ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो पाती।।५४।। वहीं यह स्थिति भगवान श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से अर्जुन को बताई ऐसा संजय ने कहा।।५५।। यह श्रीकृष्ण की वाणी सुनकर अर्जुन के मन में ऐसा कहा, इन विचारों से हमारा ही कार्य हुआ है।।५६।। क्योंकि जितना कर्म है, उसको भगवान ने त्याज्य कहा है। अतः मेरा युद्ध करना अनायास रुक जायेगा।।५७।। श्रीकृष्ण की वाणी सुनकर अर्जुन मन में प्रसन्न हुआ। उसके मन की शंकाओं का निरसन करने के लिए वह अब प्रश्न करेगा।।५८।। वह प्रसंग सुंदर है। बहारदार है। मानो वह सर्व धर्म का आगर या विचाररूपी अमृत का अमर्याद सागर है।।५९।। सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण स्वयं निरूपण करेंगे, वह हकीगत निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेवजी बतायेंगे।।३६०।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

● ● ●

Funding by IKS-MoE

अध्याय-तीसरा

सारांश

कहा कर्मयोग साधन प्रसिद्ध। तृतीयोध्याय में ।।अ. १८-१४३७।।

गीता मोक्ष प्राप्ति का ज्ञानप्रधान शास्त्र है। यह द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण ने कथन किया। किंतु सब जीव अज्ञानावृत्त हैं यह दृग्गोचर होता है। इन अज्ञानावृत जीवों को मोक्ष पद प्राप्त्यर्थ कर्मोपासना का मार्ग भगवान ने बताया है। इसका प्रारंभ तृतीय अध्याय में कर्म से हुआ है, अतएव इसको 'साधनारंभ' भी कहते हैं।

द्वितीय अध्याय में ब्राह्मी स्थिति का जिस स्थिति में कर्ता, कर्म रहता ही नहीं उस स्थिति का वर्णन सुनने पर अर्जुन ने बड़ी उत्सुकता से प्रश्न किया। भगवन, आप एक ओर कर्म निषेध करते हो, और दूसरी ओर मुझे हिंसारूप पाप करने को उद्युक्त करते हो। (१-५) इसप्रकार का दोहरा उपदेश मैं नहीं चाहता। मेरा हित किसमें है यह सरल निःसंदिग्धं रीति से मुझे बतलाओ। यह पूछने का मेरा अधिकार है। क्योंकि अनेक जन्म से उपासना करके मुझे आपकी प्राप्ति हुई है, और आपकी मेरे ऊपर मातृवत ममता है। (६-३१) इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने सविस्तर दिया। इसका अनुवाद ज्ञानेश्वरजी ने संक्षेप में ऐसा किया है – 'निष्काम कर्मयोग और ज्ञानमार्ग मैंने कथन किये। दोनों का फल एक ही है। किन्तु दोनों मार्ग के अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं। मंद और तीव्र बुद्धिवाले नंदकुमार दोनों मार्ग को भिन्न रूप से कथन करना आवश्यक है। जो मंद बुद्धि अधिकारी हैं उनको कर्म त्याग कर के निरिच्छ अधिकारियों को कथित ज्ञानमार्ग का अवलंबन करने का उपदेश करना अयोग्य है। केवल कर्मत्याग से ही कर्मत्याग नहीं हो सकता। (३२-५२) प्रत्यक्ष कर्म त्याग अशक्य है। कर्मातीय अवस्था प्राप्त पुरुषों को भी जब तक शरीर है तब तक कर्म त्याग करना अशक्य है। (५३-६२) फिर मंद एवं वासनासक्त पुरुषों के संबंध में क्या कहा जाये? वासनासक्त पुरुषों ने बाह्यतः कर्मेंद्रिय प्रवृत्ति का निरोध किया हो तथापि उनके मन में वासनांकुर रहता ही है। अतएव यह दांभिकता का प्रदर्शन होता है। (६२-६७) जो निष्काम पुरुष है उसका अंतःकरण स्थिर रहता है। उसके कर्मेंद्रिय अपने-अपने व्यवहार करते रहते हैं, इसकारण वह सामान्य व्यक्तिवत् बर्ताव करता है ऐसा दृग्गोचर होता है। किन्तु जैसे सूर्यबिंब जल में प्रतिबिंबित दिखता है, तथापि वह जल से अलिप्त रहता है, वैसे ही यह पुरुष कर्माचरण करते हुए भी कर्म से मुक्त रहता है। (६८-७९) निरिच्छ पुरुषों का बर्ताव ऐसा रहता है, तब वासनासक्त पुरुष के लिये विहित कर्म का त्याग करके कर्मातीत होने का आग्रह क्यों करें? यह उसका कर्मत्याग तो नहीं होगा किंतु वह व्यक्ति उपहासास्पद होगी! वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति ने अहंकार का त्याग करके निष्काम बुद्धि से स्वकर्मरत रहना ही उसके लिये हितकारक है। इससे वह कर्मबंध से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है। (७७-८०) इस प्रकार का आचरण करना ही आपका नित्य यज्ञ है। यह स्वधर्माचरण जिससे नहीं होता उसी कुमार्ग पर चलने की प्रवृत्ति होती है और परिणामतः उसका नाश होता है। जब ब्रह्मदेव ने सृष्टि की उत्पत्ति की। तभी मनुष्य प्राणियों के साथ उनके स्वधर्म का निर्माण किया। और उन्हें उपदेश दिया। कि स्वधर्माचरण करने में ही तुम्हारा हित है। इसके अतिरिक्त व्रतवैकल्य, तीर्थाटन, साकांक्ष आराधना, मंत्रतंत्र कुछ भी करने की तुम्हें आवश्यकता नहीं। यह स्वधर्माचरण न करके इंद्रियासक्त होकर यदि तुम कुकर्मरत हो गये तो तुम्हें पाप दुःख भोगना पड़ेगा। यदि तुम्हें पाप दुःख रहित होकर सुख प्राप्ति करना हो तो इंद्रियों को स्वैर न छोड़कर स्वधर्माचरण करो। (८१-११८) स्वधर्म का स्पष्टीकरण करते हुए ज्ञानदेवजी ने, अग्निमुख में हवन, देवपूजा, ब्राह्मणभोजन, गुरुभक्ति, अतिथि सत्कार और ज्ञानि संतोष इन सबका उल्लेख किया है। सन्मार्ग से जो प्राप्त किया है, वह भोगार्थ नहीं है, ऐसा समझकर वह स्वधर्मरूप यज्ञद्वारा परमेश्वर को समर्पण करके शेष प्रसाद संतोष सेवन करना उचित है। (११९-१३०) इससे यज्ञसिद्धि होती है। वह अन्न सामान्य नहीं अपितु ब्रह्मरूप है।

(१३१-१३७) इसप्रकार जो आचरण नहीं करता उसका जीवन पशुवत व्यर्थ है। इसीलिये हर एक ने कर्मत्याग न करते हुये यथाविधि निर्दोष रीति से कर्म करना चाहिये। यह शरीर पूर्व कर्म भोगार्थ है, फिर कर्मत्याग कैसा शक्य है। (१३८-१४५) जो जो पुरुष कृतकृत्य हैं, आत्मस्वरूपरत हैं, उसका कर्म संबंध छूट गया है। (१४६-१४७) किंतु यह असामान्य स्थिति जब तक प्राप्त नहीं होती तब तक कर्माचरण करना ही होगा। इससे कुछ भी बिगड़ता तो नहीं। अपितु व्यक्ति को मोक्षप्राप्ति होती है। (१४८-१५३) जनकादि श्रेष्ठ कर्म त्याग करके कर्माचरण से ही मोक्ष के अधिकारी हो गये। और इसमें एक और लाभ है। इन पुरुषों के आचरण से अज्ञानी पुरुषों को किस प्रकार कर्म करना चाहिये यह शिक्षा मिलती है। ये अज्ञानी लोग श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण देखकर उनका अनुसरण करते हैं। इसलिये ज्ञानी और सिद्धि प्राप्त पुरुषों ने कर्मत्याग न करके स्वार्थ के लिये नहीं अपितु परार्थ-अज्ञानी लोगों के सामने उदाहरण के लिये ही कर्म अवश्य करना चाहिये। (१५४-१५९) जनकादिकों की बात रहने दो, प्रत्यक्ष 'मैं' पूर्ण काम होते हुए भी, प्राणिमात्र मेरा आदर्श रखते हैं और आचरण करते हैं, इसलिये उन लोगों के लिये मैं सकाम पुरुषवत् कर्माचरण करता हूं। मैंने यह कर्म नहीं किया तो भूतमात्र निराधार रह जायेंगे। इसलिये समर्थ और प्राप्तार्थ पुरुषों ने अज्ञानी जीवों को अपना नैष्कर्म्य बोध नहीं करना चाहिये। जैसा बहुरूपी अपना स्वांग उत्तम रीति से करता है, वैसे ही अज्ञलोकार्थ उन लोगों के रीति से स्वधर्माचरण करना चाहिये। (१६०-१७३) इस कर्माचरण में एक बात अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि सब कर्म प्रकृति के गुणानुसार इंद्रियों द्वारा होते हैं। उनसे अपना किंचिदपि संबंध नहीं है। ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों की यह दृढ़ भावना रहती है इसीलिये लोक संग्रहार्थ यदि उन्होंने कर्म किया भी तो कर्म से उनका तादात्म्य नहीं रहता। कर्मबंध उनको बाधक नहीं होता। जो कर्म से एकरूप तादात्म्य होता है वह कर्म बंध से बाधित होता है। (१७४-१८५) अतएव हे अर्जुन ! तुझे क्षत्रियोचित स्वकर्म प्राप्त हुआ है, उसका त्याग तू कैसा कर सकता है?, उठ धनुष्य सज्ज कर, युद्ध कर, दुष्टों के भार से पृथ्वी को मुक्त कर और कीर्ति का विस्तार कर तेरे लिये अन्य उपाय नहीं है। (१८६-१९१) मेरे मार्गदर्शन से युद्ध किया तो तू कर्मरहित रहेगा। परंतु इसके विपरीत यदि आचरण करेगा तो तेरा निःसंशय आत्मनाश होगा। ज्ञानी होकर प्रकृतितंत्र बनकर इंद्रियाधीन होना तेरे लिये योग्य नहीं है। स्वैर इंद्रियाचरण क्षणिक सुखद लगता है। अंततोगत्या देह तो नाशवान है। उसकी तो मुट्ठीभर राख बनती है। आगे इसलिये मन में विषयों का स्मरण न रखकर स्वधर्माचरण अंतर में जागृत रखना चाहिये। (२१५) चार वर्ण और चार आश्रमों के कर्म भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक को वर्णाश्रम विहित कर्म करना योग्य है। अपना विहित कर्माचरण कष्टप्रद है और अन्यों का सुखप्रद है, इसविचार से स्वकर्म त्याग और परकर्म स्वीकार योग्य नहीं है। स्व कर्म करते हुये देहपतन हो गया तो भी इह और परलोक में सुख प्राप्ति होगी। (२१६-२२७) इसपर फिर अर्जुन पूर्णतः अज्ञानी लोगों से स्वधर्माचरण होता नहीं यह क्षम्य है किंतु ज्ञानी लोगों से भी यथाविधि कर्माचरण किस कारण से नहीं होता। (२३२) इसप्रकार ज्ञान है परंतु आचार क्यों नहीं इसका कारण भगवान स्पष्ट करते हैं। काम क्रोध ये ऐसे बलवान मतांग हैं, जिनके सम्मुख ज्ञानी पुरुषों का भी कुछ चलता नहीं। इन्होंने ज्ञानी और भजक साधकों का भी नाश किया है, दैवी संपत्तिकाल उच्छेद भी इन्हीं मांगों ने किया है। तब अज्ञानी लोगों की क्या कथा? बड़े-बड़े ज्ञानिओं को भी इन्होंने नष्ट कर दिया है। (२५७) ज्ञान तो कल्याणकारक और शुद्ध है। जहां ज्ञान है वहां ज्ञान के पूर्व ही ये दुष्ट राक्षस अपना डेरा डालकर बैठ जाते हैं। इनके नाश का एक ही उपाय है। और वह इंद्रियां का पूर्ण रूपेण दमन। काम-क्रोध निष्कासित होते ही मनबुद्धि इन दुष्टों से मुक्त होगी। और जीव को ब्रह्मरूपी स्वराज्य की प्राप्ति होकर वह अक्षय सुख में रममाण होगा। (२६५)

अगले अध्याय में श्रीकृष्ण एक प्राचीन कथा कथन करेंगे। शांतादि रससहित उस कथा का अनुवाद करके मैं आपको सुख सिंधु भजन कराऊंगा ऐसा आश्वासन देकर ज्ञानदेवजी ने तृतीय अध्याय की समाप्ति की है।

● ● ●

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - तीसरा

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

उस अवसर कहे अर्जुन! देव! आपने जो कहा वचन। वह मैंने किया श्रवण। कृपानिधि।।१।। वहाँ कर्म और कर्ता। शेष न रहत सर्वथा। ऐसा विचार आपका अनंता। निश्चित यदि।।२।। फिर मुझे क्यों उपदेशत। कहत यह संग्राम उचित। महाघोर कर्म आज्ञापत। सांप्रत मुझको।।३।। आप कर्म अशेख। निराकारत निःशेख। मुझसे यह कर्म हिंसक। क्यों करावत?।।४।। इसलिये हे अच्युत! कर्म मार्ग में देकर चित्त। इसविध हिंसार्थ अयुक्त। उद्युक्त होत?।।५।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

आपका व्यामिश्र वचन। हम तो साच अनजान। भासत विवेक संपूर्ण। समाप्त होत!।।६।। देव, उपदेश यदि ऐसा। इससे और भ्रम कैसा?। आपसे आत्मबोध की आशा। हो चुकी अब।।७।। वैद्य स्वतः पथ्य बतावत। पश्चात उसीमें विष घोलत। तब रोगी कैसे जीयत। कहो मुझको?।।८।। अंध को कुमार्ग दिखावत। या मर्कट को मद्य देत। वैसा यह उपदेश युक्त?। प्राप्त हमको।।९।। मैं अज्ञानी अच्युत। उस पर मोह से ग्रस्त। इसलिये विवेक समस्त। पूछत आपको।।१०।। आप एकेक नवल कहत। मन उलझन में फँसत। शरणागत होत भ्रमित। इस कारण।।११।। काया वाचा मन से। आश्रय चाहत आपसे। आप व्यामिश्र उक्ति से। बहलावत हमको।।१२।। अब कैसी ज्ञान की आशा। विवेक विचार बोध कैसा?। स्थिरता मन की सर्वशः। पावत नाश।।१३/१४। आपका चरित्र श्रीकृष्ण। न जानत, बड़ा गहन। क्या इस मिष से चित्त परीक्षण। क्या करत मेरा?।।१५।। अतः देव, सुनिये।

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - तीसरा

अर्जुन ने कहा- हे श्रीकृष्ण! कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ ऐसा तुम्हारा विचार है। अतः हे केशव। युद्ध जैसे घोर कर्म करने की प्रेरणा मुझे क्यों देते हो॥१॥

उस अवसर पर अर्जुन कहते हैं, हे कृपानिधि! आपने जो कहा वह वचन मैंने सुन लिया है॥१॥ हे श्री अनंत। कर्म एवं कर्ता सर्वथा शेष नहीं रहता ऐसा आपका यदि विचार है॥२॥ तब यह युद्ध योग्य है ऐसा उपदेश आप मुझे क्यों कर रहे हो। यह महाघोर कर्म की आप सांप्रत मुझे आज्ञा दे रहे हो॥३॥ आप सब-कर्म का निषेध कर रहे हो। और यह हिंसात्मक कर्म करने के लिए उद्यत करा रहे हो॥४॥ अतः हे अच्युत! कर्म को श्रेष्ठता देते हुए अयोग्य हिंसा मेरे द्वारा कराने को क्यों प्रवृत्त हो रहे हो (इसका कैसा समन्वय करेंगे)॥५॥

इस प्रकार के व्यामिश्रित भाषण से मेरी बुद्धि मोहग्रस्त हो गयी है अतः मेरे हित के लिये योग्य विचार मुझे निश्चित बताइये॥२॥

व्यामोह निर्माण करनेवाले आपके वचन से हम जैसे अनजान लोगों का संपूर्ण विवेक समाप्त होता है ऐसा मुझे लगता है॥६॥ हे देव! इसको यदि उपदेश कहते हैं। तब भ्रम करनेवाला भाषण क्या अलग होता है? अब हमारी आत्मज्ञान प्राप्ति की आशा समाप्त हो चुकी है॥७॥ वैद्य स्वयं पथ्य बताता है एवं स्वयं उसमें विष मिलाता है। तब रोगी कैसे जीवित रहेगा। मुझे कहो? ॥८॥ अंधे को कुमार्ग दिखाया। या बंदर को मद्य पिलाया वैसा यह अयोग्य उपदेश हमें दिया है॥९॥ हे अच्युत! मैं अज्ञानी हूं। उसमें मैं मोहग्रस्त हूं। अतः आपसे मैंने विवेक की बात पूछी हैं॥१०॥ किन्तु आप नवलपूर्ण बाते कहते हैं। मेरा मन उलझन में फंसा है। तुम्हारा मैं शरणागत होते हुए भी इसी कारण भ्रमित हुआ हूं॥११॥ शरीर, वाणी, मन से मैं आपके आश्रय की चाह रखता हूं। एवं आप दोहरी वाणी से मुझे बहला रहे हो॥१२॥ अब आत्मज्ञान की कैसी आशा पूर्ण होगी। विचार एवं विवेकपूर्ण ज्ञान कैसा प्राप्त होगा। मेरे मन की स्थिरता संपूर्ण नष्ट हो रही है॥१३/१४॥ हे श्रीकृष्ण! आपका चरित्र बड़ा गहन है। उसको मैं नहीं जानता। इस निमित्त से क्या आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं?॥१५॥ अतः हे देव! कृपा करके सुनिये। हमें गूढ़ तत्व नहीं कहना। मुझे समझेगा ऐसा विवेक (सार क्या एवं

गूढ़ार्थ न हमको कहिये। विवेक स्पष्ट बोधिये। हमको अब।।१६/१७।। मैं जड़मति अत्यंत। किन्तु मुझको होवे सहज ज्ञात। निश्चयात्मक कहिये अच्युत। कथन शीघ।।१८।। यदि चाहत रोग मुक्ति। करना औषध नियुक्ति। किन्तु चाहिये रुच्य अति। और मधुर ।।१९।। वैसे सकलार्थ भरित। तत्त्व कहिये उचित। जिससे पावे मेरा चित्त। पूर्ण बोध।।२०।। जब आपसा निज गुरु। इच्छा तृप्ति क्यों न करूँ?। किसलिये संकोच धरूं। माता से अब।।२१।। कामधेनू का गोरस। यदि प्राप्त दैववश। कामना पूर्ति सर्वेश। (क्यों न होते)? निश्चित होत।।२२।। चिंतामणि प्राप्त जैसा। वहाँ फिर संकोच कैसा?। मन को जो भाए वैसा। माँगना युक्त।।२३।। या अमृत सिंधु के निकट। यदि तृषार्त जैसा तड़पत। तब किसलिये पास पहुँचत। यत्न से वहाँ।।२४।। वैसे जन्मान्तर में बहुत। हुई उपासना कमलाकांत। दैव से आज प्राप्त। आप हमको।।२५।। तब अपनी इच्छावश। क्यों न माँगें वस्तुविशेष। जो आप हे विश्वेश। प्राप्त हमको।।२६।। आज कामना परिपूर्ण। फलीभूत पूर्वपुण्य। सकल मनोरथ संपूर्ण। सिद्ध होत।।२७।। जी जी परम मंगलधाम। सकल देव देवोत्तम। स्वाधीन हे कल्पद्रुम। हमको आप।।२८।। माता के पास वैसे। बालक जात अनवसर से। पावत स्तन्य जैसे। निरंतर।।२९।। वैसे आपको देवेश। पूछत प्रश्न विशेष। स्वेच्छा से हे सर्वेश कृपानिधि।।३०।। जिससे पारत्रिक हित। और आचरने को उचित। वह बोलो एक निश्चित। कहे पार्थ।।३१।।

श्री भगवान उवाच –

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

इस कथन से श्री अच्युत। कहत होकर विस्मित। अर्जुन, अभिप्राय संक्षिप्त। ध्वनित यहाँ।।३२।। वह उद्देश्य तुम न जानत। वृथा क्षोभ करत। दोनो जान निश्चित। मैंने ।।३३।। अवधारो वीर श्रेष्ठा। ये दोनों निष्ठा!। मुझसे ही प्रकट सुभटा। अनादि सिद्धा।।३४।। एक ज्ञान योग कहत। जो सांख्य आचरत। जिससे सहज पावत। तद्रूपता।।३५/३६।। अन्य कर्मयोग जान। जहाँ साधक जन निपुण। होकर पावत निर्वाण। यथा समय।।३७।। ये मार्ग यद्यपि भिन्न । फल जान अभिन्न। जैसे भोजन तृप्ति समान। सिद्ध साध्य से।।३८।। अथवा पूर्वापर सरिता। भिन्न दिखत सर्वथा पावत अंत में ऐक्यता। समुद्र मिलन में।।३९।। वैसे दोनों मत। कारण एक निर्देशत। किन्तु उपासना होत। योग्यताधीन।।४०।। देखो उप्लवन सरिसा। पंछी फल को पावत जैसा। कहो नर पावत कैसा। समवेग से?।।४१।। वह शनैः शनैः पहुँचत। शाखा से शाख पर चढ़त। यथासमय निश्चित। पावत फल।।४२।। एक प्रसिद्ध विहंगम पथ। संपूर्ण ज्ञानाधिष्ठित। सांख्य सद्य लाभत। मोक्ष सिद्धि।।४३।। कर्माधार से योगी अन्य। पिप्पिलिका मार्ग से जान। पावत स्व आचार से निर्वाण। यथा काल।।४४।।

Funding by IKS-MoE

असार क्या है) स्पष्ट कहिये ।।१६/१७।। मैं अत्यंत मंदबुद्धि हूं। किंतु मुझे सहज समझेगा ऐसा ज्ञान हे अच्युत! मुझे निश्चित बताइये ।।१८।। रोगों से मुक्ति दिलाने के लिए योग्य औषधोपचार आवश्यक होते हैं। किंतु वही औषधी मधुर एवं अत्यंत रुचिपूर्ण चाहिये ।।१९।। ऐसे स्वार्थ से परिपूर्ण योग्य सिद्धांतों का प्रतिपादन कीजिए। जिससे मुझे पूर्ण ज्ञान हो ।।२०।। आप जैसे श्रीगुरु की मुझे प्राप्ति हुई है। तब मैं अपनी इच्छाएं क्यों पूर्ण न करूं। अब आप जैसी माता से क्यों संकोच करूं? ।।२१।। सौभाग्य से कामधेनु का दुग्ध प्राप्त हुआ तब सब कामनाओं की निश्चित पूर्ति होती है ।।२२।। चिंतामणि रत्न प्राप्त होने पर वहां संकोच कैसा?। मन में जो इच्छाएं हैं वही मांगना योग्य होगा ।।२३।। अमृत समुद्र के पास पहुंचने पर प्यास से यदि तड़पना प्रारंभ किया तब उसके पास यत्नपूर्वक पहुंचने के श्रम व्यर्थ होंगे ।।२४।। हे कमलाकान्त! अनेक पूर्व जन्म में आपकी उपासना की होगी इसीसे आज मुझे आपकी प्राप्ति हुई है ।।२५।। तब हे विश्वेश! अपनी इच्छा के अनुसार विशेष वस्तु की याचना क्यों न करूं? आप आज हमें प्राप्त हो ।।२६।। आज मेरे पूर्व पुण्य से मेरी सब कामनाएं पूर्ण सफल होंगी। मेरे संपूर्ण मनोरथ सिद्ध होंगे ।।२७।। संपूर्ण मांगल्य का परमधाम, सब देवताओं में उत्तम ऐसे आप हम सबके कल्पतरू हो। आज आप हमारे स्वाधीन हो ।।२८।। माता के पास जाने के लिए बालक को अवसर ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। स्तनपान करनेवाले बालक को उसकी नित्य प्राप्ति होती रहती है ।।२९।। वैसे हे देवेश! आपसे अपनी इच्छा के अनुसार प्रश्न पूछ रहा हूं ।।३०।। हे कृपानिधि! परलोक में कल्याणकारक एवं इहलोक में आचरण करने योग्य जो होगा वह मुझे निश्चित बताईए ऐसा पार्थ ने कहा ।।३१।।

भगवान कहते हैं, हे निष्पाप अर्जुन! इस लोक में मैंने ज्ञानमार्ग से सांख्ययोग एक कर्म से कर्मयोग का आचरण करने के दो मार्ग प्रथम बताये थे ।।३।।

पार्थ के कथन से विस्मित होकर श्री अच्युत ने कहा, 'हे अर्जुन! हमने संक्षेप में हमारा अभिप्राय ध्वनित किया था ।।३२।। यह उद्देश्य न जानते हुए तुम व्यर्थ क्रोधित हो रहे हो ।।३३।। निष्काम कर्मयोग बताते हुए हमने सहज ज्ञानमार्ग बताया है। इन दोनों मार्गों का प्रतिपादन मैंने किया है ।।३४।। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन! यह दोनों मार्ग मैंने ही प्रकट किए हैं। अनादिकाल से वैसेहि वह प्रकट है ।।३५।। एक को ज्ञानयोग कहते हैं। उसका आचरण सांख्ययोगी ज्ञानी करते हैं। उससे ज्ञान होते ही परमात्मस्वरूप से तद्रूपता प्राप्त होती है ।।३६।। दूजा कर्मयोग है। यहां साधक निष्णात होकर योग्य समय आते ही उन्हें परमगति (निर्वाण) प्राप्त होती है ।।३७।। यह मार्ग यद्यपि भिन्न है किन्तु उसका फल अभिन्न है। जैसे तैयार किये हुए एवं किये जाने वाले अन्न से तृप्ति एक जैसी होती है ।।३८।। अथवा पूर्व या पश्चिम दिशा में बहनेवाली नदियां अंत में समुद्र में ही समर्पित होती हैं। वहां उनका समुद्ररूप में नित्य मिलन है ।।३९।। वैसे ज्ञानयोग एवं कर्मयोग यह दो मार्ग भिन्न होते हुए भी एकही परमात्मा की प्राप्ति होती है। किन्तु उपासना करना योग्यता के अधीन होता है ।।४०।। देखो! जैसे पक्षी उड़ते ही फल के पास पहुंचता है, तद्वत मनुष्य को उतनी शीघ्रता से फल कैसे प्राप्त होगा? ।।४१।। वह धीरे-धीरे एक शाखा से दूसरी शाखा पर चढ़ते हुए उसको अंत में निश्चित फल प्राप्त होता है ।।४२।। सुप्रसिद्ध विहंगम मार्ग से ज्ञान के आश्रय से ज्ञानयोगी तत्क्षण मोक्ष प्राप्त करते हैं ।।४३।। कर्मयोगी कर्मयोग के आश्रय में वेदप्रणीत मार्ग से आचरण करते हुए यथाकाल पूर्णता को प्राप्त होते हैं। उसे पिप्पिलिका मार्ग कहते हैं ।।४४।।

Funding by IKS-MoE

न कर्मणामनारम्भानैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

बिन कर्मारंभ उचित। न आचरत सिद्धवत। कर्महीन को न होवे निश्चित। ज्ञान प्राप्ति।।४५।। अथवा प्राप्त कर्म त्यागिये। कर्म विनिर्मुक्त होइये। उस पर सिद्धि वांछिये। यह तो मूर्खता।।४६।। नदी पूर्ण बाढ़ग्रस्त। पैलपार जाना चाहत। बिन नौका कैसे संभवत। कहो अर्जुन?।।४७।। भोजन तृप्ति कांक्षत। स्वयं पाक न करत। सिद्ध अन्न न सेवत। तब क्या करिये?।।४८।। जब तक निरिच्छू न होत। तब तक व्यापार निश्चित। संतुष्टता जब होवे प्राप्त। रुकत सब।।४९।। अतः सुनो पार्था। जिनको नैष्कर्म्य में आस्था। उचित कर्म सर्वथा। करणीय सदा।।५०/५१/५२।।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

यह प्रकृति का अधिष्ठान। ग्रहण त्याग सब अज्ञान? यहाँ क्रिया गुणाधीन। सहज भाव से।।५३।। देखो जितना विहित कर्म। यदि सर्वथा त्यागत। स्वभाव न परिवर्तन। इंद्रियों का।।५४।। क्या कर्ण सुनना छोड़त?। अथवा नेत्र ज्योति लोपत। नासिकारंध्र न लेत। परिमल?।।५५।। या बंद प्राणापान गति?। अथवा क्या निर्विकल्प होत मति?। क्षुधातृषादि आर्ति। नष्ट होत?।।५६।। अथवा स्वप्न जागृति लुप्त। या चरण चलना बिसरत। जन्म-मरण यातायात। होत बंद?।।५७।। ऐसा इंद्रियों का व्यापार। न रुकत कदा साचार। अतः कर्मत्याग न संभव सुवीर। बुद्धिमंत को।।५८।। कर्म पराधीन होत। प्रकृति गुण सें उपजत। कर्म त्यागना न उचित। स्वेच्छा से।।५९।। देखो रथ में आरुढ़िये। यदि निश्चल बैठिये। चल होकर भ्रमण करिये। परतंत्र गुण से।।६०।। अथवा वायुवश भ्रमत। जैसे कोई शुष्क पत्र। निःचेष्ट किन्तु वेगयुक्त। आकाश में।।६१।। वैसे प्रकृति का आधार। कारण कर्मेंद्रिय विकार। नैष्कर्म्य से करत व्यापार। निरंतर।।६२।। अतः संग जहाँ प्रकृति का। तब वहाँ न त्याग कर्म का। जो ऐसे कहत उनका। केवल दुराग्रह।।६३।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

जो उचित कर्म त्यागत। नैष्कर्म्य मन से वांछत। कर्मेंद्रिय प्रवृत्ति का करत। निरोधन।।६४।। उनका न घटत कर्म त्याग। जो धरत विषय अनुराग। करत कर्मातीत का ढोंग। जगत में।।६५।। ऐसे जन पार्था। विषयासक्त सर्वथा। यह जानि तत्त्वता। सुनिश्चित।।६६।। अब दीजे अवधान। प्रसंगवश करूं निरूपण। नैराश्य का क्या चिन्ह। धनुर्धर!।।६७।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

जो अंतर में दृढ़ परमात्म रूप में गूढ़। बाह्यरूप से रूढ़। लौकिक जैसा।।६८।। जो इंद्रियों को न आज्ञापत। विषय भय न धरत प्राप्त कर्म न अव्हेरत। उचित जो

Funding by IKS-MoE

कर्म का प्रारंभ न करते हुए पुरुष को नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता। केवल प्राप्त कर्म संन्यास से नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त नहीं होती।।४।।

योग्य कर्म का प्रारंभ न करते हुए कर्महीन को सिद्धों के सदृश ज्ञान प्राप्ति निश्चित नहीं होती।।४५।। अथवा अधिकारानुसार प्राप्त कर्म का त्याग करके निष्कर्म होना हे अर्जुन। यह मूर्खता है। सिद्धि की इच्छा करना व्यर्थ है।।४६।। हे अर्जुन! बाढ़ग्रस्त नदी पार करने के लिए नौका के बिना कैसे संभव होगा।।४७।। भोजन करके तृप्ति की इच्छा है। किंतु स्वयं भोजन बनाते नहीं। बनाया हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करते। तब कैसी तृप्ति मिलेगी। बताओ?।।४८।। जब तक मन निरीच्छ नहीं होता। तब तक देह को व्यापार करना पड़ते हैं। आत्म-तृप्ति प्राप्त होने पर सकर्म स्वयं रुकते हैं।।४९।। अतः हे पार्थ! सुनो! जिनकी नैष्कर्म स्थिति में आस्था है। उन्हें उचित कर्म नित्य करना चाहिये।।५०/५१/५२।।

कर्म के बिना कोई भी एक क्षण नहीं रहता। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृतिजन्य गुणों के अधीन है। प्रत्येक व्यक्ति से वह गुण कर्म करवाते हैं।।५।।

जहां देह का अधिष्ठान है वहा कर्म का ग्रहण करना या त्याग करना सब अज्ञान है। देह की प्रत्येक क्रिया यहां गुणों के अधीन होती है वह स्वाभाविक है।।५३।। जितना विहित कर्म है, उसका सर्वथा त्याग करने पर इंद्रियों के स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता।।५४।। क्या कान सुनना छोड़ देते हैं? अथवा नेत्र ज्योति का देखने का सामर्थ्य लुप्त होता है। नासिका परिमल लेना क्या बंद करती है।।५५।। या प्राण अपान गति बंद होती है। बुद्धि कभी कल्पना करना नहीं छोड़ती। क्षुधा, तृषा का ताप नष्ट होता है क्या।।५६।। अथवा स्वप्नावस्था या जागृति यह अवस्था नष्ट होती है क्या? चरण चलने की क्रिया भूल जाते हैं क्या? या जन्म एवं मृत्यु समाप्त होते हैं क्या?।।५७।। इस प्रकार से इंद्रियों का व्यापार कभी रुकता नहीं यह सत्य है। अतः बुद्धिमान यह जानते हैं कि कर्म का त्याग करना असंभव है।।५८।। कर्म परतंत्र होते हैं। वह देह के गुणों के अनुसार उत्पन्न होते हैं। अतः अपनी इच्छा से कर्म का त्याग करना उचित नहीं है।।५९।। रथ में बैठने के उपरान्त निश्चल बैठने पर भी रथ की गति से परतंत्र बनकर उसका भ्रमण होता है।।६०।। सूखा पत्ता वायु की गति से उड़ता है। स्वयं निर्जीव होते हुए भी वायुवेग से आकाश में भ्रमण करता है।।६१।। वैसे देह के आश्रय से कर्मेन्द्रिय के विकार उत्पन्न होते हैं। प्राप्त पुरुष भी वैसे ही कर्मातीत अवस्था में नित्य व्यवहार करता है।।६२।। अतः जब तक देह का आश्रय है, तब तक कर्म का त्याग करना संभव नहीं है। जो ऐसा कहता है उनका केवल दुराग्रह रहता है।।६३।।

कर्मेन्द्रिय का नियंत्रण करके जो मन में विषयों का चिंतन करता रहता है, वह अत्यंत मूढ़बुद्धि है। उसे दंभयुक्त कहते हैं।।६।।

योग्य विहित कर्मों का त्याग करके कर्मातीत होने की इच्छा करते हैं वे केवल कर्मेंद्रिय प्रवृत्ति का निरोध करते हैं।।६४।। उनसे कर्म त्याग नहीं होता। क्योंकि विषयों के प्रति उनके मन में अनुराग रहता है। वह इस जग में कर्मातीत होने का स्वांग करते हैं।।६५।। हे पार्थ! ऐसे लोगों को सर्वथा विषयासक्त समझना। ऐसा निश्चित तत्त्वतः जानना।।६६।। प्रसंग के अनुसार, हे धनुर्धर! निष्काम पुरुष का लक्षण बताता हूं। तुम ध्यान देना।।६७।।

हे अर्जुन! मन से इंद्रियों का नियमन करके, आसक्त न होते हुये कर्मेंद्रिय से कर्मयोग का आचरण करता है उसकी योग्यता विशेष है।।७।।

जो अंतर्यामी निश्चल है। परमात्म स्वरूप में तल्लीन है। उसके बाह्य व्यवहार सामान्य लोगों के जैसे हैं।।६८।। जो इंद्रियों को आज्ञा नहीं देता। विषयों का भय उसके मन में नहीं रहता। अपने

Funding by IKS-MoE

जो ।।६९।। कर्मेंद्रिय कर्म करत। उनको न कभी रोकत। किन्तु न आधीन होत। विकारों के ।।७०।। कामनामात्र से न मोहित। मोह मल से न लिंपत। जल में जल से नाप्लवत। पद्मपत्र जैसे ।।७१।। वैसा संसार में वास। सामान्य जन जैसा भास। जैसा सलिल संग आभास। भानूबिंब को ।।७२/७३।। ऐसे लक्षण से युक्त। देखो वही सांच मुक्त। जो आशापाश रहित। नित्य जान ।।७४।। वही योगी पूर्ण। जगमें निश्चित जान। ऐसा होना तुम अर्जुन। इसीलिये ।।७५।। करो नियम मन में। निश्चल होना अंतर में। कर्मेंद्रिय को व्यापार में। रहने दो ।।७६।।

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।८।।

अतः पूर्ण कर्म रहित। होना यहाँ न संभवत। कैसे निषिद्ध आचरना युक्त। सोचो स्वयं ।।७७।। इसलिये जो उचित। और अवसर से प्राप्त। वह कर्म फल रहित। आचरिये सदा ।।७८।। पार्था! और एक। तू न जाने कौतुक। जो ऐसा कर्म मोचक। होत सहज ।।७९।। अनुक्रमाधार से जान। जो करे स्वधर्माचरण। उस व्यापार से मोक्ष पूर्ण। निश्चित पावे ।।८०।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।९।।

स्वधर्म जो संपूर्ण। वहीं नित्य यज्ञ जान। अतः पाप को वहाँ अर्जुन। संचार नहीं ।।८१।। यह निज धर्म जहाँ छूटत। और कुकर्म में रति होत। बंधन पावत निश्चित। सांसारिक ।।८२।। अतः स्वधर्मानुष्ठान। वह अखण्ड यज्ञ याजन। जो करत उसको बंधन। कभी न प्राप्त ।।८३।। कर्म से बद्ध यह जगत। अतः मायाधीन होत। नित्य यज्ञ विस्मरत। इसीलिये ।।८४।। इस कारण अब पार्था। तुमको कहूँ एक कथा। जब सृष्ट्यादि संस्था। विधि-रचत ।।८५।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।१०।।

तब नित्य याग सहित। निर्मित भूतजात समस्त। किन्तु नित्य विहित न जानत। सूक्ष्मता कारण ।।८६।। तब वे विनवित विधि को। कहो उपाय हमको। कहत कमलजन्मा उनको। भूत मात्र को ।।८७।। वर्ण विशेष को जो सम्मत। स्वधर्म जो नियमित। आचरण से जिसके इष्ट। पावत काम ।।८८।। तुम व्रत नियम न करिये। शरीर को न दंडिये। दूर कहीं न जाइये। तीर्थाटन को ।।८९।। योगादिक साधन। साकांक्ष आराधन। मंत्र-तंत्र विधान। न कीजे कदा ।।९०।। देवतान्तर न भजिये। यह सब कुछ न करिये। तुम स्वधर्म यज्ञ यजिये। अनायास ।।९१।। छोड़के कर्मफल को। एकमेव आचरिये इसको। पतिव्रता पूजत पति को। जिस विध ।।९२।। वैसा स्वधर्मरूप मख। यही सेव्य तुमको एक। ऐसा सत्यलोक नायक (ब्रह्मा)। उपदेशत ।।९३।। देखो स्वधर्म आचरण। फलद्रूप सब कारण। यह कामधेनू सा जान। सदा तुमको ।।९४।।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।११।।

Funding by IKS-MoE

विहित कर्मों का अव्हेर नहीं करता ।। ६९।। कर्मेंद्रियों को कर्म करने से वह रोकता नहीं। किंतु वह विकारों के अधीन भी नहीं होता ।।७०।। जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता तद्वत वह कामनाओं से लिप्त नहीं होता। अविवेक रूपी मल से वह मलिन नहीं होता ।।७१।। सूर्य का प्रतिबिंब जल में दिखाई देता है किंतु वह अलिप्त रहता है। वैसे सामान्य जन जैसे दिखाई देने पर भी वह अलिप्तता से संसार में निवास करता है ।।७२/ ७३।। इन लक्षणों से जो युक्त है वही सत्य में मुक्त है। वह नित्य आशापाश रहित होता है, ऐसा तुम समझना ।।७४।। हे अर्जुन। वही इस जग में पूर्ण योगी है, ऐसा निश्चित समझना। इसीलिये तुम ऐसे ही बनना ।।७५।। मन को संयमित करो। अंतःकरण से निश्चल बनो। कर्मेन्द्रिग को अपने-अपने व्यापार करने दो ।।७६।।

तुम विहित कर्म करो। कर्म न करने से कर्म करना अधिक उचित है। कर्म न करने से तुम्हारी देह यात्रा सिद्ध नहीं होगी ।।८।।

अतः पूर्ण कर्मरहित होना संभव नहीं होता। शास्त्रबाह्य निषिद्ध कर्म का आचरण कैसे किया जायेगा। इसका तुम विचार करो ।।७७।। अतः योग्य कर्म तथा प्रसंगानुसार प्राप्त कर्म का आचरण कामना रहित होकर एवं फल की इच्छा छोड़कर नित्य आचरण करना चाहिये ।।७८।। हे पार्थ! निष्काम कर्म में एक और आश्चर्य है, निष्काम कर्म कर्मबंधन से जीव को स्वाभाविक मुक्त करता है ।।७९।। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार जो स्वधर्माचरण करता है, उससे उसको निश्चित मोक्ष प्राप्ति होती है ।।८०।।

स्वधर्म प्राप्ति के लिए किया जानेवाला दूसरा कर्म बंधनकारक होता है। अतः हे अर्जुन! अनासक्त होकर कर्म करो ।।९।।

अपना जो कर्म है (स्वधर्म है— धर्म के अनुसार आचरण) वही नित्य यज्ञ है। ऐसा समझना। अतः उसमें पाप का प्रवेश नहीं है ।।८१।। स्वधर्म का जहां त्याग होता है वहां बुरे कर्म में आसक्ति होती है। उसको निश्चित सांसारिक बंधन प्राप्त होते हैं ।।८२।। अतः स्वधर्म का आचरण करना ही अखंड यज्ञ एवं पूजन है। जो स्वधर्म का आचरण करता है, उसको कभी बंधन प्राप्त नहीं होता ।।८३।। यह विश्व कर्म बंधन में बद्ध है। कर्मरूपी नित्य यज्ञ का विस्मरण होने से यह माया के अधीन हो गया है ।।८४।। अतः हे पार्थ ! इसके विषय में एक कथा तुम्हें बताता हूं। जब ब्रह्माजी ने सृष्टि की रचना की थी ।।८५।।

यज्ञ सहित ब्रह्माजी ने प्रजा उत्पन्न की। उनको उन्होंने कहा, इस यज्ञ से तुम अपनी अभिवृद्धि करो। यह तुम्हारी सब इष्ट कामनाओं की पूर्ति करेगा ।।१०।।

तब कर्मसहित नित्य यज्ञ के साथ सब प्राणि उन्होंने उत्पन्न किये। किंतु वह यज्ञ कर्म सूक्ष्म होने से वह प्राणि अपने कर्तव्यकर्म को नहीं जानते ।।८६।। उस समय सब प्राणियों ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की। हे देव! इस लोक में हमें क्या आश्रय है? तब कमलजन्या ब्रह्मदेव ने कहा ।।८७।। तुम्हें वर्णाश्रम धर्म के अनुसार जो स्वधर्म हमने बताया है। उसका पालन करना। उसके आचरण से तुम्हारी इच्छाएं पूर्ण होंगी ।।८८।। तुम व्रत नियम का पालन नहीं करना। शरीर कष्ट की आवश्यकता नहीं है। दूर तीर्थयात्रा में जाना जरूरी नहीं है ।।८९।। योग आदि साधन, कामनायुक्त आराधना अथवा मंत्रतंत्र आदि विधान कभी नहीं करना ।।९०।। स्वधर्म का आचरण छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना करना जरूरी नहीं है। यह सब कुछ नहीं करना। अनायास होनेवाले स्वधर्मरूप यज्ञ करो ।।९१।। पतिव्रता स्त्री पति के प्रति एकनिष्ठ होती है। तद्वत मन में किसी भी प्रकार की कामना न रखते हुए स्वधर्म का आचरण करो ।।९२।। इस प्रकार का स्वधर्मरूपी यज्ञ आचरण करने के लिये योग्य है। ऐसे सत्यलोकाधिपति ब्रह्माजी ने उपदेश दिया ।।९३।। स्वधर्म का आचरण करने से यह धर्म कामधेनु सदृश सब कारणों में फलद्रूप होगा ।।९४।।

स्वधर्मरूप यज्ञ से तुम देवताओं को संतुष्ट करोगे। देवता भी तुम्हारी समृद्धि करेंगे। परस्पर अभिवृद्धि करनेवाले तुम उत्कृष्ट कल्याण प्राप्त करोगे। ।।११।।

Funding by IKS-MoE

यदि करत स्वधर्माचरण। संतुष्ट होत देवतागण। तब वे देत तुमको जान। इप्सित फल।।९५।। स्वधर्म पूजा आचरत। सकल देवता भजत। वे करत सुनिश्चित। योगक्षेम तेरा।।९६।। तुम देवता को भजत। देवता तुमसे परितोषत। परस्पर में उपजत। प्रीति भाव।।९७।। तब जो मन में कारण। वह सहज सिद्ध जान। वांछित सब होत पूर्ण। मनोगत।।९८।। तब पावत वाचासिद्धि। आज्ञांकित महाऋद्धि। करत सेवा निरवधि। दास्य भाव से।।९९।। ऋतुपति का द्वार। वनश्री वहाँ निरंतर। फल-पुष्प भार। लावण्य सहित।।१००।।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

वैसे सब सुख सहित। देखो दैव मूर्तिमंत। स्वयं पीछा करत। खोजत तुमको।।१।। ऐसे समस्त भोग भरित। जब होइजे अनार्त (ऐश्वर्ययुक्त)। यदि वर्तन स्वधर्म निरत। जग में सदा।।२।। किन्तु प्राप्त सकल संपद। जो अनुसरत इंद्रियमद लुब्ध होकर लेत स्वाद। विषयों का।।३।। (संतुष्ट) जो यज्ञभावित सुर। देत संपदा प्रचुर। उससे स्वधर्म से ईश्वर। न भजे जो।।४।। अग्निमुख में हवन। न करत देवता पूजन। प्राप्तकाल अन्नदान। ब्राह्मण को न देत।।५।। गुरुभक्ति को विमुख। न करत आदरातिथ्य। स्वजाति को संतोख। कदा न दे।।६।। ऐसा स्वधर्म क्रिया रहित। संपत्तिमद से उन्मत्त। केवल भोगासक्त। रहत जो।।७।। उसको संकट घोर घेरत। जिससे प्रप्त ऐश्वर्य नाशत। उपलब्ध भोग समस्त। व्यर्थजात।।८।। जैसे गतायुष शरीर। चैतन्यहीन गात्र। अथवा निदैवी के घर। लक्ष्मी न वसत।।९।। वैसे जब स्वधर्म लोपत। सकल सुख ठाँव छोड़त। जैसे दीप के संग नाशत। प्रकाश पूर्ण।।११०।। निजवृत्ति जहाँ लुप्त। स्वतंत्र्य होत नष्ट। सुनो प्रजाजन निश्चित। विरंचि कहे।।११।। अतः जो स्वधर्म त्यागत। काल उसको दण्ड देत। चोर कहकर छीनत। सर्वस्व उसका।।१२।। तब उसको दोष सकल। चौ बाजूसे घेरत सबल। निशा समय स्मशान स्थल-को। पिशाच जैसा।।१३।। वैसे त्रिभुवन के दुःख। और नानाविध पातक। दैन्य जात अशेख। वसत वहाँ।।१४।। ऐसी गति पावत उन्मत्त। रुदन उसका होत व्यर्थ। कल्पांत में भी न छटत। सुनो सब।।१५।। अतः निजवृत्ति न त्यागना। इंद्रियों को स्वैर न छोड़ना। ऐसे चतुरानन प्रजा को नाना। करत बोध।।१६।। जैसे जलचर जलबिन। पावत मृत्यु तत्क्षण। इसलिये स्वधर्माचरण। न त्यागिये कभी।।१७।। अतः आप समस्त। अपने कर्म में उचित। सदा रहना निरत। कहे विधि।।१८।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

देखो विहित क्रिया विधि। निर हेतु की स्वबुद्धि। जो यथाशक्ति समृद्धि। विनियोग करत।।१९।। गुरु गोत्र, अग्नि पूजत। यथाकाल द्विज सेवत। पर्व काल में तर्पण करत। पितरोद्देश।।१२०।। यह यज्ञ क्रिया उचित। अग्नि में हवन करत।

Funding by IKS-MoE

इस धर्म के आचरण से सब देवता आनन्दित होंगे। वे देवता तुम्हें। मन के अनुसार फल देंगे।।९५।। स्वधर्मरूप पूजन से सब देवताओं की आराधना करने से वह निश्चित तुम्हारा योगक्षेम चलायेंगे।।९६।। देवताओं की आराधना से देवता तुम पर प्रसन्न होंगे। इस प्रकार से परस्पर प्रीतिभाव उत्पन्न होगा।।९७।। तब तुम जो कुछ करोगे वह निश्चित सिद्ध होगा। मन की इच्छाएं पूर्ण होंगी।।९८।। तुम जो बोलोगे वह सत्य होगा। महाऋिद्धि आज्ञा पालन में तत्पर रहेगी। दास्य-भाव से नित्य सेवा करती रहेगी।।९९।। ऋतुपति वसंत के द्वार में फल, पुष्प सौंदर्य सहित वनश्री नित्य सेवा करती है।।१००।।

यज्ञ से संतुष्ट देवता तुम्हें इष्ट भोग देंगे। उनकी दी हुई वस्तुओं को उन्हें समर्पित न करते हुए जो उपभोग लेता है, वह चोर है।।१२।।

सब सुखों के साथ मूर्तिमंत भाग्य खोजते हुए आता है।।१।। इस प्रकार एक निष्ठा से स्वधर्म का आचरण करने से सर्व भोग संपन्न होकर तुम निरीच्छ होवोगे।।२।। सर्व संपत्ति प्राप्त होने पर विषयों में आसक्त होकर उन्मत्त इंद्रियों के अनुसार व्यवहार करता है।।३।। यज्ञ से संतुष्ट होकर देवताओं ने यह संपत्ति दी है। उस स्वधर्मरूप संपत्ति से जो भगवान को भजता नहीं।।४।। जो अग्नि में हवन नहीं करता। देवताओं की आराधना नहीं करता। योग्यकाल में ब्राह्मणों को भोजन नहीं कराता।।५।। जो गुरु-भक्ति विमुख है। अतिथि को सन्मान नहीं देता। स्वजाति को संतुष्ट नहीं करता।।६।। ऐसा स्वधर्म का आचरण छोड़कर, संपत्ति से उन्मत्त होकर केवल भोगासक्ति में रहता है।।७।। उस पर अनेक संकट आते हैं। उसका ऐश्वर्य नष्ट होता है। प्राप्त भोगों का उपभोग भी वह नहीं कर सकेगा।।८।। जिनकी आयु समाप्त हो गयी है, वहां प्राण नहीं रहता। दैवहीन के घर में लक्ष्मी का वास नहीं होता।।९।। जैसे दीपक के साथ प्रकाश पूर्ण नष्ट होता है। वैसे स्वधर्म लुप्त होते ही सब सुखों का आश्रय समाप्त होता है।।११०।। आचारहीन के पास आत्मस्वातंत्र्य नहीं रहता। हे प्रजाजन! निश्चित सुनो। ऐसे विरंचि ब्रह्माजी ने कहा।।११।। अतः जो स्वधर्म छोड़ता है, उसको काल दंड देता है। उसको चोर समझकर उसके सर्वस्व का अपहार करता है।।१२।। रात के समय जैसे पिशाच्य श्मशान को व्याप लेते हैं। तद्वत सब पाप उसको घेर लेते हैं।।१३।। तीनों लोकों के दुःख, अनेक पाप एवं दैन्य उसके पास रहते हैं।।१४।। उस उन्मत्त की ऐसी स्थिति होती है। आक्रोश करने पर कल्प के अंत तक उसका छुटकारा नहीं होता।।१५।। अतः स्वधर्माचरण का त्याग नहीं करना चाहिये। इंद्रियों को स्वैर नहीं छोड़ना। ऐसा चतुरानन ब्रह्माजी ने प्रजा को उपदेश किया।।१६।। जल का वियोग होते ही जैसे जलचर तत्क्षण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। तद्वत स्वधर्म के आचरण का त्याग करने से मनुष्य का नाश होता है। अतः स्वधर्माचरण त्यागना नहीं चाहिये।।१७।। अतः अपने-अपने विहित कर्मों का आचरण करने में तत्पर रहना ऐसा ब्रह्माजी ने कहा।।१८।।

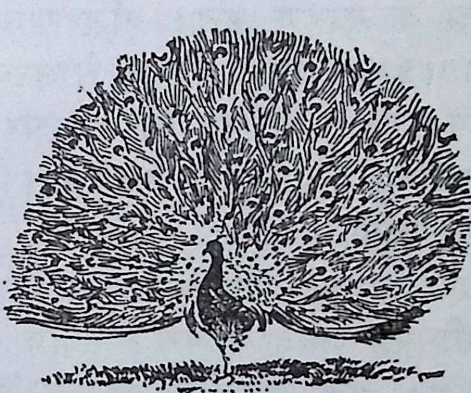

यज्ञशेष भक्षण करनेवाले सज्जन सब पापों से मुक्त होते हैं। स्वयं के लिए पाकसिद्धि करना पाप का भक्षण करना है।।१३।।

निर्हेतुक बुद्धि से जो विहित कर्म करता है। तथा यथाशक्ति संपत्ति का विनियोग करता है।।१९।। गुरु, गोत्र एवं अग्निपूजन करता है। यथाकाल ब्राह्मणों की सेवा करता है। पर्वकाल में पितरों के लिए श्राद्धादि कर्म करता है।।१२०।। विहित कर्माचरण रूप, यज्ञ से यज्ञपुरुष का यजन करके जो

Funding by IKS-MoE

हुतशेष स्वभावतः अवशिष्ट जो।।२१।। वह गृह में सुख से आपुन। सकुटुंब करे सेवन। यज्ञावशिष्ट से होत अर्जुन। कल्मष नाश।।२२।। वह अशेष अन्न। करत पापनाशन। जैसे महारोगी को अमृतपान। नाशत व्याधि।।२३।। या तत्त्वनिष्ठ को अशेष। न बाधत भ्रान्ति लेष। वैसा शेष भोगी को दोष। न बाधे कदा।।२४।। अतः स्वधर्म से जो अर्जित। वह स्वधर्म से ही विनियोजत। शेष जो वह भोगत। संतोष से।।२५।। इसके बिन पार्था। श्रेय न वर्तन अन्यथा। ऐसी यह आद्य कथा। श्री मुरारी कहत।।२६।। जो स्वयं को देह मानत। विषय को भोग्य कहत। उसके बिना न स्मरत। अन्य वस्तु।।२७।। इंद्रिय रुचिनुसार। पक्वान्न बहु प्रकार। वे पापी साचार। भक्षत पाप।।२८।। यह यज्ञोपकरण सकल। जानत पूर्ण निष्फल। अहं बुद्धि केवल। भोगत जात।।२९।। यह संपत्तिजात देखिये। केवल हवन द्रव्य मानिये। स्वधर्म यज्ञ से अर्पिये। आद्य पुरुष को।।१३०।। न जानत वे मूर्ख। अपने लिये देख। सिद्ध करत पाक। नाना विध।।३१।। जिससे यज्ञ सिद्धि होत। परमेश संतोषत। उस अन्न को समझत। सामान्य जान।।३२।। इसे न कहो साधारण। अन्न ब्रह्मरूप अर्जुन। जो होत जीवन कारण। इस विश्व को।।३३।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

अन्न के कारण भूत। वृद्धि पावत समस्त। पर्जन्य से सर्वत्र उपजत। अन्न सकल।।३४।। पर्जन्य को यज्ञ से जन्म। यज्ञ को प्रकटत कर्म। कर्म को आदि ब्रह्म। वेदरूप।।३५।। वे वेद को परात्पर प्रसवत स्वयं अक्षर। अतः यह चराचर। ब्रह्माधीन।।३६।। सुनो सुभद्रापति। कर्म की जो मूर्ति। यज्ञ में अधिवास श्रुति। अखण्ड जानो।।३७।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

ऐसी यह आदि परंपरा। संक्षेप में धनुर्धरा। तुमको कथित अध्वरा। विषय में।।३८।। अतः समूल यह उचितु। स्वधर्मरूप क्रतु। न अनुष्ठित जो उन्मत्तु। इह लोक में।।३९।। वह पान का ढेर। भूमि को मात्र भार। इंद्रियों को विषय व्यवहार। कुकर्म से देत।।१४०।। वह जन्म कर्म सकल। अर्जुन अति विफल। जैसे दिखत अभ्रपटल। अकाल में।।४१।। या जैसा अजागल स्तन। वैसा उसका जीवन। जो स्वधर्मानुष्ठान। न करे कदा।।४२।। इसलिये अर्जुन। न त्यागिये स्वधर्माचरण। सर्वथा इसका अर्चन। करना युक्त।।४३।। इस शरीर के साथ। कर्तव्य सहज प्राप्त। तब क्यों अपना उचित। अव्हेर कीजे?।।४४।। सुन अर्जुन बात मन की। मूर्ति पाकर देह की। खंत करत कर्म की। वे मूढ़ सब।।४५।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

यदि रहत देह धर्म। न लिंपत उसको कर्म। जो अखंडित मगन। स्वस्वरूप

Funding by IKS-MoE

यज्ञशेष सहज रहता है।।२१।। वह उसका अपने घर में परिवार के साथ सेवन करता है। हे अर्जुन! यज्ञ के अवशेष से पाप नष्ट होते हैं।।२२।। अमृतप्राशन करने से जैसे महारोग नष्ट होते हैं। वैसे यज्ञ के अवशेष से सब पाप नष्ट होते हैं।।२३।। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को यत्किंचित आत्मभ्रांति नहीं होती। तद्वत यज्ञ का हुतशेष ग्रहण करने पर पाप की बाधा नहीं होती।।२४।। अतः स्वधर्म से जो प्राप्त होता है उसका विनियोग स्वधर्म से करना चाहिये। संतोष से शेष भाग का उपभोग करना चाहिये।।२५।। हे पार्थ! अन्य प्रकार से व्यवहार नहीं करना चाहिये। ऐसी यह कथा सृष्टि के प्रारंभ में जो ब्रह्माजी ने कही थी वह भगवान श्री मुरारी ने बतायी।।२६।। जो स्वयं को देह समझता है। विषयों को भोग्य समझता है। वे उसके बिना अन्य वस्तु का स्मरण नहीं करते।।२७।। अपनी संपत्ति को यज्ञ का उपकरण न समझते हुए सब निष्फल है इस भावना से अहंकार बुद्धि से स्वयं उपभोग करते हैं।।२८।। इंद्रियों की रुचि के अनुसार व्यंजन बनाकर वह पापी उस रूप में पाप का ही भक्षण करते हैं।।२९।। इस संपत्ति को हवन द्रव्य समझना चाहिये। उसको स्वधर्मरूप यज्ञ से भगवान को समर्पित करना चाहिये।।१३०।। ऐसे व्यवहार को छोड़कर वह मूर्ख अपने लिए विविध प्रकार की पाकसिद्धि करते हैं।।३१।। जिससे यज्ञ सिद्धि होती है। परमात्मा संतुष्ट होते हैं। उस अन्न की योग्यता कम नहीं है।।३२।। उस अन्न को सामान्य नहीं समझना चाहिये। अन्न ब्रह्मरूप होता है। क्योंकि वह विश्व के जीवित रहने का साधन है।।३३।।

अन्न से भूतमात्र की उत्पत्ति होती है। पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति होती है। यज्ञ से पर्जन्य बरसता है। कर्म से यज्ञ किये जाते हैं।।१४।। तथा उस कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, इससे सर्वव्यापी परम अक्षर, परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।।१५।।

अन्न से जीवमात्र की वृद्धि होती है। पर्जन्य से सब प्रकार का अन्न सर्वत्र उत्पन्न होता है।।३४।। यज्ञ से पर्जन्य का जन्म होता है। यज्ञ कर्म से प्रकट होता है। कर्म को वेदरूप आदिब्रह्म प्रकट करता है।।३५।। वेदरूप ब्रह्म कर्म का मूल है। स्वयं अक्षर ब्रह्म ने वेद को उत्पन्न किया है। अतः यह चराचर विश्व परब्रह्म परमात्मा के अधीन है।।३६।। हे सुभद्रापति! कर्म की जो साक्षात मूर्ति है उस श्रुती का अधिवास अखंडित यज्ञ में रहता है। ऐसा समझना।।३७।।

हे अर्जुन! इस प्रकार से प्रारंभ हुए इस चक्र के अनुसार इहलोक में जो व्यवहार नहीं करता। एवं इंद्रियों में ही केवल आसक्त रहता है। उसका जीवन पापमय होता है। वह व्यर्थ जीवित रहता है।।१६।।

हे धनुर्धर! ऐसी यह आदि परंपरा है। यज्ञ के विषय में मैंने संक्षेप में तुम्हें बताई है।।३८।। उन्मत्त पुरुष स्वधर्मरूप यज्ञ का इस लोक में आचरण नहीं करता।।३९।। वह अपने अनुचित आचरण से इंद्रियों के विषय व्यवहार से पातक का ढेर निर्माण करता है। वह भूमि का भार होता है।।१४०।। असमय आनेवाले मेघों से वर्षा नहीं होती। वैसे हे अर्जुन! उनका जन्म एवं कर्म निष्फल होता है।।४१।। अज के गले में जैसे स्तन निष्फल होते हैं। तद्वत उनका जीवन व्यर्थ होता है। क्योंकि स्वधर्म का अनुष्ठान वह नहीं करते।।४२।। अतः हे अर्जुन! स्वधर्म के आचरण का त्याग नहीं करना चाहिये। इसका काया, वाणी, मन से आचरण करना योग्य होगा।।४३।। इस शरीर के साथ स्वाभाविक कर्तव्य प्राप्त होते हैं। तब विहित कर्म का क्यों अव्हेर करना।।४४।। हे अर्जुन! मनुष्य शरीर की मूर्ति प्राप्त होने पर कर्म का दुःख मन में रखना मूर्खता है।।४५।।

जो आत्मा में लीन रहता है, जो अपनी आत्मा में, तृप्त रहता है, आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उसका कुछ कार्य शेष नहीं रहता।।१७।।

जो नित्य आत्मानंद में रहता है वह देह धर्म के अनुसार कर्म करते हुए भी उस कर्म से लिप्त नहीं

में।।४६।। वह आत्मबोध से तृप्त। जग में होत कृतकृत्य। इसलिये सहज नष्ट। कर्म संग।।४७।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

तृप्ति पाकर जैसे। साधन अनावश्यक वैसे। सहज आत्म संतोष से। कर्मनाश।।४८।। जब तक हे अर्जुन! न पावत यह ज्ञान। तबतक यह साधन। करना प्राप्त।।४९।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

इसलिये तुम नियत। सकल कामना रहित। होकर स्वधर्म निरत। आचरना युक्त।।१५०।। जो स्वधर्म से निष्कामता। अनुसरत नित्य पार्था। वह कैवल्यपद तत्त्वता। पावत जग में।।५१।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

देखो जनकादिक। कर्मजात अशेख। न त्यागकर मोक्षसुख। पावत जान।।५२।। इस कारण पार्था। रखना कर्म में आस्था। जिससे एक उपयुक्तता। और होत।।५३।। स्वतः करे आचरण। जन पावत उचित ज्ञान। निरसत दुःख अज्ञान। अनायास।।५४।। देखो जो स्वयं प्राप्तार्थ। पूर्ण निष्कामता अर्जित। उनको भी कर्म प्राप्त। जनकारण।।५५।। मार्ग में अंध के आगे जैसा। दृष्टिवान चलत वैसा। मूढ़ो को प्रकटत धर्म तैसा। स्वआचार से।।५६।। जो ऐसा न करेंगे। अज्ञानी कैसे मानेंगे?। वे किसविध जानेंगे। मार्ग यह।।५७।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

यहाँ श्रेष्ठ जो-जो करत। उसको धर्म संज्ञा देत। अन्य जन अनुसरत। सामान्य सकल।।५८।। ऐसा सहज स्वभाव होत। अतः कर्म त्याग न उचित। विशेषरूप से करना युक्त। संत जन को।।५९।।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

औरों की क्या बात। कहूँ तुझको पार्थ। मैं स्वयं वर्तत। धर्माचार से।।१६०।। क्या मुझको संकट?। क्या मन में कामना पार्थ। जिससे मैं कर्म करत। यदि शंका तुझको।।६१।। सुनो प्रिय अर्जुन! मुझ जैसा गुणसंपूर्ण। अखिल जगत में जान। नाही अन्य।।६२।। मृत गुरु-पुत्र किया जीवित। वह आश्चर्य तुमको विदित। वह मैं निरिच्छ स्वयं वर्तत। कर्म मार्ग से।।६३।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

साकांक्ष पुरुष जैसा। स्वधर्म आचरत वैसा। मन में उद्देश तैसा। रखके वर्तत।।६४।। भूतजात सकल। मेरे आधीन केवल। न होवे भ्रष्ट उच्छश्रृंखल। इसलिये।।६५।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

Funding by IKS-MoE

होता ।।४६।। आत्मज्ञान से तृप्त होकर उसका जीवन कृतकृत्य होता है। अतः कर्म का संबंध अपने आप नष्ट होता है ।।४७।।

इहलोक में कर्म करने से या न करने से उसको कुछ लाभ नहीं होता। या किसी भी प्राणि से उसको कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती ।।१८।।

भूख समाप्त होने पर पुनः खाना बनाने की आवश्यकता नहीं रहती वैसे ही आत्मानंद में तृप्त होने पर कर्म का नाश सहज होता है ।।४८।। हे अर्जुन! जब तक अंतःकरण में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक साधन करने की आवश्यकता रहती है ।।४९।।

अतः सर्वदा अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिये। अनासक्त होकर कर्म करने से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है ।।१९।।

अतः आसक्ति छोड़कर नित्य स्वधर्म का आचरण करना चाहिये ।।१५०।। जो निष्काम बुद्धि से स्वधर्म का आचरण करते हैं वह इस जग में तत्त्वतः श्रेष्ठ मोक्ष प्राप्त करते हैं ।।५१।।

कर्म से जनकादि को सिद्धि प्राप्त हुई थी। लोकसंग्रह में दृष्टि रखकर कर्म करना तुम्हारे लिए उचित है ।।२०।।

राजा जनक आदि को कर्म का त्याग न करते हुये ही मोक्ष सुख की प्राप्ति हुई थी ।।५२।। अतः पार्थ! कर्म में आस्था रखना चाहिये। यह आस्था अन्य कार्य में उपयुक्त होती है ।।५३।। हमारे आचरण से लोगों को मार्गदर्शन होता है। अतः इससे अनायास अज्ञानजन्य दुःख का नाश होता है ।।५४।। प्राप्त करने के उपरान्त निरीच्छ मन से लोगों को मार्गदर्शन करने के लिये कर्म करना चाहिये ।।५५।। अंधे मनुष्य के आगे दृष्टिवान मनुष्य चलकर जैसा उसको मार्ग बताता है वैसे स्वयं के आचरण से अज्ञानी लोगों को मार्गदर्शन करना चाहिये ।।५६।। ज्ञानिओं ने ऐसा व्यवहार न किया तो अज्ञानी लोगों को योग्य मार्ग कैसा समझेगा ।।५७।।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं उसका अनुसरण अन्य जन करते हैं। जिस बात को वह प्रमाण समझता है उसका लोग अनुसरण करते हैं ।।२१।।

श्रेष्ठ लोगों के आचरण को लोग धर्म समझते हैं। सामान्य लोग वैसा ही आचरण करते हैं ।।५८।। ऐसी स्थिति है। अतः ज्ञानियों को कर्म का त्याग करना उचित नहीं है। संतजनों को इसका आचरण विशेष रूप से करना चाहिये ।।५९।।

हे अर्जुन! तीनों लोकों में मुझे कुछ भी कर्तव्य करना नहीं है। या मुझे कुछ प्राप्त करना भी नहीं है। तथापि मैं नित्य कर्म करता रहता हूं ।।२२।।

और लोगों की क्या बात कहूं? मैं स्वयं धर्म के अनुसार आचरण करता हूं ।।१६०।। मुझे कुछ कमी है? कामना से आचरण करता हूं ऐसा यदि कहोगे ।।६१।। हे अर्जुन! सुनो मेरे जैसा पूर्ण पुरुष अखिल जगत में अन्य नहीं है ।।६२।। मृत गुरुपुत्र को मैंने जीवित किया। वह आश्चर्य तुम जानते हो। मैं निरीच्छ होते हुये भी कर्ममार्ग से व्यवहार करता हूं ।।६३।।

कर्म करने में मैं यदि ढिलाई करूं या आलस्य करूं। तब सब लोग भी वैसाहि करेंगे ।।२३।।

सकाम पुरुष फल की अपेक्षा दक्षता से कर्म करता है। उतनी ही दक्षता से मैं कर्म करता हूं। उसका यह हेतु है ।।६४।। सब प्राणि हमारे तंत्र से चलते हैं। वे उच्छश्रृंखल भ्रष्ट न होवें यद उद्देश्य है ।।६५।।

यदि मैं कर्म न करूंगा, तो यह सब लोक नष्ट होंगे। संकट का मैं निमित्त बनूंगा। लोक स्थिति का नाश होने का मैं कारण होऊंगा ।।२४।।

हम पूर्ण काम होकर। आत्मस्थिति में रहत स्थिर। तब कैसे प्रजा का उद्धार। जग में होत।।६६।। इनको हमारा आदर्श। वर्तनक्रम के लिये खास। नाशत यदि रहत उदास। जग रीति।।६७।। अतः जो समर्थ। जिसको सर्वज्ञता प्राप्त। सविशेष कर्मरत। रहना युक्त।।६८।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।२५।।

रखकर फल की आशा। आचरत फलेच्छु जैसा। कर्म पर जोर देवे वैसा। निरिच्छ पुरुष।।६९।। जैसे कि सर्वदा पार्था। यह सकल लोकसंस्था। सदा रक्षणीय सर्वदा। इस कारण।।१७०।। मार्गाधार से चलिये। विश्व को सन्मार्ग में प्रेरिये। स्वतः अलौकिक न होइये। जग में कदा।।७१।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्। जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

जो सायास सेवत स्तन्य। कैसे भक्षत वह पक्वान्न। न देना युक्त इस कारण। धनुर्धर।।७२।। कर्म में जिनकी अयोग्यता। उनको यह नैष्कर्म्यता। भूलके भी इसकी वार्ता। करना न युक्त।।७३।। वहाँ सत्क्रिया बोधिये। वही एक ही प्रकटिये। निष्काम स्वयं आचरिये। उनके लिये।।७४।। लोकसंग्रह कारण। कीजिये स्वतः कर्माचरण। तब कर्मबंध अर्जुन। न बाधत कदा।।७५।। बहुरुपिया के रानी-राव। मन में न स्त्री-पुरुष का भाव। दर्शक को वैसा ही स्वभाव। दर्शवत।।७६।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

देखे दूसरों का भार। यदि लीजे अपने माथा पर। तब क्यों न धनुर्धर। पावे कष्ट?।।७७।। वैसे शुभाशुभ कर्म। जो उपजवत प्रकृति धर्म। मूर्ख को कैसा मति भ्रम। कहत मैं कर्ता।।७८।। ऐसा जो अहंकार रुढ़। एकदेशी वह मूढ़। उनको यह परमार्थ गूढ़। न करें प्रकट।।७९।। रहने दो यह सांप्रत। तुझको बहुतेरा हित। वह अर्जुन देकर चित्त। अवधारो अब।।१८०।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

तत्त्वज्ञ का मन। न करत देहाभिमान। जिससे कर्मजात अर्जुन। उपजत।।८१।। वे अभिमान छोड़कर। त्रिगुण को लांघकर। साक्षीभूत होकर। वर्तत जगमे।।८२।। अतः यदि शरीरी होत। कर्मबंधसे न लिंपत। जैसे भूतचेष्टा से न गभस्त। परिवर्तत।।८३।।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

यहां जो कर्माधीन। गुणसंभ्रमसे हीन। प्रकृति वश होकर दीन। वर्तत जग में।।८४।। इंद्रियां गुणाधार। करत निज व्यापार। वह परकर्म बलात्कार। स्वयं लेत।।८५।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः।।३०।।

अतः उचित कर्म संपूर्ण। मुझको करना अर्पण। किन्तु चित्तवृत्ति रखना पूर्ण।

Funding by IKS-MoE

यदि हम पूर्ण काम होकर आत्मस्थिति में स्थिर रहेंगे तब इस जग में प्रजा का उद्धार कैसे होगा?॥६६॥ हमारा आदर्श इनके वर्तनक्रम के लिये खास है। हमारे उदास रहने से जग की पद्धति का नाश होगा॥६७॥ अतः जो समर्थ है। जिसको सर्वज्ञता प्राप्त है। उन्हें कर्म में विशेष दक्ष रहना चाहिये॥६८॥

हे अर्जुन! अज्ञानी लोग आसक्त होकर जैसे कर्म करते हैं। तद्वत लोग संग्रह की इच्छा से ज्ञानी पुरुषों को अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये॥२५॥

फल की आशा से जैसा सकाम पुरुष कर्म करता है। वैसा निरिच्छ पुरुष भी कर्म करता है॥६९॥ हे पार्थ! यह संपूर्ण लोक संस्था सर्वदा रक्षण करने योग्य हैं। यही कारण है॥१७०॥ शास्त्र में बताये मार्ग से व्यवहार करके विश्व को योग्य मार्गदर्शन करना चाहिये। लोगों में लोक बाह्य व्यवहार करना उचित नहीं॥७१॥

कर्म में आसक्त अज्ञानी लोगों का ज्ञानियों ने बुद्धि भेद नहीं करना चाहिये। अवधान देकर कर्म करने से समाहित चित्त रहकर ज्ञानियों ने सब कर्म करने की रुचि उत्पन्न करना चाहिये॥२६॥

हे धनुर्धर! जो कष्टपूर्वक माता का दुग्ध सेवन करता है वह नवजात शिशु मिष्ठान्न कैसे खा सकेगा? इसका कारण न देना ही योग्य होगा॥७२॥ कर्म में जिनकी योग्यता नहीं है। उनको नैष्कर्म्य की बातें भूलकर भी बताना नहीं चाहिये॥७३॥ उनको योग्य कर्म करने का मार्गदर्शन करना चाहिये। स्वयं सत्कर्म का आचरण करना चाहिये॥७४॥ लोगसंग्रह के निमित्त स्वयं कर्माचरण करना चाहिये। तब हे अर्जुन! कर्म के बंधन की बाधा नहीं होती॥७५॥ बहुरुपिया राजा एवं रानी बनकर वैसे भाव दर्शक को प्रकट करते हैं। किंतु उनके मन में स्त्री-पुरुष का भाव नहीं होता। अपने रूप के अनुसार दर्शक को भाव बताते हैं॥७६॥

प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म होते हैं। अहंकार से जिनका मन मोहित है ऐसा पुरुष, मैं कर्ता हूं ऐसा समझता है॥२७॥

हे धनुर्धर! दूसरे का बोझ अपने माथे पर लेने से क्या कष्ट नहीं होंगे?॥७७॥ प्रकृति के गुणों से शुभाशुभ कार्य होते रहते हैं। किंतु अज्ञानी बुद्धिभ्रंश के कारण स्वयं को कर्ता समझता है॥७८॥ ऐसा जो अहंकार रूढ़ है। स्वयं को जो मर्यादित समझता है। ऐसे मूर्ख को गूढ़ परमार्थ प्रकट करके नहीं बताना चाहिये॥७९॥ इसको अब छोड़ दो। हे अर्जुन! तुम्हारे हित की बात बताता हूं। ध्यान देकर सुनो॥१८०॥

हे महाबाहो! गुण एवं कर्म विभाग का तत्त्व जाननेवाले गुणों में गुणों की प्रकृति रहती है ऐसा समझकर आसक्त नहीं होते॥२८॥

तत्त्व जाननेवाले ब्रह्मनिष्ठ का मन देह का अहंकार नहीं रखते। हे अर्जुन! प्रकृति के गुणों से सब कर्म उत्पन्न होते हैं॥८१॥ अभिमान छोड़कर त्रिगुणों का उल्लंघन करके, देह में साक्षी बनकर उदासीनता से रहते हैं॥८२॥ सूर्य प्रकाश में प्राणियों के सब व्यवहार होते रहते हैं। किंतु सूर्य उनके कर्म में लिप्त नहीं होता। तद्वत शरीरधारी होते हुए भी वे कर्मबंध में लिप्त नहीं होते॥८३॥

प्रकृति के गुणों से मोहित लोग गुणधर्म में आसक्त होते हैं। सर्वज्ञ पुरुष मंदबुद्धि एवं अज्ञानियों को भ्रमित नहीं करता॥२९॥

प्रकृति के वश में कर्माधीन मनुष्य गुणों के वश होकर जग में दीन होकर व्यवहार करता है॥८४॥ गुणों के अनुसार इंद्रियां व्यवहार करती रहती हैं। दूसरे ने किये हुए कर्म का कर्तापन बलपूर्वक अपने ऊपर लेते हैं॥८५॥

चित्त की वृत्तियां मुझे सौंपकर सर्व कर्म मुझे समर्पित करते हुए निरिच्छ एवं निरहंकार होकर, तुम संशयरहित होकर युद्ध करना॥३०॥

विहित कर्म करते हुए उसको तुम मुझे समर्पित करो। किन्तु अन्तःकरण की वृत्तियां आत्मस्वरूप में

आत्मरूप में।।८६।। और यह कर्म मैं कर्त्ता। मेरे कारण सब वार्ता। ऐसा अभिमान सर्वथा। चित्त में न लाना।।८७।। तुम शरीर पर न होना। कामनाजाल छोड़ना। अवसरोचित भोगना। भोग सकल।।८८।। अब कोदण्ड करो धारण। रथ पर करना आरोहण। वीरवृत्ति को दो आलिंगन। ससमाधान।।८९।। जगमें कीर्ति पाओ। पापों स्वधर्म मान बढ़ाओ। दुष्टों से बचाओ। मेदिनी यह।।१९०।। अब निःशंक होना पार्थ। संग्राम में देना चित्त। और कुछ अन्य बात। न सोचो तुम।।९१।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

यह अनुपरोध (प्रतिबंधरहित) मेरा मत। परमादर से मानकर सत्य। श्रद्धापूर्वक आचरना नित्य। धनुर्धर।।९२।। वे कर्म सकल करत। किंतु जानो कर्म रहित। इसलिये करना युक्त। सतत जान।।९३।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुनिष्ठन्ति मे मतम्। सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

किंतु प्रकृतिमंत होकर। इंद्रियों का करके दुलार। मेरे मत का अव्हेर। करत जात।।९४।। इसको सामान्य समझत। अवज्ञा करके उपेक्षत। केवल अर्थवाद कहत मूढ़जन।।९५।। वे मोहमदिरा सक्त। विषय विष से व्याप्त। अज्ञान पंक में आप्लवित। निभ्रांत जान।।९६।। जैसे शव के हस्तगत। रत्न वह व्यर्थ जात। जात्यंध को प्रकाश दिखत। कोई न प्रमाण।।९७।। चंद्रमा का उदय जैसा। उपयुक्त न वायस को वैसा। मूर्ख को विवेक यह तैसा। सूचत न कभी।।९८।। तैसे जिनसे पार्थ। विमुख यह परमार्थ। उससे संभाषण सार्थ। करना व्यर्थ।।९९।। वे न कभी मानत। निंदा ही करत जात। कहो पतंग साहत। प्रकाश कभी?।।२००।। पतंग का दीप को आलिंगन। वहां उसका निश्चित मरण। वैसा करत विषयाचरण। आत्मघात।।१।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

अतः इंद्रियों की प्रीत। ज्ञानी पुरुष को न युक्त। न उसका कौतुक व्यर्थ। करना युक्त।।२।। क्या सर्प से क्रीड़ा उचित? व्याघ्र संसर्ग सिद्धिप्रद होत?। हलाहल पचाना संभवत?। कहो तुम?।।३।। सहज घटत अग्निस्पर्श। प्रदीप्त न होवे यश। वैसा इंद्रिय परिवेश। भला न होत।।४।। वैसे भी अर्जुन। यह शरीर पराधीन। इसके लिये भोगार्जने। न कदापि कार्य।।५।। स्वयं करके यत्न बहुत। प्राप्त समृद्धि नाशत पोषण देह का इस अहोरात्र। किस लिये?।।६/७।। यह तो पांचों का मेल पार्थ। अंत में पन्चत्व पावत। सकल यत्न व्यर्थ। निरर्थक।।८।। अतः केवल देहाभिमान। वह निश्चित हानि जान। इसको अपना अंतःकरण। न दीजे कदा।।९।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

वैसा यह विषय सेवन। चित्त के संतोष का कारण। नित्य नया प्रलोभन। होत जात।।२१०।। किंतु यह चोर की संगत। क्षणभर स्वस्थ भासत। जब तक न नगर

रखना ॥८६॥ एवं विहित कर्म को करनेवाला मैं हूं ऐसा अभिमान मन में नहीं रखना ॥८७॥ तुम देह में आसक्त नहीं होना। संपूर्ण कामनाओं का त्याग करो। अवसर के अनुसार जो भोग प्राप्त होंगे उन सबका यथावकाश उपभोग करना ॥८८॥ अब धनुष्य धारण करके रथ पर आरूढ़ होना। एवं समाधान से वीरवृत्ति को आलिंगन देना ॥८९॥ इस जग में अपनी कीर्ति बढ़ावो। स्वधर्म सम्मान बढ़ावो। दुष्टों से इस भूमि का भार हरण करो ॥१९०॥ अब निःशंक होकर हे पार्थ! युद्ध में ध्यान देना। अन्य बात का विचार मत करो ॥९१॥

श्रद्धावान एवं निर्मत्सर मानव मेरे इस मत का नित्य अनुसरण यदि करेंगे वे कर्मबंधन से मुक्त होंगे ॥३१॥

यह मेरा प्रतिबंध रहित यथार्थ उपदेश सत्य समझकर आदरपूर्वक एवं श्रद्धापूर्वक, हे धनुर्धर! नित्य आचरण में लाना ॥९२॥ वे सब कर्म करते हुये भी उनको कर्मरहित समझना। अतः नित्य कर्म करना चाहिये ऐसा तुम समझना ॥९३॥

मत्सर से युक्त लोग मेरे इस मत के अनुसार व्यवहार नहीं करते। वे सब प्रकार के ज्ञान के विषय में मूढ, अविवेकी, दुर्बुद्धि समझना ॥३२॥

देह के अधीन होकर, इंद्रियों में आसक्त होकर ,मेरे कहने का अव्हेर करते हैं ॥९४॥ उसको वे सामान्य समझते हैं। मेरी अवज्ञा करके उपेक्षा करते हैं। केवल उसको अर्थवाद कहते हैं। वे मूढ़ हैं ॥९५॥ वे मोहरूपी मदिरा से मत्त हुए हैं। विषयरूपी विष से ग्रसित हैं। अज्ञानरूपी कीचड़ में फंसे हुए हैं। ऐसा तुम निश्चित समझना ॥९६॥ शव के हाथ में दिया रत्न व्यर्थ होता है। जन्मांध को सूर्योदय का उपयोग नहीं होता ॥९७॥ चंद्रप्रकाश कौए को जैसा उपयुक्त नहीं होता। वैसा मूर्ख को विवेक योग्य प्रतीत नहीं होता ॥९८॥ हे पार्थ! परमार्थ में विमुख लोगों से भाषण करना योग्य नहीं होता ॥९९॥ यह उपदेश उन्हें मान्य नहीं होता। जो निंदा करते रहते हैं। पतंग प्रकाश को नहीं सहते ॥२००॥ दीपक को आलिंगन देते ही पतंग की निश्चित मृत्यु होती है। वैसे विषय में आसक्त होने से आत्मघात होता है ॥१॥

ज्ञानी पुरुष अपने प्रकृति के अनुरूप व्यवहार करते हैं। पंचमहाभूत अव्यक्त में लीन होते हैं। वहां निग्रह का क्या उपयोग ॥३३॥

अतः इंद्रियों की आसक्ति ज्ञानी पुरुष के लिए योग्य नहीं है। उसको दुलारना योग्य नहीं है ॥२॥ सर्प के साथ क्रीड़ा करना क्या उचित है? बाघ की संगति क्या निर्विघ्न होती है? हलाहल विष क्या पचन होगा? तुमही कहो ॥३॥ सहज अग्नि स्पर्श होते ही वह प्रदीप्त होती ही है। तद्वत इंद्रियों की आसक्ति योग्य नहीं होती ॥४॥ हे अर्जुन! इस पराधीन शरीर के लिए वैसे भी विविध भोगों की उपलब्धि योग्य नहीं होती ॥५॥ अत्यंत यत्न पूर्वक धन प्राप्त करके केवल देह का ही रात-दिन पोषण किसलिए करना? ॥६/७॥ यह शरीर पंच महाभूतों से बना हुआ है। हे पार्थ! अंत में यह पंचतत्त्व में ही विलीन होने वाला है। तब सकल प्रयत्न व्यर्थ निरर्थक होंगे ॥८॥ केवल देह का अभिमान रखना निश्चित हानिकारक है। अतः केवल देह पोषण में अपना अंतःकरण नहीं लगाना ॥९॥

प्रत्येक इंद्रिय की विषयों में रुचि या अरुचि रहती है। उसमें मन को जाने नहीं देना। वह मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है ॥३४॥

इंद्रियों को विषय सेवन कराने से चित्त को संतोष होता है। किन्तु उससे नित्य नया प्रलोभन उत्पन्न होता है ॥२१०॥ इसको चोर की संगति समझना चाहिये। नगर का प्रांत जब तक छोड़ता नहीं तब

प्रांत। उल्लंघत।।११।। देखो विषका मधुरपन। भासत चित्त को साहावन। परिणामी तत्त्वतः अर्जुन। नाशकारी।।१२।। इंद्रियस्थ जो काम जान। सुखाशा नाशत पूर्ण। जैसा गलग्रह से मीन। फसत जात।।१३।। जो उसमें कंटक गुप्त। अज्ञानवश न जानत। अंत में प्राण हरत। सुनिश्चित।।१४।। इसलिये विषय अभिलाष। यदि रखत मूढ़ पुरुष। वह करत प्रवेश। क्रोधाग्नि में।।१५।। जैसा अवसर देख व्याध। करत मृगका बुद्धि भेद। करने को उसका वध। निःसंशय।।१६।। वैसा यह विषय साथ। बाधक तुझको पार्थ। काम क्रोध दोनों निश्चित। घातक जान।।१७।। इसलिये इनका स्मरण। न करो न देना स्थान। एक निजवृत्ति को अंतःकरण। देना सतत।।१८।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

देखो स्वधर्म अर्जुन। यदि होत विगुण। उसका ही अनुष्ठान। करना युक्त।।१९।। अन्य जो परधर्म। दिखत अति उत्तम। तथापि अपना निजधर्म। आचरना युक्त।।२२०।। शुद्रगृहका अन्न। नानाविध पक्वान्न। कैसे करे द्विज सेवन। निर्धन यदि?।।२१।। यह अनुचित कैसे कीजे?। अग्राह्य कैसे वांछिजे। यदि इच्छित पाईजे। तथापि न युक्त।।२२।। दूसरों का धवलार। देखकर मनोहर। अपना कुटिया सा घर। तोड़ना कैसे?।।२३।। दैवयोग से निज वनिता। कुरूप किंतु सुरता। भोग के लिये तत्त्वता। वही भली।।२४।। वैसा स्वधर्म यदि दुर्घट। आचरण उसका विकट। तथापि वह सन्मित्र। परत्र के लिये।।२५।। देखो शर्करा और दुग्ध। मधुरता के लिये प्रसिद्ध। किंतु कृमिदोष में निषिद्ध। ग्राह्य कैसे?।।२६।। यदि इसपर भी सेवत। रोगी हठ धरत। परिणाम में हानि करत। धनुर्धर।।२७।। अतः दूसरों का निहित। किंतु अपने लिये अनुचित। न कीजे कदापि हित। अपना देखे।।२८।। स्वधर्म का अनुसरण। नाशत यदि निज जीवन। उभय लोक में निश्चित जान। यश प्राप्त।।२९।। ऐसा समस्त सुरशिरोमणि। बोलत जहां शाड्गपाणी। अर्जुन कहत विनयबानी। सुनो देव आपने किया निरूपण। वह सकल किया श्रवण। कुछ पूछूं।।२३०।। मन में जो प्रश्न?। अपेक्षित।।३१।।

अर्जुन उवाच–

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

कहो प्रभु यह कैसे? ज्ञानी भी ग्रसित बुद्धि भ्रंश से। सन्मार्ग त्यागकर सहज से। कुमार्गी होत?।।३२।। जो सर्वज्ञ होत। सारासार जानत। वे भी परधर्म व्यक्तिचरत। किस गुण से?।।३३।। बीज और भूसा। पृथक न करत अंध जैसा। किंतु दृष्टिवंत भी क्षण में तैसा। भ्रमत क्यों?।।३४।। जो प्राप्त संग त्यागत। पुनः संग करके- अतृप्त। ज्ञानी जन सेवत। जनपद को।।३५।। स्वतः न चाहत पापकृत। रहना चाहत अलिप्त। किंतु बलात्कार से प्रेषित। होत उसमें।।३६।। जिससे करत

तक उसकी संगति भली रहती है।।११।। (वचनागादि) विष मधुर रहते हैं। अंतःकरण को वे अच्छे भी लगते हैं। हे अर्जुन! उसका परिणाम नाशकारक होता है।।१२।। जैसे आमिष को मछली भूलती है। वैसी इंद्रियों की वासनाएं सुख की आशायें पूर्ण नष्ट करती है उसमें जो गुप्त कांटा रहता है, उसको अज्ञान के कारण जानते नहीं। किन्तु अन्त में वह निश्चित प्राणहरण करता है।।१४।। अतः विषय की अभिलाषा यदि मूर्ख पुरुष करते हैं। वे क्रोध रूपी अग्नि में प्रवेश करते हैं।।१५।। अवसर को देखकर व्याध मृग का बुद्धि भेद करता है। उसका वध करना ही उसका हेतु निःसंशय होता है।।१६।। वैसा यह विषयों का साथ है। हे पार्थ! काम एवं क्रोध दोनों निश्चित घात करने वाले एवं मार्ग में बाधक होते हैं।।१७।। अतः इनका स्मरण नहीं करना। उनको स्थान नहीं देना। अन्तःकरण आत्मविचार में नित्य रखना।।१८।।

उत्तम प्रकार के अनुष्ठान वाले परधर्म से स्वधर्म आचरण के लिए कठिन होते हुये भी अच्छा होता है। स्वधर्माचरण में मृत्यु प्राप्त होना भी अच्छा होता है। किंतु परधर्म भयावह रहता है।।३५।।

आचरण करने के लिये स्वधर्म कठिन होते हुये भी उसका अनुष्ठान करना योग्य रहता है।।१९।। अन्य परधर्म दिखने के लिए उत्तम होते हुए भी अपने धर्म का आचरण योग्य होता है।।२२०।। शूद्र के घर का अन्न, विविध मिष्ठान्न बनाने के उपरान्त भी निर्धन ब्राह्मण को उसका सेवन नहीं करना चाहिये।।२१।। यह अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिये। ग्रहण करने के लिये अयोग्य वस्तु की इच्छा नहीं करना चाहिये। इच्छा के अनुसार प्राप्त होने पर भी उसे योग्य नहीं समझना।।२२।। दूसरों के विशाल सुंदर महल देखकर अपनी कुटिया को तोड़ना क्या योग्य होगा?।।२३।। दुर्भाग्य से स्वयं की पत्नी कुरूप है। किन्तु उपभोग के लिये वही योग्य समझना चाहिये।।२४।। वैसा स्वयं का धर्म कठिन होने पर भी, आचरण के लिये विकट होने पर भी परलोक साधन के लिये उसको ही उत्तम मित्र समझना चाहिये।।२५।। देखो! शक्कर एवं दुग्ध मधुरता के लिये सुप्रसिद्ध हैं। किंतु कृमिदोष में उसको निषिद्ध माना गया है। उसको कैसे ग्रहण किया जायेगा? ।।२६।। जबरन उसका सेवन करने से हे धनुर्धर! रोगी के हठ के कारण परिणामतः हानिकारक सिद्ध होगा।।२७।। अतः दूसरों के लिए जो योग्य रहता है, वह अपने लिए अनुचित होता है। अतः अपना हित देखते हुए उसको कभी करना नहीं चाहिये।।२८।। स्वधर्म के आचरण से यदि अपने जीवन का नाश होगा तब भी इहलोक एवं परलोक में निश्चित यश प्राप्त होगा।।२९।। सब देवताओं में श्रेष्ठ शाड्गपाणि ने जब ऐसा कहा तब अर्जुन ने विनयपूर्ण वाणी से कहा! हे देव! सुनिये।।२३०।। आपने जो निरूपण किया वह मैंने सब श्रवण किया है। मन में कुछ प्रश्न उत्पन्न हुए हैं। उसको मैं पूछता हूं।।३१।।

हे श्रीकृष्ण! स्वयं की इच्छा न होते हुए भी बलपूर्वक पुरुष किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है।।३६।।

हे प्रभु! ज्ञानियों को भी बुद्धिभ्रम कैसे होता है। सन्मार्ग का सहज त्याग करके वे कुमार्ग पर चलते हैं।।३२।। जो सब जानते हैं। सार क्या है, असार क्या है, यह समझते हैं। वह भी किस गुण से परधर्म का आचरण करते हैं।।३३।। अंधा, बीज एवं भूसे को अलग नहीं कर सकता। किन्तु जिसकी दृष्टि है वह भी क्षण में वैसा क्यों भ्रमित होता है?।।३४।। प्राप्त संगति का त्याग करता है। पुनः संग करके अतृप्त रहता है। वन में निवास करनेवाले भी लोगों के बीच में रहने लगते हैं।।३५।। पापकृत्य करने की इच्छा उनमें नहीं होती। उसमें अलिप्त रहना चाहते हैं। किंतु बलात् उसमें ही लिप्त दिखाई देते हैं।।३६।। जिससे घृणा करते हैं वही विषयवासना

Funding by IKS-MoE

घृणा। वही वेष्टत विषवासना। हटाना चाहत पुनः-पुनः। किन्तु ग्रसित होत।।३७।। यह ज्ञानियों पर बलात्कार। किसका यह आग्रह साचार। बोलो मुझको लक्ष्मीवर। अर्जुन कहत।।३८।।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

तव हृदय कमल आरामु। जो योगियों का निष्काम काम। वह कहत पुरुषोत्तमु। सुनो पार्थ।।३९।। देखो ये क्रोध काम। जो होत अति निर्मम। नाश करत यमसम। कालरूप।।२४०।। ये ज्ञाननिधि के भुजंग। विषय दरी के बाघ। भजन मार्ग के मांग। मारक जो।।४१।। ये देह दुर्ग के पत्थर। इंद्रिय ग्राम का कारागार। इन व्यामोहादिक का भार। जग के ऊपर।।४२।। ये रजोगुण मन के। समूल असुर संपदा के। भोक्ता अविद्या के। जग में अर्जुन।।४३।। रजोगुण से उत्पन्न। ये तमोगुण को प्रसन्न। किया निजपद दान। प्रमाद मोह को।।४४।। इनको प्रिय मृत्युनगर। पावत वहां अति आदर। जीवित का करत वैर। इसीलिये।।४५।। भूख इनकी सबल। विश्व न होत एक कवल। इनके व्यापार को बल़। आशा देत।।४६।। मुष्टि जहां बंद करत। चौदह भुवन सहज समावत। ऐसी जो प्रिय कनिष्ट। भ्रांति भागिनी।।४७।। इस भ्रांति का आश्चर्य। सहज भक्षत लोकत्रय। तृष्णा इसकी दासी होय। जीयत जग में।।४८।। यहां मोह को सम्मान। अहंकार का व्यापार पूर्ण। जो जग को नचावत संपूर्ण। स्वेच्छा से जान।।४९।। जिसने विदीर्ण किया सत्य। उसमें भरा तृणकुट दुष्कृत्य। दंभ को कराया ख्यात। जगत में इस।।२५०।। ये साध्वी शांति को लूटत। माया मांगी को श्रृंगारत। उससे भ्रष्ट करवत। साधु वृंद।।५१।। ये विवेक को करत नष्ट।वैराग्य की खाल उधड़त। जीतेजी गर्दन मरोड़त। उपशम की (इंद्रियनिग्रह)।।५२।। इन्हें संतोषवन किया खंडित। धैर्य दुर्ग जमींदोस्त। आनंद अंकुर उखड़त। गिरावत नष्ट करत।।५३।। बोध वृक्ष काट दिया। सुख का नाम मिटाया। हृदय में अग्नि जलाया। तापत्रय का।।५४।। ये शरीर के साथ उत्पन्न। प्राण के साथ संलग्न। खोजकर न लभत अर्जुन। ब्रह्मादिक को।।५५।। वसत चैतन्य के पास। ज्ञान के साथ इनका वास। करत जगत का नाश। अनावर ये।।५६।। बिना जल आप्लवत। अग्निबिन भस्म करत। अनवधान ग्रासत। जीवों को सकल।।५७।। बिन शस्त्र करत आघात। रज्जू बिन बद्ध करत। ज्ञानियों को तो जीतत। प्रतिज्ञापूर्वक।।५८।। ये कर्दमबिन रोंदत। पाशबिन जखड़त। अंतर तम में वसत। वश न होत।।५९।।

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

चंदन की जड़ जैसे। वेष्टत व्याल वैसे। अथवा उल्ब वेष्टन तैसे। गर्भस्थ को।।२६०।। या प्रभाबिन भानु। धूम्रबिन हताशनु। जैसा दर्पण पारदहीनु। रहत न कदा।।६१।। वैसे बिना काम क्रोध। न वसत ज्ञान शुद्ध। जैसे छिलके से अनुविद्ध

Funding by IKS-MoE

उन्हें घेरती है। हटाना चाहने पर भी पुनः-पुनः उसमें लिप्त होते हैं॥३७॥ ज्ञानियों पर ऐसा बलात्कार होना सत्य में किसका आग्रह रहता है? हे लक्ष्मीवर! यह मुझे समझाईये ऐसा अर्जुन ने कहा॥३८॥

भगवान कहते हैं, बलात्कार करने वाला यह काम है। यह क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होता है। यह महापापी एवं अघोरी (प्रबल भूखवाला) है। इस लोक में यह अपना शत्रु है॥३७॥

हृदयरूपी कमल में विश्रांति लेनेवाला एवं निरीच्छ योगी जिसकी इच्छा करते हैं ऐसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने कहा, हे पार्थ! सुनो!॥३९॥ देखो! यह काम एवं क्रोध अत्यंत निर्मम ममता रहित होते हैं। यम सदृश नाश करनेवाला काल इनको समझना॥२४०॥ यह ज्ञानरूपी संपत्ति के सर्प हैं। विषयरूपी दरी के व्याघ्र हैं। भजन के मार्ग में मारनेवाले यह चाण्डाल हैं॥४१॥ देहरूपी दुर्ग के यह पत्थर हैं। इंद्रियरूपी ग्राम की बंदिशाला हैं। अविवेक के रूप में जगपर इनका आधिपत्य है॥४२॥ ये मन के रजोगुण हैं। आसुरी संपत्ति से इनकी रचना हुई है। इनका पालन-पोषण अविद्या से हुआ है॥४३॥ यह रजोगुण से बने हैं। तमोगुण को अत्यंत प्रिय हैं। प्रमाद एवं मोह को इन्होंने अपने पद का दान किया है॥४४॥ इनको मृत्युलोक प्रिय है। वहां उनको अत्यंत आदर प्राप्त होता है। अतः जीवन के साथ इनका शत्रुत्व है॥४५॥ इनकी भूख प्रबल है। एक ग्रास में विश्व को निगलनेकी इनकी योग्यता है। आशा इनके व्यापार को बढ़ावा देती है॥४६॥ मुट्ठी में चौदह भुवनों को सहज समानेवाली इनकी अत्यंत प्रिय कनिष्ठ भगिनी भ्रांति है॥४७॥ इस भ्रांति का कार्य आश्चर्यकारक है। तीनों लोकों को वह भक्षण करती है। तृष्णा इनकी दासी के रूप में जग में जीवित है॥४८॥ मोह को यहां सम्मान मिलता है। अहंकार पूर्ण व्यापार करता है। वही अहंकार इस जग का अपनी इच्छा के अनुसार नचाता है॥४९॥ जिसने सत्य को विदीर्ण करके उसमें दुष्कृत्य का सूखा घांस भर दिया है। काम क्रोध ने दंभ को जग में विख्यात कराया है॥२५०॥ पतिव्रता शांति को इन्होंने लूट लिया है। मायारूपी चाण्डाली को उन्होंने अलंकृत किया है। उसी के माध्यम से काम एवं क्रोध साधु समुदाय को भ्रष्ट करते हैं॥५१॥ यह विवेक को नष्ट करते हैं। वैराग्य की खाल उखाड़ते हैं। इंद्रियनिग्रह (उपशम) की जीवित रहते हुए गर्दन मरोड़ते हैं॥५२॥ इन्होंने संतोषरूपी अरण्य को खण्डित किया है। धैर्यरूपी दुर्ग को गिराया है। आनंद के अंकुर को प्रारंभ में ही उखाड़कर नष्ट किया है॥५३॥ ज्ञानवृक्ष को काट दिया है। आत्मसुख का नाम भी मिटा दिया। तीनों तापों की अग्नि इन्होंने हृदय में जलाई है॥५४॥ ये शरीर के साथ ही उत्पन्न होते हैं। प्राण के साथ चिपकते हैं। हे अर्जुन! खोजने पर ब्रह्मा आदि के भी पकड़ में नहीं आते॥५५॥ चैतन्य के पास रहते हैं। ज्ञान के साथ निवास करते हैं। यह ऐसे अनावर हैं कि, विश्व का भी नाश करते हैं॥५६॥ बिना जल से डुबाते हैं। अग्निबिना जलाते हैं। सब जीवों को अकस्मात घेर लेते हैं॥५७॥ शस्त्र के बिना आघात करते हैं। रस्सी के बिना बांधते हैं। प्रतिज्ञा करके ज्ञानी लोगों पर विजय प्राप्त करते हैं॥५८॥ कीचड़ के बिना पैरतले रौंदते हैं। पाश के बिना बन्धन में डालते हैं। हृदय के भीतर इनका निवास होने से इनको वश में नहीं ला सकते॥५९॥

सच्चिदानंद गोविंदम
जय जय माधवं कृष्णं

जिस प्रकार धूम्र से अग्नि, मल से दर्पण, तथा वेष्टन से गर्भ आच्छादित रहता है। तद्वत काम ज्ञान को आच्छादित करता है॥३८॥

चंदनवृक्ष की जड़ सांपों से वेष्टित रहती है। उदरस्थ गर्भ आवरण से वेष्टित रहता है॥२६०॥ प्रकाश के बिना सूर्य। धूम्र के बिना अग्नि। या दर्पण पारद के बिना कभी रहता नहीं॥६१॥वैसे काम एवं क्रोध के बिना शुद्ध ज्ञान नहीं रहता। जैसे बीज

Funding by IKS-MoE

(संलग्न)। बीज सदा।।६२।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

ऐसे यह ज्ञान शुद्ध। किंतु इनसे नित्य प्ररुद्ध (आच्छादित) इसलिये वे अगाध। त्रिजगत में।।६३।। प्रथम इनको जीतना। पश्चात ज्ञान को पाना। तब संभव पराभव करना। रागद्वेष का।।६४।। इनके निर्दालन कारण। जो बल जोड़त अर्जुन। वह अग्नि को जैसा ईधन। सहायक होत।।६५।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

मन बुद्धि इनका अधिष्ठान। मोह से आवृत करत ज्ञान। हठयोगियों को भी हे अर्जुन! जीतत जग में।।६६।। यद्यपि ये अजिंक्य। इसका भी एक उपाय। यदि तुझको शक्य। कहूंगा मैं।।६७।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ। पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

इंद्रियां इनका मूल स्थान। इनसे कर्म प्रवृत्ति जान। अतः करना इनका निर्दालन। निःशेष पार्थ।।६८।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

तब मनवृत्ति होगी कुंठित। बुद्धि होगी सुसंस्कृत। कामक्रोध का नष्ट होत। समूल प्रस्थ।।६९।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

अंतःकरण से इनकी बस्ति। उखड़त तब ये पावत मुकित जैसे रश्मि बिन न स्थिति। मृगजल को।।२७०।। जब राग द्वेष होत नष्ट। जीवब्रह्म एक्य पावत। तब आत्मसुख भोगत। स्वयं जाने।।७१।। यह गुरुशिष्य की बात। मूल अद्वैत सिद्धांत। वहां स्थिर करके चित। रहना अचल।।७२।। ऐसे सकलसिद्धि मुकुटमणि। आगे कहत शारङ्गपाणि। कथा पुरातन अमृतबानी। सुनो नृप।।७३।। अब पुनः वह अनंत। कहत एक आद्य कथा क़हत। तब प्रश्न पूछत। पंडुसुत।।७४।। वह कथा की योग्यता। और उसकी रसिकता। रस वर्षा से पावे श्रोता। श्रवण सुख।।७५।। ज्ञानदेव कहे निवृतीका। सुसज्ज होकर उन्मेषका। संवाद हरि पार्थका। अनुभविजे पूर्ण।।२७६।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे कर्मयोगोनाम
तृतीयोऽध्यायः (श्लोक ४३ ओवियाँ २७६)

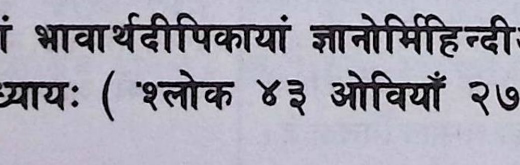

छिलके सहित उत्पन्न होता है।।६२।।

हे अर्जुन! ज्ञानियों का नित्य शत्रु जिसकी पूर्तता होना कठिन है ऐसे कामरूपी अग्नि से ज्ञान आच्छादित है।।३९।।

ऐसा यह ज्ञान शुद्ध है। किन्तु काम एवं क्रोध से नित्य वह आच्छादित रहता है। अतः यह तीनों लोकों में अगाध कहलाया गया है।।६३।। प्रथम इनको जीतना है। उसके पश्चात ज्ञान की प्राप्ति होगी। किन्तु काम एवं क्रोध का पराभव करना संभव नहीं होता।।६४।। जैसे अग्नि में ईंधन डालने से वह अधिक प्रज्वलित होती है। वैसे इनका नाश करने के लिए लाया गया सामर्थ्य काम क्रोध का सहायक होता है।।६५।।

इंद्रियां, मन एवं बुद्धि इनके आश्रय स्थान हैं। इंद्रियों से ज्ञान को आच्छादित करके वह प्राणी को मोहित करता है।।४०।।

मन एवं बुद्धि इनका अधिष्ठान है। ज्ञान को वे मोह से आवृत्त करते हैं। हे अर्जुन! हठ योगियों पर भी ये विजय प्राप्त करते हैं।।६६।। यद्यपि यह अजिंक्य है, विजय प्राप्त करने का एक उपाय है। शक्य होगा एवं तुम करोगे तो मैं तुझे बताता हूं।।६७।।

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन! प्रथम इंद्रियों का नियमन करो। ज्ञान एवं विज्ञान का नाश करनेवाले पापरूपी काम का त्याग करो।।४१।।

इनका मूल स्थान इंद्रियां हैं। इनसे ही कर्म की प्रवृत्ति मन में होती है। अतः इनका निःशेष नाश करना, इंद्रियों का दमन करना।।६८।।

इंद्रियों को श्रेष्ठ कहा जाता है। इंद्रियों से मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धि से काम श्रेष्ठ है।।४२।।

मन की दौड़ रुक जायेगी, बुद्धि विमुक्त होगी, तब इन दुष्ट काम का आश्रय नष्ट होगा।।६९।।

इस प्रकार से बुद्धि से भी श्रेष्ठ 'काम' को समझ लेना। मन से मन का संयम करके विजित करने के लिए अत्यंत कठिन ऐसे कामरूपी शत्रु को नष्ट करो।।४३।।

काम,क्रोध अंतःकरण से निकल जानेपर इनसे मुक्ति मिलती है। जैसे सूर्यकिरणों के बिना मृगमरीचिका उत्पन्न नहीं होती।।२७०।। जब राग-द्वेष पूर्ण नष्ट होते हैं तब जीव एवं ब्रह्म का ऐक्य होता है। तब यह साधक स्वयं आत्मसुख में निमग्न होता है।।७१।। यह बात श्रीगुरु एवं शिष्य के संवाद में विचार से प्राप्त होती है। यह मूल अद्वैत सिद्धांत है। वहां अपना अंतःकरण स्थिर करके तुम स्थिर रहना।।७२।। संपूर्ण सिद्धियों के मुकुटमणि, भगवान शारङ्गपाणी आगे कहते हैं। वह अपनी अमृतवाणी से पुरातन कथा कहेंगे। हे राजा सुनो! ऐसा संजय ने कहा।।७३।। अब पुनः वह अनंत एक आदि कथा कहेंगे। तब पंडुराजा के पुत्र प्रश्न पूछेंगे।।७४।। उस कथा की योग्यता एवं उसमें अनुभव में आनेवाले विविध रसों की वर्षा से श्रोताओं को श्रवण सुख की प्राप्ति होगी।।७५।। निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव कहते हैं, बुद्धि को जागृत करके अब भगवान श्रीहरि एवं पार्थ के संवाद का पूर्ण अनुभव लीजिए।।२७६।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

● ● ●

अध्याय - चौथा

सारांश

ब्रह्मार्पण क्रिया समग्र। निरूपित देव ने।।अ.१८-१४४१।।

श्री ज्ञानेश्वरजी की दृष्टि से इस अध्याय से द्वादश अध्याय के श्लोक तेरह तक गीता में 'उपासना कांड' है। तृतीय अध्याय में हर एक ने कर्म करना चाहिये, ऐसा निर्णय भगवान कर चुके हैं। किंतु कर्माचरण में अज्ञान के जो बंध हैं उन बंधों से मुक्त होकर मोक्षतक जाना है तो ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करना आवश्यक है। शरीर, वाणी और मन द्वारा जो विहित कर्म उत्पन्न होगा वह ईश्वर प्रीत्यर्थ करना जरूरी है। यह उपासना कैसी करना इसका वर्णन इस चतुर्थ अध्याय के अंतिम भाग में किया है।

भगवान के कथन का अनुवाद करने के पूर्व इस अनुवाद से श्रोताओं को सुख का मिष्ठान्न भोजन प्राप्त होगा ऐसा कहकर श्री ज्ञानेश्वरजी श्रोताओं का अवधान एकाग्र करते हैं। और अर्जुन ने पूछे बिना ही उसको भगवान स्वयं दुर्लभ, गुप्त, गुह्य कैसे बताते हैं इसकी उपपत्ति श्री ज्ञानेश्वरजी कथन करते हैं। अर्जुन भगवान का प्रेमपात्र है इसीलिये अर्जुन ने पूछे बिना ही उसको भगवान स्वयं दुर्लभ, गुप्त गुह्य कैसे हैं यह स्वयं बताते हैं। क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्ण का प्रेमपात्र है। (१-१५)

तृतीय अध्याय में वर्णित निष्काम कर्म योग पूर्वकाल में मेरे से मनुइक्ष्वाकु (तथा अन्य) राजर्षि आदि को परंपरागत प्राप्त हुआ था। परंतु सांप्रत विवेक वैराग्य के अभाव से और लोगों के विषयासक्त होने के कारण जो निष्काम कर्मयोग लुप्त हुआ था, वह तुझे मैंने युद्ध की हलचल से दूर रखकर कथन किया है, क्योंकि तू मूर्तिमान प्रेम है, प्रेम की मूर्ति है, भक्ति की कोमलता है और सख्य की मूर्ति है। (१६-३१) अति प्राचीन काल में मैंने यह उपदेश किया था ऐसा बोलनेवाला श्रीकृष्ण सांप्रत अर्जुन के सम्मुख खड़ा है, इसमें जो निःसंगति दिखती है, उसका निराकरण करने के लिये भगवान ने बतलाया कि आज तक मेरे सहित सबके कितने ही जन्म हो चुके हैं, किंतु मनुष्य को अपने जन्म की स्मृति नहीं रहती, और मुझे स्मरण रहता है। (३२-४३) वस्तुतः मैं जन्मरहित हूं। मैं जन्म लेता हूं, यह जो क्रिया दृष्टिगोचर होती है, वह भ्रम से माया से प्रतीत होती है। दर्पण में एक वस्तु के दो रूप दिखाई देते हैं, तद्वत मेरा अवतार कार्य प्रतीत होता है। यह अवतार कार्य, धर्म संस्थापना, साधु परित्राण और दैत्यों का विनाश करके जगमें धर्म स्थापित होकर सुख समृद्धि होवे इसलिये है। (४४-५७) यह मेरा अवतार कार्य है। मेरा यह कार्य काम, क्रोध, भय से मुक्त पुरुषों को यथार्थ रीति से समझता है। वस्तुतः सब पुरुष मद्रूप हैं। जो पुरुष भेद बुद्धि को वश होता है, उसे परमात्मा एकरस होते हुये भी संसार में सुष्ट-दुष्ट (सत्-असत्) इस प्रकार का भेद दिखता है। यह भेद उनके बुद्धि में है। (५२-७६) ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पुरुष वस्तुतः एक हैं किंतु उनमें जो स्वभाव धर्म और गुण हैं, तदनुसार मैंने उनका चार वर्गों में विभाजन किया है और प्रकृतिजन्य गुण भेदानुरूप उनको कर्म प्रदान किये हैं (बांट दिये हैं) अतएव, तत्त्वतः विचार किया जाये तो वर्ण भेद संस्था का कर्ता मैं नहीं हूं। हर एक ने अपने-अपने कर्म का योग्य रीति से आचरण किया, तो वह कर्म निःसंशय उसे कर्मबंधन से मुक्त करेगा। किंतु कर्म-अकर्म आदि किसको कहते हैं इसका मंथन करते हुए दूरदर्शी पुरुष भी भ्रमित होते हैं। अतएव सर्व क्रियाओं का अधिष्ठान यह है कि कर्म हो रहा है किंतु मैं कर्ता नहीं, ऐसी निश्चल बुद्धि जागृत रखना और फलाशा न रखना। इस प्रकार आचरण करना ही युक्तियुक्त है। (७७-१०५) यह युक्ति जिसको प्राप्त हुई वह परब्रह्मभक्त पुरुष संतोष के गर्भागार में आत्मबोध का सेवन करता है। लौकिक दृष्टया यदृच्छा से जो मिलता है उसमें वह संतुष्ट रहता है। उसमें स्वकीय परकीय भाव नहीं रहता। वह विश्वात्मक होता है। फिर उसको कर्मबाधा नहीं होती। यदि उसने लीलया यज्ञादिक कर्मों का

Funding by IKS-MoE

आचरण किया भी तो उसके ऐक्य भाव से वह कर्म भी ऐक्य में विलीन होते हैं। कर्म ही ब्रह्म है ऐसा साम्यक अनुभव वह लेता है इसलिये उसने कर्म किये तो भी वह नैष्कर्म्य है। (१०६-१२१)

विवेक-वैराग्य से युक्त होकर जिन्होंने योगाग्नि की उपासना स्वीकृत की है। देव यज्ञ के, ब्रह्मरूप अग्नि के उपासक, तथैव प्राणेंद्रियों के सब कर्म ज्ञानरूप अग्नि से प्रदीप्त आत्मसंयम स्वरूप अग्नि में आहुति देनेवाले इन सबों की यज्ञ क्रिया यद्यपि भिन्न है, तो भी उनका फल एक ही है- मोक्ष। द्रव्य यज्ञ द्वारा चित्त मल क्षालन करके अज्ञान नष्ट होता है और केवल ज्ञान शेष रहता है। इस ब्रह्मतत्व की प्राप्ति उन्हें होती है। यह द्रव्य यज्ञ ज्ञानयज्ञ के समकक्ष नहीं होते, ज्ञान का महात्म्य अपार है। (१२२-१६४) ज्ञान प्राप्ति का एकमेव साधन संतचरणों की अनन्य सेवा करना यह है। ज्ञान प्राप्ति होते ही मोहान्धकार नष्ट होता है। फिर भ्रांति व्यामोह को स्थान कहां? ज्ञान सदृश पवित्र अन्य वस्तु नहीं है। जिसको आत्मसुख की लगन लगी है, विषयों का तिरस्कार आया है, ऐंद्रिय सुख की लालसा नहीं है और जो कर्मकर्तृत्व स्वयं लेता नहीं ऐसे पुरुष को ज्ञान प्राप्ति होती है। परिणामतः उसको परम शांति का लाभ होता है। (१६५-१९२)

जन्म लेकर जिन्होंने संयमाग्नि की सेवा नहीं की। उनके परत्र की तो बात क्या। उनका अरत्र भी सुखकारक नहीं रहता। उसी प्रकार जिसको ज्ञान में रुचि नहीं उसका ऐहिक जीवन व्यर्थ है। विषय सुख मग्न होकर जो संशय ग्रस्त रहता है वह पातकी है उसका पूर्णतया घात होता है। (१९३-२०३)

जहां ज्ञान का अभाव है, वहां संशय रहता है। अज्ञान के कारण संशय की वृद्धि होती है, और श्रद्धा को प्रतिबंध होता है। वह हृदय और बुद्धि को ग्रस्त करता है। किंतु हाथ में ज्ञानरूपी खड्ग हो, तो इस प्रबल संशय का नाश हो सकता है। फिर मनोमल निःशेष नष्ट होता है। अंत में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उसके अंतःकरण स्थित संशय का त्याग करके युद्ध प्रवृत्त होने की आज्ञा देते हैं। (२०४-२०९)

अध्याय समाप्ति के पूर्व इस ग्रंथ में शांत रस का उत्कर्ष कैसा हुआ है, इस ग्रंथ के शब्द दिखने में छोटे किंतु उनका सामर्थ्य कैसा अमर्याद है? मेरा यह ग्रंथ साहित्य, अलंकार और आत्म चर्चा से कैसा सुशोभित है, इस ग्रंथ का श्रवण करनेवालों के संसार दुख का समूल उच्चारण कैसा होगा, इन सब विषयों का सुरस वर्णन करके ज्ञानेशजी श्रोताओं से प्रार्थना करते हैं कि आगे मैं जो कथन करूंगा उसे बड़े प्रसन्न चित्त से आप सुनिये। (२१०-२२४)

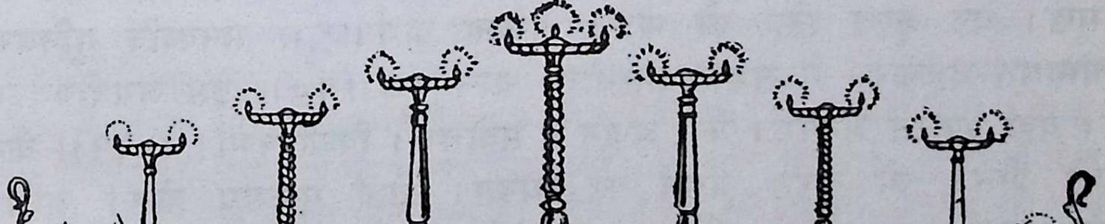

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - चौथा

आज श्रवणेंद्रियां जागत। जो गीता निधान देखत। स्वप्नहि साकारत। सत्यसम।।१।। यह विवेक की गोष्ठी। उसको प्रतिपादत जगजेठी। श्रोता भक्त राज किरीटी। श्रवण करत।।२।। जैसा पंचमालाप और सुगंध। परिमल और सुस्वाद। वैसा भला हुआ विनोद। कथा का इस।।३।। कैसी अपूर्वाई दैव की। जो गंगा बहत अमृत की। की जप तपस्या श्रोताओं की। फलीभूत।।४।। अब संपूर्ण इंद्रियजात। श्रवण स्थान में वसत। संवाद सुख भोगत। इस गीताख्य का।।५।। ऐसा अपूर्व अवसर कथा कहत शाङ्‌गधर। संजय बोले हे नृपवर। सुनो अब।।६।। दैवी संपदा से अधिष्ठित। अर्जुन को कहत श्री अच्युत। अति प्रीति से गुपित (गुह्य)। प्रकट करत।।७।। जो न कहे पिता वसुदेव को। न कहे माता देवकी को। या न बलभद्र को वह अर्जुन को। कहत गुह्य।।८।। जो लक्ष्मी सदा निकट। वह भी न देखे यह प्रेमसुख। वह कृष्ण स्नेह को पात्र। अकेला पार्थ।।९।। सनकादि मुनिवर। अभिलाषत बहुसार। न लभत प्रीतथोर। यत्नपूर्वक।।१०।। इस जगदीश्वरका प्रेम। यहां प्रकटत अनुपम। कैसे अर्जुन ने सर्वोत्तम। किया पुण्य! ।।११।। कैसी इसकी प्रीत। जो करत अमूर्त को व्यक्त। दोनों एकरूप होत। अभिन्न भासत।।१२।। वेदार्थ को भी अगम्य। योगियों को भी दुष्प्राप्य। ध्यान चक्षु असहाय। न पावत इसे।।१३।। वह निजस्वरूप। अनादि निष्कंप। किन्तु कैसा होत सकृप। अर्जुन को यह।।१४।। यह त्रैलोक्य पटका तहकार। स्वयं सदा निराकार। प्रेमवश हुआ साकार। भक्ताधीन।।१५।।

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - चौथा

आज श्रवणेंद्रियाँ जागृत हुई हैं। क्योंकि उन्होंने गीतारूपी धन देखा है। जो बात स्वप्न के समान काल्पनिक जान पड़ती थी वह वास्तविक सिद्ध हो रही है।।१।। यह विवेक का आध्यात्मिक विचार है। इसको प्रत्यक्ष जगदीश्वर श्रीकृष्ण स्पष्ट बतला रहे हैं। श्रोता भक्तश्रेष्ठ अर्जुन हैं।।२।। संगीत में सुरेल पंचमस्वर को सुगंध प्राप्त हुआ एवं सुंदर रुचि इन तीनों का मोहक संगम होवे। उसी प्रकार से यह गीता का कथा प्रसंग बहुत आनंददायक है।।३।। यह अपूर्व सौभाग्य की बात है कि यह अमृत गंगा मानो बह रही है। श्रोताओं को जप एवं तपस्या का फल मिला है।।४।। अब संपूर्ण इंद्रियों की चेतना को श्रवणेंद्रिय में स्थापित करना चाहिये। गीता नामक श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद सुख का आस्वाद लेना चाहिये।।५।। ऐसा अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। संजय, धृतराष्ट्र राजा को कहते हैं, शारंगधर स्वयं कथा कह रहे हैं वह अब सुनो।।६।। अर्जुन दैवी संपत्ति से आभूषित है। श्री अच्युत अर्जुन से अत्यंत प्रेम से गुप्त बातें प्रकट कर रहे हैं।।७।। जो गहन तत्व कभी अपने पिता वसुदेव, माता देवकी एवं भाई बलराम को बतलाया नहीं, वही आज श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बतलाया।।८।। देवी लक्ष्मी नित्य समीप रहती है किंतु उन्होंने भी यह छिपा प्रेमसुख देखा नहीं। श्रीकृष्ण के प्रेम का सत्य तत्त्व अर्जुन को अकेले को प्राप्त हुआ।।९।। सनकादि मुनिश्रेष्ठों को ईश्वरीय प्रेम पूर्ण रूप से प्राप्त करने की बड़ी आशा थी। किन्तु यत्न करने पर भी उन्हें सफलता नहीं मिली।।१०।। इस जगदीश्वर का प्रेम उपमा रहित प्रकट हुआ है। अर्जुन ने कैसे सबसे उत्तम पुण्य संपादन किया है।।११।। अर्जुन का कैसा पुण्य है, उसके लिए निराकार भगवान साकार रूप में अवतरित हुए हैं। मुझे यह दोनों एकरूप, अभिन्न दिखाई देते हैं।।१२।। वेदार्थ की समझ से परे है, जो योगियों को प्राप्त नहीं होता, ध्यानावस्था में दिव्य नेत्र भी इन्हें नहीं देख सकते।।१३।। वही श्रीकृष्ण आत्मस्वरूप अनादि एवं निर्विकार होते हुए भी अर्जुन के प्रति कैसे कृपा पूर्ण हो गये हैं।।१४।। यह तीनों लोकरूपी वस्त्र की तह करनेवाला है। स्वयं नित्य निराकार होते हुए भी भक्त के अधीन होने से प्रेमवश साकार हुए हैं।।१५।।

श्री भगवान उवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। १।।

तब देव कहत पांडुसुत को। यहि योग विवस्वत को। बहुकाल पूर्व सूर्य को। बतलाया मैंने।।१६।। आगे यह विवस्वत। यह योगस्थिति पार्थ। संपूर्णतः श्रेष्ठ निरूपत। मनुप्रति।।१७।। मनुस्वतः आचरत। इक्ष्वाकुको उपदेशत। ऐसी परंपरा विस्तारत। पुरातन।।१८।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

तदनंतर हे अर्जुन! अन्य राजर्षि जानत पूर्ण। किंतु सांप्रत यह योगज्ञान। नष्ट सकल।।१९।। अब प्राणियों को विषय प्रीति। देहभाव का आदर अति। इसलिये विस्मरत मति। आत्मबोध।।२०।। कुमार्ग में आस्थाबुद्धि। विषय सुखहि परमावधि। जीव के सम उपाधि। रुचत सबको।।२१।। देखो वस्ती में दिगंबरों की। क्या कीमत सुंदर वस्त्रों की? क्या महती सूर्य की?। जात्यसंध को।।२२।। अथवा बाधिरका सभास्थान संगीत को देत सम्मान?। या शृगाल को चंद्रमा जाण। प्रिय होत?।।२३।। चंद्रोदय पूर्व जैसा। दृष्टिनाश होत वायसा। उसको चंद्रमा का कैसा। ज्ञान होगा?।।२४।। वैसे अज्ञात वैराग्य जिनको। जो न जानत विवेक को। वे मूर्ख मुझ ईश्वर को। पावत कैसे?।।२५।। कैसा न जानत मोह बदत? उससे बहुकाल व्यतीत व्यर्थ। इस कारण योग यह तृप्त। इस लोक में।।२६।।

एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

वही योग सांप्रत। तुमको हे कुंतीसुत!। कहूंगा तत्त्वतः। करो न संदेह।।२७।। यह योग मेरा जीवप्राण। तुमसे कैसे छिपाउं अर्जुन। जो तुम मेरा प्रिय सखा जान। इसलिये।।२८।। तुम प्रेम का पुतला भक्ति मूर्ति कोमला। मित्रता की चित्कला। धनुर्धर।।२९।। तुम मेरे विश्वास भाजन। कैसे करूं तुझसे प्रतारण। यदि संग्राम को भी हम अर्जुन। सिद्ध जान।।३०।। अतः यह युद्ध का अवसर। क्षणैक रख के दूर। यह तेरा अज्ञान घोर। हरना युक्त।।३१।।

अर्जुन उवाच-

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

अर्जुन कहे अच्युत! माता सुत को स्नेह करत। इसमें आश्चर्य की क्या बात कृपानिधी?।।३२।। आप छाया संसारश्रान्तों की। माता अनाथ जीवों की कृपा से तत्त्वता आपकी। जन्म मेरा।।३३।। अपत्य पंगु उपजत। मां को जन्म से कष्ट देत। यह सब आपको विदित। कृपाधन।।३४।। अब मैं जो पूछूं प्रश्न। सुनो देकर चित्त पूर्ण। कोप न करना कृष्ण। मुझपर।।३५।। तब कहा हे अनन्त!। पुरातन जो कही बात। न माने मेरा चित्त। कदापि जान।।३६।। यह जो वर्णित विवस्वत। न मेरे पूर्वज भी जानत। तुम उनको उपदेशत। यह तो विचित्र।।३७।। बहुकाल पूर्व उसका

भगवान अर्जुन से कहते हैं– यही योग मैंने विवश्वान सूर्य को बतलाया था, इस बात को बहुत दिन हुए हैं। सूर्य ने वह योग मनु को बतलाया था। मनु ने योगस्थिति स्वयं प्राप्त करके ईश्वाकु को इसका उपदेश दिया था।।१।।

पंडुपुत्र अर्जुन को भगवान कहते हैं, बहुत काल पूर्व यह योग मैंने विवश्वान सूर्य को बतलाया था।।१६।। सूर्य ने यह श्रेष्ठ योगमार्ग, हे पार्थ! मनु को संपूर्ण बतलाया।।१७।। मनु ने स्वयं योगस्थिति प्राप्त की। उसने इश्वाकु को उपदेश दिया। पुरातन काल में योग परंपरा का ऐसा विस्तार हुआ।।१८।।

परंपरा से प्राप्त इस योगमार्ग को अनेक राजर्षिओं ने तत्त्वदृष्टि से जान लिया था। हे परंतप अर्जुन! काल के अनुसार अब यह योगमार्ग इस लोक में संप्रदाय रहित होकर नष्ट हुआ है।।२।।

इसके बाद हे अर्जुन! अन्य राजर्षियों ने इसको पूर्णतः जान लिया था। किंतु आजकल यह योग मार्ग का ज्ञान सब नष्ट हो गया है।।१९।। प्राणि वासनाओं में लिप्त हो गये हैं। देह भाव का अत्यंत आदर करते हैं, अतः आत्मज्ञान का बुद्धि को विस्मरण हुआ है।।२०।। बुरे मार्ग में बुद्धि की आस्था है। विषय सुख को ही अंतिम सुख समझते हैं। लोगों को जीवभाव की उपाधि प्रिय प्रतीत होती है।।२१।। नग्न रहनेवालों की बस्ती में सुंदर वस्त्रों की क्या कीमत होगी? जन्म से जो अंधा है उसको सूर्य की महत्ता का क्या बोध हो सकता है?।।२२।। बहरों के समूह में संगीत शास्त्र का क्या सम्मान होगा? सियार को क्या चंद्रमा प्रिय प्रतीत होगा?।।२३।। चंद्रोदय होने के पहले ही कौए की दृष्टि से दिखना बंद होता है। उसको चंद्रमा का ज्ञान कैसे होगा?।।२४।। वैसे जिनको वैराग्य का ज्ञान नहीं, विवेक- आत्मानात्म विचार जानते नहीं, वे मूर्ख मुझ ईश्वर की प्राप्ति कैसे करेंगे?।।२५।। इतना मोह कैसा बढ़ गया है समझ में नहीं आता। अतः बहुत काल योग परंपरा जाने बिना व्यर्थ गया। अतः मृत्युलोक में यह योग संप्रदाय नष्ट हुआ है।।२६।।

तुम मेरे भक्त एवं मित्र हो। अतः आज वही योगमार्ग तुम्हें मैंने बताया है। यह ज्ञान उत्तम एवं गहन है।।३।।

हे कुंतीसुत! वही योगमार्ग आज तुम्हें तत्वसहित कहूंगा। उसमें तुम संशय नहीं रखना।।२७।। यह योगमार्ग मेरा जीव एवं प्राण समझना, तुमसे कैसे छिपाकर रखूं? हे अर्जुन! तुम मेरे प्रिय सखा हो।।२८।। तुम प्रेम की साक्षात मूर्ति हो, कोमल भक्ति की चित्कला हो, हे धनुर्धर मित्रत्व की चेतना तुम ही हो।।२९।। तुम मेरे विश्वासपात्र हो, तुमसे मैं कैसी प्रतारणा करूं? हे अर्जुन! यद्यपि हम युद्ध करने के लिए सिद्ध होकर आये हैं।।३०।। अतः यह युद्ध का अवसर है। क्षण भर उसको दूर रखके तेरा यह अज्ञान नष्ट करना आवश्यक है।।३१।।

अर्जुन कहते हैं, हे देव, आपने अभी जन्म लिया है, सूर्य का जन्म पुरातन काल में हुआ है। अतः सृष्टि के प्रारंभ में आपने विवस्वान सूर्य को योगमार्ग का उपदेश किया यह कैसा विश्वास रखेंगे?।।४।।

अर्जुन ने कहा हे अच्युत! माता पुत्र पर प्रेम करती है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है।।३२।। हे कृपानिधि! संसार में थके हुए लोगों के लिए आप छाया हो, जिससे उन्हें विश्राम मिलता है, आप अनाथ जीवों की माता हो, तत्त्वतः आपकी कृपा से मेरा पुनर्जन्म हुआ है।।३३।। माता पंगु पुत्र को जब जन्म देती है तब जन्म से ही उसके लिए कष्ट सहती है। हे कृपाघन! आप सब जानते ही हैं।।३४।। अब मैं जो प्रश्न पूछूंगा उसको पूर्ण ध्यान देकर सुनिये। हे कृष्ण! मुझपर क्रोधित नहीं होना।।३५।। हे अनंत! आपने जो पुरातन बात कही है वह मेरा चित्त कदापि नहीं मानता।।३६।। आपने जो विवस्वान का वर्णन किया है उनको तो मेरे पुरखे भी नहीं जानते। तब आपने उनको उपदेश किया यह तो विचित्र बात प्रतीत होती है।।३७।। बहुत काल पूर्व उसका जन्म

जन्म। तुम तो अभी के पुरुषोत्तम। इस बात को मानत हम। विसंवाद।।३८।। देव चरित्र तेरा गहन। न जानत हम अनजान। कैसे कहूं इसे असत्य कृष्ण। एकाएक।।३९।। तब यह कथा सब। कहिए हमको अब। रवि को उपदेश किया कब। स्पष्ट बोलो।।४०।।

श्री भगवान उवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।५।।

तब श्रीकृष्ण कहे पंडुसुत!। जिस काल में था विवस्वत। यदि मानत मैं अनुपस्थिति। यह भ्रम तेरा।।४१।। न जानत तुम अर्जुन। व्यतीत अपने अनेक जन्म। परन्तु तुमको उनका स्मरण। नहीं सांप्रत।।४२।। मैं जिस-जिस अवसर। लेत जो-जो अवतार। वे समस्तहि धनुर्धर। जानु सदा।।४३।।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।६।।

इसलिए यह संपूर्ण। अतीत मुझको स्मरण। मैं अजन्मा प्रकृति कारण। पावत जन्म।।४४।। मेरा अव्ययत्व न नाशत। अवतार कार्य भासत। मायावश प्रतिबिंबित। मुझमें ही सदा।।४५।। मेरी स्वतंत्रता अबाधित। किन्तु कर्माधीन भासत। यदि चित्त भ्रमित होत। अन्यथा नहीं।।४६।। अथवा एक भासत दूसर। इसको केवल दर्पण आधार। क्या वहां वस्तु विचार। अन्य होत?।।४७।। तैसा किरीटी मैं अमूर्त। किन्तु जब प्रकृति अधिष्ठित। साकार होत नटी-नट। जगत् कारण।।४८।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

यह धर्मजात संपूर्ण। युग-युग में करूं रक्षण। यह मेरा स्वभाव जान। पंडुसुत!।।४९।। त्यागकर मेरा अजत्व। भूलकर अव्यक्तत्व। जब अधर्म ह्रास करत। धर्म को यहां।।५०।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय चदुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।

तब भक्त स्नेह के कारण। मैं साकार होत अर्जुन। अज्ञान तम संपूर्ण। करत नष्ट।।५१।। अधर्म की अवधि तोड़त। दोषों की सनद फाड़त। सज्जनों से गुड़ी उभारत। सुख की जगमें।।५२।। दैत्यों का कुल नाश पूर्ण। साधु को देत सन्मान। नीति धर्म संवर्धन। करत सदा।।५३।। हरके अविवेक का जल। विवेक दीप करत उज्वल। योगियों को आनंद निर्मल। निरंतर देत।।५४।। तब सुख से विश्व व्यापत। धर्म एक जग में वसत। भक्तों के मन में प्रकटत। सात्विक गुण।।५५।। पाप का अचल नष्ट। पुण्य की होवे प्रभात। जब मूर्ति मेरी प्रकटत। पंडुकुवर।।५६।। यह मेरा कार्य। जग में इसीलिये अवतार। जो जानत साचार। विवेकी वह।।५७।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

मेरा अजत्व से जन्म। अकर्तृव्य से कर्म। निर्विकार स्वरूप धर्म। जाने वह

हुआ होगा। हे पुरुषोत्तम। आप तो अभी के हो। इस बात का हमें विसंवाद प्रतीत होता है ।। ३८ ।। हे देव! आपका चरित्र गहन है। हम अनजान यह नहीं जानते। हे कृष्ण! एकाएक उसको असत्य कैसे कहूं ।। ३९ ।। तब यह सब कथा अब हमको कहिये। रवि को आपने कब उपदेश किया, यह स्पष्ट कहिये ।। ४० ।।

श्री भगवान कहते हैं, हे अर्जुन! तुम्हारे एवं मेरे अनेक जन्म हो गये हैं। हे परंतप अर्जुन! मैं वह सब जानता हूं तुम नहीं जानते ।। ५ ।।

तब श्रीकृष्ण कहते हैं, हे पंडुसुत! जिस काल में विवस्वत था, तब मैं नहीं था, यह तेरा भ्रम है ।। ४१ ।। हे अर्जुन! तुम कुछ जानते नहीं, हम लोगों ने अनेक बार जन्म लिए हैं। किंतु उसका स्मरण आज तुम्हें नहीं है ।। ४२ ।। मैं जिस-जिस अवसर पर जो कुछ अवतार लेता हूं, हे धनुर्धर! उन समस्त जन्मों को मैं नित्य जानता हूं ।। ४३ ।।

मैं उत्पत्तिरहित, नाशरहित एवं सर्व भूतों का ईश्वर एवं नियंता हूं। मैं प्रकृति धारण करके माया शक्ति से जन्म लेता हूं ।। ६ ।।

अतः संपूर्ण पूर्वजन्म का मुझे स्मरण है, मैं अजन्मा होते हुए भी देहधारण करके जन्म लेता हूं ।। ४४ ।। उससे मेरा मूल निराकार, अमूर्तत्व नष्ट नहीं होता। माया के गुण से आत्मस्वरूप में अवतार कार्य प्रतिबिंबित होता है ।। ४५ ।। मेरी स्वतंत्रता में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। अवतार धारण करने से मैं कर्म के अधीन दिखाई देता हूं। वह भ्रांति है। अन्यथा मैं स्वतंत्र हूं ।। ४६ ।। एक रहते हुए दूजे का आभास होता है इसका आधार दर्पण है। दर्पण में दिखाई देनेवाला प्रतिबिंब क्या दूसरी वस्तु होती है? ।। ४७ ।। वैसा हे किरीटी! मैं अमूर्त होते हुए भी देह धारण करके सगुण, साकार बनता हूं। जैसे नट या नटी का रूप नर कुछ समय लेते हैं ।। ४८ ।।

हे भारत अर्जुन! जब कभी वेदविदित धर्म का ह्रास होता है एवं अधर्म बढ़ता है तब मैं देह धारण करता हूं ।। ७ ।।

यह संपूर्ण धर्म मार्ग का रक्षण प्रत्येक युग में करता हूं। जब धर्म पर अधर्म हावी हो जाता है तब मैं देह धारण करता हूं। हे पंडुसुत, यह मेरा स्वभाव समझना ।। ४९ ।।

साधुओं का रक्षण करने के लिए, दुष्टों का नाश करने के लिए एवं धर्म की प्रतिष्ठापना करने के लिए मैं प्रत्येक युग में जन्म लेता हूं ।। ८ ।।

मेरे जन्मरहितत्व का त्याग करके, मेरे अमूर्त स्वरूप का विचार न करते हुए, जब अधर्म के द्वारा धर्म का ह्रास किया जाता है ।। ५०/५१ ।। तब भक्त के प्रेम के वश होकर, हे अर्जुन! मैं साकार रूप धारण करता हूं। हे अर्जुन! अज्ञानरूपी अंधकार को मैं संपूर्ण नष्ट करता हूं ।। ५२ ।। अधर्म की सत्ता का नाश करता हूं, दोषों का नाम मिटा देता हूं। साधु सज्जनों के द्वारा सुख की पताका, जग में फहराता हूं ।। ५३ ।। असुरों के कुलों का नाश करता हूं, साधुओं को सम्मान देता हूं। धर्म एवं नीति को नित्य बढ़ावा देता हूं ।। ५४ ।। अविचारों की कालिख साफ करके विवेक का दीप प्रज्वलित करता हूं, जिससे योगियों को नित्य आनंद देता हूं ।। ५५ ।। तब संपूर्ण विश्व आत्मसुख में परिपूर्ण होता है। संसार में सद्धर्म व्याप्त होता है। भक्तों के मन में सात्विक गुण विकसित होते हैं ।। ५६ ।। पापों के पर्वत नष्ट होते हैं। जब मेरी मूर्ति प्रकट होती है पुण्य का उषा काल प्राप्त होता है। हे पंडुकुंवर! यह मेरा कार्य है। जग में इसीलिए अवतार लेता हूं। जिसको यह रहस्य समझ में आता है उसी को संसार में सच्चा विवेकशील समझना चाहिये ।। ५७ ।।

हे अर्जुन! मेरे जन्म एवं कर्म अलौकिक हैं, यह जो समझता है वह देहत्याग के अनंतर पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता। उसे मेरी प्राप्ति होती है ।। ९ ।।

मैं जन्मरहित होने पर भी जन्म धारण करता हूं; अप्रिय होने पर भी कर्म करता हूं, निर्विकार होते हुए भी मेरे स्वरूप का रहस्य जो जानता है उसे

मुक्त ।।५८।। वह अक्रियत्व से कर्म करत। देह भाव से रहत विमुक्त। पंचत्व पाकर विलीन होत। रूप में मेरे ।।५९।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।१०।।

वे न शोचत परापर। कामनाशून्य साचार। क्रोध के आधीन धनुर्धर। कदापि न होत ।।६०।। जो विषय प्रीत रहित। मत्स्वरूप को प्राप्त। आत्मबोध से तृप्त। वीतरागी ।।६१।। जो राशीत तपोतेजका। एकायतन ज्ञानका। पावित्र्य तीर्थों का। स्वयं तीर्थ रूप ।।६२।। जो मद्भाव प्राप्त। होत जो मद्रूप। भिन्न भाव न उरत। निःसंशय ।।६३।। पीतल की कालिख। जब फिटत निःशेख। तब सुवर्ण का देख। शोध न व्यर्थ ।।६४।। जो यम नियम से सिद्ध। तपो ज्ञान से शुद्ध। वे मैं ही स्वयंसिद्ध। न संशय इसमें ।।६५।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।११।।

वैसे यदि देखत। जो जैसे मुझको भजत। मैं उनको वैसेही भजत। सहज भाव से ।।६६।। यह मनुष्य मात्र सकल। स्वभावतः भजनशील। मेरे प्रीत्यर्थ केवल। प्रवृत्त जो ।।६७।। किन्तु ज्ञान बिना नाशत। बुद्धि भेद पावत। इसलिये कल्पत। अनेकत्व ।।६८।। अतः अभेद में भेद देखत। अनाम को नाम रखत। यह देव यह देवी कहत। अचर्चा को ।।६९।। जो सर्वत्र सदा सम। वहां विभाजन अधमोत्तम। मतिवशसे संभ्रम। मानत जात ।।७०।।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।।१२।।

नाना कारण प्रकार। मानत देवतांतर। यथोचित उपचार। करत जात ।।७१।। वहां जो-जो अपेक्षित। वैसेहि पावत समस्त। किन्तु वह कर्मफल निश्चित। जानो तुम ।।७२।। यदि देखे तत्त्वता। दाता और ग्रहण कर्ता। कर्महि एक फलकर्ता। अन्य नाही ।।७३।। जैसे क्षेत्र में बीज बोवत। उससे भिन्न कभी न उपजत। जो देखत वही दिखत। दर्पण में ।।७४।। गिरी शिखर तल में जान। अपनाहि बोल अर्जुन। प्रतिध्वनिरूप निनादत पूर्ण। कारणवश ।।७५।। वैसा उपासना को समस्त। मैं ही एक साक्षीभूत। यहां भावना प्रतिफलत। अपनी अपनी ।।७६।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।१३।।

अब ऐसेहि मानो अर्जुन। जो यह चारों वर्ण। मैंने ही किये उत्पन्न। विभागशः ।।७७।। लेकर प्रकृति का आधार। देखकर गुणाधार। कर्म तदनुसार। व्यवस्थित ।।७८।। यद्यपि ये सकलजन। जन्म से एक समान गुण कर्म से भिन्न। हुए सहज़ ।।७९।। इस कारण पार्था। यह वर्णभेद संस्था। मैं न कर्ता सर्वथा। निश्चित जानो ।।८०।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।१४।।

यद्यपि यह वर्णभेद। मुझसे ही हुआ प्रसिद्ध। मैं अकर्ता यह भेद। जानत वह मुक्त ।।८१।।

परममुक्त समझना चाहिये ।।५८।। कर्म करते हुए संसार में रहकर अलिप्तता से कर्म करता है। देहभाव से अतीत रहता है। समय आनेपर जब पंचत्व में विलीन होता है तब मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ।।५९।।

विषयासक्ति, भय, क्रोध जिसके समाप्त हो गये हैं जिन्होंने मेरा आश्रय लिया है, ज्ञानरूप तप से शुद्ध हो गये हैं, ऐसे अनेक मुक्त पुरुष मेरे निरुपाधिक स्वरूप को प्राप्त हुये हैं।।१०।।

अपना, पराये का विचार वे नहीं करते। विषय तृष्णारहित रहते हैं। हे धनुर्धर! कभी क्रोध के मार्ग में वे प्रविष्ट नहीं होते ।।१६०।। विषयों की आसक्ति उनको नहीं होती। उन्हें मेरे स्वरूप की प्राप्ति होती है। वे वीतरागी आत्मज्ञान से तृप्त रहते हैं ।।६१।। जो तपरूपी तेज की राशि है, ज्ञान का एक मात्र मंदिर है। जो साक्षात तीर्थ स्वरूप है, जिनसे तीर्थ को पावित्र्य आता है ।।६२।। वे सहज मदस्वरूप होते हैं, हम दोनों एक रूप होते हैं, हम दोनों में भेदभाव का पर्दा नहीं रहता ।।६३।। जैसे पीतल का सब दोष नष्ट होने पर सुवर्ण को खोजने का श्रम व्यर्थ होगा ।।६४।। तद्वत यमनियम से तपाये जाने पर तपोरूपी ज्ञान से जो शुद्ध होते हैं वे साक्षात मद्रूप होते हैं इसमें संशय नहीं है ।।६५।।

हे अर्जुन! जो लोग इस प्रकार से मेरा भजन करते हैं उनकी मैं उसी प्रकार से भक्ति करता हूं। फल का दान देकर उनपर अनुग्रह करता हूं। सब लोग मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।।११।।

जो लोग मेरी जैसी सेवा करते हैं मैं भी उनको सहज वैसा ही आचरण करता हूं।।६६।। मनुष्य जाति स्वाभाविक भजन शील होती है, मेरे प्रति भक्ति करते हैं।।६७।। किंतु ज्ञान के बिना नाश होता है। बुद्धि में भेदभाव उत्पन्न हुआ है। अतः लोग अनेकता की कल्पना करते हैं।।६८।। अतः अभेद में भेदभावना रखते हैं। नामरहित आत्मतत्त्व को कुछ नाम रख देते हैं। उन्हें देवी, देवता मानकर पूजन, आराधन करते हैं।।६९।। जो आत्मस्वरूप सभी स्थानों में सर्वदा एक सदृश रहता है उसी को अपने मन से उत्तम या अधम कहते हैं। यह बुद्धि में संभ्रम उत्पन्न होने से होता है।।७०।।

इस लोक में कर्म को फल की इच्छा करनेवाले लोग अनेक देवताओं की उपासना करते हैं। इस मृत्युलोक में कर्म से मिलनेवाला फल, शीघ्र प्राप्त होता है।।१२।।

लोग अपने मन में अनेक प्रकार की कामना रखते हुये विधि-विधान से अनेक देवताओं की उपासना करते हैं। ।।७१।। वहां उनकी अपेक्षा के अनुसार उन्हें फल मिलता है यह सब कर्मों के फल होते हैं, यह तुम निश्चित समझ लेना ।।७२।। तत्त्वतः देखने पर ऐसा दिखाई देता है कि यहां देनेवाला एवं लेनेवाला कर्म के बिना अन्य कोई नहीं।।७३।। जैसे खेत में बीज बोते हैं, तब जो बोया है वही ऊगता है। दर्पण में देखनेवाला ही दिखाई देता है।।७४।। पहाड़ के नीचे खड़े होकर बोलने से हे अर्जुन! अपनी ही वाणी प्रतिध्वनि के रूप में सुनाई देती है।।७५।। वैसा सब प्रकार की उपासना को मैं ही साक्षी रहता हूं। यहां अपनी-अपनी भावना का प्रतिफल मिलता है।।७६।।

गुण एवं कर्म के भेद के अनुसार मैंने चातुर्वर्ण निर्माण किये हैं। व्यवहार दृष्टि से कर्ता होते हुए भी मैं अकर्ता एवं अविनाशी हूं।।१३।।

हे अर्जुन! अब ऐसा समझ लेना, यह चारों वर्ण विभाग के अनुसार मैंने ही उत्पन्न किए हैं।।७७।। प्रकृति का आधार लेकर व्यवस्थित कर्म उसके अनुसार उत्पन्न किये हैं।।७८।। यद्यपि सब लोग जन्म से एक जैसे होते हैं, गुण एवं वर्ण से उनमें सहज भिन्नता उत्पन्न होती है।।७९।। हे पार्थ! इसी कारणवश यह वर्ण भेद संस्था उत्पन्न हुई है। इसका मैं कर्ता नहीं हूं यह निश्चित समझ लेना।।८०।।

मैं कर्म से लिप्त नहीं होता। मुझे कर्म फल की इच्छा नहीं होती, इस प्रकार से जो मुझे आत्मतत्त्व से जानता है उसको कर्म का बंधन प्राप्त नहीं होता।।१४।।

यह चारों वर्ण भेद मुझसे ही प्रकट हुए हैं किंतु मैं अकर्ता हूं, यह जो जानता है वह मुक्त है।।८१।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

मुमुक्षु जो पूर्वजात। यह बात उनको ज्ञात। करत कर्म समस्त। धनुर्धर।।८२।। बीज जैसा भस्मीभूत। कभी न अंकुर दशा पावत। वह कर्महि उनको होत। मोक्षकारक।।८३।। यहां और एक अर्जुन। यह कर्माकर्म विवेचन। स्वेच्छा से ज्ञानी को भी जान। दुष्कर अति।।८४।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

कर्म कहत वह कौन। अथवा अकर्म का क्या लक्षण । विचार करके विचक्षण। भ्रमित होत।।८५।। जैसा झूठ चलन। भासत सत्य समान। स्वदृष्टि में करत उत्पन्न। संशयपूर्ण।।८६।। प्राति सृष्टि संकल्प मात्र से करत। ऐसा सामर्थ्य जिनको प्राप्त। नैष्कर्म को कर्म जानत। बद्ध होत।।८७।। यहां सर्वज्ञ भी मोह से। व्याप्त। वहां मूर्खो की क्या बात। वही ज्ञान साम्प्रत। बोधु तुझको।।८८।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

स्वभाव का संकल्प अर्जुन। वही कर्म विश्व निर्माण। उसका रूप यथार्थ पूर्ण। जानिये यहां।।८९।। वर्णाश्रम को उचित। जो विशेष कर्म विहित। वह भी समझना निश्चित। फल सहित।।९०।। निषिद्ध इसके विपरीत। उसका भी स्वरूप जानिये सार्थ। ऐसी धारणा जब होत। सहज मुक्त तब।।९१।। वैसे जग यह कर्माधीन। उसकी व्याप्ति गहन। सुनो अब चिन्ह। प्राप्त पुरुष का।।९२।।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

जो सकल कर्म में रत। अपनी नैष्कर्म्यता देखत। कर्म फल न इच्छत। कदापि जान।।९३।। वह जानो कर्मातीत। स्वस्वरूपबिन अन्य न जानत इसीलिये कर्म न शेष रहत। इस जग में।।९४।। यदि क्रिया कलाप पूर्ण। करत सम्यक कर्माचरण। यदि प्राप्त उसमें ये लक्षण। वही ज्ञानी।।९५।। जैसा खड़ा जल समीप। जल में देखें स्वस्वरूप। निश्चित जानत अपने आप। कहत मैं भिन्न।।९६।। अथवा नौका में स्थित। तट पर वृक्ष देखे धावत। यदि साचोकार सोचत। तब वे अचल।।९७।। जैसे उदयास्त में अर्जुन। अचल सूर्य का चलना जान नैष्कर्म्यत्व जानत पूर्ण। कर्माचार में।।९८।। वैसे सब कर्म करत। किन्तु इसको वृथा मानत। एक परमात्मा कर्म रहित। मानत सत्य।।९९।। वह मनुष्यसम भासत। किन्तु मनुष्यत्व उसे न घटत जैसे जल में नाप्लवत। भानुबिंब।।१००।। वह न दृष्टा किन्तु विश्व देखत। न कर्ता किंतु सर्व करत। न भोक्ता अखिल भोगत भोग्यजात।।१।। एक स्थान में उसका वास परंतु सर्वत्र करत प्रवास। स्वयं होत विश्व खास। स्वशरीर से जान।।२।।

इस प्रकार से मैं अकर्ता, अभोक्ता हूं ऐसा जानकर मुमुक्षु कर्म करते हैं। पूर्वकाल में जनक आदि ने अनासक्त रहते हुए कर्म किये हैं, वैसे तुम भी करो।।१५।।

अब तक जो मुमुक्षु हो गये हैं यह बात वे जानते थे। हे धनुर्धर! जानकर वे कर्म का आचरण करते थे।।८२।। अग्निदग्ध बीज जैसा अंकुरित नहीं होता, तद्वत उनके कर्म से बंधन न होते हुए वे उन्हें मोक्ष दायक होते हैं।।८३।। हे अर्जुन! कर्म एवं अकर्म का विचार बुद्धिमान पुरुषों को भी अपनी इच्छानुसार करना अत्यंत दुष्कर होता है। यहां यह समझना चाहिये।।८४।।

कर्म क्या है? अकर्म क्या है? इस विषय में विद्वान लोग भी मोहित होते हैं। उस कर्म का स्वरूप मैं तुम्हें बताता हूं, उसको जानकर तुम इस अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे।।१६।।

कर्म क्या है? अकर्म के लक्षण क्या हैं यह विवेचन करते हुए बुद्धिमान विद्वान लोग भी भ्रमित होते हैं।।८५।। जैसे नकली सिक्का सत्य प्रतीत होता है, आंखों को धोखा देता है।।८६।। संकल्पमात्र से दूजी सृष्टि का निर्माण कर सकते हैं, ऐसा जिनमें सामर्थ्य है, वे भी निष्कामता की मिथ्या कल्पना से सकाम कर्म में बद्ध होते हैं।।८७।। तब अज्ञानिओं की क्या बात है! बड़े दूरदर्शी सर्वज्ञ भी मोह में व्याप्त होते हैं। अतः वही ज्ञान अभी तुम्हें बताता हूं।।८८।।

'शास्त्रविहित कर्म का तत्त्व जानकर 'शास्त्र निषिद्ध कर्म भी जानना चाहिये। निष्काम अवस्था को भी तत्त्वरूप से समझना चाहिये। उसके बिना कर्म, अकर्म, विकर्म का तत्त्व समझना कठिन होता है।।१७।।

हे अर्जुन! जिसमें स्वाभाविक संकल्प होता है वही कर्म विश्व निर्माण का कारण होता है। उसका सत्य स्वरूप यहां जान लेना।।८९।। वर्णाश्रम के अनुसार जो विहित योग्य कर्म बताये हैं वह फलसहित निश्चित समझना।।९०।। निषिद्ध कर्म इसके विपरीत होते हैं, उसका भी स्वरूप पूर्ण रूप से समझना चाहिये। जब यह धारणा निश्चित होती है तब मुक्त होते हैं।।९१।। वैसे यह जग कर्म के अधीन है, उसकी व्यापकता गहन है। अब जिनको यह स्थिति प्राप्त है ऐसे प्राप्त पुरुष का लक्षण सुनो।।९२।।

'शरीरेंद्रिय से होनेवाले कर्म में आत्मा अकर्ता है यह जो जानता है 'शरीर से न होनेवाले कर्मभाव में स्वयं को अकर्ता समझकर कर्मनिवृत्ति का मानसिक व्यापार जो समझता है, वह सब मनुष्यों में बुद्धिमान, योगमुक्त एवं कर्म का कर्ता है।।१८।।

सब कर्मों का आचरण करते हुए तत्त्वरूप से मैं कर्म करने वाला नहीं हूं ऐसा जो समझता है, कर्म के फल की जो कभी इच्छा नहीं करता।।९३।। उसी को कर्म से अतीत निष्काम समझना चाहिये। आत्मस्वरूप के बिना अन्य कुछ जानता नहीं, अतः उसके कर्म इस जग में शेष नहीं रहते।।९४।। आत्मदृष्टि से निष्काम होते हुए व्यवहारिक कर्मों का उत्तम प्रकार से आचरण करते हुए जो दिखाई देता है उसको ज्ञानी समझना चाहिये।।९५।। जलाशय के किनारे खड़े होने पर जल में स्वयं का प्रतिबिंब दिखाई देता है, किन्तु अपने आपको जो स्वयं भिन्न है यह निश्चित जानता है।।९६।। नौका में बैठकर नदी पार करते समय किनारे पर वृक्ष दौड़ते हुये दिखाई देते हैं। किंतु सत्यरूप में वे स्थिर होते हैं।।९७।। हे अर्जुन! सूर्य अचल होते हुए भी उसके चलने से सूर्योदय एवं सूर्यास्त होता है, ऐसा समझते हैं। वैसे कर्म के आचरण में भी निष्कामता होती है।।९८।। वैसे सब कर्म करते हुए भी उनको व्यर्थ समझते हैं। एक परमात्मा ही कर्म रहित है ऐसा सत्य मानते हैं।।९९।। सर्वसामान्य मनुष्य के समान वह दिखाई देता है। किन्तु जल में दिखाई देनेवाले प्रतिबिंब से सूर्य गीला नहीं होता, तद्वत सर्वसामान्य मनुष्यत्व का भाव निष्काम पुरुष को स्पर्श नहीं करता।।१००।। ऐसा निष्कर्मी पुरुष विश्व को देखता है किन्तु दृष्टा नहीं होता। कर्म करता है किन्तु कर्ता नहीं रहता। सब भोगों का उपभोग करने पर भी वह भोक्ता नहीं होता।।१।। एक स्थान में निवास करता है किन्तु सर्वत्र उसका प्रवास होता है। अपने शरीर से वह विश्वरूप बनता है।।२।।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

जिस पुरुष का चित्त। कर्म का न खेद करत। फलापेक्षा न प्रवेशत। मन में कदा।।३।। यह कर्म मेरे कारण। पावेगा मुझसे सिद्धि पूर्ण। यह संकल्प मन को अर्जुन.। न स्पर्शत कदा।।४।। ज्ञानाग्नि का मुख। भस्म करत कर्म अशेख। यद्यपि धरत मनुष्य देह। परब्रह्म केवल।।५।।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।२०।।

जो शरीर से उदास। कर्म फल से निराश। नित्य रहत उल्हास। आनंद रूप।।६।। वह गर्भागार संतोष का। पक्वान्न आत्मबोध का। आरोगण कभी उसका। न कहे अलम्।।७।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

कैसे अधिकाधिक प्रेम से। मधुरता लेत महासुख से। उतारत आरती आशा से। अहंभाव सहित।।८।। अतः अवसर से जो पावे। उससे ही सदा सुखावे। आप पर दोनों वे। मानत सम।।९।। निजदृष्टि जो देखत। स्वतः वही बनत। श्रवण जो-जो करत। स्वयं होत।।११०।। चरण से चलत। मुख से जो बोलत। जो क्रियाजात करत। माने आप को।।११।। किंबहुना विश्व सकल। स्वरूप देखत केवल। उसको कर्म अखिल। बाध्य न होत।।१२।। यह मत्सर जहां से उत्पन्न। वह द्वैतभाव अर्जुन। न शेष उसमें जान। निर्मत्सर पूर्ण।।१३।। अतः सर्वतः वह मुक्त। सकर्मा किन्तु कर्म रहित। सगुण परंतु गुणातीत। निभ्रांत जान।।१४।।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

देह संग में वसत। चैतन्यसम भासत। ब्रह्मकष पर उतरत। शुद्ध पूर्ण।।१५।। कदाचित् कभी सकौतुक। करत कर्म यज्ञादिक। लय पावत निःशेख। उसमें ही सदा।।१६।। अकाल में अभ्र उठत। वृष्टि बिन आकाश में लोपत। उदय के साथ नाशत। अपने आप।।१७।। वैसे विधि विधान समस्त। यदि संपूर्ण आचरत। ऐक्य भाव से वे पावत। ऐक्य ही सदा।।१८।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

यह हवन मैं होता। अथवा यज्ञ में अन्य भोक्ता। ऐसी बुद्धि को भिन्नता। नहि जिसमें।।१९।। जो इष्ट यज्ञ यजन। हविर्मनादि संपूर्ण। ब्रह्मस्वरूप देखत जान। आत्मबुद्धि।।१२०।। अतः ब्रह्म वही कर्म। ऐसा बोध जिसको सम उसका कर्तव्य

जिनके सब कर्म फलेच्छा रहित एवं कर्तृत्वाभिमान रहित हैं। ज्ञानरूपी अग्नि में जिनके कर्म जल गये हैं उस पुरुष को विद्वान लोग 'पंडित' कहते हैं॥१९॥

जिस पुरुष के अंतःकरण में कर्म का दुख नहीं रहता। तथा मन में कभी फल की अपेक्षा नहीं रहती॥३॥ यह कर्म मैं करूंगा, या मेरे द्वारा पूर्ण होकर सिद्ध होगा, हे अर्जुन! यह संकल्प मन को कभी स्पर्श नहीं करता॥४॥ ज्ञानरूपी अग्नि के मुख में अपने सर्व कर्म जिसने जलाये हैं उसका देह मनुष्य का होते हुए भी वह केवल परब्रह्म है ऐसा समझना चाहिये॥५॥

जो कर्म एवं उसके फल की आसक्ति छोड़कर नित्यतृप्त एवं निराश्रय है वह कर्म में प्रवृत्त होने पर भी वस्तुतः कुछ करता नहीं॥२०॥

जो शरीर के प्रति उदास रहता है, फलभोग के प्रति निरीच्छ है वह अखंड आनंद में परिपूर्ण रहता है॥६॥ संतोष के गर्भगृह में बैठकर आत्मज्ञान का मिष्ठान्न सदैव सेवन करता रहता है॥७॥

आशारहित, जिसने चित्त एवं इंद्रियों का निग्रह किया है, सब भोग साधनों का जिसने त्याग किया है, वह पुरुष केवल देह को आवश्यक उतने ही कर्म करता रहता है उसका उसे पापबंधन नहीं होता॥२१॥ जो प्रयत्न के बिना होनेवाले लाभ से सतुंष्ट है, जो शीतोष्णादि द्वंदरहित, मत्सररहित, कर्म की सिद्धि, असिद्धि के प्रति समान भाव रखनेवाला है वह कर्म करते हुए भी कर्म में बद्ध नहीं होता॥२२॥

अधिक बढ़नेवाले प्रेमभाव से महासुख की मधुरता का नित्य आस्वाद लेता है। अहंकार सहित आशा को वह निछावर करता है॥८॥ अतः योग्य समय पर जो प्राप्त होता है उससे ही उसको सुख प्राप्त होता है। अपना एवं पराया दोनों को समान समझता है॥९॥ अपनी दृष्टि से जो देखता है उसको आत्मस्वरूप समझता है। जो कुछ सुनता है वह उसका स्वयं रूप बनता है॥११०॥ चरणों से जिस मार्ग से चलता है, जिस स्थान को जाता है, मुख से जो बोलता है, वैसा कुछ भी क्रिया करता है वह सब आत्मरूप देखता है॥११॥ किंबहुना संपूर्ण विश्व को केवल आत्मस्वरूप समझता है। उसको कर्म का बंधन नहीं होता॥१२॥ जहां से मत्सर उत्पन्न होता है वह द्वैतवास कहलाता है। हे अर्जुन! द्वैतभाव समाप्त होने से वह निर्मत्सर होता है॥१३॥ अतः वह सर्व प्रकार से मुक्त है। कर्म करते हुए भी वह कर्मरहित है। सगुण होते हुए भी ब्रह्मरूप से गुणातीत है यह निःसंशय समझना॥१४॥

जिस कर्मफल की आसक्ति नष्ट हो गई है, जो कर्तृत्व भोकतृत्व के अहंकार से मुक्त है। अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान में जिसका चित्त लीन है, कर्म को जो यज्ञ समझकर आचरण करता है उसका फल कर्म सहित नष्ट होता है॥२३॥

देह में रहते हुए भी वह चैतन्य स्वरूप प्रतीत होता है। वह असम एवं निरुपाधिक होता है। परब्रह्म का कण लगाने पर पूर्ण शुद्ध प्रतीत होता है॥१५॥ कभी यज्ञादिक कर्म करते हुए दिखाई देता है, वह कर्म उसके ब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं॥१६॥ वर्षा ऋतु को छोड़कर आकाश अभ्राच्छादित जब होता है तब वर्षा न होते ही मेघ अपने आप नष्ट होते हैं॥१७॥ वैसे सब विधि विधान का संपूर्ण आचरण करने पर भी वह ऐक्य भाव से नित्य उसके स्वरूप में एकरूप होते हैं॥१८॥

जिस मंत्र से एवं 'जुहु' ईत्यादि पात्र से अग्नि में हवि अर्पण किया जाता है वह मंत्र एवं वह पात्र ब्रह्म, आज्यादि हविभी ब्रह्म, जिसमें हवि प्रक्षेप किया जाता है वह अग्नि भी ब्रह्म, हवन करनेवाला ब्रह्म, हवन क्रिया ब्रह्म, सब कर्मो में ब्रह्म दृष्टि हुई है ऐसे ज्ञानी से प्राप्त इष्ट फल ही ब्रह्म है॥२४॥

यह हवन क्रिया करनेवाला मैं होता यजमान हूं। यज्ञ में भगवान भोक्ता है ऐसी बुद्धि में जिसके भिन्नता नहीं है॥१९॥ जो इष्ट देवता की फल की इच्छा से पूजन या यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ का हविर्द्रव्य, मंत्र, तंत्र, पात्र आदि संपूर्णतः विनाशी होते हुए भी उसका अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप समझकर आत्मज्ञानी ब्रह्मभावना से देखता है॥१२०॥ अतः

Funding by IKS-MoE

होत नैष्कर्म्य। धनुर्धर।।२१।। अविवेक कौमार्य नष्ट जान। विरक्ति से होत पाणिग्रहण। तब योगाग्नि का उपासन। अद्वैतरूप से।।२२।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

जो अहर्निश यजनशील। मन सहित अज्ञान सकल। गुरुवाक्य अग्नि में निखिल। करत हवन।।२३।। योग रूप अग्नि यजत। वही दैवयज्ञ मानत। जिससे आत्मसुख पावत। पंडुकुमर!।।२४।। दैव से ही देह पालन। ऐसा निर्णय परिपूर्ण जो न चिंतत देहकरण। महायोगी वह।।२५।। श्रवण करो बात एक। जो ब्रह्माग्नि साग्निक। अग्निहोत्र यज्ञ देख। उपासत।।२६।।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

कोई यजत संयम अग्निहोत्र। उच्चरत युक्तित्रय मंत्र। यज्ञ करत पवित्र। इंद्रिय द्रव्य से।।२७।। किसी में वैराग्य रवि प्रकटत। तब संयम को विहार प्राप्त वहां प्रकटत होत। इंद्रियानल।।२८।। विरक्ति ज्वाला सहित। विकार ईंधन प्रदीप्त होत। पांचों कुण्ड को त्यागत। आशा धूम।।२९।। तब वेद विधि अनुसार। विषय आहुति समग्र। इंद्रियाग्नि में साचार। करत हवन।।१३०।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

इस विध कोई अर्जुन। करत सर्व दोषक्षालन। कोई करत विवेक का मंथन। हृदय अरणि पर।।३१।। दबा के धैर्यभार से। बांध के शांति रज्जू से। किया मंथन गुरुवाक्य से। दृढ़तापूर्ण।।३२।। समरस से मंथन किया। शीघ्र कार्य सिद्ध हुआ। उद्दीपित तब हुआ। ज्ञान अग्नि वह।।३३।। ऋद्धि-सिद्धि रूप संभ्रम। वह नष्ट होत धूम। प्रकटत वहां सूक्ष्म। विस्फुलिंग।।३४।। शम दम से महीम। जो शुष्क हुआ मन। वह उसमें ईंधन। समर्पित।।३५।। भड़कत ज्वाला समृद्ध। वासनांतर की समिधा मोह स्नेह से नाना विधा। प्रदीप्त होत।।३६।। वहां सोऽहं मंत्र से दीक्षित। उस ज्ञानानल में प्रदीप्त। इंद्रिय कर्मों की समस्त। आहुति देत।।३७।। प्राण क्रिया स्रुवा सहित। पूर्णाहुति उसमें समर्पित। वहां समरस अवभृत। सहज होत।।३८।। तब आत्मबोध का सुख। जो संयमाग्नि का हुत शेख। वही पुरोडाश देख। करत ग्रहण।।३९।। इस विध करके यजन। होत त्रिभुवन में मुक्त जान। नाना यज्ञ क्रिया यदि भिन्न। किन्तु प्राप्त एक।।१४०।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

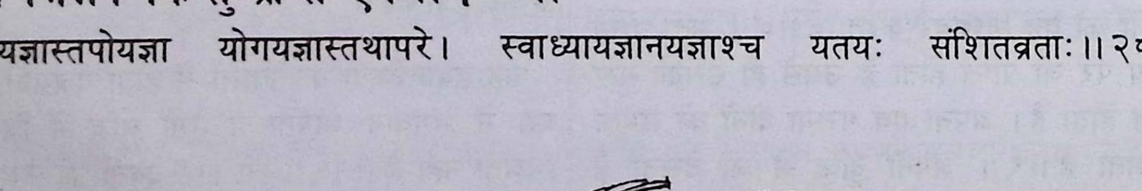

Funding by IKS-MoE

कर्म ही ब्रह्मस्वरूप है ऐसा समभाव का जिसको ज्ञान होता है, हे धनुर्धर! उसका कर्तव्य ही निष्कर्म होता है।।२१।। उसका अविवेकरूपी बाल्यकाल समाप्त होता है। विरक्ति से विवाह होता है। तब अद्वैत रूप में योगरूपी अग्नि की उपासना प्रारंभ होती है।।२२।।

कोई कर्मठ भक्त इंद्रादि देवताओं की उद्देश्य से (दर्शपूर्णभासादि) यज्ञ करते हैं। कुछ साधक प्रारब्ध कर्मस्वरूप देवयज्ञ की उपासना करते हैं। कुछ ज्ञानयोगी ब्रह्मरूप अग्नि में जीव का ब्रह्माभिन्नत्व से हवन करते हैं।।२५।।

रातदिन ज्ञानयज्ञ करनेवाली ज्ञानी गुरुवाक्य रूपी अग्नि में मन के साथ अज्ञान का हवन करते हुए यज्ञ करते हैं।।२३।। हे पंडुकुमर! दैवयोगरूपी अग्नि में विषयों का हवन साधक करते हैं। जिससे आत्मसुख प्राप्त होता है। उसको दैवयज्ञ कहते हैं।।२४।। भाग्य से अपने आप देह का पालन होता रहता है, ऐसी जिसकी धारणा होती है वह देह पोषण की चिंता नहीं करता। वह 'महायोगी' है ऐसा समझना चाहिये।।२५।। एक बात अब सुनो!। ब्रह्मरूप अग्नि की सेवा करके जो साग्निक बन गये हैं ऐसे मुक्त पुरुष जीव चैतन्य से यज्ञरूपी ब्रह्मचैतन्य की अभेद भाव से उपासना करते हैं।।२६।।

कुछ अष्टांग योगी क्षेत्रादि इंद्रियों का संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। कुछ विरक्त शब्दादि विषयों का इंद्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं।।२६।।

संयमरूपी अग्नि की उपासना करनेवाले अग्निहोत्री मूलबंध, जालंधरबंध, उड्डीयाणबंध इन तीनों बंधों के युक्तिरूप मंत्र से पवित्र यज्ञ करते हैं। उसमें इंद्रियरूपी द्रव्य का हवन करते हैं।।२७।। वैराग्यरूपी सूर्य का उदय होने पर संयम की यज्ञशाला में अविवेक का आवरण हट जाता है। एवं इंद्रियरूपी अग्नि प्रज्वलित होती है।।२८।। इंद्रियरूपी अग्नि में विरक्ति की ज्वाला प्रज्वलित होते ही विकारों का ईंधन प्रदीप्त होता है। इंद्रियाग्नि के पांचों कुण्डों से आशा का धुआं निकल जाता है।।२९।। तब वेदविधि के अनुसार इंद्रियरूपी अग्निकुण्ड में समग्र विषयों का हवन होता है। यह सत्य हवन कहलाता है।।१३०।।

कुछ ज्ञानी, सुनना, देखना आदि इंद्रियों के कर्म श्वास, प्रच्छ्वासादि प्राणकर्म, अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न आत्मविषयक धारणा, ध्यान, समाधि स्वरूप संयमरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं।।२७।।

हे अर्जुन! इस प्रकार से कोई दोषों को नष्ट करते हैं। कोई हृदय की अरणि पर विवेक का मंथन करते हैं।।३१।। सात्विक धैर्य का दबाव डालते हैं। शांतिरूपी रस्सी से बांधते हैं। गुरुवाक्यरूपी मंत्र से दृढ़तापूर्ण मंथन करते हैं।।३२।। जीव ब्रह्म ऐक्य भाव से समरस होकर मंथन करने से कार्य शीघ्र सिद्ध हो गया। ज्ञानरूपी अग्नि प्रज्वलित हुई।।३३।। ऋद्धि-सिद्धि रूपी संभ्रम का धुआं नष्ट हो गया। ज्ञानरूपी अग्नि स्फुलिंग प्रकट हो गई।।३४।। यम नियम् के अभ्यास से मन शुष्क हुआ था। वह सूखा मनरूपी ईंधन ज्ञानाग्नि में समर्पित हो गया।।३५।। मन रूपी सूखे ईंधन से ज्ञानाग्नि की ज्वाला अधिक प्रमाण में भड़क उठी। पुत्र-पौत्रादि का स्नेह, विषय-वासना आदि की समिधाएं उसमें भस्म हो गई।।३६।। वहां सोऽहं मंत्र से दीक्षित ज्ञानी प्रज्वलित ज्ञानरूपी अग्नि में समस्त इंद्रियों से होनेवाले कर्मों का हवन करते हैं।।३७।। प्राणवायु की स्वासादि क्रियारूपी स्रुवापात्र के साथ ज्ञानरूपी अग्नि में पूर्णाहुति समर्पित होती है। स्वाभाविक रीति से समाधि की एकता में दीक्षितों का अवभृत स्नान होता है।।३८।। तब आत्मज्ञान का सुख, धारणा, ध्यान एवं समाधि में संयमरूपी अग्नि में देह के सब कर्म एवं प्राण के कर्मों का हवन करने पर जीवन मुक्ति अवस्था शेष देह प्रारब्धरूपी पुरोडाश का सेवन करता है।।३९।। इस प्रकार से यज्ञ करके त्रिभुवन में साधक मुक्त हो गये हैं। विभिन्न प्रकार की यज्ञ क्रियाएं होते हुए भी उससे प्राप्तव्य एक ही होता है।।१४०।।

कुछ साधक द्रव्य यज्ञ करते हैं। कुछ तपयज्ञ, कुछ योग यज्ञ, कुछ स्वाध्याययज्ञ, कुछ ज्ञानयज्ञ करते हैं। कुछ प्रयत्नशील संन्यासी तीक्ष्णव्रत का आचरण करते हैं।।२८।।

एक होत द्रव्य यज्ञ। एक कहत तपो यज्ञ योग बल से योगयज्ञ। भिन्न प्रकार।।४१।। शब्द से शब्द को यजिये। उसको वाग्यज्ञ कहिये। ज्ञान से ज्ञेय पाइये। वह ज्ञान यज्ञ।।४२।। वह सब यज्ञ अर्जुन। अनुष्ठान इसका गहन। जितेंद्रिय को ही प्राप्त जान। योग्यतावश।।४३।। इसमें जो प्रवीण। योग समृद्धि सुसंपन्न। जो आत्मा को अर्पण। करत स्वजीव।।४४।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

अपानाग्नि मुख में एक। प्राणरूप द्रव्य देख हवन करत अशेख। अभ्यास योग से।।४५।। कोइ प्राण में अपान। कोई दोनों का करत निरोधन। वे कहलावत अर्जुन। प्राणायामी।।४६।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

एक वज्रयोग करत। सर्वाहार संयमत। प्राणाग्नि में शीघ्र करत। प्राण को हवन।।४७।। ऐसे मोक्षकाम सकल। समस्त ये यजनशील। जो यज्ञ द्वारा मनोमल। क्षालन करत।।४८।। जब दग्ध अविद्याजात। शुद्ध निजस्वरूप बचत। अग्नि और होता भेद नष्ट। अद्वैत रूप।।४९।। जहां यज्ञकर्ता की कामना पूर्ण। शेष न रहत यज्ञ विधान। न बचत वहां संपूर्ण। क्रिया जात।।१५०।। जहां विचार न प्रवेशत। फलहेतु न स्पर्शत। वहां द्वैतदोष से पार्थ। लिप्त न होत।।५१।।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

ऐसा अनादि सिद्ध पवित्र। जो ज्ञानयज्ञावशिष्ट। सेवन करत ब्रह्मनिष्ठ। ब्रह्मास्मि मंत्र से।।५२।। ऐसा शेषामृत से तृप्त। अमर्त्य भाव को प्राप्त। अतः स्वयं ब्रह्म होत। अनायास।।५३।। अन्यों को विरक्ति न वरत। जो संयमाग्नि न सेवत। योगयाग न करत। जन्म में कभी।।५४।। जिनका ऐहिक भला नाही। उनका परत्र पूछत काई। अतः यह बात छोड़ो यहीं। पंडुकुवर!।२।।५५।।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

ऐसे ये यज्ञ समस्त। तुझको बतलाये पार्थ। वह वर्णित विस्तृत। वेद द्वारा।।५६।। सुनके उनका वर्णन। जानो ये कर्म से उत्पन्न। तब न होगा कर्मबंधन। सुनिश्चित।।५७।।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप। सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

अर्जुन वेद जिसका मूल। क्रिया विशेष स्थूल। जिनका प्रथम फल। स्वर्गसुख।।५८।। वे द्रव्ययज्ञ समस्त। ज्ञान यज्ञ की तुलना न पावत। जैसे तारा तेज संपत। दिनकर सम्मुख।।५९।। देखो परमात्मसुख निधान। प्राप्ति प्रीत्यर्थ योगीजन। जागृत जो रहत डाल के अंजन। उन्मेष नेत्र में।।१६०।। आरंभित कर्म का प्राप्त स्थान। नैष्कर्म्य बोध की खान। मुमुक्षुओं का समाधान।

Funding by IKS-MoE

एक द्रव्ययज्ञ होता है। एक तपयज्ञ कहलाता है, योगशक्ति से योगयज्ञ होता है। ऐसे अलग भिन्न प्रकार हैं।।४१।। शब्दों से शब्द का यज्ञ होता है, उसे वाक्यज्ञ कहते हैं। ज्ञान से भगवद्प्राप्ति करनेवाले ज्ञानयज्ञ करते हैं।।४२।। हे अर्जुन! इन सबका अनुष्ठान गहन है। योग्यतावश जीतेंद्रिय को उसकी प्राप्ति होती है।।४३।। जितेंद्रिय अधिकारी साधक इस यज्ञकर्म में कुशलता प्राप्त करते हैं। योग साधन समृद्धि से वे सुसंपन्न होते हैं। वे अपने आत्मरूप में जीवभाव को समर्पित करते हैं।।४४।।

कुछ साधक अपान वायु में प्राणवायु का हवन करते हैं। कुछ प्राणवायु में अपान वायु का हवन करते हैं। प्राणायाम में तत्पर योगी प्राण एवं अपान दोनों का भी अवरोध करते हैं।।२९।।

कुछ योगी अपान वायु रूपी अग्नि में प्राण वायु रूपी द्रव्य का हवन करते हैं। वह अभ्यास योग कहलाता है।।४५।। कुछ योगी प्राणवायु में अपानवायु का हवन करते हैं कुछ योगी दोनों का निरोध करते हैं। हे अर्जुन वे प्राणायामी कहलाते हैं।।४६।।

कुछ योगी आहार का संयम करते हैं। प्राण वायु का वे प्राणवायु में हवन करते हैं। यह सब यज्ञवेत्ता होते हैं। यज्ञ करके पातकों को वे नष्ट करते हैं।।३०।।

कुछ योगी वज्रासन आदि हठयोग क्रम से सब प्रकार के आहार का संयम करते हैं। प्राणाग्नि में शीघ्र प्राण वायु का हवन करते हैं।।४७।। ऐसे मोक्ष की इच्छा करनेवाले सब यज्ञ ही करते हैं। मन का मैल विभिन्न प्रकार से नष्ट करते हैं।।४८।। कार्यकारणात्मक अज्ञान जब नष्ट होता है, तब शुद्ध आत्मस्वरूप शेष रहता है। अग्नि एवं उसमें हवन करनेवाला होता का भेद पूर्णतः आत्मस्वरूप में नष्ट होता है।।४९।। उस अद्वैत स्थिति में यज्ञ करनेवाले की इच्छाएं पूर्ण होती हैं। यज्ञ का विधि-विधान समाप्त होता है। संपूर्ण क्रियाएं समाप्त होती हैं।।१५०।। जहां विचारों का प्रवेश नहीं होता, जिस साध्य को कौन सा भी हेतु स्पर्श नहीं कर सकता, वहां अद्वैत ब्रह्मतत्त्व द्वैत के दोष से, हे पार्थ! कभी लिप्त नहीं होता।।५१।।

दैवयज्ञ में अवशिष्ट ज्ञानरूपी अमृत होता है। उसका सेवन करनेवालों को अनादि ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होता है। मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर कुछ भी न करनेवाले को ऐहिक सुख भी प्राप्त नहीं होता, उन्हें परलोकसुख कहां से प्राप्त होगा?।।३१।।

ऐसे अनादिसिद्ध, ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान करा देनेवाला ज्ञान, यज्ञ के अन्त में प्राप्त होता है। उस ज्ञान को ब्रह्मनिष्ठ पुरुष, मैं ब्रह्म हूं (अहंब्रह्मऽस्मि) इस मंत्र से आत्मसात करते हैं।।५२।। ऐसे ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त योगी चिरंतन भाव को प्राप्त होते हैं। अतः वे स्वयं ब्रह्मरूप होते हैं।।५३।। अनाधिकारियों को विरक्ति प्राप्त नहीं होती। मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर जो संयम की उपासना नहीं करते, व्रथा जन्म में योग साधना या किसी भी प्रकार का यज्ञ नहीं करते।।५४।। हे पंडुकुमार! जिनका इहलोक का आचार शुद्ध नहीं है। उनका परलोक पूछने की आवश्यकता नहीं है। अतः यह बात यहीं छोड़ दो।।५५।।

वेदों के द्वारा विविध प्रकार से यज्ञों का विचार किया गया है। यह सब यज्ञ कर्मजन्य हैं। यह जानकर तुम मुक्त हो जाओगे।।३२।।

हे पार्थ! ऐसे यह यज्ञ तुम्हें बतलाये हैं। वेदों ने मूलतः उसका विस्तृत वर्णन किया है।।५६।। उसका वर्णन सुनकर यह सब कर्म से उत्पन्न हुए हैं, यह तुम जान लेना। तब तुम्हें निश्चित रूप से कर्मबंधन नहीं होगा।।५७।।

हे अर्जुन! द्रव्य आदि से किये जानेवाले यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ होता है। सब कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं।।३३।।

हे अर्जुन! जिसका अधिष्ठान वेद है, उसका स्थूल स्वरूप कर्म है। उसका उत्तम अंतिम फल स्वर्ग सुख है।।५८।। द्रव्य के द्वारा किये जानेवाले सब यज्ञ, ज्ञान यज्ञ की तुलना में कमी योग्यता के प्रतीत होते हैं। जैसे सूर्य के सम्मुख तारकाओं की तेज संपत्ति निस्तेज होती है।।५९।। परमात्म सुख का निधि प्राप्त करने के लिए योगीजन ज्ञाननेत्र में ज्ञान का अंजन डालकर नित्य जागृत रहते हैं।।१६०।। इसी जन्म में चित्त शुद्धि से कृतार्थ होकर शीघ्र कर्म का

Funding by IKS-MoE

आत्मप्राप्यर्थ।।६१।। जहां प्रवृत्ति पंगु होत। तर्क दृष्टि होत कुंठित। जिससे इंद्रिया विस्मरत। विषय संग।।६२।। जहां मन की नाशत मनोवृत्ति। वाणी की स्तंभित वाचाशक्ति। जहां प्रकटत ब्रह्मव्याप्ति। ज्ञेय की सदा।।६३।। वैराग्य क्लेश नाशत। विवेक वासना लोपत। विनाक्रम पावत। आत्मज्ञान।।६४।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान। यदि प्राप्त करना अर्जुन। सेविजे संत ज्ञान संपन्न। सर्व भाव से।।६५।। जो ज्ञान की हवेली। वहां सेवा ही देहली। वह स्वाधीन यदि कर ली। सेवा धर्म से।।६६।। कीजे तनमन जीवार्पण। धरिये उनके चरण। अगर्वता से करो अर्जुन। दास्य सकल।।६७।। तब वे सेवा से प्रसन्न। सुबोधित अपेक्षित प्रश्न। जिससे होत स्वांतःकरण। संकल्प रहित।।६८।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

जिनका ज्ञानप्रकाश पूर्ण। करत चित्त को धैर्यवान। ब्रह्मसम होत अर्जुन। निःशंक मन।।६९।। तब अपने सह वर्तमान। अशेष भूतमात्र ज्ञान। मेरे स्वरूप में संपूर्ण। देखेगा तू।।१७०।। ऐसे ज्ञान प्रकाश से देखत। तब मोहांधकार नष्ट होत। जब गुरुकृपा होत प्राप्त। तुझको पार्थ।।७१।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

यदि कल्मष का आगार। तुम भ्रांति का सागर। व्यामोह का डोंगर (पहाड़)। होकर रहत।।७२।। यह ज्ञान शक्ति असीम। ये सब दोष क्षुद्रतम। ऐसा सामर्थ्य महान। ज्ञान में जानो।।७३।। यह विश्वभास संपूर्ण। अमूर्त का लघु किरण। प्राप्त यदि ज्ञान। नाशत भ्रांति।।७४।। ऐसा यह ज्ञान श्रेष्ठ। मनोमल होत नष्ट। इसमें न शंका युक्त। अतुलनीय यह।।७५।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

धूम्र त्रिभुवन का प्रदीप्त। गगन व्यापी सहज नाशत। तब अभ्र की क्या बात। प्रलय वात सम्मुख।।७६।। या प्रलयाग्नि वायु सहित। जल को भी भस्म करत। वह क्या कभी शमत। तृणकाष्ठ से।।७७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

जैसे यह दोनों अघटित। विचारतः विसंगत। न हि ज्ञान सम पवित्र। वस्तु जग में।।७८।। यह उत्तम एक ज्ञान। न अन्य इसके समान। जैसे चैतन्य अर्जुन। अनुपमेय।।७९।। क्या प्रतिबिंब सूर्य सम्मुख?। आकाश को आच्छादन शक्य?। क्या पृथ्वीसम वस्तु एक। समभार।।१८०।। अतः बहुविध विचार। करत यदि बारंबार। ज्ञान के सम पवित्र साचार। ज्ञान ही एक।।८१।। अमृत का स्वाद जैसा। अमृत ही समान वैसा। ज्ञान को उपमान तैसा। ज्ञान ही जानो।।८२।। अब आगे जो चर्चा विचार। वह कालापव्यय साचार। कहे सत्य धनुर्धर। कहना आपका।।८३।।

Funding by IKS-MoE

साध्य प्राप्त होवे, यह निष्काम ज्ञान, मुमुक्षुओं को आत्म प्राप्ति का समाधान देता है।।६१।। जहां प्रवृत्ति- कुछ करने की वृत्ति नष्ट होती है। तर्क-वितर्क करने की इच्छा नहीं होती, विषय की आसक्ति का इंद्रियों को विस्मरण होता है।।६२।। मन संकल्प-विकल्प करना छोड़ देता है। वाणी मौन होती है। वहां नित्य ज्ञेय ब्रह्म अपने व्यापक स्वरूप में प्रकट होता है।।६३।। वैराग्य के कष्ट समाप्त होते हैं, विवेक की इच्छा नष्ट होती है, बिना कष्ट से आत्मज्ञान प्राप्त होता है।।६४।।

वह ज्ञान, श्री गुरुचरणों के समीप बैठकर, सेवा करने से, आत्मा के संबंध में प्रश्न करने से, या साधना के द्वारा प्राप्त होता है। शब्द ज्ञान संपन्न, आत्मसाक्षात्कारी गुरु तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे।।३४।।

वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, हे अर्जुन! तुम्हें यदि प्राप्त करने की इच्छा है तब तुम्हें सर्वभाव से ज्ञान संपन्न संतों की सेवा करने की आवश्यकता है।।६५।। जो ज्ञान का महल है, वहां प्रवेश करने की देहली सेवा होती है। उनको सेवा धर्म से प्रसन्न करना चाहिये।।६६।। शरीर, मन एवं अंतःकरण से उनके चरणों में नमस्कार करना चाहिये। निरभिमानता से हे अर्जुन! उनकी सब सेवा करना चाहिये।।६७।। तब वह सेवा से प्रसन्न होंगे। अपेक्षित आत्मज्ञान के विषय में प्रश्न पूछने पर उनके द्वारा ज्ञान बताने से अंतःकरण संकल्परहित होता है।।६८।।

हे अर्जुन! यह ज्ञान प्राप्त होने पर पुनः मोह नहीं होता। उस ज्ञान से सब प्राणिमात्र तुम अपने में एवं मेरे में अभेद भावना से देखोगे।।३५।।

हे अर्जुन! संतों के उपदेशरूपी वाणी के प्रकाश में ब्रह्मयोग्यता प्राप्त निर्भय एवं निःशंक मन ब्रह्मसदृश होता है।।६९।। तब तुम अपने साथ संपूर्ण प्राणिमात्र को मेरे स्वरूप में देखोगे।।१७०।। हे पार्थ! जब तुम्हें गुरुकृपा प्राप्त होगी तब अद्वैत ज्ञान प्रकाश में यह मोहरूपी अंधकार नष्ट होगा।।७१।।

यदि तुम सब पापियों में पापी हो, तब भी ज्ञानरूपी नौका से तर जाओगे।।३६।।

तुम यदि पाप का आगर हो, भ्रांति का सागर हो, या विकारों के मोह के पहाड़ हो।।७२।। यह ज्ञानशक्ति सीमारहित है। उसके सम्मुख यह दोष क्षुद्र प्रतीत होते हैं। ऐसा ज्ञान में महान सामर्थ्य है।।७३।। विश्व का आभास भ्रम है। वह निराकार ब्रह्म की एक छोटी सी किरण शलाका है। यह आत्मज्ञान प्राप्त होने पर भ्रम का संपूर्ण निरास होता है।।७४।। ऐसा यह आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। मन के संकल्प विकल्पादि मैल धुल जाते हैं, इस आत्मज्ञान की तुलना नहीं कर सकते, इसमें शंका नहीं रखना।।७५।।

हे अर्जुन! जिस प्रकार से प्रज्वलित अग्नि ईंधन को नष्ट कर देती है तद्वत ज्ञानरूपी अग्नि सर्व कर्म को भस्म कर देती हैं।।३७।।

प्रलयकालीन आंधी, त्रिभुवन की कालिमा को आकाश में व्याप्त होने पर भी, नष्ट कर देती है।।७६।। प्रलयकाल की अग्नि वायु से प्रदीप्त होती है। जल को नष्ट करती है। वह क्या कभी घांस एवं ईंधन से नष्ट हो सकेगी?।।७७।।

वेदों में एवं लोगों में ज्ञान सदृश, पवित्र वस्तु नहीं है। यह ज्ञान अधिकार संपन्न योगियों को अपने ही अंतःकरण में कालानुसार प्राप्त होता है।।३८।।

विचार करने पर यह कहना विसंगत है कि ज्ञान से मन का कल्मष मल नष्ट नहीं हो सकता। ज्ञान से बढ़कर संसार में अन्य पवित्र वस्तु नहीं है।।७८।। यह ज्ञान उत्तम है। इसके समान अन्य वस्तु नहीं है। हे अर्जुन! जैसे संसार में चैतन्य को उपमा देने के लिए अन्य वस्तु नहीं है।।७९।। महातेजस्वी सूर्य के समान उसके प्रतिबिंब को आकाश को आलोकित करना शक्य है क्या? पृथ्वी सदृश उसी के भार की अन्य वस्तु है क्या?।।१८०।। बारंबार विभिन्न प्रकार से विचार करने पर भी ज्ञान के समान पवित्र सत्य वस्तु ज्ञान ही है।।८१।। जैसा अमृत का स्वाद अमृत जैसा होता है। ज्ञान को आत्मज्ञान की ही उपमान दे सकते हैं, अन्य नहीं।।८२।। अब इसके आगे चर्चा विचार करना समय का अपव्यय है। धनुर्धर अर्जुन ने कहा, आपका कहना सत्य है।।८३।। यही ज्ञान कैसा प्राप्त करना चाहिये यह

कैसे कीजे यह ज्ञान प्राप्त। प्रश्न अर्जुन का मनोगत। जानत श्री अच्युत। अंतर्यामी।।८४।। तब कहत जगजेठी। सावधान सुनो किरीटी!। किस विध होत ज्ञानप्राप्ति। कहूं तुझको।।८५।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः सयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

आत्मसुख में लेत मिठास। माने सब विषय नीरस। जो इंद्रियां अशेष। अवमानत।।८६।। न बतावे स्वमन की कामना। न जाने कर्मजन्य वासना। ज्ञान प्राप्ति की श्रद्धा से अर्जुना। संतोषत।।८७।। उस पुरुष को ही निश्चित। जिस ज्ञान में शांति अचुंबित वह ज्ञान जो सदा खोजत। प्राप्त होत।।८८।। ज्ञान जब हृदय में प्रविष्ट। और शांति को अंकुर फूटत। तब विस्तार बहुत प्रकटत। आत्मबोध का।।८९।। तब जहां देखत वहाँ दिखत। शांति ही शांति वसत आप पर न जानत। साचोकार से।।१९०।। ऐसा यह उत्तरोत्तर। ज्ञान बीज का विस्तार। कहने को यह अपार। साम्प्रत अलम।।९१।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

जिस प्राणि के ठाँई। इस ज्ञान की रुचि नाही। उसके जीवन से सबही। मरण उत्तम।।९२।। शून्य जैसा गृह। की चैतन्य हीन देह। वैसे जीवित सम्मोह। ज्ञानहीन।।९३।। सत्य ज्ञान नहीं प्राप्त। किन्तु यदि कामना करत। तब वहां संभव किंचित। धनुर्धर।।९४।। ज्ञान नही मन से। आस्था भी नहीं उसमें। वह संशय हुताग्नि में। गिरा जानो।।९५।। जब अमृत से घृणा होत। सहज अरुचि उपजत। तब मरण समय निश्चित। जानो तुम।।९६।। जो विषय सुख से तृप्त। ज्ञान के विषय उदास अत्यंत। संशय से होत ग्रस्त। न शंका इसमें।।९७।। यदि होत संशयवश। निभ्रांत होत नाश। इह परत्र सुख खास। वंचित होत।।९८।। अंग में संचरत काल ज्वर। सन्निपात शीतोष्ण न जाने धनुर्धर। धूप और चांदनी साचार। मानत सम।।९९।। वैसे सत्य और असत्य। अनुकूल प्रतिकूल पार्थ। न जाने हित और अहित। संशयी पुरुष।।२००।। दिवस और रात्र देख। जात्यंध को अपरिचित। वैसा वह संशय ग्रस्त। कुछ न जाने।।१।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्। आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

अतः संशय से थोर (बड़ा)। अन्य नहीं पाप घोर। यह विनाश की वागुर। प्राणियों को।।२।। इसलिये यह त्याज्य। प्रथम इसका जय योग्य। ज्ञान अभाव के मध्य। स्थान इसका।।३।। अज्ञान तम निविड़ घोर। जब वर्धत मन में थोर। अतः विश्वास का साचार। नाश होत।।४।। हृदय में यह न समावत। बुद्धि को सर्वथा आच्छादत। वहां संशयात्मक दिखत। लोकत्रय।।५।।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

ऐसा यह महान। एक उपाय से होत स्वाधीन। यदि हाथ में अर्जुन। ज्ञान

Funding by IKS-MoE

अर्जुन के मन का प्रश्न अंतर्यामी श्री अच्युत ने जान लिया ।। ८४।। तब जगजेठी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, हे किरीटी! अब ध्यान देकर सुनो! कौन से प्रकार से आत्मज्ञान प्राप्त होगा यह तुम्हें बताता हूं ।। ८५।।

श्रद्धावान, ज्ञान साधना में तत्पर एवं जितेन्द्रिय योगी को ज्ञान प्राप्त होता है। उसको मोक्षरूप परम शांति प्राप्त होती है।। ३९।।

आत्मसुख में मिठास उत्पन्न होने से सब विषय योगियों को नीरस प्रतीत होते हैं। इंद्रियों को उसके लिये श्रेष्ठत्व नहीं है।। ८६।। हे अर्जुन! मन की इच्छाएं प्रकट नहीं करता। कर्म से उत्पन्न वासना नहीं है। ज्ञानप्राप्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने से वह संतुष्ट है।। ८७।। ऐसे अधिकारी योगियों को खोजते हुए ज्ञान निश्चित प्राप्त होता है। उस ज्ञान में निर्दोष शांती का वास्तव्य होता है।। ८८।। वह ज्ञान जब हृदय में प्रविष्ट होता है तब शांति अंकुरित होती है। तब आत्मज्ञान विपुल प्रमाण में विस्तारित होता है।।८९। तब वह योगी जिस तरफ आंख उठाकर देखता है उसी तरफ उसे शांति दिखाई देती है। सत्य में वह अपना पराया नहीं जानता।। १९०।। ऐसा यह ज्ञानबीज का निरंतर अपरंपार विस्तार होता है। अब इसका वर्णन कहां तक करूं? इतना कहना पर्याप्त होगा।। ९१।।

अज्ञानी, अश्रद्धावान, संशयी पुरुष नष्ट होता है। इसको इहलोक एवं परलोक दोनों मिलते नहीं, तब आत्मसुख कहां मिलेगा? ।। ४०।।

जिस प्राणी के मन में यह ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती, उसके जीवित रहने से मृत्यु उत्तम होती है।। ९२।। जिस प्रकार उजड़ा हुआ घर या प्राणहीन शरीर होता है उसी प्रकार ज्ञान बिना जीवन भ्रमपूर्ण होता है।। ९३।। सत्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई किंतु ज्ञानप्राप्ति की मन में इच्छा है, तब हे धनुर्धर! तब वहां ज्ञान प्राप्त होने की संभावना है।। ९४।। मन में ज्ञान नहीं, ज्ञान प्राप्त करने की आस्था भी नहीं, वह संशय रूपी अग्नि में गिरा है ऐसा समझना चाहिये।। ९५।। जब अमृत के प्रति अरुचि होती है तब मृत्यु का समय समीप है, ऐसा निश्चित समझना।। ९६।। जो विषयसुख से तृप्त है। आत्मज्ञान के प्राप्ति के प्रति अत्यंत उदास है। वह संशय से ग्रस्त है, इसमें शंका नहीं करना।। ९७।। संशयग्रस्त होने से उसका निश्चित नाश होगा, ऐसा समझना चाहिये। ऐहिक एवं पारलौकिक सुख से वह वंचित होता है।। ९८।। जिसके शरीर में कफ, पित्त, वात आदि दोषों से सन्निपात ज्वर भर गया है, उस रोगी की संवेदनशक्ति नष्ट होने पर, हे धनुर्धर! धूप एवं चंद्रप्रकाश को वह एक जैसा समझता है।। ९९।। वैसे सत्य एवं असत्य, अनुकूल एवं प्रतिकूल, हे पार्थ! संशयी पुरुष हित एवं अहित की बात नहीं समझ सकता।। २००।। जन्म से जो अंधा है वह दिन एवं रात से अपरिचित है। वैसा यह संशयग्रस्त कुछ जानता नहीं।। १।।

हे अर्जुन! जिसने निष्काम कर्म योग के द्वारा सकाम कर्म का त्याग किया है, आत्मज्ञान से सब संशय नष्ट किये हैं। ऐसे आत्मज्ञानी योगी को कर्मबद्ध नहीं करते।। ४१।।

अतः संशय जैसा अन्य घोर पाप नहीं है। संशय प्राणियों के सर्वस्व नाश करने का जाल है।। २।। अतः यह त्याग करने योग्य है, इसके ऊपर प्रथम विजय प्राप्त करना चाहिये। ज्ञान के अभाव में इसका स्थान रहता है।। ३।। अज्ञान की कालिमा भयंकर होती है। जब यह मन में विकसित होता है जिससे विश्वास का सर्वथा नाश होता है।। ४।। हृदय में यह समाता नहीं, बुद्धि को प्रभावित करता है। तीनों लोक उसे संशयग्रस्त दिखते हैं।। ५।।

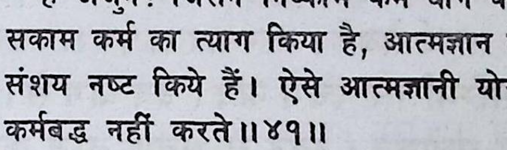

अतः हे अर्जुन! अज्ञान से उत्पन्न एवं हृदय में निवास करने वाले इस संशय को ज्ञानरूपी खड्ग से नष्ट करके निष्कामता से युद्ध करो।। ४२।।

ऐसा यह महान होते हुए भी एक उपाय से इसके ऊपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। हे अर्जुन! हाथ में

Funding by IKS-MoE

खड्ग ।।६।। यह ज्ञानशस्त्र तीक्ष्ण। नाशत उसको संपूर्ण। निःशेष मन से जान। लुप्त होत ।।७।। इस कारण हे पार्थ!। उठो वेग से समर्थ नाश करो हृदयस्थ। संशय को इस।।८।। ऐसे सर्वज्ञ का बाप। जो श्रीकृष्ण ज्ञानदीप। कहत वह सकृप। सुनो नृप!।।९।। यह पूर्वापर कथा पूर्ण। विचार सम्यक् करके अर्जुन समयोचित पूछेगा प्रश्न। अच्युत को।।२१०।। इस कथा की संगति। अभिप्रायों की संपत्ति। विविध रसों की उन्नति। होगी आगे।।११।। जिस रस की यह कीर्ति। अन्य आठ उतारत आरती। जो सज्जन जन बुद्धि विश्रांति। स्थान नित्य।।१२।। वह शांत अपूर्व बोल। अर्थपूर्ण प्राकृत अनमोल। जो समुद्र से भी सखोल। कीजे श्रवण।।१३।। जैसे बिंब यदि बचकाना। प्रकाश को त्रैलोक्य लघु गणना। शब्दार्थ व्याप्ति की तुलना। अनुभविजे तैसी।।१४।। या कामीजन इच्छा सरिसा। फलत कल्पवृक्ष जैसा। बोल व्यापक होवे तैसा। अवधान दीजे।।१५।। अधिक क्या कहना बात। सर्वज्ञ आप सहज जानत। अब नीका देना चित्त। विनति मेरी।।१६।। जहां साहित्य और शांति। रुस बोल की ऐसी पद्धति जैसी लावण्यवती गुण कुलवती। और पतिव्रता।।१७।। पहिले ही शर्करा प्रिय जान। यदि हो औषध का अनुपात। क्यों न करना सहर्ष सेवन। बारंबार।।१८।। मलयानल मंद सुगंध। उसको हो अमृतस्वाद। और सम्मिलित पंचम नाद। दैव योग से।।१९।। स्पर्श से शीतल अंग होत। स्वाद से जिव्हा संतोषत। स्वर से श्रवण तृप्त कहत। साधु-साधु!।।२२०।। वैसे यह कथा श्रवण। होत कर्णों का पारण और संसार दुःख हरण। विकृति बिना।।२१।। यदि मंत्र से होत शत्रु नाश। क्यों कटार चलाना व्यर्थ। शर्करा से यदि रोग जात। पीना नीम क्यों।।२२।। वैसे न करना मन का यमन। न ही इंद्रियों का दमन यहां एक मात्र श्रवण। मोक्ष दायक।।२३।। अतः लेकर उत्कंठ पूर्ण। गीतार्थ नीका और गहन। कहे ज्ञानदेव करो श्रवण। निवृत्तिदास।।२२४।।

इति श्रीज्ञानेदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे
ज्ञानसंन्यासयोगोनाम चतुर्थोऽध्यायः (श्लोक ४२ ओवियाँ २२४)

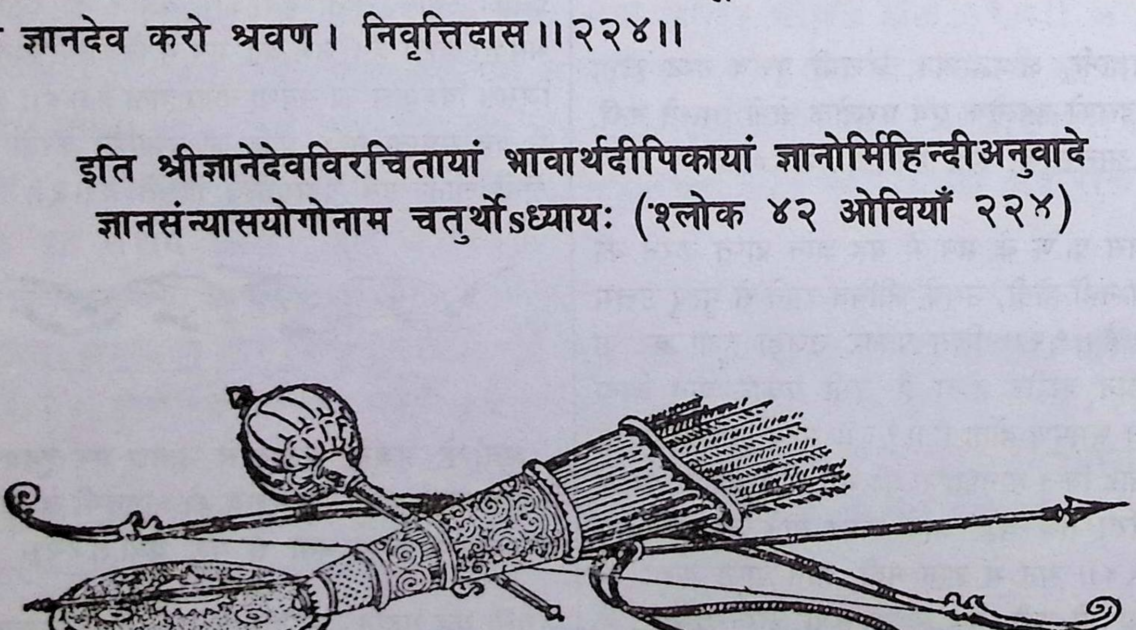

Funding by IKS-MoE

ज्ञानखड्ग धारण करना चाहिये ।।६।। यह तीक्ष्ण ज्ञानशस्त्र उसका संपूर्ण नाश करता है। वह मन में संपूर्णतः लुप्त होता है।।७।। हे पार्थ! इसी कारण तुम शीघ्र उठो, हृदय में स्थित संशय का नाश करने में तुम समर्थ हो ।।८।। ऐसे सर्वज्ञ का पिता, जो ज्ञान का प्रत्यक्ष दीप है, वह श्रीकृष्ण कृपापूर्वक कहते हैं। हे राजा! तुम सुनो ।।९।। भगवान ने जो अभी कहा एवं पहले जो कहा था, उसका विचार करके अर्जुन, भगवान श्री अच्युत से समयोचित प्रश्न पूछेंगे।।२१०।। इस कथा की संगति भक्ति का भण्डार है। विविध रसों की प्रौढ़ता से परिपूर्ण है। आगे वही प्रसंग बतलाया जायेगा।।११।। जिस शांतरस के माधुर्य पर आठों रस निछावर कर देना चाहिये वह सज्जनों की बुद्धि का नित्य विश्राम स्थान है।।१२।। वह शांत रस अपूर्व है। वह अर्थपूर्ण अनमोल वाणी है वह सागर से गहरा है। उसे सुनिये ।।१३।। यदि सूर्यबिंब छोटा रहता है, किन्तु उसका प्रकाश तीनों लोगों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार से इन शब्दों की व्यापकता का अनुभव करना ।।१४।। याचना करनेवाले की इच्छानुसार कल्पवृक्ष फलता है। उसी प्रकार से वाणी की व्यापकता श्रोताओं की इच्छाओं के अनुसार फलद्रूप होगी ।।१५।। अधिक बात क्या कहूं? आप सब सर्वज्ञ हैं। अब आप अच्छी तरह ध्यान से सुनिये! यही मेरी प्रार्थना है।।१६।। जिस प्रकार से किसी रमणी में लावण्य, सद्गुण एवं कुलीनता के साथ पतिव्रत्य रहता है। उसी प्रकार से इन पंक्तियों में साहित्य का ललित गुण एवं शांत रस स्पष्ट दिखाई देते हैं ।।१७।। शर्करा-शक्कर सबको प्रिय होती है। औषधि में भी उसका अनुपात होनें से उसका सेवन पुनः-पुनः करने में क्यों आनंद नहीं होगा? ।।१८।। मलयगिरी से चंदनवृक्ष की आनेवाली वायु मंद एवं सुगंधित होती है। उसको यदि अमृत की मधुरता प्राप्त हो जाये एवं भाग्य से पंचम स्वर से कान तृप्त हो जायें वह सौभाग्य होगा ।।१९।। स्पर्श से शरीर शीतल करता है। स्वाद से जिव्हा को संतोष प्राप्त होता है, स्वर से कर्ण तृप्त होते हैं। एवं कहते हैं, साधु, साधु!।।२२०।। वैसे यह कथा का सुनना कर्णों की पारणा करता है। विकृति के बिना संसार के दुःखों का नाश होता है।।२१।। यदि मंत्र से शत्रुओंका नाश हो सकता है, तब शस्त्र का उपयोग करना व्यर्थ है। शक्कर खाने से रोग जब नष्ट हो सकता है तब कड़वा नीम पीने की क्या आवश्यकता है? ।।२२।। वैसे मन को संयमित नहीं करना, तथा इंद्रियों का भी दमन नहीं करना। यहां एक मात्र श्रवण करने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।।२३।। अतः पूर्ण उत्कंठा से भगवद्गीता का उत्तम एवं गहन अर्थ सुनिये, ऐसा श्रीनिवृत्तिदास के शिष्य ज्ञानदेवजी कहते हैं।।२२४।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

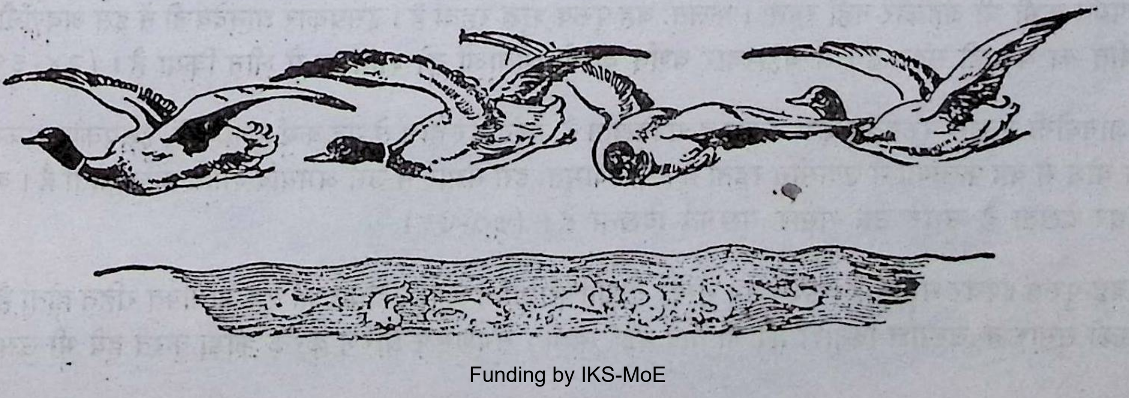

Funding by IKS-MoE

अध्याय - पाँचवाँ

सारांश

ज्ञानी अज्ञानी को सकल। यह कर्मयोग प्राञ्जल ।।अ.५-१६।।

चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण ने ज्ञानमार्ग की अनेक रीति से प्रशंसा की। किंतु अंत में अर्जुन को 'तू कर्म योग का आचरण कर और युद्ध करने के लिये खड़ा हो जा' ऐसा उपदेश दिया। परिणामतः अर्जुन की मनः स्थिति द्विधा हो गयी। कर्मसंन्यास और कर्मयोग इन साधनों में कौन सा मार्ग श्रेयस्कर है, ऐसा संशय उसके मन में निर्माण हुआ। अर्जुन के इसी प्रश्न से पंचम अध्याय की निर्मिति हुई है। अर्जुन का प्रश्न सुनते ही भगवान हर्षित हुए। यह अध्याय में मानों, अर्जुन के प्रति भगवत्प्रेम का दिग्दर्शक ऐसा उस प्रश्न का उत्तर है। (१-१४)

एक दृष्टि से इस अध्याय का विशेष महत्व है। कर्म संन्यास और निष्काम कर्मयोग इन दो साधनों में निष्काम कर्मयोग कर्म संन्यास की अपेक्षा श्रेयस्कर है, ऐसा श्रीकृष्ण ने स्पष्टतया कथन किया है। इससे श्रीकृष्ण ने संन्यास का अवमूल्यन किया है ऐसा दिखेगा, इसलिये ये ज्ञानदेवजी ने भगवान ऐसा क्यों कहते हैं, इसका संयुक्तिक कारण दिया है। वह कारण- इस संसार में कर्मयोग के अधिकारी बहुत हैं। यह कर्मयोग ज्ञानी और अज्ञानी सबको सुलभ आचरणीय और अंत में मोक्षफल दायी है। इसके विरुद्ध ज्ञानमार्ग के जो अनुयायी हैं उनको साधन चतुष्ट संपन्नना की आवश्यकता है, अतएव उस मार्ग के अधिकारी अल्प प्रमाण में दिखते हैं। बहुधा सामान्य लोगों को कर्मयोग सुलभ और योग्य मार्ग है। (१५-१८)

इस अध्याय में गीतोक्त नैष्कर्म्य स्थिति की उद्‌बोधक चर्चा आ गयी है। अज्ञ लोग नैष्कर्म्य का अर्थ आलस्यवश कुछ भी न करके चुपचाप बैठे रहना ऐसा करते हैं किंतु इस अध्याय में भगवान ने जो अर्थ स्पष्ट किया है वह इस प्रकार है- देहादि संघात द्वारा कर्म होते रहते हुये भी निज के अकर्तृत्व में यतकिंचिदपि विघटन न होने देना यह सच्ची नैष्कर्म्य स्थिति है। इस स्थिति में गृहप्रपंच त्याग करने की किमपि आवश्यकता नहीं है। प्रपंचासक्त मन को निःसंग करना यह महत्वपूर्ण कार्य है। मैं और मेरे यह संकल्प जिसके नष्ट हुये, वह प्रपंच में रहकर भी कर्म संन्यासी है। कर्म संन्यास और कर्मयोग इसमें से एकता तत्व यदि उत्तम प्रकारे ज्ञात किया, तो यह दोनों मार्ग एक फलदायी हैं ऐसा दिखाई देगा। इसके विपरीत जो कर्म योग का सम्यग आचरण नहीं करता और कर्मसंन्यास के पीछे पड़ता है, उसको कुछ भी प्राप्त नहीं होता। (१९-३३)

निष्काम कर्मयोग का आचरण करने के लिये चित्तभ्रांति समूल नष्ट होनी चाहिये। गुरुपदेश से शुद्ध होकर वह चित्त आत्म स्वरूप स्थिर होने की परमावश्यकता है, एवं गुण विशिष्ट पुरुष द्वारा यदि कर्म हो गया, तो भी ज्ञानोदय से भ्रमनिरास होने के कारण उसके सब कर्म धर्माधर्मरूप कर्मबंध से मुक्त रहते हैं। उसको आबुद्धि देहपर्यंत कभी भी अहंकार नहीं रहता। फलतः वह पुरुष शुद्ध रहता है। इसप्रकार ज्ञानदेवजी ने इस अवर्णनीय स्थीत का बड़े ही सुंदर ढंग से बहारदार वर्णन करके श्रोताओं को शांतरस में लीन किया है। (२४-६९)

ज्ञानयोगी सकाम पुरुषवत् कर्म करता हुआ दिखता है, किंतु मेरे हाथ से यह कर्म हुआ नहीं, इसप्रकार अकर्ता इस बोध से वह फलाशा से उदासीन रहता है। परिणामतः इस संसार में उसे अमर्याद शांति प्राप्त होती है। वह जिधर देखता है उधर उसे संसार सुखमय दिखता है। (७०-७५)

वह पुरुष ईश्वर समान है। ईश्वरीय संसार के प्राणिमात्रों में व्याप्त होकर भी वह आसक्ति रहित होता है। उसको संसार के उत्पत्ति विनाश की भी याद नहीं रहती। सगुणरूप धारण करके क्रीड़ा करते हुये भी उसके

सामर्थ्यवान निर्गुणत्व में न्यूनता नहीं आती। किंतु लोग अज्ञानवश ईश्वर में कर्तृत्व का आरोप करते हैं। सर्वत्र सम अद्वैत ब्रह्म 'मैं हूं' इस बोध की प्राप्ति जिसको हुई है। उन पुरुषों को लोकत्रय में किसी भी प्रकार का भेद अवशिष्ट नहीं रहता। इतना होते हुये भी उनका वर्तन अलौकिक नहीं रहता। लौकिक व्यवहार करते हुए वे दिखते हैं, इस कारण संसारी लोगों को वे अपरिचित रहते हैं। सामान्य लोगों से वे भिन्न हैं। इसका लक्ष्य यह है कि इष्ट प्राप्ति हो या अनिष्ट प्राप्ति हो, उनके मन में किंचिदपि सुखदुःखों का विचार उत्पन्न नहीं होता। वे इंद्रियों से तादात्म्य होकर उसके द्वारा विषय भोग नहीं लेते। (७६-१०८)

जिनको यह आत्मसुखभोग प्राप्त नहीं हुआ, वे मृगजल समान विषयोपभोग के पीछे दौड़ते हैं और दुःख भोगते हैं। परंतु जिन ज्ञानी पुरुषों को यह विषयस्वरूप ज्ञात है, उनको वे विष के समान मानकर, विषय सम्मुख आते ही उनसे वे तत्काल दूर रहते हैं। वे उनमें रममाण नहीं होते। इन ज्ञानी पुरुषों का स्वसुखभोग, भोग्य, भोक्ता और भोग इस त्रिपुटी से रहित रहता है। उनका स्वसुखभोग बाह्य विषयों के प्राप्ति से नहीं होता। इस सुख का वर्णन अनिर्वचनीय है। महाबोध में रममाण होनेवाले जो आत्मनिष्ठ पुरुष इसका बोध लेनेवाले हैं, उनको यह समझेगा। इसप्रकार ज्ञानदेवजी ने 'सनागर' (सुंदर) बोली में उन ज्ञानी पुरुषों का वर्णन किया है। (१०९-१४१)

इस प्रकार की परम निस्सीम स्थिति कामनारहित, वैराग्यवान पुरुषों को प्राप्त होती है। वे देही होकर भी साक्षात् ब्रह्मभूत हैं। वैराग्य का आश्रय लेकर, अंतःकरण स्थिति विषय बाहर निकालकर, यम, नियम, प्राणायाम द्वारा योगी मनोवृत्ति को अन्तर्मुख करके मनको एकाग्र करते हैं, फलतः मनोनाश करते हैं। जिसमें संसार चित्र प्रतिबिंबित होता है, वह मन नाश होने के कारण अनायास ही अहंकारादिक नष्ट होते हैं और साधक इस शरीर से ही ब्रह्म बन जाता है। (१४२-१५७)

श्रीकृष्ण ने इसप्रकार योगमार्ग का अंश कथन किया। अर्जुन विस्मय चकित हो गया। उसको यह मार्ग सोपानयुक्त सुलभ लगा। श्रीकृष्ण ने सुलभ रीति से इसका स्पष्टीकरण करना चाहिये ऐसा अर्जुन को लगा। अर्जुन की यह स्थिति सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने जान ली। और अर्जुन को कहा 'तू केवल श्रोता नहीं अपितु श्रवण करने के बाद आचरण करने वाला है।' ऐसी वाहवा करके 'अब मैं साद्यन्त योगमार्ग का निरूपण करूंगा' ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अभिवचन दिया। ज्ञानदेवजी ने माता-पुत्र संबंधित प्रेमप्रसंग का हृद्यवर्णन करके 'योग किसको कहते हैं, उसका उपयोग क्या है, योग के अधिकारी कौन हैं, इन सब विषयों का विवेचन अपने अखंड योग का त्याग न करते हुये श्रीकृष्ण अगले अध्याय में अर्जुन को करनेवाले हैं। इस प्रकार यह पंचम अध्याय समाप्त किया है। (१५८-१८०)

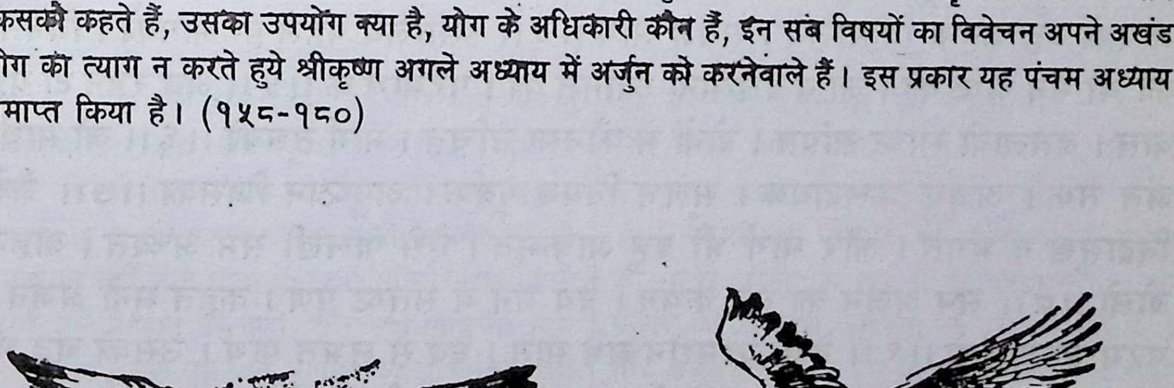

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - पाँचवाँ

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि। यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

तब पार्थ कहत हे कृष्ण। यह आपका कैसा दुविधा विधान। यदि एक कथन तब मन। मानेगा उसको।।१।। प्रथम सब कर्म संन्यासं। निरुपण किया खास। सांप्रत कर्मयोग विशेष। प्रतिपादन।।२।। ऐसा द्व्यर्थी भाषण। हम अच्युत अनजान। आपका मनोगत पूर्ण। जान न पावे।।३।। सुनो एक तत्व कहिये। मार्ग एक बताइये। आपको यह कहना किसलिये। सर्वज्ञ आप।।४।। इसीलिये पहले ही आपको। बिनती की थी मैंने श्रेष्ठ को। जो न बतलाना ध्वनित को। परमार्थ के।।५।। अब रहने दो यह बात। बतलावो स्पष्ट सांप्रत। दोनों में कौनसा उचित। मार्ग तुझको।।६।। जो साथी अंत तक। अचूक फलदायक। सुलभ नियम पूर्वक। अनुष्ठान जिसका।।७।। जैसे निद्रासुख न भंगत। और मार्ग भी बहु आक्रमत। ऐसे पालखी सम अच्युत। वाहन बोलो।।८।। सुन अर्जुन का यह कथन। देव मन में संतुष्ट पूर्ण। कहत सुनो अर्जुन। परम उल्हास से।।९।। देखो कामधेनु सम मात। दैव से लभत पार्थ। उसको चंद्र भी क्रीडार्थ। प्राप्त सहज।।१०।। देखो प्रसन्नता शंभू की। पूर्ण करत आर्ति उपमन्यू की। दूधभात की जगह क्षीराब्धि की। प्रसादी देत।।११।। ऐसा औदार्य का निधान। अर्जुन को प्राप्त श्रीकृष्ण। सर्व सुख संपूर्ण। लभत सहज।।१२।। यहां चमत्कार कैसा। स्वामी लक्ष्मीकांत जैसा। जो वांछत मन में वैसा। मांगना युक्त।।१३।। अतः जो पूछत प्रश्न अर्जुन। हंसकर उत्तर में श्रीकृष्ण। जो कहत कथन संपूर्ण। बतलाऊं मैं।।१४।।

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - पाँचवाँ

अर्जुन उवाचः–

उसके उपरांत अर्जुन ने पूछा, हे कृष्ण! आप कर्मों के संन्यास की और फिर निष्काम कर्मयोगी की प्रशंसा करते हो, इसलिये इन दोनों में एक जो निश्चिय किया हुआ कल्याणकारक हो, उसको मेरे लिये कहिये।।१।।

तब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा- हे देव! आप यह किस प्रकार की दुविधा की बात कर रहे हो? यदि आप कोई एक बात निश्चयपूर्वक बतलाओ तो मेरा मन उस पर जरूर विचार करेगा।।१।। पहले तो आपने कहा कि सब कर्मों का परित्याग करना चाहिये और अब आप कर्मयोग का विशेष समर्थन कर रहे हो।।२।। आप जो ऐसा दो-रुखी विधान करते हो उसके कारण मैं अल्पमती आपका असली मनोगत नहीं जान पाता हूं।।३।। सुनिये! आप किसी एक तत्त्वसिद्धांत को कहो, और एक निश्चित मार्ग बतलाओ। मुझे यह बात आपको कहना चाहिये ऐसा नहीं है, आप तो स्वयं सर्वज्ञ हो।।४।। इसीलिये आप के समान सद्‌गुरु से मैंने प्रारंभ में ही प्रार्थना की थी कि मुझे परमार्थ का ऐसा उपदेश न करें जो गूढ़ हो।।५।। परंतु अब पिछली बात को रहने दीजिये, और स्पष्ट रूप से अभी बताइये कि कर्म सन्यास और कर्मयोग इन दोनों में से कौनसा मार्ग मेरे लिये उचित है।।६।। जो मेरा अंत तक साथ देगा एवं निश्चित रूप से फलदायक होगा तथा जिसका नियमपूर्वक आचरण मेरे लिये सुलभ होगा।।७।। हे अच्युत! यह साधन पालकी की तरह ऐसा सुखद और सहज हो जिसमें नींद भी खराब न हो और यात्रा भी बहुत हो जाये।।८।। अर्जुन की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण मन ही मन प्रसन्न हुए और उन्होंने बहुत प्रसन्नता से कहा - हे अर्जुन! तुम जो चाहते हो वही सुनो।।९।। हे श्रोतागण! जिस भाग्यशाली बालक को प्रत्यक्ष कामधेनु माता के रूप में मिली हो, वह यदि खेलने के लिये चंद्रमा मांगे तो वह भी उसे सहज मिल जाता है।।१०।। देखिये, उपमन्यु पर शंकर भगवान प्रसन्न हुए तो उसको तो सिर्फ दूध भात चाहिये था लेकिन श्री शंकरजी ने प्रत्यक्ष क्षीरसागर प्रसाद के रूप में दे दिया।।११।। इसी प्रकार जो श्रीकृष्ण उदारता के उगम स्थान हैं, वे यदि अर्जुन पर प्रसन्न हुए हैं तब सब प्रकार के संपूर्ण सुख उसको सहज ही प्राप्त होंगे।।१२।। इसमें आश्चर्य की क्या बात है?। जिसका स्वामी प्रत्यक्ष श्री लक्ष्मीपति है तो उसको अपनी मनमानी चीज अवश्य मांगनी चाहिये।।१३।। इसीलिये प्रिय अर्जुन ने जो प्रश्न पूछा बड़ी प्रसन्नता से उसका जो उत्तर दिया वही मैं सविस्तार बताऊंगा।।१४।।

Funding by IKS-MoE

श्री भगवान उवाच–

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।। २।।

अच्युत कहे हे कुंतिसुत। यह संन्यास-कर्मयोग सर्वतः। मोक्षकारक तत्वतः दोनो जानो ।।१५।। वैसा ज्ञानी-अज्ञानी को। यह कर्मयोग सुलभ सबको। जैसी नांव स्त्री-बालक को। तोय तरणी ।।१६।। यदि देखे सारासार। यह ही सुलभ साचार। संन्यास फल बिन उपचार। लभत उसको ।।१७।। इसलिये हे अर्जुन। कहूं सन्यासिओं का लक्षण। तब सहज अभिन्न। जानेगा तू ।।१८।।

ज्ञेयःस नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ।। ३।।

गत वस्तु न स्मरत। अप्राप्तकी आशा न करत। अंतर में सुस्थिर रहत। मेरु जैसा ।।१९।। और मैं मेरा यह स्मरण। विस्मरत जिसका अंतःकरण। पार्थ वह संन्यासी जान। निरंतर ।।२०।। मन से निस्पृह होत। विषय संग उसको त्यजत। अतः सुख से प्रसन्न रहत। अखंडति ।।२१।। उसको न करना गृह त्याग। न त्यागना यज्ञ याग। वह स्वयं सदा निःसंग। इसलिये ।।२२।। देखो अग्नि बुझत। रक्षामात्र शेष बचत। तब वह कपास से आवृत। करना शक्य ।।२३।। वैसे जो रहत उपाधि में। किंतु न लिप्त कर्मबंधन में। जिसके नहीं बुद्धि में। संकल्पकण ।।२४।। अतः कल्पना जब नष्ट। तबही संन्यास प्राप्त। इसका कारण दोनों सम होत। संन्यास और योग ।।२५।।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।४।।

वैसे सुनो पार्थ। जो मूर्ख सर्वथा। वह सांख्य योग संस्था। क्या जाने? ।।२६।। सहज वे अनजान। इसलिये कहत भिन्न। क्या दीप के पास अन्यान्य। प्रकाश होत? ।।२७।। किन्तु सम्यग यह अनुभव। यदि देखत सब तत्व। दोनों में स्थित-एक्य भाव। निरंतर ।।२८।।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। ५।।

सांख्य से जो लभत। वही योग से भी होवे प्राप्त। अतः दोनों एक तत्वतः। इस प्रकार ।।२९।। देखो आकाश और अवकाश। भेद नाही नाही अशेष। तैसे योग और संन्यास। जाने जो ।।३०।। वह इस जग में ज्ञानवान। आत्मस्वरूप दृष्टा अर्जुन। जिसने जाना भेद बिन। सांख्य और योग ।।३१।। जो युक्ति पंथ से पार्थ। चढ़त मोक्षसुखपर्वत। वह महासुख का माथ। पावे सत्वर ।।३२।।

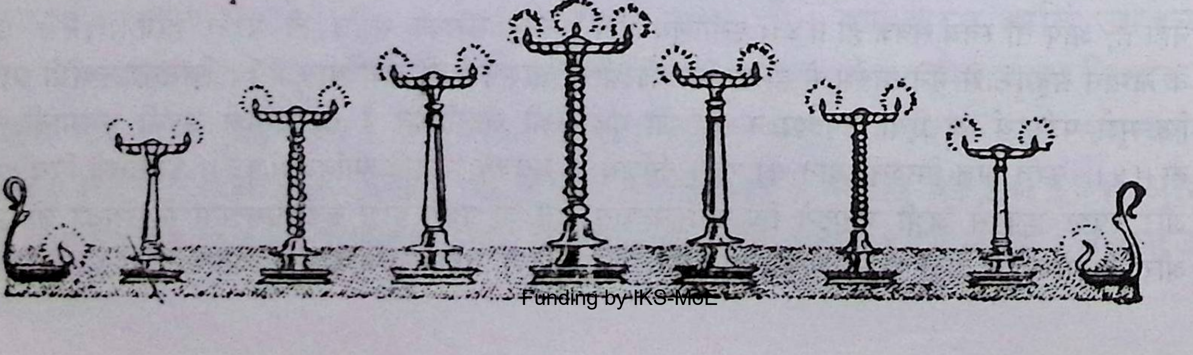

श्री भगवान ने कहा:-

हे अर्जुन! कर्मों का संन्यास अर्थात मन, इंद्रियों और शरीर द्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मों का कर्तापन का त्याग और निष्काम कर्मयोग अर्थात समत्वबुद्धि से भगवत् प्रीत्यर्थ कर्मों का करना, यह दोनों ही परम कल्याणकारी हैं किंतु उन दोनों में भी कर्मों के संन्यास से निष्काम कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है।।२।।

भगवान अच्युत कहते हैं, हे कुंतिपुत्र! यदि कर्म सन्यास और कर्मयोग का विचार किया जाये तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ये दोनों मोक्षकारक हैं।।१५।। तब भी ज्ञानी- अज्ञानी सब प्रकार के लोगों के लिये यह कर्म-योग सुगम मार्ग है। जिस प्रकार नदी को पार करने के लिये नाव स्त्रियों एवं बालकों के लिये भी उपयुक्त है।।१६।। यदि तारतम्य से विचार किया जाये तो यह निश्चित है कि इसी कर्मयोग से संन्यास का फल भी सहजता से प्राप्त होता है।।१७।। इसीलिये हे अर्जुन! मैं तुझे पहले सन्यासियों का लक्षण बतलाता हूं जिससे दोनों की अभिन्नता तू सहज रूप से समझेगा।।१८।।

इसीलिये हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी का द्वेष करता है न किसी से कुछ अपेक्षा करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग द्वेषादि द्वंद्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बंधन से मुक्त हो जाता है।।३।।

जो हाथ से निकल जानेवाली वस्तु का स्मरण करके दु:खी नहीं होता, जो वस्तु प्राप्त होने लायक नंहीं है उसकी आशा नहीं करता जिसका मन मेरु पर्वत के समान निश्चल रहता है।।१९।। जिसके अंत:करण में "मैं" और "मेरा" इस भावना का संपूर्ण विस्मरण रहता है हे पार्थ! उसी को तू नित्य संन्यासी समझ।।२०।। उसके मन में कोई कामना नहीं रहती इसीलिये विषयों का संग स्वयं उसको छोड़ देता है ऐसी अवस्था में वह पुरुष सदा सुख में संतुष्ट रहता है।।२१।। ऐसे नित्य संन्यासी को स्त्री, पुत्र, घर-बार का परित्याग नहीं करना पड़ता क्योंकि वह पुरुष वृत्ति से इन सब संबंधों से अलग ही रहता है।।२२।। देखो, जब आग बुझती है, तब केवल राख बाकी रहती है। फिर वह राख रुई में लपेट सकते हैं।।२३।। इसी प्रकार संसार की उपाधियों में रहते हुए जिसकी बुद्धि को संकल्प-विकल्प की आंच नहीं लगती, वह कभी कर्म के बंधन में नहीं पड़ता।।२४।। इसीलिये जब संकल्प विकल्प बंद हो जाते हैं तब ही संन्यास दशा की प्राप्ति होती है। इसी कारण कर्म संन्यास और कर्मयोग दोनों साथ चलते हैं।।२५।।

सांख्य तथा कर्मयोग भिन्न है ऐसा अज्ञ जन कहते हैं ज्ञानी लोग ऐसा कभी नहीं कहते। इन दोनों में से एक का भी यदि योग्य अनुष्ठान जो करता है उसको दोनों का फल अर्थात मोक्ष प्राप्त होता है।।४।।

हे अर्जुन! वैसे भी जिन मूढ़ पुरुषों की समझ में यह तत्व नहीं आता, वे ज्ञानयोग और कर्मयोग की व्यवस्था भला कैसे जानें?।।२६।। वे अपने स्वाभाविक अज्ञान के कारण इन दोनों को भिन्न कहते हैं। वास्तविक दृष्टि से क्या भिन्न-भिन्न दीपकों के प्रकाश में कोई अंतर होता है?।।२७।। जो लोग स्वानुभव से इस आत्मरूप तत्त्व को अच्छी तरह जानते हैं वे संन्यास और योग में भेद नहीं मानते।।२८।।

सांख्य मार्ग से चलने वाले साधकों को जो (मोक्षरूप) स्थान प्राप्त होता है, वही (निष्काम) कर्मयोग का अनुष्ठान करनेवालों को प्राप्त होता है। सांख्य योग और कर्मयोग एक ही है ऐसा जाननेवाला सच्चा ज्ञाता है।।५।।

सांख्यमार्ग से जो प्राप्त होता है वही योगसाधन से प्राप्त होता है, इसीलिये वे दो एक रूप ही है।।२९।। जिस प्रकार आकाश और अवकाश (खाली स्थान) में बिलकुल भेद नहीं है उसी प्रकार योग और संन्यास की एकता को जो जानता है।।३०।। वही इस जग में ज्ञानी है, उसी को आत्मस्वरूप का दर्शन हुआ है जिसने सांख्य और योग को अभिन्न जाना है।।३१।।

हे अर्जुन जो व्यक्ति कर्मयोग के मार्ग से मोक्ष रूपी पर्वत पर चढ़ता है वह शीघ्र ही आत्मानंद के शिखर पर पहुंचता है।।३२।।

संन्यास्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तो मुनिर्ब्रम्ह नचिरेणाधिगच्छति ।। ६ ।।

जो योगास्थित न आचरत। ज्ञान प्राप्ति की कामना करत। वे कभी न पावत। ज्ञानयोग ।। ३३ ।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। ७ ।।

जिसने मन किया भ्रांतिमुक्त। गुरु वाक्य से चित्त पवित्र। पश्चात आत्मस्वरूप में समर्पित। लीन जो ।। ३४ ।। जैसे समुद्र में लवण। घुलने से पहले भिन्न। जब विलीन सिन्धु समान। स्वयं होत ।। ३५ ।। वैसे संकल्पहीन पूर्ण। मन ही होत चैतन्य अर्जुन। दिखत एक देशीय किन्तु जान। त्रिलोक व्यापी ।। ३६ ।। यह कर्म मैं कर्ता। न जिसके बुद्धि में सर्वथा। वह कर्म करते हुए अकर्ता। जग में जानो ।। ३७ ।।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत् तत्त्ववित्। पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।। ८ ।।
प्रलपनन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।। ९ ।।

जिसको नही देहभाव। नष्ट पूर्ण अहंभाव। उसको कैसा कर्तृत्व भाव। बचत शेष? ।। ३८ ।। ऐसे तनु त्यागबिन। अमूर्त के सब गुण। दिखत उसमें संपूर्ण। योगयुक्त में ।। ३९ ।। वह अन्य समान। शरीरी होत अर्जुन। अखिल व्यापार में पूर्ण। रत सदा ।। ४० ।। वह भी नेत्र से देखत। कर्ण से सब सुनत। किंतु न कभी लिप्त। नवल देखो ।। ४१ ।। वस्तु स्पर्श जानत। घ्राण से परिमल सेवत। अवसरोचित बोलत। वह नर ।। ४२ ।। करे आहार का स्वीकार। त्याजका योग्य परिहार। प्राप्त निद्रा का अवसर। सुख से सोवे ।। ४३ ।। अपनी इच्छावश। करत कर्म अशेष। श्वासोच्छवास निमिषोनिमिष। आदि क्रिया ।। ४४/४५ ।। उसमें दिखत पार्थ। सब यह समाविष्ट। किंतु वह न कर्ता सार्थ। प्रतीतिबल से ।। ४६ ।। जब भ्रांतिशय्या पर निद्रित। स्वप्न सुख में भ्रमित। ज्ञानोदय से हुआ जागृत। तब वह नर ।। ४७ ।।

ब्रह्मण्याधाय कर्मांणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते नस पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। १० ।।

अब अधिष्ठान संगतसे। अशेष इंद्रिय वृत्ति से। अपने-अपने विषय से। वर्तत जगमें ।। ४८ ।। दीपक के प्रकाश से। गृह के व्यापार जैसे। देहीको कर्मजात तैसे योग युक्त को ।। ४९ ।। वह कर्म सकल करत। किंतु कर्म फल से नाबद्ध होत। जैसे जल में न जल से लिंपत। पद्म पत्र ।। ५० ।।

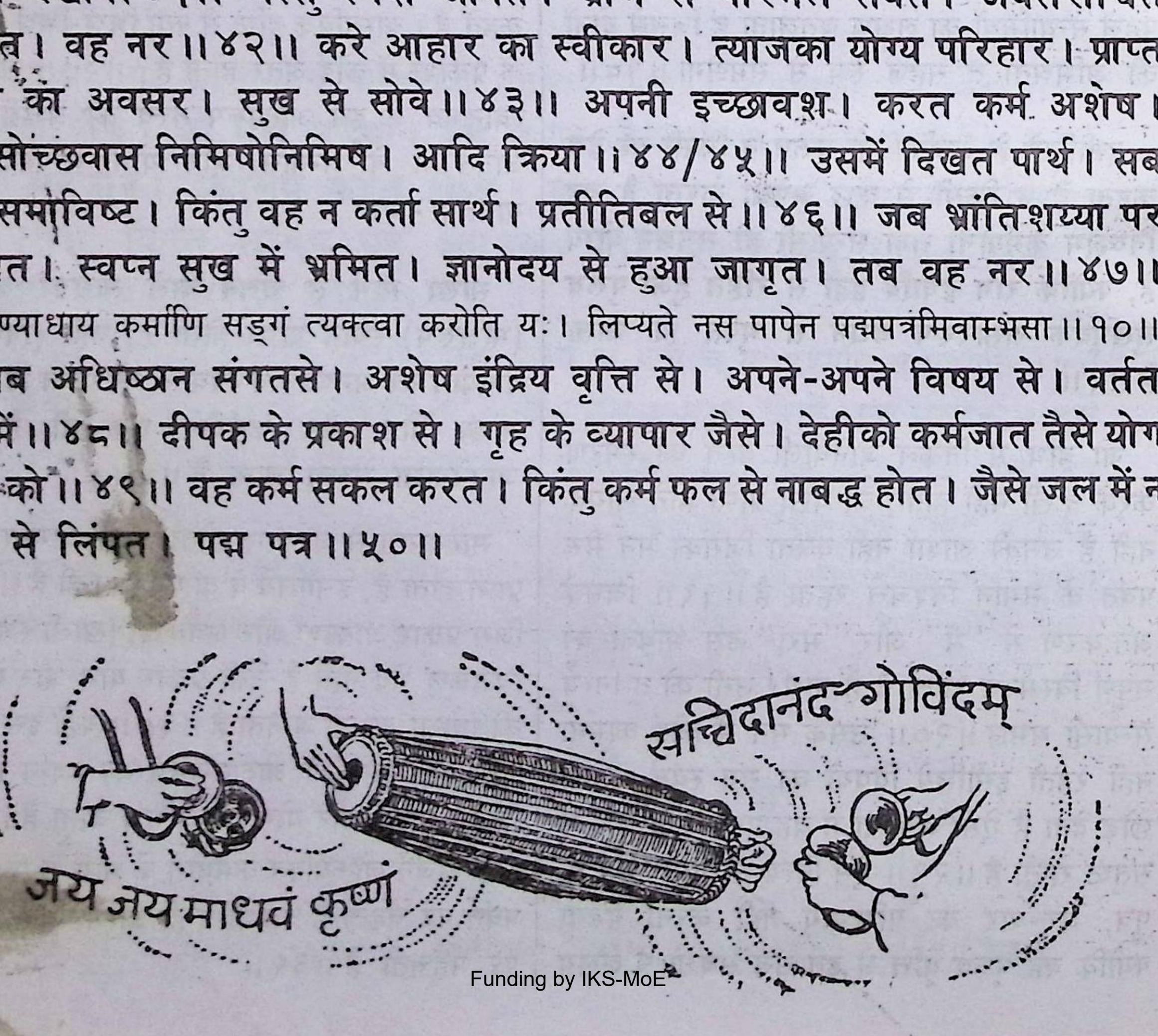

हे महाबाहो! कर्म योग बिन कर्म संन्यास की प्राप्ति होना दुष्कर है। कर्मयोग युक्त मुनी को ब्रह्म की प्राप्ति शीघ्र होती है॥६॥

जो योगसाधना नहीं करते और ज्ञान प्राप्ति की इच्छा करते हैं उनको सच्चे ज्ञानयोग की प्राप्ति कभी नहीं होती॥३३॥

निष्काम कर्म योग में रत, शुद्ध चित्त, जितेंद्रिय जिन देह और सर्व भूतों में स्थित आत्मा, उससे एक रूप हुआ पुरुष कर्म करते हुए भी कर्म में अलिप्त रहता है॥७॥

जो पुरुष अपने मन को माया मोह से बिलकुल हटा लेता है, और गुरु के उपदेश से अपने मन का सारा मैल धोकर उसे पवित्र कर लेता है, और उसके उपरांत उसे आत्मस्वरूप में विलीन कर देता है॥३४॥ जिस प्रकार लवण जब तक समुद्र में नहीं पड़ता तब तक घुलने से पहले वह समुद्र से आकार की दृष्टि से बहुत तुच्छ दिखाई पड़ता है, पर जब वही नमक समुद्र में मिलकर एक-जीव होता है तब वह समुद्र के समान विस्तृत और विशाल बन जाता है॥३५॥ उसी प्रकार जिसका मन पूर्णतः संकल्प विकल्पों से हीन होकर चैतन्य में विलीन हो जाता है, हे अर्जुन वह देखने में तो एक देश में स्थित जान पड़ता है किन्तु अपने आत्मरूप से अपने को तीनों भुवनों में व्याप्त कर लेता है॥३६॥ जिसकी बुद्धि में कर्म, कर्ता आदि बातों का लेश भी नहीं रहता वह पुरुष चाहे सब प्रकार के कर्म करते हुए भी सदा 'अकर्ता' रहता है॥३७॥

तत्त्व को जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, तथा आंखों को खोलता और मींचता हुआ भी, सब इंद्रियां अपने-अपने अर्थो में बर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ निःसंदेह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूं॥८/९॥

इस प्रकार जिसे देहभाव का स्मरण नहीं रहता तथा जिसका संपूर्ण अहंकार नष्ट हो जाता है तब उसमें भला कर्तृत्वभाव किस प्रकार रह सकता है?॥३८॥ इस तरह कर्मयोगी यदि देह का त्याग न भी करे, तो भी उसमें निर्गुण और निराकार परब्रह्म के लक्षण संपूर्णतः दिखाई पड़ते हैं॥३९॥ यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाये तो वह भी दूसरे साधारण मनुष्यों के समान शरीर धारण करते हुये सब प्रकार के कर्म करता हुआ दिखाई पड़ता है॥४०॥ दूसरे लोगों की भांति वह भी आंखों से देखता है और कानों से सब कुछ सुनता है किन्तु उसके विषय में यह विलक्षण बात है कि वह इन सब बातों में फंसता नहीं॥४१॥ उसको वस्तुओं के स्पर्श का ज्ञान रहता है, वह नाक से बास या गन्ध का सेवन करता है, वह प्रसंग के अनुसार भाषण भी करता है॥४२॥ वह अन्न का सेवन करता है, निषिद्ध वस्तुओं का परित्याग भी करता है और जब सोने का समय आता है तब वह सोता भी है॥४३॥ अपनी इच्छा के अनुसार सब कर्मों का आचरण वह पुरुष करता रहता है वह श्वास-प्रश्वास और पलकों को उठाने और झपकाने आदि सब क्रियाएं भी करता है॥४४/४५॥ उस कर्मयोगी में यह सब क्रियायें होती हुई, दिखाई पड़ती हैं परंतु फिर भी वह स्वानुभव के बल से 'अकर्ता' ही बना रहता है॥४६॥ क्योंकि अब तक माया की सेज पर सोया हुआ था और स्वप्न के झूठे सुख से मोहित था लेकिन अब वह ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो जाने के कारण जागकर होश में आ गया है॥४७॥

जो पुरुष सब कर्मो को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है वह जल से कमल के पत्र के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता॥१०॥

देह की संगत से इंद्रियां अपने-अपने विषय में इस जगत में विचरण करती हैं॥४८॥ जिस प्रकार दीपक के उजाले में घर के सब काम काज होते रहते हैं उसी प्रकार कर्मयोगी के सब शारीरिक व्यापार होते रहते हैं॥४९॥ कर्मयोगी वैसे ही सब कर्मों का आचरण करता है किंतु जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल के पत्ते उस जल से नहीं भींगते उसी प्रकार कर्म करते रहने पर भी कर्मयोगी उन कर्मों के संसर्ग से दूर रहता है॥५०॥

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सड्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

जहां न बुद्धि का गुणाधार। ऐसे मन को न उपजत अंकुर। ऐसा जो होवे व्यापार। कहिये शारीर।।५१।। बालक की चेष्टा जैसी। योगीजन की क्रिया तैसी। सुनो स्पष्ट गुडाकेशी। केवला तनु।।५२।। वैसे पंचभौतिक सृष्ट। शरीर जन यह निद्रित। यहां मन ही एक संचरत। स्वप्न में जैसे।।५३।। नवल सुनो धनुर्धर। कैसा यह वासना संसार। देह को सुख दुःख भोग व्यापार। अनजाने देत।।५४।। इंद्रियों को न जिसका ज्ञान। ऐसा व्यापार जो अर्जुन। वह केवल तू जान। मानस व्यापार।।५५।। योगीजन वह करत। परंतु कर्मसे न बद्ध होत। जो वे त्यागत संगत। अहंभाव की।।५६।। अब यदि भ्रम से हत। जैसे पिशाच का चित्त। इंद्रियों की चेष्टा दिखत। अव्यवस्थित।।५७।। सामने रूप वह देखत। कोई पुकारे वह सुनत। स्वतः प्रत्युत्तर देत्। किंतु जानेना।।५८।। निष्कारण जो क्रियमाण। इंद्रियों का कर्म फल जान। जान के किया जो कर्म-अर्जुन।। वह बुद्धि पुरस्सर।।५९/६०।। वे बुद्धि को धुरा कर। कर्म करत चित्त देकर। परंतु नैष्कर्मभाव पाकर। मुक्त होत।।६१।। बुद्धि से देहपर्यंत। अहंभाव का न स्मरण किंचित। इसलिये यदि कर्मरत। शुद्ध रूपसे।।६२।। सुनो अकर्ताभाव से कर्म। वही जानो नैष्कर्म्य। यह जानिजे सुवर्म। गुरुगम्य जो।।६३।। जब शांतरस का पूर। छलकत पात्र से बाहर। जो शब्दातीत अक्षर। वर्णित मैंने।।६४।। यह तत्व श्रवणका अधिकार। उसको ही प्राप्त साचार। जिसने इंद्रियजय समग्र। किया साध्य।।६५।। अब रहने दो विषयांतर। न छेड़ो कथा संगत सार। होगी श्लोक संगति भंगसमग्र। इसलिये।।६६।। जो मन को अगम्य। बुद्धि को अप्राप्य। कहा तत्व अनाकलनीय। दैवानुकूलता से।।६७।। जो स्वभावतः शब्दातीत। यदि विशद किया स्पष्ट। और क्या बचत शेष। अब कहो कथा।।६८।। श्रोताओं की विशेष आर्ति। जानकर दास निवृत्ति। कहे मनन के साथ सप्रीति। सुनो संवाद।।६९।। तब पार्थ को कहे श्रीकृष्ण। प्राप्त के चिन्ह संपूर्ण। तुझको कहूं करो श्रवण। चित्त देकर।।७०।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

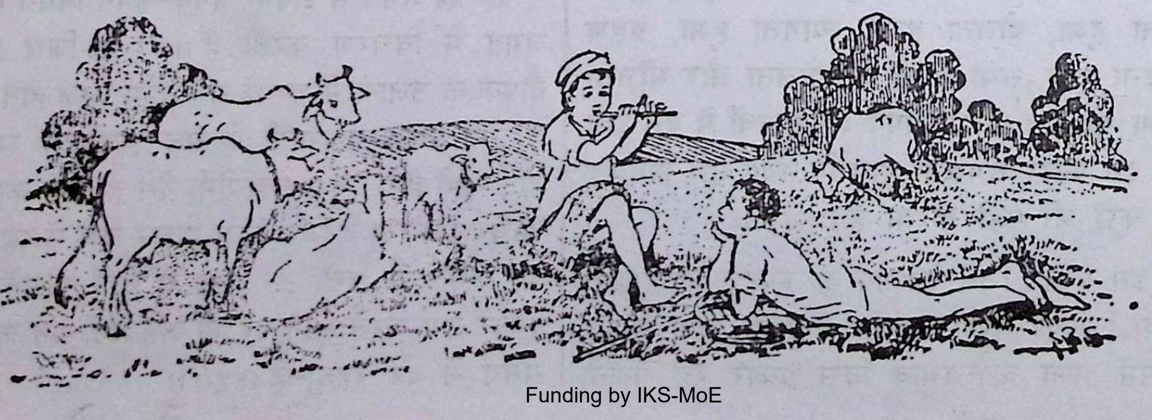

Funding by IKS-MoE

इसलिये निष्काम कर्मयोगी ममत्वबुद्धि रहित केवल इंद्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।।११।।

जिन कर्मों के करने में बुद्धि का कोई संबंध नहीं होता और मन में कोई विचार अंकुरित होने के पहले होता है ऐसा जो व्यवहार उसको शारीरिक या 'कायिक' व्यवहार कहते हैं।।५१।। इसी को और स्पष्ट रूप से यदि जानना है तो सुनो! जिस प्रकार अबोध बालक की क्रियायें होती हैं उसी प्रकार योगी पुरुष केवल शरीर से ही कर्म करते रहते हैं।।५२।। यह पंच भूतों से बना हुआ जड़ शरीर जब योग निद्रा के वश में हो जाता है तब मन उसी प्रकार अकेला अपने सब व्यवहार करता रहता है जिस प्रकार वह स्वप्न की अवस्था में करता है।।५३।। हे अर्जुन! एक विलक्षण आश्चर्य सुनो! कैसे यह वासना अजब ढंग से अपना जाल बिछाती है कि वह शरीर को बिलकुल पता भी नहीं लगने देती किंतु उसे सुख-दुःख के भोग में फंसा देती है।।५४।। जिन व्यापारों की इंद्रियों को गंध भी नहीं मिलती उन व्यापारों को 'मानस व्यापार' कहते हैं।।५५।। योगी लोग इन मानस कर्मों का आचरण तो करते हैं, किन्तु उनके मन में अहंभाव का स्पर्श भी नहीं होता, इसीलिये वे कर्म उनके लिये बन्धक नहीं होते।।५६।। अब यदि किसी समय कोई मनुष्य पिशाच्च के चित्त के समान भ्रमिष्ट होता है, तो उस समय उसकी इंद्रियों की क्रियायें कुछ अव्यवस्थित एवं कुछ अटपटी सी जान पड़ती हैं।।५७।। उसे सामने की सब वस्तुएं, मनुष्यों के रूप, उनका आकार दिखाई देता है। यदि कोई उसको पुकारता है तो उसकी पुकार वह सुनता है, स्वयं उसका उत्तर भी देता है, किन्तु देखने से यही जान पड़ता है कि वह कुछ भी नहीं जानता।।५८।। जो कर्म सब कारणों के अभाव में और अपने आप होते हैं उसको इंद्रिय कर्म कहते हैं। और जो कर्म जान बूझकर किया जाता है, हे अर्जुन उसे वास्तव में बुद्धि के कर्म कहते हैं।।५९/६०।। श्रीकृष्ण आगे यह भी कहते हैं कि जो लोग बुद्धि का उपयोग करके मन लगाकर सब कर्म तो करते हैं परन्तु अपनी नैष्कर्मवृत्ति के फलस्वरूप वे मुक्त ही रहते हैं।।६१।। बुद्धि से लेकर शरीर तक के संबंध में उनके चित्त में अहंभाव का लेश मात्र स्मरण नहीं रहता, कोई विचार नहीं रहता और इसीलिये वे लोग सब कर्म करते रहने पर भी शुद्ध ही रहते हैं।।६२।। कर्तृत्व की अहंभावना के सब कर्म करना, इसी को निष्काम कर्म कहते हैं और यह रहस्य ज्ञान हे उत्तम कवच धारण करनेवाले अर्जुन, सद्‌गुरु से ही प्राप्त होता है।।६३।। जब ऐसी स्थिति प्राप्त होती है तब शान्त रस की नदी में ऐसी बाढ़ आती है कि वह अपने पात्र में पूरी तरह भर जाने के कारण पात्र से बाहर चारों ओर फैलने लगती है। हे अर्जुन! अभी मैंने तुमको वह तत्त्व बतलाया है जिसका वर्णन वाचा के द्वारा हो ही नहीं सकता।।६४।। हे श्रोतागण! जिन्होंने अपनी इंद्रियों के ऊपर पूर्णतः विजय प्राप्त कर ली है वे ही इस तत्त्वज्ञान सुनने के सच्चे अधिकारी होते हैं।।६५।। तब श्रोतागण ज्ञानदेवजी से व्याख्यान का यह विस्तार सुनकर कहने लगे- "यह इधर-उधर की बातें बहुत हो चुकीं यदि कथा का सूत्र इस प्रकार छोड़ दिया जायेगा तो श्लोकों की संगति टूट जायेगी।।६६।। जिस तत्त्व का आकलन मन के लिये अशक्य है और जिसका पता लगाने में बुद्धि को भी सफलता नहीं होती ऐसे गहन तत्त्व को इस समय हमारे सौभाग्य से तुमने शब्दों के द्वारा वर्णन करके बतला दिया है।।६७।। जो तत्त्वज्ञान शब्दों से परे है, वही जब तुमने वाणी के द्वारा वर्णन करके बतला दिया, तब फिर और बाकी ही क्या रह गया? अतः अब इन बातों का अंत करके मूल कथा को आगे चलाओ।।६८।। कथा सुनने के संबंध में श्रोताओं की प्रबल इच्छा देखकर श्री निवृत्तिनाथजी के दास श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि हे श्रोताओं! अब सावधान चित्त होकर श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद प्रीतिपूर्वक सुनो।।६९।। मूल कथा भाग आगे बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण पार्थ को कहते हैं, अब मैं ऐसे योगी पुरुष के संपूर्ण लक्षण बतलाता हूं जो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। दत्त चित्त होकर सुनो।।७०।।

इसी से निष्काम कर्मयोगी कर्मों के फलों को त्यागकर भगवत्प्राप्तिरूप शांति को प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फल में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बंधता है।।१२।।

Funding by IKS-MoE

जो आत्मयोग से तृप्त। कर्मफलाशा से मुक्त। गृह प्रवेश कर वरत। शांति स्वयं।।७१।। अन्य कर्मबंध से जान। अभिलाषा बद्ध अर्जुन। फल भोग खूंटे से पूर्ण। जखडत स्वयम्।।७२।।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

जैसा फलाशासंग। कर्म करत यथासांग। अकर्ता भाव से कर्मत्याग। वह पुरुष श्रेष्ठ।।७३।। जहां जहां दृष्टि फेरत। वहां होत सुख की वृष्टि। जहां कहत वहां वस्ति। महाबोध की।।७४।। नवद्वार देह में वसत। किंतु नही सम भासत। करके क्रिया अकर्ता होत। फलत्यागी जान।।७५।।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

जैसा वह सर्वेश्वर। स्वभावतः निर्व्यापार। किंतु रचत विस्तार। त्रिभुवन का।।७६।। वह कर्ता भासत। परंतु कर्म से अलिप्त। वह न कदापि स्पर्शत। उदास वृत्ति से।।७७।। योगनिद्रा न भंगत। अकर्ता भाव न लुप्त। महाभूत समुदाय सृजत। भलीभांति!।।७८।। वसत सब प्राणिमात्र में। किंतु न कदा किसी में। जगसृष्टि लय में। ध्यान न देत।।७९।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

पाप पुण्य पूर्ण। समीप किंतु न देखे अर्जुन। नहीं साक्षीभूत जान। और क्या बात?।।८०।। किंतु जब लेत अवतार। मूर्त करत देहाचार। परंतु न नष्ट साचार। अमूर्तभाव प्रभुका।।८१।। सृष्टि पोषण संहार। वह करत बोले चराचर। यह तो अज्ञान घोर। पंडुकुंवर!।।८२।।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

जब अज्ञान समूल नष्ट। तब भ्रांति कालिख नाशत। अकर्तृत्व प्रकटत। मुझ ईश्वर का।।८३।। यहां ईश्वर एक अकर्ता। यदि ऐसे मानत पार्था। वही मैं स्वभावतः। आदि सिद्ध।।८४।। ऐसा विवेक प्रकाश मन में। क्या भेद उसको। त्रिभुवन में?। जानत स्वानुभव से जग में। सब मुक्त।।८५।। जैसे पूर्व दिशा में गभस्ति। प्रकटत जहां प्रकाश दीप्ति। अन्य दिशाओं में समव्याप्ति। नाशत तम।।८६।।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

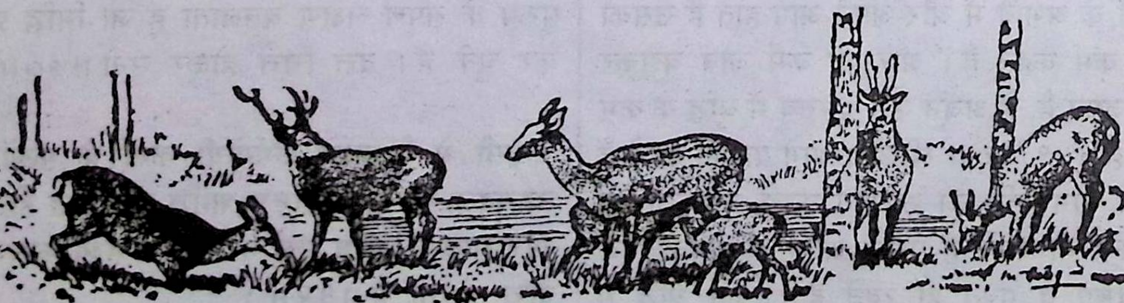

Funding by IKS-MoE

जो इस आत्मयोग को प्राप्त कर संतुष्ट है और कर्मों की फलाशा को छोड़ देता है उसके घर में शांति स्वयं प्रवेश करके उसे जयमाल पहनाती है।।७१।। और हे अर्जुन! जो लोग योगहीन होते हैं वें लोग कर्म की डोरी और वासना की गांठ से फलभोग के खूंटे के साथ स्वयं को कसकर बांध लेते हैं।।७२।।

हे अर्जुन! जिसका अंतःकरण स्वयं के वश में है ऐसा सांख्ययोग का आचरण करनेवाला पुरुष इस नौ छिद्रोंवाले शरीररूप घर में सब कर्मों का मन से त्याग करते हुए आनंदपूर्वक न कुछ करता हुआ और न कुछ करवाता हुआ सच्चिदानंदघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है।।१३।।

जिस प्रकार और लोग फल की आशा से कर्मों का आचरण यथाविधि करते हैं उसी प्रकार योगी लोग भी कर्म का आचरण करते हैं किन्तु वे लोग स्वयं को उस कर्म का कर्ता नहीं समझते वे पुरुषों में श्रेष्ठ माने गये हैं।।७३।। फिर ऐसा पुरुष जिस ओर देखता है उस ओर सुख की वर्षा होने लगती है। वह जहां कहता है वहीं महाबोध का निवास होता है।।७४।। वह इस नौ द्वार शरीर में रहता है किन्तु देहभाव विहीन अवस्था में। वह फलाशा का त्याग करनेवाला, कर्म करते हुए भी अकर्ता ही बना रहता है।।७५।।

परमेश्वर भी भूतप्राणियों के न कर्तापन को और न कर्मों को तथा न कर्मों के फल के संयोग को वास्तव में रचता है किंतु परमात्मा के सकाश से प्रकृति ही बरतती है।।।१४।।

यदि जगत के आदिबीज सर्वेश्वर का विचार किया जाय तो वह वस्तुतः क्रिया शून्य ही है किन्तुवही तीनों लोक के विस्तार की रचना करता है।।७६।। यदि हम उसे कर्ता मानें तो वह किसी भी कर्म से लिप्त नहीं। उसकी उदासीन वृत्ति होने से उससे कर्म का स्पर्श भी नहीं होता।।७७।। न तो कभी उसकी योगनिद्रा याने सहज स्थिति भंग होती है और न उसके अकर्तृत्व में कभी अंतर पड़ता है फिर भी वह पंचमहाभूतों से बना संसार अच्छी तरह रचता है।।७८।। वह जगत के सब चराचर में व्याप्त है परंतु किसी के लिये आसक्त नहीं है यह संसार बनता और नष्ट होता है किन्तु वह इसकी तरफ ध्यान भी नहीं देता।।७९।।

सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभकर्म को ग्रहण करता है। परंतु माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है इसी से सब जीव मोहित हो रहे हैं।।१५।।

हे अर्जुन! पाप और पुण्य दोनों पाश उसको घेरे रहते हैं किंतु यह उसको आंखे उठाकर देखता भी नहीं। उनको तटस्थ वृत्ति से देखनेवाला साक्षी भी यह नहीं होता, फिर और क्या कहना?।।८०।। यह देह की संगत से देही बनकर अवतार लीला तो करता है किंतु उस आचिंत्य ईश्वर की अमूर्तता कभी नष्ट नहीं होती।।८१।। जो लोग कहते हैं कि वह विश्व का निर्माण, देखभाल अंत में संहार करता है तों हे पंडुकुमार! वह तो केवल उनका अज्ञान ही कहना चाहिये।।८२।।

परंतु जिनका वह अंतःकरण का अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस परमतत्त्व परमात्मा को प्रकाशता है अर्थात साक्षात कराता है।।१६।।

जिस समय यह अज्ञान पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है उस समय भ्रम की कालिमा भी न रह जायेगी और तब मनुष्यों को यह अनुभव होने लगेगा कि मैं ही ईश्वर अकर्ता हूं।।८३।। यदि यह ईश्वर के अकर्तृत्व का भाव मन में बैठ जाये तो यह तत्व पूर्णरूप से सिद्ध हो जायेगा कि मूल से ही स्वभावतः ईश्वर और मैं एक हूं।।८४।। जब एक बार चित्त पर इस प्रकार के ज्ञान का प्रकाश पड़ता है, तब इस त्रिभुवन में क्या कोई भेदभाव उसके लिये रह जायेगा? ऐसी अवस्था में वह स्वानुभव से समूचे जगत को मुक्त स्थिति में ही देखता है।।८५।। जैसे एक बार पूर्व दिशा में जहां सूर्य उदित होता है वहां अन्य दिशाओं का अंधःकार नष्ट होकर वे दिशाएं की समरूप से प्रकाशमान होती हैं।।८६।।

हे अर्जुन! जिनकी बुद्धि तद्रूप है, जिनका मन तद्रूप है तथा जिनकी सच्चिदानंदघन परमात्मा में निरंतर एकीभाव से स्थिति है ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर जनम-मरण के फेरे से मुक्त परमगति को प्राप्त होते हैं।।१७।।

Funding by IKS-MoE

बुद्धि निश्चय से आत्मज्ञान। ब्रह्मरूप स्वयं जाने अर्जुन। ब्रह्मनिष्ठा राखत पूर्ण। तत्परायण अहर्निश।।८७।। ऐसे व्यापक सम्यक् ज्ञान। हृदय में प्रविष्ट अर्जुन। उनकी समता दृष्टि पूर्ण। निरंतर।।८८।। अपने समान जैसा। सब विश्व देखे तैसा। इसमें नवल कैसा? स्वभावतः।।८९।। भाग्य कौतुक से भी अर्जुन। कभी न देखत दैन्य। भ्रांति का परिचय जान। विवेक को कभी?।।९०।। तम का स्वरूप अर्जुन। सूर्य न देखत उसका स्वप्न। अमृत को न कभी श्रवण। मृत्यु कथा।।९१।। या उष्मा ताप कैसा?। चंद्र न जानत जैसा। भूत में भेद न माने तैसा। ज्ञानी पुरुष।।९२।।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राम्हणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

तब वह मशक यह गज। या यह श्वपज यह द्विज। वह अपर यह आत्मज। भेद कैसा?।।९३।। अथवा यह धेनु वह श्वान। एक गुरु एक हीन। यह द्वैतभाव का स्वप्न। जागृत को कैसा?।।९४।। यह भेद न शेष। जब अहंभाव नष्ट निःशेष। समूल पावत नाश। विषमत्व वहां।।९५।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रम्ह तस्माद् ब्रम्हणि ते स्थिताः।।१९।।

अतः सर्वत्र सदा सम। जो स्वयं अद्वय ब्रम्ह। यह संपूर्ण जानो मर्म। समदृष्टी का।।९६।। जो विषयसंग न त्यजत। इंद्रियों को न दण्डत। किंतु निःसंगता भोगत। कामक्रा बिन।।९७।। लोकाधार से वर्तत। लौकिक व्यापार करत। किंतु अज्ञान त्यजत। लौकिक जो।।९८।। जैसा जनमध्ये खेचर। विचरत किंतु न गोचर। वैसा शरीरी परंतु संसार। न जानत उसको।।९९।। जैसे पाकर पवन का मेल। जल में उछलत जल। जन कहत उसको कल्लोल। देखत भिन्न।।१००।। वैसे नाम रूप से भिन्न। किन्तु वह ब्रह्मसत्य जान। साम्यत्व पावे जिसका मन। सर्वत्र जग में।।१।। ऐसा समदृष्टि जो अर्जुन। वह पुरुषका लक्षण। संक्षेप से तुझको करूं कथन। कहे अच्युत।।२।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

जैसे मृगजल का पूर। न बहा सकत गिरिवर। वैसे शुभाशुभ से विकार। न पावे वह।।३।। वह एक सत्य। समदृष्टि तत्त्वतः। हरि कहे पंडुसुत!। स्वयं ब्रह्म वह।।४।।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

आत्मरूप में स्थित अर्जुन। न कभी इंद्रिय ग्रामाधीन। वह न करत विषय सेवन।

Funding by IKS-MoE

बुद्धि जब स्थिर हो जाती है तब आत्मज्ञान होता है और मन में यह बात जम जाती है कि हम ब्रह्मरूप हैं। तब मन ब्रह्मतत्त्व में स्थिर होकर रातदिन तत्परायण रहता है।।८७।। इस प्रकार सर्वव्यापी ज्ञान जिसके हृदय में प्रविष्ट हुआ है, उसी को समदृष्टि कहते हैं! उनके दृष्टि में यह समभाव निरंतर रहता है।।८८।। वह स्वयं अपने जैसा संपूर्ण विश्व को सहज आत्मरूप समझता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है? ।।८९।। भाग्य में कभी भूल से भी, विनोद में भी दीनता नहीं दिखाई देती। अथवा विवेक में कभी भ्रम का नाम भी नहीं दिखाई पड़ता।।९०।। जिस प्रकार हे अर्जुन! सूर्य कभी स्वप्न में भी अंधकार का रूप नहीं देखता, अथवा अमृत कभी मृत्यु का नाम भी नहीं सुनता।।९१।। अथवा उष्णता या ताप कैसा होता है वह चंद्रमा नहीं जानता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भूतमात्र के विषय में कोई भेदभाव नहीं मानता।।९२।।

ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समभाव से ही देखनेवाले होते हैं।।१८।।

फिर यह मच्छर है, यह हाथी है, यह चाण्डाल है, यह द्विज ब्राह्मण है, यह पराया, यह मेरा है आदि इस प्रकार के भेद-भाव कहां रह जाते हैं? ।।९३।। इस स्थिति में समरूप कल्पनाओं का अन्त हो जाता है, कि यह गौ है, यह कुत्ता है, यह श्रेष्ठ है, यह नीच है, कारण यह कि जो जाग रहा है उसको इस तरह के द्वैत भाव का स्वप्न कहां से दिखाई देगा? ।।९४।। जब अहंभाव बिलकुल निःशेष हो जाता है, तब विषमता का भाव जड़ से नष्ट हो जाता है।।९५।।

इसीलिये जिनका मन समन्व भाव में स्थिर है उनके द्वारा इसी जीवित अवस्था में ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया (अर्थात वे जीते हुये ही संसार से मुक्त हैं); क्योंकि सच्चिदानंदघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे उसी ब्रह्म में स्थित हैं।।१९।।

इसीलिये तुम यह जान लो कि समदर्शिता का रहस्य यह है कि मनुष्य यह समझ ले कि सब स्थान में एवं सब जीवों में निरंतर सम भाव से रहनेवाला जो एकमेव द्वितीय ब्रह्म है वह स्वयं मैं ही हूं।।९६।। जो विषयों की संगति नहीं छोड़ता, और इंद्रियों को नियंत्रित नहीं करता परंतु कामना रहित होकर निःसंग स्थिति का अनुभव करता है।।९७।। जो साधारण लोगों की तरह सब प्रकार से व्यवहार करता है किन्तु लौकिक वस्तुओं का अज्ञानमूलक मोह छोड़ देता है।।९८।। जिस प्रकार किसी को पछाड़नेवाला पिशाच्च क्रिया करते हुये भी किसी को नजर से नहीं दिखता वैसा ही यह योगी शरीरधारी होते हुये भी संसार उसको नहीं जान पाता।।९९।। जिस प्रकार वायु का साथ पाकर उठनेवाली तरंगों को लोग जल से भिन्न समझते और उसे 'तरंग' कहते हैं।।१००।। उसी प्रकार जो नाम और रूप से अलग किंतु जिसका मन सर्वत्र समभाव से विचरण करता है वह पुरुष स्वयं साक्षात ब्रह्म ही होता है।।१।। हे अर्जुन! इस प्रकार जो समदृष्टि हो जाता है उस पुरुष का लक्षण मैं तुझे संक्षेप में बतलाता हूं, ऐसा श्री अच्युत कहते हैं।।२।।

जो पुरुष प्रिय अर्थात जिसको लोग प्रिय समझते हैं, उसको पाकर हर्षित नहीं होता और वैसे ही अप्रिय प्राप्त करके उद्वेग नहीं करता ऐसा स्थिर बुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता, पुरुष सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से निरंतर स्थित है।।२०।।

जिस प्रकार मृगजल के बाढ़ से पर्वतराज नहीं बहता उसी प्रकार शुभ या अशुभ प्राप्त होने पर योगी का मन विचलित नहीं होता।।३।। जो पुरुष इस प्रकार का हो उसी को यथार्थ में पूर्णतः समदर्शी मानना चाहिये। श्रीहरी अर्जुन को कहते हैं कि वही प्रत्यक्ष ब्रह्म है।।४।।

बाहर के विषयों में अर्थात सांसारिक भोगों में आसक्ति रहित अंतःकरण वाला पुरुष अंतःकरण में भगवत् ध्यान जनित आनंद है, उसको प्राप्त होता है और वह पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मारूप योग में एकीभाव से स्थित हुआ अक्षय आनंद का अनुभव करता है।।२१।।

जो पुरुष कभी आत्मरूप को छोड़कर इंद्रियों के वश नहीं होता, यदि वह विषय सेवन न करे तो

Funding by IKS-MoE

इसमें नवल कैसा?।।५।। सहज स्वसुख से अपार संतुष्ट जिसका अंतर। न भटकत बाहर। चित्त उसका।।६।। कुमुद दल उपरि अर्जुन। जो चकोर सेवत चंद्रकिरण। वह मरुस्थल में सिकता कण। चुम्बत कैसे?।।७।। जिसको स्वस्थान में सहज। प्राप्त आत्मसुख निज। विषय संपूर्ण दिया त्यज। शंका न कोई।।८।। वैसे यदि कौतुक से। करे विचार मनसे। कौन भ्रमत विषय सुख से। इहलोक में?।।९।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

जिनको न प्राप्त आत्मसुख। उनको रोचत विषय सुख। जैसा भक्षत भूखा तुख। रंक नर।।११०।। अथवा मृग तृषा पीड़ित। भ्रम से जल को भूलत। तोय बुद्धि धावत। मरुस्थल में।।११।। वैसे जिनको न आत्मज्ञान। सदा स्वसुख-विहीन। उसको ही विषय सेवन। प्रीतिकर।।१२।। और विषय से सुख प्राप्त। यह बात न कदा सत्य। क्या विद्युत्स्फुरण से कभी पड़त। प्रकाश जग में?।।१३।। वात वृष्टि धूप निवारण। यदि अभ्रच्छाया से होत अर्जुन। तब त्रिमालिका गृह जान। बनाना किसलिये?।।१४।। यह विषय सुख सेवन। केवल असत्य अर्जुन। जैसे विषकंद का 'मधुर' नाम। प्रचलित एक।।१५।। अथवा भौम का नाम मंगल। किंवा रोहिणी को कहत जल। तैसा सुख प्रवाद केवल। विषय ये।।१६।। यह सब बोली वैसी। सर्पफन की छाया जैसी। वह होगी शीतल कैसी। मूषक को कभी?।।१७।। जैसे अमिषकवल अर्जुन। भला जब तक न सेवत मीन। वैसा यह विषयसंग पूर्ण। निभ्रांत जान।।१८।। अतः विरक्त की दृष्टि। जब देखे किरीटी। तब पांडुरोग की पुष्टि। सम भासमान।।१९।। विषय भोग से जो सुख। वह साद्यंत जानो दुःख। किंतु क्या कीजे मूर्ख। सेवतजात।।१२०।। वे न जानत मर्म। अगत्य करत विषय सेवन। क्या पूयपंक के कीट अर्जुन। घृणा करत?।।२१।। ऐसे दुखियों को दुःख प्रीतिकर। वे विषय कर्दम के दर्दुर। भोग जल के जलचर। कैसे त्यजत?।।२२।। विषय के प्रति जीवमात्र। यदि होत विरक्त सर्वत्र। तब व्यर्थ होत समस्त। पापयोनियां।।२३।। अथवा गर्भवासादि संकट। या जन्ममरणादि कष्ट। अविश्रांत इनका पथ। चलेगा कौन?।।२४।। विषयासक्त त्यजत विषय। तब महादोष को कौन ठाय?। संसार शब्द वृथा होय। इस जगत में।।२५।। अतः विषय भोग से जो दुख। मानत वे उसको सुख। अज्ञान की बात यथार्थ। प्रतिपादत जग में।।२६।। इस कारण हे सुभट!। ये

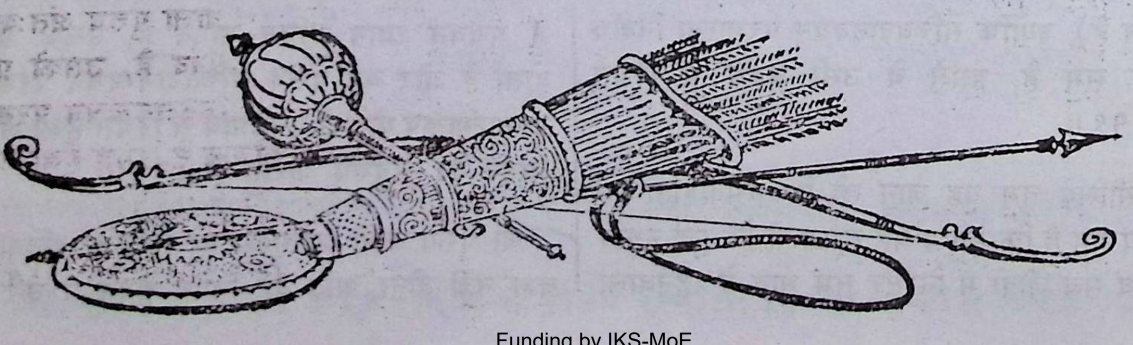

उसमें आश्चर्य कैसा?॥५॥ स्वाभाविक और असीम आत्मानंद से उसका अंतरंग पूर्णतः सुखी रहता है और इसीलिये व्रह कभी इस आनंद को छोड़कर बाहर नहीं भटकता॥६॥ जिस चकोर ने कमल दलों की थाली में चंद्रमा की उत्तम किरणों का भोजन किया हो, वह भला क्या कभी रेत के कण मुख से खायेगा?॥७॥ उसी प्रकार जिसको स्वयं को अपने में ही यह आत्मसुख प्राप्त हो गया, जो स्वयं ब्रह्मरूप हो गया उसने संपूर्ण विषय सुख को छोड़ दिया इसमें लेशमात्र शंका नहीं है॥८॥ वैसे भी यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो इस लोक में कौन विषय सुख के जाल में फसता है?॥९॥

जो यह इंद्रिय तथा विषयों के संग से उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं तो भी निःसंदेह दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसीलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता॥२२॥

जिनको आत्मस्वरूप के दर्शन का अनुभव नहीं होता उन्हें इंद्रिय विषय जनित सुख अच्छे लगते हैं। जिस प्रकार क्षुधा से पीड़ित दरिद्री मनुष्य भूसी या चोखर भी खा जाता है॥११०॥ अथवा प्यास से व्याकुल हिरण रेतीले जमीन में असली पानी समझ कर मृग जल के पीछे दौड़ता है॥११॥ उसी प्रकार जिन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता, आत्मसुख विहीन अवस्था में सदा रहता है, उन्हीं को विषय सुख बहुत प्रिय जान पड़ते हैं॥१२॥ यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो विषयों के उपभोग से सुख प्राप्त होता है यह बिलकुल असत्य बात है। क्या बिजली के चमकने से जो प्रकाश होता है उसमें संसार के सब काम हो सकते हैं?॥१३॥ यदि आकाश रूपी छत की छाया से वायु, वर्षा और ताप का निवारण हो सकता हो तो फिर तिमंजिले मकान क्यों बनाये जायें॥१४॥ यह विषय सुख का उपभोग यह शब्द प्रयोग ही मिथ्या है। जैसे किसी विष कंद का नाम ''मधुर'' होता है किंतु वास्तविक यह जहर ही होता है॥१५॥ अथवा जिस प्रकार पापग्रह भौम को लोग 'मंगल' कहते हैं अथवा मृग जल को भ्रम से जल कहते हैं उसी प्रकार विषयों के संबंध में लोग 'सुख' शब्द का जो प्रयोग करते हैं वह व्यर्थ बकवास है॥१६॥ यह सब कहना वैसा ही है जैसा कि कहना सांप के फन की छाया चूहे के लिये शीतल और सुखकारी होती है। अब आप ही कहो क्या यह वास्तव में कभी सच हो सकता है?॥१७॥ हे अर्जुन! मछली को फांसनेवाली बंसी में मांस का जो टुकड़ा लगाया जाता है वह उसे तब तक ही अच्छा प्रतीत होता है जब तक वह उसे नहीं निगलती। उसी प्रकार तुम निःसंदेह रूप से यह जानलो कि संपूर्ण विषयों की वही दशा है। अर्थात जब तक उनसे संबंध नहीं आता तब तक ही वे अच्छे दिखते हैं॥१८॥ हे किरीटी! यदि इन विषयों की ओर विरक्त पुरुषों की दृष्टि से देखा जाये तो ये ऐसे पांडुरोगियों के **समान** ऊपर से फूले हुये जान पड़ते हैं॥१९॥ इसीलिये विषयों के उपभोग में जो सुख दिखाई देता है वह वस्तुतः आदि से अंत तक केवल दुःख ही दुःख है किन्तु क्या किया जाये जो ये मूर्ख, अज्ञानी लोग उसके सेवन में ही उलझे रहते हैं॥१२०॥ उन्हें इसके भीतर का रहस्य मालूम नहीं होता, इसीलिये वे बेचारे बड़े शौक से विषयों का सेवन करते जाते हैं। पीप के कीचड़ में रहनेवाले कीड़ों को क्या कभी पीप से घृणा होती है?॥२१॥ ऐसे दुःखी जीवों के लिये तो दुःख ही परम प्रिय होता है। वे तो विषयरूप कीचड़ में रहने वाले मेंढक हैं। भोग रूप जल में रहनेवाले जलचर हैं। वे भला विषयों को और भोगों को कैसे छोड़ सकते हैं?॥२२॥ ये विषय दुःख उत्पन्न करनेवाले होते हैं। यदि वे सब जीव इन विषयभोगों के प्रति उदासीन हो जायें तो ये सब घृणास्पद विषय और उनसे प्राप्त होनेवाली पापयोनियां नष्ट ही हो जायें॥२३॥ अथवा गर्भवास आदि के संकट और जन्म मरण की यातनाओं का विकट मार्ग पर विश्राम न लेते हुए निरंतर चलेगा कौन?॥२४॥ यदि ये विषयासक्त जीव विषयों को छोड़ दें तो इन बेचारे महादोषों को कहां ठिकाना मिलेगा?। फिर यह जगत में ''संसार'' यह शब्द ही मिथ्या ठहरेगा और उसका अंत हो जायेगा॥२५॥ इसीलिये इन विषय भोग से निर्मित दुःख को सुख माननेवाले ये अज्ञानी लोग इस मायिक भ्रम का प्रतिपादन इस जगत् में करते हैं॥२६॥ हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन! ऐसे ये विषय बहुत ही बुरे हैं।

Funding by IKS-MoE

विषय अति बिकट। भूल से भी इनकी बाट। चलना न युक्त।।२७।। अतः जो विरक्त पुरुख। त्यजत इनको जैसे बिख। निरीच्छ वे न भोग दुःख। उनको कदा।।२८।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

ज्ञानियों के पास। न ही विषय का लेश। देह के देहभाव स्ववश। किये इसलिये।।२९।। जिनको बाह्य का स्मरण। नही निःशेष अर्जुन। आत्मसुख संपूर्ण। हृदय में व्याप्त।।१३०।। इस उपभोग की न्यारी रीत। जैसे पंछी फल भक्षत। स्वयं अपना न विस्मरत। भोक्तापन।।३१।। आत्मसुख भोग वृत्ति उत्पन्न। नष्ट अहंभाव वस्त्र संपूर्ण। सुख को दृढ़ आलिंगन। देत जात।।३२।। वह आलिंगन काल। सहज होत स्वरूप मेल। जैसे जल से जल। न दिखत भिन्न।।३३।। जब आकाश वायु रहित। तब दोनों का भिन्नत्व लोपत। वैसे सुख ही शेष बचत। सुरति में।।३४।। जहां द्वेत की भाषा नष्ट। दृष्टा दृष्य एक होत वहां साक्षी कौन रहत। ज्ञाता अन्य?।।३५।।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्पषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

यह रहने दो पार्थ। कहने की न यह बात। आत्मवेत्ता सब जानत। स्वानुभव से।।३६।। जो ऐसे सुख से तृप्त। आत्मरति निमग्न मत्त। मैं जानू वे मूर्ति साक्षात। सामरस्य की।।३७।। वे आनंद साकार। सुख के वे ही अंकुर। महाबोध का विहार। निर्मित जैसे।।३८।। या विवेक का गांव। परब्रह्म का स्वभाव। अथवा सालंकृत अवयव। ब्रह्मविद्या के।।३९।। वे सत्व के सात्विक। चैतन्य के आंगिक। कितना वर्णन एकेक। बखान जात।।१४०।। संत स्तवन में रत। मूल कथा विस्मरत। निराकार ब्रह्म बरनत। सुरस जान।।४१।। अब यह रहने दो संक्षिप्त। ग्रंथार्थ दीप प्रदीप्त। साधु हृदय मंदिर में करो प्रकाशित। मंगल उषा।।४२।। ऐसा श्रीगुरुका अभिप्राय। निवृत्तिदास को शिरोधार्थ। कहे बोलत जो कृष्ण राय। वही सुनो।।४३।। अनन्त सुख के दह में। तल पा लिया जिसने। स्थिर होकर हुए उसमें। तद्रूप वे।।४४।। अथवा आत्मप्रकाश से निर्मल। देखे स्वयं में विश्व अखिल। वह देही परब्रह्म केवल। निश्चित जानो।।४५।। जो साचोकार परम। अक्षर निःसीम।

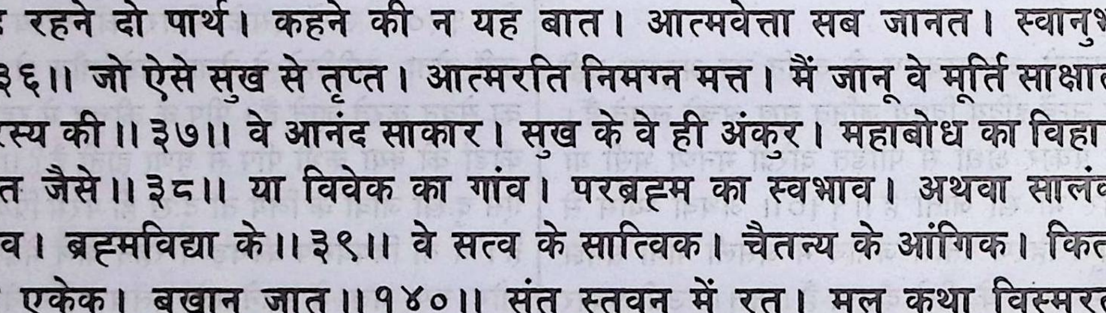

Funding by IKS-MoE

इसीलिये कभी भूलकर भी इन विषयों के मार्ग में पैर रखना नहीं चाहिये।।२७।। इसीकारण जो विरक्त पुरुष होते हैं वे इन विषयों का विष के समान परित्याग करते हैं। निरीच्छ होने के कारण तथा भोग परित्याग के कारण उनको कभी दुःख नहीं होता।।२८।।

जो मनुष्य शरीर के नाश होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ होता है अर्थात उन्हें जीत लेता है वह मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सुखी है।।२३।।

जो ज्ञानी पुरुष देह के समस्त विकारों को पूर्ण रूप से अपने वश में कर लेते हैं उनके काम-क्रोधादि विषय विकार पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं।।२९।। जिन लोगों को बाह्य विषय भोगों का लेशमात्र स्मरण नहीं रहता, हे अर्जुन! उनके हृदय में संपूर्ण आत्मसुख भरा रहा है।।१३०।। परंतु इस ब्रह्मसुख का उपभोग करने की रीति कुछ निराली ही होती है। जिस प्रकार पक्षी फ़लों का आस्वादन करते हैं तब भोक्ता, भोग्य और भोग यह त्रिपुटी रहती है किंतु ब्रह्मसुख का भोग करते समय अपना भोक्तापन बिलकुल भूल जाते हैं।।३१।। वह ब्रह्मसुख के भोग में ऐसी ऐक्यावस्था हो जाती है कि वहां अहं भाव का परदा दूर हट जाता है और उस अनावृत ब्रह्मसुख को दृढ़ आलिंगन करती है।।३२।। वह आलिंगन होते ही जीवात्मा ठीक उसी तरह परमात्मा के साथ बिलकुल एकरूप हो जाता है, जिस प्रकार पानी के साथ पानी मिलकर एकरूप हो जाता है, और उनमें अभेद हो जाता है।।३३।। जब आकाश में वायु लीन हो जाती है उस अवस्था में 'यह आकाश' और 'यह वायु' इस तरह की द्वैत की कोई बात ही नहीं रह जाती, उसी प्रकार ब्रह्मसुख उस ऐक्यावस्था और ब्रह्मसुख के मैथुन में केवल सुख ही अपने वास्तविक स्वरूप में बचता है।।३४।। इस तरह जहां भेद की भाषा लुप्त होती है और दृष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं, ऐसा यदि कहा जाये तो उस अवस्था को जाननेवाला दूसरा साक्षी कौन रहता है?।।३५।।

जो पुरुष निश्चय करके अंतर आत्मा में ही सुखवाला है और आत्मा में ही रममाण हुआ है तथा जो अंतरात्मा में ही अपरोक्ष ज्ञानस्वरूप है ऐसा वह ब्रह्मस्वरूप योगी ब्रह्मस्वरूप मोक्षशांति को प्राप्त होता है।।२४।। जिनके सब पाप नष्ट हुए हैं तथा जिनके सब संशय निवृत्त हो गये हैं, संपूर्ण भूतप्राणियों के हित में जिनकी रति है और जिनका चित्त भगवान के ध्यान में एकाग्र हुआ है ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।।२५।।

अब मैं यह विषय समाप्त करता हूं। जो बात वास्तविक देखी जाये तो शब्द से कहने योग्य नहीं है जिसको आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त हुआ है वह अपने अनुभव से यह विषय स्पष्ट रूप से जानता है।।३६।। वे लोग इस आत्मसुख से संतुष्ट हैं, आत्मानंद में निमग्न हैं मैं उन्हें समरसता या ब्रह्मैकरस के ढले हुए पुतले ही समझता हूं।।३७।। वे आनंद की मूर्ति हैं वे ही सुख के अंकुर अथवा आत्मबोध के सुंदर क्रींड़ागार होते हैं।।३८।। वे विवेक की जन्मभूमि, असंगत्वादि गुणों से युक्त परब्रह्म का केवल स्वरूप, अथवा जो ब्रह्मविद्या के शृंगारित अवयव हैं।।३९।। वे सत्वगुण की सात्विकता, या चैतन्य का सुंदर शरीर है। ज्ञानदेवजी ब्रह्मनिष्ठों का एकेक गुण तल्लीन होकर वर्णन करते हैं।।१४०।। इस प्रकार संतों की स्तुति में मग्न मूल कथा का विस्मरण होकर वे निराकार ब्रह्म का ही सुंदर वर्णन करने लगे।।४१।। तब श्री निवृत्तिनाथ कहते हैं कि यह निर्गुण वर्णन संक्षिप्त रहने दो, मूल ग्रंथ के अर्थ का दीप प्रज्वलित करो और सन्तजनों के हृदय मंदिरों में कल्याणकारी प्रभात का आकाश फैलाओ।।४२।। इस प्रकार श्री गुरु निवृत्तिनाथ का आशय समझकर, उनका आदेश सर आंखों पर रखकर श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि अब जो भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं वही कथाभाग सुनो।।४३।। श्रीकृष्ण कहते हैं- "हे अर्जुन! आत्मानंद के अथाह दह का तल जिन लोगों को प्राप्त हुआ है, वे वहीं स्थिर होकर तद्रूप हो गये।।४४।। अथवा जो लोग आत्मज्ञान के निर्मल प्रकाश की सहायता से समस्त विश्व को स्वयं अपने में देखते हैं, वे देहधारी होकर भी साक्षात परब्रह्म हैं ऐसा निश्चित जानो।।४५।। यह परब्रह्म सत्य ही

Funding by IKS-MoE

**अधिकारी निष्काम। पुरुष जानो।।४६।। वह सुख हे अर्जुन!। महर्षियों का भाग्य
जान। विरक्त निःसंदेह पूर्ण। निरंतर।।४७।।**

कामक्रोधवियुक्ताना यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

**जिन्होंने विषय से अपना मन। स्ववश कर लिया संपूर्ण। वे विस्मरत देहभान।
निश्चित जान।।४८।। वे परब्रह्म निर्वाण। जो आत्मविदों का कारण। वही वे पुरुष
अर्जुन। ज्ञानमूर्ति।।४९।। वे कैसे महत्व पावत। देह में ही प्राप्त ब्रह्मत्व। पूछोगे
यदि तत्त्व। संक्षिप्त कहूं मैं।।१५०।।**

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः। प्राणापानौसमौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः। विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

**लेकर वैराग्य का आधार। खदेड़ा विषय बाहर। शरीर में मन एकाग्र। किया
जिसने।।५१।। इडा, पिंगला, सुषुम्ना भेट। जहां भ्रूपल्लवों की पड़त गांठ। प्रत्याहार
से चक्र में ललाट। स्थापत दृष्टि।।५२।। छोड़के दक्षिण वाम। प्राणापान किया सम।
पश्चात् चित्त को व्योम। गामी करत।।५३।। वहां जैसे रथ्योदक समस्त। गंगा
लेकर समुद्र में मीनत। तब एकेक विभक्त। करना न शक्य।।५४।। वासनान्तर का
विवेचन। सहज नष्ट अर्जुन। चिदाकाश में लीन मन। प्राणनिरोध से।।५५।। जिस
पर संसार चित्र अंकित। वह मनोरूप पट फटत। जैसे सूखे सरोवर में होत।
प्रतिबिंब नष्ट।।५६।। जहां मुद्दल मन ही हुआ अमन। वहां अहंभावादि कैसे
विद्यमान?। अतः सशरीर ब्रह्मभाव अर्जुन। अनुभवत वह।।५७।।**

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

**मैंने पहले बताई बात। जीतेजी ब्रह्मत्व पावत। वे योग मार्ग आचरत।
इसलिये।।५८।। और यम नियम का शिखर। अभ्यास का सागर। उल्लंघन करके
पैरुपार। पहुंचे वे।।५९।। वे स्वतः उपाधि रहित। प्रपंच आजमावत। हुए ब्रह्मरूप
सत्य। इस कारण।।१६०।। ऐसा योग युक्ति का उद्देश्य। जहां कहत हृषिकेश।
वहां अर्जुन सुदंश (मार्मिक ज्ञाता)। चकित होत।।६१।। वह देखकर अच्युत। हंस के
पार्थ को कहत। क्यों तेरा मन प्रसन्न होत। कथन से मेरे?।।६२।। तब अर्जुन कहत**

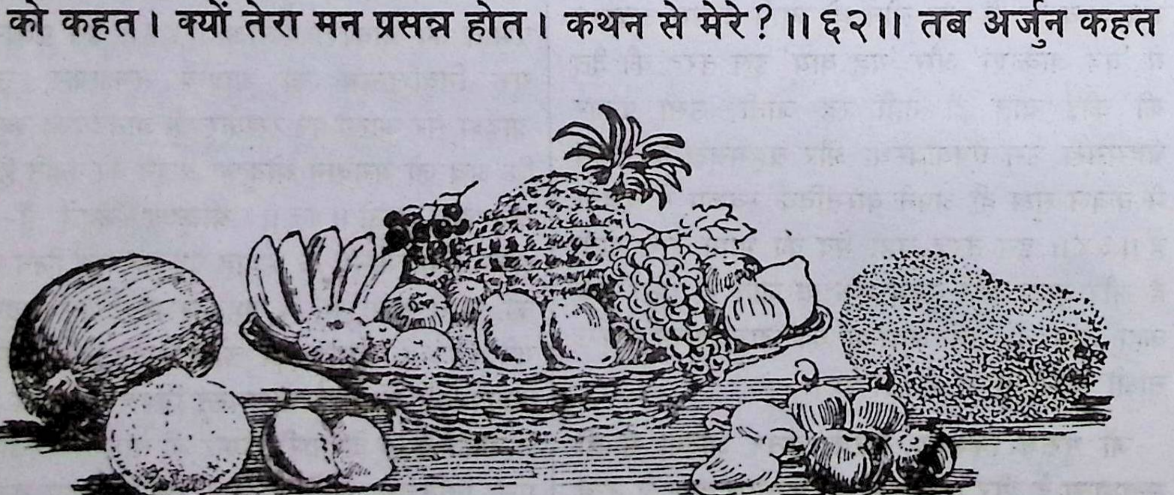

Funding by IKS-MoE

सर्वश्रेष्ठ, अविनाशी और असीम है। जो लोग निष्काम होते हैं वही इस परब्रह्म पद के अधिकारी होते हैं।।४६।। यह सुख केवल महर्षियों के भाग्य में रखा गया है जो निरंतर और निश्चित रूप से पूर्णतः विरक्त होते हैं।।४७।।

काम और क्रोध से रहित जीते हुये चित्तवाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये हुये यति इस देह में ही ब्रह्मरूप होते हैं।।२६।।

जिन लोगों ने अपने चित्त को विषयों से हटा कर उसको संपूर्णतः अपने स्वाधीन कर लिया है वे देहभाव को भूल जाते हैं यह बात निश्चित रूप से समझना।।४८।। वे ही मोक्षरूप परब्रह्म और वे ही आत्मज्ञानियों का साध्य तथा वे ही साक्षात ज्ञानमूर्ति तुम जानो।।४९।। कदाचित तुम यह पूछोगे कि वे पुरुष इस स्थिति तक कैसे पहुंचे और इस शरीर में रहते हुए उन लोगों ने किस प्रकार यह ब्रह्म स्वरूप प्राप्त किया, तो मैं यह विषय संक्षिप्त में तुम्हें बतलाता हूं, सुनो।।१५०।।

हे अर्जुन! बाहर के विषय भोगों का चिन्तन न करते हुए बाहर ही त्यागकर और नेत्रों को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा प्राण और अपान वायु को सम करके, जीती हुई है इंद्रियां, मन और बुद्धि जिसकी ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित है वह सदा मुक्त ही है।।२७/२८।।

जिन्होंने वैराग्य के आश्रय से अंतकरण की विषयवासना बाहर निकालकर शरीर को केवल मनोभय बना लिया है।।५१।। इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीनों नाड़ियों का जहां मिलाप होता है, वहां अपनी दृष्टि उलटकर जहां दोनों भौंहें मिलती हैं उस आज्ञा चक्र में प्रत्याहार की क्रिया से स्थापित करते हैं।।५२।। दायीं (पिंगला) और बायीं (इड़ा) नासिका मार्ग में आने-जानेवाले वायु की गति बंद करके अर्थात कुंभक की क्रिया से प्राण (हृदयस्थ वायु) और अपान (गुदस्थ वायु) वायु की समगति (ऐक्य) करके उसके साथ चित्त को व्योमगामी (मूर्धन आकाश की ओर जानेवाला) करते हैं।।५३।। जिस प्रकार मार्ग में पड़नेवाले नदी-नाले आदि का जल अपने में समाकर गंगा नदी समुद्र में मिलती है उसी प्रकार वे लोग भी परब्रह्म में ऐसे मिल जाते हैं कि फिर उन्हें किसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता।।५४।। उसी प्रकार प्राण और अपान के निरोध से मूर्ध्न्याकाश में मन का लय होता है तब समस्त वासनाओं का आपसे आप परिहार हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार सरोवर के सूख जाने पर उसमें पड़नेवाला प्रतिबिंब अपने आप नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जिस मन रूपी वस्त्र पर यह संसार रूपी चित्र अंकित होता है वह इस अवस्था में नष्ट हो जाता है।।५६।। जहां मूल मन का मनपन ही नष्ट हो जाता है वहां अहंभाव आदि विकार कहां बचेंगे? इसीलिये वह अनुभव प्राप्त पुरुष देहधारी होते हुए ब्रह्मरूप हो जाता है।।५७।।

यज्ञ और तपों को भोगनेवाला और संपूर्ण लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर तथा संपूर्ण भूत प्राणियों का सुहृद अर्थात स्वार्थरहित मित्र ऐसा तत्त्व से मुझे जानता है उसको शांति प्राप्त होती है। और सच्चिदानंदघन परिपूर्ण शान्त ब्रह्म के सिवा उसकी दृष्टि में और कुछ भी नहीं रहता। केवल वासुदेव ही वासुदेव रह जाता है।।२९।।

मैंने पहले ही आपको बताया है कि कुछ लोग देह को धारण किये रहने पर भी ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेते हैं, वे लोग इसी योग मार्ग से इस अवस्था तक पहुंच जाते हैं।।५८।। वे लोग यम, नियम, आसन धारणादि योग साधन के विकट पर्वतों पर चढ़कर और योगाभ्यास का सागर पार करके मोक्ष की अवस्था को प्राप्त हो गये।।५९।। वे लोग स्वयं को निष्काम कर्म के द्वारा विशुद्ध होकर निर्लिप्त रहकर यह प्रपंच चलाते रहते हैं और फिर सब प्रपंच का अधिष्ठान जो सत्य ब्रह्म उससे तद्रूप हो जाते हैं।।१६०।। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने जब देह में रहते ही ब्रह्मरूप होने के लिये अष्टांग योग युक्ति का जो कर्ममार्ग बतलाया, तब अर्जुन, जो कि बहुत मर्मज्ञ श्रोता था, इसलिये यह नवीन तत्त्व सुनकर वह चौंक पड़ा।।६१।। यह बात श्रीकृष्ण के ध्यान में आई और उन्होंने कुछ हंसते हुये पूछा- 'हे पार्थ! क्या मेरी इन बातों से तुम्हारा मन प्रसन्न हुआ?'।।६२।। इस पर अर्जुन ने कहा- हे देव आप दूसरे का मन का भाव जानने में बड़े प्रवीण हो

हे देव!। परचित्त लक्षणों का राव। अच्छा जान लिया भाव। मानस का मेरे।।६३।।
मैंने विचारपूर्वक पूछना प्रश्न। सो पहले ही जाना आपने कृष्ण। तब कहो जो किया
कथन। विस्तार से पुनः।।६४।। यह योगमार्ग अच्युत। जो दिखाया सुगम किंचित।
तैरने से पांव से सुलभ होत। जलमार्ग जैसा।।६५।। वैसे सांख्य से प्रांजल। हम जैसे
निर्बल। साध्य करत कुछ काल। करके व्यतीत।।६६।। अतः एक बार देव। कहो
यही अनुभव। विस्तृत कहिये सर्व। साद्यंत तक।।६७।। तब कहत श्रीकृष्ण। यह
मार्ग यदि रुचत अर्जुन। मुझे कहने में क्या विघ्न। कहूंगा सुख से।।६८।। सुनकर यह
पार्थ। अनुष्ठान करोगे यदि सार्थ। तब मैं निश्चित यथार्थ। बतलाऊंगा
तुझको।।६९।। पहले ही माता का चित्त। उस पर प्रिय पुत्र का निमित्त। वहां स्नेह
का दिव्यत्व। प्रकटत सहज।।१७०।। कारुण्यरस की वृष्टि। अद्‌भुत नूतन स्नेह की
सृष्टि। हरिकी वह कृपादृष्टि। बरनु कैसी?।।७१।। अमृत के मूषसे ढलत। या प्रेम
पीकर उन्मत्त। अतः अर्जुन मोह से ग्रस्त। निकलना न जाने।।७२।। इसका जितना
करे वर्णन। होगा विषयान्तर जान। तथापि स्नेह कृष्णार्जुन। 'शब्दातीत।।७३।।
अतः विचार करना व्यर्थ। ईश्वर कैसा जानिजे यथार्थ। जो स्वयं अनाम अनन्त।
इसलिये।।७४।। किन्तु पूर्वाभिप्राय पर से। अर्जुन प्रति मोहित जैसे। कहत उसको
आग्रह से। सुनो-सुनो!।।७५।। पार्थ तुझको जिसविध। चित्त में होवे बोध। वैसा
कौतुक से प्रबोध। करूंगा तुझको।।७६।। जिसको कहत योग। क्या उसका
उपयोग?। अथवा अधिकार प्रसंग। किसको यहां?।।७७।। ऐसा जो-जो कथन।
योग्य यहां अर्जुन। वह सकल ज्ञान। कहूंगा अब।।७८।। सुनो तुम देकर चित्त। ऐसे
कहकर श्री अच्युत। जो आगे बरनत। कथा भाग।।७९।। श्रीकृष्ण अर्जुन को द्वैत।
न छोड़कर योग निरूपत। वह प्रसंग करूंगा व्यक्त। कहे निवृत्तिदास।।१८०।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे
कर्मसंन्यासयोगोनाम पंचमोऽध्यायः (श्लोक २९ ओवियाँ १८०)

Funding by IKS-MoE

इसलिये आपने मेरे मन की बात बहुत अच्छी तरह जान ली है।।६३।। मैंने अपने मन में जो बात पूछने का विचार किया था, हे देव! आपने वही बात पहले ही जान ली और कह डाली। लेकिन फिर वही बात और भी स्पष्ट और भी विस्तार से मुझे बताइये।।६४।। वैसे भी हे देव! आपने अभी साधनों के जिस मार्ग का उपदेश किया है, वह हमारे जैसे दुर्बल जीवों के लिये सांख्य योग की अपेक्षा अर्थात ज्ञानमार्ग की अपेक्षा वैसा ही अधिक सुगम और सुलभ है, जैसे गहरे पानी में तैरकर पार करने की अपेक्षा वह जलमार्ग सुगम रहता है जो घुटने-घुटने तक ही होता है और जिसे आदमी पैरों से चलकर पार कर लेता है। अब यदि ऐसा मार्ग साध्य करने कुछ अधिक समय लगे तो भी हम सह लेंगे।।६५/६६।। इसलिये अब यह अनुभव फिर एक बार शुरू से अंत तक विस्तार से कहिये इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे अर्जुन! तुम्हें अगर यह साधन।।६७।। अच्छा जान पड़ता है तो मुझे फिर से उसका विवेचन करने में क्या आपत्ति है? सुनो! मैं फिर से सब बातें बड़ी प्रसन्नता से कहता हूं।।६८।।" हे पार्थ! इसको सुनकर यदि इसका यथावत् आचरण करोगे तो इस मार्ग का विवरण तुम्हें फिर से जरूर बताऊंगा"।।६९।। श्रीज्ञानदेवजी श्रोतागण को संबोधित करते हुए कहते हैं- पहले ही माता का अन्तःकरण सन्तान के विषय में स्नेहपूर्ण होता है, उस पर अपने लाड़ले पुत्र की रुचि और उत्सुकता का निमित्त मिल जाये ऐसी अवस्था में दिव्य प्रेम रस सहज ही प्रकट होता है।।१७०।। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की ओर जिस प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा उसमें मानो करुणा बरस रही थी वही अद्भुत नूतन स्नेहरस की जो सृष्टि हुई उस हरि की कृपादृष्टि का वर्णन किन शब्दों में करूं?।।७१।। वह दृष्टि अमृत रस की ढली साक्षात मूर्ति जो प्रेमरस का पान करके मत्त होकर अर्जुन के मोह में ऐसी फंस गयी कि वहां से उसका हटना संभव ही नहीं था।।७२।। इस कृपादृष्टि के संबंध में जितना वर्णन करेंगे उससे केवल विषयान्तर ही होगा। किन्तु यह सत्य बात है कि यह कृष्णार्जुन प्रेम शब्द के परे है।।७३।। इसलिये अब इसका और विचार करना व्यर्थ है। जो ईश्वर स्वयं अनंत और अनाप है इसलिये उसका जानना कैसा संभव है?।।७४।। फिर भी जिस प्रकार श्रीकृष्ण आग्रहपूर्वक कह रहे थे कि- अर्जुन सुनो, सुनो!। उससे मुझे तो जान पड़ता है कि वे सहज ही अर्जुन के मोह में फंस गये थे।।७५।। उस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा- हे अर्जुन! जिस प्रकार यह विषय तुम्हारी समझ में अच्छी तरह आ सके, उसी प्रकार मैं इसका विवेचन बहुत प्रसन्नता के साथ करूंगा।।७६।। जिस मार्ग को योगमार्ग कहा जाता है, उसका उपयोग क्या है, उसके अधिकारी कौन लोग होते हैं।।७७।। इस विषय में जितने प्रश्न उत्पन्न हो सकते, उन सबके उत्तर, वह संपूर्ण ज्ञान मैं तुम्हें अब बताऊंगा।।७८।। श्रीकृष्ण कहते हैं हे अर्जुन! तुम ध्यानपूर्वक सुनो! इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने जो कथा भाग कहा, उसका वर्णन आगे के अध्याय में किया गया है।।७९।। अर्जुन के साथ जो सख्य था उसे न छोड़ते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को अष्टांग योग बतलायेंगे वह प्रसंग मैं स्पष्ट रूप से विशद करूंगा ऐसा श्री निवृत्तिनाथ जी के दास श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं।।१८०।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

Funding by IKS-MoE

अध्याय - छठवाँ

सारांश

नाना योगविभव भांडार। प्रकटित पूर्ण।।अ. ६-२१।।

पंचम अध्याय में जिसको इंगित किया, उस योग का श्रीकृष्णकृत स्पष्टीकरण धृतराष्ट्र को कथन करने के पूर्व यह ब्रह्म रसाप्लावित वचन मुझे अनायास श्रवण करने को मिले, फलतः मैं धन्य हूं ऐसा संजय मानता है। (१-९) यह छठा अध्याय 'गीतार्थ का सार' एवं 'योगविभव का भांडारं है।' ऐसा वर्णन करके श्री ज्ञानदेवजी प्रतिज्ञा करते हैं कि, मैं इसका वर्णन ऐसे रसभरित अक्षरों से करूंगा, कि जिसके सामने अमृत भी फीका पड़ेगा, परिणामतः श्रोताओं के इंद्रियों को मिष्ठान्न भोजन मिलेगा, और रसज्ञ श्रोताओं को ऐसा आनंद होगा कि मानो हाथ में चिंतामणि आया है। (१०-२१) परंतु यह मिष्ठान्न भोजन का सुख (भोग) उन निष्काम पुरुषों को ही मिलेगो जो ऐहिक और स्वर्गलोक के सुख को तुच्छ मानते हैं। (२२-३१) मन, बुद्धि और इंद्रियों को अगोचर गीतोक्त अरूप ब्रह्मा का प्राकृत भाषा में प्रतिपादन करने का सामर्थ्य जिनकी कृपा से ज्ञानेश्वरजी को प्राप्त हुआ है, ऐसे श्री गुरु निवृत्तिनाथ जी का स्मरण करके उन्होंने श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो बतलाया उस अनुवाद का प्रारंभ किया है। (३२-३८)

भगवान कहते हैं। जैसे एकही स्थान पर हम भिन्न-भिन्न दो मार्गों से जा सकते हैं अथवा एक ही पुरुष को भिन्न-भिन्न दो नामों से पुकारते हैं उसी प्रकार निष्काम कर्मयोग और सांख्ययोग यह नाम भिन्नता होते हुए भी दोनों मार्ग एक मात्र ब्रह्मप्राप्ति कराने वाले हैं। सच्चा कर्मयोगी यह संन्यासी भी है कारण संन्यास का अर्थ है संकल्पों का संपूर्ण त्याग। संन्यास उसमें रहता है। यदि बुद्धि संन्यस्त न हो, तो केवल काषायवस्त्र परिधान करने में संन्यास नहीं होता। (३७-५१) जिसको यह उच्च स्थिति प्राप्त करना हो, उसने कर्माचरण से प्रारंभ करके यमनियमादि अष्टांग योग की सीढ़ी से (सोपान से) ही चलना चाहिये। अंत में ब्रह्मैक्य प्राप्ति होने के कारण जहां साधन और साध्य का भेद नष्ट होता है, ऐसी समाधि प्राप्त होती है। (५२-६०) ऐसे योगारूढ़ पुरुषों को विषय विचलित नहीं करते। उनकी इंद्रियां व्यवहार करती हुई दिखती हैं, तथापि अंतर्यामी वे क्रियाशून्य रहते हैं। (६१-६५) यह स्थिति दूसरों को देनेलायक नहीं है। वरन स्वयं प्राप्त करने की है। 'मैं वह हूं' यह जीव में उत्पन्न होनेवाले स्फुरण का त्याग किया, तो उसका छुटकारा होता है इसके विरुद्ध पक्ष में 'मैं देही हूं' इस भावना को जो वश होता है उसका कोशकीटकवत नाश होता है। मिथ्या देहाभिमान नष्ट हुआ तो, भगवान कहीं बाहर से आनेवाला नहीं, वह स्वयं ही परमात्मा है इसकी अनुभूति वह स्वयं लेता है। इस अद्वैत स्थिति में सुखदुःखादि द्वंद्व उसके सामने नहीं आते। संसार में जो भिन्न-भिन्न आकार के पदार्थ हैं वे एक ही परब्रह्मरूप सुवर्ण के बनाये हुये अलंकार हैं, ऐसी सूक्ष्म दृष्टि बन जाती है। (६६-१०७)

उपरोक्त लक्षण सुनकर किन साधनों से मैं ऐसे लक्षण युक्त बनूंगा ऐसा उत्कट विचार अर्जुन के मन में उत्पन्न हुआ फलतः भगवान उस मार्ग का वर्णन करते हैं। इसका अनुवाद करने के पूर्व ज्ञानेश्वरजी ने श्रीकृष्णार्जुन के प्रेम का अत्यंत हृदयंगम वर्णन किया है। (१०८-१४७)

इस मार्ग का अवलंबन करके योगी, महर्षि, सिद्धावस्था को प्राप्त हुए। श्रीशंकर अब तक यह मार्ग के पथिक है। यह मार्ग आक्रमण करते हुये दिन-रात, क्षुधा-तृषा इनका स्मरण ही नहीं रहता। प्रवृत्ति से इस मार्ग का आरंभ है और निवृत्ति में इसका अंत है। (१४८-१६२) इस योग मार्ग का अभ्यास करने के लिये शांत और रम्य स्थान की आवश्यकता है, वहां संतों का वास्तव्य स्थान होना चाहिये। जिस स्थान में प्रवेश करते ही नास्तिक अथवा विषयी पुरुष को भी उपरति उत्पन्न हो जायेगी। ऐसे स्थान में साधक ने आसन डालकर एकाग्र चित्त होकर सद्गुरु स्मरण करके अभ्यास का प्रारंभ करना चाहिये। (१६३-१८९) आसन कौनसा होना,

आसन की स्थिति कैसी होनी चाहिये यह सब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सविस्तर रूप से बतलाया। श्रीनिवृत्तिनाथ समान श्रोता सम्मुख बैठकर श्रवण कर रहे थे इसलिये श्री ज्ञानेश्वरजी ने इसका विस्तार स्वानुभव से किया है। उसमें तीन बंध लगाकर कुंडलिनी का जागरण करके उस मार्ग में साधकों को कौन से अनुभव आते हैं, उसकी शरीर कांति सुवर्ण सदृश कैसी होती है, यदि अष्ट महासिद्धि भी प्राप्त होती है तो भी बद्ध न होकर ब्रह्मैक्य स्थिति तक वह कैसा जाता है इसका सविस्तार वर्णन यहां मिलता है। (१९०-३२५)

इस मार्ग में इंद्रिय निग्रह की परमावश्यकता है। विषयासक्ति त्याग करके इंद्रियों का नियमन करना इसको इंद्रिय निग्रह कहते हैं। जो इंद्रिय निग्रही है उसका मन ध्यानार्थ सिद्ध होता है। (३२६-३५८) जैसा दीप निवान्त स्थल में अचल रहता है, उस प्रकार का स्थिर मन जब अंतर्मुख होता है, तब उसको अपना मूल स्वरूप दिखाई देता है। मन का मनत्व (चंचलता) नष्ट होकर एकमात्र सुखरूप चैतन्य अवशिष्ट रहता है। (३५९-३६८) ऐसी स्थिति प्राप्त होने के बाद यदि देह पर दु:ख के पर्वत भी आ पड़े तो वह विचलित नहीं होता। (३६९-३७४) इस अभ्यास में विषय वासना नष्ट करने के लिये इंद्रिय निग्रह के कष्ट सहन करने पड़ते हैं, यह सत्य है, किंतु विषय लोलुप इंद्रियों ने इस कष्ट को व्यर्थ महत्व दिया है। जो जीव को हितकारक है, वह इंद्रियों को सदा दु:खकारक लगता है। (३७५-३८६)

मैं सबमें समभाव से व्याप्त हूं ऐसा दृढ़ निश्चय करके जल, स्थल नभ में मुझे देखते रहो। जैसे पट (वस्त्र) में केवल तन्तू ही रहते हैं अथवा भिन्न अलंकारों में केवल सुवर्ण ही रहता है, वैसे ही भिन्न चराचर पदार्थों में केवल मुझे अकेले ही देखते रहो, फिर सुख-दुख, सम-विषम इत्यादि भेद नष्ट हो जायेंगे। साम्यावस्था प्राप्त होती है। इससे श्रेष्ठतर अन्य लाभ त्रैलोक्य में नहीं है। (३८७-४१०)

यह साम्यास्थिति प्राप्त होने के लिये मन का निश्चलत्व आवश्यक है, किंतु मन तो बंदर की तरह चंचल है। उसको स्वाधीन करने का जैसे-जैसे उपाय करते हैं वैसे-वैसे वह अधिक उच्छश्रृंखल होता है। अर्जुन इस आशंका का निराकरण भगवान इस प्रकार करते हैं। यद्यपि मन चंचल है, फिर भी उसकी एक बड़ी अच्छी स्वाभाविकता है। जिसकी उसको रुचि हो जाती है उसका वह कभी त्याग नहीं करता। इसलिये उसको अभ्यास और वैराग्यद्वारा आत्मसुख की रुचि लगाना चाहिये कि वह शनैः-शनैः स्वाधीन हो जायेगा। (४११-४२९) यहां अर्जुन की एक और शंका का भगवान निरसन करते हैं। प्रश्न साधक में पूरी योग्यता नहीं, किंतु वह श्रद्धावान है। उस श्रद्धा के भरोसेपर यह स्थिति प्राप्त करने का जो उद्यम करता है, परंतु योग्यता न होने के कारण वह स्थिति प्राप्ति के पूर्व ही उसका अंत हो जाता है इस दशा में न प्रपंच न मोक्ष (ना इधर का उधर का) ऐसी दशा में उसकी क्या गति होगी यदि यह शंका आती है तो उसका निरसन इसप्रकार है। उस योगभ्रष्ट की गति रुकती नहीं। मरणोपरान्त किंचित कालपर्यंत उसको स्वर्गोपभोग भोगना पड़ता है। उस स्वर्गभोग में उसकी रुचि नहीं रहती। अतएव वह पुनः शीघ्रता से मृत्युलोक में पवित्र और नीतिमानकुल में जन्म लेता है। पूर्व जन्म में उसकी बुद्धि अभ्यांसानुकूल थी, इसलिये बाल्यकाल में उसकी बुद्धि गूढ़ आत्मविद्या में प्रवेश करती है। आगे की उच्च साधना बिना सायास होती है। अंत में समाधि उसका पता लगाकर उसके घर प्रवेश करती है। (४३०-४७३) यह स्थिति प्राप्त करने के लिये कर्मनिष्ठा, ज्ञानी, तपी, भजनी, साधक, अपने-अपने मार्ग से निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे साधक सबको आदरणीय हैं। यह स्वाभाविक है। मुझे तो वह मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। (४७४-४८५)

भगवान का कथन बड़ा सरस था और प्रेमपूर्ण था। भगद्वाक्य का श्रोता अर्जुन था। समसभा संयोग था। आनंदमग्न स्थिति में वे बोलते चले गये (सप्तम अध्याय) श्री निवृत्तिनाथजी ने कृपा करके भगवद्वाक्य का अनुवाद करने की मुझे योग्यता प्रदान की है। उनकी कृपा से मैं वह कथन करूंगा। परंतु श्रोताओं ने मनरूपी कर्ण से श्रवण करना चाहिये और बुद्धि रूपी नयनों से देखना चाहिये। परिणामतः उनको आत्यंतिक सुख की प्राप्ति होगी। इसप्रकार कहते हुये श्री ज्ञानेश्वरजी ने अध्याय समाप्त किया है। (४८६-४९७)

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - छठवाँ

तब राजा को कहे संजय। सुनो वो ही अभिप्राय। जो श्रीकृष्ण बोले-सदय। योगरूप।।१।। सहज ब्रह्मरस का पारण। करत अर्जुन को नारायण। उस अवसर हम मेहमान। पहुंचे वहां।।२।। कैसा दैव विलक्षण। शिशु करत तोय पान। स्वाद लेकर देखत जान। तब वह अमृत।।३।। वैसे हम तुमको घटित। आढ़त में तत्त्व प्राप्त। तब उसे कहत धृतराष्ट्र। न पूछूं यह मैं।।४।। सुनके राजा का कथन। संजय जाने उसका मन। इस अवसर उत्कंठित पूर्ण। पुत्र वार्ता कारण।।५।। जान के मन में हंसत। कहे वृद्ध मोहभ्रमित। कृष्णार्जुन संवाद उत्कृष्ट। अवसर में यह।।६।। किंतु इसे क्या महत्व? जात्यंध कभी दृष्टि से देखते?। रूठेगा यदि कहूं सत्य। इसलिये डरत।।७।। मन ही मन संतोषत। चित्त हर्ष पावत। जो संवाद सुनत। कृष्णार्जुन का।।८।। इस आनंद से प्रसन्न। साभिप्राय अंतःकरण। आदर से करत कथन। धृतराष्ट्र को।।९।। गीता में षष्टम अध्याय। प्रसंग अति रहस्यमय। प्राप्त क्षीरार्णवमंथन समय। अमृत जैसे।।१०।। वैसे गीतार्थ का सार। विवेक सिंधु का पार। नाना योगविभव भांडार। प्रकटित पूर्ण।।११।। जो आदिप्रकृति का विश्राम। ब्रह्म का विराम। गीतावल्ली का बीज सूक्ष्म। अंकुरत जहां से।।१२।। यह अध्याय षष्टम। साहित्यालंकार परम। निरूपण सुनो मर्म। सावधान चित्त से।।१३।। मेरी शुद्ध बोली प्राकृत। अमृत से भी पैज लेत। ऐसे रसिक अक्षर बहुत। संकलित मैंने।।१४।। जिस बोल की मृदुता। सप्तस्वर को लाये न्यूनता। अथवा छंद से आवत लीनता। परिमल को।।१५।। सुनो सुरसता का गुण। जो जिव्हा होत श्रवण। इंद्रियों में कलह उत्पन्न। आपस में।।१६।। शब्द विषय श्रवण का किन्तु रसना कहत रस

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - छठवाँ

तब धृतराष्ट्र राजा को संजय कहते हैं कि हे राजन, भगवान श्रीकृष्ण दया से परिपूर्ण होकर योगरूप मार्ग का उपदेश करते हैं उसे सुनो!।।१।। श्रीनारायण जब अर्जुन के सामने सहज ब्रह्मरस का भोजन परोस रहे थे, हम भी उसी समय अतिथि के रूप में वहां पहुंच गये।।२।। भाग्य की विलक्षणता देखिये, जैसे ही शिशु जल समझ कर पीने लगा तभी वह अमृत है ऐसा उसने जान लिया।।३।। वैसी ही बात हमारे तुम्हारे लिये घटित हुई है। क्योंकि आज हमें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति आढ़त में हो गई है। तब धृतराष्ट्र ने कहा- हे संजय इस प्रकार की बात मैं तुमसे नहीं पूछ रहा हूं।।४।। राजा का वाक्य सुनते ही संजय मन में जान गया कि राजा का मन इस समय पुत्रवार्ता सुनने के लिये उत्कंठित हुआ है।।५।। जानकर मन में हंसते हुए कहने लगा कि यह वृद्ध पुत्रमोह से भ्रमित हुआ है कृष्णार्जुन संवाद का उत्कृष्ट अवसर अभी चल रहा है।।६।। परंतु मोह से मूढ़ धृतराष्ट्र को इसका क्या महत्व? जन्म से अंधा कभी दृष्टि से देख सकता है? यदि स्पष्ट कहूं तो वह क्रोधित होगा। इसीलिये भय लगता है।।७।। मन ही मन में संतुष्ट होते हुए संजय का चित्त कृष्णार्जुन संवाद सुनकर हर्षाप्लावित हो गया।।८।। उस आनंद से प्रसन्न होते हुए साभिप्राय अंतःकरण से आदरपूर्वक धृतराष्ट्र राजा को कहना प्रारंभ किया।।९।। श्रीमद्‌भगवद् गीता में छठवां अध्याय का प्रसंग रहस्यमय है। जिस प्रकार क्षीरसागर के मंथन से अमृत प्राप्त हुआ था।।१०।। उसी प्रकार गीता के तत्वज्ञान का सार अथवा विवेक सागर का उस पार का तट, अथवा समस्त योग संपत्ति का खुला खजाना इसमें प्रकट हुआ है।।११।। आदि प्रकृति का वह विश्राम स्थान है। शब्द ब्रह्म जहां मौन हो जाता है, और जहां से श्री गीता रूपी लता का सूक्ष्म बीज अंकुरित होता है।।१२।। वही यह छटवां अध्याय है, जिसमें साहित्य शास्त्र के उत्तम अलंकार हैं। इसीलिये मर्म प्रकट करनेवाला यह निरूपण सावधान चित्त से सुनो।।१३।। मेरी शुद्ध वाणी प्राकृत है। किन्तु मेरे अक्षर मधुरता में अमृत से भी शर्त लेनेवाले होंगे। ऐसे रसिकों को प्रसन्न करनेवाले बहुत अक्षर मैंने संकलित किये हैं।।१४।। मेरी वाणी की मृदुता सप्तस्वरों को भी तुच्छ ठहरायेगी। अथवा इस ''ओवी'' छंद के सामने परिमल भी नतमस्तक होगा।।१५।। काव्य में सुरसता का गुण है उसे सुनो! यहां जिव्हा स्वयं कर्ण का काम करती है। तथा सब इंद्रियों में आपस में प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न होगी।।१६।। शब्द स्वभावतः कर्णेन्द्रिय का विषय है। किन्तु जिव्हा कहती है कि इन शब्दों का रस मेरा विषय है। नासिका का विषय गंध है किन्तु देशी भाषा के वे वचन अपने सुगंध के

Funding by IKS-MoE

उसका। घ्राण जानत भाव परिमल का। ऐसा यह बोल।।१७।। और एक नवल देख। तृप्त नयन कहत पार्थ बोल न खान प्रत्यक्ष। रूप की यह।।१८।। जब प्रकट वाक्य पूर्ण। इंद्रिय बाहिर निकसत मन। दौड़त देने आलिंगन। भुजा फैलाकर।।१९।। ऐसी इंद्रियां अपने भाव से। लिपटत रीझत समरूप से। आलोकत जैसे सहस्त्र कर से। सूर्य विश्व।।२०।। वैसा शब्द का व्यापकपन दिखत अति असाधारण। मर्मज्ञ देखत उनमें गुण। चिंतामणिसम।।२१।। इन शब्द रत्नों की थाल। कैवल्यरस भरके निखिल। यह प्रतिपत्ति दी सकल। निष्कामी जनको।।२२।। आत्म-ज्योति नित्य नूतन। करके दीप प्रज्वलन। जो इंद्रियपरे करत सेवन। उसको ही प्राप्त।।२३।। श्रवण का साधन वह त्यज के कर्ण। मन के निजांग से अर्जुन। भोगना इसको।।२४।। खोल के बोल का आवरण। तद्रूप लक्ष्यब्रह्म प्रति मन। सुख से सुख का सेवन। कीजे खुशी से।।२५।। ऐसी अंग में सूक्ष्मता। तब ही उपयोग होत तत्त्वता। नहीं तो सब होगी वार्ता। मूक बधिर की।।२६।। अब रहने दो यह पार्थ। श्रोताओं को न परखना व्यर्थ। वे ही अधिकारी स्वभावतः। निष्काम काम जो।।२७।। आत्मबोध इच्छुक अंतर। स्वर्ग संसार किया निछावर। बिन उसके रस मधुर। न जाने अन्य।।२८।। जैसे काक न चंद्र देखत। वैसे अनभिज्ञ जन प्राकृत। जैसे हिमांशु की चाहत। चकोर को ही।।२९।। तैसे सज्ञान को इसका ज्ञान। अज्ञानी को न इसका भान। अतः इसकी चर्चा अर्जुन। अकारण।।३०।। किन्तु कहा प्रसंगानुसार। क्षमा कीजिये सज्जनवर। अब कहूंगा जो श्रीधर। स्वर निरूपित।।३१।। बुद्धि को भी अगम्य पार्थ। कदाचित शब्द से होत व्यक्त। श्री निवृत्ति कृपादीप से प्रदीप्त। देखूंगा मैं।।३२।। जो दृष्टि को न प्राप्त। गुरुकृपा से दिखत। अतींद्रिय किंतु लभत। ज्ञानबल से।।३३।। किमयागार को भी अप्राप्त। लोह में वह सुवर्ण प्राप्त। यदि दैवयोग से हस्तगत। पारस पार्थ।।३४।। वैसी जब गुरुकृपा होय। तब प्रयत्न से क्या न प्राप्य?। वह अपार मुझे सहाय। कहे ज्ञानदेव।।३५।। मैं बोलूं उसी कारण। दिखाऊं अरूप का रूप दर्शन। कराऊं अतींद्रिय का अनुभव अर्जुन। इंद्रियों द्वारा।।३६।। सुनो, यश श्री औदार्य। ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य। ये एकत्र षड्गुण वर्य। वसत जहां।।३७।। अतः वह भाग्यवंत। जो निःसंग का संगी होत। कहे पार्थ होना दत्तचित्त। इस समय।।३८।।

श्री भगवान उवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

सुनो, योगी और संन्यासी। भिन्न न जानो प्रियदर्शी। देखे विवेक से समदर्शी। तब वह एक।।३९।। उनमें भिन्नत्व का मात्र आभास। क्योंकि योग वही संन्यास। दोनों में न कोई अवकाश। ब्रह्मदृष्टि से।।४०।। जैसे नामों से भिन्न। पुकारना पुरुषे एक को अर्जुन। अथवा भिन्न मार्गों से गमन। एक ही स्थान को।।४१।। या एक ही उदक

कारण घ्राण का विषय बन जायेंगे ।। १७।। और एक आश्चर्य देखो! तृप्त नयन इन शब्दों का सौंदर्य देखकर बोल उठेंगे कि यह तो लावण्य की खान ही खुल गयी है ।। १८।। और जब वाक्य पूर्ण होगा तब श्रोताओं का मन इंद्रियों से दौड़कर बाहर निकलेगा तथा भुजा फैलाकर उसको आलिंगन देगा ।। १९।। जिस प्रकार सहस्त्र किरणों से सूर्य विश्व को आलोकित करता है उसी प्रकार सभी इंद्रियां अपने-अपने भाव से इन शब्दों पर अपना अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगी और ये शब्द उनको समान रूप से संतुष्ट करेंगे ।। २०।। उसी प्रकार इन शब्दों की व्यापकता बहुत ही विलक्षण है। जो मर्मज्ञ लोग इन शब्दों के भावार्थ पर विचार करेंगे उन्हें ऐसा प्रतीत होगा कि ये शब्द नहीं है बल्कि इन शब्दों के रूप में हमें स्वयं चिन्तामणि ही प्राप्त हुआ है ।। २१।। यह शब्द रत्नों की थाली संपूर्ण कैवल्यरस से भरकर मैंने निष्काम साधुजनों को प्रसाद रूप में दी है ।। २२।। नित्य नूतन आत्म-ज्योति प्रज्वलित करते हुए देहभाव से परे मन को स्थिर करनेवालों को ही वह प्राप्त होगा ।। २३।। हे अर्जुन, कर्ण यह श्रवण का साधन है उसका त्याग करके मन को अंतर्मुख करके इसका अनुभव करना चाहिये ।। २४।। वाणी का आवरण खोलते हुए, परब्रह्म में मन को तद्रूप करते हुए, आत्मसुख का सेवन आत्मा से ही आनंद से कीजिये ।। २५।। यदि ऐसी सूक्ष्मदर्शिता श्रोताओं में आ जायेगी तभी यह श्रवण सार्थक होगा। और नहीं तो फिर इस निरूपण को गूंगे और बहरे का संवाद ही कहना पड़ेगा ।। २६।। हे पार्थ, अब यह बात रहने दो। श्रोताओं की अधिक परख आवश्यक नहीं। जो श्रोता स्वभावतः (निष्काम) अनासक्त हैं वे ही इस श्रवण के वास्तविक अधिकारी हैं ।। २७।। जिनका अंतःकरण आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये उत्सुक है। जिन्होंने स्वर्ग-नरक दोनों को निछावर कर दिया है। उनके बिना अन्य इस रसमाधुरी को नहीं जान पायेंगे ।। २८।। जिस प्रकार कौवा चंद्रमा को नहीं देख सकता। वैसेहि साधारण जन इस तत्त्व को नहीं जान सकते। उसके लिये चंद्रमा को चाहनेवाला चकोर का कोमल हृदय चाहिये ।। २९।। ज्ञानी लोगों को इसका ज्ञान होगा। अज्ञानी इसको नहीं जान पावेंगे। इसीलिये हे अर्जुन इसकी चर्चा करना अनावश्यक है ।। ३०।। किन्तु प्रसंग के अनुसार दो चार बातें कह दी हैं, इसके लिये हे सज्जन श्रोतागण मुझे क्षमा कीजिये। अब स्वयं श्रीधर ने जो निरूपण किया वही कहूंगा ।। ३१।। हे पार्थ बुद्धि को भी जो अगम्य है वह शब्द से व्यक्त करने के लिये मेरे गुरु श्री निवृत्तिनाथ की कृपा से प्रदीप्त दीप से मैं देखूंगा ।। ३२।। जो दृष्टि से नहीं दिखाई देता वह श्री गुरुकृपा से दिखता है। अतीन्द्रिय वस्तु भी ज्ञान मार्ग से प्राप्त होती है ।। ३३।। ऐंद्रजालिक को भी अलभ्य सुवर्ण, सौभाग्य से यदि पारस पत्थर हाथ आने से लोहे से प्राप्त होता है ।। ३४।। इसी प्रकार जब श्री गुरुकृपा प्राप्त होती है तब प्रयत्न करने से कुछ भी अप्राप्त नहीं होता। मुझे अपार गुरुकृपा प्राप्त है ऐसा ज्ञानदेवजी कहते हैं ।। ३५।। उसी के बल पर मैं बोलूंगा। अरूप का रूपदर्शन कराऊंगा। अतीन्द्रिय का अनुभव इंद्रियों द्वारा करा दूंगा ।। ३६।। हे पार्थ सुनो! यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य ये श्रेष्ठ गुण जहां निवास करते हैं ।। ३७।। इसीलिये जिन्हें लोग भगवन्त कहते हैं और जो सदा निःसंग के साथ रहते हैं उन श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा- "हे पार्थ! अब तुम ध्यान देकर सुनो ।। ३८।।

श्री भगवान उवाचः—

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे अर्जुन जो पुरुष कर्म के फल को न चाहते हुए करने योग्य कार्य करता है, वह संन्यासी और योगी है, और केवल अग्नि को त्यागने वाला संन्यासी, योगी नहीं है तथा केवल क्रियाओं को त्यागनेवाला संन्यासी भी योगी नहीं है ।। १।।

हे प्रिय भाष, कर्मयोगी एवं संन्यासी को भिन्न नहीं समझना। विवेक से देखनेवाले समदर्शियों को वे एक ही दिखाई देते हैं ।। ३९।। उनमें भिन्नत्व का आभास मात्र है। क्योंकि योग ही सन्यास है। दोनों में ब्रह्मदृष्टि से कोई भेद नहीं है ।। ४०।। एक ही व्यक्ति को जिस प्रकार अनेक नामों से (रिश्ते के अनुसार), पुकारा जाता है अथवा एक ही स्थान पर पहुंचने के विभिन्न रास्ते होते हैं ।। ४१।। या स्वभावतः एकरूप रहनेवाला जल अलग-अलग बरतनों में भरा जाने पर जिस प्रकार अनेकता मानी

Funding by IKS-MoE

लीजे। भिन्न घटों में भरिजे। वैसे भिन्नत्व जानिजे। योग सन्यास का।।४२।। सुनो सर्व सम्मति से विरागी। जग में एक वही योगी जो। कर्म करके न रागी। फलेच्छा में।।४३।। जैसे महि उद्भिज समस्त। अहं बुद्धि बिन उपजवत। उनसे फल कदाचित। न अपेक्षत।।४४।। वैसे आत्मप्राप्ति के आधार से। जाति के अनुकार से। जो-जो अवसर से। करना प्राप्त।।४५।। वह वैसे ही करत उचित। शरीर में अहंकार न धरत। बुद्धि को न जाने देत। फलाशा पर्यन्त।।४६।। वही संन्यासी जान। सुनो हे अर्जुन। निःसंशय पूर्ण। योगीश्वर।।४७।। जो प्रासंगिक कर्म उचित। उसको बद्धक मानत। अन्य कर्म में प्रवृत्त। होत जात।।४८।। एक लेप प्रक्षालत। दूजा लगावत जात। आग्रह से त्यजत कर्म युक्त। पाईक जैसा।।४९।। गृहस्थाश्रम का भार विहित। दैवयोग से सहज प्राप्त। छोड़कर संन्यास का लेत। अन्यभार शीघ्र।।५०।। अतः अग्निसेवा न छोड़िये। कर्मरेखा न लांघिये। योगसुख सहज भोगिये। अपने आप।।५१।।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव। न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

योगी और सन्यासी पार्थ।एक वाक्यता का ध्वज समस्त। फहरावत शास्त्र बहुत। जग में इस।।५२।। त्याग से जब संकल्प नष्ट। तब योगसार से होवे भेंट। ऐसा अनुभव प्राप्त। स्वयं जिसको।।५३।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

अब योगाचल का माथ। यदि प्राप्त करना पार्थ। तब सोपान कर्मपथ। चढ़ना न भूलो।।५४।। यमनियम प्रथम तल। पगडंडी आसन की चल। प्राणायाम शिखर अचल। चढ़ना ऊपर।।५५।। फिर प्रत्याहार की चोटी बिकट। जहां बुद्धि के भी पांव फिसलत। पर्वतपतन के डर से शर्त छांडत। हटयोगीजन।।५६।। परंतु अभ्यास के बल से। प्रत्याहार के अवलंबन से। होत शनैः शनैः वैराग्य से। प्रवेश संभव।।५७।। ऐसे पवन अश्व पर सवार। पहुंचत धारणा का पैसार। चलत जब तक ध्यान का घर। प्राप्त होत।।५८।। तब मार्ग की दौड़ रुकत। प्रकृति का व्यामोह लोपत। साध्य साधन एकाकार होत। ब्रह्मानंद में।।५९।। अग्रमार्ग जहां बंद। पार्श्व स्मरण का होवे निरोध। ऐसी समान भूमिका पर सन्नद्ध। समाधि शुद्ध।।६०।। ऐसे यत्न से योगारूढ़। निरवधि हुआ प्रौढ़। उसका लक्षण प्रौढ़। सुनो, कहूं मैं।।६१।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

इंद्रियों के घर में समस्त। विषयों का आना जाना नष्ट। जो तलघर में सोवत।

Funding by IKS-MoE

जाती है वैसी ही योग एवं संन्यास में विभिन्नता है॥४२॥ सर्व सम्मति से वही विरागी कहलाया जाता है जो कर्म करते हुए उसमें आसक्त नहीं होता एवं फल की अपेक्षा नहीं करता। वही विश्व में योगी कहलाता है॥४३॥ जैसे भूमि में उत्पन्न वृक्ष आदि उद्भिजों के प्रति अहंभाव न रखते हुए उनमें लगनेवाले फलों की अपेक्षा भूमि नहीं करती॥४४॥ उसी प्रकार आत्म ज्ञान प्राप्त व्यक्ति जाति के अनुरूप जो जिस समय उचित है वही कर्त्तव्य करता है॥४५॥ हे अर्जुन! वह वैसे ही उचित व्यवहार करते हुए, शरीर में अहंकार न रखते हुए बुद्धि को फलाशा तक नहीं जाने देता॥४६॥ हे अर्जुन वही संन्यासी है, वही पूर्ण योगीश्वर है॥४७॥ प्रासंगिक योग्य कर्म को बंधक समझनेवाला वह शीघ्र ही अन्य कर्म में प्रवृत्त होता है॥४८॥ जिस प्रकार नौकर से अपने शरीर में लगा हुआ एक लेप तो धो-पोंछकर दूर करता है और फिर उससे दूसरा नया लेप शरीर में लगाता है। उसी प्रकार की अवस्था उन लोगों की होती है जो केवल आग्रह के वशीभूत होकर इस प्रकार का आचरण करते हैं और व्यर्थ की विवंचना में पड़ते हैं॥४९॥ गृहस्थाश्रम का भार पहले से विहित कर्म के रूप में दैवयोग से स्वभावतः ही सिर पर चढ़ा हुआ है। उस भार को अच्छी तरह वहन न करके जल्दी में संन्यास धर्म का नया बोझ ढोकर अपना भार और बढ़ाता है॥५०॥ इसीलिये अग्नि-होत्र आदि नित्य श्रौत-स्मार्त कर्म नहीं छोड़ना चाहिये। और आचार की मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए कर्मयोग से अपने आप आत्मसुख का अनुभव कीजिये॥५१॥

इसीलिए हे अर्जुन! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं उसी को तू योग जान, क्योंकि संकल्पों को न त्यागनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता॥२॥

हे पार्थ! कर्मयोग और संन्यास एक ही है ऐसी संन्यास और योग के अभेद की विजय पताका अनेक शास्त्रों ने फहराई है॥५२॥ त्याग से जब संकल्प नष्ट होते हैं तभी योग का सारसर्वस्व ब्रह्मपद प्राप्त होता है। यह अनुभव जिसको प्राप्त है वही संन्यासी है। वही योगी है॥५३॥

और समत्वबुद्धिरूप योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा है। और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष के लिये सर्व संकल्पों का संन्यासरूप 'शम' कारण है॥३॥

हे अर्जुन! जिनको योगाचल के माथे पर चढ़ने की इच्छा है उन्होंने कर्मपथ का सीढ़ियोंवाला रास्ता कदापि छोड़ना नहीं चाहिये॥५४॥ इन सीढ़ियों से होते हुए पहले यम नियमों की आधार भूमि से होते हुए योगासन की पगडंडी पर पहुंचना चाहिये और उसके उपरांत प्राणायाम से ऊपर के अचल शिखर पर चढ़ना चाहिये॥५५॥ वहां प्रत्याहार की विकट चोटी लगती है। जहां बुद्धि के भी पैर फिसलने लगते हैं, जिससे हठयोगी भी अपने मार्ग से स्खलित होते हैं॥५६॥ परंतु अभ्यास (पुनः पुनः प्रयत्न) के बल पर आश्रयहीन प्रत्याहार में धीरे-धीरे वैराग्य के आश्रय से प्रवेश शक्य होता है॥५७॥ इस प्रकार पवन अश्व पर सवार होते हुए धारणा के विस्तृत प्रदेश में पहुंचते हैं। फिर इस प्रान्त को पार करते हुए तब तक चलना चाहिये जब तक ध्यान के सिरे पर पहुंच जाते हैं॥५८॥ जहां मार्ग की दौड़ समाप्त होती है। प्रकृति का व्यामोह लुप्त होता है। साध्य एवं साधना ब्रह्मानंद की प्राप्ति में एकरूप होते हैं॥५९॥ यहां पर पहुंच कर योगी ऐसे समतल भूमि पर स्थिर हो जाता है जहां से आगे का मार्ग अवरुद्ध होता है। प्रवृत्ति का स्मरण नष्ट होता है। इस समान भूमिका पर स्थिर होते हुए शुद्ध समाधि अवस्था प्राप्त होती है॥६०॥ इस प्रयत्न में योगमार्ग में दृढ़ रहते हुए जो अखंड परिपूर्ण होता है उसका लक्षण मैं बतलाता हूं, वह सुनो॥६१॥

जिसकी इंद्रियों के घर में विषयों का आना-जाना बंद हो जाता है और जो विषय और कर्म के प्रति आसक्त नहीं होता, एवं सब संकल्पों का त्याग करता है उसको तब "योगारूढ़" कहते हैं॥४॥

Funding by IKS-MoE

आत्मबोध के।।६२।। सुख-दुख संघर्ष में पूर्ण। न चेतत उसका मन। विषय अति निकट अर्जुन। किंचित न स्मरण।।६३।। यदि इंद्रियां कर्म में प्रवृत्त। सकल क्रिया करत। किंतु फलेच्छ से निवृत्त। अंतःकरण उसका।।६४।। रहे देह में विद्यमान। जागृत किंतु दिखत निद्राधीन। वही योगारूढ़ अर्जुन। जानो तुम।।६५।। तब अर्जुन कहत अनंत। मुझे विस्मय होत बहुत। कहो उसको इतना महत्व। कौन देत? ।।६६।।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

तब हंसके बोलत कृष्ण। नवल तेरा यह कथन। किसको क्या देगा कौन। अद्वैत दशा में?।।६७।। किंतु व्यामोह की शेज में। बल से अविद्या शय्या में। जन्म मृत्यु दुःस्वप्न में। कष्ट सहत।।६८।। पश्चात अकस्मात् जागत। तब सब वृथा जानत। अमर सद्भाव उपजत स्वस्वरूप में।।६९।। अतः अपना आपन। घात करत अर्जुन। मन में झूठ देहाभिमान। धारण करत।।७०।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

विवेक से अहंकार त्यागिये। तब नित्यसिद्ध वस्तु होईये। अपना हित कीजिये। स्वयं आपन।।७१।। कोशकीटक समान। अपना वैरी आपन। इस चारुस्थली में पूर्ण। आत्मबुद्धि से पार्थ।।७२।। क्या कहिये लाभ के समय। अंधत्व का दोहद होय। दैवहीन को होवे अंतराय। वस्तु लाभ का।।७३।। अथवा कोई मनुष्य भ्रम से। कहत मैं खोया जैसे। ऐसा वृथा छंद मन से। दृढ़ धरत।।७४।। वैसा स्वयं अविनाश। किंतु हुआ बुद्धि नाश। क्या स्वप्न के घाव से विनाश। सांच होत?।।७५।। जैसा शुक का अंगभार। नलिका फिरत गरगर। मन में शंका जबर। उड़ न पावत।।७६।। वृथा गर्दन हिलावत। हिय पांव से पकड़त। चंचू से नली धरत। रहत स्तब्ध।।७७।। कहे मैं हुआ बद्ध। भाव मन में सन्नद्ध। पंजे में कसत दृढ़। अधिकाधिक।।७८।। ऐसा कारण बिन भ्रमित। न किसी अन्य से बद्धित। आधा काटो तब भी न छोड़त। नलिका वह।।७९।। अतः आप अपना रिपु। जिसने बढ़ाया यह संकल्पु। न धरत स्वयंबुद्धि स्वरूपु। वृथाभिमान से।।८०।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाष्मकाञ्चनः।।८।।

वह स्वांतः करणजित। सकल कामोपशान्त। परमात्मा उसके निकट। दूर

आत्मज्ञान के विश्रामस्थान में स्थिर होनेवाले साधकों के घर में विषयों का आना-जाना बंद होता है ॥ ६२॥ सुख-दुख के संघर्ष में रहते हुए भी उसका मन विचलित नहीं होता। विषय अत्यंत निकट होते हुए भी उनका उसको किंचिन्मात्र स्मरण नहीं होता ॥ ६३॥ इंद्रियां कर्म में प्रवृत्त होकर सब क्रिया करते हुए भी उसका अंतःकरण कर्मफल की इच्छा से पूर्णतः निवृत्त रहता है ॥ ६४॥ देह में विद्यमान रहते हुए जो जागृत अवस्था में निद्राधीन जैसा दिखाई देता है वही योगारूढ़ है ऐसा हे अर्जुन! तुम समझ लो ॥ ६५॥ तब अर्जुन कहता है हे अनन्त! मुझे बहुत आश्चर्य प्रतीत हो रहा है। अब आप मुझे यह बतलायेंगे कि ऐसे पुरुष को इतना महत्व कौन देता है? ॥ ६६॥

यह योगारूढ़ता कल्याण के लिए है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अपने द्वारा आपका संसार समुद्र से उद्धार करे और अपने आत्मा को अधोगति में न पहुंचावे। क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ॥ ५॥

तब हंसते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, तुम्हारा यह कहना आश्चर्यकारक है। क्योंकि अद्वैत दशा में कौन किसको क्या देगा? ॥ ६७॥ किंतु व्यामोह एवं अविद्या की शय्या में, जन्म मृत्यु के दुःस्वप्न में मनुष्य नाहक कष्टी होता है ॥ ६८॥ पश्चात् अकस्मात जागृति आने के बाद सब मिथ्या है यह जानता है। उस समय सस्वरूप में अविनाशी सद्भाव उत्पन्न होता है ॥ ६९॥ अतः हे अर्जुन। मन में झूठा देहाभिमान धारण करने से वह अपना स्वयं नाश करता है ॥ ७०॥

उस जीवात्मा का तो वह आप मित्र है कि जिस जीवात्मा द्वारा मन और इंद्रियों सहित शरीर जीता हुआ है। और जिसके द्वारा इंद्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है वह आप ही शत्रु के समान शत्रुता में बर्तता है ॥ ६॥

विवेक से अहंकार का त्याग करने से नित्यसिद्ध (परमात्म) वस्तु स्वरूप बन जाती है। इस प्रकार हमें विचारपूर्वक अपना अहंभाव छोड़ देना चाहिये तथा स्वयं सद्ब्रम्ह रूप होकर स्वयं ही अपना कल्याण करना चाहिये ॥ ७१॥ और नहीं तो जिस सुन्दर स्थल में पूर्ण आत्मज्ञान हो सकता है उस मानव शरीर के सौंदर्य में अपने आपको पूर्ण रूप से कोशकीटक के समान बद्ध करके स्वयं अपना बैरी बन जाते हैं ॥ ७२॥ प्राप्ति के समय अंधत्व की इच्छा होती है। क्या कहें ऐसे दैवहीन को! जो ऐसे समय स्वयं के नेत्र बंद करते ही ब्रम्ह प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है ॥ ७३॥ अथवा जैसे कोई मनुष्य भ्रम से वृथा छंद मन में दृढ़ धरते हुये स्वयं को खोया हुआ समझता है ॥ ७४॥ वैसा स्वयं अविनाशी होते हुए बुद्धिनाश के कारण भ्रमित होता है। स्वप्न के आघात से क्या कभी सत्य में विनाश होता है ॥ ७५॥ परंतु ऐसे पुरुष की स्थिति उसी तोते के समान होती है जो उस नलिका यंत्र पर बैठता है जो स्वयं उसी को पकड़ने के लिये लगाई जाती है। तोता उस नलिका यंत्र पर बैठता है और उसी के भार से वह नली घूमने लगती है। वास्तव में जिस समय वह नली उलटी चलने लगती है, उसी समय तोते को उस पर से उड़ जाना चाहिये, परंतु उसके मन में भ्रम से भय उत्पन्न होता है ॥ ७६॥ वह व्यर्थ ही गर्दन घुमाता है, छाती जोर से सिकोड़ता है और चोंच से उस नली को कसकर पकड़े रहता है ॥ ७७॥ उसके मन में मिथ्या यह धारणा हो जाती है कि मैं वास्तव में पकड़ा गया हूं और इसी भ्रम से अपने खुले हुए पंजों को उस यंत्र में और भी अधिक फंसाता जाता है ॥ ७८॥ इस प्रकार अकारण ही भ्रम से बद्ध, किसी दूसरे के बंधन में न पड़ा हुआ, वह यदि आधा काटो तब भी नलि को नहीं छोड़ता ॥ ७९॥ अतः जिसने संकल्प विकल्पों को बढ़ावा दिया है वह स्वयं अपना शत्रु होता है। इसके विपरीत जिस पुरुष को स्वस्वरूप का बोध हुआ है वह मिथ्या देहाभिमान नहीं करता है ॥ ८०॥

हे अर्जुन! सर्दी-गर्मी, सुख-दुख तथा मान-अपमान में जिसके अंतःकरण की वृत्तियां अच्छी प्रकार शान्त हैं ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुष के ज्ञान में परमात्मा सम्यक प्रकार से स्थित है। और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है अंतःकरण जिसका तथा इंद्रियों को जिसने जीत लिया है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण जो समान मानता है उस योगी को युक्त अर्थात भगवत प्राप्ति वाला कहा जाता है ॥ ७/८॥

नाही ।।८१।। जैसे हीन सुवर्ण तप्त। शुद्धता होत प्राप्त। वैसे जीव को ब्रह्मत्व। संकल्प लोप से ।।८२।। जैसा यह घटाकाश। घट नष्ट होवे महाकाश। न कोई प्रयास विशेष। मिलनार्थ ।।८३।। वैसा देहाहंकार व्यर्थ। समूल जाये जिसका पार्थ। वह परमात्मा सर्वव्याप्त। स्वतः सिद्धः ।।८४।। शीत और उष्ण। सुख दुःख समान। तथा मानापमान। माने अभिन्न जो ।।८५।। जिस मार्ग सूर्य चलत। उतना ही विश्व प्रकाशित। परमभाव जहां प्राप्त। ब्रह्मरूप स्वयं ।।८६।। मेघ से धारा छूटत न कभी सागर को चुभत। वैसे न शुभाशुभ पार्थ। योगीश्वर को भिन्न ।।८७।। जो यह भावविज्ञानात्मक। विवेक से व्यर्थ अशेख जो ज्ञान अनुभवात्मक। सत्यस्वरूप ।।८८।। अब व्यापक या एकदेश। चर्चा यह गुडाकेश। भासत व्यर्थ अशेष अद्वैतभाव में ।।८९।। यदि देहधारी दिखत। परब्रह्म से तुलत। जिसने जित समस्त। इंद्रियजात ।।९०।। वह जितेंद्रिय पार्थ। वही जान योगमुक्त। सान श्रेष्ठ भेद न जानत। कदापि जो ।।९१।। सुवर्ण की ढेरी। मेरुसम भारी। तथा मिट्टी मुट्ठीभरी। मानत सम ।।९२।। पृथ्वी का मोल हीन। ऐसा अनर्घ्य रत्न। मानत पत्थर समान। जाने तुच्छ ।।९३।।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।९।।

वहां सुहृद एवं शत्रु। उदासु अथवा मित्रु। यह भाव भेदु विचित्रु। कल्पना कैसी? ।।९४।। कौन बंधु उसको। द्वेषी न कोई उसको। मैं ही विश्व ऐसा जिसको। बोध प्राप्त ।।९५।। तब उसकी दृष्टि। अधमोत्तम न जाने किरीटि। क्या पारस की कसौटि। भिन्न होत? ।।९६।। वह जैसी करत शुद्धवर्ण। तैसी जिसकी बुद्धि अर्जुन। निर्मल निरन्तर सम जान। चराचर में ।।९७।। विश्वालंकार का बिस्तार। यदि होत बहु प्रकार। मूल वस्तु सुवर्ण साचार। परब्रह्म ।।९८।। ऐसे शुद्ध एवं सत्य। जिसने जाना तत्त्व। वह रचना से विचित्र। भ्रमित न होत ।।९९।। यदि देखत पट में दृष्टि। तब वह सब तंतुओं की सृष्टि। तैसी वस्तु एक किरीटि। अन्य न दूजी ।।१००।। सब जग ऐसे प्रतीति से। जो मानत अनुभव से। वही समबुद्धि ऐसे। जानो पार्थ ।।१।। जिसका नाम तीर्थराव। जिसके संग से ब्रह्मभाव। दर्शन से प्रशस्ति का ठाँव। भ्रान्त को भी ।।२।। जिसके बोल से धर्म चलत। दृष्टि महासिद्धि प्रसवत। स्वर्ग सुखादि समस्त। खेल जिसका ।।३।। सहज यदि होवे स्मरण। देत योग्यता स्वसमान। प्रशंसा से होत महान। लाभ जानो ।।४।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।१०।।

Funding by IKS-MoE

जिसने स्वयं के अंतःकरण पर विजय प्राप्त कर ली है, जिसकी सब कामनाएं शांत हुई हैं, परमात्मा उसके निकट है, दूर नहीं।।८१।। जैसे सुवर्ण का मैल अग्नि संपर्क से नष्ट होकर वह शुद्ध होता है उसी प्रकार संकल्प का नाश होते ही जीव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।।८२।। जैसे घट नष्ट होते ही घटाकाश महाकाश बनता है, उसको (महाकाश) मिलन के लिये कोई कष्ट नहीं होते।।८३।। वैसे जिसका मिथ्या देहाभिमान समूल नष्ट हो जाता है उसे परमात्म रूप होने के लिये फिर और कुछ भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह स्वतः सिद्ध परमात्मा होने से सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।।८४।। शीत और उष्ण, सुख-दुख एवं मान-अपमान को अभिन्न समझते हुए समान दृष्टि से देखता है।।८५।। जिस रास्ते से सूर्य चलता है वह अनायास आलोकित होता है। जहां परमात्मभाव प्राप्त होता है वहां वह पुरुष स्वयं ब्रह्मरूप बनता है।।८६।। मेघ से छूटनेवाली धारा सागर को कभी चुभती नहीं क्योंकि वे दोनों तत्त्वतः एकरूप हैं। उसी प्रकार योगारूढ़ शुभाशुभ कर्म, दोनों को स्वस्वरूप से भिन्न नहीं समझते।।८७।। यह संसार विषयक विज्ञानात्मक भावना विवेक से पूर्णतः व्यर्थ प्रतीत होती है। अनुभवात्मक ज्ञान ही सत्यस्वरूप होता है।।८८।। द्वैत भावना का जब विनाश हो जाता है तब हे गुडाकेश! परमात्मा व्यापक है अथवा स्थल-काल आदि से मर्यादित है इसकी चर्चा निःशेष व्यर्थ प्रतीत होती है।।८९।। जिसने इस प्रकार समस्त इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है वह शरीर धारण करने पर भी परब्रह्म से समतुल्य होता है।।९०।। वही सच्चा जितेन्द्रिय होता है और उसी को योगी कहना चाहिये क्योंकि छोटे बड़ों का भेद वह कदापि नहीं जानता।।९१।। मेरूपर्वत समान सुवर्ण के ढेरी को एवं एक मुट्ठि मिट्टी को वह एक बराबर समझता है।।९२।। वह ऐसा निरीच्छ और समबुद्धि बनकर रहता है कि सारी पृथ्वी के मूल्य के अनर्ध्य रत्न को भी वह पत्थर के समान मानता है।।९३।।

जो पुरुष सुहृद, मित्र, बैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बंधुओं में तथा धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाववाला है वह अतिश्रेष्ठ है।।९।।

फिर ऐसे पुरुष में स्नेही और शत्रु, पराये और परिचित आदि भेदभावों की विचित्र कल्पना भला कैसी हो सकती है?।।९४।। मैं स्वयं विश्व हूं ऐसा जिसको ज्ञान हुआ है उसकी दृष्टि में कौन किसका बंधु है न कोई उसका द्वेषी है।।९५।। उसे इस प्रकार का निश्चित ज्ञान हो चुका रहता है कि मैं ही समस्त विश्व हूं। फिर उसकी दृष्टि में अधम-उत्तम का भाव भेद नष्ट होता है। हे किरीटी यदि पारस पत्थर की ही कसौटी बनाई गई तो फिर उस पर अलग अलग सोने के कस कैसे लग सकते हैं।।९६।। उस पर तो जो- जो चीज रगड़ी जायेगी, वह सब निर्मल सोना ही बन जायेगी हे अर्जुन उसकी बुद्धि निरंतर निर्मल रहने से चराचर को समभाव से देखती है।।९७।। चाहे ये विश्वरूपी अलंकार अलग-अलग आकार और प्रकार के भले ही दिखाई पड़े परन्तु यह बात अच्छी तरह जानता है कि ये सब एक ही निर्मल ब्रह्मरूपी सोने के बने हुए हैं।।९८।। जिसने इस प्रकार शुद्ध तत्त्व को जान लिया है वह चित्र-विचित्र विश्व रचना से भ्रमित नहीं होता।।९९।। यदि वस्त्र के संबंध में अच्छी तरह विचार किया जाये तो यही पता चलता है कि यह सब तंतुओं का ही प्रसार है। इसी प्रकार वह भी निश्चयपूर्वक यही देखता है कि इस समस्त विश्व में एक परब्रह्म को छोड़कर दूसरी और चीज है ही नहीं।।१००।। जिसको इस प्रकार प्रतीति आती है, अनुभव से ज्ञान प्राप्त होता है, हे पार्थ! वही समबुद्धि है ऐसा सत्य जानो।।१।। उसके नाम को तीर्थराज का पावित्र्य प्राप्त होता है। भ्रान्त लोगों को भी जिसके सत्संग से ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है और दर्शन से समाधान प्राप्त होता है।।२।। जिसकी वाणी से धर्म रहस्य प्रकट होता है। उसकी दृष्टि जहां पड़ती है वहां महासिद्धियां उत्पन्न होती हैं। स्वर्ग सुख आदि उसकी सहज क्रीडा है।।३।। उसका सहज स्मरण होने से वह अपने जैसी योग्यता प्रदान करता है। उसकी स्तुति करनें से महान लाभ होता है।।४।।

Funding by IKS-MoE

कदापि न जिसका अस्त। ऐसा ज्ञान सूर्य जिसको प्रकट। स्वयं अपने में सदोदित। आत्मरत।।५।। ऐसा जो विवेकवंत। वह अद्वितीय पार्थ। तीनों लोक में यथार्थ। अपरिग्रही जो।।६।। इसविध असाधारण। सिद्ध पुरुष का लक्षण। अपने गौरव से श्रीकृष्ण। कथन करत।।७।। जो ज्ञानियों का बाप। दर्शकों का दृष्टिदीप। जिस समर्थ का संकल्प। विश्वसृष्टिकारक।।८।। ऊँकार पेठ में उत्तम। उत्पन्न वस्त्र शब्दब्रह्म। यश के लिये जिसके कम। आच्छादन को।।९।। जिसके अंग का तेज। रवि-चंद्र को करत सतेज। बिन उसके आधारकाज। विश्वस्थिति कैसी?।।११०।। नाम के आगे जिसके अर्जुन। आकाश लघु खण्ड समान। उसका एकेक गुण। अनाकलनीय।।११।। बहुत हुआ गुण बखान। अवर्णनीय उसका लक्षण। किंतु किंचित उसका दर्शन। कराया मैंने।।१२।। यदि नष्ट करके द्वैत। ब्रह्मविद्या करत स्पष्ट। तब सखा की प्रीति लोपत। प्रिय अर्जुन की।।१३।। अतः न कहत स्पष्ट ब्रह्मज्ञान। पट पीछे कहत कृष्ण। पृथक रखत अर्जुन का मन। प्रीति भोगार्थ।।१४।। जो सोहंभावस्फुरण। मोक्षप्राप्ति के लिये दीन। उसका लगे दृष्टि दोष दारुण। प्रीति को तेरी।।१५।। यदि अहंभाव इसका नष्ट। मद्रूप यदि यह होत। तब अकेला मैं अवशिष्ट। रहूंगा कैसे?।।१६।। दृष्टि देख तोषिजे। मुख से मधुर बोलिजे। आलिंगन दृढ़ दीजे। ऐसा कौन? ।।१७।। मन में जो न समावत। किससे कहूं वह सुरस बात। यदि अब ऐक्य होत। परस्पर।।१८।। इस भय से जनार्दन। अन्योपदेश युक्ति से जान। करत परिवर्तित मन। अर्जुन का देखो।।१९।। यदि भासत असत्य। तथापि यह बात सत्य। पार्थ ढली हुई मूर्त स्पष्ट। श्रीकृष्ण प्रेम की।।१२०।। अथवा वृद्धावस्था में देख। बांझ प्रसवत पुत्र एक। बनकर मोहमूर्ति अशेख। नाचन लागत।।२१।। वैसे श्री अनंत का प्रेम। अर्जुन पर निःसीम। इसलिये यह बात सप्रेम। कह दी मैंने।।२२।। कैसा यह नवल प्रीति विशेष। युद्ध प्रसंग में कैसा उपदेश। कारण प्रियमूर्ति गुड़ाकेश। सन्मुख स्थित।।२३।। प्रिय और लजावत। व्यसन से श्रम होत। बावला न बुद्धि भ्रमवत। तब वह कैसा?।।२४।। अतः भावार्थ यह विशेष। अर्जुन मैत्री का निवास। या सुख से शृंगारित। मानस दर्पण यह।।२५।। इसविध धन्य पुण्य पवित्र। जग में भक्ति बीज को सुक्षेत्र। वह कृष्णकृपा को पात्र। इसीलिये।।२६।। आत्मनिवेदन पूर्व की। जो पीठिका होय सख्य की। पार्थ अधिष्ठात्री उसकी। मातृका जानो।।२७।। पास स्वामी को न बखानिजे। पगपाईकका गुण गाईजे। ऐसा प्रिय अर्जुन देखिजे। जगन्नाथ को।।२८।। देखो अनुराग से भजत। प्रियतम को मान्य होत। पति से भी उसको बखानत। पतिव्रता को।।२९।। वैसे अर्जुन का विशेष स्तवन। करने को ललचावे मेरा मन। त्रिभुवन भाग्य को अधिष्ठान। एकमेव जो।।१३०।। जिसके प्रीतिवश। अमूर्त धरत मूर्तवेष। पूर्णकाम कामनावश। सख्य से जिसके।।३१।। तब श्रोतागण अतिमुदित।

Funding by IKS-MoE

इसीलिये उचित है कि जिसके मन और इंद्रियों सहित शरीर जीता हुआ है ऐसा वासनारहित और संग्रहरहित योगी एकांत स्थान में स्थित हुआ निरन्तर आत्मा को परमेश्वर के ध्यान में लगावे। ॥१०॥

इस प्रकार कदापि अस्त न होनेवाला ज्ञान सूर्य जब प्रकट होता है तब वह स्वयं अपने में नित्य अंतर्मुख रहता है ॥ ५॥ ऐसा जो विवेक संपन्न है वह हे पार्थ! अद्वितीय है। तीनों लोकों में वही यथार्थ में अपरिग्रही है ॥ ६॥ इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण असाधारण सिद्ध पुरुष का लक्षण गौरव पूर्वक बता रहे हैं ॥ ७॥ जो ज्ञानियों के पिता हैं। दर्शकों के दृष्टि का दीप हैं। जिसके अधिकार संपन्नदाता से संकल्प करते ही विश्व सृष्टि का निर्माण होता है ॥ ८॥ ओंकार की पेठ या बाजार में चुना हुआ उत्कृष्ट वाङ्गमय वस्त्र भी जिसके यश को ढ़कने के लिये अधूरा होता है (इसीलिये नेति-नेति कहता है) ॥ ९॥ जिसके अंगभूत तेज से सूर्यचंद्र को प्रकाश प्राप्त होता है। उसके आधार के बिना विश्वस्थिति क्या शक्य है? ॥ ११०॥ हे अर्जुन! जिसके विशाल नाम की तुलना में आकाश एक छोटे टुकड़े के समान तुच्छ है। उसका एकेक गुण समझ के परे है ॥ ११॥ उनका लक्षण वर्णन के परे है, किन्तु उनका किंचिन्मात्र दर्शन मैंने कराया है ॥ १२॥ इसलिये द्वैत का नाश होने से ब्रह्मज्ञान साक्षात प्रकट होता है। इससे अर्जुन की सख्य भक्ति का लोप होगा ॥ १३॥ अतः स्पष्ट ब्रह्मज्ञान न कहते हुए भगवान श्रीकृष्ण द्वैत का परदा रखते हैं। भक्तिप्रेम का आस्वाद लेने के लिये मन को थोड़ा पृथक रखते हैं ॥ १४॥ जो लोग अहंब्रह्मास्मि भावना में फंसे रहकर मोक्ष का सुख प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं उनकी बुरी नजर तुम्हारे और मेरे प्रेम को लगेगी ॥ १५॥ इसका यदि अहंभाव नष्ट हो गया तो मैं अकेला शेष कैसे रहूंगा? ॥ १६॥ जिसको देखकर मन में संतोष हो, जिसके साथ मधुरालाप करें, प्रेम के आवेश में जिसको दृढ़ आलिंगन दे सकूंगा ऐसा कौन होगा? ॥ १७॥ हम दोनों का यदि ऐक्य हो गया तो मन में न समानेवाली सुरस बात किस को कहें? ॥ १८॥ इस भय से जनार्दन भगवान ने अद्वैत में ही द्वैत को अन्य उपदेश के निमित्त से अर्जुन का मन परावर्तित किया ॥ १९॥ श्रोताओं को यह बात यद्यपि अशक्य प्रतीत होगी, किन्तु यह बात सत्य है कि, पार्थ श्रीकृष्ण सुख की ढली हुई साक्षात (जीती जागती हुई) मूर्ति है ॥ १२०॥ अथवा वृद्धावस्था में बांझ स्त्री को पुत्र प्राप्त होते ही वह साक्षात मोहमूर्ति बनकर नाचने लगती है ॥ २१॥ ठीक उसी प्रकार की अवस्था उस समय श्रीकृष्ण की हो रही थी। अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण का प्रेम यहां इतना अधिक देखकर ही मैंने भी प्रेम से यह बात कह दी ॥ २२॥ कैसी यह अद्भुत प्रीति है। युद्ध प्रसंग में यह कैसा उपदेश कर रहे हैं?। इसका कारण यह है कि प्रेम की मूर्ति साक्षात गुड़ाकेश यहां भगवान के सामने उपस्थित हैं ॥ २३॥ लज्जा उत्पन्न करे वह प्रेम कैसा?। श्रम उत्पन्न करे वह व्यसन कैसा?। भ्रमविरहित रहे वह बावला कैसा?। यह तीनों बातें जैसी कभी नहीं हो सकती ॥ २४॥ यह कहने का भावार्थ यही है कि अर्जुन वास्तव में भगवान की भक्ति का आश्रय स्थान है। या आत्मसुख से शृंगारित भगवान के मन का वह दर्पण है ॥ २५॥ इस प्रकार अर्जुन का पुण्य महान और पवित्र था और इसीलिये वह श्रीकृष्ण की कृपा से भक्तिरूपी बीज को ग्रहण करने के लिये उपजाऊ खेत की तरह सुपात्र हो गया ॥ २६॥ नवविधाभक्ति में आत्मनिवेदन भक्ति के पूर्व जो सख्य भक्ति है, पार्थ उसकी अधिष्ठात्री देवता है ऐसा जानो ॥ २७॥ अर्जुन पर श्रीकृष्ण का इतना अधिक प्रेम था कि पास ही प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण स्वामी खड़े रहने पर भी उनका वर्णन न करते हुए उनके दास अर्जुन का गुणवर्णन करने को जी चाहता है ॥ २८॥ अनुराग से जो भक्ति करती है और पति जिसका बहुत सम्मान करता है उस पतिव्रता की उसके पति से भी बढ़कर प्रशंसा की जाती है ॥ २९॥ अर्जुन की विशेष स्तुति करने के लिये मन ललचाता है क्योंकि समस्त त्रिभुवन के भाग्य का एकमेव अधिष्ठान बना है ॥ १३०॥ जिसके प्रेमपरवश अमूर्त भगवान साक्षात साकार प्रकट होते हैं। पूर्ण काम होते हुए भी सखा की कामना में वश होते हैं ॥ ३१॥ तब

कहत दैवगति विचित्र। वर्णन शैली सुन्दर जीतत। नादब्रह्म को।।३२।। नवल देखो संतजन। प्राकृत भाषा में वर्णन। हिय में मुद्रा उमटत पूर्ण। साहित्य रंगों की।।३३।। कैसी उन्मेखचंद्रिका दीप्ति। भावार्थ से मन में तृप्ति। गीतार्थ कुमुदिनी अतिप्रीति। विकसत सहज।।३४।। मुमुक्षु की कामना। पावत समाधाना। श्रोतागण सुमना। प्रसन्न डोलत।।३५।। वह निवृत्तिदास जानत। अवधान दीजे कहत। पाण्डव कुल पर उदित। श्रीकृष्णसूर्य।।३६।। देवकी के उदर में वास। यशोदा से पोषण सायास। अंत में उपयोग विशेष। पाण्डवों को।।३७।। बहु दिवस सेवा करना। या सुअवसर में प्रार्थना। न हुआ प्रयास भी इतना। सुदैवी से।।३८।। कहो कथा शीघ्र श्रोता कहत। दुलार से तब अर्जुन कहत। संत चिन्ह सब न वसत। मुझ में कृष्ण।।३९।। इन लक्षणों का निजतत्व। जानने में मैं असमर्थ। किंतु बोध से आपके निश्चित। योग्यता पाऊं मैं।।१४०।। यदि आप चाहत। पाऊं मैं ब्रह्मतत्व। जो बतलाओ अभ्यास समस्त। क्या अशक्य मुझको?।।४१।। न जानत बताई किसकी बात। वह श्लाघनीय मुझे भासत। जिसके अंग में योग्यता वसत। धन्य वो नर!।।४२।। ऐसा श्रेष्ठत्व मुझे दो कृष्ण। प्रभो! करोगे क्या इतना यत्न?। हंसके बोलत, निश्चित अर्जुन। करूंगा मैं।।४३।। यदि न संतोष पार्थ। सुख को न्यूनता सर्वत्र। यदि प्राप्त वह सर्वतः। सुख ही सुख।।४४।। जो सर्वेश्वर का सेवक। ब्रह्मरूप सहज शक्य। झुकत फलभार से देख। सुदैव के।।४५।। जो जन्म सहस्त्र पर्यंत। इंद्रादिक को दुर्मिल पार्थ। वह इतना आधीन अच्युत। हर शब्द झेलत।।४६।। तब जो कहत अर्जुन। जो होना मुझे ब्रह्म पूर्ण। वह सब सुनत कृष्ण। उस समय।।४७।। कहे जो ब्रह्मत्व के दोहद। इसके मन में सिद्ध। बुद्धि उदर में होत उपनिबंध। वैराग्य गर्भ का।।४८।। अथवा वह वृक्ष नूतन। वैराग्य वसंत में प्रसन्न। सोहंभाव बहर से पूर्ण। झुकत जात।।४९।। अतः सोचत लक्ष्मीपति। मोक्षफल की इसे शीघ्रप्राप्ति। जो अंतःकरण में विरक्ति निश्चित वसत।।१५०।। जिसका करेगा अनुष्ठान। वह पावेगा तत्क्षण। अब यदि बोधूं अभ्यास ज्ञान। न होगा व्यर्थ।।५१।। ऐसे विचार से अनन्त। उस अवसर कहत। सुनो यह पार्थ। पंथराजु।।५२।। जिस प्रवृत्ति वृक्ष के तल। बिछे कोटि मोक्षफल। जिस मार्ग का यात्री असफल। अद्याप शंकर।।५३।। अन्य योगीजन चलत पार्थ। प्रथम हृदयाकाश में वक्र वाट। आगे अनुभव से पावत। राजमार्ग में।।५४।। तब अज्ञान मार्ग त्यजत। बोध मार्ग से सीधे धावत। पूर्वी महर्षि जिससे पावत। श्रेष्ठत्व पूर्ण।।५५/५६।। जब यह मार्ग लभत। क्षुधा तृषा विस्मरत। रात्रि दिवस का होत। भान नष्ट।।५७।। पग जहां पड़त। मोक्ष की खान खुलत। आडमार्ग से भी पावत। स्वर्गसुख।।५८।। पूर्व मार्ग छांडत। पश्चिम पहुंचत। जहां पर चलना पार्थ।

Funding by IKS-MoE

श्रोतागण आनंदविभोर होते हुए कहते हैं हम लोगों का यह कैसा विचित्र सौभाग्य है! इस सुंदर वर्णन शैली ने नादब्रह्म पर विजय प्राप्त की है॥ ३२॥ हे सज्जनों! यह आश्चर्य देखो! प्राकृत भाषा में वर्णन करते हुए श्री साहित्यरंग हृदय में पूर्ण प्रतिबिंबित हुए हैं॥ ३३॥ ज्ञानचंद्रिका की ज्योत्सना कैसी अनोखी है! जिसके भावार्थ प्रकाश से मन में तृप्ति होती है। इसीलिये इसके प्रकाश में गीतार्थ रूपी कुमुदिनी प्रगाढ़ प्रीति से सहज विकसित होती है॥ ३४॥ इस सुंदर व्याख्यान से मुमुक्षु की कामना को समाधान प्राप्त होता है। शुद्ध मन के श्रोतागण भीतरी आनंद की प्रसन्नता से डोलने लगते हैं॥ ३६॥ श्रोताओं की इस अवस्था पर ध्यान देते हुये श्रीनिवृत्तिदास ज्ञानदेवजी कहते हैं अब आप ध्यानपूर्वक सुनिये। इसमें संदेह नहीं कि पाण्डव कुल पर आज श्रीकृष्ण सूर्य का उदय हुआ है॥ ३६॥ देवकी के गर्भ से जिसने जन्म लिया, जिसका पालन पोषण यशोदा ने बड़े कष्टपूर्वक किया और अंत में उनका विशेष उपयोग पाण्डवों को हुआ॥ ३७॥ बहुत दिनों तक सेवा करना, या योग्य अवसर देखकर प्रार्थना करना, इतना प्रयास करने की आवश्यकता भी उस दैववान अर्जुन को नहीं पड़ी॥ ३८॥ तब श्रोताओं ने कहा, अब जल्दी से कथा कहिये। तब ज्ञानदेवजी आगे की कथा का सूत्र चलाते हुए कहने लगे। अत्यंत प्रीति पूर्वक कहने लगे हे कृष्ण! संतों के लक्षण (मेरी समझ के परे) मुझमें नहीं हैं॥ ३९॥ इन लक्षणों का निजतत्त्व जानने को मैं असमर्थ हूं। आपने यदि निश्चित ज्ञान कराया तो मुझे समझने की योग्यता प्राप्त होगी॥ १४०॥ आपकी कृपा से मैं ब्रह्मतत्त्व प्राप्त करूंगा। जो अभ्यास करने को कहेंगे वह समस्त क्या मेरे लिये अशक्य होगा?॥ ४१॥ यद्यपि मैं यह नहीं समझ सका हूं कि आपने अब तक किस संबंध में मुझसे ये बाते कहीं हैं, परंतु उसके लिये मेरे मन में आदर और श्रद्धा उत्पन्न हुई है। जिस नर को यह योग्यता होगी वह धन्य है!॥ ४२॥ हे कृष्ण! ऐसी श्रेष्ठ योग्यता मुझे प्रदान कीजिये। प्रभो! इतना यत्न क्या आप मेरे लिये करेंगे? तब हंसते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहने लगे, हे अर्जुन मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही निश्चित करूंगा॥ ४३॥ हे पार्थ! यदि तुम्हें संतोष प्राप्त नहीं हुआ तो सर्वत्र न्यूनता प्रतीत होगी। यदि तुम्हें प्राप्ति होगी तो सर्वत्र सुख ही सुख प्राप्त होगा॥ ४४॥ जो सर्वेश्वर का सेवक है उसको ब्रह्मप्राप्ति सहज शक्य है। जरा यह देखो कि अर्जुन का सौभाग्य कैसा चमका है और उसकी कामनाडाली सुदैव के फलों से झुक गई है॥ ४५॥ जो सहस्त्र जन्म पर्यंत इन्द्रादि देवताओं के लिये भी अप्राप्त है वह अच्युत, पार्थ के इतना आधीन है कि उसका प्रत्येक शब्द स्वीकारता है॥ ४६॥ तब अर्जुन ने कहा कि मुझे पूर्ण ब्रह्मावस्था प्राप्त हो। उस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सारे कथन सुन लिये॥ ४७॥ कहने लगे अब इसके मन में ब्रह्मत्व के दोहद सिद्ध हुए हैं। बुद्धिरूपी उदर में वैराग्य गर्भ अंकुरित हुआ है॥ ४८॥ यह नूतन वृक्ष वैराग्य रूपी वसंत ऋतु में प्रसन्न होकर सोऽहंभाव से पुष्पित होकर लद गया है॥ ४९॥ अतः लक्ष्मीपति भगवान श्रीकृष्ण सोचते हैं कि इसके अंतःकरण में विरक्ति निश्चित स्थिर हुई है जिससे इसको मोक्षफल की शीघ्र प्राप्ति होगी॥ १५०॥ जिसका यह अनुष्ठान करेगा उसका फल इसे तत्क्षण मिलेगा। अब यदि इसे योग अभ्यास का उपदेश दूं तो वह व्यर्थ नहीं होगा॥ ५१॥ इस विचार से श्री अनन्त उस समय कहने लगे हे पार्थ! यह पंथराज सुनो॥ ५२॥ इस मार्ग में जगह-जगह प्रवृत्ति रूपी वृक्षों की जड़ में कोटी-कोटी मोक्षफलों के गुच्छे लगे हैं। श्री शंकरजी अब भी इस मार्ग से प्रवास कर रहे हैं। उनको भी अभी तक सफलता नहीं मिली है॥ ५३॥ इतर योगीजन पहले-पहल कुछ दूसरे ही टेढ़े तिरछे मार्गों में भटक चुके (हृदयाकाश में)। परन्तु अन्त में उन्होंने भी यही राजमार्ग स्वीकृत किया है॥ ५४॥ तब अज्ञानमार्ग का त्याग करते हुए ज्ञानमार्ग में उनकी सीधी दौड़ प्रारंभ होती है। इसके पूर्व इसी मार्ग से बड़े-बड़े महर्षि पूर्ण सिद्धत्व तक पहुंचे हैं॥ ५५/५६॥ जब योग का राजमार्ग एक बार दिखाई पड़ता है, तब भूख प्यास सब मिट जाती है। इस मार्ग में रात और दिन का काल भेद भूल जाते हैं॥ ५७॥ इस मार्ग पर चलते समय जहां-जहां पैर पड़ते हैं वहां-वहां मोक्ष की खान प्रकट होती है। और यदि कोई रुकावट आ पड़े तो स्वर्गसुख तो निश्चित मिलता है॥ ५८॥ हे पार्थ! पूर्व मार्ग को

निश्चल बनके।।५९।। इस मार्ग से जहां जात। वह गांव स्वयं होत। यह बात सहज स्पष्ट। जानो तुम।।१६०।। तब पार्थ बोलत, हे कृष्ण!। कब कहोगे मुझे योगज्ञान। डूबत मैं आर्तिसमुद्र में पूर्ण। निकालो मुझको।।६१।। तब श्रीकृष्ण कहत। हम स्वयं तुझको निरूपत। क्यों पुनः प्रश्न पूछत। उच्छश्रृंखलता से?।।६२।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

अब विशेष कहूं स्पष्ट। जिसका अनुभव उपयुक्त। उस अभ्यासार्थ खोजना युक्त। स्थान एक।।६३।। जहां चित्त को समाधान। न भाये त्यागना वह स्थान। वैराग्य होवे दुगुन। देखने से जो।।६४।। पूर्वी संतों का जहां निवास। मन को सहज संतोष। चित्त पावत हर्ष। बढ़त धैर्य।।६५।। अभ्यास को मंन उल्लसित। हृदय को अनुभव प्राप्त। ऐसा रमणीय स्थान युक्त। अखण्ड जहां।।६६।। जिस स्थान के निकट। तपश्चर्या का मनोरथ। पाखंडि को भी उपजत। आस्था समूल।।६७।। सहज यदि अवचित उस स्थान में प्रवेशत। सकाम भी जाना विस्मरत। घर को अपने।।६८।। इच्छा न उसको भी रोकत। जानेवाले को बैठावत। हिलाकर करत जागृत। विरक्ति को।।६९।। श्रेष्ठ राज्य त्यागिये। निवांत यहां बैठिये। देखत ही मन लुब्ध होवे। विलासी का भी।।१७०।। जो इस प्रकार श्रेष्ठ। और शुद्ध विशिष्ट। जहां अधिष्ठान प्रकट। प्रत्यक्ष दिखत।।७१।। और एक देखना युक्त। साधक जन जहां वसत। अन्य जन पदरव से मुक्त। निरन्तर।।७२।। जिस स्थान में अमृतोपम। समूल मधुर उत्तम। घनदाट वृक्ष मनोरम। सदा फलत।।७३।। पग-पग पर उदक। वर्षाकाल में भी चोख। निर्झर बहत विशेख। सुलभ जहां।।७४।। सूर्य तेज जहां सौम्य। आतप भी तापहीन। पवन शीतल अर्जुन। मंद बहत।।७५।। वह स्थान सदा निःशब्द। न बहुत श्वापद। शुक अथवा षटपद। अति नाहीं।।७६।। जल में बत्तख-हंस। दो चार रहे सारस। कभी-कभी नाद सुरस। कोकिला का वहां।।७७।। निरंतर सदा नाही। आते-जाते कभी कोई। रहत जहां मयूर ही। भाये हमको।।७८।। परन्तु आवश्यक पार्थ। स्थान ऐसा खोजना युक्त। जहां रहे मठ गुप्त। अथवा शिवालय।।७९।। दोनों में जो रुचत। चित्त को जो भावत। ऐसे स्थान में एकांत। बैठे तुम।।१८०।। ऐसा स्थान देखिये। मन को स्थिर कीजिये। यदि सुस्थिर बिछाइये। आसन ऐसा।।८१।। ऊपर शुद्ध मृगचर्म। मध्ये धूतवस्त्र नरम। तल में रखिये साग्रिम। कुशांकुर।।८२।। दर्भासन सुकोमल सरिस। सुबद्ध रहत आपस। स्वस्थान में सुवेश। व्यवस्थित।।८३।। कदाचित यदि ऊंचा होत। तब अंग अस्थिर डोलत। यदि नीचा बहुत पावत। भूमिदोष।।८४।। अतः वैसा न कीजिये। समभाव धरिजे। योजना ऐसी कीजे। आसन की पार्थ।।८५।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्जाद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

फिर वहां अर्जुन। एकाग्र अंतःकरण। करके सद्गुरु स्मरण। अनुभव

Funding by IKS-MoE

छोड़कर पश्चिम मार्ग में पहुंचने से वहां इस मार्ग का प्रवास निश्चल बनकर करना पड़ता है।।५९।। इस मार्ग से चलकर हम जिस गांव में पहुंचते हैं हम स्वयं वही गांव बन जाते हैं। यह बात तुम स्पष्ट समझ लो।।१६०।। तब पार्थ कहने लगे हे कृष्ण! यह महान योगज्ञान आप मुझे कब बताओगे? आर्त्ति उत्कंठा के सागर में मैं इस समय डूब रहा हूं, मुझको शीघ्र निकालो।।६१।। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा- हे पार्थ! तुम्हारी ये बातें बहुत ही उतावलेपन की हैं। मैं तो स्वयं बतला रहा था, पर तुम बीच में ही प्रश्न पूछ बैठे।।६२।।

शुद्ध भूमि में कुशा, मृगछाला और धूतवस्त्र है उपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसन को, न अति ऊंचा न अति नीचा स्थिर स्थापन करके।।११।।

अब जिसका अनुभव उपयोगी है वह विशेष बात स्पष्ट करता हूं। उसका अभ्यास करने के लिये एक योग्य स्थान खोजना चाहिये।।६३।। जहां अंतःकरण को समाधान प्राप्त होता है। वह स्थान छोड़ने की इच्छा नहीं होती। जिस स्थान को देखने से वैराग्य दुगना बढ़ जाता है।।६४।। जिस स्थान पर पहले कभी संतों ने निवास किया हो। मन में सहजता से संतोष उत्पन्न होकर अंतःकरण को आनंद प्राप्त होकर धैर्य बढ़ता है।।६५।। जहां अभ्यास करने के लिये अखंडित मन उल्हसित होता है। जहां की रमणीयता के कारण हृदय को आत्मानंद का अनुभव प्राप्त होता है ऐसा स्थान अभ्यास के लिये योग्य समझो।।६६।। जिस स्थान पर पहुंचने से पाखंडियों के मन में तपश्चर्या की इच्छा उत्पन्न होती हो एवं आस्तिक भाव मूलतः जागृत होता हो।।६७।। जहां कोई रास्ता चलता आदमी अचानक पहुंच जाने पर यदि सकाम हो तो भी वहां से लौटने की या हटकर जाने की बात बिलकुल भूल जाता है।।६८।। जिनको इच्छा नहीं है उनको भी रोक लेता है, भटकने वालों को स्थिर करता है और वैराग्य को थपकी लगाकर जागृत करता है।।६९।। वह स्थान ऐसा होना चाहिये कि उसे देखते ही विषय सुख के लोलुप पुरुष का मन लुब्ध होकर ऐसा जान पड़े कि ये संसार का सुंदर और महान राज्य छोड़कर यहीं शांतिपूर्वक पड़ा रहूं।।१७०।। जो इस प्रकार श्रेष्ठ और शुद्ध स्थान है वहां भगवान साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देते हैं।।७१।। वहां और एक बात की ओर ध्यान देना चाहिये। जहां साधक जन रहेंगे वह स्थान सामान्य जन के पदरव से निरंतर मुक्त होना चाहिये।।७२।। जिस स्थान में अमृत सदृश मधुर फल लगने वाले घने सुंदर वृक्ष नित्य फलते रहते हैं।।७३।। स्थान-स्थान पर जहां जल सुलभता से प्राप्त है। वर्षाकाल में भी शुद्ध जल के निर्झर विशेषतः जहां बहते हैं।।७४।। जहां सूर्य का तेज भी सौम्य प्रतीत होता है। ग्रीष्म ऋतु भी तापहीन हो। हे अर्जुन! जहां वायु भी मंद एवं शीतल बहती हो।।७५।। वह स्थान नित्य निःशब्द हो। वहां श्वापद भी ज्यादा न हो। तोते एवं भ्रमर भी बहुत न हों।।७६।। वह स्थान ऐसा होना चाहिये कि पानी के सहारे रहनेवाले हंस, बत्तख और दो चार सारस पक्षी रहते हों। और कभी-कभी कोयल का सुमधुर कूजन भी सुनाई देता रहे।।७७।। निरंतर रहनेवाले नहीं किन्तु क्वचित आनेवाले मयूर भी दिखाई दें तो अच्छा है।।७८।। परन्तु हे पार्थ! इतना जरूर है कि वहां एकाद पुरातन मठ या शिवालय होना बहुत आवश्यक है।।७९।। दोनों में से जहां मन लगता है ऐसे एकान्त स्थान में बैठना चाहिये।।१८०।। ऐसा स्थान देखते ही मन स्थिर करके सुस्थिर आसन बिछाना चाहिये।।८१।। ऊपर शुद्ध मृगचर्म बिछाते हुए उसके मध्य भाग में धूतवस्त्र हो और तल में अग्रसहित दर्भांकुर बिछाना चाहिये।।८२।। दर्भासन सुकोमल एवं समतल हो, तथा अच्छा बंधा हुआ एवं व्यवस्थित हो।।८३।। आसन यदि ऊंचा हुआ तो शरीर हिलने लगेगा। कम ऊंचा होने से नीचे से भूमिदोष उत्पन्न होगा।।८४।। अतः वैसा नहीं करना चाहिये। आसन समतल हो ऐसी योजना करना चाहिये।।८५।।

वहां उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके, चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को वश में किये हुए अंतःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करें।।१२।।

हे अर्जुन! वहां एकाग्र अंतःकरण से श्री सद्गुरु का स्मरण करके अनुभव प्राप्त करने के लिये तत्पर

लीजे ।।८६।। जहां सादर स्मरत। सबाह्य सात्विकता भरत। जब तक काठिण्य विरत। अहंभाव का।।८७।। विषय विस्मरण घड़त। इंद्रियों की कसमस मोड़त। तब मन को मोड़ पड़त। हृदयान्तर में।।८८।। ऐक्य जब तक ऐसा होवे। तब तक वहां रहिये। फिर उसी बोध से बैठिये। आसन ऊपर।।८९।। अंग से अंग सम्हालिये। पवन से पवन सवारिये। नित्य अनुभव पाईये। स्पष्ट सहज।।१९०।। प्रवृत्ति जहां निवर्तत। समाधि सहज साधन। बैठक से सिद्ध होत। अभ्यासपूर्ण।।९१।। मुद्रा का श्रेष्ठत्व अर्जुन। कहूं अब करो श्रवण। दोनो उरु जंघा जान। सटके रखो।।९२।। एक चरण दूजे पर। चरणतल मोडिये वक्र। आधारद्रमुके नीचे रखकर। संचारिये दृढ़।।९३।। सव्य तल में रखिये। उससे सीमर दबाइये। ऊपर सहज स्थापिये। वाम चरण।।९४।। गुद-मेढ्र में जो अंतर। गिनके अंगुली चार। सार्ध सार्ध दोनों ओर। छोड़के रखिये।।९५।। मध्ये अंगुली एक शेष। गुल्फोर्ध्वसे विशेष। शरीर तोल के अशेष। दबाइये नीका।।९६।। न जानकर उठा शरीर। पृष्ठांत उठाइये ऊपर। गुल्फद्वय साचार। सन्मुख धरिजे।।९७।। तब शरीर संच पार्था। संपूर्ण सर्वथा। पार्ष्णी के माथा। स्वयंभू होत।।९८।। जानो यह अर्जुन। मूलबन्ध का लक्षण वज्रासन गौण। नाम इसका।।९९।। ऐसी आधारमुद्रा घटत। अधोमार्ग बंद होत। तब अपानवायु चढ़त। भीतर ही भीतर।।२००।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

तब सहज करसंपुट। वामचरण पर स्थित। बाहुमूल दोनों दिखत। उभारित।।१।। जब बाहुद्वय उत्थित। शिरकमल मध्य में गढ़त। नेत्र द्वार का होत। किवाड़ बंद।।२।। उर्ध्व पलक ढलक। अधोपलक विस्तारित। स्थिति अर्ध्वोन्मीलित। उपजत सहज।।३।। दृष्टि रहे अंतस्थित। यदि कौतुक से क्वचित। बाहर आवे रुकत। नासाग्र पीठ में।।४।। ऐसी भीतर ही भीतर। निकलत न कदा बाहर। इसलिये होत नासिकाग्र। निरन्तर।।५।। भिन्न दिशा गमन। अथवा अन्य रूप दर्शन। यह कामना नाशत पूर्ण। सहज जानो।।६।। फिर कंठनाल ढकत। हनुअधो झुकत। दृढ़ होकर दबत। वक्षस्थल में।।७।। मध्य में कंठमणि लोपत। यह बंध जो घटत। वह जालंधर कहलावत। पंडुकुंवर।।८।। नाभि ऊपर उठत। उदर होत सपाट। अंतर्यामी विस्फारत। हृदयकोश।।९।। स्वाधिष्ठान के ऊपर। नाभिस्थान के अधर। बंध पड़त जो साचार। ओढ़ियाण वह।।२१०।। ऐसा शरीर बाहर से। अभ्यास प्रारंभ जब से। निराश्रय होत तब से। मनोधर्म।।११।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

कल्पना निमत। प्रवृत्ति शमत। अंग मन विरमत। सहज भाव से।।१२।। क्षुधा कब होत। निद्रा कहां जात। यह स्मरणमात्र नाशत। समूल सहज।।१३।। मूलबंध

होना चाहिये।।८६।। आदरपूर्वक स्मरण करते ही अंतर्बाह्य सात्विकता भर जाती है। एवं अहंकार की कठोरता बिलकुल नष्ट हो जाती है।।८७।। विषयों की पूरी विस्मृति हो जावे, इंद्रियों की चंचलता रुक जावे और मन अंतर्मुख होकर हृदय में स्थिर हो जावे।।८८।। जब तक ऐसा ऐक्य होता है तब तक वहां रहना चाहिये। फिर उसी भाव में आसन पर बैठना चाहिये।।८९।। ऐसी अवस्था में यह अनुभव होने लगेगा कि शरीर अपने आप अपने को संभालता है एवं शरीरस्थ वायु पर नियंत्रण होता है। तब सहज ही स्पष्ट अनुभव होने लगते हैं।।१९०।। जहां प्रवृत्ति समाप्त होती है वहां समाधि अवस्था सहज प्राप्त होती है। आसन सिद्ध होकर योगाभ्यास पूर्ण होता है।।९१।। हे अर्जुन! मुद्रा की श्रेष्ठता का अब वर्णन करता हूं सुनो! पिंडली और जंघा दोनों सटा के रखो।।९२।। पिंडली को जांघ से मिलाकर पैर के तलुवे इस प्रकार टेढ़े करने चाहिये कि वे ऊपर की ओर हो जायें और तब उन्हें गुदस्थान के मूल में रखकर जोर से दबाना चाहिये।।९३।। दाहिने तलुवे से गुदस्थान की सीवन का ठीक बीचवाला भाग दबाना चाहिये। इससे बायां तलुआ सहज में ठीक ऊपर जमकर बैठ जायेगा।।९४।। गुदा और वृषण के बीच चार अंगुलका अंतर होता है। उसमें से यदि डेढ़-डेढ़ अंगुल दोनों ओर छोड़ दिया जाये तो बीच में एक अंगुल बाकी रहती है।।९५।। इस बीच की एक अंगुल में ऐड़ी का पिछला भाग रखकर और सारे शरीर पर भार खूब तौलकर उस स्थान को अच्छी तरह दबाना चाहिये।।९६।। फिर पीठ के नीचेवाला भाग ऐसे हलकेपन से ऊपर उठाना चाहिये जिसमें यह भी पता न चले कि ऊपर का शरीर उठाया गया है या नहीं और दोनों घुटने सामने रहना चाहिये।।९७।। तब संपूर्ण शरीर का भार एड़ी के अगले भाग पर आ पड़ेगा और शरीर सहज स्वयंभू लिंग के सदृश आधारचक्र पर स्थिर होता है।।९८।। हे अर्जुन! इसी को मूलबंध कहते हैं इसी का 'वज्रासन गौण' यह दूसरा नाम है।।९९।। आधार मुद्रा में याने मूलबंध से अधोमार्ग बंद होता है। तब आतों में संचार करनेवाला अपान वायु भीतर ही भीतर चढ़ने लगता है।।२००।।

उसकी विधि इस प्रकार है कि काया, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ।।१३।।

तब दोनों कर वामचरण पर संपुट समान स्थिर होते हैं। तथा दोनों बाहुमूल ऊपर उठे हुये दिखाई देते हैं।।१।। उठे हुए दोनों कंधों के बीच में मस्तक स्थिर होता है आंखों में आपसे आप झपकी आने लगती है।।२।। ऊपर का पलक नीचे झुकता है। नीचे का विस्फारित होता है जिससे अर्धोन्मीलित अवस्था स्वाभाविक रीति से प्राप्त होती है।।३।। दृष्टि अंतर्मुख होती है, बाहर जाने का वह क्वचित प्रयास करती है तब नासाग्र में ही पहुंचती है।।४।। इसी प्रकार दृष्टि अंदर की ओर संकुचित हो जाने के कारण वह कदापि बाहर नहीं निकलती, इसीलिये निरंतर नासिकाग्र में स्थिर होती है।।५।। अन्य दिशाओं में जाना अथवा अन्य रूपदर्शन करना यह इच्छा स्वाभाविक रीति से नष्ट होती है।।६।। फिर कंठनाल को ढांकते हुए ठोड़ी गले के नीचेवाले गड्ढे में बैठ जाती है।।७।। कंठमणि भीतर लुप्त होती है। उस अवस्था में जो बंध लगता है उसे 'जालंधर बंध' कहते हैं।।८।। नाभि ऊपर उठती है। पेट अंदर धंसकर समतल होता है। अंतर्यामी हृदयकोष विस्तृत होता है।।९।। स्वाधिष्ठान के ऊपर और नाभिस्थान के नीचे जो यह बंध पड़ता है उसको उड्डीयान बंध कहते हैं।।२१०।। इस प्रकार की बंध और मुद्रा से शरीर के बाहरी अंगों पर योगाभ्यास की छाप पड़ती है। और शरीर के अंदर का वह आधार नष्ट हो जाता है जिसमें मनोवृत्तियां रहती हैं जिससे मन का भटकना बंद होता है।।११।।

और ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थिर रहता हुआ भयरहित तथा अच्छी प्रकार शांत अंतःकरणवाला और सावधान होकर मन को वश में करके मुझमें चित्त लगानेवाला और मेरे परायण हुआ स्थित होवे।।१४।।

कल्पनाएं नष्ट होती हैं। प्रवृत्ति शांत होती है। स्वाभाविकता से शरीर और मन शांत हो जाता है।।१२।। क्षुधा कब लगती है?। निद्रा कहां चली जाती है, इसकी कोई सुध नहीं रहती।।१३।।

Funding by IKS-MoE

से अवरोधित। अपानवायु परिवर्तित। शीघ्र ऊपर संकुचित। बढ़ने लगत।।१४।। वह क्षोभित बलवत्तर। बद्ध स्थान में करे गुरगुर। धड़क देत चक्र को मणिपुर। रह रह के तब।।१५।। फिर शांत चक्रवात। उदर में संचरत। शैशव से मल एकत्रित। फेकत बाहर।।१६।। तल में न मुड़त। पक्वाशय में प्रवेशत। कफ, पित्त का करत। नाश समूल।।१७।। धातु सागर उल्लंघत। मेद पर्वत फोड़त। अंतर्मज्जा काढ़त। अस्थिगत।।१८।। नाड़ियां शुद्ध करत। अवयव शिथिल होत। साधक को भय दिखावत। किंतु न डरना युक्त।।१९।। व्याधि करत उत्पन्न। शीघ्र नाशत पूर्ण। आप पृथ्वी का अर्जुन। मेल करत।।२२०।। फिर आसन से स्थिर। उष्मा उत्पन्न धनुर्धर। शक्ति करत उजागर। कुंडलिनी को।।२१।। नागिन का शिशु सान (छोटा)। कुंकुम से स्नापित पूर्ण। वलयांकित शयन। करत जैसे।।२२।। वैसी वह कुंडलिनी। लघु औट वर्तिनी। अधोमुख सर्पिणी। करत शयन।।२३।। विद्युलता की चूड़ी। वन्हिज्वाला की झड़ी। शुद्ध सुवर्ण की लड़ी। चोखी जैसी।।२४।। नाभिस्कंद में अवरुद्ध। संकुचित सुबद्ध। वज्रासन से सन्नद्ध। होत सावधान।।२५।। तब नक्षत्र जैसे गिरत। या सूर्य का आसन ढलत। अथवा बीज अंकुरत। तेज का निखिल।।२६।। वैसा वेढ़ा छोड़त। संकौतुक अंग मोड़त। नाभिस्कंद में आरूढ़त। शक्ति स्वयं।।२७।। सहज बहुदिनों की भूख। जागृत होत मिख। आवेश से विस्फारत मुख। उर्ध्व दिशा में।।२८।। वहां हृदय कोशातल में पार्थ। पवन जो समाविष्ट। उसको समग्र आलिंगत। सुदृढ़ता से।।२९।। मुख की ज्वाला से। अधो ऊर्ध्व दिशा से। मांसादिक सवेग से। भक्षण करत।।२३०।। जो-जो जहां समांस। उसका सहज करत ग्रास। बचत जो फिर शेष। हिय में भरत।।३१।। चरण करतल शोधन। करत उर्ध्व खंड का भेदन। झपटत संधिस्थान। अंग प्रत्यंग के।।३२।। अधोभाग न छांड़त। नखों का सत्व निकालत। त्वचा धोकर जोड़त। कंकाल से।।३३।। अस्थि नलिका निचोड़त। शिराओं का गाभा भक्षत। उससे वृद्धि होत नष्ट। रोम बीजों की।।३४।। सप्तधातुओं का सागर। तृषार्त प्राशत समग्र। शुष्क करत शरीर। सवेग से।।३५।। नासिका पुट से पवन। बारा अंगुलि गतिमान। दृढ़ अंदर पकड़ के प्राण। निवर्तवत।।३६।। तब अध ऊर्ध्व जात। ऊर्ध्व तल में खींचत। आलिंगन से बचत। चक्रपंजर।।३७।। तत्क्षण दोनों एकवटत। किंतु कुंडलिनी क्षणैक दुश्चित। क्या काम? कहकर लौटावत। पूर्वस्थिति में।।३८।। समग्र धातु पार्थ। भक्षत, न कछु बचत। उदर भाग चाटत। शुष्क करत।।३९।। ऐसी ग्रासत दोनों भूत। तब संपूर्ण संतुष्ट। सौम्य होकर रहत। सुषुम्ना संनिध।।२४०।। गरल

मूलबंध से रोका हुआ अपानवायु परिवर्तित होकर संकुचित होते हुए ऊपर की ओर शीघ्र बढ़ने लगता है ।।१४।। फिर वह कुपित होकर मत्त होता है और उसी बंद जगह में गड़गड़ाने लगती है और नाभिस्थान में रहने वाले मणिपुर नामक चक्र को रह-रहकर आघात करने लगती है ।।१५।। इसके बाद जब यह आंधी शांत हो जाती है और उदर में फैल जाती है। बाल्यकाल से संग्रहित मल को बाहर निकालती है ।।१६।। अपान वायु की यह लहर तल में नष्ट न होते हुए पक्वाशय में प्रविष्ट होती है। एवं कफ, पित्त का समूल नाश करती है ।।१७।। धातु का सागर पार करते हुए मेद का पर्वत चकनाचूर करती है। अस्थियों में स्थित अंतर्मज्जा को भी बाहर निकालती है ।।१९।। नाड़ियों को शुद्ध करती है और सब अवयवों को शिथिल कर देती है। इस प्रकार अपने इन लक्षणों से यह अपान वायु साधना करने वाले नौसिखिए लोगों को डरा देती है। परंतु साधकों को डरना नहीं चाहिये ।।१९।। कारण यह है कि यद्यपि यह अपानवायु इस तरह के व्यापारों से कुछ व्याधियों को उत्पन्न करती है परंतु साथ ही साथ उस व्याधि का परिहार भी करती जाती है हे अर्जुन! जलतत्त्व एवं पृथ्वीतत्त्व को वह एक कर देती है ।।२२०।। (पृथ्वीतत्त्व जलतत्त्व में विलीन होता है) इसी बीच में हे अर्जुन! आसन स्थिर होने से उसके ताप के कारण उष्णता उत्पन्न होने से महाशक्ति कुंडलिनी जागृत होती है ।।२१।। जिस प्रकार नागिन का छोटा बच्चा कुंकुम से नहाया हुआ कुंडली बनाकर सोता हो ऐसा दिखता है ।।२२।। वैसी कुंडलिनी साढ़े तीन वलयों में सिर नीचे करके नागिन की तरह सोई रहती है ।।२३।। बिजली की चूड़ी या अग्नि की ज्वाला की झड़ी या तप्त सुवर्ण की लड़ी जैसी दिखती है ।।२४।। नाभिस्थान अवरुद्ध होने से वह चिमट जाती है। एवं वज्रासन के दबाव के कारण वह जाग उठती है ।।२५।। तब जिस प्रकार कोई तारा टूट पड़ता है या सूर्य का आसन छूट जाता है अथवा स्वयं अखिल तेज का बीज प्रस्फुटित होने पर उसमें से कोमल गाभ निकलता है ।।२६।। उसी प्रकार यह कुंडलिनी अपना घेरा छोड़ देती है और मानो अंगड़ाई लेती हुई नाभिस्कंद पर खड़ी हो जाती है ।।२७।। स्वभावतः वह बहुत दिन से भूखी रहती है, तिस पर वह दबाकर जगाई जाती है, इसलिये वह अपना मुख बड़े आवेश से ऊर्ध्व दिशा में खोलती है ।।२२८।। उसी समय उसे अपने सामने वह अपान वायु मिल जाती है जो हृदयकोश के तल में एकत्र हुई रहती है, और तब वह उसको सुदृढ़ता से संपूर्ण आत्मसात करती है ।।२९।। अपने मुख की ज्वाला से वह उसे ऊपर-नीचे और चारों ओर से घेर लेती है और मांस के कौर खाने लगती है ।।२३०।। जहां-जहां मांस रहता है वहां-वहां पहुंचकर वह उसे खाने लगती है और जो कुछ अन्त में शेष बचता है उसको हृदय में भरती है ।।३१।। फिर वह पैरों के तलुओं और हाथों की हथेलियों को शुद्ध करती है, ऊपरी देह को भी साफ करती है। इस प्रकार वह शरीर की प्रत्येक अंग प्रत्येक संधियों को भी शुद्ध करती है ।।३२।। वह नीचे के भागों को भी नहीं छोड़ती। यहां तक कि नाखूनों का सार भी चूस लेती है, चमड़ी सत्व निकालकर उसको अस्थियों से जोड़ देती है ।।३३।। वह हड्डियों की नलियों तक का रस चूस लेती है। शिराओं के जाल तक साफ कर डालती है जिससे बाहर के रोमकूप तक बंद हो जाते हैं तथा रोमबीजों की वृद्धि रुक जाती है ।।३४।। कुंडलिनी को बहुत अधिक प्यास लगी रहती है, इसलिये रुधिर आदि सातों धातुओं के समुद्र को वह एक ही घूंट में पी जाती है जिससे शरीर शीघ्रता से शुष्क हो जाता है ।।३५।। फिर नासिका के छेदों में से बारह अंगुल तक जो हवा बाहर निकलती है उसे भी यह कुंडलिनी कसरकर पकड़कर अंदर की ओर खींचने लगती है ।।३६।। ऐसी अवस्था में नीचे की वायु ऊपर की ओर खिंचने लगती है और ऊपर की वायु नीचे की ओर दबने लगती है दोनों वायु के मिलन से चक्रवात बीच में बन जाता है ।।३७।। यदि बीच में यह आड़ न हो तो ये दोनों वायु उसी समय एक दूसरे में मिल जायें। परंतु कुंडलिनी कुछ व्यग्र होकर इनको लौटाती है- कहती है तुम दोनों रहो पूर्व स्थिति में ।।३८।। हे पार्थ! जब कुंडलिनी शरीर का पृथ्वीवाला अंश भक्षण करने के उपरांत कुछ शेष नहीं बचता। उदर को भी चाटते हुए उसको शुष्क करती है ।।३९।। इस प्रकार पृथ्वी एवं जलतत्त्व दोनों भूतों को भक्षण करने के उपरांत पूर्ण संतुष्ट एवं सौम्य होकर सुषुम्ना में स्थिर होती है ।।२४०।।

Funding by IKS-MoE

जो वमत मुख। वही तृप्ति का संतोख। करत वह पीयुख। प्राण पोषण ।।४१।। गरलाग्नि अंदर से प्रकटत। सबाह्य अंग शमवत। सामर्थ्य पुनः प्राप्त होत। पूर्व नष्ट जो ।।४२।। मार्ग नाशत नाड़ी का। नवविध गुण वायुका। अतः धर्म शरीर का। रहत न शेष ।।४३।। इडा-पिंगला एकवटत। ग्रंथी तीनों छूटत। षट्चक्र का नष्ट होत। परस्पर संबंध ।।४४।। तब शशि और भानु। ऐसा कीजे जो अनुमानु। वह दीप से भी पवनु। ढूंढे न दिखत ।।४५।। बुद्धि का विकास विरत परिमल घ्राण में बचत। वह शक्ति सहित संचरत। मध्यमा में ।।४६।। तब भृकुटि में स्थित। चंद्रामृत कुंड पलटत। उससे अमृत गिरत। शक्तिमुख में ।।४७।। नलिका में रस भरत। सर्वांग में संचरत। जहां के वहां शोषत। प्राण पवन ।।४८।। तप्त मूस से जैसे। मोम नाशत तैसे। तब भर के पूर्ण रस से। रहत पार्थ ।।४९।। वैसा दीप्तिमान पिण्डाकार। मूर्तिमंत तेज साकार। झलकत शरीर। त्वचावरण से ।।२५०।। जैसा रहत गभस्त। अभ्रपटल से आच्छादित। हटत जब प्रकटत। दीप्ति सहित ।।५१।। वैसे शरीर के ऊपर। शुष्क त्वचा का पातर। वह झड़त समग्र। जैसा तुष ।।५२।। तब काश्मीर का स्वयंभ। अथवा रत्न बीज का कोंभ (अंकुर)। अवयव कांति का शोभ। वैसा दिखत ।।५३।। या संध्या समय का रंग। लेकर बनाया अंग। अथवा अंतर्जोतिका लिंग। शुद्ध स्वच्छ ।।५४।। कुंकुम का ठोस। या सिद्ध रस की मूस। मूर्तिमंत मुझको भास। शांतिरूप का ।।५५।। वह आनंदचित्र का लेप। या महासुख का रूप। अथवा संतोष तरु का रोप (पौधा)। स्थिर जैसा ।।५६।। कनक चम्पा की कलिका जान। या अमृत का पुतला अर्जुन। अथवा प्रफुल्लित उद्यान। कोमलता का ।।५७।। शारदिया से सार्द्र पार्थ। चंद्रबिंब अति शोभित। अथवा तेज मूर्त। आसनस्थ ।।५८।। वैसा शरीर भासत। जब कुंडलिनी चंद्र प्राशत। तब देहाकृति को भीत। कृतांत स्वयं ।।५९।। वार्धक्य पीछे मुड़त। युवावस्था परिवर्तित। लुप्त पुनः प्रकटत। बाल्यदशा ।।२६०।। वयसा दिखत सान। परन्तु बल महान। धैर्य की केवल खान। निरूपम ।।६१।। कनकद्रुमपल्लव से अर्जुन। रत्नकलिका नित्य नूतन। वैसे नख नवीन। उपजत सुंदर ।।६२।। दंतपंक्ति निकलत अन्य। परंतु अतिशय सान। दो बाजू शोभत दीप्तिमान। रत्नपंक्ति ।।६३।। मणिकुल कणिका साग्र। सहज अतिलघु समग्र। वैसे उपजत रोमाग्र। सर्वांग से ।।६४।। कर चरण तल। भासत जैसे रातोत्पल। चक्षु स्वच्छ नवल। कैसे कहूं? ।।६५।। पक्व मुक्ता सुघट। संपुट में न समावत। सीम जैसी मोकलत। शुक्ति पल्लवों की ।।६६।। वैसी पलक द्वय में सुंदर। दृष्टि न समावत जात सुदूर। अर्धोन्मीलित किन्तु व्याप्त समग्र। गगन

तृप्ति से संतुष्ट होकर वह जो गरल या विष उगलती है, उसी अमृत से प्राण का पोषण होता है ।।४१।। यद्यपि यह अमृत गरल की अग्नि में से भीतर से प्रकट होते ही शरीर अंतर्बाह्य शान्त होता है। नष्ट शक्ति शरीर में पुनः प्राप्त होती है ।।४२।। नाड़ियों के मार्ग भर चुके होते हैं और उनका प्रवाह बंद हो चुका रहता है, और शरीर में जो अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कूकर, देवदत्त और धनंजय नामक नौ प्रकार की वायु नष्ट हो चुकी होती है और केवल प्राण वायु ही बची रहती है। इसीलिये शरीर के सब धर्म नष्ट हो जाते हैं ।।४३।। फिर नाक के बाएं और दाहिने रंध्रों की इड़ा और पिंगला नामकी नाड़ियां मिलकर एक हो जाती हैं। तीनों ग्रंथियां खुल जाती हैं, और शरीर के अंदर के छहों चक्रों का परस्पर संबंध नष्ट हो जाता है ।।४४।। फिर नासिका रंध्रों में से बहने वाली जिन वायुओं की उपमा सूर्य और चंद्रमा से की जाती है उनका ऐसा लोप हो जाता है कि दीप से ढूंढ़ने पर भी वायु दिखाई नहीं देती। इतना सूक्ष्म वह बन जाती है ।।४५।। बुद्धि की चंचलता नष्ट हो जाती है। सुगंध नासिका में समा जाती है। वह शक्तिसहित मध्यम नाड़ी अर्थात सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है ।।४६।। तब भृकुटि चक्र में स्थित चंद्रमा की सत्रहवीं कला का वह अमृतकुंड धीरे-धीरे टेढ़ा होने से शक्ति के मुख में उसका अमृत गिरता है ।।४७।। फिर नलिका में यह रस भरता है एवं सर्वांग में व्याप्त हो जाता है और प्रत्येक अंग में पहुंचकर प्राणवायु का शोषण करता है ।।४८।। हे पार्थ! जिस प्रकार सांचे को तपाने से उसमें का सारा मोम उड़ जाता है और फिर वह सांचा केवल धातु रस से भरा रहता है, उसी प्रकार वह रस सुषुम्ना में पूर्ण भर जाता है ।।४९।। शरीर अत्यंत तेजस्वी बन जाता है, जैसे मूर्तिमंत तेज ही साकार हुआ हो। उसके चारों और त्वचा का कांतिमान अवगुण्ठन मात्र चमकता रहता है ।।२५०।। बादलों के छा जाने से सूर्य जैसा छिप जाता है, परन्तु उन बादलों के हट जाने पर जिस प्रकार अपनी प्रकाशमान प्रभा से प्रकट होता है ।।५१।। वैसे सत्रहवीं कला के तेजस्वी रूप पर जो चमड़े की खोल ऊपर ही रह जाती है, वह भी सूखी भूसी की तरह पूर्णतः झड़ जाती है ।।५२।। फिर अंगों की कांति या प्रभा ऐसी जान पड़ती है कि मानो शुद्ध स्फटिक का शुद्ध स्वरूप हो अथवा रत्न का बीज प्रस्फुटित हुआ हो और उसमें कोमल कोपल निकले हों ।।५३।। या संध्याकाल की लालिमा लेकर जैसे शरीर को बनाया हो। अथवा शुद्ध, स्वच्छ, अंतर्ज्योतिलिंग प्रकट हुआ हो ।।५४।। यह शरीर ऐसा जान पड़ता है कि मानो कुंकुम की ठोस मूर्ति हो, अथवा यह चैतन्य रस में ढाला गया है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह शरीर क्या है मूर्तिमती शांति ही है ।।५५।। वह आनंद चित्र की रंगप्रतिमा है। या महासुख ही साकार हुआ है, अथवा वह संतोष वृक्ष का स्थिर पौधा हो ।।२५६।। अथवा वह स्वर्गचंपक की कली है या अमृत का पुतला है या हे अर्जुन वह कोमलता का ऐसा उपवन है जो पूर्ण रूप से वसन्त ऋतु के समान खिला हुआ है ।।५७।। अथवा शरदऋतु की आर्द्रता से चंद्रबिंब अत्यंत शोभायमान दिखता है अथवा यह कल्पना होती है कि स्वयं तेज मूर्तरूप बनकर आसनपर स्थिर हुआ है ।।५८।। वैसा शरीर दिखाई देता है जब भगवती कुंडलिनी चंद्रामृत प्राशन करती है तब यमराज भी स्वयं उस देहाकृती से भयभीत होता है ।।५९।। वृद्धावस्था पीछे हटती है। युवावस्था परिवर्तित होती है, और लुप्त बाल्यावस्था पुनः प्रकट होती है ।।२६०।। अवस्था छोटी दिखती है परन्तु महान शक्ति प्राप्त होती है। निरुपम धैर्य की खान प्रकट होती है ।।६१।। सुवर्ण वृक्ष के पर्णों में से नित्य नूतन रत्नकलिका प्रकट हो वैसे नये सुंदर नखून उत्पन्न होते हैं ।।६२।। दूसरी नई दंतपक्ति उत्पन्न होती है मानो जबड़े में दोनों तरफ छोटी-छोटी रत्नों की पंक्तियां बैठाई हुई हों ।।६३।। समस्त शरीर पर केशों के ऐसे अग्रभाग दिखाई पड़ते हैं कि मानो बहुत ही बारीक माणिक की कनियों के समान हो ।।६४।। करचरण के तलुवे रक्तकमल के सदृश दिखाई देते हैं और उसकी आंखें स्वच्छ और निर्मल होती हैं, भला उनका नवलपूर्ण वर्णन कौन कर सकता है? ।।६५।। जिस समय मोती अपनी पक्व दशा को प्राप्त होता है उस समय वह सीपी में नहीं समाता। उस समय सीपी की सीवन जिस प्रकार खुल जाती है ।।६६।। उसी प्रकार उसकी दृष्टि भी दोनों पलकों में समाई नहीं जाती। अर्धोन्मिलित होते हुये

Funding by IKS-MoE

मंडल ।। ६७ ।। सुनो देह होत सुवर्ण का। परंतु चापल्य वायु का। जिसमें पृथ्वी और
आपका का। अंश नाही ।। ६८ ।। तब समुद्र पार दिखत। स्वर्लोक का नाद सुनत।
मनोगत जानत। पिप्पिलिका का ।। ६९ ।। पवन वारूपर आरूढ़त। चले उदक में न
पद स्पर्शत। ऐसी सिद्धि बहु पावत। प्रसंगानुसार ।। २७० ।। प्राणवायु का पकड़कर
हाथ। हृदयाकाश सीढ़ी से पार्थ। मध्यमा का चढ़कर सोपान पथ। हृदय में
प्रविष्ट ।। ७१ ।। वह कुण्डलिनी जगदंबा। चैतन्य चक्रवर्ती की शोभा। छाया करत
जो गाभा जगद्बीज का ।। ७२ ।। जो शून्यलिंग की मूर्त। परमात्मा शिवका संपुट।
जो प्रणव की स्पष्ट। जन्मभूमि ।। ७३ ।। ऐसी कुंडलिनी कोमल। हृदय में प्रवेशत
सरल। तब अनुहत का बोल। बोलत सहज ।। ७४ ।। वहां बुद्धिसहित। ॐकारध्वनि
किंचित। शक्ति श्रवण करत। उस स्थान में ।। ७५ ।। घोष कुण्ड से साचार। नाना
प्रणवाकार। नादचित्र ॐकार। प्रकटत ।। ७६ ।। यह कल्पना से जानिये। किन्तु
कल्पक कहां से लाइये। इसलिये न पावे। नाद यह ।। ७७ ।। और एक अर्जुन। जब तक
नाश न होवे पवन। हृदयाकाश में उत्पन्न। नाद घूमत ।। ७८ ।। वह नाद अनाहत।
अखअड जहां दुमदुमत। ब्रह्मारंध्र का खुलत। गवाक्ष शीघ्र ।। ७९ ।। सुनो कमल
गर्भाकार। जो महदाकाश दूसर। वहां चैतन्य अधान्तर। वसत जानो ।। २८० ।। उस
हृदयस्थान में अभ्यागत। कुंडलिनी परमेश्वरी पार्थ। तेजोरूप भोजन स्वादिष्ट।
विनियोजित ।। ८१ ।। बुद्धिरूप शाक। नैवेद्य पौष्टिक। द्वैत न वहां देख। शेष
कुछ ।। ८२ ।। निजकाँति नष्ट। केवल प्राणरूप बचत। कैसी उस समय भासत।
बतलाऊं तुझको ।। ८३ ।। जैसी पवन की पुतरी। सुवर्ण पीतांबरधारी। वह फेंककर
होत उघारी। वैसे दिखत ।। ८४ ।। अथवा वायु से लिपटत। दीपशिखा विरमत। या
लखलखकर अदृश्य होत। बिजली गगन में ।। ८५ ।। वैसी हृदयकमल पर्यंत। सुवर्ण
लड़ी भासत। अथवा झिरी झरत। प्रकाश जल की ।। ८६ ।। तब हृदयभूमि में शून्य।
मीनत वह एक समय। वैसी शक्ति पावत लय। शक्ति में पार्थ ।। ८७ ।। उसको
शक्ति ही कहत। वैसे केवल प्राण मूर्त। नादबिंदु कलाज्योत। न कछु शेष ।। ८८ ।।
मन का नष्ट व्यापार। पवन का आधार। ध्यान का आदर। नहीं वहां ।। ८९ ।। कल्पना
न अवशिष्ट। नाशत सब खटखट। यह पंचमहाभूत की स्पष्ट। मूस होत ।। २९० ।।
पिण्ड से पिण्ड का ग्रास। यह नाथपंथका संदेश। दर्शवत उद्देश।
श्रीमहाविष्णु ।। ९१ ।। वह संकेत की गठरी छोड़कर। यथार्थ वस्त्र की परत
झटककर। दिखाई मैंने खोलकर। ग्राहक श्रोताओं को ।। ९२ ।।

भी दृष्टि समग्र आकाश मंडल को व्यापते हुए दूर तक जाती है।।६७।। सुनो! देह सुवर्णमय हो जाता है किन्तु उसमें वायु की चपलता आती है क्योंकि उसमें जल एवं पृथ्वी तत्व का अंश भी नहीं रहता।।६८।। तब समुद्र के पार की वस्तुएं दिखाई देती हैं। स्वर्गलोक का दिव्य नाद सुनाई देता है। चीटियों के मन के भाव समझ में आते हैं।।६९।। पवन रूपी अश्व पर सवार होता है और यदि वह पानी के ऊपर चले तो उसके पैर को पानी का स्पर्श तक नहीं होता। इस प्रकार प्रसंगानुसार अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।।२७०।। प्राणवायु का आधार लेकर हे अर्जुन! हृदयाकाश की सीढ़ियां बनाकर सुषुम्ना नामक मध्यम, नाड़ी के सोपान से हृदय में प्रवेश करती है।।७१।। वह कुंडलिनी जग की माता है। जीव के चक्रवर्ती सम्राट श्री चैतन्यनाथ की शोभा है, जिसने विश्वबीज जो ईश्वर उसके योगी पुरुष रूप अंकुर को समाधिरूप छाया प्रदान की है।।७२।। जो निर्गुण निराकार ब्रह्मरूप शिवलिंग की साकार मूर्ति है।।७३।। ऐसी कोमल कुंडलिनी जब हृदय में सीधी प्रवेश करती है तब अनाहत नाद सहज उत्पन्न होता है।।७४।। वहां उस स्थान में बुद्धि सहित शक्ति भगवती ॐकार का किंचित श्रवण करती है।।७५।। घोष अर्थात 'परावाणी' या 'परनाद' प्राणशक्ति के सहाय में मूलाधार चक्ररूपी कुंड से अनाहत चक्र में प्रविष्ट जब होता है तब सत्य में अनेक प्रकार के प्रणव के रूप में ऊंकार रूपी नाद-चित्र प्रकट होते हैं।।७६।। इस रूपक से ही 'अनाहत' नाद का स्वरूप जाना जाता है। किन्तु ऐसा कल्पक कहां से लाया जावे?। इसीलिये योगी के अतिरिक्त सामान्य जनों को अनाहत चक्र के स्थान में उत्पन्न यह नाद का ज्ञान नहीं होता।।७७।। हे अर्जुन! एक बात और सुनो, जब तक प्राणवायुका नाश नहीं होता तब तक हृदयाकाश में उत्पन्न यह नाद गूंजता है (सुनाई देता है)।।७८।। वह अनाहत नाद जब अखंड गर्जना करता है तब ब्रह्मरंध्र की खिड़की का द्वार शीघ्र खुलता है।।७९।। सुनो! सहस्त्रदल कर्णिका के आकार का दूसरा महदाकाश है वहां चैतन्यनाथ निराधार स्थिति में रहता है।।२८०।। उस हृदयाकाश के ऊपर स्थित ब्रह्मरंध्र में हे पार्थ! परमेश्वरी कुंडलिनी अतिथि के रूप में तेजोरूप स्वादिष्ट भोजन समर्पित करती है।।८१।। ज्योंहि बुद्धि के शाक के साथ इस शुद्ध भोजन का नैवेद्य लगता है त्योंहि फिर द्वैत का नाम भी बाकी नहीं रह जाता है।।८२।। फिर कुंडलिनी का निज तेजोरूप नष्ट होता है और तब वह केवल वायुरूपा रहती है उस समय वह कैसी दिखती है ऐसा पूछोगे तो मैं बतलाता हूं सुनो! ।।८३।। ऐसा जान पड़ता है कि अब तक वायु की यह पुतली सुनहला पीतांबर पहनी हुई थी वह पीतांबर फेंककर निर्विस्त्र बनी हो।।८४।। अथवा ऐसा जान पड़ता है कि हवा का झोंका लगने से दीपक की ज्योति बुझ गई है। अथवा जिस प्रकार बिजली एक बार आकाश में चमककर अदृश्य हो जाती है।।८५।। उसी प्रकार जान पड़ता है कि हृदयकमल तक सोने की सलाई समान दिखाई पड़नेवाली या प्रकाश के स्त्रोत की तरह बहती है।।८६।। तब वह कुंडलिनी हृदयप्रांत की दरी में अचानक समा जाती है और हे अर्जुन! तुरंत ही शक्ति का शक्ति में लय हो जाता है।।८७।। ऐसी अवस्था में हम उसे भले ही शक्ति कह लें परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से वह वायुरूपा है। वहां नाद, बिंद, कला, ज्योति कुछ भी शेष नहीं रहता।।८८।। मन का व्यापार, संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं। प्राण वायु का निरोध अथवा ध्यान के लिये प्रयत्न करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।।८९।। कल्पना शेष नहीं रहती। सब यत्न और कष्ट समाप्त होते हैं। यहां इस स्थिति में पंचमहाभूतों का पूर्णतः नाश हो जाता है।।२९०।। इस प्रकार योगसाधना के द्वारा पिंडदेह से ही देहस्थ पंचमहाभूतों का ग्रास करना यह नाथपंथ का संदेश है किन्तु (श्री गीता में) श्री महाविष्णु ने याने श्रीकृष्ण ने इसको रहस्य की ओर सूक्ष्म रूप से संकेत किया है।।९१।। यहां अच्छे गुणग्राहक कथा श्रवण करने के लिये बैठे हैं और इसीलिये श्रीकृष्ण की यह ध्वनितार्थ वाली गठरी को छोड़कर मैंने वास्तविक भावार्थ रूपी योग्य वस्त्रों की तह ही खोलकर श्रोताओं के सामने रख दी है।।९२।।

Funding by IKS-MoE

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

जब लोपत शक्ति। अदृश्य होत देहाकृति। अतिसूक्ष्म न देखत दृष्टि। जगत की।।९३।। शरीर रहत पूर्ववत। सावयव सब दिखत। किंतु जैसे भासत। वायुसमान।।९४।। कर्दली का गाभा अर्जुन। खड़ा बिन आच्छादन। अथवा अवयव उत्पन्न। नभ को जान।।९५।। वैसे होत शरीर। तब कहत उसको खेचर। प्राप्तसिद्धि तब चमत्कार। शरीरधारी को।।९६।। साधक जहां से गुजरत। पद पंक्ति अंकित। वहां ठाई-ठाई वसत। अणिमादिक।।९७।। किंतु इससे न कछु कर्तव्य। सुनो यह धनंजय। लोपत भूतत्रय। देह के देह में।।९८।। पृथ्वी आप में घुलत। तेज से आप शुष्क होत। पवन से तेज नाशत। हृदय में।।९९।। अंत में स्वयं अकेला शेष। शरीर आकार में गुड़ाकेश। पश्चात मीनत होके निकास। आकाश में।।३००।। तब कुण्डलिनी यह भाषा नष्ट। और मारुत नाम प्राप्त। किंतु शक्तितत्व शेष बचत। शिव मिलन पूर्व।।१।। तब जालंधर छोड़त काकीमुख फोड़त। पर्वत पर आरूढ़त। गगन के।।२।। तब ॐकार के पीठ पर। सहसा पांव देकर। लांघकर सीढ़ी करत पार। पश्यंतिकी।।३।। आगे तन्मात्रार्ध त्यजत। आकाश में लीन होत। जैसी सरिता मीनत। समुद्र में।।४।। वहां ब्रह्मरंध्रमें होकर स्थिर। सोहंभाव बाहु पसार। परमात्मलिंग को साचार। आलिंगत दृढ़।।५।। महाभूतों की जवनिका हटत। दोनो का मिलन होत। गगन सहित लीन होत। ब्रह्मानंद में।।६।। मेघ द्वारा शोषित। समुद्र में ओघ से प्रवेशत। वैसे वह पुनः पहुंचत। स्वभावतः।।७।। वैसे पिण्ड के मिष से। पद में पद प्रवेश जैसे। एकत्व होत तैसे। पण्डुकुंवर।।८।। तब मैं हूं भिन्न। यह आत्मा यह अन्य। यह विवंचना अर्जुन। बचत न शेष।।९।। गगन में गगन का लय होत। ऐसा जो तत्त्व ज्ञात। जो उसको अनुभवत। वह सिद्ध।।३१०।। अतः वहां की बात। शब्द में न होवे व्यक्त। अनुभव संवादातीत। धनंजय।।११।। सच मानो यह वाणी। जो मनोगत दर्शन की अभिमानी वह वैखरी अनजानी। रहत दूर।।१२।। भृकुटि पीछे गुड़ाकेश। मकार को भी जहां न प्रवेश। प्राण को भी संकट विशेष। ब्रह्माकाश गगन में।।१३।। आगे जब वायु वहां प्राप्त। नादाकार शब्द दिन का अस्त। आकाश तत्त्व का भी होत। नाश पूर्ण।।१४।। अब महाशून्य का दह। जहां गगन को भी नहीं ठाँव। वहां कैसा स्थान होय। शब्द सृष्टि को?।।१५।। यह अक्षरों में अवर्णनीय। श्रवण को अगम्य। बात

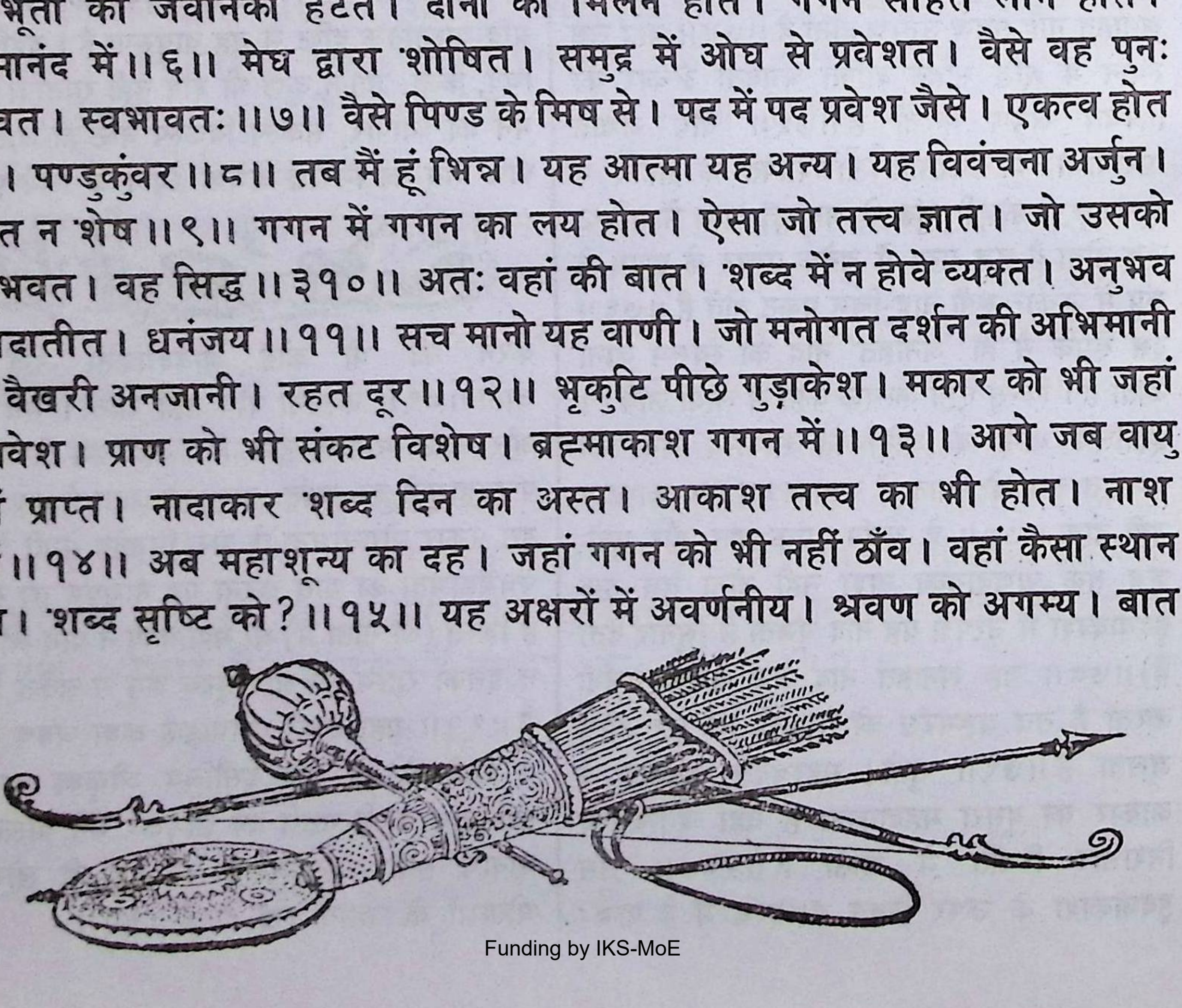

Funding by IKS-MoE

चित्त का निरोध करनेवाला, सर्वकाल मन को योगयुक्त रखनेवाला, मेरे स्वरूप में स्थित अविद्यानिवृत्ति में जिसका अन्त हुआ है ऐसी मोक्षरूपी शान्ति प्राप्त करता है॥१५॥

जब शक्ति का लोप होता है तब देह के रूप का भी नाश होता है और तब वह विश्व की दृष्टि में सूक्ष्म होने के कारण नहीं दिखाई पड़ता।।९३।। वैसे शरीर तो पहले के समान रहता है, अवयव सहित दिखाई देता है वायुसमान एकदम हलका हो जाता है।।९४।। अथवा अपना ऊपरी छिलका उतारकर केले का गाभा (तना) खड़ा रहता है, अथवा स्वयं आकाश को ही अवयव उत्पन्न हुए हों ऐसा दिखता है।।९५।। जब शरीर इस प्रकार का होता है तब उसे खेचर (आकाश में संचार करनेवाला) कहते हैं जिस समय ऐसी योग्यता योगी में आती है तब उसे अनेक सिद्धियां प्राप्त होती हैं।।९६।। साधक जहां से चलता है, जहां उसके पदचिन्ह अंकित होते हैं वहां स्थान-स्थान पर अणिमादिक सिद्धियां उत्पन्न होती हैं।।९७।। किन्तु हमें इससे कुछ कर्तव्य नहीं! हें धनंजय! सुनो! मुख्य तात्पर्य यह है कि योगियों के शरीर में पृथ्वी आप और तेज इन तीनों भूतों का लोप होता है।।९८।। पृथ्वी तत्त्व जल में विलीन होता है। तेज से जल तत्त्व शुष्क होता है और तेजतत्त्व हृदय के वायुतत्त्व में लुप्त होता है।।९९।। फिर अन्त में एक मात्र वायुतत्त्व शेष बचता है और वह भी शरीर के आकार का बनता है। परन्तु कुछ समय पश्चात यह भी हृदयाकाश से निकलकर भूर्ध्याकाश में विलीन होता है।।३००।। उस समय उस शक्ति का कुंडलिनी नाम भी मिट जाता है और 'मारुत' उसको 'मारुत्' अर्थात वायु यह नाम प्राप्त होता है। किन्तु उसकी शक्ति शिव-मिलन के पूर्व तक शेष रहती है।।१।। फिर वह शक्ति 'जालंधर'बंध का त्याग करके काकी मुखी सुषुम्ना नाडी का तालुस्थान में स्थित दशम द्वार फोड़कर मूर्धन्याकाश के पहाड़ पर स्थिर होती है।।२।। वह फिर ओंकार की पीठ पर पैर रखकर पश्यन्ति की सीढ़ी तत्काल पार कर जाती है। सारांश प्राण के इस प्रकार स्थिर होने से प्राणाश्रित रहनेवाली परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी चारों की वाणी का उल्लंघन वह शक्ति करती है।।३।। आगे समुद्र में जैसे नदी प्रवेश करती है वैसी ऊंकार की अर्धमात्रा सहित तीन मात्रा मिलकर पूरी साढ़े तीन मात्रायें मूर्धन्याकाश में प्रविष्ट होती है।।४।। वहां ब्रह्मरंध्र में स्थिर होते हुये अपनी सो ऽहंभाव की भुजाएं फैलाकर बड़े आवेश से परमात्मलिंग का दृढ़ आलिंगन करती है।।५।। उस समय पंचमहाभूतों का परदा दूर हटता है और वह शक्ति परब्रह्म के गले लगती है, दोनों का पूर्ण ऐक्य होता है तब आकाशतत्त्व सहित शक्ति परमानंद में लीन हो जाती है।।६।। मेघों द्वारा जिस प्रकार समुद्र का जल शोषित होकर नदी नालों में पहुंचता है, पर अंत में उसी समुद्र के पानी में प्रवाह रूप से मिलकर अपना मूल स्वरूप स्वाभाविकता से प्राप्त कर लेता है।।७।। वैसे पिंड (देह) के निमित्त से जीव और शिव का, जीवात्मा और परमात्मा का मिलन होकर उसके साथ एक हो जाता है।।८।। तब मैं अन्य हूं या यह आत्मा दूसरी है यह विवंचना शेष नहीं रहती।।९।। आकाश भी जिस महाशून्य में लीन होता है ऐसा जो परमतत्त्व है उसका जिस समय मनुष्य को अनुभव होता है उसी समय उस सिद्ध को ठीक-ठीक उसका ज्ञान होता है।।३१०।। इसीलिये वहां की बात शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकती हे धनंजय! वह अनुभव संवाद के परे है।।११।। सत्य मानो तो यह वाणी जो साधारणतः इस बात का अभिमान रखती है कि, उसमें दूसरों के मनोरम दर्शन की शक्ति का गुण है वह भी इस विषय में दुर्बल ही सिद्ध होती और दूर रहती है।।१२।। हे गुड़ाकेश! भृकुटि के पीछे जो आज्ञाचक्र है वहां ॐकार की मकार मात्रा को प्रवेश नहीं है। अकेले प्राण को भी मूधर्न्याकाश में प्रवेश करने में अड़चन होती है।।१३।। वहां अंत में जब वायु प्रविष्ट होता है तदाकार होता है तब शब्द दिन का (शब्द के सामर्थ्य का) अस्त हो जाता है। उस समय आकाश तत्व का भी संपूर्ण नाश होता है।।१४।। जब महाशून्य के अगाध दह में उस गगन का भी कहीं पता नहीं रह जाता, तब भला वहां शब्द सृष्टि को कैसा स्थान प्राप्त होगा?।।१५।। अतः हे धनुर्धर! यह बात त्रिकाल सत्य है कि यह विषय ऐसा स्पष्ट और सहज नहीं है जो वाणी से वर्णन किया जा सके

यह त्रिवार सत्य। धनंजय।।१६।। जो कभी दैवयोग से। अनुभव प्राप्त जैसे। तब तद्रूपभाव से। रहे निरन्तर।।१७।। आगे कुछ न शेष बात। जानने के लिये पार्थ। इसलिये अब व्यर्थ। कथन सब।।१८।। ऐसे निरसत शब्दजात। संकल्प समूल पावत अस्त। न वहां प्रवेश किंचित। विचार को।।१९।। जो उनमनिया का लावण्य। जो तूर्याका तारुण्य। अनादि जो अगण्य। परम तत्त्व।।३२०।। जो विश्व का मूल। जो योगद्रुम का फल। जो आनंद का केवल। चैतन्य पार्थ।।२१।। जो आकाश का प्रांत। जो मोक्ष का एकांत। जहां आदि एवं अंत। पावत लय।।२२।। जो महाभूत का बीज। जो महातेज का तेज। एवं पार्थ जो निज-। स्वरूप मेरा।।२३।। वही यह चतुर्भुज मूर्ति। जिसकी होत सुनिर्मिति। देखकर नास्तिकों से आर्ति। भक्त वृंद की।।२४।। वह अनिर्वाच्य महासुख। स्वयमेव होत वे पुरुष। जिन्होंने पाया निष्कर्ष। प्राप्ति पर्यन्त।।२५।। हमने जो बताया साधन। निज शरीर से किया पूर्ण। वे हुए मत्समान। योगमार्ग से।।२६।। परब्रह्म के रस से। देहाकृति के मूससे। ढालत पूर्ण वैसे। सतेज दिखत।।२७।। यदि यह अंतर में प्रतीत। अशेष विश्व लोपत। तब अर्जुन नीका कहत। सत्य यह।।२८।। देव आपने जो कहा उपाय। निश्चित ब्रह्मप्राप्ति का ठाँव। इसलिये वहां होय। साक्षात्कार।।२९।। इस अभ्यास में दृढ़। निश्चित ब्रह्मपदारूढ़। कथन से आपके यह बोध। विशद मुझे।।३३०।। आपकी बात कृष्ण। सुनते ही उपजत ज्ञान। फिर अनुभव से तद्रूप मन। क्यों न होय?।।३१।। अतः यह सर्वथा। कदापि नहीं मिथ्या। किंतु क्षणैक सुनो यदुनाथा। बात एक।।३२।। अभी आपने बताया योग। मन को भाया सुरंग। किंतु मैं अशक्त अपंग। योग्यताहीन।।३३।। मुझमें जितनी शक्ति। यदि उससे होय प्राप्ति। तब यह मार्ग सुख से अति। अभ्यासू मैं।।३४।। नहीं तो आपका कथन। यदि मेरे लिये अशक्य कृष्ण। तब आपही सोचो प्रश्न। योग्यानुकूल मेरे।।३५।। ऐसी धारणा मन में उत्पन्न। यही इस प्रश्न का कारण। इसलिये दीजे कृष्ण। अवधान मुझे।।३६।। हां जी आपका निरूपण। सुना मैंने योगसाधन। परंतु क्या इसकी प्राप्ति पूर्ण। सबको शक्य?।।३७।। तब कहत श्रीकृष्ण। यह साच देत निर्वाण। किंतु वह अधिकार बिन। क्या सिद्ध होत?।।३८।। परंतु योग्यता जो कहिये। वह प्राप्ति के आधीन जानिये। अधिकार पाकर करिये। तब फलत शीघ्र।।३९/३४०।। इसलिये इसमें सार्थ। न कोई बाधा पार्थ। और न कोई योग्यता की यथार्थ। खान प्राप्त।।४१।। क्षणैक विरक्त। होत देहधर्म में नियत। क्या वह न पावत। अधिकार यह?।।४२।। इस युक्ति से अर्जुन। योग्यता तुझमें विद्यमान। ऐसे कहकर निवारत श्रीकृष्ण। संकट उसका।।४३।। ऐसी यह योग व्यवस्था। अनियत को सर्वथा। अशक्य जानो तत्त्वता अव्यवस्थित को।।४४।।

Funding by IKS-MoE

या श्रवणेंद्रिय से इसका आकलन हो सके।।१६।। यदि सुदैव से ऐसा सौभाग्य साधक को प्राप्त होकर इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ तो उसी तद्रूप भाव में वह निरंतर रहता है।।१७।। इसके आगे कुछ बात जानने के लिये शेष नहीं है। इसलिये सब हे पार्थ? सब कथन अब व्यर्थ है।।१८।। जहां शब्द समाप्त होते हैं वहां संकल्प निःशेष नष्ट होते हैं और जिसमें विचार को किंचिन्मात्र भी प्रवेश नहीं है।।१९।। ऐसा जिसका समाधि में अनुभव प्राप्त होता है वह परमतत्त्व है। जो ध्यान से प्राप्त उन्मनी अवस्था का सौंदर्य है, जो ज्ञान से प्राप्त, ब्रह्मात्मक जीवन्मुक्ति का अर्थात चतुर्थ अवस्था तूर्या का पूर्ण वैभव है और जो उपपत्ति रहित और अमर्याद है।।३२०।। जो विश्व का आदिबीज, हे पार्थ! योग साधना रूप वृक्ष का अंतिम साध्य अर्थात फल है जो आनंद का साक्षात चैतन्यरूप है।।२१।।जिसमें आकार की मर्यादा, मोक्ष की एकरूप अवस्था और प्रारंभ तथा अन्त में सीमाएं बिलकुल निर्मूल हो जाती हैं।।२२।। जो पंचमहाभूतों का मूल कारण, महातेज का भी तेज है और हे पार्थ! जो मेरा निज स्वरूप है।।२३।। नास्तिकों के द्वारा छले जाने वाले भक्तजनों की आर्तिहरण करने के लिये प्रकट होनेबाली यही वह चतुर्भुज मूर्ति है।।२४।। वह महासुखात्मक परमात्म-तत्त्व वर्णन की सीमा की पार है। परन्तु जिन्होंने अंतिम साध्य की सिद्धि होने तक दृढ़ निश्चर्यपूर्वक ऊपर बतलाये अनुसार यत्न किया है वे सिद्ध स्वयं इस योगमार्ग से मेरे समान हो जाते हैं।।२५/२६।। देहाकृती के छापे में परब्रह्म रस से ढले जाने से उनका शरीर तेजस्वी दिखता है।।२७।। इसकी प्रतीती अंतःकरण में होने से ऐसा जान पड़ता है कि यह विश्व नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष परब्रह्म ही है। तब अर्जुन कहता है कि प्रभु यह बात बिलकुल ठीक है।।२८।। आपने जो उपाय बतलाया वह निश्चित रूप से परब्रह्म प्राप्ति का सही मार्ग है। हे भगवन्!, इसीलिये वहां साक्षात्कार होता है।।२९।। इस अभ्यास को दृढ़तापूर्वक करने से वे निःसंदेह ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं। यह ज्ञान मुझे आपके कथन से प्राप्त हुआ है।।३३०।। हे कृष्ण! आपकी बात सुनने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। फिर अनुभव से मन तद्रूप क्यों न होगा?।।३१।। अतः यह कदापि मिथ्या नहीं हो सकता। किन्तु हे यदुनाथ! एक क्षण के लिये आप मेरी बात सुनो!।।३२।। अभी आपने योगमार्ग का वर्णन किया वह अच्छी तरह मन को पसंद आया है। किन्तु मैं अशक्त, अपंग एवं योग्यताहीन हूं।।३३।। मुझमें जितनी शक्ति है यदि उतनी ही शक्ति से यह योग सिद्ध हो सकता हो तो मैं इस मार्ग का सहज में ही अभ्यास सुखपूर्वक करूंगा।।३४।। हे कृष्ण! आपके कहे अनुसार कार्य करने की मुझमें योग्यता या शक्ति ही न हो तो मेरे लिये मेरे योग्य मार्ग ढूंढने की कृपा करें।।३५।। आपका कथन सुनकर मेरे मन में यह धारणा उत्पन्न हुई है और यही इस प्रश्न का कारण है। इसलिये हे कृष्ण! आप ध्यान देकर सुनिये।।३६।। जिस योगमार्ग का आपने निरूपण किया वह मैंने सुन लिया है परन्तु अब मैं यह जानना चाहता हूं कि क्या वे साधन ऐसे हैं कि चाहे जो वही अभ्यास करके पूर्ण प्राप्ति सबको शक्य है?।।३७।। तब श्रीकृष्ण कहते हैं कि इससे निश्चित ही निर्वाण स्थिति की प्राप्ति होती है। परन्तु जब तक कर्ता के अंग में उस कार्य को करने की योग्यता नहीं होती बिना उस कार्य के सिद्धि नहीं होती।।३८।। परन्तु योग्यता जिसे कहते हैं, उसका निश्चय तो कार्य की सिद्धि होने पर ही होता है। क्योंकि अपने आपमें योग्यता होने पर ही जो कार्य आरंभ किया जाता है वही शीघ्र सिद्ध होता है।।३९/३४०।। इसलिये हे पार्थ! योग्यता के कारण इस काम में नाम की भी अड़चन नहीं होती। और यथार्थ में देखा जाये तो क्या कोई योग्यता की खदान होती है जिससे मिलते ही मनुष्य जितनी योग्यता चाहे अपने में भर ले?।।४१।। क्षण के लिये विरागी होकर देहधर्म में नियमित रहनेवाले को क्या यह अधिकार प्राप्त नहीं होता?।।४२।। इस दृष्टि से अर्जुन तुम्हारे में योग्यता सही में विद्यमान है। ऐसा कहते हुए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन की शंका संकट का निवारण करते हैं।।४३।। जिसका व्यवहार अनियमित है, जो अव्यवस्थित है उसको यह योगमार्ग तत्त्वरूप से सर्वथा अप्राप्त है।।४४।।

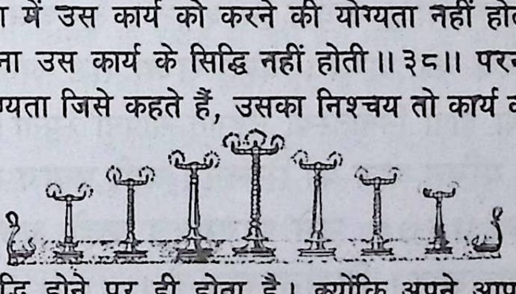

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

जो रसनेन्द्रिय का अंकित। या निद्राधीन सर्वतः। वह कदापि न कहावत। योगाधिकारी।।४५।। दुराग्रह के वश। क्षुधा तृषा का करे नाश। आहार का करत ह्रास। अति निग्रह से।।४६।। निद्रा का नाम न लेत। दृढ़ अभिमान धरत। शरीर भी स्वाधीन न रहत। उसको योग कैसा?।।४७।। अतः अतिविषय सेवन। या सर्वस्व निरोधन। दोनों त्याज्य मान। धनुर्धर।।४८।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

आहार तो सेविये। किंतु प्रयुक्ति से तौलिये। क्रिया जात करिये। परिमित।।४९।। मित बोली बोलिजे। परिमित श्रम कीजिये। निद्रा को भी मान दीजे। निश्चित समय।।३५०।। यदि करना जागरण। उसका भी होना परिमाण। जिससे धातुसाम्य पूर्ण। रहत सहज।।५१।। इसविध प्रयुक्ति से अर्जुन। इंद्रियों को देत मित भोजन। तब वृद्धि करत वही मन। संतोष की।।५२।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

इन्द्रियां बहिर्नियमित। तब अंतःसुख वर्धत। योग सहज प्राप्त। अभ्यास बिना।।५३।। जैसे भाग्योदय से। उद्यम के मिष से। सकल समृद्धि स्वभाव से। प्रवेशत घर में।।५४।। तैसा कौतुक से युक्तिमंत। यदि योगमार्ग से चलत। आत्मसिद्धि पावत निश्चित। अनुभव उसका।।५५।। अतः युक्ति यह पार्थ। जिस सदैव को प्राप्त। वहां राज्य तट अलंकृत। अपवर्ग का।।५६।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपना स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

युक्ति योग का मिलन। वही प्रयाग तीर्थ स्थान। मन क्षेत्र संन्यासी समान। स्थिर वहां।।५७।। उसे योगयुक्त कहो अर्जुन। प्रसंगानुरोध से यह जान। वह दीप का उपलक्षण। निर्वातस्थल के।।५८।। जानके तेरा मनोगत। कुछ मैं कहूं बात। वह नीका देकर चित्त। करना श्रवण।।५९।। तुम प्राप्ति की रखत आस। किंतु अभ्यास में नहीं दक्ष। क्या समझत योग अशेष। महाकठिन?।।३६०।। तो सुनो हे अर्जुन! त्रस्त न कर अपना मन। वृथा हौआ बनावत दुर्जन। इंद्रियां उसका।।६१।। देखो आयुष्य अढल करत। जो मृत्यु को भी निवारत। उस औषध को क्या न कहत।

Funding by IKS-MoE

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवाले को सिद्ध होता है और न तो बिलकुल न खानेवाले को तथा न अति शयन करने के स्वभाववाले को और न अत्यंत जागनेवाले को ही सिद्ध होता है।।१६।।

जो जीभ के चोंचलों का दास बन गया हो अथवा पूर्णरूप से निद्रा के अधीन हो गया हो वह कभी इस योग साधना का अधिकारी नहीं बन सकता।।४५।। अथवा जो दुराग्रह के वशीभूत भूख और प्यास का नाश करके अपना शरीर तोड़ डालता है, खाना-पीना छोड़ देता है।।४६।। अथवा इसी प्रकार के आग्रह के कारण सोने का नाम भी नहीं लेता और दृढ़ अभिमान से हठपूर्वक शरीर से काम लेता है उसका स्वयं शरीर भी उसके स्वाधीन नहीं रह सकता उसको भला योगमार्ग कैसे प्राप्त हो सकता है?।।४७।। इसलिये जिस प्रकार विषयों का आवश्यकता से अधिक सेवन नहीं करना चाहिये, उसी प्रकार हे धनुर्धर! उनके साथ द्वेष नहीं करना चाहिये और उन्हें जबरदस्ती पूरी तरह दबाकर भी नहीं रखना चाहिये।।४८।।

यह दुःखों का नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालों को तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करनेवालों को और यथायोग्य शयन करने तथा जागनेवालों को ही सिद्ध होता है।।१७।।

आहार सेवन करना चाहिये, परन्तु वह योग्य और संतुलित हो। सभी क्रियायें इसी प्रकार उचित ढंग से होना चाहिये।।४९।। नपी-तुली, सीमित बातें कहनी चाहिये। श्रम भी परिमित करना चाहिये। उचित समय पर निद्रा का सेवन भी करना चाहिये।।३५०।। यदि जागरण करना है तो वह भी प्रमाण में होना चाहिये जिससे शरीर के कफ-पित्त आदि धातु-रस उचित परिमाण में रहकर शरीर स्वाभाविकतः स्वस्थ और सुखद स्थिति में रख सकेगा।।५१।। इस प्रकार हे अर्जुन! युक्ति से इंद्रियों को परिमित आहार देते हुए बुद्धि एवं मन को संतोष प्राप्त होता है।।५२।।

इस प्रकार योग के अभ्यास से अत्यंत वश किया हुआ चित्त, जिस समय परमात्मा में भली प्रकार स्थित हो जाता है उस समय संपूर्ण कामनाओं से स्पृहारहित हुआ पुरुष योग युक्त ऐसा कहा जाता है।।१८।।

ज्यों-ज्यों शरीर की बाहरी क्रियाओं पर नियमन और नियंत्रण हो जाता है त्यों-त्यों अंदर सुख की वृद्धि होती जाती है और इस प्रकार योगाभ्यास न करने की अवस्था में भी आपसे आप योगसाधना होती जाती है।।५३।। जिस प्रकार उद्योग के निमित्त से, परंतु वास्तव में भाग्य के बल से, सब प्रकार का एश्वर्य अपने आप घर में चला आता है।।५४।। उसी प्रकार जो मनुष्य परिमित रूप से और संयमपूर्वक सब क्रियाओं का आचरण करता है वह सहज में ही योगाभ्यास में लग जाता है और उसको आत्मसिद्धि के अनुभव की प्राक्ति होती है।।५५।। इसीलिये हे अर्जुन! जिस भाग्यवान पुरुष से यह संयमवाला कर्म-योग सध जाये, वह मोक्ष के सिंहासन पर सुशोभित होता है।।५६।।

और जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता है, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त के बारे में कही गई है।।१९।।

जिस समय क्रियाओं का संयम का योग के साथ मेल हो जाता है उस समय यह शरीर पवित्र प्रयाग क्षेत्र हो जाता है। ऐसे शरीर में मन क्षेत्र संन्यासी के समान उसमें स्थिर हो जाता है।।५७।। हे अर्जुन! उसी को तुम योगमुक्त समझो। प्रसंगवश मैं तुम्हें यह भी बतला देता हूं कि ऐसे योग-युक्त की उपमा निर्वात स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति के साथ दी जाती है।।५८।। अब मैं तुम्हारे मन का भाव समझकर तुम्हें और कुछ बातें बतलाता हूं। तुम उन्हें अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।।५९।। तुम अपने मन में कार्यसिद्धि की लालसा रखते हो, परन्तु अभ्यास का कष्ट उठाने के लिये तैयार नहीं हो। इसमें कौन सी कठिनता है जिससे तुम डरते हो?।।३६०।। हे अर्जुन! तुम व्यर्थ अपने मन में इस बात का डर न करो। ये दुष्ट इंद्रियां छोटी-छोटी बातों को व्यर्थ ही पहाड़ बनाकर भय दिखाती हैं।।६१।। देखो यदि कोई गुणकारी दिव्य औषधि हो जो आयु को स्थिर कर सके और शरीर से निकलते

Funding by IKS-MoE

जिव्हा वैरी? ।।६२।। ऐसे हित के लिये जो सुखद। इंद्रियों को सदा वह दुःखद। वैसे योगसा सुलभ हितप्रद। साधन नाही।।६३।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र च चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

अतः आसन के बल से। निरूपित नीके अभ्यास से। हो सकेगा इस योग से। निग्रह इनका।।६४।। वैसे योग से पार्थ। इंद्रियों का वेध होत। तब अग्रसर यह चित्त। आत्म मिलन को।।६५।। यह चित्त गतिमान। सदा धावत सम्मुख जान। निवर्तित पावे स्वयं को तत्क्षण। तत्त्वरूप।।६६।। उस परिचय के साथ। सुख साम्राज्य पर आरूढ़त। आत्मानंद में विरत। समरस भाव से।।६७।। नाही अन्य जिस वस्तु बिन। इंद्रियों को कदापि न उसका ज्ञान। वह स्वतः ब्रह्मरूप अर्जुन। स्वयं होत।।६८।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभंमन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

यदि मेरूसम घोर। पावत देह दुःख भार। न उसका चित्त क्षणभर। व्यथित होत।।६९।। यदि शस्त्र से छेदत। देह अग्नि में प्रवेशत। चित्त महासुख में सोवत। न जागत कभी।।३७०।। ऐसे आत्मसुख में निमग्न। वहां देह का होवे विस्मरण। अनिर्वाच्य सुख में संपूर्ण। रहत लीन।।७१।।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

ऐसा सुख का मधुरपन। मन आर्ति का छोड़े स्मरण। जो सर्वदा मगन। संसार में इस।।७२।। योग का उत्कट भाव। संतोष की राणीव (राज्य)। ज्ञान की जाणीव। पूर्ण जिसको।।७३।। उस अभ्यास से पार्थ। देखत मूर्तिमंत। वह सुख का दृष्टा निश्चित। तद्रूप होत।।७४।।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

वह योग कहे पद्मनाभ। एक दृष्टि से सुलभ। यदि पुत्रशोक अशुभ। संकल्प को होत।।७५।। जब विषय लय सुनत। इंद्रिय निग्रह देखत। तब हिय फूट के त्यजत। जीवित्व पार्थ।।७६।। इसविध जब वैराग्य प्राप्त। संकल्प यात्रा पूर्ण लुप्त। धृति के

हुए प्राणों को भी लौटा सके, तो भी जीभ उस औषधि को शत्रु ही मानती है या नहीं ? ।।६२।। इसी प्रकार जो कर्म हमको सुख देनेवाले और हितप्रद होते हैं वह सब इन इंद्रियों को सदा कष्टदायक ही जान पड़ते हैं वैसे योगमार्ग जैसा सुलभ और हितकारक और कोई साधन नहीं है ।।६३।।

और हे अर्जुन! जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त विषयों में परावृत होता है और जिस अवस्था में योगी सत्वसंपन्न हुए अंतःकरण से जीवात्मा को साक्षात् परमात्मा जानकर आत्मस्वरूप में ही संतुष्ट रहता है ।।२०।। इंद्रियों के अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अत्यंतिक आनंद है उसको जिस अवस्था में वह तत्त्वतः अनुभव करता है, उस अवस्था में स्थित हुआ योगी आत्मस्वरूप सुख की अवस्था से पुनः चलित नहीं होता ।।२१।।

इसीलिये मैंने दृढ़ आसन लगाकर करने के लिये जो योगाभ्यास बतलाया है, उससे इन इंद्रियों का अच्छा नियंत्रण होगा ।।६४।। वैसे हे पार्थ! यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो जब योगसाधना से इंद्रियों का निग्रह होता है, उसी समय चित्त आत्मस्वरूप में प्रवेश करने लगता है ।।६५।। यह चित्त चंचल है। नित्य बहिर्मुख होकर दौड़ता रहता है। जब यह विषयों से परावृत्त होकर अंतःमुख बनकर स्थिर होते ही तत्क्षण स्वयं तत्त्वरूप बनता हैं और पहचान जाता है कि मैं स्वयं यही तत्त्व हूं ।।६६।। ज्योंहि उसका परिचय होता है त्योंहि वह (आत्म) सुख साम्राज्य पर विराजमान हो जाता है। उसी समभाव से आत्मानंद में लीन हो जाता है ।।६७।। हे अर्जुन! जिस वस्तु के बिना अन्य कुछ वस्तु नहीं इंद्रियों को कदापि जिसका ज्ञान नहीं हो सकता वह ब्रह्मवस्तु वह स्वयं बन जाता है ।।६८।।

और परमेश्वर की प्राप्तिरूप जिस लाभ को प्राप्त करके उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और ऐसी अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता ।।२२।।

मेरुपर्वत के समान महा भयंकर देहरूप प्राप्त होने पर भी जिसका चित्त कभी विचलित नहीं होता ।।६९।। यदि उसके शरीर पर शस्त्राघात हुए और चाहे उसका देह अग्नि में जा पड़े तो भी जिसको महासुख प्राप्त हुआ है वह देहभाव में जागृत नहीं होता ।।३७०।। इस प्रकार आत्मसुख में निमग्न रहते हुये देहभाव का विस्मरण होता है तथा वह अनिर्वाच्य (आत्म) सुख में सदा लीन रहता है ।।७१।।

दुःख संयोग का वियोग जिसमें हैं ऐसे वह चित्तनिरोध को "योग" वह संज्ञा है ऐसा जानना चाहिये। वह योग साधक को निश्चर्यपूर्वक और तत्पर चित्त से करना चाहिये ।।२३।।

इस प्रकार (आत्म) सुख में जो मधुरता है जिससे संसार में मग्न लोगों के मन की आर्तता समाप्त होती है ।।७२।। योग से प्राप्त उत्कट भाव से संतोष का राज्य प्राप्त होता है तथा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है ।।७३।। हे पार्थ! इस प्रकार अभ्यास करने से आत्मसुख देनेवाला (भगवान) दृष्टा मूर्तिमान प्रकट होकर साधक तद्रुप होता है ।।७४।।

संकल्प से उत्पन्न सब कामनाओं का निःशेष त्याग करके तथा मन से चारों ओर से इंद्रियों का निग्रह करके सात्विक धैर्य से वश किये हुये निश्चयातमक बुद्धि से क्रम-क्रम से धीरे-धीरे विषयों से परावृत कराना चाहिये। और परमात्मा में इसको स्थित करके दूसरे किसी भी विषय का चिन्तन न करें। परन्तु जिसका मन वश में नहीं हुआ है उसको चाहिये कि, यह स्थिर न रहनेवाला एवं चंचल मन जिन-जिन कारण से संसारिक पदार्थों में विचरता है उससे उसे रोककर बारंबार परमात्मा में ही स्थिर करें ।।२४/२५/२६।।

श्री पद्मनाभ योगमार्ग का वर्णन कर रहे हैं। कहते हैं कि, यदि संकल्प की सन्तान काम, क्रोध आदि मर जायें और उसको पुत्र शोक प्राप्त हो जाये तो यह योगमार्ग अत्यंत सुलभ है ।।७५।। जब संकल्प को मालूम होगा कि सब विषय मर गये हैं और इंद्रियों का पूर्ण निग्रह हो गया है तब वह अपनी छाती पीटकर स्वयं अपना प्राण त्याग देगा ।।७६।। इस प्रकार जब संकल्प की यात्राएं समाप्त होती होंगी और बुद्धि बहुत ही सुखपूर्वक धैर्य मंदिर में निवास

धवलार में वसत। बुद्धि सुख से।।७७।।

बुद्धि धैर्य का आश्रय पावत। मन को अनुभव मार्ग दर्शवत। शनैः शनैः करत प्रतिष्ठित। आत्मभुवन में।।७८।। इस मार्ग से किरीटि। होत जीव को ब्रह्मप्राप्ति। यदि न शक्य सुनो सुलभ अति। मार्ग अन्य।।७९।। अब नियम यह एक। मन से करे साधक। कृतनिश्चय पालना देख। निरंतर।।३८०।। इसविध यदि चित्त स्थिर। अनायास काज सुकर। ना तो उसको स्वैर। छोड़िये मुक्त।।८१।। स्वच्छंद जहां घूमत। निश्चय वहां से निवर्तत। ऐसा स्थैर्य होत प्राप्त। तत्काल पार्थ।।८२।।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

पश्चात अनेक बार। जब ऐसा रहे स्थिर। आत्मस्वरूप समीप साचार। पहुंचत यह।।८३।। तब स्वरूप में एकवटत। अद्वैत में द्वैत मीनत। ऐक्य-तेज से प्रकटत। त्रैलोक्य यह।।८४।। आकाश में दिखत भिन्न। जब अभ्राच्छादित अर्जुन। विरत तब शुद्ध गगन। व्यापत विश्व।।८५।। वैसे जब सिद्ध चित्तलय। चैतन्य अशेष होय। ऐसा प्राप्ति का सुखोपाय। धनंजय।।८६।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

यह सुलभ योग स्थिति। अनुभव से होवे सुख प्राप्ति। संकल्प संपत्ति से निवृत्ति। बहुतों को।।८७।। वह सुख की संगत से। मिलत परब्रह्म पद से। लवण जल से जैसे। पृथक न होत।।८८।। ऐसे घटत उस मेल में। सामरस्य के मंदिर में। महासुख की समस्त जग में। दीपावली भासत।।८९।। वैसे पांव से अपने पीठ पर। योगाभ्यास से चलत नर। यदि यह भी दुष्कर। सुनो अन्य।।३९०।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

मैं सब देहों में व्याप्त। इसमें न शंका पार्थ। वैसे मुझ में ही समाहित। विश्व सकल।।९१।। जग एवं ईश्वर। सामरस्य परस्पर। साधक को ऐसा विचार। बुद्धि ग्राह्य।।९२।। वैसे भी अर्जुन। ऐक्यभाव से जिसका मन। सर्वभूतों में अभिन्न। भजत मुझको।।९३।। भूतमात्र का अनेकत्व। मन में न जिसके विविधत्व। जानत केवल एकत्व। सर्वत्र जो।।९४।। वह एक मैं और पार्थ। बोलना सर्वथा व्यर्थ। क्योंकि दोनों यथार्थ। एक रूप।।९५।। दीप और प्रकाश। जैसी एकता अशेष। वैसा उसका मुझमें वास। मेरा उसमें।।९६।। जैसे उदक में मिष रस। गगन निमित्त अवकाश। वैसे मेरे रूप से रूपस। पुरुष वह।।९७।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

Funding by IKS-MoE

करने लगेगी ।।७७।। बुद्धि को जब धैर्य का आश्रय प्राप्त होता है तब मन को अनुभव का मार्ग दिखाई देने लगता है। धीरे-धीरे मन आत्मभुवन में सुप्रतिष्ठित (स्थिर) होने लगता है ।।७८।। इस मार्ग से जीव को निश्चित ब्रह्मप्राप्ति होती है। यदि तुम्हें यह संभवनीय प्रतीत नहीं होता तो अन्य मार्ग भी सुनो ।।७९।। अब मन से एक नियम करो। और कृतनिश्चय से उसका पालन करो ।।३८०।। यदि इस मार्ग से अंतःकरण स्थिर होता है तो काम बड़ा सरल होगा। यदि मन स्थिर नहीं होता तो मन को मुक्त स्वैर छोड़ देना ।।८१।। तब वहां स्वच्छंदता से कुछ देर घूमकर वहां से लौटेगा और पूर्वस्थान पर निश्चित आयेगा, जिससे तत्काल उसको स्थैर्य प्राप्त होगा ।।८२।।

जिसका मन शांत वृत्ति शून्य है, जिसका रजोगुण नष्ट हुआ है। जो तमोगुणरहित है अथवा जो धर्माधर्म विवर्जित है ऐसे ब्रह्मस्वरूप योगी को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है ।।२७।।

पश्चात बार-बार स्थिर होते-होते हे पार्थ! वह आत्मस्वरूप के पास पहुंच जायेगा ।।८३।। फिर उस आत्मस्वरूप को देखकर वह उसके साथ मिल जायेगा। उस समय द्वैत को अद्वैत समाधि प्राप्त होकर उस एकता के प्रकाश से तीनों लोक प्रकाशमान हो जायेंगे ।।८४।। आकाश में आकाश से भिन्न मेघ दिखाई पड़ता है किंतु मेघ के हटते ही संपूर्ण विश्व को व्यापनेवाला शुद्ध आकाश दिखाई देता है ।।८५।। उसी प्रकार चित्त का भी लय होता है और सब कुछ चैतन्य के रूप में ही सर्वत्र प्रकट होता है। हे पार्थ! आत्मसुख की प्राप्ति का यह एक सहज उपाय है ।।८६।।

इस प्रकार सर्वकाल आत्मस्वरूप में चित्त को स्थिर करनेवाला योगी धर्माधर्मरहित होकर सहज ही ब्रह्मस्वरूप, देशकाल, वस्तु मर्यादा रहित ऐसे सुख को प्राप्त होता है ।।२८।।

इस सुलभ योगावस्था के द्वारा बहुत लोगों ने संकल्प की संपत्ति छोड़कर मोक्षसुख की प्राप्ति की है ।।८७।। आत्मसुख की संगति में परब्रह्म से मिलन होता है। जैसे लवण जल में प्रविष्ट होकर जल से पृथक नहीं रहता, वैसे जब मन सुख की संगति से परब्रह्म के अंदर पहुंचता है तब उसे नहीं छोड़ता ।।८८।। और मन भी उस मिलन में समरसत्व के मंदिर में महासुख की दीवाली मनाता है ऐसा प्रतीत होता है ।।८९।। इस प्रकार मनुष्य को अपने ही पैरों से उलटे पीठ पर (सुषुम्ना के मार्ग से) योगाभ्यास करना चाहिये यदि यह साधन दुष्कर प्रतीत होता हो तो एक और उपाय तुम्हें बतलाता हूं वह सुनो ।।३९०।।

योग के द्वारा जिसका चित्त शुद्ध और स्थिर हुआ है और जिसकी सर्वत्र समान दृष्टि है ऐसा योगी आत्मा सब भूतमात्र में स्थित, और सब भूतमात्र आत्मा में स्थित है ऐसा देखता है ।।२९।। जो मुझे सर्वत्र देखता है और मुझमें सबको देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूं न वह मेरे लिये अदृश्य होता है क्योंकि वह मेरे में ऐक्यभाव से स्थित है ।।३०।।

मैं सब देहों में व्याप्त हूं इसमें हे पार्थ शंका मत करना। वैसे मुझमें यह संपूर्ण विश्व समाया है ।।९१।। जगत् एवं ईश्वर में परस्पर समरसता है। साधक यह विचार बुद्धि से ग्रहण कर सकता है ।।९२।। हे अर्जुन! सच तो यह है कि जो मनुष्य इस प्रकार ऐक्य की भावना रखता हुआ इस अभिन्न भाव से मुझे भजता है, ।।९३।। भूतमात्र का अनेकत्व जिसके मन में प्रतीत नहीं होता वह सर्वत्र एक ही (चैतन्य अंतर्यामी) समझता है ।।९४।। हे पार्थ मैं एवं मेरा भक्त दोनों यथार्थ में एकरूप हैं इसलिये इस विषय में और कुछ बोलना व्यर्थ और अनावश्यक है ।।९५।। दीपक एवं उसके प्रकाश में जैसा ऐक्य है वैसा ही उसका मेरे में एवं मेरा उसमें निवास है ।।९६।। जैसे उदक के निमित्त से आर्द्रता है अथवा गगन के अनुसार अवकाश रहता है उसी प्रकीर वैसे ही वह सिद्ध पुरुष मेरे ही रूप से साकार रहता है ।।९७।।

इस प्रकार जो पुरुष ऐक्य भाव में स्थित हुआ संपूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानंदघन वासुदेव को भजता है वह योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ मुझमें ही रहता है, क्योंकि उसके अनुभव में मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। ।।३१।।

Funding by IKS-MoE

जिसकी ऐक्यदृष्टि। देखे सर्वत्र मेरी व्याप्ति। जैसे पट सृष्टि में किरीटि! तंतु एक।।९८।। अथवा अलंकार बहुत। किंतु सुवर्ण न भिन्न होत। ऐसी ऐक्याचल की करत। स्थिति जो।।९९।। वैसे भी वृक्ष में जितने पर्ण। अवश्य न उतने बीजारोपण। अद्वैत प्रकाश से नष्ट पूर्ण। अज्ञान रात्री जिसकी।।४००।। वह पंचात्मक शरीर में स्थित। किंतु न कोई प्रतिबंध पावत। प्रतीतिभाव से तुलत। मत्समान।।१।। मेरा सर्वस्थान में व्यापकत्व। जाने जिसका अनुभव। पावे वह सर्वात्मक भाव। निःसंशय।।२।। यदि करत शरीरधारण। न वह शारिरी अर्जुन। शब्द से उसका वर्णन। शक्य कैसे?।।३।।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

अतः यह विशेष। जो अपने सरिस। चराचर देखे पुरुष। अखंडित।।४।। सुख दुःखादि मर्म। अथवा शुभाशुभ कर्म। दोनों यह मनोधर्म। न जाने जो।।५।। यह सम यह विषमभाव। और भी विचित्र जो सर्व। जाने सब अपने अवयव। धनुर्धर।।६।। यह एकेक कहूं कैसे?। जिसको संपूर्ण त्रैलोक्य जैसे। स्वस्वरूप स्वभाव से। ज्ञान प्राप्त।।७।। उसका देह तो साच रहत। लौकिक से सुख दुःखी कहत। परंतु हमको ऐसा प्रतीत। साक्षात वह परब्रह्म।।८।। अतः अपने में विश्व देखिये। स्वयं विश्व होइये। ऐसा साम्यभाव उपासिये। पंडुकुंवर।।९।। यह तुझको अनेक बार। बतलाया हमने साचार। जो साम्यबिन नाही धनुर्धर। प्राप्ति जग में।।४१०।।

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन। एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

तब कहत अर्जुन। जो योग बताया कृपाधन। परंतु न माने मेरा मन। चंचलस्वभाव से।।११।। कैसा यह मन कितना विस्तार। खोजे न मिलत साचार। भ्रमण के लिये इसके धनुर्धर। अपूर्ण त्रिलोक।।१२।। अतः यह कैसे घटत। क्या मर्कट को समाधि प्राप्त?। क्या कहते ही स्थिर होत। महावात?।।१३।। जो मतबुद्धि को छलत। निश्चय को मोड़त। धैर्य को छोड़त। चकमा देकर।।१४।। जो विवेक को भुलावत्। संतोष-छंद लगावत। मनुष्य को नचावत्। दशदिशा में।।१५।। निरोधन से उछलत। निग्रह से सहाय करत। स्वस्वभाव पार्थ। छोड़ेगा कभी?।।१६।। यदि होत निश्चल। तब हमको साम्य सफल। किंतु यह मन अति चंचल। अतः दुष्प्राप्य वह।।१७।।

Funding by IKS-MoE

जो मनुष्य एकात्मकता की दृष्टि से मुझे समस्त भूतों में उसी प्रकार ओत-प्रोत समझता है जिस प्रकार वस्त्र में तंतु होते हैं ॥९८॥ अथवा जिसका विचार उसी न्याय से ऐक्यभाव से स्थिर हो गया है, जिस न्याय से आभूषण अनेक रूपोंवाले होने पर भी उन सबका अधिष्ठान सोना अनेक रूप नहीं होता है, ऐसी ऐक्यरूप पर्वत जैसी अवस्था जिसकी हुई हो ॥९९॥ अथवा जिसकी अज्ञान-रात्रि इस प्रकार के अद्वैत भाव के सूर्योदय से नष्ट हो गई है कि वृक्ष में जितने पत्ते दिखलाई पड़ते हैं, वे सब अलग-अलग लगाये हुए नहीं हैं और वृक्ष में पत्ते भले ही बहुत से दिखलाई पड़ें, परन्तु मूल वृक्ष एक ही होता है ॥४००॥ ऐसा मनुष्य यदि पंचमहाभूतात्मक शरीर में आ जाये तो भी वह उस शरीर के बंधन में फंसा कैसे रह सकता है? वह अनुभव के प्रभाव से मेरे बराबर ही हो जाता है ॥१॥ उसे आत्मानुभव के कारण वही व्यापकता प्राप्त हो जाती है जो मुझमे हैं। और उसको निःसंशय सर्वात्मक भाव की प्राप्ति होती है ॥२॥ हे अर्जुन! शरीर धारण करते हुए भी वह देहभाव में नहीं रहता। उसका वर्णन शब्दों से कैसा संभव है? ॥३॥

और हे अर्जुन! जो योगी अपनी सदृश्यता से संपूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुख को भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥३२॥

अतः उसमें यह विशेषता होती है कि वह संपूर्ण चराचर विश्व को अखंडित अपने जैसा समझता है ॥४॥ जिसके मन में सुख-दुःख आदि की भावनायें अथवा शुभ-अशुभ कर्मों के संबंध में कोई भेदभाव नहीं होता ॥५॥ धनुर्धर जो सम, विषम और विचित्र सभी प्रकार की वस्तुओं को स्वयं अपने ही अवयवों के समान समझता है ॥६॥ अब यह सब एक-एक कैसे बतलाऊं? जिसके लिये तीनों लोक स्वयं के स्वरूप के समान हैं ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है ॥७॥ उस पुरुष का भी शरीर होता है और लोक व्यवहार में प्रसंग के अनुसार उसे सुखी या दुखी कहा जाता है किन्तु हमको तो वह सचमुच ब्रह्मस्वरूप ही प्रतीत होता है ॥८॥ इसलिये हे पंडुकुमर! हमें अपने आपमें इस प्रकार की साम्य की स्थापना करना चाहिये जिससे हमें अपने आपमें ही सारा विश्व दिखलाई पड़े और हम स्वयं ही विश्वरूप हो जायें ॥९॥ यह बात जो मैं तुमको बार-बार कह रहा हूं, उसका मतलब यह है कि इस संसार में हे धनुर्धर! इस साम्यावस्था के बिना विश्व में उसकी प्राप्ति नहीं होती ॥४१०॥

इस प्रकार भगवान के वाक्यों को सुनकर अर्जुन बोला, हे मधुसूदन! जो यह ध्यान योग आपने समत्व भाव से कहा है, इसकी मैं मन के चंचल होने से बहुत कालतक ठहरने वाली स्थिति को नहीं देखता हूं ॥३३॥ क्योंकि हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल और प्रमार्थी स्वभाव वाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है, इसलिए उसको वश में करना वायु के निग्रह के समान दुष्कर मानता हूं ॥३४॥

तब अर्जुन कहते हैं, हे कृपाधन आपने जो योगमार्ग बतलाया है, परन्तु मन चंचल होने के कारण मेरा मन यह नहीं मानता ॥११॥ यदि हम विचार करना चाहें कि यह मन कैसा है ॥११॥ और कितना विशाल है तो इसकी थाह ही नहीं लगती। इसके भ्रमण के लिये यह त्रैलोक्य भी छोटा है ॥१२॥ अतः यह कैसे स्थिर होगा? क्या बंदर को कभी समाधि अवस्था प्राप्त हो सकेगी? यदि तेज आंधी से कहा जाये कि, तुम चुपचाप और स्थिर बैठो, तो क्या वह स्थिर और स्तब्ध हो सकती है? ॥१३॥ जो मन बुद्धि को भी छलता है, स्वयं निश्चय को विचलित करता है तथा धैर्य को चकमा देकर निकल भागता है ॥१४॥ जो विवेक को भ्रम में डाल देता है, जो संतोष को भी वासना का दाग लगा देता है। जो मनुष्य को दशदिशाओं में नचाता है ॥१५॥ उसका निरोध करने पर और उछलता है। निग्रह करने का यत्न करने पर जिसका आवेश और भी बढ़ जाता है, ऐसा मन अपना स्वभाव कभी छोड़ेगा? ॥१६॥ इसीलिये मुझे तो प्रायः ऐसा लगता है कि मेरा मन कभी स्थिर न होगा और मैं कभी साम्यावस्था तक न पहुंच सकूंगा ॥१७॥

भगवान उवाच–
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

तब कहत श्रीकृष्ण। तुम कहत वैसाहि यह मन। इसका स्वरूप चपल पूर्ण। नि:संशय।।१८।। किंतु वैराग्य का आधार। लाये यदि अभ्यास पथ पर। तब किसी एक अवसर। होगा स्थिर।।१९।। यह मन का एक सुगुण। जहां लगन वहां स्थिर मगन। अतः अनुभव सुख इसे पूर्ण। कौतुक से दिखाइये।।४२०।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

जिसका नाही विरक्त जीवन। और न करे अभ्यास अर्जुन। उसके वश न उसका मन। सुनिश्चित।।२१।।जो न आचरत यम नियमन। जिसको वैराग्य न कभी स्मरण। केवल मीन सम मगन। विषय जल में।।२२।।कभी न जिसने जन्म से। युक्ति को छुआ मन से। तब निश्चल होगा कैसे। तुमही बोलो?।।२३।।अतः मनोनिग्रह का उपाय। प्रारंभ यदि त्वरित होय। तब चंचल मन का जय। क्यों न होवे?।।२४।।जितना यह योगसाधन। क्या वह सब वृथा अर्जुन। किंतु 'शक्य न तुझको अभ्यसन। कहो ऐसे।।२५।।अंग में यदि योगबल। तब मन कितना चपल। क्या महदादि सकल। वश न होत?।।२६।। तब बोलत पार्थ। देव कहत वह यथार्थ। योगबल से न कभी तुलत। मनोबल।।२७।। योग कैसा किसविध जाने। अब तक वार्ता भी नहीं मन में। अतः उसको हम मानें। अनावर।।२८।। पूरे जीवन में हम। त्वत्प्रसाद से पुरुषोत्तम। योग परिचय उत्तम। पाया आज।।२९।।

अर्जुन उवाच–
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः। अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

किंतु हे श्रीकृष्ण। सहज मन में संशय उत्पन्न। निराकरण को अन्य आपबिन। समर्थ न कोई।।४३०।। अतः कहो गोविंद। कवन एक मोक्षपद। बिन अभ्यास सश्रद्ध। कामना करत।।३१।। इंद्रियग्राम छोड़के। भक्तिमार्ग अपनाके। आत्मसिद्धिनगर के। लिये हुआ प्रवृत्त।।३२।। वहां मोक्ष न हुआ प्राप्त। निवर्तना भी न शक्य अच्युत। ऐसे में अचानक होत अस्त। आयुष्य भानुका।।३३।। सहज अकाल का अभ्र। सूक्ष्म एवं पातर। न टिकत न तु वृष्टिकर। जिस प्रकार।।३४।। वैसे दोनों दुरावत। प्राप्ति तो अलग रहत। अप्राप्ति भी छूटत। श्रद्धा से उसकी।।३५।। इसविध दोनों चूकत। किंतु भक्ति में मग्न रहत। वह कौन गति पावत। कहो कृष्ण।।३६।।

Funding by IKS-MoE

इस पर श्रीकृष्ण भगवान बोले हे महाबाहो! निःसंदेह यह मन चंचल और कठिनता से वश में होनेवाला है। परन्तु हे कुन्तिपुत्र! अभ्यास अर्थात स्थिति के लिये बारंबार यत्न करने से और वैराग्य से वश में होता है, इसलिये इसको अवश्य वश में करना चाहिये।।३५।।

तब श्रीकृष्ण कहते हैं सचमुच तुम कहते हो वैसा ही यह मन है। निःसंशय इसका स्वरूप चंचल है।।१८।। किन्तु फिर भी यदि वैराग्य का आश्रय लेकर इसे योगाभ्यास के मार्ग पर लगाया जाय तो कुछ समय में यह भी स्थिर हो जायेगा।।१९।। इसका कारण यह है कि इस मन का एक सद्गुण है इसकी जहां मिठास मिलती है वहां यह चिपक जाता है। इसीलिये इसको कौतुक के द्वारा आत्मसुख के अनुभव का चस्का लगाना चाहिये।।४२०।।

क्योंकि मन को वश में न करनेवाले पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन करने से प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।।३६।।

यह बात मैं निश्चित मानता हूं कि साधारणतः जो लोग विरक्त नहीं होते और जो अभ्यास का प्रयत्न नहीं करते, वे इस मन को वश में नहीं कर सकते।।२१।। जो यम-नियमों का आचरण नहीं करता, जिसको वैराग्य का कभी स्मरण नहीं होता, केवल मीन के सदृश विषय जल में मग्न रहता है।।२२।। अपने जन्म में कभी भी जिसने युक्ति (योग साधना) को मन से स्पर्श न किया हो तब भला उसका मन कैसे स्थिर होगा? तुम ही कहो! ।।२३।। इसीलिये मनोनिग्रह का उपाय यदि शीघ्रता से आरंभ किया गया तो यह चंचल मन भी वश में क्यों नहीं आयेगा?।।२४।। जितने ये लोग साधन आदि हैं क्या ये सब मिथ्या हैं? किन्तु हे अर्जुन! तुम अभ्यास तो कर नहीं सकते ऐसा कहो।।२५।। यदि मनुष्य में योग सामर्थ्य आ जाये तो फिर उसके सामने मन की चंचलता क्या चीज है? क्या उस सामर्थ्य से सब महातत्व (पंचभूतों) को वश में किया नहीं जाता?।।२६।। इस पर अर्जुन ने कहा हे देव! आप जो कुछ कहते हैं सब बिलकुल ठीक है। सचमुच योग सामर्थ्य से सामने मन की शक्ति की तुलना कभी नहीं हो सकती।।२७।। योग मार्ग कैसा किस प्रकार से जानना, इसका अब तक मन में नामोनिशान तक नहीं था, इसलिये हम इसको दुष्कर मानते थे।।२८।। इस समस्त जीवन में हे पुरुषोत्तम! हमें आपके कृपाप्रसाद से योग का उत्तम ज्ञान आज हुआ है।।२९।।

इस पर अर्जुन बोला हे कृष्ण! योग से चलित मन है जिसका ऐसा शिथिल यत्नवाला श्रद्धायुक्त पुरुष योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत् साक्षात्कार को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है।।३७।। और हे महाबाहो! क्या वह भगवत् प्राप्ति के मार्ग में मोहित हुआ आश्रय रहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भांति दोनों ओर से अर्थात् भगवत्प्राप्ति और सांसारिक भोगों से भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है?।।३८।। हे कृष्ण! मेरे इस संशय को संपूर्णता से छेदन करने के लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवाय दूसरा इस संशय को छेदनेवाला मिलना संभव नहीं है।।३९।।

किन्तु हे श्रीकृष्ण! मेरे मन में सहज ही एक शंका उत्पन्न हुई है। और उसका समाधान करने का सामर्थ्य आपके सिवा और किसी में नहीं है।।४३०।। इसलिये हे गोविन्द! कोई एक साधक बिना अभ्यास के श्रद्धापूर्वक मुक्ति की कामना करता है।।३१।। इंद्रियों के प्रभाव से मुक्त होकर भक्ति के मार्ग पर चलकर आत्मसिद्धि प्राप्त करने का प्रयास आरम्भ करता है।।३२।। उसे आत्मस्वरूप की भी प्राप्ति नहीं होती और वह पीछे लौटकर संसार में भी लिप्त नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में अकस्मात उसके आयुष्य का सूर्य अस्त हो जाता है अर्थात वह मृत्यु को प्राप्त होता है।।३३।। जिस प्रकार अकाल का अभ्र सूक्ष्म एवं वर्षाहीन होता है, बीच में आ तो जाता है परंतु न तो वह ठहरता है और न वर्षा ही करता है।।३४।। वैसे उसके लिये आत्मप्राप्ति तो दूर रहती है और अपने श्रद्धाबल के कारण वह जिन इंद्रिय सुखों का परित्याग करता है उसकी आसक्ति भी नहीं रहती।।३५।। इसप्रकार वह श्रद्धा के फेर में पड़कर दोनों से वंचित होता है न इधर का होता है न उधर का। ऐसे मनुष्य की (साधक की) क्या गति होती है? हे श्रीकृष्ण यह स्पष्ट बोलो।।३६।।

भगवान उवाच—
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

सुनो यह कौतुक। यत्न से जो पावे 'शतमख। वह अनायास प्राप्त लोक। मोक्षकामी को।।४१।। वहां के जो अमोघ। अलौकिक भोग। भोगत ही वैलाग। मन को होय।।४२।। यह अंतराय अवचित। क्यों उसको प्राप्त भगवंत? । दिविभोग मनको न भावत। अनुतापत नित्य।।४३।। पश्चात जन्मत संसार में। किंतु सकल धर्म आगर में। ऐश्वर्य युक्त गृह में। प्राणि वह।।४४।। जो कुल नीतिमान। करे सत्य पवित्र भाषण। जहां 'शास्त्रशुद्ध आचरण। निरंतर।।४५।। वेद जहां जागेश्वर। जिसका व्यवसाय निजाचार। सारासार विचार। मंत्री जिसका।।४६।। जिस कुल में चिंतन । ईश्वर पतिपरायण। जिसकी गृहदेवता अर्जुन। आदिऋद्धि।।४७।। ऐसे जिस कुल में पुण्य। जहां सुख समृद्धिसंपूर्ण। वहां जन्मत अर्जुन। योगच्युत।।४८।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

तब कृष्ण कहत पार्था। जिसको मोक्षसुख में आस्था। उसको मोक्षबिन अन्यथा। गति नाहीं।।३७।। क्रिंतु उसमें एक मर्म। जो मध्य में पावत विश्राम। परंतु भोगत सुख परम। देवदुर्लभ।।३८।। यदि अभ्यास पथपर। होत वह अग्रसर। दिन अस्त पूर्व पावत 'शीघ्र। सोहं सिद्धि।।३९।। उतनी न इसकी गति। इसलिये आवश्यक विश्रांति। किंतु पश्चात मोक्ष प्राप्ति। सुनिश्चित।।४४०।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

अथवा ज्ञानाग्निहोत्री। परब्रह्मण्यश्रोत्री। महासुख धरित्री। के आदिवासी।।४९।। आरूढ़ सिद्धांत सिंहासन में। राज्य करत त्रिभुवन में। जो कूजत कोकिल वन संतोष के।।४५०।। विवेक द्रुम मूल में आसन। ब्रह्मरूप नित्यफल का सेवन। ऐसे योगियों के कुल में जान। पावत जन्म।।५१।। जैसे देहाकृति उपजत। निजज्ञान उषा उदित। सूर्य पूर्व प्रकटत। प्रकाश जैसा।।५२।। वैसी दशा की राह न तकत। प्रौढ़ावस्था न वह पावत। 'शैशव में ही वरत। सर्वज्ञता उसको।।५३।। ऐसा सिद्ध प्रज्ञायुक्त। मन ही सारस्वत प्रसवत। स्वयंभू सकल 'शास्त्र। निकसत मुख से।।५४।। ऐसे उत्तम कुल में जन्म। जिसके लिये देव सकाम। स्वर्ग में जप होम। करत सदा।।५५।। अभरी भाट होइये। तब मृत्युलोक बखानिये। ऐसे उत्तमजन्म ये। पावत वे।।५६।।

भगवान उवाचः–

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान श्रीकृष्ण बोले, हे पार्थ! उस पुरुष का, न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है क्योंकि हे प्यारे! कोई भी शुभ कर्म करनेवाला अर्थात भगवत् अर्थकर्म करनेवाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता ॥ ४० ॥

तब श्रीकृष्ण ने कहा हे पार्थ! जिसके मन में मोक्षसुख में श्रद्धा होती है, भला उसको मोक्ष के बिना अन्य गति नहीं है ॥ ३७ ॥ किंतु उसमें एक रहस्य की बात है। उसको यदि बीच में विश्राम प्राप्त हुआ (मृत्यु से) है, परंतु उसको देवदुर्लभ परमसुख प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥ यदि उसने अभ्यास योग का दृढ़ता से आचरण किया होता तो देहपतन के पूर्व उसे सोऽहं सिद्धि प्राप्त हो जाती ॥ ३९ ॥ अभ्यास में उसकी गति तीव्र न होने से उसको विश्रांति लेना आवश्यक हुआ। किंतु अन्त में उसको मोक्षप्राप्ति अवश्य होती है ॥ ४४० ॥

किन्तु वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों की अर्थात् स्वर्गादिक उत्तम लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षों तक वास करके शुद्ध आचरण वाले श्रीमान पुरुष के घर में जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

ऐसे पुरुष के संबंध में और एक विलक्षण आश्चर्य सुनो। जिन लोकों की प्राप्ति के लिये इंद्र को भी कष्ट करने पड़ते हैं वह लोक मुमुक्षु को अनायास ही मिल जाता है ॥ ४१ ॥ वहां के अमोघ, अलौकिक, दिव्य भोगों का उपभोग लेते हुए भी उसके मन को वैताग होता है ॥ ४२ ॥ हे भगवान! यह दूरी यह बाधा क्यों उत्पन्न की? इस तरह दिनरात उस अनासक्त मन में नित्य अनुताप उत्पन्न होता है ॥ ४३ ॥ इसके उपरान्त जहां धर्म का स्थान है ऐसे ऐश्वर्ययुक्त कुल में, मृत्युलोक में पुनः जन्म पाता है ॥ ४४ ॥ नीतिमान कुल में जहां नित्य सत्य एवं पवित्र वाणी का उच्चारण होता है, जहां निरंतर शास्त्र शुद्ध आचरण होता है ॥ ४५ ॥ प्रातःकाल जागृत करने के लिये जहां वेदों का नित्य पतन होता है। सदाचार जिसका व्यवसाय है। सारासार विचार जिसका मंत्री है ॥ ४६ ॥ जिसके कुल की चिंता (योगक्षेम की) यह साक्षात् ईश्वर की पतिव्रता हुई है और ऋद्धि-सिद्धि आदि अष्टमहासिद्धियां जिसकी गृहदेवताएं हुई हैं ॥ ४७ ॥ ऐसे पुण्यवान कुल में जहां संपूर्ण सुखसमृद्धि है वहां हे अर्जुन! वह योगच्युत जन्म पाता है ॥ ४८ ॥

अथवा वैराग्यवान पुरुष उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान योगियों के कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है सो संसार में निःसंदेह अति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥ और वह पुरुष वहां उस पहले शरीर में साधन किये हुए बुद्धि के संयोग को अर्थात् समत्वबुद्धियोग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है। और हे कुरुनंदन! उसके प्रभाव से फिर अच्छी तरह भगवतप्राप्ति के निमित्त यत्न करता है ॥ ४३ ॥

जिनके कुल में ज्ञानरूपी अग्नि की सेवा चलती है, आत्मसुख की ब्रह्मचर्चा जहां नित्य होती है जो आत्मानंद के जागीरदार हैं ॥ ४९ ॥ जो महासिद्धांत का रहस्य जानकर तीनों भुवनों के राजा हो चुके होते हैं, जो संतोष के वन में कूजन करनेवाले कोकिल के समान जान पड़ते हैं ॥ ४५० ॥ विवेक वृक्ष के तल में उनका आसन होता है और नित्य ब्रह्मफल का सेवन करते हैं, ऐसे योगियों के कुल में वह जन्म लेता है ॥ ५१ ॥ जिस समय उसकी छोटी सी मूर्ति प्रकट होती है उसी समय साथ ही साथ आत्मज्ञान का उषाकाल भी होता है। जिसप्रकार सूर्य का उदय होने से पहले उसका प्रकाश प्रकट होता है ॥ ५२ ॥ उसी प्रकार प्रौढ़ावस्था आने के पहले ही और बिना पक्व वयस की अपेक्षा किये ही बाल्यावस्था में ही उसको सर्वज्ञता प्राप्त होती है ॥ ५३ ॥ ऐसे प्रज्ञायुक्त सिद्ध के मन से साहित्य निर्माण प्रारंभ हो जाता है। सब शास्त्र स्वयंभू उसके मुख से प्रकट होते हैं ॥ ५४ ॥ ऐसे उत्तम कुल में जन्म पाने के लिये देवतायें भी कामना करते हैं। उसी के लिये स्वर्ग में रहते हुए ध्यान लगाकर जप, हवन आदि सदा करते हैं ॥ ५५ ॥ मृत्युलोक के महान वैभव की भाटों के समान ये देवता स्तुतिगान करते हैं ऐसे उत्तम कुल में वे योगभ्रष्ट जन्म पाते हैं ॥ ५६ ॥

Funding by IKS-MoE

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

पूर्वप्राप्त जो सद्बुद्धि। जहां जीवित्व की हुई अवधि। वह आगे निरवधि। नूतन लभत।।५७।। सदैव और पांव से जन्म। उस पर नेत्र में हो दिव्यांजन। तब देखत पातालधन लीलया सहज।।५८।। वैसे दुर्भेद अभिप्राय। जो केवल गुरुगम्य। वहां अचूक जाय। बुद्धि उसकी।।५९।। इंद्रियां स्वयं मन आधीन। पवन में एकवटत मन। चिद्गगन में पवन। प्रविष्ट सहज।।४६०।। और क्या कहूं बात। योग उसको सुलभ पार्थ। समाधि स्वतः पूछत। घर मन का।।६१।। जो योगपीठका भैरव। आरंभ रंभाका गौरव। या वैराग्य सिद्धि का अनुभव। मूर्तिमान।।६२।। यह संसार का परिमाण नाप। या अष्टांग सामग्री का द्वीप। जैसे परिमल से धरत रूप। चंदन का।।६३।। वैसा योगबल से अर्जुन। संतोष का पुतला पूर्ण। अथवा सिद्धि भांडार से उत्पन्न। साधक दशा में।।६४।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

कोटीवर्ष शतनन्तर। करके जन्म सहस्त्र की बाधा दूर। प्रयत्न से पावत तीर। आत्मसिद्धि का।।६५।। अतः सर्व साधनजात। स्वभावतः उसको प्राप्त। सिद्धिराज्य पर आरूढ़त। विवेक से।।६६।। विचार जहां गतिमान। विवेक भी पिछड़त अर्जुन। तब अविचारणीय ब्रह्म पूर्ण। प्राप्त सहज।।६७।। वहां मन का मेघ विरत। पवन का पवनत्व लोपत। अपने में सहज मीनत। आकाश भी।।६८।। प्रणव का माथा लुप्त। अवर्णनीय सुख प्राप्त। वाणी मौन होत। इस कारण।।६९।। ऐसी यह ब्राह्मी स्थिति। सकल गति को देत गति। उस अमूर्त की मूर्ति। बनकर रहत।।४७०।। बहु पूर्व जन्म में पार्थ। विक्षेप मल उदक से प्रक्षिप्त। अतः जन्म के साथ डूबत। लग्नघटिका।।७१।। तब तद्रूपता से लग्न। होकर रहत अभिन्न। जैसे अभ्रलोप से गगन। पावत स्वरूप।।७२।। वैसे जहां से विश्व उत्पन्न। तथा जहां उसका लय पूर्ण। रहे देह में विद्यमान। साक्षात ब्रह्म वह।।७३।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

जिस लाभ की आशा से। धैर्यबाहु के भरोसे से। निकसत षट्कर्म धारा में से। कर्मनिष्ठ।।७४।। जिस एक वस्तु प्रीत्यर्थ। पहिनकर ज्ञान कवच पार्थ। प्रपंच समरांगण में जूझत। ज्ञानी पुरुष।।७५।। अथवा चिकनी निराधार। तपोदुर्ग की चोटी पर। चलत दुर्गम राह पर। तपस्वी सकाम।।७६।। जो भक्तों का भज्य। याज्ञिकों का याज्य। एवं जो पूज्य। सबको सदा।।७७।। वह स्वयं अर्जुन। साक्षात्

Funding by IKS-MoE

और वह योगभ्रष्ट उस पहले अभ्यास से ही निःसंदेह भगवत की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समत्वबुद्धिरूप योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है॥४४॥

पूर्व जन्म में मृत्यु के समय जो सद्बुद्धि थी उसके आगे उसको नवीन ज्ञान प्राप्त होता है।।५७।। जैसे पैर से जन्म लेनेवाले बालक को दिव्य नेत्रांजन प्राप्त होते ही उसे जमीन के अंदर छिपे हुये खजांने सहज में दिखाई देते हैं।।५८।। ठीक उसी प्रकार अत्यंत कठिन अभिप्राय जिसे केवल गुरुकृपा से ज्ञात कर सकते हैं उनकी बुद्धि निश्चित वहां पहुंचती है।।५९।। प्रबल इंद्रियां मन के आधीन होती हैं, मन प्राणवायु में विलीन होता है, और चिदाकाश में प्राणवायु स्वाभाविक रीति से व्याप्त रहती है।।४६०।। और तुमको क्या कहूं, योगमार्ग उसको सुलभ होता है, समाधि अवस्था उसके मन का घर स्वयं पूछते हुए पहुंचती है।।६१।। जो योगपीठ का भैरव (पहरेदार) है। या योगारंभरूप गणेश का गौरवस्थान है, अथवा वैराग्य सिद्धि का मूर्त अनुभव ही है।।६२।। जान पड़ता है कि ऐसा पुरुष संसार को नापने का नाप है अथवा अष्टांग योग साहित्य का द्वीप है। या जिस प्रकार सुगंध चंदन का रूप धारण करता है।।६३।। वैसा योगबल से मानो संतोष ही इस पुरुष के रूप में प्रकट हुआ है अथवा साधक दशा में ही सिद्धियों के भांडार से निकला है। तात्पर्य यह कि चाहे देखने में वह भले ही साधक दिखाई पड़ता हो, परंतु स्पष्ट रूप से नहीं जान पड़ता है कि वह वास्तव में सिद्ध ही है।।६४।।

जबकि इस प्रकार मन्द प्रयत्न करनेवाला योगी भी परमगति को प्राप्त हो जाता है, तब क्या कहना है कि अनेक जन्मों से अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ और अति प्रयत्न से अभ्यास करनेवाला योगी संपूर्ण पापों से अच्छी तरह शुद्ध होकर उस साधन के प्रभाव से परमगति को अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होता है।।४५।।

जब करोड़ों वर्षों के अनन्तर हजारों जन्म के प्रतिबन्धों को पार करके आत्मसिद्धि का परतीर प्राप्त होता है।।६५।। तब सब साधन उसको स्वाभाविक रीति से प्राप्त होते हैं एवं वह विवेक साम्राज्य का स्वामी हो जाता है।।६६।। हे अर्जुन! जहां विवेक गतिमान होता है वहां विचार पीछे हट जाते हैं। तब विचार के परे पूर्ण ब्रह्मावस्था सहज प्राप्त होती है।।६७।। उस समय मन के ऊपर छाया हुआ मेघ नष्ट होता है। वायु का वायुत्व लुप्त होता है। चिदाकाश भी अपने आपमें विलीन होता है।।६८।। उसे वह अगाध और शब्दातीत सुख प्राप्त होता है, जिसमें ओंकार भी सिर तक डूब जाता है अर्थात प्रणव सुनाई देना बंद होता है और वाणी मौन हो जाती है।।६९।। यह ब्राह्मी स्थिति जो सब गतियों की परमगति है, उस अमूर्ति ब्रह्मसमाधि की मूर्ति बनकर वह रहता है।।४७०।। वह अपने पिछले जन्मों का विपरीत ज्ञानरूपी जल का मल साफ कर चुका होता है इसलिये वर्तमान जन्म होते ही उसकी और ब्राह्मी स्थिति के साथ निश्चित की हुई लग्नघटिका पानी में डूब जाती है।।७१।। ब्राह्मी स्थिति के साथ उसका शुभ विवाह संबंध हो जाता है और वह उसी स्थिति में मिलकर उसके साथ एकरूप हो जाता है। जिसप्रकार फटा और बिखरा हुआ मेघ आकाश के रूप में बदल जाता है उसी प्रकार वर्तमान जन्म के साथ ही तद्रूप होकर भगवान से अभिन्न होकर रहता है।।७२।। वैसे जहां से समरूप विश्व उत्पन्न होता है तथा जहां वह पूर्ण विलीन होता है वहीं साक्षात् ब्रह्म उसके देह में विराजमान रहता है।।७३।।

क्योंकि योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और शास्त्र के ज्ञानवालों से भी योग श्रेष्ठ हैं इससे हे अर्जुन! तुम योगी बनो।।४६।।

जिस लाभ की आशा से धैर्य के हाथ का आश्रय लेकर कर्मनिष्ठ योगी षटकर्म का आचरण करते रहते हैं।।७४।। जिस वस्तु के लिये हे पार्थ! ज्ञान के कवच का अंगीकार करते हुये प्रपंच के समरांगण में ज्ञानी पुरुष जूझते रहते हैं।।७५।। अथवा तपोदुर्ग की चिकनी और दुर्गम कगार पर सकाम तपस्वी चलते रहते हैं।।७६।। जो भक्तों के लिये भक्ति का विषय और याजकों के लिये यज्ञदेवता हैं, तात्पर्य यह कि जो सभी लोगों के लिये सभी कालों में पूजनीय है।।७७।। हे अर्जुन! वही स्वयं निर्वाण अर्थात्

निर्वाण। जो साधक का कारण। सिद्ध तत्त्व।।७८।। अतः कर्मनिष्ठा वंद्य। ज्ञानियों को वेद्य। तापस का आद्य। तपोनाथ।।७९।। जीव परमात्मा संगम। जिसका पूर्ण मनोधर्म। वह शरीरि किंतु माहात्म्य। पावत ऐसा।।४८०।। इसलिये पार्थ। तुझको मैं सदा कहत। अंतःकरण से होना योग युक्त। पंडुकुंवर।।८१।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

सुनो योगी जो कहिये। वह देवों का देव जानिये। सुख सर्वस्व मेरा होइये। चैतन्य वह।।८२।। वहां भक्तभज्य भजन। यह संपूर्ण भक्ति साधन। अनुभव से मैं स्वयं अर्जुन अखंडति।।८३।। उसकी मेरी प्रीत। रूप वर्णनातीत। हम दोनों एक साक्षात्। सुभद्रापति।।८४।। वह अलौकिक प्रेमा। यदि दीजे उपमा। तब मैं वह आत्मा। यही सत्य।।८५।। ऐसे भक्त चकोरचंद्र। त्रिभुवनैक नरेंद्र। बोलत गुणसमुद्र। संजय कहे।।८६।। वहां आदि से ही पार्थ को। बहुत आस्था सुनने को। वह दुगनत यह यदुनाथ को। प्रतीत मन में।।८७।। सहज संतोषत कृष्णमन। जो प्रतिबिंबत अर्जुन दर्पण। सहर्ष करत निरूपण। कथाभाग।।८८।। आगे प्रसंग सुघट। जहां शांतरस सुस्पष्ट। करत गठरी प्रकट। प्रमेय बीजों की।।८९।। जहां सात्विकता की वृष्टि। सींचत आध्यात्मिक मिट्टी। सहज पक्व क्यारी की सृष्टि। होत चतुर चित्त में।।४९०।। उस पर अवधान का सुसमय। सुवर्णसा प्राप्त योग्य। अतः बीजारोपण का धैर्य। श्रीनिवृत्ति को।।९१।। ज्ञानदेव कहे मुझे सार्थ। सद्गुरु ने चाड़ी बनाई यथार्थ। मस्तक पर रखकर हाथ। डाला बीज।।९२।। अतः इस मुख से जो स्त्रवत। संतहृदय में साच रूपत। अब कहूंगा जो अच्युत। निरूपित।।९३।। वह मनकर्ण से सुनिये। बुद्धिनयन से देखिये। बदले में दीजिये। चित्त अपना।।९४।। अवधान द्वारा पार्थ। हृदयांतर में प्रवेशत। तब कामना तृप्त करत। सज्जनों की।।९५।। ये बोल देत आत्म प्राप्ति। संकट से होत मुक्ति। जीव पर करत वृष्टि लक्ष सुखों की।।९६।। अब अर्जुन को मुकुंद। नागर कहत विनोद। वह ओवियों का प्रबंध। कहूंगा मैं।।४९७।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे अभ्यासयोगोनां षष्ठोऽध्यायः (श्लोक ४७ ओवियाँ ४९७)

● ● ●

साक्षात् परब्रह्म है और जिस विचार से यही सिद्धतत्त्व समस्त साधकों का साध्य होता है ।।७८।। उसी विचार से कर्मनिष्ठों के लिये वह वंद्य होता है, ज्ञानियों के लिये ज्ञान का विषय होता है और तपस्वियों के लिये तपस्या का अधिदेवता होता है ।।७९।। इसीलिये हे पार्थ ! मैं तुमको नित्य कहता हूं कि, तुम अंतःकरण से योग युक्त बनो ।।४८०।। जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन हो ऐसा जिसका मनोधर्म है वह शरीर में रहते ही ऐसा श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है ।।८१।।

सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान योगी मेरे में लगे हुये अंतरात्मा से मेरे को निरन्तर भजता है वह योगी परम श्रेष्ठ मान्य है ।।४७।।

जिसे लोग योगी कहते हैं, उसे देवों का भी देव समझना चाहिये। वह मेरा सुखसर्वस्व बल्कि प्राण ही होता है ।।८२।। वहाँ भक्त भजन एवं भक्ति यह त्रिपुटी समाप्त होती है, हे अर्जुन! मैं स्वयं परमात्मस्वरूप हूँ ऐसा उसको अखंडित अनुभव आता है ।।८३।। हे सुभद्रापति! उसकी और मेरी प्रीति का स्वरूप वर्णनातीत है। हम दोनों एक ही हैं ऐसा जानो ।।८४।। उस अलौकिक प्रेम को उपमा देना ही है तो मैं देह एवं वह मेरी आत्मा समझो यह सत्य है ।।८५।। इसप्रकार भक्त-चकोरों को आनन्द देनेवाले चंद्रमा, सद्गुणों के सागर और तीनों भुवनों में नरश्रेष्ठ श्रीकृष्णचंद्र ने अर्जुन से जो कुछ कहा था, वह सब संजय ने धृतराष्ट्र को सुनाया ।।८६।। उस समय तक यदुनाथ की समझ में यह बात अच्छी तरह आ चुकी थी कि आरम्भ से ही अर्जुन के मन में उपदेश सुनने की जो श्रद्धायुक्त उत्कंठा थी वह अब बढ़कर दुगनी हो गई है ।।८७।। इससे श्रीकृष्ण का मन सहज संतुष्ट हुआ। उनके भाषण का प्रतिबिंब अर्जुन की मुद्रापर दिखलाई पड़ रहा था और उसी आनन्द के कारण आगे का कथाभाग और भी विस्तार से अर्जुन को वे बतावेंगे ।।८८।। अगला प्रसंग बहुत सुंदर है। उस प्रसंग में शांतरस इतने स्पष्ट उत्कर्ष को प्राप्त होगा कि उसमें महासिद्धान्त रूपी बीजों में अंकुर निकलते हुए दिखाई देंगे। मानो तत्त्व बीजों का रहस्य ही खोल दिया है ।।८९।। वहाँ आध्यात्मिक भूमि में सात्विक भावनाओं की वृष्टि से आत्मभावना के ढ़ेले फूट और गल गये हैं और श्रोताओं के.चतुर चित्त की क्यारियाँ बीज धारण करने के लिये तैयार हो गई है ।।४९०।। उस पर सुवर्णतुल्य एकतानता का भाव प्राप्त होने से श्री निवृत्तिनाथ के मन में सिद्धान्त बीज बोने का धैर्य उत्साह के साथ उमड़ पड़ा है ।।९१।। इसलिये यह निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहता है कि हे श्रोतागण ! इस बीज बोने के काम में मुझे श्रीसद्गुरु ने वह चोंगा बनाया है, जिसमें डालकर बीज बोये जाते हैं और मेरे मस्तक पर हाथ रखकर मेरे हृदय में बोये जाने वाले बीज डाले हैं ।।९२।। इसलिये मेरे मुख से जो बातें निकलती हैं, वह सन्तों के हृदय में तुरन्त ही अच्छी तरह बैठ जाती हैं परन्तु यह बहुत कुछ विषयान्तर पर हुआ है अब मैं यह बतलाऊंगा कि श्रीकृष्ण ने इसके उपरान्त अर्जुन को और क्या कहा ।।९३।। परन्तु श्रोताओं को वे सब बातें मन के कानों से सुननी चाहिये, बुद्धि की आंखों से देखनी चाहिये और अपना चित्त मुझे देकर मेरी बातें ग्रहण करना चाहिये ।।९४।। सावधानता के हाथों से ये सब बातें उठाकर अपने हृदय के भीतरी भाग में भरना चाहिये तब सज्जनों की मनोकामना तृप्त होगी ।।९५।। ये बातें आत्मकल्याण को हस्तगत करते हुये आत्मप्राप्ति कर देती है। संकटों से मुक्ति कराती है और जीव पर लाखों सुखों की वर्षा होती है ।।९६।। अब अर्जुन को श्री मुकुंद प्राकृत वाणी में सुंदर और विनोदपूर्वक जो कुछ कहेंगे उनको मैं ओवी छंद में श्रोताओं को कहूंगा ।।४९७।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

● ● ●

Funding by IKS-MoE

अध्याय - सातवाँ

सारांश

उसके उपरान्त सप्तम-। में प्रकृति परिहार उपक्रम। जिससे भजत पुरुषोत्तम। प्रतिपादित चारों।।ज्ञा. १०-२८।।

अर्जुन को योग का परिचय कराने के बाद जिससे अपना समग्र ज्ञान होगा उस ज्ञान-विज्ञान का विचार इस अध्याय में भगवान कथन करते हैं। प्रपंच को विज्ञान कहते हैं। प्रपंच सत्य है यह समझना अज्ञान है। जहां ज्ञातृत्व का प्रवेश नहीं होता वह सत्य ज्ञान ! विज्ञान निःशेष भर्जित होता है। अज्ञान नाश होता है। मन और बुद्धि को अगोचर जो स्वरूप वह शेष रहता है। ऐसा विचार कथन किया जायेगा। भगवान कहते हैं कि जिस कथन से वक्ता और श्रोता इन दोनों का कार्य होगा ऐसा ही मैं कथन करूंगा। (१-९) किंतु यह मिथ्या प्रपंच सत्य मानकर उसके पीछे सब लोग लगे हैं। (एकाद दूसरा) ही क्वचित विरला सत्य समझने की चेष्टा करता है। उनमें से क्वचित किसी को उसकी यथार्थ पहचान होती है। विज्ञान निरस्त करके ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिये प्रथमतः तुमझे विज्ञान कथन करता हूं। (१०-१५)

जिस मेरी माया से यह दृश्य सृष्टि की उत्पत्ति हुई उसको प्रकृति कहते हैं। वह दो प्रकार की है। अपरा और परा। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार इन अष्ट भागों से व्यावृत वह अपरा प्रकृति है। ये अष्टभाग जहां लीन होकर रहते हैं, वह पराप्रकृति है। जब परा प्रकृति अष्टधा प्रकृति में परिणित होती है, तब अंडज, स्वेदज, जारज और उद्भिज ऐसे भिन्न-भिन्न आकारवाले किन्तु समान योग्यता के असंख्य प्राणी निर्माण होते हैं। उनके द्वारा आगे कर्मव्यवहार होते हैं। यह प्रकृति पुनः जब साम्यावस्था को प्राप्त होती है तब अखिल विश्वाकार का लय होता है। यह सब जो दिखता है वह मृगजलवत् भासमान है। उसका सत्य अधिष्ठान मैं हूं। सृष्टि के पदार्थों में विशेष रूप से भासमान होनेवाले गुण जैसे जल का रस रसत्व चंद्र-सूर्य का तेज, बलवानों का बल, प्राणियों में रहनेवाला, शास्त्र नियमित काम आदि सब मैं ही हूं।

सत्व रज तमादि गुणों से युक्त ऐसे विश्व के पदार्थों की उत्पत्ति मेरे से ही हुई है। तो भी उन पदार्थों में मेरा अस्तित्व नहीं है। धूम्र की उत्पत्ति अग्नि से होती है फिर भी धूम्र में अग्नि का अस्तित्व है क्या? (१६-५९) इस त्रिगुणात्मक सृष्टि की उत्पत्ति मेरे से ही हुई। परंतु उस सृष्टि ने मुझे ही आवृत किया। जिस प्रकार नेत्रों के जल का पर्दा नेत्रों में उत्पन्न होता है। परिणामतः दृष्टि को मंदत्व आता है, उस प्रकार मुझसे प्राणिमात्रों की उत्पत्ति हुई परंतु 'मैं और मेरा' इस भ्रांति में जकड़कर वे मुझे भूल गये और विषयानुगामी हो गये। (६०-६८) जिस माया से त्रिगुणात्मक और अनेक विकारयुक्त सृष्टि उत्पन्न हुई, उस माया का उल्लंघन करना आजतक ब्रह्मादिकों को भी कठिन हो गया है। ऐसी दुर्लभ्य महत्तत्त्वादि माया से कैसा तरना (माया को कैसे पार करना) ऐसी शंका तुझे आयेगी। मैं उपाय कथन करूंगा, सुनो! यह माया नदि दुस्तर है ऐसा समझ। इस नदि का उद्गम ब्रह्मरूपी पर्वत से हुआ है। यह नदि सृष्टि विस्तार रूप से इतनी बढ़ती है कि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप दोनों किनारों के बाहर बहती है। गुणरूप मेघों की भारी वर्षा से मोहरूप नदी को बाढ़ आती है, परिणामतः यम-नियमरूप ग्राम बह जाते हैं। इस नदि में मोहरूप भंवर, तरुण, स्त्रियां, धन आदि महान मत्स्य रहते हैं। और इसमें अहंकार की बड़ी तेज धारा है। इसी नदी की लहरें स्वर्ग के बुरुजों पर धड़क देती हैं। इसकी बाढ़ अभी तक कम नहीं हुई। इस मायापूर को कौन पार करेगा? बुद्धि, वेदाभ्यास, यज्ञ, तप, कर्म आदि साधनों से केवल अपने सामर्थ्य पर विश्वास रखकर जो यह माया नदी पार करने का प्रयत्न करते हैं, उनकी विषय, अभिमान, मद आदि संकटों से दमछाक होती है। इस माया से तरने का एकमात्र उपाय यह है कि

Funding by IKS-MoE

सद्गुरुचरणाश्रित होकर 'मुझे' सर्वभाव से शरण आना। (६९-१०१) किन्तु भगवत् शरणागत् जन बिरले रहते हैं। सामान्य जन अहंकार पिशाच से ग्रस्त होते हैं। निषिद्ध कर्म मार्गानुसारी होने के कारण जन्म-मरण रूप भोगते हैं और इतने निर्लज्ज बने हैं कि उनको किमपि दुख नहीं होता। (१०२-१०७) जो कोई भक्त हैं, उनके चार प्रकार हैं। प्रथम दुख का आघात होते ही तन्निवारणार्थ भगवान का स्मरण करनेवाल्ने दूसरे कोई जानने की इच्छा करनेवाले, तीसरे प्रकार का भक्त द्रव्य प्राप्त्यर्थ भजनेवाले, ये सब भक्त ही हैं। मुझे वे प्रिय हैं, परंतु ये कनिष्ठ भक्त हैं। मुझे जो श्रेष्ठ भक्त इस नाते से अत्यंत प्रिय हैं, उसके मुझ से कुछ प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती, वह निरपेक्ष रहता है। इतना ही नहीं वह मेरे समान हो जाता है, ऐसा होते हुए भी वह मेरी सेवा करता है। (१०८-१२६) (भगवान ज्ञानी भक्तों का साधनामार्ग कथन करते हैं) शत-शत जन्म वैराग्य का आश्रय लेकर और संत समागम करते हुए वह निष्काम कर्म करता है। अंत में गुरुकृपांकित होकर अखिल विश्व वासुदेव मय है ऐसा अपरोक्ष अनुभव उसको आता है। (१२७-३७) ऐसे महात्मा दुर्लभ होते हैं। संसार में देखो तो नाशवंत विषयों में रुचि रखनेवाले अधिकतर दिखते हैं। फिर वे विषयप्राप्ति होगी, न देवताओं के आराधन में मग्न होते हैं। किंतु उन देवताओं को मैं उपस्थति हूं और मेरे कारण ही उनकी इच्छा पूर्ति होती है, यह उन बेचारों को ज्ञात नहीं होता। (१३८-१४०)

दुख की बात है कि अन्य देवताओं के भक्ति से प्राप्त भोग नाशवान क्षणिक रहते हैं। मैं शाश्वत हूं। वस्तुतः मुझे प्राप्त करना चाहिये। परंतु मुझ शाश्वत से वे दूर रहते हैं, बिछुड़ जाते हैं। यह समीपस्थ सागर को छोड़कर करतल के पानी में भी तैरने सरिखी मूर्खता की बात है। (१४१-१५७) वस्तुतः जिसमें मैं विद्यमान नहीं ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है (सदा सर्वत्र 'मैं' अनुस्यूत होते हुये भी उन लोगों को मेरा विस्मरण क्यों होता है इसकी कारण मीमांसा भगवान करते हैं) (१५८-१६५) मैं देही हूं ऐसा अभिमान दृढ़ होने के बाद इच्छा उत्पन्न होती है। वह बढ़ते ही उसका रूपांतर काम में होता है। आगे उससे क्रोध, द्वंद्व इनकी उत्पत्ति होती है। परिणामतः मुझे मिलने का सच्चा मार्ग तो दूर रहता है और निषिद्ध मार्ग का अवलंबन करने के कारण जन्म-मरण रूप दुःख का मार सहन करना पड़ता है। (१६६-१७२)

बहुत विरले ही लोगों का इससे छुटकारा होता है। वे अपने बुद्धि को भ्रमित नहीं होने देते। और सत्य मार्ग से परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करके कृतकृत्य होते हैं। वे मद्रूप होने के कारण जब मरणासन्न होते हैं, तब अन्य जीवों के समान मरणकाल के कष्ट उनको भोगने नहीं पड़ते। (१७३-१८४)

ज्ञानदेव जी कहते हैं, कि ब्रह्म रसाप्लावित, परमानंद परिपूर्ण भगवत्वचन को सुनकर अर्जुन मुग्ध हो गया। उसको स्वर्गसुख नीरस लगने लगा। अब भगवान के शब्दों में ऐसी माधुरी थी कि पूर्ण उपदेश श्रवण करने की बड़ी लालसा अर्जुन में उत्पन्न हुई। भगवान ने जिन बातों को अंत में कथन किया, उन बातों को अर्जुन पूर्णरूपेण नहीं समझ सका। परिणामतः अर्जुन ने तद्विषयक सप्त प्रश्न पूछे। वह अष्टाध्याय का प्रारंभ है। प्रश्न करते समय अर्जुन भगवान से किस नम्रता से और चतुराई से प्रश्न करेगा, यह प्रश्नकर्ता का आदर्श है, इसपर ज्ञानदेवजी श्रोताओं का लक्ष केंद्रित करते हैं। ''मेरे कथन में जो अक्षर है, उन अक्षरों के सौंदर्य से नेत्रादि इंद्रियों का समाधान तो होगा ही किंतु जहां शब्द का स्पर्श नहीं होता उस ब्रह्म सिद्धान्त को प्राप्त करने का सामर्थ्य भी इन शब्दों में है। जिनको बुद्धि सामर्थ्य है उन्हींने गोता खाकर सूक्ष्म विचार द्वारा ब्रह्मप्राप्ति करनी चाहिये। इस प्रकार आत्मविश्वासपूर्ण किंतु विनम्रता के उद्धार के साथ ज्ञानदेवजी ने अध्याय की समाप्ति की है। (१८५-२१०)

● ● ●

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - सातवाँ

श्री भगवान उवाच –

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युन्जन्मदाश्रयः। असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।१।।
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।२।।

सुनो तब श्री अनंत। पार्थ को यह कहत। निश्चित तुम योगयुक्त। हुए अब ।।१।। मुझ समग्र को जानत वैज्ञा। करतल स्थित रत्न जैसा। तुम्हें बतलाऊं ज्ञान तैसा। विज्ञानसहित ।।२।। विज्ञान का यहां क्या प्रयोजन। यदि ऐसे सोचत अर्जुन। तब प्रथम वही विज्ञान। समझना युक्त ।।३।। आत्मज्ञान का सुअवसर। ज्ञान के बंद नयन समग्र। जैसी खड़ी नांव तटि पे स्थिर। कदा न ढले ।।४।। वैसे ज्ञान जहां न प्रवेशत। विचार निवर्तत त्वरित। ईषा तर्क की नाशत। न स्पर्शत जिसे ।।५।। अर्जुन! उसका नाम ज्ञान। बाकी प्रपंच वह विज्ञान। वहां सत्यबुद्धि यह अज्ञान। निश्चित जानो ।।६।। जब नाशत अज्ञान अशेष। विज्ञान नष्ट निःशेष। ज्ञानस्वरूप गुड़ाकेश। होत सहज ।।७।। वाणी वक्ता की मौन होत। संकट श्रोताका हरत। यह कनिष्ठ यह श्रेष्ठ। भेद न शेष ।।८।। ऐसा वर्म जो गूढ। वह कहूं वाक्यारूढ़। जिसे होगा उद्‌बोध। बहुत मन में ।।९।।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।३।।

सहस्र मानव मध्य। किसी एक को सिद्धि का छंद। यत्नशील साधकों में मेरा तत्त्वबोध। क्वचित् किसी को ।।१०।। जैसे अखिल त्रिभुवन। वीर एकेक खोजकर अर्जुन!। चुन चुन के कीजे सेना संपूर्ण। लक्ष्यपर्यंत ।।११।। किंतु तदनंतर। वार होत जब मांस पर। कोई एक बैठत पदपर। विजयश्री के ।।१२।। वैसे आस्था का महापूर। प्रवेशत कोटी नर। किन्तु प्राप्ति का पैलतीर। विरला पावे ।।१३।। अतः नहीं यह सामान्य। अति विलक्षण असामान्य। आगे होत इसका निरूपण। प्रस्तुत विज्ञान सुनो ।।१४।।

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - सातवाँ

हे पार्थ तुम अनन्य प्रेम से एवं अनन्य भाव से मुझे संपूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त, सबका आत्मरूप संशयरहित कैसे जानोगे, उसको सुनो ॥१॥ मैं तेरे लिये रहस्य सहित तत्त्व ज्ञानको संपूर्ण कहूंगा। जिसको जानकर संसार में फिर कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहता ॥२॥

सुनिये! तब श्री अनंत पार्थ को कहने लगे, तुम निश्चित अब योगयुक्त हो गये हो॥१॥ हाथ के तलुवे पर रत्न रखकर जैसा निरीक्षण किया जाता है, वैसा विज्ञानसहित ज्ञान, मुझे तुम समग्र को जानोगे ऐसे तुम्हें बताऊंगा॥२॥ विज्ञान का यहां क्या प्रयोजन है, ऐसी यदि हे अर्जुन! तुम्हारे मन में शंका है, तब प्रथम विज्ञान को समझना योग्य होगा॥३॥ आत्मज्ञान का योग्य अवसर आनेपर ज्ञाननेत्र संपूर्ण बंद रहते हैं। जैसी किनारे पर स्थिर खड़ी नौका आगे खिसकती नहीं॥४॥ वैसे जहां ज्ञान का प्रवेश नहीं होता, विचार जहां से लौटकर आते हैं, जिसको स्पर्श न करते हुये तर्क अपनी इर्ष्या समाप्त करता है॥५॥ हे अर्जुन! उसका नाम ज्ञान है। बाकी सब प्रपंच विज्ञान है। प्रपंच सत्य है ऐसा समझना अज्ञान है, यह निश्चित समझना॥६॥ जब अज्ञान का नाश होता है तब विज्ञान संपूर्ण नष्ट होता है। हे गुड़ाकेश! तब सहज ज्ञानस्वरूप बनता है॥७॥ वक्ता की वाणी मौन होती है, श्रोताओं के संकटों का नाश होता है। यह छोटा, यह बड़ा यह भेद भाव शेष नहीं रहता॥८॥ ऐसा जो गूढ़ रहस्य है उसको वाणी के द्वारा कहूंगा। जिससे तुम्हारे मन में ज्ञान उत्पन्न होगा।

हजारों मनुष्यों में कोई एक ज्ञानप्राप्ति का प्रयास करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्धों में कोई कभी मुझे तत्त्वतः जानता है॥३॥

हजारों मनुष्यों में किसी एक को यह छंद रहता है बहुत प्रयत्न करनेवालों में क्वचित् किसी एक को, मेरा ज्ञान होता है॥१०॥ जैसे संपूर्ण पृथ्वी ढूंढ़कर एक-एक वीर खोजते हुये, हे अर्जुन! लाखों वीरों से सैन्य बनाया जाता है॥११॥ किंतु युद्ध के समय कोई एक वीर विजयश्री के पद पर अधिष्ठित होता है॥१२॥ वैसे आस्था के महापूर में कोटी मनुष्य प्रवेश करते हैं। किन्तु किसी विरले एक को भगवद् प्राप्ति होती है॥१३॥ अतः यह सामान्य बात नहीं है। यह विलक्षण असामान्य बात है। इसका आगे निरूपण करूंगा। अब प्रथम विज्ञान सुनो॥१४॥

Funding by IKS-MoE

भूमिरापोऽनलो वायुः स्वं मनोबुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अब अवधारो धनंजया। यह महदादि मेरी माया। जैसी प्रतिबिंबित छाया। निजांग की।।१५।। इसे प्रकृति कहत। जो अष्टधा भिन्न पार्थ। लोकत्रय इससे प्रसवत। इसीलिये।।१६।। यह अष्टधा कैसी अर्जुन!। यदि विचार करत मन। तब सांप्रत करो श्रवण। विवेचन इसका।।१७।। आप, तेज, गगन। मही, मारुत मन। बुद्धि अहंकार भिन्न। आठों भाग।।१८।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

इन आठों साम्यावस्था। मेरी वह परम प्रकृति पार्था। उसीको नाम व्यवस्था। जीव ऐसी।।१९।। जो जीव को जीवतत। चेतना को चेतवत।। मन को उपजवत। शोक मोह।।२०।। सान्निध्य से इसके अर्जुन। उपजत बुद्धिको ज्ञान। करे कौशल से जग धारण। अहंकार का।।२१।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

यह सूक्ष्म प्रकृति पार्थ। स्वेच्छा से स्थूल से संयुक्त। टकसाल तब शुरू होत। सृष्टिजीवों की।।२२।। यह ठप्पा चतुर्विध। निकलत सिक्के स्वयंसिद्ध। मोल जिनका समबद्ध। यद्यपि जाति भिन्न।।२३।। चौरासी लक्ष चलन। जाति उपजाति अमित भिन्न।। आदिशून्य का व्यापत अर्जुन। गृह संपूर्ण।।२४।। ऐसे पंचभौतिक एक समान। घटत बहुवस चलन। उनके वृद्धि का लेखा पूर्ण। रखे यही।।२५।। प्रथम करे चलन का विस्तार। पश्चात उसका संहार। करे घटमोड कर्मानुसार। माया यही।।२६।। जानेदो इस रूपक को। स्पष्ट कहूं मैं तुझको। इस नामरूप विस्तारको। कारण प्रकृति ही।।२७।। यह प्रकृति मेरे ठाई। भासत न अन्य कोई। अतः आदि अन्त मध्य मैं ही। इस जगत को।।२८।।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदास्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

यह रोहिणी का जल। देखा इसका यदि मूल। तब रश्मि नहीं केवल। सूर्य ही वह।।२९।। वैसे ही जानो किरीटि। प्रकृति से जिस निर्मित पृथ्वी। पावत वह समाप्ति। मद्रूप में ही वह।।३०।। उत्पन्न जो जो होवे नष्ट। मुझमें ही सब समाहित। धारण किया विश्व तद्वत। सूत्र में मणि जैसे।।३१।। सुवर्ण के मणि किये। सुवर्ण सूत्र में पिरोये। वैसे जग पूर्ण व्याप्त होवे। सबाह्य अन्तर में।।३२।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्व वेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनं सर्व भूतेषु तपःश्वास्मि तपस्विषु।।९।।

अतः उदक में रस। या पवन में स्पर्श। शशि सूर्य में जो प्रकाश। मैं ही जानों।।३३।। वैसा नैसर्गिक शुद्ध। पृथ्वी में निहित गंध। गगन में मैं शब्द। वेद में प्रणव।।३४।। नर के ठंई नरत्व। जो अहंभाव सत्व। वह पौरुष यह सत्य। बोधूं तुझको।।३५।। अग्निरूप देखो वैसे। तेज नाम का कवच जैसे। हटत जब साच शेष

Funding by IKS-MoE

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार यह प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाली भिन्न प्रकृति आठ प्रकार की है॥४॥

हे धनंजय! अब सुनो। जैसे स्वयं के शरीर की छाया होती है, वैसे यह महदादिक मेरी माया समझना॥१५॥ इसको प्रकृति कहा जाता है। जो आठ प्रकार की है। हे पार्थ! इसीसे तीनों लोकों की निर्मित होती है॥१६॥ हे अर्जुन! यह आठ प्रकार की कैसी है, ऐसा यदि विचार तुम्हारे मन में है, तब अभी इसका वर्णन सुनो॥१७॥ आप तेज, गगन, पृथ्वी, वायु, मन, बुद्धि एवं अहंकार ऐसे विभिन्न आठ भाग होते हैं॥१८॥

हे महाबाहो अर्जुन! यह मेरी अपरा प्रकृति कहलाती है। इससे भिन्न मेरी जीवस्वरूप प्रकृति है। जिसने यह संपूर्ण विश्व धारण किया है वह मेरी परा प्रकृति है, उसको, समझो॥५॥

इन आठों की जो साम्यवास्था रहती है वही मेरी परम प्रकृति होती है। हे पार्थ! इसको जीव ऐसा नाम दिया गया है॥१९॥ जो जीव को जीवित रखता है, चेतना को गति देता है, मन से शोक एवं मोह उत्पन्न करता है॥२०॥ हे अर्जुन! इनके सान्निध्य में बुद्धि में ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीसे उत्पन्न अहंकार ने कुशलता से विश्व को धारण किया है॥२१॥

संपूर्ण प्राणिमात्र परा एवं अपरा प्रकृति के कारण निर्मित है। मैं संपूर्ण जगत् का उत्पत्ति एवं प्रलयरूप हूं। अतः संपूर्ण जगत का मूल कारण मैं ही हूं॥६॥

हे पार्थ! यह सूक्ष्म प्रकृति स्थूल रूप से प्रकट होती है, तब प्राणियों की उत्पत्ति टंकसाल सृष्टि में प्रारंभ होती है, अर्थात जीवसृष्टि की उत्पत्ति प्रारंभ होती है॥२२॥ यह चार प्रकार के (जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज) प्राणी अपने आप उत्पन्न होते हैं। इन सबकी जीवदशा एक जैसी होते हुए भी उनकी जाति भिन्न रहती है॥२३॥ चौर्‌यासी लक्ष जाति की उपजातिरूपी अगणित भिन्न चलन की निर्मिति होती है, गणित निर्माण हे अर्जुन! आदि शून्य परब्रह्म परमात्मा का सृष्टिरूपी घर संपूर्ण भर जाता है॥२४॥ ऐसे चलन पंचतत्वों से बने हुए एक जैसे बहुत निर्मित होते हैं। उनके विकास का यह प्रकृति इस प्रकार का लेखा जोखा रखती है॥२५॥ प्रथम चलन का विस्तार करती है। पश्चात उनका संहार भी करती है। कर्म के अनुसार उत्पत्ति एवं नाश करती है यही माया है॥२६॥ इस रूपक को अब जाने दो, मैं तुम्हें स्पष्ट कहता हूं। जिनका नाम है, स्वरूप है उनके विस्तार का कार्य प्रकृति ही करती है॥२७॥ यह प्रकृति मुझमें समरस होकर रहती हैं, अतः इस संपूर्ण विश्व का आदि, मध्य एवं अंत मैं ही हूं॥२८॥

मेरे बिना परमार्थतः कुछ भी सत्य नहीं है। सुवर्ण के धागे में सुवर्ण के मोती पिरोये जाते हैं, तद्वत मेरे में संपूर्ण विश्व गुंथा हुआ है॥७॥

यह सब मृगमरीचिका है। इसका मूल देखने पर यह केवल सूर्य किरण नहीं सूर्य ही इसका मूल है यह बोध होता है॥२९॥ हे किरीटी! इस प्रकृति से यह सृष्टि उत्पन्न होती है, जब उसका विलय होता है, तब उत्पत्ति, स्थिति, लय का, हे पार्थ! मैंही कारण होता हूं॥३०॥ जो कुछ इस सृष्टि में उत्पन्न होता है, उसका निश्चित नाश होता है। जैसे मैंने विश्व को धारण किया है वैसे उसको अपने में समाहित कर लेता हूं। जैसे धागे में मोती पिरोये जाते हैं॥३१॥ सुवर्ण के मोती बनाये, सुवर्ण के धागे में पिरो दिये, वैसे संपूर्ण विश्व को अंदर बाहर मैं ही धारण करता हूं॥३२॥

हे अर्जुन! जल की द्रवता, चंद्रसूर्य का प्रकाश, सब वेदों का ॐकार, आकाश का शब्द एवं मनुष्य का पुरुषार्थ सब मैं ही हूं॥८॥ पृथ्वी में जो पवित्र गंध है वह मैं ही हूं, अग्नि का तेज, सब प्राणिमात्र का जीवन, तपस्वियों का तप सब मैं हूं॥९॥

अतः जल की द्रवता, वायु का स्पर्श, चंद्र सूर्य का प्रकाश मैं ही हूं इसको जानो॥३३॥ वैसे शुद्ध नैसर्गिक जो पवित्र सुगंध पृथ्वी में रहती है वह मैं हूं। आकाश का शब्द, एवं सब वेदों में जो ॐकार है वह मैं हूं॥३४॥ मनुष्य में जो पुरुषत्व रहता है, जो सत्वरूप अहंकार है, वह सत्वरूप पौरुष तुम्हें बताता हूं॥३५॥ तेज नाम का कवच धारण करना

Funding by IKS-MoE

तैसे। निज तेज में।।३६।। नानाविध योनि में। जनम पावत त्रिभुवन में। वर्तत जीवन में। अपने अपने।।३७।। एक पवन प्राशत। एक तृणपर जीवत। एक अन्नाधार रहत। जल में एक।।३८।। ऐसे प्राणी अनाव्य। प्रकृतिवश भिन्न जीवन। किन्तु सर्वान्तर में अभिन्न। एक मैं।।३९।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतांमस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।
बलं, बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

आदि के अवसर। पावे गगनांकुर विस्तार। निगलत अन्त में अक्षर। प्रणव पीठ के।।४०।। जब तक यह विश्वाकार। दिखत विश्वरूपाकार। महाप्रलय में होवे साचार। निराकार पूर्ण।।४१।। ऐसे अनादि सहज। वह यह विश्वबीज। तेरे हररूप में पार्थ स्वयंनिज। देत अर्जुन!।।४२।। जब यह करके स्पष्ट। सांख्य विचार करेगा पार्थ। तब इसका उपयोग श्रेष्ठ। देखेगा तू।।४३।। किन्तु यह अप्रासंगिक आलाप। रहने दो कहूं संक्षेप।। तपस्वियों का जो तप। वह रूप मेरा।।४४।। बलवानों का बल। जानो मैं दृढ़। बुद्धिमन्त की केवल। बुद्धि हूं मैं।।४५।। भूतमात्रस्थ काम। वही मैं कहे आत्माराम। जिससे अर्थ एवं धर्म। सिद्ध।।४६।। वैसे विकार के विस्तार से। आचरत इंद्रिय विस्तार से। किन्तु धर्मविरुद्ध दिशा से। जाने न देत।।४७।। इस प्रकार काम प्रवर्तन। जो धर्माचरण पूर्ण समस्त। मोक्षरूप तीर्थ के होत मुक्त। संसार भोगी।।४८।। जो निषेध का आडमार्ग। छोड़कर आचरत विधिमार्ग। नियम की मशाल उनके पग। साथ चलत।।४९।। श्रुति गौरव कर्ममंडप पर। काम सृष्टि वेल चढ़ावे उपर। जब तक फल भार से झुककर। पावत वह मोक्ष।।५०।। ऐसा नियमित जो कंदर्प। प्राणिमात्र को बीजरूप। वह काम मैं कहे बाप। योगियों का।।५१।। यह एकेक कितना कहना। अब वस्तुजात को समझना। मुझसे ही प्रकट अर्जुना। विस्तार इनका।।५२।।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

जो ये सात्विक भाव। या रजतमादि सव। वे सब ममरूपसंभव। जानो तुम।।५३।। ये उत्पन्न मेरे ठँई। किन्तु उनमें मैं नाही। जैसे स्वप्न के दहमें कोई। जागृति न डूबत।।५४।। जैसी रसपूर्ण सुघट। बीज कणिका धनवट। उपजत उससे काष्ट। अंकुर द्वारा।।५५।। तब उस काष्ट के ठँई। कहो बीज भाव रहत कोई?। वैसा विकारी मैं नाही। यद्यपि विकारित।।५६।। गगन में उपजत बादल। किन्तु वहां गगन नहीं केवल। या अभ्र में निहित सलिल। वहां नभ नाही।।५७।। वहां उदक का घर्षण। प्रकटत तेज दीप्तिमान। उस विद्युत में विद्यमान। सलिल कोई?।।५८।। कहो अग्निमूल धूम सत्य। उस धूम में क्या अग्नि रहत?। वैसे विकार मुझसे प्रकट। न विकारो मैं।।५९।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

अग्नि का स्वरूप है। उसको निकालने पर जो शेष बचता है वह तत्वरूप मैं ही हूं।।३६।। विभिन्न योनियों में त्रिभुवन में जन्म लेने पर अपने योनि के अनुसार प्राणी व्यवहार करते हैं।।३७।। एक वायु पीकर रहता है, एक घांस खाकर जीवित रहता है, एक का अन्न पर जीवन होता है, कोई प्राणि जल में रहते हैं।।३८।। ऐसे विविध प्रकार के प्राणी हैं, देह के अनुसार उनके जीवन में भिन्नता है। किन्तु सबके अंतर्यामी एक मैं ही अभिन्न हूं।।३९।।

हे अर्जुन! संपूर्ण प्राणिमात्र का सनातन कारण मुझे जानो। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज हूं।।१०।। हे भरत श्रेष्ठ! मैं बलवानों का बल हूं, सब भूतों में धर्म के अनुकूल काम मैं ही हूं।।११।।

जो बीज जगत उत्पत्ति के समय आकाश के रूप में प्रथम अंकुरित होता है, वही प्रलय काल में ओंकार पीठ के अऊम यह अक्षरबीज निगलकर, ॐकार रूप शब्द तन्मात्रा का भी लय मूल बीज में होता है।।४०।। तब तक यह विश्व का आकार दिखता है, जब तक महाप्रालय में लय नहीं होता। लय के बाद संपूर्ण निराकार रहता है।।४१।। ऐसा अनादि स्वाभाविक विश्व का बीज है। तब हे पार्थ! यह सब स्पष्ट रीति से तुम्हें बता रहा हूं।।४२।। हे पार्थ! इसको स्पष्ट करके, सांख्ययोग के द्वारा, विश्व एवं विश्वबीज का ज्ञान जब तुम प्राप्त करोगे तब इसका श्रेष्ठ उपयोग क्या है, इसका तुम्हें पता लगेगा।।४३।। किंतु यह अप्रासंगिक है। इसको रहने दो। तुम्हें संक्षेप में बताता हूं। तपस्वियों का जो तप है वही मेरा स्वरूप है।।४४।। बलवानों की शक्ति, वह बल मैं ही स्थिर हूं उसे जानो। बुद्धिमान लोगों में मैं बुद्धि हूं।।४५।। भूतमात्र में जो काम है वह मैं हूं ऐसा आत्माराम श्रीकृष्ण कहते हैं। उससे धर्म एवं अर्थ सिद्ध होता है।।४६।। विकार की इच्छाओं से जो इंद्रियों के व्यवहार होते हैं किंतु धर्म विरुद्ध उसे जाने नहीं देते।।४७।। जिसको निषिद्ध कहा गया है, मार्ग को छोड़कर जो विधि-विधान के अनुसार व्यवहार करता है, उसके साथ नियमित आचरण की मशाल रहती है।।४८।। इस प्रकार से सावधानपूर्वक कामना प्रेरित होती है, तब धर्म की पूर्णता होती है, तब संसार का उपभोग करनेवाले पुरुष भी मोक्ष तीर्थ के मुक्त जन होते हैं।।४९।। वेदों ने जिसका महत्व गाया है उस वेद गौरवरूपी मंडप पर जो कामविश्व की बेल इस प्रकार चढ़ाता जाता है कि उसमें लगनेवाली शाखा फलभार से झुककर अंत में मोक्षपर टिक जाती है।।५०।। ऐसा शास्त्र से नियमबद्ध जो कंदर्प (काम), जो प्राणिमात्र में बीजरूप है- वह योगियों का काम मैं हूं, ऐसा भगवान कहते हैं।।५१।। एक-एक बात तुम्हें कहां तक कहूं, समस्त वस्तुएं मुझसे ही विस्तारित होकर प्रकट होती हैं।।५२।।

सच्चिदानंद गोविंदम्
जय जय माधवं कृष्णं

जो अन्य सात्विक, राजस एवं तामस भाव है वह सब मुझसे उत्पन्न हुये हैं। किंतु मैं उनमें नहीं हूं। वही मुझमें हैं यह जान लेना।।१२।।

यह सब सात्विक भाव या रजतम आदि भाव सब मेरे स्वरूप से उत्पन्न होते हैं। इसको समझ लेना।।५३।। वे मुझसे उत्पन्न होते हैं किंतु स्वप्न में जैसे दह में डूब गया वह जागृति में सत्य नहीं होता, वैसे मैं इन विकारों में नहीं होता।।५४।। बीजकण रसद्रव्य का बना होनेपर भरा हुआ धनवट होता है, वही अंकुरित होकर कठिन लकड़ी का रूप धारण करता है।।५५।। तब उस लकड़ी में क्या कोई बीजभाव रहता है? वैसा मुझसे ही विकार उत्पन्न होते हुए भी मैं उन विकारों में नहीं रहता।।५६।। आकाश में बादल उत्पन्न होते हैं किंतु बादल में आकाश नहीं होता। मेघों में जल होता है किंतु जल में मेघ नहीं होते।।५७।। जल के घर्षण से दीप्तिमान तेज प्रकट होता है, परंतु उस बिजली में क्या कोई जल होता है?।।५८।। अग्नि से धुआं उत्पन्न होता है, उस धुएं में क्या अग्नि रहती है? वैसे मुझसे विकार उत्पन्न होते हैं किंतु उन विकारों में मैं नहीं होता।।५९।।

त्रिगुणात्मक पदार्थो से मोहित यह विश्व इन त्रिगुणात्मक पदार्थो से विभिन्न एवं अविकारी मुझे सर्व प्रकार से जानते नहीं।।१३।।

उदक में उत्पन्न शैवाल। ढांकत उदक को अर्जुन। या वृथा अभ्र से आच्छादन। आकाश को जैसे।।६०।। स्वप्न नित्य होत असत्य। किन्तु निद्रायोग से भासत सत्य।। क्या तब स्मरण अपना देत। अपने को कभी।।६१।। नेत्रद्रव से निर्मित। मोतीबिंदु नेत्र में उपजत। दृष्टि पूर्ण नष्ट पार्थ। करत न काई?।।६२।। वैसी यह मेरी छाया। त्रिगुणात्मक महामाया। आवृत करत धनंजया। जवनिका जैसी।।६३।। अतः प्राणि न मुझे जानत। मेरे ही किन्तु मद्रूप न होत। जलजन्य जल में न विरत। मुक्ताफल जैसे।।६४।। या मृत्तिका का घट। अपक्व तब मिट्टि में विरत। जब अग्निसंग से पक्व होत। रहत भिन्न।।६५।। वैसे भूतजात सर्व। मेरे ही साच अवयव। परन्तु मायावशजीव। दशा को प्राप्त।।६६।। अतः मुझसे यदि उत्पन्न। किन्तु नहीं मेरा स्मरण। मैं मेरा भ्रांति से अर्जुन। विषयान्ध होत।।६७।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

ये महादादि मेरी माया। पारंकर इसे धनंजया। मद्रूप करके मनोजया। यह शक्य कैसे?।।६८।। ब्रह्माचल चोटी से प्रथम। संकल्प जल का उद्यम। उसमें पांचों का बुदबुद सूक्ष्म। हुआ निर्माण।।६९।। आगे जो सृष्टि विस्तार से। चढ़त कालगति के वेग से। प्रवृत्ति-निवृत्ति तुंग तीर से। लांघत चली।।७०।। गुणधन की वृष्टि से। भ्रांतिरूप महापूर से। बहावत नगर जैसे। यम नियम के।।७१।। उसमें कई द्वेष आवर्त। मत्सर रूप मोड़ से बहत। प्रमादादि अनेक चमकत। महामीन।।७२।। जहां प्रपंच के मोड़ अर्जुन। कर्माकर्म का पूर भीषण। तरंगत ऊपर झाड़न। सुखदुःख का।।७३।। रतिसुख का जहां बेट। जहां कामोर्मि उछलत। जीवफेन बहुत। एकत्रित।।७४।। अहंकार तरंग अर्जुन। महात्रय का तूफान। विषय तरंग बहुत जान। उमड़त वहां।।७५।। उदयास्त का पूर। जन्म मरण के पत्थर। पंचभौतिक बहुतर। उपजत जात।।७६।। संम्मोह विभ्रम मीन। निगलत धैर्य मांस अर्जुन। महाआवर्त उत्पन्न। अज्ञान के।।७७।। भ्रांतिरूप मलिन जल में। आस्था की दलदल में। हीन रजोगुण के कल्लोल में। गर्जत स्वर्ग।।७८।। तमोगुण प्रवाह महान। सत्य डोह स्थिर अर्जुन।। किंबहुना यह मायानदी जान। दुस्तर अति।।७९।। जन्म-मृत्यु पूर में पार्थ। सत्यलोक दुर्ग बहत। आघात से धंसत जात। ब्रह्माण्ड गोल।।८०।। उस बाढ़ का बहाव पार्थ। कोई न अब तक निरोधत। ऐसा यह मायापूर विस्तृत। तैरना न शक्य।।८१।। यहां नवल और एक। तरने के उपाय अनेक। सब होत अपायकारक। धनंजय।।८२।। स्वयंबुद्धि के बल से। नामशेष जो कूदत स्वयत्न से। अहंकार। निगलित अहंकार मद से। ज्ञानदह में कोई।।८३।। कोई वेदत्रयी की तरी सुवीर। लेकर साथ अहंके पत्थर। मदमीन के मुख भीतर। गये सब।।८४।। यौवन मद से कमर कसत। मन्मथ जाल में फसत। विषय-मकर चूर्ण करत। करालदंष्ट्र से।।८५।। तब वार्धक्य तरंग में बहत। मतिभ्रंश जाल में जखड़त। चौ बाजू से त्रस्त

Funding by IKS-MoE

हे अर्जुन! उदक में ही उत्पन्न शैवाल जैसे जल को ढांक देता है, बादल आकाश को व्यर्थ ही आच्छादित करते हैं।।६०।। स्वप्न नित्य असत्य है ऐसा सब जानते हैं किंतु निद्रा में वह सत्य जान पड़ता है। हमें अपनी ही स्मृति रखने की आवश्यकता नहीं होती।।६१।। नेत्र की द्रवता ही आंख में मोतिया बिंद का निर्माण करती है, उससे देखने की नेत्र शक्ति समाप्त नहीं करती क्या?।।६२।। यह मेरी छाया, त्रिगुणात्मक महामाया है। हे धनंजय! यह परदे जैसी मेरे आत्मस्वरूप को ढांक देती है।।६३।। अतः प्राणि मुझे जानते नहीं, मेरे होते हुए भी मद्रूप नहीं होते। जल से ही उत्पन्न मौक्तिक जल में घुलता नही।।६४।। या मिट्टी जब अपक्व रहता है। तब मिट्टी में मिलता है। अग्नि में पकाने के बाद मिट्टी में एक रूप नहीं हो सकता, अलग रहता है। जब अपक्व रहता है तब मिट्टी में मिलता है।।६५।। वैसे सब प्राणिमात्र मेरे ही अवयव सत्य जानो, किंतु माया के कारण सब जीवदशा को प्राप्त हुए हैं।।६६।। अतः मुझसे उत्पन्न होने पर भी उन्हें मेरा स्मरण नहीं है। हे अर्जुन! अहंकार, ममता एवं भ्रम के कारण वे विषयांध हो गये हैं।।६७।।

यह त्रिगुणात्मक, दैवी मेरी माया बड़ी दुस्तर है। किंतु मेरी भक्ति करनेवाले अनन्य शरणागत भक्त ही इस माया का उल्लंघन करते हुए संसार से तर जाते हैं।।१४।।

यह महद्रादि मेरी माया को लांघकर, हे धनंजय! मन पर विजय प्राप्त करके कैसे भगवद्रूप प्राप्त होगा?।।६८।। परब्रह्मरूपी शिखर पर संकल्पजल का उगम होता है। उसमें पंचतत्त्वों का बुलबुला निर्माण हुआ।।६९।। जो सृष्टि रचना के प्रभाव से कालक्रम से बढ़ते हुए प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के उत्तुंग किनारों में से बहता है।।१७०।। गुणरूपी मेघ के वृष्टि से भ्रांतिरूपी महापूर से, जैस यमनियम के नगर को बहाता ले जाता है।।७१।। उसमें कई द्वेष के भंवर पड़ते हैं। मत्सर के मोड़ आते हैं। दोषरूपी मगरमच्छ दिखाई देते हैं।।७२।। प्रपंच के टेढ़े मोड़ आते हैं। हे अर्जुन! कर्म, अकर्म की महापूर में सुख दुःख का कूड़ा कचरा लहराता है।।७३।। विषय विलासरूपी बेट प्रर वासनाओं की लहरें टकराती हैं, जीवरूपी फेन के पुंज फैले हुए दिखाई पड़ते हैं।।७४।। हे अर्जुन! नदी के अहंकाररूपी प्रवाह में विद्या मद, धनमद एवं बलमद इन तीनों की लहरें उठती हैं। विषयवासना के हिलोरे आते रहते हैं।।७५।। उदय एवं अस्त के बाद के कारण जन्ममृत्यु के पत्थर उसमें पंचभूतात्मक पत्थर उसमें विपुल उत्पन्न होते हैं।।७९।। हे अर्जुन! मोह एवं भ्रम आदि मछलियां धैर्य का मांस नोचकर खाती हैं। तब अज्ञान के भंवरे (आवर्त) उत्पन्न होते हैं।।७७।। इस माया नदी में भ्रम के गंदेपन के कारण श्रद्धा की दलदल बनती है। रजोगुण के तरंगों की गर्जना स्वर्ग तक पहुंचती है।।७८।। हीन तमो गुण का प्रवाह बहुत प्रबल रहता है, हे अर्जुन! सत्व दह स्थिर होता है। किंबहुना यह माया नदी अत्यंत दुस्तर है यह ध्यान में रखना।।७९।। जन्म मृत्यु की बाढ़ में सत्य लोक के दुर्ग ढह जाते हैं, ब्रह्माण्डरूपी चट्टानें आघात से गिरने लगती हैं।।१८०।। हे पार्थ! उस बाढ़ का प्रवाह अब तक कोई रोक नहीं पाया है। ऐसा यह मायानदी का पूर प्रचंड एवं तैरकर पार करना असंभवनीय है।।८१।। यहां एक आश्चर्य और है। तैरकर पार जाने के जितने उपाय हैं वे सब, हे धनंजय! अपायकारक होते हैं।।८२।। अपनी स्वतंत्र प्रज्ञा के बल से नदी में तैरने के लिये प्रवेश करते हैं वे नामशेष होते हैं। कोइ ज्ञान के अहंकार में पूर्ण डूब गये।।८३।। हे सुवीर!। किसी ने तीनों वेदों की नौका अहंभाव के पत्थर साथ लेने से मदरूपी मछलिओं के मुख के भीतर उन्हें सबको प्रविष्ट होना पड़ा।।८४।। तारुण्य के अहंकार में कमर कसके वे मदन के जाल में फंस गये। उन्हें विषयरूपी मकर ने अपने तीक्ष्ण दांतों में चूर्ण किया।।८५।। वृद्धापकाल में वे वृद्धत्व की लहरों पर बहते हुये मतिभ्रम के जाल में जकड़ गये, चारों

होवत। निरंतर।।८६।। शोकचट्टान का आघात। क्रोध आवर्त में फंसत। जहां उठावत सिर टोंचत। आपत्ति गिद्ध।।८७।। दुःख कर्दम में लिप्त। मरण सिकता में रूपत। ऐसे ये विषय लंपट। व्यर्थ जात।।८८।। कोई यजनक्रिया की पेटी। बांधत कमर में किरीटि। वे खोह में प्रवेशत निश्चिति। स्वर्ग सुख की।।८९।। कोई मोक्ष प्राप्ति की आशा से। बाहुबल पर भरोसे से। किन्तु गिरत आवर्त में जैसे। विधि निषेध के।।९०।। जहां वैराग्य नाव न चलत। विवेक डोर न टिकत। किन्तु योगमार्ग से पार करत। क्वचित कोई।।९१।। जीव के अंगबल से। मायानदी शक्य तैराना ऐसे।। यह कथन को उपमा किससे। कहूं मैं तुझको।।९२।। यदि अपथ्यशीला व्याधि। साधु जानत दुर्जन की बुद्धि।। अथवा रागी त्यागत सिद्धि। प्राप्त होकर।।९३।। यदि चोर को न्याय सभा दबावत। या गल को मीन निगलत। अथवा भीरु डरावें पार्थ। पिशाच्च को।।९४।। कुरंग शिशु वागुरा कुतरत। या चीटि मेरु लांघत। तब ही जीव पार करत। माया नदी को।।९५।। इसलिये हे पंडुसुता। जैसी न जीतत विषयी वनिता। वैसी मायामय यह सरिता। तरत न कोई।।९६।। यहां वे ही सहज तरत। सर्वभाव से मुझे जो भजत। इसपार ही मायाजल सूखत। उनके लिये।।९७।। जिनको नाविक सद्गुरु। अनुभव का दृढ़ आधारू। आत्मनिवेदन तिरना सुवीरू प्राप्त उनको।।९८।। जो अहंभाव छांड़कर। विकल्प आंधी त्यागकर। अनुराग बहाव टालकर। पंडुकुंवर।।९९।। जीवात्मा ऐक्य उतार। बोधाश्रय बेड़ेपर। निवृति पैलतीर की ओर। मुड़त वे।।१००।। उपरति हस्तसे जल काटत। सोऽहंभाव से तैरत। सहज बिनक्लेश पावत। निवृत्ति तट वे।।१।। इसविध मुझको भजत। वे मेरी माया तरत। किन्तु ऐसे न बहु भक्त। बिरला ही जानो।।२।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृयतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

बाकी और अन्य नर। अहंभाव भूत से धनुर्धर। ग्रसित होवे उनको बिसर। आत्मबोध का।।३।। नियमवस्त्रों का न इनको भान। अधोगति से न लज्जायमान। वेद निषिद्ध आचरण। करत जात।।४।। देखो यह इंद्रियग्राम। इसलिये प्राप्त अर्जुन। वह कार्याथं संपूर्ण। विस्मरत वे।।५।। इंद्रियों के राजमार्ग पर का पार्थ। अहंममता का बकवास व्यर्थ। विविध विकारान्तर जुटावत। समुदाय वे।।६।। दुःखशोक प्रहार अर्जुन। उनको न किंचित स्मरण। इसका एकमात्र कारण। जो माया ग्रस्त वे।।७।। अतः न मुझको पावत। सुनो अन्य चतुर्विध मुझे भजत। किया जिन्होंने आत्महित। वृद्धिमृत पार्थ।।८।। वह प्रथम जानो आर्त। द्वितीय को जिज्ञासु कहत। तृतीय अर्थार्थी त्रार्थ। चतुर्थ ज्ञानी।।९।। आर्त दुख निवारणार्थ। जिज्ञासु ज्ञान प्राप्यर्थ। तीजा अर्थार्थी द्रव्यार्थ। भजत मुझको।।११०।। किन्तु चतुर्थ के लिये अर्जुन। न कोई कर्तव्य कारण। अतः भक्त केवल वही जान। ज्ञानी पुरुष।।११।।

Funding by IKS-MoE

तरफ से वे निरंतर त्रस्त होते रहे।।८६।। वे दुःखरूपी चट्टान पर सिर पटकते जाते हैं, क्रोध के भंवरे में अटकते हैं, जहां सिर उठाते हैं वहां आपत्तिरूपी गिद्ध उन्हें टोंचते रहते हैं।।८७।। दुःखरूपी कीचड़ में लिप्त रहते हैं, मृत्युरूपी रेत में फंसते हैं, ऐसे विषयलंपट लोगों का जीवन व्यर्थ जाता है।।८८।। किसी एक ने यज्ञ किया कि पेटी हे किरीटी अपने पेट में बांध ली है,वे स्वर्गसुख की गुफा में निश्चित प्रवेश करते हैं।।८९।। कोई मोक्ष प्राप्ति की आशा से अपने बाहुबल का भरोसा करते हैं, किंतु वे विधि निषेध के भंवरे में गिरते हैं।।९०।। वहां वैराग्य की नांव नहीं चल सकती, विवेक का डोर नहीं टिकता किंतु योगमार्ग से क्वचित् कोई तर जाता है।।९१।। प्राणियों के शरीरबल से माया नदी तैरकर जाना शक्य है, ऐसी बात मैं तुम्हें कैसे कहूं?।।९२।। पथ्य न करनेवाले रोगी का रोग बढ़ता है, साधु लोगों को दुर्जन की दुष्ट बुद्धि समझती है, अथवा लोभी मनुष्य सिद्धि प्राप्त होने पर उसका त्याग करता है।।९३।। यदि चोर से न्याय सभा यदि डरती हो या मछली को ही वंशी निगल सकती हो, अथवा कोई डरपोक व्यक्ति पिशाच्च को लांघकर जा सकता है।।९४।। हिरन के शावक को जाल तोड़ते बनता, या चीटी मेरुपर्वत को पार कर सकती, यह असंभव बातें यदि शक्य होतीं तब ही मनुष्य इस मायानदी को पार कर सकता है।।९५।। अतः पांडुसुत! विषयी पुरुष स्त्री पर नियंत्रण नहीं रख सकता, वैसी इस मायानदी को कोई पार नहीं कर सकता।।९६।। यहां वे लोग सहज तर जाते हैं जो सर्वभाव से मेरी भक्ति करते हैं, उनके लिये परतीर जाने की जरूरत नहीं होती। इस तीर में ही माया जल उनके लिये सूख जाता है।।९७।। नौका चलानेवाला जिनको सद्गुरु, खेनेवाला केवट है, अनुभव का दृढ़ आधार है, जिन्हें आत्मनिवेदन रूपी नौका प्राप्त है।।९८।। वह अहंकार को छोड़कर, विकल्प की आंधी त्याग करके हे पंडुकुंवर! ममत्व का बहाव टालते हैं।।९९।। हे धनुर्धर! जीवब्रह्म की एकता का उतार उन्हें दिखता है, ज्ञानरूपी बेड़े पर निवृत्ति के पैलतीर में शीघ्रता से जाने लगते हैं।।१००।। विषय त्याग के बाहुबल से वे साधव सोऽहं भाव के अनुभव शक्ति से तैरते हुए कष्ट हये बिना निवृत्ति के किनारे पर पहुंचते है।।१।। इस मार्ग से मेरी भक्ति करते हुये मेरे भक्त माया तर जाते हैं, किंतु ऐसे भक्त विरले होते हैं।।२।।

पापी, मूढ़, आसुरी वृत्ति का आश्रय करनेवाले, जिनकी बुद्धि माया से अपहरित हुई है ऐसे अधम लोग मुझे नहीं भजते।।२।।

सामान्य लोगों में अहंकाररूपी भूत का संचार रहता है, ग्रसित होने के कारण आत्मज्ञान को वे भूल गये हैं।।३।। उन्हें नियम रूपी वस्त्र का स्मरण नहीं होता, अधोगति से उन्हें लज्जा उत्पन्न नहीं होती, वेदविहित कर्म के विरुद्ध वे आचरण करते हैं।।४।। यह शरीररूपी गांव उन्हें किसलिये प्राप्त हुआ है, हे अर्जुन! उस कार्य का उन्हें संपूर्ण विस्मरण होता है।।५।। इंद्रियरूपी गांव के राजरस्ते पर अहंकार एवं ममता की बड़बड़ करते हुये विभिन्न विकारों का समूह एकत्रित करते हैं।।६।। हे अर्जुन! दुःख एवं शोक के आघात का उन्हें स्मरण नहीं होता। माया से ग्रसित होना इसका एकमात्र कारण होता है।।७।।

हे अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यशील लोग मेरी भक्ति करते हैं, वे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थि एवं ज्ञानी कहलाते हैं।।१६।।

अतः उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती, जो चार प्रकार के लोग मेरी भक्ति करते हैं उन्होंने अपना हित बढ़ाया है।।८।। पहिले को आर्त कहते हैं, दूजे को जिज्ञासु कहते हैं, तीजा अर्थप्राप्ति के लिए भक्ति करता है एवं चौथा भक्त ज्ञानी होता है।।९।।

चारों भक्तों में भगवान में एकरूप रहनेवाला, एकमात्र भगवान की भक्ति करनेवाला ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ होता है, ज्ञानी भक्त को मैं अत्यंत प्रिय हूं एवं मुझे ज्ञानी भक्त अत्यंत प्रिय है।।१७।।

दुःख की निवृत्ति के लिये आर्त भक्त, भक्ति करता है, जिज्ञासु ज्ञानप्राप्ति के लिये भक्ति करता है, तीजा अर्थार्थि भक्त द्रव्यप्राप्ति की इच्छा से मेरी भक्ती करता है।।११०।। चौथे भक्त के लिये हे अर्जुन! भक्ति का कोई कारण या कर्तव्य नहीं होता, अतः ज्ञानी पुरुष को ही केवल भक्त समझना चाहिये।।१११।। जिसके ज्ञानरूपी प्रकाश में भेद एवं

Funding by IKS-MoE

जिसका ज्ञान प्रकाश भेदाभेद तम का करत नाश। मुझसे होवे समरस। यद्यपि भक्त।।१२।। किन्तु अन्य के दृष्टि से क्षणैक। स्फटिक जैसे भासत उदक। वैसा ज्ञानी कितना कौतुक। करे उसका।।१३।। पवन गगन में लोपत। पवनत्व न उसका अवशिष्ट। वैसा भक्त का बाना अबाधित। यद्यपि एकरूप।।१४।। यदि देखे पवन को हिलाकर। गगन से भिन्न आकार। अन्यथा गगन ही धनुर्धर। स्वभावतः वह।।१५।। वैसा शरीर और कर्म से। भासत वह भक्त जैसे। किंतु अंतर प्रतीति बल से। केवल मैं ही वह।।१६।। ज्ञान के उदय से। जाने आत्मा अभिन्न ऐसे। अतः मैं भी परमोलहा से। कहूं वैसे।।१७।। देखो जीवात्पर लक्षण। जानकर करे जो आचरण। क्या देहाभिन्नत्व से अर्जुन। भिन्न वह?।।१८।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

अतः अपने हितकारण। भजत वे भी प्रिय जान। किन्तु मेरा वल्लभ अर्जुन। ज्ञानी एक।।१९।। देखा दूध की आशा से। बांधत धेनु को रज्जुसे। किन्तु बिन रज्जु पीवत जैसे वत्स दुग्ध।।२०।। वह तनु मन प्राण से। अन्य को न जाने जैसे। वस्तु जो दिखत दृष्टि से। कहे माता मेरी।।२१।। ऐसा वह अनन्य गति। अतः धेनु को भी उसकी प्राप्ति। ऐसा जो कहत लक्ष्मीपति। वह कथन सत्य।।२२।। ऐसे ज्ञानी व्यतिरिक्त। जो तुझको कहे भक्त। वे भी मुझको प्रिय अत्यंत। पंडुकुंवर।।२३।। मेरा जिनको सत्य ज्ञान। न पुनः उनको संसार स्मरण। जब सरिता सागर होत मिनन। न लौटत पुनः।।२४।। अन्तःकरण कुहर में उदित। प्रतीति गंगा मुझमें अर्पित। वह मद्रूप साक्षात। निःसंशय।।२५।। ऐसा जो ज्ञानवान। वह मेरा जीवप्राण। कहने की न यह बात अर्जुन। किन्तु कह दी स्पष्ट।।२६।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

विषरूप धन बन। काम क्रोधादि संकट महान। टालकर चढ़त अर्जुन। सद्वासना पहाड़ वे।।२७।। पश्चात हे सुभट। सत्कर्म की ऋजुवाट। चलत निषिद्ध की कुबाट। छोड़कर।।२८।। जन्मसहस्त्र चलत भक्तिपथ। फलाशा पादुका रहित। वह ज्ञानी चिन्ता न करत। कर्म फल की कदा।।२९।। ऐसा हेदभावरहित रात्री। मध्ये दौड़त एकल यात्री। अतः कर्मफल समाप्ति। उषा प्रकटत।।३०।। जब गुरुकृपा उषा उद्वित। ज्ञानसूर्य मृदु किरण प्रसरत। तब सामरस्य का प्रकटत। ऐश्वर्य वहां जहां जहां मार्ग चलत। एक मुझे ही दृष्टि निहारत।।३१।। स्थिर यदि खड़ा निबान्त। देखे मुझको ही।।३२।। और क्या कहूं पार्थ। न कोई बिन मेरे सर्वत्र। जैसे नीर समस्त। जलमग्न घटको।।३३।। वैसा वह मुझमें व्याप्त। मैं अन्तर्बाह्य उसमें समाहित। बात यह त्रिवार सत्य। निःसंशय।।३४।। और क्या कहीं सर्वत्र। दिखत ज्ञान का भांडार। उसने मोल लिया धनुर्धर। अखिल विश्व।।३५।। यह समस्त ही वासुदेव। प्रतीति रस का मन में भाव। इसीलिये भक्तों में राव। और

Funding by IKS-MoE

अभेद रूपी अज्ञान का नाश होता है, यद्यपि ज्ञानी भक्त मुझसे समरस होता है।।१२।। स्फटिक को सामान्य मनुष्य जल समझता है, वैसे ज्ञानी भक्त सामान्य भक्त जैसा दिखता है, उसका कौतुक करना अशक्य है।।१३।। वायु आकाश में लुप्त होता है, उसका पवनत्व शेष नहीं बचता, वैसे एकरूप होने के बाद उसके ज्ञान का अहंभाव शेष नहीं रहता।।१४।। पंखा हिलाने से वायु अलग भासता है, अन्यथा वह स्वाभाविक नित्य आकाशरूप है।।१५।। तद्वत ज्ञानी भक्त शरीर की क्रियाओं से वह सामान्य भक्त जैसा दिखाई देता है, किंतु आंतरिक अनुभव की शक्ति से वह मद्रूप रहता है।।१६।। ज्ञान प्रकाश में ज्ञानी भक्त मुझे अपनी अभिन्न आत्मा समझता है, अतः अत्यंत उत्साह से प्रेमपूर्वक मैं भी उसे वैसा समझता हूं।।१७।। हे अर्जुन! जीव के परे जो लक्षण है, वह अनुभवप्राप्त ज्ञानी, मुझे जानकर आचरण करता है। उसका देह भिन्न होने से क्या वह मुझसे भिन्न होगा?।।१८।।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थि यह तीनों प्रकार के भक्त सकाम उपासना करते हैं, ज्ञानी भक्त मेरी आत्मा होता है, क्योंकि वह मेरे में स्थिर चित्त होता है, मुझे ही उत्तम गति समझकर स्वीकार करता है।।१८।।

अपने स्वार्थ के कारण मेरी भक्ति करनेवाले भक्त भी मुझे प्रिय होते हैं, किंतु मेरा स्वामी ज्ञानी भक्त होता है।।१९।। दूध की आशा से गाय को रस्सी से बांधते हैं, किंतु बिना रस्सी से ही बछड़ा स्तनपान करके दुग्ध पान करता है।।२०।। वह शरीर, मन एवं प्राण से दूसरे किसी को नहीं जानता, उसके सन्मुख नित्य उपस्थित रहनेवाली धेनु को वह मां समझता है।।२१।। इस प्रकार से अनन्य भाव से प्रेम करनेवाले बछड़े को गौ भी वैसी ही प्रीति करती है, अतः लक्ष्मीपति कहते हैं, 'ज्ञानी मेरी आत्मा है' वह कथन सत्य है।।२२।। ज्ञानी भक्त व्यतिरिक्त अन्य तीनों प्रकार के भक्त भी. जिनके विषय में तुम्हें बताया है, मुझे अत्यंत प्रिय होते हैं।।२३।। जिनको मेरे स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हुआ है, उन्हें पुनः संसार का स्मरण नहीं होता, जब नदी एवं सागर का मिलन होता है तब नदी लौटकर नहीं आती।।२४।। अंतःकरण की गुफा में उत्पन्न अनुभवरूपी गंगाजी को जो मुझे समर्पित करता है, वह साक्षात् मद्रूप होता है, यह संशय न रखते हुये समझना।।२५।। ऐसा जो ज्ञानी भक्त है वह मेरा चैतन्य ही है, जीव एवं प्राण से प्रिय है, हे अर्जुन! यह कहने की बात नहीं है, किंतु तुम्हें स्पष्ट कह दी है।।२६।।

अनेक जन्म के अनन्तर, यह सब वासुदेव है, ऐसा ज्ञान होता है, जिसको यह ज्ञान होता है, वह ज्ञानी भक्त मुझे प्राप्त होता है, ऐसा महात्मा दुर्लभ होता है।।१९।।

वह ज्ञानी भक्त, विषयों के गहन अरण्य से प्रवास करते हुए, काम-क्रोध आदि महान संकटों को टालते हुये सद्वासना के पहाड़पर चढ़ता है।।२७।। हे सुभट! उसके पश्चात सत्कर्म के योग्य मार्ग से चलते हुए निषिद्ध प्रवृत्ति एवं कुमार्ग को छोड़ देता है।।२८।। सहस्त्र जन्म पर्यन्त फलाशारूपी पादुका रहित, नंगे पैर से भक्तिमार्ग पर चलते हुए वह ज्ञानी कर्म फल की चिंता कभी नहीं करता।।२९।। देह के प्रति अनासक्त भाव रखकर रात्री के समय वह यात्री अकेला दौड़ता रहता है, अतः कर्मफल के क्षय की समाप्ति होकर पापरूपी अंधेरे का नाश करनेवाला उषःकाल हो जाता।।१३०।। जब श्री गुरुकृपा का उषःकाल का उदय होता है, ज्ञानसूर्य के कोमल किरण सर्वत्र फैलकर विश्व आलोकित होता है। तब साम्यावस्था का भंडार स्वाभाविक रीति से प्रकट होता है।।३१।। जिस मार्ग से वह चलता है, वहां सब वस्तुओं में उसे मैं ही दिखता हूं। सर्वत्र मुझे ही निहारता रहता है, जब स्थिर शांत खड़ा रहता है तब भी आत्मरूप से मुझे ही देखता है।।३२।। हे पार्थ! अधिक क्या कहूं? मेरे बिना सर्वत्र कोई नहीं है ऐसा उसका भाव होता है। जैसे जल में डुबाएं हुए घट में अंतर्बाह्य जल होता है।।३३।। वैसा ज्ञानी भक्त मुझमें व्याप्त होता है, मैं भी उसमें अंतर्बाह्य समाया रहता हूं, यह बात त्रिवार सत्य है, इसमें संशय नहीं करना।।३४।। इस प्रकार से ज्ञानी भक्त को सर्वत्र ज्ञान का भंडार दिखता है, मानो उसने संपूर्ण विश्व को अपने ज्ञानभंडार से खरीद लिया हो।।३५।। यह संपूर्ण विश्व श्री वासुदेव भगवान का

ज्ञानी ।। ३६।। जिसका अनुभव भांडार। व्याप्त सब चराचर। वह महात्मा धनुर्धर। दुर्लभ अति ।। ३७।। अन्य बहुत मुझको भजत। भक्ति जिनकी भोग प्राप्यर्थ। आशा तिमिर से दृष्टि पार्थ। विषयान्ध होत ।। ३८।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।। २०।।

उनकी फलेच्छा से अर्जुन। हृदय में काम उत्पन्न।। उभय संसर्ग से ज्ञान। दीप बुझत ।। ३९।। ऐसे अन्तर्बाह्य तम व्याप्त। निकट मैं न उनको प्राप्त। तब सर्वभाव से अनुसरत। देवता अन्य ।। ४०।। पहले ही प्रकृति के पाईक। भोग के लिये दीन रंक। लिप्सा का देखो कौतुक। मुझे न भजत ।। ४१।। कैसी नेम नियम बुद्धि। कैसी उपचार समृद्धि। अर्पण वे यथाविधी। करत जात ।। ४२।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। २१।।

जो जिस देवतान्तर को अर्जुन। फलाशा से करे अर्चन। उसकी वह कामना पूर्ण। मैं ही करत ।। ४३।। मैं ही देव मैं ही देवी। यह निश्चय उनको नाही। अतः भिन्न उनके [illegible]ँई। रखत भाव ।। ४४।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।। २२।।

बहु श्रद्धायुक्त। आराधना उनकी उचित। करत पूर्ण सिद्धि पर्यंत। यथाविधि ।। ४५।। जैसा जो वांछत। फल वही वह पावत। किन्तु यह समस्त घटत। मेरे ही कारण ।। ४६।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान्देव यजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।। २३।।

वे भक्त मुझे न जानत। न आशापाश से कभी मुक्त। इसलिये फल नाशवन्त। प्राप्त उनको ।। ४७।। किंबहुना ऐसा जो अर्चन। वह संसार का साधन। अन्य फलयोग वह स्वप्न। क्षणिक सब ।। ४८।। रहने दो यह अर्जुन। जिसको जो प्रिय दैवत जान। वह जिसका करे पूजन। पावत वही ।। ४९।। अन्य तनु मन प्राण सहित। अनुसरत मुझको पार्थ। देहान्तसमय वे निश्चित। मद्रूप होत ।। ५०।।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। २४।।

किन्तु प्राणि न वैसा करत। व्यर्थ स्वहित गमावत।। वे जल में ही तैरत। तलहस्तगत ।। ५१।। अमृत सागर में डूबना। मुख को वज्रमिठि डालना। मन में स्मरण करना। क्षुद्रोदक का ।। ५२।। ऐसा किसलिये करना?। अमृत में डूबके क्यों मरना?। क्यों न सुख से अमृत पीना। अमृत मध्ये ।। ५३।। क्यों न फलाशा का पिंजर। छोड़कर धनुर्धर। प्रतीति पंख से चिदम्बर। स्वामी न होना? ।। ५४।। इस चिदाकाश में। सुख के विस्तार में। जितना चाहे मन में। उड़ना स्वछन्द ।। ५५।। उस अनाप को क्यों नापना। क्यों अव्यक्त को व्यक्त जानना?। सिद्ध को क्यों साधना। साधन द्वारा? ।। ५६।। किन्तु मेरा यह कथन। विवेक से देखने यदि अर्जुन। न यह विशेष रोचन। जीव जात को ।। ५७।।

Funding by IKS-MoE

स्वरूप है ऐसा उसके मन में अनुभवरस का भाव रहता है, अतः वह भक्तों का राजा है एवं ज्ञान संपन्न भी है ॥ ३६॥ जिसके अनुभव के विशाल गृह में सब चराचर विश्व व्याप्त होता है, ऐसा महात्मा अत्यंत दुर्लभ है ॥ ३७॥ अन्य भक्त भी मेरी भक्ति करते हैं, जिनकी भक्ति उपभोग के वस्तुओं के प्राप्ति के लिये होती है, आशारूपी अंधेरे में उनकी दृष्टि विषयांध होती है ॥ ३८॥

उस वैषयिक सुख की इच्छा से जिनका विवेकज्ञान नष्ट हुआ है, ऐसे लोग आगमोक्त नियमों का आश्रय करके अन्य देवताओं की उपासना करते हैं ॥ २०॥

हे अर्जुन! उनका फल की इच्छा से उनके मन में कामना उत्पन्न होती है, दोनों के संगति में ज्ञान का दीपक बुझता है ॥ ३९॥ ऐसे अंतर्बाह्य अज्ञान से व्याप्त होने पर निकट रहनेवाला मैं, उन्हें दिखता नहीं, तब सर्वभाव से अन्य देवताओं की वे उपासना करते हैं ॥ १४०॥ पहले ही वे देह एवं इंद्रियों के दास रहते हैं, भोग की वासना से दरिद्रि जैसे दीन हो जाते हैं, लोभ से कैसी उपासना करते हैं यह कौतुहल पूर्ण है ॥ ४१॥ नेम, नियम करने की उनकी बुद्धि कैसी होती है, देवता के पूजन के लिये आवश्यक उपचार प्राप्त करते हैं, यथाविधि मार्ग से विविध क्रियाओं द्वारा अर्पण करते हैं ॥ ४२॥

जो भक्त जिस देवता के विग्रह की श्रद्धापूर्वक पूजन करने की इच्छा करता है उस भक्त के श्रद्धा से उस विग्रह में मैं ही स्थिर होता हूं ॥ २१॥

जो अन्य देवताओं के विग्रह की भक्ति करता है, उसकी इच्छाएं पूर्ण करनेवाला मैं हूं ॥ ४३॥ मैं ही देव हूं, देवी भी मैं ही हूं यह निश्चय उनको नहीं होता, अतः वह भिन्न भाव रखते हैं ॥ ४४॥

वह भक्त देवता के विग्रह की आराधना करता है, उस देवता के विग्रह से मैंने निर्माण किये फल उसको प्राप्त होते हैं ॥ २२॥

परन्तु उन अल्पबुद्धिवालों का वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, शेषमें वे मेरे को ही प्राप्त होते हैं ॥ २३॥

तब बहुत श्रद्धा से युक्त होकर जो आराधना चलती है वह फलप्राप्ति तक करता जाता है ॥ ४५॥ जैसी जो इच्छा करता है, वही फल उसको प्राप्त होता है, किंतु यह सब मेरे कारण घटता है ॥ ४६॥ अल्पबुद्धि उन उपासकों को नाशवंत फल प्राप्त होता है, अन्य देवताओं की उपासना करनेवाले इंद्र आदि देवताओं को प्राप्त होते हैं ॥ ४७॥ किंबहुना वह संसार का साधन है, अन्य फल का उपयोग वह क्षणिक स्वप्न है ॥ ४८॥ हे अर्जुन! इसको रहने दो, जो दैवत जिसको प्रिय होता है, उसका वह पूजन करता है, एवं उसको उसका फल भी मिलता है ॥ ४९॥ अन्य देह, मन, प्राणसहित जो मेरा अनुसरण करते हैं, हे पार्थ! वे देह के अंतसमय में निश्चितरूप से मद्रूप होते हैं ॥ १५०॥

अविनाश, सर्वोत्तम एवं प्रकृति के परे मेरे तात्त्विक स्वरूप को न जाननेवाले बुद्धिहीन पुरुष में तत्त्वतः निराकार होते हुये मुझे साकार समझते हैं ॥ २४॥

मद्रूप होनेलायक मनुष्य मेरी उपासना नहीं करते। अतः अपना हित व्यर्थ गंवाते हैं। जैसे हाथ के तलुवे में पानी लेकर तैरने का प्रयास करना है ॥ ५१॥ अमृतसागर में डूबने पर मुख में अमृत बिंदु न जावे इसलिये मुख पक्का बंद करके मन में डबरे के जल का स्मरण करना ॥ ५२॥ ऐसा किसलिये करना? अमृत में ही डूबकर क्यों मरते हैं? अमृत में रहकर सुखपूर्वक अमृत प्राशन क्यों नहीं करना चाहिये ॥ ५३॥ क्यों न फलाशा का पिंजड़ा छोड़कर, हे धनुर्धर! अनुभव के पंख से चैतन्यरूपी आकाश का स्वामी क्यों न होवे ॥ ५४॥ इस चिदाकाश में आत्मसुख के विस्तार से मन में जितना चाहे उतना उड़ना है ॥ ५५॥ उस नापरहित को क्यों नापना, क्यों अव्यक्त को व्यक्तं समझना, मैं स्वतः सिद्ध होते हुए मेरे प्राप्ति के लिये साधना क्यों नहीं करते? ॥ ५६॥ हे अर्जुन! मेरा यह कहना यदि विवेक से देखेंगे तब सामान्य जीव को प्रिय लगनेवाला नहीं होगा ॥ ५७॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

योगमाया जवनिका से पार्थ। जो हुये अंधे समस्त। स्वरूप प्रकाश बल से न जानत। मुझको वे।।५८।। वैसे मैं जिसमें नाही। वस्तुजात न जग में कहीं। देखो उदक न कभी कोई। रस रहित।।५९।। पवन से क्या अस्पर्श?। नहीं किसमें आकाश?। वैसा विश्व में अशेष। व्याप्त मैं ही।।१६०।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

जितने भूतमात्र अतीत। मै ही वे अकेला पार्थ। और जो वर्तत साम्प्रत। मद्रूप वे भी।।६१।। अथवा भविष्य में अर्जुन। उपजत तो न मुझसे भिन्न। यह सब मात्र कथन। न कछु होत न जात।।६२।। डोरी का सर्प जैसा। काला, कबरा न गेहुंआ वैसा। प्राणिमात्र का तैसा। मिथ्यत्व जानो।।६३।। इसविध मैं पंडुसुत। सर्वत्र सदा अनुस्युत। किन्तु संसारी न जानत। कहत भिन्न।।६४।। अतः कहूं तुझको किरीटि। जो अहंकार-तनु की जडत प्रीति। इच्छा कन्या को होत सृष्टि। धनुर्धर।।६५।। यथाकाल प्राप्त यौवन। द्वेष से होवे संलग्न। दोनों से पुत्र उत्पन्न। द्वंद्वमोह नाम।।६६।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत। सर्वभूतानि संभोहं सर्गे यान्ति परंतप।।२७।।

ऐसा यह द्वंद्वमोह। अहंकार इसका पितामह। पोषण करत सस्नेह। पंडुकुमर।।६७।। जो प्रतिकूल सदा घृतिको। न माने इंद्रियदमन को। आशा दुग्ध से नीको। पुष्ट होत। असंतुष्टि की मदिरा। मत करे धनुर्धरा। भोगत।।६८।। विषय कक्ष में सुवीरा। विकृति को।।६९।। भाषशुद्धि के पथ पर। बिखरूप विकल्प कंटक तीव्र। खोलत कुमार्ग सुवीर। अप्रावृत्ति के।।१७०।। भूतमात्र इससे त्रसित। संसार बन में प्रवेशत। महादुःख डंडे से पार्थ। खावत मार।।७१।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वंद्वं मोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः।।२८।।

विकल्प के पोले अर्जुन। कंटक देखकर तीक्ष्ण। मतिभ्रम के पाश उत्पन्न। न गणत जो।।७२।। एकनिष्ठा के ऋजु पांव से रगड़कर विकल्प काटे जैसे। पार किया महापातक के वैसे। अटवी को जिसने।।७३।। दौड़कर पुण्य पथ पर। आये मत्सान्निध धनुर्धर। वे मुक्त साचार। बटमारों से।।७४।।

जरामरण मोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

वैसे भी सुनो पार्था। जन्म-मरण की नाशत कथा।। जिस यत्न से होवे ऐसी तत्वत्ता। इच्छा मन में।।७५।। उनको उस साधन से प्राप्त। क्वचित परब्रह्म फल पार्थ। पक्व जिससे रस स्त्रवत। पूर्णता का।।७६।। अवसर वह जग में धन्य। प्राप्त पूर्ण अध्यात्मज्ञान। उनका कर्मजात नष्ट अर्जुन। विरमत मन।।७७।। ऐसा अध्यात्म लाभ उनका। होवे धनंजय जिनको। मुद्दल मैं ही नीको। उद्यम में वह।।७८।। लभत ब्याज समदृष्टि। समृद्ध ऐक्यरूप संपत्ति। भेदरूप दैन्य की किरीटि। स्मृति भी

योगमाया से आच्छादित मैं सबके लिये प्रकट नहीं हूं। जन्म-मृत्यु रहित मुझे मूढ़ लोग जानते नहीं।।२५।।

योगमाया का पर्दा सबको अंधा बनाता है, अतः ज्ञान दृष्टि से मुझे देखते नहीं।।५८।। वैसे मैं जिसमें नहीं हूं ऐसी वस्तु जग में नहीं है, द्रवतारहित जल कभी नहीं रहता।।५९।। वायु किसको स्पर्श नहीं करता? आकाश किसमें नहीं होता? वैसे संपूर्ण विश्व में मैं ही व्याप्त हूं।।६०।।

हे अर्जुन! मैं भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में सब प्राणिमात्र को जानता हूं। किंतु मुझे कोई नहीं जानता।।२६।।

हे पार्थ! जितने प्राणी हो गये हैं, वे सब मैं ही हूं। एवं अभी जो जीवित है वह भी मद्रूप ही है।।६१।। अथवा भविष्य में जो उत्पन्न होंगे, हे अर्जुन! वह भी मुझसे भिन्न नहीं हैं, परमार्थतः मेरे स्वरूप में कुछ होता नहीं, न कोई मरता है, यह सत्य है, व्यर्थ नहीं।।६२।। रस्सी पर सांप की कल्पना करने से वह काला है, या कबरा है, या गेहुंआ है ऐसी चर्चा करना, सत्य स्वरूप जाननेपर व्यर्थ होती हैं, वैसे ही प्राणियों में मिथ्यत्व है।।६३।। हे पंडुसुत! इस प्रकार मैं सर्वत्र, सर्वकाल, सबमें व्याप्त हूं, किंतु संसारी मुझे जानते नहीं, वे भिन्न कहते हैं।।६४।। अतः तुझे एक बात बताता हूं। जो देह के अहंकार के साथ प्रीति उत्पन्न होती है, हे धनुर्धर! तब इच्छा रूपी कन्या की उत्पत्ति होती है।।६५।। समय के अनुसार वह उपवर होते ही उसका विवाह द्वेष के साथ होता है, उन दोनों से द्वंद्व एवं मोह नामक पुत्र उत्पन्न हुए।।६६।।

हे भारत! हे परंतप! स्थूल देह की उत्पत्ति होने पर इच्छा एवं द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःख एवं मोह से अविवेक उत्पन्न होता है।।२७।।

ऐसा यह द्वंद्व एवं मोह का पितामह अहंकार है, हे पंडुकुंवर! वह इसका स्नेहपूर्वक पोषण करता है।।६७।। धैर्य के वे नित्य विरुद्ध रहते हैं, इंद्रिय दमन पर उनका विश्वास नहीं होता, आशारूपी दूध पीकर वे अत्यंत बलशाली होते हैं।।६८।। असंतोष का मद्य हे धनुर्धर! उन्हें उन्मत्त बनाता है, हे सुवीर! विकृतिरूपी स्त्री के साथ विषय रूपी कमरे में वे पड़े रहते हैं।।६९।। हे धनुर्धर! शुद्ध भक्ति के मार्ग पर, विकल्प के कांटे होते हैं, अप्रवृत्ति के बुरे मार्ग पर उन्हें बिखेरते हैं।।७०।। उससे भूतमात्र त्रस्त हो जाते हैं, संसार के अरण्य में प्रविष्ट होते हैं एवं महादुख के डंडे से मार खाते हैं।।७१।।

पुण्यकर्म करनेवाले साधक के पाप का नाश हुआ है वह साधक सुख-दुःख विषयक द्वंद्व मोह से मुक्त एवं दृढ़ संकल्प होकर मेरा भजन करते हैं।।२८।।

हे अर्जुन! विकल्प के निष्फल तीक्ष्ण कांटे देखकर, बुद्धि भ्रम होने नहीं देते, ऐसे साधक विवेकयुक्त पुण्यवान होते हैं।।७२।। (अव्यभिचारी भक्ति से) जिन्होंने सीधे एकनिष्ठा के पैरों से विकल्परूपी कांटों को रगड़कर महापातक के अरण्य को पार किया।।७३।। पुण्यमार्ग पर दौड़ते हुए, हे धनुर्धर! वे मेरे पास पहुंचते हैं, मार्ग में मारने वाले काम-क्रोधादि चोरों से वे मुक्त होते हैं।।७४।।

साधक मेरा आश्रय लेकर जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होने का प्रयास करते हैं, वे तत्पदलक्ष्य परब्रह्म परमात्मा को एवं शरीर उपाधिस्थित अपरिच्छिन्न त्वंपदलक्ष्य आत्मा को ज्ञान से साधन भूत पुण्यकर्म को पूर्णतः जानते हैं।।२९।।

वैसे भी हे पार्थ! सुनो, जिस प्रयत्न से जन्म-मृत्यु की वार्ता समाप्त होती है, ऐसे प्रयत्न को जिनकी इच्छा तत्वतः मन में उत्पन्न करती है।।७५।। उनको हे पार्थ! साधना से क्वचित परब्रह्म फल प्राप्त होता है, जिस पक्व फल से पूर्णता का फल रस बहता है।।७६।। वह अवसर इस जग में धन्य है, जिसको पूर्ण अध्यात्मज्ञान प्राप्त होता है, हे अर्जुन! उसका कर्म संपूर्ण नष्ट होकर उसका मन शांत होता है।।७७।। हे धनंजय! जिनको ऐसा अध्यात्म लाभ होता है, उस प्रयत्न में मूलधन मैं ही होता हूं।।७८।। उस मूलधन के भरवसे पर समदृष्टि के ब्याज से ऐक्यरूपी संपत्ति समृद्ध होती है, दुर्बल एवं दरिद्रता की भेदरूपी स्मृति नष्ट होती है।।७९।।

Funding by IKS-MoE

नष्ट।।७९।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। प्रयाण कालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेत सः।।३०।।

साधिभूत सह मुझको। प्रतीति हस्त से यथार्थ को। पकड़कर आधिदैवत को। स्पर्शत पार्थ जो ज्ञानबल से अर्जुन। मुझे अधियज्ञ जानत पूर्ण।।८०।। तनु वियोग समय जान। दुःखित न होत।।८१।। जब जीवन डोर टूटत। भूतमात्र सब छटपटत। होत सजीव का भी विकल चित्त। युगान्त सम।।८२।। किन्तु जो मुझसे एकरूप। सदा मगन मद्रूप। वे न छांडत स्वस्वरूप। प्रयाण काल में भी।।८३।। वैसे भी अर्जुन। जो ऐसे निपुण। वे ही अन्तःकरण से पूर्ण। युक्त योगी।।८४।। इस श्रीकृष्ण शब्द कुपि के तल। न थी अवधान की अंजुल। उस समय अर्जुन एक पल। पीछे ही रहत।।८५।। जहां वे ब्रह्मवाक्य। नाना रससे रसाल। जो बिखरत परिमल। भक्तिरूप।।८६।। सहज कृपामंद अनिल। कृष्णद्रुम के फल। अर्जुन के श्रवण खोल। में अवचित गिरत।।८७।। वे आत्मज्ञान के सिद्धान्त। ब्रह्मरस सागर में स्नापित। अथवा शर्करा में अवगुंठित। परमानंद की।।८८।। ऐसे सुंदर फल शुद्ध। अर्जुन को होत उन्मेष के दोहद। लेत सुख से वह स्वाद। विस्मयामृत का।।८९।। वह सुखसंमत जब प्राप्त। स्वर्ग को भी तुच्छ समझत। हृदयान्तर में होने लगत। गुदगुदाहट उसके।।९०।। ऐसा बाह्य सौंदर्य से मन। होवे सुख से संपूर्ण। तब कामना उत्पन्न। रसास्वादन की।।९१।। अनुमान करतल में त्वरित। श्रीकृष्ण वाक्य फल उठवत। प्रतीति मुख में एक साथ। डालन लागत।।९२।। तब विचार मुख में न समावत। हेतुदशन से न फूटत। देखकर ऐसे पार्थ। न चूमत उसको।।९३।। तब विस्मित अर्जुन। कहत ये तो जलस्थ तारांगण। कैसा भ्रमित मैं पूर्ण। अक्षर जाल से।।९४।। ये नहीं अक्षरपद। यह तो गगन की तह शुद्ध। मेरी बुद्धि यद्यपि सुबुद्ध। पार न पावे।।९५।। यह तो अर्तक्य गोष्ठी। मन में जानकर किरीटि। पुनरपि निहारत दृष्टि। यादवेन्द्र की ओर।।९६।। तब विनति करत सुभट। देखो जी ये एकजुट। सप्तही पद अनुच्छिष्ट। नवल अति।।९७।। वैसे अवधान के वेग से। नाना प्रमेय अनुभव जैसे। श्रवण के निजबल से। कया बोलना शक्य?।।९८।। यह तो सर्वथा अशक्य। देखकर अक्षर समुदाय। विस्मय को भी होत विस्मय। धनंजय।।९९।। कर्ण के गवाक्षदार। से बोल रश्मि प्रविष्ट अंदर। देख वह चमत्कार। स्तिमित मति मेरी।।२००।। जानने को वह शब्दार्थ। कामना तीव्र मन में अच्युत। अतः निरूपण त्वरित। कीजे देव।।१।। लेकर पूर्व प्रत्यंतर। दृष्टि रखत आभिप्रायपर। दर्शवत इच्छा धनुर्धर। पूछत प्रश्न।।२।। कैसी शैली कैसा प्रश्न। न करत सीमोल्लंघन। देत हृदय को आलिंगन। श्रीकृष्ण के पार्थ।।३।। श्रीगुरू को पूछना जो प्रश्न। कैसे रखना अवधान। अकेला जान पूर्ण। सव्यसाची।।४।। आगे उसका प्रश्न उठाना। श्रीहरी का उत्तर देना। संजय का सस्नेह समझाना। नृप को कैसा?।।५।। उस कथा

Funding by IKS-MoE

अधिभूत के साथ आधिदैव को एवं आदि यज्ञ सहित मुझे जो जानते हैं, वह समाहित चित्त होकर मृत्यु के समय भी मेरी स्मृति रखते हैं।।३०।।

जिन्होंने आधिभूत के साथ अनुभव के हाथ से आधिदैव को पकड़ा है।।१८०।। हे अर्जुन!। जो ज्ञान की सहायता से मुझ अधियज्ञ को पूर्णतः जानता है, वह देह छूटने के समय दुःखी नहीं होता।।८१।। जब जीवन की रस्सी टूटती है तब सामान्य जीव छटपटाते हैं, मृत्यु के समय जीवित व्यक्ति का अंतःकरण भी विकल हो जाता है।।८२।। किंतु जो मुझसे एकरूप होते हैं नित्य मद्रूप होकर मग्न रहते हैं, वे मृत्यु के समय भी अपने आत्मस्वरूप को नहीं छोड़ते।।८३।। हे अर्जुन! भक्तिज्ञान में कुशल है ऐसे समाहिंत चित्त साधकों को योगी समझना।।८४।। श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं, भगवान जब यह बता रहे थे तब भगवान की वाणी से शांतरस की वर्षा हो रही थी। उसको अपनी अंजुली में लेने का अवधान अर्जुन को नहीं रहा।।८५।। 'ते ब्रह्म तद्विदुःकृत्सम्' आदि वाक्यफल विविध अर्थरूपी रस से परिपूर्ण थे, वे भक्ति रूप सुगंध सर्वत्र फैला रहे थे।।८६।। वे वाक्य फल कृष्णरूपी कल्पवृक्ष के थे। गुरुकृपारूप मंद वायु से अर्जुन के श्रवणेन्द्रियरूपी द्रवता में अकस्मात गिर गये।।८७।। हे पार्थ! वे वाक्य रूपी फल सिद्धान्तों के बने हुये थे, या ब्रह्मरस के सागर में डुबाए हुये थे, अथवा परमानन्द के शर्करा में लपेटे हुये थे।।८८।। ऐसे सुन्दर शुद्ध फल देखकर अर्जुन को ज्ञान की इच्छा उत्पन्न हुई, विस्मयरूपी अमृत का वह मुख से स्वाद लेने लगा।।८९।। वाक्य फल रूपी सुखसंपत्ति प्राप्त होने पर वह स्वर्ग सुख को भी तुच्छ समझने लगा, अर्जुन के हृदय में गुदगुदाहट होने लगी।।९०।। वाक्य फल के बाह्य सौंदर्य से अर्जुन को सुख का अनुभव होने लगा, तब मन में रस का आस्वाद लेने की इच्छा उत्पन्न हुई।।९१।। प्रथम हाथ के तलुवे पर, अनुमान करके, शीघ्र उन वाक्य फलों को उसने उठाया, एवं अकस्मात अनुभवरूपी मुख में डालने लगा।।९२।। तब विचारों के मुख में न समाने से, हेतु के दांतों से, न फूटने से, ऐसी उसकी कठिनता देखकर अर्जुन ने वे फल मुख में नहीं डाले।।९३।। तब आश्चर्य चकित हुआ अर्जुन कहने लगा, कृष्ण के वाक्यफल आकाश का तारांगण है, उसके प्रतिबिंब को जल में देखकर मैं पूर्ण भ्रमित हुआ हूँ। क्योंकि अक्षरों की सुगमता से मैं ठग गया हूं।।९४।। यह तो अक्षरपद नहीं है, यह तो तय किया हुआ शुद्ध आकाश है, ज्ञानयुक्त होने पर भी मेरी बुद्धि इसका अर्थ नहीं समझ सकी।।९५।। यह तो तर्क के परे गहन बातें हैं, मन में विचार करके किरीटी ने यादवेन्द्र, श्रीकृष्ण को नेत्र से निहारा।।९६।। तब सुभट अर्जुन ने प्रार्थना की, यह सातों पद अपरिचित होने से आश्चर्य कारक हैं।।९७।। ध्यान देने के वेग से, श्रवण शक्ति के सामर्थ्य से, विविध सिद्धान्त अनुभव गम्य होने से वे वाणी का विषय नहीं होते।।९८।। यह तो पूर्णतः अशक्य है, अक्षरों का समूह देखकर, शारंङ्गधर आश्चर्य को भी आश्चर्य होगा।।९९।। कर्ण की खिड़की से वाक्यरूपी किरणें भीतर प्रविष्ट हुई तब वह चमत्कार देखकर बुद्धि स्तब्ध हो गयी।।२००।। उन शब्दों का अर्थ जानने के लिए, हे अच्युत, मन में अत्यन्त तीव्र इच्छा है, अतः हे देव! उसका निरूपण शीघ्र कीजिए।।१।। भगवान ने क्या कहा इसका प्रत्यन्तर- सिंहावलोकन- लेकर अभिप्राय पर दृष्टि रखते हुए प्रश्न पूछकर धनुर्धर अर्जुन ने अपनी इच्छा प्रकट की।।२।। कैसा प्रश्न एवं पूछने की कैसी शैली है, देखिये मर्यादा का उल्लंघन न करते हुये श्रीकृष्ण के हृदय को अर्जुन आलिंगित करता है।।३।। श्रीगुरु को जो प्रश्न पूछना है, उसका अवधान कैसे रखना है, यह अकेला सव्यसाची अर्जुन ही जानता है।।४।। उसका प्रश्न करना एवं सब जाननेवाले श्रीहरी का उत्तर देना आगे कहूंगा। संजय राजा धृतराष्ट्र को प्रेमपूर्वक कैसे समझाता है बताऊंगा।।५।। उस कथा

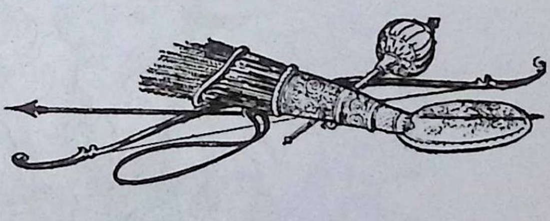

में देना चित्त। जो कहूं मैं 'शुद्ध प्राकृत। कर्ण पूर्व दृष्टि देखत। अर्थ जिसका।।६।। वहां बुद्धि जिव्हा से। न चखकर अक्षर का सत्व जैसे। केवल 'शब्द सौंदर्य से। इंद्रियां तृप्त।।७।। देख मालती की कलिका। परिमल से तृप्त नासिका। किंतु क्या न सौंदर्य उसका। देत दृष्टि को सुख?।।८।। वैसे इस देशीभाषा का सौष्ठव। इंद्रियां करत सुख से राणीव (राज्य)। प्रमेय सिद्धिका पावत गाव। त्वरित सुसज्ज।।९।। ऐसा जिसका सुंदरपन। श्रवण से वाणी होवे मौन। सुनो ज्ञानदेव करे कथन। निवृत्तिदास।।२१०।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिंदीअनुवादे
भक्तियोगोनाम सप्तमोऽध्यायः ('श्लोक ३० ओवियां २१०)

Funding by IKS-MoE

में ध्यान देना, उसको मैं शुद्ध प्राकृत वाणी से कहूंगा, जिसका अर्थ कान में प्रविष्ट होने के पूर्व दृष्टि से देख सकेंगे।।६।। बुद्धि के जिव्हा से शब्द के भावरूपी सत्व का आस्वाद न लेते हुए केवल रसपूर्ण अक्षरों के बाह्य सौंदर्य से इंद्रियां संतुष्ट होंगी।।७।। मालती पुष्प की कलियां सुगन्ध से परिपूर्ण होने से नासिका को तृप्त करती हैं, किन्तु उसका सौंदर्य भी क्या दृष्टि को सुख नहीं देता?।।८।। वैसे इस देशी भाषा के सौंदर्य से इंद्रियां सुख से राज्य करती हैं, वे सिद्धान्तों के गांव में शीघ्र अधिकार संपन्न बनकर पहुंचते हैं।।९।। जैसा जिसका सौंदर्य है, उसको सुनकर वाणी मौन होती है, उसको निवृत्तिदास के शिष्य श्री ज्ञानदेवजी बता रहे हैं।।२१०।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

Funding by IKS-MoE

अध्याय - आठवाँ

सारांश

पश्चात सप्तप्रश्नविधि। कहकर प्रयाण समय सिद्धि। एवं सकल वाक्य अवधि।
अष्टमाध्याय में।।ज्ञा.अ १०-२९।।

सप्तम अध्याय में भगवान ने अर्जुन को संक्षेप में कथन किया कि जिस पुरुष ने अधिभूत और अधिदैव इनको जानकर 'मैं जो अधियज्ञ हूं उसको प्राप्त किया है उसको अंतकाल में शरीर वियोग का दु:ख नहीं होता। अर्जुन ने इस संबंध में भगवान को सात प्रश्न किये हैं। इस अध्याय में भगवान अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हैं। (१-५) अर्जुन ने प्रश्न करते ही, जैसी धेनु वत्स को स्तनपान कराने को उत्सुक होती है, वैसे ही भगवान कैसे उतावले होते हैं, इसका वर्णन करके ज्ञानदेवजी भगवत कथन का अनुवाद करते हैं। (६-१४)

भगवान कहते हैं कि, सर्वव्यापी सूक्ष्म अविनाशी तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं। उत्पत्तिनाथ रहित जो ब्रह्म की सहज स्थिति है इसको अध्यात्म कहते हैं। अव्यक्त में, विनाकर्ता, दृग्गोचर होनेवाले व्यापार को कर्म कहते हैं। पंचमहाभूतों का संयोग होते ही मानरूपात्मक शरीर दृग्गोचर होता है और उनका नियोग होते ही उसका नाश होता है उसको आधिभूत कहते हैं। वस्तुतः परमात्मस्वरूप, परंतु अहंकार से भिन्नवत होकर देह में रहता है, उसको आधिदैव कहते हैं। वह मैं हूं, आधिभूत, आधिदैव भी मैं ही हूं। अविद्या से वह तत्त्वहीन दशाप्रत आ गया है। अविद्यानाश होते ही अधियज्ञ रहता है। (१५-४७) यह हीनत्व नष्ट करने का एकमात्र मार्ग है- वैराग्य का आश्रय लेकर अष्टांगयोग साधन करना। अंत में साधन नष्ट होकर साध्य रहता है। (४८-५३) भगवान आनंद से अंतः काल की स्थिति कथन करते हैं। जिन्होंने मद्रूपता प्राप्त की है, उनको शरीर नाश का कष्ट नहीं होता। (५४-६८) भगवान एक महत्व का सिद्धान्त कथन करते हैं वह यह कि अंतकाल में जिसकी स्मृति रहती है, उस गति को वह पुरुष प्राप्त करता है। इस कारण तू मेरा स्मरण करके युद्ध कर, तू मद्रूप हो जायेगा। यदि इसका अनुभव लेना है तो चित्त मद्रूप कर फिर देख तेरा जन्म मरण का कष्ट सदा के लिये नष्ट हो जायेगा। (६९-८२) प्रयाण काल में जो ब्रह्मचिंतन करता है, उसको परम पद की प्राप्ति होती है। यह कथन करते समय भगवान ब्रह्मरूप और योगसाधना का स्पष्टीकरण करते हैं। योगी का देहावसान शांत से होता है। बड़े-बड़े तपस्वियों को ब्रह्मप्राप्ति दुर्लभ है। वेदों को भी वह अगम्य है। योगियों का साधन मार्ग संक्षेपतः कथन करते हैं। (८२-१११) मन को अंतर्मुख करने के लिये संयमी और निग्रही जीवन बिताना आवश्यक है। मन स्थिर होने के बाद ॐ का स्मरण करना चाहिये। ॐकार चिंतन करते करते उसका भी विस्मरण होगा और फिर उसे पूर्ण ब्रह्मैक्य का अनुभव प्राप्त होगा। (११२-११९)

मरणकाल में स्मरण रहना कठिन है, फिर स्मरण कैसा रहेगा? इस शंका का निरसन भगवन करते हैं। सब विषयों का त्याग करके आजन्म मेरा चिंतन करनेवाले भक्तों की सेवा स्वयं मैं उनके मरण काल में करता हूं, मैं उनको स्वरूप बोध और स्मरण देकर मद्रूप करता हूं। वस्तुतः वे भक्त पहिले से ही मद्रूप बनकर रहते हैं और मरणोपरांत वे जन्ममरण बंधन से मुक्त होते हैं। जन्ममरण से मुक्त होना यह महत्व की बात है। इंद्र और ब्रह्मदेव आदि भी इस बंधन से मुक्त नहीं हैं। व्यक्त और अव्यक्त का आधार अक्षर चैतन्य है। सृष्टि व्यवहार से उसका किंचिदपि संबंध नहीं हैं।

यह चैतन्य प्राप्ति का एक मात्र मार्ग भक्ति है। काया, वाचा, मनसा, भगवत सेवा करना इसका नाम एकनिष्ठ भक्ति है ऐसे भक्त के घर चैतन्य स्वयं आता है। परमात्म प्राप्ति होने से भक्तों को पुनः जन्ममरण

नहीं रहते। (१२०-२०३)

जन्ममरण से युक्त होना या मुक्त होना मरण काल के स्थिति पर अवलंबित है। प्रयाणकाल में देह में अग्निबल और उत्तरायण, शुक्लपक्ष, दिन ऐसा संयोग होगा तो योगी को सायुज्जमुक्ति प्राप्त होती है। यह अर्चिरादि मार्ग है। इसके विपरीत दक्षिणायन, वद्यपक्ष, रात्र ऐसे काल में देह में यदि कफ वात का जोर हो, तो योगी को पुनः जन्म लेना पड़ता है। इसीको धूम्रमार्ग कहते हैं। (२०४-२३६)

यह दोनों मार्ग अनादिकाल से चलते आये हैं। मरण काल में कौनसा मार्ग प्राप्त होगा यह अपने आधीन नहीं है। जो पुरुष वस्तुरूप बनकर रहते हैं उनको कोई भी मार्ग प्राप्त हो जाये, उनका ब्रह्मभाव किंचिदपि विचलित नहीं होता। उनको ऐहिक, पारलौकिक मोह नहीं रहता। वे परब्रह्म में स्थिर रहते हैं। (२३७-२६७) यह योगियों की कथा परब्रह्म श्रीकृष्ण अर्जुन को कथन करते हैं, वही निवेदन संजय। धृतराष्ट्र को बताता। (२३७-२७१) श्री निवृत्तिनाथजी की कृपा से मैं आपको वही कथा सादर कथन करता हूं, ऐसे ज्ञानेश जी कहते हैं।

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - आठवाँ

अर्जुन उवाच-

किं तब्द्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

तब कहत अर्जुन। सुना आपने जो प्रश्न। मैंने पूछा वह संपूर्ण। सविस्तार कहिये।।१।। कहो कौन वह ब्रह्म। किसकी संज्ञा कर्म। अथवा किसको अध्यात्म। कहत कृष्ण।।२।। क्या होत अधिभूत। अधिदैव कौन अच्युत। सुनू मैं स्पष्ट। ऐसे कहो।।३।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन। प्रयाण काले च कथनं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

देव अधियज्ञ यह कौन। इस देह में श्रीकृष्ण। इसका न होत अनुमान। न दृष्टिगोचर।।४।। और जो नियत अंतःकरणी। आपको जानत देहप्राणी। वह कैसे हे शार्ङ्गपाणी। कहो मुझको।।५।। चिंतामणि मंदिर में पार्थ। दैवयोग से यदि निद्रित। बर्राना भी उसका सत्य। व्यर्थ न होत।।६।। वैसा अर्जुन का बोल। सुनकर प्रसन्न कृपाल। कहत अवधारो खुशाल। जो पूछा प्रश्न।।७।। किरीटि वत्स कामधेनुका। ऊपर मंडप कल्पतरूका। अतः सिद्ध मनोरथ उसका। न नवल इसमें।।८।। कृष्ण रोष से जिसको मारे। वह साक्षात्कार पावे सारे। जिसको प्रीति से उपदेश करे। उसकी क्या बात?।।९।। जब स्वयं होत कृष्ण। कृष्ण होत अपना अंतःकरण। तब संकल्प आनंद में पूर्ण। ऋद्धि-सिद्धि दासी।।१०।। किंतु ऐसा जो प्रेम। अर्जुन पर पहले ही निःसीम। अतः उसका मनोकाम। सदा सफल।।११।। इस कारण श्री अनंत जानकर उसका मनोगत। उत्तर की थाली परोसत। सहज भाव से।।१२।। स्तनपान करे जो बालक। माता को ही उसकी भूंख। क्या उसको मांगना आवश्यक। तब ही देत?।।१३।। अतः सद्गुरु ठांई। नवल न देखो कोई। किन्तु अब सुनो जो गोसाईं। कहत स्पष्ट।।१४।।

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - आठवाँ

अर्जुन ने कहा हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या होता है? कर्म क्या है? अधिदूत किसको कहते हैं, अधिदेव क्या होता है?।।१।।

अर्जुन ने प्रश्न पूछा, हे पुरुषोत्तम! मैंने जो प्रश्न पूछा है वह आपने सुना है। उसका विस्तृत रूप से उत्तर दीजिये।।१।। कौन ब्रह्म है कहो, कर्म किसको कहते हैं, अथवा हे कृष्ण। अध्यात्म किसको कहते हैं?।।२।। अधिभूत क्या होता हैल? आधिदैव कौन है, हे अच्युत! मुझे स्पष्ट रूप से कहिये।।३।।

हे मधुसूदन। इस देह में आधियज्ञ कौन है? उसका वैसे चिंतन किया जायेगा? मृत्यु के समय समाहित चित्त पुरुष तुम्हें किस प्रकार से जानते हैं?।।२।।

हे देव! अधियज्ञ कौन है? हे श्रीकृष्ण। इस देह में इसका अनुमान नहीं कर सकते। क्योंकि वह आंखों से नहीं दिखता।।४।। जो अंतःकरण में समाहित हो गया है वह मृत्यु के समय आपको कैसे जानता है? हे शारड्गपाणि मुझे कहिये।।५।। चिंतामणि रत्न के मंदिर में दैवयोग से कोई सो गया तब उसका बड़बड़ाना भी व्यर्थ नहीं जायेगा।।६।। वैसे अर्जुन की वाणी सुनकर कृपालु भगवान प्रसन्न हो गये। उन्होंने कहा, जो प्रश्न तुमने किया है उसका उत्तर अब खुशी से सुनो।।७।। किरीटी कामधेनु का बछड़ा है। कल्पतरु का मंडप ऊपर छाया दे रहा है। अतः उसकी सब इच्छाएं पूर्ण हो रही हैं इसमें आश्चर्य नहीं।।८।। क्रोधित होकर भगवान श्रीकृष्ण जिसको मारते हैं वह सब साक्षात्कार का पात्र होता है। जिसको प्रेम से उपदेश करते हैं उसकी बात क्या कहेंगे?।।९।। हम जब कृष्ण रूप होते हैं तब स्वयं कृष्ण हमारे अंतःकरण में निवास करते हैं। तब ऋद्धि-सिद्धि दासी बनकर हमारे सब संकल्प आनंद से पूर्ण करती हैं।।१०।। इस प्रकार का अपूर्व प्रेम केवल अर्जुन में था। अतः उसकी सब इच्छाएं नित्य सफल होती रहीं।।११।। अतः श्री अनंत ने उसका अंतःकरण जानकर उत्तररूपी थाली सहजभाव से परोस दी।।१२।। जो बालक स्तनपान करता है, उसकी भूख माता जानती है, वह जब मांगता है क्या वह तबही देती है?।।१३।। कृपालु श्री सद्‌गुरु में अपने भक्त के प्रति इतना प्रेम दिखाई पड़े तो आश्चर्य की क्या बात है? भगवान श्रीकृष्ण अब क्या कहते हैं सुनिये।।१४।।

Funding by IKS-MoE

श्री भगवान उवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।३।।

तब कहत सर्वेश्वर। जो यह नव द्वार देहाकारा ओत प्रोत किन्तु न नाशत साचार। कवन काल।।१५।। ऐसी सूक्ष्मता इसकी जान। देखे यदि तब यह शून्य। गगन वस्त्र से अर्जुन छनत सहज।।१६।। इतना जो विरला इस विज्ञान खोल में परब्रह्म निखिल। कदापि न गिरत।।१७।। यह शरीर जन्मजात। परब्रह्म जन्मधर्म न जानत। शरीर लोप से न नाशत। कदापि कहीं।।१८।। इसविधि अपनी सहज स्थिति जिस ब्रह्म की नित्य ख्याति उसका नाम सुभद्रापति। अध्यात्म जानो।।१९।। तब गगन जैसे निर्मल। कभी क्वचित काल। उपजत धन पटल। नानाविधि।।२०।। वैसे इस अमूर्त में विशुद्ध। महदादि भूतभेद। ब्रह्मांड आकार विविध। सृजत जाल।।२१।। यह निर्विकल्प क्षेत्र में सुवीर। प्रस्फुटत आदि संकल्प अंकुर। जिससे उत्पन्न नाना आकार ब्रह्मांड गोलक के।।२२।। उन एकेक में पार्थ। आदि बीज पूर्ण व्याप्त। उससे उपजत नाशत। अगणित जीव।।२३।। उस ब्रह्म गोलक के अशांश। प्रसवत आदि संकल्प जीव अंश। असंख्यात होत बहुवस। सृष्टि विस्तार।।२४।। किंतु दूजेबिन अकेला पार्थ। परब्रह्म व्याप्त सर्वत्र। अनेकत्व का उससे बहत। पूर जैसे।।२५।। सम विषमत्व न जाने कैसे। अकारण चराचर रचत जैसे। प्रसवत सहज तैसे। लक्षयोनियां।।२६।। इन जीवों के अतिरिक्त। नाना और भी होत बहुत। यदि उत्पत्ति उनकी देखत। तब मूल्य शून्य।।२७।। अतः न दिखत मुद्दल कर्ता। कारण ही नहीं सर्वथा। मध्ये कार्य स्वभावतः। वर्धमान।।२८।। ऐसे कर्ताबिन गोचरू। अव्यक्त में आकारू। उपजत जो व्याप्त। उसका नाम कर्म।।२९।।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्। अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

अब अधिभूत जो कहत। वह कहूं संक्षिप्त। जो उत्पन्न और नाशत। अभ्र जैसे।।३०।। वैसे मिथ्या उसका अस्तित्व। स्वभावतः जो नाशवंत। रूप जिसका पंचतत्व। मिलकर होत।।३१।। पंच भूतों से सृष्ट। संयोग से उनके दृष्ट। वियोग काल में नाम रूपादिक।।३२।। अधिभूत उनको कहिजे। अब अधिदैव जीव जानिजे। जो उपार्जित भोग भोगिजे। प्रकृतिजन्य।।३३।। जो चेतना चक्षु। इंद्रियग्राम का अध्यक्षु। देहास्तमानी वृक्षु। संकल्प विहंगमका।।३४।। जो परमात्मा दूसर। अहंकार निद्र निदसूर। जो इस स्वप्न संसार। से तोषत थकत।।३५।। जीव नाम से उसको। पुकारत जब जिसको। अधिदैवत जानिये उसको। पंचायतन का।।३६।। इस शरीर ग्राम में वसत। शरीर भाव को उपशमत। वह अधियज्ञ मैं साक्षात। पंडुकुमर।।३७।। वैसे अधिदैवाधिभूत मैं ही जानो समस्त। क्या दागी सुवर्ण पार्थ। हीन न होत?।।३८।। न मलिन उसका सुवर्णत्व। न उसको प्राप्त

Funding by IKS-MoE

श्री भगवान ने कहा, अक्षर, देह में रहकर भी नाशरहित ब्रह्मस्वरूप प्रत्यगात्म चैतन्य है, अपना स्वरूप जीवात्मा अध्यात्म नाम से कहा जाता है, भूतों में भाव उत्पन्न करनेवाला। शास्त्र विहित यज्ञ, दान, आदि के लिये द्रव्य का विनियोग कर्म कहलाता है॥३॥

तब सर्वेश्वर भगवान कहते हैं, जो नवद्वार का यह देह का आकार दिखाई देता है, उसमें जो ओतप्रोत भरा हुआ है उसका किसी काल में नाश नहीं होता॥१४॥ वह वस्तु अत्यंत सूक्ष्म है, देखने से केवल शून्य दिखाई देता है, हे अर्जुन। मानो, आकाशरूपी वस्त्र से उसको छाना है॥१६॥ इतना विरल एवं सूक्ष्म होने पर भी ओत प्रोत भरा हुआ परब्रह्म गिरता नहीं॥१७॥ वह ब्रह्मत्व शरीर धारण करने पर भी देहधर्म नहीं जानता, शरीर का नाश होने पर उसका नाश कभी नहीं होता॥१८॥ इस प्रकार से ब्रह्मत्व अपने स्वयं सिद्ध अवस्था में निरंतर रहता है। हे सुभद्रापति! उसका नाम अध्यात्म है वह ध्यान में रखना॥१९॥ जैसे निर्मल स्वच्छ आकाश में अनेक रंगों में मेघों का आच्छादन दिखाई देने लगता है॥२०॥ वैसे इस अमूर्त, अव्यक्त, शुद्ध, ब्रह्मत्व रूप में पंचमहाभूतों का भेद, अनंत ब्रह्मांड के आकार उत्पन्न होना प्रारंभ होता है॥२१॥ हे सुवीर! उस निर्विकल्प देश में एकोहं बहुस्यां प्रजायेय यह आदि संकल्प का बीज प्रस्फुरित होता है। वही ब्रह्मांड के रूप में, विविध आकार में उत्पन्न होता है॥२२॥ प्रत्येक आकार में आदि बीज ब्रह्म पूर्ण व्याप्त रहता है। उससे असंख्य जीवों की उत्पत्ति होती है। उनका नाश भी होता रहता है॥२३॥ इस ब्रह्मगोलक के अनेक जीव अंश भी उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार से सृष्टि का विस्तार अनगिनत होता है॥२४॥ हे पार्थ! इन सबमें वही परब्रह्म परमात्मा अकेला ही व्याप्त होता है। मानो सर्वत्र अनेकत्व का पूर बहता रहता है॥२५॥ सम विषम भाव कैसे उत्पन्न होते हैं यह समझ में नहीं आता। चराचर विश्वरचना क्या अकारण हुई है? उसमें लाखों योनियों में प्राणि सहज उत्पन्न होते हैं॥२६॥ इन जीवों के अतिरिक्त अनेक विविध प्रकार उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति देखने पर उनका कोई मूल्य समझ में नहीं आता॥२७॥ मूल निर्माता तो कहीं दिखता नहीं, उसके द्वारा निर्माण सृष्टि का कारण भी समझ में नहीं आता, बीच में उसका कार्य स्वाभाविक रीति से विकसित होते हुये दिखाई देता है॥२८॥ ऐसा कर्ता के बिना दिखाई देनेवाला अव्यक्त में जो आकार दिखता है उससे जो व्यवहार उत्पन्न होता है, वही कर्म कहलाता है॥२९॥

देह धारण करनेवालों में श्रेष्ठ अर्जुन! विनाशशील भौतिक शरीर 'अधिभूत' है। देह में हिरण्यगर्भ आधिदैव है॥४॥

अब आधिभूत जो कहते हैं उसको संक्षिप्त कहता हूं। जैसे आकाश में मेघ उत्पन्न होते हैं एवं नष्ट होते हैं॥३०॥ वैसे इसका अस्तित्व मिथ्या होता है, जो स्वाभाविक रीति से नाशवान है, जिसका स्वरूप पांच तत्व मिलकर बनता है॥३१॥ पंचमहाभूतों से जिसकी निर्मिति होती है, विशिष्ट भूतसंयोग से बिगड़ते ही नष्ट हो जाता है॥३२॥ उसी को आधिभूत कहते हैं। जीव को आधिदैव कहते हैं, जो प्रकृति के द्वारा उत्पन्न भोगों का उपभोग करता है॥३३॥ जो चैतन्य का नेत्र है, इंद्रियरूपी गांव का अध्यक्ष है, संकलपरूपी पक्षियों का मृत्यु के समय विश्राम करने का वृक्ष है॥३४॥ यह आधिदैव नाम का दूजा परमात्मा है। यह अहंकाररूपी निद्रा के वश में रहता है, अतः यह स्वप्नवत् संसार की माया से संतुष्ट होता है एवं थकता भी है॥३५॥ इसको जीव नाम से पुकारते हैं, वही इस पंचभूतात्मक शरीर का आधिदैवत है॥३६॥ इस शरीररूपी गांव में निवास करता है, हे पंडुकुंमर, शरीरस्थ अहंभाव का नाश करनेवाला मैं अधियज्ञ हूं॥३७॥ अन्य अधिदैव आदि भूत हैं वे भी मद्रूप होते हैं, सुवर्ण में दाग लगाने से उसका कस क्या कम नहीं होता?॥३८॥ निर्मल शुद्ध सुवर्ण मलिन नहीं होता, उसको हीनत्व भी प्राप्त नहीं होता किंतु जब तक उसमें दाग होता है तब तक

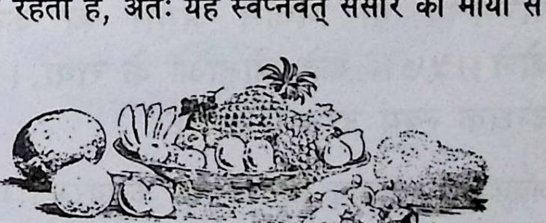

हीनत्व। किंतु जब तक उसके साथ। कहलावत अशुद्ध।।३९।। वैसे अधिभूतादि समस्त। अविधावरण से आवृत। तब तक उसको पार्थ मानिजे भिन्न।।४०।। जहां अविद्या जवनिका नष्ट। भेद भाव अवधि लुप्त। एक रूप कभी न होत। पृथक पार्थ।।४१।। केश लट नीचे काला। ऊपर रखी स्फटिक शिला। भासत भंगित निखिला। दृष्टिको जान।।४२।। केशगुच्छ जब हटत। अभंग शिला दिखत। वहां न कोई जोड़त। डांक देकर।।४३।। वह तो अखंड स्वभावतः। किंतु संग से भासत खंडित। जब उसे हटावे पूर्ववत। जैसी की तैसी।।४४।। तैसे जब अहंभाव नष्ट। ऐक्य मूल से ही प्राप्त। ऐसे जहां प्रतीति यह अधियज्ञ मैं।।४५।। सकल यज्ञ कर्मज। तुझको पहले ही बताया यह राज। मन के रख के काज। धनुर्धर।।४६।। यह सकल जीवों का विश्राम। नैष्कर्म सुख का धाम। प्रकट करके सुगम। दिखावत आज।।४७।। प्रथम वैराग्य इंधन परिपूर्त। इंद्रियानल में प्रदीप्त। विषय द्रव्य आहुति पार्थ। अर्पण करत।।४८।। वज्रासन उर्वी शुद्ध। वेदिका रचत मूलबंध। शरीर मंडप में शुद्ध। पंडुकुमर।।४९।। वहां संयमाग्निकुंड में पार्थ। इंद्रिय द्रव्य से समस्त। उदंड आहुति देत। युक्ति घोष से।।५०।। तन- मन- प्राण संयम। यही हवन संपदा पूर्ण। इससे संपूर्ण निर्धूम। ज्ञानानल।।५१।। जब यह साहित्य ज्ञान में अर्पित। ज्ञेय में ज्ञान लय पावत। पश्चात ज्ञेय ब्रह्म पार्थ। निखिल शेष।।५२।। इसका नाम अधियज्ञ। ऐसे कहत जब सर्वज्ञ। तब अर्जुन अति प्राज्ञ। जाने पूर्ण।।५३।। जानकर कहत कृष्ण। पार्थ करत उत्तम श्रवण। उस बोल से अर्जुन। सुखी होत।।५४।। देखो शिशुतृप्ति से तृप्त। अथवा शिष्य सिद्धि से कृतार्थ। यह जानत एक गुरु समर्थ। अथवा माता।।५५।। अतः सात्विक भाव सर्व पूर्व। कृष्ण अंग में अर्जुन पूर्व। न समावत अपूर्व। किंतु यत्न से रोकत।।५६।। पक्व सुख का परिमल। या निवांत अमृत का कल्लोल। वैसा कोमल और सरल। बोल बोले।।५७।। कहे श्रोताओं के राया,। सुनो हे धनंजया। ऐसी जलत जब माया दग्धक स्वयं दग्ध।।५८।।

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

जो सांप्रत कथित तुझको। अधियज्ञ कहत जिसको। आवंत में जानत मुझको। उसी रूप में।।५९।। वे देह को मिथ्या मानत। स्वतः ब्रह्मरूप होत। जैसे मठ गगन से व्याप्त। गगन में स्थित।।६०।। प्रतीती रूप गृह में। वसत निश्चय कक्ष में। अतः ब्रह्मबिन मन में न ब्राह्म स्मरण।।६१।। ऐसे अंतर्ब्राह्म ऐक्य। मद्रूप होत धनंजय। पंचकवच ब्राह्म। सहज नष्ट।।६२।। जीवित की भी न करे चिंता। पतन से क्या उसकी व्यथा?। प्रतीति पेट में पार्था। पानी न हिलत।।६३।। ऐक्य भाव से द्वलत। अविनाशी हृदय में स्थित। समरस सिंधु में धूत। मलिन न होत।।६४।। गहरे जल में घट। उदक से ओतप्रोत। दैव से यदि भंगात। उदक न भंग।।६५।। अथवा सर्प

वह अशुद्ध कहलाता है।।३९।। बालों के ऊपर स्फटिक शिला रखने से वह स्फटिक शिला नेत्रों को टूटी हुई सी दिखाई पड़ती है।।४२।। केशगुच्छ जब हटाया जाता है तब स्फटिक शिला अभंग है ऐसा बोध होता है। वहां उसको डांक लगाकर कोई जोड़ता नहीं।।४३।। वह तो स्वाभाविक अखंड होता है, किंतु बालों के संग से खंडित दिखाई देता है, उसको हटाने से वह पूर्ववत अखंड दिखाई देता है।।४४।। वैसे ही जब अहंकार नष्ट होता है तब जीव ब्रह्म का ऐक्य अखंडित है ऐसा अनुभव आता है वह जो अधियज्ञ कहलाता है वह मैं ही हूं।।४५।। सब यज्ञ कर्म से उत्पन्न होते हैं, यह राज मैंने तुम्हें पहले से ही बताया है, हे धनुर्धर! मन में यही अभिप्राय मैंने रखा था।।४६।। यह सब जीवों के विश्राम का यह निष्काम गुप्त भंडार तुम्हें खोलकर बताया है।।४७।। हे पार्थ! प्रथम वैराग्य के ईंधन से इंद्रियों की अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये। उसमें विषय द्रव्य की आहूति देना चाहिये।।४८।। वज्रासन की भूमि शुद्ध करके इस शरीर मंडप में मूलबंध की मुद्रा की यज्ञवेदी बनाना चाहिये।।४९।। हे पार्थ! इंद्रिय निग्रह के कुंड में योगरूपी मंत्र का घोष करते हुए विपुल मात्रा में इंद्रियर द्रव्यों को अर्पित करते हैं।।५०।। मन एवं प्राण वायु के निग्रह यही यज्ञ संपत्ति के समारंभ के द्वारा ज्ञान को अज्ञानरूपी धुएं से अलिप्त करते हैं।।५१।। जब समस्त ज्ञान ज्ञेय में अर्पित होता है, तब केवल ज्ञेयस्वरूप शेष रहता है। क्योंकि सब साहित्य ज्ञान में अर्पित हो जाता है।।५२।। इसका नाम अधियज्ञ है ऐसा सर्व जाननेवाले भगवान ने कहा। अर्जुन अत्यंत बुद्धिमान होने से उसने सब जान लिया।।५३।। यह जानकर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, हे पार्थ! तुम उत्तम श्रवण करते हो। यह वाणी सुनकर अर्जुन ने स्वयं को परम धन्य समझा।।५४।। बालक की तृप्ति देखकर माता तृप्त होती है। शिष्य सिद्धि से समर्थ गुरु स्वयं कृतार्थ होते हैं।।५५।। अतः अर्जुन के पूर्व श्रीकृष्ण के शरीर पर अष्ट सात्विक भाव प्रकट हुए। न समाने वाला यह भाववेग भगवान ने रोक लिया।।५६।। पक्व फल की जैसे सुगंध होती है, या शांत एवं शीतल अमृत का तरंग होवे वैसी कोमल एवं रसपूर्ण वाणी से वे कहने लगे।।५७।। हे श्रोताओं के राजा! हे धनंजय सुनो। ऐसी माया जब जलती है तब जलाने वाला ज्ञान भी उसमें जल जाता है।।५८।।

जो पुरुष मृत्यु के समय मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करते हैं, वह साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होते है, इसमें संशय नहीं है।।५।।

अभी तुम्हें बताया था, जिसको अधियज्ञ कहते हैं, भक्त उस साधना से मृत्यु के पूर्व मुझे जानते हैं।।५९।। वे देह को मिथ्या समझते हैं, स्वयं ब्रह्मरूप होते हैं, जैसे मठाकाश आकाश से व्याप्त होकर आकाश में ही रहता है।।६०।। अनुभव के घर में निश्चय के कमरे में रहने से पर ब्रह्म के बिना मन में अन्य बाह्य स्मरण नहीं रहता।।६१।। ऐसे अंतर्बाह्य ऐक्य होने से हे धनंजय! मेरे भक्त मद्रूप होते हैं, अतः उनका पंचमहाभूतों का बना हुआ शरीर स्वाभाविक गिर जाता है।।६२।। शरीर रहते हुए वे शरीर की चिंता नहीं करते तब शरीर के पतन की उन्हें क्या चिंता रहेगी? हे पार्थ! अनुभव के पेट में ज्ञानी योगियों का जल किंचित भी हिलता नहीं। मृत्यु के समय भी ब्रह्म से एकता का अनुभव स्थिर होता है।।६३।। वह ज्ञानयोगी ऐक्य की साक्षात् मूर्ति प्रतीत होती है, वह अविनाशी हृदय में स्थिर है, समरसता के सागर में धोने से वह मलीन नहीं होता।।६४।। गहरे जल में घट डुबोने पर वह अंतर्बाह्य उदक से ओतप्रोत होता है। दुर्भाग्य से घट के टूटने पर भी जल में भंग नहीं होता।।६५।। सांप केंचुली छोड़ता है, या अत्यंत उष्णता के कारण वस्त्र का त्याग करने से हे

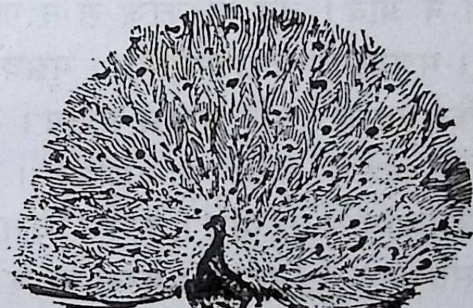

कवच छोड़त। या ऊष्मा से वस्त्र त्यागत। क्या अवयव बिगड़त। पंडुकुमर ।।६६।। वैसे बाह्याकार यदि नष्ट। मूलवस्तु व्याप्त सर्वत्र। बुद्धि स्वयं पार्थ। ब्रह्मरूप ।।६७।। अतः जिसको अर्जुन। देहांत में मेरा स्मरण। मरण उपरान्त जान। मद्रुप होत ।।६८।। वैसे भी सुनो पार्थ। जब मृत्यु आक्रमत। मन में जिसको स्मरत। पावत वही ।।६९।। क्वचित कोई भयभीत। पवनगति धावत। दो पांव से अवचित। कुए में गिरत ।।७०।। गिरने से पूर्व पार्थ। वेग न अपना संभालत। इसलिये गिरना ही पड़ता वहां उसको। वैसे मृत्यु समय जो एक। रहत जीव के सन्मुख। वही गति पावे निःशेख। टाले न टलत ।।७२।। जागत में जो विचार। मन में बसत धनुर्धर। निद्रा लागत से शीघ्र। स्वप्न में दिखत ।।७३।।

यं यं वपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।६।।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च। मय्यपर्तितमनोबुद्धिर्मामैवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

जीवित अवस्था में। जिसकी रुचि मन में। वही मरण समय में। वृद्धिगत ।।७४।। देहांतसमय जिसका स्मरण। वही गति पावे अर्जुन। इसलिये सदा रहे ध्यान। मेरा ही तुझको ।।७५।। नयन से जो देखिये। कर्ण से सुनिये। मन में ध्याइये। बोलिये वाणीसे ।।७६।। जो सबाह्य अभ्यंतर। मुझको ही जानो धनुर्धर। तब सर्वत्र सब अवसर। मैं ही स्वयं ।।७७।। ऐसी जब धारणा होवे। देहपतन से मरण न आवे। तब युद्धकाज से न पावे। भय कोई ।।७८।। तुम मन बुद्धि सहित पार्थ। मुझको ही करो समर्पित। मुझको ही पावोगे निश्चित। यह मेरी आन ।।७९।। यह कैसे साध्य। यदि मन से सराय। अभ्यास से अनुभव ग्राह्य। पंडुकुंवर ।।८०।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।। परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८।।

यही अभ्यास का योग। करोगे चित्त के संग। क्या अपंग न लंघत गिरी? ।।८१।। वैसे सदभ्यास से निरंतर। परम पुरुष को मोहर। लगाओ फिर यह शरीर। रहे या जावे ।।८२।। जो नानागति पावत। चित्त यदि आत्मा को पावत। तब कौन देह को स्मरत। जीवित या नष्ट ।।८३।। किंतु सरिता ओघ सगर्जन। सिंधुजल में मीनत पूर्ण। देखने क्या पीछे परिवर्तन। लोटत पार्थ? ।।८४।। नही वह समुद्र साक्षात। चित्त चैतन्य दशा पावत। जहां यातायात निमत। धनंजय जो ।।८५।।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमदिव्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।९।।

जिसका निराकार अस्तित्व। जन्म मरण से विमुक्तत्व। जिसका व्यापकत्व। सबको देखत ।।८६।। जो गगन से पुरातन परमाणुओं से भी सान। जिसके सानिध्य से अर्जुन। विश्व व्यापार ।।८७।। सबकी उत्पत्ति जिससे। जिस कारण विश्व स्थिति? जिसका न अनुमान किरीटि। अचिन्त्य जो ।।८८।। दीमक अग्नि को न भक्षत। तेज में तिमिर न प्रवेशत। वैसे देह अज्ञान न दिखत। चर्मचक्षु को ।।८९।। सूर्यकिरणों की

पंडुकुंवर! अवयवों में क्या बिगाड़ होता है? ॥६६॥ वैसे बाह्य आकार नष्ट होने पर भी मूलवस्तु सर्वत्र व्याप्त रहती है, हे पार्थ! बुद्धि स्वयं ब्रह्मरूप होती है ॥६७॥ अतः हे अर्जुन! मृत्यु के समय जिसको मेरा स्मरण रहता है वह मृत्यु के उपरांत मद्रूप होता है ॥६८॥ हे पार्थ! सुनो! मृत्यु का आक्रमण जिस पर होता है उस समय वह मन में जिसका स्मरण करता है वही उसको प्राप्त होता है ॥६९॥ क्वचित कोई भय से आक्रांत होकर, शीघ्रगति से दौड़ता है, तब वह अकस्मात अपने दोनों चरणों से, आधार छूटने के कारण, कुएं में गिरता है ॥७०॥ हे पार्थ! गिरने के पूर्व दौड़ने का वेग न संभालने के कारण उसको वहां गिरनाही पड़ता है ॥७१॥ वैसे मृत्यु के समय जीव के सम्मुख जो वस्तु रहती है, वही गति उसको निश्चित प्राप्त होती है, वह टालने से नहीं टलती ॥७२॥ हे धनुर्धर! इस जागृति में जो विचार मन में रहता है वह विचार निद्रा लगते ही स्वप्न में दिखाई देता है ॥७३॥

हे कुंतीपुत्र अर्जुन! मृत्यु के समय मनुष्य जिस वस्तु का स्मरण करते हुए देह का त्याग करता है, उस वस्तु के चिंतन से उसी वस्तु का स्वरूप उसे प्राप्त होता है ॥६॥ इसीलिये सर्व काल मेरा स्मरण करके युद्ध कर मन और बुद्धि मुझे समर्पित करो। इससे निःसंशय तुम मुझको पाओगे ॥७॥

जीवित अवस्था में मन में जिसकी रुचि रहती है, वही मृत्यु के समय विकसित होती है ॥७४॥ देह का अंत होने के समय जिसका स्मरण होता, हे अर्जुन! वही गति प्राप्त होती है, अतः नित्य मेरा ध्यान तुझे रहना चाहिये ॥७५॥ नेत्रों में जो दिखाई देता है, कान से जो सुना है या मन में ध्यान किया हो, या वाणी से उच्चारी हो ॥७६॥ हे धनुर्धर जो अंतर्बाह्य मुझे ही जानता है, तब सर्वत्र सब काल मैं ही हूं ॥७७॥ ऐसी जब धारणा होती है तब मत्स्वरूप होने से देह जाने पर भी तुम्हें मृत्युनहीं है। तब युद्ध करने का तुम्हें क्या भय होगा? ॥७८॥ हे पार्थ! तुम मन, बुद्धि सहित मुझे ही समर्पित करो, तुम्हें निश्चित रूप से मेरी प्राप्ति होगी यह मैं शपथ पूर्वक कहता हूं ॥७९॥ यह कैसे साध्य होगा यदि ऐसी शंका मन में है तब हे पंडुकुंवर! अभ्यास से प्रयत्नपूर्वक अनुभव प्राप्त करो ॥८०॥

अभ्यास योग की युक्ति से अन्य विषयों में न जाने वाले चित्त से अखंड ध्यान करनेवाला साधक दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है ॥८॥

यही अभ्यासयोग की उपासना यदि अंतःकरण पूर्वक करोगे तब अपंग भी पर्वत को लांघ सकेगा ॥८१॥ वैसे निरंतर उत्तम अभ्यास करते हुए परम पुरुष के सगुण स्वरूप का ध्यान करो। शरीर रहेगा या नहीं इसकी चिंता मत करो ॥८२॥ विविध प्रकार की गति प्राप्त करा देनेवाला चित्त जब आत्मा को धारण करता है तब देह है या गया इसका स्मरण कौन करेगा? ॥८३॥ नदियों में प्रवाह गर्जना करते हुए समुद्रजल में जब समर्पित होते हैं तब पीछे क्या चल रहा है, यह लौटकर नहीं देखते ॥८४॥ क्योंकि वे समुद्ररूप बनते हैं। तद्वत जब अंतःकरण चैतन्य रूप बनता है, तब हे धनंजय! आवागमन समाप्त होता है ॥८५॥

जो साधक सर्वज्ञ, पुरातन, विश्वनियामक सूक्ष्म, सब जीवों का आश्रय, अचिंत्यरूप, सूर्यसदृश तेजस्वी, अजिंत्यरूप अज्ञानांधकार से परे ऐसे परम पुरुष का ध्यान करता है ॥९॥

आकार के बिना जिसका अस्तित्व है, जन्म मृत्यु से जो मुक्त है, जिसकी व्यापकता सबको दिखनेलायक विस्तृत है ॥८६॥ जो आकाश से भी पुरातन है, परमाणु से भी जो सूक्ष्म है, हे अर्जुन! जिसके संनिधि में विश्व के सब व्यापार चलते हैं ॥८७॥ जिससे सबकी उत्पत्ति होती है, जिससे विश्व की स्थिति है, वह अचिंत्य होने से किरीटी! जिसका अनुमान नहीं किया जाता ॥८८॥ दीमक अग्नि का भक्षण नहीं करता। तेज में अंधेरा नहीं प्रविष्ट होता, वैसे चर्मनेत्र से देह का अज्ञान नहीं दिखता ॥८९॥ सूर्य किरणों को निर्मल राशी ज्ञानियों को नित्य प्रकाश देती है, वे

Funding by IKS-MoE

निर्मल रास। ज्ञानियों को दे नित्य प्रकाश। अस्तमानका न नामलेश। जिसके ठाँई।।९०।।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

उस अव्यंग ब्रह्म को। प्रयाण काल में जिसको। स्थिर चित्त से उसको। करत स्मरण।।९१।। पद्मासन रच के। उत्तराभिमुख बैठके मन से सुखानुभव करके। क्रमयोग-के।।९२।। अंतर्यामी एकाग्र मन से। स्वरूप प्राप्ति के प्रेम से। त्वरित सहजभाव से। धनुर्धर।।९३।। संपादित योग से पार्थ। मध्यमा मध्य मार्ग क्रमत अग्निस्थान से चलत। ब्रह्मरंध्र तक।।९४।। जहां प्राण चित्त की संगत। बाह्य दृष्टि से दिखत व्याप्त। जहां प्राण प्रवेशत। गगन मध्य।।९५।। मन की स्थिरता से बद्ध। भक्तिभावना से संरुद्ध। योगबल से अनुविद्ध। सज्ज होकर।।९६।। वह जहाज को सांधत। भृकुटि मध्ये करत प्रविष्ट। जैसा घंटानाद लुप्त। घंटामेंही।।९७।। या आवृत घटतल दिया। न समझे कब कैसा गया। इस विध जो धनंजया। त्यागत देह।।९८।। वह केवल परब्रह्म। उसको परम पुरुष नाम। वह मेरा निजधाम। होकर रहत।।९९।।

यद्क्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्षे।।११।।

समस्त ज्ञेय का जो अंत। ज्ञान की खान मूर्त। ज्ञानवन्त निर्णय से कहत। अक्षर जिनको।।१००।। चंडवात से न नाशत ऐसा एक गगन पार्थ। तत्सन्मुख अभ्र निश्चित। 'शेष न रहत।।१।। वैसे ज्ञानी जो जानत। वह क्षर ज्ञान नाप में प्रविष्ट। जो ज्ञान को अगम्य पार्थ। अक्षर वही।।१।। अतः वेदविद नर। कहत जिसको अक्षर। जो प्रकृति के पर। परमात्म रूप।।३।। और विषय विष लांघकर। सर्वेंद्रिय को प्रायश्चित देकर। देहतरुतल बैठकर पंडकुंवर।।४।। उन क्षम विरक्त निरन्तर बाट निहारत। निष्कामी जन का इष्ट। सर्वदा जो।।५।। जिस प्रिय के प्राप्यर्थ। ब्रह्मचर्यादि व्रत पार्थ। कठोर इंद्रियदमन सार्थ आचरत।।६।। ऐसा जो पद। दुर्लभ एवं अगाध। जिसके तीर पर वेद। परास्त खड़े।।७।। जो इस विध लय पावत। वे पुरुष पद प्राप्त करत। कहूँ वही स्थिति पार्थ। एक बार पुनः।।८।। वहाँ कहत अर्जुन। स्वामी यही मेरा मन। आप तो कृपानिधान। बोलिये 'शीघ्र।।९।। किन्तु कहिये अति सुगम। तब कहत श्रीगुरु धाम। कहेंगे वैसे ही तुझको हम। संक्षेप में।।११०।। मन का बाह्य भ्रमण। छोड़कर सहज भाव अर्जुन। करो उसको निमग्न। हृदय दह में।।११।।

सर्वद्वाराणि सयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याध्यायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारिणाम्।।१२।।

तब ही यह घटत। जब संयम से अखंडित। सर्वद्वार किवाड़ होत। बंद

Funding by IKS-MoE

कभी अज्ञानग्रस्त नहीं होते ।। ९० ।।

भक्तियुक्त अंतःकरण का साधक मृत्यु के समय एकाग्र चित्त से, योगबल से, दोनों भ्रूमध्य में प्राण स्थिर करके ब्रह्मचिंतन करता है, वह दिव्य परमपुरुष को प्राप्त होता है ।। १० ।।

जो योगी प्रयाणकाल के समय निर्दोष ब्रह्म को जानकर स्थिर चित्त से स्मरण करता है ।। ९१ ।। निष्काम कर्म योग से हुए शुद्ध चित्त से आत्मसुख में तल्लीन होकर, उत्तर दिशा में मुख करके पद्मासन लगाकर, बैठता है ।। ९२ ।। अंतर्यामी मन एकाग्र करके, स्वरूप प्राप्ति के लिये प्रेमपूर्ण भावनासे, हे धनुर्धर! सहज भाव से शीघ्र आत्मभाव प्राप्त करने की इच्छा से! हे पार्थ! प्राप्त किये हुये योग मार्ग से, बीचवाले सुषुम्ना के मार्ग से, अग्नि स्थान से ब्रह्मरंध्रक चलता है (भगवति कुंडलिनी सुषुम्ना के मार्ग से नाभिस्थान से ब्रह्मरंध्र तक जाना प्रारंभ करती है) ।। ९४ ।। जब प्राणवायु महदाकाश में प्रवेश करता है तब प्राणवायु एवं चित्त की संगति में सर्वत्र व्याप्त है ऐसा बाह्यदृष्टि से दिखाई देता है ।। ९५ ।। मन की स्थिरता में जो बद्ध है, भक्ति युक्त अंतःकरण से परिपूर्ण योगबल से लय होने के लिये सिद्ध होता है ।। ९६ ।। चेतन एवं जड़ पदार्थ का लय करता है, भ्रुकुटि में प्रवेश करता है, जैसा घंटा का नाद घंटा में ही विलीन होता है ।। ९७ ।। हे धनंजय! घट के नीचे रखा दीपक कब बुझ गया समझ में नहीं आता इस प्रकार से जो देह का त्याग करते हैं ।। ९८ ।। वह केवल परब्रह्म समझना! उसको परमपुरुष ऐसा नाम है, वह मेरा निजधाम बनकर रहता है ।। ९९ ।।

वेदवेत्ता ज्ञानी जिस अक्षर ब्रह्म का निरूपण करते हैं, विरक्त यति जिसमें प्रवेश करने की इच्छा करते हैं, जिसके लिए साधक नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह ब्रह्म क्या है बताता हूं ।। ११ ।।

समस्त ज्ञेय का जो अंत है, ज्ञान की मूर्त खान है, ज्ञानी लोग जिसे अक्षर ब्रह्म कहते हैं ।। १०० ।। वह प्रचंड तूफान में वायु से नष्ट नहीं होता, हे पार्थ! ऐसा केवल आकाश ही है, उसके सामने मेघ शेष नहीं रहते ।। १ ।। वैसे ज्ञानी जो जानते हैं, जिसका नाप केवल ज्ञान से ही होता है, हे पार्थ! वह ज्ञान को ही अगम्य है, ऐसा अक्षर ब्रह्म है ।। २ ।। अतः वेदों को जाननेवाले पुरुष जिसको अक्षर कहते हैं, जो प्रकृति के परे है, वही परमात्म रूप है ।। ३ ।। विषयों का विष पार करके, सब इंद्रियों को प्रायश्चित देकर, हे पंडुकुंवर। जो शरीर रूपी वृक्ष की छाया में बैठा है ।। ४ ।। इस प्रकार से वह विरक्त पुरुष जिस अक्षर ब्रह्म की नित्य राह देखते हैं, निष्काम पुरुष उसकी नित्य अपेक्षा करते हैं ।। ५ ।। जिसकी जिज्ञासा से हे पार्थ! ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं कठोर इंद्रिय निग्रह करते हैं ।। ६ ।। ऐसा जो पद है, जो दुर्लभ एवं अगाध है, उसके ज्ञानरूपी किनारे पर वेद परास्त होकर खड़े हैं ।। ७ ।। जिनका इस प्रकार से लय होता है, हे पार्थ! उनको अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह स्थिति क्या है, एक बार पुनः बताता हूं ।। ८ ।। तब अर्जुन ने कहा, हे स्वामी! मेरे मन में यही इच्छा थी, आप कृपानिधान हो, शीघ्र कहिये ।। ९ ।। किंतु सुलभ वाणी से कहिये, तब जगत्‌गुरु भगवान श्रीकृष्ण ने कहा हम तुम्हें वैसे ही संक्षेप में कहेंगे ।। १० ।। हे अर्जुन! मन बाहर भटकता है उसको लौटाकर, सहज भाव छोड़कर हृदयरूपी दह में मन को निमग्न करो ।। ११ ।।

सब इंद्रियरूपी द्वार बंद करके मन को हृदय में स्थिर करके अपना प्राणवायु मस्तक में मुर्धिन आकाश में योगधारणा में स्थित है ।। १२ ।।

इंद्रियों के सब द्वार निग्रह से जब बंद किये जाते हैं

Funding by IKS-MoE

पार्थ।।१२।। जब सहज मन अस्थिर। हृदय संपुट में होत स्थिर। जैसा करचरण खंडित नर। गृह न छोड़त।।१३।। ऐसे स्थिर चित्त करिये। प्राणायाम से ॐकार ध्याइये। अनु वृति से प्राण लाइये। ब्रह्मरंधपर्यंत।।१४।। आकाश में मिले न मिले ऐसे। वहां रखिये धारणा बल से। जब तक मात्रालय अपने से। मिले अर्ध मात्रा में।।१५।। तब तक वहाँ समीर। निरालंब में कीजे स्थिर। पश्चात ऐक्यभाव में ॐकार। बिंब में विलसत।।१६।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरनमामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

बंद जब ॐकार स्मरण। तब ही होवे प्राणहरण। प्रणवान्तमें शेष अर्जुन। पूर्ण धन जो।।१७।। अतः प्राणवैकनाम। यह एकाक्षर ब्रह्म। जो मेरे स्वरूप परम। स्मरण से रत।।१८।। इस विध जो त्यजत देह को। वह निश्चय ही पावे मुझको। पाकर उपरान्त जिसको। न और प्राप्य।।१९।। यदि अर्जुन कदाचित। मन में संशय क्वचित। कैसे मरण समय होत निश्चित। मत्स्मरण?।।१२०।। जीवित का सुख लुप्त। इंद्रियों को महासंकट। मृत्युचिन्ह दिखत स्पष्ट। पंडुकुंवर।।२१।। ऐसे में बैठे उठके कौन?। कौन करेगा इंद्रिय निरोधन?। वहां करे किसका अंतःकरण। प्रणवस्मरण?।।२२।। तब ऐसे संशय को अर्जुन। मन में न देना किंचित स्थान। नित्य सेवी जो, अन्त में मैं जानं। सेवक उसका।।२३।।

अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

विषय को तिलांजिल देकर। इंद्रियों को निगड़ बांधकर। जो मुझे हृदय में रखकर। सुख भोगत।।२४।। उसे अनुभव समाधान नहीं क्षुधा तृषा का स्मरण।। वहां चतुरादि दीन। की क्या बात।।२५।। ऐसा निरंतर ऐक्य प्राप्त। अंतःकरण से मुझसे लिपटत। मद्रूप होकर रहत। उपासक जो।।२६।। प्राप्त देहावसान वे करत मेरा स्मरण। यदि तब भी न पाउं मैं अर्जुन। तब उपास्ति किसलिये।।२७।। रंक एक संकटग्रस्त। व्याकुल दीन पुकारत। दुख निवारणार्थ पार्थ। मुझे जाना ही पड़त।।२८।। भक्त यदि मैं उपेक्षत। क्यों कोई मेरी भक्ति करत। इसलिये यह संशय अनुचित। कदापि न कार्य।।२९।। जब-जब वे करत स्मरण। मैं निश्चित पाउं उनको अर्जुन। उनका भक्तिभार संहन। न होवे मुझको।।१३०।। उनका मैं ऋणी कहत स्वयं शार्ङ्गपाणी। परिचर्या करके देहावसानी। ऋणभार उतरत।।३१।। वायु देहवैकल्यको। न छुए इस सुकुमार को। अतः पिंजरे में रखत उसको। आत्मबोध के।।३२।। ऊपर मत्स्मरण की सुखकर। सौम्य शीतल छाया कर। जिनकी बुद्धि नित्य स्थिर। स्वरूप में मीनत।।३३।। अतः अंतकाल के कष्ट। कभी न सहे मेरा भक्त। मैं मेरे पास उसको पार्थ। सुख से लावत।।३४।। बाह्य देह की खोली छोड़कर। मिथ्या अहंभाव की धूली झाड़कर। भगवत्प्राप्ती की वासना

तब हे पार्थ! यह योगधारणा संभव होती है।।१२।। तब स्वाभाविक रीति से अस्थिर मन हृदय में स्थिर होता है, जैसा हाथ एवं पैर जिसके खंडित हैं ऐसा पुरुष घर नहीं छोड़ सकता।।१३।। ऐसा स्थिर चित्त करके प्राणायाम द्वारा ऊँकार का ध्यान करना चाहिये, अनंतर उस प्राणवायु को मुर्धिआकाश में ब्रह्मरंध्रपर्यंत ले आईये।।१४।। मुर्धिआकाश में धारणा के बल से इस प्रकार से रखना चाहिये जैसे आकाश में मिलता हो, न हो, जब तक ऊँकार की तीन मात्राएं अर्धमात्रा में मिल न जायें।।१५।। तब तक वहां प्राणवायु स्थिर करना चाहिये उसके पश्चात ऊँकार बिंब में लीन होता है।।१६।।

ऊँ इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए, मेरा स्मरण रखकर जो देह का त्याग करते हैं उन्हें परमगति प्राप्त होती है।।१३।।

जब ऊँकार का स्मरण बंद होता है तब प्राणत्याग होता है, हे अर्जुन! प्रणव के अंत में पूर्णधन ब्रह्मशेष है।।१७।। अतः प्रणव यह एकाक्षर, ब्रह्म का नाम है, प्रणव मेरा श्रेष्ठ प्रतीक है, उसके स्मरण एवं ध्यान में जो लीन होता है।।१८।। इस प्रकार से जो देह का त्याग करते हैं, वह निश्चित रूप से मुझे प्राप्त होते हैं, इसकी प्राप्ति होने पर प्राप्त करने लायक अन्य कुछ शेष नहीं रहता।।१९।। हे अर्जुन! तेरे मन में कदाचित ऐसा संशय आया हो, कि मृत्यु के समय मेरा स्मरण कैसे निश्चत होगा?।।२०।। जीवन का सुख जब समाप्त हो जाता है, तब इंद्रियों की कार्य करने की क्षमता नष्ट होने पर, हे पंडुकुंवर! मृत्यु चिन्ह स्पष्ट दिखने लगते हैं।।२१।। तब उठकर कौन बैठ सकता है, कौन इंद्रिय निग्रह कर सकता है, अंतःकरण में प्रणव का ध्यान भी कैसे किया जा सकता है।।२२।। हे अर्जुन! तब ऐसे संशय को मन में किंचित स्थान नहीं देना, जो मेरी नित्य सेवा करता है, उसके अंतकाल के समय मैं उसका सेवक बनता हूं।।२३।।

हे अर्जुन! मेरे बिना अन्य विषयों में जिसका चित्त। जाता नहीं, अत्यंत आदर से जो निरंतर दीर्घकाल तक मेरा स्मरण करता है उस समाहित चित्त योगी को मैं सुखपूर्वक मिलता हूं।।१४।। मुझे प्राप्त होकर सर्वोत्तम मुक्तिपद प्राप्त योगी पुनः दुःख का स्थान एवं अनित्य जन्म को प्राप्त नहीं होते।।१५।।

जो भक्त विषयों को तिलांजलि देकर, इंद्रियों में बेड़ियां डालकर, निरंतर हृदय में धारण करते हुये आत्मसुख का उपभोग करते हैं।।२४।। उन्हें अनुभव में समाधान होता है, भूख, प्यास का स्मरण नहीं होता, वहां नेत्रों के दीनता की क्या बात है?।।२५।। ऐसा निरंतर उन्हें ऐक्य प्राप्त है, अंतःकरण से मुझसे मिले हुए हैं, मद्रूप होकर जो उपासक रहते हैं।।२६।। उनका मृत्यु का समय आते ही वे मेरा स्मरण करेंगे, हे अर्जुन! उसके उपरांत मैं उन्हें न प्राप्त होऊं, तब उपासना का क्या उपयोग है?।।२७।। संकटग्रस्त कोई दरिद्रि व्याकुल होकर दीनता से जब पुकारता है, तब हे पार्थ! उसका दुःख निवारंण करने के लिए मुझे जाना पड़ता है।।२८।। यदि मैं भक्त की उपेक्षा करूंगा, तब कौन मेरी भक्ति करेगा? अतः यह संशय अनुचित है, कदापि ऐसी शंका नहीं रखना।।२९।। जब वे स्मरण करेंगे तब हे अर्जुन! मैं उन्हें निश्चित प्राप्त होऊंगा ऐसा भक्ति का बोझ मुझसे सहा नहीं जाता।।३०।। उनका मैं ऋणी होता हूं। ऐसा स्वयं श्री शारङ्गपाणी कहते हैं, उनके देहावसान के समय उनकी सेवा करके ऋण का भार मैं उतारता हूं।।३१।। मृत्यु के समय देहकष्ट का वायु सुकुमार भक्त से सहा नहीं जायेगा इसलिए उसे आत्मज्ञान के पिंजड़े में मैं रखता हूं।।३२।। ऊपर मेरे स्मरण की सौम्य, शीतल, सुखकर छाया करके, जिनकी बुद्धि नित्य स्थिर है ऐसे भक्त को अपने स्वरूप में मिलाता हूं।।३३।। अतः मृत्यु के समय होनेवाले कष्ट मेरे भक्त को कभी सहने नहीं पड़ते, मेरे पास उन्हें मैं सुखपूर्वक ले आता हूं।।३४।। बाह्य देह की गिलाफ निकालकर, मिथ्या अहंकार रूपी धूल को झाड़कर, भगवद् प्राप्ति की इच्छा सहित उन्हें मुझमें मिलाता

Funding by IKS-MoE

लेकर। मिलावत मुझमें।।३५।। भक्त को भी देह के प्रति न ऐक्यभाव न प्रीति। अतः त्याग में किरीटि। वियोग न भासत।।३६।। देहान्त समय मैं आऊं। जो निज सन्निध उनको ले आऊं। मन में न उनके यह भावू। जो पहले ही मद्रूप।।३७।। शरीर सलिल में रहत। किंतु एक प्रतिबिंबत जैसी चंद्रिका छाई दिखत। किंतु वसत चंद्र में।।३८।। ऐसे जो योगयुक्त। उनको सुलभ मैं संततः। अतः देहान्त में निश्चित। मैं ही होत।।३९।। तब जो क्लेशतरू की बाडी। तापत्रय की सिगड़ी। मृत्युकाक को कुरोंडी। दी जात।।१४०।। जो दैन्य प्रसवत। महाभय वर्धवत। पूर्ण दुःख का समस्त। मुद्दल जो।।४१।। जो दुर्भति का मूल। जो कुकर्म का फल। व्यामोह का केवल। स्वरूप पार्थ।।४२।। जो संसार का स्थान। अहंकार का उद्यान। सब रोगों की थाल अर्जुन। परोसी हुई।।४३।। जो काल का उच्छिष्ट। आशा की अंगलट। जन्म-मरण को सींचत। स्वभावतः।।४४।। जो भ्रांति का भरण। कुकल्पना का कारण। किंबहुना समूह पूर्ण। वृश्चिकों का।।४५।। जो व्याघ्र का क्षेत्र। वारांगना का मित्र। जो विषय विज्ञान यंत्र। सुपूजित।।४६।। जो डाकिन का दयाभास। विषय भोजन का ग्रास। या विश्वस्त सहवास। सभ्य चोर का।।४७।। कोढ़ी का आलिंगन। कालसर्प का कोमलपन। सहज मधुर गायन। पारधिका।।४८।। जो वैरियों का सत्कार। दुर्जनों का आदर। जानिये जो सागर। अनर्थों का।।४९।। जो स्वप्न का स्वप्न। मृगजल से सिंचित बन। जो धूम्ररजों का गगन। पंडुकुंवर।।१५०।। ऐसा यह शरीर। नं कभी पावत ये नर। जो मद्रूप साचार। होकर रहत।।५१।।

आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

वैसे ब्रह्मादिक को बहुत। पुनरावृत्ति के भंवर न टलत। किंतु जैसे मृत का न दुखत। पेट कभी।।५२।। या जागृत अवस्था में। न डूबत स्वप्न के महापूर में। मुझमें जो लीन वह संसार में-। न लिंपत कदा।।५३।। वैसे चौदह भुवन का शिखर। सप्त चिरंजीवों में धुरंधर। त्रैलोक्याचल का शिर। ब्रह्मभुवन।।५४।। जिसमें एक प्रहर दिन पर्यंत। अमरेंद्र की न आयु पार्थ। एक दिन में नाश पावत। चौदह जन।।५५।।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यदर्यब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

जब युग चौकड़ी सहस्त्र जाये। तब ब्रह्मा का दिन होवे। अहो रात्रि एक आये। युगसहस्त्रों की।।५६।। ऐसे दिवस रात्रि जहां भाग्यवंत न मरत वहां। देखत स्वर्गीय महा चिरंजीव वे।। और सुरगुणों की नवलाई। विशेष बोलिजे काई। जहां देवेंद्र ने दुर्दशा पाई। जो दिन में चौदह।।५८।। किंतु ब्रह्मा के आठों प्रहर। स्वचक्षु से जो देखे नर। उनको कहत धनुर्धर। अहो रात्र विद।।५९।।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्महरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।१८।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

Funding by IKS-MoE

हू।।३५।। भक्त को भी अपने देह का प्रेम नहीं होता, न उसके साथ एकता रहती, न उसमें प्रीति रहती है, अतः हे किरीटी देहत्याग के समय उनको देह का वियोग प्रतीत नहीं होता।।३६।। देह का अंत होने के समय मैं पहुंच जाऊं, उनको अपने पास ले आवूं, ऐसा भाव उनके मन में नहीं होता, पहले ही वे मद्रूप होते हैं।।३७।। एक प्रतिबिंब के समान मेरा भक्त शरीररूपी जल में रहता है, जैसे चांदनी विश्व में छायी दिखाई देती है, किंतु वह स्वयं चंद्रमें ही रहती है।।३८।।

ऐसे जो योगयुक्त योगी हैं, उन्हें मैं नित्य सुलभता से प्राप्त होता हूं। अतः मृत्यु के बाद निश्चित रूप से वे मद्रूप होते हैं।।३९।। यह शरीर क्लेशरूपी वृक्ष की बाड़ी है, तीनों कष्टों की सिगड़ी है, मृत्युरूपी कौए का यह काकबली है।।४०।। जिससे दैन्य उत्पन्न होता है, महाभय बढ़ता है, संपूर्ण दुःखों का वह मूलधन है।।४१।। जो दुर्बुद्धि का मूल है, जो कुकर्म का फल है, हे पार्थ! जो भ्रम का केवल स्वरूपही है।।४२।। जो संसार का स्थान है, अहंकार का उद्यान है, हे अर्जुन! सब रोगों की परोसी हुई थाली है।।४३।। जो काल का उच्छिष्ट है, आशा का आश्रयस्थान है वह जन्म-मृत्यु को स्वाभाविक सींचते रहते हैं।।४४।। जो भ्रम को बढ़ावा देनेवाला है, बुरी कल्पनाओं का मूल कारण है, किंबहुना बिच्छुओं का पूर्ण समूहै, ऐसा समझना।।४५।। जो बाघ का क्षेत्र है, वेश्याओं का मित्र एवं विषयरूपी विज्ञान का सुपूजित यंत्र है।।४६।। वह डाकिनी का दिखाऊ दया का आभास है, विषयरूपी भोजन का ग्रास है, सभ्य दिखनेवाले चोर का विश्वास दिलाया हुआ सहवास है।।४७।।

कोढ़ी का आलिंगन है, कालसर्प की मृदुता है, शिकारियों का शिकार फांसने के लिये किया हुआ मधुर गायन है।।४८।। शत्रुओं के द्वारा किया जानेवाला वह सत्कार है, दुर्जनों के द्वारा दिखाया हुआ नकली आदर है, वह अनर्थों का सागर है ऐसा ध्यान में रखना।।४९।। हे पंडुकुंवर! स्वप्न में भी दिखाई देनेवाला वह स्वप्न है, मृगमरीचिका द्वारा सिंचित अरण्य है, वह धुएं का आकाश है।।५०।। ऐसा यह शरीर मेरे भक्तों को जो मद्रूप होकर रहते हैं, उन्हें प्राप्त नहीं होता।।५१।।

हे अर्जुन! ब्रह्मलोक पर्यंत जितने लोक हैं, वह सब पुनर्जन्म को प्राप्त होनेवाले हैं, किंतु हे कुंतीपुत्र! मुझे प्राप्त होने के उपरांत पुनः जन्म प्राप्त नहीं होता।।१६।।

ब्रह्मा आदि को भी पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु के भंवरे टालते नहीं बनते, जैसे मृत व्यक्ति को उदर व्यथा नहीं होती,।।५२।। या जागृत अवस्था में प्राणिस्वप्न के महापूर में नहीं डूबता। मुझमें जो तल्लीन होते हैं वे संसार में लिप्त नहीं होते।।५३।। हे धुरंधर! जो चौदह भुवनों का शिखर है, चिरंतन वस्तुओं में श्रेष्ठ है, तीन लोकरूपी अचल पर्वत का मस्तक सदृश यह ब्रह्मभुवन है।।५४।। जिसमें एक दिन में चार प्रहरों में से एक प्रहर भी अमृत पीनेवाले इंद्र का आयुष्य नहीं होता, सत्यलोक में एक दिन में चौदह इंद्रों का नाश होता है।।५५।।

चारों युग एक हजार बार जाने तक ब्रह्मा का एक दिन होता है, चार युग एक हजार बार जाने तक के काल की समाप्ति में ब्रह्मा की एक रात होती है, ऐसा जाननेवाले सत्य में दिन एवं रात जानते हैं सूर्यचंद्र की गति से मृत्युलोक में दिन एवं रात जाननेवाले को अहोरात्रविध कहते है।।१७।।

जब कृत, त्रेता, द्वापर एवंकली हजार बार आते जाते हैं तब ब्रह्मा का एक पूरा दिन होता है, तद्वत चार युगों की हजार संख्या होने पर सत्य लोक में रात होती है।।५६।। ऐसे यहां दिन एवं रात हैं इतने काल में जिनका आयुष्य समाप्त नहीं होता, वे स्वर्गवासी मार्कंडेय, व्यास आदि चिरंजीव देख सकते हैं।।५७।। इस दीर्घ आयु के विषय में देवताओं का विशेष आश्चर्य क्या बताएं? देवराज इंद्र की दुर्दशा ऐसी है वह दिन में चौदह होते हैं।।५८।। ब्रह्मा के आठों प्रहर अपने नेत्रों से देखनेवाले जो नर होते हैं, हे धनुर्धर! उन्हें अहोरात्र विद कहते हैं।।५९।।

ब्रह्मदेव की जागृत अवस्था जिनमें प्रारंभ होते ही उसके सुषुप्तिरूप अवस्था से महाभूत, शरीर, पंचविषय उत्पन्न होते हैं, एवं सुषुप्तिरूप रात प्रारंभ होते ही अव्यक्त अवस्था में वह लीन होते हैं।।१८।। हे अर्जुन! ब्रह्मा की रात होते ही भूप समुदाय पुनः-पुनः उत्पन्न होकर कर्मपराधीनता से लय होता है, दिन आते ही पुनः उत्पत्ति होती है।।१९।।

Funding by IKS-MoE

ब्रह्मभुवन का दिन उदित। तब अव्यक्त का प्रकटत। व्यक्त विश्व न कर सकत। गणना उसकी।।१६०।। आगे चौप्रहर दिन बीतत। यह आकार समुद्र सूखत। जब दिन प्रकटत होत सृष्टिविस्तार पुनः ।।६१।। शारदीय प्रारंभ में। अभ्र विरत आकाश में। ग्रीष्म ऋतु के अंत में। उपजत पुनः ।।६२।। वैसे ब्रह्मदिन के आदि। यह भूतसृष्टि की मांदी (समुदाय)। विद्यमान सहस्त्रावधि। युगान्त तक।।६३।। पश्चात रात्रि के समय। विश्व अव्यक्त में पावत लय। युगसहस्त्रान्त में उदय। पावत पुनः ।।६४।। यह कथन की उपपत्ति। जो जग का प्रलय एवं संभूति। ब्रह्मभुवन के अहोरात्रि। मध्ये घटत।।६५।। कैसा श्रेष्ठत्व धनुर्धर। कैसा सृष्टिबीज का भंडार। पुनरावृत्तिका नाप साकार। पूर्ण भरत।।६६।। वैसे त्रैलोक्य यह साकार। उस ग्राम का विस्तार। दिनों दय में एकसर। रचत जात।।६७।। पश्चात रात्रि के समय। सहज अव्यक्त में पावत लय। पंचभूतादिको प्राप्त साम्य। ब्रह्माज्ञा से।।६८।। वृक्ष बीज में समावेश। या अभ्र का आकाश में प्रवेश। वैसे अनेकत्व का जहां वास। वहीं साम्य।

परस्तस्मास्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

वहां न समविषम कोई। इसलिये भूत यह नाम नाही। जैसे दूध जब होत दही। नामरूप नष्ट।।१७०।। वैसे आकार लोप के साथ। जग का जगत्व भ्रंशत। किंतु मूल वस्तु पार्थ। अविकारी।।७१।। तब ही उसको संज्ञा अव्यक्त। साकार जहां वह व्यक्त। एक से एक सूचित। अन्यथा दोनो नाहीं।।७२।। जैसे रूप तप्त। पावत धनत्व। जब धनाकार नष्ट। होत अलंकार।।७३।। दोनों अवस्था को यथार्थ। एक सुवर्ण साक्षीभूत। वैसे व्यक्ताव्यक्त विचार पार्थ वस्तुमात्र से (ब्रह्मसे)।।७४।। वह व्यक्त न अव्यक्त। नित्य न नाशवंत। ये दोनों भावातीत। अनादि सिद्ध।।७५।। जो विश्व होकर रहत। किन्तु विश्वलय में न नाशत। अक्षर मिटाने से न मिटत। अर्थ जैसा।।७६।। उदक में तरंग होत जात परंतु उदक अखंड पार्थ। वैसे भूताभावी न नाशत। अविनाशी जो।।७७।। पिघलाने से अलंकार। कनक न पिघलत साचार। वैसे मरणशील जीवाकार। किंतु अमर जो।।७८।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्तन्ते सद्धाम परमं मम।।२१।।
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

कौतुक से कहने से अव्यक्त। स्तुति न होत जिसकी पार्थ। वह मन बुद्धि को अचिंत्य। इसलिये।।७९।। और आकार लेकर पार्थ। निराकारत्व जिसका न भंगत। आकार नाश से न नाशत। इसलिये।।८०।। अतः अक्षर जो होत। जो कहते ही बोध प्राप्त। और विस्तार न कोई पार्थ। परमगति वही।।८१।। किंतु इस देहपुर में पूर्ण। वसत निद्रित सा अर्जुन। व्यापार करत न करवत जान। इसलिये।।८२।। वैसे जो शरीरचेष्टा। एकही न रुकत सुभटा। दशेंद्रिय की क्रिया सर्वथा। होत

ब्रह्मभुवन का दिन निकलते ही अव्यक्त विश्व प्रकट होता है, विश्व उसकी गणना नहीं कर सकते ।।६०।। जब दिन के चारों प्रहर समाप्त होते ही विश्व के आकार का सागर सूखता है, जब दिन निकलता है तब पुनः सृष्टि का विस्तार होता है ।।६१।। शरद् ऋतु के आरंभ में बादल आकाश में विलीन होते हैं, ग्रीष्म ऋतु के अंत में पुनः उत्पन्न होते हैं ।।६२।। जैसे ब्रह्मा के दिन के प्रारंभ में भूतसृष्टि का समुदाय सहस्त्रावधि मात्रा में युग के अंत तक विद्यमान रहता है ।।६३।। पश्चात रात्रि के समय विश्व का अव्यक्त में लय होता है, सहस्त्रयुग के अंत में पुनः उत्पन्न होता है ।।६४।। इस कथन की उत्पत्ति, जो विश्व का प्रलय एवं निर्मिति ब्रह्मा के दिन एवं रात में घटना एवं बढ़ना है ।।६५।। हे धनुर्धर! यह कैसी महत्ता है, कैसा सृष्टि के बीज का भंडार है, पुनः आवृत्ति का नाप अनंत भूतों की निर्मिति करके साकार रूप में पूर्ण भरता है ।।६६।। वैसे तीनों लोक साकार हैं, ब्रह्मा के दिन में उनकी निर्मिति होती है ।।६७।। सत्यलोक में ब्रह्मा की रात्री में उनका अव्यक्त में स्वाभाविक लय होता है, पंचमहाभूतों को भी ब्रह्मा की आज्ञा से साम्यावस्था प्राप्त होती है ।।६८।। वृक्ष का बीज में समावेश होता है, आकाश में मेघों का प्रवेश होता है, वैसे अनेकत्व जिस एक में समाधिष्ट होता है उसको साम्य कहते हैं ।।६९।।

जो स्थूल, सूक्ष्म कारणों से परे है, जिसको अव्यक्त कहते हैं, हिरण्यगर्भ से भी जो अव्यक्त है, इंद्रिय, मन, बुद्धि का जो विषय नहीं है, जो सर्वकाल में अस्तित्वस्वरूप है, सब भूतों का लय होने पर भी जिसका क्षय नहीं होता ।।२०।।

वहां कोई सम-विषम नहीं है, अतः भूत यह नाम भी नहीं है, जैसे दूध जमकर दही बनते ही दूध का नाम एवं रूप समाप्त होता है ।।७०।। वैसे आकार के नाश के साथ विश्व का विश्वत्व नष्ट होता है, किंतु हे पार्थ! मूल वस्तु कूटस्थ होने से उसमें कोई विकार नहीं होते, वही परब्रह्म स्वरूप है ।।७१।। तब उसको अव्यक्त ऐसा नाम है, साकार व्यक्त याने प्रकट होता है, एक से एक सूचित किया जाता है किंतु परब्रह्म स्वरूप में व्यक्त-अव्यक्त, साकार निराकार भेद नहीं है ।।७२।। जैसे सुवर्ण अलंकार रूप में बनाते समय सुवर्ण का धनाकार पहले नष्ट होता है। और पुनः अलंकार रूप से धनाकार उत्पन्न होता है ।।७३।। दोनों अवस्थाओं में सुवर्ण साक्षीभूत होता है, वैसा व्यक्त एवं अव्यक्त भेद एक ही ब्रह्म में साक्षीरूप होता है ।।७४।। वह तो व्यक्त नहीं है, ना अव्यक्त है, वह नाशवंत नहीं, नित्य है, इन दोनों भावों के अतीत वह अनादि सिद्ध है ।।७५।। विश्व बनकर जो रहता है, किंतु विश्व के नाश के साथ उसका नाश नहीं होता, अक्षरों को मिटाने से उसका अर्थ जैसे नहीं मिटता वैसे प्रलय में परब्रह्म परमात्मा का नाश नहीं होता ।।७६।। उदक में तरंग उत्पन्न होते हैं एवं पुनः नष्ट होते हैं, परंतु हे पार्थ! जल अखंड रहता है, वैसे जो अविनाशी है उसका भूतमात्र के नाश में नाश नहीं होता ।।७७।। अलंकार पिघलाने से सुवर्ण नहीं पिघलता, जीवसृष्टि मरणशील होते हुए भी परब्रह्म परमात्मा अमर है ।।७८।।

जिसको अव्यक्त एवं अक्षर कहा है, उसको श्रुति-स्मृति परमगति कहते हैं। जहां प्राप्त होकर मनुष्य पुनः संसार में लौटकर नहीं आता। वही मेरा परमस्वरूप है, ऐसा भगवान कहते हैं ।।२१।। हे अर्जुन! जो परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त किया जाता है, उसमें सब प्राणिमात्र निवास करते हैं, उससे सब विश्व व्याप्त है ।।२२।।

हे पार्थ! मनबुद्धि को विषय नहीं होता इसलिये जिसको अव्यक्त कहते हैं, वह उसकी स्तुति नहीं है ।।७९।। हे पार्थ! साकार होने पर भी जिसका निराकार स्वरूप भग्न नहीं होता साकार नष्ट होने पर उसकी नित्यता नष्ट नहीं होती ।।८०।। अतः उसको अक्षर कहा जाता है, कहते ही उसके नित्यता का ज्ञान होता है, अन्य किसी पदार्थ का विस्तार नहीं होता, उसको ही परमगति नाम है ।।८१।। हे अर्जुन! इस देहनगर में अक्षर ब्रह्म का निवास है, जैसे वह यहां निद्रित अवस्था में है, वह स्वयं कुछ करता नहीं, देह से कुछ कराता नहीं ।।८२।। शरीर की सब क्रियाएं हे सुभट! रुकती नहीं, दश इंद्रियों की सब क्रियाएं होती

जात।।८३।। खोल के विषय बाजार। मन चौहद्देपर शुरू व्यापार। सुख-दुःख राजहिस्सा सुवीर। अंतःकरण में प्राप्त राजा सोवत सुख से। देश व्यापार न रुकत जैसे। प्रजा स्वहित इच्छा से। करत कार्य।।८५।। वैसे बुद्धि का जानना मन का लेना-देना। इंद्रियों का बरतना। स्फुरण वायु का।।८६।। यह देहक्रिया पूर्ण। न करावे किंतु होत संपूर्ण। जैसा न चलावे रवि अर्जुन। किंतु लोकत्रय चलत।।८७।। उसके समान पार्थ। इस शरीर में वह निद्रित। इसलिये जानो कहत। पुरुष इसको।।८८।। और मायारूप पतिव्रता के। एक पत्नी व्रत से रहके। इस कारण भी प्राप्त जाके।। पुरुष नाम।।८९।। किंतु वेदों का व्यापकपन। न देखे जिसका आंगन। यह गगन भी अर्जुन। समाहित जिसमें।।१९०।। जान के यह योगीश्वर। कहत जिसको परात्पर। जो अनन्यगति का घर। खोजत आवे।।९१।। जो तन वाचा चित्त से। सुनत न अन्य बात कर्ण से। उसको निष्ठाफलद जैसे। सुक्षेत्र जो।।९२।। यह त्रैलोक्य ही पुरुषोत्तम। ऐसा साच जिसका मनोधर्म। वह उन आस्तिकों का आश्रम। पंडुकुंवर।।९३।। जो निगर्वी का गौरव। निर्गुण का ज्ञा र पांडव। जो सुख का राजवैभव। निस्पृहका।।९४।। जो संतुष्ट जन का भोजन। अनाथों का आधार स्थान। ऋजु मोक्ष का ग्राम अर्जुन। भक्तों के लिये।।९५।। यह कितना कहूं एकेक। वर्णन करू विशेख। पहुंचकर जहां होत निःशेख। स्थान स्वयम।।९६।। शीत लहर से उष्णोदक। शीत होत अशेख। अथवा तम ही सूर्य सन्मुख। प्रकाश होत।।९७।। वैसे संसार जिसके गांव। जब पहुंचते हे पांडव। होकर रहत स्वयं। मोक्षरूप।।९८।। जैसे अग्नि में प्रज्ञिप्त। ईंधन अग्निरूप होत। न पश्चात शेष रहत। काष्टत्व उसका।।९९।। वैसे ही शर्करा का पुनः। इक्षु दंड करना अर्जुन। कितना भी हो बुद्धि संपन्न। अशक्य सर्वथा।।२००।। लोह का कनक होत। पारस में यह सामर्थ्य। कौन दूजा उसको देत। लोहत्व पुनः?।।१।। अथवा जैसे पक्व घृत। दुग्ध न होत निश्चित। वैसे पाकर जिसको पार्थ। पुनरावृत्ति नाही।।२।। वह मेरा परम। साचोकार निजधाम। यह अंतस्थ तुझको मर्म कहूं स्पष्ट।।३।।

यत्रकाले त्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

जैसे देहावसान उपरान्त। योगी निजस्वरूप को पावत। मर्म वह प्रकार से एक पार्थ। जानो सुगम।।४।। अथवा अकस्मात ऐसे घटत। जो अनवसर देह छूटत। होत पुनः उनको प्राप्त। देहधारणा।।५।। शुद्धकाल में देहावसान। ब्रह्मस्वरूप होवे तत्क्षण। यदि अकाल में प्राप्त मरण। पावत पुनर्जन्म।।६।। वैसे सायुज्य एवं पुनरावृत्ति। दोनों अवसराधीन स्थिति। यही अवसर कहूं किरीटि। प्रसंगानुसार।।७।। तब सुनो हे सुभट। जब आये मरण संकट। पांचों अपनी बाट। पकड़त पार्थ।।८।। अंतकाल जब ऐसा प्राप्त। भ्रम बुद्धि को निगलत। स्मृति न अंध होत। मरत न मन।।९।। यह चेतनावर्ग समुचित। दिखत अति प्रफुल्लित।

Funding by IKS-MoE

रहती हैं ॥८३॥ विषयों का बाजार प्रारंभ होने पर मन के चौराहे पर जो व्यापार प्रारंभ होता है उससे अंतःकरण सुख-दुःख का अपना हिस्सा लेता है ॥८४॥ राजा राजमहल में सुखपूर्व सोता रहता है, किंतु देश के व्यवहार रुकते नहीं, अपने लाभ की इच्छा से प्रजा अपने कार्य करती रहती है ॥८५॥ वैसे बुद्धि की जानने की क्षमता मन का लेना-देना, इंद्रियों से कर्म करना, वायु का स्फुरित होना ॥८६॥ यह संपूर्ण देह की क्रियाएं कराना नहीं पड़ती, वह होती रहती हैं, हे अर्जुन! सूर्य के न करवाते हुये भी लोगों की क्रियाएं तीनों लोकों में चलती रहती हैं ॥८७॥ हे पार्थ! राजा के समान अक्षरब्रह्म देह में सोये हुये के समान रहता है, अतः हे पार्थ! उसको पुरुष कहते हैं ॥८८॥ और मायारूपिणी पतिव्रता के साथ एक पत्नी व्रत से रहने के कारण उसको पुरुष नाम प्राप्त हुआ है ॥८९॥ किंतु वेद विशाल होते हुये भी जिसके आंगन में उनका प्रवेश नहीं होता, यह आकाश भी जिसमें समाहित हो जाता है ॥९०॥ इस योगीश्वर को जानकर जिसको परात्पर कहते हैं, वह अनन्य शरणागत भक्त का घर ढूंढ़ते हुये आता है ॥९१॥ जो शरीर, वाणी एवं मन से अन्य बात कान से सुनते नहीं, उनके अव्यभिचारी भक्ति का उत्तम क्षेत्र, पुरुषोत्तम है ॥९२॥ यह तीनो लोक साक्षात् पुरुषोत्तम हैं, ऐसा जिनके मन में दृढ़ विश्वास है, हे पंडुकुंवर! उन आस्तिकों का वह आश्रम है ॥९३॥ जो निरभिमानियों को श्रेष्ठता देता है, गुणातीत का ज्ञान है, हे पांडव! जो निस्पृह लोगों को सुख का राजवैभव देता है ॥९४॥ जो संतुष्ट जनों का भोजन है, अनाथों का आश्रायस्थान है, हे अर्जुन! भक्तों के लिये ऋजु मोक्षका गांव है ॥९५॥ अब एक-एक वर्णन कितना करूं? विशेष वर्णन करता हूं। जहां पहुंचने पर भक्त स्वयं तद्रूप होकर पूर्णरूप से स्वयं वह स्थान बन जाता है ॥९६॥ शीत लहर से उष्ण जल भी ठंडा हो जाता है, अथवा सूर्य के सम्मुख आते ही अंधेरा प्रकाश हो जाता है ॥९७॥ हे पांडव! दुःखरूप संसार जिस परमधामरूपी गांव में पहुंचता है तब वह संपूर्ण मोक्षरूप बनता है ॥९८॥ जैसे अग्नि में डाला ईंधन अग्निरूप बनता है, उसकी लकड़ी शेष नहीं रहती ॥९९॥ हे अर्जुन! कितना भी बुद्धि संपन्न मनुष्य होने पर भी जैसे शर्करा से वह पुनः गन्ना नहीं बना सकता, वह पूर्णतः अशक्य है ॥२००॥ पारस का स्पर्श होते ही लोहेका सुवर्ण बनता है, पारस का यह सामर्थ्य है, किंतु दूसरा कोई उसे पुनः लोहा नहीं बना सकता ॥१॥ जैसे मक्खन से घी पकाने पर उसका पुनः दूध नहीं बनाया जा सकता यह निश्चित है, वैसे जिसको प्राप्त करने पर हे पार्थ! पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता ॥२॥ वही मेरा श्रेष्ठ, सत्य निजधाम है, यह आंतरिक रहस्य की बात तुम्हें स्पष्ट कही है ॥३॥

जिस काल में योगी देहत्याग करके मोक्ष प्राप्त करते हैं, एवं जिस काल में उन्हें पुनः जन्म प्राप्त होता है वह काल तुम्हें बताता हूं ॥२३॥

देह का अवसान होने के उपरांत योगियों को आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, हे पार्थ! उसका मर्म एक प्रकार से सुगम है, उसको समझो ॥४॥ कभी अवसर न होते हुए भी अकस्मात देह छूटता है, उसको पुनः देह प्राप्त होता है ॥५॥ शुद्ध काल में देह छूटने से तत्काल ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होता है। अशुद्ध काल में मृत्यु होने पर पुनः जन्म लेना पड़ता है ॥६॥ वैसे एकरूप होना एवं पुनः जन्म लेना यह दोनों समय पर अवलंबित स्थिति है, हे किरीटी! प्रसंग के अनुसार उस काल के संबंध में बताता हूं ॥७॥ हे सुभट!, सुनो! जब मृत्युरूपी संकट प्राप्त होता है तब पंचमहाभूत अपने रास्ते से निकल जाते हैं ॥८॥ अंतकाल जब प्राप्त होता है, तब भ्रम बुद्धि को नहीं निगलता, स्मृति नष्ट नहीं होती एवं मन की मृत्यु नहीं होती ॥९॥ चेतना देनेवाला संपूर्ण समूह मृत्यु के समय विकसित रहता है। मृत्यु के समय जिसका

ब्रह्मभाव को अतुभूत। रक्षण करत।।२१०।। ऐसा सावध वह ऐक्यभाव। होत निर्वाण तक निर्वाह। यह तबही शक्य जब सहाय। जठराग्नि होत।।११।। देखो वायु या: उदक से पार्थ। दीपक का प्रकाश लोपत। तब बुद्धिमान किंतु क्या देखत। दृष्टि अपनी?।।१२।। वैसे देहान्त में विषम वात। अंतर्बाह्य श्लेष्मा व्याप्त। तब वह बुझावत। अग्नितेज।।१३।। वहां प्राण को नहीं प्राण। बुद्धि क्या करेगी अर्जुन। अतः देह अग्नि,बिन। चेतना न धरत।।१४।। यदि देह का अग्नि नष्ट। वह देह न कर्दम पार्थ। अपना आयु समय व्यर्थ। गमावत तम से।।१५।। ऐसे अवघट समय में। गतायुष्य रखके स्मरण में। त्यज के देह स्वरूप में मिलना कैसे?।।१६।। तब श्लेष्म कर्दम में पार्थ। चेतना डूबत समस्त। वहां आगे पीछे नष्ट। स्मरण सहज।।१७।। अतः जो पूर्व किया योगाभ्यास। मरणपूर्व होत उसका नाश बूझत मिलने पूर्व वस्तु विशेष। हस्तगत होने पूर्व वस्तु विशेष। बूझत दीप।।१८।। रहने दो यह सकल। जानो ज्ञान का अग्नि मूल। अग्नि का प्रयाण से बल। संपूर्ण रहत।।१९।।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाताः गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

भीतर जठराग्नि का ज्योति प्रकाश। बाहर दिवस एवं शुक्ल पक्ष। षण्मास में मास। उत्तरायण का।।२२०।। ऐसी समयोग स्थिति प्राप्त। जो देह को त्यागत। वे ब्रह्म ही होत साक्षात्। ब्रह्मविद्।।२१।। सुनो हे धनुर्धर। यह सामर्थ्य इस अवसर। ऐसा यह मार्ग सुकर। स्वपुरगमन का।।२२।। यहां अग्नि प्रथम सोपान। ज्योतिर्मय द्वितीय अर्जुन। तृतीय जानो दिन। शुक्ल पक्ष चतुर्थ।।२३।। और षण्सास उत्तरायण। यह सर्वोच्च सोपान। इससे सायुज्य सिद्धि सदन। पावत योगी।।२४।। यह उत्तम काल जानिये। इसको अर्चिरामार्ग कहिये। तब अकाल सहज सुनिये। कहूं तुमको।।२५।।

धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

देहप्रयाण का अवसर। मध्ये वातश्लेष्माका सुभर। उससे अंतःकरण में अंधकार। व्याप्त पूर्ण।।२६।। सर्वेंद्रिय काष्टवत स्मृति भ्रम में डूबत। मन होवे भ्रमित। व्याकुल प्राण।।२७।। अग्नि का अग्नित्व जाये। वह धूम्र ही पूर्ण होवे। चेतना लुप्त हो जाये। शरीर की।।२८।। जैसे चंद्रसम्मुख बादल। छाये सघन एवं सजल। ना तम ना प्रकाश उज्जवल। झांवर दिसत।।२९।। ना सचेत ना मृत। जीवित की ऐसी गत। आयुष्यमरण की पार्थ। बाट तकत।।२३०।। ऐसी इंद्रियां बुद्धि मन। अति धूम्र से वेष्टित अर्जुन। जन्मार्जित लाभ पूर्ण। नष्ट सहज।।३१।। देखो पूर्वार्जित जब जाये। तब और क्या लाभ होवे?। अतः प्रयाण काल में पावे। ऐसी दशा।।३२।। ऐसी देहान्तर की स्थिति। बाहर कृष्णपक्ष की रात्रि। और षण्मास की प्राप्ति। दक्षिणायन के।।३३।। ये पुनरावृत्ति के साधन। एकवटत प्रयाणने पूर्ण। वह स्वरूपसिद्धि की वार्ता अर्जुन। कैसी सुनत?।।३४।। ऐसा जिनका देहावसान। वह

अनुभव किया है ऐसा ब्रह्मी स्थिति का अखंड अनुसंधान रखता है ।।२१०।। ऐसा ऐक्यभाव जागृत रहता है तब वह जागृति मृत्युपर्यंत शेष रहती है, जठराग्नि की सहायता से ही यह बात संभव होती है ।।११।। हे पार्थ! वायु या जल से दीपक का प्रकाश नष्ट कर सकते हैं, तब अंधेरे में, देखने की क्षमता होने पर भी दृष्टि क्या कुछ देख सकती है? ।।१२।। मृत्यु के समय विषमता की वायु से देह में अंतर्बाह्य कफदोष व्याप्त होता है, उससे जठराग्नि बुझती है ।।१३।। तब मूलतः प्राण में प्राण नहीं रहता, तब हे अर्जुन! बुद्धि क्या कर सकेगी? अतः जठराग्नि के बिना ज्ञानशक्ति को आश्रय नहीं रहता।।१४।। हे पार्थ! देह की अग्नि का नष्ट होने पर उसे देह नहीं कहना चाहिये! वह तो कीचड़ होता है। ऐसी स्थिति में उसकी आयु व्यर्थ समाप्त होती ।।१५।। ऐसे कठिन समय में पूर्वायुष्य में किया हुआ ब्रह्मानुसंधान कैसे रह सकता है? देह का त्याग करके कैसे मूल स्वरूप में मिलन होगा? ।।१६।। हे पार्थ! उस समय कफ रूपी कीचड़ में समस्त चेतना डूब जाती है, तब पूर्व स्मरण एवं चिंतन सब नष्ट हो जाता है।।१७।। रखी हुई वस्तु प्राप्त होने के पूर्व दीपक बुझने से वस्तु प्राप्त नहीं होती, तद्वत मृत्यु के पूर्व किया हुआ ब्रह्म प्राप्ति का अभ्यास मृत्यु के पूर्व ही समाप्त हो जाता है। उसका स्मरण नहीं रहता।।१८।। यह सब बाते अब रहने दो, इतना ध्यान में रखना कि, ज्ञान का मूल जठराग्नि है, अतः प्रयाणकाल में जठराग्नि प्रदीप्त रहना आवश्यक होता है ।।१९।।

देहप्रयाण के समय देह का जठराग्नि, ज्योति स्वरूप याने बुद्धि गम्य ज्ञान वही चेतना शक्ति होती है, देह के बाहर शुक्ल पक्ष, दिन का समय, उत्तरायण के छः महिने में से कौन सा भी मास, इस समय में देहत्याग करनेवाले एवं मृत्यु के समय ब्रह्मानुसंधान करनेवाले ध्यानयोगी क्रम से ब्रह्मावस्था प्राप्त करते हैं।।२४।।

देह के भीतर जठराग्नि एवं बुद्धि में ज्ञान प्रकाश होना चाहिये, बाहर दिन का समय एवं शुक्ल पक्ष होवे, उत्तरायण के छह मास में कोई भी मास होवे।।२२०।। ऐसी समयोग की स्थिति में जो देह का त्याग करते हैं, वे ब्रह्मानुसंधान करनेवाले ध्यानयोगी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करते हैं।।२१।। हे धनुर्धर सुनो! इतना सामर्थ्य समय में होता है, निजधाम को जाने का यह सुलभ मार्ग है।।२२।। यहां जठराग्नि पहली सीढ़ी है, ज्योति स्वरूप चैतन्य ज्ञानशक्ति दूसरी सीढ़ी है, हे अर्जुन! दिन का समय तीसरी सीढ़ी एवं शुक्लपक्ष चौथी सीढ़ी है।।२३।। तथा उत्तरायण के छह महिने यह सबके ऊपर की सीढ़ी होती है, इस प्रकार से ध्यानयोगी सीढ़ी दर सीढ़ी जीवब्रह्मैक्यरूप मोक्षगृह प्राप्त करते हैं।।२४।। यह सबमें उत्तम काल देह का त्याग करने के लिये समझा जाता है, इसको अर्चिरा मार्ग कहते हैं, इसको ही देवयान मार्ग कहते हैं। अब मृत्यु के लिये अयोग्य समय कौनसा होता है वह भी सुनो।।२५।।

देह के भीतर धूम्रयुक्त जठराग्नि बाहर रात्री का समय, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन छह मास में से कोई एक महीना, इस काल में मृत्यु होने से कर्मयोगी चंद्रलोक प्राप्त करने पर पुनः जन्म प्राप्त करता है।।२५।।

मृत्यु के समय विषमवायु एवं कफ से शरीर भरा हुआ होने से अंतःकरण अज्ञान से भर जाता है,।।२६।। सब इंद्रियों में जड़ता आने से स्मरण भ्रम में डूबता है, मन भ्रमित होकर प्राण व्याकुल होता है।।२७।। जठराग्नि की उष्णता समाप्त होती है, धुआं व्याप्त होता है, शरीर की चेतना लुप्त होती है।।२८।। चंद्र चंद्रमा पर घने एवं जलपूर्ण बादल छा जाने पर अंधेरा एवं पूर्ण प्रकाश दोनों भी नहीं होते, झांवर दिखता है, धुंधला सा प्रकाश रहता है।।२९।। तद्वंत जीव में स्तब्धता आने से उसको होश नहीं रहता, मृत्यु भी नहीं होती, हे पार्थ! मृत्यु के किनारे पर मानो उसका जीवन रुक जाता है,।।३०।। ऐसी इंद्रियां, बुद्धि एवं मन अज्ञानरूपी धूम्र से व्याप्त होकर जीवनभर किया हुआ ब्रह्माभास भी नष्ट हो जाता है।।३१।। जीवनभर उपासना करके जो प्राप्त किया था वह नष्ट होने पर और क्या लाभ कभी हो सकता है? अतः मृत्यु के समय ऐसी दुर्दशा होती है।।३२।। देह के भीतर ऐसी दुःस्थिति रहती है। बाहर कृष्णपक्ष की रात्री, दक्षिणायन के छह मास में एक मास रहता है।।३३।। यह सब पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु के साधन हैं। मृत्यु के समय वह सब एकत्रित होते हैं, हे अर्जुन! उस समय स्वरूप प्राप्ति की बात कैसे सुन सकते हैं?।।३४।। ऐसी जिनकी मृत्यु होती है वह योगी

योगी करे चंद्रलोकगमन। पश्चात पावे परिवर्तन। संसार में इस।।३५।। हमने जो यह अकाल पार्थ। बताया यह जानो समस्त। यही धूम्रमार्ग गांव ले जात। पुनरावृत्ति के।।३६।। अन्य वह अर्र्जिरामार्ग। बहुबस्ती का राजमार्ग। सुलभ एवं सुसंग। जात निवृत्तिपर्यंत।।३७।।

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

ऐसे अनादि मार्ग दो जान। ऋजु एवं वक्र अर्जुन। बुद्धिपूर्वक इनका वर्णन। किया तुझको।।३८।। अब मार्गामार्ग देखिये सत्यासत्य पहिचानिये। हिताहित जानिये। हित के लिये।।३९।। उत्तम नाव देखने उपरान्त। कौन अथाह जल में कूदत। क्यों छोड़कर जाये सुपंथ। आडमार्ग में।।२४०।। जो विष-अमृत जानत। क्या वह अमृत को त्यागत?। वैसी ऋजु बाट जो देखत। न जाये वक्र।।४१।। इसलिये पार्थ। परख क्या सच्चा क्या झूठ। जान के न पावे संकट। में अनवसर के कभी।।४२।। अन्यथा देहान्त में घोर विषम। इस मार्ग में संभ्रम। जन्माभ्यास कर्म। होत व्यर्थ।।४३।। यदि अर्चिरादिमार्ग न प्राप्त। अवचित धूम्रपंथ में प्रविष्ट। संसार पंक्ति में जोतत। तब भ्रमण अटल।।४४।। देखके महान संकट। कैसे होत यह नष्ट। अतः दोनों योगमार्ग स्पष्ट। बताये तुझको।।४५।। एक से ब्रह्मत्व पाईये। दूजे से पुनरावृत्ति आये। दैवगत्या जो प्राप्त होवे। देहान्त में जिसको।।४६।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

कौन दशा पावे अकस्मात। इसका न भरोसा पार्थ। देह त्यजके जाना ब्रह्म प्राप्त्यर्थ। मार्ग से शक्य।।४७।। देह रहे या जाये। हम तो केवल वस्तु गंतेय डोर का सर्पत्वभास व्यर्थ होय।।४८।। डोर से ही होत।।४८।। तरंग आए या जाए। उदक को न प्रतिभास पावे। वह तो अखंड रहे। उदक मात्र।।४९।। तरंगाकार से न उपजत। तरंगलोपसे न नाशत। वैसे जो देह में देहसहित। वस्तु होत।।२५०।। अब शरीर का उनके ठांई। नाममात्र शेष नाही। तब कौन समय वही। पावत लय?।।५१।। तब क्यों मार्ग खोजना?। किसने कहां से कैसे जाना। देशकालादि पूर्ण कल्पना। स्वयं वह।।५२।। वैसे जब घट फूटत। आकाश पावे मार्ग उचित। भेटत तब ही गगन को पार्थ। अन्यथा नाही।।५३।। देखो यह ऐसी बात। जो मात्र आकार लोपत। वैसे गगन-गगन में ही पार्थ। घटत्व के भी पूर्व।।५४।। ऐसा जिसको बोध। मार्गामार्ग से न उसको अवरोध। जो स्वयं सोहंसिद्ध। योगी वह।।५५।। इस कारण पंडुसुत। होना तुम योगयुक्त। जिससे सर्वकाल साम्यत्व। होवे सहज।।५६।। तब जब जहां चाहे। देह रहे या जाये। निष्प्रतिबंध ब्रह्मभाव पावे। निरन्तर।।५७।। कल्पादि न उसको जन्म। न कल्पान्त में उसको मरण। स्वर्ग संसारादि मोह से पूर्ण। भ्रमित न होत।।५८।। ऐसा जो योगी संपन्न। वही सत्यबोध पावे अर्जुन। उस बोध

चंद्रलोक तक ही जा सकता है। उसके बाद पुनः मृत्युलोक में लौटकर आता है ॥ ३५॥ हमने जो अयोग्य समय बताया है यह सब धूम्र मार्ग है, इसको पितृयानमार्ग भी कहते हैं, इससे पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ दूजा अर्चिरा मार्ग, राजमार्ग है, वह सुलभ एवं उत्तम संगति में निवृत्ति से, मोक्षरूपी गांव को पहुंचाता है ॥ ३७॥

शुक्लमार्ग प्रकाशमय है। धूम्रमार्ग या कृष्णमार्ग अज्ञानमय है, यह दोनों मार्ग अनादि हैं, अर्चिरादि मार्ग से ध्यान योगी मोक्ष प्राप्त करता है, दूजे मार्ग से कर्मयोगी को पुनः जन्म प्राप्त होता है ॥ २६॥

ऐसे अनादि दो मार्ग हैं इनको जान लेना, एक सीधी जाननेवाली एक दूजी वक्र है। हे अर्जुन! तुझे बुद्धिपूर्वक इसका वर्णन सुनाया है॥ ३८॥ अब सन्मार्ग कौनसा, असत मार्ग कौनसा उसको पहचानना, अपना हित किसमें हैं एवं अहित किसमें है यह समझ लेना, अपने हित का ध्यान रखना ॥ ३९॥ उत्तम नौका होते हुये पार जाने के लिये कौन अथाह पानी में कूदने का साहस करेगा? उत्तम मार्ग छोड़कर कौन कुमार्ग में जायेगा? ॥ २४०॥ जो विष एवं अमृत में भेद जानता है क्या वह अमृत का त्याग कर सकता है? वैसे जो योग्य मार्ग पहचानता है वह वक्र मार्ग से, टेढ़े भाग से नहीं जाता ॥ ४१॥ अतः हे पार्थ! सच एवं झूठ को पहचानना चाहिये। जिससे संकट के समय अनुचित मार्ग को छोड़कर सत्य मार्ग अपनाया जायेगा ॥ ४२॥ दोनों मार्ग के अच्छे-बुरे का विचार न करने से मृत्यु के समय धूम्र मार्ग का संकट प्राप्त होने की संभावना रहती है, जिससे जन्मपर्यंत किया हुआ श्रम व्यर्थ जाता है ॥ ४३॥ यदि अर्चिरादि मार्ग नहीं मिला, अकस्मात धूम्रमार्ग में प्रवेश हो गया तब उसको जन्म-मृत्युरूपी संसार के पुनरावृत्ति के आवागमन में भ्रमण करना ही पड़ता है ॥ ४४॥ यह महान संकट देखते हुए यह नष्ट कैसे होगा यह समझने के लिये दोनों योगमार्ग तुम्हें स्पष्ट बताये हैं ॥ ४५॥ एक से ब्रह्मत्व प्राप्त होगा, दूजे मार्ग से आवागमन की पुनरावृत्ति होगी, देह का अंत होने के समय दैवयोग से जिसको जो मार्ग प्राप्त होगा वैसी उसकी गति होगी ॥ ४६॥

ये दोनों मार्ग जाननेवाले ज्ञानयोगी को संभ्रम उत्पन्न नहीं होता, अतः तुम काल में ज्ञान योगयुक्त होना ॥ २७॥

कौन सी दशा अकस्मात प्राप्त होगी इसका हे पार्थ! भरोसा नहीं है, ब्रह्म प्राप्ति के लिये, देहत्याग करके अर्चिरादि मार्ग से जाना पड़ता है ॥ ४७॥ देह रहे या जाये, हम तो केवल ब्रह्मरूप हैं, ऐसा जिसका निश्चय हो गया है उसको किसी मार्ग का विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। रस्सी के दृष्टि से विचार करने पर सर्प का मिथ्याभास व्यर्थ होता है ॥ ४८॥ तरंग निर्माण होवे या लुप्त होवे जल तो किसी का विचार नहीं करता, वह अखंड जल ही रहता है ॥ ४९॥ तरंग उत्पन्न होने से, जल की उत्पत्ति नहीं होती, तरंग लुप्त होने से, जल का नाश नहीं होता, तद्वत जीवित रहते हुये जिसने ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर ली है वह किसी भी काल में देहत्याग करने से उसकी ब्राह्मी स्थिति में कोई बदल नहीं होता ॥ ५०॥ जब देह के प्रति अहंकार का भाव उनके मन में किंचित भी शेष नहीं है, तब कौनसे भी समय उनका देह छूट जाये ॥ ५१॥ तब मार्ग ढूंढ़ने की क्या जरूरत है? कौन से मार्ग से कहां जाना है? देश, काल आदि सब कल्पनाएं आत्मस्वरूप ही हैं ॥ ५२॥

जब घट फूटता है तब घटाकाश को अनायास उसका मार्ग मिलता है, और हे पार्थ! आकाश से उसका मिलना होता है अन्य किसी से नहीं ॥ ५३॥ घट जब फूटता है तब बाह्य आकार केवल नष्ट होता है, हे पार्थ! घटाकाश नष्ट नहीं होता। घट बनने के पूर्व भी वह तो महाआकाश में था ॥ ५४॥ ऐसा जिसको ज्ञान है, उसको योग्य मार्ग या अयोग्य मार्ग से बाधा उत्पन्न नहीं होती, वह स्वयं सोऽहं भाव सिद्ध योगी रहता है ॥ ५५॥ हे पंडुसुत! इसीकारण से तुम योगयुक्त बनो, जिससे सर्वकाल तुम्हें सहज साम्यावस्था प्राप्त होगी ॥ ५६॥ जब जहां चाहो तब देह रहे या न रहे, बिना प्रतिबंध से निरन्तर ब्राह्मीभाव की प्राप्ति होगी ॥ ५७॥ कल्प के प्रारंभ में जिसका जन्म नहीं होता, कल्प के अंत में प्रलयकाल में जिसकी मृत्यु नहीं होती, स्वर्ग एवं संसार के मोह से जो भ्रमित नहीं होता, ॥ ५८॥ ऐसा जो योग संपन्न है हे अर्जुन! उसको ही सत्य ज्ञान प्राप्त होता है, उस

को लांघकर जान। लाहे निजरूप।।५९।। देखो इंद्रादिक सुरवर। भोगत जो सुख धनुर्धर। यह सब मानकर निछावर। त्यागत जो।।२६०।।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

यदि करत वेदाध्ययन। सर्वस्व जो।।६१।। वह पुण्य उद्यान निखिल फलभार से व्याप्त सकल। किंतु वह परब्रह्म की निर्मल। तुलना न पावे।।६२।। वह निजानंद की तुलना में। भासत लघु उपमा तराजू में। वेदयज्ञादि साधन जिस सुख में। अत्यावश्यक।।६३।। जो न विघटत न नाशत। भोगी की इच्छा तृप्त करत। महासुख का अनुज पार्थ। अलौकिक।।६४।। ऐसा दृष्टिसुख का भास। प्राप्त मरणउपरान्त खास। शतमुख भी करके सायास। न पावे जिसको।।६५।। जिसको योगीश्वर पार्थ। दिव्य दृष्टि से यदि तौलत। कौतुक से अनुमानत। पावत हीन।।६६।। उस सुख की धनुर्धर। आगे पावरी बनाकर। परब्रह्म के पृष्ठ पर। आरूढ़त।।६७।। ऐसे चराचरैक्य भाग्य। जो ब्रह्मेश आराधना योग्य। योगीजन का भोग्य। भोगधन जो।।६८।। जो सकल कला की कला। परमानंद का पुतला। जो साक्षात जीवकला। विश्व जीवन की।।६९।। जो सर्वज्ञता का प्रतीक। यदुकुल का कुलदीपक। कहत श्रीकृष्ण सकौतुक। पांडवप्रति।।२७०।। ऐसा कुरुक्षेत्र का वृतांत। संजय नृप को कहत। वही आगे सुनो बात। कहे ज्ञानदेव।।२७१।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिंदीअनुवादे अष्टमोध्यायः
(श्लोक २८ ओवियाँ २७१)

Funding by IKS-MoE

ज्ञान को भी आत्मसात करके वह अपना स्वरूप प्राप्त करता है।।५९।। हे धनुर्धर! देखो! इंद्रादि देवता जिस सुख का उपभोग करते हैं उन सबको निछावर करके वह त्याग देता है।।६०।।

वेदों के अध्ययन में, यज्ञ में, तप में, दान में जो पुण्य फल बताया है उन सबका वह अतिक्रमण करता है, ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव एवं प्रयाणकाल में ब्रह्मध्यान कैसा करना इन सबका स्वरूप जानकर सब कर्मफल से ज्ञान श्रेष्ठ है यह समझकर ज्ञाननिष्ठ योगी कार्याकारण भाव के अतीत परब्रह्म परमात्मा के आदि स्वरूप को प्राप्त होते हैं।।२८।।

यदि वेदों का अध्ययन किया हो, या पुण्य करके यज्ञ किया हो, या तप एवं दान करने का पुण्य हो, इस प्रकार से जो सर्व पुण्यरूप है।।६१।। वह पुण्य का पूर्ण उद्यान है, फल के भार से व्याप्त है, किंतु उसकी निर्मल परब्रह्म परमात्मा के साथ तुलना नहीं कर सकते।।६२।। वह आत्मानंद की तुलना में यदि तराजू में तौलकर देखा जावे तब छोटा प्रतीत होता है, आत्मसुख में वेद, यज्ञ आदि साधन अत्यंत आवश्यक होते हैं।।६३।। जो खराब नहीं होता, जिसका नाश नहीं होता, उपभोग की प्रबल इच्छा भी तृप्त करता है, हे पार्थ! वह महासुख का छोटा भाई समझना।।६४।। ऐसे केवल दृष्टि के सुख का भासमात्र है, मृत्यु के उपरांत निश्चित प्राप्त होता है, सौ यज्ञ करने के बाद भी प्राप्त नहीं होता।।६५।। हे पार्थ! योगीजन जिसको दिव्यदृष्टि से देखते हैं, तब तौलने से भी वह सुख सहज नष्ट होनेवाला है, ऐसा वे अनुमान करते हैं।।६६।। हे धनुर्धर! उस स्वर्ग सुख की सीढ़ी बनाकर वे ब्रह्मपद के अधिकार पद पर आरूढ़ होते हैं।।६७।। ऐसा चराचर का एकमेव भाग्य जो ब्रह्मा के आराधना करने योग्य है, योगीजनों को भोगने के लिये जो भोग का धन है।।६८।। जो सब कलाओं की कला है, परमानंद की साक्षात् प्रतिमा है, जो साक्षात विश्व की जीवनकला है,।।६९।। जो सब जानेवालों का प्रतीक है, जिसको यदुकुल का कुलदीपक कहते हैं, वह श्रीकृष्ण कौतुहल से पांडव अर्जुन को कहता है।।७०।। ऐसा कुरुक्षेत्र का वृत्तान्त, संजय राजा को बता रहा है- वही बात आगे सुनो ऐसा ज्ञानदेव कहते हैं।।७१।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

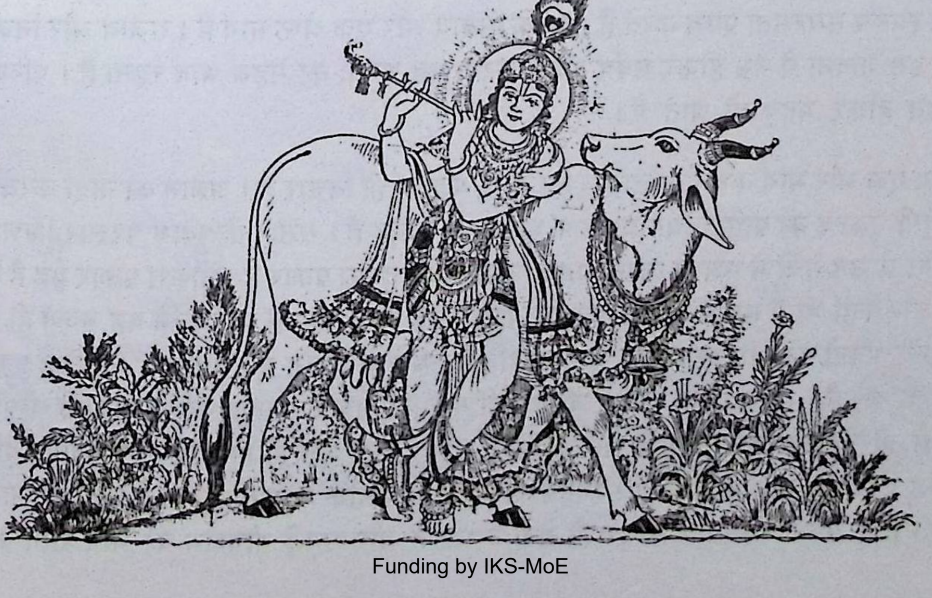

Funding by IKS-MoE

अध्याय - नवमा

सारांश

अभिप्राय जो महाभारत में। कृष्णार्जुन वचनोक्ति में। सप्तशत श्लोको में। वह एक नवम में।।ज्ञा. १०-३९।।

नवमाध्यय्र में ज्ञानेशजी ने जो गुरु वंदना की है, वह देखने में सुलभ प्रतीत होती है और वह बहुत रसभरित है। नवमाध्याय यह गीता के पूर्व खंड का अंतिम और भक्ति प्रधान अध्याय है। बड़े भाव विभोर होकर ज्ञानदेवजी ने श्रीगुरुवंदना की है। और संत श्रोताओं को बड़े नम्र भाव एवं दुलार से बिनती की है। यह ज्ञानदेव आपका है यह भाव आपके मन में हैं, इसकारण मैं कुछ बोलूंगा उसका संतोष ही आपको होगा। वेदों को अगम्य ऐसे गीताग्रंथ पर भाष्य करने का मेरा प्रयत्न आपकी कृपा से ही सफल होगा। ऐसी बिनती करके ज्ञानदेवजी श्रीकृष्णकथन का अनुवाद करते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं- ज्ञान-विज्ञान विषय मैं पुनः कथन करता हूं। यह ज्ञान होते ही सारासार विवेक उत्पन्न होकर जन्म-मरण से मुक्ति मिलती है। यह ज्ञान हर एक के हृदय में रहता है, परंतु गुरुमुख से उसका अनुभव आता है। सब सुखों की खदान मैं सबके हृदय में रहता हूं, किंतु लोग मुझे छोड़कर सुख की आशा से विषयों के पीछे दौड़ते हैं। मृगजल देखकर मुखस्थित अमृत का घूंट थूंक देना मूर्खता है।

मुझे ढूंढने के लिए इधर इधर जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो सर्वव्यापी हूं। यह विश्व मुझ से उत्पन्न होते हुये भी मैं विश्व में नहीं हूं। और विश्व मुझमें नहीं है। विश्व दृष्टिगोचर होता है यह कल्पना का क्रीड़ण है। इस कल्पना क्रीड़ण का त्याग करके देखा जाये तो ऐसा अनुभव आयेगा कि सर्वत्र मैं हूं। माया, विश्वोत्त्पत्ति का कारण है। मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता अथवा किसी के द्वारा भी नहीं करवाता। मैं निमित्तमात्र हूँ। मैं भूतों में नहीं हूं और भूतों का निवास मुझमें नहीं है। यह मर्म जानने के लिये इंद्रियों को अन्तर्मुख करना चाहिये। अज्ञानी लोगों को मेरा यथार्थ स्वरूप आकलन नहीं होता किन्तु, दैवी संपत्तिमान महात्माओं को सर्वत्र मेरी प्रतीति आती है, इतना होते ही वे मेरा दास्यत्व करते हैं। मेरा नाम संकीर्तन निरंतर करते हैं परिणामतः विश्व को वे पुनीत करते हैं। जहां-जहां मेरा संकीर्तन होता है वहां मैं अवश्य उपस्थित रहता हूं। योगी अष्टांग योगसाधना से स्वरूप समरसता प्राप्त करते हैं। इसके सिवाय और एक श्रेष्ठ मार्ग है। सजीव और निर्जीव सृष्टि में व्याप्त हूं। इस भावना से नम्र होकर सर्वत्र वंदना करना यह भक्तों का सहज भाव रहता है। परिणामतः वे अभिमान रहित होकर मद्रूप हो जाते हैं।

उपासना का एक और मार्ग कथन करता हूं। वह ज्ञान, यज्ञ का ही विचार है। अज्ञान का नाश करके सर्वत्र मैं एकमात्र हूं, ऐसी एकत्व की प्रतीति, यह ज्ञानरूप भक्ति का प्रकार है। संसार के पदार्थ परस्पर भिन्न होते हुये भी अन्वय दृष्टि से उन सबों में मुझको देखना यह ज्ञानभक्ति का दूसरा प्रकार है। तीसरा प्रकार यह है कि किसी भी स्थिति में और कहीं भी मैं सब में हूं ऐसा अनुभव आना। वह भक्त जो-जो कर्म करेंगे वह भजन ही होता है। यह बात है ज्ञानी भक्तों की। किन्तु स्वधा, मंत्र, आहुति यह यज्ञ के उपांग हैं। वह सब 'मैं' ही हूं। सूर्य, इंद्रि, वेद आदि मेरे ही रूप हैं। मैं जहां नहीं हूं ऐसी जगह कहीं नहीं है। खेद की बात है यह कि अज्ञानी लोगों को मेरा परिचय नहीं है और वे यज्ञादि साधनों के पीछे भागते हैं। स्वर्ग सुख भले ही रमणीय और मनोहर दृष्टिगोचर होते होंगे किन्तु पुण्य पुंज समाप्त होते ही स्वर्गस्थ लोगों को मृत्युलोक में आना पड़ता है। अनन्य भाव से मेरी शरण जो आते हैं वे सच्चे भक्त हैं। मैं उनकी सेवा करता हूं और उनके योगक्षेम का भार वहन करता हूं।

Funding by IKS-MoE

इंद्रादि देवताओं को जो भजते हैं, उनको उनके भावनानुसार देवत्व, पितृत्व की प्राप्ति होती है। अन्य देवताओं को छोड़कर जो मेरी अनन्य भाव से उपासना करता है उसको सायुज्य-मुक्ति प्राप्त होती है। मुझे अमूल्य उपचार समर्पण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे क्या कम है। सामान्य जन अपने ऐश्वर्य, ज्ञान, तप से मुझे बद्ध नहीं कर सकते। परमार्थ में स्वयं को तुच्छ लेखकर अपना सर्वस्व भगवान पर निछावर करना, स्वं सामर्थ्य के अहंकार का त्याग करके मेरे में नितान्त भाव रखना श्रेयस्कर है। पत्र-पुष्पादि पूजोपचार केवल निमित्त मात्र है। निःसीम भक्तिभाव से अर्पित वह पत्र की भी मुझे अमृत से भी ज्यादा रुचिकर मालूम होता है। हे अर्जुन! सदैव मेरा स्मरण कर। परिणामतः तुझे जन्म मरण बंधन से मुक्ति मिलेगी।

मैं सर्वव्यापी हूं, इस धारणा से भक्ति करनेवाले भक्त देहधारी होते हुए भी मद्रूप हैं। वे अवशिष्ट प्रारब्ध भोगार्थ उदासीन वृत्ति से देह में रहते हैं। भक्ति में जाति अप्रमाण है। यदि दुराचारी भी अनुतप्त होकर मेरी सेवा करेगा तो वह मुझे प्राप्त करेगा। इसके विरुद्ध जो कुलीन हो, शास्त्राभ्यासक हो किन्तु भक्तिभाव विहीन हो, तो वह मुझे प्राप्त नहीं कर सकता। कुल, जातिं, वर्ग, पशु, स्त्री यह भेद मुझे प्राप्त होते ही नष्ट हो जाते हैं। मुझे प्राप्त करने के लिये साधनों की कमी नहीं है। भक्ति, वैराग्य से तो मैं प्राप्त होता ही हूं, परंतु गोपी-समान विषय प्रेम रखते हुये, कंसवत वैरभाव रखते हुये भी वे भक्त मुझे मिलते हैं। जहां वैश्य-शूद्र, स्त्री आदि को मेरा दरबार खुला है वहां पुण्यवान ब्राह्मण अथवा राजर्षियों को तो निश्चित ही मैं सुलभ-सहज प्राप्त होऊंगा।

अर्जुन! मृत्यु लोक में तेरा जन्म हुआ है। फूटी-टूटी आयुनौका कब नष्ट होगी इसका कोई भरोसा नहीं है, परंतु लोगों को इसकी चिंता नहीं है। धर्म के लिये कोई भी प्रयत्नशील नहीं है। जहां हानी है वहां करोड़ों खर्च करते हैं परंतु इह परलोक कल्याण करनेवाले धर्म के लिये एक कौड़ी भी खर्च करने के लिये वे तैयार नहीं हैं। लोभ ग्रस्त संसार में ऐसे लोगों का सम्मान होता है। आमरण उनकी तृष्णा बढ़ती रहती है। इनके चंगुल में मत फंसो। भक्तिमार्ग पर अग्रसर हो जाओ।

मुझ में मन लगाना, सर्वत्र मुझे देखना, मेरा अनुसंधान रखना यही मेरी भक्ति है। इस भक्ति का मार्ग अनुसरण करके तू मुझे प्राप्त होगा और स्वयं सुखरूप हो जायेगा! भगवान गुह्यबात कहते थे और संजय जो सात्विक कथा- धृतराष्ट्र को कथन करता था। संजय को आनंदानुभूति होती थी। वह आनंद धृतराष्ट्र को कहनेवाला था, परंतु धृतराष्ट्र का चित्त स्थिर नहीं था। इसलिये संजय खिन्न हुआ। संजय के मुख से निकलते शब्द सुनकर श्रोताओं को पराकोटी का आनंद होता ऐसा कहकर ज्ञानदेवजी अध्याय समाप्त करते हैं। (९-५३५)

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - नवाँ

यहां मात्र अवधान दीजिये। सर्व सुख को पात्र होईये। यह प्रतिज्ञोत्तर सुनिये। स्पष्ट मेरा।।१।। किंतु न कहत प्रौढि से। आप सर्वज्ञ समाज से। दीजे अवधान मन से। विनती दुलार की।।२।। लालच की ललक पूर्ण। मनोरथ के मनोरथ संपूर्ण। यदि नैहर श्रीमन्त संपन्न। आप जैसा।।३।। आपकी सार्द्र दृष्टि सार्थ। प्रसन्नता उद्यान पल्लवित। शीतल छाया में पहुड़त। श्रान्त जो मैं।।४।। प्रभु आप सुखामृत के डोह (दह)। वर्धत स्वेच्छ की चाह। ऐसे में यदि संकोच होय। फिर तृप्ति कैसी?।।५।। बालक के तुतले बोल। वक्र विकृत चाल। कौतुक से माता हर्षिल। रीझत जैसी।।६।। वैसे आपका दुलार। मेरे प्रति अपार। अति स्नेह से संतवर। धृष्टता करत।।७।। क्या मेरे बोलका श्रेष्ठत्व?। सर्वज्ञ भवादृश श्रोता समस्त। क्या पढ़के सरस्वती पुत्र। विद्या पावत?।।८।। कितना ही बड़ा खद्योत। क्या महातेज सामने प्रकाशत?। अमृत की थाल में परोसत। ऐसी रससिद्धि कहां?।।९।। क्या हिमकर को बिंजन। नाद सन्मुख गायन। अलंकार को आभूषण। संभव कभी?।।१०।। परिमल ने किसे सूँघना?। सागर ने किसमें नहाना?। गगन ने जिसमें समा जाना। ऐसा विस्तार कहां?।।११।। वैसे जिससे आपका मन तृप्त। और कहोगे यह उत्तम वक्तृत्व। किसमें ऐसा कुशलत्व। जो रीझत आप।।१२।। विश्व प्रकाशत गभस्ती। क्या दीप से न कीजे आरती?। क्या चुल्लोदक से आपापति। को अर्घ्य न देत?।।१३।। प्रभु आप महेश की मूर्ति। और मैं दीन करत आपकी भक्ति। मेरे बोल यदि गंगावती स्वीकारोगे आप?।।१४।। पुत्र बैठकर बाप के थालि में। बाप को ही लगे खिलाने। तब वह संतोष से सामने। फैलावत मुख।।१५।। वैसे मैं आपके प्रति। विनोद करत बालमति। आप संतोषित ऐसी जाति। प्रेम की होत।।१६।।

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - नवाँ

हे श्रद्धेय श्रोतागण। आप मेरा कहना एक बार एकाग्र मन से सुनिये! इतसे ही आप लोगों को सब सुखों की निश्चित प्राप्ति होगी। यह मेरा प्रतिज्ञा वचन है।।१।। किन्तु यह मैं अहंकार से नहीं कहता। आप सब श्रोता ज्ञानी हो। अतः आपको आत्मीयतापूर्ण प्रेम से मनःपूर्वक प्रार्थना है कि आप मेरे कहने पर ध्यान दीजिये।।२।। आपके जैसा ज्ञान संपन्न नैहर मुझे प्राप्त हुआ है। मेरे मन की प्रबल इच्छाएं एवं मनोरथ पूर्ण होंगे इसमें मुझे शंका नहीं है।।३।। आपके दृष्टि की कृपारूप वृष्टि से प्रसन्नता के उपवन प्रफुल्लित होंगे। संसार के ताप से थका हुआ मैं आपकी शीतल कृपाछाया में विश्राम प्राप्त करना चाहता हूं।।४।। हे प्रभो! आप सुखरूपी अमृत के दह हो। अतः मेरी इच्छा बढ़ रही है। यदि मैं अब संकोच करूं तो मुझे सुख एवं शांति कहां प्राप्त होगी?।।५।। बालक की तुतली वाणी सुनकर, जब वह टेड़ामेढ़ा चलने लगता है तब माता मन में हर्षित होती है।।६।। मेरे प्रति आपके मन में अपार प्रेम है। हे संत श्रेष्ठ! आपका स्नेह प्राप्त करने की इच्छा से मैं यह धृष्टता कर रहा हूं।।७।। आप सब श्रोता सर्वज्ञ हो। मेरे वाणी को क्या श्रेष्ठता है? सरस्वतीजी के पुत्र को पाठ पढ़ाकर ज्ञान देने की क्या आवश्यकता है?।।८।। जुगनू कितना भी बड़ा हो सूर्यप्रकाश के सम्मुख उसका तेज नगण्य है। अमृत के पात्र में परोसा जानेलायक व्यंजन कहां तैयार होगा?।।९।। चंद्रमा को पंख से शीतलता प्रदान नहीं की जाती। नादब्रह्म को गाना सुनाया जाता है क्या? अलंकार को क्या आभूषण पहनाते हैं?।।१०।। सुगंध किसका परिमल लेगा? सागर कहां स्नान करेगा? आकाश को समाने के लिये कहां स्थल है?।।११।। अतः आपकी श्रवणेच्छा तृप्त होगी ऐसा उत्तम वक्तृत्व मुझे कहां से प्राप्त होगा? आपका चित्त प्रसन्न होने लायक कुशलता किसमें होगी?।।१२।। संपूर्ण विश्व को प्रकाशित करनेवाले सूर्य की छोटे से दीपक से आरती उतारते हैं। किंतु जैसे संपूर्ण विश्व को प्रकाशित करनेवाले सूर्य की छोटे से दीपक से आरती उतारते हैं। अंजुली में जल लेकर क्या सागर को अर्घ्य नहीं दिया जाता?।।१३।। हे प्रभो! आप साक्षात भगवान महेश की मूर्ति हो। मैं अत्यंत दीन हूं किंतु आपकी भक्ति से अर्चना करता हूं। मेरी वाणी निर्गुड़ी वृक्ष सदृश तुच्छ समझकर उसका स्वीकार कीजिए। (निर्गुड़ी वृक्ष के जंगली पुष्प को भगवान शिव को चढ़ाते हैं)।।१४।। छोटा बालक पिता के साथ खाना खाते समय पिता को ही खिलाने लगता है तब पिता आनंद से अपना मुख कौर लेने के लिए नीचे झुकाता है।।१५।। वैसा बालबुद्धि से विनोद करता हूं, उससे आप संतुष्ट होते हैं ऐसा यह स्नेह है।।१६।। उसी

उसी अपनत्व के मोह से। स्वीकृत मैं आप संतजन से। इसलिये मेरे दुलार से। भार न होत।।१७।। देखो, वत्स मुख से झटकत। स्तन से अधिक दुग्ध फूटत। रोष से प्रेम दुणवतट। प्रियतम के।।१८।। अतः मुझ पुत्र का वक्तृत्व। आपका कृपालुपन सुप्त। प्रकट होत ऐसा प्रतीत। इसलिये कहत।।१९।। क्या चंद्रिका पाल में पकवत?। कौन वायु को गति देत?। गगन को गिलाफ पहिनावत। ऐसा समर्थ कोई?।।२०।। सुनो, पानी न अधिक तरल होत। नवनीत में मथानी न चलत। वैसे निवर्तत-व्याख्यान लज्जित। देखकर जिसे।।२१।। जिस ब्रह्मा सन्मुख शय्या में। शब्द कुंठित निवान्त सोये। वह गीतार्थ प्राकृत में बोलिये। ऐसा अधिकार कहां?।।२२।। किन्तु ऐसे में भी मुझे भरोसा। आगे एक ही दिखत आशा। ढिठाई करके भवादृशा। प्रीतिपात्र होइजे।।२३।। तब चंद्र से भी शीतलकारक। जो अमृत से भी जीनवदायक। कीजे अवधान से वर्धित अधिक। मनोरथ को मेरे।।२४।। जब आप की कृपादृष्टि वर्षत। सकलार्थ सिद्धि पक्व होत। नहीं तो अंकुरित उन्मेष सुकत। यदि उदास आप।।२५।। आपका सहज अवधान। देत वक्तृत्व को चारा सज्जन। तब पुष्टि पावत अक्षरपूर्ण। प्रमेयों के।।२६।। अर्थ बोल की बाट तकत। अभिप्राय को अभिप्राय सृजत। भावपुष्प बहु विकसित। बुद्धि में सार्थ।।२७।। अतः संवाद सुवायु अनुकूल। हृदयाकाश में सारस्वत घन सजल। यदि श्रोता दुःश्चित्त शुष्क सकल। वक्तृत्व रस।।२८।। अहो चिंतामणि द्रवत। किंतु चंद्र में ही वह सामर्थ्य। अतः वक्ता का वक्तृत्व न व्यक्त। श्रोता बिन।।२९।। मानिये मुझे मधुर ऐसे। भोजक को तण्डुल न प्रार्थत जैसे। क्या कठपुतली विनवत मुख से। सूत्रधार को?।।३०।। क्या वह उनके काज नचावत? या अपना कौशल दिखावत?। इसलिये न मुझे चिंता किंचित। जो आधीन आपके।।३१।। तब श्रीगुरु कहत ससमाधान। समस्त यह हमको विदित पूर्ण। अब कहो जो किया निरूपण। नारायण ने।।३२।। इससे संतुष्ट निवृत्तिदास। पावत परम उल्लास। श्रीकृष्ण कहत जो सहर्ष। सुनिये अब।।३३।।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्षाम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

वैसे ही ज्ञानबीज यह। कहूं तुमको पुनः राज वह। जो स्थित अंतःकरण में गुह्य। जीव के इस।।३४।। इसविध करके प्रकटत। क्यों तुझको कहत स्पष्ट। ऐसा यदि कदाचित। सोचत मन में।।३५।। तब सुनो यह प्राज्ञा। तुम ही आस्था की संज्ञा। कथित बात की अवज्ञा। कदापि न करत।।३६।। यदि उजागर करना गुह्य। कहना ही पड़त गोपनीय। पड़े वह धनंजय। हृदय में तेरे।।३७।। सुनो स्तन में दुग्ध गुप्त। स्तन को न वह प्रिय पार्थ। चाव से सेवत समस्त। अनन्य जो।।३८।। कोठि से बीज निकालिये। तैयार भूमि में बोइये। क्या उसको कहिये। गया व्यर्थ।।३९।। अतः सुमनु एवं शुद्धमति। जो अनिंदकु अनन्यगति। गौप्य उसके ही प्रति। कहिये सहज।।४०।। तब प्रस्तुत ऐसा गुण संपन्न। तेरे सिवा न दिखत अन्य अतः यह गुह्य

आत्मीयता के दुलार से आप संतो ने मेरा स्वीकार किया है। मेरे दुलार को आप भार नहीं समझते।।१७।। देखिए। वत्स मुख से स्तन को जब झटका देता है तब-तब गाय प्रीति से अधिक दूध देती है। प्रियतम के क्रोध से प्रेम दुगना बढ़ता है।।१८।। अतः मेरे वाणी से आपका सुप्त कृपालुत्व प्रकट हो रहा है ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है। इसीलिए मैं कहता हूं।।१९।। चंद्रप्रकाश को क्या पाल में पकाया जाता है? वायु को कौन गति देता है? आकाश को गिलाफ चढ़ाने के लिये कौन समर्थ है?।।२०।। सुनिये! जल को अधिक तरल नहीं किया जाता, मक्खन में मथानी नहीं चलाते, जिसको देखकर मेरी वाणी लज्जित होकर लौट जाती है गीता का अर्थ देखकर मेरा दुर्बल वक्तृत्व अपने आप पीछे हट जाता है।।२१।। शब्द ब्रह्म वेद नेति-नेति कहते हुये गीतारूपी खटिया पर स्तब्ध होकर सोते हैं, उस भगवद्गीता का अर्थ प्राकृत वाणी में कहने का अधिकार मुझे कहां है?।।२२।। किन्तु मुझे एक भरोसा है। एकहि आशा मन में है। ढ़िठाई करके आपका प्रीतिपात्र बनूं।।२३।। तब चंद्र से भी शीतल, अमृत से भी जीवन दायक, ऐसा आपका अवधान मेरे मनोरथ पूर्ण करने के लिये वर्धित कीजिए।।२४।। आपके कृपादृष्टि की वर्षा होने से मेरी बुद्धि में गीता के गूढ़ अर्थ स्फुरित होंगे। आपके उदास रहने से हृदय में अंकुरित ज्ञान सूख जायेगा।।२५।। हे सज्जन! आपका सहज अवधान वक्तृत्व का खाद्य है। उससे सिद्धांत प्रतिपादक शब्दों को पूर्ण अर्थ प्राप्त होगा।।२६।। ज्योंही इस प्रकार से सिद्धांत परिपूर्ण शब्द निकलते हैं त्योंही अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, मानो अर्थ शब्द एवं वाक्यों की प्रतीक्षा कर रहा है। अभिप्राय से अभिप्रेत अर्थ की परंपरा निर्माण होती है। बुद्धि में अर्थ के साथ ही भावरूपी पुष्प विकसित होते हैं।।२७।। श्रोता एवं वक्ता में सुसंवाद का अनुकूल वायु बहते ही हृदयरूपी आकाश में वाणी रूपी जल से परिपूर्ण ज्ञानमेघ आच्छादित होते हैं। श्रोता दुश्चिंत रहने से वक्तृत्व मेघ शुष्क होते हैं।।२८।। चिंतामणि रत्न चंद्रप्रकाश में पसीजता है किंतु उसको पसीजने में प्रवृत्त करने की शक्ति चंद्रमा में होती है। अतः सुविज्ञ श्रोताओं के बिना वक्ता के वक्तृत्व में आकर्षण उत्पन्न नहीं होता।।२९।। मुझे मीठा बनाओ ऐसी प्रार्थना चावल रसोइया से नहीं करते, क्या कठपुतली सूत्रधार की प्रार्थना करती है?।।३०।। कठपुतली के लिये सूत्रधार उन्हें नहीं नचाता, वह तो अपनी कला प्रकट करता है। अतः मैं आपके आधीन होने से मुझे यत्किंचित चिंता नहीं है।।३१।। तब श्रीगुरु समाधानपूर्वक कहते हैं, यह सब हम जानते हैं। अब श्रीनारायण क्या कहते हैं उसका निरूपण करो।।३२।। इससे श्री निवृत्तिदास ज्ञानदेवजी संतुष्ट हुये। अत्यंत उल्हास एवं आनंद से उन्होंने कहा, श्रीकृष्ण क्या कहते हैं अब सुनिये।।३३।।

श्रीकृष्ण ने कहा अब अत्यंत गुह्य ब्रह्मज्ञान प्रपंच ज्ञान के साथ असूयारहित तुम्हें बताता हूं। उसको जानने से इस अशुभ संसार से तुम मुक्त हो जावोगे।।१।।

यह ज्ञान सब ज्ञान का आदिबीज है। यह ज्ञान अंतःकरण का रहस्य है। उसका राज मैं तुम्हें बताता हूं।।३४।। अंतःकरण की रहस्यपूर्ण बात तुम्हारे पास क्यों प्रकट कर रहा हूं ऐसी यदि तुम्हारे मन में कल्पना आई है।।३५।। तब हे सुबुद्धि अर्जुन! तुम्हारे मन में ज्ञानप्राप्ति की तीव्र इच्छा है। तुम भक्ति भावना की साक्षात मूर्ति हो। मैं जो कुछ कहूंगा उसका तुम कदापि अनादर नहीं करोगे।।३६।। अतः गुप्त रहस्य प्रकट करते समय उसे गोपनीय कहना पड़ता ही है। मेरे अंतःकरण में जो कुछ है वह तुम्हारे अंतःकरण में प्रविष्ट होवे, यही मैं चाहता हूं।।३७।। हे पार्थ! स्तन में दूध अप्रकट रहता है। किंतु उसका उपयोग स्तन को नहीं होता। अनन्य भाव से सेवन करनेवाला पुत्र आनंद से तृप्त होता है।।३८।। अनाज की कोठी में से बीज निकालकर अच्छी तरह जोती हुई भूमि में बोने से उसको बीज व्यर्थ गया ऐसा समझते हैं क्या?।।३९।। जो प्रसन्न अंतःकरण का एवं शुद्ध बुद्धिवाला है, निंदा न करनेवाला, एकनिष्ठ शरणागत श्रोता है। उसको गूढ़ रहस्य की बात सहज कहना चाहिये।।४०।। इन सब गुणों से संपन्न प्रस्तुत तुम्हारे बिना अन्य कोई नहीं है। अतः हे अर्जुन! यह रहस्य तुमसे छिपाना योग्य नहीं

Funding by IKS-MoE

तुझसे अर्जुन। छिपाना न योग्य।।४१।। अब बारंबार गुह्य गुप्त। सुनके न होना दुश्चित्त। सब ज्ञान विज्ञानसहित। कहूंगा तुझको।।४२।। जैसा मिश्रित सच्चा झूठ। चलन पृथक करना। यदि पार्थ। तब दो ढेर बनाकर सार्थ। परखिये उसको।।४३।। अथवा राजहंस चंचूसे जैसे। पय पानी पृथक करत वैसे। ज्ञान विज्ञान विभाग तैसे। कहूं स्पष्ट।।४४।। जब हवा में उड़ावत। तुस दाना विभक्त होत। नीचे सहज बचत। कणराशी।।४५।। वैसे जो जानने उपरांत। जन्म-मरण संसार नष्ट। सहज पदपर बिठावत। मोक्षश्री के।।४६।।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

जो समस्त ज्ञान का रवि। पावे गुरुत्व की आचार्य पदवी। जो सकल गुह्यों का गोसावी। पवित्रों का राव।।४७।। और धर्म का निजधाम। उत्तमों का उत्तम। पाके जिसको न पुनर्जन्म। धनुर्धर।।४८।। अल्प गुरुमुख से उदित। हृदय में स्वयंभू वसत। प्रत्यक्ष प्राप्त होत। अपने आप।।४९।। वैसे सुख के सोपान से। चढ़के मिलन होत जिससे। पश्चात साम्यावस्था सहज से। पावत निश्चित।।५०।। किंतु इस मिलन सीमा पूर्व। चित्त में उपजत सुख अपूर्व। ऐसे सरल सुलभ एव। परब्रह्म जो।।५१।। सुनो, और एक इसका गुण। आकर हाथ में न खोवत जान। अनुभव से न घटत अर्जुन। न बिगड़त कभी।।५२।। यहां यदि तुम तार्किक। अवचित शंका करोगे देख। जो वस्तु यह अमोलिक। उपेक्षित कैसी?।।५३।। जो एकोत्तर ब्याज के लिये पार्थ। जलती आग में भी कूदत। कैसे वे आत्मसुख त्यागत। विद्यमान जो?।।५४।। जो पवित्र एवं रम्य। वैसे ही सुखोपाय से गम्य। स्वसुख परम धर्म्य। स्वयं स्थित।।५५।। ऐसे अनुकूल सर्वतः। तदापि न पावे क्यों जनहाथ। मन में शंका यदि उठत। ऐसे न करना तुम।।५६।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप। अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

देखो दुग्ध मधुर एवं पवित्र। त्वचा के अति निकट। किंतु अव्हेर के अशुद्ध सेवत। कीलनी जैसी।।५७।। या कमलकंद एवं दर्दुर। वसति को एक ही घर। परिपराग सेवत भ्रमर। अन्य को कर्दम।।५८।। जैसे निदैवी के घर में। धन गड़ा सहस्त्र हंडों में। किंतु रहत वहां दारिद्र्य में। उपवास करत।।५९।। वैसे हृदय में मैं रामु। वसत सर्व सुख का आरामु। किंतु भ्रांतजन को कामु। विषय वस्तु में।।६०।। वह मृगजल देख के दृष्टि से। थूके मुख में का अमृत घूंट जैसे। या तोड़िये पारस बद्ध गले से। शुक्ति लाभार्थ।।६१।। वैसे अहंम मता वशीभूत। बेचारे न मुझको पावत। जन्म मृत्यु दो तीर बीच पार्थ। बहत रहत।।६२।। सुनो मैं हूं कैसा। मुख प्रति भानू जैसा। जहां देखे दिखत तैसा। सर्वत्र पार्थ।।६२।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

मेरे स्वरूप का विस्तार। यह समस्त विश्वाकार। सहज जमत दूध साचार। होत

होगा।।४१।। अब पुनः-पुनः गुप्त रहस्य शब्द सुनकर तुम अपना मन खराब नहीं करना। अब संपूर्ण ज्ञान विज्ञान सहित तुम्हें कहूंगा।।४२।। असली एवं नकली एकत्रित मिलानेपर जैसे परीक्षा करके उसको अलग करना पड़ता है, वैसे हे पार्थ! ज्ञान एवं विज्ञान को अलग करके उसको परखना चाहिये।।४३।। राजहंस अपनी चोंच से पानी एवं दूध पृथक करता है। वैसे ज्ञान एवं विज्ञान तुम्हें अलग-अलग स्पष्ट कहूंगा।।४४।। जिस प्रकार से हवा के झोंके में भूसा एवं धान्यकण अलग होते हैं,। नीचे धान्य की राशी बन जाती है।।४५।। वैसे ही ज्ञान एवं विज्ञान की परख करके उसको पृथक करने के उपरांत जन्म, मृत्यु, संसार आदि की धारणाएं बदल जाती हैं एवं वह परमज्ञान मोक्ष लक्ष्मी का पद प्राप्त करा देता है।।४६।।

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा, गुप्त रहस्य में श्रेष्ठ पवित्र एवं उत्कृष्ट, प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेवाला, धर्मानुसार अनायास आचरण करनेलायक सुलभ, एवं अनिवाशी है।।२।।

वह ज्ञानसूर्य सब विद्याओं में श्रेष्ठत्व के आचार्य पद पर अधिष्ठित है। वह ज्ञान सब रहस्पूर्ण बातों का स्वामी है। पवित्रता का राजा है।।४७।। धर्म का अधिष्ठान है, जो सर्वोत्तम है, जिसकी प्राप्ति होने पर, हे धनुर्धर! जन्म मृत्यु के लिये कोई स्थान नहीं होता।।४८।। श्री गुरुमुख से वह ज्ञान किंचित प्रकट होता है, परंतु वास्तविक वह हृदय में स्वयंभू होता है। वह अपने आप अनुभव कराता है।।४९।। आत्मसुखकी सीढ़ी पर चढ़ते हुये जिस ज्ञान की प्राप्ती होती है। अंत में सहजता से समाधि स्थिति प्राप्त होती है, वही साम्यावस्था है।।५०।। इस मिलन की सीमा के पूर्व अंतःकरण में अपूर्व आत्मसुख का अनुभव होता है। ऐसा सरल, सुलभ किंतु साक्षात् परब्रह्म है।।५१।। इसका एक और गुण सुनो। एक बार प्राप्त होने पर वह नष्ट नहीं होता। हे अर्जुन। अनुभव लेने से इसमें घट बढ़ नहीं होती। उसमें कुछ विकार भी उत्पन्न नहीं होते।।५२।। हे तर्ककुशल अर्जुन! तुम्हारे मन में अकस्मात यदि ऐसी शंका उत्पन्न हुई कि ऐसी अमूल्य वस्तु अभी तक उपेक्षित कैसी है।।५३।। लोग सौ रुपयों पर एक रुपया ब्याज लेने के लिये जलती आग में कूदते हैं। तब हे पार्थ! बिना परिश्रम से प्राप्त होनेवाले आत्मसुख की मधुरता से वे क्यों वंचित रहते हैं?।।५४।। जो आत्मसुख पवित्र, रमणीय एवं अनुभव गम्य है। धर्मानुकूल होते हुये आत्मतत्व की प्राप्ति करा देता है।।५५।। सब प्रकार से अनुकूल होते हुये लोगों को उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? ऐसी शंका तुम्हारे मन में उत्पन्न नहीं होने देना।।५६।।

हे शत्रुतापना अर्जुना! आत्मज्ञानरूप धर्म में श्रद्धा न रखनेवाले लोग मृत्युरूप संसार में लौट आते हैं। उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती।।३।।

दूध पवित्र एवं मधुर होता है। गाय के स्तन में पतली त्वचा के आड़ में संग्रहित रहता है। किंतु दूध का अव्हेर करके कीलनी स्तनपर बैठकर रक्तशोषण करती है।।५७।। कमलकंद एवं मेंढक एकहि स्थान में कीचड़ में रहते हैं। दूर-दूर से भ्रमर आकर कमल पुष्प के मकरंद का सेवन करते हैं। निकट रहनेवाले मेंढक को कीचड़ ही मिलता है।।५८।। जैसे दुर्भागी पुरुष के घर में हजारों घड़ों में धन गड़ा पड़ा है किन्तु जानकारी न होने से वह दारिद्र्य में उपवास करता है।।५९।। वैसे हृदय में समस्त सुखों का भंडार मुझ आत्माराम के प्रत्यक्ष रहने पर भी अज्ञानी लोग सुख विषयों में खोजते हैं।।६०।। मृग मरीचिका को देखकर जल पीने की इच्छा से अमृत का घूंट निगलने के पूर्व ही थूक देते हैं। सीप को देखकर चांदी की भ्रांती से गले में बंधा हुआ पारस तोड़कर फेंक देते हैं।।६१।। अहंकार एवं ममता में लिप्त लोगों को मेरी प्राप्ति नहीं होती। हे पार्थ! वे जन्ममृत्युरूपी दो किनारे के बीच में बहते रहते हैं।।६२।। मैं कैसा हूं सुनो। सूर्य जैसा मुख के सम्मुख रहता है वैसा मैं नित्य सबके सम्मुख रहता हूं। हे पार्थ! सूर्य रात्री में दिखाई नहीं देता वैसा मैं नहीं हूं। जहां जब मुझे देखने का प्रयास करते हैं तब मैं सर्वत्र नित्य दिखता हूं।।६३।।

अव्यक्त रूप से मैं इस विश्व में व्याप्त हूं। सब भूतमात्र मेरे में है। किंतु मैं उनमें नहीं हूं।।४।।

संपूर्ण विश्व मेरा विस्तार समझना। जैसे दूध को जमाने पर वह स्वाभाविक रीति से दही बनता

Funding by IKS-MoE

दही ।।६४।। या बीज ही होत तरू। अथवा सुवर्ण अलंकारू। वैसा मुझे एक का विस्तारू। विश्व सब यह ।।६५।। यह अव्यक्त तब निराकार। व्यक्त होत विश्वाकार। मुझ अमूर्त का मूर्त विस्तार। त्रैलोक्य यह ।।६६।। महदादि से देह पर्यंत। यह भूतमात्र समस्त। मेरी सत्ता से प्रतिबिंबित। जैसे जल में फेन ।।६७।। किंतु वह फेन में पंडुसुत। जैसे जल न वसत। अथवा स्वप्न का न अनेकत्व। जागृत को कभी ।।६८।। वैसे ये भूत मेरे ठांई। बिंबत उनमें मैं नाहीं। यह उपपत्ति तुम्हें पहले ही। कथित पार्थ (अ.७ ओ.१२) ।।६९।। बोल की पुनः अतिशयोक्ति। संयुक्त न यहां किरीटी। अब संचरित करो दृष्टि। स्वरूप में मेरे ।।७०।।

न चमत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।५।।

मेरा प्रकृति परे भाव पार्थ। यदि कल्पना बिना देखना सार्थ। तब मुझमें भूत यह कथन व्यर्थ। जो मैं ही सब ।।७१।। संध्या समय में संकल्प के। क्षणैक अंधुक नेत्र बुद्धि के। इसलिये अखंड परंतु देखे। भूत भिन्न ।।७२।। वह संकल्प सांज जब लोपत। तब पावे स्वरूप अखंडित। जैसी शंका नष्ट शीघ्र लुप्त। सर्पत्व मालाका ।।७३।। वैसे भी भूमि भीतर से स्वयंभ। क्या घट कलश के ऊगत कोंभ (अंकुर)?। वे तो कुलालमति के गर्भ। प्रकटत पार्थ ।।७४।। अथवा सागर का पानी। क्या उसमें तरंग की खानी?। क्या वह स्वतंत्र करनी। वायु की न होते?।।७५।। कर्पास गेट में पार्थ। क्या गट्ठा कपड़ों का रहत?। वह तो बुनकर के बुद्धि से होत। वस्त्ररूप ।।७६।। यदि अलंकार होत सुवर्ण। सुवर्णत्व न भंगत अर्जुन। स्थूलदृष्टि से वे आभूषण। धारक के भाव से ।।७७।। कहो प्रतिध्वनिका प्रत्युत्तर। या दर्पण में आविष्कार। अपनी कल्पना से साचार। न बल से उसके ।।७८।। वैसे मेरे यह निर्मल रूप। पर करत भूतभाव का आरोप। उसमें उसका ही होत संकल्प। भूताभास कारण ।।७९।। जहां कल्पक वृत्ति नष्ट। तब भूताभास पहले से ही लुप्त। स्वरूप एक शेष बचत। शुद्ध मेरा ।।८०।। यदि चकरावत सिर। सभोवार दिखत गिरिकंदर। वैसा संकल्प से ब्रह्मपर। भूताभास ।।८१।। कल्पना छोड़कर पार्थ। मैं भूत में या मुझमें भूत। स्वप्न में भी नहीं उचित। समझने योग्य ।।८२।। मैं ही इन भूतों का धर्ता। भूतों में स्वयं वासकर्ता। यह संकल्प सन्निपात की वार्ता। भासत मुझे ।।८३।। इसलिये सुनो हे प्रियोत्तम। इसविध विश्व का मैं विश्वात्म। जो इस असत्य भूतग्राम-। को भाव्य सदा ।।८४।। रश्मि के ही आधार से। झूठे मृगजल का आभास जैसे। मेरे ठांई भूतजात तैसे। और उनमें मैं ।।८५।। इसविध मैं भूतभावनु। किंतु सर्वभूतों से अभिन्नु। जैसी प्रभा एवं भानु। एक ही दोनों ।।८६।। यह मेरा ऐश्वर्य योग। तुमने देखा सुरंग। अब कहो उसमें कुछ लाग। भूतभेद का?।।८७।। अतः मुझसे यह भूतमात्र। भिन्न नाही यह सत्य। और मैं भी भूतों से विभक्त। न मानो तुम ।।८८।।

है।।६४।। या बीज से ही वृक्ष होता है। या सुवर्ण से ही अलंकार बनते हैं। वैसे यह सब संसार मेरा ही विस्तार है।।६५।। निराकार तत्वरूप मैं नाम रूपात्मक विश्व का साकार रूप बनता हूं। अमूर्त होते हुये भी तीनों लोकों का विस्तार करता हूं।।६६।। जैसे जल पर फेन रहता है वैसे महत् तत्व से देहपर्यंत संपूर्ण भूतमात्र मेरे में प्रतिभासित होते हैं।।६७।। किंतु उस फेन के भीतर, हे पंडुसुत! जैसे जल नहीं रहता। स्वप्न की अवस्था में दिखाई देनेवाले अनेक आकार जागृति में नहीं रहते।।६८।। वैसे, प्राणिमात्र मुझमें प्रतिभासित होते हैं, किंतु मैं उनमें नहीं रहता। यह उपपत्ति पहले (सातवे अध्याय में) मैंने तुम्हें बताई है।।६९।। बताई हुये बातों की पुनरुक्ति योग्य नहीं होती। हे किरीटी! तुम्हारी दृष्टि मेरे स्वरूप में प्रविष्ट कराकर उसे विस्तृत करो।।७०।।

(कल्पना छोड़कर देखने से) सब प्राणिमात्र मेरे में नहीं है। मेरा ऐश्वर्य योग समझ लेना। प्राणिमात्र को धारण करते हुए अलिप्तता से भूतों में स्थित न होते हुए भी कल्पना से स्थिर समझते हैं, ऐसा मेरा स्वरूप है।।५।।

हे पार्थ! मेरा स्वरूप भाव कल्पना से परे है। कल्पनाओं को त्यागकर मेरा यथार्थ स्वरूप देखना चाहते हो तो यह समझ लेना कि मुझमें प्राणिमात्र है ऐसा कहना व्यर्थ है। क्योंकि मैं ही सब कुछ हूं।।७१।। संकल्प के संध्या काल में जब एक संकल्प समाप्त होता है एवं दूसरा प्रारंभ होने के पूर्व बुद्धि के ज्ञाननेत्र में अंधःकार सा व्याप्त हो जाता है। अतः अखंड होते हुए भी अज्ञान से प्राणिमात्र भिन्न दिखाई देते है।।७२।। जब संकल्प का संध्याकाल समाप्त होता है तब अखंड स्वरूप की प्राप्ति होती है। पुष्पमाला को सर्प समझकर जैसे मन भयभीत होता है किंतु जैसे ही सत्य स्वरूप का बोध होता है तब सब शंकाएं समाप्त होती हैं।।७३।। भूमि के भीतर से क्या घट, कलश आदि अंकुरित होते हैं? हे पार्थ! वह कुम्हार की कल्पना से की गयी निर्मिति होती है।।।७४।। समुद्र के पानी में क्या तरंग की खानी होती है? वह तो वायु की स्वतंत्र क्रिया है।।७५।। कपास के पेट में, हे पार्थ! क्या कपड़े का गट्ठा रहता है? कपास तो बुनकर की बुद्धि से वस्त्ररूप बनता है।।७६।। सुवर्ण के अलंकार जब बनाये जाते हैं तब उसका सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता। हे अर्जुन! स्थूल दृष्टि से देखने पर दिखाई देगा कि, अलंकार धारण करनेवाले के भाव के अनुरूप आभूषण बनाये जाते हैं।।७७।। प्रतिध्वनि का प्रति उत्तर मिलना अथवा दर्पण में प्रतिबिंबित होनेवाला स्वरूप, शब्द, रूप आदि अपना ही रहता है। उसमें स्वतंत्र निर्मिति नहीं होती।।७८।। वैसे मेरे निर्मल शुद्ध स्वरूप की प्राणिमात्र अपनी भावनाओं के अनुसार कल्पना करते हैं। उस भाव के अनुसार उन्हें आभास होता है।।७९।। जब कल्पना करनेवाली बुद्धि समाप्त होती है तब भूताभास लुप्त होता है। मेरा शुद्ध स्वरूप शेष रहता है।।८०।। जब मस्तक चकराता है तब सम्मुख दिखनेवाला स्थिर पहाड़ भी घूमते हुये दिखाई देता है। वैसे ही संकल्प एवं कल्पनाओं से शुद्ध परब्रन्म्ह स्वरूप में भूताभास होता है।।८१।। कल्पनाओं का त्याग करके भूतमात्र में मुझे या मुझमें भूतमात्र है ऐसा स्वप्न में भी समझना नहीं।।८२।। अतः प्राणिमात्र को धारण करनेवाला या स्वयं प्राणिमात्र में निवास करनेवाला इस प्रकार का बकवास व्यर्थ प्रतीत होता है।।८३।। हे प्रियोत्तम! इस प्रकार से मैं विश्व की आत्मा हूं,। क्षणभंगुर प्राणिमात्र का मैं आश्रय हूं।।८४।। सूर्य किरणों की आधार से मृगमरीचिका असत्य आभास उत्पन्न करती है। वैसे ही मेरे में प्राणिमात्र और प्राणिमात्र में मैं ऐसा आभास है।।८५।। इस प्रकार से प्राणिमात्र को उत्पन्न करनेवाला मैं हूं। किंतु सब प्राणिमात्र से अभिन्न हूं। जैसे सूर्य एवं उसका प्रकाश एक ही है, वैसा मुझको समझना।।८६।। यह मेरा ऐश्वर्य योग तुमने अच्छी तरह से समझ लिया होगा। उसमें भेदभावना का कुछ संबंध है क्या?।।८७।। अतः यह सब प्राणिमात्र मुझसे भिन्न नहीं है यह सत्य है। मुझे भी प्राणीमात्र से विभक्त नहीं समझना।।८८।।

Funding by IKS-MoE

यथा काशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

यह गगन जितना जैसा। पवन भी गगन में तैसा। सहज कंपित दिखत भिन्न सा। अन्यथा गगन ही वह।।८९।। भूतमात्र मेरे ठाँई। कल्पना यह आभास सब ही। निर्विकल्प से वहां कुछ भी नहीं। मैं ही मैं पूर्ण।।९०।। भूत का अस्तित्व जैसे। कल्पना से संबंध से। भ्रंशत कल्पना लोपसे। सृजत कल्पना से ही।।९१।। वह कल्पक मुद्दल नष्ट। तब सब भेद लुप्त। अतः देख आगे पार्थ। ऐश्वर्य योग यह।।९२।। ऐसे प्रतीति बोध के सागर में। अपने को एक कल्लोप रूप में। यदि देखें तब चराचर में। तू ही तू वसत।।९३।। इस ज्ञान का प्रत्यय। तुझको प्राप्त धनंजय। तब द्वैत स्वप्न वृथा होय। मन से तेरे।।९४।। फिर आगे कभी कदाचित। बुद्धि को कल्पना निद्रा प्राप्त। तब अभेद भेद लोपत। स्वप्न में तेरे।।९५।। अतः करो यह निद्रामार्ग नष्ट। 'शुद्ध उद्बोध रूप स्वयं पार्थ। यह मर्म जो पूर्ण सांप्रत। दिखाऊं तुझको।।९६।। तब हे धैर्यधर। श्रवण करो हे धनुर्धर। सर्वभूत उत्पत्ति त कर। यही माया।।९७।।

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

जिसका नाम प्रकृति। जो द्विविधा कही तेरे प्रति। एक अष्टधा भेद व्यक्ति। दूजी जीवरूपा।।९८।। यह प्रकृति विषय पूर्ण। तुमने किया जो श्रवण। इसलिये कहत पुनः पुनः। अकारण वह।।९९।। तव यह मेरी प्रकृति। महाकल्प के अंती। सर्वभूत अव्यक्ती। एकत्रित।।१००।। ग्रीष्म के अतिउष्मा से। सबीज तृण जैसे। भूमिगर्भ में अपने से। सुलीन होत।।१०१।। जब वर्षाकाल अभ्र फूटत। 'शारदिया का अंकुर प्रकट। घनजात सब लोपत। गगन के गगन में।।२।। आकाश अवकाश में पार्थ। वायु निवांत लोपत। अथवा तरंग मीनत। जल में जैसे।।३।। या जागृत अवस्था में। स्वप्न लोपत मन के मन में। वैसे मीनत प्राकृत प्रकृति में। कल्पक्षय में।।४।। तब कल्पादि में किरीटि। मैं ही सृजत ऐसी वदंती। इस विषय की उपपत्ति। सुनो सत्य।।५।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

यही स्वकीय प्रकृति पार्थ। जब मैं सहज अधिष्ठत। जैसे तंतुसमुदाय समस्त। वसत वस्त्र में।।६।। वह तानाबानाधार से। वस्त्र बनत लघु चौकट से। वैसे पंचात्मक आकार से। प्रकृति होत।।७।। जैसे दही के संगत से। दुग्ध धनरूप होत वैसे। साकारत प्रकृति संग से। सृष्टिरूप।।८।। बीज जल की निकटता पावे। तब वही 'शाखोपशाख होवे। वैसे मुझसे ही विस्तार रहे। भूतमात्र का।।९।। राजा नगरी वसावत। यह कथन सत्य पार्थ। किंतु क्या सच में श्रमत। राजा के हाथ?।।११०।। मैं कैसे प्रकृति में अधिष्ठित। जैसे स्वप्न में जो भासत। आगे स्वयं ही प्रवेशत। जागृतावस्था में।।११।। जब स्वप्न से पावे जागृति। क्या पांव दुखत किरीटि?।

सर्वत्र संचार करनेवाली महान वायु जैसा आकाश में नित्य स्थित होती है, तद्वत संपूर्ण भूतमात्र मेरे में स्थित है ऐसा समझना।।६।।

आकाश जितना विशाल एवं व्यापक है वैसे वायु भी आकाश में सर्वत्र व्याप्त है। कंपन से (पंखा हिलानेसे) सहज वह भिन्न दिखाई देती है। अन्यथा वह आकाश ही है।।८९।। कल्पना करने से प्राणिमात्र भिन्न दिखाई देते हैं। कल्पना त्यागने से केवल मैंही परिपूर्ण हूं। अन्य कुछ भी नहीं है।।९०।। भूतमात्र का अस्तित्व कल्पना से दिखाई देता है। कल्पना के साथ आभास उत्पन्न होता है। कल्पना का लोप होते ही आभास समाप्त होता है।।९१।। मूल कल्पना जब नष्ट होती है तब भेदभावना भी नष्ट होती है। अतः हे पार्थ! आगे मेरा ऐश्वर्य योग देखना।।९२।। तुम परम ज्ञान के समुद्र में तरंगाकार बनो, तब तुम्हें पता चलेगा कि तुम ही इस चराचर विश्व में व्याप्त हो।।९३।। हे धनंजय! तुम इस परम ज्ञान में जागृत हो गये हो क्या? इस अवस्था में द्वैत की भावना समाप्त होती है।।९४।। भविष्य में कभी कदाचित तुम्हारी बुद्धि को कल्पना की निद्रावस्था प्राप्त होगी, तब यह अभेद भावना लुप्त होकर भेदरूपी स्वप्नावस्था प्राप्त होगी।।९५।। अतः हे पार्थ! यह अज्ञान का मार्ग नष्ट करो। स्वयं स्वरूप जागृतिरूप बनो। इसीलिये यह रहस्यज्ञान तुम्हें स्पष्ट रूप से बताता हूं।।९६।। हे धैर्यधर! हे धनुर्धर! यह अब श्रवण करो। सब प्राणिमात्र को माया उत्पन्न करती है।।९७।।

हे कौंतेय! कल्प के अन्त में सब प्राणिमात्र का मेरी माया में लोप होता है। दूसरे कल्प में प्रारंभ में मैं उन्हें पुनः निर्माण करता हूं।।७।।

जिसको प्रकृति कहते हैं वह दो प्रकार की है यह मैंने तुम्हें बताया है। एक प्रकृति आठ प्रकार के भेद से स्पष्ट की है एवं दूजी जीवरूपा है।।९८।। यह प्रकृति के विषय में तुमने श्रवण किया है। अतः उसे पुनः समझाना अकारण है।।९९।। महाकल्प के अंत में मेरे अव्यक्त प्रकृति में सब प्राणिमात्र एकरूप होते हैं।।१००।। ग्रीष्म ऋतु की प्रखर उष्णता से बीज के साथ तृण भूमि में विलीन होते हैं।।१।। जब वर्षाऋतु समाप्त होती है एवं शरद ऋतु का प्रारंभ होता है, तब आकाश में मेघ विलीन हो जाते हैं।।२।। आकाश में चलनेवाली वायुका, अंत में उसी आकाश में लय हो जाता है। हे पार्थ! पानी की लहरे पानी में ही समा जाती हैं।।३।। स्वप्न में जो दृश्य दिखाई देते हैं वे सब जागृत होनेपर मन में समा जाते हैं। उसी प्रकार से कल्पान्त के समय प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थ प्रकृति में ही समरस होकर समा जाते हैं।।४।। नये कल्प के प्रारंभ में ही भूतसृष्टि उत्पन्न करता हूं ऐसा लोग कहते हैं। अब उसका स्पष्टीकरण सुनो।।५।।

अपने प्रकृति का अवलंबन करके प्रकृति के अधिनस्थ, पराधीन सब प्राणिमात्र को मैं पुनः-पुनः निर्माण करता हूं।।८।।

जब मैं स्वयं प्रकृति का स्वाभाविक अंगीकार करता हूं तब हे पार्थ! वस्त्र में सर्वत्र जैसे तंतु ही होते हैं।।६।। तानाबाना से जैसे असंख्य चौकड़िओं से वस्त्र बनता है। वैसे पंचमहाभूत के रूप में प्रकृति प्रकट होती है।।७।। जैसे दही के संगति में दूध धनरूप दही बनता है, वैसे प्रकृति के संग से सृष्टि साकार रूप धारण करती है।।८।। बीज को जब जल का संग मिलता है तब वह अंकुरित होकर शाखा, उपशाखाएं बढ़ते हुए वही विशाल वृक्ष बनता है। वैसे मेरे में प्राणिमात्र का विस्तार होता है।।९।। राजा ने नगर बसाया ऐसा कहना सत्य है। हे पार्थ! सत्य में राजा के हाथों को क्या श्रम होते हैं।।११०।।

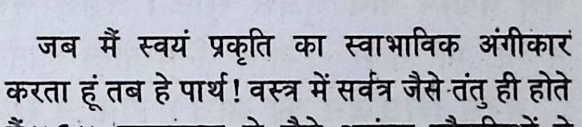

मैं प्रकृति का कैसा स्वीकार करता हूं, जैसे स्वप्न की स्थिति में रहनेवाला मनुष्य जागृत अवस्था में प्रवेश करता है।।११।। हे किरीटी! स्वप्नावस्था से जागृत अवस्था में आने से क्या पैरों को कष्ट होते हैं? या स्वप्नावस्था में सत्य में प्रवास होता

Funding by IKS-MoE

अथवा क्या सही स्वप्नदृष्टि। में प्रवास होत?॥१२॥ समस्त ग्रह अभिप्राय अर्जुन। भूत सृष्टि का कार्याकारण। मुझे न कोई यत्न प्रयत्न। ऐसा मथितार्थ॥१३॥ राजा अधिष्ठित प्रजा जैसी। व्यवहारत अपने काज वैसी। प्रकृति संगत मेरी तैसी। सब करनी इसकी॥१४॥ पूर्ण चंद्र की भेंट से अपार। समुद्र में उत्पन्न ज्वार। वहां चंद्र को क्या धनुर्धर। श्रम होत?॥१५॥ जड़ परन्तु निकट। लोह चुंबक के पास जात। वहां भ्रामक को क्या कष्ट। सन्निध लाने का?॥१६॥ किम्बहुना धनुर्धर। मैं प्रकृति का करूं अंगीकार। जो और भूतसृष्टि बहुसर। प्रसवत जात॥१७॥ जो यह भूतग्राम पूर्ण। रहे प्रकृति के आधीन। जैसे बीज का पल्लवांकुरण। भूमिसंग से॥१८॥ बाल्यादि अवस्था को जैसे। गोसावी देहसंग वैसे। उत्पत्ति नभ में वर्षाकाल से। घनावली को॥१९॥ या स्वप्न को कारण निद्रा। वैसी प्रकृति हे नरेंद्रा। इस अशेष भूतसमुद्रा। गोसाविनी जानो॥१२०॥ स्थावर एवं जंगम को। स्थूल अथवा सूक्ष्म को। जानो सर्व भूतग्राम को। प्रकृति ही मूल॥२१॥ अथवा भिन्न भूतों का सृजन। अखिल सृष्टि का प्रतिपालन। सब यह कार्यकारण। भाव नहीं मुझको॥२२॥ जल में चंद्रिका वल्ली सी प्रसारित। यह विस्तार क्या चंद्र करत?। वैसे यद्यपि कर्म मुझसे सृष्ट। रहत मुझसे दूर॥२३॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय। उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥९॥

बहत सिंधुजल का ओघ। रोक न सकत सैंधव का बांध। अंत में सब कर्म मुझसे संबद्ध। उनका मुझे बंधन कैसा?॥२४॥ धुम्ररज का पिंजड़ा पार्थ। बहते वायु को यदि रोकत। या सूर्यबिंब में प्रवेशत। घनतिमिर॥२५॥ अथवा पर्वत का हृदय। पर्जन्यधारा से क्षत न होय। वैसे प्रकृति कर्म कोई समय। न बाधत मुझे॥२६॥ यह प्रकृति विकार अर्जुन। एक मैं ही इसको कारण। किंतु रहत उदासीन पूर्ण। न करत ना करावत॥२७॥ जैसा दीप गृह में स्थित। किसी को न नियमत ना निवारत। और कौन कैसा वर्तत। न जाने कुछ॥२८॥ जैसा यह साक्षीभूत। गृहव्यापार प्रकृति हेत। भूतकर्म में मैं अनासक्त। भूत में वसत॥२९॥ यह सत्य एक ही अभिप्राय। पुनः-पुनः कहूं कितने पर्याय। एक बार यहां धनंजय। इतना जानो॥१३०॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥१०॥

जैसी लोकचेष्टा को समस्त। सविता की एक निमित्त मात्र। वैसे जगत्प्रभव को पंडुसुत। मैं ही हेतु॥३१॥ मेरे अधिष्ठित प्रकृति। होत चराचर की संभूति। अन्त में मैं हेतु यह उपपत्ति। भासत जगको॥३२॥ इस ज्ञान प्रकाश से अर्जुन। देखो एश्वर्य योग विलक्षण। जो मेरे में भूतजात संपूर्ण। किंतु न उनमें मैं॥३३/३४॥ यह सर्वस्व मेरा गूढ़। किंतु दिखाया तुझको उघाड़। अब इंद्रियों को देकर किवाड़। भोगिये हृदय में॥३५॥ यह मर्म जब तक न ज्ञात। मेरा सत्य स्वरूप पार्थ। न सर्वथा तब तक अवगत। जैसे तुष में कण॥३६॥ वैसे अनुमान तर्क से। भासत सब ज्ञात

Funding by IKS-MoE

है? ॥१२॥ हे अर्जुन! इन सबका अभिप्राय यही है, कि भूतसृष्टि की रचना करते समय मुझे किसी प्रकार की क्रिया नहीं करनी पड़ती ॥१३॥ राजा की आश्रित प्रजा जैसे अपने व्यवहार करती है वैसे मेरी सत्ता का आधार लेकर प्रकृति का कर्तव्य होता है ॥१४॥ पूर्ण चंद्रमा का उदय होते ही समुद्र में अपार ज्वार आता है। हे धनुर्धर! वहां चंद्र को क्या कष्ट होता है? ॥१५॥ चुंबक की निकटता से जड़, अचेतन लोहा हिलता है, किंतु चुंबक को उसमें क्या कष्ट होते हैं? ॥१६॥ हे धनुर्धर! मैं जब प्रकृति का अंगीकार करता हूं तब प्राणिमात्र की उत्पत्ति अपने आप होने लगती है ॥१७॥ अतः सब प्राणी प्रकृति के अधीन हैं। जैसे बीज को अंकुरित एवं पल्लवित होने के लिये भूमि का संग आवश्यक होता है ॥१८॥ बाल्यादि अवस्थाओं के लिये जैसे देह का आधार होता है, या आकाश में बादल छा जाने के लिये जैसे वर्षाऋतु आवश्यक है ॥१९॥ या स्वप्नावस्था को निद्रा कारण होती है। वैसी हे नरेंद्र! यह प्रकृति संपूर्ण प्राणिमात्र की स्वामिनी है ॥१२०॥ स्थावर जंगम को, स्थूल एवं सूक्ष्म को, संपूर्ण प्राणिमात्र को प्रकृति का अधिष्ठानं है ॥२१॥ विभिन्न प्राणियों की निर्मिति, या संपूर्ण सृष्टि का प्रतिपाल करना यह सब कार्यकारण भाव मुझमें नहीं है ॥२२॥ जल में तारकाओं की लताएं फैली हुई दिखाई देती हैं। उनको बढ़ाने का कार्य जैसा चंद्रमा नहीं करता वैसे विश्व की उत्पत्ति स्थिति का कार्य मुझसे दूर है ॥२३॥

हे धनंजय! विश्व की उत्पत्ति, संहारात्मक कर्म के प्रति अनासक्त रहनेवाले मुझे कर्म का बंधन नहीं होता ॥९॥

सागर के जल को नमक की दीवार नहीं रोक सकती। तद्वत सब कर्म की समाप्ति मेरे स्वरूप में होने से उन कर्मो की बाधा मुझे कैसे होगी? ॥२४॥ धुएं से बना हुआ आवरण बहते वायु को कैसे रोक सकेगा? क्या सूर्यबिंब में कभी घोर अंधेर कर सकता है? ॥२५॥ वर्षा की धाराओं से पर्वत का अंतरंग विद्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार प्रकृति जिन कर्मो का आचरण करती है वे कर्म मुझे बांध नहीं सकते ॥२६॥ हे अर्जुन! प्रकृति जो नामरूप आदि विकार उत्पन्न करती है, उसका वास्तविक आधार मैं ही हूं। किंतु मैं नित्य उदासीन रहता हूं। अतः मैं न तो कोई क्रिया करता हूं न कराता हूं ॥२७॥ जैसे घर में रखा हुआ दीपक केवल तटस्थ रहता है किंतु घर में रहने वाले लोगों के क्रियाओं का निमित्त होता है। किसी को मना नहीं करता तथा कौन कैसा व्यवहार करता है यह वह जानता नहीं ॥२८॥ दीपक के प्रकाश में जैसे घर के सब कार्य होते रहते हैं, वैसा मैं प्राणिमात्र के कर्म के प्रति अनासक्त रहते हुए प्राणियों में निवास करता हूं ॥२९॥ हे धनंजय! अनेक युक्ति प्रयुक्तिओं से तुम्हें एक ही विचार बारबार बताया है। इसको समझ लेना ॥१३०॥

हे कुंतीपुत्र! मेरा आश्रय पाकर माया चराचर विश्व का निर्माण करती है। अतः यह जगत जन्म से विनाश तक परिवर्तित होता रहता है ॥१०॥

लोगों के सब व्यवहार के लिये जैसा सूर्य निमित्त मात्र होता है वैसे विश्व की उत्पत्ति का तटस्थरूप से मैं कारण हूं ॥३१॥ मैंने प्रकृति का अंगिकार करते ही चराचर विश्व की उत्पत्ति होती है। अतः चराचर की उत्पत्ति का मैं ही कारण हूं ॥३२॥ हे अर्जुन! अब इस दिव्य ज्ञान के प्रकाश में मेरे ऐश्वर्य योग को तत्वरूप से देखो! मुझमें सब प्राणिमात्र है किंतु मैं उनमें नहीं हूं ॥३३/३४॥ मेरा यह गूढ़ ज्ञान मेरा सार एवं सर्वस्व है। किंतु तुम्हें मैंने स्पष्ट करके बताया है। अब तुम इंद्रियों की ओर जाने वाले वृत्तियों के द्वार बंद करके अपने मन में आत्मचिंतन हुए हृदय में अनुभव करो ॥३५॥ जब तक इस रहस्य को नहीं समझते, तब तक हे पार्थ! मेरे यथार्थ, सत्य स्वरूप का बोध नहीं होगा। भूसे में अनाज के दानों का पता नहीं चलता ॥३६॥ वैसे केवल अनुमान एवं तर्क से सब जान लिया ऐसा

जैसे। किंतु क्या मृगजल की आर्द्रता से। भीगत भूमि?।।३७।। जल में जाल बिछावत। जहां चंद्रबिंब दिखत स्पष्ट। तीर पर निकालकर झटकत। तब बिंब कहां?।।३८।। वैसे बोल से वाचाबल के। फसावत नयन प्रतीति के। किंतु समय सत्यबोध परीक्षा के। भासत व्यर्थ।।३९।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

इस संसारभय से पार्थ। मत्प्राप्त्यर्थ यदि इच्छा करत। तब मर्म यह सार्थ। कीजे जतन।।१४०।। पीलिया से जब दृष्टि दूषित। चंद्रिका को पीली कहत। मेरे निर्मल स्वरूप में देखत। दोष वे।।४१।। ज्वर से स्वाद रहित मुख। दूध को कहत कटु बिख। वैसे अमानुख को मानुख। मानत मुझको।।४२।। अतः पुनः-पुनः हे कौंतेय। न भूलना यह अभिप्राय। स्थूल दृष्टि से यत्न सर्व। होगा व्यर्थ।।४३।। जो स्थूल दृष्टि से देखत। वे मुझे कतई न जानत। जैसे कोई अमर न होत। स्वप्न के अमृत से।।४४/४५।। जैसा नक्षत्र का आभास। राजहंस का करत विनाश। उसमें रत्नबुद्धि की आस। रखी जिसने।।४६।। गंगा जानकर मृगजल। पास जाने से क्या फल? क्या सुरतरु बुद्धि से बबूल। फलद पार्थ? ।।४७।। नीलमणि का दोलड़ी हार। समझ के पकड़त विषधर। या रत्न समझकर पत्थर। चुनत जैसे।।४८।। जानकर निधान यह प्रकट। खदिरांगार वस्त्र में भरत। या बिंब जान के कूदत। कुए में सिंह।।४९।। वैसे मैं साकार प्रपंच में। ऐसा कृत निश्चय मन में। वे चंद्र भास से जल में। पकड़त प्रतिबिंब।।१५०।। वैसा कृतनिश्चय व्यर्थ होत। जो कोई कांजी सेवत। और परिणाम अपेक्षत। अमृत का पार्थ!।।५१।। यह नाशवंत स्थूलाकार से। भरोसा करत चित्त से। मुझ अविनाश को देखत कैसे?। असंभव यह!।।५२।। क्या पश्चिम समुद्र का तट। पावत क्रम के पूर्व दिशा की बाट?। क्या कभी कूटके तुष को सुभट। कण प्राप्त?।।५३।। वैसा विस्तरित यह स्थूल। जान के समझत मुझको अखिल। क्या फेन सेवन से जल-। पान तृप्ति होत?।।५४।। अतः यह मोहित मनोधर्म। सत्य समझत संभ्रम। यहां के समस्त जन्मकर्म। मानत मुझको।।५५।। इसविध अनाम को नाम। मुझ अक्रिया को कर्म। विदेह को देहधर्म। आरोपत।।५६।। मुझ निराकार को आकार। निरुपाधिक को उपचार। विधि वर्जित को व्यवहार। आचारादिक।।५७।। मुझ वर्णविहीन को वर्ण। गुणातीत को गुण। मुझ अचरण को चरण। अपाणि को पाणि।।५८।। मुझ अमेय को मान। सर्वगत को स्थान। जैसे स्वप्न में बन। निद्रित देखे।।५९।। वैसे मुझ अश्रवण को श्रोत्र। अचक्षु को नेत्र। अगोत्र को गोत्र। अरूप को रूप।।१६०।। मुझ अव्यक्त को व्यक्ति। अनार्ति को आर्ति। स्वयंतृप्त को तृप्ति। कल्पत जात।।६१।। मुझ अनावरण को प्रावरण।

प्रतीत होता है किंतु बिना अनुभूति से मर्म का ज्ञान असंभव है। मृगमरीचिका की आर्द्रता से भूमि गीली नहीं होती।। ३७।। नदी के जल में जब जाल बिछाया जाता है तब उसमें फंसा हुआ चंद्रबिंब स्पष्ट दिखाई देता है। किंतु जाल को किनारे पर निकालकर उसे झटकने से जाल में बिंब नहीं मिलता।। ३८।। वैसे वक्तृत्व से प्रतिपादन करते हुए अनुभव के विषय में खुद को ठगाते हैं। जब सत्य ज्ञान का समय प्राप्त होता है, तब ज्ञान रहता ही नहीं, एवं ज्ञान होता भी नहीं।। ३९।।

मेरा उत्तम स्वरूप न जाननेवाले अज्ञानी, सब प्राणिमात्र का ईश्वर एवं मनुष्य शरीर धारण करनेवाले मुझे कर्ता, भोक्ता, परिच्छिन्न एवं प्राकृत समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं, मुझे कम योग्यता का समझते हैं।।११।।

हे पार्थ! संसार का भय यदि तुम्हारे मन में है! तथा मेरे स्वरूप प्राप्ति की तुम्हें इच्छा है तब मैंने बताये हुए विचार तुम ध्यान में रखना।।१४०।। जैसे पीलिया रोग से ग्रसित दृष्टि को सब सृष्टि पीली दिखाई देती है। चंद्रप्रकाश भी पीला दिखाई देता है। वैसे ही मेरे शुद्ध स्वरूप में तुम्हें दोष दिखाई देंगे।।४१।। ज्वर से दूषित मुख में दूध भी विषसदृश कड़वा लगता है। वैसे मैं देहधर्म रहित होते हुए भी मुझे सामान्य मनुष्य समझते है।।४२।। अतः हे कौंतेय! तुम मेरे अभिप्राय को भूलना नहीं। स्थूल दृष्टि से देखने पर सब प्रयत्न व्यर्थ होगा।।४३।। जो स्थूल दृष्टि से देखता है वह मुझे बिलकुल जानते नहीं। स्वप्न में अमृत पीने से कोई अमर नहीं होता।।४४/४५।। जैसे नक्षत्रों का प्रतिबिंब जल में देखने से उनको रत्न समझकर, पत्थर पर चोंच पटकनेवाले राजहंस का नाश होता है।।४६।। मृग मरीचिका को गंगाजल समझकर उसके पास जाने से क्या लाभ होगा? कल्पवृक्ष समझकर बबूल के वृक्ष का आश्रय लेने से क्या वह इच्छित फल दे सकता है?।।४७।। दो लड़िओं का नीलमणिओं का हार समझकर सांप को पकड़ने से, या रत्न समझकर पत्थर को चुनना प्रारंभ करने से,।।४८।। सुवर्ण मुद्रा समझकर जलते हुये अंगारों को वस्त्र में भरने से, या अपने ही प्रतिबिंब को प्रतिस्पर्धी समझ कर कुएं में कूदने से सिंह को क्या लाभ हुआ?।।४९।। वैसे मैं संसार में साकार रूप धारण करता हूं ऐसा जिन्होंने कृत निश्चय किया है उन्होंने सत्य समझकर जल में दिखनेवाले चंद्रमा के प्रतिबिंब को पकड़ने का प्रयास किया है।।१५०।। ऐसा कृत निश्चय व्यर्थ होता है। हे पार्थ! माढ़ पीकर अमृत पीने का फल देखने का प्रयास करना है।।५१।। यह स्थूल आकार नष्ट होनेवाला रहता है। मन में इसका भरोसा करते हैं। वैसे मुझ अविनाशी को देखना असंभव है।।५२।। परिचम समुद्र के पास जाने के लिए क्या पूर्व दिशा में जाना होगा? या भूसा कूटने से कभी धान्य कण प्राप्त हो सकते हैं?।।५३।। मेरे यह साकार शरीर को जानने से क्या मेरा स्वरूप जाना जायेगा? फेन पीने का प्रयास करने से जल पीने जैसी तृप्ति नहीं होगी।।५४।। अतः मोहित मनोवृत्ति से स्थूल शरीर भगवद् स्वरूप है, ऐसा भ्रम उन्हें होता है। मृत्युलोक के सब जन्म कर्म मेरे भी स्वरूप में समझते हैं।।५५।। इस प्रकार से मैं नामरहित हूं किंतु मुझे नाम देते हैं। मैं अक्रिय हूं, किंतु मुझपर कर्म करने का आरोप करते हैं। मैं वास्तविक विदेही हूं, किंतु देह के धर्म मुझ पर आरोपित करते हैं।।५६।। मैं निराकार हूं, किंतु मुझ पर आकार का आरोप करते हैं। मैं निरुपाधिक हूं, किंतु मुझे सुखसाधन समर्पित करते हैं। मुझे शास्त्र मर्यादा का बंधन नहीं है, किंतु मुझे आचार, व्यवहार से परखते हैं।।५७।। मैं वर्ण रहित हूं, किंतु मुझे विशेष जाति का समझते हैं। चरणरहित मुझे चरण, हाथरहित को हाथ, ऐसे अवयव समझते हैं।।५८।। मेरे स्वरूप का कोई नाप नहीं है। क्योंकि मैं अमर्याद हूं, किंतु मुझे मर्यादा का बंधन लगाते हैं। मैं सर्वत्र हूं, मेरे लिये किसी एक स्थान की कल्पना करते हैं। जैसे प्राणी स्वप्न में अरण्य देखता है।।५९।। मेरे कर्ण न होते हुये कर्ण, चक्षु न होते हुए नेत्र की कल्पना गोत्ररहित होते हुए विशेष गोत्र का आरोप एवं रूपरहित होते हुये मेरे स्वरूप सौंदर्य का वर्णन करते हैं।।१६०।। मैं स्वयं तृप्त हूं नैवेद्य समर्पण करके मैं तृप्त हुआ हूं ऐसी कल्पना करते हैं।।६१।। मैं आच्छादन रहित होते हुए मेरे लिये वस्त्र आदि समर्पित करते हैं।। श्रृंगार के लिए आभूषण समर्पित करते हैं। मैं सबका अधिष्ठान हूं किंतु मेरे उत्पत्ति

Funding by IKS-MoE

भूषणातीत को भूषण। मुझ सबकारण को कारण। समझत वे।।६२।। मुझ सहज की मूर्तिकरत। स्वयंभू मुझको प्रतिष्ठत। निरंतर को आव्हानत। विसर्जत पार्थ।।६३।। मैं सर्वदा स्वतः सिद्ध। उसको बाल तरुण वृद्ध। मुझ एकरूप को संबंध। जानत ऐसे।।६४।। मुझ अद्वेत को द्वैत। अकर्ता को कर्तृत्व। अभोक्ता को भोक्तृत्व। कहत जात।।६५।। मुझ अकुल का कुल बनरत। मुझ नित्य के निधन से दुःखित। मुझ सर्वान्तर को कल्पत। अरिमित्र।।६६।। मैं स्वानन्दाभिरामु। मुझ बहु सुखों का कामु। सर्वगत मैं समु। कहत एकदेशी।।६७।। चराचर में मैं आत्मा एक। कहत मैं करत कैपक्ष। एकको माया एकको रोष। पंडुकुंवर।।६८।। किंबहुना यह समस्त। मानुष धर्म प्राकृत। वह सब मुझमें पार्थ। विपरीत भाव ऐसा।।६९।। मूर्ति आकार देखत। देवभाव से भजत। खंडित यदि त्यजत समझत। देवत्व भंग।।१७०।। मुझको इसी प्रकार। जानत मनुजाकार। अतः यह ज्ञानही धनुर्धर। अज्ञानकारक।।७१।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

उनका जीवन मोघ। जैसे वर्षा बिन मेघ। या मृगजल के तरंग। दूर से ही सत्य।।७२।। अथवा मिट्टी के असवार। किंवा जादूगर के अलंकार। या अभ्र का गंधर्व नगर। आकाश में पार्थ।।७३।। साबरी बढ़त अर्जुन। भीतर पोली ऊपर फलबिन। जैसे व्यर्थ होत स्तन। अजागल के।।७४।। वैसा धिग् उन मूर्खों का जीवन। धिग् उनके कर्म जान। जैसे साबरी का फल निर्माण। असंभव।।७५।। जो कुछ वे पढ़त। जैसे श्रीफल मर्कट फोड़त। या अंध के हाथ प्राप्त। मोती जैसा।।७६।। किंबहुना उनका शास्त्र। शिशुकर में जैसा अस्त्र। या अशुचिर्भूत को मंत्र। बीज कथन।।७७।। अतः अशेष ज्ञान जात। और आचरण समस्त। सब कुछ होत व्यर्थ। चित्तहीन का।।७८।। तमोगुण की राक्षसी पार्थ। सद्बुद्धि को करत नष्ट। विवेक का ठांव मिटावत। निशाचरी।।७९।। उस प्रकृति से ग्रस्त। अतः सर्वदा चिंताक्रांत। मुख गुफा में प्रवेशत। तामसी के।।१८०।। जहां आशा की लार में। हिंसा जिव्हा स्नात उसमें। असंतोष मांसखंड मुख में। मुरावत अखंड।।८१।। जो अनर्थ कर्णपर्यंत। ओष्ठ चबाके बाहर निकलत। जो प्रमादपर्वत की खाई विस्तृत। सदोदित।।८२।। जहां द्वेषकराल दंष्ट्र। ज्ञान का रगड़ा करत पार्थ। जो अगस्ती आच्छादत। स्थूलबुद्धि।।८३।। ऐसे आसुरी के मुख में। भूतबली जात उसमें। वे डूबत कुंड में। व्यामोह के।।८४।। तमोगर्त में गिरत। विवेक हस्त सहाय्य न पावत। बहकर वे कहां पहुंचत। पता न कुछ भी।।८५।। अतः रहने दो यह वर्णन। न करो मूर्ख का गुणगान। वृथा न करना क्षीण। वाणी को अपने।।८६।। ऐसे बोलत देव। जी हां कहत पांडव। सुनो वाणी को सुख अपूर्ण। साधुकथा ऐसी।।८७।।

महातमानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्य मनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

की कल्पना करते हैं।।६२।। मैं नित्य हूं किंतु मेरी मूर्ति बनाते हैं। मैं स्वयंभू हूं किंतु मेरी प्रतिष्ठापना करते हैं। मैं निरंतर हूं किंतु मेरा आवाहन एवं विसर्जन करते हैं।।६३।। मैं नित्य स्वतः सिद्ध हूं। मुझ एकरूप को बाल, तरुण, वृद्ध की कल्पना करते हैं।।६४।। मेरी नित्य अद्वैत स्थिति रहती है किंतु मुझमें द्वैत की कल्पना करते हैं। मैं कर्मरहित हूं, किंतु मैं कर्म करता हूं ऐसा समझते हैं। मैं अभोक्ता होते हुए भी उपभोग करता हूं ऐसी कल्पना करते हैं।।६५।। मेरा कोई कुल नहीं है, किंतु मेरे कुल का वर्णन करते हैं। मैं नित्य होते हुए भी मेरे निधन से दुःखी होते हैं।। मैं सर्वांतर्यामी हूं किंतु मेरे शत्रुओं की एवं मित्रों की कल्पना करते हैं।।६६।। मैं आत्मानंद में निमग्न रहनेवाला हूं मुझे अनेक सुखों की इच्छा है ऐसी कल्पना करते हैं। मैं सर्वत्र समप्रमाण में व्याप्त हूं किंतु मैं एक देश में, एक स्थान में रहता हूं ऐसा कहते हैं।।६७।। चराचर का मैं एकहि आत्मा हूं किंतु एक पर मैं प्रेम करता हूं एवं दूजे को शत्रु समझकर मारता हूं, ऐसा हे पंडुपुत्र मुझपर आरोप करते हैं।।६८।। किंबहुना यह सब मनुष्य धर्म मुझमें विद्यमान है ऐसा विपरीत भाव रखते हैं।।६९।। मूर्ति में भगवान का वास है ऐसी कल्पना करते हैं। मूर्ति खंडित होते ही भगवान का नाश हुआ ऐसा समझकर पूजन बंद कर देते हैं।।१७०।। मुझे सामान्य मनुष्य समझकर व्यवहार करते हैं। अतः हे धनुर्धर! उनका यह ज्ञान अज्ञान कारक है।।७१।।

भगवान का स्वरूप न जानते हुए फल की व्यर्थ आशा करनेवाले, निष्फल कर्म करनेवाले, व्यर्थ कुतर्क करनेवाले, विवेकशून्य ज्ञानी, ईश्वर स्वरूप के अज्ञान से राक्षसी, हिंसा, द्वेष से आसुरी, अविरत विषय भोगने की प्रवृत्ति, मोहमाया प्रकृति पर अवलंबित रहते हैं।।१२।।

अतः उनका जीवन व्यर्थ है। बिना वर्षाकाल मे मेघ या मृगमरीचिका के जल में उत्पन्न होनेवाले तरंग जैसे दूर से अच्छे लगते हैं।।७२।। या मिट्टी के घुड़सवार, या इंद्रजाल के बनाये अलंकार या आकाश में दिखनेवाले मेघों का गंधर्वनगर जैसा मिथ्या आभास होता है।।७३।। हे अर्जुन! साबरी वृक्ष का पौधा भीतर से पोला होता है, तथा फलहीन रहता है। जैसे अज के गले के स्तन व्यर्थ होते हैं (उससे दूध नहीं निकलता)।।७४।। वैसे अज्ञानियों के जीवन को धिक्कार है। उनके कर्म को धिक्कार है। साबरी वृक्ष के फल किस काम के।।७५।। बंदर का नारियल तोड़ना या अंधे को मौक्तिक प्राप्त होना व्यर्थ होता है। वैसे जो कुछ वे पढ़ते हैं वह व्यर्थ होता है।।७६।। छोटे बालक के हाथ में जैसे अस्त्र देना, या अशुचि मनुष्य को बीजमंत्र बताना, जैसा अहितकर होता है, वैसा अज्ञानीओं का शस्त्राध्ययन रहता है।।७७।। अतः उनका संपूर्ण ज्ञान एवं आचरण व्यर्थ होता है।।७८।। हे पार्थ! तमोगुणरूपी राक्षसी सद्‌बुद्धि को नष्ट करती है। वह निशाचरी विवेक का नामोनिशान रहने नहीं देती।।७९।। तामसी प्रकृति के लोग सर्वदा चिंताग्रस्त रहते हैं। ऐसे लोग तामसी राक्षसी के मुखरूपी गुफा में प्रविष्ट होते हैं।।१८०।। वहां आशा की लार में हिंसारूपी जिव्हा नहाती रहती है। असंतोष रूपी मांस के टुकड़े को नित्य मुख में चबाती रहती है।।८१।। वह राक्षसी अनर्थरूपी कर्णपर्यंत होठों को चाटते हुए बाहर निकलती है। वह गलतियांरूपी, विशाल पर्वत की खाई है।।८२।। जहां द्वेषरूपी कराल दांत हैं। हे पार्थ! वे ज्ञान को रगड़कर नष्ट करते हैं। अगस्ती ऋषी को जैसे कुंभ का आवरण था, वैसे स्थूल बुद्धि अज्ञानियों को वह तामसी राक्षसी का आवरण रहता है।।८३।। ऐसे आसुरी प्रकृति के मुख में भूतबली के सदृश भ्रांति के कुंड में वे डूबते हैं।।८४।। तमोगुण के गड्ढे में वे गिरते हैं। विवेकरूपी हाथ की सहायता उन्हें प्राप्त नहीं होती। बहते हुए वे कहां पहुंचते हैं पता नहीं लगता।।८५।। अतः यह वर्णन रहने दो। अज्ञानियों का गुणवर्णन नहीं करना चाहिये। अपनी वाणी को व्यर्थ कष्ट होते हैं।।८६।। भगवान की वाणी सुनकर अर्जुन ने कहा, आप जो कहते हैं वह बिलकुल ठीक है। तब श्रीकृष्ण ने कहा, वाणी को सुख देनेवाली अपूर्व साधुकथा अब सुनो।।८७।।

दैवी प्रकृति का आश्रय लेनेवाले महात्मा, मुझे पंचमहाभूतों का आदिकारण एवं क्षयरहित जानकर अनन्य भाव से मेरी भक्ति करते हैं।।१३।।

Funding by IKS-MoE

जिनके शुद्ध मन में पार्थ। रहूं मैं क्षेत्र संन्यासी अखंडित। निद्रा में भी जिनको उपासत। वैराग्य पूर्ण।।८८।। जिनके आस्था के सद्भाव। में धर्म करत राणीव (राज्य)। जिनका मन सार्द्र पांडव। विवेक से।।८९।। जो ज्ञानगंगा में स्नात। पूर्णता सेवन से तृप्त। उनका शरीर पल्लवित। शांति पर्ण से नये।।१९०।। जो ब्रह्मपरिणाम का कोंभ। जो धैर्य मंडप का स्तंभ। जो आनंद समुद्र में कुंभ। ओतप्रोत।।९१।। जिनको ऐसी भक्ति की प्राप्ति। कैवल्य को दूर लोटत किरीटि। जिनकी सहज लीला में नीति। सजीव भासत।।९२।। जिनके अवयव पूर्ण। शांति आभूषण करत धारण। जिनके चित्त की खोल अर्जुन। मुझ सर्वव्यापक को।।९३।। ऐसे जो महानुभाव। दैवी प्रकृति का देव। जो जानकर सर्व। स्वरूप मेरा।।९४।। तब बुद्धिंगत प्रेम। मुझको भजत सप्रेम। किंतु द्वैत मनोधर्म। स्पर्शत न किंचित्।।९५।। ऐसे मद्रूप होकर अर्जुन। करत मेरी सेवा पूर्ण। वह नवल कथा जान। सुनो अब।।९६।।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

कीर्तनरंग के नटन से। नष्ट सब प्रायश्चित जैसे। जहां पाप नामशेषसे। हुए सहज।।९७।। यम दम को अवमानत। तीर्थ सब ही होत व्यर्थ। यमलोक का बंद होत। व्यवहार पूर्ण।।९८।। यमु कहे क्या यमिजे। दमु कहे किसको दमिजे। तीर्थ कहत क्या भक्षिजे। दोष औषध को नहीं।।९९।। ऐसा मेरा नामघोष। नाशत सब विश्वदुःख। अशेष विश्व में महासुख। घूमत पूर्ण।।२००।। वे बिन उषा प्रकाशवत। बिन अमृत जीवन देत। योग बिन दर्शवत। कैवल्य चक्षुको।।१।। रावरंक मानत समान। सान श्रेष्ठ सम अर्जुन। आनंदका धाम पूर्ण। जगत को होत।।२।। कोई क्वचित वैकुंठ पावत। वे वैकुंठ करत जग समस्त। ऐसे नाम गौरव से पार्थ। धवलत विश्व।।३।। तेज उनका सूर्य समान। किंतु अस्त उसका दूषण। एक कला में चंद्र पूर्ण। ये सदा पूर्ण।।४।। मेघ उदार किंतु रीतत। अतः उपमा न सार्थ। ये निःशंक पंखयुक्त। पंचानन।।५।। जिनके वाचा सन्मुख। मन्नाम नाचत सकौतुक। जन्म सहस्र सेवा से आगे एक–। बार मुख में।।६।। न मैं वैकुंठ में वसत। एक बार भानुबिंब में दिखत। योगियों के भी उल्लंघत। मानस पार्थ।।७।। किंतु उनके पास। खोया मैं पाऊं खास। जहां चलत नामघोष। मन्नाम का।।८।। कैसे मेरे गुण से तृप्त। जो देशकाल विस्मरत। कीर्तन से मुख पावत। अपने ही में।।९।। कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंद। ये नामके प्रबंध शुद्ध। और आत्मचर्चा विशद। अखंड गावत।।२१०।। इसविध बहु प्रकार। करत गुणगान साचार। विचरत कित्येक चराचर मध्ये पार्थ।।११।। कई और अर्जुन। करत इंद्रियदमन। जीतकर पंच प्राण मन। जय पत्र लेत।।१२।। बाहर यम नियम का कुंपण (बाड़ी)। अंदर वज्रासन का

निरंतर पवित्र स्थल में रहनेवाला मैं क्षेत्र संन्यासी बनकर उनके अंतःकरण में रहता हूं जिनकी निद्रा में भी वैराग्य सेवा करता है।।८८।। जिनकी आस्था एवं सद्‌भाव में धर्म राज्य करता है। हे पांडव! जिनका मन नित्य विवेक से परिपूर्ण रहता है।।८९।। जो ज्ञानरूपी गंगाजल में नित्य स्नान करता रहता है। जो पूर्णता का सेवन करने से तृप्त है। उनका शरीर शांतिरूपी कोमल पत्तों से पल्लवित है।।१९०।। जिसको ब्रह्मावस्था प्राप्त है ऐसा पुरुष धैर्यरूपी मंडप का स्तंभ है। वह ब्रह्मानंदरूपी समुद्र में डुबोया हुआ अंतर्बाह्य परिपूर्ण घट है।।९१।। जिनको ऐसी भक्ति प्राप्त है, हे किरीटी! वे मोक्ष की पर्वा नहीं करते। उनके स्वाभाविक व्यवहार से नीति प्रकट होती है।।९२।। उनके संपूर्ण अवयवों से शांति प्रकट होती है मानो उन्होंने शांति के अलंकार धारण किये हैं। हे अर्जुन! अतः मैं सर्वव्यापक होते हुए भी उनका अंतःकरण मेरा आवरण बनता है।।९३।। ऐसे व्यापक अनुभव प्राप्त महानुभाव दैवी प्रकृति का सुदैव है। ऐसे महात्माओं को साक्षात मेरा स्वरूप समझना चाहिये।।९४।। मेरी भक्ति करने से उनका भक्तिप्रेम बढ़ता ही जाता है। उनके मन को द्वैतभाव का यत्किंचित स्पर्श नहीं होता।।९५।। हे अर्जुन! ऐसे मद्रूप होकर वे मेरी सेवा करते हैं। अब वही नवलपूर्ण कथा सुनो।।९६।।

मेरा नाम स्मरण नित्य करनेवाले, मेरे प्राप्ति के लिंए अष्टांग योगसाधना करके प्रयत्न करनेवाले, सर्वत्र में ही व्याप्त हूं ऐसा समझकर भक्तिपूर्वक नमस्कार करनेवाले, मुझमें मन लगाकर नित्य मेरी उपासना करते हैं।।१४।।

संकीर्तन में नित्य तन्मय होने से भक्तों ने प्रायश्चित का विधि निष्प्रभ कर दिया है। जिससे नाममात्र पाप शेष नहीं रहा।।९७।। यह दम के प्रति दुर्लक्ष करते हैं। पाप शेष न रहने से सब तीर्थो का महिमा व्यर्थ होता। यमलोक में पापियों का जाना बंद होने से वहां का सब कार्य बंद हो जाता है।।९८।। निग्रह किसका करना चाहिये, ऐसा यम कहने लगा। कौन से इंद्रिय का दमन किया जाय ऐसा दम कहने लगा। क्योंकि संकीर्तन से मन एवं इंद्रिया आत्मस्वरूप में तल्लीन हो गये। यत्किंचित पाप शेष नहीं। अब क्या भक्षण करेंगे ऐसा तीर्थस्थान कहने लगे।।९९।। मेरे नाम संकीर्तन से विश्व के दुःख इस प्रकार नष्ट होते हैं। संपूर्ण विश्व महासुख से परिपूर्ण हो गया है।।२००।। उषःकाल के बिना ज्ञानसूर्य होता है। अमृत के बिना जीवन प्रदान किया जाता है। अष्टांग योग साधना के बिना ही साधकों को मोक्ष प्राप्त होता है।।१।। राजा एवं दरिद्री समान प्रतीत होते हैं। हे अर्जुन! वे छोटे बड़े में भेद नहीं रखते। उनके लिये संपूर्ण विश्व आनंदधाम बनता है।।२।। पुरातन काल में क्वचित कोई व्यक्ति, कभी तो भी, वैकुंठ की प्राप्ति करता था। किंतु अब भक्तों ने संपूर्ण विश्व को वैकुंठ बना लिया है। हे पार्थ! केवल नामसंकीर्तन से विश्व आलोकित हो गया है।।३।। ऐसे महात्मा सूर्य के समान हैं ऐसा कहना उन्हें दूषण है, क्योंकि सूर्य का अस्त होता है किंतु ज्ञानसूर्य का कभी अस्त नहीं होता। चंद्रमा केवल पूर्णिमा के दिन पूर्ण दिखता है किंतु यह नित्य पूर्ण होते हैं।।४।। मेघ जल की वर्षा करने में उदार होते हैं किंतु वे स्वयं नष्ट होते हैं। अतः भक्तों को कौनसी भी उपमा नहीं दे सकते। यह निःसंशय पंखलगे हुए कृपासिंह हैं।।५।। मेरा नामस्मरण करने के लिए हजारो जन्म सेवा करने की आवश्यकता होती है। तब मेरा नाम वाणी में नित्य नृत्य करता है।।६।। मैं वैकुंठ में नहीं रहता। सूर्यबिंब में दिखाई नहीं देता। हे पार्थ! योगियों के अंतःकरण का भी उल्लंघन मैं करता हूं।।७।। इस प्रकार से खोया हुआ मैं, मेरा नाम संकीर्तन जहां मेरे भक्त करते हैं, हे पार्थ! मैं निश्चित उनके पास मिलता हूं।।८।। मेरे भक्त मेरे गुणवर्णन में तृप्त होते हैं। वे देशकाल भूल जाते हैं। नामसंकीर्तन करते हुए अपने में ही उन्हें आत्मसुख प्राप्त होता है।।९।। कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंद इस नाम का संकीर्तन करते हुए मेरे भक्त विपुल एवं स्पष्ट आत्मचर्चा करते हैं।।२१०।। विविध प्रकार से भगवान का गुणवर्णन करते हुए, हे पार्थ! मेरे भक्त चराचर में विचरण करते हैं।।११।। हे अर्जुन। कुछ भक्त इंद्रियदमन करके पंचप्राण एवं मन पर विजय प्राप्त करते हैं।।१२।। बाह्य इंद्रियों में यम नियमों की बाड लगाकर, हे अर्जुन! भीतर वज्रासन से

Funding by IKS-MoE

कोट अर्जुन। ऊपर प्राणिनियमन की संगीन। डागत तोप।।१३।। तब ऊर्ध्वमुख
शक्ति। मन पवन की होत युति। सतरावियाका ताल किरीटि। स्वाधीन
करत।।१४।। वहां प्रत्याहार बल देत। विकार परिवार नष्ट समस्त। इंद्रियों को
बांधकर लावत। हृदयान्तर में।।१५।। तब धारणा अश्व आक्रमत। महाभूतों का
ऐक्य करत। चतुरंग सेना नाशत। संकल्प की।।१६।। तब जैत रे जैत। ध्यान का
डंका बाजत। तन्मयता का झलकत। एकछत्र।।१७।। पश्चात समाधिश्री का
अशेख। आत्मानुभव राज्यसुख। पट्टाभिषेक देख। समरत से होत।।१८।। ऐसा यह
गहन। करत मेरा भजन। अब सुनो अर्जुन जो अन्य। भजत मुझको।।१९।। तब
संपूर्ण विस्तार में। जैसा तंतु एक वस्त्र में। वैसा बिन मेरे चराचर में। दूजा न
जानत।।२२०।। आदिब्रह्मा से देख। अंत में मशक तक। मेरा ही स्वरूप एक।
जानत पार्थ।।२१।। तब सान (लघु) श्रेष्ठ ना कहत। सजीव निर्जीव न मानत। जो
देखत उसको पूजत। मद्रूप भाव से।।२२।। न स्मरत अपना उत्तमत्व। न देखत
योग्ययोग्यत्व। एकसर मानत व्यक्तिमात्र। वंदनीय।।२३।। पर्वत से उदक गिरत।
सीधे तल में पहुंचत। वैसे समस्त भूतजात को नमत। ऐसा स्वभाव उनका।।२४।।
या फलभार से तरुशाखा। सहज भूमितक झुकत पार्था। वैसे जीवमात्र प्रति
अशेखा। नम्र होत।।२५।। अखंड अगर्वता प्राप्ति। विनय ही उनकी संपत्ति।
जयजय मंत्र से सब किरीटी। समर्पत मुझको।।२६।। नमन से मानापमान नष्ट।
अवचित मद्रूप होत। ऐसे निरंतर मीनत। उपासक मुझको।।२७।। अर्जुन यह गुरुवी
भक्ति। कह दी मैंने तुझप्रती। अब ज्ञानयज्ञ से करत उपास्ति। वे सुनो भक्त।।२८।।
उनके भंजन की पद्धति। तुम जानत किरीटि। जो पहले ही वह गोष्टी। कही
तुझको।।२९।। तब हां जी कहत अर्जुन। यह दैवीप्रसाद पूर्ण। किंतु क्या अमृत का
सेवन। अधिक होत?।।२३०।। इस मोल से श्री अनंत। जानत अर्जुन की इच्छा
उत्कट। सुख पावत उनका चित्त। डोलन लागत।।३१।। कहत अच्छा किया पार्था।
वैसे यह अनवसर सर्वथा। किंतु कहलावत आस्था। तेरी मुझको।।३२।। तब अर्जुन
बोलत। क्या चकोर कोही चंद्रिका उपयुक्त?। जगत को भी वह शमवत। यह
स्वभाव उसका।।३३।। चकोर काज से अपने। चंचु करत चंद्र के सामने। वैसे प्रार्थत
हम हेतु से अपने। कृपासिंधु आप ।।३४।। मेघ कितना महान। जगकी आर्ति करे
निवारण। तुलना में चातक की तृषा कृष्ण। अति अल्प।।३५।। अंजुलीभर जल के
प्रीत्यर्थ। गंगा पास ही जाना पड़त। वैसे उत्कंठा कम या बहुत। कहिये कृष्ण।।३६।।
तब देव कहत अर्जुन। मेरा मन अति प्रसन्न। अब कोई न और प्रयोजन। स्तुतिका
यहां।।३७।। तुम सुनत होकर दक्ष। वही वक्तृत्व को उत्साहवर्धक। कहत
यदुकुलतिलक सम्मान से।।३८।।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

मूलबंध लगाते हैं। उस पर प्राणायाम की तोफ दृढ़ रखते हैं।।१३।। तब उर्ध्वमुख कुंडलिनी शक्ति के प्रकाश में मन एवं प्राणवायु का मिलन होता है। तब सत्रहवी कला के, परिपूर्ण आत्मज्ञानरूपी अमृत के सरोवर पर विजय प्राप्त होना है।।१४।। प्रत्याहार के बल से विकारों का अंत होता है। मानो इंद्रियों को बांधकर हृदय के भीतर ले आते हैं।।१५।। तब धारणारूपी घोड़ा आक्रमण करके पंचमहाभूतों को एकत्रित करते हैं। तब मन, बुद्धि, चित्त अहंकार रूपी संकल्प की सेना पराजित होती है।।१६।। विजय का जयघोष करते हुए ध्यान का डंका बजने लगता है। तन्मयता का एकछत्र राज्य स्थापित होता है।।१७।। उसके पश्चात समाधिरूपी लक्ष्मीजी का आत्मानुभव रूपी संपूर्ण राज्यसुख का समरसता से राज्याभिषेक होता है।।१८।। हे अर्जुन! ऐसा मेरा गहन एवं गूढ़ भजन करते हैं। अन्य भक्त मुझे दूसरे मार्ग से भजते हैं। वह भी सुनो।।१९।। जैसे वस्त्र में संपूर्ण तंतु हीरहते हैं वैसे चराचर विश्व में भगवान के बिना अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा वे समझते हैं।।२२०।। ब्रह्मदेव से लेकर मशक तक मेरा ही स्वरूप वह मानते हैं।।२१।। तब किसी को भी छोटे बड़े नहीं समझते। सजीव निर्जीव में भेद नहीं मानते। जिसको देखते हैं उसको भगवद्रूप समझकर उसका पूजन करते हैं।।२२।। उन्हें अपने उत्तमत्व का बोध नहीं रहता। किसी को योग्य अयोग्य नहीं समझते। सबको वंदनीय समझते हैं।।२३।। पर्वत पर गिरनेवाला जल जैसे सीधे नीचे पहुंचता है वैसे सब प्राणिमात्र को वे नमन करते हैं। ऐसा उनका स्वभाव बन जाता है।।२४।। फल के भार से वृक्ष की शाखाएं जमीन तक झुकती हैं, हे पार्थ! वैसे सब जीवमात्र के प्रति उनका नम्रता का भाव रहता है।।२५।। नित्य अहंकाररहित अवस्था रहती है। विनम्रता उनकी संपत्ति होती है। हे किरीटी! जयजयकार करते हुए मुझे सब कुछ समर्पित करते रहते हैं।।२६।। नमस्कार करने से मान अपमान की भावना नष्ट होती है। अतः वे स्वाभाविक रीति से भगवद्रूप होते हैं। भगवद्रूप होकर इस प्रकार से वे नित्य मेरी उपासना करते हैं।।२७।। हे अर्जुन! यह सर्वश्रेष्ठ भक्ति है। वही तुझे मैंने बताई है। अब ज्ञानरूप यज्ञ से जो मेरी उपासना करते हैं। वह पद्धति सुनो।।२८।। हे किरीटी! उनके भजन की पद्धति तुम जानते हो। इसके पूर्व एक बार यह बातें तुम्हें बताई हैं।।२९।। तब अर्जुन ने कहा 'जी हां'! यह पूर्ण दैवीप्रसाद है। किंतु अमृत का सेवन कभी अधिक नहीं होता। ।।२३०।। यह बात सुनकर श्री अनंत ने अर्जुन की उत्कट इच्छा समझ ली। अंतःकरण में सुख प्राप्त होने से भगवान उस समय आनंद से डोलने लगे।।३१।। हे पार्थ! तुमने अच्छा किया। वैसे यह योग्य अवसर नहीं है। किंतु तुम्हारी सुनने की आस्था मुझे कहने के लिये बाध्य करती है।।३२।। तब अर्जुन ने कहा, चंद्रप्रकाश क्या केवल चकोर के लिये उपयुक्त होता है। विश्व को भी वह शांत करता है। उसका तो यह स्वभाव है।।३३।। चकोर अपने कार्य के लिये अपनी चोंच चंद्र के सम्मुख खोलता है। वैसे हम लोग अपनी इच्छा पूर्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। आप तो कृपा के सागर हो।।३४।। मेघ कितना महान होता है। जग की पीड़ा का निवारण करता है। उसकी तुलना में चातक की प्यास अत्यंत अल्प होती है।।३५।। अंजुलीभर जल के लिये गंगाजी के पास जाना पड़ता है। वैसी उत्कंठा कम हो या अधिक, आप कहिये।।३६।। तब देव कहते हैं, हे अर्जुन! मेरा मन अत्यंत प्रसन्न है। अब स्तुति का कोई प्रयोजन नहीं है।।३७।। तुम ध्यानपूर्वक सुन रहे हो वही वाणी का उत्साह बढ़ाता है। यदुवंश के श्रेष्ठ श्रीकृष्ण सम्मानपूर्वक ऐसा कहने लगे।।३८।।

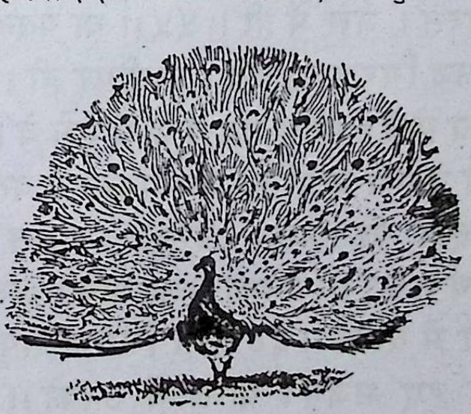

दूसरे भक्त सर्वतोमुख मुझे ज्ञान यज्ञ से, एकत्व से, पृथकता से एवं अन्य प्रकार से मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं।।१५।।

Funding by IKS-MoE

सुनो ज्ञानयज्ञका रूप। जहां आदिसंकल्प यूप। महाभूतों का मंडप। द्वैत पशू।।३९।। पांचों के विशेष गुण। अथवा इंद्रियां और प्राण। यही यज्ञोपचार भरण। अज्ञान घृत।।४०।। कुंड दो बुद्धि एवं मन। ज्ञानाग्नि प्रदीप्त पूर्ण। साम्य दृढ़ अर्जुन। वेदिका जानो।।४१।। सविवेकमति पाटव। वही मंत्रविद्यागौरव। शांति स्त्रुक स्त्रुव। जीव यज्वा।।४२।। वह प्रतीति पात्र से। विवेक महामंत्र से। ज्ञानाग्नि होत्र से। नाशत भेद।।४३।। वह अज्ञान पूर्ण नाशत। याज्ञिक यजन भेद समाप्त। आत्म समरस से नहात। अवभृथ में जब।।४४।। तबभूत, विषय, इंद्रियां जान। सब अभेद नाहीं भिन्न। अशेष एक रूप माने अर्जुन। आत्मबुद्धि।।४५।। जैसे जब होवे जागृत। कहत स्वप्न की सेना विचित्र। मैं ही हुआ सार्थ। निद्रावश।।४६।। अब न सेना कोई। सब कुछ एक मैं ही। ऐसा स्थिर एकत्व भावही। विश्वात्मक।।४७।। तब वह जीव यह भाषा नष्ट। आब्रह्म परमात्म बोध पार्थ। ऐसा ज्ञानाध्वर से भजत। ऐक्यभाव से।।४८।। अथवा अनादि यह अनेक। भिन्न किंतु एकसम एक। और नामरूपादिक। वह भी विषम।।४९।। अतः विश्व भिन्न। किंतु न भिन्न उनका ज्ञान। जैसे अवयव सब भिन्न-भिन्न। परन्तु एक देह के।।५०।। या शाखा सान थोर। परंतु एक तरुवर। बहु रश्मि किंतु दिनकर। एक ही जैसे।।५१।। वैसे नानाविध व्यक्ति। भिन्न नाम भिन्न वृत्ति। भिन्न भूतों में मुझे किरीटि। जानत अभिन्न।।५२/५३।। जब जहां वस्तु कोई। देखत जो-जो सबही। मेरे बिन अन्य नाहीं। ऐसा ही बोध।।५४।। देखो तरंग जहां जात। वहां जल ही एक पार्थ। रहत या विरत। जल में ही।।५५।। या पवन परमाणु उठावत। पृथ्वी भाव न नष्ट होत। पुनः जब गिरत पहुंचत। पृथ्वीपर ही।।५६।। मनको जहां जैसा भाये। वैसे अनुकूल होवे ना होवे। परंतु सब कुछ मैं ऐसे वे। होकर रहत।।५७।। मेरी जितनी व्याप्ति। उतनी उनकी प्रतीति। बहुधाकार से वर्तत किरीटि। ऐक्य भाव से।।५८।। भानुबिंब हर एक को जैसे। सन्मुख भासत वैसे। आपने ही व्यापकत्व से। विश्व कोपार्थ।।५९।। उनका ऐसा ज्ञान। अंतर्बाह्य अभिन्न। वायु जैसा गगन में अर्जुन। सर्वांग में वसत।।६०।। मैं जितना संपूर्ण। उनके सद्भाव का वही प्रमाण। अतः न करते हुए भजन। प्राप्त मैं उनको।।६१।। वैसे मैं ही एक सर्वत्र। कौन न मुझे उपासत?। यहां एक अज्ञान मात्र। अप्राप्त को।।६२।। इसविध जो उचित। ज्ञानयज्ञ से यजत। मुझको उपासत। कथित तुझको।।६३।। सर्वकाल जो कर्म होत। मुझको ही सहज सब पावत। किंतु मूर्ख मर्म न जानत। अतः न पावत मुझको।।६४।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

यह ज्ञान जब उदित। मुद्दल वेद मैं ही पार्थ। और विधान जो प्रतिपादत। क्रतु भी मैं ही।।६५।। उन कर्म से उत्पन्न। यथासांग विधिविधान। प्रकट जो यज्ञ से अर्जुन। वह भी मैं ही।।६६।। स्वाहा मैं स्वधा।।६७।। सोमादि औषधि विविधा। आज्य मैं

हे अर्जुन! अब ज्ञान यज्ञ का रूप सुनना। ज्ञानयज्ञ में मूल संकल्प पशु बांधने का खंभा होता है। पंचमहाभूत यज्ञ मंडप है। द्वैतभाव यज्ञ पशु है।।३९।। पंचमहाभूतों के विशेष गुण या इंद्रियां एवं प्राण हैं वही ज्ञानयज्ञ की उपचार विधान की सामग्री है। आहुति देने के लिए अज्ञानरूपी घी है।।२४०।। मन एवं बुद्धि के कुंडों में ज्ञान की अग्नि धधकती रहती है। हे अर्जुन! समता के भाव को दृढ़ यज्ञवेदी समझना।।४१।। विवेकयुक्त बुद्धि की कुशलता मंत्र विद्या की शक्ति है। शांति यज्ञपात्र है। जीव इसमें यज्ञकर्ता यजमान है।।४२।। यह यजमान जीव ब्रह्मानुभव पात्र से विवेक रूपी महामंत्र का उद्घोष करते हुए ज्ञानरूपी अग्नि में द्वैत की आहुति देता है।।४३।। जब अज्ञान का पूर्ण नाश होता है तब यज्ञकर्ता एवं यज्ञ का भेद नष्ट होता है। आत्मैक्य के जल में यज्ञ समाप्ति का अवभृत स्नान जीव करता है।।४४।। तब पंचमहाभूत, विषय, इंद्रियां, आदि में सब अभेद रहता है। हे अर्जुन! आत्मबुद्धि में केवल ब्रह्मभावना शेष रहती है।।४५।। निद्रा समाप्त होने पर जैसे जागृति आती है तब स्वप्न की सब विविध सेना स्वप्न में मैं ही बना था,।।४६।। अब कोई सेना नहीं। सब कुछ मैं अकेला हूं। ऐसा विश्वात्मक भाव ब्रह्मरूप में स्थिर हो जाता है।।४७।। तब जीवभाव नष्ट होता है। हे पार्थ! परमात्म बोध से वह ओतप्रोत भर जाता है। ऐसा ज्ञानयज्ञ से ऐक्य भाव से भजन होता है।।४८।। कुछ भक्त यह मानते हैं कि यह विश्व अनादि है। विभिन्न दिखते हुए भी सबमें एकता है। नामरूप के कारण उनमें भेद दिखाई देता है।।४९।। अतः विश्व में भेदभाव दिखाई देता है। किंतु भेदभाव के कारण ज्ञान पें भेद नहीं है। जैसे अवयव भिन्न होते हुये भी शरीर एक होता है।।२५०।। छोटी-बड़ी शाखाएं विभिन्न होते हुए भी एक ही वृक्ष की होती हैं। सूर्य किरण असंख्य होते हुये भी सूर्य एकही होता है। वैसे ही विविध प्रकार के व्यक्ति होते हुये भी उनके नाम एवं वृत्तियां भी अलग- अलग होते हुए भी वे भक्त यह जानते हैं कि मैं पूर्णरूप से भेदभाव से रहित हूं।।५२/५३।। यहां जो कोई वस्तु देखते हैं वह सब मेरे बिना अन्य कुछ भी नहीं ऐसा उन्हें ज्ञान रहता है।।५४।। हे पार्थ! तरंग जहां भी जाते हैं वहां सर्वत्र जलरूप ही होते हैं। तरंग रहते एवं जल में ही विलीन होते हैं।।५५।। वायु से मिट्टी के कण पृथ्वी से उड़कर आकाश में जाते हैं तब उनका पृथ्वी का मिट्टीत्व नष्ट नहीं होता। वे कण पुनः गिरकर पृथ्वीपर पहुंचते हैं।।५६।। इसी प्रकार कोई भी नाम रूपात्मक वस्तु चाहे वह अनुकूल रहे या नष्ट हो जाये वह निरंतर ब्रह्मरूप होती है।।५७।। मैं जिस प्रकार व्यापक हूं उसी प्रकार भक्त का ब्रह्मानुभव व्यापक होता है। हे किरीटी! ऐक्यभाव से वे सब व्यवहार करते रहते हैं।।५८।। देखनेवाले को सूर्य बिंब नित्य सन्मुख रहता है। हे पार्थ! इस विश्व को ब्रह्मभाव से जानने के कारण अपने में व्याप्त देखते हैं।।५९।। हे अर्जुन! उनके ज्ञान में भेदभाव नहीं होता। जैसी वायु आकाश में सर्वत्र व्याप्त रहती है वैसा उनका व्यापकत्व होता है।।२६०।। जितनी अधिक मेरी व्याप्ति है उतना उनका सद्भाव संपूर्ण होता है यही उसका प्रमाण है। अतः भजन न करते हुये भी मैं उन्हें प्राप्त होता हूं।।६१।। सब जगह में मैं एक ही हूं फिर मेरी उपासना कौन नहीं करता? जो लोग अज्ञानी है उन्हें मैं नित्य अप्राप्त हूं।।६२।। इस प्रकार से ज्ञान यज्ञ से जो योग्य रीति से मेरी उपासना करते हैं यह तुझे बताया है।।६३।। विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा, विविध साधनों से जिन कर्मों का आचरण होता है वह सब मुझे अंत में अर्पित होते हैं। मूढ़ जनों को यह न जानने के कारण वे मुझे प्राप्त नहीं होते।।६४।।

मैं ऋतु हूं, मैं यज्ञ हूं, मैं स्वधा, मैं औषधी, मंत्र घृत, अग्नि एवं हवन क्रिया भी मैं ही हूं।।१६।।

यह ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब मूल वेद भी मैं ही हूं ऐसा अनुभव आता है। हे पार्थ! तथा विधिविधान से जो यज्ञ किया जाता है वह ज्योतिष्टोमादि श्रोतयज्ञ भी मैं हूं।।६५।। उस वेद से बताये हुये मार्ग से कर्म के द्वारा उत्तम, संपूर्ण, सांगोपांग, वैश्वदेव आदि पाच प्रकार का जो महायज्ञ प्रकट होता है, वह भी मैं ही हूं।।६६।। भगवान को समर्पित अन्न, पितरों को समर्पित अन्न में ही हूं। विवधि सोम आदि औषधि, घृत, पलाश समिधा मैं ही हूं। याज्या पुरोनुवाक्यादि मंत्र, तथा देवता के उद्देश्य से अर्पण करने का हविर्द्रव्य मैं हूं।।६७।।

Funding by IKS-MoE

समिधा। मंत्र और हवि मैं।।६७।। होता मैं जिसमें होत हवन। यह अग्नि मेरा
स्वरूप अर्जुन। और हुतक वस्तु संपूर्ण। मैं ही सब।।६८।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

देखो जिसका अंगसंग। प्रसवत प्रकृति अष्टांग। यह समस्त जगत। वह पिता
मैं।।६९।। अर्धनारी नटेश्वरी। जो पुरुष वही नारी। वैसा मैं चराचरी। माता भी
जानो।।७०।। ब्रह्मसृष्टि की किरीटि। उपपत्ति और स्थिति। मुझसे ही होत
निश्चिति। अन्य से नाही।।७१।। ये प्रकृति पुरुष दोनों। उपजत अमनमनसेन
जानो। वह पितामह त्रिभुवन में मानो। विश्व का मैं।।७२।। और ज्ञानमार्ग संपूर्ण।
जहां एकवटत अर्जुन। वह चारों वेद सम्मिलित जान। वेद्य कहत।।७३।। जहां नाना
मतैक्य होत। शास्त्र परस्पर सहमत। भ्रमित ज्ञान पावे रूप सत्य। ऐसा पवित्र
जो।।७४।। ब्रह्मबीजका जो अंकुर। घोषध्वनि-नादाकार। जिसका भुवन जो
ॐकार। मैं ही वह।।७५।। जिस ॐकार कोख से। अक्षर प्रकट अउम ऐसे। सृजत
तीन वेद जैसे। त्वरित पार्थ।।७६।। अतः ऋग्यजुः सामु। ये तीनों मैं आत्मरामु।
एवं मैं ही कुलक्रमु। शब्द ब्रह्मा।।७७।।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

यह चराचर संपूर्ण पार्थ। जिस प्रकृति में समाहित। श्रान्त जब विश्रमत। वह
परमगति मैं।।७८।। और जिससे यह प्रकृति स्थित। जिस संग से विश्व प्रसवत।
जो प्रकृति आधीन भोगत। गुणत्रय।।७९।। वह विश्वश्री का भर्ता। मैं ही यहां
पार्था। मैं गोसावी सर्वथा। त्रिभुवन का।।८०।। आकाश सर्वत्र व्याप्त। वायु क्षणैक
स्तब्ध न रहत। पावक सदा दाहत। वर्षत जल।।८१।। पर्वत बैठक न छांडत। समुद्र
सीमा न उल्लंघत। पृथ्वी भूतभार वहत। यह आज्ञा मेरी।।८२।। मुझसे वेद बोलत।
मुझसे सूर्य चलत। मुझसे प्राण हिलत। जीवमात्र का।।८३।। मुझसे ही यमित। काल
भूतको ग्रासत। आज्ञा धारण करत। सकल जिसकी।।८४।। जो ऐसा समर्थ। वही
मैं जग का नाथ। गगन जैसा साक्षी भूत। मैं ही वह।।८५।। नामरूप से सर्वत्र। जो
सबमें संपृक्त। नाम रूप का आर्द्रत्व। स्वतः जो।।८६।। जैसा जल का कल्लोल।
और कल्लोल में जल। जैसे मैं जग में सकल। जग का निवास मैं।।८७।। जो मुझे
अनन्य शरण। उनका निवारूं मैं जन्ममरण। अतः शरणागत को शरण्य मैं ही
एक।।८८।। मैं ही एक अनेकत्व में। भिन्न-भिन्न प्रकृति गुण में। जगत के प्राणिमात्र
में। वर्तत सदा।।८९।। जैसे समुद्र सरस न गणत। कहीं भी सविता बिंबत। वैसे
ब्रह्मादि सर्व भूतों में पार्थ। सुहृद मैं।।२९०।। मैं ही सुनो अर्जुन। इस त्रिभुवन का
जीवन। सृष्टि क्षय प्रभव कारण। मूल वह मैं।।९१।। बीज शाखा प्रसवत। वृक्ष
बीज में समावत। वैसे संकल्प से सृष्टि होत। अंत में संकल्प में लय।।९२।। ऐसे
जगद्बीज का संकल्प। अव्यक्त वासना रूप। उसका कल्पान्त में जहां निक्षेप। वह

हवन करनेवाला मैं हूं। आवहनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, अवसथ्य सभ्य आदि श्रोत अग्नि मेरा स्वरूप है। हवि प्रक्षेप क्रिया मैं हूं। यज्ञ के लिये आवश्यक कुंड, मंडप आदि वस्तु भी मेरा ही स्वरूप है।।६८।।

इस विश्व का पिता, माता, पोषणकर्ता, पितामह मैं हूं। समझने के लिये योग्य, पवित्र, ओंकार, ऋक, साम, यजुस यह वेद मैं ही हूं।।१७।।

जिसके अधिष्ठान से भूमि, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार आदि आठ प्रकार से, प्रकृति विश्वनिर्मिति करती है, वह पिता मैं हूं।।६९।। अर्धनारीनटेश्वर के स्वरूप में जो स्त्री वही पुरुष होता है। तद्वत मैं चराचर विश्व की माता हूं।।२७०।। हे किरीटी! ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति निश्चित रूप से मुझसे होती है। अन्य किसी से नहीं।।७१।। अंतःकरण से उपाधिरहित स्वरूप में यह दोनों प्रकृति एवं पुरुष उत्पन्न हुए हैं। इस विश्व में त्रिभुवन का पितामह भी मैं ही हूं।।७२।। जहां संपूर्ण ज्ञान एकत्रित होता है, हे अर्जुन! वह चारों वेद जिसको वेद्य याने ब्रह्मचैतन्य कहते हैं वह भी मैं ही हूं।।७३।। जहां विविध मतों को भेदों का विस्मरण होता है, एक दूजे के विरुद्ध शास्त्र एकमत से सहमत होते हैं, भ्रमपूर्ण ज्ञान को अपने सत्य स्वरूप का बोध होता है, ऐसा पवित्र है।।७४।। जो मूल ब्रह्म का अंकुर है, परा, पश्यति, मध्यमा एवं वैखरी का प्रकट रूप मधुर नादरूप वाणी, उसका स्थान जो ऊँकार है वह भी मैं ही हूं।।७५।। जिस ऊँकार से अ, उ, म ऐसे अक्षर प्रकट होते हैं, वह तीन वेदों के प्रारंभिक अक्षर है। हे पार्थ! उनसे तीनों वेदों का निर्माण हुआ है।।७६।। अतः ऋक, यजु, साम यह तीनों में मैं आत्माराम हूं। अतः वंशपरंपरा से मैं वेदों का मूल हूं।।७७।।

विश्व की परमगति, पोषणकर्ता, शुभाशुभ कर्म का दृष्टा सबका निवास स्थान, रक्षणकर्ता, भूतमात्र का हितकर्ता, उत्पत्ति कर्ता, संहारकर्ता, स्थितिकर्ता, सब कर्मफल रहने का स्थान, संकल्प, वासना, संस्कार का निधान एवं विश्व का अविनाशी कारण है।।१८।।

प्रलय के समय चराचर विश्व जिस प्रकृति में समाहित होता है, एवं प्रलयकाल पर्यंत थकी हुई प्रकृति जहां विश्रांती पाती है, वह परमगति मैं हूं।।७८।। जिससे प्रकृति जीवित रहती है, जिसके संगति में विश्व का निर्माण करती है। प्रकृति के द्वारा जो तीनों (सत्व, रज, तम) गुणों का उपभोग करता है।।७९।। वह विश्व लक्ष्मी का पति मैं हूं। हे पार्थ! मैं तीनों लोकों का स्वामी हूं।।२८०।। आकाश ने सर्वत्र व्यापक रहना चाहिये। वायु क्षण के लिये भी स्थिर न हो, अग्नि ने जलाना चाहिये, मेघों ने नित्य वर्षा करना चाहिये।।८१।। पहाड़ों ने अपनी जगह नहीं छोड़ना चाहिये। सागर ने अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। पृथ्वी ने सब भूतों का भार संभालना चाहिये। यह मेरी आज्ञा है।।८२।। मेरे द्वारा वेदों की वाणी निर्माण होती है। मेरे चलाने से सूर्य चलता है, मेरे द्वारा ही प्राणवायु को जीव में चालना मिलती है।।८३।। मेरी आज्ञा से काल प्राणों का हरण करता है। सब जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं।।८४।। ऐसा जो समर्थ है वही मैं विश्व का स्वामी हूं। मैं आकाश सदृश उदासीन एवं सर्वदृष्टा हूं, साक्षी भी मैं ही हूं।।८५।। नाम एवं रूपों में जो पूर्ण व्याप्त है, नाम एवं रूप का जो आधार है।।८६।। जैसे सलसतह पर तरंग होते हैं, तथा तरंगों में जल होता है वैसा मैं सकल जग में हूं एवं जगका निवास भी मैं ही हूं।।८७।। मेरे बिना अन्य रक्षणकर्ता नहीं ऐसा समझकर जो अनन्य भाव से मुझे शरण आते हैं, उनका जन्म-मृत्यु का भय नष्ट करता हूं। अतः शरण आने के लिये मैं ही एक हूं।।८८।। विभिन्न गुणों में, प्रकृति के विविध गुणों के अनुसार विश्व के प्राणिमात्र में मैं अनेकत्व से व्यवहार करता हूं।।८९।। समुद्र हो या छोटा तालाब सबके जल में जैसा सूर्य प्रतिबिंबित होता है वैसे ब्रह्मा से सब भूतमात्र में हे पार्थ! मैं सबका मित्र हूं।।२९०।। हे अर्जुन! तीनों लोकों का जीवन मैं हूं, त्रिभुवन में उत्पत्ति, स्थिति, नाश का कारण भी मैं ही हूं।।९१।। बीज से वृक्ष निर्माण होता है, शाखा, उपशाखाओं में विकसित होता है। वृक्ष बीज में समाता है। वैसे केवल संकल्प से मैं सृष्टि का निर्माण करता हूं एवं अंत में लय भी करता हूं।।९२।। इस प्रकार से अमूर्त वासनारूपी संकल्प जो विश्व का

Funding by IKS-MoE

स्थान मैं।।९३।। जब नाम रूप लोपत। वर्ण व्यक्ति नष्ट होत। जाति भेद न शेष बचत। निराकार में।।९४।। तब संकल्प वासना संस्कार। पुनरपि रचत चराचर। जहां वसत अमर। वह निधान मैं।।९५।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णम्युत्सृजामि च। अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

मैं सूर्यरूप से तपत। तब यह शुष्क सर्वत्र। पश्चात इंद्ररूप से वर्षत। पुनरपि भरत।।९६।। अग्नि काष्ठ भक्षत। वह काष्ठ ही अग्नि रूप होत। वैसे मरने मारने वाला पार्थ। स्वरूप मेरा।।९७।। जो-जो मरणशील। मेरा ही रूप निखिल। जो न कदा मरणशील। वह स्वयं मैं।।९८।। और क्या कहिये। एक बार सब सुनिये। सत् असत् दोनों जानिये। मैं ही एक।।९९।। अतः अर्जुन मैं नाहीं। ऐसा ठांव न कोई। किंतु कैसा प्राणियों का दैव ही। जो न देखत मुझको।।३००।। तरंग जल बिन सूखत! या रश्मि बिन दीप न दिखत!। वैसे सब मैं न मुझे जानत। विस्मय देखो!।।१।। यह अंतर्बाह्य मुझसे व्याप्त। मद्रूप सब जगत पार्थ। किंतु कैसे कर्म बिकट। जो मैं नाही कहत।।२।। अमृत कूप में गिरत। निकास का यत्न करत। क्या कहना ऐसे व्यर्थ। अभागी को।।३।। एक ग्रास के प्रीत्यर्थ। अंध धावत पार्थ। प्राप्त चिंतामणि लोटत। पांव से अपने।।४।। वैसे ज्ञान का करत अव्हेर। उसकी यही दशा साचार। अतः विफल किया कर्म धनुर्धर। ज्ञान के बिन।।५।। अंधे गरुड़ के पंख। क्या उसका उपयोग पार्थ?। वैसे सत्कर्म सब व्यर्थ। ज्ञान बिन।।६।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिविदेवभोगान्।।२०।।

देखो यह किरीटि। आश्रमधर्म की रीति। विविध मार्ग की कसौटी। जो स्वयं होत।।७।। सकौतुक यजन करत। तीनों वेदों का माथा डुलत। क्रिया प्रत्यक्ष फलीभूत। सन्मुख जिसके।।८।। ऐसे जो दीक्षित सोमप। जो स्वयं यज्ञरूप। पुण्य के नाम से पाप। अर्जित करत।।९।। जो श्रुतित्रय को जानत। शत यज्ञ करत। मत्प्राप्ति त्यागत। वांछत स्वर्ग।।३१०।। बैठकर कल्पतरुतल में। लगावत गांठ झोली में। मांगत जैसे राह में। भिक्षा सब से।।११।। तैसे यजत शतमख। और कांक्षत स्वर्गसुख। कहो यह पुण्य अशेख। क्या पाप नाही?।।१२।। अतः बिन मुझे पाना स्वर्ग। वह तो अज्ञान का पुण्य मार्ग। ज्ञानी जन इसको उपसर्ग। हानि कहत।।१३।। देखे यदि नरक का दुःख। स्वर्ग प्राप्ति को कहिये सुख। किंतु नित्यानंद ही निर्दोख। स्वरूप मेरा।।१४।। मेरी प्राप्त्यर्थ हे सुभग! ये द्विविध ही कुमार्ग। स्वर्ग नरक दोनों मार्ग। चोरों के लिये।।१५।। स्वर्ग पुण्यात्मक पापसे। नरक तो पापात्मक पापसे। मुझे पाइये जिससे। वह शुद्ध पुण्य।।१६।। मुझमें वे रहत। और मुझसे ही बिछुड़त। क्या उसको पुण्य कहत। जिव्हा न झड़त?।।१७।। किंतु रहने दो यह सांप्रत। जो ऐसे ज्ञानी दीक्षित। यजन करके याचत। स्वर्ग भोग।।१८।। मैं न प्राप्त ऐसे। उस पापात्मक पुण्य से। वे पावत हवस से। स्वर्गलोक।।१९।। जहां अमरत्व

आदिकारण है वह संकल्प कल्पान्त में लौटकर जिसमें समा जाता है वह भी मैं ही हूं।।९३।। जिस समय नाम, रूप नष्ट होते हैं व्यक्तिओं का वैशिष्ट्य नहीं रहता, जाति एवं वर्ग का भेद भाव नष्ट हो जाता है वह निराकार अवस्था मैं हूं।।९४।। आदि संकल्प एवं वासना का संस्कार पुनः चराचर विश्व की निर्मिति करता है। जहां देव देवता निवास करते हैं वह निधान मैं ही हूं।।९५।।

हे अर्जुन! मैं सूर्य के रूप में प्रकाशित होता हूं। जल का शोषण मैं करता हूं, मैं पुनः वर्षा करता हूं। तद्वत अमृत एवं मृत्यु, सत् एवं असत् सब मैं हूं।।१९।।

सूर्यरूप से उष्णता उत्पन्न करता हूं, तब यह सब सूख जाता है। इंद्र के रूप में उसके बाद वर्षा करता हूं तब पुनः सर्वत्र जल भरता है।।९६।। अग्नि इंधन को जलाता है तब लकड़ी अग्नि बन जाती है। हे पार्थ! मरने एवं मारने वाला मेरा स्वरूप होता।।९७।। मृत्यु को प्राप्त होनेवाले लोग मेरा स्वरूप ही हैं। जो अमर है वह तो मेरा स्वरूप ही है।।९८।। और अब क्या कहूं? एक बार सब सुनो। सत् असत् दोनों मैं ही हूं।।९९।। अतः हे अर्जुन मैं नहीं ऐसा कोई स्थान नहीं। किंतु प्राणियों का दुर्भाग्य देखिए। मुझे कोई देखते नहीं।।३००।। जल के बिना तरंग नहीं होता, किरणों के बिना दीप दिखता नहीं, वैसा सब मैं ही हूं किंतु मुझे जानते नहीं, यही आश्चर्य है।।१।। अंतर्बाह्य सब मुझसे व्याप्त है। हे पार्थ! सब विश्व मद्रूप है किंतु मैं नहीं हूं ऐसी उन्हें भ्रांति है।।२।। अमृत के कुएं में गिरनेपर निकलने के प्रयास में अमृत प्राशन किया ही नहीं। ऐसे अभागियों को व्यर्थ क्या कहना।।३।। हे पार्थ! अन्न के लिये अंधा दौड़ता है। किंतु दृष्टि न होने से चिंतामणि रत्न को ठोकर मारकर चला जाता है।।४।। वैसे ज्ञान का त्याग करने से उनकी सत्य में यही दशा होती है। ज्ञान के बिना हे धनुर्धर! कर्म विफल होते हैं।।५।। अंधे गरुड़ के पंखों का क्या उपयोग है? वैसे ज्ञान के बिना सब सत्कर्म व्यर्थ होते हैं।।६।।

तीनों वेदों को जाननेवाले, सोमपान करनेवाले, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे याज्ञिक यज्ञ द्वारा यजन करते हुए स्वर्गलोक की इच्छा करते हैं। पुण्यफल प्राप्त करके स्वर्ग में दिव्यभोग भोगते हैं।।२०।।

हे किरीटी! यह देखो! आश्रय धर्म के आचरण से वेद विहीत मार्ग की जो स्वयं कसौटी होते हैं।।७।। सहज यज्ञ करते समय तीनों वेद संतुष्ट होते हैं, यज्ञ क्रिया फलसहित सम्मुख उपस्थित होती है।।८।। ऐसे सोमपान करनेवाले जो दीक्षित हैं, जो स्वयं यज्ञ रूप हैं, पुण्य के नाम से पाप की प्राप्ति करते हैं।।९।। जो तीनों वेदों को जानते हैं, सौ यज्ञ करके, वे वस्तुतः मेरी प्राप्ति का त्याग करके स्वर्ग की इच्छा करते हैं।।३१०।। कल्पतरु तल में बैठकर वे पनी फटी झोली में गांठ बांधते हैं। वैसे मार्ग में सबसे भीख मांगते हैं।।११।। सौ यज्ञ करके स्वर्गसुख की आकांक्षा मन में रखते हैं। यह पुण्य है कि निःशेष पाप है कहो?।।१२।। अतः मेरे बिना स्वर्ग पाना यह अज्ञानियों का पुण्य मार्ग है। ज्ञानी लोग इसको बंधन एवं विघ्न कहते हैं।।१३।। पाप से नरक का दुःख प्राप्त होने पर स्वर्ग को सुख का नाम दिया गया है। किंतु अखंड, अबाधित आनंद यह मेरा स्वरूप है।।१४।। हे भाग्यशाली अर्जुन! मेरे प्राप्ति में, स्वर्ग एवं नरक, यह चोरों के बाधक टेढ़े-तिरछे मार्ग हैं।।१५।। पुण्य मिश्रित पाप से स्वर्ग प्राप्त होता है। शुद्ध पाप करने से नरक प्राप्त होता है। शुद्ध एवं निर्दोष पुण्य से मेरी प्राप्ति होती है।।१६।। मुझमें रहते हुये भी कर्म के कारण लोग मुझसे बिछुड़ते हैं। उसको पुण्य कहते हुए जिव्हा क्यों टूटती नहीं?।।१७।। किंतु यह अभी रहने दो। जो ऐसे ज्ञानी दीक्षित हैं, वे यज्ञ करके स्वर्ग की याचना करते हैं।।१८।। उस पापरूपी पुण्य से वे लोग स्वर्ग प्राप्त करते हैं। उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती।।१९।। स्वर्ग में अमरत्व का सिंहासन है।

Funding by IKS-MoE

सिंहासन। ऐरावत सरिस वाहन। राजधानी भुवन। अमरावती।।३२०।। जहां महासिद्धि के भांडार। अमृत के कोठार। जिस गांव में खिल्लार। कामधेनु के।।२१।। जहां विचरत देव पाईक। सर्वत्र चिंतामणि मार्ग देख। विनोद वनवाटिका आकर्षक। सुरतरु की।।२२।। गंधर्व सुस्वर गान गावत। जहां रंभा नृत्य करत। विलासिनी उर्वशी सेवत। मुख्य पार्थ।।२३।। शेजगृह में सेवक मदन। चंद्र करत सम्मार्जन। पवन गति पाईक अर्जुन सेवा करत।।२४।। जहां वृहस्पति समान। स्वस्ति श्रीपाठी ब्राह्मण। स्तुति पाठक सुरगण। बहुत जहां।।२५।। साथ जिनके लोकपाल। विजित सरदार सकल। उच्चैःश्रवा अश्व अनमोल। सवारी को।।२६।। ऐसे भोग बहुत। इंद्र सुख सम प्राप्त। जब तक पुण्यलेश संचित। भोगत वे।।२७।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

जब पुण्य की पूंजी नष्ट। त्वरित इंद्रत्व का ऐश्वर्य लुप्त। तब पुनरपि निवर्तत। मृत्यु लोक में।।२८।। वेश्याभोग में खर्चत सब धन। फिर उस द्वार से भी वंचित जान। वैसे अपमानित दीक्षित पूर्ण। क्या बतावें?।।२९।। एवं नित्य मुझे विस्मरत। जो पुण्य से स्वर्ग कांक्षत। अंत में अमरत्व व्यर्थ होत। पावत मृत्यु लोक।।३३०।। माता के उदर कुहर में। बीतत नवमास कष्ट में। फंसत जन्म मृत्यु भंवर में। बारंबार।।३१।। स्वप्न में निधान प्राप्त। जागृति में अशेख खोवत। वैसे स्वर्गसुख व्यर्थ। वेदज्ञों का।।३२।। यदि वेदविद हो अर्जुन। किंतु व्यर्थ जीवन मज्ज्ञानबिन। त्याग कर वे कण। तुष उड़ावत।।३३।। अतः मुझ एक बिन। त्रयीधर्म यह अकारण। जानकर मुझे संपूर्ण। सुख पावेगा तू।।३४।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

जो सर्व भाव सहित पूर्ण। समर्पितचित्त अर्जुन। जैसा गर्भगोलक जान। उद्यम रहित।।३५।। वैसे बिन मेरे अन्य कोई। उसको कुछ प्रिय नाही। जीवन मेरे नाम सबही। रक्षित जिसने।।३६।। ऐसा अनन्य गतिकचित्त। जो करत मच्चिन्तन सतत। उपासत मुझको, मैं करत। सेवा उसकी।।३७।। ऐसा ऐक्यभाव संपन्न। अनुसरत मन्मार्ग अर्जुन। उसकी चिंता तत्क्षण। मुझे ही जानो।।३८।। तब उनको जो करना पार्थ। मैं ही करूं वह कार्य समस्त। जैसे अजातपक्ष की चिंता सार्थ। पक्षिणी करत।।३९।। क्षुधा तृषा न जाने जैसे। शिशु का हित माता देखे वैसे। अनुसरत मुझको जो प्राण से। उनका सब मैं करत।।३४०।। मेरी सायुज्जता के इच्छुक। मैं पूर्ण करूं उनका कौतुक। सेवा यदि चाहत भक्ति युक्त। तब सृजत प्रेम।।४१।। मन में जो-जो धरत भाव। वह बारंबार देत सर्व। और जो दिया उसका निर्वाह। स्वयं करत।।४२।। यह योगक्षेम संपूर्ण। मुझको ही उनका अर्जुन। जिनके सर्वभाव को पूर्ण। आश्रय मैं।।४३।।

ऐरावत हाथी की सवारी है। इंद्र की राजधानी अमरावती, रहने के लिये है।।३२०।। वहां महासिद्धियों के भंडार भरे हैं। अमृत के कोठार हैं। वहां कामधेनु के झुंड हैं।।२१।। सेवा के लिये देवता प्रस्तुत हैं। चिंतामणि रत्न के फर्श होते हैं। क्रीड़ा के लिए चारों तरफ कल्पतरु के उद्यान हैं।।२२।। गंधर्व नित्य सुस्वर गायन करते हैं। रंभा जैसी स्वरूप सुंदर अप्सराएं नृत्य करती रहती हैं। हे पार्थ! विलास के लिये उर्वशी जैसी मुख्य स्त्रियां होती हैं।।२३।। शयनागार में स्वयं मदन सेवा करता है। चंद्रमा आंगन आलोकित करता है। हे अर्जुन! वायु जैसे गतिमान सेवक सेवा करते हैं।।२४।। स्वस्ति वाचन करनेवाले वृहस्पति जैसे ब्राह्मण होते हैं। देवता स्तुतिपाठक का काम करते हैं।।२५।। सरदारों की तरह लोकपाल खड़े रहते हैं। उच्चैः श्रवा जैसा अनमोल घोड़ा सवारी के लिए मिलता है।।२६।। जब तक उनका पुण्य रहता है तब तक वे इंद्र के समान इसी प्रकार के सुखों का उपभोग करते हैं।।२७।।

वे उस स्वर्ग लोक को भोगकर, पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म के शरण हुए और भोगों की कामनावाले पुरुष पुनः पुनः जन्म मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।२१।।

जब पुण्य की पूंजी नष्ट होती है तब इंद्र पद का ऐश्वर्य उतर जाता है, तब वे लोग मृत्युलोक में पुनः जन्म लेते हैं।।।२८।। व्यसनी पुरुष जैसे वेश्या के लिये सब धन गंवा देता है तब दरिद्री अवस्था में उसके लिए वेश्या का द्वार भी बंद हो जाता है। उसी प्रकार संग्रहित पुण्य समाप्त होने पर दीक्षितों की स्थिति लज्जास्पद होती है। क्या बताया जाये?।।२९।। नित्य जो मुझे भूलते हैं, पुण्यकर्म करके स्वर्ग की इच्छा करते हैं उनके लिए अमरत्व व्यर्थ होता है एवं अंत में मृत्युलोक में आना पड़ता है।।३३०।। माता के गर्भाशय में नवमास रहते हुये बार-बार जन्मते हैं एवं मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।३१।। स्वप्न में धन प्राप्त हुआ। जागृति में वह अप्राप्त ही रहता है। वैसे वेदों के ज्ञाताओं का स्वर्ग सुख व्यर्थ होता है।।३२।। वेदों को जाननेवाले होने पर भी हे अर्जुन! मेरे ज्ञान के बिना उनका ज्ञान व्यर्थ है। धान्य का त्याग करके वे भूसा समेटते हैं।।३३।। अतः मुझे अकेले के बिना तीनों धर्मों के अनुसार धर्माचरण अकारण होता है। मुझे जानकर तुम्हें संपूर्ण सुख प्राप्त होगा।।३४।।

जो अनन्य भाव से मेरे में स्थित हुए भक्त जन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिंतन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं, नित्य एकीभाव से भजनेवाले भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं चलाता हूं।।२२।।

संपूर्ण मनोयोगपूर्वक जो मुझे समर्पित होता है, हे अर्जुन! जैसे गर्भस्थ शिशु उद्योग रहित होता है।।३५।। वैसे मेरे बिना अन्य जिसको कुछ प्रिय नहीं होता, उसका संपूर्ण जीवन मेरे नामस्मरण में बीतता है।।३६।। ऐसा अनन्य भाव से अंतःकरणपूर्वक जो नित्य मेरा चिंतना करता है। मेरी उपासना करता है। उसकी मैं भी सेवा करता हूं।।३७।। अतः मनोयोगपूर्वक एकत्व भाव से हे अर्जुन! मेरे मार्ग का अनुसरण करता है उसी क्षण से उसकी चिंता मुझे रहती है यह समझो।।३८।। हे पार्थ! उनको जो कार्य करना है, वह सब मैं करता हूं। जैसे बिना पंख के पक्षी की सब चिंता पक्षिणी करती है।।३९।। भूख, प्यास न जाननेवाले शिशु की चिंता माता करती है। तद्वत जो पूर्ण रूप से मुझे शरणागत है उसके लिये मैं सब करता हूं।।३४०।। मेरे साथ एक रूप होकर रहने की उनकी इच्छा मैं पूर्ण करता हूं। यदि उन्हें मेरी सेवा अच्छी लगती है तब उन्हें मैं भक्ति प्रेम का दान देता हूं।।४१।। मन में जो-जो इच्छा करते हैं वह सब बार-बार देता हूं। एवं जो देता हूं उसकी देखरेख भी मैं ही करता हूं।।४२।। उनका योगक्षेम मुझे ही करना पड़ता है। क्योंकि उनके सब भाव मुझपर ही आश्रित होते हैं।।४३।।

Funding by IKS-MoE

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३॥

और भी अन्य संप्रदाय। न जानत मुझे समवाय। अग्नि इंद्र सोम को कौन्तेय। इसलिये भजत ॥ ४४॥ लह मेरा ही पूजन सार्थ। जो मैं सर्वगत पार्थ। किन्तु वह न संयुक्त। विषम जानो ॥ ४५॥ देखो शाखा पर्ण वृक्ष के। क्या होत न एक बीज के। किन्तु जल सिंचन उसके। मूल को ही कार्य ॥ ४६॥ ये दशेंद्रियां समस्त। किंतु एक देह की सार्थ। विषय जो सेवत जात। एक ही ठांव ॥ ४७॥ रससिद्धि उत्तम कीजे। कैसी फिर कर्ण में भरिजे?। पुष्प लाकर बांधिजे। नेत्र को कैसे? ॥ ४८॥ वहां रस तो मुख से ही सेविजे। परिमल घ्राण से ही लीजिये। वैसे मुझको यजिये। मद्‌भाव से ही ॥ ४९॥ अन्यथा जो करत भजन। वह सब व्यर्थ ही अर्जुन। अतः कर्म के चक्षु ज्ञान। वह निर्दोष चाहिये ॥ ३५०॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४॥

वैसे यदि पार्थ देखो। इन समस्त यज्ञोपहार को। बिन मेरे भोक्ता इनको। कौन अन्य ॥ ५१॥ मैं ही सकल यज्ञों का आदि। इन यजनों को मैं ही अवधि। किंतु छोड़के मुझे भजत दुर्बुद्धि। अन्य देव ॥ ५२॥ गंगा का उदक गंगा को जैसे। अर्पिजे देव पितरोद्देश से। मेरा ही मुझको देत वैसे। किन्तु भिन्नभाव से ॥ ५३॥ इसलिये हे पार्था! मुझको न पावत सर्वथा। मन में जिनकी आस्था। पहुंचत वहां ॥ ५४॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥ २५॥

काया वाचा मन-से। करत जिन देवों का भजन। देहपतन से तत्क्षण। देव ही होत ॥ ५५॥ अथवा पितरों का व्रत। करत जिनका चित्त। मरणोत्तर वे पावत। पितृलोक ॥ ५६॥ या क्षुद्र देवतादि भूत। जिनका परम दैवत। अभिचार से पार्थ। उपासत जो ॥ ५७॥ जब देह जवनिका फटत। भूतत्व ही उनको प्राप्त। एवं संकल्पवश फलत। कर्म उनको ॥ ५८॥ तब मुझको देखत चक्षु से। सुनत मुझको ही कर्ण से। चिन्तन मुझको ही मन से। वाणी से वर्णत ॥ ५९॥ सर्वांगी सर्वस्थान। मुझको ही करत नमन। दानपुण्यादि संपूर्ण। मेरे ही प्रीत्यर्थ ॥ ३६०॥ मेरा ही करत अध्ययन। अंतर्बाह्य तृप्त पूर्ण। व्यतीत जिनका जीवन संपूर्ण। मेरे ही कारण ॥ ६१॥ एक ही कामना मेरी प्राप्ति। सदा बखानत हरि की कीर्ति। ऐसा अहंकार किरीटि। रखत मन में ॥ ६२॥ मेरे ही काज से सकाम। मेरे ही प्रेम से सप्रेम। मत्प्रेम से उनको संभ्रम। विस्मरत सबको ॥ ६३॥ मद्‌ज्ञान जिनका शास्त्र। मत्प्राप्त्यर्थ जिनका मंत्र। संपूर्ण चेष्टा मात्र। मेरा ही भजन ॥ ६४॥ वे मरण से भी पूर्ण। मद्रूप जानो सर्व। मरणोपरांत अन्य भाव। पावत कैसे? ॥ ६५॥ अतः मद्याजी जो होत। मेरा ही सायुज्य पावत। उपचार मिष से अर्पत। स्वयं को ही मुझको ॥ ६६॥ पै अर्जुन मेरे ठाँई। अपनत्व बिन सौरसु नाहीं। मैं अन्य उपचार से

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धा से युक्त हुए सकामी भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मेरे को ही पूजते हैं किंतु उनका पूजन अविधिपूर्वक है, अज्ञान है॥२३॥

और भी अनेक संप्रदाय है। किंतु वे मेरा सर्वव्यापक स्वरूप नहीं जानते। हे कौन्तेय! वे इंद्र, चंद्र, अग्नि आदि का पूजन करते हैं॥४४॥ वह वास्तविक मेरा ही पूजन है। क्योंकि हे पार्थ! मैं सर्वत्र व्याप्त हूं। किंतु यह मार्ग योग्य नहीं। टेढ़ा है॥४५॥ एक ही बीज की शाखाएं, पत्ते एवं वृक्ष होता है। किंतु जल तो जड़ में ही सीचना पड़ता है॥४६॥ ये दश इंद्रिय होते हुए भी देह एक है। दस इंद्रिया अपने-अपने स्थान पर विषय सेवन करती हैं किंतु वह सब एक स्थान पर पहुंचता है॥४७॥ उत्तम व्यंजन बनाकर उसके कान में कैसे भरेंगे? पुष्प लाकर नेत्र को कैसे बांधेंगे?॥४८॥ रस का सेवन मुख से ही करना चाहिये। सुगंध नासिका से ही लिया जायेगा वैसा मुझे समझकर ही मेरा पूजन करना चाहिये॥४९॥ हे अर्जुन! मेरे स्वरूप को बिना जाने किया हुआ भजन व्यर्थ है। अतः कर्म के लिए ज्ञान दृष्टि की आवश्यकता है। वह दृष्टि निर्मल, स्वच्छ होना चाहिये॥३५०॥

क्योंकि संपूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूं। परंतु वे मुझ अधियज्ञरूप परमेश्वर को तत्त्वरूप से नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं॥२४॥

हे पार्थ! वास्तव में देखा जाये तो यज्ञ के समस्त उपचारों का मेरे बिना अन्य भोक्ता कौन हो सकता है?॥५१॥ सब यज्ञों का आदिकारण मैं हूं। यज्ञों की अंतिम मर्यादा भी मैं हूं। किंतु ये दुर्बुद्धि लोग मुझे छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं॥५२॥ गंगा का जल जैसे गंगा को समर्पित किया जाता है। देवता एवं पितरों के नाम से मेरी वस्तु मुझे ही अर्पण करते हैं। किंतु उनका भाव भिन्न होता है॥५३॥ हे पार्थ! इसीलिये मेरी प्राप्ति उन्हें होती नहीं। जहां जिनकी आस्था होती है वे वहां पहुंचते हैं॥५४॥

कारण यह नियम है कि देवताओं का पूजन करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं। अतः मेरे भक्तों का पुनः जन्म नहीं होता॥२५॥

शरीर, वाणी एवं मन से जिस देवता की उपासना करते हैं, देहत्याग के बाद उसी देवता की उन्हें प्राप्ति होती है॥५५॥ पितरों का व्रत मनःपूर्वक करनेवाले भक्त को मृत्यु के बाद पितृलोक की प्राप्ति होती है॥५६॥ या क्षुद्र देवता या भूतप्रेत आदि की उपासना करनेवाले, उसी को अपना दैवत समझनेवाले, एवं हे पार्थ! जारण कारण कर्म से जो उपासना करते हैं,॥५७॥ तब देह का परदा हटते ही भूतत्व की उन्हें प्राप्ति होती है। एवं जैसा उनका संकल्प होता है वैसा उन्हें फल मिलता है॥५८॥ जो मुझे नित्य नेत्र से देखते हैं। मेरा वर्णन कान से सुनते हैं, मन से मेरा चिंतन करते हैं, तथा वाणी से मेरा ही वर्णन करते हैं॥५९॥ सब स्थानों में संपूर्ण शरीर से मुझे ही प्रणाम करते हैं। दान पुण्य आदि जो भी कर्म करेंगे वह सब मेरे प्रीत्यर्थ किया जाता है॥३६०॥ जिन्होंने मेरा ही अध्ययन किया है। जो अंतर्बाह्य मद्रूप होकर तृप्त है। मेरे लिए ही जिनका संपूर्ण जीवन व्यतीत होता है॥६१॥ मेरे प्राप्ति की एक ही इच्छा उनके मन में रहती है। नित्य श्रीहरि की कीर्ति की स्तुति एवं चर्चा करते रहते हैं। हे किरीटी! मेरा ही अहंकार नित्य मन में रखते हैं॥६२॥ जो मुझे प्राप्त करने की इच्छा से सकाम रहते हैं। जो मेरे प्रेम में व्याकुल हो जाते हैं। मेरे प्रेम में तल्लीन रहने से सबका उन्हें विस्मरण होता है॥६३॥ मेरे स्वरूप का ज्ञान ही उनका शास्त्राध्ययन होता है। मेरे प्राप्ति के लिए मंत्र-उपासना होती है। उनकी संपूर्ण क्रियाएं मेरा भजन होता है॥६४॥ वे मृत्यु के पूर्व ही मद्रूप हो जाते हैं ऐसा समझो। मृत्यु के बाद उन्हें अन्य भाव कैसे प्राप्त होगा?॥६५॥ जो मेरा इस प्रकार से यजन करनेवाले होते हैं उन्हें मेरा स्वरूप प्राप्त होता है। उपचार के निमित्त वे स्वयं को पूर्णरूप से मुझे समर्पित होते हैं॥६६॥ हे अर्जुन! आत्मसमर्पण के बिना मेरे स्वरूप में किसी का प्रवेश नहीं हो सकता।

कोई। न कभी प्राप्त।।६७।। यहां ज्ञानभाव ही अज्ञान। कृतार्थ भाव ही न्यून। मुक्तभाव अर्जुन। व्यर्थ सब।।६८।। अथवा यज्ञदानादि रीति। तपधर्म सब उपास्ति वह तृणसम किरीटि। हीन जानो।।६९।। ज्ञानबल से जैसे। श्रेष्ठ न कोई वेद से। या न सहस्त्रमुख से। वाचाल कोई।।३७०।। वह भी 'शय्यानीचे दबत। वेद नेति-नेति कहत। यहां सनकादिक भ्रमत। धनुर्धर।।७१।। तपस्वियों में सर्वाग्रणी। कौन बिन 'शूलपाणि?। माथा रखत वह निरभिमानि। चरणतीर्थ।।७२।। नातर संपन्नता में समान। लक्ष्मीं सिवा अन्य कौन?। ऋद्धि-सिद्धियां दासी अर्जुन। घर में जिसके।।७३।। जो खेल में बनावत घर। उसका नाम अमरपुर। गुड्डे-गुडियां साचार। इंद्र-'शची जिनके।।७४।। अप्रीति से उनको तोड़त। तब महेंद्र रंक होत। जिन वृक्षों को निहारत, बनत। कल्पवृक्ष वे।।७५।। ऐसा सामर्थ्य महान। जिसके पाईक का अर्जुन। मुख्य नायिका लक्ष्मी को जान। न श्रेष्ठत्व जहाँ।।७६।। वह करके सेवा अर्जुन। छोड़कर सर्वस्व अभिमान। दैव को प्रभुपादप्रक्षालन। पात्र होत।।७७।। अतः महत्व अपना छोड़िये। ज्ञानाभिमान त्यागिये। जग में नम्र होईये। तब ही सान्निध्य मेरा।।७८।। देखो सहस्त्रकिरण के दृष्टि-। सन्मुख चंद्र भी लोपत किरीटि। वहां खद्योत की क्या महती। पंडुकुंवर?।।७९।। जहां लक्ष्मी का श्रेष्ठत्वहीन। 'शंभु का तप भी न्यून। वहां मूढ अज्ञान। जानत कैसे?।।३८०।। अतः देहाभिमान छोड़िये। संपत्ति मद त्यागिये। सब गुण उतारिये। निछावर करके।।८१।।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

तब निःसीम भावोल्लास से। मुझको समर्पण मिष से। कोई फल जो चाहत जैसे। किसी भी वृक्ष का।।८२।। भक्त मुझे दिखावत। मैं दोनों हाथ फैलावत। डंठल सहित सेवत। आदर से मैं।।८३।। पै भक्ति के नाम से। फूल एक देत जैसे। चाहिये तो सूँघना किन्तु उसे। मुख में ही डालूं मैं।।८४।। पुष्प भी यदि दुष्प्राप्य देख। पर्ण न हरित 'शुष्क। वह भी मुझको प्रिय एक। कैसा भी।।८५।। किन्तु यदि सर्वभावयुक्त। जैसा क्षुधित अमृत से तृप्त। वैसे पत्र ही आरोगत। सुख से मैं।।८६।। अथवा कभी ऐसा भी होवे। जो पर्ण भी न एक पावे। तब उदक तो न होवे। दुर्लभ पार्थ।।८७।। वह तो कहीं भी प्राप्त। बिन सायास लभत। वही सर्वस्वभाव से अर्पित। किया जिसने।।८८।। उसने वैकुंठ से विशाल। मुझको दिये मंदिर सकल।। दिये कौस्तुभ से भी निर्मल। आभूषण मुझे।।८९।। दुग्ध का 'शेजघर। क्षीराब्धि जैसा मनोहर। मेरे लिये अपार। सृजित उसने।।३९०।। कर्पूर चन्दन अगरु। सम सुगंध का महा मेरू। हस्तबाती लगावत दिनकरू। दीपमाला में।।९१।। गरुड समान वाहन। सुरतरु के उद्यान। कामधेनू का गोधन। दिया मुझको।।९२।। अमृत से भी सुरस। पक्वान्न बहुवस। ऐसे भक्त के उदकलेश। से परितोषत मैं।।९३।। यह क्या कहूं पार्थ। दृष्टि

मैं अन्य किसी भी उपचार से कभी प्राप्त नहीं होता।।६७।। मुझे ज्ञान है ऐसा कहना अज्ञान है। मैं कृतार्थ हूं ऐसा समझना ही एक प्रकार की कमी है। हे अर्जुन! स्वयं को मुक्तावस्था प्राप्त हुई है ऐसा समझना सब व्यर्थ है यह जानो।।६८।। हे किरीटी! जो लोग यज्ञयाग की पद्धति या विधिविधान पूर्वक की गयी तपः साधना की डींग हाकते हैं वह तृणसमान हीन समझना।।६९।। ज्ञानशक्ति में जैसे वेदों से कोई श्रेष्ठ नहीं हो सकता, या सहस्त्र मुख शेषजी से कोई स्तुतिपाठक नहीं हो सकता,।।३७०।। शेषजी स्वयं भगवान की शैय्या बन गये हैं। भगवान की स्तुति करते हुए थककर वेद नेति-नेति कहते हैं। हे धनुर्धर! भगवान के स्वरूप का निर्धार करते हुए सनकादिक ऋषिश्वर भ्रमित हो गये हैं।।७१।। तपस्वियों में अग्रगण्य भगवान शूलपाणि महादेवजी से कौन सर्वश्रेष्ठ हो सकता है? वह भी अभिमान छोड़कर मस्तक पर मेरा चरण तीर्थ धारण करते हैं।।७२।। श्री लक्ष्मीजी जैसे कौन धनवान है? हे धनुर्धर! ऋद्धि-सिद्धियां उनके घर में दासी का काम करती हैं।।७३।। जो क्रीड़ा में घरौंदा बनाती हैं उसीको अमरावती कहते हैं। उससे जो गुड्डे-गुड़ियां बनाते हैं वही इंद्रदेव एवं शची हैं।।७४।। पसंद न होने से जब वह घरौंदे तोड़ देती है तब महेंद्रादि सब कंगाल होते हैं। जिन वृक्षों को देखती हैं वे कल्पवृक्ष बन जाते हैं।।७५।। जिनके सेवकों का ऐसा महान सामर्थ्य है, उनमें मुख्य श्री लक्ष्मीजी को भी विशेष महत्व नहीं है।।७६।। हे अर्जुन! सेवा करके उन्होंने अपना संपूर्ण अहंकार छोड़ दिया तब उनको श्री नारायण की चरणसेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।।७७।। अतः अपना श्रेष्ठत्व प्रथम छोड़ना चाहिये। ज्ञान के अभिमान का त्याग करना चाहिये। सबके प्रति विनम्र भाव धारण करने पर ही मेरा सांनिध्य प्राप्त होता है।।७८।। हे पंडुकुंवर! सहस्त्रकिरण सूर्य उदित होते ही चंद्रमा का प्रकाश लुप्त हो जाता है। हे किरीटी! वहां जुगनू को क्या महत्व है?।।७९।। जहां लक्ष्मीजी को कोई महत्व नहीं, भगवान श्री शंकरजी की तपश्चर्या भी कमी होती है। वहां मूढ़ एवं अज्ञानी सामान्य जन मुझे कैसे जानेंगे?।।३८०।। अतः देह का अहंकार त्याग दीजिये। संपत्ति का अभिमान छोड़ दीजिये। अपने सब गुणों को निछावर कर दीजिये।।८१।।

हे अर्जुन! मेरे पूजन में यह सुगमता है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेम से अर्पण करता है उस शुद्ध बुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्प आदि मैं सगुण रूप से प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूं।।२६।।

असीम प्रेम रस में डूबा हुआ मेरा भक्त किसी भी वृक्ष का कोई भी फल अपनी इच्छानुसार जब मुझे समर्पित करता है।।८२।। मैं बड़ी उत्कंठा से अपने दोनों हाथ फैलाता हूं। उसके डंठल सहित मैं आदरपूर्वक सेवना करता हूं।।८३।। भक्तिपूर्वक केवल एक फूल मुझे समर्पित करते हैं, उसको सूंघना चाहिये, किंतु मैं उसे मुख में डालता हूं।।८४।। फूल भी प्राप्त होना जब असंभव होता है तब एक पत्ता वह भी हरा न हो, सूखा हो, वह भी मुझे प्रिय होता है।।८५।। अपने सब भाव भावना सहित भक्ति प्रेम में परिपूर्ण वह पत्ता, जैसा भूखा प्राणि अमृत पीने से तृप्त होगा, वैसा वह पत्ता मैं अत्यंत आनंद से ग्रहण करता हूं।।८६।। अथवा कभी ऐसा भी होता है कि पत्ता भी मिलता नहीं, हे पार्थ! जल तो कभी दुर्लभ नहीं होता।।८७।। वह तो कहीं भी मिलता है, बिना प्रयत्न से प्राप्त होता है। वह अनन्य भाव से जो मुझे अर्पण करता है।।८८।। उसने वैकुंठ से भी विशाल मंदिर मुझे दिये हैं ऐसा मैं समझता हूं। या कौस्तुभ रत्न से भी निर्मल अलंकार मुझे समर्पित किये हैं।।८९।। क्षीरसागर जैसा शय्यास्थान मेरे लिए अत्यंत सुंदर उत्पन्न किये हैं।।३९०।। कर्पूर, चंदन, अगरु के समान सुगंध के मेरुपर्वत, जैसे विशाल सुगंधमय वस्तु मेरे उपभोग के लिए उत्पन्न कर दिये हैं। दीपबाला में हस्तबाती के रूप में मानों सूर्य ही प्रस्थापित किया है।।९१।। गरुड सदृश वाहन, कल्पवृक्ष के उद्यान, एवं कामधेनु के झुंड मुझे समर्पित किये हैं।।९२।। अमृत से भी रुचिपूर्ण विपुल व्यंजन मुझे समर्पित किये हैं। जब मेरे भक्त सर्वभावसहित थोड़ा सा जल मुझे समर्पित करते हैं तब मैं इस प्रकार से संतुष्ट होता हूं।।९३।। हे पार्थ! और क्या कहूं? तुमने स्वयं देखा है कि भक्तिपूर्वक

Funding by IKS-MoE

से देखा तुमने स्वतः। जो मैं छोड़त सुदामा की गांठ। पोहा प्रीत्यर्थ।।९४।। पै भक्ति एक मैं जानत। वहां सान श्रेष्ठ न कहत। हम तो भाव के मेहमान पार्थ। अखंडित।।९५।। अन्य पत्र पुष्प फल। भक्ति के मिष केवल। मेरी प्रीति एक निश्चल। भक्तितत्त्व।।९६।। अतः सुनो हे अर्जुन! करो बुद्धि एक स्वाधीन। मनमंदिर में पूर्ण। न भूलो मुझको।।९७।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददादि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

जो हो व्यापार करत। या विभिन्न भोग भोगत। अथवा यजन यजत। नाना विध।।९८।। नातर पात्र-विशेष दान। या सेवक को देत वेतन। तपादि विविध साधन। व्रत करत।।९९।। वह क्रियाजात संपूर्ण। स्वस्वभाव से होत अर्जुन। समस्त भाव से कीजे अर्पण। मत्प्रीत्यर्थ।।४००।। किंतु सर्वथा मन में किंचित। कृतस्मरण न रखना पार्थ। ऐसे धूतकर्म समस्त। दीजे मुझको।।१।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

अग्निकुंड में बीज प्रक्षिप्त। अंकुरदशा से होत मुक्त। वैसे कर्म से तुम विमुक्त। शुभाशुभ से।।२।। यदि कर्म शेष रहत। सुख-दुःख फल पावत। करत सकल भोगार्थ। देहधारण।।३।। यदि अर्पण मुझको कर्म। तब ही चूकत मरण जन्म। आगे जन्मसहित के कर्म। नष्ट संपूर्ण।।४।। अतः इस विध धनंजय। व्यर्थ न करना कालापव्यय। संन्यास युक्ति सुलभ यह। दे दी तुझको।।५।। इस देह बंधन में न पड़िये। सुख-दुःख सागर में न डूबिये। सुख से सुख में मग्न होईये। स्वस्वरूप में मेरे।।६।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

वह मैं यदि पूछत कैसा। जो सर्वभूत में सदा सरिसा। जहां आपपर ऐसा। भाव नाही।।७।। जो इसविध मुझे जानकर। अहंकार का बीज मोड़कर। जग में तन-मन से कर्म कर। उपासत मुझको।।८।। वे देह में वर्तमान दिखत। किंतु न देह में, वे मुझ में पार्थ। और मैं उनके हृदय वसत। समग्र जानो।।९।। सविस्तर वटत्व जैसा। बीजकणिका में सुप्त वैसा। और बीजकण तैसा। वट में स्थित।।४१०।। वैसे हममें परस्पर। बाह्य नाम का अन्तर। अंतर्यामी वस्तुविचार। तब मैं ही वे।।११।। जैसे उधार आभूषण। सब व्यर्थ ही अर्जुन। वैसे यह देहधारण। उदास उनका।।१२।। परिमल पवन संग जात। पुष्प निर्गंध पेड़ में रहत। वैसे आयुष्यक्रम पर्यंत। केवल देह।।१३।। वैसे अवष्टंभ पूर्ण। मद्भावरूप संपूर्ण। मदन्तरतम में अर्जुन। मीनत सहज।।१४।।

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः।।३०।।

एवं प्रेमभाव से भजत। पुनः शरीर न पावत। यदि वे होत पार्थ। किसी जाति के।।१५।। और यदि देखे आचरण। वे अव्वल दुष्कृती जान। किंतु किया अन्त में

लाये हुए चावलों के लिए मैंने सुदामा के फटे दुपट्टे की गांठे अपने हाथ से खोली हैं।।९४।। मैं केवल भक्ति जानता हूं। जहां भक्ति होती है छोटे-बड़े, दरिद्री-धनी यह भेदभाव नहीं करता। हम तो अंतःकरण के भाव से अतिथि हैं।।९५।। अन्य पुष्प, पत्ते, फल यह सब भक्ति के साधन हैं। मेरी निश्चल भक्ति करना ही तत्व से जानना है।।९६।। अतः हे अर्जुन! सुनो! अपने बुद्धि पर नियंत्रण करके तुम्हारे मन से मुझे कभी भूलना नहीं। मेरा नित्य स्मरण करो।।९७।।

अतः हे अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरण रूप तप करता है, वह सब मुझे अर्पण करो।।२७।।

तुम जो कर्म करते हो, जिन विषयों का भोग करते हो, अथवा जो यज्ञयाग करते हो।।९८।। जो सत्पात्र को दान करते हो, या नौकरों को जो वेतन देते हो, अथवा विविध प्रकार के तप, व्रत आदि साधना करते हो।।९९।। हे अर्जुन! तुम्हारी संपूर्ण क्रियाएं जो स्वाभाविक रीति से करना पड़ती हैं, वह सब संपूर्ण भावों सहित मेरे लिये समर्पित करो।।४००।। किंतु मन में किंचित भी जो कुछ किया है उसका स्मरण नहीं रखना। हे पार्थ! ऐसे शुद्ध, निर्मल सब कर्म मुझे समर्पित करो।।१।।

इस प्रकार से कर्मों को मुझे अर्पण रूप संन्यास योग से युक्त मन से शुभ एवं अशुभ फलरूप कर्म बंधन से तुम मुक्त हो जावोगे। एवं मेरी तुम्हें प्राप्ति होगी।।२८।।

जिस प्रकार से अग्निकुंड में डाला हुआ बीज कभी अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार से मुझे समर्पित कर्म से बंधन उत्पन्न नहीं होते।।२।। कर्म शेष रहने से सुख दुःख का फल मिलता है। एवं उसको भोगने के लिए देहधारण करना पड़ता है।।३।। सब कर्म मुझे समर्पित कर देने से जन्म-मृत्यु का फेरा समाप्त होता है। उसी समय जन्मसहित सब कर्मबंधन नष्ट होते हैं।।४।। अतः धनंजय! इस प्रकार से व्यर्थ समय गंवाना नहीं। यह त्याग-समर्पण की सुलभ युक्ति मैंने तुम्हे दी है।।५।। इस देह के बंधन में नहीं पड़ना। सुख-दुःख के सागर में नहीं डूबना। मेरे स्वरूप में मग्न होकर आत्मसुख का आनंद लेना।।६।।

यद्यपि सब भूतो में मैं सम भाव से व्याप्त हूं। कोई मेरा अप्रिय नहीं है, न कोई प्रिय है। किंतु अनन्य भाव से, प्रेम से मेरी भक्ति करनेवाले भक्तों में मैं प्रकट हूं एवं भक्त मुझमें हैं।।२९।।

मैं कैसा हूं ऐसा भाव यदि तुम्हारे मन में हो तो मैं सब भूतों में समभाव से रहता हूं यह जान लेना। यहां अपना एवं पराया ऐसा भेद नहीं होता।।७।। इस प्रकार से जो मुझे जानता है। अहंकार का त्याग करता है। शरीर एवं मन से कर्म करते हुए संसार में व्यवहार करता है वही मेरी उपासना होती है।।८।। वे देह से कर्म करते हुए दिखाई देने पर भी मन से मुझमें रहते हैं। हे पार्थ! मैं संपूर्ण उनके हृदय में निवास करता हूं।।९।। बीज में, संपूर्ण वटवृक्ष का अस्तित्व सुप्तरूप में रहता है। एवं वटवृक्ष में बीज रहता है।।४१०।। वैसे हम दोनों में परस्पर नाम का बाह्य भेद रहता है। तत्त्वदृष्टि से अंतर्यामी हम दोनों (भक्त एवं भगवान) एक हैं। मैं ही भक्त हूं।।११।। जैसे उधारी से मांगकर लाये हुए अलंकार सब व्यर्थ रहते हैं। वैसा भक्तों का देह धारण उदासीन भाव से रहता है? देह को वे अपना नहीं समझते।।१२।। वायु के साथ सुगंध जाने पर भी डंठल पर पुष्प रहता है वैसा जब तक आयुष्य है तब तक भक्त केवल देह धारण करते हैं।।१३।। मेरे भक्तों का संपूर्ण अहंकार भी पूर्णरूप से मेरे भाव धारण करते हैं। हे अर्जुन! इस प्रकार से मुझमें उनका अभिमान आ जाने से भक्त के लिये वह बंधनकारक नहीं होता।।१४।।

मेरे भक्ति प्रभाव सुनो! यदि कोई दुराचारी अनन्य भाव से मेरी भक्ति करता है, मुझे निरंतर भजता है, वह भी साधु मानने योग्य होता है। क्योंकि भगवद्भक्ति उसका निश्चय यथार्थ होता है।।३०।।

हे पार्थ! अत्यंत प्रेमपूर्वक जो मेरी भक्ति करते हैं उन्हें पुनः देह प्राप्त नहीं होता, यदि वे किसी भी जाति के हों।।१५।। उनका आचरण देखने पर वे

Funding by IKS-MoE

अनुसरण। भक्ति चतुष्पथ का।।१६।। देखो अंत में जो मति। वही आगे की गति। अतः कर ली जिसने भक्ति। देहान्त समय में।।१७।। यदि वह दुराचारी अधम। जानो वह सर्वोत्तम। न डूबा महापूर में वीरोत्तम। जीवित निकला जो।।१८।। उसका जीवन इस पार आया। इसलिये डूबना व्यर्थ गया। जैसा पूर्व पाप नष्ट हुआ। ज्ञानोत्तर भक्ति से।।१९।। अतः यदि दुष्कृती होत। अनुताप तीर्थ में स्नात। तदुपरान्त मुझमें समावत। सर्वभाव सहित।।४२०।। तब पवित्र उसका कुल। अभिजात्य निर्मल। जन्म सार्थकता का फल। प्राप्त उसको।।२१।। उसने किया सब शास्त्र पठन। किया सर्व तप तपन। अष्टांग योग अभ्यसन। किया उसने।।२२।। और क्या कहूं पार्था। वह उबरत कर्म से सर्वथा। जिसकी अखंड आस्था। मेरे ही कारण।।२३।। अशेष मनबुद्धि की रीति। भरके एक निष्ठा की पेटी। मुझ में ही पूर्ण किरीटि। विक्षेपत जो।।२४।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छन्ति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

अवकाश से होगा मुझ जैसा। यदि तेरे मन में भाव ऐसा। रहत अमृत में उसको कैसा। मरण पार्थ?।।२५।। जब तक सूर्य न उदित। तब तक कहिये रात। बिन भक्ति जो कर्म करत। क्या न महापाप वह?।।२६।। अतः उसका चित्त। मेरा सान्निध्य जब पावत। तब ही वह तत्वतः। स्वरूप मेरा।।२७।। जैसे दीप से दीप जलावत। तब कौन प्रथम न जानत। जो सर्वस्वभाव से मुझे भजत। वह साक्षात मैं।।२८।। मेरी नित्य शांति। उसकी सहज स्थिति। जीवन उसका निश्चिति। मेरे ही जीवन से।।२९।। यहां पार्थ बारंबार। वही बात कहूं साचार। यदि मेरी चाह तब भक्तिसार। न छोड़ो कभी।।४३०।। न चाहिये कुल शुद्ध। न होना अभिजात्य प्रसिद्ध। व्युत्पत्ति का व्यर्थ मद। न आवश्यक पार्थ।।३१।। या रूप यौवन का गर्व। अथवा संपत्ति मद सर्व। यदि नहीं मेरा भाव। व्यर्थ सब।।३२।। दाना बिन भुट्टा। बहुत उपजत सुभटा। बिना वस्ति न शोभत सर्वथा। नगर निर्जन।।३३।। अथवा सरोवर यदि सूखत। वन में दुखी को दुखिया भेटत। या बांझ पुष्प से बहरत। वृक्ष जैसा।।३४।। वैसे सब वह वैभव। अथवा कुलजाति गौरव। जैसे शरीर सावयव। किंतु प्राणहीन।।३५।। वैसे मेरी भक्ती बिन। जल जाय वह जीवन। क्या पृथ्वी पर पाषाण। बहुत नाहीं?।।३६।। हिवर की छाया घन। सज्जन मानत निषिद्ध पूर्ण। वैसे त्यागत सब पुण्य अभक्तों को।।३७।। निंब शाखोपशाख फलत। कौवों को ही सुकाल होत। वैसे भक्तिहीन के बढ़त। दोष ही दोष।।३८।। या षड्रस खप्पर में परोसिये। परोस के चौहटे में रखिये। वह तो श्वान के ही लिये। रक्खा जैसे।।३९।। वैसे भक्तिहीन का जीवन। जो स्वप्न में भी सुकृत से अनजान। वह संसार दुख की थाल अर्जुन। परोसत स्वयं को।।४४०।। अतः कुल उत्तम न होवे। जाति अत्यंज की होवे। और देह भी आवे। पशु का पार्थ।।४१।। देखो, नक्र गज को धरत। वह

अव्वल दुराचारी दिखाई देते हैं। किंतु अंत में उसने भक्ति के चारों मार्ग से उपासना की है।।१६।। देखो! मृत्यु के समय जैसी बुद्धि होती है वैसी आगे गति (जन्म) होती है। अतः मृत्यु के समय जिसने भक्ति की है।।१७।। यदि वह अधम, दुराचारी है, फिर भी अंत समय में भक्ति करने से वही उत्तम समझना चाहिये। हे वीरोत्तम! महापूर में गिरने पर न डूबते हुए जो बच गया है।।१८।। उसका जीवन प्राप्त होने से उसका डूबना व्यर्थ हुआ। वैसा ही उसका दुराचार एवं पाप, ज्ञानोत्तर भक्ति करने से नष्ट हुआ।।१९।। अतः दुराचारी होने पर भी यदि उसे पश्चाताप हुआ है, उस पश्चातापरूपी तीर्थ में स्नान करने के उपरांत सर्व भावसहित वह मुझमें समर्पित होता है।।४२०।। तब उसका कुल पवित्र समझना चाहिये। उसकी कुलीनता निर्मल है, जन्म लेकर सार्थक करने का फल उसको प्राप्त हुआ है।।२१।। उसने सब शास्त्रों का अध्ययन किया है, सब प्रकार की तीव्र तपश्चर्या की है, अष्टांग योगसाधना का अभ्यास किया है, ऐसा समझना चाहिये।।२२।। हे पार्थ! और क्या कहूं? जिसके मन में अखंड अनुराग का भाव मेरे लिए ही है, वह सब कर्मबंधन मुक्त होता है।।२३।। जो अपने मन, बुद्धि की समस्त क्रियाएं एकनिष्ठा की पेटी में रखकर मेरे आधीन कर देता है, हे किरीटी! वह कर्म के अतीत होता है।।२४।।

अतः वह शीघ्र धर्मात्मा बनता है। शाश्वत परम शांति उसे प्राप्त होती है। हे अर्जुन! तुम निश्चयपूर्वक यह जानो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।।३१।।

मृत्यु के उपरांत मेरा भक्त मत्स्वरूप होगा ऐसा यदि भाव तुम्हारे मन में होगा तो हे पार्थ! जो अमृत में रहता है उसकी मृत्यु कैसे होगी?।।२४।। जब तक सूर्योदय नहीं होता तब तक उसको रात कहते हैं। भक्ति के बिना कर्म करना क्या महापाप नहीं है।।२६।। अतः उनका अंतःकरण मेरा स्वरूप धारण करता है, उसी समय तत्त्वरूप से मद्रूप होते हैं।।२७।। जैसे दीप से दीप जलाया जाने पर पहला दीप कौनसा है यह ध्यान में नहीं रहता। जो संपूर्ण भाव सहित मेरी भक्ति करता है वह साक्षात मत्स्वरूप होता है।।२८।। मेरी नित्य शांति उनकी स्वाभाविक स्थिति के रूप में प्रकट होती है। मेरा जीवन उसके जीवन का आधार होता है।।२९।। हे पार्थ! यह बात पुनः-पुनः कहता हूं कि मुझे प्राप्त करने की यदि इच्छा है तब भक्ति को कभी भूलना नहीं।।४३०।। शुद्ध कुल की आवश्यकता नहीं है। कुलीनता की बढ़ाई कहने की जरूरत नहीं है। ज्ञान का मिथ्या अभिमान छोड़ दो। उसकी आवश्यकता नहीं है।।३१।। रूप लावण्य का अहंकार या संपत्ति का अभिमान मेरी भक्ति के बिना व्यर्थ होता है।।३२।। हे सुभट! दाने के बिना कुछ भुट्टे उत्पन्न होते हैं। बिना लोगों के नगर को शोभा नहीं मिलती।।३३।। सूखा सरोवर निरुपयोगी होता है। अरण्य में एक दरिद्री दूसरे दरिद्री से मिलता है। या फल न देनेवाला वृक्ष केवल विपुल पुष्पों से शोभित होता है।।३४।। वैसे यह सब वैभव, या कुल एवं जाति का गौरव तथा प्राणहीन शरीर व्यर्थ होता है।।३५।। वैसे ही मेरी भक्ति के बिना जीवन नष्ट हो जाना उचित है। पृथ्वी पर पत्थर विपुल मात्रा में होते हैं।।३६।। कटीले थूहड़ हिवर नामक वृक्ष की छाया घनदाट होती है किंतु उसको निषिद्ध समझते हैं। वैसे सब पुण्य अभक्तों का त्याग करते हैं।।३७।। नीम का वृक्ष शाखा, उपशाखाओं में खूब फलता है। किंतु उसका भोजन केवल कौए करते हैं। वैसे भक्तिहीन लोगों के दोष बढ़ते ही जाते हैं।।३८।। षडरस भोजन ठीकरे में परोसकर चौराहेपर रख दिया जाता है। जैसे कुत्तों को ही वह परोसा जाता है।।३९।। वैसे भक्तिहीन का जीवन स्वप्न में भी भाग्य से दूर रहता है। हे अर्जुन! वे मानों संसार के दुःखों की थाल अपने लिये परोसते हैं।।४४०।। अतः उत्तम कुल न होवे, जाति अंत्यज की क्यो न हो। या देह भी हे पार्थ! पशु का प्राप्त होवे,।।४१।। देखो, मकर ने हाथी का पैर पकड़ लिया। वह दुःख से मेरा स्मरण करने लगा। उसका

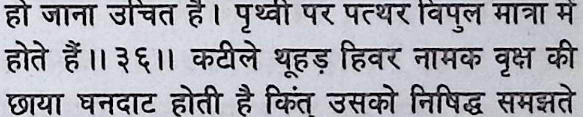

व्यथित मुझको स्मरत। उसका पशुत्व हुआ व्यर्थ। जो प्राप्त मुझको ।।४२।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापनोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।३२।।

नामोच्चार न जिसका उचित। जैसे अधमाधम पार्थ। ऐसे पापयोनि में प्राप्त।
जनम जिसको ।।४३।। वे पापयोनि अर्जुन। मूढ जैसे पाषाण। किंतु मुझमे दृढ़ मन।
सर्वभाव से।।४४।। जिनकी वाचा पर मेरे आलाप। दृष्टि देखत मेरा ही रूप। जिनके
मन में संकल्प। मेरा ही पार्थ।।४५।। मेरी कीर्तिबिन। जिनके रीते नहीं कर्ण।
जिनको सर्वांगभूषण। मेरी सेवा ।।४६।। जिनके ज्ञान को न विषय स्मरण। मुझ एक
का मात्र ध्यान। इस लाभ से ही उनका जीवन। अन्यथा मरण ।।४७।। ऐसा समस्त
कौन्तेय। जिन्होंने अपना सर्वभाव। जीवन का आश्रय। किया मुझको ।।४८।। वे
पापयोनी क्यों न होत। वे श्रुताधीत भी नहीं पार्थ। किंतु मुझ से तुलना में तुलत। न
कमत कभी ।।४९।। देखो भक्ति का महत्व। दैत्य ने लाया देवत्व को हीनत्व। तब
मेरा नृसिंहत्व। अवतार महान ।।४५०।। वह प्रहलाद मत्प्रीत्यर्थ। सहत सदा संकट
बहुत। चरित्र से उसके वही प्राप्त। जो प्रसन्नता से मेरी ।।५१।। दैत्यकुल में जन्म
वैसे। किंतु महत्व अधिक देवेंद्र से। मद्भक्ति एक साधन तैसे। जाति
अप्रमाण ।।५२।। राजाज्ञा के अक्षर। मुद्रित यदि चर्म पर। उस चर्म से प्राप्त समग्र।
वस्तुजात ।।५३।। बिन उस सर्वथा व्यर्थ। एक राजाज्ञा ही समर्थ। चर्म को प्राप्त जब
पार्थ। मोल मिलत सब।।५४।। वैसे उत्तमत्व तब ही सार्थ। तब ही सर्वज्ञता
उपयुक्त। जब मन बुद्धि संयुक्त। प्रेम से मेरे ।।५५।। अतः जाति कुल वर्ण। यह सब
ही अकारण। यहां भक्ति एक अर्जुन। सार्थ जानो ।।५६।। कैसे भी भाव से पार्थ।
मेरे में मन प्रवेशत। पूर्व भेद सब व्यर्थ। जाति वर्णादि ।।५७।। ओहरे ताल सब
ताल। जब तक न पावत गंगाजल। पीछे होकर रहत केवल। गंगारूप ।।५८।। खैर
अथवा चंदन काष्ठ। तब तक विचार भिन्नत्व। जब तक न वे प्रक्षिप्त। अग्नि में
पार्थ।।५९।। वैसे वैश्य स्त्रियां क्षत्रिय। शूद्र अंत्यजादि सर्व। तब तक ही भिन्न
जातिभाव। जब तक न पावत मुझे ।।४६०।। जाति व्यक्ति भेद शून्य। जब सर्वभाव
से मीनत पूर्ण। जैसे पड़त लवण कण। सागर में ।।६१।। तब तक नद-नदी के नाम
भिन्न। तब तक ही पूर्व-पश्चिम गमन। जब तक वे न पहुंचत अर्जुन समुद्र
में ।।६२।। यही किसी एक मिष से। चित्तको मुझमें प्रवेश जैसे। उतने से ही वह
अपने से। मद्रूप होत ।।६३।। क्वचित फोड़ने हेतु अर्जुन। लोह से पारस का संगम
जान। स्पर्शमात्र से तत्क्षण। सुवर्ण ही होत ।।६४।। देखो वल्लभभाव से पार्थ। उन
व्रजांगनाके चित्त। मुझमें मीनत क्या न होत। मत्स्वरूप ।।६५।। नातर भय के मिष
से। मुझको पावत कंस जैसे। अथवा अखंड वैरभाव से। चैद्यादिक ।।६६।। स्वकीय
भाव से पांडव को। मेरा सायुज्य यादव को। ममता से वसुदेव को। दिया मैंने ।।६७।।
नारद धुव अक्रूर। शुक्र एवं सनत्कमार। भक्ति से मैं धनुर्धर। प्राप्त जैसे ।।६८।।

पशुत्व व्यर्थ होकर उसको मेरी प्राप्ति हुई।।४२।।

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि में जन्म लेने वाले मेरी शरण में आकर परमगति को प्राप्त होते हैं।।३२।।

हे अर्जुन! जिनका नामोच्चार भी उचित नहीं समझा जाता, अधम में भी अधम एवं पापयोनि में जिनका जन्म होता है।।४३।। हे पार्थ! ऐसे पापयोनि पाषाण सदृश अज्ञानी हैं। किंतु उनका मन मेरे में दृढ़ है,। सर्व भाव से मेरी भक्ति करते हैं।।४४।। जिनकी वाणी नित्य मेरे गुणों की स्तुति करती है,। दृष्टि से मेरा स्वरूप ही देखते हैं,। हे पार्थ! जिनका मन मेरे लिए ही संकल्प करना जानता है,।।४५।। जिनके कान मेरी कीर्ति नित्य श्रवण करते हैं,। कभी खाली नहीं रहते,। मेरी सेवा करना ही वे आभूषण समझते हैं,।।४६।। जिनको विषयों का स्मरण नहीं होता,। एकमात्र मेरा ही ध्यान करते हैं,। जीने के लिये यही लाभदायक समझते हैं। अन्यथा मृत्यु योग्य समझते हैं।।४७।। हे कौन्तेय! जिन्होंने अपना सर्व जीवभाव, जीवित रहने के लिए, मुझे ही समस्त जीवन का आधार बनाकर मुझे समर्पित किया है।।४८।। वे पापयोनि में जन्म लिए हों, या ज्ञानहीन हों किंतु तुलना में वे मेरे ही बराबरी के होते हैं। कुछ कमी नहीं होती।।४९।। भक्ति का महत्व देखो! दैत्यों ने भी देवताओं को नीचा दिखाया है। मेरा नृसिंह का महान अवतार दैत्य के लिए ही है।।४५०।। मेरे लिये प्रहलाद ने अनेक संकट सहे हैं। उसके चरित्र से वही प्राप्त होता है जो मेरे भक्तों को मैं प्रसन्न होने पर प्राप्त होता है।।५१।। दैत्यकुल में वैसा उसका जन्म हुआ था। किंतु देवराज इंद्र से उसको श्रेष्ठत्व प्राप्त हुआ है। वैसे मेरी भक्ति एक साधन है। भक्ति के लिए जाति अप्रमाण है।।५२।। चमड़े पर राजाज्ञा के अक्षर अंकित करने पर उस चमड़े के टुकड़े से हे पार्थ! सब वस्तुएं बाजार में मिल सकती हैं।।५३।। एक राजाज्ञा के बिना सब व्यर्थ है। राजा की आज्ञा ही समर्थ होती है। चमड़े पर राजाज्ञा अंकित होते ही मूल्य मिलता है।।५४।। जब मन एवं बुद्धि एक साथ मेरे प्रेम से परिपूर्ण होती है। तब महानता एवं सर्वज्ञता उपयोगी होती है।।५५।। अतः जाति, उत्तम कुल, वर्ण यह सब अकारण है। हे अर्जुन! यहां भक्ति ही सबका प्रमाण है।।५६।। हे पार्थ! किसी भी भाव से मन मेरे में प्रविष्ट होने पर जाति, वर्ण आदि पुरातन भेदभाव सब नष्ट हो जाता है।।५७।। नहर, नाले आदि तब तक पृथक माने जाते हैं जब तक वे गंगाजी में समर्पित नहीं होते। एक बार गंगाजी में समर्पित होकर एक रूप हो जाने पर केवल उनका गंगारूप बन जाता है।।५८।। खैर, चंदन आदि के काष्ट में तब तक भिन्नता रहती है जब तक वे अग्नि में डाले नहीं जाते हे पार्थ! अग्नि में वे अग्निरूप होते हैं।।५९।। वैसे वैश्य, स्त्रियां, क्षत्रिय, शूद्र अंत्यज सब जातिभाव तब तक अलग दिखता है जब तक वे मुझसे एकरूप नहीं होते।।४६०।। जाति, व्यक्ति आदि का भेद जब तक सर्वभाव से मुझमें समर्पित नहीं होते तब तक ही रहता है। जैसे नमक की डली सागर में सागर रूप होती है।।६१।। तब तक नदी एवं नद आदि के पृथक नाम होते हैं। पूर्व वाहिनी एवं पश्चिम वाहिनी नदियां कहलाती हैं। हे अर्जुन! समुद्र में समर्पित होते ही वे समुद्र रूप होती है।।६२।। किसी भी निमित्त से चित्त को मुझमें प्रविष्ट करने से अपने को वह मद्रूप कर देता है।।६३।। टोड़ने के निमित्त से क्वचित् पारस का लोह को स्पर्श होते ही तत्क्षण लोह सुवर्ण बनता है।।६४।। हे पार्थ! पति प्राप्ति की इच्छा से हुई।।६५।। भय के निमित्त से मेरी प्राप्ति कंस को हुई। नित्य मुझसे वैर करने से चेदिराजा शिशुपाल को मेरी प्राप्ति हुई।।६६।। समझकर पांडवों को, सगोत्र एवं संबधी होने से यादवों को, ममता के निमित्त वसुदेव को मैंने सायुज्ज मुक्ति दी है।।६७।। नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक्र एवं सनत्कुमारों को मैं जैसे भक्ति से प्राप्त हुआ।।६८।। वैसा गोपियों को

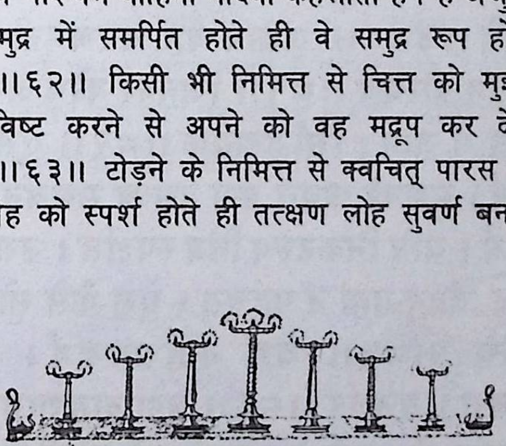

वैसा ही गोपियों को काम से। कंस को भयसंभ्रम से। अन्य घातक मनोधर्म से। शिशुपालादि को।।६९।। अरे मैं निर्वाण का स्थान। करो किसी मार्ग का अवलंबन। भक्ति विरक्ति, विषय, पूर्ण। अथवा वैर से।।४७०।। अतः देखो पार्थ। मुझसे मिलन प्रीत्यर्थ। उपायों का समस्त। अभाव नाहीं।।७१।। किसी जाति में जन्म पाईजे। मुझे भजिये या विरोध कीजे। किंतु भक्त या वैरी होईजे। मेरा ही पार्थ।।७२।। कोई भी हो कारण। यदि आवे मुझे शरण। मद्रूप होवे अर्जुन। सहजभाव से।।७३।। अतः पापयोनी भी अर्जुन। क्या शूद्र वैश्य अंगना जान। मुझे भजत पावत सदन। मेरा ही निश्चित।।७४।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ता राजर्षयस्तथा। अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

तब वर्ण में छत्रचामर। स्वर्ग जिनका अग्रहार। मंत्र विद्या का आगार। ब्राह्मण जो।।७५।। जो पृथ्वीतल पर देव। तपोवतार सावयव। सकल तीर्थों का दैव। उदित जो।।७६।। जो यज्ञों का आधार। वेदों का कवच वज्र। जिनके दृष्टि के उत्संग पर। मांगल्य वर्धित।।७७।। जिनकी आस्था से प्राप्त। सत्कर्म का प्रसाद पार्थ। जिनके संकल्प से सत्य। जीवित जगत।।७८।। जिनकी आज्ञा से अर्जुन। अग्नि की वायु वर्धमान। सप्रेम पानी देत जिस कारण। समुद्र अपना।।७९।। मैंने लक्ष्मी को दूर किया। कौस्तुभ को गले लगाया। वक्षस्थल सामने बढ़ाया। चरणरज के लिये।।४८०।। अद्यापि वह चरणमुद्रा। हृदय में रखत सुभद्रा। अपनी देवसमुद्रा। जतन प्रीत्यर्थ।।८१।। जिनका कोप अर्जुन। कालाग्नि रुद्र का स्थान। प्रसाद जिनका अंत में जान। सिद्धिदायक।।८२।। ऐसे परमपूज्य जो ब्राह्मण। और मेरे ठांई भक्ति पूर्ण। मुझको पावत क्या इसका समर्थन। अलग से युक्त?।।८३।। चंदन अंगानिल से पार्थ। यदि निकटस्थ निंब स्पर्शत। उसको भी स्थान प्राप्त। प्रभु मस्तक पर।।८४।। तब चंदन वहां न पहुंचत। ऐसे कैसे सोचना पार्थ। कोई बुलाकर कहत। क्या तबही सत्य?।।८५।। जहां दाहशमनार्थ। हर आधा चंद्रमा नित्य। सिर पर शीतल रखत। धनुर्धर।।८६।। वहां दाहशामक और पूर्ण। परिमल में चंद्र से न्यारा चंदन। सर्वांग में अपने धारण। क्यों न कीजे।।८७।। रथ्योदक जिसके संग से। समुद्र में मीनत जैसे। उस गंगा को क्या समुद्र से। गति अन्य?।।८८।। अतः राजर्षि अथवा ब्राह्मण। उनको मैं ही शरण्य। उनकी त्रिशुद्धि मैं ही निर्वाण। स्थिति भी मैं ही।।८९।। शत जर्जर नाव में। बैठकर कैसे निश्चिन्त मन में?। कैसे रहिये शस्त्रवर्षा में। खुले अंग से?।।४९०।। अंग पर गिरत पाषाण। न रोके ढाल से अर्जुन। रोग से पीड़ित और उदासीन। औषधि को।।९१।। चहुं बाजु अग्नि प्रदीप्त। क्यों न वहां से हटिये त्वरित? क्यों न इस दुःखद लोक में पार्थ। कीजे भजन मेरा?।।९२।। मेरे भजन बिन। कौन बल अंग में अर्जुन। भोग्य वस्तु समृद्धि जान। कैसे होत?।।९३।। नातर विद्या एवं यौवन। कैसा प्राणियों को इन। भरोसा मेरे

Funding by IKS-MoE

उनकी, विषयबुद्धि से, कंस को भय एवं भ्रांति से, मेरा घात करने की इच्छा से शिशुपाल आदि को प्राप्त हुआ हूं।।६९।। मैं सबका अंतिम साध्य हूं। किसी भी मार्ग का अवलंबन करो। भक्ति, विरक्ति, विषय अथवा पूर्ण वैरसे।।४७०।। अतः हे पार्थ! देखो। मुझसे एकरूप होने के लिए उपायों का अभाव नहीं है।।७१।। किसी भी जाति में जन्म हुआ हो। मेरी भक्ति करो या विरोध करो, किंतु भक्त या वैरी मेरा ही बनो।।७२।। किसी भी कारण से जो मुझे सहज भाव से शरण आता है वह मद्रूप होता है।।७३।। अतः हे अर्जुन! पापयोनी में जन्म लिया हो। शूद्र, वैश्य या स्त्री हो, जो मेरी भक्ति करता है उसको निश्चित मेरा स्थान प्राप्त होता है।।७४।।

फिर पुण्यशील ब्राह्मण जन तथा राजर्षि भक्तजन परमगति को प्राप्त होते हैं। इसमें क्या कहना है? इसलिए तुम सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होने के उपरान्त निरन्तर मेरा भजन करना।।३३।।

सब वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण वर्ण है, मानो राज्य पद ही है। स्वर्ग की प्राप्ति मानो इनाम में उन्हें होती है। मंत्र विद्या का जन्मस्थान ब्राहमण ही होते हैं।।७५।। जो इस पृथ्वी पर देवता ही है। मूर्तिमंत तपश्चर्या के अवतार हैं। उनसे ही सब तीर्थों का भाग्य उदित होता है।।७६।। जो यज्ञों का आधार है। वेदों का वज्रकवच है, जिनकी कृपादृष्टि की गोद में बैठकर मांगस्य भी बढ़ता है।।७७।। जिनकी आस्था से, हे पार्थ! सत्कर्म का प्रसाद प्राप्त होता है। जिनके संकल्प से सत्य का जीवन है।।७८।। हे अर्जुन. जिनकी आज्ञा से अग्नि का आयुष्य बढ़ता है। जिनके लिए अत्यंत प्रेम से समुद्र अपना जल देता है।।७९।। जिनकी चरणरज प्राप्त करने के लिये मैंने लक्ष्मी को दूर किया, कौस्तुभ रत्न को गले लगाया एवं अपना वक्षस्थल आगे बढ़ाया।।४८०।। उन चरणों की मुद्रा, हे सुभद्र अर्जुन! मैं हृदय में धारण करता हूं। अपने भाग्यशाली होने के लिए, देवत्व भाव के लिए उसको संभालता हूं।।८१।। जिनकी क्रोधाग्नि में प्रत्यक्ष रुद्र का निवास है, उनका प्रसाद अंत में सिद्धि देनेवाला होता है।।८२।। ऐसे परमपूज्य जो ब्राह्मण होते हैं, जिनकी मेरे प्रति पूर्ण भक्ति रहती है वे मुझे प्राप्त होते हैं ऐसा अलग समर्थन करना क्या योग्य होगा?।।८३।। चंदन के वृक्ष को स्पर्श करनेवाला वायु, हे पार्थ! जब नीम के वृक्ष को स्पर्श करता है, तब नीम वृक्ष सुगंधित होता है। चंदन समझकर नीम का चंदन भी प्रभु के मस्तकपर लगाया जाता है।।८४।। तब चंदन प्रभु के मस्तक पर नहीं पहुंचता ऐसा कैसे समझोगे? हे पार्थ! कोई पुकारकर कहेंगे तभी उसको क्या सत्य समझेंगे?।।८५।। हे धनुर्धर! विषप्रशासन से उत्पन्न दाह का शमन करने के लिए भगवान शिव आधे चंद्रमा को नित्य शीतलता के लिए मस्तक पर धारण करते हैं।।८६।। वहां दाहशमन करने वाला, सुगंध से परिपूर्ण, चंद्र से अलग चंदन सब शरीर पर क्यों न लगाया जाये?।।८७।। गंदा पानी जिसके संगति में समुद्र में एकरूप होता है उस गंगाजी को समुद्र के बिना क्या अन्य गति है।।८८।। अतः राजर्षि हो या ब्राह्मण उनको शरण आने के लिए मैं ही एकमात्र आधार हूं।।८९।। सौ छेद युक्त नौका में कैसे निश्चिंत बैठा जायेगा? खुले शरीर से शस्त्रवर्षा में कैसे खड़े रहेंगे?।।४९०।। हे अर्जुन! शरीर पर जब पत्थर गिरने लगते हैं तब वे ढाल से नहीं रोके जाते। रोग होने पर औषध लेने में उदासीनता कैसी चलेगी।।९१।। चारों दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित हैं, क्योंकि न वहां से त्वरित हट जाना चाहिये। हे पार्थ! दुःख देनेवाले इस मृत्युलोक में मेरा भजन क्यों नहीं करना चाहिये?।।९२।। मेरी भक्ति के बिना, हे अर्जुन कौनसा आधार है? उपभोग की वस्तुएं एवं समृद्धि कैसे प्राप्त होगी।।९३।। ज्ञान एवं तरुणावस्था में मेरे बिना सुख का, प्राणियों को क्या

Funding by IKS-MoE

बिन। सुख का कोई?।।९४।। अतः भोग्यजात पूर्ण। देह के सुखकारण। और वह देह तो अर्जुन। ग्रास काल का!।।९५।। यह मृत्युलोक का अंतिम हाट। यहां दुःख गठरी की छूटत गांठ। मरण रूप नाप से भेंट। मनुष्य जन्म में।।९६।। इसमें सुख से रहिये पार्थ। ऐसी कौन सी ग्राहकी सार्थ? क्या दीप होत प्रज्वलित। फूंकने से राख?।।९७।। अरे विषकंद रगड़कर। लीजे रस निचोड़कर। कहिये अमृत उसे किंतु अमर। क्या होवे उससे?।।९८।। वैसे विषय का जो सुख। वह केवल परम दुःख। किंतु क्या कीजे मूर्ख। सेवत जात।।९९।। क्या तोड़के अपना सिर। पांव के व्रण को बांधत नर? वैसे ही मृत्युलोक को सुखकर। मानना पार्थ।।५००।। यह मृत्युलोक की वार्ता। कैसी श्रवण कीजे वृथा। कैसी सुख की निद्रा पार्था। वृश्चिक शय्या में?।।१।। चंद्र क्षयरोगी जिस लोक का। अस्त प्रीत्यर्थ उदय जहां का। दुःख पहिनकर वेष सुखका। पीडत जगको।।२।। जहां मंगल का अंकुर प्रस्फुटत। तत्क्षण अमंगल उसको आच्छादत। उदरकुहर में ही मृत्यु पार्थ। खोजत गर्भ को।।३।। अचिन्तनीय का करके चिन्तन। ले जात यमदूत उसी क्षण। किस गांव को पहुंचत अर्जुन। पता न पावत।।४।। यदि सब मार्ग खोजत। निवर्तनि की न कोई बात। चर्चा मृतकों की समस्त। यही पुराण जहां के।।५।। जहां की अनित्यता की वार्ता। कर्ता ब्रह्मा की आयु तक तत्वता। वर्णन न उसका शक्य पार्था। सर्व थैव।।६।। ऐसी जिस लोक की स्थिति। वहां उपजत जो सृष्टि। उनकी निश्चिंत मनोवृत्ति। आश्चर्यकारक अति!।।७।। इह पर लाभ प्रीत्यर्थ। कौड़ी एक न खर्चत। जहां समस्त हानि, व्यय करत। कोट्यावधि।।८।। जो बहु विषयसुख में लिप्त। उसको मानत सुखी पार्थ। जो अति लोभग्रस्त। कहत ज्ञानी।।९।। जिसकी आयु अल्प शेष। बुद्धि प्रज्ञा नष्ट अशेष। उसके वंदन करत चरण शीश। जानकर श्रेष्ठ।।५१०।। शिशु ज्यों-ज्यों वृद्धि पावत। संतुष्ट कौतुक से नाचत। शेष आयु घटत जात। चिन्ता न उसकी।।११।। दिन-दिन जन्म से। कालका होत ग्रास जैसे। जन्म दिन मनावत उल्हास से। उभारत गुड़ी।।१२।। "मर जा" बोल न सहत। मरे जब तब रोवत। प्रति दिन आयुर्नाश न गिनत। मूर्खता से।।१३।। सर्प खड़ा दर्दुर निगलत। दर्दुर जीभ से मक्षिका भक्षत। कौन लाभ से प्राणी बढ़ावत। तृष्णा मन में?।।१४।। हाय रे कैसी दुर्गति! मृत्युलोक की यह उलटी रीति। दैववश से यहां किरीटि। जन्म तेरा।।१५।। तब झडाक से झटक अंग। पकड़ भक्तिमार्ग सुरंग। जिससे पावेगा अव्यंग। निजधाम मेरा।।१६।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैश्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

तू मद्रूप कर मन। मेरे भजन में रत संपूर्ण। सर्वत्र करो नमन। मुझ एकको।।१७।। मेरे अनुसंधान से देख। जलाओ संकल्प निःशेख। जिससे मद्याजी चोख। नाम सार्थ।।१८।। इसविध मद्योग से संपन्न। होवे तब मत्स्वरूप पूर्ण। यह

Funding by IKS-MoE

भरोसा है?॥९४॥ यह संपूर्ण उपभोग के साधन देह के सुख के लिए होते हैं। हे अर्जुन! यह देह तो काल का ग्रास है॥९५॥ यह मृत्युलोक का अंतिम बाजार है। यहां दुःख की गठरी की गांठ खुलती है। मनुष्य जन्म में मरणरूप नाप से भेट होती है (मृत्यु भी जन्म के साथ जन्म लेता है)॥९६॥ हे पार्थ! इसमें सुख से रहने लायक क्या खरीददारी है?। राख फूँकने से कभी दीपक जलता है?॥९७॥ विष का कंद रगड़कर उसका रस निचोड़कर निकालने पर यदि उसको अमृत कहा जाय। क्या उससे अमर होंगे?॥९८॥ वैसे जो विषय सुख हैं, वह केवल दुःख हैं। क्या करेंगे? अज्ञानी विषय सुख का ही आस्वाद लेते है॥९९॥ अपना मस्तक छांटकर चरणों के छांव को कोई बांधता है? हे पार्थ! मृत्युलोक को सुखकर समझना वैसा ही है॥५००॥ यह मृत्यु लोक की सुख की बाते व्यर्थ कैसे सुनना चाहिये। हे पार्थ! बिच्छुओं के बिस्तर में सुखपूर्वक कैसी निद्रा आयेगी?॥१॥ जिस लोक में चंद्रमा क्षयरोगी है,। सूर्य का उदय अस्त होने के लिये ही होता है,। सुख की वेषभूषा करके दुःख जग को कष्ट देता है॥२॥ मांगस्य अंकुरित होते ही जहाँ अमंगल का आच्छादन होता है,। उदर की गुफा में ही हे पार्थ! मृत्यु गर्भ को खोजता है,॥३॥ जिसका चिंतन नहीं करना चाहिये उसका चिंतन किया जाता है,। उसी क्षण यमदूत उसको ले जाते हैं। हे अर्जुन! कौन से गांव में वे पहुँचते हैं इसका पता भी नहीं लगता॥४॥ सब मार्ग ढूंढने पर कहीं से निकलने का मार्ग नहीं दिखता। जहाँ के पुराणों में केवल मृतको की ही चर्चा की गयी है॥५॥ यहाँ का अमरत्व ब्रह्माजी के आयुपर्यंत ही होता है। हे पार्थ! उसका वर्णन करना सर्वथा अशक्य है॥६॥ ऐसी जिस लोक की स्थिति है, उस सृष्टि में जो जन्म लेता है उसकी निश्चिंत मनोवृत्ति आश्चर्यकारक प्रतीत होती है॥७॥ इहलोक एवं परलोक के सुख के लिये एक पैसा खर्च नहीं करते। जहाँ सब प्रकार का नुकसान है उसके लिये कोटयावधि रुपये खर्च करते है॥८॥ जो अत्यंत विषय सुख में लिप्त हैं। हे पार्थ! उसको ही सुखी समझते हैं। जो अत्यंत लोभी है, उसको ज्ञानी कहते हैं॥९॥ जिसकी अब अत्यंत थोड़ी आयु शेष है, बुद्धि से ज्ञान का लोप हो गया है. उनको श्रेष्ठ समझकर उनकी चरण वंदना करते है॥४१०॥ शिशु जैसे-जैसे बढ़ता है वैसा-वैसा संतोष होता है। उसके आयु से उतने वर्ष घट गये उसकी चिंता उन्हे नहीं होती॥११॥ दिनों-दिन काल का भक्ष बनते हैं उसकी चिंता नहीं है। गुड़िया उभारकर जन्म दिन मनाते हैं॥१२॥ 'मरो, जाओ' शब्द नहीं सहे जाते। जब मरता तब रोते हैं। अज्ञान से रोज आयुष्य का नाश हो रहा है, इसकी गिनती नहीं करते॥१३॥ सांप पूरा मेंढ़क निगलता है। मेंढ़क उसी अवस्था में जीभ निकालकर मक्खी को खाने का प्रयास करता है। प्राणि भी मन में किस लाभ से अपनी तृष्णा बढ़ाता रहता है?॥१४॥ हाय! कैसी दुर्गति है। मृत्युलोक की यह उलटी रीति है। हे किरीटी! दैववश तुम्हारा यहां जन्म हुआ है॥१५॥ तब तुम जल्दी से वासनाओं को झटककर अलग हो जावो। सुंदर भक्तिमार्ग का अवलंबन करो। जिससे तुम्हें मेरे निर्दोष अक्षय स्थान की प्राप्ति होगी॥१६॥

मेरे मन में मन रखनेवाला बनो, मेरा भक्त बनो, मेरे लिए ही यह यज्ञ, पूजन, दान आदि कर्म करो। सर्वत्र मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार से मुझे सर्व भाव से शरण आनेवाले तुम अपना अंतःकरण मेरे में स्थिर होने से मुझे प्राप्त होगे॥३४॥

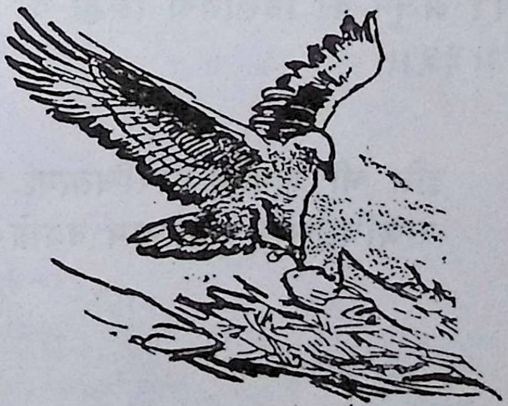

तुम अपना मन मद्रूप करो। मेरे भक्ति में तल्लीन हो जाओ। मुझे अकेले का ही अस्तित्व समझकर मुझे वंदन करो॥१७॥ केवल मेरी ओर लक्ष लगाकर संपूर्ण संकल्प का नाश करो। इससे मेरा यजन करनेवाला ऐसा नाम तुम्हें प्राप्त होगा॥१८॥ इस प्रकार से मेरे योग से संपन्न होने पर तुम पूर्ण रूप

Funding by IKS-MoE

अंतःकरण का गुह्य वचन। कहूं तुझको ।।१९।। रखा जो सबसे गुप्त। सर्वस्व मेरी यह बात। होंगे वह करके प्राप्त। सुखस्वरूप ।।५२०।। ऐसे शामल परब्रह्म। भक्तकाम कल्पद्रुम। बोलत श्री आत्माराम। संजय कहे ।।२१।। सुनो श्रोतागण समस्त। जैसे महापूर में भी भैंसा न उठत। वैसा बोल सुनके भी वृद्ध पार्थ। खड़ा स्तब्ध ।।२२।। संजय प्रसन्न डोलत। अहा! कैसी अमृतवर्षा होत। यहां रहके भी यह भ्रमित जात। अन्य गांव ।।२३।। परंतु दातार यह हमारा। अतः कहते लगे वाणीदोष सारा। क्या कीजे जो घटियारा। स्वभाव इसका ।।२४।। किंतु धन्य मेरा भाग्य सत्य। जो कहने के मिष से वृत्तांत। मुनिराज से मैं रक्षित। श्री व्यासदेव से ।।२५।। ऐसे अति सायास से। कहत जब दृढ़ मानस से। न रोक सकत अपने से। सात्विक भावको ।।२६।। चित्त चकित स्तब्ध रहत। वाचा अचानक पंगु होत। शरीर में आपाद कंचुकित। रोमांच उठत ।।२७।। अर्धोन्मीलित नयन। वर्षत आनंद जल पूर्ण। अंतः सुखोर्मि से बाहिर जान। छूटत कंप ।।२८।। दिखत सर्वांग रोममूल-। में स्वेदकणिका निर्मल। मोतियों का साज अनमोल। पहिनाया जैसे ।।२९।। ऐसा महासुख का अतिरस। जहां जीवदशा का होत नाश। वहां निरूपित व्यास ने जो खास। विस्मरत पूर्ण ।।५३०।। किंतु श्रीकृष्ण का संवाद पार्थ। सगर्जन श्रवण में पड़त। देहस्मृति पुनरपि पावत। संजय तब ।।३१।। नेत्र से अश्रु पोंछत। सर्वांग का स्वेद काछत। सुनो महाराज कहत। धृतराष्ट्र को ।।३२।। अब श्रीकृष्णवाक्य बीज को सुघड़। मिले संजय का सात्विक बियाड़। अतः श्रोताओं को होवे सुरवाड़। प्रमेय धान्य का ।।३३।। यहां किंचित अवधान दीजिये। आनंद राशि पर बैठिये। जो श्रवणेंद्रिया परिणित देखिये। दैवने आज ।।३४।। अतः विभूतियों का ठांव। अर्जुन को दिखावेगा सिद्धों का राव। वह सुनो कहे ज्ञानदेव। निवृत्तिनाथ का ।।३५।।

इति श्री ज्ञानदेव विरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिंदीअनुवादे
राजविद्याराजगुह्योनाम नवमोऽध्यायः (श्लोक ३४ ओवियाँ ५३५)

से मत्स्वरूप बनोगे। यह अंतःकरण की गुप्त बात तुम्हें कही है।।१९।। जो सबसे गुप्त रखा है, ऐसी यह बात मेरा सर्वस्व है, उसे प्राप्त करके तुम सुख से ओतप्रोत हो जावोगे।।५२०।। ऐसे श्यामवर्ण के परब्रह्म परमात्मा, भक्त की इच्छाएं पूर्ण करनेवाले कल्पतरु, श्री आत्माराम कह रहे थे, ऐसा संजय ने कहा।।२१।। हे श्रोतागण! सुनिये! जैसे महापूर में भैसा उठता नहीं वैसा संजय की वाणी सुनकर, वह कुरुवृद्ध राजा धृतराष्ट्र स्तब्ध रहा।।२२।। संजय प्रसन्न होकर डोलने लगा। अहा! कैसी अमृत की वर्षा हो रही है। यहां रहते हुए भी यह भ्रमित राजा मानो दूजे गांव जा रहा है।।२३।। किंतु यह हमारा स्वामी है। अतः कुछ कहने से हमारी वाणी भ्रष्ट होगी। क्या करेंगे इसका स्वभाव ही घटिया है।।२४।। किंतु मेरा भाग्य धन्य है। जो वृत्तांत कहने के निमित्त से श्री मुनीश्वर व्यासदेवजी ने मेरा रक्षण किया है।।२५।। ऐसे अत्यंत कष्ट से, दृढ़ता से मन में वह कहते हुये सात्विक भाव को अपने में नहीं रोक सका।।२६।। उनका चित्त चकित हो गया। वाणी स्तब्ध हो गयी, सारा शरीर नखशिखान्त रोमांच से आच्छादित हो गया।।२७।। आंखें आधी खुली एवं आधी बंद थीं, उनमें से आनंदाश्रु बहने लगे। मन में आत्मसुख के तरंग उठने से शरीर कंपित हो गया।।२८।। उनके रोम रोम में स्वेद के निर्मल सूक्ष्म बिंदु चमकने लगे, मानो संपूर्ण शरीर पर मोतियों का श्रृंगार किया है।।२९।। ऐसे महासुख के अपरंपार रस में डूबने से जीवभाव का नाश हुआ। श्री व्यासजी ने जो बताया था उसका उस स्थिति में पूर्ण विस्मरण हुआ।।५३०।। किंतु हे पार्थ! श्रीकृष्ण की वाणी गर्जना के सदृश कान में पड़ते ही संजय को पुनः देहभाव की स्मृति हुई।।३१।। नेत्र से अश्रु पोंछ दिये। सर्वांग में जो स्वेद उत्पन्न हुआ था उसको पोंछा। एवं धृतराष्ट्र को कहा, हे महाराज! सुनिये।।३२।। श्रीकृष्ण के वचन सुंदर बीज हैं। संजय की सात्विक वृत्ति रूपी भूमि उस बीज को बोने के लिये तैयार है। अतः श्रोताओं को सिद्धांत की फसल विपुल मात्रा में मिलेगी।।३३।। यहां थोड़ा ध्यान देने से आनंद की राशी पर बैठने का सौभाग्य प्राप्त होगा। श्रवणेंद्रियों का भाग्य आज खुल गया है।।३४।। अतः सिद्धों के राजा श्रीकृष्ण अर्जुन को ईश्वरीय विभूतियों का निरूपण करेंगे। श्री निवृत्तिनाथ के शिष्य श्री ज्ञानदेव कहते हैं अब आप इसका निरूपण सुनिये।।५३५।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

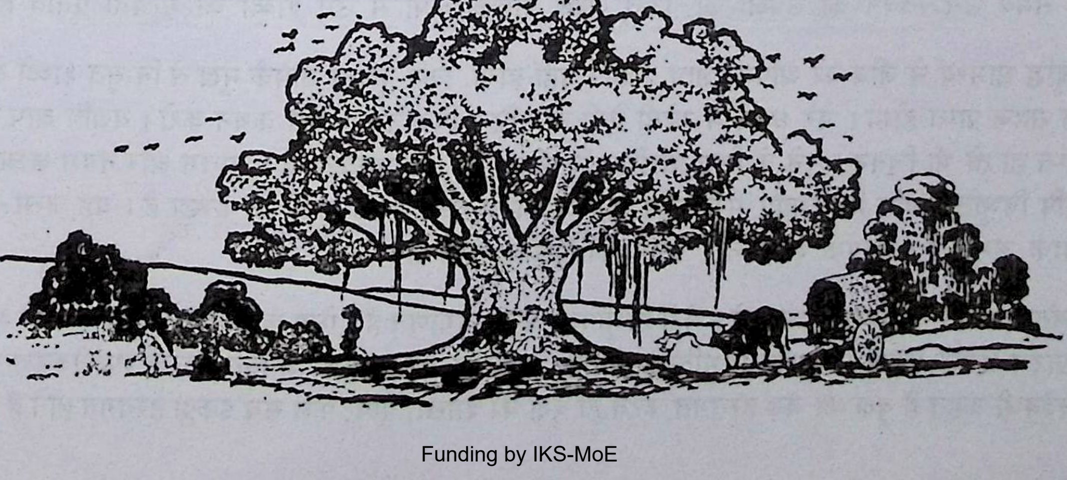

Funding by IKS-MoE

अध्याय-दसवाँ

सारांश

जहां विभूति प्रति विभूति। अर्जुन को निरूपत श्रीपति ।।अ.१०-४१।।

इस अध्याय में ज्ञानदेवजी अपने संस्कृत प्रचुर शब्दों से गुरु की वंदना करते हैं। उनका आध्यात्मिक स्वरूप, सामर्थ्य, महिमान वर्णन करके गीतारूपी खजाना मुझे प्राप्त हो गया यह उनकी कृपा का फल है। नवम् अध्याय अनिर्वाच्य होते हुये भी, गुरु निवृत्तिनाथजी की कृपा से मैं उसका अनुवाद करने के लिये समर्थ हुआ हूं। मेरा अनुवाद गीता के समकक्ष है यह कथन नम्रता से परंतु आत्मविश्वास से करते हैं। आगे भगवद्वाक्य का अनुवाद करते हैं।

श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं- मेरी श्रवण में आस्था है, प्रेम है, इसी कारण तुझको कथा कथन करने में मुझे भी आनंद आता है। मैं जैसा तेरे सम्मुख खड़ा हूं वैसा मर्यादित नहीं हूं। मैं विश्वाकार हूं। ऋषि, देवताओं को मेरा यथार्थ स्वरूप आकलन नहीं होता, क्योंकि मैंने उनको उत्पन्न किया है। उदरस्थ गर्भ को माता की उमर का ज्ञान रहता है क्या? इंद्रियवृत्ति को अंतर्मुख करके, विवेक से देहत्रय का निरास करके जो पंचभूतों के सिर पर आरूढ़ होता है उसे अनादि लोक महेश्वर के स्वरूप का अनुभव आता है और वह सर्व संकल्प से मुक्त होता है। मेरे से व्यासादि सप्तर्षि, चार मनु, लोक, लोकपाल इनकी उत्पत्ति हुई। ब्रह्म से चींटी तक मैं सबमें व्याप्त हूं। 'मैं, मेरी विभूतियां, और उनसे व्याप्त संपूर्ण विश्व एक है ऐसा ऐक्य का अनुभव आना ही मेरी अभेद भक्ति है। ऐसे भक्त त्रैलोक्य में बड़े प्रेम से संचार करते हैं। जब ऐसे भक्तों का परस्पर मिलन होता है तो वे आनंद सागर में डूब जाते हैं। देहभानरहित होकर विश्व को मेरा गुणगान सुनाते हैं।

स्वर्ग मोक्ष का वे निरादर करते हैं। मेरा प्रेमसुख वे स्वकष्ट से अर्जित करते हैं, किंतु यह प्रेमसुख भगवान की देन है, ऐसा निरभिमानी होकर सारे जगत को कथन करते हैं। मेरे घर ऐसे भक्तों की कमी है। स्वर्ग मोक्ष की इच्छा करनेवालों को मैं स्वर्गमोक्ष देकर छोड़ देता हूं, परंतु सच्चा सुख प्रेमी भक्तों को देता हूं। मैं उनको ज्ञानप्रकाश देकर उनकी सेवा करता हूं।

श्रीकृष्ण का उपदेश सुनकर अर्जुन को आत्मज्ञानरूपी नूतन जन्म प्राप्त हुआ। अपना जन्म सफल हुआ ऐसा वह समझने लगा। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और उनके चरणों के समीप खड़ा रहने की भी मेरी योग्यता नहीं है, यह वास्तव स्थिति जानकर वह अपने भाग्य की सराहना करने लगा। महान ऋषिओं ने आपकी स्तुति की थी, मैंने उस समय उस स्तवन की उपेक्षा की, किंतु आज आपकी कृपा से उन शब्दों की सत्यता प्रतीत हुई।

बुद्धि सामर्थ्य से जीव को आपका ज्ञान कदापि नहीं होगा, किंतु कृपया आपके मुख से निःसृत शब्दों से वह ज्ञान सहज प्राप्त होगा। मेरे ध्यान में रहेगी ऐसी नामांकित विभूतियां। मुझे कथन करो। यद्यपि आप सर्वत्र व्याप्त हो तो भी चिंतन करने के लिए परिमित विभूतियों की आवश्यकता है। सप्तम और नवम अध्याय में यद्यपि विभूति वर्णित है, तथापि मेरी रुचि होने के कारण पुनः श्रवण करने की इच्छा है। यह जन्म-मरण नाशक अमृत है। आपके शब्द नाद ब्रह्म की साक्षात मूर्ति है।

संतुष्ट होकर श्रीकृष्ण कहने लगे। मेरी विभूतियां अनंत अगणित हैं। ऐसा कथन करके सर्वान्तर्यामी आत्मा से प्रारंभ करके प्रमुख पचहत्तर विभूतियां श्रीकृष्ण ने कथन की। इसका अनुवाद करके स्पष्टीकरणार्थ श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं वृक्ष की जड़ हस्तगत करते ही वृक्ष की शाखा, पुष्प, फल सब इकट्ठा हस्तगत होते हैं। वैसे

ही विभूतियां अनंत होते हुये भी सबका बीज मैं हूं। उनका विस्तार विश्व है। बुद्धि भेद से शुद्ध स्वरूप को कलंक लगाना योग्य नहीं। श्रीकृष्ण ने भेद द्वारा विभूति कथन करके अंत में अभेद भाव कथन किया। यह अभेदभाव ओतप्रोत भरा है। ऐसा अनुभव उसको आया। यह अनुभव चर्म चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष हो, ऐसी इच्छा अर्जुन के मन में उदित हुई। अर्जुन बड़ा भाग्यवान था। भगवान जब प्रसन्न हैं तब उसकी इच्छा पूर्ण होने में देर कहां?

किन्तु भाग्यहीन राजा धृतराष्ट्र पर इसका यत्किंचितदपि परिणाम नहीं हुआ। वह अन्तर्बाह्य अंध था। संजय को उसकी दया आई। ऐसे दोनों प्रसंगों का वर्णन करके ज्ञानदेवजी ने यह अध्याय समाप्त किया है।(१०-३३५)

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - दसवाँ

नमो विशदबोधविदग्धा। विद्यारविंदप्रबोधा। पराप्रमेयप्रमदा। विलासिया ।।१।।
नमो संसारतमसूर्या। अपरिमितापरमवीर्या। तरुणतरतूर्या। लालनलीला ।।२।। नमो
जगत्अखिलपालना। मंगलमणिनिधाना। सज्जनवनचंदना। आराध्यलिंगा ।।३।।
नमो चतुरचित्तचकोरचंद्रा। आत्मानुभवनरेंद्रा। श्रुतिगुणसमुद्रा। मन्मथमन्मथा ।।४।।
नमो सुभावभजनभाजना। भवेभकुंभभंजना। विश्वोद्भवभुवना। श्री
गुरुराया ।।५।। आपका अनुग्रह गणेशु। जब देत अपना सौरसु। तब सारस्वत में
प्रवेशु। बालक को भी प्राप्त ।।६।। इस दैवि की उदार वाणी का। जब प्रसाद प्राप्त
अभयकार का। तब नवरससुधाब्धि का। थांह लभत ।।७।। आपकी स्नेह वागीश्वरी
समर्थ। मूक को यदि अंगिकारत। तब वाचस्पति से करत। प्रबंध होड ।।८।। यह
कृपादृष्टि जिस पर। पद्मकर मस्तक पर। वह जीव तुलत साचार। महेश के
साथ ।।९।। ऐसा गुरुकृपा का महत्व। कैसे वाचाबल से बरनत। क्या सूर्य के अंग को
लगावत। उबटन कभी?।।१०।। कैसा बौर कल्पवृक्ष को?। कौन सी रससिद्धि क्षीर
सागर को?। किसका सुवास कर्पुर को। देना शक्य?।।११।। चंदन को किससे
चर्चना?। अमृत को कैसे पकाना?। गगन पर उभारना। मंडप कैसे?।।१२।। वैसे
श्रीगुरुका महिमान। जानने का कौन सा साधन?। यह जानकर मैंने नमन। किया
निवान्त।।१३।। यदि स्वप्रज्ञाबल से पूर्ण। श्रीगुरु सामर्थ्य का करे वर्णन। मोती को

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - दसवाँ

ब्रह्मज्ञान का स्पष्ट बोध कराने में चतुर, विद्यारूपी कमल का विकास करनेवाले और परावाणी का विषय (स्वरूपस्थिति) रूपी तरुण स्त्री के साथ विलास करनेवाले, हे श्रीगुरुदेव! आपको मेरा प्रणाम!।।१।। संसाररूपी अंधकार का नाश करनेवाले सूर्यदेव, निरूपम और श्रेष्ठ सामर्थ्य से युक्त, युवावस्था प्राप्त ज्ञानरूप चौथी अवस्था अर्थात तुरीयावस्था का स्नेह से पालन करना यही जिनकी क्रीडा है ऐसे हे श्रीगुरुदेव आपको मेरा प्रणाम!।।२।। हे सब जगत का पालन करनेवाले, कल्याणरूपी रत्नों की प्रत्यक्ष खदान, भक्तरूपी बन में चंदनवृक्ष के समान, पूजा करने योग्य, श्रीगुरुदेव! आपको मेरा प्रणाम!।।५।। हे महाराज! आपकी कृपा यही विद्यापति गणेश है, और जब वह अपना सामर्थ्य देता है, तब मूढ़ बालक भी साहित्यिक के प्रांत में प्रवेश कर सकता है।।६।। जिस समय श्री गुरुकी उदारवाणी अभयकार का वचन देती है, उसी समय श्रृंगार आदि नौ रसों के अमृतमधुर समुद्र की थांह लगती है।।७।। हे महाराज! आप की प्रेममयी और शक्तिशाली वाणीरूपी सरस्वती, किसी गूंगें को भी अपनाती है तो वह ग्रंथरचना के कार्य में स्वयं वृहस्पति के साथ प्रतिज्ञापूर्वक स्पर्धा कर सकता है।।८।। केवल यही नहीं, जिस किसी पर आपकी दयादृष्टि का प्रकाश पड़ता है, अथवा आपका कमल के समान कोमल हाथ जिसके मस्तकपर पड़ता है वह जीव होने पर भी शिवजी की बराबरी का हो जाता है।।९।। जिस गुरुकृपा का ऐसा महात्म्य है, उसका मैं अपनी मर्यादित वाणी के बल से भला कैसे वर्णन कर सकता हूं? क्या कभी सूर्य के शरीर में भी उबटन लगाया जा सकता है?।।१०।। क्या कल्पतरु को फलद्रूप होने के लिये फूलों का मोर आने की जरूरत है? क्षीरसागर का आतिथ्य भला किस प्रकार के पक्वानों से किया जा सकता है? कपूर को किस सुगंधित वस्तु से सुगंधित किया जा सकता है?।।११।। चंदन पर किस चीज का लेप लगाया जा सकता है? अमृत का पक्वान कैसे बनाना? आकाश के ऊपर मंडप कैसा उभारना?।।१२।। ठीक उसी प्रकार श्रीगुरुदेव के महात्म्य का पूरा ज्ञान होने के लिये कौन सा साधन प्राप्त हो सकता है? ये सब बातें जानकर ही बिना किसी प्रकार की वाचालता किये मैंने उन गुरुदेव को चुपचाप नमस्कार किया है।।१३।। यदि कोई अपने बुद्धिबलके अभिमान से गुरुदेव के सामर्थ्य का वर्णन करने की धृष्टता करेगा तो वह ऐसा ही होगा जैसे कि मोती पर अभ्रक का

Funding by IKS-MoE

अभ्रक का मुलामा समान। होगा वैसे।।१४।। अथवा रजत की कलई सुवर्ण पर। वैसे वचन गुरुस्तुति पर। निवान्त चरण में नवाइये शिर। यही युक्त।।१५।। तब कहत जी आपने। भला देखा ममत्व ने। अतः कृष्णार्जुन संगम में। प्रयागवट हुआ मैं।।१६।। पूर्वी दूध दो कहने प्रीत्यर्थ। पूर्ण क्षीराब्धि का करके पात्र। उपमन्यु सन्मुख समर्थ। रखा आपने।।१७।। नातर वैकुंठ पीठनायक। जब ध्रुव रूठत सकौतुक। समझावत देकर प्रसादक। अटल पद का।।१८।। वैसी जो ब्रह्मविद्याराव। सकल शास्त्रों का विश्राम ठांव। भवतद्गीता ओवी छंद में गेय की ऐसी।।१९।। जो शब्द वन में सर्वथा। कर्ण में न अक्षर फल की वार्ता। यह वाचा ही करत कल्पलता। विवेक की।।२०।। थी देहबुद्धि पूर्ण मग्न। सहसा आनंद भंडार का किया स्थान। गीतार्थ सागर में जलशयन। करत मन।।२१।। ऐसी गुर्वी करनी एकेक। अपार कैसे वर्णन शक्य?। किया अनुवाद धृष्टतापूर्वक। उप साहियोजी।।२२।। अब आपका कृपा प्रसाद। भगवद्गीता ओवी प्रबंध। पूर्वखंड वर्णन विनोद। से किया मैंने।।२३।। प्रथम में अर्जुन-विषाद। द्वितीय में योग विशद। किंतु सांख्य बुद्धि में भेद। दिखाकर स्पष्ट।।२४।। तृतीय में कर्म प्रतिष्ठित। चतुर्थ में ज्ञान प्रकट। पंचम में गौरवित योगतत्व।।२५।। षष्ठम में वही प्रकट। आसनादि क्रिया स्पष्ट। जीवात्मभाव एकत्रित। होत जिससे।।२६।। वैसी जो योगस्थिति। योगभ्रष्ट को कौन सी गति। वह संपूर्ण उपपत्ति। षष्ठम में कथित।।२७।। उसके उपरान्त सप्तम प्रकृति परिहार उपक्रम। जिससे भजन पुरुषोत्तम। प्रतिपादित चारों।।२८।। पश्चात सप्तप्रश्न विधि। कहकर प्रयाण समय सिद्धि। एवं सकल वाक्यावधि। अष्टमाध्याय में।।२९।। असंख्यक शब्दब्रह्म में। अभिप्राय जितना उसमें। एकलक्ष महाभारत में वर्णित सब।।३०।। अभिप्राय जो महाभारत में लभत कृष्णार्जुन वचनोक्ति में। सप्तशत श्लोकों में। वह एक नवम में।।३१।। अतः नवम का अभिप्राय। अति गहन अनाकलनीय। वर्णन को लागत भय। कैसा गर्व करूं मैं?।।३२।। गुडशर्करा अशेख। उत्पन्न रस से एक किंतु माधुर्य स्वाद का देख। भिन्न-भिन्न।।३३।। कोई करत ब्रह्मप्रतिपादन। कोई दर्शवत ब्रह्म का स्थान। कोई मीनत ब्रह्म में संपूर्ण। ब्रह्मज्ञान सहित।।३४।। ऐसे ये गीता के अध्याय। किंतु नवम उसमें अनिर्वाच्य। अनुवाद किया हे सदय! सामर्थ्य आपका।।३५।। अहो! एक

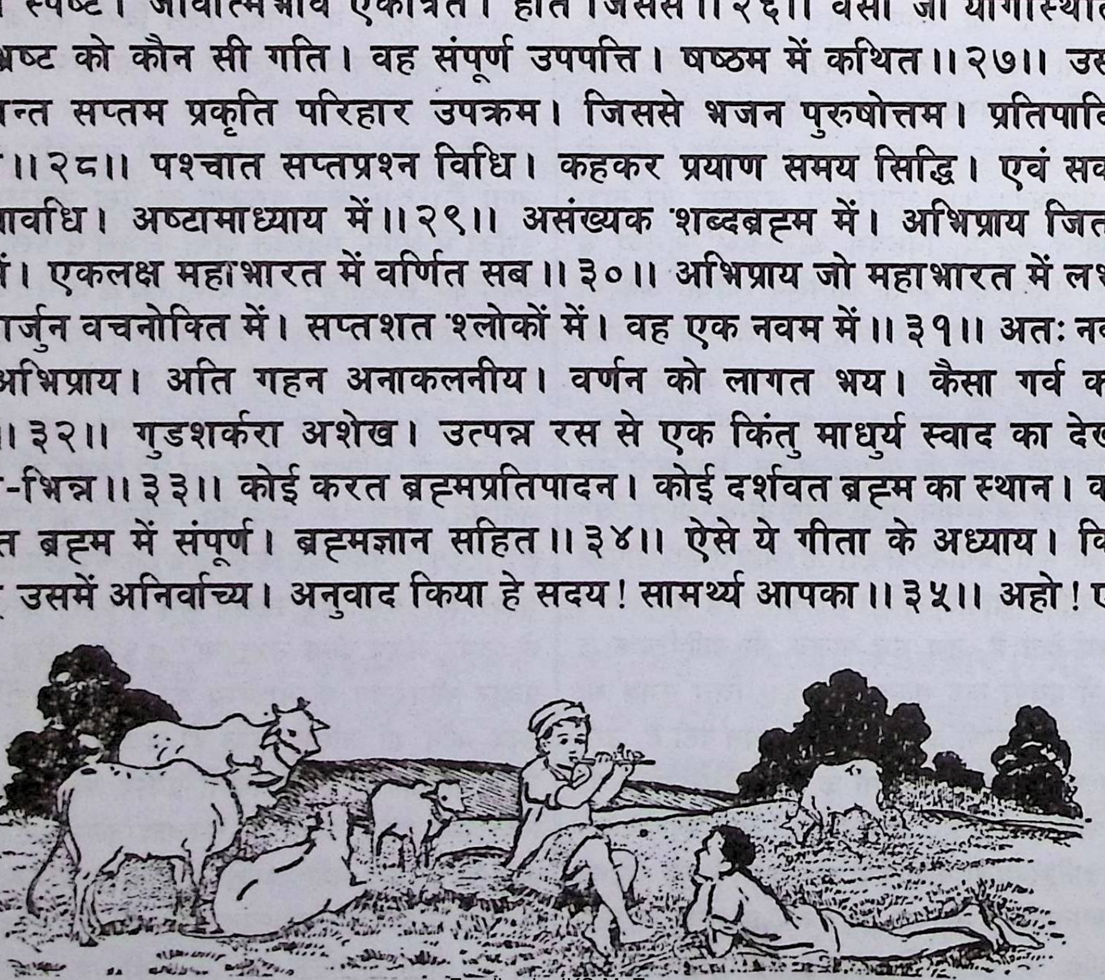

मुलामा चढ़ाना हास्यास्पद होता है।।१४।। अथवा वह जो गुरुदेव की स्तुति करेगा वह स्तुति खरे सोनेपर चांदी का मुलामा करने के समान ही होगी। इसलिये कुछ भी न कहते हुये चुपचाप गुरुदेव के चरणों पर मस्तक रख देना ही सबसे अच्छा है।।१५।। तब श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं हे स्वामी! आपने प्रेमपूर्वक मेरी ओर दृष्टिपात किया है इसीलिये इस कृष्णार्जुन संवादरूपी संगम में मैं भी वैसा ही हो गया हूं, जैसा गंगा और जमुना के संगम में प्रयाग का वटवृक्ष है।।१६।। जिस प्रकार प्राचीन काल में भक्त उपमन्यु ने श्रीशंकर से दूध मांगने पर उन्होंने पूरा क्षीरसागर ही उसके सामने दूध के कटोरे की भांति रख दिया था।।१७।। अथवा रूठे हुये ध्रुव को बड़े प्रेम के साथ समझाने के लिये स्वयं वैकुंठाधिपति ने उसे अटल ध्रुवपद रूपी प्रसाद दिया।।१८।। इसी प्रकार गीता जो ब्रह्मविद्याका राजा है और सब शास्त्रों का विश्रांतिस्थान है वह भगवद्‌गीता को ओवीछंद में प्राकृत भाषा में मेरे द्वारा गेय बना डाली।।१९।। देखो, शब्दरूप बन में चाहे जितना भटकने के बाद भी उस वाचारूप वृक्ष को विचार रूप फल आने की वार्ता भी कानों से सुनने को नहीं मिलती उस वाचा को ही आपने विचारों का कल्पवृक्ष बना दिया।।२०।। मेरी बुद्धि बिलकुल देहभावमयी हो गई थी, उसे आपने अब ब्रह्मानंद के भंडार की कोठरी बना दी है और मेरा मन गीता के अर्थरूप क्षीर समुद्र में जलशयन करने वाले साक्षात महाविष्णु ही बन गया है।।२१।। श्री गुरु की एक-एक लीलायें ऐसी अलौकिक हैं, उनकी असीम कृतियों का वर्णन करना कैसा शक्य है? तो भी मैंने धृष्टतापूर्वक उनका अनुवाद किया है इसके लिये हे गुरुदेव! आप मुझे क्षमा कीजिये।।२२।। आपका कृपाप्रसाद मैंने पाया और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का प्रथम खंड मैंने बड़े उत्साह से ओवी छंद में किया है।।२३।। पहले अध्याय में अर्जुन के खेद का वर्णन है जो उसे अपने संबंधियों के नाश की कल्पना से हुआ था। दूसरे अध्याय में निष्काम कर्मयोग स्पष्ट रीतिसे बतलाया साथ ही उसमें और सांख्य के ज्ञानयोग में जो भेद है, वह भी दिखला दिया है।।२४।। तीसरे अध्याय में केवल कर्मयोग बतलाया। वही कर्मयोग चौथे अध्याय में ज्ञानसहित प्रतिपादित किया गया है। पांचवे अध्याय में योगतत्त्व का महत्व अष्टांग सहित विशद किया है।।२५।। छटे अध्याय में जिससे जीवात्मा का ऐक्य होता है उसी योगतत्व को आसन से प्रारंभ करके समाधि अवस्थातक स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।।२६।। इसी प्रकार छटे अध्याय में यह भी बतलाया गया है कि योगस्थिति क्या है और योगभ्रष्ठों की कौनसी गति प्राप्त होती है। यह सब विस्तार से वर्णन किया गया है।।२७।। इसके पश्चात सातवें अध्याय में प्रथम माया के स्वरूप का वर्णन करके पुरुषोत्तम को भजनेवाले चारों प्रकार के भक्तों का वर्णन किया है।।२८।। इसके बाद आठवें अध्याय में अर्जुन ने पूछे हुये प्रश्नों का उत्तर देकर प्रयाणस्थिति का अंत तक पूरा वर्णन किया है।।२९।। इस अपार शब्द ब्रह्म माने जानेवाले वेदों में जो तत्वज्ञान का अभिप्राय मिलता है वही सब एक लाख श्लोकवाले महाभारत ग्रंथ में मिलता है।।३०।। और समस्त महाभारत में जो आशय निहित है वह सब कृष्णार्जुन संवाद में (गीता में) मिलता है। और कृष्णार्जुन संवाद के सात सौ श्लोकों में जो कुछ सार है यह सब गीता में केवल नवें अध्याय में एकत्र करके भरा हुआ है।।३१।। श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं इस गहन नवम अध्याय का वर्णन करने में मुझे बहुत डर लग रहा था फिर मैं व्यर्थ में किसलिये गर्व करूं?।।३२।। गुड़ शर्करा एक ही उख के रस से उत्पन्न होते हैं, परंतु फिर भी उनके माधुर्य का स्वाद अलग-अलग होता है।।३३।। वैसे यद्यपि ये सभी अध्याय गीता के ही हैं, और उसमें एक ही ब्रह्मरस का वर्णन है फिर भी इनमें से कुछ अध्याय ब्रह्मतत्व, को अच्छी तरह समझाते हैं, कुछ अध्याय केवल ब्रह्म का स्थान सुझाकर रह जाते हैं, और कुछ अध्याय ऐसे जाने पड़ते हैं कि वे अपने ज्ञान के गुण के साथ ब्रह्म में लीन हुए हैं।।३४।। गीता के ये सब अध्याय इसी प्रकार के हैं। परन्तु नवम अध्याय का माहात्म्य शब्दों के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। हे कृपालु गुरुदेव! यह केवल आपके ही सामर्थ्य का प्रभाव है जो मैं उसका विवेचन कर सका।।३५।।

Funding by IKS-MoE

की शाटी तपत। एक प्रतिसृष्टि रचत। एक कटक को पार करत। पाषाण सेतु पर
से।।३६।। एक आकाश में सूर्य को पकड़त। एक चुल्लु में अपने सागर भरत। वैसे
मुझसम मूक से कहलावत। अनिर्वाच्य जो।।३७।। रहने दो यह वर्णन ऐसे।
राम-रावण जूझत कैसे। राम-रावण ही जैसे। मीनत समर में।।३८।। नवम में
श्रीकृष्ण के बोल वैसे। नवम के ही समान जैसे। जानत तत्त्वज्ञ तैसे। गीतार्थ
मर्म।।३९।। प्रथम नौ अध्याय सज्जन जन!। यथामति मैंने किया वर्णन। अब
उत्तरखंड उपक्रमण। सुनो सब।।४०।। जहां विभूति प्रतिविभूति अर्जुन को निरूपत
श्रीपति। वह विदग्धा रस वृत्ती। कहूं कथा अब।।४१।। देशिया का नागरपन।
शांतश्रृंगार को जीतत अर्जुन। वे ओवियां होत आभूषण। साहित्य को।।४२।।
मूलग्रंथ संस्कृत। उस पर भाष्य प्राकृत। अभिप्राय उचित ज्ञात। न जाने कौन
मूल।।४३।। ऐसा अंग का सुंदरपन। अलंकार को। हो अंग आभूषण। कौन किस को
भूषवत कौन। कहा न जाये।।४४।। देशी और संस्कृत वाणी इसमें। शोभत भावार्थ
के एकासन में। समान सुंदर रूप में। सुबुद्धि सुनो।।४५।। सृजत भाव सृष्टि। रस
वृत्ति की होत वृष्टि। चातुर्य को होवे प्राप्ति। प्रतिष्ठा की।।४६।। वैसे देशिया का
लावण्य। लूटकर लाया तारुण्य। तब रचित अगण्य। गीता तत्त्व।।४७।। वह
चराचर परमगुरु। चतुर चित्त चमत्कारू। सुनो अब ग्रंथ यादवेश्वरू। निरूपत
स्वयं।।४८।। निवृत्ति का ज्ञानदेव कहत। श्रीहरी अर्जुन को निरूपत। अंतःकरण
तेरा श्रवणार्थ। करो सुसज्ज अब।।४९।।

श्री भगवान उवाच—

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः। यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

हमने जो किया निरूपण। उससे आजमाया तेरा अवधान। वह अल्प नाही पूर्ण।
समुचित पार्थ।।५०।। घट में थोड़ा जल डालिये। न झिरत यदि तब पूर्ण भरिये। तुम
परीक्षित पूर्ण मन में भाये। कहना अधिक पुनः।।५१।। अपरिचित पर सर्वस्व
छोड़िये। यदि सच्चा तब भांडारी कीजिये। वैसे अब किरीटि तुम देखिये। निजधाम

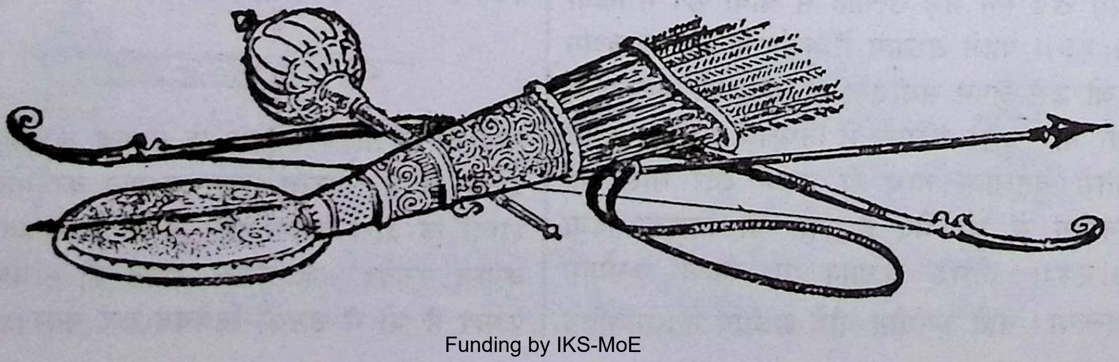

Funding by IKS-MoE

किसी (वरिष्ठ) का अंगोछा सूर्य की तरह प्रकाशमान हुआ, किसी (विश्वामित्र) ने इस सृष्टि से जोड़की एक दूसरी सृष्टि रच डाली, किसी (भगवान रामचंद्र) ने पत्थरों का पुल बनाकर अपनी सेना को पैर से चलाकर समुद्र पार पहुंचाया, ।।३६।। किसी (हनुमानजी) ने आकाश में उड़ान लगाकर सूर्य को हाथ से पकड़ लिया, । किसी (अगस्ति) ने अपने एक चुल्लू में ही । सारा समुद्र भर लिया, । इसी प्रकार हे गुरुदेव, आपने श्री मुझ समान गूंगे के मुख से अनिर्वचनीय इस अध्याय को कहलवा दिया ।।३७।। किंतु अब यह वर्णन रहने दो, यहां यदि पूछा जाये कि राम और रावण का युद्ध कैसा हुआ? तो इसका उत्तर केवल यही दिया जायेगा कि वह राम-रावण युद्ध के जैसे ही हुआ। वह राम-रावण जैसे युद्ध में एक दूसरे से भिड़ गये थे उसी प्रकार से हुआ होगा। दूसरी उपमा नहीं मिल सकती ।।३८।। इसी प्रकार इस नवें अध्याय में श्रीकृष्ण का जो भाषण है, वह इस नवें अध्याय के भाषण के समान ही है, जिनके गीतार्थ का आकलन हुआ है वे तत्त्वदर्शी यह मर्म जानेंगे ।।३९।। इसी प्रकार मैंने भी अपनी बुद्धि के अनुसार प्रारंभ के नौ अध्यायों का विवेचन किया है, अब इसके आगे आप सब गीता के उत्तरखंड का विश्लेषण सुनो ।।४०।। इस खण्ड में अर्जुन को श्रीकृष्ण अपनी प्रधान तथा गौण विभूतियां बतलावेंगे और अब उसी की सुंदर रसपूर्ण कथा चतुरता से सुनाई जायेगी ।।४१।। हे अर्जुन! यह देशी भाषा के सौंदर्य के आधार पर शांत रस श्रृंगार को जीतेगा और ओवियां साहित्यशास्त्र का अलंकार बन जावेगी ।।४२।। मूल संस्कृत ग्रंथ के श्लोकों का देशी भाषा में जो आशय बतलाया गया है, उस अर्थ को अच्छी तरह समझ लेने के उपरान्त श्रोताओं को यह भ्रान्ति होने लगेगी कि इसमें मूल कौन सा है और टीका कौन सी है और वे चकित हो जायेंगे ।।४३।। जिस प्रकार सुंदर शरीर अपने जातीय लावण्य के कारण स्वयं ही आभूषणों का अलंकार हो जाता है (अर्थात सुंदर शरीर के कारण स्वयं आभूषणों की शोभा बढ़ जाती है) और तब यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि आभूषण के कारण शरीर की शोभा बढ़ी है अथवा शरीर के कारण आभूषणों की शोभा बढ़ी ।।४४।। उसी प्रकार आप लोग शुद्ध बुद्धि से इसको देखें कि देशी भाषा और संस्कृत भाषा प्रस्तुत विषय के भावार्थ की पालकी में अधिष्ठित होकर कैसे समान सुंदर रूप से शोभा दे रही है ।।४५।। ज्योंही कोई भाव आकार प्राप्त करता है त्योंही वहां नौ रसों की वर्षा होने लगती है और चतुरता को प्रतिष्ठा प्राप्त होकर वह अधिक खिलने लगती है। ।४६।। इस प्रकार देशी भाषा का समस्त लावण्य तथा यौवन लूटकर लाया गया है और उसी के द्वारा इस गहन गीतातत्त्व की रचना की गई है ।।४७।। अब आप लोग यह सुनें जो इस समस्त चराचर के श्रेष्ठ गुरु तथा चतुर जनों के चित्त को आश्चर्यवत् भासनेवाले श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा ।।४८।। श्री निवृत्तिनाथ के शिष्य श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने कहा- "हे अर्जुन अब आत्मज्ञान का संपूर्ण प्रतिपादन सुनने के लिये तुम अपने अन्तःकरण से सचमुच सज्ज हो गये हो ।।४९।।

श्री भगवान बोले–

भगवान श्रीकृष्ण बोले कि 'हे महाबाहो! अर्जुन! तुम फिर से मेरा श्रेष्ठ वचन सुनो कारण, मुझ पर प्रेम करने वाले तुमको तुम्हारे हित की इच्छा से मैं कहूंगा ।।१।।

मैंने अब तक जो बातें कही थीं केवल यही जानने के लिये कही थीं कि इस विषय के प्रति तुम्हारा कितना ध्यान और अनुराग है। इस परीक्षा में यह सिद्ध हुआ है कि इस विषय की ओर तुम्हारा ध्यान कम नहीं बल्कि भरपूर है ।।५०।। पहले बरतन में थोड़ा पानी डाला जाता है और तब देखा जाता है कि वह पानी उसमें ठहरता है या उसमें से चू जाता है। और जब वह पहले का डाला हुआ पानी बरतन में बना रहता है, और चू नहीं जाता तब उसमें अधिक पानी डालकर बरतन पूरा भरा जाता है। इसीलिये मैंने तुम्हें पहले थोड़ी सी बातें बतलाई थीं वह तेरे अंतःकरण में स्थिर हो गयीं, तुम परीक्षा में अच्छे उत्तीर्ण हुए देखकर वही पुनः पुनः कहने को जी चाहता है ।।५१।। 'जब कोई नया नौकर रखा जाय, तब उसकी परीक्षा लेने के लिये कोई मूल्यवान वस्तु

Funding by IKS-MoE

मेरे ।। ५२।। ऐसे अर्जुन को सर्वेश्वर। कहत करके अत्यादर। गिरि देखकर सुभर।
मेघ जैसा ।। ५३।। वैसा कृपालुओं का राव। कहे सुनो हे पांडव!। पूर्व कथित
अभिप्राव। कहूं पुनः ।। ५४।। प्रतिवर्ष बीज बोइये। उपजवृद्धि जो-जो देखिये।
इसलिये न उबग कीजे। लगाने में पार्थ ।। ५५।। ताव दीजे पुनः-पुनः। कांति निखरत
अर्जुन। अतः सुवर्ण का शोधन। भाये मन को ।। ५६।। वैसे यहां यथार्थ। नहीं तुझपर
उपकार पार्थ। बोलत स्वार्थ प्रीत्यर्थ। कथा शेष ।। ५७।। बालक को चढ़ाइये
आभूषण। क्या वह श्रृंगार जाने अर्जुन?। उसका सब सुख समाधान। मातृदृष्टि
को ।। ५८।। वैसा मेरा समस्त हित। ज्यों-ज्यो तुझको होवे प्राप्त। त्यों-त्यों मेरा सुख
दुगनत। धनुर्धर ।। ५९।। रहने दो यह अलंकारोक्ति। मुझ को स्पष्ट तेरी
प्रीति। अतः न होवे तृप्ति। सुसंवाद से कभी ।। ६०।। यही एक कारण। पुनः पुनः
वही कथन। अब सावधान अंतःकरण। करके दीजे चित्त ।। ६१।। तब सुनो-सुनो
सुवर्म!। वाक्य मेरा परम। अक्षर रूपसे तुझको परब्रह्म। आलिंगन देत ।। ६२।।
किंतु हे किरीटि!। साथ जानो मेरी व्याप्ति। मुझको जो देखत दृष्टि। संपूर्ण विश्व
वह ।। ६३।।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।। २।।

यहां वेद मौन होत। मन पवन पंगु पार्थ। रात्रिबिन पावत अस्त।
रवि-शशि ।। ६४।। अरे! उदर का गर्भ जैसा। न जाने माता की आयु वैसा। मैं सब
देवताओं को तैसा। अनाकलनीय ।। ६५।। जैसे जलचर को उदधि का मान। या
मशक न उल्लंघत गगन। वैसे महर्षियों का ज्ञान। न जानत मुझको ।। ६६।। पर्वत पर
चढ़त उलटा जल। बढ़ता वृक्ष पहुंचत मूल। तब ही मुझसे सृष्ट जग सकल। जाने
मुझको ।। ६७।। मैं कितना और कौन। किसका और कहां उत्पन्न। इस निश्चय में
निष्फल अर्जुन। बीते कल्प ।। ६८।। क्योंकि मैं आदि पांडव। अतः ये महर्षि एवं देव।
अन्य भूत जात सर्व। अनभिज्ञ पूर्णतः ।। ६९।। या अंकुर में समावत वट पूर्ण। या
तरंग में डूबत सागर संपूर्ण। अथवा परमाणु में समावत अर्जुन। भूगोल यह ।। ७०।।
तब ही मुझसे सृष्ट सर्व।। महर्षि तथा अन्य देव। मेरा ज्ञान सर्वथैव। पावत
पार्थ ।। ७१।। यदि कोई क्वचित। प्रवृत्ति को छांडत। सर्वेन्द्रियों को करत। पीठ पीछे
जो ।। ७२।। त्वरित वहां से निवर्तत। निवृत्ति पर देहभाव रहित। महाभूतों के
चढ़त। माथा पर पार्थ ।। ७३।।

किसी ऐसे स्थान पर रख देनी चाहिये कि सहज में उसकी दृष्टि उस वस्तु पर पड़े। और जब उसके मन में उस वस्तु के प्रति अभिलाषा न उत्पन्न हो तब उसको विश्वासपात्र समझकर भंडार या खजाने के काम पर नियुक्त करना चाहिये। इस प्रकार हे अर्जुन! तुम मेरी कसौटी पर खरे उतरे हो और इसीलिये अब तुम मेरे सर्वस्व हो गये हो'॥५२॥ सबके स्वामी श्रीकृष्ण ने इस प्रकार अर्जुन से कहा। और तब जिस प्रकार ऊंचे पर्वत को देखकर मेघ भर जाता है और बरसने को तैयार हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी प्रेम से भर गये॥५३॥ वैसा कृपालु जनों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा- हे पंडुपुत्र! सुनो, पहले जो बातें तुमको बतलाई हैं वही अब मैं तुम्हें फिर से बतलाता हूं॥५४॥ जब कोई आदमी हर साल खेती करता है और हर साल अच्छी फसल पाता है, तब खेती के लिये परिश्रम करने में वह नहीं घबराता॥५५॥ बार बार तपाने पर सुवर्ण की कांति और भी निखरती है। और इसीलिये सुवर्ण को इस प्रकार शुद्ध करना लोगों को पसंद आता है॥५६॥ इसी प्रकार मैं तुम पर कोई उपकार नहीं कर रहा हूं, बल्कि स्वयं अपनी स्वेच्छा ओर अनुराग से अपने ही संतोष के लिये पुनः पुनः यह कथा भाग तुमसे कहता हूं॥५७॥ छोटे बालक को गहने पहनाये जाते हैं, भला उस बालक को उन गहनों का क्या महत्व? उसका सब सुख और समाधान तो माता की दृष्टि को होता है॥५८॥ इस प्रकार तुमको ज्यों ज्यों आत्मज्ञान से तुझको हित प्राप्त होता है त्यों त्यों मेरा सुख दुगना बढ़ता है यह बात सत्य है॥५९॥ अब ये अलंकारिक बातें रहने दो। मैं स्पष्ट रूप से कहता हूं कि मैं तुम्हारे प्रेम से पक्का बंध गया हूं और इसीलिये अब मेरा मन अपने संवाद से किसी तरह कभी तृप्त नहीं होता॥६०॥ यही एक कारण है कि मैं तुमसे वही बातें बार बार कहता हूं। अब यह प्रस्तावना बहुत हुई अब तुम अपने मन को एकाग्र करके मेरी बातें सुनो॥६१॥ इसीलिये उत्तम कवच से युक्त हे अर्जुन! मेरा श्रेष्ठ वचन सुनो। जो अक्षर रूप वस्त्र पहनकर स्वयं परब्रह्म तुम्हें आलिंगन करने आ रहा है॥६२॥ परंतु फिर भी, हे अर्जुन! मेरे वास्तविक और व्यापक रूप को जानो। जो मैं यहां तेरी दृष्टि को दिखाई पड़ रहा हूं, वही मैं यह सारा विश्व हूं॥६३॥

देव अथवा महर्षियों को मेरी उत्पत्ति का ज्ञान नहीं है क्योंकि देव और महर्षि इन सबका आदिकारण मैं हूं॥२॥

मेरे स्वरूप का प्रतिपादन करने में वेदों ने भी मौन स्वीकार कर लिया। मन अथवा वायु की गति भी वहां तक नहीं है। रात न होने पर भी और दिन रहते हुये भी सूर्य और चंद्रमा अस्तंगत हुए हैं अर्थात निस्तेज हुए हैं॥६४॥ जिस प्रकार माता के उदर में रहनेवाला गर्भ अपनी माता की आयु जानता नहीं, उसी प्रकार सभी देवताओं को मेरा ज्ञान नहीं हो सकता॥६५॥ जिस प्रकार मछली, अपार समुद्र को नाप नहीं सकती, अथवा जिस प्रकार मच्छर लांघकर गगनमंडल का विस्तार पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार इन महर्षियों का ज्ञान मुझको, मेरे स्वरूप को नहीं जान पाता॥६६॥ यदि नीचे की ओर बहता हुआ पानी फिर उलटकर पर्वत पर चढ़ सकता हो, अथवा ऊपर की ओर बढ़ता हुआ वृक्ष फिर अपनी जड़ की ओर चलकर उसे मिल सकता हो तो ही मुझसे उत्पन्न होनेवाला यह संसार मुझे जान सकता है॥६७॥ मैं कितना बड़ा हूं, मैं कौन हूं, किससे और किस स्थान में उत्पन्न हुआ हूं, आदि प्रश्नों का निर्णय करते-करते अनेक कल्प असफल बीत गये॥६८॥ इसका कारण यही है कि ये जितने देवता महर्षि और दूसरे समस्त भूतमात्र अनभिज्ञ हैं उनका मूल कारण संपूर्णतः मैं ही हूं॥६९॥ यदि वटवृक्ष के छोटे से अंकुर में पूरा विस्तीर्ण वट वृक्ष समा सकता है, अथवा पानी की तरंगों में सारा समुद्र भरा जा सकता है,। अथवा मिट्टी के सूक्ष्म परमाणु में सारी पृथ्वी समा सकती हो,॥७०॥ तभी मुझसे उत्पन्न हुए ये भूतमात्र, महर्षि तथा देवता मुझे जान सकते हैं॥७१॥ लेकिन इतने पर भी अगर कोई सहज तथा लौकिक प्रवृत्ति की आगे बढ़ानेवाली चाल छोड़कर इंद्रियों को पीठ देकर पराग्ङमुख होता है॥७२॥ देहादि अनात्मतत्वों कीं ओर यदि प्रवृत्ति हुई तो भी वहां से शीघ्र पीछे मुड़ता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह को विचार से निरस्त करके

Funding by IKS-MoE

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

वहां रहकर स्थिर। शुद्ध स्वप्रकाश में सुवीर। देखे मेरा अजत्व साचार। स्वदृष्टि से।।७४।। मैं आदि के पार। सकल लोक महेश्वर। ऐसे मुझको जो नर। इसविध जाने।।७५।। वह पाषाण में पारस। जैसा रसमध्ये सिद्धरस। वैसा वह मनुष्य में अंश। मेरा ही जानो।।७६।। वह चलते ज्ञान का बिंब। उसके अवयव सुख के कोंभ (अंकुर)। उसका मनुष्यत्व भ्रम सब। लौकिक दृष्टि से।।७७।। अरे! कर्पूर में अवचित। होवे यदि हीरा प्राप्त। उसपर नीर गिरत। न विरत जैसा।।७८।। वैसा मनुष्य मध्ये पार्थ। यदि विचरत प्राकृत। प्रकृति दोष समस्त। न बांधत उसे।।७९।। उसको स्वयं त्यजत पाप। जैसा जलते चंदन को सर्प। मुझको जाने, उसको संकल्प। त्यजत त्वरित।।८०।। अब मुझको कैसे जानिये। कल्पना यदि मन में आये। तब मेरे सब सुनिये। भाव पार्थ।।८१।। यह भाव अन्यान्य। उनके प्रकृतिसमान त्रिजगत में संपूर्ण। विकीर्ण जो।।८२।।

परब्रह्म परमात्मा में स्थित समस्त सृष्टि-

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

उनमें प्रथम समझो बुद्धि। तदनंतर ज्ञान निरवधि। असंमोह सहन सिद्धि। क्षमा सत्य।।८३।। और शम दम दोनों। जो सुख-दुःख जग में जानो। भाव अभाव को मानो। भाव रूप ही।।८४।। भय एवं निर्भयता। तृष्टि, अहिंसा, समता। और तप पंडुसुता। तथा दान।।८५।। सुनो कीर्ति एवं अपकीर्ति। इन भावों की सर्वत्र व्याप्ति। मुझमें ही इनकी सृष्टि। भूतों के ठाँई।।८६।। जैसे ये भूत भिन्न। उनके विचार भी पृथक अर्जुन। किसी को मेरा ज्ञान। किसी को अज्ञान।।८७।। प्रकाश एवं अंधःकार। सूर्य से ही जैसे धनुर्धर। प्रकाश उदय में गोचर। अस्त में तम।।८८।। मद् विषय में ज्ञान अज्ञान। प्राणियों के दैव से पूर्ण। अतः यह विषम भाव अर्जुन। उनके ठाँई।।८९।। मेरे ही भावों में पार्थ। यह जीव सृष्टि समस्त। जानिये पूर्ण समाहित। निरंतर।।९०।। अब इस सृष्टि के पालक। जिनके आधीन वर्तत लोक। वे एकादश भाव विशेख। कहं तुझको।।९१।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

तब सब गुण वृद्ध। जो महर्षियों में प्रबुद्ध। कश्यपादि प्रसिद्ध। सप्तऋषि।।९२।। और जो चौदह मन्वादि मूल। उनमें जो चार मुख्य ज्येष्ठ। कहूं स्वायंभू आदि केवल। मनु चार।।९३।। ऐसे ये एकादश। मन्मानस से सृष्ट गुड़ाकेश। सृष्टि के व्यापार अशेष। प्रीत्यर्थ देखो।।९४।। जब नहीं थी लोकव्यवस्था। न थी त्रिभुवन रचना पार्था। तब महाभूतों का समुदाय सर्वथा। था निष्क्रिय पूर्ण।।९५।। जब ये एकादश उत्पन्न। इन्हीं से हुये सब लोक अर्जुन। अध्यक्ष किये आगे जन। लोकपाल ये।।९६।।

पंचमहाभूतों के माथे पर चढ़ता है अर्थात पंचमहाभूतों का निरास करता है।।७३।।

जो मुझको जन्मरहित अनादि एवं लोकमहेश्वर जानता है वह मनुष्यों में ज्ञानी है तथा वह सब पापों से मुक्त होता है।।३।।

वहां अच्छी तरह स्थिर रहकर अपनी आंखों से मेरा जन्म-मरण हीन स्वरूप देखता है।।७४।। यह स्वरूप जो मूल कारण से परेका और समस्त लोकों का नियन्ता है। ऐसे मुझको जो इस प्रकार जानता है।।७५।। वह जीवरूपी पत्थरों में पारस के समान है। जिसप्रकार सब रसों में अमृत श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वह मनुष्य मात्र में प्रत्यक्ष मेरा ही अंश है।।७६।। ऐसा वह जीव चलते फिरते ज्ञानसूर्य का बिंब अथवा उसके अवयव मानो सुखरूपी वृक्ष के कोमल अंकुर ही होते हैं।।७७।। अरे! कर्पुर में अवचित। हीरा प्राप्त हुआ। और उस पर पानी गिरा। तब भी जैसा घुलेगा नहीं।।७८।। वैसे वह मनुष्यों में सामान्य रूप से विचरण करनेवाला जीव मनुष्य समान दिखता है किन्तु माया के समस्त दोष उसको बांध नहीं सकते।।७९।। पाप अपने आप उसे छोड़कर दूर हट जाता है, (समस्त संकल्प उस समय मनुष्य को छोड़कर दूर चले जाते हैं) (जिस प्रकार जलते हुए चंदन के वृक्ष को छोड़कर सांप चला जाता है)।।८०।। अब यदि तुम्हारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न हो कि मेरा इस प्रकार का ज्ञान मनुष्य को कैसे हो सकता है, तो मेरे सब भाव और विकार तुमको सुनाता हूं।।८१।। वे मेरे भिन्न-भिन्न विकार प्राणियों में उनके प्रकृति के अनुसार बनकर संपूर्ण त्रिलोक में फैले हुये हैं।।८२।।

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख होना न होना, भय एवं अभय।।४।। अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अपकीर्ति इत्यादि भूतमात्र के विधि भाव मुझसे ही उत्पन होते हैं।।५।।

उन भावों में या विकारों में पहला स्थान बुद्धि का है। इसके उपरांत निःसीम ज्ञान, मोह का अभाव, सहनशीलता, क्षमा और सत्य है।।८३।। इसके उपरान्त, मन का निग्रह और इंद्रिय नियंत्रण ये दो और जग में जो सुख और दुःख और जन्म-मरण भी मेरे ही विकार जानो।।८४।। हे पडुंसुत अर्जुन! भय, निर्भयता, तुष्टि, तप, समता, अहिंसा और दान तथा-।।८५।। यश एवं दुष्कीर्ति ये सब भाव जो सर्वत्र व्याप्त हैं वे मुझसे ही प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।।८६।। जिस प्रकार सब भूत अलग अलग हैं उसी प्रकार यह भाव भी अलग अलग है। परंतु इनमें से कुछ भूतों को मेरा ज्ञान होता है और कुछ को मेरा अज्ञान रहता है।।८७।। हे धनुर्धर! जिस प्रकार, प्रकाश और अंधकार दोनों परस्पर विरोधी होकर भी सूर्य से ही इन दोनों की उत्पत्ति है। सूर्य के उदय में प्रकाश दिखता है और सूर्य के अस्त के साथ अंधकार दिखने लगता है।।८८।। इसी प्रकार मुझे जानना अथवा न जानना, उन भूतों के दैव अर्थात कर्मों के फलों के अनुसार होता है। इसी कारण भूतमात्र के लिये मेरे भावों का अस्तित्व विषम प्रतीत होता है।।८९।। इस प्रकार हे पार्थ! यह संपूर्ण भूत सृष्टि मेरे ही भावों में निरंतर जकड़ी हुई है।।९०।। अब इस सृष्टि का पालन करने वाले और समस्त लोकव्यवहार को अपने अधीन रखनेवाले ग्यारह भाव विशेष हैं वे तुझको बतलाता हूं।।९१।।

प्राचीन (कश्यपादि) सात महर्षि, चार (स्वायंभू आदि) मनु ये भाव भी मेरे मन से ही उत्पन्न हुये। और यह सब प्रजा इन्हीं की सृष्टि है।।६।।

समस्त महर्षियों में गुण और ज्ञान में श्रेष्ठ जो कश्यपादि सप्तर्षि है, और चौदह मनुओं में जो स्वायंभू आदि चार मुख्य मनु हैं, हे अर्जुन वही ग्यारह मेरे भाव हैं।।९२-९३।। ये ग्यारह भाव मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं और उनकी उत्पत्ति का हेतु सृष्टि का व्यापार है।।९४।। जब तक इन लोकों की व्यवस्था नहीं हुई थी, और जब तक इन तीनों भुवनों की रचना नहीं हुई थी, तब तक महाभूतों का समूह पूर्णतः निष्क्रिय था।।९५।। जिस समय इन ग्यारहों का अस्तित्व हुआ और इन्होंने सब लोकों को उत्पन्न किया और उन लोकों में भिन्न भिन्न आठ लोकपाल नियुक्त किये।।९६।। इस प्रकार ये ग्यारहों राजा हैं और बाकी सारा जगत इनकी प्रजा है। तात्पर्य यह कि तुम इस बात को जान लो कि यह सारा विश्व

Funding by IKS-MoE

अतः ये एकादश प्रजापति। अन्य सर्व प्रजा किरीटि। एवं यह विश्व विस्तार मत्कृति। जानिये पार्थ।।९७।। प्रारंभ में बीज एक। अंकुरित जब तब स्तंभ देख। स्तंभ से अंकुर अनेक। शाखाओं के।।९८।। शाखाओं से बहुत। उपशाखा प्रस्फुटत। उपशाखाओं से समस्त। पल्लव पर्ण।।९९।। पश्चात् पुष्प-फल। एवं वृक्षत्व सकल। निर्धारित तब केवल। बीज एक।।१००।। वैसे मैं ही एक प्रथम। इच्छा मन में बहुस्याम। वहां सप्त ऋषियों को जन्म। और चारों मनु।।१।। इनसे लोकपाल सृष्ट। जो विविध लोक सृजत। लोकों से उपजत। प्रजाजात।।२।। इसविध यह विश्व पार्थ। यहां विस्तारित मैं ही समस्त। भाव यह वही जानत। श्रद्धावान जो।।३।।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

इसलिये सुभद्रापति। यह भाव मेरी विभूति। और इन्हीं की सब व्याप्ति-।से व्याप्त जग।।४।। अतः इसविध पार्थ। ब्रह्मादि पिप्पिलिका पर्यंत। मेरे सिवा न अन्य सत्य। वस्तु जग में।।५।। ऐसे जो जानत व्यक्ति। उसी को ज्ञान की जागृति। अतः उत्तम अधम किरीटि। दुःस्वप्न न देखे।।६।। एवं मेरी विभूति। और विभूति से व्यक्त सृष्टि। यह सब योग प्रतीति। एक ही मानो।।७।। अतः इस महायोग से। मद्रूप मीनत मनयोग से। निःसंशय पावत समरस से। त्रिशुद्धि पार्थ।।८।। अथवा जो ऐसा किरीटि। मुझको भजत अभेद दृष्टि। उसकी भजन भक्ति। वश करत मुझे।।९।। अतः अभेद भक्तियोग यह। वहां न मृत्यु से भी व्यत्यय। षष्ठम में कथित कौंतेय। बात स्पष्ट।।११०।। वह अभेद कैसा। यदि मन में यह कांक्षा। निरूपण उसका सर्वशा। सुनो अब।।११।।

अहं सर्वस्व प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

सब जग का उत्पन्न कर्ता। मैं ही एक पंडुसुता। मुझसे ही इनका सर्वथा। निर्वाह जानो।।१२।। कल्लोलमाला बहुत। जन्म उनका जल से ही पार्थ। जल ही उनका आश्रय समस्त। जीवन भी जल।।१३।। जैसा वहां एकमात्र जल। वैसा विश्व में मैं ही केवल। मेरे सिवा जग में सकल। अन्य नाहीं।।१४।। ऐसा मेरा व्यापकत्व। जानकर जो भजत नित्य। उदित प्रेमभाव से सत्य। धनुर्धर।।१५।। देशकाल वर्तमान। सब मुझसे मानकर अभिन्न। जैसा वायु होकर गगन। विचरत गगन में।।१६।। ऐसे जो निजज्ञानी। खेलत इस त्रिभुवनी। जगद्रूप को मनोमनी। धारण करके।।१७।। जो-जो भेंटत भूत। उसको मानत भगवंत। यह भक्तियोग निश्चित। जानो मेरा।।१८।।

Funding by IKS-MoE

मेरा ही विस्तार है।।९७।। देखो प्रारंभ में केवल एक ही बीज रहता है। फिर उसी बीज के बढ़ने से अंकुर **प्रस्फुटित,** होता है जो उस वृक्ष का स्तंभ कहलाता है। इसी स्तंभ से अंकुर निकल के शाखाएं बन जाती हैं।।९८।। फिर उन शाखाओं से दूसरी उपशाखायें निकलती हैं। और उन सब उपशाखाओं से पत्ते निकलते हैं।।९९।। पश्चात उन्हीं को पुष्प और फल आते हैं। इस प्रकार वृक्षत्व पूर्णता प्राप्त करता है। परन्तु यदि इस वृक्षत्व का अच्छी तरह विचार किया जाये तो यही सिद्ध होता है कि वह सब उसी एक छोटे से बीज का विस्तार है।।१००।। इसी प्रकार मैं ही एक मूलतत्त्व हूं। उस मैं ने मन उत्पन्न किया और उस मन में अनेकता की इच्छा में सातों ऋषि और चारों मनु उत्पन्न हुए हैं।।१।। इन्होंने (इंद्र, अग्नि, यम, वरुण, नैर्ऋती, वायु, कुबेर और ईशान) आठों लोकपालों को अस्तित्व में लाया। और इन लोकपालों ने अनेक प्रकार के जन उत्पन्न किये, उन जनों ने सारी प्रजा को जन्म दिया है।।२।। इस प्रकार सारे जगत का मैंने ही विस्तार किया परंतु यह बात वही जानता है जिसके मन में इन भावों के उत्पत्ति के विषय में श्रद्धा होती है।।३।।

जो पुरुष इस मेरी परमेश्वर्य रूप विभूति को और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है वह पुरुष मेरे अखंड महायोग से (अभेदयोग) मेरे में ऐक्यभाव से स्थित होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।।७।।

इस प्रकार हे अर्जुन! ये भाव मेरी मूर्तियां ही हैं और इन्होंने सारा विश्व व्याप्त कर रखा है।।४।। इसीलिये ब्रह्माजी से लेकर चीटियों तक जितनी सब सृष्टि है वह मेरे सिवाय और कोई वस्तु नहीं है।।५।। यह बात जो सत्यता से जानता है उसमें ज्ञान की जागृति हुई है तब उसे श्रेष्ठ-कनिष्ठ, अच्छे बुरे आदि भेदभाव की कल्पनाओं के दुष्ट स्वप्न नहीं आते।।६।। इस प्रकार मैं और मेरी विभूतियों से व्याप्त सब प्राणी, इनको ऐक्यज्ञान से जो एक ही मानता है।।७।। इसीलिये इस भ्रम संशय रहित ऐक्यज्ञान से, मन की कामादि वृत्ति सहित इसमें महायोग से वह मुझसे एकरूप हुआ ऐसा जानो। यह त्रैकालिक शुद्ध सत्य है, इसमें कोई संशय की बात नहीं है।।८।। हे अर्जुन! जो इस अभेद दृष्टि से मेरा भजन करता है उनके भजन के अभिनय समान ही मैं बन जाता हूं।।९।। इसलिये अभेद दृष्टि से युक्त यह जो भक्तियोग है उसमें मृत्यु प्राप्त होने से भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि वह योगभ्रष्ट पुनः शुचि एवं संपन्न कुल में जन्म लेकर पुनः मेरे से एकरूप होता है, इस बात को छटे अध्याय में स्पष्ट रूप से मैंने समझाया है।।११०।। वह अभेद किस प्रकार का है इसके बारे में यदि तेरे मन में उत्सुकता होगी तो उसका सविस्तार वर्णन मैं करूंगा वह सुनो।।११।।

मैं सम्पूर्ण जगत के उत्पत्ति का कारण हूं। मेरे से ही इन सब की स्थिति और गति रहती है। इसी बात को जानकर ज्ञानी पुरुष श्रद्धा और प्रेम से मेरा भजन करते हैं।।८।।

मैं ही इस जग का जन्मस्थान हूं। मेरे से ही इन सबकी स्थिति रहती है और गति होती है।।१२।। जैसे अनेक तरंग मालिकाओं का जन्म पानी से ही होता है, उनका आधार भी पानी ही रहता है और उनका जीवन भी पानी ही रहता है।।१३।। जिस प्रकार वहां तरंग के उत्पत्ति आधार और स्थिति का कारण एकमात्र पानी ही रहता है उसी प्रकार इस विश्व के उत्पत्ति, आधार और स्थिति का कारण मैं हूं मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं।।१४।। जो लोग इस प्रकार मेरा यह विश्वव्यापक स्वरूप जानते हैं, जो चाहे जहां रहकर नित्य मेरा भजन करते हैं वे वास्तव में उदित होनेवाले प्रेमभाव से ही वह भजन करते हैं।।१५।। जिस प्रकार वायु आकाशरूप होकर आकाश में संचार करती है, उसी प्रकार वे भक्त वर्तमान देश एवं काल को मेरे से अभिन्न समझकर मेरा भजन करते हैं।।१६।। इस प्रकार जो आत्मसाक्षात्कारी पुरुष मुझ जगद्गुरु को मन में रखकर अपने आत्मज्ञान से तीनों भुवनों में सुखपूर्वक रमण करते हैं।।१७।। जो जो प्राणी दिखलाई पड़े, उसी को भगवान मानना, यही मेरा सच्चा भक्तियोग है।।१८।।

Funding by IKS-MoE

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

जिनके चित्त मद्रूप पार्थ। मुझसे ही जिनके प्राण तृप्त। जीवन-मरण विस्मरत। बोध छंद से।।१९।। उस बोध के बल से। नाचत संवादसुख कौतुक से। परस्पर देत-लेत सुख से। बोध ही बोध।।१२०।। जैसे निकटस्थ दो सरोवर। उछलत मीनत परस्पर। तब तरंग को धवलार। तरंग ही होत।।२१।। वैसे एक दूजे से मिलन। आनंद कल्लोल का पूर्ण। वहां बोध ही बोध के आभूषण। लहत बोध से।।२२।। जैसे सूर्य, सूर्य की आरती करत। या चंद्र, चंद्र को आलिंगत। वैसे समभाव से मीनत। प्रवाह दोनों।।२३।। वैसे प्रयाग होत सामरस्य का। वहां फेन तरंगत सात्विक का। वे संवाद चतुष्पथ का। अधिपति (गणेश) होत।।२४।। तब वह महासुख का भर। दौड़त देह के बाहिर। मत्प्राप्ति के उद्धार। गर्जन लागत।।२५।। गुरु शिष्य एकान्त में पार्थ। कहना जो अक्षर मंत्र। वह त्रिभुवन में गर्जत। मेघगर्जना सम।।२६।। जैसी कमल कलिका विकसित। हृदयस्थ मकरंद को न रोकत। राव रंक को प्रसादि देत। आमोद की।।२७।। वैसे करत मद्‌गुणगान। गावत विस्मरत देहभान। मग्न जीव अंग से अर्जुन। मीनत मुझमें।।२८।। ऐसा प्रेमभाव पूर्ण। नाही रात्रि-दिन का स्मरण। भोगत मत्सुख परिपूर्ण। स्वतः जो।।२९।।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

अब कुछ मैं देऊं उनको। मेरे उपासक भक्त को। वह सब प्राप्त तिनको। बैठे स्थान में।।१३०।। कि वे जिस पथ पर। अग्रसर हे धनुर्धर!। दो उत्तम मार्ग साचार। स्वर्गापवर्ग।।३१।। अतः जो-जो वांछत अर्जुन। हमने दिया करके उत्पन्न। नहीं किया वह स्वाधीन। उन्होंने स्वयम्।।३२।। अब मुझे इतना ही कर्तव्य। जिससे वही सुखवृद्धि होय। और काल की दृष्टि न जाय। मद्‌भक्तों पर।।३३।। प्रिय बालक क्रीड़ारत। स्नेह दृष्टि से रक्षत पार्थ। छाया सम पीछे करत। माता जैसी।।३४।। जो-जो खेल दिखावत। वह प्रिय शिशु को देत। वैसी उपासना की रीत। मैं देऊ उनको।।३५।। जो-जो संप्रदाय से। पावत मुझको सुख से। करूं वह विशेष प्रेम से। पंडुकुँवर।।३६।। भक्तों को मेरी प्रीति। मुझको प्रिय उनकी अनन्य गति। जो इन प्रेमियों की कमी किरीटि। घर में मेरे।।३७।। स्वर्ग-मोक्ष दो मार्ग अर्जुन। उनके लिये किये उत्पन्न। अन्त में किया स्वतः को स्वाधीन। लक्ष्मी सहित।।३८।। परंतु

मुझमें जिनका चित्त है, मेरे लिए ही जिनके प्राण और इंद्रियों का व्यवहार है, जो भक्त आपस में मेरे ही रूप, गुण, लीला, प्रभाव का वर्णन करते हैं वे मेरे भक्ति से ही संतुष्ट होते हैं एवं भक्ति में ही रममाण होते हैं।।९।।

जिनका चित्त मद्रूप हो जाता है, मेरे स्वरूप से जिनका अंतःकरण तृप्त है और जो आत्मबोध के छंद में मगन रहकर जन्म और मरण सब कुछ भूल जाते हैं।।१९।। वे लोग उसी आत्मबोध के मद से अद्वैतानंद के सुख में नाचने लगते हैं और आपस में केवल आत्मबोध का ही सुख से लेन देन करते हैं।।१२०।। जिस प्रकार पास पास रहनेवाले सरोवर बाढ़ आने पर आपस में मिल जाते हैं और उनकी तरंगों का निवास एक दूसरे की तरंगों में ही होता है।।२१।। इसी प्रकार अभेद भक्तिवाले भक्त जब आपस में मिलते हैं और उनमें एकता स्थापित हो जाती है, तब मानो आनंद तरंगों की बेनी गुंथी जाती है और आत्मबोध को आत्मबोध के द्वारा आत्मबोध का अलंकार प्राप्त होता है।।२२।। जैसे एक सूर्य दूसरे सूर्य की आरती करे या एक चंद्रमा दूसरे चंद्रमा के साथ आलिंगन करे अथवा एक ही मान के दो जल प्रवाह आपस में मिलते हैं ठीक उसी प्रकार भक्तों के परस्पर मिलन में ब्रह्मैक्य रस का प्रयाग होता है और उस ऐक्यरस के पूर पर अष्टसात्विक भावों का फेन तैरता है, और वे भक्त संवादरूप चौराह के ऊपर स्थापित मंगलमूर्ति गणेश बन जाते हैं।।२३/२४।। उस महासुख के आवेश से देहरूपी गांव से बाहर दौड़कर संतुष्ट होकर "मैं धन्य हुआ" ऐसी गर्जना करने लगते हैं।।२५।। गुरु शिष्य के एकांत में जो संक्षिप्त 'महावाक्य' (मंत्र) कहा जाता है वे अक्षर भक्तों के मुख से त्रिलोक में मेघ समान उच्च स्वर में गर्जने लगते हैं।।२६।। जैसे कमल की कली पूर्ण विकसित होने के उपरान्त उसके हृदय से सुगंध अंदर रख नहीं सकती, राजा और रंक दोनों को समान रूप से सुगंध का प्रसाद वितरित करती है।।२७।। इस प्रकार वे भक्तियोगी अति उत्कट आनंद से मगन होकर विश्व में मेरे गुणगान का कीर्तन करते हैं। उस कीर्तन के घोष से उत्पन्न होनेवाले संतोष से अपना देहभाव भूलकर अंत में कीर्तन भी भूल जाते हैं और स्तब्ध होकर उसी विस्मृति में तन मन से रमण करते रहते हैं।।२८।। ऐसे प्रेम के अतिरेक में उनको दिन और रात का भी ध्यान नहीं रह जाता और वे स्वयं मेरे संपूर्ण सुख के अनुभव में निमग्न रहते हैं।।२९।।

अखंड जिनका मन और बुद्धि एकाग्र हुई है ऐसे प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले उन भक्तों को, जिससे वे मुझे प्राप्त करेंगे वह ज्ञानयोग मैं देता हूं।।१०।।

ऐसी अवस्था में मेरी उपासना करने वाले उन भक्तों को मैं और कुछ देता हूं उसका सर्वोत्तम अंश पहले से ही बैठे स्थान में उनको प्राप्त होता है।।१३०।। क्योंकि जिस मार्ग से वे चलते हैं वह मार्ग की व्यवस्था देखकर उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग भी ओछे जान पड़ते हैं।।३१।। इसीलिये मेरा प्रेम जो वह चाहते हैं मैंने वास्तव में उनको देना चाहिये किंतु वह उन्होंने स्वयं ही अपनी उपासना से पहले ही उस प्रेम को अपने अधिकार में कर लिया रहता है।।३२।। अब उनके लिये केवल इतना ही करना शेष रहता है कि उनका वह प्रेमसुख बराबर बढ़ता रहे, और इसके लिये मुझे इतनी ही व्यवस्था करना पड़ती है कि उनके उस प्रेम पर काल की दृष्टि न लगे और वह नष्ट न हो जाये।।३३।। हे अर्जुन! माता अपने प्रिय खेलते हुए बालक पर अपनी प्रेमपूर्ण दृष्टि से उसका रक्षण करती है। वह उसके पीछे छाया के समान दौड़ती रहती है।।३४।। और जिन जिन खेलों के प्रति वह अनुराग दिखाता है उन खेलों के उपयुक्त खिलौने बनाकर अपने प्रिय पुत्र को देती है। ठीक इसी प्रकार अपने भक्तियोगी भक्तों के लिये मैं ऐसी व्यवस्था करता हूं जिससे उनकी उपासना के मार्ग का पोषण हो जाता है।।३५।। जिन जिन उपासना मार्ग से वे मुझे सहज में मुझको प्राप्त करेंगे इसी की व्यवस्था मैं अति प्रेम से करता हूं।।३६।। भक्तों को मेरे प्रति बहुत प्रेम होता है और मुझे भी उनकी अनन्य गति प्रिय लगती है, क्योंकि ऐसे प्रेमी भक्तों की मेरे घर में बहुत कमी होती है।।३७।। मेरे पास के स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति के यज्ञादिक एवं श्रवणादि साधन मोक्षेच्छु एवं स्वर्गेच्छु लोगों के लिये उत्पन्न किये, अंत में अपना दिव्य शरीर लक्ष्मीजी को दे दिया।।३८।। किंतु इस

Funding by IKS-MoE

अपने बिन जो एक। आत्मसुख अतिनाजुक। वह प्रेम जिनके लिये देख। किया जतन।।३९।। इतने तक किरीटि। प्रिय भक्तों को रखत निकट अति। यह कहने की न गोष्टी। धनुर्धर।।१४०।।

तेषोमेवानुकम्पार्थ महमज्ञानजं तमः। नाशयाभ्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

अतः मेरा आत्मभाव। किया जिन्होंने जीवन का ठांव। एक मेरे सिवा सर्व। वृथा मानत जो।।४१।। उन तत्त्वज्ञों के लिये सुभट। कर्पूर की मशाल पार्थ। स्वयं बनके चलत। आगे आगे।।४२।। अज्ञान निबिड रात्र। घनदाट तम व्याप्त। दूर करके समस्त। नित्योदय करत।।४३।। ऐसे प्रिय भक्तों के प्रियोत्तम। बोले जब पुरुषोत्तम। तब अर्जुन का पूर्ण मनोधर्म। कहत निवान्त मैं।।४४।। जी हां कहत पार्थ। अच्छा किया मनोमल नष्ट।। जननी जठरवास से मुक्त। हुआ प्रभु।।४५।। अपने सब जन्म यथार्थ। देखे। मैंने स्वदृष्टि से अच्युत। हुआ आज जीवित कृतार्थ। इच्छा तृप्ति से।।४६।। आज मेरा सफल आयुष्य। मेरी भाग्य दिशा उदित अशेष। जो वाक्य कृपा विशेष। दैविक के मुख से।।४७।। अब इस वचन तेज से। नष्ट तम बाह्यान्तर से। इसीलिये देखूं साचोकार (सच) से। स्वरूप आपका।।४८।।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।

तब होगे आप परब्रह्म। जो इन भूतों का धाम। पवित्र एवं परम। जगन्नाथ!।।४९।। आप ही तीनों को दैवत। पुरुष जो पच्चीसवां तत्त्व। प्रकृति भाव परे दिव्यत्व। आप ही सार्थ।।१५०।। अनादि सिद्ध आप स्वामी। आप न कोई जन्मधर्मी। यह बात हमने जानी। सुनिश्चित।।५१।। यह कालत्रय के सूत्री। आप जीवन कला की अधिष्ठात्री। इस ब्रह्मकटाह की धात्री। विदित स्पष्ट।।५२।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा। असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

और एक विचार से अर्जुन। इसकी पावे प्रतीति पूर्ण। जो पूर्वी किया कथन। ऋषिश्वरों ने।।५३।। किन्तु उसका साचपन। अब जाने मेरा अंतःकरण। जब की, हे कृपानिधान!। कृपा आपने।।५४।। वैसे नारद सतत भजत। ऐसे ही वचन गावत। किन्तु बिना अर्थज्ञान हम सुनत। गीतसुख केवल।।५५।। अजि अंधों के गांव में प्रत्यक्ष। सूर्य यदि आवे सम्मुख। उनको तो प्राप्त मात्र उष्मासुख। न प्रकाश कभी।।५६।। वैसे देवर्षि गात आध्यात्म। रागांग का मधुर धर्म। वही मम चित्त को गम्य। न अन्य कुछ।।५७।। असित देवल के मुख से। एवं विध आपको सुनत उनसे।

शरीर से भी भिन्न जो अत्यंत नाजुक ऐसा आत्मसुख उसको मैंने प्रेमपूर्ण भक्तों के लिये जतन करके रखा है।।३९।। इन सुख की चरमसीमा तक मैं अपने प्रेमपूर्ण भक्तों को अपने अत्यंत निकट रखता हूं। परंतु यह बात ऐसी नहीं है जो शब्दों के द्वारा बतलाई जा सके।।१४०।।

उनके अंतःकरण वृत्ति में वास करनेवाला मैं उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिये प्रकाशमय ज्ञानरूप दीप से अज्ञानजनित अंधकार का नाश करता हूं।।११।।

इसीलिये जिन लोगों ने मेरे आत्मस्वरूप के अस्तित्व को ही अपने जीवन का आश्रय स्थान बना रखा है और जो मुझे छोड़कर और सब व्यर्थ मानते हैं।।४१।। हे अर्जुन! इन श्रेष्ठ तत्त्वज्ञों के लिये मैं कर्पुर की मशाल जलाकर स्वयं मशालची बनकर उनके आगे आगे चलता हूं।।४२।। अज्ञान की रात्रि में जो घन अंधकार रहता है, उनका नाश करके मैं उनके लिये अक्षय प्रकाश का उदय करता हूं।।४३।। जब प्रेमी भक्तों के प्रेम निधान श्रीकृष्ण ने वे सब बातें कहीं, तब अर्जुन ने लब्ध मनोरथ होकर कहा- ''मैं अब पूर्णरूप से तृप्त हो गया हूं।।४४।। हे प्रभु! मेरे आत्मस्वरूप के ऊपर जमा हुआ संसाररूपी मैल नष्ट हुआ है। अब मैं जननी जठर वास के अग्नि सें मुक्त हुआ हूं।।४५।। महाराज! आज मैंने मेरा नया पारमार्थिक जनम अपनी आंख से देखा है और ब्रह्मरूप से मनोवांछित अमित आयुष्य पाया है।।४६।। आज मेरा जीवन सार्थक हो गया है। मेरा भाग्य खुल गया है क्योंकि प्रत्यक्ष परमेश्वर के श्रीमुख से यह प्रसाद वाणी श्रवण की है।।४७।। आज इस वाणी के तेज प्रकाश से मेरे अंदर और बाहर का भ्रमांधकार नष्ट हो गया है और इसीलिये इस समय मुझे आपके सच्चे स्वरूप के दर्शन हो रहे हैं।।४८।।

इस प्रकार भगवान के वचन सुनकर अर्जुन ने कहा, हे देव (भगवन) आप परब्रह्म और परम आधार एवं परम पवित्र हैं, देहरूपी पुर में शयन करनेवाला पुरुष नित्य अलौकिक एवं सब दिव्य पुरुष तथा देवों के आदिदेव अजन्मा और व्यापक हो।।१२।।

देव! आप ही परब्रह्म हैं, इस विश्व का विश्राम स्थल हैं हे जगन्नाथ आप परम पवित्र हैं।।४९।। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों देवताओं के आप परम दैवत हैं। पच्चीसवां तत्त्व जो पुराण पुरुष है वह आप ही हैं। आप ही माया की पहुंच के बाहर अलौकिक हैं।।१५०।। आप स्वयंसिद्ध इस विश्व के स्वामी हैं। आप जन्म के बंधन से कभी बंध नहीं सकते यह बात अब अच्छी तरह मेरी समझ में आ गई है।।५१।। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के सूत्रधार आप हैं। जीवरूप अंश का आधार हैं तथा ब्रह्मांडरूपी कढ़ाई के निर्माता एवं धारणकर्ता हैं। यह मैं स्पष्ट रूप से जान गया हूं।।५२।।

सब ऋषिगण आपको परब्रह्म, परमधाम, पवित्र, पुरुष शाश्वत, उत्पत्ति रहित, व्यापक कहते हैं। देवर्षि नारद असित, देवल, व्यास इत्यादि महर्षि भी आपके संबंध में ऐसा ही कहते हैं। प्रत्यक्ष आप भी मुझको ऐसा ही बतलाते हैं।।१३।।

इस ध्यान की परीक्षा एक और प्रकार से भी हो जाती है। अब तक जो श्रेष्ठ बड़े- बड़े ऋषि हुये हैं उन्होंने भी पूर्व में ऐसा ही वर्णन किया है।।५३।। उनके किये हुये वर्णन की सत्यता अब मुझे मन में जान पड़ने लगी है जब कि हे कृपानिधान! आप स्वयं ने उपदेश देकर मुझ पर कृपा की है।।५४।। यों तो नारद ऋषि सदा मेरे पास आकर आपके गुणों के गीत गाया करते थे, तब राग रागिनियों के द्वारा ऊपर जो माधुर्य उत्पन्न होता था वही मैं सुनता था किंतु उसका तत्त्वार्थ समझ नहीं पाता था।।५५।। हे देव! यदि अंधों के गांव में सूर्य का प्रकाश आवे तो वे अंधे केवल सूर्य किरणों की उष्णता का ही अनुभव करेंगे कभी भी उसके प्रकाश का नहीं।।५६।। इसी प्रकार जब नारद मेरे पास आकर आध्यात्म संबंधी गीत गाया करते थे, तब ऊपर ऊपर की रागांग की मधुरता ही मन को आकृष्ट करती थी। अन्य कुछ भी समझ में नहीं आता था।।५७।। असित, देवल ऋषियों के मुख से भी मैंने आपका इस प्रकार वर्णन

किंतु तब बुद्धि विषय विष से। भ्रमित पूर्ण।।५८।। विषय विश्व का असर। कटु भासत परमार्थ मधुर। और कटु विषय अति मधुर। भाये जीव को।।५९।। क्या कहूं अन्यों की बात। व्यासमुनि सर्वश्रेष्ठ। प्रासाद में पधारकर बरनत। त्वत्स्वरूप सदा।।१६०।। रात्रि में चिंतामणि देखत। अज्ञान से उसे उपेक्षत। पश्चात् दिनोदय में उसका यथार्थ। पावत ज्ञान।।६१।। वैसे व्यासादिकों के वचन। जैसे चिदरत्नों की खान। बिन आपके उपदेश कृष्ण। उपेक्षित मैंने।।६२।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव। न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

प्रकाशित आपके वाक्यसूर्य किरण। और ऋषिकथित जो मार्ग पूर्ण। उसका अशेष अज्ञान कृष्ण। नष्ट सकल।।६३।। ज्ञानबीज उनके बोल। मम हृदय में पड़त सखोल। आपकी कृपार्द्रता से धरत फल। सुसंवाद के।।६४।। सुनो नारदादिक सन्त। उनकी वाक्सरिता से समस्त। हुआ मैं महोदधि अनन्त। संवाद सुख का।।६५।। प्रभो! जन्म जन्मान्तर के कर्म। किये मैंने जो उत्तम। सब सफल आज पुरुषोत्तम!। सद्गुरु मेरे!।।६६।। वैसे श्रेष्ठों के मुख से। गुणानुवाद सुने सब से। किन्तु बिन कृपा आपकी जैसे। न जानु कुछ।।६७।। अतः भाग्य जब अनुकूल। तब ही कृतउद्यम सफल। तैसा श्रुताधीन सार्थ सकल। गुरु कृपा से।।६८।। बनकर तरुवर सींचत। अतियत्न से अविश्रान्त। किन्तु जब तक न प्राप्त वसंत। न पावे फल।।६९।। विषम को जब उतार। तब ही मधुर भाये मधुर। औषध तब ही गुणकर। जब निरोग देह।।१७०।।

या इंद्रियां वाचा प्राण। तब ही इनका सार्थक पन। जब संचरत चैतन्य। अन्यथा व्यर्थ।।७१।। वैसे वेदादि अध्ययन। अथवा योगादि अभ्यसन। तब ही सफल संपूर्ण। जब सानुकूल सद्गुरु।।७२।। इसविध प्राप्त प्रतीति से। नाचत अर्जुन कौतुक से। कहत श्री अच्युत से। पाया अनुभव आज।।७३।। तब सच हे कैवल्यपति। बोले तब किरीटि। अगम्य आप अति। देवदानव को।।७४।। बिन प्रतीति कृष्ण। स्वप्रज्ञाबल से आपका कथन। अनुभव असंभव यह पूर्ण। जानूं मैं।।७५।।

स्वमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

जैसे अपना विशालत्व। आकाश स्वयं अनुभवत। अथवा कितना अपना घनत्व। यह जाने पृथ्वी।।७६।। वैसी अपनी सर्वशक्ति। स्वयं आप जानत लक्ष्मीपति। अन्य वेदादिकों की मति। भासत व्यर्थ।।७७।। मनोगति कैसे लांघना? पवन को कैसे नापना?। आदिशून्य को पार करना। बाहु से कैसे?।।७८।। वैसे आपका ज्ञान। कोई

सुना था परंतु उस समय मेरी बुद्धि विषयों के विष से भरी हुई थी।।५८।। उस विषय- विष का इतना प्रभाव था कि उस समय मुझे मधुर परमार्थ कड़ुवा लगता था और कटु विषय ही अत्यंत मधुर जान पड़ते थे।।५९।। औरों की बात तो जाने दीजिये, स्वयं महर्षि व्यास भी मेरे घर में आकर सदा आपके स्वरूप का वर्णन करते थे।।१६०।। परंतु जिस प्रकार रात्रि के अंधेरे में चिंतामणि प्राप्त होने पर भी उसे चिंतामणि न जानकर फेंक दिया जाता है और फिर दिन निकलने पर प्रकाश में उसका स्वरूप पहचानकर कहा जाता है कि यही चिंतामणि है।।६१।। उसी प्रकार यद्यपि उन व्यास आदि ऋषियों की वाणी ज्ञानरूपी रत्नों की खानि थी फिर भी हे श्रीकृष्ण, आपके उपदेश के प्रकाश बिन उन ज्ञानरत्नों की मैंने उपेक्षा की।।६२।।

हे केशव! आप जो मुझे बतलाते हैं वह सब सत्य है ऐसा मैं मानता हूं। हे भगवन! आपका स्वरूप देव अथवा दानव जानने में समर्थ नहीं है।।१४।।

अब आपके वाक्यरूप किरणें जहां तहां प्रसरित हुई हैं, इसीलिये अब पहले जो ऋषियों ने मार्ग बतलाया थे उसके संबंध में मुझे जो पूर्ण अज्ञान था वह नष्ट हुआ है।।६३।। हे देव! उन ऋषियों के बोल तो ज्ञान के बीज थे वे मेरे हृदयरूपी भूमि में गहराई तक पड़े थे परंतु अब उस पर आपके कृपाप्रसाद की वर्षा हो गई, उसकी आर्द्रता से उस बीज का वृक्ष बढ़कर उसने एक वाक्यता के फल धारण किये हैं।।६४।। हे अनन्त! नारदादि जो संत हैं उनकी समस्त उक्तिरूप नदियों के लिये मैं एक वाक्यता के सुख का महासागर हुआ हूं।।६५।। हे प्रभु! मैंने इस जन्म में और अनन्त जन्मों में उत्तम कर्म करके जो पुण्य किया है उससे आज आप सद्गुरु रूप में प्राप्त होने से मैं पूर्णकाम हो गया हूं।।६६।। वैसे तो बड़े लोगों के मुख से आपकी महिमा न जाने कितनी बार सुनी थी। परन्तु जब तक एक आपकी कृपा नहीं हुई थी, तब तक मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता था।।६७।। जिस समय दैव अनुकूल होता है तब ही किये हुये प्रयत्न सफल होते हैं उसी प्रकार सुना और पढ़ा हुआ सब ज्ञान तभी फलदायक होता है जब गुरुकृपा प्राप्त हुई हो।।६८।। हे महाराज! माली जन्मभर अथक परिश्रम करके पौधों को सींचता रहता है, परंतु उन पौधों को फल तभी प्राप्त होते हैं जब वसंत ऋतु आती है।।६९।। विषम ज्वर को आराम होता है तभी मीठी वस्तु की मिठास का अनुभव होता है। जब शरीर निरोग होता है तब ही शक्ति आने के लिये सेवन किया हुआ रसायन- गुणकारक होता है।।१७०।। अथवा इंद्रिया, वाणी और प्राण वायु यह सब उत्पन्न होने का सार्थक तभी होता है जब उनमें चैतन्य का संचार होता है। अन्यथा वे सब व्यर्थ होते हैं।।७१।। इसी प्रकार वेदों का अध्ययन अथवा योग आदि का अभ्यास उन सबका वास्तविक फल तभी प्राप्त होता है जब श्रीगुरु सानुकूल होकर कृपा करते हैं।।७२।। इस प्रकार आत्मानुभव के प्राप्ति से मदमस्त हुआ अर्जुन संतोष से नाचने लगा और कहने लगा- "हे देव! आपकी बात अच्छी तरह आज मैंने समझ ली है।।७३।। अर्जुन आगे कहता है- 'हे परब्रह्मरूपी श्रीकृष्ण! मुझे अब सच में पूर्ण निश्चय हो गया है कि देवताओं अथवा दैत्यों की बुद्धि भी आपके स्वरूप को जानने के लिये असमर्थ है।।७४।। इस बात का मुझे अच्छी तरह विश्वास हो गया है कि बिना आपके बोधवचन प्राप्त किये, केवल अपनी बुद्धि के बल पर आपका ज्ञान प्राप्त करना असंभव है।।७५।।

हे भूतोत्पादक! भूतेश्वर! देवदेव! जगन्नाथ! पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही आपका स्वरूप जानते हो।।१५।।

"जिस प्रकार आकाश के विस्तार का ठीक ठीक ज्ञान आकाश को ही होता है अथवा अपना घनत्व कितना है यह स्वयं पृथ्वी ही जानती है।।७६।। उसी प्रकार हे लक्ष्मीनाथ! अपनी अपार शक्ति का आकलन केवल आप ही कर सकते हैं। दूसरे जो वेद आदि की बुद्धि व्यर्थ प्रतीत होती है।।७७।। किसमें ऐसा सामर्थ्य है जो वेग में मन से भी आगे बढ़े? वायु को किस प्रकार नापना? कैसे आदिशून्य तत्व को अर्थात सब अभावों का आदिकारण रूप मायानदी को अपने बाहुबल से पार करना?।।७८।। वैसे ही

न जाने अन्य। आपका स्वरूप ज्ञान। आप ही को प्रभु!।।७९।। आप ही जानत अच्युत। सब को कहने में समर्थ। अब आर्तजनों की इच्छा तृप्त। करना युक्त।।१८०।। सुनो हे भूतभावन!। त्रिभुवन गज पंचानन। सकल देव देवतार्जन। जगन्नायक।।८१।। यदि देखत आपका श्रेष्ठत्व। न योग्य हम सर्वतः। किंतु शंकावश यदि न विश्वास। न उपाय अन्य।।८२।। समुद्र सरिता परिपूर्ण। किन्तु चातक को न कुछ समाधान। बूंद एक मेघ से कृष्ण। शमवत तृष्णा।।८३।। वैसे श्रीगुरु सर्वत्र विद्यमान। किंतु हमें आप ही गति अनन्य। तब सांप्रत कहो कृष्ण। विभूति आपकी।।८४।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

आपकी विभूतियां कृष्ण। व्यापक दिव्य शक्तिमान। दिखलावो मुझे संपूर्ण। आप स्वयम्।।८५।। जो आपकी विभूतियां अशेख। व्यापत पूर्ण त्रिलोक। उनमें से नामांकित प्रमुख। करो प्रकट।।८६।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्। केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

तब कैसे मैं आपको जानूं?। उस भाव से चिन्तन करूं। यदि आपको सर्वव्यापक मानूं। तब चिन्तन अशक्य।।८७।। अतः पूर्वी आपने जैसे। भाव बताये संक्षेप से। अब विस्तार पूर्वक वैसे। कहो पुनः।।८८।। जिन जिन भावों में गोसाई। चिंतन से मुझे सायास नाहीं। स्पष्ट करके कहो सबही। योग अपना।।८९।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

मैंने पूछा जो विभूति। वही कहो हे भूमिपति। यदि कहत पुनरावृत्ति। किसलिये यहां?।।१९०।। तब ऐसा न सोचो जनार्दन!। मन में यह भाव कृष्ण। क्या कभी अमृतपान। को ना कहत कोई।।९१।। जो कालकूट का सहोदर। मृत्युभय से सेवत अमर। तब भी दिन में पुरंदर। नाशत चौदह।।९२।। ऐसा एक क्षीराब्धि रस। जिसको व्यर्थ ही अमृत का आभास। उसका भी मधुर अंश। कहत न अलम्।।९३।। उस क्षुद्र की हे श्रीकृष्ण। मिठास इतनी महान। तब आपके यह बोल पूर्ण। परमामृत तत्त्व।।९४।। जो मंदराचल को न हिलाकर। क्षीरसागर को न मथकर। अनादि सहज धनुर्धर। स्वयंभू होत।।९५।। जो न द्रवत न बद्ध। जिसको न रस ना गंध।

Funding by IKS-MoE

आपका ज्ञान प्राप्त करना अशक्य है इसीलिये कोई उसे जानता नहीं, आपके स्वरूप का ज्ञान आपको ही है॥७९॥ केवल आप ही अपने आपको जानते हैं और दूसरों को भी आप ही वह ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं। अतः अब वह ज्ञान प्राप्त करने के लिये मैं व्याकुल हो रहा हूं। आप एक बार वह ज्ञान प्राप्त कराके मेरी इच्छा, तृप्त करो॥१८०॥ क्या मेरा यह कथन आपने सुना हे देव आप ही भूतमात्र के आदिकारण हो, विश्वभ्रम रूपी हाथी को नष्ट करने वाले सिंह हो, सब देवताओं के आराध्य हो तथा सारी सृष्टि के स्वामी हो॥८१॥ यदि आपका महत्व देखते हैं तो उसके सामने हम कुछ भी नहीं, परंतु यदि ऐसा सोचकर आत्मबोध के विषय में आपसे प्रार्थना करने में संकोच करूं तो उसके प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है॥८२॥ चारों ओर नदियां और सागर संपूर्ण भरे रहते हैं किंतु बेचारे चातक के लिये वे सब व्यर्थ ही होते हैं, मेघ से गिरनेवाला एक बूंदमात्र उसकी प्यास बुझाता है॥८३॥ इसी प्रकार, हे प्रभु, गुरु तो सभी जगह हैं परंतु हे कृष्ण! मेरे लिये आपके सिवा और कोई आधार नहीं है। इसीलिये आप अब अपनी विभूतियां मुझे बतलाइये॥८४॥

तीन विभूतियों के द्वारा आप संपूर्ण त्रिलोक में व्याप्त होकर स्थित हो, वे अपनी दिव्य विभूतियां मुझे पूर्णतः बतलाइये॥१६॥

वैसी तो सब चराचर आपकी विभूतियां हैं। किंतु उनमें से दिव्य शक्ति को व्याप्त जो विशेष विभूतियां हैं वे मुझको आप स्वयं दिखलाओ॥८५॥ अपनी जिन विभूतियों से इस अनंत विश्व को व्याप्त किया है उनमें से मुख्य और प्रसिद्ध विभूतियां आप मुझे प्रकट करके कहो॥८६॥

हे योगी कृष्ण! सर्वकाल, आपका चिंतन करनेवाला मैं आपको किस प्रकार जानूं?। और किन-किन भावों से आप मेरे द्वारा चिंतन के योग्य हैं?॥१७॥

महाराज! आप मुझे यह बतलावें कि मैं आपको किस प्रकार जानूं और क्या समझकर आपका चिंतन करूं?। यदि आपको विश्वव्यापक मानूं तो फिर चिंतन करने के लिये कोई ज़गह बाकी नहीं रह जाती और चिंतन अशक्य हो जाता है॥८७॥ इसीलिये पहले आपने संक्षेप में जो अपने भाव बतलाये हैं, उनका विस्तारपूर्वक पुनः विवेचन करें॥८८॥ आपका जिन भावों में चिंतन करना मेरे लिये कठिन न हो हे स्वामी! वह आपका ऐश्वर्य योग मुझे स्पष्ट करके बतलाइये॥८९॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्ति को और परमेश्वर रूप विभूति को फिर भी विस्ताररूप से कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती है अर्थात सुनने की उत्कंठ बनी ही रहती है॥१८॥

हे भूतमात्र के अधिपति श्रीकृष्ण! मैंने आपकी जिन विभूतियों के संबंध में प्रश्न किया है उन विभूतियों का वर्णन करें। यदि आप कहें कि यह विभूतियां एक बार तो बतला चुका हूं फिर इसकी पुनरावृत्ति क्यों करूं॥१९०॥ हे जनार्दन! कदाचित आपके मन में ऐसा विकल्प आवेगा तो इस शंका को ऐसा बिलकुल भी आप न सोचिये क्या कभी अमृत पान का योग आनेपर उसको नाही कह सकते है?॥९१॥ जो हलाहल विष का सगा भाई है और मृत्यु के डरे हुये देवताओं ने अमर होने के लिये इसका पान किया था, परंतु इसका पान करने के उपरांत भी ब्रह्मा के एक ही दिन में चौदह इंद्र अमर राजाओं के सिंहासन पर बैठते और नष्ट हो जाते हैं॥९२॥ जो अमृत क्षीर समुद्र में निकला हुआ एक सामान्य रस है जिसके संबंध में लोगों में मिथ्या भ्रम है कि वह लोगों को अमर करनेवाला है, उसके मधुर अंश भी उनको पर्याप्त नहीं लगता और उसके लिये ललचाते रहते हैं॥९३॥ इतनी क्षुद्र वस्तु की मधुरता भी जब इतना अधिक महत्व पाती है तब फिर आपके बोध वचन तो साक्षात परमामृत ही हैं॥९४॥ इनके लिये न तो मंदार पर्वत की मथानी बनाकर फिराया गया है और न क्षीर समुद्र को मथा गया है। यह तो अनादि और स्वयं सिद्ध है॥९५॥ जो परमामृत शहद के समान स्त्रवता नहीं, पानी के समान द्रवता नहीं, जो फल के समान ठोस नहीं, पुण्य के समान गंध भी नहीं और स्मरण करते ही सहज में

Funding by IKS-MoE

किसी को भी होत सिद्ध। स्मरण मात्र से।।९६।। सुनके तत्क्षण जिसकी बात। अशेष संसार भासत व्यर्थ। दृढ़ अनित्यत्व प्रवेशत। अपने से।।९७।। जन्म मृत्यु की भाष। लुप्त होत निःशेष। अंतर्बाह्य महासुख अशेष। बढ़त जात।।९८।। दैवगति से जिसका सेवन। आत्मरूपी करत कृष्ण। वह अमृतमय वचन। मोहत मेरा चित्त।।९९।। तब नाम ही हमको प्रिय अच्युत। भेंटत आप सहवास होत। इस पर प्राप्त आनन्द युक्त। संवाद सुख।।२००।। उस सुख का वर्णन। करना अशक्य है कृष्ण। किंतु चाह श्रवण की पुनः पुनः। मुख से आपके।।१।। क्या कभी बासीपन सूर्य को?। क्या अशुद्धत्व शक्य अग्नि को?। क्या नित्य बहते गंगातोय को। बासी कहत?।।२।। जो स्वमुख से दिया ज्ञान। नाद ब्रह्म दिखाया पूर्ण। पाया चंदन तरुपुष्प का कृष्ण। सुगंध आज"।।३।। वह पार्थ की सुनके बात। सर्वांग से प्रभु डोलत। कहत भक्ति-ज्ञानार्थ यथार्थ। आगार यह।।४।। प्रतीति से अर्जुन संतुष्ट। प्रेम की धारा उमड़त। सायास से अनंत रोकत। क्या कहत।।५।।

श्री भगवान उवाच–

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः। प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

मैं पितामह का पिता। यह स्मरण नहीं सर्वथा। कहत बात पंडुसुता। किया युक्त।।६।। अर्जुन को कहत तात न कुछ इसमें विस्मय की बात। नंदगृह में लीला दिखावत। पुत्ररूप से जो।।७।। रहने दो यह साम्प्रत प्रीति विशेष से यह घटत। अब कहूं जो अच्युत। कहत पार्थ को।।८।। जो तुमने पूछी विभूति। वह तो अपार सुभद्रापति। जो मेरी किन्तु मन्मति-। को अगणनीय सार्थ।।९।। अंग में रोमाग्र समस्त। गिनति न शक्य स्वयं को पार्थ। वैसे मम विभूतियां अनगिनत। अशक्य वर्णन को।।२१०।। मैं कैसा कितना। स्वयं मुझको न स्पष्ट कल्पना। इसलिये जो रूढ़ प्रधाना। सुनो उनको।।११।। जिनको यदि जानो किरीटि। समस्त ज्ञात विभूति। जैसे बीज की यदि होवे प्राप्ति। प्राप्त तरु पूर्ण।।१२।। या जब उद्यान हस्तगत। पुष्प फल सहज लभत। जिनको देखकर दिखत। विश्व सकल।।१३।। वैसे सच ही यह धनुर्धर!। असीम मेरा विस्तार। जो यह गगन अपार। समाहित मुझमें।।१४।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

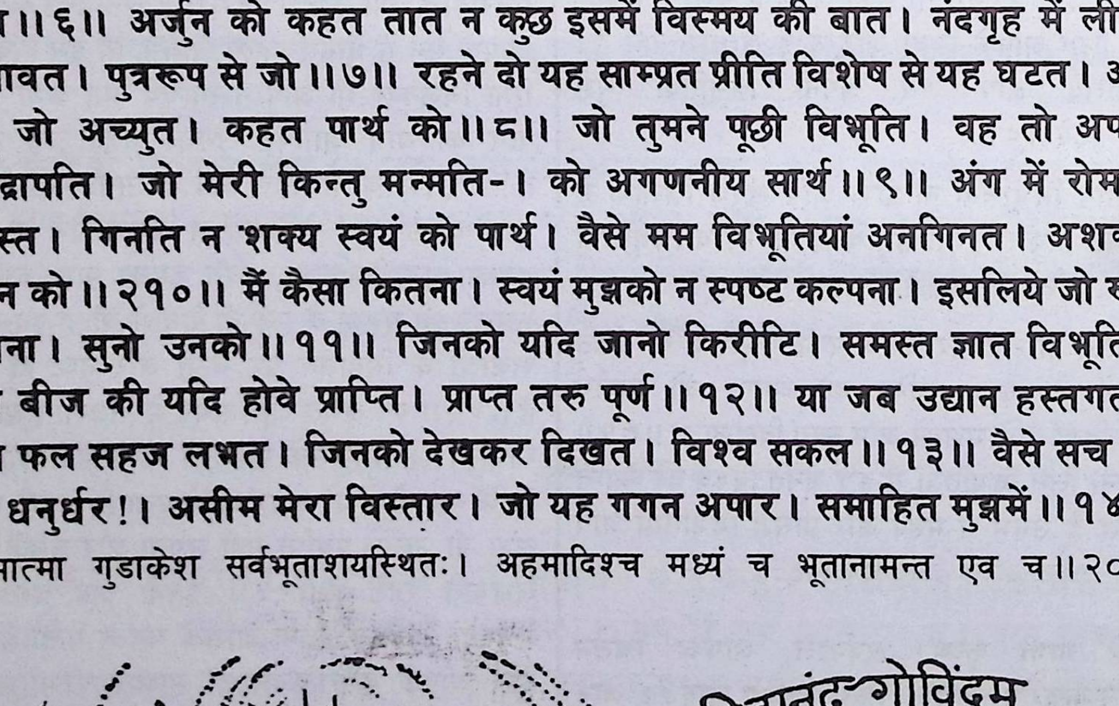

Funding by IKS-MoE

प्राप्त होता है क्योंकि यह स्वयंसिद्ध है।।९६।। इस अमृत की बात सुनते ही उसी क्षण सारा संसार निस्सार प्रतीत होता है और सुननेवाले को ऐसी दृढ़ नित्यता अपने आप प्राप्त होती है जिसका कभी नाश नहीं होता।।९७।। जन्म-मृत्यु की बात समूल नष्ट होती है और भीतर बाहर सभी जगह आत्मनुभव के महासुख की वृद्धि होती है।।९८।। अब यदि भाग्य से ऐसा परमामृत सेवन करने के लिये मिल जाये तो वह तुरंत ही जीव को आत्मरूप कर डाले, और ऐसा अमृत जब आप मुझे दे रहे हो तो यह कभी संभव नहीं है कि मैं उसके लिये नाही करूं।।९९।। हे देव! आपका वह नाम ही मुझे अति प्रिय है। तिस पर जब आपके साथ प्रत्यक्ष मिलाप होता है आपका सामीप्य प्राप्त होता है और इसके सिवा आप मुझ से आनंद युक्त जो बातें करते हैं वह संवादसुख भी प्रापत होता है।।२००।। अब यह सुख कैसा है पूछोगे तो वह मेरे लिये अनिर्वचनीय है परंतु हे कृष्ण! आपके श्रीमुख से इसकी बारंबार पुनरावृत्ति होनी चाहिये यही मन में तीव्र इच्छा है।।१।। सूर्योदय नित्य होता है, किंतु क्या कोई उसको कहता है कि, यह तो कल ही वाला बासी सूर्य है? क्या सबको पवित्र करनेवाली अग्नि को अशुद्ध कह सकते हैं? अथवा निरंतर बहते हुये गंगा जल को बासी कह सकते हैं?।।२।। हे देव! आपने स्वयं के मुख से जो ज्ञान प्रदान किया है। आज शब्दातीत ब्रह्म मूर्तिमान होकर अवतरित हुआ है और उसका रूप हमने देखा है। चंदन वृक्ष को पुष्प नहीं होते, किंतु आज ऐसा प्रतीत होता है कि उन चंदनपुष्प का आस्वाद हमको प्राप्त हुआ है।।३।। अर्जुन की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण का अंग प्रत्यंग प्रेम से डोलने लगा। वे मन में कहने लगे- ''यह अर्जुन अब भक्ति-ज्ञान का भांडार ही बन गया है।।४।। इस प्रकार जिस अर्जुन का स्वीकार किया था, उस अर्जुन के अनुभवजन्य परम संतोष के कारण श्रीकृष्ण के मन में जो प्रेम का आवेग उभरके आया था उसे अति यत्न से रोककर श्रीकृष्ण ने जो कहा वह अब सुनों!।।५।।

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं तेरे लिये अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से कहूंगा क्योंकि वैसे तो मेरे विस्तार का अंत ही नहीं है।।१९।।

इस श्लोक में 'हन्त' यह अनुमतिदर्शक 'अच्छा बाबा' इस अर्थ का द्योतक शब्द है। उस पर श्री ज्ञानदेवजी टीका करते हैं, कि श्रीकृष्ण के चित्त को, ''मैं ब्रह्मदेवका पिता हूं'' मानो इस बात का स्मरण ही नहीं रह गया और वे पुराणपुरुष होते हुए भी बोले, ''बाबा अर्जुन तुमने बहुत अच्छी बात कही''।।६।। इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो 'तात' कहा इसके लिये कुछ आश्चर्य नहीं होना चाहिये क्योंकि वे स्वयं नंदजी के पुत्र थे और उन्होंने पुत्र रूपसे ही नंदजी के घर में लीला दिखाई थी।।७।। श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं अब यह चर्चा रहने दो। जहां प्रेम के आवेग के कारण है ऐसा संवाद हो जाता है अब जो श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं वह सुनो!।।८।। हे सुभद्रापति! तुमने जो मेरी विभूतियों के विषय में पूछा है वे इतनी अनगिनत हैं कि, यद्यपि वे मेरी ही हैं मेरी बुद्धि को उन सबकी गिनती अशक्य है।।९।। जिस प्रकार कोई नहीं बतला सकता कि अपने अंग पर कितने रोम हैं, उसी प्रकार मैं अपनी असंख्य विभूतियों को नहीं गिना सकता।।२१०।। मैं कितना बड़ा और कितना व्यापक हूं, कैसा हूं मुझे स्वयं इस बातकी स्पष्ट कल्पना नहीं है। इसी लिये मैं तुम्हें अपनी केवल मुख्य मुख्य विभूतियां बतलाता हूं वे सुनो।।११।। हे अर्जुन! जो प्रधान एवं प्रसिद्ध विभूतियां जानने के उपरान्त उनके द्वारा समस्त विभूतियों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार बीज हाथ में आने के बाद मानो स्वयं संपूर्ण वृक्ष ही अपने हाथ में आ जाता है।।१२।। अथवा सब बाग ही अपने हाथ में आ जाता है तब उसमें स्थित पुष्प और फल अपनें ही आप प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जिन विभूतियों को **देखने** पर सारा विश्व दिखता है।।१३।। और वैसे भी मेरे विस्तार को देश-काल एवं वस्तु मर्यादा नहीं है। इतना व्यापक और असीम आकाश भी मेरे में न जाने कहां छिपकर रह जाता है।।१४।।

हे अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूं तथा संपूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूं।।२०।।

सुनो कुटिलालक मस्तक। धनुर्वेद त्र्यंबक। मैं आत्मा हूं एकेक। प्राणिमात्र के ठई।।१५।। मैं शरीर अंतर में अर्जुन। मैं ही भूतों का बाह्याच्छादन। आदि अंत मध्य में पूर्ण। व्याप्त मैं ही।।१६।। जैसे मेघ के नीचे ऊपर। अंतर्बाह्य आकाश सर्वत्र। उद्गम आकाश में साचार। वास भी आकाश में।।१७।। पश्चात् जब पावत लय। पुनरपि आकाश ही होय। वैसी आदि स्थिति गति कौन्तेय। भूतों को मैं।।१८।। ऐसा अनन्तत्व और व्यापकपन। मेरे विभूति योग का अर्जुन। अतः जीव को करके कर्ण। सुनो ध्यान से।।१९।। अब इसके आगे जो विभूति। कहना तुमको सुभद्रापति। वे कहूं प्रधान तुझ प्रति। सावधान सुनो।।२२०।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

ऐसे कहकर वह कृपावन्त। कहे विष्णु मैं आदित्यों में पार्थ। रवि मैं रश्मिवन्त। सुप्रभो में।।२१।। संपूर्ण मरुद्गण में। शारंर्गी कहे मरीचि मैं। चन्द्र मैं गगन रंग में। तारागणों में।।२२।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

वेदों में जो सामवेदु। वह मैं कहे गोविन्दु। देवताओं में मरुदबंधु। महेंद्रु मैं।।२३।। इंद्रियों में एकादश मन। मुझको ही जानो अर्जुन। भूतों में जो मूल चैतन्य। स्वभावतः वह मैं।।२४।।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

अशेष रूपों में सुवीर। मैं मदनारी शंकर। वह मैं ही साचार। निभ्रांत जानो।।२५।। यक्षरक्षस गण में सार्थ। जो शंभु का सखा धनवन्त। वह कुबेर मैं ही पार्थ। कहत अनन्त।।२६।। अष्ट वसुओं में जो पावक। वह जानो मैं ही एक। शिखरिणों में सर्वोच्च देख। मेरू वह मैं।।२७।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ वृहस्पतिम्। सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

जो स्वर्गसिंहासन का सचिव। सर्वज्ञता का आदि ठांव। वह पुरोहितों का राव। वृहस्पति मैं।।२८।। त्रिभुवनों के जो सेनापति। उनमें जो स्कंद महामति। हरवीर्य से

मस्तक पर घुंगराले बाल धारण करनेवाले और धनुर्विद्या में दूसरे शंकर, हे अर्जुन सुनो! मैं प्रतिएक भूतमात्र में आत्मा रूप से निवास करता हूं।।१५।। भूतों के अंदर भी मैं रहता हूं और उनके बाहर का आवरण भी मैं ही हूं। उनके आदि, मध्य और अन्त में मैं ही संपूर्णतः व्याप्त हूं।।१६।। जिस प्रकार मेघों के नीचे, ऊपर, भीतर और बाहर सर्वत्र मात्र आकाश ही रहता है, और ये मेघ आकाश में ही उत्पन्न होते हैं तथा उनका अस्तित्व भी आकाश में ही रहता है।।१७।। और जब अन्त में विलीन होते हैं तब पुनः आकाशरूप ही होकर रहते हैं, उसीप्रकार समस्त भूतों की उत्पत्ति स्थिति और लय में हे अर्जुन! उन्हें मैं ही आश्रय हूं।।१८।। ऐसा मेरे जो सर्वाश्रयत्व एवं व्यापकत्व विभूति ऐश्वर्य योग हैं वह अपनी सारी चैतन्य शक्ति को अपने श्रवणेंद्रियों में एकत्र करके एकाग्र चित्त से अब सुनो।।।१९।। अब इसके आगे हे सुभद्रापति! मैंने तुझको बतलाने का वचन दिया था वे प्रमुख विभूतियां कहूंगा उनको सावधान चित्त से सुनो!।।२०।।

हे अर्जुन! मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णू हूं, और संपूर्ण प्रकाशमान पदार्थों में किरणोंवाला सूर्य हूं तथा मैं वायुदेवताओं में मरीचि नामक वायु तथा नक्षत्रों में नक्षत्रों का अधिपति चंद्रमा हूं।।२१।।

इतना कहकर कृपावन्त श्रीकृष्ण ने कहा "धाता, मित्र, अर्यमा, शुक्र, वरुण, अंश, विक्स्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु इन बारह आदित्यों ने सबका निगामक जो विष्णु वह मेरी प्रधान विभूति है और सब प्रकाशमान पदार्थों में विश्वव्यापी किरणवन्त पूर्य मैं हूं।।२१।। सत्वज्योति, आदित्य, सत्यजित, सुषेण, सेनजित, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, इदृक्, अन्यादृक्, यादृक, प्रतिकृत, ऋक, समिति, संरंभ, ईदृश, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुस्, अनुदृक, साम, मानुष और विष इन उनचास मरुद्गुणों में मैं ही मरीचि हूं। ऐसा शार्ङ्गधर श्रीकृष्ण ने कहा। आकाशरूपी रंगमंडप में शनि, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र इत्यादि. तारों में और अश्विनी, भरणी कृत्तिका इत्यादि सत्ताईस नक्षत्रों में मैं चंद्रमा हूं।।२२।।

मैं वेदों में सामवेद हूं, देवों में इंद्र हूं और इंद्रियों में मन हूं, भूतप्राणियों में चेतना अर्थात ज्ञानशक्ति मैं हूं।।२२।।

ऋक, यजुस्, साम, अथर्व इन चार वेदों में परमेश्वर की रम्य, संगीतम स्तुति जिससे है, वह "सामवेद" मैं हूं। अग्नि, वायु इत्यादि देवों में मरुदबंधु जो इंद्र वह मैं हूं।।२३।। पंचज्ञानेंद्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों में ग्यारहवीं इंद्रिय मन मैं हूं। और अर्जुन! भूतमात्र में जो स्वाभाविक चेतनाशक्ति है वह सारी शक्ति मैं ही हूं।।२४।।

एकादश रुद्रों में मैं शंकर हूं। यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूं। आठ वस्तुओं में मैं अग्नि हूं तथा शिखरवाले पर्वतों में सुमेरू हूं।।२३।।

अजैकपाद, अहिबघ्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यंबक, महेश्वर, वृषाकपि, शंभू, कपर्दी, रैवत तथा बहुरूप इन सब रुद्रों में, मदन का शत्रु किंतु जग का कल्याण करनेवाला शंकर वह मैं हूं। यह निश्चित जानो।।२५।। यक्ष और राक्षस गणों में श्री शंकर का मित्र, धनवान कुबेर वह मैं हूं ऐसा श्री अनंत ने कहा।।२६।। 'धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल प्रत्यूष और प्रभास इन आठों वस्तुओं में देवताओं को हवि पहुंचाने वाला अपवित्रों को पवित्र करनेवाला अग्नि मैं हूं। शिखर युक्त पर्वतों में सबसे ऊंचे शिखरवाला 'मेरु' पर्वत मैं हूं।।२७।।

परोहितों में मुख्य अर्थात देवताओं के पुरोहित 'वृहस्पति' मुझे जानो। मैं सेनापतियों में स्वामि कार्तिक और जलाशयों में समुद्र हूं।।२४।। हे अर्जुन! मैं महर्षियों में भृगु और वाणी में एक अक्षर अर्थात ओंकार हूं। तथा सब प्रकार के यज्ञों में "जपयज्ञ" और स्थिर रहनेवालों में हिमालय पहाड़ हूं।।२५।।

समस्त पुरोहितों में स्वर्गाधिपति का सहाय्यकर्ता एवं सर्वज्ञता में अग्रगण्य जो वृहस्पति है वह मैं हूं।।२८।। संपूर्ण त्रिभुवनों के सेनापतियों में महाज्ञाता स्कंद, जो शंकर के वीर्य से, अग्नि की

Funding by IKS-MoE

अग्निसंग से व्युत्पत्ति। कृत्तिका उदर से।।२९।। सकल सरोवरों में प्रियदर्शी!। जो समुद्र वह मैं जलराशि। महर्षियों में तपोराशि। भृगु जो वह मैं।।२३०।। अशेष वाचा से धनुर्धर। जो सत्य व्यवहार। कहे मैं वह अक्षर ॐकार वैकुंठ विलासी।।३१।। समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ। मैं जप यज्ञ इहलोक में पार्थ। जो कर्म त्याग से सृष्ट। प्रणवादिक से।।३२।। नाम जप यज्ञ परम। बाध्य न उसे स्नानादि कर्म। नाम से पावन धर्माधर्म। परब्रह्म जो।।३३।। स्थावर गिरियों में पार्थ। पुण्यपुंज जो हिमवन्त। वह मैं ही कहे कान्त। श्रीलक्ष्मीजी के।।३४।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्। ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

कल्पद्रुम और पारिजात। गुण में चंदन ही विख्यात। तथापि सब वृक्षों में अश्वत्थ। वृक्ष जो वह मैं।।३५।। देवऋषियों में पार्थ। नारद जो वह मैं सार्थ। सकल गंधर्वो में चित्ररथ। गंधर्व मैं।।३६।। अशेष सिद्धों में सिद्ध। कपिलाचार्य जो महाप्रबुद्ध। तुरंग जात में सर्वप्रसिद्ध। उच्चैःश्रवा मैं।।३७।। गजमध्ये गजभूषण। ऐरावत मैं अर्जुन। पयोराशी सुरमंथन से उत्पन्न। अमृतांश मैं।।३८।। नर-मध्ये जो नरेश। मेरी वह विभूति विशेष। जिसकी मानत आज्ञा अशेष। प्रजाजन।।३९।।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्। प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्। पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहत्।।२९।।

समस्त ,हथियारों में। श्रेष्ठ जो वज्र वह मैं। जो शखमखोत्तीर्ण के कर में।

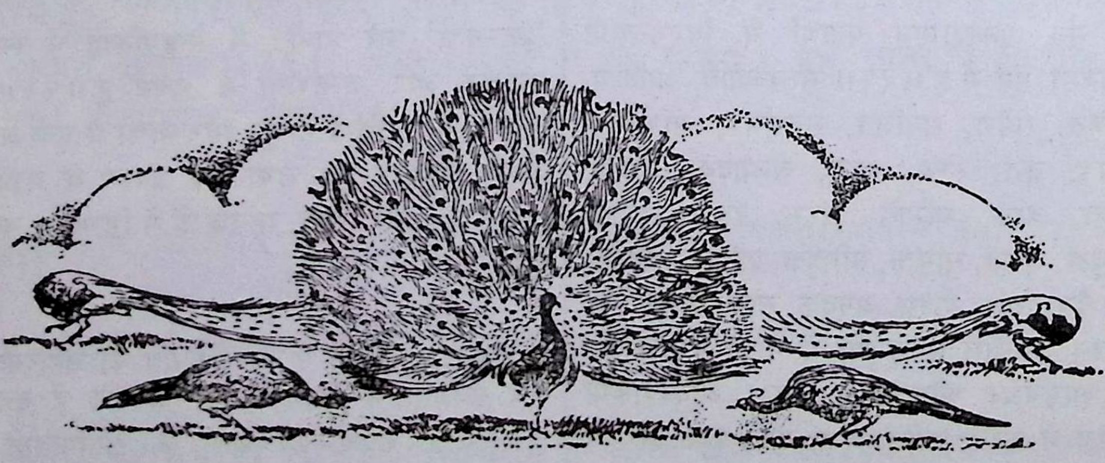

Funding by IKS-MoE

संगति से एवं कृत्तिकाओं से उत्पन्न हुआ वह मैं हूं।।२९।। सरोवरों में जलका अपार संग्रह "सागर" हूं। और भृगु, पुलत्स्य, पुलह, ऋतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अग्नि एवं वशिष्ठ इन दस महर्षियों में महान तपस्वी जो "भृगु" वह मैं हूं।।२३०।। संपूर्ण साहित्य में जो स्पष्ट सत्य का व्यवहार। वह एक अक्षर ओंकार मैं ही हूं। ऐसा वैकुंठवासी श्रीकृष्ण ने कहा।।३१।। इस मृत्युलोक में कर्म के त्याग में ओंकारादि के योग से जो उत्पन्न करते हैं वह जपरूप यज्ञ सब यज्ञों में मेरी प्रधान विभूति है।।३२।। नाम के जप का यज्ञ अत्यंत श्रेष्ठ है। इसके लिये स्नान आदि नित्यकर्मों की अपेक्षा नहीं होती। धर्म और अधर्म दोनों ही नामघोष से पावन होते हैं। वेदके अर्थ का यदि विचार किया जाय तब 'नाम' ही परब्रह्म है क्योंकि १ ओम इति ब्रह्म श्रुति के 'ओम्' इस नाम का २ 'तत्त्वमसि' इसमें श्रुति के 'तत्' नामका और ३ सदेव 'सौम्येदमग्र आसीत्' इसमें 'सत्' नाम के अर्थ का विचार करने पर 'ॐतत्सत्' ये नाम अर्थरूप से 'परब्रह्म' हो और नाम-नामीका अभेद रहने के कारण नाम ब्रह्मरूप ही है।।३३।। अविचल, अटल, पर्वतों में नर-नारायणों की तपश्चर्या के कारण और अनेक देवता ऋषि मुनियों के वसति के कारण पुण्य राशि जो हिमालय वह मैं ही हूं, ऐसा लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने कहा।।३४।।

सब वृक्षों में 'पीपल' का वृक्ष और देवऋषियों में नारदमुनि तथा गंधर्वो में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूं। घोड़ों में उच्चैः श्रवा एवं समस्त हाथियों में अमृत प्राप्ति के लिये किये हुए क्षीरसागर के मंथन से उत्पन्न हुआ ऐरावत और मनुष्यों में राजा हे अर्जुन! इनको मेरी ही प्रधान विभूतियां जानो।।२६/२७।।

कल्पवृक्ष और पारिजात ये दोनों वृक्ष एक इच्छित फलदेनेवाला और दूसरा सुगंधवाला है, और स्वयं सुगंधित होकर संगत के वृक्षों को सुगंधित करने में चंदनवृक्ष प्रसिद्ध है। कारण पीपल के जड़ में विष्णु, स्कंधों में केशव, शाखाओं में नारायण, पत्तों में हरि एवं फल में अच्युत रहते हैं यह मान्यता है, और रक्तविकार, दाह, वमन, विषदोष इत्यादि अनेक रोगों पर इसके पत्ते और छाल का उपयोग होता है ऐसा आयुर्वेद शास्त्र में वर्णन है। इन लौकिक एवं अलौकिक गुणों के कारण पीपल यह भगवंत की विभूति है।।३५।। जिनका देवलोक में निवास रहता है, ऐसे त्रिकालज्ञानी, सत्यभाषी, मंत्रदृष्टा और तत्त्वदृष्टा को देवर्षि कहते हैं। नर-नारायण वालाखिल्य, कर्दभ, पुलह, पर्वत और नारद ये देवर्षि हैं, इनमें हे अर्जुन! जो 'नारद' वह मैं हूं। देवलोक में गायन, वादन, नर्तन में प्रसिद्ध, अति रूपवान-कश्यप मुनी एवं प्राधा इन दो पत्नियों से देवयानि में उत्पन्न जिनको 'गंधर्व' संज्ञा है वे हाहा, हुहु, विश्वावसु, तुंबरू, चित्ररथ इत्यादि पांच मुख्य गंधर्वो में इन सबका आधिपति, संगीत विद्या में निपुण जो चित्ररथ 'गंधर्व' वह मैं हूं।।३६।। जो आणिमादि अष्टमहासिद्धायों से एवं धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन गुणों से संपन्नन रहते हैं, उनको 'सिद्ध' कहते हैं। हे महाबुद्धिमान अर्जुन। इन सब सिद्धों में सांख्यशास्त्र के प्रणेता कर्मद-देवहूती के पुत्र जो कपिलाचार्य वह मैं हूं और समस्त अश्वजाति में सौंदर्य एवं गुणों में श्रेष्ठ सर्व प्रसिद्ध उच्चैः श्रवा अश्व मैं ही हूं।।३७।। हे अर्जुन! जो हाथी राजाओं के भूषण स्वरूप रहते हैं उनमें क्षीर समुद्र से देवाताओं ने मंथन करने के उपरांत उत्पन्न जो ऐरावत वह मैं ही हूं।।३८।। सब नरों में जो धर्मपरायण, राजनीतिज्ञ, प्रजावत्सल, स्वयं को एवं प्रजा को पाप से निवृत्ति करनेवाला, न्याय से पृथ्वी का पालन करनेवाला समस्त लोग जिसकी प्रजा बनकर स्वतः सेवा करते हैं, आज्ञा शिरोधार्य करते हैं वह राजा मेरी विशेष विभूति है।।३९।।

समस्त आयुधों में वज्र एवं धेनुओं में कामधेनु मैं हूं, प्रजोत्पत्ति का कारण जो मदन मैं हूं तथा सर्पकुल में मैं 'वासुकि' हूं। मैं नागों में अनंत अर्थात् शेषनाग हूं। जलचरों में उनका अधिपति वरुण देवता हूं, और पितरों में अर्यमानामक पित्रेश्वर तथा शासन करनेवालों में मैं यमराज हूं।।२८/२९।।

सौ यज्ञ करनेवाले इंद्र के हाथ में जो रहता है वह

विराजमान।।२४०।। धेनु में मैं कामधेनु। वह मैं कहत विश्वकसेनु। उत्पत्तिकर्ताओं में मदनु। मैं ही जानो। ।।४१।। सर्पकुल में अधिष्ठाता। वासुकि मैं कुंती सुता। नागों में समस्ता। अनंत मैं।।४२।। यादस में पार्थु। पश्चिम प्रमदा का कान्त। वह वरुण मैं यह अनन्त। निरूपत।।४३।। और पितृगण में समस्त। अर्यमा जो पितृदैवत। वही मैं तत्वतः। कहूं मैं।।४४।। जग के शुभाशुभ कर्म लिखत। प्राणियों का मन परखत। कर्मानुसार फलदेत। भोग नियम जो।।४५।। उन नियामकों में यम। जो कर्मसाक्षी धर्म। वह मैं कहे आत्माराम। रमापति।।४६।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्। मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतयश्च पक्षिणाम्।। ३०।।

दैत्यकुल में अर्जुन। प्रहलाद मुझको जान। अतः दैत्य भाव से पूर्ण। अलिप्त वह।।४७।। हर्ताओं में महाकाल। वह मैं कहे गोपाल। श्वापदों में शार्दूल। मुझको जानो।।४८।। पक्षि जाति में धनुर्धर। गरुड़ मैं पक्षिवर। अतः अपने पीठ पर। मुझको वहन शक्य।।४९।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्। झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी।। ३१।।

पृथ्वी का समस्त विस्तार। घड़ी न लगत पंडुकुंवर। एक ही उड्डाण में सप्तसागर। की प्रदक्षिणा करत।।२५०।। ऐसा वेगवन्त में गतिवन्त। पवन जो वह मैं निश्चित। शस्त्रधरों में समस्त। श्रीराम मैं।।५१।। संकटग्रस्त धर्म अनुकम्पायुक्त। स्वयं निर्मित दूसर धनुष पार्थ। विजयलक्ष्मी को एकमेव मार्ग प्रशस्त। किया त्रेता में।।५२।। पश्चात् सुवेलाचल पर किरीटि। प्रताप लंकेश्वर की मस्तक पंक्ति। उदोकार गर्जत भूतों प्रति। दे दी बलि।।५३।। देवों को पुनः सम्मान दिया। धर्म का जीर्णोद्धार किया। सूर्यवंश में उदित हुआ। प्रतिसूर्य जो।।५४।। शस्त्रधर परविजितियो में पार्थ। रामचंद्र मैं जानकी कान्त। मकर मैं पुच्छवन्त। जलचरों में।।५५।। सरिता प्रवाह निखिल। मध्ये भगीरथ लाया गंगाजल : वह जन्हु निगलत देत सकल। जंघा फाड़कर।।५६।। वह त्रिभुवनैकसरिता। जान्हवी मैं पंडुसुता। सब जल प्रवाहों में सर्वथा। सुनो तुम। ।।५७।। इस विध सृष्टि में भिन्न-भिन्न। ये विभूति करूं एकेक वर्णन। जन्म सहस्त्र में न शक्य अर्जुन। गिनति अर्ध।।५८।।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।। ३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मिद्वन्द्वः सामासिकस्य च। अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।। ३३।।

Funding by IKS-MoE

वज्र ही समस्त शस्त्रों में मेरी प्रधान विभूति है।।२४०।। सब गौओं में सबकी कामना पूर्ण करनेवाली, समुद्र मंथन से उत्पन्न, सर्व देवतास्वरूप जो कामधेनु वह मैं जिनकी सेना का विस्तार संपूर्ण विश्व में व्याप्त है ऐसे श्रीकृष्ण बोले। धर्म संमत उत्पादको में मदन मेरी प्रधान विभूति है।।४१।। सर्पकुल में सब सर्पो का आधार, समुद्र मंथन के समय देवताओं को सहाय्य करनेवाला "वासुकि" मैं हूं। हे अर्जुन! सर्व नागों में हजार फनवाला अनंत, नाग वह मेरी प्रधान विभूति है।।४२।। सब जलचरों में जलदेवताओं का अधिपति, पश्चिम दिशारूपी तरुण स्त्री का प्रियकर जो वरुण वह मैं हूं ऐसे श्रीकृष्ण स्वयं बतलाते हैं।।४३।। कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निश्वस्त, बहिर्षद, सुकाल, अंगिरस सुस्वधा, सोमा, वैराज इन सब पितृगणों में अर्यमा नामक जो पितृदेव हैं यह वास्तविक सत्य मैं कह रहा हूं ऐसे श्रीकृष्ण कहते हैं।।४४।। समस्त संसार के शुभाशुभ कर्मो का लेखा रखनेवाला, सबके अंतःकरण को जाननेवाला और उन्हें कर्मानुसार भोग करानेवाला जो नियन्ता है वह यम मैं ही हूं।।४५।। इन सब प्रशासकों में जो सबके कर्मों का साक्षी, यमराज मैं हूं ऐसा आत्मानंद में रमण करनेवाले, लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण बोले।।४६।।

हे अर्जुन! मैं दैत्यों में प्रहलाद, और गिनती करनेवालों में समय अर्थात काल हूं तथा पशुओं में मृगराज सिंह और पक्षियों में गरुड हूं।।३०।।

दिति से उत्पन्न दैत्यों में प्रहलाद महाभगवद्भक्त होने के कारण मेरी ही विभूति है और इसीलिये वह दैत्यत्व की बाधा से मुक्त रहा।।४७।। काल की गिनती करनेवालों में निमेष, काष्ठ कला, क्षण घटी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग एतत्स्वरूप जो महाकाल है वह मैं ही हूं ऐसा गोपालकृष्ण ने कहा। सब वन्य पशुओं में शूर, वीर, क्रूर एवं गंभीर सिंह हूं ऐसा जानो।।४८।। पक्षियों में विनता का पुत्र, सब पक्षियों में श्रेष्ठ, पक्षिराज, सेंवातत्पर गरुड मेरी प्रधान विभूति है। इसीकारण अनंत ब्रह्माण्ड जिनके रोमपर स्थित है ऐसे वजनदार मुझको अपनी पीठ पर सवार करके उड़ सकता है, अर्थात् मेरा वाहन है।।४९।।

वेगवंतों में मैं वायु और शस्त्रधारियों में राम हूं तथा मछलियों में मगरमच्छ हूं तथा नदियों में श्री भागीरथी गंगा हूं।।३१।।

हे अर्जुन! इस पृथ्वी के असीम विस्तार में जो बिना एक घड़ी लगाये और एक ही उड़ान में सातों समुद्रों की प्रदक्षिणा कर सकता है वह सबसे बढ़कर वेगवान (वायु) पवन मैं ही हूं। समस्त शस्त्रधारियों में मैं राम हूं।।२५०/५१।। त्रेतायुग में संकट से घिरे वेदप्रणीत धर्म को दयापूर्ण होकर स्वयं ही दूसरा धनुष्यरूप लेकर विजयलक्ष्मी को अकेले ही प्राप्त किया था।।५२।। इसके उपरांत लंका के पास सुवेल पर्वत पर खड़े होकर उन्हीं श्रीराम ने लंकाधिपति रावण की मस्तक पंक्ति आकाश में जयजयकार का घोष करनेवाले भूतों के हाथों पर बलि दे दी थी।।५३।। उन्हीं श्रीराम ने इंद्रादिक देवों को पुनः सम्मान दिया एवं धर्म का जीर्णोद्धार किया था। वे सचमुच सूर्यवंश में प्रतिसूर्य ही उदित हुए थे।।५४।। वही जानकीनाथ शस्त्र धारण करके शत्रु को जीतनेवाले श्रीराम मैं हूं तथा पुच्छधारी जलचरप्राणियों में मैं मकर हूं।।५५।। जिस समस्त नदियों के प्रवाहों में से गंगा को भगीरथ राजा पृथ्वी पर ला रहे थे उस समस्त गंगा का पान जन्हु कर गये तथा प्रार्थना करने के बाद अपनी जांघ चीरकर उसी में से गंगा को फिर निकाला था।।५६।। वही तीनों भुवनों में बहनेवाली जान्हवी समस्त जलप्रवाहों में मेरी प्रधान विभूति है।।५७।। इस प्रकार सारी सृष्टि की एकेक भिन्न भिन्न विभूतियों में से एकेक का यदि वर्णन करने लगूं तो हजारों जन्म बीत जाने पर उनमें से आधी विभूतियों के नाम भी न गिनाये जा सकेंगे।।५८।।

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अंत एवं मध्य भी मैं ही हूं तथा विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या एवं परस्पर में विवाद करनेवालों में तत्त्वनिर्णय के लिये किया जानेवाला वाद हूं। मैं अक्षरों में अकार और समासों में द्वंद्व नामक समास हूं तथा अक्षयकाल अर्थात् काल का भी महाकाल और विराटस्वरूप सबका धारण पोषण करनेवाला भी मैं ही हूं।।३२/३३।।

Funding by IKS-MoE

यदि समस्त नक्षत्र की गणना। इच्छा उपजत स्वमना। तब गगन की मोट (पोटली) बांधना। तभी शक्य।।५९।। करना यदि पृथ्वी परमाणु गिनती।। पूरा भूगोल हथियाना किरीटि। वैसे देखना यदि मेरी विस्तार व्याप्ति। जानिजे मुझको ही।।।२६०।। जैसे शाखा के पत्र फूल फल। एकसाथ करना प्राप्त सकल। तब तो उखाड़कर पूर्ण मूल। लेना हस्त में।।६१।। वैसी मेरी विभूति विशेष। यदि जानना अशेष। तब स्वरूप एक निर्दोष। जानिये मेरा।।६२।। अन्यथा भिन्न-भिन्न विभूति। कितनी सुनोगें किरीटि। अतः जानो एक महामति। सर्वगत को मुझे।।६३।। मैं समस्त सृष्टि में। व्याप्त आदि मध्यान्त में। ओतप्रोत पट में। तंतू जैसा।।६४।। ऐसे मुझ विश्वव्यापक को जानिये। तब यह विभूति भेद किसलिये। किंतु यह योग्यता न तेरी देखिये। इसलिये सुनो!।।६५।। जो तुमने पूछी विभूति। अतः सुनो हे सुभद्रापति। तब सर्व विद्या में जिसकी ख्याति। अध्यात्मविद्या मैं।।६६।। वक्ताओं में अर्जुन। शास्त्र संमत से न कभी पूर्ण। ऐसा जो वाद संपूर्ण। मैं ही जानो।।६७।। विचार से और वर्धमान। श्रोताओं को तर्क बलवान। अति मधुर संभाषण। निष्पन्न जिससे।।६८।। ऐसे प्रतिपादन में वाद। वह मैं कहे गोविंद। अक्षरों में विषद। अकार जो मैं।।६९।। और समासों में समस्त। द्वन्द्व मैं सुनो पार्थ। मशक से ब्रह्मपर्यन्त। ग्रासिता वह मैं।।२७०।। मेरु मंदार सहित। सकल पृथ्वी को नाशत। एकार्णव को भी शुष्क करत। जहां के तहां।।७१।। जो प्रलय तेज को आलिंगत। सकल पवन को निगलत। आकाश पूर्ण समाहित। उदर में जिसके।।७२।। ऐसा अपार काल वह मैं कहे गोपाल। पुनरपि सृष्टि खेल। का सृजिता मैं।।७३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्। कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

और सृष्ट भूतों का मैं धर्ता। सब का मैं ही जीवनदाता। अंत में सबका जो संहारकर्ता। वह मृत्यु मैं ही।।७४।। अब स्त्रीगणों में श्रेष्ठ। मेरी विभूतियां सप्त। सुनो सकौतुक पार्थ। कहूं तुझको।।७५।। तब नित्यनूतन जो कीर्ति। अर्जुन वह मेरी मूर्ति। और औदार्ययुक्त जो संपत्ति। वही मैं जानो।।७६।। मैं ही वह वाणी। आरूढ़ जो नीति सुखासनी। विवेक मार्ग अनुगामिनी। निरंतर।।७७।। दृष्ट पदार्थों का स्मरण। जिससे होवे अर्जुन। वह स्मृति साक्षात् संपूर्ण। त्रिशुद्धि मैं।।७८।। जो

Funding by IKS-MoE

यदि सभी नक्षत्रों को एकत्र करने की इच्छा अपने मन में होवे तो संपूर्ण आकाश की गठरी बांधने की आवश्यकता होगी।।५९।। उसी प्रकार यदि पृथ्वी के अणु परमाणुओं की गणना करने के लिये सारी पृथ्वी को बगल में दबाने की आवश्यकता होगी वैसे ही मेरी समस्त विभूतियों को देखने की इच्छा हो तो स्वयं मेरा ही ज्ञान प्राप्त करना होगा।।६०।। जिस प्रकार यदि शाखाओं सहित समस्त फूलों एवं फलों को एकसाथ अपने हाथ में लेने की इच्छा हो तो जड़ को ही उखाड़कर वृक्ष को हाथ में लेना पड़ेगा।।६१।। उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो मेरे निर्दोष-निरुपाधिक व्यापक स्वरूप का ही ज्ञान प्राप्त करना होगा।।६२।। और नहीं तो मैं अपनी भिन्न-भिन्न विभूतियां कहां तक गिनाऊंगा? इसलिये हे महाबुद्धिमान अर्जुन! तुम संबमें विद्यमान एक मुझको ही मैं ही सब कुछ हूं ऐसा जानो।।६३।। जिस प्रकार वस्त्र के आदि मध्य और अंत में तंतु ही तंतु रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि की इन तीनों अवस्थाओं में मैं ही ओत-प्रोत भरा हुआ हूं।।६४।। जब मेरी इस व्यापकता का यथार्थ ज्ञान हो जावे तब फिर अलग-अलग सब विभूतियों को बतलाने की क्या आवश्यकता है? परंतु तुममें इतना अधिकार नहीं है इसलिये तुम्हें इतनी विभूतियां बतला दी।।६५।। तुमने मेरी विभूतियों के संबंध में प्रश्न किया है इसीलिये मैं उन्हीं को बतला रहा हूं सुनो! समस्त विधाओं में परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष को प्राप्त करानेवाली प्रसिद्ध जो अध्यात्म विद्या मेरी प्रधान विभूति है जिसका प्रकरण इस समय चल रहा है।।६६।। बोलने वालों में (वक्ताओं में) जो वाद होता है और जिसके संबंध में न तो कभी सब शास्त्रों की एक वाक्यता होती है, और न कभी जिसका अंत होता है, वह वाद मैं हूं।।६७।। दूर करने या मिटाने का विचार करने पर जो और बढ़ता है जिसके कारण श्रोताओं के मन में वक्ताओं के वक्तव्य में अभिप्रेत अर्थ की जगह बुद्धि परस्पर दूसरे अर्थ या तर्क की कल्पना की जाती है और उससे उनके भाषण में मधुरता उत्पन्न होती है।।६८।। इस प्रकार परस्परों के प्रतिवादन में सदोष पक्ष का त्याग एवं शास्त्र तर्क सिद्ध पक्ष का स्वीकार करने की मन की उदारता रहती है और इसी कारण वह वाद तत्त्वनिर्णय में सफल होता है। वही वाद मैं हूं ऐसा गोविंद कहते हैं। स्वर, व्यंजन इत्यादि सब अक्षरों में व्यापक जो अकार वह मैं ही हूं।।६९।। समस्त समासों में द्वंद्व समास मैं हूं। मच्छर से लेकर ब्रह्मा तक सबका ग्रास करनेवाला जो काल है वह मैं ही हूं।।७०।। जो अनन्तकाल मेरु, मंदार आदि पर्वतोंसहित सारी पृथ्वी को गला देता है, प्रलयकाल में सारे विश्व को जलमय करनेवाले असीम सागर को भी जो जहां का तहां सुखा देता है।।७१।। जो प्रलयकालीन तेज को आलिंगन करके समस्त वायु को निगलता है। आकाश संपूर्ण जिसके उदर में समा जाता है।।७२।। ऐसा जो महाकाल वह मैं हूं और इसी प्रकार पुनः भूतभौतिक समुदाय की उत्पत्ति के खेल का निर्माणकर्त्ता मैं ही हूं ऐसा गोपालकृष्ण ने कहा।।७३।।

हे अर्जुन! मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और आगे होनेवाले उत्पत्ति का कारण हूं तथा स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूं।।३४।।

मैं समस्त भूतों को उत्पन्न करता हूं, मैं ही उनका पालन करता हूं और अंत में मैं ही उनका संहार करता हूं, इसलिये मृत्यु भी मैं हूं।।७४।। अब स्त्री-समूह में मेरी सात श्रेष्ठ विभूतियां हैं वह सहज कौतुक से तुझे कहूंगा वे सुनो!।।७५।। हे अर्जुन! नित्य नूतन प्रशंसा का विषय जो कीर्ति वह साक्षात मेरी मूर्ति है और औदार्ययुक्त जो धन संपत्ति वह मैं ही हूं ऐसा जानो।।७६।। जो न्याय के अधिष्ठान पर सुख से विवेक के मार्ग पर निरंतर चलती रहती है वह वाणी मैं हूं।।७७।। इस जग में कोई भी वस्तु देखते साथ उस वस्तु के अंतर्यामी जो मैं उसकी याद दिलानेवाली जो स्मृति वह मूर्तिमान मेरी ही विभूति है यह त्रिकाल सत्य है।।७८।। इसी प्रकार जो आत्महित का साधन करानेवाली वह धारणा शक्तिसंपन्न मेधा मैं हूं। शरीर एवं मन को सब परिस्थितियों में अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों में धैर्य से परिपूरित रखनेवाली शक्ति जो धृति वह भी मैं हूं, और किसी ने अपराध करनेपर सामर्थ्य रहते भी

Funding by IKS-MoE

स्वहित अनुयायिनी। मेधा बुद्धि स्वरूपिणी। धृति मैं त्रिभुवनी। क्षमा भी मैं।।७९।। एवं इस जग में पूर्ण नारी। जाति में सप्त शक्तियां सारी। ऐसे संसारगज केसरी। निरूपत स्वयम्।।८०।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्। मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

वेदराशि में जो साम। उनमें बृहत्साम जो प्रियोत्तम। वह मैं ही अति उत्तम। रमापति कहे।।८१।। गायत्री छंद जो कहिये। सकल छंदों में श्रेष्ठ जानिये। वह स्वरूप मेरा मानिये। सुनिश्चित।।८२।। मासों में मार्गशीर्ष। मुझको ही जानो गुड़ाकेश। कुसुमाकर ऋतुविशेष। वसन्त वह मैं।।८३।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्ते जस्विनामहम्। जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः। मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

छल के प्रकार पूर्ण। उन में द्यूत मैं विचक्षण। चौहट्टे पर इस चौर्थ का निवारण। असंभव जानो।।८४।। तेजस्वियों में अशेष। तेज मैं गुड़ाकेश। विजय मैं कार्योद्देश। मध्य में सकल।।८५।। जिससे निर्मल दिखत न्याय। वह व्यवसायों में व्यवसाय। मेरा स्वरूप कौन्तेय। जानो तुम।।८६।। सकल सात्विकों में पार्थ। सत्व मैं कहे अनन्त। यादवों में लक्ष्मीवन्त। मैं ही जानो।।८७।। जो वसुदेव देवकी से उत्पन्न। कुमारी स्तव गोकुल गमन। किया दुग्ध मिष से प्राणशोषण। पूतना का मैंने।।८८।। बाल्यावस्था में अविकसित। मैं अदानवी पृथ्वी करत। गिरीधारण करके नापत। महेंद्र महिमा।।८९।। किया कालिंदीहृदय शल्य नष्ट। जलते गोकुल को बचाया पार्थ। गोपबछड़ों के लिये किया भ्रमित। विरिंची को मैंने।।२९०।। प्रारंभ में प्रथम दशा का। कंस चाणुरदिकों का। किया नाश बलिराक्षसों का। लीलया जिसने।।९१।। यह कितना कहूं एकेक वीरेश। तुमने देखा सुना जो अशेष। यादवों में जिसका कार्य विशेष। वही स्वरूप मेरा।।९२।। और सब सोमवंशियों में। अर्जुन में पांडवों में। इसलिए परस्पर प्रेमभाव में। रहूं निरन्तर।।९३।। संन्यासी होकर पार्थ। मम भगिनी हरण करत। तथापि मन में न विकल्प उठत। जो मैं और तुम एक।।९४।। मुनियों में व्यासदेव। मैं ही कहे यदुराव। कवीश्वरों में जो श्रेष्ठ ठांव। वह उशनाचार्य मैं।।९५।।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्। मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

Funding by IKS-MoE

३७९ – २९५)

प्रतिकार करने के बदले वह सहन करने के लिये त्रैलोक्य में प्रसिद्ध जो क्षमा यह मेरी ही विभूति है।।७९।। इस प्रकार स्त्री समूह में जो ये सातों शक्तियां हैं वह मैं ही हूं ऐसा तुम निश्चित जानो यह बात संसाररूपी हाथी का नाश करने वाले सिंह श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा।।२८०।।

तथा मैं गायन करने योग्य श्रुतियों में बृहत्साम और छंदों में गायत्री छंद तथा महिनों में मार्गशीर्ष महिना और ऋतुओं में वसंत ऋतु मैं हूं।।३५।।

मेरे प्रिय भक्तों में उत्तम हे अर्जुन! संपूर्ण वेदों में जिस सामवेद की ऋचाओं में संगीत विशेष द्वारा परमेश्वर की स्तुति की है वह बृहत्साय मैं हूं ऐसा रमानाथ श्रीकृष्ण ने कहा।।८१।। समस्त छंदों में गायत्री नामक छंद है वह निश्चित मेरा ही स्वरूप जानो क्योंकि गायत्री सब वेदों का सार, समस्त छंदों की माता, सर्वपापनाशिनी, ब्राम्हण्य संपादक एवं जप ध्यान को योग्य है ऐसा वर्णन ऋषि मुनियों ने किया है।।८२।। महाभारत काल में मासों की गणना मार्गशीर्ष मास से ही होती थी इसप्रकार का उल्लेख अनुशासन पर्व में है, इसी कारण समस्त महिनों में प्रथम जो मार्गशीर्ष वह मेरी प्रधान विभूति है। तथा सब ऋतुओं में श्रेष्ठ ऋतुराज वसंत मैं ही हूं।।८३।।

हे अर्जुन! छल कपट करनेवालों में द्यूत अथवा जुआं और तेजस्वी पुरुषों का तेज हूं। मैं जीतनेवालों की विजय हूं उद्यम करनेवालों का उद्यम एवं सात्विक पुरुषों का सात्विक भाव हूं। समस्त यादवों में मैं श्रीकृष्ण हूं। पांडवों में मैं धनंजय हूं। मुनियों में मैं व्यास मुनि हूं, तथा समस्त कवियों में शुक्राचार्य नामक कवि हूं।।३६/३७।।

हे दूरदर्शी अर्जुन! छल करनेवाले जो सारे प्रकार हैं उसमें जो द्यूतकर्म है वह मैं हूं। इसीलिये जब कोई द्यूत कर्म के द्वारा खुले आम चौराहे पर चोरी करके किसीको लूटता है तो उसका कोई निराकरण नहीं कर सकता।।८४।। समस्त तेजस्वी पदार्थों का तेज मैं हूं। समस्त कार्य करने के संकल्पों में जो विजय है वह मैं हूं।।८५।। समस्त उद्योगों में न्याय को उज्वल करनेवाला व्यवसाय मेरी ही विभूति है इस बात को तुम जानो।।८६।। समस्त सात्विक पुरुषों में जो सात्विक भाव है वह मैं हूं। समस्त यादव कुल में षड्गुणों से संपन्न लक्ष्मीवन्त मैं ही हूं।।८७।। जो वसुदेव और देवकी का पुत्र था किंतु जिस यशोदा के कन्या के बदले में गोकुल में ले गये थे और जिसने पूतना के दूध के साथ उसके प्राणों का भी पान कर लिया था वह मैं ही हूं।।८८।। बाल्यकाल की कली खिलने के पहले ही दैत्यों का नाश करके पृथ्वी को दैत्यहीन कर दिया था और गोवर्धन पर्वत नखाग्र पर उठाकर महेंद्र के सामर्थ्य की परीक्षा की थी।।८९।। कालिंदी के दह मेंसे कालिया रूपी शल्य निकालकर बाहर कर दिया था। जिसने जलते हुए गोकुल की रक्षा की थी और गौओं तथा बछड़ों के हरण के समय ब्रह्मा को अपनी माया से पागल बना दिया था।।२९०।। जिसने अपनी बाल्यकाल के उदयकाल में ही कंस सरीखे कंस चाणुरादि बलवंत लोगों को सहज में धूल में मिला दिया था।।९१।। यह एकेक बात कितनी बतलाऊं? हे अर्जुन! जिसके पराक्रम के कृत्य तुमने स्वयं देखे हैं अथवा सुने हैं वह श्रीकृष्ण समस्त यादवों में मेरी प्रधान विभूति है।।९२।। और चंद्रवंशी पांडवों में जो अर्जुन है वह भी मैं ही हूं और इसीलिये उनके परस्पर प्रेमभाव में कभी अंतर नहीं उठता। उसमें कभी बिगाड़ नहीं होता।।९३।। तुमने संन्यासी का वेष धारण करके मेरी बहन सुभद्रा का हरण किया था, परंतु फिर भी तुम्हारे संबंध में मेरे मन में विपरीत भावना कभी नहीं उत्पन्न हुई क्योंकि मैं और तुम दोनों एकरूप हैं।।९४।। हे अर्जुन! वेदशास्त्रों का मनन करनेवाले मुनियों में चारों वेद, अठारह पुराण, ब्रह्मसूत्र, स्मृति इत्यादि ग्रंथों के कर्ता, महान बुद्धिमान भगवंत को ज्ञानावतार श्रीमत् द्वैपायन व्यासदेव मैं हूं। समस्त कवियों में धैर्य का आश्रय स्थान जो शुक्राचार्य वह मैं हूं।।९५।।

दमनकरनेवाला दण्ड अर्थात् दमन करने की शक्ति हूं, जीतने की इच्छवालों की उपायरूप नीति हूं और गोपनीयों में अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य भावों में मौन हूं तथा ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूं।।३८/३९।।

सकल दमयितों में पार्थ। अनिवार्य दण्ड मैं यथार्थ। जो पिप्पिलिका से ब्रह्मपर्यन्त। सुनियमत।।९६।। सारासार विचार से अर्जुन। धर्मज्ञान का जिसमें अनुसरण। ऐसा सकलशास्त्रों में संपूर्ण। नीतिशास्त्र मैं।।९७।। अशेष गुह्यों में पार्थ। मौन मैं हूं बलवंत। धारक सन्मुख अज्ञान साक्षात्। सृष्टा भी स्वयम्।।।९८।। ज्ञानियों के हृदयान्तर में। जो ज्ञान संपूर्ण वही मैं। अतः मेरे विभूतियों में। पार न पावेगा तू।।९९।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप। एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

पर्जन्यधाराओं की जैसी। गणना न संभव वैसी। क्या पृथ्वीतृणांकुर की तैसी। गिनती शक्य?।।३००।। अथवा महोदधि के तरंग। असंभव उनकी संख्या सुभग। वैसे मेरे विशेष लिंग। उनकी मिति नाही।।१।। ऐसे में भी सात पांच प्रधान। विभूतियां कही तुझको अर्जुन। किन्तु मेरा यह प्रयत्न। परिचय मात्र ।।२।। वैसा मेरा विभूति विस्तार। असंख्य साच धनुर्धर। सुनोगे कितना तुम सुवीर। कितना बताऊं मैं।।३।। इसलिये एकबार गुह्य। दिखाऊं तुझको मर्म निज। सब भूतांकुर का जो बीज। मैं ही पार्थ।।४।। अतः सान श्रेष्ठ न कहिये। उच्च नीच भाव छांडिये। एक मैं ही जानिये। वस्तुमात्र को।।५।। इस पर भी एक साधारण।सुनो और लक्षण। जिससे जानेगा तू अर्जुन। विभूतियां मेरी।।६।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।४१।।

जहां-जहां दया एवं संपत। दोनों एक स्थान में वसत। वहां वहां जानो पार्थ। विभूतियां मेरी।।७।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगत्।।४२।।

अथवा एक ही बिंब गगन में। किन्तु प्रभा प्रसरत त्रिभुवन में। वैसे जिस एक की पूर्ण जग में। आज्ञा चलत।।८।। न कहो उसको एकल। वह निर्धन यह भाव विफल। क्या कामधेनू को सामग्री सकल। आवश्यक।।९।। उसको जो जब मांगत। तत्क्षण वह वो प्रसवत। विश्व विभव पूर्ण पार्थ। विभूति में मेरी।।।३१०।। उसको जानने की यही संज्ञा। जो जग को शिरोधार्य उसकी आज्ञा। ऐसे जो जो देखा प्राज्ञा। वह अवतार मेरे।।११।। और यह सामान्य यह विशेष। जाना यहां महादोष। क्योंकि मैं ही अशेष। विश्वरूप।।१२।। तब तुम ही कहो पार्थ। यदि उत्तम अधम भेद

Funding by IKS-MoE

दंड करनेवालों में चीटी से लेकर ब्रह्मापर्यंत जितने जीव हैं उन सबको नियम से जो प्राप्त होता है वह अनिवार्य देह दण्ड या प्राणदण्ड मैं हूं।।९६।। अच्छे बुरे का निर्णय करनेवाला और धर्मज्ञान का पक्ष लेनेवाला समस्त शास्त्रों में जो नीतिशास्त्र वह मैं हूं।।९७।। हे बलवन्त अर्जुन! सब गुह्यों में जो मौन मैं हूं जिसको धारण करने वाले के सामने उसका मनोगत जानने के विषय में प्रत्यक्ष ब्रह्मा भी अज्ञानी रहता है।।९८।। ज्ञानीजनों के हृदय में जो ज्ञान रहता है वह मैं हूं। इसीकारण मेरे विभूतियों के विषय में उसको पूरी तरह आकलन करना संभव नहीं है।।९९।।

हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण (बीज) है वह भी मैं ही हूं, क्योंकि ऐसा चर और अचर में कोई भी भूत नहीं है जो मेरे रहित है, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।।३९।। हे शत्रुतापना, अर्जुना! मेरी दिव्य विभूतिओं का कोई अंत नहीं। इन विभूतियों का विस्तार मैंने तुमको संक्षेप में बता दिया है।।४०।।

हे अर्जुन! जैसी वर्षा की धाराओं की गिनती अशक्य है, वैसे ही क्या पृथ्वी पर के तृणों के अंकुरों की संभव है?।।३००।। परंतु जिस प्रकार महासमुद्र की लहरों की कोई निश्चित संख्या नहीं की जा सकती वैसे हे भाग्यवान अर्जुन! मेरी प्रधान विभूतियों की भी सीमा नहीं है।।१।। ऐसे में भी जो सात पांच प्रमुख विभूतियां मैंने तुम्हें बतलाई हैं हे अर्जुन! किंतु मेरा यह प्रयत्न तुम्हें केवल इनका परिचय कराने के लिये ही है।।२।। वैसे मेरी बाकी बची हुई विभूतियों का विस्तार असीम है, उनको तुम सुनोगे कितना? और मैं बतलाऊंगा कितना?।।३।। इसलिये अब मैं एकदम अपना सारा (गुप्त) रहस्य ही बतला देता हूं। इस समस्त भूतरूपी अंकुरों का जो मूल बीज है वह मैं ही हूं।।४।। इसीलिये किसी को कभी छोटा या बड़ा नहीं कहना चाहिये, ऊंच नीच यह भेदभाव छोड़ देना चाहिये और संपूर्ण पदार्थ जात को मेरा ही स्वरूप समझ लेना चाहिये।।५।। और भी एक साधारण चिन्ह तुम्हें मैं बतला देता हूं जिससे हे अर्जुन! तुम मेरी विभूतियों को पहचान सकोगे।।६।।

इसीलिये हे अर्जुन! जो जो विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कांतियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस उस वस्तु को तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई ऐसा जानो।।४१।।

हे अर्जुन! जहां-जहां भूतों में ऐश्वर्य एवं दयाभाव एकत्र दिखाई देता है वहां-वहां मेरा वास है वे सब मेरी ही विभूतियां है ऐसा तुम समझो।।७।।

अथवा हे अर्जुन! इन विभूतियों का और अधिक विस्तार जानने से तेरा क्या प्रयोजन है अब इतना ही ध्यान में रखो कि मैं इस संपूर्ण जगत को अपनी योगमाया के एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूं। इसलिये मेरे को ही तत्त्वरूप से जानना चाहिये।।४२।।

हे अर्जुन! आकाश में सूर्य का केवल एक ही बिंब रहता है परंतु उसकी प्रभा तीनों भुवनों में फैली हुई रहती हैं। ठीक उसी प्रकार जिस एक की संपूर्ण विश्व में आज्ञा सब पालन करते हैं।।८।। उस एक को तुम अकेला या निर्धन कभी मत समझना। क्या कामधेनु के साथ सारी वस्तु सामग्री का संग्रह चलते हुये दिखना आवश्यक है।।९।। उसको जो जो जब जब मांगता है उस पदार्थ को तत्काल प्रसव करने लगती है। इसी प्रकार उस विश्वबीज रूप मेरे में विश्व का सारा ऐश्वर्य भरा रहता है।।३१०।। उसको पहचानने का लक्षण एक ही है वह यह कि सारा संसार उसके आगे नम्र होकर उसकी आज्ञा को शिरोधार्य मानता है! जिनमें ऐसा लक्षण दिखलाई देता है उनको हे बुद्धिमान अर्जुन! तुम मेरे ही अवतार स्वरूप जानो।।११।। इस प्रकार के अवतारों में किसी को सामान्य और किसी को विशेष आम मानना ऐसा भेदभाव करना महापाप है, क्योंकि यह

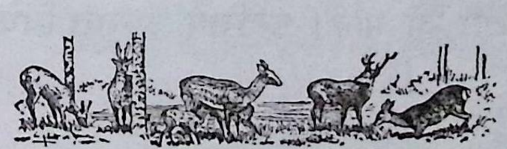

Funding by IKS-MoE

कल्पत। अपने बुद्धि को कलंक व्यर्थ। लगत जात।।१३।। वैसे भी घृत को क्यों मथना?। अमृत को क्यों ओंटना? कैसे सव्याप सव्य जानना? वायु के अंग को?।।१४।। सूर्य बिंब का अगृष्ट किरीटि। देखे यदि नाशत अपनी दृष्टि। वैसे मत्स्वरूप में न गोष्टी। सामान्य विशेष की।।१५।। मेरी विभूतियां अपार भिन्न। कैसी गणना करोगे अर्जुन। अतः उसकी इच्छा पूर्ण। रोको अब।।१६।। मेरे एक अंश से पार्थ। संपूर्ण जगत व्याप्त। अतः अभेद सम बुद्धि से संतत। सर्वत्र भजे मुझको।।१७।। इसविध विबुध जन व सन्त। विरक्त जन एकान्त। कहत सकलैश्वर्यमंडित। श्रीकृष्णदेव।।१८।। तब अर्जुन कहत स्वामी। यह राभस्य कहा नामी। क्या यह भेद अकेले अंतर्यामी। छोड़ना हममें?।।१९।। क्या उदय पूर्व गभस्त। कहत तम को भगाओ अन्यत्र? यदि आपको कहूं यह गलत। होगी बड़ी बात।।३२०।। कभी क्वचित त्वनाम अच्युत। मुख कर्ण को होवे प्राप्त। उसके हृदय को छांडत। तत्क्षण भेद।।२१।। आप ही परब्रह्म संपूर्ण। दैव से हस्तोदक से पाया कृष्ण। अब भेद कैसा कौन। देखना किसने?।।२२।। यदि चंद्रबिंब के गर्भ में। प्रविष्ट होकर यदि तप्त धूप में। आप श्रेष्ठ जो आया मन में। बोलिये प्रभु।।२३।। वहां तत्क्षण संतोषत। मन से अर्जुन को आलिंगत। कहत न होना तुम रुष्ट। बोल से मेरे।।२४।। भेदकथन के ओघ में। जो विभूति कथा कही उसमें। देखा अभेद तेरे मन में। हुआ दृढ़।।२५।। यही परखने प्रीत्यर्थ। क्षणैक आजमाया तेरा चित्त। अब माना विभूति बोध सत्य। हुआ तुझको।।२६।। तब कहत अर्जुन हे ईश। यह अपना आप जानो सर्वेश। देखूं सर्व मैं विश्व अशेष। व्याप्त आपमें।।२७।। इसविध वह पंडुसुत। ऐसी प्रतीति पावत। रहे संजय के बोल पर निवान्त। धृतराष्ट्र मौन।।२८।। संजय का मन दुःखित। कैसे दैव दूर लोटत। समझू इसके बाह्य चक्षु नष्ट। यह तो अन्तर से भी अंध।।२९।। रहने दो यह देखो अर्जुन। स्वहित का बढ़ावत जो मान। इसलिये उपजत विषय में अन्य। उत्कंठा उसको।।३३०।। कहे

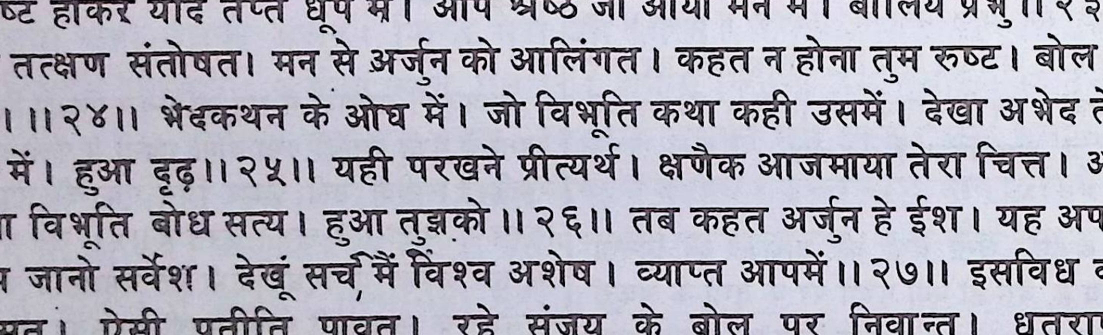

Funding by IKS-MoE

सारा विश्व मैं ही हूं।।१२।। ऐसी अवस्था में हे अर्जुन! तुम ही कहो यह साधारण यह उत्तम ऐसी भेदभाव की कल्पना किस दृष्टि से करें? यदि ऐसा करते हैं तो अपनी बुद्धि को व्यर्थ कलंकित करना ही होगा।।१३।। वैसे भी घी को क्यों मथा जाये? अमृत को औटाकर आधा करने से कोई खास लाभ है? क्या वायु को भी कभी दायें बाएं अंग रहते हैं?।।१४।। यदि कोई सूर्य का पेट या पीठ देखने के हेतू से सूर्यबिंब पर दृष्टि जमाने की चेष्टा करे तो उसका परिणाम केवल यह होगा कि उसकी दृष्टि नष्ट होगी। उसी प्रकार मेरे स्वरूप में भी सामान्य एवं विशेष ऐसा कोई भेदभाव नहीं है।।१५।। हे अर्जुन! तुम मेरे असीम और भिन्न भिन्न विभूतियों को कहां तक नापोगे? इसीलिये मुझे इस प्रकार से जानने का यत्न छोड़ दो।।१६।। मेरे एक ही अंश ने इस सारे संसार को पूर्ण रूप से व्याप्त कर रखा है, इसीलिये तुम समस्त भेद रहित होकर समबुद्धि से मेरी निरंतर उपासना करो।।१७।। ज्ञान जनरूपी बनने में फूलनेवाले वसंत के विश्वस्त जनों के नाथ, ऐसे श्रीमंत श्रीकृष्णदेव ने अर्जुन से इसप्रकार कहा।।१८।। इस पर अर्जुन ने कहा हे स्वामी! आपने यह बड़ा अच्छा आग्रह किया, कि हमने अकेले ने ही हे अंतर्यामी! इस भेद को छोड़ देना चाहिये।।१९।। अब यदि मैं कहूं कि आपका यह कहना वैसा ही अनुचित और अविचारपूर्ण है, जैसा सूर्य का संसार में यह कहना कि यह अंधकार दूर भगा दो। यह कहना याने छोटे मुंह बड़ी बात होगी।।३२०।। आपके तो नाम का इतना महात्म्य है कि कभी किसी समय किसी के मुख से आपका नाम निकल जाये अथवा किसी के कानों आपका नाम पड़ जाये तो भेदभाव उसके हृदय से निकलकर तत्काल भाग जाता है।।२१।। आप ही स्वयं परब्रह्म हो और इस समय मेरे सौभाग्य से मेरे हाथ पर उदक छोड़कर दान में प्राप्त हुये हो फिर अब भेद कैसा और किसने देखना है?।।२२।। क्या चंद्रबिंब के गर्भ में प्रवेश पर भी उष्मा गरमी लग सकती है? परंतु हे प्रभु! आप तो श्रेष्ठ हो जो आपके मन में आता है बोल रहे हो।।२३।। इस प्रकार अर्जुन की प्यारी बातें सुनकर श्रीकृष्ण ने सहज संतुष्ट होकर मन से प्रेमपूर्वक अर्जुन को आलिंगन दिया और कहा- ''हे अर्जुन तुम मेरी बातों से नाराज मत होना''।।२४।। मैंने भेद कहने के प्रसंग में जिन-जिन विभूतियों का वर्णन किया उसके संबंध में और भी कुछ बातें कहीं हैं। कि उन बातों का अभेद तुम्हारे अंतःकरण में दृढ़रूप से अंकित हुआ है या नहीं।।२५।। इसी बात की परीक्षा करने के लिये तेरे मन को आजमाया। अब मुझे निश्चित रूप से अनुभव हुआ है कि तुम्हें मेरी विभूतियों का सच्चा बोध हो गया है।।२६।। इसपर अर्जुन ने कहा- हे देव! अपनी बात तो आप ही जाने परंतु मैं तो सचमुच यही देख रहा हूं कि यह संपूर्ण विश्व आप ही में समाया है।।२७।। परंतु संजय ने जो यह कहा था कि- हे राजन, अर्जुन इस प्रकार आत्मरूप का अनुभव करने लगा। तो संजय का यह वचन धृतराष्ट्र बिलकुल चुपचाप सुनते रहा।।२८।। उस समय संजय मन ही मन में दुखी हुआ और कहने लगा, ''ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ फिर भी धृतराष्ट्र इसको दूर कर रहा है। यह एक आश्चर्य की बात है। मैं समझता था कि बाह्य चक्षु से नहीं किंतु अंतःकरण से यह स्वस्थ होगा परंतु यह तो अंतर के ज्ञानदृष्टि से भी अंधा ही है''।।२९।। अस्तु, ज्ञानदेवजी कहते हैं, अब देखो, अर्जुन अपने आत्महित के मार्ग पर बराबर बढ़ रहा है, और इसीलिये उसके मनमें और भी एक बात की उत्कंठा उत्पन्न हुई।।३३०।। उसने कहा- हे देव! मेरे मन

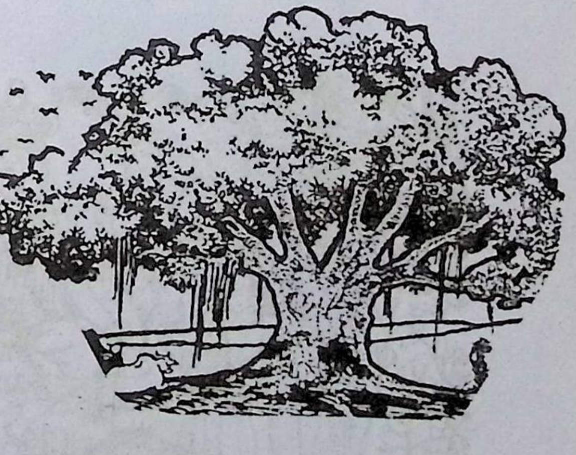

Funding by IKS-MoE

यही हृदय की प्रतीति। होवे प्रकट बाह्य चक्षुप्रति। इस आर्ति से उसकी मति। आतुर होत।। ३१।। इन्हीं दो नयनों से अखिल। देखूं मैं विश्वरूप सकल। मन में इच्छा प्रबल। उस देववान के।। ३२।। आज वह कल्पतरु की शाखा साक्षात्। बांझ पुष्प न कभी प्रसवर्त। जो-जो मुख से कहत जात। करे सच कृष्ण।। ३३।। जो प्रह्लाद के भावार्थ। स्वयं विषरूप में प्रकटत। ऐसा सद्गुरु प्राप्त। किरीटि को।। ३४।। अतः विश्वरूपदर्शन प्रीत्यर्थ। कौन रीति से पूछत पार्थ। कहूंगा आगे प्रसंग मैं निश्चित। कहे ज्ञानदेव निवृत्ति का।। ३३५।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे
विभूतियोगोनाम दशमोऽध्यायः (श्लोक ४२ ओवियाँ ३३५)

के अंदर जो यह प्रतीति हुई वह मेरे बाह्य चक्षु के सामने प्रकट होवे। और इसी इच्छा से उसकी बुद्धि अतिशय आतुर हुई।। ३१।। अर्जुन सच में ही बड़ा भाग्यवान था और इसीलिये उसके मन में यह प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं अपने इन दोनों नेत्रों से संपूर्ण विश्वरूप का दर्शन करूं।। ३२।। हे श्रोतागण अर्जुन प्रत्यक्ष कल्पतरु की शाखा ही था इसलिए कभी भी उससे बांझ पुष्प नहीं उत्पन्न होते। जो जो बातें उसके मुंह से निकलती थीं वह सब श्रीकृष्ण पूरी करते थे।। ३३।। जिस नारायण ने भक्त प्रहलाद की बात रखने के लिये स्वयं विषरूप धारण किया था वही नारायण अर्जुन को सदगुरु के रूप में प्राप्त हुये थे।। ३४।। अब विश्वरूप दर्शन के लिये अर्जुन किस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना करेगा वह आगे का प्रसंग श्री निवृत्तिदासजी के शिष्य श्री ज्ञानदेवजी बतलायेंगे।। ३५।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

Funding by IKS-MoE

अध्याय - ग्यारहवाँ

सारांश

सद्‌भाव से यहां नहाइये। प्रयाग माधव विश्वरूप देखिये। इसविध संसार को दीजिये। तिलोदक।।अ. ११-१०।।

इस अध्याय में शांत और अद्‌भुत रसका का संगम है। इस अध्याय को ज्ञानेश जी ने प्रयाग तीर्थराज की उपमा दी है। अतः किसी को भी प्रयाग माधव विश्वरूप का दर्शन होकर संसार को तिलांजलि देना शक्य होगा। जिनकी कृपा से यह अशक्य कार्य की सिद्धि होगी उन समर्थ श्री गुरु निवृत्तिनाथ को नमन करके श्री ज्ञानदेव कहते हैं।-

यह संपूर्ण विश्व सर्वेश्वर मय है, यह अर्जुन की बुद्धी ने मान लिया किंतु उसका दर्शन प्रत्यक्ष होवे इसलिये अर्जुन उत्कंठित हुआ। सभीत अर्जुन ने देव को विनति की कि मुझे आपने अध्यात्मज्ञान कथन किया, इससे मेरा मोहनाश हुआ है। साथ ही साथ आपका मूलरूप देखने की मुझे उत्कंठा लगी है। आपका औदार्य प्रसिद्ध है। शिशुपाल, पूतनादि को भी आपने मोक्ष प्रदान किया है। मैं तो आपका हूं। आप मुझे विश्वरूप निःसंशय दिखाओगे किंतु मेरी योग्यता न होने के कारण वह मैं देख सकूंगा या नहीं यह प्रश्न है। विश्वरूप दर्शन दिखाने के लिये भगवान भी उत्कंठित थे। पार्थ ने विनति करते ही भगवान विश्वरूपमय हो गये। और बोले देख अर्जुन मेरा विश्वरूप देख। परंतु अर्जुन को दिव्य दृष्टि न होने के कारण वह विश्वरूप न दिख सका। उत्कंठित अवस्था में स्तब्ध खड़ा रहा तब भगवान ने उसको दिव्य दृष्टि प्रदान करके विश्वरूप देखने लायक समर्थ किया।

चराचर विश्व की अनादि भूमिका यह विश्वरूप वह अर्जुन देखने लगा। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। सब सृष्टि की रचना नष्ट हो गयी। अर्जुन के मन का मनत्व (चंचलत्व) नष्ट होकर उसको स्वरूप समाधान प्राप्त हुआ, किंतु विश्वरूपान्तर्गत विकराल रूप देखकर अर्जुन भयभीत हुआ और उसने आंखें बंद कर लीं। किंतु दिव्य दृष्टि के प्रभाव से नेत्र बंद होते हुए भी उसको विश्वरूप दर्शन न हो रहा था। महर्षि व्यासजी की कृपा से संजय को भी विश्वरूप दर्शन हुआ और वह आनंदित हुआ।

विश्वरूप का तेज सहस्त्र सूर्य के तेज से भी बढ़कर था। विश्वरूप देखते ही अर्जुन का द्वैत भाव नष्ट होकर वह भी विश्वरूप में समाविष्ट हो गया। सात्विक भाव संपन्न होकर ब्रह्मानंदाधिष्ठित हो गया। आनंद की बाढ़ कम होते ही अर्जुन ने भगवान का स्तवन किया।

मैं मारक और कौरव मर्त्य हैं इस अहंकार से अर्जुन ग्रस्त था। इस अहंकार का नाश करने के लिये ही श्रीकृष्ण ने विश्वरूपदर्शन का उपक्रम किया, किंतु यह न समझने के कारण अर्जुन शोक करता रहा।

अर्जुन का शोक नाश करने के लिये भगवान कहते हैं, सर्व संहारक मैं हूं। किंतु इस संहार से पांडवों का रक्षण होगा। बड़े बड़े योद्धाओं को मैंने मृत्तिका चित्रवत् पहले ही निर्जीव किया है। अब अर्जुन ने शत्रु को मार डाला ऐसी प्रसिद्धि जग में होनेवाली है। वह कार्य तू मत कर।

इसप्रकार भगवान भाषण करते थे और शरणागत अर्जुन श्रवण करता था। वह विचार करता था, सांप्रत स्थिति काल होते हुये भी भगवान यह प्रलयकाल का संहारक रूप क्यों कर दिखाते हैं? इसपर भगवान समाधान

Funding by IKS-MoE

करते हैं। यह संहारक रूप केवल दोनों सैन्य के संबंधित मर्यादित है। अन्य लोगों की भी योग्य समय में मृत्यु होगी।

श्रीकृष्ण का अनादि निर्गुण रूप ही विश्वरूप से विस्तरित हुआ है ऐसा अर्जुन ने पक्का समझ लिया। अभीतक वह श्रीकृष्ण को अपने समान ही समझकर भगवान की मस्करी करता था, विशेष प्रसंग में अवहेलना भी करता था। पश्चातापदग्ध अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है। हे भगवान मेरे घोर अपराधों की क्षमा करके मुझे।. सगुण चतुर्भुज रूप का दर्शन कराइये।

किसीं को भी आज तक प्राप्त नहीं हुई ऐसी वस्तु मैंने अर्जुन को प्रदान की थी। परंतु वह लेने से नकार कर रहा है, इसपर भगवान को क्रोध आया। देह त्यागकर छाया को पकड़ने वाला यह पागलपन है, ऐसा कहकर भक्त प्रेमवश भगवान फिर से चतुर्भज हो गये। तत्काल अर्जुन को सर्व दृश्य जगत पूर्ववत दीखने लगा। अंत में भगवान महत्व का उपदेश देते हैं। धेनु जंगल में चरती है, किंतु उसका चित्त गृह स्थित वत्स पर रहता है, वैसेहि तू मेरे विश्वरूप पर सत्य प्रेम रखकर मर्यादित चतुर्भुज रूप पर बाह्यात्कारी प्रेम रखना। यदि चित्त अनन्य भक्तिपूर्ण हो, तब अहंकार नष्ट होकर मैं विश्वरूप हूं ऐसी अनुभूति प्राप्त होती है।

सगुण रूप श्रेष्ठ या निर्गुणरूप श्रेष्ठ यह प्रश्न अर्जुन भगवान से ऐसे चातुर्य से करता है कि भगवान अप्रसन्न न हो, और यहां से द्वादश अध्याय का प्रारंभ होता है। (११-७०८)

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - ग्यारहवाँ

एकादश अध्याय में इस। कथारूप में दोनों रस। यहां विश्वरूप दर्शन विशेष। लाभ पार्थ को।।१।। जहां शांति के सदन। आवत अद्‌भुत मेहमान। और भी अतिथि रस अन्य। पावत मान।।२।। अहो वधु-वर मिलन-। समय में बारातियों को भी वस्त्राभूषण। प्राप्त वैसे देशिया के सुखा-सन। में विराजत रस।।३।। किंतु इनमें शांताद्‌भुत विशेष। लीजे चक्षु अंजुली से खास। जहां हरिहर प्रेमभाव सुरस। मिलन होत।।४।। नातर अमावस के दिन। दोनों बिंबों का होत मिलन। वैसे उभय रस का ऐक्य पूर्ण। होत यहां।।५।। मीनत गंगा जमुना के जलौध। वैसे रसों का होत प्रयाग। अतः सुस्नात होत जग। संपूर्ण यहां।।६।। मध्य में गीता सरस्वती गुप्त। और दोनों रस रूप ओघ मूर्त। इसलिये त्रिवेणी संगम यथार्थ। हुआ सत्य।।७।। मात्र श्रवण के द्वारा। प्रवेश तीर्थ में सुलभ सुधीरा। ज्ञानदेव कहे दातार मेरा। कृपासिंधु।।८।। नीर संस्कृत का गहन। तोड़कर प्राकृत शब्द सोपान। विरचित धर्म निधान। श्री निवृत्ति देवने।।९।। अतः सद्‌भाव से यहां नहाइये। प्रयाग माधव विश्वरूप देखिये। इसविध संसार को दीजिये। तिलोदक।।१०।। देखिये यहां सावयव। बहरत पूर्ण रसभाव। जहां श्रवणसुख की राणीव (राज्य)। प्राप्त जग को।।११।। यहां शांताद्रभुत रस प्रत्यक्ष। अन्य रसों को भी रूप विशेष। किंबहुना मूर्त स्वरूप से मोक्ष। प्रकट होत।।१२।। सो यह अध्याय एकादश। जो स्वयं देव का निवास। अर्जुन भाग्यवन्त विशेष। जो उपस्थित यहां।।१३।। अकेला ही क्यों पार्थ।

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - ग्यारहवाँ

इस ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को विराट रूप दर्शन का विशेष लाभ हुआ है। इस कथा में दो रस प्रमुख रूप से भरे हैं।।१।। यहां शांत रस मुख्य है और उसके घर अद्‌भुत रस मेहमान आया हुआ है। साथ ही दूसरे रस भी आतिथ्य स्वीकार करने आये हैं और उनको उचित सम्मान प्राप्त हुआ है।।२।। हे श्रोतागण! जैसे वधु वर के विवाह के समय वधु वर के समान बारातियों को भी अच्छे-अच्छे वस्त्र एवं आभूषण देकर सम्मानित किया जाता है, वैसे ही यहां देशी भाषा के सुखद आसन पर सब रस विराजमान हैं।।३।। परंतु हरि और हर के समान परस्पर को प्रेमपूर्वक आलिंगन दिये हुये शांत और अद्‌भुत रस विशेष रूप से प्रकट हुए हैं। उनको आंखों की अंजुलि में समेट लेना चाहिये।।४।। अथवा अमावस के पर्व-काल में जिस प्रकार सूर्य और चंद्रमा दोनों के मंडल एकत्र हो जाते हैं उसी प्रकार दोनों रसों का मिलाप इस अध्याय में हुआ है।।५।। गंगा-जमुना के संगम के समान इन दोनों रसों का संगम इस अध्याय में हुआ है, जिससे यहां प्रयाग क्षेत्र बना है। इसीलिये सारा जगत् इस पवित्र तीर्थ में स्नान करके निर्मल हो सकता है।।६।। इन दोनों प्रवाहों के मध्य में गीतारूपी गुप्त सरस्वती के साथ यहां साक्षात् त्रिवेणी संगम ही हुआ है।।७।। श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि कृपा के सागर मेरे श्री गुरुदेव ने, मात्र श्रवण के द्वारा इस तीर्थ में प्रवेश करना सामान्य जन को सुलभ कर दिया है।।८।। मेरे गुरुदेव श्री निवृत्तिनाथ, ने संस्कृतरूपी कठिन तीर को छांट क़र प्राकृत भाषा के शब्द-सोपान बना दिये हैं, जो धर्म के निधान हैं।।९।। इस त्रिवेणी में आप सब बड़े प्रेम से स्नान कीजिये, विश्वरूपी प्रयाग माधव का दर्शन कीजिये, और इस प्रकार प्रपंच को तिलांजलि दीजिये।।१०।। यहां मूर्तिमान रसभावों की ऐसी बहार आई है कि श्रवण सुख को मानों राज्य ही मिला है, ऐसा प्रतीत होता है।।११।। इस अध्याय गें शांत रस और अद्‌भुत रस प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हुए हैं और अन्य रसों की भी विशेष महिमा दिखाई देती है। किंतु यह उपमा भी अल्प ही है। यहां तो साक्षात् मोक्ष सुख ही प्रकट हुआ है।।१२।। ऐसा यह ग्यारहवां अध्याय, जो प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण देव का स्वयं का विश्रांति स्थान है। और अर्जुन तो विशेष भाग्यवान हैं जो कि इस समय यहां उपस्थित हैं।।१३।। केवल अर्जुन ही अकेला यहां पहुंचा ऐसा

Funding by IKS-MoE

सबको सुयोग प्राप्त। जो प्रत्यक्ष प्रकट यह गीतार्थ। प्राकृत में आज ।।१४।। इसलिये जी सुनिये। मेरी विनती मानिये। अवधान पूर्ण दीजिये। सज्जनवर ।।१५।। संत सभा सन्मुख। गीता इन मेरी युक्त विशेख। मानिये अपत्य समकक्ष। दुलार से मुझको ।।१६।। तोते को स्वयं पढ़ाइये। पढ़त तव माथा डुलाइये। क्या न रीझत माता देखिये। लीला से बालक के? ।।१७।। वैसे जो-जो मैं कहत। प्रभु आपसे ही मुझको प्राप्त। इसलिये करो श्रवण बात। अपनी ही देव ।।१८।। यह सारस्वत रस का अंकुर। आपने लगाया मधुर। अवधानामृत को सींचकर। बढ़ाइये स्वयम् ।।१९।। तब बहरेगा यह रसभाव से। झुकेगा नानार्थ फलभार से। पावेगा सुख आपकी कृपा से। जगत समस्त ।।२०।। इस बोल से रीझत संत। कहत वाह! कथन से हम संतुष्ट। अब कहो जो बोलत अनंत। अर्जुन को वहां ।।२१।। तब कहत निवृत्तिदास। यह कृष्णार्जुन संवाद विशेष। मैं अनभिज्ञ असमर्थ खास। किंतु कहलाइये आप ।।२२।। देखिये पर्णभक्षक बन-मर्कट। उनसे कराया लंकेश्वर परास्त। अकेला अर्जुन जीतत। अक्षोहिणी ग्यारह ।।२३।। अतः जो-जो वांछत समर्थ। चराचर में घटत समस्त। वैसे आप सब संत। दो शक्ति मुझको ।।२४।। अब कहूं मैं करो श्रवण। यह गीता भाव नीका पूर्ण। जो वैकुंठ नायक श्रीकृष्ण-। के मुखसे स्त्रवत ।।२५।। धन्य-धन्य ग्रंथ गीता। जो वेद में प्रतिपाद्य देवता। वह श्रीकृष्ण स्वयं वक्ता। जिस ग्रंथ का ।।२६।। उसका गौरव कैसा बखानिये?। जहां शंभुमति कुंठित होवे। वह अब जीवभाव से वंदिये। यही युक्त ।।२७।। अब सुनो किस विध पार्थ!।विश्वरूप दर्शन प्रीत्यर्थ। कैसी करत चतुर बात। चतुरता से ।।२८।। यह समस्त जग सर्वेश्वर। ऐसा प्रतीति गत जो प्रकार। कैसे होवे दृष्टिगोचर। बाह्यचक्षु से ।।२९।। ऐसी जो मन में आस। कैसे कहूं प्रभुको प्रत्यक्ष। जो यह विश्वरूप गुह्य विशेष। मुझको दिखाइये ।।३०।। पहले किसी ने कोई। प्रिय जन ने कभी पूछा नहीं। कैसे कहूं सहसा सब ही। बताओ मुझको ।।३१।। मानूं मैं मित्र खास। क्या माता से भी प्रिय विशेष?। वह भी प्रसंग में इस। भयभीत मन में ।।३२।। मैंने की सेवा बनी जितनी। किंतु क्या वह गरुड़ के इतनी?। वह भी इस विषय में मौनी। बना साच ।।३३।। क्या मैं सनकादिकों से निकट?। वे भी न पूछत यह बात। क्या मैं प्रिय विशिष्ट। गोकुलवासियों से? ।।३४।। उनको बाल भाव से ठगावत। अंबरीष प्रीत्यर्थ गर्भवास सहत। किंतु यह विश्वरूप रक्षित। न दिखाया

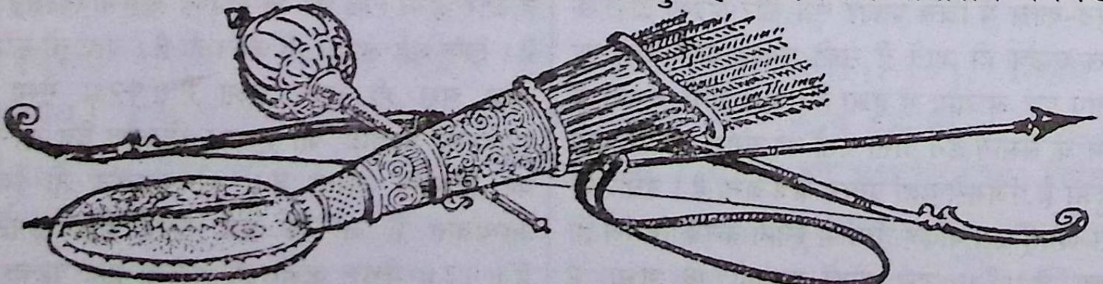

Funding by IKS-MoE

क्यों कहा जाये? आज तो चाहे जिसको, सभी को, यहां पहुंचने का अवसर प्राप्त हुआ है क्योंकि गहन गीतार्थ प्रत्यक्ष प्राकृत भाषा में आज प्रकट हुआ है।।१४।। इसलिये सुनिये! मेरी विनती स्वीकार कीजिये और आप सज्जनवृंद, मेरी ओर अपना पूर्ण ध्यान दीजिये।।१५।। आप जैसे संतों की सभा में, वैसे देखा जाये तो, इस प्रकार ढ़िठाई करना मेरे लिये योग्य नहीं है, तथापि आप मुझे प्रेम से अपने बालक समान समझिये।।१६।। अजी! तोते को आप ही पढ़ाते हैं और जब वह पढ़ने लगता है, तब स्वयं ही माथा डुलाते हैं। अथवा बालक के द्वारा की जाने वाली लीलाओं से क्या माता को संतोष नहीं, होता?।।१७।। इसी प्रकार मैं जो कुछ कहता हूं, हे प्रभु! वह सब आप ही ने सिखाया हुआ है। इसलिये, हे देव! आप अपने ही वचन सुनिये।।१८।। यह विद्यारूपी लता का मधुर अंकुर आप ही ने लगाया है। अब आपके अवधान रूपी अमृत से इसे सींच कर इसकी वृद्धि कीजिये।।१९।। तब यह ज्ञानलता रस, भाव रूपी फूलों से फूलेगी, अनेक अर्थरूपी फलों की बहार से फलकर झुकेगी और आप के निमित्त से संपूर्ण जग इससे सुख पावेगा।।२०।। ज्ञानदेवजी के इन वचनों से संतों को आनंद हुआ। वे बोले वाह! शाबाश! हमें बहुत संतोष हुआ है। अब अर्जुन को श्री अनंत ने क्या कहा उसका वर्णन करो।।२१।। तब श्री निवृत्तिनाथ के दास श्री ज्ञानदेवजी ने कहा- ''जी, मैं अनभिज्ञ और असमर्थ भला श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद का वर्णन करना क्या जानूं? परंतु आप ही मुझ से कहलवाइये।।२२।। देखिये, वन में पत्तियां खानेवाले बंदरों से आपने, लंकेश्वर रावण का पराजय करा दिया। अथवा क्या अकेले अर्जुन ने ग्यारह अक्षौहिणी सेना नहीं जीत ली?।।२३।। इसीलिये समर्थ-जन जो-जो चाहते हैं, वही सब इस चराचर में होता है। अतः अब आप सब संतगण मुझे निरूपण करने की शक्ति दीजिये।।२४।। सुनिये, अब मैं वैकुंठपति श्रीकृष्ण के मुख से निकला हुआ गीता-भाव का वर्णन करता हूं।।२५।। धन्य-धन्य गीता ग्रंथ जो अत्यंत श्रेष्ठ है और जिसमें वेदों में प्रतिपाद्य देव, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही ग्रंथ का वक्ता है।।२६।। उस ग्रंथ की महिमा का क्या वर्णन किया जाये जिसे भगवान श्री शंकरजी की बुद्धि भी आकलन न कर सकी। इसलिये जीव-भाव से वंदन करना ही योग्य है।।२७।। अब इसके आगे अर्जुन, विश्वरूप दर्शन का हेतु मन में रखकर कैसा चतुराई से अपनी बात प्रस्तुत करता है वह सुनिये!।।२८।। अर्जुन को अनुभव से ऐसा प्रतीत हुआ था कि यह सब जगत सर्वेश्वर ही है, अब वह बाह्य चक्षु से प्रत्यक्ष कैसे दिखाई दे?।।२९।। यही उसके अंतःकरण की इच्छा थी। परंतु यह बात भगवान से प्रत्यक्ष कैसे पूछना कि वह विश्वरूप, जो अति गुह्य है, वह मुझे दिखाइये।।३०।। इससे पहले कभी किसी भक्त ने जो बात नहीं पूछी उसके लिये सहसा, ''मुझे दिखाइये यह मैं कैसे कहूं यह आप ही बताइये''।।३१।। माना कि मैं प्रभू का खास मित्र हूं, पर क्या माता लक्ष्मी से भी अधिक प्रिय हूं? वह भी यह बात पूछने के लिये मन में भयभीत हुई।।३२।। मैंने प्रभू की जितनी बनी उतनी सेवा की है परंतु क्या वह पक्षीराज गरुड़ की सेवा के बराबर हो सकती है? परंतु उसने भी यह बात मुंह से कभी नहीं निकाली, मौन ही धारण किया।।३३।। क्या मैं सनकादिक मुनियों से भी भगवान को अधिक प्रिय हूं? किंतु उन्होंने भी यह बात नहीं पूछी। क्या मैं गोकुलवासियों से भी देव को अधिक प्रिय हो सकता हूं?।।३४।। तथापि उन्हें भी भगवान ने बालापन में

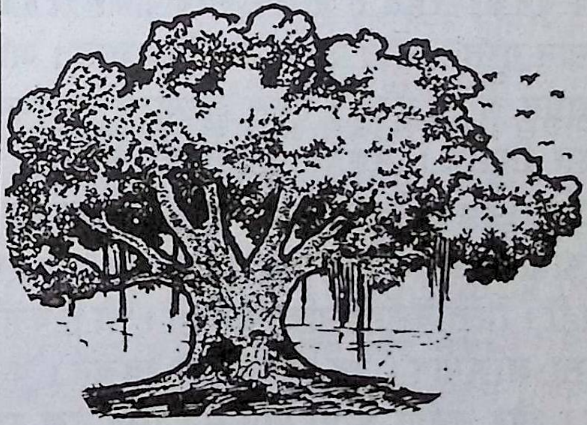

Funding by IKS-MoE

किसीको।।३५।। अंतरंग की यह गुप्त बात। कैसे पूछूं मैं अकस्मात। और यदि विश्वरूप दर्शन से वंचित। जीना दुश्वार मेरा।।३६/३७।। अतः पूछूं मैं क्रम-क्रम से। भगवान को भाये जैसे। सभय प्रवर्तत इस विचार से। पार्थ तब।।३८।। कहत अति कुशलता से। जो एक-दो प्रश्नोत्तर से। प्रभु दिखावत विश्वरूप प्रेम से। संपूर्ण उसको।।३९।। अहो, वत्स दृष्टि से निहारत। त्वरित प्रेम से धेनु उठत। स्तनमुख की जब होवे भेंट। क्या रोकत दुग्ध?।।४०।। जिन पांडव प्रीत्यर्थ। वन में भी रक्षत अच्युत। जब वह अर्जुन स्वयं पूछत। मौन रहेगा कैसे?।।४१।। स्नेहमूर्ति साक्षात कृष्ण!। और प्रिय खाद्यविषय अर्जुन!। ऐसे ऐक्यभाव में पृथकपन। शेष यही विशेष?।।४२।। अतः पार्थ के प्रश्न से। प्रभु विश्वरूप होत अपने से। वह प्रसंग प्रारंभ से। सुनिये अब।।४३।।

अर्जुन उवाच–

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

तब पार्थ कहत हे कृष्ण!। जी, आपने मेरे कारण। प्रकट किया जो गुह्य कथन। कृपानिधे।।४४।। जब ब्रह्म में महाभूत मीनत। जीव महदादि लुप्त होत। तब जो देव बनकर रहत। अंतिम स्वरूप वह।।४५।। जो हृदय मंदिर में सुप्त। कृपण के समान गुप्त। शब्द ब्रह्म को भी अज्ञात। अति गूढ़।।४६।। वह आज आपने सदय। मुझप्रत खोला हृदय। जिस अध्यात्म पर किया ऐश्वर्य। निछावर हरने।।४७।। वह वस्तु विशेष। मुझको तुरन्त ही सर्वेश। यदि कहूं तो आवत दोष। ऐक्य को अपने।।४८।। किंतु साथ महापुर में अच्युत। डूबा मैं मस्तक पर्यंत। आपने डुबकी लगाकर स्वतः। निकाला मुझको।।४९।। एक आप बिन कोई। दूजी भाषा विश्व में नाहीं। किंतु देखो हमारा कर्म ही। जो है कहत।।५०।। मैं जग में एक अर्जुन। मानत ऐसा अभिमान। इन कौरवों को स्वजन। कहत अपना।।५१।। इनकी हत्या करूंगा मैं। और बनूंगा भागी पाप मैं। ऐसा देखूं स्वप्न में। तब जगाया प्रभु!।।५२।। देव गंधर्व नगरी की वस्ती। छोड़कर निकाला हे लक्ष्मीपति। जो अब तक उदक के आर्ती-। से रोहिणी पिबत।।५३।। सांप साच कपड़े का अच्युत। किंतु विषोर्निकी लहर आवत। मरणासन्न को बचाने का श्रेय सार्थ। लिया आपने।।५४।। अपना प्रतिबिंब न जानत। कुएं में कूदेगा सिंह सांप्रत। उसको बचाना वैसे अनंत। बचाया मुझको।।५५।। मेरा तो दृढ़ निश्चय अच्युत। जो यदि सप्तसमुद्र हो एकत्रित। डूबत जग या आकाश टूटत। न लढूंगा मैं।।५६/५७।। ऐसा अहंकार वर्धमान। दुराग्रह जल में डूबत पूर्ण। अच्छा हुआ जो निकट आप कृष्ण। अन्यथा उबारे कौन?।।५८।। क्या मन में कल्पना। जो न थे उनको गोत्रज माना। और घोर भ्रांति ग्रस्त होना। किंतु रक्षित आपने।।५९।। पूर्वी जलते लाक्षागृह में। तब देहभय ही था उसमें। अब तो

Funding by IKS-MoE

ठगाया और विश्वरूप दर्शन से वंचित रखा। भक्त अंबरीष के लिये स्वयं गर्भवास भी सहा, लेकिन विश्वरूप उसे भी नहीं दिखाया ॥३५॥ जो इतनी गुह्य बात है, जो इनके निज अंतःकरण की वस्तु है, उसे सहसा मैं कैसे पूछ सकता हूं? ॥३६॥ किंतु यदि न पूछूं और विश्वरूप देखे बिना ही रहूं तो मेरा जीवन भी न रह सकेगा ॥३७॥ इसलिये मैं धीरे-धीरे पूछता हूं। फिर भगवान चाहे जो करे। इस प्रकार विचार करके अर्जुन ने डरते-डरते बोलने की हिम्मत की ॥३८॥ परंतु अर्जुन ने इस कुशलता से एक दो प्रश्न किये कि उसे प्रभू ने संपूर्ण विश्वरूप ही खोलकर दिखा दिया ॥३९॥ अजी, बछड़े को देखते ही गाय झटपट प्रेम से उठ खड़ी होती है, तो क्या स्तन को मुंह लगने पर पनियाने बिना ही रहेगी? ॥४०॥ वैसे भी प्रभू, जिन पांडवों के लिये वन में भी रक्षा करने के लिये दौड़ पड़े थे वे अर्जुन के स्वयं प्रश्न करने पर भले मौन कैसे रह सकते हैं? ॥४१॥ वे सहज भाव से ही प्रेम की मूर्ति हैं और उस प्रेम को मानों अर्जुन रूपी नशा खिलाया गया हो। ऐसे मेल के समय भिन्नता रह जाना ही आश्चर्य है! ॥४२॥ इस कारण अर्जुन के पूछते ही भगवान अपने आप ही विश्वरूप हो जायेंगे। ऐसा वह प्रसंग प्रारंभ से अब सुनिये ॥४३॥

इस प्रकार भगवान के वचन सुनकर अर्जुन बोला, हे भगवान! अध्यात्म विषयक वचन अर्थात उपदेश, आपके द्वारा जो किया गया, उससे मेरा मोह नष्ट हुआ है ॥१॥

तब पार्थ ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा- हे कृपानिधि! आपने मेरे लिये, अनिर्वाच्य वस्तु भी, वाणी द्वारा प्रकट कर दी ॥४४॥ चराचर जगत जब ब्रह्म में विलीन होता है, जब महतत्त्व के ठाँव मिट जाते हैं, तब देव जिस स्वरूप में रहते हैं और जो आप का निदान का विश्राम है, ॥४५॥ जो अभी तक आपने अपने हृदय में किसी कृपण के समान जतन कर रखा था जिसे आपने वेदों से भी छिपा रखा था ॥४६॥ वह अपना हृदय आपने मेरे सम्मुख खोल दिया। जिस अध्यात्म-विद्या पर शंकरजी ने अपना ऐश्वर्य निछावर कर दिया ॥४७॥ वह वस्तु, हे स्वामी, आपने मुझे एकदम प्रदान कर दी, यदि ऐसा कहूं तो अपने ऐक्य को दोष आयेगा, क्योंकि वास्तव में हम आप से कहां भिन्न हैं? ॥४८॥ परंतु सचमुच महामोह की बाढ़ में सिर तक डूबा हुआ देखकर हे श्रीहरी, आप ही ने मुझे बाहर निकाला है ॥४९॥ एक आप को छोड़कर जगत् में कोई दूसरी वार्ता नहीं है। परंतु हमारा कर्म देखिये कि हम दूसरी वस्तु है ऐसा समझते हैं ॥५०॥ मैं जगत् में एक अर्जुन हूं, ऐसा मैं शरीर का अभिमान रखता था, और इन कौरवों को मैं अपना गोत्रज समझता था ॥५१॥ और यदि इनकी हत्या करूंगा तो मैं भारी पाप का भागी होऊंगा ऐसा सोचते हुए मानो दुःस्वप्न देख रहा था। इतने में, हे प्रभु! आपने मुझे जगा दिया ॥५२॥ हे लक्ष्मीपति! गंधर्व नगरी की बस्ती छोड़कर पानी पीने की इच्छा से मैं मृगजल ही पी रहा था ॥५३॥ देखिये! सांप तो कपड़े का ही था परंतु उसकी लहरें सत्य प्रतीत होती थीं। इस प्रकार व्यर्थ मरते हुए को जीवनदान देने का पुण्य आपने लिया है ॥५४॥ हे अनन्त! अपनी परछाई न पहचानने वाले सिंह को कुएं में गिरते हुए देखकर जैसे कोई थाम ले, उसी प्रकार आपने मेरी रक्षा की है ॥५५॥ नहीं तो मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चाहे सातों समुद्र इकट्ठे हो जायें, ॥५६॥ चाहे यह संपूर्ण जगत् डूब जाये, चाहे ऊपर से आकाश टूट पड़े तो भी मैं इन गोत्रजों से युद्ध नहीं करूंगा ॥५७॥ मेरा अहंकार इतना बढ़ गया था कि मैं दुराग्रह रूपी जल में पूर्णतः डूब गया था। अच्छा ही हुआ हे कृष्ण!। आप मेरे पास थे, अन्यथा मुझे कौन बाहर निकालता? ॥५८॥ वास्तव में ये कौरव मेरे कोई न होते हुए भी मैंने व्यर्थ ही कल्पना से उनको अपना गोत्रज माना और इस प्रकार अत्यंत भ्रम से पागल हो रहा था। ऐसी मनस्थिति में आपने मेरी रक्षा की ॥५९॥ पहले भी आपने हमें एक बार लाक्षागृह में जलने से बचाया था, किंतु तब तो केवल शरीर के ही नाश का भय था, परंतु अब इस दूसरी अग्नि पीड़ा में तो मेरा चैतन्य सहित सब कुछ नाश होने

Funding by IKS-MoE

इस अग्निपीड़ा में। चैतन्य सहित सब ही ।।६०।। हिरण्याक्ष दुराग्रह का अच्युत। मेरी बुद्धि वसुंधरा को ग्रासत। अथाह मोहार्णव में सांप्रत। ले जात मुझको ।।६१।। वहां आपके बोध शक्ति से। बुद्धि प्राप्त हुई भाग्य से। यह दूसरे वराहावतार से। बचाया आपने।।६२।। ऐसे अपार उपकार कृष्ण। वाचा से करूं कैसा वर्णन। जो अर्पित अपने। पंचप्राण मत्प्रीत्यर्थ।।६३।। इसविध हे देवराया। भला सुयश आपने पाया। जो साद्यंत यह माया। निरसित मेरी।।६४।। जी, आनंद सरोवर के कमल। जैसे आपके ये नेत्र कृपाल। सृजत निज प्रसाद राउर विशाल। जिनके लिये।।६५।। उनकी और मोह की भेंट। कैसी अनहोनी बात। जैसी मृगजल की वृष्टि अच्युत। वड़वानल को।।६६।। और मैं तो हे दातार!। प्रविष्ट तव कृपा मंदिर के अंदर। अनुभवत रस मधुर। ब्रह्मरस का।।६७।। उससे मेरा मोह नष्ट। इसमें क्या विस्मय की बात?। आपके चरणों की शपथ। हुआ उद्धार मेरा।।६८।।

भवाप्य यौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया। त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यपि चाव्ययम्।।२।।

हे कमलायत चक्षुसा!। सूर्यकोटि तेजसा!। आपसे आज महेशा!। सुना मैंने।।६९।। जिससे भूतमात्र उत्पन्न। और जिसमें पावत लयपूर्ण। किया यह प्रकृति का विवेचन। विस्तृत रूप से।।७०।। उस मायाका कर्तृत्व। दिखाया परमात्म मूल पीठ। जिसकी महिमा से वस्त्रयुक्त। वेदकृष्ण।।७१।। शब्दराशि वर्धत जीयत। धर्म समान रत्न को सृजत। उसको आपका पदाश्रय प्राप्त। सेवक भाव से।।७२।। ऐसे आघात महात्म्य। जो सकल मार्गैक गम्य। जो स्वात्मानुभव रम्य। दिखाया इसविध।।७३।। जैसे आकाश में अभ्र फटत। सूर्यमण्डल दृष्टि को दिखत। अथवा जब शैवाल हटावत। जल दिखत स्पष्ट।।७४।। सर्प जब छोड़त वेष्टन। तब कि चन्दन को शक्य आलिंगन। अथवा जब पिशाच्च भागते पूर्ण। प्राप्त निधान।।७५।। वैसी प्रकृति जवनिका से आवृत्त। मन्मति को हटाकर अच्युत। परमतत्त्व शैय्या पर स्थित। किया बुद्धि को मेरे।।७६।। अतः इस विषय में कृष्ण। मेरे जीव को भरोसा संपूर्ण। किंतु और एक उत्पन्न। इच्छा अन्य।।७७।। यदि संकोचवश रहूं मौन। किस और को पूछूं प्रश्न। क्या आप बिन ठाँव अन्य। दूजा हमको?।।७८।। यदि जल से जलचर उपकृत। अथवा बालक स्तनपान को सकुचत। तब उनकी जीवनरक्षा का अच्युत। कौन उपाय अन्य?।।७९।। इसलिये संकोच न युक्त। मन को जो भाये कहना स्पष्ट। तब रोककर पार्थ को कहत। क्या इच्छा तब मन में तेरे?।।८०।।

Funding by IKS-MoE

वाला था ।। ६० ।। हे अच्युत! दुराग्रह रूपी हिरण्याक्ष मेरी बुद्धि रूपी पृथ्वी को बगल में दबा कर गहरे मोह समुद्र में सांप्रत मुझे ले जा रहा था ।। ६१ ।। परंतु ऐसे कठिन समय में आपके उपदेश के सामर्थ्य से मेरी खोई हुई बुद्धि बड़े भाग्य से मुझे प्राप्त हुई है। इस प्रसंग से दूसरा वराह रूप लेकर आपने मुझे बचाया है ।। ६२ ।। इस प्रकार हे देवाधिदेव श्रीकृष्ण! आपने मुझ पर अपार उपकार किये हैं उसका वर्णन मैं इस दुर्बल वाचा से कैसा करूं? आपने मेरे लिये अपने पंचप्राण ही समर्पित किये हैं ।। ६३ ।। इस प्रकार हे देवराज! आपने उत्तम यश पाया है, जो आपने मेरी, माया का साद्यंत नाश कर दिया ।। ६४ ।। अजी! आनंद सरोवर के कमल जैसे आपके कृपालु नेत्र जिनके लिये अपना प्रसाद रूपी मंदिर बना दें, ।। ६५ ।। उनकी मोह से भेंट हो यह कैसी असंभव बात है? हे कृष्ण! यह तो ऐसी बात हुई जैसे बड़वानल पर मृगजल की वृष्टि हुई हो ।। ६६ ।। और मैं तो, हे मेरे दातार! आपके कृपा मंदिर के भीतर प्रविष्ट होकर ब्रह्मरस का मधुर आस्वाद ले रहा हूं ।। ६७ ।। अब उससे मेरा मोह नष्ट हुआ इसमें क्या आश्चर्य? मैं आपके चरणों की सौगंध खा कर कहता हूं कि मेरा उद्धार हो गया है ।। ६८ ।।

क्योंकि हे कमलनेत्र! मैंने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना है ।। २ ।।

हे कमलपत्र के समान विशाल नेत्रोंवाले, हे कोटी सूर्य के समान तेजस्वी महेश! मैंने आज आपका निरूपण सुना ।। ६९ ।। आपने कहा कि जिससे ये प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं अथवा जिसमें वे सब विलीन होते हैं, वह है प्रकृति। उसका विस्तृत वर्णन आपने किया है ।। ७० ।। उस प्रकृति का स्वरूप, उसका आश्रय एवं उसका क्रिया कलाप आपने बतलाया। वैसे ही परमात्मा तत्त्व का। वह मूल रूप भी दिखाया, जिस परम पुरुष के महिमा रूपी आच्छादन के कारण वेदों को वस्त्र युक्त कहते हैं, ।। ७१ ।। जो परमात्म तत्त्व वेदस्वरूप शब्दराशी सर्वज्ञता के उत्कर्ष को प्राप्त होता है जीवित रहता है तथा धर्म जैसे रत्न उत्पन्न करता है। उसका कारण यही है कि वह आपके चरणों की सेवा सेवक-भाव से करता है ।। ७२ ।। ऐसी जो आपकी अगाध महिमा है, वह अनेक मार्ग से एक ही गंतव्य वस्तु तक जाने का विषय है जो आत्मानुभव द्वारा रममाण होने योग्य है, वह आपने इस (प्रकार) दिखाई, ।। ७३ ।। जैसे आकाश के अभ्र साफ होते ही सूर्यमंडल दिखाई देने लगता है। अथवा हाथ से सेवार (शैवाल) हटाते ही जल दिखाई देता है, ।। ७४ ।। अथवा जैसे सांप की लपेटे हटाने पर चंदन की भेंट होती है, अथवा पिशाच्च के भागते ही द्रव्य निधान हाथ में आता है ।। ७५ ।। वैसे ही प्रकृति रूपी परदे से मेरे मति को हटाकर, हे अच्युत! आपने मेरे बुद्धि को परतत्त्व रूपी शैय्या पर सुलाकर स्थिर कर दिया है ।। ७६ ।। हे देव! इन सब बातों का तो मेरे मन में यथार्थ निश्चय हो चुका है, परंतु एक और इच्छा मन में उत्पन्न हुई है ।। ७७ ।। यदि संकोचवश आपसे न पूछूं तो और किससे पूछने जाऊं?। क्या आपके सिवा दूसरा कोई स्थान है हमारे लिये? ।। ७८ ।। जलचर यदि जल का बोझ समझने लगे, अथवा बालक स्तनपान के लिये संकोच करे तो हे अच्युत! उनके

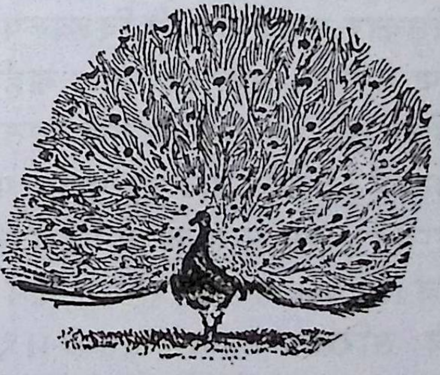

जीवित रहने के लिये क्या कोई दूसरा उपाय है? ।। ७९ ।। इसलिये, मुझसे संकोच नहीं किया जाता। मेरे मन में जो कुछ आता है वह आपके सामने स्पष्ट रूप से कह देता हूं। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, "हे अर्जुन, क्या इच्छा है कहो" ।। ८० ।।

Funding by IKS-MoE

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर। द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

तब बोलत किरीटि। जो आपने कही गोष्टी। उसकी प्रतीति से मेरी दृष्टि। तृप्त पूर्ण।।८१।। अब जिस संकल्प से अच्युत। यह लोकपरंपरा नाशत सृजत। जिस स्थान को आप कहत। स्वयं मैं।।८२।। वह मुद्दल जिससे। चतुर्भुज होकर जहां से। सुर कार्य के मिष से। प्रकटत आप।।८३।। जलशयन से प्रारंभ कर। मत्स्य कूर्मादि अवतार। हे गुनिया, लीला दिखाकर। समावत जिसमें।।८४।। उपनिषद् जिसको गावत। योगीजन हृदय में स्मरत। सनकादिक ठाकत। आलिंगन में जिसके।।८५।। इस विध जो अगाध। लौकिक जिसका प्रसिद्ध। वह विश्वरूप दर्शन को सिद्ध। उत्कंठित चित्त मेरा।।८६।। छोड़कर संकोच निखिल। पूछी प्रीति से इच्छा केवल। देव यहीं एक सबल। आर्ति मुझको।।८७।। आपका विश्वरूप संपूर्ण। होवे दृष्टि को गोचर पूर्ण। ऐसी प्रबल आस कृष्ण। बांधत सम जीव मेरा।।८८।।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो। योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

किंतु हे शार्ङ्गधर!। क्या मैं विश्वरूप के दर्शन के पात्र। क्या मुझमें यह अधिकार। है या नहीं?।।८९।। यह कुछ न जानूं कृष्ण। पूछोगे यदि उसका कारण। क्या रोगी जानत निदान। रोग का अपने?।।९०।। जी प्रबल आर्ति से उत्कंठित। योग्यता स्वयं की विस्मरत आर्त। जैसे तृषार्त की तृष्णा को अच्युत। समुद्र भी कम।।९१।। मैं बालक, भ्रमित मेरा मन। रोक न पाउं इच्छा कृष्ण। किंतु माता को ही साच अनुमान। उसकी योग्यता का।।९२।। वैसा हे जनार्दन!। जानिये मेरा अधिकार पूर्ण। तब ही विश्वरूप दर्शन का। कीजे उपक्रम।।९३।। यदि योग्यता, कृपा करिये। नहीं तो स्पष्ट नाहीं कहिये। वृथा पंचमालाप से कैसा देखिये। सुख बधिर को।।९४।। वैसे क्या चातक की ही तृषा शमवत?। क्या न मेघ वर्षत जग प्रीत्यर्थ?। किंतु यदि वह पत्थर पर जात। व्यर्थ सब।।९५।। चकोर को तो चंद्रामृत प्राप्त?। क्या अन्य को शपथ से निवारत?। किंतु बिन दृष्टि वृथा होत। जैसे प्रकाश सब।।९६।। अतः विश्वरूप आप सहसा। दिखावोगे, हे पूर्ण भरोसा। ज्ञानी-अज्ञानी को सरिसा। भाव आपका।।९७।। आपका औदार्य स्वतंत्र। न कहत आप पात्र-अपात्र। जो कैवल्य देत पवित्र। बैरी को भी अपने।।९८।। मोक्ष दुरासाध्य सत्य। वह भी तव पादसेवा में व्यस्त। जहां भेजत वहां जात। पाईक जैसा।।९९।। दिया सनकादिकों के समान। पूतना को सायुज्य सौरस का सम्मान। आई जो मिष से विषस्तन पान। घातिनी बनकर।।१००।। जी, राजसूय यज्ञ में कृष्ण। देखत त्रिभुवन के सभाजन। कैसे शतधा दुर्वाक्य अपमान। सहत आप।।१।। ऐसा अपराधी शिशुपाल। दी स्वरूपता गोपाल। और क्या उत्तानपाद के बाल-। को इच्छा ध्रुवपद की।।२।। वह तो बन आया लक्ष्मीवर। बैठने पिता के उत्संग पर। किया उसको जगमें स्तुतिपात्र। चंद्रसूर्य से भी आपने।।३।। ऐसा आर्तों को सकल। उदार दाता

अर्जुन ने कहा हे परमेश्वर! आप अपने को जैसा कहते हो वह ठीक वैसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त रूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूं।।३।।

तब किरीटि ने कहा कि आपने जो निरूपण किया उससे मेरी प्रतीति की दृष्टि संतुष्ट हुई है।।८१।। अब जिसके संकल्प से यह लोक-परंपरा उत्पन्न और विलीन होती है, जिस स्थान को आप स्वयं "मैं" कहते।।८२।। आपका वह मूल स्वरूप, जहां से आप देवताओं के कार्य के मिष से यह दो भुजावाले और चार भुजावाले रूप लेकर होते हो।।८३।। जहां जलाशय से प्रारंभ करके मत्स्य, कूर्म इत्यादि लीला-रूप दिखाकर उन्हें, खेल समाप्त होते ही किसी जादूगर के समान, अपनी झोली में समेट लेते हो।।८४।। जिसे उपनिषद् गाते हैं, योगीजन अपने हृदय में प्रवेश कर देखते हैं, सनकादिक जिसे आलिंगन दिये हुये हैं।।८५।। ऐसा आपका जो अगाध विश्वरूप है और जिसकी प्रसिद्धि मैंने कानों से सुनी है, उसे देखने के लिये मेरा उतावला चित्त सिद्ध हुआ है।।८६।। हे देव! आपने मेरा संकोच छुड़ाकर प्रेम से जो मेरी इच्छा पूछी, सो यही एक मेरी बड़ी इच्छा है।।८७।। संपूर्ण विश्वरूप मेरे दृष्टि को गोचर हो, यही एक प्रबल अभिलाषा बांधे हुये मेरा मन प्रतीक्षा कर रहा है।।८८।।

इसलिये हे प्रभो! मेरे द्वारा आप का वह रूप देखा जाना संभव है ऐसा यदि आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! आप अपने अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये।।४।।

परंतु हे शार्ङ्गधर! क्या मैं विश्वरूप दर्शन के लिये पात्र हूं?। मुझमें यह अधिकार है या नहीं।।८९।। यह मैं अपने आप नहीं जानता। यदि आप पूछोगे कि क्यों नहीं जानता, तो हे देव! क्या रोगी स्वयं अपने रोग का निदान जानता है?।।९०।। अजी, उत्कंठा की आसक्ति से आर्त, अपनी योग्यता भूल जाता है। जैसे प्यासा समझता है, मेरी प्यास बुझाने के लिये समुद्र भी कम ही है।।९१।। मैं बालक हूं, मेरा मन भ्रम से ग्रसित है। मैं अपनी इच्छा को रोक नहीं सकता। इसलिये हे कृष्ण! जैसे माता ही अपने बालक की योग्यता जानती है,।।९२।। वैसे ही हे जनार्दन! यदि आप मेरा अधिकार समझते हैं, तो ही विश्वरूप दर्शन का उपक्रम कीजिये।।९३।। ऐसी योग्यता यदि मुझमें है, तो ही विश्वदर्शन की कृपा कीजिये, अन्यथा सीधा "ना" कहिये। सुनिये! पंचम स्वर के आलाप से भला क्या बहरे को सुख दिया जा सकता है?।।९४।। यों तो चातक की तृषा के लिये ही मेघ वर्षा करता है, परंतु क्या वह मेघ संपूर्ण जगत् के लिये वर्षा नहीं करता? किंतु यदि वर्षा चट्टान पर होती है, तो वह व्यर्थ होती है।।९५।। चकोर को चंद्रामृत प्राप्त होता है, तो क्या अन्य पक्षियों के लिये वही चंद्रामृत शपथ देकर मना किया जाता है?। परंतु दृष्टि बिना प्रकाश जैसे व्यर्थ होता है, वैसे ही बिना योग्यता के विश्वरूप दिखाना भी निष्फल होगा।।९६।। इसलिये, आप विश्वरूप दिखावेंगे ही इसका मुझे पूर्ण विश्वास है, क्योंकि ज्ञानी एवं अज्ञानी भक्तों के विषय में आप समान भाव रखते हैं।।९७।। मैं जानता हूं कि आपकी उदारता स्वतंत्र है। देते समय आप पात्र-अपात्र का विचार नहीं करते। कैवल्य जैसी पवित्र वस्तु भी आपने अपने बैरियों को दे दी है।।९८।। वास्तव में, मोक्ष बड़ी कठिनता से प्राप्त होनेवाला है, परंतु वह भी आपकी सेवा में निरन्तर रत रहता है। आप जहां भेजते हो वहां सेवक की भांति जाता है।।९९।। घात करने के लिये, स्तन में विष भर कर आयी हुई पूतना को आपने सनकादिकों के समान सायुज्य मुक्ति का माधुर्य दिया।।१००।। अजी, राजसूय यज्ञ में त्रिभुवन के बड़े-बड़े सभाजनों के सामने शतशः दुःशब्दों से किया हुआ अपमान आपने सहन ही नहीं किया वरन्,।।१।। ऐसे अपराधी शिशुपाल को भी, हे गोपाल! आपने अपना पद दिया, अर्थात उसे सरूप मुक्ति दी। और क्या उत्तानपाद राजा के पुत्र ध्रुव को ध्रुवपद प्राप्ति की इच्छा थी?।।२।। नहीं, वह तो हे लक्ष्मीवर! बन में आया था कि वह अपने पिता की गोद में बैठ सके, परन्तु आपने तो उसे अटल पद देकर जगत् में चंद्र-सूर्य की अपेक्षा भी श्रेष्ठ बना दिया।।३।। इस प्रकार हे उदार! सब आर्तों के लिये आप ही एक दाता हैं। पुत्र के मिष से

आप केवल। पुत्र मिष से बाहें अजामिल। दिया आत्मपद उसको।।४।। करे वक्षपर लत्ता प्रहार। भूषण सम रखत हृदय पर। धारण करत कलेवर। वैरी का हस्त में।।५।। ऐसा अपकारियों को उपकार। अपात्री को भी उदार। बने द्वारपाल याचक हो कर। बलिराज के आप।।६।। न किया आपका आराधन। कौतुक से 'शुक को संबोधन। उस गणिका को वैकुंठ में स्थान। दिया आपने।।७।। ऐसे क्षुद्रमिष से देत। स्वस्वरूप अकस्मात। सो क्या मुझको अन्य गति अच्युत। दोगे आप?।।८।। देखो गोरस के अधिकार से। जग का संकट निवारत जैसे। उस कामधेनु के वत्स कैसे?। क्षुधित होत?।।९।। अतः जो मैं बिनती करत। न दिखावेंगे न ऐसी बात। किंतु दीजिये पात्रता यथार्थ। दर्शन की कृष्ण।।११०।। तब विश्वरूप का आकलन। होत यदि मम चक्षुसे जान। तब मेरी आर्ति पूर्ण। करो आप।।११।। ऐसी उचित विनति। करत जब सुभद्रापति। तब वह षड्गुण चक्रवर्ती। सह न पावे।।१२।। कृपापीयूष सजल। और निकट वर्षाकाल। अथवा श्रीकृष्ण कोकिल। वसंत अर्जुन।।१३।। देखकर चंद्रबिंब पूर्ण। आवे क्षीरसागर को उफान। वैसे द्विगुन से भी अधिक श्रीकृष्ण। उल्लसित होत।।१४।। उस प्रसन्नता का आवेश। कहत, सगर्जन विश्वेष। पार्थ देख-देख बहुवस। स्वरूप मेरे!।।१५।। एक विश्वरूप दर्शन का। मनोरथ हुआ पाण्डव का। कराया विश्वरूप मय जग का। बोध उसको।।१६।। धन्य प्रभु का औदार्य अपरिमित। याचक इच्छा के सदोदित। सहस्त्रगुन से देत। सर्वस्व अपना।।१७।। 'शेष चक्षु को अदृष्ट। वेद जिसके लिये भ्रमित। लक्ष्मी से ही रक्षित। अति गुह्य जो।।१८।। वह सांप्रत प्रकट विविध। विश्वरूप करत विरुद। अहोभाग्य अगाध!। पार्थ का देखो।।१९।। जागृत स्वप्न में प्रवेशत। तब स्वप्नसृष्टि स्वयं होत। वैसे ब्रह्मकटाह अनंत। हुआ स्वयम।।१२०।। ऐसी की मुद्रा सहसा प्रकट। स्थूल दृष्टि की जवनिका हुई नष्ट। किंबहुना दिखाई स्पष्ट। योगऋद्धि।।२१।। किंतु देख या न देख सके अर्जुन। न दिया किंचित भी ध्यान। देख-देख मेरा रूप पूर्ण। कहत स्नेहातुर।।२२।।

श्री भगवान उवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनिच।।५।।

अर्जुन तुमने चाहा एक। वही दिखाऊं तो क्या दिखाया देख। अतः देख अब व्याप्त विश्व अशेख। मत्स्वरूप में पूर्ण।।२३।। एक कृश एक स्थूल। एक हृस्व एक विशाल। पृथुतर सरल। अप्रांत एक।।२४।। एक अनावर प्रांजल। सव्यापार एक निश्चल। उदासीन एक स्नेहल। तीव्र एक।।२५।। एक धुर्मित एक सावद्य। असलग एक अगाध। एक उदार अतिबद्ध। कृद्ध एक।।२६।। एक 'शांत मन्मद। स्तब्ध एक सानंद। गर्जित एक निःशब्द। सौम्य एक।।२७।। एक साभिलाष विरक्त। जागृत एक निद्रित। परितुष्ट एक आर्त। प्रसन्न एक।।२८।। एक अशस्त्र सशस्त्र। रौद्र

Funding by IKS-MoE

"नारायण" नाम से बुलाते हुये अजामिल पापी को आपने अपना निज स्वरूप दिया।।४।। हे दाता! जिसने आपकी छाती पर क्रोध से लत्ता-प्रहार किया, उस भृगु ऋषि के चरणचिन्ह को आप भूषण समझकर उसे अपने हृदय पर धारण किया है। समुद्र में वेद को डुबानेवाले शत्रु शंखासुर का आपने नाश तो किया परन्तु उसके शरीर को, अर्थात् शंख को आप अभी तक अपने हाथ में भूषण रूप धारण किये हैं।।५।। इस प्रकार अपकार करनेवालों पर भी आप उपकार करते हैं, तथा जो कुपात्र हैं उन्हें भी आप उदारता दिखाते हैं। राजा बलि ने आपको त्रिपाद भूमि का दान दिया, इस कारण आप उसके द्वार पर द्वारपाल बन गये।।६।। जो गणिका न कभी आपकी पूजा करती थी। और न कभी आपके गुणानुवाद सुनती थी, परंतु कुतुहलवश अपने तोते को पुकारती थी उसे भी आपने वैकुंठ में स्थान देकर सुखी किया।।७।। इस प्रकार, क्षुद्र बहाना लेकर आप अपना स्वरूप भक्तों को देने लगते हैं, तो क्या आप मेरे लिये दूसरी गति देंगे?। अजी, अपने अतिरिक्त दूध से। जो जगत् का संकट दूर करती है अर्थात् जगत को दूध देती है उसी कामधेनु के बछड़े क्या भूखे रहेंगे?।।९।। इसलिये मैंने जो कुछ विनती की वह, हे देव! आप पूर्ण न करेंगे ऐसी बात निःश्चय से नहीं होगी, परंतु मुझे देखने की योग्यता दीजिये।।११०।। आपका विश्वरूप देख सकने योग्य यदि मेरी आंखें हों तो, हे देव! मेरी इच्छा का दोहद आप पूर्ण कीजिये।।११।। सुभद्रापति अर्जुन ऐसी यथायोग्य विनती करके ज्योंहि चुप हुआ त्योंहि षड्गुणैश्वर्य मंडित चक्रवर्ती राजा श्रीकृष्ण से रहा नहीं गया।।१२।। वे, मानों दयारूप अमृत से भरे मेघ हों और अर्जुन समीप आया हुआ वर्षाकाल। अथवा श्रीकृष्ण कोकिल और अर्जुन वसंत हो।।१३।। अथवा पूर्ण चंद्रबिंब को देख कर क्षीरसागर जैसे उछलने लगता है, वैसे ही श्रीकृष्ण, प्रेमवश, दुगने से भी अधिक उल्लसित हो गये।।१४।। फिर उस प्रसन्नता के आवेश में दया से गरज कर कहने- हे पार्थ! देखो! देखो मेरे अनेक स्वरूप देखो!।।१५।। अर्जुन ने तो एक ही विश्वरूप की इच्छा की थी, परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे संपूर्ण विश्वरूपमय विश्व का ज्ञान करा दिया।।१६।। देवाधिदेव की उदारता भी असीम है। वे सर्वदा अपने याचक की इच्छा से हजारगुना अधिक अपना सर्वस्व दे देते हैं।।१७।। अजी, जो रूप शेष की आंखों से भी छिपा कर रखा, जिससे वेद भी वंचित रहे और जो हृदय का गुह्य श्री लक्ष्मी जी से भी छिपा कर रखा।।१८।। उसी विश्वकप को भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विविध रीति से स्पष्ट दिखा रहे हैं। देखिये! धन्य अर्जुन का भाग्य कितना अमर्याद है।।१९।। जागृत मनुष्य जब स्वप्नावस्था में जाता है, तब जैसा वह स्वयं ही सब स्वप्न-सृष्टि बन जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण स्वयं ही अनेक ब्रह्मांड बन रहे हैं।।१२०।। इस प्रकार उन्होंने अपना विराट-स्वरूप एकदम प्रकट किया और स्थूल अज्ञान दृष्टि की जवनिका फाड़कर नष्ट कर दी। किंबहुना उन्होंने अपना संपूर्ण योग-ऐश्वर्य ही प्रकट कर दिया।।२१।। परन्तु, इसका उन्हें ध्यान ही न रहा कि अर्जुन यह स्वरूप देख भी सकेगा या नहीं। स्नेह से आतुर होकर वे कहते लगे- देखो!। अर्जुन मेरा यह विश्वरूप देखो!।।२२।।

इस प्रकार अर्जुन के प्रार्थना करने पर श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे पार्थ! मेरे सैकड़ों तथा हजारों प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृतिवाले अलौकिक रूपों को देख।।५।।

हे अर्जुन! तुमने एक स्वरूप दिखाने के लिये कहा और यदि मैंने उतना ही दिखाया तो क्या दिखाया? अब देखो, संपूर्ण विश्व मेरे ही रूपों से भरा है।।२३।। कई कृश हैं तो कई स्थूल, कई-कई विशाल हैं, कई मोटे, कई सरल हैं तो कई अमर्याद हैं।।२४।। कई अवश तो कई सुलभ हैं। कित्येक क्रियाशील हैं तो कित्येक निश्चल, कई उदासीन हैं, कई प्रेमयुक्त और कई अति संतप्त हैं।।२५।। कई नींद में मस्त हैं तो कई सजग, कई अलिप्त तो कई गंभीर, कई उदार तो कई कृपण हैं, कई क्रोधी हैं तो,।।२६।। कई शांत, कोई उत्तम मद से युक्त हैं, कई सानंद हैं, कई गर्जना करने वाले हैं, कई मौनी हैं और कई सौम्य,।।२७।। कई सकाम हैं, कई विरक्त, कई जागृत हैं तो कोई निद्रस्त, कई संतुष्ट तो कई आर्त हैं और कई प्रसन्न हैं।।२८।। कई

Funding by IKS-MoE

एक अतिमित्र। भयानक एक विचित्र। लयस्थ एक।।२९।। एक जननलीला विलासी। एक पालनशील लालसी। एक संहारक तामसी। साक्षीभूत एक।।१३०।। एवं नानाविध बहुवस। और दिव्य तेज प्रकाश। वैसे एक सरिस। वर्ण भी नाहीं।।३१।। एक तप्त सुवर्णसमान। एक अपार कपिलवर्ण। एक नभसम अस्तमान। सिंदूर लिप्त।।३२।। एक सहज सुंदर। ब्रह्मांड रत्नमंडित मनोहर। एक अरुणोदय सम सुघर। कुंकुम वर्ण।।३३।। एक शुद्ध स्फटिक सोज्वल। एक इंद्रनील सुनील। एक अंजनवर्ण कज्जल। रक्तपर्ण एक।।३४।। एक लसत्कांचन सम पीत। जलद शामवर्ण युक्त। एक चंपागौरी सदृश पार्थ। हरित एक।।३५।। एक तप्त ताम्र लाल। एक श्वेतचंद्र निर्मल। ऐसे नाना वर्ण निखिल। देख मेरे।।३६।। ये जैसे भिन्नवर्ण। आकृति भी भिन्न-भिन्न। लज्जित मदन आवे शरण। सौंदर्य ऐसा।।३७।। एक अति लावण्य साकार। एक स्निग्ध वपु मनोहर। श्रृंगार श्री का भांडार। प्रकट जैसा।।३८।। एक पीनावयव मांसल। एक शुष्क अति विक्राल। एक दीर्घ कंठ शिर विशाल। विकट एक।।३९।। एवं नानाविध आकृति। जिनका न पार सुभद्रापति। इन एकेक के अंगप्रांति-। में देखो जग।।१४०।।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। बहून्यंदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

जहां उन्मिलित दृष्टि। होत आदित्यों की सृष्टि। निर्मिलन से किरीटी। पावत लय।।४१।। वदन श्वासोच्छवास सहित। होत ज्वालामय समस्त। जिस ज्वाला से समूह उपजत। अष्टवसुओं का।।४२।। और भूलताओं के छोर भारत। कोप से जहां सम्मिलित। वहां रुद्रगण संघाट। उपजत देख।।४३।। मेरी सौम्य मुद्रा से पार्थ। असंख्य अश्विनी देव सृजत। श्रोत्र से उत्पन्न अगणित। वायु अनेक।।४४।। इस विध एकेक से अखिल। जन्मत सुरसिद्धों के कुल। देखो अपार एवं विशाल। रूप में इस।।४५।। वर्णन को वेद भी कुंठित। दर्शन को काल-आयु अल्प पार्थ। धाता को भी न प्राप्त। ठांव जिनका।।४६।। वेदत्रयी को भी अपरिचित। ऐसे प्रत्यक्ष रूप समस्त। देखकर भोगो आश्चर्य। महासिद्धि का।।४७।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रुष्टुमिच्छसि।।७।।

इस मूर्ति के किरीटी। रोममूल में देख सब सृष्टि। सुरतरुतल में निर्मिति। तृणांकुर को जैसे।।४८।। वातायन रवि प्रकाश से। उड़त परमाणु दिखत जैसे। भ्रमत ब्रह्मकटाह वैसे। अवयव संधि में।।४९।। यहां एकेक प्रदेश में। देखो विश्व

Funding by IKS-MoE

निःशस्त्र तो कई सशस्त्र हैं, कई उग्र हैं तो कई अत्यंत प्रेमल और कई भयानक हैं, कई विचित्र हैं और कई समाधिस्थ हैं।।२९।। कई ब्रह्मा के समान उत्पत्ति कर्मों में निमग्न, तो कई श्री विष्णु के सदृश सात्विक प्रेम, से पालन करने वाले, तो कई महेश के समान तमोगुण से संहार करनेवाले हैं। तथा कई जीवनमुक्त के, समान साक्षी-भाव धारण करनेवाले हैं।।१३०।। इस प्रकार जैसे मेरे नाना विध, दिव्य तेज और प्रकाश से युक्त रूप हैं, वैसे ही वे वर्ण में भी एक दूसरे के समान नहीं हैं।।३१।। कई तप्त सुवर्ण जैसे हैं, कई अपार काले वर्ण के, तो कई अस्तमान आकाश के समान सिंदूरी रंग के हैं।।३२।। कई स्वभावतः रत्नमाणक से जड़े हुए ब्रह्मांड के समान सुंदर हैं, कई अरुणोदय के समान लाल वर्ण के हैं।।३३।। कई निर्मल स्फटिक के समान उज्वल हैं, तो कई इंद्रनील के समान अत्यंत नीले रंग के हैं, कई अंजन के समान काले हैं और कई रक्तवर्ण हैं।।३४।। कई उज्वल सुवर्ण के समान पीले तो कई जल से भरे हुये मेघों के समान सांवले रंग के हैं, कई चंपा के समान गौर वर्ण के हैं, और कई हरे वर्ण के हैं।।३५।। कई तप्त तांबे के समान लाल हैं तो कई श्वेत-चंद्र के समान निर्मल हैं, देव कहते हैं हे अर्जुन! ऐसे मेरे अनेक प्रकार के और अनेक वर्णोवाले रूपों को देखो।।३६।। वर्ण में ये जैसे अलग-अलग हैं वैसे ही इन रूपों की आकृतियां भी भिन्न-भिन्न हैं। कित्येक तो इस तरह सुंदर हैं कि प्रत्यक्ष मदन भी लज्जित होकर शरण में आवे।।३७।। कई असीम लावण्य के साक्षात रूप हैं, कई स्निग्ध, सरस, मन को मोह लेने वाले हैं मानो श्रृंगार लक्ष्मी के भांडार ही प्रकट हुए हों,।।३८।। कई पुष्ट और मांसल अवयवों के बने हैं, कई शुष्क हैं, कई अति विकराल हैं, कई लंबे कंठवाले, तो कई बड़े सिर के हैं और कई भयंकर हैं।।३९।। इस प्रकार इन नाना प्रकार की आकृतियों का पार नहीं है। हे सुभद्रापति, देखो। इनके एक-एक अंग प्रदेश में संपूर्ण जगत भरा है।।१४०।।

भगवान बोले, हे भरतवंशी अर्जुन! मुझमें बारह आदित्यों को अर्थात अदिती के द्वादश पुत्रों को आठ वसुओं को, एकादश रुद्रों को, दोनों अश्विनी कुमारों को और उनंचास मरुदगणों को देख। तथा और भी पहले न देखे हुए बहुत से रूपों को देखो।।६।।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं ज्योंहि मैं दृष्टि खोलता हूं, त्योंहि आदित्यों की सृष्टि उत्पन्न होती है और मेरे दृष्टि बंद करने से उनका लय होता है।।४१।। मेरे मुख से निकलनेवाले श्वास और उच्छवास के साथ सब कुछ ज्वालामय हो जाता है जिससे पावक इत्यादि आठ वसुओं का समुदाय उत्पन्न होता है।।४२।। और क्रोध से जहां दोनों भौंहों की नोंक मिलती है, वहां रुद्रगणों के समुदाय उत्पन्न होते हैं उसे देखो।।४३।। मेरी सौम्य मुद्रा से, हे पार्थ! अनगिनत अश्विनी कुमार उत्पन्न होते हैं । और मेरे कानों से अनेक वायु उत्पन्न होते हैं।।४४।। इस प्रकार मेरे एक-एक अवयव की लीला से देवताओं के और सिद्धों के कुल निर्माण होते हैं। ये ऐसे अपार एवं विशाल रूपों को तुम इस विश्वरूप में देखो।।४५।। जिनका वर्णन करते हुये वेद भी मौन हुए, जिनको देखने के लिये काल की आयु भी अल्प हुई और जिनका ठांव ब्रह्मा को भी नहीं लग सका।।४६।। तीनों वेदों को जिसकी पहचान नहीं हुई, ऐसे ये मेरे रूप हैं। इन्हें प्रत्यक्ष देखकर आश्चर्यकारक लीलाओं का और महासुख का उपभोग लो।।४७।।

और हे निद्रा को जीतनेवाले अर्जुन। अब मेरे इस शरीर में एक ही जगह स्थित, चराचर सहित संपूर्ण जगत् को देखो तथा और भी जो कुछ देखना चाहते हो वह देखो।।७।।

हे किरीटी देखो! इन मूर्तियों के रोम-मूलों में संपूर्ण सृष्टि भरी हुई है। जिस प्रकार कल्पवृक्ष की जड़ के पास तृणांकुरों की निर्मिति होती है, उस प्रकार इन मूर्तियों के रोम-मूलों में संपूर्ण सृष्टि भरी हुई दिखाई दे रही है।।४८।। गवाक्ष से आई हुई सूर्य-किरणों के प्रकाश में परमाणु जैसे उड़ते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही इन अवयवों के संधिस्थानों में अनेक ब्रह्मांड घूम रहे हैं।।४९।। देखो, इन अवयवों के एक-एक भागों में संपूर्ण विश्व विस्तृत

विस्तृत रूप में। और विश्व के पार भी मन में। यदि देखना चाहो।।१५०।। तब उसमें भी सर्वथा। नहीं न्यून तुझको पार्था। देखो सुख से जिसकी आस्था। मेरे स्वरूप में सब।।५१।। ऐसे विश्वमूर्ति कृष्ण। बोलत जब कारुण्य पूर्ण। देखत तब वहां अर्जुन। खड़ा निवान्त।।५२।। क्यों यह स्तब्ध पार्थ। सोचत जब भगवन्त। देखो तब आर्ति में व्यस्त। पहिले ही जैसा।।५३।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

न इसकी उत्कंठा तृप्त। न दर्शनसुख प्राप्त। दिखाया विश्वरूप किंतु हुआ व्यर्थ। न जाने यह।।५४।। कहकर देव हंसत। प्रेक्षक अर्जुन को कहत। मैं विश्वरूप तुमको दिखावत। किंतु न देखत तुम।।५५।। इसपर वह विचक्षण। कहे यह तो आपको ही न्यून। आप बक से चंद्रिका पान। करावत प्रभु।।५६।। साफ करके दर्पण। दिखावत अंध को कृष्ण। या बधिर सम्मुख गायन। वैसा यत्न यह।।५७।। मकरंद कण का चारा। देकर स्वयं दर्दुर को शारंगधरा। और वृथा हुआ वह सारा। ऐसा करत कोप।।५८।। जिसको अतिंद्रिय कहत शास्त्र। केवल ज्ञानदृष्टि से वह प्राप्त। किया चर्मचक्षु समक्ष प्रस्तुत। देखूं मैं कैसे?।।५९।। किंतु कैसे कहूं आपका न्यूनत्व। निवान्त सहूं यही युक्त। तब कहत श्री अच्युत। मानूं यह मैं।।१६०।। विश्वरूप साच यदि दिखाना। प्रथम दृष्टिसामर्थ्य था देना। किंतु हुआ विस्मरण हमने माना। प्रेमभाव से मुझको।।६१।। देखो बिन जोते बोवत। समय तब होवे नष्ट। अब निजरूपदर्शन को देत। दिव्यदृष्टि तुझको।।६२।। फिर उस दृष्टि से पाण्डव। मेरा ऐश्वर्य-योग सर्व। देखकर स्वानुभव। लीजे पूर्ण।।६३।। इसविध वह वेदान्त वेद्य!। सकल लोक आद्य!। बोलत जग आराध्य!। जगन्नाथ!।।६४।।

संजय उवाच–
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः। दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

कहे हे कौरवकुल चक्रवर्ती। मुझे विस्मय होवे अति। जो सिवा लक्ष्मी से भाग्यवती। त्रिजगत में कौन?।।६५।। अंगुली निर्देश से वर्णन-। में समर्थ कौन श्रुतिबिन?। किंवा दास्य भाव पूर्ण। अकेले शेष को ही।।६६।। जिसकी प्राप्ति की इच्छा से। आठों प्रहर यत्नशील जैसे। योगी गरुड़ जैसे। कौन होत?।।६७।। वे सब हुये व्यर्थ। जब से पाण्डव अवतरित। कृष्णसुख एकत्रित। उन्हीं में पूर्ण।।६८।। किन्तु उन पांचों में अर्जुन। श्रीकृष्ण सहज जिसके अधीन। जैसे कामुक अंगना के पूर्ण। वश में होत।।६९।। पढ़ता पंछी न ऐसा बोलत। क्रीड़ा मृग भी न वैसा चलत। कैसा देव अनुकूल होत। अर्जुन को देखे।।१७०।। आज पूर्ण ब्रह्म का ऐश्वर्य। नेत्र सदैवी के योग्य। कैसे वचन इसका नंदतनय। डोलत सहज।।७१।। अर्जुन का रोष

Funding by IKS-MoE

हुआ है, और यदि विश्व के परे भी कुछ देखने की इच्छा मन में हो, ।।१५०।। तो उसमें भी कुछ न्यून नहीं है। तुम जो चाहो मेरे इस देह में देख सकते हो।।५१।। इस प्रकार विश्वावतार श्रीकृष्ण ने कहा और अर्जुन की ओर देखा तो उसे चुपचाप खड़ा हुआ पाया।।५२।। वह इस प्रकार स्तब्ध क्यों हो रहा है, यह जब श्रीकृष्ण सोचने लगे तो उन्होंने अर्जुन को पहले जैसा ही विश्वरूप दर्शन के लिये उत्कंठित पाया।।५३।।

परंतु अर्जुन, मुझे इन स्वाभाविक नेत्रों द्वारा देखने को निःसंदेह असमर्थ है यह बात ध्यान में आते ही भगवान ने कहा कि, मैं दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूं, उससे तू मेरे प्रभाव को और योगशक्ति को देख।।८।।

तब श्रीकृष्ण समझ गये कि न इसकी उत्कंठा कम हुई है और न ही इसको विश्वरूप दर्शन का सुख प्राप्त हुआ है। हमने जो इसको विश्वरूप दिखाया वह सब व्यर्थ ही हुआ। यह कुछ नहीं समझ पाया।।५४।। ऐसा मन में जानकर भगवान श्रीकृष्ण हंसे और हंसकर अर्जुन को कहने लगे कि हमने तो तुम्हें विश्वरूप दिखाया, परंतु तुमने देखा ही नहीं।।५५।। इस पर बुद्धिमान अर्जुन ने कहा कि महाराज! यह किसका दोष है? आप बगुले से चांदनी चरवाना (चुगाना) चाहते हैं।।५६।। आप दर्पण पोंछकर अंधे को दिखा रहे हैं, हे कृष्ण! बहरे के सामने गीत गाने के समान ही यह आपका प्रयत्न है।।५७।। हे शार्ङ्गधर! जानबूझकर पुष्प परागों का चारा कीचड़ में रहने वाले मेंढक के सामने आप डाल रहे हैं। और फिर यह सब व्यर्थ हुआ ऐसा खेद व्यक्त कर रहे हो।।५८।। जो बात इंद्रियों को अगोचर कही गयी है, जो केवल ज्ञानदृष्टि से ही प्राप्त होनेवाली है, वहां आपने इन चर्मचक्षु के सामने रखा तो भला मैं इसे किस तरह देख सकूं?।।५९।। परंतु, मैं आपकी यह कमी बताना उचित नहीं समझता। इसीलिये मेरा चुप रहना ही योग्य है। तब देव ने कहा, हे तात! ठीक है। तुम्हारी यह बात हमें भी मान्य है।।१६०।। यह बात बिलकुल सच है कि यदि तुम्हें विश्वरूप दिखाना है, तो तुम्हें सबसे पहले उसे देखने का सामर्थ्य भी हमें देना चाहिये था, परंतु प्रेम से बोलते-बोलते हमें इस बात का विस्मरण हो गया, यह हम भी मानते हैं।।६१।। देखो, जमीन को जोते बिना ही यदि बीज बोया जाये, तो वह समय व्यर्थ हो जायेगा। इसीलिये, अब हम तुम्हें वह दिव्य दृष्टि देते हैं, जिससे तुम हमारा यह स्वरूप देख सकोगे।।६२।। हे पांडव! हमारा संपूर्ण ऐश्वर्ययोग देखकर, उसका अनुभव लेकर उसे आत्मसात कर लो।।६३।। वेदांत से जानने योग्य, तीनों लोकों के एक ही आदि-कारण और संपूर्ण जगत् को पूज्य श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कहा।।६४।।

संजय बोले- हे राजन्! महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान ने इस प्रकार अर्जुन से कहकर उसे अपना परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया।।९।।

संजय बोले- हे कौरवकुल के चक्रवर्ती! मुझे अत्यंत आश्चर्य होता है कि तीनों जगत् में लक्ष्मी से बढ़कर क्या कोई भाग्यवान है?।।६५।। अथवा संकेत से वर्णन करने के विषय में श्रुति के अतिरिक्त संसार में कोई समर्थ है? अथवा सेवा भाव में क्या शेष से कोई सर्वश्रेष्ठ है? अथवा भगवत् प्राप्ति के लिये योगियों की तरह आठों प्रहर कष्ट कर उपासना करनेवाले पक्षीराज गरुड़ के समान और कोई है?।।६७।। परन्तु, वे सभी व्यर्थ हुये। सांप्रत जब से पांडवों का जन्म हुआ है, तब से श्रीकृष्ण सुख उन्हीं में समाया है।।६८।। और उन पांचों पाण्डवों में भी श्रीकृष्ण सहज ही अर्जुन के आधीन ऐसे हो गये हैं, जैसे कोई कामुक मनुष्य किसी स्त्री के आधीन हो जाता है।।६९।। पढ़ाया हुआ पंछी भी ऐसा नहीं बोलता, कुत्ता, घोड़ा आदि पालतु पशु भी ऐसे आज्ञा से नहीं चलते, देखो, इस अर्जुन का भाग्य न जाने कैसा अनुकूल हुआ है,।।१७०।। जो आज इस परब्रह्म के ऐश्वर्य का भोग लेने के लिये इसके नेत्र भाग्यशाली हुए हैं, कैसा इसका वचन जो नंदतनय श्रीकृष्ण उसपर डोलने लगते हैं।।७१।। अर्जुन कुपित होता है, तो चुपचाप सह लेते हैं और वह रूठ जाये तो, स्वयं उसे मनाने लगते हैं। यह आश्चर्य देखो कि श्रीकृष्ण अर्जुन के पीछे पागल हो

Funding by IKS-MoE

सहत निवान्त। रूठे तब स्वयं मनावत। देव बावला बनत। नवल देखो।।७२।। जो जितेंद्रिय जन्म से। समर्थ साक्षात शुक जैसे। हुए विषयवर्णन में ऐसे। भाट जिसके।।७३।। ऐसा योगियों का समाधिधन। हुआ पार्थ के आधीन। इसलिये मेरा मन राजन। विस्मित अति।।७४।। किंतु संजय कहत इसमें कैसा। विस्मय यहां कौरवेशा। श्रीकृष्ण स्वीकारत उसे ऐसा। भाग्योदय होत।।७५।। अतः वह देवों का ईश। कहे पार्थ तुझे दूं दृष्टिखास। जिसमें विश्वरूप विशेष। देखेगा तूं।।७६।। ऐसे श्रीमुख से अक्षर। निकलत तत्क्षण शीघ्र। अविद्या अंधःकार। नाशत सहज।।७७।। वे न अक्षर मातृका। ब्रह्म साम्राज्य दीपिका। अर्जुन प्रीत्यर्थ चित्कलिका। प्रकाशित श्रीकृष्ण ने।।७८।। तब दिव्य चक्षुप्रकाश प्रकट। प्रसरत ज्ञान दृष्टि सर्वत्र। इसविध दिखावत स्पष्ट। ऐश्वर्य अपना।।७९।। और जो-जो अवतार सकल। जैसे विश्वसमुद्र के कल्लोल। विश्व यह भासत मृगजल। रश्मि कारण जिसके।।१८०।। जिस अनादि भूमि पर स्पष्ट। चराचर चित्र सृष्ट। वह मूलरूप श्री वैकुंठपति। दिखावत उसको।।८१।। पूर्वी शैशव में श्रीपति। भक्षत एक समय मिट्टी। तब यशोदा कुपित अति। पकरत हस्त से जो।।८२।। तब भयभीत कृष्ण। सफाई देत खोलकर वदन। दिखावत सहज चौदह भुवन। सुविद्या से उसको।।८३।। नातर मधुबन में ध्रुववाल। शंख से स्पर्शत कपोल। त्वरित कहत बालक वेद। अगम्य जो।।८४।। ऐसा अनुग्रह हे नरेश!। पार्थ पर करत हृषिकेश। तब कैसी माया यह भाष। विस्मरत पूर्ण।।८५।। अचानक देखत तब नेत्र ऐश्वर्य। एकार्णव होत चमत्कारमय। चित्त मग्न विस्मय–। सागर में सब।।८६।। जैसे आब्रह्मपूर्णोदक में। तैरत मार्कण्डेय उसमें। वैसे विश्वरूप चमत्कार में। लोटत पार्थ।।८७।। कहत कितना विशाल गमन। वह कहां ले गया कौन?। वैसे महाभूत चराचर संपूर्ण। गये कहां।।८८।। दशदिशा सकल लुप्त। अधोर्ध्व न जाने कहां गुप्त। जागृत को कैसे नष्ट। लोकाकार सकल।।८९।। अथवा सूर्य तेज प्रताप से। सचंद्र तारांगण लोपत जैसे। ग्रासत विश्वरूप तैसे। प्रपंचरचना सब।।१९०।। वहां मन का मन को विस्मरण। बुद्धि स्वैर संपूर्ण। निवर्तत इंद्रियां रश्मिपूर्ण। हृदयान्तर में।।९१।। तटस्थता को तटस्थता प्राप्त। टक एकटकी देखत। विचार जात जैसे ग्रस्त। मोहनास्त्र से।।९२।। वैसा सप्रेम देखे विस्मित। तब सम्मुख जो चतुर्भुज मूर्त। वही नानारूप से प्रसरत। सर्वत्र स्वयम्।।९३।। जैसे वर्षाकाल में जलज। या महाप्रलय में वर्धत तेज। वैसे बिन अपने निज। शेष न अन्य।।९४।। प्रथम स्वरूप समाधान। संतुष्ट खड़ा अर्जुन। तत्क्षण खोलत नयन। देखे विश्वरूप।।९५।। इन्हीं दो चक्षु से संपूर्ण। होवे विश्वरूप दर्शन। यह अभिलाषा करत पूर्ण। श्रीकृष्णदेव।।९६।।

Funding by IKS-MoE

रहे हैं।।७२।। यों तो विषयों को जीतकर ही जिन्होंने जन्म लिया है, वे शुक आदि के समान समर्थ महात्मा इनके रास आदि क्रियाओं का वर्णन करते हुए इनके स्तुति पाठक भाट बन गये हैं।।७३।। संजय कहते हैं कि, जो इस प्रकार योगियों का समाधिरूप धन है, वह पार्थ के आधीन हो गया है। इसलिये हे राजन मेरा मन अत्यंत विस्मित हुआ है!।।७४।। परन्तु फिर संजय ने कहा, हे कौरवराज! इसमें विस्मय की क्या बात है? श्रीकृष्ण जिसका स्वीकार करते हैं, उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है।।७५।। इसलिये देवों के राजा श्रीकृष्ण ने पार्थ से कहा कि हम तुम्हें ऐसी दिव्य दृष्टि देते हैं जिससे तुम हमारा यह अलौकिक विश्वरूप देख सकोगे।।७६।। इस प्रकार श्रीकृष्ण के मुख से अक्षर निकलते ही अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्राप्त होकर उसका अविद्यारूपी अंधःकार नष्ट हो गया।।७७।। वे अक्षर नहीं, मानो श्रीकृष्ण के ब्रह्म-सार्वभौम साम्राज्य को दिखाने प्रीत्यर्थ ज्ञानकला स्वरूप मशाल ही अर्जुन के लिये प्रज्वलित की हो।।७८।। फिर दिव्य नेत्रों का प्रकाश प्रकट हुआ। उससे अर्जुन की ज्ञानदृष्टि विकसित हो गई। इस प्रकार प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना ऐश्वर्य दिखा दिया।।७९।। ये जो मत्स्य-कूर्मादि दशावतार जिस समुद्र के तरंग हैं और यह विश्वरूप मृगजल जिनके किरणों के कारण दिखाई देता है।।१८०।। जिस अनादि भूमिका पर यह चराचर रूपी चित्र स्पष्ट अंकित होता है, वही अपना स्वरूप वैकुंठपति श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखा दिया।।८१।। इससे पहले बालपन में इस श्रीपति ने जब एक बार मिट्टी खाई थी तब क्रोधभरी यशोदा माता ने इन्हें हाथ से पकड़ लिया था,।।८२।। तब सफाई देत हुए अपना मुख खोलकर माता को चौदह भुवनों का दर्शन कराया था।।८३।। अथवा मधुवन में जैसे बाल ध्रुव को प्रसन्न होकर उसके गाल को शंख का स्पर्श कराते ही वह वेदों को भी अगम्य ऐसे स्तुति वचन बोलने लगा।।८४।। हे राजन! वैसा ही अनुग्रह हृषीकेश ने आज पार्थ पर किया है। उसीके कारण अर्जुन के लिये माया का पता भी न रहा।।८५।। उसे तत्क्षण ऐश्वर्य तेज दिखाई दिया। सर्वत्र चमत्कार का समुद्र दिखने लगा और उसका चित्त उसी विस्मय के समुद्र में डूब गया।।८६।। जैसे ब्रह्मलोक तक पूर्ण भरे हुये जल में अकेले मार्कण्डेय ऋषि तैरते था, वैसे ही पार्थ विश्वरूप चमत्कार में लोटने लगा।।८७।। वह मन में कहने लगा कि यहां कितना बड़ा आकाश था। उसे कौन कहां ले गया? चराचर और महाभूत भी कहां गये?।।८८।। दशदिशाओं में सब लुप्त हो गया है, अधोर्ध्व अर्थात् आकाश पाताल न जाने कहां लुप्त हो गया है और जागृत होने के उपरांत जैसे स्वप्न नष्ट होता है, वैसे ही चौदह लोक भी नष्ट हो गये हैं।।८९। अथवा सूर्य प्रकाश के प्रताप से जैसे चंद्रमा सहित संपूर्ण तारागण लुप्त हो जाते हैं वैसे ही यह संपूर्ण प्रपंच रचना विश्वरूप ने नष्ट कर दी है।।१९०।। उस समय मन की संकल्प शक्ति नहीं रही, बुद्धि, विवेक करना भूल कर स्वैर हो गई। और इंद्रियों की वृत्तियां उलट कर हृदय-कुहर में भर गयी हैं।।९१।। तब स्तब्धता स्तब्ध हो गयी, एकाग्रता की टक लग गयी, मानों सारे विचार-समूह पर किसी ने मोहनास्त्र फेंका हो।।९२।। इस प्रकार अर्जुन विस्मित होकर प्रेम से देखने लगा, तो जो चतुर्भुज स्वरूप सामने खड़ा था, वहीं अनेक रूप होकर चहुं और विस्तृत हुआ दिखाई दिया।।९३।। जैसे वर्षाकाल में मेघ आकाश में सर्वत्र बढ़ते हैं, अथवा महाप्रलय काल में तेज बढ़ता है, वैसे ही उस मूर्ति ने अपने अतिरिक्त अन्य कोई स्थान न बचने दिया।।९४।। प्रथम अंतःकरण में उस रूप को देखकर अर्जुन संतुष्ट हुआ, उसी क्षण जब उसने आंखें खोली तब उसे बाहर भी वही विश्वरूप दिखाई दिया।।९५।। उसकी जो इच्छा थी कि इन्हीं दो आंखों से संपूर्ण विश्वरूप देखूं, वह श्रीकृष्ण ने इस प्रकार पूर्ण की।।९६।।

Funding by IKS-MoE

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्। अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

तब वहां दिखत वदन। जैसे रमानायक के राजभुवन। या नाना प्रकटत निधान। लावण्यश्री के।।९७।। या आनंदवन बहरत। सौंदर्य को राज्यपद लभत। वैसे मनोहर दिखत। हरि के वक्त्र।।९८।। उनमें भी कई एकेक। सहज अति भयानक। कालरात्रि के कटक। सिद्ध जैसे।।९९।। अथवा मृत्यु को ही मुख उपजत। या भयदुर्ग व्याप्त सर्वत्र। किंवा महाकुण्ड प्रज्वलित। प्रलयानल का।।२००।। वैसे भयंकर अद्भुत। वहां वदन देखे अगणित। और भी असाधारण बहुत। सौम्य सालंकार।।१।। किंतु ज्ञानदृष्टि से भी पार्थ। देख न पावे वदनों का अन्त। तब तक सकौतुक नेत्र। देखन लागा।।२।। तब वहां नानावर्ण कमलबन। विकसित जैसे पूर्ण। देखे नेत्र पंक्तियां अर्जुन। आदित्यसमप्रभ।।३।। वहीं सघन कृष्णमेघ पंक्ति। कल्पान्त विद्युत्सम ज्योति। वैसी अग्निपिंगला दृष्टि। भ्रू-भंगतल में।।४।। यह एकक आश्चर्य। एक रूप में देखे कौंतेय। विविध दर्शन का ऐक्य। अनुभवत सहज।।५।। कहत कहां इनके चरण कमल। कहां मुकट कहां बाहु सबल। ऐसी वर्धत चाह सकल। दर्शन सुख की।।६।। वहां भाग्य-निधि जो पार्थ। क्या विफल होगा उसका मनोरथ?। कभी तूणीर बाण होय व्यर्थ। पिनाकपाणि के।।७।। नातर चतुरानन की वाचा। क्या उसमें झूठे अक्षरों का सांचा?। अतः साद्यतत्त्व अपार का सच्चा। देखा उसने।।८।। वेद न पावत जिसका अन्त। उसके सकल अवयव यथार्थ। देखत एक समय में पार्थ। दो नयनों से अपने।।९।। चरणों से मुकुटपर्यन्त। देखे विश्वरूप श्रेष्ठत्व। नाना अलंकार युक्त। विराजत।।२१०।। परब्रह्म अपने अंगपर। धारणा करने लेत रूप बहुतर। किसविध शोभत वे अलंकार। कहूं मैं।।११।। जिस प्रभा के तेज से पूर्ण। चंद्रादित्य मण्डल प्रकाशमान। जो महातेज का जीवन। विश्व प्रकाशक।।१२।। वह दिव्य तेज शृंगार। किस की मति को होत गोचर। देव पहनत स्वरूप अलंकार। देखत वीर।।१३।। फिर वहां ज्ञानचक्षु से पार्थ। करपल्लव सरल निहारत। कल्पान्त ज्वालाध्वंसक शस्त्र। चमकत उनमें।।१४।। स्वयं अंग स्वयं अलंकार। स्वयं हस्त स्वयं हथियार। देखत स्वयं जीव स्वयं शरीर। चराचर व्यापक देव।।१५।। जिसके इतने प्रखर किरण। फूटत सकल नक्षत्रगण। तेज से त्रसित वन्हि पूर्ण। कहत जाऊं समुद्र में मैं।।१६।। तब कालकूट कल्लोल में लिप्त। या नानामहाविज्जु का बन उद्दीप्त। वैसे अपार उदितायुध हस्त। देखत पार्थ।।१७।।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्। सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

भयभीत वहां से निवर्तित दृष्टि। तब कंठमुकुट देखे किरीटि। जहां से सुरतरु की

और उस अनेक मुख और नेत्रों से युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनवाले बहुतेरे दिव्य भूषणों से अलंकृत और अनेक दिव्य शस्त्र हाथों में उठाये हुए॥१०॥

फिर अर्जुन ने उस स्वरूप में अनेक मुख ऐसे देखें, जो मानों श्री विष्णु भगवान् के राजभवन हों, अथवा मानों लावण्यलक्ष्मी के निधान प्रकट हुए हों।।९७।। अथवा वे मुख नहीं, मानो आनंद रूपी वनों में बहार आई हो और मानों सुन्दरता को राज्य प्राप्त हुआ हो। ऐसे श्रीहरि के मनोहर मुख उसने देखे।।९८।। किंतु उनमें कई-कई मुख ऐसे भयानक भी थे, मानों कालरात्रि की सेनायें सिद्ध होकर चढ़ी आती हों।।९९।। अथवा मृत्यु को ही मुख उत्पन्न हुए हों, अथवा भय के किले ही रचे गये हों, अथवा प्रलयाग्नि के महाकुण्ड प्रज्वलित हुए हों।।२००।। उस रूप में अर्जुन ने ऐसे अद्भुत और भयानक मुख देखे, साथ ही और भी बहुत से असाधारण, अलंकार सहित और सौम्य मुख भी देखे!।।१।। वह ज्ञान दृष्टि से देख रहा था तथापि उन मुखों का अन्त नहीं देख सका। तब फिर वह कौतुहल से नेत्रों की ओर देखने लगा।।२।। तब अर्जुन को विविध वर्णों के, विकसित कमलों के बन के समान और सूर्य के समान तेजस्वी नेत्रपंक्तियां दिखाई दीं।।३।। वहीं उसे कृष्ण मेघों के समुदाय में, कल्पान्त में विद्युत चमकती है, वैसी अग्नि के समान पीली दृष्टि भृकुटि के नीचे दिखाई दी।।४।। ऐसा एक-एक आश्चर्य देखते हुये अर्जुन को उस एक ही विश्वरूप में अनेक रूपों के दर्शन की प्रतीति हुई।।५।। तब अर्जुन सोचने लगा कि इनके चरण कहां हैं, मुकुट किस ओर है, एवं बलशाली बाहू कहां हैं? इसप्रकार उसकी दर्शन-सुख पाने की इच्छा बढ़ने लगी।।६।। उस भाग्य निधान सुदैवी अर्जुन का मनोरथ क्या विफल हो सकता है? क्या पिनाकपाणि शंकर भगवान के तर्कश में कोई निष्फल बाण रह सकता है?।।७।। अथवा चतुरानन ब्रह्मा की वाचा में क्या मिथ्या अक्षरों के सांचे रह सकते हैं? इसलिये उस अपार का सत्य स्वरूप अर्जुन को साद्यन्त दिखाई दिया।।८।। जिसका अंत वेदों को भी नहीं मिला, उसके संपूर्ण अवयवों का भोग अर्जुन को अपने दोनों आंखों के सामने एकाएक प्राप्त हुआ।।९।। उसने चरणों से लेकर मुकुट तक नाना रत्न एवं अलंकारों से सुशोभित उस विश्वरूप का महात्म्य देखा।।२१०।। अपने शरीर पर पहनने के लिये परब्रह्म आप ही जो अनेक अलंकार बन गये थे, वे कैसे शोभा।।११।। जिस प्रभा के प्रकाश से चंद्र और सूर्यमंडल को प्रकाश मिलता है, जो महातेज का जीवन है, जिसके प्रकाश से यह विश्व प्रकाशित होता है।।१२।। उस दिव्य तेज की शोभा का अनुभव किस बुद्धि को हो सकता है? अर्जुन ने देखा कि, देव ने अपने को ऐसे निज आभूषणों से अलंकृत किया है।।१३।। फिर अर्जुन ने उसी रूप में ज्ञान की दृष्टि से भगवान ने सरल हाथों की ओर देखा तो उसमें ऐसे चमचमाते हुये दिव्य शस्त्र दिखें, मानों वे कल्पांत की ज्वालाओं को काट रहे हों।।१४।। आप ही शरीर, आप ही अलंकार, आप ही हथियार, आप ही जीव और आप ही देह इस प्रकार अर्जुन को संपूर्ण चराचर श्रीकृष्ण से ही भरा हुआ दिखाई दिया,।।१५।। जिनकी किरणों की तीव्रता से नक्षत्र मानो चने जैसे फूट रहे हैं, जिनके तेज के भय से भयभीत अग्नि को भी भागकर समुद्र में प्रवेश करने की इच्छा हुई।।१६।। उसके पश्चात समुद्र की लहरों से लिप्त कालकूट विष अथवा प्रलयकालीन विद्युत के प्रज्वलित बन के समान प्रखर शस्त्र ऊंचे उठाये हुये। अनगिनत हाथ अर्जुन ने देखे।।१७।।

दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गंध का अनुलेपन किये हुए, सब आश्चर्यों का स्वरूप, प्रकाशात्मक, अमर्याद, सभी दिशाओं में जिनके मुख हैं ऐसा विश्वरूप, भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखा दिया।।११।।

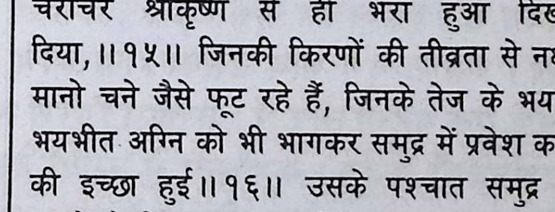

अर्जुन ने डरकर उन विकराल हाथों से अपनी दृष्टि हटा ली और वह किरीट धारण किया हुआ अर्जुन श्रीहरि के कंठ और मुकुट देखने लगा, जहां से

सृष्टि। उनसे ही होत ।।१८।। जो महासिद्धि का मूलधाम। श्रान्त कमला जहां लेत विश्राम। वैसे कुसुम अति मनोरम। अवघ्राणत देव ।।१९।। मुकुट ऊपर स्तंबक। स्थान-स्थान पर पूजाबंध अनेक। कंठ में शोभत अलौकिक। पुष्पमाला ।।२२०।। स्वर्ग सूर्य तेज वेष्टित। या मेरु सुवर्णमंडित्त। वैसा नितम्ब ऊपर शोभत। पितांबर ।।२१।। श्री महादेव को कर्पूर लेपन। अथवा कैलास को पारज उबटन। नाना क्षीरोदक परिधान। क्षीरार्णव को जैसे ।।२२।। जैसी चंद्रिका की तह खुली। गगन को पहनाई खोली। वैसी स्वांग पर डाली। चंदन उटि ।।२३।। स्वप्रकाश पर कांति चढ़त। ब्रह्मानन्द का दाह शमत। जिसके सौरभ से सुगंधित। वेदवती स्वयम् ।।२४।। जिसका निर्लेप करे अनुलेपन। जिसको अनंग सर्वांग में धरत। उस सुगंध का बरनत। महत्व कौन? ।।२५।। ऐसी अनेक शृंगार शोभा। देख अर्जुन पावे अचम्भा। न जाने खड़ा या दैठ सुरगाभा। अथवा निद्रित्त ।।२६।। बाहर देखे खोलकर दृष्टि। तब सब ही विश्वमूर्ति। बंद आंख से जब देखे किरीटि। भीतर वैसे ही ।।२७।। अगणित वक्त्र सम्मुख। भय से फेरत जब मुख। तब वहां भी श्रीमुख। करचरणादि वैसे ।।२८।। अहो भासत खुली दृष्टि से। नवल इसमें कैसे। दिखत बंद नयन से। वह नवल सुनो! ।।२९।। कैसा अनुग्रह प्रभू का। जो देखना न देखना पार्थ का। व्याप्त पूर्ण भाव उसका। नारायण में ।।२३०।। अतः आश्चर्य के पूर में। जो क्षण एक पहुंचा तीर में। तत्क्षण गिरत महार्णव में। चमत्कार के अन्य ।। ३१।। ऐसा दर्शनवेधी अर्जुन। कुशलता से उसको देत दर्शन। व्यापत उसको संपूर्ण। अनन्तरूप से ।।३२।। वह स्वतः विश्वतोमुख। अर्जुन मांगें दर्शन सुख। धारण करके रूप अशेख। नटत स्वयम् ।।३३।। दीप से या सूर्य से प्रकट। यदि नि-मीलित सब होवे अदृष्ट। न दी ऐसी दृष्टि वैकुंठ-। पति ने उसको ।।३४।। इसलिये अर्जुन दोनों। रीति से देखत तम में दिव्य दृष्टि से। कहत हस्तिापुर में संजय उसे। धृतराष्ट्र को ।।३५।। सुनो हे नृपनाथ!। विश्वरूप देखत पार्थ। नाना आमरणों से मूषित। विश्वतो मुख ।।३६।।

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशीसा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।।१२।।

उस अंगप्रभा का राजन। नवल किसविध करूं वर्णन। कल्पान्त में जैसा मिलन। द्वादशादित्यों का ।।३७।। वैसे वे दिव्यसूर्य सहस्त्र। यदि उदित एक अवसर। तथापि उस तेज की नृपवर। उपमा न पावे ।।३८।। सकल विज्जु कीजे एकत्र। और प्रलयाग्नि सामग्री साहित्य। उसमें मिलाइये दशकड़ी समस्त। महातेज की ।। ३९।। तब भी अंगप्रभा की। होवे अल्पतुलना उस तेज की। किंतु सही कल्पना उसकी। कदापि न होत ।।२४०।। ऐसा महात्म्य श्रीहरि का सहज। प्रसरत सर्वांग का तेज।

कल्पवृक्षों की सृष्टि उत्पन्न हुई थी।।१८।। तब उन मुकुटों के ऊपर जो पुष्प उसने देखें वे ऐसे थे मानों अष्ट-महासिद्धियों के आद्यस्थान हों, अथवा श्रान्त हुई लक्ष्मी जहां विश्राम लेती तो, ऐसे अतिसुंदर, मनोहर और गंधयुक्त पुष्पों को भगवान ने ग्रहण किया था।।१९।। मुकुट के ऊपर पुष्पों के गुच्छ थे, जहां-जहां पुंजोपचार बंधे हुये थे और कंठ में अलौकिक पुष्पमालायें शोभा देती थीं।।२२०।। जैसे स्वर्ग ने सूर्य तेज का वेष्टन किया हो, अथवा जैसे मेरू पर्वत शुद्ध सोने से मढ़ दिया हो, ऐसा नितंब पर पहना हुआ पीतांबर जगमगा रहा था,।।२१।। और मानों श्री शंकर भगवान् को कर्पूर का उबटन किया हो, अथवा कैलास को पारे का लेप किया हो,।।२२।। जैसी चंद्रिका की तह खोली गई हो और आकाश पर उसका गिलाफ चढ़ाया गया हो। इस प्रकार अर्जुन ने उस विश्वरूप के सर्वांग पर चंदन का लेप लगा हुआ देखा।।२३।। जिस चंदन लेप के द्वारा उस विश्वरूप का निज प्रकाश अधिक कांतिमान होता है, जिसकी शीतलता से ब्रहमानंद की भी दाह शांत होती है और जिसके सुगंध से पृथ्वी को गंध-गुण का जीवन प्राप्त हुआ है,।।२४।। जिसके लेप से निर्मलता प्राप्त होती है, जिसे शरीर रहित ब्रह्म सर्वांग में धारण करता है, उस सुगंध की महिमा कौन वर्णन कर सकता है?।।२५।। इसप्रकार अर्जुन एक-एक शृंगार शोभा देखते हुये अचंभे में पड़ गया और यह भी न जान सका कि देव बैठे हैं, खड़े हैं या सम्मुख हैं।।२६।। बाहर आंखें खोलकर देखता है तो संपूर्ण जगत विश्वरूप दिखाई देता है और फिर आंखें मूंदकर चुप रहता है तो वहां भीतर भी वही दृश्य दिखाई देता है।।२७।। सामने अगणित मुख दिखाई देते हैं। उनके डर से पीछे मुड़कर देखता है, तो वहां भी उसे वैसे ही श्रीमुख, कर, चरण आदि दिखाई देते हैं।।२८।। अजी, देखने से दिखाई देंगे इसमें क्या आश्चर्य है, परन्तु यह अभिनव आश्चर्य की बात देखिये कि, न देखते हुये भी वे दिखाई दे रहे थे उसे सुनिये।।२९।। पार्थ पर भगवान का यह कैसा अनुग्रह कि, जो पार्थ का देखना न देखना उस पार्थ के सहित श्रीनारायण में व्याप्त हो गया है।।२३०।। और ज्योंहि अर्जुन एक आश्चर्य की बाढ़ से निकल कर किनारे पर आता है, त्योंहि वह दूसरे चमत्कार के महासागर में गिरता है।।३१।। इसप्रकार अनन्त रूप श्रीकृष्ण ने दर्शन-लोलुप अर्जुन को कुशलता से अपना दर्शन देकर उसे अनंत रूप में सिमट लिया है।।३२।। भगवान स्वभावतः विश्वतोमुख हैं और अर्जुन ने यही विश्वरूप दर्शन के लिये प्रार्थना की थी। इसीलिये वे स्वयं अनन्त रूप धारण करके उसे दिखाते हैं।।३३।। जो दृष्टि वैकुंठपति श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दी थी, वह ऐसी न थी कि सूर्य या दीपक के प्रकाश में ही वह स्वरूप प्रकट हो और आंख भींचते ही उसका दिखना बंद हो जावे।।३४।। इसीलिये भगवान ने अर्जुन को खुली और बंद आंखों से तथा प्रकाश एवं अंधेरे में, दोनों ही स्थिति में दिव्य दृष्टि से अपना विश्वरूप दिखाया था। यह बात संजय ने हस्तिानुर में राजा धृतराष्ट्र को निवेदन की।।३५।। उसने कहा सुनिये, हे नृपनाथ! इसप्रकार नाना अलंकार धारण किये हुये विश्वतोमुख विश्वरूप का अर्जुन ने दर्शन किया।।३६।।

संजय बोला हे राजन! आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न हुआ प्रकाश भी उस विश्वरूप, महान परमात्मा के सदृश कदाचित ही होवे।।१२।।

संजय ने कहा, हे राजा! उस अंगशोभा का वर्णन मैं किस प्रकार करूं? जैसे कल्पांत के समय बारहों आदित्यों का समुदाय एक हो जाता है,।।३७।। उसी तरह, हजारों दिव्य सूर्य यदि एक ही समय उदित हो, तो भी उन्हें इस महातेज की उपमा प्राप्त न होगी।।३८।। संपूर्ण विद्युत का समुदाय एकत्रित कीजिये, और प्रलयाग्नि की सब सामग्री लाइये और उसमें दश आवर्णाग्नि को मिलाइये।।३९।। तब वह तेज भी इस अंगशोभा की तुलना में अल्प ही होगा।।२४०।। ऐसी महिमा से समन्वित श्रीहरि के सर्वांग का तेज सहज विकसित हो रहा था। वह श्री व्यास मुनि की कृपा से मुझे भी दृष्टिगोचर हो

Funding by IKS-MoE

वह महामुनि कृपा से आज। हुआ दृष्य मुझको ।।४१।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

और उस विश्वरूप में एक ओर। जग का दिखत विस्तार। जैसे महोदधि में
बुद्बुद अपार। दिखे विविध।।४२।। या आकाश में गंधर्वनगर। भूतल में
पिप्पिलिका बांधत घर। जैसे नाना मेरू ऊपर। परमाणु सुस्थित।।४३।। वैसे विश्व
ही संपूर्ण। उस देव चक्रवर्ति के राजन। शरीरपर उस अवसर अर्जुन। देखत
स्पष्ट।।४४।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः। प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

वहां एक विश्व स्वयं अन्य। ऐसा था कुछ दूजापन। उस भाव से अंत:करण।
निरसत सहज।।४५।। अन्र्यामी आनंद उत्पन्न। बहिरगात्र बलहीन। नखशिखान्त
पूर्ण। पुलकित शरीर।।४६।। वर्षा की प्रथम दशा में। जैसे सजल शैलांग में।
विरूढ़त कोमलांतुर उसमें। रोमांचित वैसे।।४७।। चंद्रकिरण जहां स्पर्शत।
सोमकान्त मणि द्रवत। वैसे स्वेदकणिका आच्छादत। शरीरपूर्ण।।४८।। अंदर
अलिकुल बंदिसत। जल में कमल कलिका आंदोलत। अंत: सुखोर्मि से कंपित। बाहर
जैसे।।४९।। कर्पूर कदली के गर्भपुट से। कर्पुरकण निकसत जैसे। आनंदाश्रु स्त्रवत
तैसे। नेत्र संपुट से।।२५०।। उदित जहां सुधाकर। सुभर समुद्र को आवत भर। वैसे
वारंबार आनंद लहर। उछलत मन में।।५१।। ऐसे सात्विक भाव अष्ट। परस्पर में
ईर्षा से वर्तत। वहां ब्रह्मानंद का प्राप्त। राज्य जीव को।।५२।। ऐसी सुखानुभव की
प्राप्ति। साथ कायम द्वैतवृत्ति। तब आश्वासित किरीटि। निहारन लागत।।५३।।
तब जिस ओर देव स्थित। वहां मस्तक नवांवत। बद्ध कर संपुट। बोले
अर्जुन।।५४।।

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

कहे जयजयाजी स्वामीराया। कैसा नवल कृपाशीर्वाद दिया। जो यह विश्वरूप
हमें दिखाया। प्राकृत जन को।।५५।। पर भला किया हृषिकेश। मुझे हुआ सहृत
परितोष। जो देखा सृष्टि को अशेष। आश्रय आप।।५६।। देव मंदराचल के अंग में।
श्वापद के बन ठाँव ठाँव में। दिखत वैसे आपके देह में। भुवन अनेक।।५७।। अहो,
आकाश में बहुल। दिखत ग्रहगण के कुल। अथवा महावृक्ष में कोटर पोल।
पक्षिजाति के।।५८।। हे देव! उसके समान मैं। आपके विश्वात्मक शरीर में। देखूं
संपूर्ण स्वर्ग उसमें। सुरगणसहित।।५९।। प्रभु! महाभूतों का पंचक। यहां निरखू
अनेक। और भूतग्राम एकेक। भूतसृष्टि का।।२६०।। जी सत्यलोक आप में स्थित।
वहां का चतुरानन नाथ। दूसरी ओर जब निहारत। तब कैलाश भी वहां।।६१।। श्री

गया।।४१।।

ऐसे आश्चर्यमय स्वरूप को देखते हुये पांडुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विकसित हुये अर्थात पृथक-पृथक हुए संपूर्ण जगत को उस देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान के शरीर में एक ही जगह स्थित देखें।।१३।।

उस विश्वरूप में एक ओर जगत् अपने विस्तार सहित ऐसा दिखाई देता था, मानों महासमुद्र में अलग-अलग बुलबुले उठ रहे हों।।४२।। अथवा आकाश में जैसे गंधर्व नगर हो, अथवा पृथ्वी पर जैसे चिउटियां (चीटियां) घर बांधती हों, अथवा मेरु पर्वत पर जैसे छोटे-छोटे परमाणु भरे हों।।४३।। हे राजन उस चक्रवर्ती देवाधिदेव के शरीर के अर्जुन ने इस प्रकार संपूर्ण विश्व को देखा।।४४।।

उसके पश्चात आश्चर्य से युक्त, हर्षित रोमोंवाला अर्जुन विश्वरूप परमात्मा को श्रद्धा-भक्ति सहित सिर से प्रणाम करके, हाथ जोड़कर बोला।।१४।।

इससे उसके मन में जो किंचित मात्र द्वैत था, कि विश्व एक अलग वस्तु है और मैं अन्य वस्तु हूं, वह भाव नष्ट हो गया।।४५।। उसके अंतःकरण में आनन्द की अनुभूति हो गई। बाह्यतः अवयवों का बल नष्ट हो गया और आपाद मस्तक शरीर रोमांचित हुआ।।४६।। वर्षाकाल के आरंभ में पानी बह जाने के उपरांत पर्वतों के सर्वांग पर जैसे कोमल अंकुर ऊगते हैं, वैसे ही अर्जुन के शरीर पर रोमांच खड़े हो गये।।४७।। चंद्रकिरणों का स्पर्श होते ही सोमकांत मणि जैसे द्रवित होता है, वैसे ही उसके शरीर में स्वेद बिंदु भर आये।।४८।। कमल की कली में भ्रमर के फंस जाने पर जैसे वह कली जल पर हिलने लगती है, वैसे ही अंतःदुख की तरंगों के कारण अर्जुन डोलने लगा।।४९।। कर्पूर कदली का आच्छादन खोलने पर जैसे भीतर भरे कर्पूर के कण टपकने लगते हैं, वैसे ही उसकी आंखों से आनंदाश्रु टपकने लगे।।२५०।। चंद्र के उदय होने से जैसे पहले से भरे हुये समुद्र में ज्वार आता है, वैसे ही अर्जुन बारम्बार आनंद की लहरों से उछलने लगा।।५१।। इस प्रकार अष्ट सात्विक भाव आपस में एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे। तब मानों वहां अर्जुन को ब्रह्मानन्द का साम्राज्य ही प्राप्त हुआ।।५२।। उस सुख के अनुभव के उपरान्त अर्जुन पुनः द्वेत का आश्रय लेकर, दीर्घ श्वास लेते हुये बाहर देखने लगा।।५३।। और जिस ओर मुंह करके बैठा था उसी ओर मस्तक नवांकर और हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण भगवान से कहने लगा।।५४।।

अर्जुन बोला, हे देवाधिदेव! आपके शरीर में संपूर्ण देवताओं के तथा स्थावरजंगम भूत विशेषों के समुदाय, कमल के आसन पर विराजमान ब्रह्मा को, देवों के देव महादेव को, सब ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को मैं देखता हूं।।१५।।

हे स्वामिन! आपकी जयजयकार हो! आपने मुझपर अनोखी कृपा की है, जो मैं एक साधारण मनुष्य, आपका विश्वरूप देख सका।।५५।। हे हृषिकेश! आपने मुझ पर बहुत बड़ा उपकार किया है। मुझे स्वभावतः ही संतोष हुआ है जो मैंने यह देख लिया कि आप ही इस सृष्टि के आश्रय हैं।।५६।। हे देव! मंदराचल के शरीर पर जैसे अनेक स्थानों में श्वापदों से युक्त जंगल रहते हैं, वैसे ही आपके शरीर में मैं अनेक भुवन देखता हूं।।५७।। अजी! आकाश में जैसे ग्रहगणों के अनेक समूह दिखाई देते हैं अथवा महावृक्ष पर जैसे अनेक पक्षियों के पोले घोंसले दिखाई देते हैं।।५८।। वैसे ही, हे देव! आपके विश्वरूपी शरीर में देवगणों सहित संपूर्ण स्वर्ग दिखाई दे रहा है।।५९।। हे प्रभु! यहां अनेक आकाशादि महाभूतों के पंचक और जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज इन चारों प्रकार की भूत सृष्टि के समुदाय दिखाई देते हैं।।२६०।। अजी, आपमें सत्यलोक भी है और उसके स्वामी ब्रह्मा भी मुझे यहां दिखाई दे रहे हैं। दूसरी ओर देखता हूं तो कैलास भी वहीं है।।६१।। जहां के स्वामी श्री शंकरजी पार्वतीजी के सहित आपके एक अंग में दिखाई दे रहे हैं। और तो और हे प्रभु! मैं स्वयं आपको भी इस विश्वरूप में देख रहा

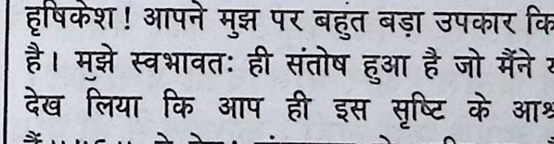

Funding by IKS-MoE

महादेव भवानी सहित। एक अंश में आपके वसत। और आपको भी देखत। आपमें ही।।६२।। कश्यपादि ऋषि कुल। आपके इस स्वरूप में सकल। देखूं मैं पाताल निखिल। पन्नगसहित।।६३।। किंबहुना हे त्रैलोक्यपति!। आपकी अवयव रूप भित्ति। उस पर चतुर्दशभुवन चित्राकृति। चित्रित जैसी।।६४।। और जो जो वहां के लोक। वही चित्ररचना अनेक। ऐसे देखूं मैं अलौकिक। गांभीर्य आपका।।६५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामित्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

उस दिव्य चक्षु बल से। निहारूं जब चहूं ओर से। तब फूटत बाहु दंड से। अंकुर आकाश का।।६६।। वैसे एक ही निरन्तर। देखूं देव आपके कर। करत संपूर्ण व्यापार। एक ही समय।।६७।। और महाशून्यसम पैसार। खुलत ब्रह्म-कटाह के भांडार। वैसे देखत अपार। उदर आपके।।६८।। आपके शीर्ष हजार। उनपर कोटी वक्त्र। जैसे परब्रह्म स्वयं झुकत। वदन फलों से।।६९।। जहां-तहां वक्त्रपंक्ति। आपकी देखूं मैं विश्वमूर्ति। और वैसे ही नेत्रपंक्ति। अनेक सैंध।।२७०।। रहने दो स्वर्ग पाताल। और भूमि दिशा अन्तराल। भेद नष्ट सकल। मूर्तिमय देखूं मैं।।७१।। बिन आपके कछु नाहीं। कुतुहल से भी यदि देखूं कहीं। अवकाश न परमाणु सम ही। आपसे व्याप्त सर्व।।७२।। जो नानाविध अपरिमित। महाभूतों से जो-जो व्याप्त। वह सकल विस्तार अनन्त। व्यापत आप।।७३।। आये आप ठाँव से कौन?। यहां बैठे या खड़े कृष्ण?। किस माता के गर्भ में स्थान। आकृति कितनी?।।७४।। आपका रूप वय कैसा?। आपके परे क्या परेशा?। आपका अधिष्ठान कौनसा। सब देखा मैंने।।७५।। जो मैं देखूं सर्वत्र। आपका ठाँव आप ही अनंत। आप न किसके, जन्मरहित। अनादि स्वयम्।।७६।। आप खड़े ना बैठे। ना ऊंचे ना नाटे। अध ऊर्ध्व एक से डटे। आप ही स्वतः।।७७।। आपका रूप आपके जैसा। आपका वय आपके सरिसा। पीठ पेट परेशा। अपने ही आप।।७८।। किंबहुना सांप्रत। आप अपना सर्वस्व अनंत। जैसे-जैसे आपको निहारत। जानु यह मैं।।७९।। किंतु आपके रूप में। न्यून एक देखूं मैं। जो आदि अन्त मध्य। इसमें तीनों नाहीं।।२८०।। मैंने खोजा सर्वत्र। किन्तु न पाया अनन्त। अतः त्रिशुद्धि तीनों निश्चित। नाहीं यहां।।८१।। एवं आदिम मध्यान्त रहित। आप विश्वेश्वर अपरिमित। देखा मैंने तत्त्वतः। विश्वरूप आप।।८२।। आपके महामूर्ति के अंग में। वसत अनेक पृथक मूर्तियां इसमें। सजे विविध रंगीन वस्त्र में। शोभत ऐसे।।८३।। नाना भिन्न मूर्तिद्रुमवल्ली से। स्वस्वरूप महाचल में जैसे। दिव्यालंकार फूल फल से। बहरत आप।।८४।। जी आप महोदधि अच्युत!। मूर्ति तरंगों से हेलावत। अथवा आप ही मूर्ति फल से फलित। वृक्ष साक्षात।।८५।। भूतल भूतों से व्याप्त। या नक्षत्रों से गगन

Funding by IKS-MoE

हूं।।६२।। कश्यप आदि सब ऋषिगण आपके इस स्वरूप में हैं, वैसे ही सर्पों और नागों के समूह सहित सप्त पाताल आपके इस विश्वरूप में मैं देख रहा हूं।।६३।। और अधिक क्या कहूं, हे त्रिलोकपति! आपके एक-एक अवयव रूपी भित्ति पर चौदहों भुवन मानों चित्राकृति के रूप में अंकित किये हुये हैं।।६४।। और उन भुवनों के जो-जो लोक हैं उनके चित्र भी उस पर खींचे गये हैं।।६५।।

हे संपूर्ण विश्व के स्वामिन! मैं आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त और सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूं। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्त को, न मध्य को और न आदि को देखता हूं।।१६।।

इस दिव्य दृष्टि के सामर्थ्य से जो मैं चहुं ओर देखता हूं, तो आपके बाहुदण्डों से मानों आकाश का अंकुर प्रस्फुटित हुआ है।।६६।। वैसे ही हे देव! आपके हाथ लगातार एक समय में अनेक व्यापार करते हुये दिखाई देते हैं।।६७।। और मानों अव्यक्त ब्रह्म के विस्तार में महान ब्रह्मांड के भांडार ही प्रकट हुये हों, ऐसे अनगिनत उदर दिखाई दे रहे हैं।।६८।। अजी, आपके सहस्त्र मस्तकों से युक्त स्वरूप एक साथ कोट्यावधि दिखाई दे रहे हैं। वैसे ही परब्रह्म रूपी वृक्ष, वदनरूपी फलभार से झुक गया है, ऐसा प्रतीत होता है।।६९।। हे विश्वमूर्ति! ऐसे जहां-तहां आप के मुख दिखाई दे रहे हैं। वैसे ही, अनेक और विस्तृत नेत्रों की पंक्तियां भी चहुं ओर दिखाई दे रही हैं।।२७०।। यह तो रहने दीजिये, स्वर्ग, पाताल, भूमि, दिशा आदि में कुछ भी भेद नहीं रहा। सब कुछ आपके मूर्ति मय दिखाई दे रहा है।।७१।। कुतुहल से देखने पर भी आपके सिवा कहीं एक परमाणु बराबर भी अवकाश नहीं दिखता। इस प्रकार आप सर्वत्र व्याप्त हैं।।७२।। हे अनन्त! यह नानाविध और अगणित महाभूतों का समूह सब आप ही में व्याप्त है।।७३।। ऐसे आप कहां से प्रकट हुये हैं? आप बैठे हैं या खड़े हैं? तथा आप किस माता के गर्भ में थे? आपकी आकृति कितनी बड़ी है?।।७४।। आपका रूप और आयु कितनी है, हे परेश! आपके परे और क्या है, आप किस आधार पर स्थिर हैं इत्यादि सब मैंने देख लिया है।।७५।। हे प्रभो! सर्वत्र यह दिखाई देता है कि, आप का ठाँव आप ही हैं, आप किसी से उत्पन्न नहीं हुए हैं, आप अनादि काल से ऐसे ही बने हैं।।७६।। आप न खड़े हैं न बैठे, न ऊंचे हैं न नाटे तथा आपके नीचे और ऊपर आप स्वयं ही विराजमान हो।।७७।। स्वरूप में आप, अपने जैसे ही हो। हे परमेश्वर! आप ही अपनी आयु हैं और आप ही अपने आगे-पीछे, पेट-पीठ स्वयं ही हैं।।७८।। किंबहुना, हे अनन्त! सांप्रत जैसे-जैसे मैं आप को देखता हूं, वैसे-वैसे आप ही अपने सब कुछ हैं यह बात मैं जान गया हूं।।७९।। परन्तु, आप के इन रूपों में यही एक न्यूनता है कि, आप को आदि, मध्य एवं अंत तीनों विकार नहीं हैं।।२८०।। मैंने उत्पत्ति, स्थिति और अंत इन तीनों को सर्वत्र खोजने का प्रयास किया किंतु कहीं भी तीनों का पता नहीं पाया। इसीलिये निशिचत रूप से ये तीनों बातें आप में नहीं हैं।।८१।। इसप्रकार आदि मध्यान्तरहित, हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! मैं आपको तत्त्व रूप से देख चुका हूं।।८२।। आपकी महामूर्ति में अनेक और पृथक-पृथक मूर्तियां प्रकट होती हैं जिससे ऐसा ज्ञान पड़ता है कि, आप अनेक प्रकार के रंगीन वस्त्रों से सजे हो।।८३।। आपकी अनेक एवं विभिन्न मूर्तियां मानों वृक्ष और लताएं हैं जो आपके स्वरूप रूपी पर्वत पर दिव्य अलंकार रूपी फल और फूलों की बहार से सुशोभित हुई हैं।।८४।। अथवा हे देव! आप महासमुद्र हैं जिसमें आप ही तरंगरूपी मूर्तियों के झोंके बन गये हैं, अथवा आप ही मूर्ति रूपी फलों से लदे हुये साक्षात वृक्ष हैं।।८५।। अजी, पृथ्वी जैसी भूतों से भरी है अथवा गगन जैसा नक्षत्रों से आच्छादित है, वैसे ही आप का रूप मूर्तियों से भरा

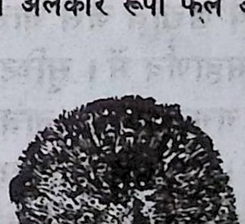

Funding by IKS-MoE

आच्छादित। वैसे मूर्तियों से पूरित। रूप आपका।।८६।। जिस एकेक के अंग से। सृजत नाशत त्रिलोक जैसे। ऐसी एकेक मूर्तियां रोम से। अंकुरित विशाल।।८७।। ऐसे विस्तारक विश्व के। आप कौन यहां किसके। देखूं तब मेरे रथ के। सारथि ही आप।।८८।। मुझे भासत हे कृष्ण!। आप सर्वत्र व्यापक समान। किंतु भक्तानुग्रहार्थ सगुण। धरत रूप।।८९।। कैसी चतुर्भुज श्यामल मूर्ति। देखत हरखत नेत्र, वृत्ति। आलिंगनार्थ समावत अति प्रीति। भुजाओं में दो।।२९०।। ऐसी मनोहर मूर्ति सकृप। धारण करत यह विश्वरूप। दृष्टि हमारी सलेप। जो माने सामान्य।।९१।। वह दृष्टि दोष अब नष्ट। जो आपसे दिव्य चक्षु प्राप्त। इसलिये देखी स्पष्ट। महिमा आपकी।।९२।। रथ मकर तुंड के पीछे अच्युत। जो आप ही थे स्थित। वही हुये विश्वरूप निश्चित। जानू मैं।।९३।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

वही तो न यह मुकुट। नित्य आप जो धारण करत। तेज और महति सांप्रत। आश्चर्यकारक अति!।।९४।। क्या वही न यह फिरता चक्र। जो उपरिहस्त में विश्वाधार। चिन्ह उसका साकार। कायम अब भी।।९५।। दूजे हस्त में वही गदा। तलभूजा निरायुधा। बाग संवारने गोविंदा। फैलाई दोनों।।९६।। और सवेग अकस्मात। मेरे मनोरथपूर्ति प्रीत्यर्थ। हुए विश्वरूप वही विश्वनाथ। जानूं मैं।।९७।। किंतु कैसा यह नवल। विस्मय भी न कर पावूं मैं निर्बल। चित्त होत भ्रमित सकल। आश्चर्य से इस।।९८।। यह यहां है यहां नाहीं। विचार को अवकाश न कुछ ही। अंगप्रभा की नवलताई। व्याप्त सर्वत्र।।९९।। यहां अग्नि की भी दृष्टि झपकत। सूर्य खद्योत जैसे भासत। ऐसी तीव्रता अद्‌भुत। तेज की इस।।३००।। या महातेज के महार्णव में। सृष्टि संपूर्ण डूबी उसमें। अथवा युगान्त विज्जु के वस्त्र में। आच्छादित गगन।।१।। नातर संहार तेज की ज्वाला को। तोड़कर बांधी मचान अंतराल को। अतः मेरी दिव्य दृष्टि से भी मुझको। न देखना शक्य।।२।। वह तेज प्रखर अधिकाधिक। भड़कत अति दाहक। होवे दिव्यचक्षु को भी त्रासक। निहारूं जब।।३।। जी यह महाप्रलय का वन्हि। रुद्र में जो गुप्त कालाग्नि। वह खुली कलिका कलियानी। तृतीय नयन को जैसी।।४।। उस तेज के विस्तार से। पंचाग्नि ज्वाला वलय से। वेष्टित होवे कोयला जैसे। ब्रह्मकटाह पूर्ण।।५।। ऐसी अद्‌भुत तेजो राशि को। इसी जन्म में देखा ऐसे नवल को। आपकी कांति एवं व्याप्ति को। पार नाहीं।।६।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषों मतो मे।।१८।।

हुआ दिखाई देता है॥८६॥ आप के शरीर के रोम-रोम में इतनी बड़ी-बड़ी मूर्तियां प्रकट हुई हैं कि, एक-एक अंग प्रदेश में त्रैलोक्य उत्पन्न और विलीन हो रहा है॥८७॥ यदि यह देखा जाये कि विश्व का ऐसा विस्तार करनेवाले आप कौन हैं और किसके हैं, तो आप वही हमारे सारथी हो यह बात मेरे समझ में आई॥८८॥ हे श्रीकृष्ण! मैं जानता हूं कि आप सर्वदा, सर्वकाल ऐसे ही व्यापक हैं और भक्त पर कृपा करने के लिए यह प्रेममय सगुण रूप धारण करते हैं॥८९॥ कैसी सुंदर शामल यह चतुर्भुज मूर्ति है कि इसे देखते ही मन और नेत्र दोनों हर्षित होते हैं और यदि आलिंगन देना चाहें तो यह दोनों हाथ में समा सकती है॥२९०॥ हे विश्वरूप! ऐसी सुंदर, मनोहर मूर्ति आप हम भक्तों पर कृपा करने के लिए ही धारण करते हो। किंतु यह तो हमारी आज्ञा से लिप्त दृष्टि का ही दोष है, जो हम आपको सामान्य समझते हैं॥९१॥ वह हमारी दृष्टि का दोष अब नष्ट हुआ है, क्योंकि आपने हमें सहज ही दिव्य दृष्टि दे दी है। इससे आपकी यथार्थ महिमा दिखाई दी है॥९२॥ मैं खूब अच्छी तरह जान चुका हूं कि आप जो हमारे मकरमुखी जुएं के पीछे बैठे हुए थे, उन्होंने ही यह विश्वरूप धारण किया है॥९३॥

हे विष्णो! मैं आपको मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज का पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान कांतिमान एवं जानने को अति गहन और अप्रमेय स्वरूप को देखता हूं॥१७॥

हे श्रीकृष्ण! आपके मस्तक पर क्या वही नित्य धारण किया हुआ मुकुट नहीं है? परंतु उसका अभी का तेज और उसकी महिमा बड़ी न्यारी और आश्चर्यकारक प्रतीत होती है॥९४॥ हे विश्वमूर्ति! क्या आपके ऊपर वाले हाथ में वही चक्र नहीं है जिसका आकार और चिन्ह अभी भी कायम हैं॥९५॥ दूसरे हाथ में वही गदा है, और नीचे की ये दोनों शस्त्र रहित भुजाएं आपने रथ की बागड़ोर थामने के लिये फैलाई हुई हैं॥९६॥ और, हे विश्वेश! मेरा मनोरथ पूर्ण करने के लिये, वही आप, शीघ्रता से अकस्मात विश्वरूप में प्रकट हो गये हो, इस बात को मैं पहचानता हूं॥९७॥ हे प्रभु! किंतु इस नई बात का विस्मय करने की योग्यता मुझ निर्बल में नहीं है। मेरा चित्त तो इस आश्चर्य से दिग्मूढ़ हो गया है॥९८॥ आपकी अंगप्रभा की नूतनता ऐसी व्याप्त है, कि यह स्वरूप यहां है और वहां नहीं ऐसा विचार भी मैं नहीं कर सकता॥९९॥ इस विश्वरूप की प्रभा से अग्नि की दृष्टि भी मंद हो जाती है, सूर्य खद्योत के समान क्षुद्र प्रतीत हो रहा है, ऐसी इस तेज की प्रखरता है॥३००॥ अथवा महातेज के महासमुद्र में मानों संपूर्ण सृष्टि डूब गई है, या प्रलय-काल की विद्युत के अंचल से आकाश ढक गया है॥१॥ अथवा सृष्टि का संहार करने वाली अग्नि ज्वालाएं तोड़कर आकाश में उनसे मचान बांधी हो। इसीलिये इस दिव्य ज्ञान दृष्टि से भी इसको देखना मेरे लिये संभव नहीं है॥२॥ वह तेज अधिक से भी अधिक प्रखरता से प्रदीप्त तथा अति दाहक है और इसीलिये जब-जब इसे देखने का यत्न करता हूं, तब-तब इन दिव्य चक्षुओं को भी वह कष्टदायक हो रहा है॥३॥ महाप्रलय की भभकार, जो कालाग्निरूपी श्री शंकरजी में सुप्त थी, वह मानों उनके तृतीय नयनरूपी कली सी फूटी हो॥४॥ तथा चहुं ओर उस विस्तृत प्रकाश में पांचों अग्नियों की ज्वालाओं से वेष्टित इस ब्रह्मांड के कोयले हो रहे हों॥५॥ ऐसे अद्भुत तेज के पुंज को, इस आश्चर्यमय विश्वरूप को मैंने इसी जन्म में देखा। हे प्रभु! आप की व्याप्ति और तेज का पार नहीं लगता॥६॥

इसीलिये, हे भगवन्! आप ही जानने योग्य परम अक्षर हैं, अर्थात परब्रह्म परमात्मा हैं और आप ही इस जगत के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं ऐसा मेरा मत है॥१८॥

देव आप अक्षर। औट मात्रा के पार। श्रुति जिसका घर। खोजत स्वयम्।।७।। जो आकार का आयतन। विश्व विक्षेपैक निधान। आप अव्यक्त गहन। अविनाशी।।८।। आप धर्म की आर्द्रता पूर्ण। अनादि सिद्ध नित्य नूतन। जानू सैंतीसवें हे कृष्ण!। पुरुष विशेष आप।।९ ।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

आप आदि मध्यान्त रहित। स्वसामर्थ्य से अनंत। विश्वबाहू अपरिमित। विश्वचरण आप।।३१०।। चंद्र चंडाशु नयन। कोपप्रसाद लीला दर्शत। एक को तमोरूप से शासन। पालन कृपादृष्टि से अन्य को।।११।। जी आपको एवं विध से। स्पष्ट मैं देखूं जैसे। प्रदीप्त प्रलयाग्नि दीप्ति वैसे। वक्त्र आपके।।१२।। वडवाग्नि से पर्वत दहत। क्षणक्षण ज्वाला उभड़त। वैसी चाटत दंष्ट्रादंत। हिलत जिव्हा।।१३।। इस वदन की उष्मा से। और सर्वांग कांति प्रभा से। विश्व तप्त अति प्रखर जैसे। क्षोभित पूर्ण।।१४।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाभुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

या जो द्योर्लोक एवं पाताल। पृथिवी तथा अन्तराल। अथवा दशदिशा निखिल। दिशाचक्र सब।।१५।। यह संपूर्ण आपमें। व्याप्त देखूं कुतुहल में। गगन सहित भयानक जल में। आप्लावित जैसे।।१६।। नातर अद्भुत रस कल्लोल में। वेष्टित चौदह भुवन उसमें। वह आश्चर्य अकेला देखूं मैं। विश्वव्यापक।।१७।। आपकी व्याप्ति असाधारण। असहनीय रूप का उग्रपन। सुख तो रहा दूर प्राण-। धारण भी दुष्कर।।१८।। इस विध देखकर आपको। कैसे भय अपार उपजत मुझको। देखूं डूबत त्रिलोक को। दुःख कल्लोल में उस।।१९।। वैसे आप सम महात्मा के दर्शन-। से क्यों होवे भयदुःख उत्पन्न?। किंतु यह रूप न सुखद कृष्ण। जानूं यह मैं।।३२०।। जब तक न था दृष्टिगोचर। तब तक संसार था सुखकर। अब नष्ट होना विषय विकार। किंतु उत्पन्न त्रास ही।।२१।। इस दर्शन उपरान्त। कैसे संभव आलिंगन अच्युत। कैसे बिन उसके रहना सांप्रत। शोक संकट में इस।।२२।। अतः पीछे हटूं तब संसार। जन्ममरण रूप अनिवार। आगे यह आपका प्रचण्ड आकार। कैसा आलिंगन शक्य?।।२३।। ऐसे संकटबीच दोनों। त्रैलोक्य बेचारा दग्ध मानों। मतितार्थ इस विध जानो। प्रतीत मुझको।।२४।। जैसा कोई अग्नि से दग्ध। जात शमनार्थ समुद्र सन्निध। तब जल कल्लोल से भयविद्ध। अधिक अति।।२५।। वैसे इस जग को घटित। आपके दर्शन से दुःखित। किंतु ध्याये पैलपार स्थित। ज्ञानशूर सब।।२६।।

Funding by IKS-MoE

हे देव! आप अविनाशी हैं। आप साढ़े तीन मात्राओं से परे हैं। श्रुति स्वयं जिसका घर खोज रही है,।।७।। आप ओंकार के आधार और विश्वरूपी निधान रखने का स्थान हो। आप विकार रहित, अगाध और अविनाशी हैं।।८।। आप धर्म के जीवन हैं, आप अनादिसिद्ध, नित्यनूतन हैं और मैं समझता हूं कि हे कृष्ण! आप सैंतीसवें पुरुष हैं।।९।।

हे परमेश्वर! मैं आपको आदि, अंत और मध्य से रहित तथा अनंत सामर्थ्य से युक्त, अनंत हाथोंवाले तथा चंद्र-सूर्यरूपी नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेज से इस जगत को ताप देनेवाले देखता हूं।।१९।।

हे परमेश्वर! आप आदि-मध्यान्त रहित हैं। अपने अपरमित सामर्थ्य से देश काल वस्तु मर्यादा रहित अनंत हैं। आप विश्वबाहु और विश्वचरण हो।।३१०।। चंद्र और सूर्यरूपी नेत्रों से आप भक्तों को प्रसादमुद्रा तथा दुष्टों को कोप-मुद्रा दिखाते हो। किसी का तमोरूप नेत्रों से दमन तथा किसी का कृपादृष्टि से पालन करते हो।।११।। महाराज! इस प्रकार के आपको मैं स्पष्ट देख रहा हूं। आप का मुख प्रलयकाल के प्रज्वलित अग्नि के समान दैदिप्यमान दिखाई दे रहा है।।१२।। दावाग्नि से जलते हुए पर्वत से लिपटकर ज्वालाओं की भभक जैसे उठती है, वैसे ही दांत और दाढ़ें चाटती हुई आपकी जीभ लटक रही है।।१३।। इस बदन की गर्मी से और आपके सर्वांग के तेज से यह विश्व तप्त होकर अत्यंत क्षुब्ध हो रहा है।।१४।।

और हे महात्मन! यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का संपूर्ण आकाश तथा सब दिशाएं एक आप ही से परिपूर्ण हैं, तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक अत्यंत व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं।।२०।।

स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी और आकाश अथवा दसों दिशाएं, या संपूर्ण दिशाचक्र युक्त क्षितिज,।।१५।। इन सबको मैं एक आप ही में भरा हुआ कुतुहल से देख रहा हूं, किंतु किसी भयंकर शक्ति ने आकाश समवेत सब कुछ जल में डुबो दिया हो।।१६।। अथवा अद्भुत रस की तरंगों में चौदहों भुवन वेष्टित हुए हों। हे विश्वव्यापक! यह आश्चर्य मैं अकेला ही देख रहा हूं।।१७।। यह ज्योति असाधारण है। हे प्रभु! आपके स्वरूप की यह प्रखरता सही नहीं जाती। ऐसी हालत में सुख होना तो दूर ही रहा प्राण धारण करना भी अत्यंत कठिन प्रतीत होता है।।१८।। हे देव! ऐसा आपका रूप देखकर न जाने कैसे भय की बाढ़ आती है और मैं देख रहा हूं कि तीनों लोक उस दुःख-तरंगों में डूब रहे हैं।।१९।। यों तो आपके समान महात्मा का दर्शन हो तो भय और दुख क्यों प्राप्त हो? किंतु यह सब जो मैं देख रहा हूं वह कतई सुखकारक नहीं है, इतना मैं जानता हूं।।३२०।। स्वयं अपनी दृष्टि से, जब तक मैंने आपका यह रूप नहीं देखा था, तब तक जगत में संसारिक सुख अच्छा मालूम होता था, अब आप का यह रूप देखकर, वास्तव में सब विषय विकार नष्ट होने चाहिये थे, किंतु इससे त्रास ही उत्पन्न हो रहा है।।२१।। हे अच्युत! ऐसा आपक का दर्शन होने के उपरांत क्या आपको आलिंगन देना संभव हो सकता है? और यदि न हो सके तो उसके बिना हम ऐसे शोक-संकट में कैसे रहें?।।२२।। अतएव, पीछे हटते हैं तो अनिवार्य जन्म-मरण के चक्कर में फंसते हैं और आगे बढ़ते हैं तो आपका यह विराट आकार है जिसे हम आलिंगन नहीं दे सकते।।२३।। इस प्रकार, दो संकटों के बीच पड़ा हुआ बेचारा त्रिभुवन मानों भुन रहा है। यह उसका मतितार्थ स्पष्ट जान गया हूं।।२४।। जैसे कोई अग्नि से जले और शीतलता प्राप्त करने समुद्र के पास जावे, किंतु वहां की हिलोरती हुई तरंगों से और भी अधिक डर जावे।।२५।। वही हाल इस जगत का हुआ है। आपके इस भयकारी रूप को देखकर सामान्य जन तो दुखी हो गये हैं, किंतु जो इन जीवों से परे, ज्ञान-निपुण हैं वे सब विश्वरूप को ज्ञान दृष्टि से देख कर संतुष्ट हुये हैं।।२६।।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

आपके अंग का तेज। दग्ध इनके सब कर्मबीज। मीनत आपमें सहज। सदभाव युक्त।।२७।। और कुछ भयभीत। सर्वथा क्रमत आपका ध्येय पथ। कर जोड़कर प्रार्थत। आपको प्रभु।।२८।। देव गिरा मैं अविद्यार्णव में। फंसा विषय जाल में। जखड़ा स्वर्ग संसार में। दो बाजू से।।२९।। इसविध संकट गहन। मुक्तता देगा कौन?। आपको सर्व प्राण से शरण। देवाधिदेव।।३३०। और महर्षि एवं सिद्ध। विद्याधर समूह। विविध वे करत। स्वस्तिवाद स्तवन आपका।।३१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

ये रुद्रादित्यों के समुदाव। वसु और साध्य सर्व। अश्विनी विश्वेदेव सविभव। वायु ही सब।।३२।। सुनो पितर एवं गंधर्व। यक्षरक्षोगण सर्व। महेंन्द्रादि प्रमुख देव। सिद्धादिक।।३३।। ये सब अपने लोक में। अति उत्कंठा लिये मन में। आपको इस दैविकी मूर्ति में। निरखत देखो।।३४।। तब देख-देख प्रतिक्षण। विस्मित निज अंतःकरण। स्वमस्तक से उतारत हे कृष्ण!। आरती आपकी।।३५।। करके जयजयघोष कलरव। गर्जवत स्वर्गलोक सर्व। ललाटपर रखत हस्तद्वय। वंदना करत।।३६।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

उस विनय द्रुम की आंख में। बहरत अष्ट-सात्विक वसंत में। अतः लभत कर संपुट पल्लव में। प्राप्ति फल आपका।।३७।। जी लोचन का भाग्य उदित। मन को सुख संपत प्राप्त। जो अगाध आपका देखत। विश्वरूप यह।।३८।। यह रूप लोकत्रय व्यापक। देवताओं को भी इसका धाक। दिखत सबको सदा सन्मुख। दशदिशाओं में।।३९।। ऐसे एक ही किंतु विचित्र। और अनेक भयानक वक्त्र। बहुलोचन यह सशस्त्र। अनंत भुजा।।३४०।। बाहु बहुचरण। बहु उदर नाना वर्ण। वैसे प्रतिवदन सज्जपूर्ण। आवेश युक्त।।४१।। किंवा कल्पान्त में महा। क्रोधित यम जहां तहां। प्रलयाग्नि ज्वाला दुःसहा। प्रसरत जैसे।।४२।। नातर संहार त्रिपुरारि के यंत्र। या प्रलय भैरव का क्षेत्र। रखा नाना युगान्त शक्ति का पात्र। सम्मुख भूतों के।।४३।। वैसे जहां तहां सर्वत्र। आपके प्रचंड वक्त्र। दर में सिंह न समावत। क्रोधित दशन ऐसे।।४४।। जैसे कालरात्रि के अंधःकार में। विचरत पिशाच्च उल्हास में। वैसे लिप्त प्रलयरूधिर में। मुख में दंष्ट्रा आपकी।।४५।। काल स्वयं आव्हानत रण। सर्व संहार से मत्त मरण। वैसे अति भयंकर वदन। आपका

Funding by IKS-MoE

और हे गोविंद! वे सब देवताओं के समूह आप में ही प्रवेश करते हैं, और कई एक हाथ जोड़े हुये आप के नाम और गुणों का उच्चारण करते हैं। महर्षि और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण होवें' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रों द्वारा आप की स्तुति करते हैं॥२१॥

आप के अंग-तेज से इनके सब कर्मबीज दग्ध होकर वे अपने सहज सद्भाव से आप में मिल रहे हैं॥२७॥ और जो भक्त आप के उग्ररूप से भयभीत हुये हैं, वे आपको ही ध्येय स्वरूप सामने रखकर हाथ जोड़कर, हे प्रभु ! आप की प्रार्थना कर रहे हैं, ॥२८॥ कि हे देव! हम अविद्या-समुद्र में पड़े हैं, विषय की बागुर में अटके हुये हैं तथा एक ओर स्वर्ग और दूसरी ओर सारा संसार के पेंच में फंसे हैं॥२९॥ इस प्रकार से हम बद्ध हुये हैं, हमारी मुक्तता आपके बिना और कौन कर सकता है? हे देव! हम सब प्राणों सहित आपके शरण हैं॥३३०॥ महर्षि, सिद्ध और अनेक विद्याधरों के समूह कल्याण सूचक वचनों से आपकी स्तुति कर रहे हैं॥३१॥

और हे परमेश्वर! जो एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, साध्य नामक देवता गण, विश्वेदेव, अश्विनी कुमारी, मरुद्गण, पितरों के समुदाय, गंधर्व, यक्ष राक्षस और सिद्धगणों के समुदाय हैं, वे सभी आप को देखते हैं और विस्मित होते हैं॥२२॥

ये रूद्र और आदित्यों के समुदाय, वसु और संपूर्ण साध्य गण, दोनों अश्विनी कुमार, विश्वे देव और वायु अपने वैभव सहित, ॥३२॥ और पितृगण, गंधर्व, यक्ष, राक्षसगण और इंद्रादि प्रमुख देवतागण तथा सिध्यादिक, ॥३३॥ सभी अपने-अपने लोक में उत्कंठा पूर्वक आपके इस आधिदैविक महामूर्ति विश्वरूप को देख रहे हैं॥३४॥ और देखते-देखते प्रतिक्षण अंतःकरण में विस्मित होकर, हे प्रभो! अपने मस्तक से आप की आरती उतार रहे हैं॥३५॥ वे मंजुल शब्दों से जय घोष करके संपूर्ण स्वर्ग को गुंजाते हैं और अपने दोनों हाथ ललाट पर रखकर आप की वंदना करते हैं॥३६॥ उस विनय रूपी वृक्षों के अरण्य में मानों सात्विक भाव रूपी बसंत-काल आया है, और आप उनके करसंपुट रूपी पल्लवों में प्राप्त रूपी फल हो जाते हैं॥३७॥

और हे महाबाहो। आप के बहुत मुख, नेत्र तथा बहुत हाथ, जंघा और बहुत उदरों वाले तथा बहुत सी विकाल दाढ़ाओं वाले महा-भयंक रूप को देखकर सब लोक व्याकुल हो रहे हैं तथा इन्हीं के समान मैं भी व्याकुल हो रहा हूं॥२३॥

महाराज! उन देवताओं के लोचनों का भाग्योदय हुआ है, मन को सुख की संपत्ति प्राप्त हुई है जो आज उन्हें आपका यह विराट विश्वरूप दिखाई दिया है॥३८॥ तीनों लोकों में व्याप्त इस रूप को देखकर देवों को भी भय उत्पन्न हो रहा है। किसी भी दिशा से देखें, यह विश्वरूप उन्हें उनके सम्मुख ही दिखाई देता है॥३९॥ इस प्रकार यह रूप एक ही है, परंतु इसके अनेक मुख हैं जो विचित्र और भयानक है, लोचन अनेक हैं और इसकी अनंत भुजाओं में शस्त्र विद्यमान हैं॥३४०॥ इसकी जांघे, बाहु और चरण अनेक हैं, उदर अनेक और नाना वर्ण के हैं तथा हर एक मुख में आवेश की उन्मत्तता भरी हुई है, ॥४१॥ मानों महाकल्पांत के अन्त में क्रुद्ध हुए यम ने जहां-तहां प्रलयाग्नि अंगीठियां प्रज्वलित की हों, ॥४२॥ अथवा वे मुख मानों श्री शंकर जी के संहार करने वाले यंत्र हों, या प्रलय-भैरवों के निवास-स्थान हों, अथवा भूतों के सामने युगान्त शक्ति के पात्र परोसे हुये हों॥४३॥ ऐसे जहां-तहां आप के प्रचंड मुख दिखाई दे रहे हैं। और जैसे गुफाओं में न समाने वाले सिंह हों, वैसे ही आपके क्रुद्ध मुख में दांत दिखाई दे रहे हैं॥४४॥ जैसे विनाशकारी पिशाच कालरात्रि के अंधेरे में उल्हसित हृदय से विचरण करते हैं, वैसे ही आपके मुख में आपकी दाढ़ाएं प्रलय काल में मृत्यु को प्राप्त हुये प्राणियों के रक्त से लिथड़ी हुई दिखाई दे रही हैं॥४ ॥ और रण को जैसे काल ने निमंत्रण दिया हो, अथवा सबका संहार करके मृत्यु मत्त हो रहा हो ऐसा अत्यंत भयंकर आपका मुख दिखाई दे रहा

Funding by IKS-MoE

प्रभु।।४६।। यह बेचारी लोकसृष्टि। यदि देखत किंचित अपनी दृष्टि। भासत दुःखकालिंदी तट में रमापति। खड़ी वृक्षसमान।।४७।। आपके महा मृत्युसागर में वैसी। अब यह त्रैलोक्य जीवनतरी जैसी। शोक दुर्वात लहरी से तैसी। आंदोलत।।४८।। यहां यदि कृष्ण आप रोष से। कदाचित कहोगे मुझसे। क्या मतलब लोकभय से। भोगो ध्यानसुख तुम।।४९।। तब सुनो हे अच्युत!। लोकभय का तो केवल निमित्त। सच मानों मेरे ही थरारत। पंचप्राण भय से।।३५०।। जो मुझसे संहारुद्र आतंकित। भय से मेरे मृत्यु स्वयं डरत। वही मैं अंतर्बाह्य भयाग्नि तप्त कंपित। किया ऐसा आपने।।५१।। जी नवल आपका यह रूप। उसको नाम यदि विश्वरूप। यह भयासुर महामारी बाप!। हरावत भय को ही।।५२।।

> नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
> दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

कित्येक मुख क्षोभित। होड़ में महाकाल को जीतत। अपने विस्तार से लघु भासवत। आकाश प्रत्यक्ष।।५३।। न आकलत महाकाश से। न वेष्टत त्रिभुवन वायु से। भभकत मुख की भांप से। दाहत अग्नि को ही।।५४।। नहीं एक एक समान। यहां अनेक भेद वर्णावर्ण। जब प्रलयाग्नि उत्पन्न। सहायक इसको।।५५।। जिसकी अंगदीप्ति अशेख। करत त्रिलोक की समस्त राख। उनमें अनेक मुख। दंतदंष्ट्रायुक्त।।५६।। जैसे पवन को होवत महाधनुर्वात?। या समुद्र को महापूर प्राप्त?। अथवा विषाग्नि मारने प्रवर्तत। वड़वानल को?।।५७।। अग्नि से हलाहल भक्षण। या मारने उद्युक्त मरण। वैसे संहारतेज को वदन। प्रस्फुटित देखो।।५८।। वे कितने विशाल। जैसे कटकर अंतराल। आकाश में उत्पन्न बिल। हुआ महान।।५९।। लेकर वसुंधरा बगल में। प्रवेशत हिरण्याक्ष पाताल में। खोला तब उसमें। हाटकेश्वर जैसा।।३६०।। वैसा वक्त्रों का विकास। उसमें जिव्हाओं का अलग आवेश। विश्व न पूरा होत ग्रास। अतः न भक्षत उसको।।६१।। और पाताल व्याल का फूत्कार। गरलज्वाला स्पर्शत अम्बर। वैसे विस्फारित वदन दर। मध्ये भासत जिव्हा।।६२।। प्रलयविजु के समुदाव। शृंगारत गगन दुर्ग सर्व। वैसे ओष्टद्वय के बाहर यह। दिखत दृढ़ दंष्ट्र।।६३।। और ललाट पट के विवर-। मध्ये भय को भयकारक नेत्र। या महामृत्यु के। प्रवाह अनिवार। तम में गुप्त।।६४।। इसविध लेकर भय का वेष। किस प्राप्ति की आपको आस। न जानू किंतु प्राप्त अशेष। मरण भय मुझको।।६५।। देव! विश्वरूप दर्शन का दोहद। वह तो हुआ फलद। नेत्र तृप्त मनोरथ सिद्ध। पूर्णरूप से मेरा।।६६।। पार्थिव यह शरीर अच्युत। न इसकी चिंता किंचित। किंतु अब तो चैतन्य भी कदाचित। रहे या न रहे।।६७।। इस विश्वरूप दर्शन से विराट। संपूर्ण शरीर कंपत। मन तप्त बुद्धि भय ग्रसित। लुप्त अभिमान सब।।६८।। इतना ही नहीं कृष्ण। जो इंद्रियों से भी भिन्न। आनंदरूप

है ॥४६॥ हे रमापति! बेचारी इस लोकसृष्टि पर यदि आप किंचित दृष्टिक्षेप करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि वह दुःख रूपी कालिया के विष से दुःखित कालिंदी के तीर पर के वृक्ष के समान उदासीन खड़ी हुई ॥४७॥ आपका यह रूप महामृत्यु का सागर है और उसमें त्रैलोक्य-जीवन-रूपी नौका शोकरूपी आंधी की लहरों से भयानक हिलोरे खा रही हो ॥४८॥ हे श्रीकृष्ण! यहां कदाचित आप क्रोध से यों कहोगे कि तुझे दूसरों से क्या मतलब, तू स्वयं इस ध्यान-सुख का उपभोग कर ॥४९॥ तो महाराज! सुनो, वास्तव में साधारण जनों के भय का तो निमित्त मात्र है। सच पूछिये, तो स्वयं मेरे ही पंचप्राण कांप रहे हैं ॥३५०॥ जिस मुझ से प्रलय-काल का रुद्र भी भयभीत है, जिस मुझ से स्वयं मृत्यु डरता है, वही मैं "अर्जुन विश्वरूप के भय-अग्नि ज्वाला से तप्त होकर कांप रहा हूं। ऐसा आपने मुझे भयभीत कर दिया है ॥५१॥ परन्तु ये तात! यह रूप एक विचित्र महामारी है, इस का नाम यद्यपि विश्वरूप है, तथापि भयानकता में यह भय को ही हराता है ॥५२॥

हे विष्णो! आकाश को स्पर्श किये हुये अनेक देदीप्यमान रूपों से युक्त तथा फैलाये हुये मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आप को देखकर, भयभीत अंतःकरण वाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पा सकता ॥२४॥

महाकाल को भी होड़ में जीतने वाले आपके कित्येक क्रुद्ध मुख इतने विस्तृत हो रहे हैं, कि उनके सामने आकाश भी छोटा दिखाई दे रहा है ॥५३॥ वे मुख जो आकाश के विस्तार में नहीं समा सकते, जो त्रिभुवन की वायु से भी आच्छादित नहीं किये जा सकते तथा जिन मुखों की भाप से अग्नि भी जलती है। ऐसे ये आपके मुख दिखाई दे रहे हैं ॥५४॥ वैसे, ये एक दूसरे के समान नहीं हैं। इनमें नाना वर्णों के भेद हैं, मानों प्रलय काल की अग्नि इन्हीं की सहायता लेती हो ॥५५॥ इनका इतना तेज है, कि ये त्रैलोक्य की राख कर सकते हैं। इनमें और भी ऐसे मुख हैं जिनमें दांत और दाढ़ाएं हैं ॥५६॥ जैसे वायु को महा-धनुर्वात हुआ हो, अथवा समुद्र महापुर में डूबा हो, अथवा विषमिश्रित अग्नि वड़वानल को मारने सज्ज हुआ हो, ॥५७॥ अग्नि ने हलाहल पिया हो, अथवा मरण ही स्वयं मारने को तैयार हुआ हो। इस प्रकार के भयानक मुख इस संहार तेज से प्रस्फुटित दिखाई देते हैं ॥५८॥ और ये कितने विशाल हैं, मानों अंतराल टूटकर आकाश में बड़ा भारी छेद हुआ हो ॥५९॥ अथवा बगल में पृथ्वी को दबाकर जब हिरण्याक्ष गुफा में घुस गया था तब श्री शंकर ने जैसी पाताल-गुफा प्रगट की थी ॥३६०॥ वैसे ही इन मुखों का विस्तार दिखाई देता है। बीच में जिव्हाओं का अलग ही आवेश है, जिसके लिये यह विश्व एक ग्रास के बराबर भी नहीं है और इसीलिये, मानों आप उसका ग्रास नहीं करते ॥६१॥ और जैसे पाताल-सर्पों की फुफकारों से उठी हुई विष की ज्वालाएं आकाश को छू लेती हों, वैसे ही आपके मुख रूपी गुफा में ये जिव्हाएं विस्तृत हो रही हैं ॥६२॥ प्रलय-विद्युत के समुदाय से शृंगारित आकाश में किलों का विस्तार दिखता हो, वैसी ही आपके होठों के बाहर निकली हुई तीव्र दाढ़ाएं दिखाई देती हैं ॥६३॥ आप के नेत्र मानों ललाट रूपी वस्त्र के गिलाफ में से भय को डरा रहे हैं, या जैसे महामृत्यु के प्रवाह अंधेरे में छिपे हुये हैं ॥६४॥ इस प्रकार भय का रूप लेकर आप न जाने कौनसा कार्य करना चाहते हैं? किन्तु, मुझे मरण का भय जरूर प्राप्त हुआ है ॥६५॥ हे देव! मैंने विश्वरूप देखने की इच्छा की उसका फल पाया। मेरा मनोरथ पूर्ण रूप से सिद्ध हुआ। मेरे नेत्र तृप्त हुए ॥६६॥ अजी, यह शरीर तो मिट्टी का है, यह रहे न रहे, इसकी मुझे चिंता नहीं है किन्तु अब तो मेरा चैतन्य भी कदाचित् बचे ना बचे ऐसी स्थिति हुई है ॥६७॥

आपके इस विराट विश्वरूप दर्शन से मेरा संपूर्ण शरीर कांप रहा है, मन को ताप हो रहा है और बुद्धि भयग्रस्त हुई है। मेरा सब अभिमान नष्ट हुआ है ॥६८॥ परन्तु, ये कृष्ण! इतना ही नहीं, जो इन सबसे भिन्न, केवल आनंद स्वरूप, निश्चल मेरी

निश्चल आत्मा पूर्ण। कंपित आज।।६९।। इस साक्षात्कार का प्रताप पूर्ण। नष्ट हुआ समस्त ज्ञान। अब गुरुशिष्य भाव को भी उत्पन्न। बाधा इससे।।३७०।। यह विश्वरूप से विकल। चित्त मेरा सकल। अतियत्न से कृपाल। बांधू साहस।।७१।। मेरे नाम से लुप्त धैर्य। उसपर अद्भुत विश्वरूप दर्शन यह। भला दिया उपदेश देव। किया भ्रमित मुझे।।७२।। जीव विश्राम प्रीत्यर्थ। यहां वहां बेचारा धावत। न कहीं वह पावत। आसरा प्रभु।।७३।। ऐसी यह विश्वरूप महामारी। चराचर जीवित्व नाशकारी। यदि न पावूं तब आश्रय हरि। तब जीऊं कैसे?।।७४।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

वैसे अखण्ड सम्मुख नेत्र। फूटत महाभय का पात्र। वैसे आपके प्रचंड वक्त्र। विस्तरित देखो।।७५।। कैसे दंतदंष्ट्रा समूह अच्युत। दोनों ओर में न समावत। प्रलयशस्त्रों की कटीली मेढ़ समस्त। लगाई जैसे।।७६।। तक्षम मुख में विष का सिंचन। या कालरात्रि में भूतों का संचरण। करना वज्राग्नि से आग्नेयास्त्र को प्रखर पूर्ण। घटित वैसे।।७७।। वैसे आपके विशाल तुंड। उससे उमड़त आवेश प्रचण्ड। मरणरसका ओघ चंड। वर्षत हमपर।।७८।। संहार समय का अनिल। और महाकल्पान्त का प्रलयानल। दोनों का जब होत मेल। क्या न दहत तब?।।७९।। वैसे आपके संहारक मुख। नष्ट मेरा धीर देख। भ्रमित न देखूं दिशा विशेख। न जानूं स्वयं को।।३८०।। अल्प विश्वरूप दर्शन। और हुआ सुख का अवर्षण। अब करो निरस्त कृष्ण। अस्तव्यस्त रूप यह।।८१।। ऐसा यदि मैं जानता अच्युत!। कदापि न पूछता ऐसी बात। अब बचाओं एक बार मेरा जीवित। स्वरूप प्रलय से इस।।८२।। यदि आप स्वामी मेरे अनन्त। करो रक्षण मेरा जीवित। नष्ट करो विस्तार समस्त। महामारी का यह।।८३।। सुनो सकल देवों के परमदेव। सकल विश्व चैतन्य का ठांव। कैसे विस्मरत यह स्वभाव। हुए संहारक आप।।८४।। अतः होना देवराय प्रसन्न। करो यह माया का संहरण। छुड़ाओ मुझको कृष्ण। महाभय से इस।।८५।। अब तक पुनः-पुनः अच्युत। विकलित आपको प्रार्थत। कारण मैं अति भयभीत। विश्वरूप से आपके।।८६।। जब हुआ अमरावती पर आक्रमण। किया अकेले मैंने ही रक्षण। काल के भी मुखसे श्रीकृष्ण। न डरा मैं।।८७।। किंतु नहीं वैसा विश्वरूप यह। यहां मृत्यु का भी करके पराजय। आप सकल विश्वसह। ग्रासत हमको।।८८।। देखो जी नहीं यह प्रलय काल। किंतु रक्षक आप प्रस्तुत हुए काल। बेचारा यह त्रिभुवन गोल। हुआ अल्पायु।।८९।। कैसा भाग्य यह विपरीत। की आस शांति की किंतु विघ्न प्राप्त। हाय विश्व तो नष्ट समस्त। ग्रासत आप।।३९०।। यह देखूं प्रत्यक्ष। खोलकर आप अनेक मुख। कंवलत चहुं ओर से आप। सैन्य सर्व।।९१।।

Funding by IKS-MoE

अंतरात्मा भी इससे कांप उठी है।।६९।। इस साक्षात्कार का बड़ा प्रताप है। इससे ज्ञान तो हद से पार हो गया है तथा यह गुरु-शिष्य संबंध टिकना भी कठिन हो रहा है।।३७०।। हे कृपाल! आपके इस दर्शन से मेरे अंतःकरण में जो विफलता उत्पन्न हुई है उसे सम्हालने के लिये मेरा मन अति यत्न से साहस बांधने का प्रयास करता है।।७१।। परन्तु मेरा धैर्य लुप्त हुआ है, और ऐसी परिस्थिति में इस अद्‌भुत विश्वरूप का दर्शन हुआ है। हे देव! आपने तो अपने उपदेश से मुझे खूब उलझा दिया है।।७२।। यह जीव बेचारा विश्राम लेने की इच्छा से चारों ओर दौड़-धूप करता है, परंतु हे प्रभो! उसे कहीं भी ठिकाना नहीं मिल रहा है।।७३।। महाराज! इस प्रकार इस विश्वरूप महामारी में चराचर जीवन नष्ट हो रहा है। हे श्रीहरि यदि आपका आश्रय न मिले तो बचूंगा कैसे?।।७४।।

और हे भगवान! आपके विकराल दाढ़ाओं वाले और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मैं दिशाओं का ज्ञान भी भूल गया हूं और मुझे सुख भी प्राप्त नहीं होता। इसलिये, हे देवेश! आप मुझ पर प्रसन्न होवें।।२५।।

जैसे आंखों के सामने अखण्ड महाभय का घड़ा फूटता हो, ऐसे आपके विशाल मुख फैले हुए दिखाई देते हैं।।७५।। हे अच्युत! आपके मुखों में दांत और दाढ़ों की कैसी भीड़ मच रही है, जो दोनों होठों में बंद नहीं हो सकती, और ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रलयकाल के शस्त्रों की घनी और कटीली संपूर्ण मेढ़ ही वहां लगी हुई है।।७६।। तक्षक को जैसे विष चढ़ जाये, या कालरात्रि में भूत का विचरण होने लगे, अथवा वज्राग्नि से अग्नेयास्त्र को प्रखर किया जाये,।।७७।। वैसे आपके विशाल मुख दिखाई दे रहे हैं, और उनमें से प्रचण्ड आवेश उमड़ रहा है, मानों मृत्युरस की भयानक वर्षा हम पर हो रही हो।।७८।। सृष्टि संहार के समय का वायु और महाकल्पांत के समय का प्रलयाग्नि इन दोनों का जब मेल होता है, तब क्या नहीं जलता?।।७९।। वैसे ही संहार करने वाले आपके ये मुख देखकर, मेरा धैर्य नष्ट हुआ है, भ्रम से मैं दिशा-विशेष को जान नहीं सकता। इतना ही नहीं मैं स्वयं को भी नहीं पहचान पाता।।३८०।। विश्वरूप का जरा सा दर्शन क्या किया तो सुख का ऐसा अकाल आ पड़ा। अब आप अपने इस अस्त-व्यस्त स्वरूप को समेटिये प्रभु!।।८१।। यदि मैं जानता कि आप ऐसे करोगे, तो मैं आप से यह बात कदापि पूछता ही नहीं महाराज! अब एक बार इस स्वरूप-प्रलय से मेरे प्राण बचाइये।।८२।। हे अनंत! यदि आप मेरे स्वामी हो, तो मेरे जीवन की रक्षा कीजिये और इस महामारी का विस्तार समेट लीजिये।।८३।। हे सकल देवों के परम देव! आपने अपने चैतन्य से विश्व को जीवन दिया है, क्या आप अपना वह स्वभाव भूल कर सबका विनाश करेंगे?।।८४।। इसीलिये हे देवराज! अब मुझ पर प्रसन्न होकर अपनी इस माया को समेटिये और मुझे इस महाभय से छुड़ाइये।।८५।। मैं व्याकुल होकर आपसे बार-बार विनती करता हूं क्योंकि आपके इस विश्वरूप से मैं अत्यंत डर गया हूं।।८६।। जब देवताओं की राजधानी अमरावती पर दैत्यों ने आक्रमण किया था तो, अकेले मैंने ही उन्हें परास्त कर के देवताओं का रक्षण किया था, मैं काल के मुख से भी भय नहीं करता।।८७।। परन्तु, आपका यह विश्वरूप तो उससे भी भयानक है। इसमें आप मृत्यु को भी मात करके इस संपूर्ण विश्व के साथ हमारा भी ग्रास करना चाहते हैं।।८८।। प्रलय काल का समय न होते हुये भी बीच ही में आप, जो वास्तव में रक्षक हो, आज काल बन गये हो और यह त्रिभुवन गोल अल्पायु हो रहा है।।८९।। कैसा उलटा है हमारा भाग्य! हमने तो शांति की इच्छा की थी, किंतु विघ्न ही आ खड़ा हुआ। हाय! हाय! यह विश्व तो पूर्णतः नष्ट हुआ, जो आप ही इसे ग्रसने लगे।।३९०।। आप सर्वत्र अनेक मुख फैला कर चहुं ओर से यहां खड़ी समस्त सेना को खा रहे हो, यह मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं।।९१।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।।२६।।

क्या न ये कौरव कुल के वीर। अंध धृतराष्ट्र के कुमर। देखो ये गये सपरिवार। वदन में आप के।।९२।। और जो-जो इनके सहायतार्थ। आये देश-देश के नृपनाथ। कोई न संदेशदेवा अवशिष्ट। निगलित सब।।९३।। मदमुख के समुदाव। भक्षत आप सर्व। महावत सहित यह। सेना ग्रसित सब।।९४।। महायंत्र तोप अशेष। पदाति प्रमुख के अस्त्र विशेष। मुख में सब अदृष्य। होत सहज।।९५।। कृतांत का बंधु भीषण। अकेला करे विश्व-भक्षण। ऐसे कोटि-कोटि शस्त्र पूर्ण। ग्रासत सब।।९६।। चतुरंग परिवार। अश्वसहित रहंवर। दंत स्पर्श बिना भक्षत परमेश्वर। कैसे संतोषत आप?।।९७।। अहो भीष्म समान कौन?। सत्य, शौर्य और निपुण। वे भी और ब्राह्मण द्रोण। इनको ग्रासत आप।।९८।। हाय यह सहस्त्र कर का कुमर। गया-गया यह कर्ण वीर। अशेष हमारे वीर सुवीर। गये कचरा जैसे।।९९।। हाय रे विधाता!। कैसा अनुग्रह आपका वृथा?। प्रार्थना से लाया मरण सर्वथा। बेचारे जग को।।४००।। पहले कुछ प्रकार से श्रीपति। बताई थी आपने विभूति। न हुई संतुष्ट मेरी मति। पूछा अधिक आपसे।।१।। अतः भोग्य वह त्रिशुद्धि न टलत। बुद्धि भी होवे भ्रमित। यह ललाट लेख सर्वतः। टलेगा कैसा?।।२।। पूर्व में समुद्र से अमृत भी प्राप्त। किंतु देव न उससे संतुष्ट। हुआ कालकूट प्रकट। अंत में जैसे।।३।। किंतु वह एक हुआ किंचित। अनुभव से यदि देखत। जो शंभु ने किया संकट निरस्त। अवसर में उस।।४।। यह प्रदीप्त अनिल निवारेगा कौन?। ग्रासेगा कौन यह विषाक्त गगन?। महाकाल से लेगा टक्कर कौन?। साहस किसमें इतना?।।५।। इसविध अर्जुन दुःख से व्याप्त। मन ही मन शोक करत। किंतु न जाने प्रस्तुत। अभिप्राय प्रभु का।।६।। जो मैं मारक ये कौरव मृत। ऐसे अति मोह से भ्रमित। वह नष्ट करने अनंत। दर्शवत निजरूप।।७।। अरे कौन मारे किस को?। यहां मैं ही संहारक सबको। विश्वरूप दर्शन मिष से जग को। प्रकट करत।।८।। किंतु विकलता यह व्यर्थ। पंडुसुत को यहां ग्रासत। अज्ञानवश भयभीत। होत जात।।९।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ।।२७।।

कहत देखो एक ही काल। सासिकवच सह दोनों दल। वदन में प्रवेशत सकल। जैसे गगन में अभ्र।।४१०।। जब महाकल्पान्त का अन्त। जैसा कुपित होकर कृतान्त। एकविस स्वर्ग पाताल सहित। निगलत सहज।।११।। नातर उदासीन जहां दैव। संचकों का पूर्ण विभव। जहां का तहां सर्व। पावत विलय।।१२।। वैसे युद्ध में सैन्य एकत्रित। इन मुखों में होत प्रविष्ट। एक ही न बाहिर छूटत। कैसा कर्म

Funding by IKS-MoE

और मैं देखता हूं कि उनके पक्ष के सभी राजाओं सहित धृतराष्ट्र के सभी पुत्र, भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण तथा हमारे पक्ष के प्रधान योद्धाओं के सहित सब के सब आप के मुख में प्रवेश कर रहे हैं ॥२६॥

ये कौरव कुल के वीर, अंधे धृतराष्ट्र के कुंवर ही हैं न? ये अपने परिवार समवेत आपके मुखं में चले गये ॥९२॥ और यह जो कौरवों की सहायता के लिये आये हुये देश-विदेश के राजा हैं उन्हें भी आप इस तरह खा रहे हैं कि, उनकी मरण-वार्ता भी उनके देश पहुंचानेवाला कोई शेष नहीं रहा ॥९३॥ जिनके गंडस्थल में मद भरा रहता है ऐसे हाथियों के समूह महावतों सहित आप गटागट गुटक रहे हैं और सब सेना को भक्षण कर रहे हैं ॥९४॥ तोपें आदि मारक यंत्र तथा चुने हुए पदाति वीर हाथ के शस्त्रों सहित आप के मुख में सहज ही जाकर अदृश्य हो रहे हैं ॥९५॥ कृतांत के भीषण बंधु जो अकेले ही विश्व का नाश कर सकते हैं, ऐसे कोटि-कोटि शस्त्र आप निगल रहे हैं ॥९६॥ हाथी, घोड़े, रथ और पदस्ति इस चतुरंग सैन्य-परिवार, विशेषतः घोड़े जुते हुये रथों को आप दांत न लगाते हुये ही निगल रहे हैं, और हे परमेश्वर! इनको निगल कर आप कितने संतुष्ट दिखाई दे रहे हो ॥९७॥ अजी, सत्य और शौर्य में भीष्म पितामह जैसा कौन है?, परंतु उन्हें और गुरु द्रोणाचार्य को भी आपने अपना ग्रास बना लिया है ॥९८॥ देखिये! यह सूर्य पुत्र कर्ण भी आपके मुख में गया, नष्ट हुआ और हमारे पक्ष के भी सभी वीर आपने कचरे के समान साफ कर दिये ॥९९॥ हाय रे हाय! हे विधाता! भगवान का यह कैसा विपरित अनुग्रह? मैंने यह अनुग्रह मांगकर बेचारे जगत के लिये मरण ही बुला लिया है ॥४००॥ पहले इन्होंने मुझे थोड़ी बहुत उपपत्तियों के साथ अपनी विभूतियां बतलाई थीं, परंतु उतने से मेरे मन को संतोष नहीं हुआ और मैं पूछ बैठा ॥१॥ यह निश्चित है कि, प्रारब्ध कभी नहीं टलता और बुद्धि भी भरमा जाती है। इन लोगों के मृत्यु का दोष मेरे माथे लगना यह मेरा ललाट लेख कैसा टल सकता था ॥२॥ प्राचीन काल में क्षीरसागर के मंथन के समय प्रथम थोड़ा सा अमृत प्राप्त हुआ, तथापि उतने से देवतागण तृप्त नहीं हुए और परिणाम में कालकूट उत्पन्न हुआ ॥३॥ यदि अनुभव से देखा जाये तो वह प्रसंग भी आज की तुलना में कुछ अल्प ही था, क्योंकि उस कालकूट के संकट का निवारण तो श्री शंकरजी ने कर दिया ॥४॥ परंतु, इस जलती हुई अग्नि को कौन समेटेगा? यह विषभरा आकाश कौन निगलेगा? इस महाकाल से खेलेगा कौन? किसमें इतना साहस है? ॥५॥ इस प्रकार दुःख से ग्रस्त अर्जुन मन ही मन में शोक करने लगा, परंतु श्रीकृष्ण का प्रस्तुत अभिप्राय उसके समझ में नहीं आया ॥६॥ वास्तव में अर्जुन को जो अत्यंत मोह (या भ्रम) हुआ था कि, "मैं मारने वाला हूं और यह कौरव मरने वाले हैं", उसे मिटाने के लिये ही श्री अनंत ने अपना यह स्वरूप उसे दिखाया था ॥७॥ श्रीकृष्ण ने विश्वरूप के बहाने यह प्रकट किया कि, अरे, इस संसार में कोई किसी को नहीं मारता, केवल मैं ही एक सबका संहारकर्ता हूं, ॥८॥ अर्जुन व्यर्थ ही व्याकुल हो रहा है। यह बात जो भगवान ने उसे विश्वरूप दर्शन द्वारा समझायी थी वह अर्जुन के समझ में नहीं आयी। और वह अज्ञान के कारण व्यर्थ ही भयभीत होकर कांप रहा था ॥९॥

आपके विकराल दाढ़ों वाले मुख में कुछ वेगयुक्त प्राणी प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्ण हुये सिरों सहित आप के दांतों के बीच दिख रहे हैं ॥२७॥

फिर अर्जुन ने कहा, देखिये! तलवार और कवचों सहित ये दोनों पक्ष की सेनायें, आकाश में अभ्र के समान, एकदम आप के मुख में समा गई है ॥४१०॥ अथवा महाकल्प के अंत में जब कृतांत सृष्टि पर क्रोधित होता है, तब वह पाताल समवेत इक्कीस स्वर्ग को निगल लेता है ॥११॥ अथवा प्रतिकूल भाग्य के समय जैसे संग्रह करने वालों की संपत्ति जहां की तहां लय हो जाती है ॥१२॥ वैसे ही इस युद्ध में एकत्रित हुई यह सेनायें आपके मुख में विलीन हो गई हैं, और देखिये! कैसा विपरीत कर्म है, जो एक भी उस मुख से बाहर छूट नहीं

देखो!॥१३॥ अशोक की टहनियां जैसी। उष्ट्र मुरावत मुख में तैसी। सेना वक्त्र मध्ये वैसी। वृथा पावत लय॥१४॥ परन्तु शिर मुकुट सहित। द्रंस्ट्र संडसी के बीच ग्रसित। चूर्ण होते दिखत। प्रत्यक्ष जैसे॥१५॥ मुकुट रत्न दो दंत में। रत्नचूर जिव्हा तल में। कोई-कोई दंताष्ट्र देखू मैं। लिप्त उस से॥१६॥ जैसा यह विश्वरूप काल। ग्रासत लोक शरीर, बल। किंतु नष्ट जीवित कर सकल। मस्तक रक्षत॥१७॥ वैसे शरीर मध्य सर्व सुन्दर। उत्तमांग जो शिर। अतः महाकालमुख ग्रस्त पर। बचत शेष॥१८॥ देखो कहत किरीटि नवलाई। क्या जन्मजात को मार्ग अन्य नाहीं। जग अपने से वदन-दह में सबही। डूबत जात॥१९॥ यह सृष्टि यथाक्रम अच्युत। इस मुख में ही होत प्रविष्ट। और यह एक जगह खड़ा स्वस्थ। ग्रासत सब को॥४२०॥ ब्रह्मादिक देव समस्त। उत्तुंग मुख में धावत। अन्य सामान्य भरत। निचले ही मुख में॥२१॥ और भी भूत जात। जन्मस्थल में ही ग्रसित। किंतु इस मुख से निभ्रांत। न छूटे कुछ भी॥२२॥

> यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
> तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥२८॥

महानदियों के ओघ जैसे। मीनत सहज समुद्र में वैसे। यह समस्त जग चहूं ओर से। प्रवेशत तैसे॥२३॥ आयु पथ में प्राणिगण। करके दिन-रात्रि का सोपान। त्वरित मुख मिलन। साधत आपका॥२४॥

> यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
> तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

यथा गिरि गुहर में प्रदीप्त। पतंग सवेग कूदत। वैसे इस मुख में प्रवेशत। लोक समस्त॥२५॥ किन्तु जहां वे प्रविष्ट। प्राशत पानी लोह तप्त। नाम-रूप व्यवहारी सब होत। नष्ट उनके॥२६॥

> लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
> तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥३०॥

और इतना सब आरोगण। करके भी न होत क्षुधा-शमन। कैसा दीपन यह असाधारण। आपका प्रभु!॥२७॥ जैसे रोगी ज्वर से मुक्त। या भिखारी अकालग्रस्त। ओष्ट को चाटते दिखा लपलपाहट। जिव्हाओं का प्रभु॥२८॥ वैसे आहार नाम से ही। इस मुख से कुछ बचा नहीं। कैसी अघोर नवाई। क्षुधित पन की॥२९॥ क्या समुद्र का घूंट एक भरना। या पर्वत एक ग्रास में निगलना। ब्रह्मकटाह पूर्ण चूर्ण करना। दंष्ट्रातल में॥४३०॥ दिशा सकल भक्षना। चमकीली चांदनी चाटना। ऐसे भासत सांप्रत कृष्णा। लोलुप्य आपका॥३१॥ जैसे कामवर्धत भोग से। भड़कत अग्नि इंधन से। भक्षत समस्त जग को वैसे। अतृप्त फिर भी॥३२॥ कैसे एक ही इतना विस्तारित। सब त्रिभुवन टिका जिह्वाग्र पर। जैसे

पाता।।१३।। ऊंट जैसे अशोक वृक्ष की सभी टहनियां चबा जाता है, वैसे ही इस विश्वरूप के मुख में संपूर्ण सेना व्यर्थ ही लय हो रही है।।१४।। उनके मुकुटों सहित सिर आप की दाढ़ों की सांडसी में फंसकर चूर-चूर होते हुए दिख रहे हैं।।१५।। उनके मुकुटों के रत्न आपके दांतों के बीच लगे हुए हैं, उनका चूर्ण आपके जीभ के जड़ में लगा हुआ है और कुछ दाढ़ों का अग्रभाग भी उस चूर्ण से लिप्त दिख रहा है।।१६।। ऐसा लगता है कि यह विश्वरूप काल लोगों के शरीर बलपूर्वक ग्रस लेता है, किंतु मस्तक अवश्य बचाकर रख छोड़ता है।।१७।। वैसे भी शरीर में सिर वास्तव में उत्तमांग है और इसीलिये महाकाल के मुख में जाने के उपरांत भी वे बचे हैं।।१८।। अर्जुन ने फिर कहा, देखिये! क्या जन्मे हुए प्राणियों को कोई दूसरा मार्ग नहीं है जो सब के सब स्वयं ही इस मुखरूपी दह में प्रवेश कर रहे हैं।।१९।। वैसे ही यह संपूर्ण सृष्टि भी अपने आप ही इस मुख में प्रविष्ट हो रही है और यह विश्वरूप एक ही स्थान पर खड़ा-खड़ा सब को ग्रस रहा है।।४२०।। ब्रह्मादि सब देवतागण ऊपरवाले मुख में दौड़ रहे हैं, तो पितर, गंधर्व आदि जो सामान्य हैं, वे निचले मुख में भर रहे हैं।।२१।। अन्य प्राणिमात्र जहां उपजते हैं वहीं ग्रसित हो जाते हैं। इस प्रकार इनके मुख से निश्चय ही कुछ भी नहीं छूटता।।२२।।

और हे विश्वमूर्ति! जैसे नदियों के बहुत से जल प्रवाह समुद्र से मिलने समुद्र की ओर वेग से दौड़ते हैं, अर्थात समुद्र में प्रवेश करते हैं वैसे यह शूरवीरों का समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखों में प्रवेश कर रहा है।।२८।।

अर्जुन आगे कहता है कि जैसे महानदी के अनेक प्रवाह सहज ही समुद्र में जा मिलते हैं, वैसे ही यह जंगह चहुं ओर से आप के इस मुख में प्रवेश कर रहा है।।२३।। सब प्राणिमात्र आयुष्य के मार्ग में रात-दिन रूपी सीढ़ियां बनाकर, वेग से इस मुख में मिलने की साधना कर रहे हैं।।२४।।

अथवा जैसे पतंग मोहवश होकर नष्ट होने के लिए अति वेग से प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह सब लोग भी अपने नाश के लिये इन मुखों में अति वेग से प्रवेश कर रहे हैं।।२९।।

जलती हुई पर्वत की गुफा में जैसे पतंगे बड़े वेग से कूद पड़ते हैं वैसे ही ये सब लोग नष्ट होने के लिये वेग से इस मुख में प्रवेश कर रहे हैं,।।२५।। परंतु जैसे तपे हुए लोहे पर पानी छोड़ने से वह तुरंत शुष्क हो जाता है, वैसे ही जो कोई इसमें प्रवेश करते हैं उनके व्यवहारिक नामरूप सब मिट जाते हैं।।२६।।

और आप इन संपूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रसन करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं। हे विष्णो! आप का यह उग्र प्रकाश संपूर्ण जगत को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके तप्त करता है।।३०।।

और इतना सब खाने पर भी आप की भूख कम नहीं होती है, हे प्रभु! यह कैसी आपकी असाधारण क्षुधा उत्पन्न हुई है।।२७।। जैसे कोई रोगी अभी-अभी ज्वर से उठा हो, अथवा भिखारी पर अकाल पड़ा हो, वैसी होंठ को चाटती हुई इन जीभों की लपलपाहट दिखाई देती है।।२८।। वैसे भी आहार के नाम से इन मुखों से कुछ भी नहीं बचा है। सचमुच, कैसी अनोखी और अघोरी है यह आपकी क्षुधा?।।२९।। समुद्र एक घूंट में प्राशन करना या पर्वत का एक कौर भरना या संपूर्ण ब्रह्मांड को दाढ़ों के नीचे चूर्ण करना,।।४३०।। अथवा सब दिशाओं को खा जाना या चमकीली चांदनी को चाटना ऐसी हे प्रभु! आपकी लोलुपता प्रतीत हो रही है।।३१।। भोग से जैसे काम की और-और वृद्धि होती है, अथवा ईंधन डालने से जैसे आग और अधिक भड़कती है, वैसे हीं संपूर्ण जगत को खाते-खाते आपकी तृप्ति ही नहीं हो रही है।।३२।। है तो यह एक ही मुख, परंतु इतना फैला हुआ कि संपूर्ण त्रिभुवन उसके जिव्हा की नोंक पर टिका है, मानों

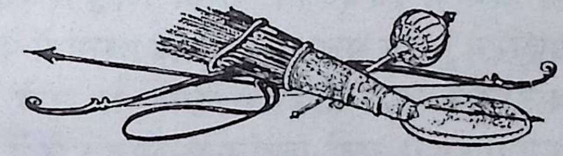

कैथा दिया झोंक कर। बड़वानल में।।३३।। ऐसे अपारवदन। लाये कहां से इतने त्रिभुवन। या किये आहार कमी के कारण। निर्माण स्वयं ने।।३४।। अरे, यह बेचारा लोक समस्त। वदन ज्वाला में ग्रस्त। जैसे दावानल में फंसत। मृगझुंड।।३५।। अब वैसे ही इस विश्व को घटित। देव, नहीं कर्म अघटित। ये जग जलचर वेष्टित। काल जल में।।३६।। इस अंगप्रभा की बागुर से। चराचर निकसत कहां से कैसे। ये वस्त्र नहीं लाक्षागृह जैसे। जलाने जग को।।३७।। अपना प्रखर दाहक पन। अग्नि न जाने स्वयं आपुन। किंतु जिसको स्पर्शत उसका प्राण। नाशत निश्चित।।३८।। नातर अपनी तीक्ष्ण धार से। मरत लोक न जाने शस्त्र कैसे। अथवा नाशत अपने सेवन से कैसे। न जाने विष।।३९।। वैसे आप को कृष्ण। आपके उग्रपन का न स्मरण। आप के मुख खाई में प्राप्त मरण। जग को इस पार ही।।४४०।। अहो आत्मा एक आप। सकल विश्व व्यापक। हे बाप! हमको आज अन्तकरूप। बने प्रभु।।४१।। मैंने तो छोड़ दी जीवित की आस। अब आप भी निःसंकोच परेश। मन में जो आशय विशेष। कह दो सुख से।।४२।। बढ़ाओगे कितना यह उग्ररूप। स्मरो अपना जगपालकत्व हे बाप!। मुझ दीन पर तो हे सकृप!। बरसो कृपा।।४३।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

अतः एक बार हे वेदवेद्य!। जी त्रिभुवनैक आद्य। बिनति हे विश्ववंद्य। सुनो मेरी।।४४।। ऐसे कहकर अर्जुन। शिरसा नवांवत चरण। कहत हे सर्वेश्वर कृष्ण। अवधारो प्रभु।।४५।। होवे मेरा समाधान। इसलिये पूछ विश्वरूप ध्यान। हाक एक ही क्षण में त्रिभुवन। ग्रासने सिद्ध।।४६।। तब कहो आप ही सच कौन?। क्यों प्रकटित? उग्र मुख कृष्ण। सब हस्तों में पैने शस्त्र धारण। किये किसलिये?।।४७।। बारम्बार कृद्ध होकर। गगन से ऊंचे बनकर। चक्षु लाल भयंकर। दिखावत भय।।४८।। यहां कृतांत के साथ। क्यों स्पर्धा करत लक्ष्मीकांत। वह कहिये अब सार्थ। अभिप्राय मुझको।।४९।। सुनकर कहत अनन्त। मैं कौन हूं पूछत। क्यों यह प्रचण्ड विस्तृत। उग्ररूप?।।४५०।।

श्री भगवान उवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

तब सुनो, मैं काल कौंतेय। लोक संहार मेरा कार्य। अगणित मुख खोलकर यह। ग्रासूं अशेष।।५१।। हाय! अर्जुन कहत भयभीत। पूर्व संकट से त्रस्त प्रार्थत। आपृको, तब प्रकट आप अच्युत। भयंकर रूप से यहां।।५२।। अपने कठोर बोल से निराश। होगा खिन्न सुभद्रेश। अतः सत्वर कहत सर्वेश। है प्रकार अन्य।।५३।।

Funding by IKS-MoE

बड़वानल में किसी ने कैथा फेंक दिया हो ॥ ३३॥ एक मुख की यह कथा है। ऐसे तो आपके अपार मुख हैं, परंतु इनके खाने के लिये इतने त्रिभुवन कहां हैं? फिर जब आहार ही नहीं है तो आपने इन्हें इतना अधिक क्यों बढ़ाया है? ॥ ३४॥ अजी! जैसे बड़वानल के परिसर में हिरनादि वन्य पशु फंसते हैं, वैसे ही यह लोक बेचारा आपकी वदन-ज्वालाओं से वेष्टित हो रहा है ॥ ३५॥ वैसा ही इस विश्व का अब हाल हो रहा है। यह देव नहीं, इस जग के विपरित कर्म ही प्रकट हुये हों, अथवा जगरूपी जलचरों के लिये काल ने यह एक जाल फैलाया है ॥ ३६॥ अब इस अंगप्रभा के बागुर में फंसा हुआ चराचर कैसे बाहर निकलेगा? ये मुख नहीं जगत के लिये एक लाक्षागृह ही निर्माण हुआ है ॥ ३७॥ अपनी दाहक शक्ति को अग्नि स्वयं नहीं जानती, परंतु वह जिसको स्पर्श करती है, उसका प्राण निश्चित रूप से हरण करती है ॥ ३८॥ शस्त्र क्या जाने कि अपनी तीक्ष्णता से मृत्यु कैसे हो जाती है, अथवा विष जैसा अपना मारक गुण नहीं जानता, ॥ ३९॥ वैसे ही, हे कृष्ण! आप को अपनी तीव्रता की सुध नहीं है। आपके मुख के खाई में इसी पार संपूर्ण जगत भर गया है ॥ ४४०॥ अजी! आप एक ही आत्मा हो, सकल विश्व में व्याप्त हो, फिर आप हमारे अंत के जैसे रूप में क्यों उपस्थित हुये हो? ॥ ४१॥ मैंने तो अब जीवन की आस ही छोड़ दी है और हे देवेश! आप भी बिना संकोच अपने मन में जो विशेष आशय है सो स्पष्ट कह दें ॥ ४२॥ आप अपना यह उग्र रूप कितना बढ़ा रहे हो? कुछ अपने जगपालक रूप का भी स्मरण करिये, कम से कम मुझ दीन पर, हे दीनवत्सल! अब कृपा की वर्षा कीजिये ॥ ४३॥

हे भगवन्! कृपा करके मेरे प्रति कहिये कि आप उग्ररूप वाले कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ! आपको मेरा प्रणास स्वीकार हो। आप प्रसन्न होईये। आदि स्वरूप आपको मैं तत्त्वरूप से जानना चाहता हूं क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता ॥ ३१॥

हे वेदों से जानने योग्य, हे त्रिभुवन के एक ही आदिकारण, हे विश्ववंद्य! एक बार मेरी बिनती सुनिये ॥ ४४॥ ऐसा कहकर अर्जुन ने चरणों पर मस्तक रखकर नमस्कार किया और कहा, हे सर्वेश्वर! सुनिये! ॥ ४५॥ अजी! मैंने तो मेरे समाधान के लिये आपसे विश्वरूप का ध्यान पूछा था, परंतु आप तो एकदम त्रिभुवन को ग्रसने सिद्ध हुए हो ॥ ४६॥ तो कहो, ऐसा आप कौन हो? ये इतने भयानक मुख क्यों प्रकट किये हैं? अरल्य उन सब हाथों में ऐसे पैने शस्त्र किसलिये धारण किये हैं? ॥ ४७॥ अजी! आप बार-बार क्रोधित होकर और आकाश से भी ऊंचे होकर तथा लाल और भयंकर नेत्रों से हमें क्यों डरा रहे हो? ॥ ४८॥ हे देव! हे लक्ष्मीकांत! कृतांत से आप किसलिये स्पर्धा कर रहे हो? अपना यह अभिप्रायं हमें स्पष्ट बतलाइये ॥ ४९॥ इसपर श्रीकृष्ण ने कहा कि, हे अर्जुन मैं कौन हूं और इस उग्रता से क्यों बढ़ रहा हूं ऐसा यदि पूछते हो, ॥ ४५०॥

भगवान बोले, हे अर्जुन! मैं लोकों का नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूं और इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूं। इसलिये प्रतिपक्षियों में स्थित जो योद्धा लोग हैं, वे सबके सब तेरे, बिना मारे भी बचेंगे नहीं, अर्थात तेरे युद्ध न करने से भी इनका नाश हो ही जायेगा ॥ ३२॥

तो वास्तव में मैं महाकाल हूं और लोकसंहार के कार्य के लिये सिद्ध हूं। इसलिये अनगिनत मुख फैलाकर इस संपूर्ण विश्व को मैं ग्रस लूंगा ॥ ५१॥ तब अर्जुन ने कहा, हाय! हाय! पिछले संकट से त्रस्त और भयभीत होकर मैंने आप से प्रार्थना की, तो हे अच्युत! आप और भी भयानक रूप में प्रकट हुए हो ॥ ५२॥ अपने कठिन वचन से अर्जुन निराश और दुखी हुआ देखकर श्रीकृष्ण ने तुरंत कह दिया कि इसमें एक और बात है, ॥ ५३॥ अभी यह जो संहाररूपी संकट होनेवाला है, इससे तुम पांडव बाहर हो। जब अर्जुन ने भगवान का यह वचन सुना, तब कहीं जाकर अर्जुन ने अपने प्राण

इस संहार संकट से। तुम पांडव रहोगे मुक्त से। वहां जाते-जाते पार्थ ने जैसे। संवारे प्राण अपने।।५४।। या मरण महामारी से ग्रसित। पुनः वह सावधान होत। फिर लक्षपूर्वक सुनत। प्रभु के बोल।।५५।। देव इसविध कहत। जो तुम मेरे प्रिय आप्त। इतर सब जग को समस्त। ग्रासूं अब मैं।।५६।। वड़वानल से प्रचंड। पिघलत मक्खन का पिंड। वैसे जग हे मेरे तुण्ड-। में देखा तुमने।।५७।। तब यह विश्व का अशेष। होगा निश्चित नाश। यह सैन्य व्यर्थ सुभद्रेश। यत्न रत यहां।।५८।। ऐसी चतुरंग संपदा। करत महाकाल से स्पर्धा। पराक्रम मद के सर्वदा। वशीभूत जो।।५९।। ये जो यहां उपस्थित। वीर वृत्ति बल से पार्थ। यम को भी तुच्छ लेखत। गजदल अभिमान से।।४६०।। कहत प्रतिसृष्टि रचेंगे। मृत्यु को आन से मारेंगे। और जग का करेंगे। ग्रास एक।।६१।। करें सब पृथ्वि गिलंकृत। आकाश ऊपर ही दग्ध करत। अथवा बाणों से जखड़त। वायु को पूर्ण।।६२।। बोल शस्त्र से भी तीक्ष्ण। दिखत अग्नि सम दाहक उष्ण। मारकत्व में कालकूट को अर्जुन। कहलावत मधुर।।६३।। जैसे गंधर्व नगरी के विशाल। जानों पोपला पोल। या चित्र के निर्जीव फल। देखो वीर ये।।६४।। यह मृगजल का पूर। या कपड़े का किया विषधर। शृंगारित गुड़िया अपार। स्थापित यहां।।६५।।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रुन् भुड्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सुव्यसाचिन्।।३३।।

वैसे चेष्टवत जो बल। पहिले ही मैंने ग्रसित सकल। अब ये तो कुलाल के पुतले केवल। निर्जीव पार्थ।।६६।। दारुयंत्र की डोर अर्जुन। जब टूटे नष्ट नियंत्रण। लुढ़कत कठपुतली जान। स्पर्श मात्र से।।६७।। वैसा इस सैन्य का आकार। तोड़ते न लगेगा अवसर। इसलिये उठो सत्वर। बनो ज्ञानी।।६८।। गोग्रहण के समय। छोड़ा तुमने मोहनास्त्र। भीरु विराट सुत उत्तर से वस्त्र। छिनवाये तुमने।।६९।। अब ये उससे भी हीन। संहारो अनायास प्राप्त रण। पावो यश करके रिपु संहरण। अकेले अर्जुन ने ऐसा।।४७०।। और न केवल यश सुवीर। पावो यह राज्य समग्र। होवो तुम निमित्त मात्र। सव्यसाची।।७१।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

द्रोण की पर्वा न कर। भीष्म का भय न धर। कैसे शस्त्र उठाऊं कर्ण पर। न कह ऐसे।।७२।। कौन उपाय जयद्रथ के लिये। चित्त में न चिंता करिये। और भी अन्य वीर ये। नामांकित जो।।७३।। वे भी एकेक सर्व। चित्र के सिंह निर्जीव। गीले पोंछना से यों ही सब वह। मिटावो पार्थ।।७४।। तब सुनो हे अर्जुन!। क्या बात युद्धकारों की इन। यह तो आभास पूर्ण। सब ग्रथित मुझसे।।७५।। जब तुमने देखा पार्थ। ये मेरे मुख में प्रविष्ट। तब ही आयुष्य इनका नष्ट। अब पोले तृष ये।।७६।।

Funding by IKS-MoE

संवारे।।५४।। वह मृत्युरूपी महामारी के आधीन हो गया था, सो फिर सचेत हुआ और श्रीकृष्ण के वचन सुनने लगा।।५५।। श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! ध्यान देकर सुनो कि तुम मेरे प्रिय और अपने हो। तुम्हारे अतिरिक्त संपूर्ण जगत को ग्रसने के लिये मैं तैयार हूं।।५६।। प्रचंड विद्युदग्नी में मक्खन का गोला डालने से वह जैसा तुरंत पिघल जाता है, वैसा ही यह जग मेरे मुख में पड़ा है, यह तो तुमने देखा ही है।।५७।। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस संपूर्ण विश्व का नाश होगा। ये सेनायें यहां व्यर्थ ही जय प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रही हैं।।५८।। चतुरंग सेना के ये सभी वीर, जो पराक्रम-मद के वशीभूत होकर महाकाल से स्पर्धा कर रहे हैं।।५९।। यह अठारह अक्षौहिणी सैन्य का समुदाय इकट्ठा मिलकर वीरवृत्ति के बल से गरज रहा है, और अपने गजदल के अभिमान से यम को भी तुच्छ समझ रहा है।।४६०।। ये वीर कह रहे हैं कि हम ऐसी ही दूसरी सृष्टि निर्माण करेंगे, प्रतिज्ञापूर्वक मृत्यु को भी मारेंगे तथा संपूर्ण जगत का एक ही ग्रास करेंगे।।६१।। संपूर्ण पृथ्वी को निगल जायेंगे, आकाश को ऊपर ही ऊपर जला देंगे और वायु को बाणों से जखड़ेंगे।।६२।। जिनके वचन शस्त्रों से भी तीक्ष्ण हैं, जो अग्नि के समान दाहक दिखाई देते हैं. तथा जो मारकता के गुण में कालकूट विष को भी मधुर कहलवाते हैं।।६३।। वे सब वीर देखो, वे केवल गंधर्व नगरी के भपके अथवा पोलेपन के बने गोल या चित्र में लिखे हुये पुतले हैं।।६४।। मानों, कोई मृगजल की बाढ़ आई हो, अथवा यह सेना नहीं मानो, कोई कपड़े का सांप बना हुआ है, अथवा खिलौने की अनेक गुड़िया सिंगार करके यहां खड़ी की हैं।।६५।।

इसलिये तू उठ, खड़ा हो और यश प्राप्त कर, तथा शत्रु को जीतकर धन-धान्य से संपन्न राज्य को भोग। यह सब शूरवीर पहिले से ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं। तुम केवल निमित्त मात्र बनो।।३३।।

जो बल, चैतन्य, इनको क्रियाशील बनाता है, उसका मैंने पहले ही नाश किया है। अब ये कुम्हार के बनाये हुये मिट्टी के पुतलों के समान निर्जीव हैं।।६६।। हिलाने की डोर यदि टूट जाएं, तो जैसे कठ-पुतलियां किसी के भी द्वारा जरासा उलटाने से उलट जाती हैं।।६७।। वैसे ही अब इस संपूर्ण सेना का नाश करने में तुम्हें कुछ भी समय नहीं लगेगा। इसलिये, हे ज्ञानी अर्जुन! अब जल्दी से उठो।।६८।। गोग्रहण के समय कौरवों पर तुमने मोहनास्त्र डालकर विराट के डरपोक पुत्र उत्तर के द्वारा शत्रुओं के वस्त्रों एवं आभूषणों का हरण करवाया था।।६९।। परंतु, यह सेना तो उससे भी गयी-बीती है जो इस रण में खड़ी है। इसका संहार करो और अकेले अर्जुन ने शत्रु को पराजित किया ऐसा यश अर्जित करो।।४७०।। हे वीरश्रेष्ठ! केवल यश ही नहीं, संपूर्ण निष्कंटक एवं संपन्न राज्य तुम्हारे हाथ आ रहा है। अतएव, हे सव्यसाची! तुम केवल निमित्तमात्र बनो।।७१।।

उसी प्रकार गुरु द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य बहुत से, मेरे द्वारा मारे हुए जो शूर-वीर योद्धा हैं उन्हें तू युद्ध करके मार, मन में भय मत कर। निःसंदेह इस युद्ध में तेरी ही जय होगी।।३४।।

गुरुद्रोण के बल की तुम पर्वाह न करो वैसे ही भीष्म पितामह का भी डर मत रखो। यह भी न सोचो कि कर्ण पर कैसे शस्त्र चलाऊं।।७२।। तथा यह भी चिंता न करो कि जयद्रथ को किस उपाय से मारूं। उसी प्रकार और भी यहां जो प्रसिद्ध वीर योद्धा हैं।।७३।। उनमें से एक-एक को चित्र में अंकित किये हुये सिंह के समान जानकर गीले कपड़े से यूं ही पोंछ डालो।।७४।। सुनो, यह जो वीर समुदाय है, उनकी क्या गिनती है? यह सब तो केवल आभास मात्र रह गया है। इन सब का तो मैंने पहले ही ग्रास बना लिया है।।७५।। जब तुमने इन्हें मेरे मुख में प्रविष्ट होते हुये देखा था तभी इनकी आयु समाप्त हो चुकी है। अब तो ये केवल पोले तुष मात्र ही रह गये हैं।।७६।। इसीलिये, शीघ्र उठो और जिन्हें मैंने पहले ही मारा है, उनका नाश करो।

अतः उठो सत्वर। मारे मैंने इनको मार। न डूबो संकट में अपार। व्यर्थ शोक के।।७७।। अध कील से निशान बनाना। फिर स्वयं ही बेधकर गिराना। वैसे ही तेरा यहां अर्जुना। निमित्त केवल।।७८।। अरे जो करत बैर तुझसे। वे नष्ट विश्वरूप व्याघ्र से। अब राज्य यश सुख से। भोगो तुम।।७९।। उन्मत्त वृत्ति के दायाद। बल से जग में दुर्गद। वे सब हत विषद। अनायास से।।४८०।। ऐसा यह वृत्तांत। विश्व के वाकूपट पर पार्थ। लिख कर रखो यथार्थ। होवो विजयी तुम।।८१।।

संजय उवाच—

एतच्छुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

ऐसी संपूर्ण इस कथा को। उस अपूर्ण मनोरथ को। कहत संजय कुरुनाथ को। कहे ज्ञानदेव।।८२।। तब सत्यलोक से गंगाजल। छूटकर करत कलकल। वैसी वाचा विशाल। गंभीर जिनकी।।८३।। नातर महामेघ के समूह पार्थ। धड़धड़त एक समय समस्त। या मंदराचल से घुमघुमत। क्षीराब्धि जैसा।।८४।। जिसका गंभीर महानाद। वह वाक्य विश्वकंद। बोले वहां अगाध। अनन्त रूप।।८५।। वह अर्जुन सुनत किंचित। और सुख या भय दुगनत। न जाने किंतु हुआ कंपित। सर्वांग उसका।।८६।। हुआ पोटली झुककर पार्थ। जोड़त कर संपुट। और चरण पर ललाट। रखे बारम्बार।।८७।। कहने को कुछ हुआ सिद्ध। तब कंठ होत अवरुद्ध। सुख से या भय से आप बुद्ध। सोचो स्वयं ही।।८८।। किंतु कृष्ण के कथन से। अर्जुन को प्राप्त भाव ऐसे। इस श्लोक पद पर-। से जानू मैं।।८९।। फिर भयभीत अंतःकरण। पुनः वंदित चरण। कहत, कहा आपने कृष्ण। ऐसा ही न कुछ?।।४९०।।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।।३६।।

देखो, अर्जुन मैं काल। सबको ग्रासना मेरा खेल। यह आपका बोल। मानु सत्य मैं-।।९१।। किंतु यह स्थिति का अवसर। आप कालरूप भयंकर। लेकर ग्रासत चराचर। उचित न यह।।९२।। छीनकर किसी का तरुणपन। क्यों देना उसको वृद्धपन। अतः असामयिक यह कार्य कृष्ण। भासत अयोग्य हमको।।९३।। जी! चार प्रहर न व्यतीत। अकाल में ही अनन्त। क्या मध्यान्त में ही अस्त। पावत रवि?।।९४।। माना, आप काल अखंडित। किंतु जो तीन स्थिति निश्चित। प्रत्येक सबल स्वतः। स्वकाल में प्रभु।।९५।। जब उत्पत्ति होत। तब स्थिति प्रलय लोपत। और स्थिति काल में न रहत। उत्पत्ति प्रलय।।९६।। पश्चात प्रलय के समय। उत्पत्ति स्थिति पावत लय। ये अनादि अवस्था त्रय। अटल सर्वदा।।९७।। अतः आज

व्यर्थ शोक-संकट में न डूबो ।।७७।। स्वयं ही आधी कील ठोंककर लक्ष्य तैयार करना और फिर स्वयं ही उसे बाण मारकर गिराना, उसी प्रकार यहां तुम केवल निमित्तमात्र हो ।।७८।। अजी! जो तुमसे बैर रखते थे, उनका इस विश्वरूप व्याघ्र ने पहले ही नाश कर दिया है। अब तुम राज्य सहित संपूर्ण यश का उपभोग करो ।।७९।। जो बंधु स्वभावतः उन्मत्त थे और बल के दुर्मद से जग में दुराभिमानी बने थे उनका मैंने स्पष्ट रूप से और बिना कष्ट के नाश कर दिया है ।।४८०।। हे किरीटी! ऐसा यह सब वृत्तांत विश्व के वाणीरूप पट पर यथार्थ रूप से लिखकर रखो और तुम विजयी बनो ।।८१।।

संजय बोले, हे राजन्! केशव भगवान के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए, कंपित हुआ और नमस्कार करके भयभीत होकर पुनः प्रणाम करके श्रीकृष्ण के प्रति गदगद वाणी से बोला ।।३५।।

श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि, इस प्रकार संजय ने यह संपूर्ण कथा उस अपूर्ण मनोरथ धृतराष्ट्र से कही ।।८२।। फिर सत्यलोक से निकलकर गंगा का जल जैसे कलकल करता हुआ बहता है वैसा विशाल और गंभीर जिनकी वाणी है, ।।८३।। अथवा जैसे महावेग के समूह एक साथ गड़गड़ाहट करते हैं, या मंदराचल के मन्थन से क्षीर समुद्र घुमघुमाता है ।।८४।। ऐसे गंभीर और महानादयुक्त वचन, विश्व के मूल कारण, व्यापक और अनंत रूप धारण करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण ने कहे ।।८५।। वे ज्योंहि अल्प सुनाई दिये त्योंहि अर्जुन का सुख दुगना हुआ या भय, श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि यह हम नहीं जान सकते। परंतु उसका संपूर्ण शरीर कंपित होने लगा ।।८६।। और वह श्रीकृष्ण के सम्मुख विनम्र होकर इतना झुक गया मानो उसकी पोटली बंध गयी हो। दोनों हाथों के संपुट जोड़कर बार-बार उनके चरणों पर मस्तक नवांकर कुछ बोलने की चेष्टा की तो उसका गला ही अवरुद्ध हो गया ।।८७।। ज्ञानदेवजी कहते हैं कि अर्जुन की ऐसी अवस्था सुख के कारण हुई या भय के कारण, यह तो आप ज्ञानी श्रोतागण स्वयं ही जान लीजिये ।।८८।। परंतु, देव के इस कथन से ही अर्जुन की मनस्थिति ऐसी हुई यह मैंने इस श्लोक पद पर से जान लिया ।।८९।। फिर वैसे ही डरते-डरते और पुनः चरण वंदना करते हुए अर्जुन ने कहा कि हे कृष्ण! आपने ऐसा ही कुछ कहा ना? ।।४९०।।

अर्जुन ने कहा, हे अंतर्यामिन! यह योग्य ही है कि, जो आप के नाम और प्रभाव के कीर्तन से जगत् अति हर्षित होता है और अनुराग को प्राप्त होता है तथा भयभीत हुए राक्षस लोग दश दिशाओं में भागने लगते हैं और सब सिद्ध गणों के समुदाय आपको नमस्कार करते हैं ।।३६।।

हे अर्जुन मैं काल हूं और सब का ग्रास करना यह मेरा खेल है। यह आपका वचन हम सत्य मानते हैं, ।।९१।। परंतु यह तो जगत के पालन का अवसर है और इस स्थिति में आप कालरूप होकर चराचर का संहार करने को तैयार हो यह बात उचित नहीं है ।।९२।। किसी के शरीर का यौवन निकालकर उसे वार्धक्य क्यों देना? इसलिये हे प्रभो! यह समय के विपरित कार्य हमें अयोग्य प्रतीत होता है ।।९३।। अजी, हे अनन्त! चारों प्रहर भी पूरे नहीं हुए। क्या मध्यान्ह में ही कभी सूर्य का अस्त होता है? ।।९४।। माना कि आप अखंडित कालरूप हो, और उत्पत्ति, स्थिति एवं लक्ष्य आपके तीन समय-विभाग हैं, लेकिन यह तीनों विभाग अपने-अपने समय में ही बलवान रहते हैं ।।९५।। जिस समय उत्पत्ति होती है, उस समय स्थिति और प्रलय का लोप रहता है, स्थिति के समय उत्पत्ति और प्रलय नहीं रहते ।।९६।। पश्चात प्रलय के समय उत्पत्ति और स्थिति लुप्त रहती है। इस अनादि परिपाटी में किसी कारण भी अंतर नहीं पड़ता ।।९७।। इसलिये यह बात मेरे हृदय को मान्य नहीं हो रही है कि, यह जगत जो स्थिति के समय में चल रहा है और भोग में निमग्न है, ऐसे समय में आप इसका ग्रास करने

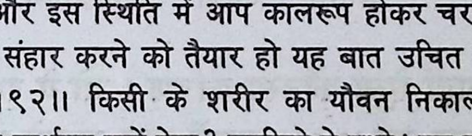

यह जग पूर्ण। स्थिति भोग में मग्न। ऐसे में ग्रासत आप कृष्ण। न भाये हमको।।९८।। तब संकेत से करत कथन। उभय सैन्य का समाप्त पोषण। दिखाया तुझको प्रत्यक्ष प्रमाण। अन्य भी यथाकाल।।९९।। जब वह संकेत। करत तत्क्षण अनंत। तब अर्जुन पूर्ववत। अवलोकत सैन्य।।५००।। तब कहत देवाधिदेव। आप सूत्री विश्वलाघव सर्वस्व। प्राप्त इस जग को माधव। पूर्वस्थिति पुनः।।१।। परन्तु दुःख सागर में निमग्न। उबारत आप उनको कृष्ण। कीर्ति यह आपकी पूर्ण। जानत हम।।२।। स्मरत यह कीर्ति सर्वकाल। भोगत महासुख ऐश्वर्य सकल। वहां हर्षामृत कल्लोल-। पर झूलत मैं।।३।। जीवदान प्राप्त यह जग। धरत आपका अनुराग। दुष्टों को आप करत भंग। अधिकाधिक।।४।। किन्तु त्रिभुवन के राक्षस। भयभीत आपसे हृषीकेश। अतः आप से दूर दशदिशा। पार धावत वे।।५।। परन्तु सुरनर किन्नर। किंबहुना अन्य सब चराचर। देखकर आपको हर्ष-निर्भर। करत नमन।।६।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

यहां ऐसा कौनसा कारण। जो ये राक्षस नारायण। न नवांवत मस्तक चरण-। पर भागत दूर।।७।। इसमें क्या आपसे पूछना। यह तो हमने स्वयं जाना। जो सूर्योदय समय रहना। तम ने कैसे?।।८।। जी, आप प्रकाश के आगर। और हमको हुए गोचर। अतः सब ये निशाचर। हुए अदृश्य।।९।। यह इतने दिन हम। कभी न जाने श्रीराम। अब देखत महात्म्य। गंभीर आपका।।५१०।। जहां से सृष्टि पंक्तियां बहुत। भूतग्राम वल्लियां प्रसरत। उस परब्रह्म को प्रसवत। इच्छा दैविकी।।११।। आप निःसीम सत्त्व सदोदित। आप निःसीम गुण अनन्त। आप निःसीम साम्य सतत। देवेंद्र आप।।१२।। जी आपका आर्दत्व। अक्षर आप सदाशिव। आपही सदसत् देव। परतत्त्व आप।।१३।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

आप आदि पुरुष का आदि। महत्तत्व की आप ही अवधि। स्वयं आप अनादि। पुरातन।।१४।। आप सकल विश्व जीवन। जीवों का आप ही निधान। भूत, भविष्य का ज्ञान। अधीन आपके ही।।१५।। जी, श्रुति के लोचन। सुख स्वरूप आप अभिन्न। त्रिभुवन के आयतन के-। आयतन आप।।१६।। अतः आप परम। आपको ही कहत महाधाम। कल्पान्त में महद्ब्रह्म। लीन आपमें।।१७।। किंबहुना आपने देव। विस्तरित सकल यह विश्व। आप अनन्त रूप माधव। अवर्णनीय।।१८।।

सज्ज हुये हो॥९८॥ तब श्रीकृष्ण ने संकेत से कहा कि, देखो, हमने तुम्हें यह बात प्रत्यक्ष दिखाई है कि इन दोनों सेनाओं का पोषण-काल समाप्त हो चुका है, तथा औरों की मृत्य भी यथाकाल होगी ही॥९९॥ श्रीकृष्ण के द्वारा यह संकेत करते ही, उसी क्षण अर्जुन ने, फिर से संपूर्ण विश्व को पहले के समान देखा॥५००॥ तब उसने कहा कि हे देव! आप ही इस विश्वरूपी नाटक के सूत्रधार हो। हे माधव! आपके आश्वासन से ही यह जगत पुनः पूर्व स्थिति में पहुंच गया है॥१॥ हे कृष्ण! गजेंद्र के समान दुःख सागर में डूबे हुए लोगों को आप बाहर निकालते हैं ऐसी आपकी कीर्ति मैं अच्छी तरह जानता हूं॥२॥ तथा बारंबार आप की कीर्ति का स्मरण करते हुए मैं उस महासुख के ऐश्वर्य का उपभोग करता हूं और उस हर्षामृत की तरंगों पर झूल रहा हूं॥३॥ हे देव! जीवदान पाने के कारण यह जगत आप पर प्रीति करता है, आप दुष्टों का अधिकाधिक नाश कर रहे हैं॥४॥ हे हृषिकेश! आप त्रिभुवन के राक्षसों के लिये महाभय हैं, इसलिये वे दशदिशाओं के परे भाग रहे हैं॥५॥ और यहां जो अन्य सुरनर, सिद्ध किन्नर किंबहुना संपूर्णचराचर हैं, आपको देखकर हर्ष सहित आपकी वंदना कर रहे हैं॥६॥

हे महात्मन! ब्रह्मा के भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें? क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत और असत है और उनके परे अक्षर अर्थात सच्चिदानंदघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं॥३७॥

हे नारायण! यहां क्या कारण है, जिससे ये राक्षस आपके चरणों में बिना प्रणाम किये ही भाग रहे हैं?॥७॥ परंतु यह बात आपसे क्यों पूछना? यह तो हम जानते हैं कि सूर्य का उदय होने पर वहां अंधःकार कैसा रह सकता है?॥८॥ अजी! आप आत्मप्रकाश के घर हैं और हमें गोचर हुये हैं, इसीलिये निशाचर रूपी अंधःकार अपने आप ही मिट गया है॥९॥ हे श्रीराम! इतने दिनों तक हम कुछ नहीं जानते थे। परंतु, अब हमें आपकी अगाध महिमा प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है॥५१०॥ जहां से भूतग्राम रूपी बेलें अनेक सृष्टियों की पत्तियों का विस्तार कर रही हैं, वह महत्तत्व आप की इच्छा से उत्पन्न हुआ है॥११॥ हे देव! आप मर्यादारहित अबाधित तत्त्व सर्वकाल अस्तित्व वाले हो। हे देव! आप निस्सीम, अनंत गुणों से युक्त हैं। हे देव आप प्रतिबंध रहित सर्वत्र सदा समभाव को प्राप्त हुए, इंद्रादि देवों के राजा हो॥१२॥ अजी आप तीनों जगत के जीवन हो। हे सदाशिव! आप अविनाशी हो, आप सत और असत भावा-भाव रूप हो। किंबहुना आप उसके भी परे जो वस्तु है वह आप हो॥१३॥

और हे प्रभो! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हो, आप इस जगत के परम आश्रय हो और आप ही ज्ञाता एवं ज्ञेय हो। आप ही परमधाम, परमपद स्वरूप हो। हे अनंतरूप! आपसे ही यह सब जगत् व्याप्त है॥३८॥

आप प्रकृति और पुरुष के आदिकारण हो, आप महत्तत्व की सीमा हो और आप स्वयं ही पुरातन और अनादि हो॥१४॥ आप समस्त विश्व के जीवन हो और आप ही प्राणियों के निधान हो। भूत और भविष्य का ज्ञान आपके ही आधीन है॥१५॥ अजी! श्रुति के नेत्रों को जिस स्वरूप से सुख होता है, वह हे अभिन्न! आप ही हो। आप त्रिभुवन के आश्रय स्थान हों॥१६॥ इसलिये आपको परमधाम एवं महाधाम कहते हैं। कल्पांत के समय महत्तत्व आपमें ही विलीन होता है,॥१७॥ किंबहुना आपने ही संपूर्ण विश्व का विस्तार किया है। हे अनंत रूप माधव! आपका वर्णन कौन कर सकता है?॥१८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुण: शशाड्क: प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्व: पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥३९॥
नम: पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व:॥४०॥

ऐसी कौनसी वस्तु जग में। प्रभु आप नाहीं जिसमें। करूं जैसे जहां हो मैं। नमन आपको॥१९॥ वायु आप अनन्ता। यम आप नियमित। प्राणिमात्र में वसत तत्त्वता। जगठराग्नि आप॥५२०॥ वरुण आप सोम। सृष्टा आप ब्रह्म। पितामह के भी परम। पितामह आप॥२१॥ और जो जो कोई। सरूप अथवा अरुप ही। नमो आपको वैसे ही। जगन्नाथ॥२२॥ ऐसे सानुराग चित्त। नमन करत पंडु-सुत। पुन: नमस्ते कहत। नमस्ते प्रभो!॥२४॥ देखत एकेक अवयव। पावे समाधान चित्त तन्मय। पुन: कहत नमस्ते कौंतेय। नमस्ते प्रभो!॥२५॥ इस चराचर में जो-जो भूत। एकत्र सब उसमें देखत। और पुन: नमस्ते कहत। नमस्ते प्रभो॥२६॥ ऐसे अनेक रूप अद्भुत। साश्चर्य एक अनंत में देखत। तब-तब नमस्ते कहत। नमस्ते प्रभो॥२७॥ कुछ और स्तुति न स्मरत। और न रह सके निवान्त। कैसा अद्भुत प्रेमभाव उमड़त। गर्जन लागत॥२८॥ किंबहुना इसविध बहुसार। किया न नमन सहस्रबार। आगे कहत विश्वाधार। आप सम्मुख को नमो!॥२९॥ पीठ पेट देव को है या नहीं। हमको विचार न करना कोई। पीछे स्थित आप को ही। नमो स्वामी॥५३०॥ पीछे स्थित आप कृष्ण। अत: पीठ रक्षक इति कथन। जग सम्मुख विमुख यह वचन। न सार्थ आपको॥३१॥ अवयवों का वर्णन पृथक। असंभव मुझको जगन्नायक। अत: नमो आपको, सर्वात्मक। सर्वांग को॥३२॥ हे अनन्त बलसंभ्रम!। नमो आपको अमित विक्रम!। सकल काल में सम। सर्वरूप॥३३॥ संपूर्ण आकाश में जैसे। अवकाश रूप में आकाश ही जैसे। आप सर्वस्व भाव से। सर्व व्याप्त॥३४॥ किंबहुना केवल। सर्वत्र आप ही निखिल। किन्तु क्षीरार्णव में कल्लोल। पय के ही जैसे॥३५॥ अत: हे कृष्ण!। न आप सब विश्व से भिन्न। हुआ प्रत्यय मुझे पूर्ण। अब आप ही सब॥३६॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥४१॥

किन्तु ऐसे आप को स्वामी। कभी न जाना अंत्तर्यामी। किया मानकर बंधु संबंध धर्मी। व्यवहार आपसे॥३७॥ महा अपराध हुआ हमसे। जो किया सम्मार्जन अमृत से। घोड़ा लेकर दिया जैसे। कामधेनु को॥३८॥ पहाड़ पारस का पाया। फोड़कर नींव में डाल दिया। कल्पतरू काटकर बनाया। घेरा खेत को॥३९॥ चिंतामणि की मिली खान। गोफन ढेलों से भगाये ढ़ोर कृष्ण। निकटत्व आपका उपेक्षित पूर्ण। सख्य

हे देव! वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, कश्यपादि, प्रजापति, ब्रह्मदेव तथा उनके भी पिता सब आप ही हो। आपको सहस्त्र बार प्रणाम स्वीकार हो॥३९॥ हे देव! आपको सम्मुख पूर्व दिशा की ओर से प्रणाम, पार्श्व-पश्चिम दिशा से प्रणाम, आप को सभी दिशाओं से प्रणाम स्वीकार हो। अनंत, बल और असीम पराक्रमयुक्त, हे देव! आप विश्वव्यापी हो, अतः आप सर्व स्वरूप हो॥४०॥

हे प्रभु! जगत में ऐसी कौनसी वस्तु है जिसमें आप नहीं हो? इसलिये आप जैसे हो, जिस स्थान में हो, मैं आपको प्रणाम करता हूं॥१९॥ हे श्री अनंत! आप वायु हो, आप शासन करने वाले 'यम' हो। अशेष प्राणियों में स्थित जठराग्नि आप ही हो॥५२०॥ आप वरुण हो, आप चंद्रमा हो। आप ही सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा हो और ब्रह्मा को उत्पन्न करनेवाले परम पिता भी आप ही हो॥२१॥ और हे जगन्नाथ! जो-जो भी आपका साकार या निराकार स्वरूप है, उस रूपधारी आपको मेरा प्रणाम॥२२॥ इस प्रकार अर्जुन ने सप्रेम अंतःकरण से प्रणाम किया और पुनः कहा, हे प्रभो! नमस्ते! नमस्ते! मेरा सहस्त्रबार प्रणाम स्वीकार हो॥२३॥ फिर उस विश्वरूप श्रीमूर्ति को नखशिखान्त निहार कर पुनः कहा हे प्रभो! नमस्ते, नमस्ते॥२४॥ विश्वरूप के एक-एक अवयव को देखते-देखते वह कुंति पुत्र अर्जुन चित्त में संतुष्ट होकर, तन्मयता से बार-बार ''नमस्ते-नमस्ते'' कहने लगा॥२५॥ चराचर में जो पदार्थ और प्राणि हैं उन सब में, अर्जुन उस मूर्ति को देखता था और बार-बार कहता जाता था कि, हे प्रभो! नमस्ते-नमस्ते॥२६॥ ऐसे अनंत, अद्भुत रूपों को जब जब आश्चर्यसहित उस एक अनंत-मूर्ति में प्रकट होते हुए देखता था, तब-तब अर्जुन नमस्ते-नमस्ते ही कहता जाता था॥२७॥ उसे उससे अधिक कुछ न तो स्तुति का स्मरण होता था और न तो उससे चुप ही बैठा जाता था, इस प्रकार, वह न जाने कैसे प्रेमभाव के आवेश से गर्जना कर रहा था॥२८॥ अधिक क्या कहें। अर्जुन ने इस प्रकार हजारों बार उस विश्वमूर्ति को नमन किया। फिर कहा कि, हे विश्वाधार! आप, जो, सम्मुख हो ऐसे आपको मैं प्रणाम करता हूं॥२९॥ अब देव को पीठ और पेट है या नहीं इसका हमें विचार करने से कुछ उपयोग नहीं है, इसलिये मेरे पीछे रहनेवाले आपको, हे स्वामी! मैं प्रणाम करता हूं॥५३०॥ आप मेरे पीछे खड़े हो, इसलिये आप मेरे पीठ-रक्षक हो ऐसा मैं कहता हूं, अन्यथा हे सर्वस्वरूप! आप जगत के सम्मुख या विमुख है यह कथन व्यर्थ है॥३१॥ आप के अलग अलग अवयवों का वर्णन करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है, इसलिये हे जगन्नाथ! आप सर्वात्मक के सर्वांग को मेरा प्रणाम स्वीकार हो॥३२॥ अजी, हे अनंत! हे बल समृद्धिमान! हे अमित पराक्रमी! हे सर्वकाल समान रहनेवाले! हे सर्वव्यापी! आपको मेरा प्रणाम॥३३॥ जैसे संपूर्ण अवकाश में आकाश ही आकाश रूप बनकर रहता है, वैसे आप सबमें व्याप्त होकर सर्वस्वरूप में प्रकट हुये हो॥३४॥ किंबहुना जैसे क्षीर समुद्र में दूध की तरंगें भरी रहती हैं, वैसे केवल आप ही संपूर्ण विश्व में व्याप्त हो॥३५॥ इसलिये हे कृष्ण! मुझे यह बात निश्चित रूप से प्रतीत हो गयी है कि आप किसी भी पदार्थ से भिन्न नहीं हैं। अब आप ही सब कुछ हैं॥३६॥

हे परमेश्वर! सखा मानकर आपके इस प्रभाव को न जानते हुये मेरे द्वारा प्रेम से अथवा प्रमाद से भी, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इसप्रकार जो कुछ हठपूर्वक कहा गया है॥४१॥

परंतु हे स्वामी! हे अंतर्यामी! हमने आप को ऐसा कभी नहीं जाना था, इसलिये हम आप से सगे सहोदर के समान व्यवहार करते रहे॥३७॥ अजी! यह हमसे महान अपराध ही हुआ। मैंने अमृत का उपयोग आंगन सींचने के काम में किया, अथवा घोड़े के बदले मानों कामधेनु दे दी॥३८॥ पारस का पर्वत हाथ लगा था, परंतु हमने उसे फोड़कर नींव में भर दिया, अथवा कल्पवृक्ष काटकर उससे खेत की मेढ़ बना दी॥३९॥ या चिंतामणि की खदान हमारे हाथ लगी थी, परंतु उसे न पहचान कर उन्हें हमने गोफन ढेले बनाकर उनसे ढोर भगाये। इसीप्रकार आपका सान्निध्य हमने पाया, किंतु सख्य भाव से उसका लाभ लेने के बदले हेलमेल में हमने आपकी

Funding by IKS-MoE

भाव से ।।५४०।। आज ही देखों अच्युत। युद्ध यह क्या विशेष बात। किन्तु परब्रह्म को किया साक्षात्। सारथी हमने ।।४१।। कौरव सभा में कृपासागर। प्रेषित दूत रूप में दातार। स्व-काज के लिये जगदीश्वर। किया कुव्यवहार हमने ।।४२।। आप योगियों के समाधि-सुख। जानु न कभी मैं अति मूर्ख। विनोद आपको सम्मुख। किया व्यर्थ ।।४३।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।४२।।

आप विश्व के आदि पुरुष। जिस सभा में उपस्थित सर्वेश। किया बंधु-संबंध से विशेष। नर्म विनोद आप से ।।४४।। कभी आकर आप के गृह में। आप से सम्मान पावूं मैं। यदि क्वचित् उपेक्षित स्नेह में। आपसे रूठूँ मैं ।।४५।। पाँव पकड़कर अच्युत। मुझको आप मनावत। ऐसी करनी बहु विपरित। की हमने ।।४६।। ज्ञान मद से पूरित पूर्ण। करूँ पीठ आपके सम्मुख कृष्ण। क्या हममें ऐसी योग्यता विद्यमान?। हुआ प्रमाद हमसे ।।४७।। गदगाफरी खेले आप से। कुस्ती अखाड़े में आप से। द्यूत में द्यूतकेमिष से। किया कलह हमने ।।४८।। उत्तम वस्तु आप से मांगू। आपको ही ज्ञान सिखाऊँ। क्या संबंध आप से कहूँ। कहा ऐसे ।।४९।। ऐसे अपराध बहुत। त्रिभुवन में न समावत। शपथ आपके चरणों की अच्युत। हुआ अज्ञानवश यह ।।५५०।। भोजन के अवसर पर। स्नेह से स्मरत हम को सत्वर। व्यर्थ गर्व से विश्वाधार। रूठे हम ।।५१।। आपके अंतःपुर में। खेल खेलते न शंका मन में। करूं शयन शैय्या में। साथ आपके ।।५२।। कृष्ण कह कर पुकारत। अन्य यादवों जैसे लेखत। डालूँ अपनी मैं शपथ। जाते समय आपके ।।५३।। साथ एकासन में बैठना। न मानना आप का कहना। अति परिचय से बरतना। किया बहुत ।।५४।। क्या-क्या ऐसा सांप्रमत। कहूँ आपको अनन्त। मैं हूं राशि समस्त। अपराधों की प्रभु ।।५५।। समक्ष अथवा परोक्ष। हुआ आचरण सदोष। माता समान सब सर्वेश। क्षमस्व प्रभो ।।५६।। जी, कोई एक समय। जल नदी का मिट्टीमय। सिंधु को न अन्य उपाय। समावत उसको ।।५७।। वैसे प्रीति या प्रमाद से। किया विरुद्ध भाषण आपसे। सहिये उनको स्नेह से। मुकंद आप ।।५८।। आपके क्षमत्व से क्षमा समर्थ। इस भूतग्राम को आधारभूत। इसलिये हे जगन्नाथ। बिनति करत ।।५९।। अतः अब हे अप्रमेय!। मुझे शरणागत को सदय। क्षमा कीजिये सब यह। अपराध मेरे ।।५६०।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

जी जाना मैंने सत्य। देव अब आपका माहात्म्य। जन्मस्थान चराचर का यह प्रत्यय। आया मुझको ।।६१।। हरि-हरादि समस्त। देव आप परम दैवत। पढ़ाया ब्रह्मा को वेदांत। आदि गुरू आप ।।६२।। गंभीर आप श्रीराम। सर्व भूतों में सम।

Funding by IKS-MoE

उपेक्षा ही की।।५४०।। आज का ही यह उदाहरण देखो! यह युद्ध क्या बड़ी बात थी, किंतु प्रत्यक्ष परब्रह्मस्वरूप आपको हमने अपना सारथी बनाया है।।४१।। हे कृपासागर! हे दातार! इन कौरवों की सभा में आप को दूत रूप में शिष्टाई करने भेजा था। इस प्रकार हमने अपने काम के लिये आपका दुरुपयोग किया।।४२।। आप योगी जनों का समाधि-सुख हो। मैं अति मूढ़ हूं जो मैंने यह कभी नहीं जाना और आपको साधारण व्यक्ति जानकर आपसे विनोद करता रहा और अशिष्ठ व्यवहार किया।।४३।।

और हे अच्युत! जो आप, हास्य विनोद में, विहार शैय्या, आसन, भोजन आदि के समय में अकेले में अथवा सखाओं के सामने भी हमसे अपमानित किये गये हो, वे मेरे सब अपराध, हे अप्रमेय! आप क्षमा करेंगे।।४२।।

आप इस विश्व के अनादि पुरुष हैं, परंतु हे सर्वेश! आप जिस सभा में बैठते थे, वहां मैं आपसे सखा संबंधी बंधु आदि के समान विनोद किया करता था।।४४।। मैं जब कभी आपके मंदिर में आता था, तब आपके द्वारा सम्मान पाता था, और यदि सम्मान न किया गया तो मित्र के नाते मैं आप से रूठ जाता था,।।४५।। ! उस समय हे अच्युत आप पांव पकड़कर मुझे मनाते थे। ऐसी ऐसी विपरीत करनी हमसे बहुत बार हुई।।४६।। हम अपने ज्ञान के अहंकार से आपके सामने पीठ फेरकर भी बैठते थे। हे कृष्ण! क्या ऐसी योग्यता हममे थी? यह तो हमसे बड़ी भूल हुई।।४७।। हम आपसे गदका-फरी खेलते, अखाड़े में कुश्ती लड़ते थे और द्यूत खेलते समय आपसे कलह भी करते थे।।४८।। कोई उत्तम वस्तु हो, तो हम तुरन्त मांग लेते थे। आप सर्वज्ञ हैं किंतु हम आपको ज्ञान की बातें सिखाते थे। कभी-कभी हमारा और आपका क्या संबंध है ऐसा हम आपसे कहते थे।।४९।। इस तरह हमने अनेक अपराध किये जो त्रिभुवन में भी न समायेंगे। परंतु हम आपके चरणों की सौगंध खाकर कहते हैं कि, यह सब हमने बिना जाने ही किया था।।५५०।। हे देव! भोजन के समय आप हमारा स्मरण करते थे, परंतु हमारा अभिमान तो देखिये जो हम आपसे व्यर्थ ही रूठ जाते थे।।५१।। हे देव! आप के अंतःपुर में निःशंक होकर खेलते थे तथा आप की शैया पर लेट भी जाते थे।।५२।। आपको 'कृष्ण' कहकर पुकारते थे। आपको साधारण यादव समझते थे और जब आप जाने लगते तो हम आपको अपनी शपथ देते थे।।५३।। आपके साथ एक आसन पर बैठना, आपके वचन न सुनना इत्यादि अधिक परिचय के कारण हमसे अनेक बार आपकी अवज्ञा हुई थी।।५४।। इसलिये, हे अनंत! सांप्रत ऐसी कौन-कौन सी बातें आपको निवेदन करूं? वास्तव में मैं संपूर्ण अपराधों की राशि ही हूं।।५५।। अतएव, हे प्रभु! हमने आपके समक्ष या आपकी अनुपस्थिति में जो कुछ अपराध किये हैं उन्हें आप माता के सदृश क्षमा करें।।५६।। अजी! कभी-कभी नदी अपना गंदा जल सागर के समीप ले जाती है, किन्तु सागर कोई दूसरी बात नहीं सोचता, वह उसे अपने में समा लेता है।।५७।। वैसे ही, प्रेम से कहो अथवा प्रमाद से, जो कुछ आपके विरोध में कहा गया हो, उसे हे मुकुंद!। आप सह लीजिये।।५८।। हे देव! आपकी उदारता एवं क्षमाशीलता के स्वभाव से पृथ्वी को क्षमा प्राप्त होकर उसे 'क्षमा' यह संज्ञा प्राप्त हुई है। उसी के कारण वह सब प्राणियों का भार सहन करने में समर्थ हुई है। इसलिये हे जगन्नाथ! क्षमा के लिये मैं आप से बिनती कर रहा हूं।।५९।। अतः हे अप्रमेय! हे करुणाकर अब आप मुझ शरणागत को इन अपराधों की क्षमा कीजिये।।५६०।।

हे विश्वेश्वर! आप इस चराचर जगत् के पिता और गुरू से भी महागुरू एवं अति पूजनीय हैं। हे अति प्रभावशाली! तीनों लोगों में जब आपके समान दूसरा कोई भी नहीं है तो और अधिक प्रभावशाली कोई कैसा होगा?।।४३।।

अजी, हे श्रीकृष्ण! आपकी महिमा मैंने यथार्थ रूप से जान ली है। आप ही इस चराचर विश्व के उत्पत्ति स्थान हो।।६१।। आप ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि देवताओं के परम दैवत हो। आपने ब्रह्मा को वेदों का ज्ञान कराया, इसलिये आप आद्य-गुरू हो।।६२।। हे श्रीराम! आप गंभीर हो।

सकल गुणों में अप्रतिम। अद्वितीय आप।।६३।। कोई न आपके समान। न चाहिये इसका प्रतिपादन। जो आकाश किया उत्पन्न। समाहित जिसमें विश्व।।६४।। कोई आप के सरिस। कथन यह लजास्पद अशेष। तब आपसे अधिक सर्वेश। वस्तु कौन सी?।।६५।। अतः त्रिभुवन में आप एक। कोई न आप सम या अधिक। आप का महिमा अलौकिक। अवर्णनीय कृष्ण।।६६।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

इस विध अर्जुन कहत। दंडवत प्रणाम करत। वहां सात्विकता मूर्त। उभरत सहज।।६७।। बोलत "प्रसीद प्रसीद"!। वाचा होत सद्गद। उबारो मुझे अपराध-। समुद्र से अब।।६८।। आप विश्व सुहृद को कृष्ण। संबंधी जानकर न दिया मान। आप विश्वेश्वर को पूर्ण। उपेक्षित मैंने।।६९।। स्वयं आप अवर्णनीय। सभा में जब मुझे बखानत सदय। मूर्खता से अधिकाधिक उस समय। की वल्गना मैंने।।५७०।। ऐसे मेरे अपराध। अमर्याद हे मुकुंद। हुआ हमसे प्रमाद। रक्ष-रक्ष प्रभो।।७१।। जी, यह बिनती प्रीत्यर्थ। न कुछ योग्यता मुझमें अच्युत। किंतु दुलार से जैसे अपत्य। बोलत पिता से।।७२।। पुत्र के अपराध। होत यदि अगाध। पिता सहत निर्द्वंद्व। वैसे सहिये आप।।७३।। सखा का उद्टत्व। सखा सहत निवान्त। वैसे आप समस्त। सहयोजी।।७४।। प्रिया के पास सम्मान। प्रिय न अपेक्षत सर्वथा जान। वैसे उठवत उच्छिष्ठ कृष्ण। अतः क्षमस्व प्रभु।।७५।। वैसे भी जब प्राणप्रिय-भेंटत। जितने अनुभूत संकट। कहते न संकोच करत। कभी कोई।।७६।। तन मन जीव से कृष्ण। स्वयं को जिसने किया अर्पण। कान्त मिलन में हृद्गत संपूर्ण। रोक न पावत।।७७।। वैसे मैं गोस्वामी!। प्रार्थू आपको अंतर्यामी!। एक और मन में भावोर्मि!। पूछना आपसे।।७८।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय दैव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

जी, अपनत्व से लिया छंद। विश्वरूप दर्शन का गोविंद। माता पिता आप स्नेहबद्ध। किया पूर्ण वह।।७९।। सुरतरू के वृक्ष। आंगन में लगाये सकौतुक। दिया कामधेनु का वत्स एक। क्रीडार्थ मुझे।।५८०।। मांगू खेलने द्यूत नक्षत्र। कंदुक के बदले चंद्र अच्युत। छंद यह किये पूर्ण समस्त। माता आपने।।८१।। जिस अमृतलेश के लिये सायास। उसकी वर्षा की चार मास। पृथ्वी पर क्यारियां करके विशेष। बोवत चिंतामणि उसमें।।८२।। किया ऐसे मुझे कृतकृत्य। पूर्ण किये सब मनोरथ। जो परब्रह्म कर्ण से भी न सुनत। वह दिखाया प्रत्यक्ष।।८३।। देखने की तो दूर बात। उपनिषदों को जिसकी नहीं भेंट। वह हृदयपंथी गुह्य साक्षात। खोली मत्प्रीत्यर्थ।।८४।। कल्पादि से अच्युत। आज घड़ीतक बीतत। जितने मेरे जन्म

Funding by IKS-MoE

समस्त भूतों के विषय में आप की समदृष्टि है। आप सब गुणों में अनुपम तथा अद्वितीय हो।।६३।। आपके समान दूसरा कोई नहीं, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो आकाश आपने उत्पन्न किया है उसमें संपूर्ण जगत् समाया है।।६४।। आपके समान कोई दूसरा है यह कथन भी लज्जास्पद है तब हे प्रभु! आपसे अधिक बड़ा और कौन हो सकता है?।।६५।। इसलिये, संपूर्ण त्रिभुवन में आपही एक हैं, आपके समान दूसरा कोई नहीं। आपकी महिमा अपूर्व है, उसका वर्णन करने में हम असमर्थ हैं।।६६।।

इसलिये, हे प्रभो! मैं आपको दंडवत् प्रणाम करके, स्तुति के योग्य आप सर्वेश्वर को प्रसन्न होने के लिये प्रार्थना करता हूं। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के तथा पति जैसे प्रिय पत्नी के अपराध सहन करता है, वैसे ही आप मेरे अपराध सहन करने के लिये योग्य हैं।।४४।।

ऐसा कहकर अर्जुन ने भगवान को साष्टांग प्रणाम किया। उस समय उसके अष्ट-सात्वि भावों को बाढ़ आई।।६७।। गद्गद् वाणी से वह कहने लगा, 'मुझपर कृपा कीजिये, प्रसन्न होईये और इस महान् अपराध समुद्र से मुझे बहार निकालये'।।६८।। आप तो संपूर्ण विश्व के सुहृद हो। आपको सगोत्री समझकर हमने सन्मान नहीं दिया। आप वास्तव में विश्वेश्वर हैं, आपकी हमने पूर्णतः उपेक्षा की।।६९।। आप स्वयं वर्णन करने के योग्य होकर भी, जब प्रेम से सभा में मेरा वर्णन करते थे, तब मूर्खतावश मैं अधिकाधिक बलगना करता था।।५७०।। हे मुकुंद! इस प्रकार मेरे अपराधों की सीमा नहीं है। मुझसे भारी प्रमाद हुआ है। हे प्रभु! आप मेरी रक्षा करो।।७१।। अजी! यह बिनति करने की भी योग्यता मुझमें नहीं है। परन्तु प्रेम से जैसे बालक अपने पिता से बोलता है।।७२।। और उसके अपराध अगाध होने पर भी पिता जैसे द्वैतभाव छोड़कर वे सब सहन करता है, वैसे ही आप मेरे संपूर्ण अपराध सह लीजिये।।७३।। मित्र का उद्धत बर्ताव जैसे मित्र शान्ति से सह लेता है, वैसे ही आप मेरे समस्त अपराध सह लीजिये।।७४।। जैसे कोई प्रिय मित्र अपने प्रियमित्र से सम्मान की अपेक्षा नहीं करता वैसे ही आपने हमारे राजसूय यज्ञ में उच्छिष्ट भी उठाया उसके लिये हे कृष्ण! आप हमें क्षमा कीजिये।।७५।। अथवा प्राणों से भी प्रिय मित्र से भेट होतेही जैसे हृदय को अपने बीते हुये संकट उसको निवेदन करने में संकोच नहीं होता।।७६।। अथवा जिसने अपना संपूर्ण तन, मन, जीव सहित स्वयं को निजपति को अर्पण किया हो, वह पति से भेंट होते ही अपने हृदय की बात उसे कहे बिना नहीं रह सकती।।७७।। वैसे ही ये गोस्वामी! अंतर्यामी आप से मैंने यह बिनति की है। किन्तु इसके अतिरिक्त मेरे मन में एक और बात है जो मैं आपसे पूछना चाहता हूं।।७८।।

हे विश्वमूर्ते! मैं आपका यह अदृष्ट पूर्व, आश्चर्यमय स्वरूप देखकर हर्षित हो रहा हूं और मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये, हे देव! आप उसी अपने चतुर्भुज रूप को ही मुझे दिखाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! मुझपर प्रसन्न होइए।।४५।।

हे देव! अपनत्व के नाते मैंने आपसे विश्वरूप दिखाने का हठ किया वह भक्तों के प्रेम के वश आप प्रेमी माता-पिता ने वह पूर्ण कर दिया।।७९।। आपने प्रेम से कल्पवृक्ष मेरे आंगन में लगाये, कामधेनु का एक वत्स मुझे क्रीड़ा करने के लिये दिया।।५८०।। खेलने के लिये मुझे नक्षत्र रूप पांसे दिये, गेंद के बदले मैंने चंद्रमा पाया। यह विश्वरूप दर्शन का हठ भी हे माता! आपने सब पूर्ण क्रिया।।८१।। जिस अमृत के एक बिंदुमात्र के लिये कष्ट उठाने पड़ते हैं, उस अमृत की वर्षा सतत चार मास कर दी और पृथ्वी को जोत कर क्यारियां बनाई और उसमें चिंतामणि बो दिये।।८२।। इस प्रकार हे स्वामी! आपने मुझे कृतार्थ कर दिया और मेरे सब मनोरथ आपने पूर्ण कर दिये। और जो इस स्वरूप के विषय में ब्रह्मा और शंकर आदि कानों से भी नहीं सुन सके, उस स्वरूप को आपने मुझे प्रत्यक्ष दिखा दिया।।८३।। देखने की तो बात ही दूर, उपनिषदों को भी जिसकी प्राप्ति न हुई, वह हृदय की ग्रंथि आपने मेरे लिये खोल दी।।८४।। हे अच्युत! हे

समस्त। लक्ष्मीवर ।।८५।। उन सब के अंतर्गत। एकेक को यदि परखत। देखी न सुनी बात। ऐसी प्रभु ।।८६।। इस विश्वरूप आंगन में। न प्रवेश बुद्धि को उसमें। कल्पना भी अंतःकरण में। न कर सकूं मैं ।।८७।। वहां चक्षु से देखना प्रत्यक्ष। कल्पना भी यह व्यर्थ अशेष। किंबहुना पहले कभी सर्वेश। सुना न देखा ।।८८।। यह अपना विश्वरूप समर्थ। किया मम नयनों को प्रतीत। मेरा मन अति आनंदित। हुआ देव ।।८९।। किंतु अब मन में आस। करूं आपसे कुछ बात खास। आलिंगनार्थ आप के पास। आऊं प्रभु ।।५९०।। वह चाहें यदि इस रूप से। करूं बात- किस एक मुख से?। आलिंगन करूं किस मूर्ति से। अति अपार आप ।।९१।। अतः समीर साथ गमन। अशक्य गगन को आलिंगन। कैसा संभव जलक्रीड़न। समुद्र में प्रभु ।।९२।। इसलिये हे देव!। भयभीत मेरा जीव। अतः उपसंहारों रूप यह। मानिये बात मेरी ।।९३।। कुतुहल से देखना। फिर शांति से स्वगृह में रहना। आपका चतुर्भुज रूप माना। विश्राम हमने ।।९४।। योगजात अभ्यासित। किंतु अनुभव यह सत्य। सर्व शास्त्र पारंगत। किंतु सिद्धांत यह एक ।।९५।। हमने यज्ञ किये सकल। उनकी फलश्रुति यही केवल। तीर्थाटन सब सफल। प्राप्त्यर्थ इसके ।।९६।। और भी जो-जो कोई। दान-पुण्य कीजे सबही। उसकी फलप्राप्ति एक ही। चतुर्भुज रूप आपका ।।९७।। ऐसी उसकी चाह कृष्णा। होवे इसी क्षण उसका दर्शन। यह संकट करो हरण। त्वरित प्रभु ।।९८।। हे अंतर्तम मर्मज्ञा। सकल विश्व प्रसवन आद्या। होना प्रसन्न परम वंद्या। देवाधिदेव ।।९९।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।४६।।

नीलवर्ण नीलोत्पल को। नीलिमा देत!। आकाश को। प्रभा इंद्रनील मणि को। दातार! आपसे ही ।।६००।। जैसा मरकत को परिमल सुंदर। निकले आनंद को कर। जानु से मकरध्वज को शृंगार। शोभा प्राप्त ।।१।। मस्तक पर मुकुट विराजित। शोभा मस्तक से मुकुट को प्राप्त। शृंगार को आभूषण होत। अंग से जिसके ।।२।। इंद्रधनुष के मध्य में। मेघ गगनांगन में। वैसे शोभत वैजयंति के वेष्टन में। शार्ङ्गपाणि आप ।।३।। उदार गदा से हस्त। कैवल्य असुर की देत। चक्रधारी गोविंद शोभा। सौम्यतेज से ।।४।। किंबहुना स्वामी अनंत। देखने को वह मैं उत्कंठित। इसलिये आप सांप्रत। होइये वैसे ।।५।। देखकर विश्वरूप शृंगार। तृप्त नयन विश्वाधार। भये अब अत्यंत आतुर। कृष्ण-मूर्ति दर्शन को ।।६।। वह साकार कृष्ण मूर्त। उसके सिवा न अन्य आर्त। न देखूं यदि जानत। सब व्यर्थ यह ।।७।। भोग मोक्षदाता कोई। श्रीमूर्ति बिन अन्य नाहीं। अतः होवो साकार वैसे ही। करो उपसंहरण इसका ।।८।।

तक मेरे जितने जन्म बीत गये हैं ।।८५।। उन सब जन्मों का यदि निरीक्षण करके देखता हूं, तो हे प्रभु! मैंने ऐसी बात न कभी देखी है न सुनी है ।।८६।। बुद्धि का ज्ञान कभी इस विश्व स्वरूप के आंगन में भी नहीं जा सकता, मैं अंतःकरण में उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता ।।८७।। फिर नेत्रों को इसके प्रत्यक्ष होने की कल्पना करना भी व्यर्थ है। किंबहुना हे सर्वेश्वर! ऐसा स्वरूप पहले न कभी देंखा था न सुना था ।।८८।। हे समर्थ! आपका यह विश्वरूप आपने मेरे नयनों को दिखाया इससे हे देव! मेरा मन अति आनंदित हुआ है ।।८९।। किंतु अब मेरे हृदय में ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई है कि, मैं आपसे कुछ वार्तालाप करूं और आप से आलिंगन करने के हेतु से आपके सन्निध आ जाऊं ।।५९०।। सो यदि इसी विश्वरूप से बात करूं या आलिंगन करूं, तो हे प्रभु आपके किस एक मुख से बोलूं और आप, जो इतने अपार होकि इसमें से किस देह को आलिंगन हूं ।।९१।। इसलिये हे प्रभु! वायु के संग दौड़ना या गगन को आलिंगन देना या समुद्र में जलक्रीड़ा करना असंभव है ।।९२।। हे देव! इस स्वरूप से मेरे हृदय में भय उत्पन्न हुआ है। इसलिये अब मेरी बात मान लीजिये और इस अद्भुत रूप का उपसंहार कीजिये ।।९३।। कोई कुतुहल से चराचर का अवलोकन करने के बाद शांति से अपने घर में रहे वैसे ही विश्वरूप दर्शन से उत्पन्न भय को दूर करने के लिये आपका चतुर्भुज रूप हमारे लिये विश्राम का स्थान है ।।९४।। इसी सगुण रूप के अनुभव प्राप्ति के लिये अष्टांग योग का अभ्यास करना चाहिये। शास्त्रों का परिशीलन करके उसमें प्रवीण होना वह इसी सिद्धांत के लिये अर्थात सगुण रूप के साक्षात्कार के लिये ।।९५।। हमने समस्त यज्ञ किये, चतुर्भुज का दर्शन होवे इसी फलश्रुति के लिये। सकल तीर्थों की यात्रा को वह भी इसी स्वरूप की प्राप्ति के लिये, ।।९६।। और भी जो कुछ दान, पुण्य किये, उनसे भी आपके इस चतुर्भुज रूप का ही फल प्राप्त हो इसीलिये ।।९७।। मेरे हृदय में उस रूप का इतना प्रेम है और इसलिये उसी रूप का दर्शन इसी क्षण हो। हे देव! यह मेरा संकट अब शीघ्र दूर करो ।।९८।। हे हृदयान्तरतम जाननेवाले! सकल विश्व के सृजनहार! हे परमवंद्य देवाधिदेव! अब आप शीघ्र प्रसन्न होईये ।।९९।।

हे विष्णो! मैं आपको वैसे ही मुकुट धारण किये हुये तथा गदा और चक्र हाथ में लिये हुये देखना चाहता हूं, इसीलिये हे विश्वरूप! हे सहस्त्रबाहो! आप उसी चतुर्भुज रूप में प्रकट होईये ।।४६।।

हे देव! आपका शामसुंदर रूप नीलकमल को नीलवर्ण देता है। आकाश को नीलिमा लगाता है और इंद्रनील मणि को उसकी नीली प्रभा प्रदान करता है ।।६००।। जो स्वरूप ऐसा मानों मरकत मणि को सुगंध प्राप्त हुई हो, या आनंद को भुजायें प्रस्फुटित हुई हों या जिनके जानू उपर अर्थात गोदी में क्रीडा करने से मदन को सौंदर्य शोभा आई हो, ।।१।। मस्तक पर मुकुट विराजमान है। वास्तव में मस्तक से ही मुकुट को शोभा प्राप्त हुई है। जिसकी अंगकांति से शृंगार को अलंकारत्त्व प्राप्त हुआ है ।।२।। गगन मंडल में इंद्रधनुष के कमानदार से वेष्ठित जैसे मेघ दिखता है वैसे विविधरंग युक्त वैजयंती माला शामिल शार्ङ्गपाणि सुंदर दिखाई देते थे ।।३।। आप हस्त में उदार गदा धारण किये थे जो असुरों को भी मोक्ष प्रदान करती थी। हे गोविंद! आपके हस्त में चक्र भी कैसा सुंदर और सौम्य तेज से शोभा दे रहा था ।।४।। हे स्वामी! हे अनन्त! और अधिक क्या कहूं वह रूप देखने प्रीत्यर्थ मैं उत्कंठित न हुआ हूं, इसलिये अब आप उसी रूप में प्रकट होईये ।।५।। अजी, हे विश्वाधार! इस विश्वरूप का शृंगार का दर्शन पाकर ये आंखें तृप्त हो गई हैं अब वे आपकी कृष्णमूर्ति देखने के लिये अत्यंत आतुर हुए हैं ।।६।। उस सगुण साकार कृष्णमूर्ति के अतिरिक्त अन्य रूप देखने की मन में इच्छा नहीं। यदि वह न देख सकूं तो शेष सब देखना व्यर्थ है ।।७।। हमारे लिये भोग-मोक्ष दाता वही श्रीमूर्ति है। अतः आप पहले जैसे सगुण साकार होईये और इस विश्वरूप का उपसंहार कीजिये ।।८।।

Funding by IKS-MoE

श्री भगवान उवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

सुन अर्जुन का बोल ऐसा। विश्वरूप विस्मय पावे सहस। कहत अर्जुन अविवेकी तुझ जैसा। देखा न अन्य॥९॥ कौन वस्तु तुझ को प्राप्त। न उसके लाभ से तुष्ट। क्या यह कहत होकर भयभीत। कायर जैसा॥६१०॥ सहज हम हुए प्रसन्न। दिया तुझको स्वान्तःकरण। न दिखाया गुह्य ध्यान। किसी अन्य को॥११॥ यह तेरी कामनार्थ प्राप्त्यर्थ। मैं मन से प्रसन्न हुआ पार्थ। अंतर्गह्य का यत्न से पार्थ। रचित ध्यान॥१२॥ कैसी अद्भुत तेरी चाह। प्रसन्नता मेरी पागल होय। अतः गौप्य की अति गुह्य। उभारी ध्वजा॥१३॥ जो यह अपरंपार। स्वरूप मेरा परात्पर। यहां से सब अवतार। श्रीकृष्णादिक॥१४॥ यह ज्ञानतेज का निखिल। विश्वात्मक केवल। अनन्त यह अटल। आद्य सबका॥१५॥ यह तुझ बिना अर्जुन। देखा न सुना किसीने अन्य। शक्य न साधन से जान। इसीलिये॥१६॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूप शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥४८॥

पाकर इसका स्थान। वेद भी हुए मौन। मुड़त याज्ञिक जन। जाकर स्वर्गतक॥१७॥ साधक जन देख सायास। अतः त्यजत योगाभ्यास। अध्ययन से भी सौरस। अप्राप्य इसका॥१८॥ पूर्णत्व को प्राप्त सत्कर्म। देखने दौड़त स्वसंभ्रम। बहुत करके श्रम। पहुंचे सत्यलोक वे॥१९॥ तपस्वी ऐश्वर्य देखत। खड़े-खड़े उग्रत्व छांडत। तप साधक भी रहत। कोसों दूर॥६२०॥ यह तुमने देखा अनायास से। देखा विश्वरूप जैसे। मनुष्य लोक में वैसे। प्राप्त न किसी को॥२१॥ इस ध्यान संपदा को योग्य। तू ही एक जग में न अन्य। प्राप्त न यह परम भाग्य। विरंचि को भी॥२२॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥४९॥

तुम विश्वरूप दर्शन से धन्य। मानो न इसका भय। सिवा इसके कुछ रम्य अन्य। मन से न जानो॥२३॥ यह अमृत समुद्र पूर्ण। अकस्मात प्राप्त अर्जुन। डूबने के भय से कौन। त्यागत इसे?॥२४॥ अथवा सुवर्ण पर्वत। हुआ यदि हस्तगत। अचल जान कर क्या करत। कोई अव्हेर उसका?॥२५॥ चिंतामणि दैव से प्राप्त। क्या छांडत कहकर भार बहुत?। पोषण कठिन अतः लौटावत। कामधेनु को कोई?॥२६॥ आवे चंद्रमा गृह में शीतकर। बोलत होत उष्मा निकल बाहिर। क्या छाया करत दिनकर। अतः भगावत उसको?॥२७॥ वैसा ऐश्वर्य यह महातेज। आज हस्तगत

श्री भगवान बोले:–

इस प्रकार अर्जुन की प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराटरूप तेरे को दिखाया है जो तेरे सिवाय अन्य किसी में पहिले नहीं देखा।।४७।।

इसप्रकार अर्जुन का कथन सुनकर भगवान को बहुत विस्मय हुआ और उन्होंने कहा कि, हे अर्जुन! तेरे समान अविवेकी दूसरा व्यक्ति मैंने आजतक नहीं देखा।।९।। विश्वरूप जैसी कितनी महत्वपूर्ण वस्तु का आज तुमको लाभ हुआ है, किंतु तुम इससे संतुष्ट नहीं हो। उलटा भय से डरपोक जैसे क्यों बोल रहे हो।।६१०।। सहज ही हम तुम पर प्रसन्न हुए और हमने अपने अंतःकरण का गुह्य स्थान तुमको दिखाया, जो आज तक किसी अन्य को नहीं दिखाया था।।११।। परन्तु हमने तुम्हारी इच्छा पूर्ती के लिये आज प्रसन्न होकर यत्नपूर्वक यह विश्वरूप तैयार किया।।१२।। तुम्हारा प्रेम न जाने कैसा अद्भुत है जो हमारी प्रसन्नता इतनी मत्त हो गई जोकि यह गुह्य विश्वरूप जो अब तक गुप्त रखा था इसकी ध्वजा जग में फहराई है।।१३।। ऐसा यह मेरा अपरम्पार और परस्पर स्वरूप है। यहीं से कृष्ण इत्यादि अवतार उत्पन्न होते हैं।।१४।। यह रूप केवल ज्ञानके तेज का बना है। केवल विश्वमय है, अनन्त है, अचल है और सबका आदिकारण है।।१५।। हे अर्जुन! इसे तुम्हारे सिवाय पहले किसी ने न सुना है न देखा है क्योंकि वह साधनों द्वारा प्राप्त होनेवाला नहीं है।।१६।।

हे कुरुप्रवीर! हे अर्जुन! मनुष्य लोक में इसप्रकार मुझ विश्वरूप को वेदों द्वारा यज्ञ से, अध्ययन से, दान से, लौकिक ज्ञान से अथवा उग्रतप से जानना तेरे सिवाय किसी अन्य को संभव नहीं है।।४८।।

इस अप्रमेय स्थान तक पहुंचने के बाद वेदों ने भी मौन धारण किया। और याज्ञिक जन यज्ञ करके स्वर्ग तक पहुंच कर पीछे लौट आये।।१७।। साधकों ने योगसाधना अति कष्टप्रद जानकर योगाभ्यास छोड़ दिया, और अध्ययन में भी इस रूप को प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं है।।१८।। पूर्णता को पहुंचे हुये हार सत्कर्म अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिये दौड़े परन्तु वे बड़े कष्ट से सत्यलोक तक पहुंचे।।१९।। तपस्वी जनों ने इस रूप का ऐश्वर्य देखकर खड़े-खड़े ही अपना उग्रपन छोड़ दिया। इसप्रकार तपःसाधन करनेवाले भी इस विश्वरूप के बहुत दूर रह गये।।६२०।। यह विश्वरूप तुमने जैसा अनायास देखा है वैसा मनुष्य लोक में और किसी को प्राप्त नहीं हुआ।।२१।। आज जगत में इस ध्यान संपत्ति को प्राप्त करने वाले एक तुम ही हो। ऐसा परम भाग्य ब्रह्मा का भी नहीं है।।२२।।

मेरा इस प्रकार का भयंकर रूप देखकर व्याकुलता न आये, वैसे ही तेरे चित्त को मूढ़ता भी न होवे। तुम निर्भय प्रेमयुक्त अंतःकरण से पुनः एकबार मेरा यह विश्वरूप देखो।।४९।।

इस विश्वदर्शन के लाभ से स्वयं को धन्य मानो! इससे भयभीत न हो। इसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को जग में उत्तम न समझो।।२३।। यह तो अमृत का भरा हुआ सागर है, और हे अर्जुन! यह अचानक तुम्हें आज प्राप्त हुआ है, क्या कोई इसे डूबने के डर से छोड़ देगा?।।२४।। अथवा सुवर्ण का महापर्वत यदि अपने को प्राप्त हुआ तो यह अचल है चल नहीं सकता इसलिये क्या कोई इसका त्याग करेगा?।।२५।। भाग्य से चिन्तामणि का अलंकार प्राप्त हुआ तो क्या उसे बोझ समझकर कोई फेंक देगा? कामधेनु को पालने का सामर्थ्य नहीं इसलिये क्या कोई कामधेनु को लौटा देगा?।।२६।। शीतलता पहुंचानेवाला चंद्रमा घर आवे तो क्या कोई कहेगा कि निकलो, तुम उष्णता पहुंचाते हो? अथवा सूर्य से क्या कोई कहता है कि हटो, तुम परछाई डालते हो?।।२७।। वैसे ही यह ईश्वरी महातेज सहज में तुम्हारे हाथ आया है तो इससे तुम्हें भय

सहज। क्या यहां भय का काज। किरीटि तुझको।।२८।। किंतु तुम अज्ञानी बुद्धिहीन। कैसा क्रोध करूं तुझपर अर्जुन। अंग छोड़कर छाया पूर्ण। आलिंगत तुम।।२९।। जो मैं नाहीं उसकी। उपेक्षा करके विश्वरूप की। चाह करत चतुर्भुज की। अपक्व मनसे।।६३०।। तो अब भी हे पार्था। छोड़ो-छोड़ो यह व्यवस्था। इस विषय में अनास्था। न रखो तुम।।३१।। यह रूप यदि घोर। विकृत विकराल भयंकर। फिर भी कृत-निश्चय का घर। करो इसको।।३२।। कृपण चित्तवृत्ति जैसे। गड़त निधान में वैसे। संघरत मात्र शरीर से। जग में स्वतः।।३३।। या अजातपक्ष के निकट। निलय में रखकर मन को पार्थ। अंतराल में पक्षिणी करत। भ्रमण जैसे।।३४।। अथवा धेनु चरत बन में। किंतु चित्त गर के वत्स में। वैसे प्रेम को विश्वरूप विषय में। बनाओ स्थानपति तुम।।३५।। वैसे मन के संतोषार्थ। बाह्य सुख प्रीत्यर्थ। करो श्रीमूर्ति का भोग पार्थ। चतुर्भुज का तुम।।३६।। किंतु पुनः-पुनः पांडव। न बिसरो मोल यह। जो इस रूप से सद्भाव। जाने न पावे।।३७।। यह कभी नहीं दृष्ट। अतः भयभीत तेरा चित्त। छोड़ो भय प्रेम करो स्थापित। निरन्तर उसमें।।३८।। अब करूं जो तुम को वांछित। विश्व तो मुख इसविध कहत। जो पूर्वरूप सुख से सांप्रत। निहारो तुम।।३९।।

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

ऐसे वाक्य बोलत तत्क्षण। पुनः मनुष्य रूप धरत कृष्ण। नवल न यहां किंतु विलक्षण। भक्त प्रेम यह।।६४०।। श्रीकृष्ण कैवल्य केवल। ऊपर विश्वरूप सकल। दिया किंतु हुआ विकल। अर्जुन मन में।।४१।। वस्तु लेकर त्यागना। अथवा दूषण रत्न को देना। कन्या देखकर कहना। न भाये हमको।।४२।। किया उत्तम उपदेश। कैसा भर प्रीति को विशेष। दिखाया विश्वरूप प्रत्यक्ष। किरीटि को प्रभुने।।४३।। तोड़कर सुवर्ण ठोस। बनावत स्वेच्छा से आभूषण खास। बनाये फिर भी न संतोष। पिघलावत पुनः।।४४।। वैसे शिष्य प्रीति से। किया विश्वरूप कृष्णत्व का जैसे। किंतु न पार्थ संतुष्ट उससे। हुए कृष्णरूप पुनः।।४५।। ऐसा शिष्य का हठ नरेश। कौन देश का गुरु सहत अशेष। किंतु न जानु कैसी प्रीति विशेष। संजय कहे।।४६।। तब विश्वव्याप्त संपूर्ण। दिव्य तेज प्रकट पूर्ण। समावत एकबार पुनः। कृष्ण रूप में उस।।४७।। त्वंपद यह अशेष। त्वत्पद में विलीन निःशेष। द्रुमाकार का समावेश। बीज कणिका में जैसा।।४८।। नातर स्वप्न संभव जैसा। ग्रासत जागृत जीवदशा। श्रीकृष्ण योग यह तैसा। संहरत वहां।।४९।। जैसी प्रभा निमग्न बिंब में। या जल-संपदा नभ में। नाना ज्वार सिंधु गर्भ में। मीनत जैसे।।६५०।। जो

Funding by IKS-MoE

क्यों होना चाहिये?॥२८॥ परंतु हे अर्जुन! तुम अज्ञानी हो। तुम्हारी बुद्धि नष्ट हुई है। परंतु तुम पर क्यों क्रोध करें? तुम शरीर छोड़कर छाया को आलिंगन करना चाहतें हो॥२९॥ इस विश्वरूप की अतक्व बुद्धि से उपेक्षा करके जिस चतुर्भुज रूप पर तुम प्रेम रखते हो वह मेरा सत्यस्वरूप नहीं है॥६३०॥ इसीलिये हे कुंतिपुत्र अर्जुन! अब भी उस चतुर्भुज रूप की आस्था छोड़ दे और इस विश्वरूप के विषय में मन की अनास्था मत रख॥३१॥ यद्यपि यह रूप घोर, विकराल और विशाल है तथापि इसीको ही अपने निश्चय का स्थान बना दो॥३२॥ जैसे किसी कृपण की चित्तवृत्ति अपने द्रव्य में ही फंसी रहती है और वह केवल देह से व्यवहार करता है॥३३॥ अथवा पक्षिणी जैसे अपना जी घोंसले में, अपने अजातपंख नन्हे बच्चों के पास रखकर आकाश में भ्रमण करती है॥३४॥ अथवा जैसे गौ पहाड़ पर चरती है किंतु उसका चित्त घर में बंधे हुए, बछड़े की ओर लगा रहता है, वैसे ही तुम अपने प्रेम को इस विश्वरूप में बांधकर स्वामी बना लो॥३५॥ वैसे तो मन के संतोष के लिये और बाह्यतः सुख को भोगने के लिये हे अर्जुन! मेरे इन चतुर्भुज मूर्ति का ध्यान करो॥३६॥ परन्तु हे पाण्डव! निरन्तर इस एक बात को न भूलो कि तुम्हारा सद्भाव इस स्वरूप से न हटने पावे॥३७॥ यह स्वरूप तुमने कभी देखा नहीं था, इससे तुम्हारा मन भयभीत हुआ है। अब उस भय को छोड़कर इस स्वरूप में अपना प्रेम भर दो॥३८॥ इसके पश्चात विश्वरूपी श्रीकृष्ण ने कहा कि अब मैं तुम्हारी इच्छानुसार करता हूं। अब तुम मेरा पूर्ववत स्वरूप सुख से देख लो॥३९॥

इसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन! वासुदेव भगवान ने अर्जुन के प्रति इसप्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूप को दिखाया और महात्मा श्रीकृष्ण ने फिर से एक बार सौम्यरूप धारण करके भयभीत हुए अर्जुन को आश्वासन दिया॥५०॥

ऐसा वाक्य कहते हुए तत्क्षण ही देव फिर मनुष्य रूप बन गये। रूप बदलता यह मायाधीश कृष्ण के लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं किंतु अर्जुन के प्रति उनका विलक्षण प्रेम आश्चर्यकारक है॥६४०॥ श्रीकृष्ण केवल परब्रह्म हैं, उन्होंने अपना विश्वरूप सर्वस्व अर्जुन के हाथ दे दिया, परंतु वह अर्जुन को न भाया और वह मन में व्याकुल हुआ॥४१॥ वस्तु का स्वीकार करके पुनः लौटाना, या सुंदर रत्न को दूषण देना अथवा कन्या का निरीक्षण करके कहना कि वह हमें पसंद नहीं है, वैसा ही हाल यहां हुआ॥४२॥ इस प्रकार देव ने सर्वोत्तम उपदेश किया, देखो कैसा प्रभु का विशेष प्रेम यहां उभर आया और उन्होंने अर्जुन को विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखाया॥४३॥ परन्तु सोने का टुकड़ा तोड़कर उसके स्वच्छानुसार अलंकार बनाये जायें और फिर वे मन को न भायें इसलिये फिर वे गलाये जाते हैं,॥४४॥ वैसे ही शिष्य प्रेम के लिये कृष्ण, विश्वरूप हो गये और जब उसको उस रूप से संतोष नहीं हुआ। तब फिर से कृष्णरूप हो गये॥४५॥ संजय राजा धृतराष्ट्र को कहता है कि ऐसा शिष्य का हठ यहां तक सहने वाले गुरु किस देश में है?। किन्तु देव के मन में अर्जुन के विषय में कैसा विलक्षण प्रेम था वह समझ में नहीं आता॥४६॥ उसके पश्चात भगवान ने विश्व को व्याप्त कर जो दिव्य तेज प्रकट किया था उसे फिर से उसी कृष्णरूप में समा लिया॥४७॥ जैसे संपूर्ण जीवदशा (त्वंपद) ब्रह्मपद (त्वपद) में संपूर्णता समाती है अथवा वृक्ष का प्रचण्ड आकार जैसे एक बीज कणिका में समा जाता है,॥४८॥ अथवा जैसे जागृतदशा स्वप्न के विस्तार को निगल जाती है वैसे ही श्रीकृष्ण ने अपना योग ऐश्वर्य अपने में समेट लिया॥४९॥ प्रभा जैसी बिंब में विलीन हो जाती है अथवा मेघ संपत्ति आकाश में, या समुद्र की बाढ़ समुद्र गर्भ में विलीन हो जाती है॥६५०॥ वैसे ही कृष्ण रूप के आकार की जो विश्वरूपी वस्त्र की तह थी वह अर्जुन के इच्छातृप्ति के लिये मानो खोल दी स्वयं श्री कृष्ण ने

कृष्णाकृति का वस्त्र। वह विश्वरूप पटकी समग्र। अर्जुन इच्छा के लिये विश्वाधार। विस्तारित।।५१।। तब परिमाण रंग। दिखावत स्वयं श्रीरंग। किंतु ग्राहक को न उसका लाग। अतः चूणीकृत (तह की) पुनः।।५२।। वैसे रूप. वृद्धि का विस्तार। विश्व जीतत जो समग्र। वह सौम्य सुंदर। हुआ साकार।।५३।। किंबहुना अनन्त। पुनः लघु रूप धरत। जो पार्थ था भयाभीत। आश्वासत उसको।।५४।। स्वप्न में स्वर्ग में प्रवेशत। अकस्मात वह चेतत। वैसा विस्मय होत। किरीटि को।।५५।। नातर गुरुकृपा से पूर्ण। लुप्त अशेष प्रपंच ज्ञान। पावत तब तत्त्वज्ञान। श्रीमूर्ति दर्शन से।।५६।। अर्जुन मन में सोचत। विश्वरूप जवनिका बीच में स्थित। भला हुआ जो हुई लुप्त। सांप्रत वह।।५७।। काल को किया पराजित। महावात से हुआ मुक्त। स्वबाहुबल से तरत। सप्त सिंधु वह।।५८।। ऐसा संतोष बहुत चित्त को। हुआ उस पंडुसुत को। विश्वरूप पश्चात श्रीकृष्ण को। देखा जब।।५९।। तब सूर्य के अस्तमान में। तारागण उदित गगन में। वैसा अवलोकत पृथ्वी में। लोक समुदाय सब।।६६०।। देखें तब वही कुरुक्षेत्र। वैसे ही दोनों ओर गोत्र। वीर वर्षत शस्त्रास्त्र। सैन्य पर।।६१।। उस बाण मंडपतल स्थित। रथ देखत खड़ा निवान्त। धुरीपर बैठे लक्ष्मीकान्त। स्वयं नीचे।।६२।।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन। इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

एवं जैसे मांगा वैसे। वीर विलास ने देखा तैसे। तब कहत वह प्रभु से। सांच बचा मैं।।६३।। बुद्धि को छोड़कर ज्ञान। प्रवेशत सभय बन में धन। अहंकार सहित मन। बहकत सीमापार।।६४।। इंद्रिय व्यापार हुआ बंद। वाचा हुई निस्तब्ध। ऐसी अव्यवस्था सन्निबद्ध। शरीर ग्राम में।।६५।। वह पुनः हुई जीवित। प्रकृति हुई व्यवस्थित। पुनर्जीवन हुआ प्राप्त। श्रीमूर्ति दर्शन से।।६६।। ऐसा सुख प्राप्त जीव को। तब कहत श्रीकृष्ण को। जब देखा मैंने रूप को। मानुषी यह।।६७।। यह रूप दर्शन देवराय। मूढ़ अपत्य को सदय। समझाकर स्तनपान कराया यह। माता सम आपने।।६८।। जी, विश्वरूप सागर में। काटत तरंग कष्ट में। जब निजमूर्ति तीर पर मैं। पहुंचा सांप्रत।।६९।। हे द्वारकाभूषण यदुनाथ। मैं शुष्क वृक्ष साक्षात्। दर्शन न यह की अच्युत। मेघ वर्षा आपने।।६७०।। अजी, मैं तृषार्त। मुझे यह अमृत सिंधु प्राप्त। अब जीवन के प्रति विश्वस्त। हुआ मैं।।७१।। मेरे हृदयरूप आंगन में। की हर्षलता की रोपनी उसमें। अब सानंद प्रसन्न मैं। हुआ ऐक्य सुख से।।७२।।

श्री भगवान उवाच—

सुर्दुर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

पार्थ के इस बोल पर। क्या कहत श्री लक्ष्मीवर। तुम सांच सप्रेम सुवीर। मिलो

Funding by IKS-MoE

उस वस्त्र को लंबाई, चौड़ाई आदि ।।५१।। परिमाण एवं रंग दिखाएं किन्तु ग्राहक अर्जुन को नहीं भाया इसीलिये प्रभु ने उसकी मानों फिर से तह कर ली।।५२।। इस प्रकार जिस स्वरूप ने अपनी विशालता और विस्तार से संपूर्ण विश्व को भी जीत लिया था वह फिर सुन्दर और सौम्य सगुण साकार हो गया।।५३।। बहुत क्या कहना, उस अमर्याद विश्व रूप ने फिर अपना स्वरूप पहले जैसा, छोटा रूप धारण किया और उस भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया। ।।५४।। जैसे कोई स्वप्न में स्वर्ग में पहुंचा हो और फिर अकस्मात् जागृत होकर स्वयं को जहां के तहां पाया उस प्रकार अर्जुन को आश्चर्य हुआ।।५५।। अथवा जैसे गुरुकृपा से संपूर्ण प्रपंचज्ञान का लय होते ही जैसा ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार होता है वैसे अर्जुन को विश्वरूप दर्शन के अनन्तर सुन्दर कृष्णमूर्ति दिखाई दी।।५६।। अर्जुन ने मन में सोचा कि अच्छा हुआ जो मेरे और कृष्ण रूप के बीच जो विश्वरूप-जवनिका थी वह सांप्रत हट गई।।५७।।उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों वह काल को जीत कर आया हो अथवा इसने महावायु को दौड़ में हराया हो, अथवा वह अपने हाथों से समुद्र पार करके आया हो।।५८।। इस प्रकार अर्जुन के चित्त को विश्वरूप के पश्चात श्रीकृष्ण स्वरूप को देखने से अत्यंत संतोष हुआ।।५९।। तब जैसे सूर्यास्त के पश्चात आकाश में नक्षत्र उदित होते हैं वैसे यह पृथ्वी अर्जुन को अनेक लोगों से भरी हुई दिखाई दी।।६६०।। जब वह देखने लगा तो वही कुरुक्षेत्र, दोनों ओर वही गोत्रज और वीर शस्त्र अस्त्रों की परस्पर सैन्य पर पूर्ववत वर्षा कर रहे हैं।।६१।। ऐसे बाणों के मंडप के बीच रथ स्तब्ध खड़ा हुआ है, धुरी पर श्रीकृष्ण विराजमान हैं और स्वयं अर्जुन नीचे खड़ा है।।६२।।

उसके उपरान्त अर्जुन बोला, हे जनार्दन! आपके इस अतिशांत मनुष्य रूप को देखकर अब मैं प्रसन्नचित्त होते हुए अपने सहज स्वभाव को प्राप्त हुआ हूं।।५१।।

उस वीर-विलासी अर्जुन ने जैसी इच्छा की थी वैसा ही उसे दर्शन हुआ। फिर उसने कहा कि महाराज! अब मेरे जी में जी आ गया। मैं सचमुच बच गया।।६३।। विश्वरूप दर्शन के समय ज्ञान बुद्धि को छोड़कर भयभीत होकर अरण्य में प्रविष्ट हुआ था और मन भ्रमित अहंकार सहित देश के पास चला गया था।।६४।। इंद्रियां अपनी प्रवृत्ति भूल गई थीं, वाचा बोलना भूलकर स्तब्ध हुई थी, इसप्रकार इस शरीरग्राम में दुर्व्यवस्था छा गई थी।।६५।। परन्तु अब पुनः जीवित होकर प्रकृति व्यवस्थित हुई। इस श्रीमूर्ति से उन्हें फिर जीवन प्राप्त हुआ।।६६।। इसप्रकार अर्जुन के हृदय को सुख प्राप्त हुआ, और उसने श्रीकृष्ण को कहा कि मैंने आपका यह मानव शरीरधारी रूप पुनः देख लिया।।६७।। हे कृपालु देवराज! आपका यह रूप दिखाना ऐसा ही हुआ कि जैसा अज्ञानी बालक को आपने, माता के समान समझाकर स्तनपान दिया हो।।६८।। अजी! मैं विश्वरूप के समुद्र में हाथों से बहुत कष्ट से उसकी तरंगों को काट रहा था सो अब इस निजमूर्तिरूपी तीर पर आ पहुंचा हूं।।६९।। हे द्वारकापुर के भूषण यदुनाथ! मैं तो एक शुष्क वृक्ष था, उसको यह दर्शन नहीं मानो आपने मेघवर्षा ही की।।६७०।। अजी! मैं सहज तृषार्त था, मुझको यह अमृत का सागर ही प्राप्त हुआ। अब मेरे जीवन का भरोसा मुझे प्राप्त हुआ।।७१।। मेरे हृदयरूपी भूमि में मानों हर्ष लताएं लगाई गई हों। अब मैं हर्षित हुआ हूं और मेरा सुख से ऐक्य हुआ है।।७२।।

श्री भगवान बोले, मेरा यह विश्वरूप जो तुमने देखा उसका दर्शन अत्यंत दुर्लभ एवं महाकठिन है। देवता भी इस रूप के दर्शन की निरन्तर इच्छा करते हैं।।५२।।

अर्जुन के इस कथन के उपरांत श्री लक्ष्मीपति बोले, कि तुम इस विश्वरूप में प्रेम रखकर इसमें लक्ष्मीवर! कल्प के आरंभ से लेकर आज की घड़ी

Funding by IKS-MoE

विश्वरूप में ।।७३।। पश्चात इस श्रीमूर्ति को। मिलना मात्र शरीर से इसको। ज्ञान यह जो सिखाया तुझको। क्या भूले वह?।।७४।। अरे अंध अर्जुन!। हाथ यदि आया मेरू पूर्ण। उसको भी कहत लघु जान। यह प्रमाद मन का।।७५।। यह विश्वात्मक रूप। जो तुझको दिखाया स्वरूप। न पाये करके अपार तप। शंभू स्वयम्।।७६।। और अष्टांग साधन यह। योगी थकत करके कष्ट दुःसह। अलभ्य उनको किसी भी समय। मिलन जिसका।।७७।। वह विश्वरूप कोई समय एक। कैसे पावे उसकी अल्प झलक। व्यतीत करत देव चिन्तक। सोच में काल पूर्ण।।७८।। आशा की अंजुल कर। रखत हृदय लल्लाट पर। चातक निरालंब में सुवीर। देखत जैसे।।७९।। वैसे उत्कंठित निर्भर। होकर सब सुरवर। कांक्षत आठों प्रहर दर्शन जिसका।।६८०।। किंतु विश्वरूप सरिख। स्वप्न में भी न पावे देख। वह तुमने प्रत्यक्ष। देखा यह।।८१।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

हे वीर यह विश्वदर्शन। न कोई उपाय से अन्य। अतः षट्शास्त्र सहित मौन। हुए वेद।।८२।। मुझ विश्वरूप के सम्मुख। चलने को धनुर्धर देख। अपार तप भी अशेख। असमर्थ सब।।८३।। और दानादि साधन। तप यज्ञ से भी दुर्लभ जान। वह अनायास अर्जुन। देखा तुमने।।८४।। ऐसा जो मैं पार्थ। एक ही उपाय से वशीभूत। जब भक्ति आकर वरत। चित्त को जिसके।।८५।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

किंतु वह भक्ति ऐसी। पर्जन्य धारा जैसी। धरा बिना अन्य कौन सी। गति न जाने।।८६।। या सकल जल संपत्ति। लेकर खोजत आपापति। गंगा जैसी अनन्य गति। मिलत पुनः-पुनः।।८७।। वैसे सकल भाव संभार। रोक न सकत प्रेमभर। मुझमें करत संचार। मद्रूप बनकर।।८८।। वह मैं हूं ऐसा। तीर प्रवाह में सरिसा। क्षीराब्धि सर्वत्र जैसा। क्षीर का ही।।८९।। वैसे मुझसे पिप्पिलिका पर्यन्त। किंबहुना चराचर में पार्थ। भजन को विषय अवशिष्ट। नाहीं अन्य।।६९०।। ऐसी अनन्य जब चित्तवृत्ति। वहां मेरे ज्ञान की प्राप्ति। ज्ञान से दर्शन किरीटि। निश्चित जानो।।९१।। इंधन से अग्नि उत्पन्न। उद्दीप्त जब नष्ट भाव ईंधन। अग्नि रूप होवे पूर्ण। प्रत्यक्ष जैसे।।९२।। जब तक उदित न प्रभाकर। गगन में केवल अंधःकार। उदित तब तत्क्षण सर्वत्र। प्रकाश होय।।९३।। वैसे जब मेरा साक्षात्कार। नष्ट अहंकार का फेर। अहंकार लोप से द्वैत समग्र। लोपत सहज।।९४।। तब मैं और वह अशेष। मत्स्वरूप सब निःशेष। किंबहुना। मीनत सुभद्रेश। समरस में सब।।९५।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

जो मुझ एक को अर्जुन। करत स्वकर्म अर्पण। जिसको सिवा मेरे प्रिय अन्य। नाहीं जग में।।९६।। दृष्टा-दृष्ट सकल। जिसका मैं ही केवल। माना जिसने जीवन फल।

Funding by IKS-MoE

विलीन हो जाना।।७३।। और फिर इस श्रीमूर्ति को आलिंगन करने अकेले शरीर से ही मिलना, यह सीख जो मैंने तुमको दीं थी क्या उसको तुम भूल गये हो?।।७४।। अरे, अंध अर्जुन! यदि संपूर्ण मेरुपर्वत भी हाथ आवे तो भी मनुष्य उसको छोटा कहता है यह उसके मन की भूल है।।७५।। वैसे यह विश्वरूप जो मैंने तुमको दिखाया इसको प्रत्यक्ष श्री शंकर को महान तप करके भी प्राप्त नहीं हुआ।।७६।। और हे अर्जुन! योगी जन अष्टांग साधना के दुःसह कष्ट सहकर थक जाते हैं, किंतु उन्हें भी जिसकी भेंट का अवसर प्राप्त नहीं होता,।।७७।। जिस विश्वरूप का किसी एक समय थोड़ासा भी दर्शन हो जाये, ऐसा चिंतन करते हुये देवों की आयु पूर्ण व्यतीत हो जाती है।।७८।। आशारूपी अंजुली हृदयरूपी ललाटपर रखकर चातक जैसे आकाश की ओर दृष्टि लगाये रहते हैं।।७९।। वैसी आत्यंतिक उत्कंठा के वशीभूत होकर, सुरवर आठों प्रहर जिसकी भेंट की कामना करते हैं।।६८०।। तथापि जिस विश्वरूप के समान वस्तु किसी को स्वप्न में भी नहीं दिखाई देती, सो यह विश्वरूप प्रत्यक्ष तुमने देख लिया।।८१।।

हे अर्जुन! न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से इस विश्वरूपी मेरे स्वरूप को देखा जाना संभव है, जैसा कि तुमने देखा है।।५३।।

हे सुवीर! इस रूप की प्राप्ति के लिये कोई अन्य साधन के मार्ग नहीं हैं। षढ़शास्त्र सहित वेद भी इससे परास्त होकर उन्होंने मौन धारण किया।।८२।। हे धनुर्धर! मुझ विश्वरूप के मार्ग पर चलने के लिये संपूर्ण तपों के समूह को भी सामर्थ्य नहीं है।।८३।। तथा दानादि तप यज्ञ साधनों से भी मेरी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। ऐसे यह विश्वरूप स्वरूप को हे अर्जुन! तुमने बिना सायास देख लिया है।।८४।। ऐसा मैं एक ही उपाय से प्राप्त हो सकता हूं, अर्थात जब भक्ति आकर स्वयं चित्त को जयमाला पहनाकर उसका वरण करती है।।८५।।

हे शत्रु को ताप देनेवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति से इस प्रकार के मेरे परोक्ष एवं अपरोक्ष स्वरूप को जानना एवं देखना और तत्त्वतः मेरे स्वरूप में प्रवेश करना अर्थात एकरूप होना संभव है।।५४।।

परन्तु, वह भक्ति ऐसी हो जैसी कि वर्षा की धारा, जो पृथ्वी के बिना अन्य गति नहीं जानती,।।८६।। अथवा जैसी गंगा अपनी सब जल संपदा लेकर समुद्र की खोज करती है और फिर अनन्यगति होकर बारंबार उसी से मिलती ही जाती है।।८७।। वैसे ही भक्ति सब भावों के समूह सहित हृदय में न समाते हुये अखण्ड प्रेम से मुझमें प्रवेश करके मद्रूप होती है।।८८।। और मैं ऐसा हूं जैसाकि क्षीर समुद्र जो तीर एवं प्रवाह के मध्य में समान रूप से क्षीर का ही बना रहता है।।८९।। और मेरे सगुण रूप से लेकर चींटी (चिऊंटी) तक किंबहुना संपूर्ण चराचर में भजन के लिये दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।।६९०।। जो ऐसी अनन्य भक्ति चित्त में स्थिर होती है तो उसी क्षण मेरे इस रूप का ज्ञान होता है और इसी ज्ञान से निश्चित रूप से मेरा दर्शन होता है, यह बात हे अर्जुन! तुम जान लो।।९१।। काष्ट से अग्नि उत्पन्न होती है और जब उद्दीप्त होती है तब काष्ट यह भाषा या नाम नहीं रहता और वह ईंधन स्वयं प्रत्यक्ष अग्निरूप बन जाता है।।९२।। या जब एक तेजरूप सूर्य का उदय नहीं होता गगन में पूर्ण अंधःकार रहता है, परंतु उसका उदय होते ही सर्वत्र एकदम प्रकाश हो जाता है,।।९३।। वैसे ही मेरे साक्षात्कार से अहंकार का फेरा या आवागमन नष्ट हो जाता है, और अहंकार का लोप होते ही द्वैत का नाश हो जाता है।।९४।। फिर वही भक्त मैं और संपूर्ण यह विश्व स्वभावतः एक मद्रूप होकर रहते हैं। बहुत क्या कहें, वह भक्त ही मुझमें ऐक्य रूप से समरस हो जाता है।।९५।।

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सब कर्म करता है, मेरे को परम आश्रय, परम गति मानकर, मेरे प्राप्ति के लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है, स्त्री, पुत्र, धनादि के विषय में अनासक्त है और संपूर्ण प्राणिमात्रों के विषय में वैरभाव से रहित है, ऐसा वह पुरुष मेरे को ही प्राप्त होता है।।५५।।

जो केवल मुझे ही सब कर्म समर्पित करता है। जिसे मेरे अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ प्रिय नहीं है।।९६।। जिसके लिये इहलोक और परलोक सब एक मैं ही हूं, जिसने मेरी प्राप्ति को अपना जीवन

Funding by IKS-MoE

प्राप्ति में मेरे ।।९७।। तब भूत यह भाष विस्मरत। जो दृश्य वस्तु सबमें व्याप्त। अतः निर्वैर संपूर्णतः। भजत सबको ।।९८।। ऐसा जो भक्त पार्थ। त्रिधातुक उसका यह जब नष्ट। तब मद्रूप होकर रहत। निरन्तर वह ।।९९।। ऐसे जगदुदर तुंदिल। वह करुणा रस स्नेहल। वाणी से कहत कृपाल। श्रीकृष्ण देव ।।७००।। इस विध वह पंडुकुमर। आनंद संपदा निर्भर। और कृष्णचरण सेवा चतुर। एकमेव जग में ।।१।। देव की दोनों मूर्तियां जैसे। नीक निहारी चित्त से। पाया लाभ विशेष विश्वरूप से। कृष्ण मूर्ति में तब ।।२।। अर्जुन का यह अनुभव। कदापि न मानत देव। जो नहीं व्यापक से महत्व। एक देशी को कभी ।।३।। करने इसका समर्थन। एक दो समर्पक उदाहरण। प्रस्तुत करत श्रीकृष्ण। अवसर में उस ।।४।। सुनकर उसे सुभद्राकांत। मन ही मन सोचत। दोनों में कौनसा रूप श्रेष्ठ। पूछूंगा मैं ।।५।। इस विचार से किरीटि। कैसी उसकी प्रश्न पद्धति। सुनो आगे सुंदर अति। कथा वह ।।६।। प्रांजल ओवी प्रबंध से। कथा कथन विनोद से। वह करो श्रवण सानंद से। कहे ज्ञानदेव ।।७।। भरकर सद्भाव की अंजुल। ओवी सुमन से सुकोमल। अर्पित अंघ्रि युगल में अख़िल। विश्वरूप के मैंने ।।८।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे
विश्वरूपदर्शननाम एकादशोऽध्याय (श्लोक ५५ ओवियां ७०८)

Funding by IKS-MoE

फल निश्चित है।।९७।। जो प्राणियों के भेद भूल गया है- क्योंकि उसके दृष्टि में मैं एक ही सर्वत्र व्याप्त हूं। अतः जो वैरभाव रहित कुआं है एवं सर्वभूतों में मुझे देखकर सर्वत्र मेरा ही भजन करता है।।९८।। हे अर्जुन! ऐसा जो भक्त हो, उसका जब यह वात पित्त कफात्मक त्रिधातुक शरीर छूटता है तब वह मत्स्वरूप होकर रहता है।।९९।। जिनके उदर में संपूर्ण जगत समाविष्ट होने के कारण जो तुन्दिल दिखाई देते हैं वे करुणारस से भरे हुये श्रीकृष्ण देव इस प्रकार बोले,।।७००।। उनके वचन सुनकर अर्जुन, आनंद लक्ष्मी से संपन्न हो गया। कृष्ण चरणों की भक्ति करने में संसार में वही एक चतुर था।।१।। उसने देव के दोनों (रूप) मूर्तियां चित्त में भली भांति निहार कर देखी तो विश्वरूप की अपेक्षा कृष्णमूर्ति में अधिक लाभ पाया।।२।। परंतु श्रीकृष्ण देव ने अर्जुन का यह अनुभव ज्ञान नहीं माना क्योंकि व्यापक की अपेक्षा एकदेशी स्वरूप कभी भी श्रेष्ठ नहीं होता।।३।। यही सिद्ध करने के लिये श्रीकृष्ण ने प्रसंगानुसार एक दो उत्तम उपपत्तियों का निरूपण किया।।४।। यह सुनकर अर्जुन ने मन ही मन में विचार किया कि अब इन दोनों स्वरूपों में श्रेष्ठ कौन सा है सो मैं आगे पूछूंगा।।५।। ऐसा मन में सोचकर जिस उत्तम रीति से अर्जुन प्रश्न पूछेगा सो सुंदर कथा हे श्रोतागण आगे सुनिये।।६।। श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं कि उस कथा का वर्णन हम प्रेम से, विनोद से सुलभ, ओवीछंद में करते हैं, उसे आनंद से सुनिये।।७।। प्रेम और सद्भाव की अंजली भरकर मैं ये सब ओवीरूप मुक्त सुकोमल पुष्प विश्वरूप के दोनों चरणों में समर्पित करता हूं।।७०८।।

ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु

Funding by IKS-MoE

अध्याय - बारहवाँ

सारांश

जो यह साद्यंत। कहा तुझको प्रस्तुत। भक्तियोग समस्त। योगरूप।।अ. १२-२२८।।

(ज्ञानेश्वरजी के मत से) इस अध्याय में श्लोक बारह तक उपासना कांड है और श्लोक तेरह से पंचदशोध्याय के अंत तक ज्ञानकांड है। उपासना कांड और ज्ञानकांड की मिलन रेखा इस दृष्टि से इस अध्याय का बड़ा महत्व है। भक्ति मार्गी लोगों को इस अध्याय की ज्ञानेशजी की टीका अत्यंत प्रिय है।

श्री गुरुकृपा को मातृरूप देकर ज्ञानेशजी वंदना करते हैं। प्रथम दस ओवियों में माता जिस प्रकार पुत्र का लालन पालन करके उसका विकास करती है, तथैव श्रीगुरु अपने शिष्य को साधना में मदद करके समाधि तक पहुंचाते हैं। तदनंदर अपने ग्रंथ में नवरस का उत्कर्ष हो, साहित्यालंकार की भरमार हो, इस सद्ग्रंथ को कुतर्क, वितंडवाद का स्पर्श न हो, अंत में मैं श्रीकृष्ण गुणानुवाद में रत हो जाऊं ऐसी श्री निवृत्तिनाथ को प्रार्थना करते हैं। श्रीगुरु की आज्ञा मिलते ही उल्हसित अंतःकरण से ज्ञानदेवजी निरूपण प्रारंभ करते हैं।

ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन को व्यक्त और अव्यक्त का दर्शन करवाया। परंतु अर्जुन को नित्य सहवास के कारण सगुण रूप अधिक प्रिय था। इसकारण अर्जुन ने सगुण रूप दर्शन की इच्छा प्रकट की। वह सगुणरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखाया। अर्जुन ने व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में श्रेष्ठ कौन सा रूप है यह प्रश्न किया। संतुष्ट होकर भगवान कहते हैं।

जो भक्त प्राणपण से मुझे भजते हैं, वे श्रेष्ठ भक्त हैं। सर्वत्र सम दृष्टि रखकर योगमार्ग से निराकार अव्यक्त की उपासना करनेवाले भी मुझे ही प्राप्त होते हैं, परंतु भक्ति मार्ग सुलभ है, योगमार्ग कठिन है, कष्ट दायक है। भक्तिमार्ग में साधकों की रक्षा के लिये मैं सदा तत्पर रहता हूं। फलासक्ति रहित होकर वर्णाश्रम विहित कर्माचरण मुझे यथासांग करनेवाले और तनमन वाणी के व्यापार परमात्मा प्रीत्यर्थ करनेवाले मुझे अनायास ही प्राप्त होते हैं। वे मुझे औरस पुत्रवत प्रिय हैं। उनके योगक्षेम का भार मैं वहन करता हूं। उन्हें मैं लीलया संसार सागर से पार ले जाता हूं। अधिकारानुसार मार्ग दर्शन करता हूं। संसारी लोगों को नामस्मरण का विरागी लोगों को ध्यान मार्ग का दिग्दर्शन करके मैं उनका उद्धार करता हूं। इसलिये हे अर्जुन ! तू भक्तिमार्ग का अवलंबन कर।

निश्चयात्मिका बुद्धि और संकल्प विकल्पात्मक मन मेरे प्रेम से परिपूर्ण होना इसको भक्ति कहते हैं। बुद्धि प्रेममग्न होते ही देहाहंकार वृत्ति देह को छोड़कर मद्रूप होती हैं। परंतु यह सहज साध्य नहीं है। इसको अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास से असाध्य की ही प्राप्ति होती है।

जिनको अभ्यासार्थ समय मिलता नहीं, उन लोगों ने विहित कर्माचरण यथाविधि करना आवश्यक है और सब कर्म विश्वनिर्माता के सत्ता से हो रहे हैं ऐसी निराग्रही वृत्ति रखकर रहना चाहिये।

इससे भी और एक सुलभ मार्ग यह है कि, साधक ने कर्मकर्तृत्व और कर्मफल पत्र त्याग करके, मैंने यह कर्म किया नहीं, इस वृत्ति से बिताना चाहिये। परिणामतः अगले जन्म में सुखदुख भोग देने के लिये वे कर्म समर्थ नहीं होते। इससे श्रेष्ठ योग सिद्धि होती है। इसप्रकार अभ्यास, ज्ञान, ध्यान और कर्मफल त्याग इस क्रम से

साधक को ब्रह्म स्थिति प्राप्त होती है।

यहां से ज्ञानकांड प्रारंभ होता है। जिन्होंने ब्रह्मास्थिति प्राप्त की है। उनके प्रमुख लक्षण कथन करता हूं, ऐसा भगवान कहते हैं, यहां से अंतिम श्लोक तक श्री भगवान कथित लक्षणों का अनुवाद श्री ज्ञानेवश्वजी ने अलंकार युक्त भाषा में किया है।

भगवद्रूप होने के कारण भक्त का आप पर भाव नष्ट होकर वह द्वेष रहित और मित्रता पूर्ण होता है। क्षमाशील आत्म साक्षात्कारी लाभ-हानी की गणना करता नहीं। सदा संतुष्ट, निरपेक्ष, द्वंदरहित ऐसी उसकी स्थिति रहती है। वह स्वयं मुक्त होकर संसार को भक्ति द्वारा मुक्ति प्रदान करता है। मैं स्वयं आत्माराम होते हुए भी उसके सगुण भक्ति से पागल बनकर साकार होकर पुरुषार्थ चतुष्टय से श्रेष्ठ ऐसा भक्ति प्रेम सुख उपभोक्ता हूं। ऐसे भक्त मुझे प्राण से भी प्यारे हैं। जो अमृत तुल्य भक्ति कथा का श्रवण करके आचरण करते हैं, अनुभव लेते हैं उन भक्तों के दासों को मैं श्रेष्ठ मानता हूं।

यह श्रीकृष्णार्जुन का प्रेमपूर्ण संवाद श्री ज्ञानेश जी ने प्रेममग्न होकर निवेदन किया है। अंत में संतचरण सेवा की भक्ति मांगकर यह अध्याय समाप्त किया है। (१२-२४७)

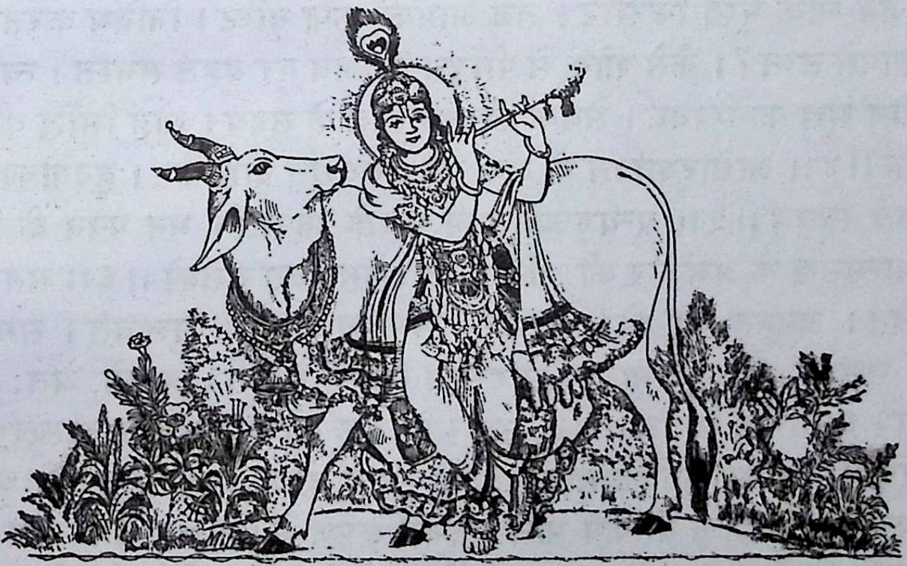

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - बारहवाँ

जय जय हे शुद्धे। उदारे प्रसिद्धे। अनवरत आनंदे। वर्षतिये।।१।। विषय व्याल की मिठी। जब लाके मूर्छा किरीटि। तब आपकी कृपा दृष्टि। निर्विष करत।।२।। कौन संसारतापसे तप्त ?। कैसे शोक से पीड़ित ?। जब पूर बहत समस्त। त्वत्प्रसाद का।।३।। योग सुख का ऐश्वर्य। सेवक को तव स्नेह के सदय। सोहं सिद्धि कौन्तेय। कौतुक से देह।।४।। आधारशक्ति के अंक पर। संवर्धन प्रीतिकर। हृदयाकाश झूले पर। झुलावत स्वयम्।।५।। प्रत्यग्ज्योतिकी करके आरति। मन पवन के खिलौने किरीटि। आत्मसुख के अलंकार की अति प्रीति। पहनावत उसको।।६।। सतराविया का स्तन्य देत। अनुहत की लोरी गावत। समाधि बोध से सुलावत। समझाकर उन्हें।।७।। साधकों की आप माता। सारस्वत स्त्रवत सर्वथा। आपसे, अतः आपकी छाया समर्था। कदापि न छांडत।।८।। अहा ! सद्गुरु की कृपादृष्टि। त्वत्कारूण्यकी जिसको प्राप्ति। वह सकल विद्यासृष्टि-। को धात्रा होत।।९।। अतः अंबे श्रीमंते। निजजनन कल्पलते। आज्ञा दीजिये माते। ग्रंथनिरूपण में।।१०।। नवरस से भर दो सागर। उत्तम रत्नों का आगार। भावार्थों के गिरिवर। कीजे निर्माण।।११।। साहित्यसुवर्ण की खानि। प्रकटिये देशियों के क्षोणि। विवेकवल्ली की रोपनी। करो विपुल।।१२।। संवाद फल निधान। प्रमेयो के उद्यान। लगाइये गहन। निरंतर।।१३।। पाखंड के कुहर समस्त। मोड़ो वाग्वाद के कुमार्ग व्यर्थ। कुतर्क के वन्य दुष्ट। सावज मारो।।१४।। श्रीकृष्ण गुणरति। अखंड उसमें रहे मन्मति।

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - बारहवाँ

हे शुद्धस्वरूपा गुरुमाते! आपका जय जयकार हो। आप उदारता के लिए सुप्रसिद्ध हो। आप आनंद की अखंड वर्षा उदारता से करती हो।।१।। विषयरूपी सांप जब प्राणि को जकड़ लेता है तब उससे छुटकारा पाना असंभव प्रतीत होता है। तब उस मूर्छना को आपकी कृपादृष्टि विषरहित कर देती है।।२।। जब आपके कृपाप्रसाद का पूर सर्वत्र बहता है, तब संसार ताप से कौन संतप्त होगा? शोक किसको कष्ट दे सकता है?।।३।। हे गुरुमाता शिष्य के प्रति आप सदय होने से योग सुख का ऐश्वर्य भोगने की शिष्य की इच्छाएँ आप प्रेम से पूर्ण करती हो! सोऽहं सिद्धि आप सहज दे देती हो।।।४।। मूलाधार चक्ररूपी शक्ति की गोद में शिष्य बालक का प्रेम से संवर्धनं करती हो। हृदयरूपी आकाश के झूलेपर झुलाते हुए मानो स्वयं आत्मज्ञान के झोंके देती हो।।५।। जीवात्मभाव को निछावर करके मन एवं प्राणवायु के खिलौने उन्हे खेलने के लिए देती हो। आत्मसुख के आभूषण अत्यंत प्रीति से उन्हें पहनाती हो।।६।। सत्रहवी पूर्णामृत कलाका दूध उन्हें पिलाती हो। अनाहत नाद की लोरियाँ गाकर, समाधि की अवस्था में समझा बुझाकर सुलाती हो।।७।। अतः साधकों का संगोपन करने वाली आप माता हो। संपूर्ण ज्ञान आपके चरणों से ही उत्पन्न होता है। अतः हे समर्थे! आपको एवं आपकी छाया को भी मैं कभी छोड़ नहीं सकता।।८।। अहा! हे सद्‌गुरु की कृपा दृष्टि। आपके करुणा की जिसको प्राप्ति होती है उसको सृष्टि की सब विद्याएँ ब्रह्मदेव के समान प्राप्त होती है।।९।। अतः हे वैभवशाली गुरुमाता। अपने भक्तों की कामनाएँ पूर्ण करने वाली आप कल्पतरु हो। हे माता! ग्रंथ का निरुपण करने की मुझे आज्ञा दीजिए।।१०।। निरुपणरूपी सागर को नौ रसों से भर देना। उत्तम तत्त्वरूपी रत्नों का उसे आगार बनाना। हे माँ श्री गीता के अभिप्रेत अर्थ के पहाड़ उत्पन्न करना।।११।। सर्वत्र साहित्यरूपी सुवर्ण की खानि को देशी भाषा की भूमि में प्रकट करना। चारों तरफ विवेक की लताएँ लगने दो।।१२।। महासिद्धांत रूपी वृक्षों का घना एवं भरा हुआ उद्याग लगने दो, जिसमें संवादरूपी फलों की नित्य समृद्धि हो।।१३।। नास्तिकों की गुफाएं वितंडवादियों के टेढ़े मेढ़े रास्ते एवं तर्क करनेवालों के हिंसक श्वापदों का पूरी तरह से नाश हो।।१४।। श्रीकृष्ण के गुणों के आनंद में मेरी मति अखंड तन्मय

श्रोताओं को दो स्थिति। श्रवण राज्यपद पर।।१५।। इस देशी भाषा नगरी में निःशेख। भर दो ब्रह्मविद्या अशेख। लेना देना सुख ही सुख। होवे जग में।।१६।। आपका स्नेह पल्लव। मिले यदि मुझे सदैव। तब सद्य यह सर्व। करूंगा मैं।।१७।। इस बिनती सहित। गुरुकृपा दृष्टि निरखत। कहत सुनाओ गीतार्थ। न करो विलंब।।१८।। तब जी जी कहत महाप्रसाद-।। प्राप्त तत्क्षण अति आनंद। सुनो अब मैं कहूं प्रबंध। अवधान दीजिये।।१९।।

अर्जुन उवाच–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

तब सकल वीराधिराजु। जो सोमवंशी विजयध्वजु। कहने लगे आत्मजु। पंडुनृप के।।२०।। सुनो, कहत हे श्रीकृष्ण!। दिया आपने विश्वरूप दर्शन। अति अद्भुत इसलिये मन्मन। हुआ भयभीत मैं।।२१।। आपकी यह सगुण मूर्ति। मन में उसकी ही पूर्ण प्रीति। किंतु किया उसका लक्ष्मीपति। निषेध आपने।।२२।। तब व्यक्त एवं अव्यक्त। आपही एक निभ्रांत। भक्ति से पावत व्यक्त। अव्यक्त योग से।।२३।। हे वैकुंठनायक श्रीअच्युत। यह दो मार्ग आपके प्राप्त्यर्थ। व्यक्त अव्यक्त सार्थ। देहरी दोनों।।२४।। सौभार अथवा रत्ती को एक। कसोटि एक ही दोनों को देख। अतः एक देशिय अथवा व्यापक। तुलत समान।।२५।। लीजे पूर्ण अमृत लहर। या एक अंजुलीभर। अमृतसागर से सुधीर। शक्ति एक।।२६।। यह माने मेरा चित्त। अनुभव यह सत्य। किंतु पूछूं कुछ बात। योगपति आपसे।।२७।। जो देव आपने क्षणैक। अंगीकृत रूप व्यापक। क्या वह सच या कौतुक?। उत्सुकता मन में।।२८।। तब आपके लिये कर्म। आपही जिनको परम। भक्ति के प्रीत्यर्थ मनोधर्म। समर्पित निखिल।।२९।। इत्यादि सर्वतोपरि। जो भक्त आपको श्रीहरी। रखकर हृदयान्तरी। उपासना करत।।३०।। और जो प्रणव के पार। वैखरी को भी दूर अपार। जिसके समान साचार। वस्तु न जग में।।३१।। वह अक्षर जो अव्यक्त। निराकार देशरहित। सोहंभाव से उपासित। ज्ञानियों से जो।।३२।। वे ज्ञानी और भक्त। इनमें कौन अनंत। योग्य सत्य जानत। कहो मुझको।।३३।। यह किरीटी का कथन। जगद्बंधु संतुष्ट पूर्ण। कहत अति उत्तम प्रश्न-। पद्धति तेरी।।३४।।

श्री भगवान उवाच–

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

देखो अस्तगिरी समय। सूर्यबिंब होत अदृष्य। पश्चात रश्मि कौन्तेय। संचरत उसमें।।३५।। वर्षाकाल में सरिता। भरत जैसी पंडुसुता। वैसी नित्य नई सर्वथा। वर्धत श्रद्धा।।३६।। किंतु समुद्र मिलन उपरान्त। पूर्व प्रवाह अनिवार बहुत। उस गंगा सम उमड़त। प्रेमभाव जिनका।।३७।। वैसे सर्वेन्द्रिय सहित। चित्त मुझमें

रहे। श्रोताओं को श्रवण के सुख का साम्राज्य प्रदान करो ।।१५।। इस देशी भाषा के नगरी में ब्रह्मविद्या ऐसी भर देना, जिससे आत्मसुख का ही सर्वत्र जग में लेना देना होवे ।।१६।। मुझ पर आपके प्रेमपूर्ण आंचल की छांया सदैव करोगी, तो हे माता। यह सब मैं तत्काल निर्माण करूंगा ।।१७।। यह प्रार्थना सुनकर श्री गुरु निवृत्तिदासजी ने प्रसन्न दृष्टि से उनकी ओर देखा और कहा, अब श्री गीता के अर्थ का निरूपण करो। अब विलंब नहीं करना ।।१८।। तब ज्ञानदेवजी कहते हैं, हे स्वामी! यह आपका महाप्रसाद है। उसी क्षण उन्हें अत्यंत आनंद प्राप्त हुआ। कहा, अब मैं ग्रंथ का निरूपण करता हूं आप ध्यान दीजिए ।।१९।।

अर्जुन ने प्रश्न किया- हे प्रभो! जो अनन्य प्रेमी भक्तजन निरन्तर आपके भजन, ध्यान में लगे हुए आप सगुणरूप भगवान की उपासना करते हैं एवं जो अविनाशी, सच्चिदानंदघन निराकार की उपासना करते हैं, इन दो प्रकार के भक्तों में किसको योग तत्त्वतः ज्ञात हुआ है। दोनों में कौन उत्तम योगवेत्ता है?।।१।।

समस्त वीरों में श्रेष्ठ, सोमवंश की विजय ध्वज सदृश श्रेष्ठ पंडुनंदन अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा ।।२०।। हे श्रीकृष्ण! सुनिये। आपने मुझे विश्वरूपदर्शन कराया। वह अत्यंत अद्भुत होने से मेरा मन भयभीत हुआ!।।२१।। आपके इस सगुण मूर्ति की मन में नित्य अत्यंत प्रीति है। किंतु हे लक्ष्मीपति आपने उसमें प्रीति रखने का निषेध किया है।।२२।। तब व्यक्त एवं अव्यक्त, सगुण एवं निर्गुण यह आपका ही निश्चित स्वरूप है। भक्ति से सगुण रूप की साधना होती है। योग से निर्गुण रूप की उपासना करते हैं।।२३।। हे वैकुंठनायक श्री अच्युत आपके प्राप्ति के यह दो मार्ग हैं। व्यक्त एवं अव्यक्त (सगुण एवं निर्गुण) आपके प्राप्ति का प्रवेशद्वार हैं ।।२४।। सौ भार सोने को कसने से जो कस आता है वही कस उसमें से निकाले हुए रत्तीभर सोने का भी आता है। इसीलिये एक देशीय सगुण एवं सर्वव्यापक निर्गुण दोनों की योग्यता मेरी दृष्टि से एक समान है ।।२५।। अमृत की संपूर्ण लहर को लीजिये या एक अंजुलीभर अमृत लीजिए। अमृत के सागर की शक्ति, हे सुधीर! दोनों में एक जैसी ही होगी ।।२६।। हे योगपति! मेरा मन ऐसा कहता है। मेरा अनुभव भी सत्य है। किन्तु मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूं ।।२७।। हे देव! आपने थोड़े समय के लिऐ जो विश्वव्यापक रूप धारण किया था, क्या वह स्वरूप वास्तविक सत्य था! या मुझे दिखाने के लिये वह चमत्कार था। यही उत्सुकता मेरे मन में है ।।२८।। जो भक्तियोगी होते हैं, वे आपके लिये कर्म करते हैं। आपको ही परमस्थिति समझते हैं। भक्ति के लिए ही मन के सब धर्म सर्वस्वी समर्पित करते हैं ।।२९।। सब प्रकार से आपको हृदय में रखकर आपकी उपासना करते हैं ।।३०।। तथा जो ज्ञानयोगी भक्त ॐकार से परे वाणी से अलभ्य, इस जग में जिसके समान अन्य वस्तु उपमा देने के लिए भी नहीं है ।।३१।। जो अविनाशी, निर्गुण, निराकार, स्थानरहित जो आत्म्यैक्य (सोऽहं भाव से) भाव से उपासना करते हैं, ऐसे जो ज्ञानी भक्त हैं ।।३२।। वे ज्ञानयोगी एवं भक्ति करनेवाले भक्त, इन दोनों में योगमार्ग कौन सत्यरूप में जानता है, हे श्री अनंत मुझे कहिये?।।३३।। यह किरीटी का प्रश्न सुनकर जगद्‌बंधु भगवान श्रीकृष्ण पूर्ण संतुष्ट हुये। "हे अर्जुन! तेरी प्रश्न करने की पद्धति अत्यंत उत्तम है," उन्होंने कहा ।।३४।।

श्री भगवान कहते हैं, 'अर्जुन! मनको एकाग्र करके निरंतर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए भक्त जन अत्यंत श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त मेरी भक्ति करते हैं। वे मुझे योगियों में अत्यंत उत्तम एवं श्रेष्ठ प्रिय हैं।।२।।

सूर्यास्त के समय सूर्यबिंब जब दिखाई नहीं देता तब अदृश्य बिंब के साथ सूर्य किरणें भी उसमें समाहित हो जाती हैं ।।३५।। हे पंडुसुत! वर्षाऋतु में जैसे नदियां जल से परिपूर्ण रहती हैं। वैसी जिनकी नित्य नयी श्रद्धा बढ़ती ही रहती है ।।३६।। किंतु सागर से मिलन होने के उपरांत भी जल का प्रवाह निरंतर समर्पित होते ही रहता है। उस गंगा नदी के सदृश जिनका भक्ति प्रेम नित्य प्रवाहित होते रहता है ।।३७।। अपने सब इंद्रियां सहित जिनका चित्त मुझमें समर्पित रहता है। रात दिन, समय, असमय का ध्यान न रखते हुये मेरी नित्य उपासना करते

Funding by IKS-MoE

समाहित। जो रात्रि-दिवस न गणत। उपासत अखंड।।३८।। इसविध जो भक्त। मुझको पूर्ण समर्पित। वही परम योगयुक्त। मानूं मैं।।३९।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

और अन्य पांडव। आरूढ़कर सोहंभाव। अक्षर को निरवयव। भजत नित्य।।४०।। मन का नख न स्पर्शत। जहां बुद्धि की दृष्टि न पहुंचत। वह इंद्रियों को अवगत। कैसा पार्थ?।।४१।। ध्यान को भी जो अगम्य। न किसी एक स्थान में प्राप्य। निराकार न कभी दृश्य। व्यक्ति में किसी।।४२।। जो सर्वत्र समान। सर्वकाल विद्यमान। यदि प्राप्त तब चिंतन। अनावश्यक आगे।।४३।। जो न हुआ न होगा। जो न नाही न रहेगा। कभी न उत्पत्ति पावेगा। किसी उपाय से।।४४।। जो चलत न हिलत। न कभी रीतत न होवे दूषित। जो स्वाधीन स्वतः। स्वअंगबल से।।४५।। वैराग्य महापावक से। विषय कटक भस्म करत जैसे। धारण करत धैर्य से। इंद्रिया तप्त।।४६।। संयम के पाश से। निवर्तत उलट दिशा से। इंद्रियां बंद करत अपने से। हृदय कुहर में।।४७।। अपान वायु द्वार को। लगाकर आसन मुद्रा को। मूलबंध के बुर्जको। करत सिद्ध।।४८।। आशा से बंध तोड़त। अधैर्य दुर्ग पार करत। निद्रा का नष्ट करत। अंधकार सब।।४९।। वज्राग्नि ज्वाला पार्थ। सप्त धातु की होली करत समस्त। व्याधियों की शीशमाल समर्पत। षट्चक्रों को।।५०।। तब कुंडलिनी दीप प्रज्वलित। आधार चक्र पर उभारत। सानंद तेज में पहुंचत। मस्तक पर्यंत।।५१।। नवद्वार किवाड में निखिल। डालकर संयम की कील। खोलत गवाक्ष सूक्ष्म बिल। ककारान्त का।।५२।। प्राणशक्ति चामुंडा प्रीत्यर्थ। संकल्प मेंढा मारकर पार्थ। मनोमहिष का मुंड देत। बलि उसको।।५३।। सूर्य चंद्रमा का ऐक्य कर। अनुहत का करके गजर। सतराबिया का सरस सुंदर। जीतत शीघ्र।।५४।। तब मध्यमा मध्य विवर से। उस कोरीव दुर्घट दर से। पहुंचत चंवर जैसे। ब्रह्मरंध्र का।।५५।। ऊपर मकारान्त सोपान। चढ़के अति गहन। समेट के पूर्ण गगन। भरत ब्रह्म में।।५६।। ऐसे जो समबुद्धि। प्राप्ति को सोहं सिद्धि। स्वाधीन करत निरवधि। योग दुर्ग।।५७।। इसविध वे पार्थ। शून्य से करत साठ बांट। वे भी मुझको ही निश्चित। पावत सब।।५८।। उनको योग बल से। अधिक कुछ प्राप्त ऐसे। न किंचित विशेष रूप से। कष्ट ही उनको।।५९।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

जो सकल भूतों का हित। निरालंब अव्यक्त। उसकी प्राप्ति कांक्षत। भक्ति बिन।।६०।। उनको महेंद्रादि पद करत सदा बाटवध। ऋिद्धि-सिद्धि का द्वंद्व। करत

हैं ।।३८।। इस प्रकार से जो भक्त पूर्ण रूप से मुझे समर्पित रहते हैं उनको ही मैं परम योगी एवं श्रेष्ठ समझता हूं ।।३९।।

जो पुरुष इंद्रिय समूह को वश में रखकर मनबुद्धि से परे सर्वव्यापी अकथनीय, सदा एकरस, नित्य अचल, निराकार अविनाशी, सच्चिदानंद घन, ब्रह्म को निरंतर एकीभाव से ध्यान में उपासना करते हैं, वे संपूर्ण भूतों के हित में रत हुए एवं समान भाववाले योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं ।।३/४।।

हे अर्जुन! आत्मसाक्षात्कार प्राप्त अन्य भक्त निर्गुण, अविनाशी तत्त्वस्वरूप की भक्ति करते हैं ।।४०।। जहां मन पहुंच नहीं सकता, जहां बुद्धि की किरणों का प्रवेश नहीं है, हे पार्थ! उसकी साधना इंद्रियों से कैसी हो सकेगी? ।।४१।। ध्यान भी उसको जानता नहीं उसका किसी एक स्थान में निवास नहीं है। किसी व्यक्ति में भी, निराकार होने से, दिखाई नहीं देता ।।४२।। सर्वत्र जो नित्य समरूप है, सब कालों में जो रहता है, चिंतन भी उसके प्राप्ति के आगे अनावश्यक प्रतीत होता है ।।४३।। जो उत्पन्न न हुआ होगा, वह नहीं है ऐसा भी नहीं कहा जाता! किसी उपाय से कभी उसकी उत्पत्ति भी नहीं होगी। क्योंकि वह तत्त्वरूप भाव भावातीत है ।।४४।। निर्विकार होने से स्वस्वरूप से चलित नहीं होता, व्यापक होने से हिलता नहीं, पूर्ण होने से समाप्त नहीं होता, विशुद्ध है अतः दूषित नहीं होता, वह ब्रह्मतत्त्व जिन्होंने आत्मसात किया है ।।४५।। वैराग्यरूपी अग्नि में विषयों का सैन्य जलाकर जैसे भस्म करते हैं। तप्त इंद्रियों को वे धैर्य से धारण करते हैं ।।४६।। संयम के रस्सी से विरुद्ध दिशा में परावर्तित करते हुए अपने हृदयरूपी गुफा में इंद्रियों के विषयों को स्वाभाविक बंद कर देते हैं ।।४७।। अपानवायु के द्वार को वज्रासन की मुद्रा लगाकर मूलबंध के बुर्ज को सिद्ध करते हैं ।।४८।। आशा का बंधन तोड़कर, अधैर्य के दुर्ग को पार करते हैं। निद्रा का सब अंधःकार नष्ट करते हैं ।।४९।। हे पार्थ! वज्रासनरूपी अग्निज्वाला से रक्त, मांस, अस्थि, स्नायु, मज्जा आदि सप्त धातु की उसमें आहुति देते हैं। व्याधियों की मुंडमाला षट्चक्रों को समर्पित करते हैं ।।५०।। तब कुंडलिनी भगवति की ज्योति आधार चक्र पर खड़ी करके प्रज्वलित होती है। आनंद से उसका प्रकाश मस्तक पर्यंत पहुंच जाता है ।।५१।। दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका, मुख, गुद एवं शिस्न, इन नौ द्वार में संयम की कील डालकर उसे बंद कर दिया। सुषुम्ना नाडी की सूक्ष्म खिड़की खुल जाती है ।।५२।। प्राणशक्तिरूपी चामुंडा देवी के लिए, हे पार्थ! संकल्परूपी मेढ़ों का बलिदान देकर मनरूपी महिष का मस्तक उसे समर्पित करते हैं ।।५३।। सूर्य, नाड़ी एवं चंद्र नाड़ी जो इड़ा एवं पिंगला कहलायी जाती है उनका कार्य बंद करके-उनका ऐक्य करके हृदय में अनाहतनाद की गर्जना प्रारंभ होती है। सत्रहवीं जीवनकला का चंद्रप्रकाश सदृश शुद्ध जल पर त्वरित विजय प्राप्त किया। (चंद्रामृत का पान त्वरित किया) ।।५४।। तब बीचवाली मध्य नाड़ी सुषुम्ना के मार्ग से भगवती कुंडालिनी चक्रभेद करते हुए ब्रह्मरंध्ररूपी शिखर पर पहुंचती है ।।५५।। ॐकार के अंत में जो मकार है, उसका सोपान चढ़कर जो अत्यंत गहन एवं कठिन है, मुर्ध्नी आकाश में व्याप्त होकर, ब्रह्मावस्था में प्रवेश करते हैं ।।५६।। ऐसे समबुद्धि की अवस्था प्राप्त होगी अहंब्रह्माऽस्मि भाव आत्मसात करने के लिये अष्टांग योगरूपी दुर्ग स्वाधीन करते हैं ।।५७।। हे पार्थ! इस प्रकार से शून्यावस्था के साथ दोस्ती करके वे सब मुझे निश्चित प्राप्त करते हैं ।।५८।। योगमार्ग से उन्हें अधिक कुछ प्राप्त होता है ऐसा कुछ भी नहीं है। किन्तु उन्हें विशेष कष्टप्रद साधना मेरी प्राप्ति के लिए करना आवश्यक रहती है ।।५९।।

सच्चिदानंदघन, निराकार ब्रह्म में आसक्त साधकों को परिश्रम विशेष करने पड़ते हैं। जब तक शरीर में अहंकार रहता है तब तक शुद्ध सच्चिदानंदघन निराकार ब्रह्मस्थिति प्राप्त होना कठिन होता है ।।५।।

संपूर्ण भूतमात्र का हित जिसमें है ऐसे निर्विशेष, निर्गुण, निराकार ब्रह्म में सगुण भक्ति की सहायता के बिना योगियों ने प्राप्ती की इच्छा रखी ।।६०।। योगमार्ग में इंद्र आदि के पद, मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि दोनों भी विघ्न ही उत्पन्न

Funding by IKS-MoE

विघ्न।।६१।। काम-क्रोधादि उत्पात। उठत अनेक पार्थ। संग्राम शून्य के साथ। करना अटल।।६२।। तृषार्त ने तृष्णा प्राशन। बुभुक्षित ने क्षुधा भक्षण। अहोरात्र नापना पवन। धनुर्धर।।६३।। दिन धूप में सोना। स्वैर इंद्रियां निरोधना वृक्षवल्ली से खेलना। मित्रभाव से।।६४।। शीत पहिनना उष्ण ओढ़ना। गृह में रहना। वृष्टि के पार्थ।।६५।। किंबहुना यह अर्जुन!। अग्नि प्रवेश नित्य नूतन। करना भतारबिन। सो यह योग।।६६।। यहां न स्वामी का कारण। हव्यकव्य अनावश्यक अर्जुन। किंतु नित्य नूतन। समर मरण से।।६७।। ऐसे मृत्यु से तीक्ष्ण। विषघूंट अति उष्ण। क्या पर्वत निगलते अर्जुन। फटत न मुख?।।६८।। अतः यह योग मार्ग। चलत जो हे सुभग!। वे सब दुःखभाग। पावत निश्चित।।६९।। देखो लोहके चने अर्जुन। यदि भक्षण करत तीक्ष्ण। क्षुधा शमत या आवे मरण। कहो तुम ही?।।७०।। अतः समुद्र बाहुबल से। तरना शक्य कैसे?। या गगन में पांव से। भ्रमण कैसे?।।७१।। अथवा रण में प्रवेशत। अंग में न लगे शस्त्र। और क्या सूर्यलोक की होत। प्राप्ति पार्थ?।।७२।। इसलिये पंगु को पैज देख। न कभी पवन से शक्य। वैसे देहवंत जीव को अशक्य। अव्यक्त में गति।।७३।। इस पर भी जो साहस। करके छुए आकाश। निश्चित वे पावत क्लेश। निरवधि।।७४।। अतः अन्य वे पार्थ। न जानत कदा दुःख। जो यह भक्ति पंथ। अनुसरत।।७५।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्त मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

कर्मेन्द्रियां सुख से। कर्म सब करत जैसे। जो वर्ण विशेष से। भाग्य से प्राप्त।।७६।। विधि-विधान मानत। निषिद्ध को तजत। मदर्पित दग्ध करत। कर्मफल सब।।७७।। इसलिये अर्जुन। सर्वस्व करना समर्पण। जिससे कर्म नष्ट पूर्ण। निःशेषतः।।७८।। और भी जो-जो सर्व। कायिक, वाचिक, मानसिक भाव। उनको सिवा मेरे ठांव। अन्य नाहीं।।७९।। ऐसे जो मत्पर। उपासत निरंतर। ध्यान मिष से घर। मेरा होत।।८०।। जिनकी रुचि धनुर्धर। करत मुझसे व्यवहार भोग मोक्ष दोनो क्षुद्र। ग्राहक त्यजत।।८१।। इसविध अनन्य योग से अर्जुन। समर्पत जीव अंग मन। उनकी न एक, सब इच्छा पूर्ण। स्वयं मैं करत।।८२।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

किंबहुना आवत धनुर्धरा। जो मातृउदर से सुवीरा। वह माता का दुलारा। कितना देखो!।।८३।। वैसा मैं उनको। वे भी प्रिय मुझको। परास्त करके कलिकाल को। रक्षण करत मैं।।८४।। वैसे भी मद्भक्तों को पार्था। लेशमात्र न संसार की चिन्ता। क्या कभी समर्थ की कान्ता। माधुकरी मांगत?।।८५।। वैसे ये सब मेरे। कलत्र जानिये सारे। यदि ये विपदा से हारे। लांछन ही मुझको।।८६।। जन्म-मृत्यु तरंग पार्थ। यदि इनको डुबावत। मेरा मन होत। विकल अति।।८७।। भवसिंधु के कल्लोल। भयभीत जन निखिल। अवतार लेकर सकल। तत्क्षण दौड़त।।८८/

Funding by IKS-MoE

करती हैं।।६१।। कामक्रोध अपना उपद्रव अलग करते हैं। हे पार्थ! शून्य के साथ संग्राम करना टल नहीं सकता।।६२।। (योगमार्ग में स्वैरता से खाना पीना मना रहता है अतः सब पर नियंत्रण रखना पड़ता है। प्यास से प्यास बुझाना पड़ती है। भूखे से भूख मारना है। हे धनुर्धर! रातदिन प्राणवायुपर नियंत्रण रखना पड़ता है।।६३।। दिन में ध्यानावस्था में प्रकाश का अनुभव करना। इंद्रियों की दौड़ को संयमित करना। मित्र समझकर वृक्ष एवं लताओं से बात करना, खेलना।।६४।। अरण्य में रहते हुए शीत एवं उष्णता को ही अपने वस्त्र बनाना पड़ते हैं। हे पार्थ। वर्षा के घर में रहना पड़ता है।।६५।। हे अर्जुन! किंबहुना यह योगमार्ग नित्य नूतन अग्नि प्रवेश है। (सति स्त्री पति के साथ चितापर चढ़ती है किंतु योगमार्ग में किसी का साथ नहीं होता) अकेले उपासना करना पड़ती है, यह पति के बिना अग्निप्रवेश है। वही यह योग मार्ग है।।६६।। स्वामी कार्य के लिये यहाँ कुछ करना नहीं है। हे अर्जुन! देवताओं के लिये यज्ञयाग आदि एवं कुलपरंपरागत कर्म अनावश्यक होते हैं। किन्तु मृत्यु के साथ नित्य नया संघर्ष रहता है।।६७।। अतः योग मार्ग मृत्यु से तीक्ष्ण विष का अत्यंत उष्ण घूंट है। हे अर्जुन! पर्वत निगलने के प्रयास में क्या मुख नहीं फटेगा?।।६८।। अतः इस योगमार्ग का अनुसरण करनेवाले के भाग्य में दुःख का बहुत प्राबल्य रहता है।।६९।। हे अर्जुन! तुम ही कहो लोहे के चने भक्षण करने से भूख शान्त न होते हुये मृत्यु ही प्राप्त होगी।।७०।। अपनी हाथों की शक्ति से तैरकर समुद्र पार कैसा किया जा सकता है? या आकाश में पैरों से कैसे चला जा सकेगा?।।७१।। रणांगण में खड़े होकर शरीर में शस्त्र न लगना कभी संभव है? या कभी सूर्य लोक की प्राप्ति संभव है?।।७२।। वायु के साथ किसी पंगु व्यक्ति शर्त लगाना क्या संभव है? वैसे देहधारी जीव को अव्यक्त में प्रवेश असंभव है।।७३।। जो साहस करते है, आकाश को स्पर्श करने का प्रयत्न करते हैं, निश्चित रूप से अनन्त काल तक उन्हें कष्ट भोगना पड़ते है।।७४।। अतः हे पार्थ! जो भक्ति पंथ से साधना करते हैं, उन्हें कभी दुःख प्राप्त नहीं होता।।७५।।

मेरे भक्त सर्व वर्णाश्रमविहित कर्म मुझे समर्पित करते हुये अव्यभिचारी भक्ति योग से मेरा ध्यान करते हुये उपासना करते है।।६।।

अपने वर्ण के अनुसार भक्त अपने सब कर्म आनंद से करते हैं। अपने भाग्य से यह प्राप्त हुये हैं ऐसा वे समझते हैं।।७६।। विधि विधान को मान्य करते हैं। निशिद्ध कर्म का त्याग करते है, कर्म मुझे समर्पित करने से कर्म के सब फल जल जाते हैं।।७७।। अतः हे अर्जुन! मुझे सर्वस्व समर्पित करो जिससे कर्म पूर्णरूप से नष्ट होंगे।।७८।। और भी शरीर से मन से, वाणी से, जो भी भाव प्रकट हुये है उन सबको मेरे बिना अन्य स्थान नहीं है।।७९।। ऐसे जो मेरी सेवा में तत्पर हैं, मेरी नित्य उपासना करते हैं, ध्यान के निमित्त मेरा निवास स्थान बन गये हैं।।८०।। हे धनुर्धर! अपने प्रेमपूर्ण गुण से केवल मुझसे व्यवहार करते हैं। विषयभोग एवं मोक्ष दोनों को क्षुद्र समझकर त्याग कर देते हैं।।८१।। इस प्रकार से हे अर्जुन! अनन्य योग से अपना शरीर मन जीव से मुझे समर्पित करते हैं। उनकी सब इच्छाएं मैं स्वयं पूर्ण करता हूं।।८२।।

हे अर्जुन! मेरे सगुणरूप में चित्त स्थिर करनेवाले भक्त को मृत्युरूप संसार सागर से मैं तत्काल उद्धार करता हूँ।।७।।

हे धनुर्धर! जो माता के गर्भ में आता है, हे वीरश्रेष्ठ! उसको माता का कितना दुलार मिलता है।।८३।। वैसा मैं मेरे भक्तों को एवं भक्त मुझे प्रिय होते हैं। कलिकाल की सब विघ्न बाधाएँ दूर करके मैं उनका रक्षण करता हूँ।।८४।। हे पार्थ! वैसे भी मेरे भक्तों को संसार की चिंता नहीं होती। क्या कभी धनिक की पत्नी को भीख मांगने की आवश्यकता होती है?।।८५।। वैसे यह सब भक्त मेरी पत्नियां समझना। संकटों से यदि वे हार गये तो मुझे ही कलंक लगेगा।।८६।। हे पार्थ! जन्म एवं मृत्यु दोनों तरंग हैं। यदि वे उनको डुबोने लगे तो मेरा मन व्याकुल हो जाता है।।८७।। संसार सागर लहरों से सब लोग भयभीत होते हैं। उनके लिये अवतार लेकर मैं तत्क्षण दौड़कर जाता हूं।।८८/८९।। मेरी

Funding by IKS-MoE

८९।। मेरे सहस्त्र नाम। रूपी बनाकर नांव। संसार सागर में अथाह। तारक होत।।९०।। एकल को देख। ध्यान मार्ग अशेख। सपरिग्रह को देत विशेष। नाम नौका।।९१।। प्रेम के बेड़े पर। किसी एक को चढ़ाकर। लाया उसे तीर पर। सायुज्जता के।।९२।। जिनको भक्त यह नाम। वे चतुष्पाद भी सर्व। किये वैकुंठ के राणीव (राज्य)। योग्य पार्थ।।९३।। अतः भक्तों को सर्वथा। नहीं किंचिदपि चिन्ता। उनका समुद्धर्ता। सर्वदा मैं।।९४।। जहां भक्त को मद्भक्ति। अर्पित मुझको चित्तवृत्ति। तत्क्षण मेरी युति। उनसे होत।।९५।। इस कारण भक्तराय!। यह मंत्र तुझको धनंजय। दिया उत्तम पंथराय। अपनाओ इसको।।९६।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

देखो मानस यह एक। एवं बुद्धि को निःशंक। मत्स्वरूप में वृत्तिक। कीजे पार्थ।।९७।। यदि दोनों का अर्जुन। होत मद्रूप में समर्पण। प्रीति पूर्वक मिलन। पावेगा मुझको तू।।९८।। मन बुद्धि से जब ही। गृह करत मेरे ठांई। तब कहो मुझको कोई। मैं तू शेष?।।९९।। अतः दीप जब बुझावत। तेज भी साथ लोपत। जब सूर्यबिंब पावत अस्त। प्रकाश नष्ट।।१००।। प्राणोत्सर्ग समय पार्थ। इंद्रियां भी निकसत समस्त। अहंकार भी आवत। मनुबुद्धि साथ।।१।। अतः मत्स्वरूप में अर्जुन। मन बुद्धि का करो निक्षेपण। इससे सर्वव्यापी संपूर्ण। होगे तुम।।२।। इसके अतिरिक्त अर्जुन। न कुछ सत्य अन्य। इसपर तेरी आन। लेऊं मैं।।३।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

अथवा यह चित्त। मन बुद्धि सहित। मेरे हाथ में अचुंबित। न देना शक्य।।४।। तब सुनो धनुर्धर!। इन आठो प्रहर-। में अल्प निमिषभर। देना मुझको।।५।। तब जो-जो निमिख। देखेगा मेरा सुख। होगा उतना ही अरोचक। विषयों प्रति।।६।। शरद काल होवे प्राप्त। सरिता नीर घटत। वैसे त्वरित निकसत चित्त। प्रपंच में से।।७।। तब शशि बिंब पूर्णिमा से। दिन दिन घटत जैसे। अमावस तक होत तैसे। नष्ट संपूर्ण।।८।। वैसे भोग से निकसत। चित्त मुझ में प्रवेशत। शनैः शनैः पंडुसुत। मैं ही होत।।९।। अभ्यास योग जो कहिये। वह इसको ही जानिये। इससे जो न पाइये। ऐसा कुछ भी नहीं।।११०।। अभ्यास बल से पार्थ। एक को अन्तराल में गति प्राप्त। व्याघ्रसर्प निर्वैर करत। कोई एक।।११।। विष का होवे पाचन। समुद्र पर पदक्रमण। किसी को वागब्रह्मज्ञान। अभ्यास से पार्थ।।१२।। अतः अभ्यास से कोई। सर्वथा दुष्कर नाहीं। इसलिये मेरे ठांई। मिलना अभ्यास से।।१३।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

अथवा अभ्यास प्रीत्यर्थ। शक्ति न तुझमें पार्थ। तब जैसा तेरा क्रम प्राप्त। वैसा ही विचर।।१४।। इंद्रियों को न दंडना। भोग को न तोड़ना। अभिमान न छोड़ना।

हजारों नामरूपी नौकाएं बनाकर अथाह संसार सागर में मैं उनका रक्षणकर्ता बनता हूं।।९०।। जो अकेला होता है उनको ध्यान मार्ग प्रस्तुत करता हूं, परिवार सहित रहने वाले को मेरे नाम की विशेष नौका देता हूं।।९१।। प्रेम के बेड़े पर किसी एक भक्त को चढ़ाकर मैं उसे मोक्ष के किनारे ले आता हूं।।९२।। जिनको भक्त कहता हूं ऐसे चार पैरों वाले जानवर भी वैकुंठ में राज्य करने योग्य मैंने बनाये हैं।।९३।। अतः मेरे भक्तों को किसी भी प्रकार की चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती। उनका उद्धार करने वाला मैं समर्थ हूं।।९४।। जब मेरे भक्त मेरी भक्ति प्रारंभ करते हैं, अपनी अंतःकरण की सब वृत्तियां समर्पित करते हैं तत्क्षण वे मेरे साथ एकरूप होते हैं।।९५।। अतः हे भक्त श्रेष्ठ धनंजय! यह मंत्र तुझे बताया है, यह उत्तम श्रेष्ठ मार्ग है, इसको तुम अपना लेना।।९६।।

मुझमें अपना मन स्थिर करो। मेरे में बुद्धि रखो, तुम मेरे शुद्ध स्वरूप में अभेद से रहोगे इसमें शंका नहीं है।।८।।

हे पार्थ! बुद्धि से निश्चय करके मन की समस्त वृत्तियां मेरे स्वरूप में स्थिर करो।।९७।। यदि मन एवं बुद्धि दोनों का मुझमें पूर्णरूप से समर्पण हो गया तो हे पार्थ! अत्यंत प्रेम से मेरे साथ तुम्हारा मिलन होगा।।९८।। मन एवं बुद्धि दोनों स्थिर होकर मेरे स्वरूप में विहार करने लगे तो मुझमें एवं तेरे में क्या भेद रहेगा?।।९९।। जब दीप बुझाया जाता है तब उसका प्रकाश भी उसके साथ नष्ट होता है। जब सूर्यास्त होता है तब प्रकाश भी समाप्त होता है।।१००।। हे पार्थ! मृत्यु के समय जीव के साथ सब इंद्रियां भी निर्जीव होती हैं। तद्वत मन एवं बुद्धि के साथ अहंकार भी मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।।१।। हे अर्जुन! मेरे स्वरूप में मन एवं बुद्धि स्थापित करो, इससे तुम्हें मेरा सर्वव्यापक स्वरूप प्राप्त होगा।।२।। हे अर्जुन! इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सत्य नहीं है, यह शपथ लेकर बताता हूं।।३।।

हे अर्जुन! अपना चित्त मुझमें स्थापित करना तुम्हें संभवनीय प्रतीत नहीं होता हो, तो अभ्यास योग से मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करो।।९।।

मन एवं बुद्धिसहित पूर्ण रूप से अपना चित्त मुझे समर्पित करना तुम्हें योग्य प्रतीत न होता हो, तो।।४।। तब हे धनुर्धर, सुनो! दिन के एवं रात के आठों प्रहर में से अल्पक्षण मुझे पूर्णरूप से देना।।५।। तब उस क्षण में जो तुम्हें मेरा सुखपूर्ण अनुभव आवेगा उससे तुम्हारा मन विषयों से विरागी होगा।।६।। शरत्काल प्राप्त होते ही नदियों का जल स्तर घटने लगता है, वैसे अंतःकरण भी त्वरित प्रपंच से अनासक्त होने लगता है।।७।। चंद्रबिंब पूर्णिमा से प्रत्येक दिन घटता रहता है। अमावस तक संपूर्ण नष्ट हुआ ऐसा लगता है।।८।। वैसे उपभोगों से निकलकर मन जब मुझमें प्रविष्ट होता है तब हे पंडुसुत! धीरे-धीरे वह मद्रूप होता है।।९।। इसको ही अभ्यास योग कहते हैं, इससे कुछ प्राप्त नहीं होता ऐसा नहीं समझना चाहिये। (याने सब प्राप्त होता है) ।।११०।। हे पार्थ! अभ्यास की शक्ति से आकाश में गति प्राप्त होती है, कोई बाघ एवं सांप से भी मैत्री कर लेते हैं।।११।। अभ्यास योग से रोज थोड़ा-थोड़ा विष लेने से उसका पचन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। कोई समुद्र पर चलने का अभ्यास करते हैं, किसी को वेदों से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है।।१२।। अतः प्रयत्न करने पर कोई भी कार्य अशक्य नहीं होता, अतः तुम मुझे अभ्यास योग से मिलने का प्रयास करो।।१३।।

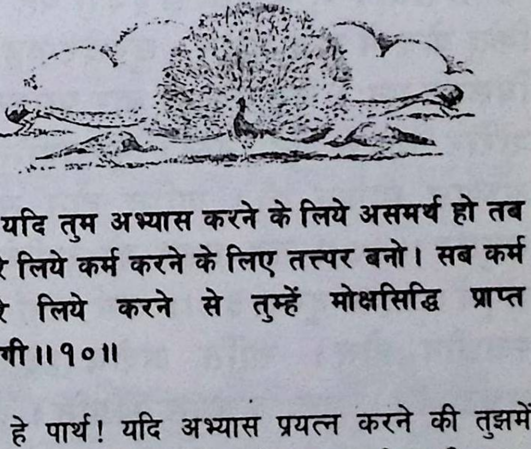

यदि तुम अभ्यास करने के लिये असमर्थ हो तब मेरे लिये कर्म करने के लिए तत्पर बनो। सब कर्म मेरे लिये करने से तुम्हें मोक्षसिद्धि प्राप्त होगी।।१०।।

हे पार्थ! यदि अभ्यास प्रयत्न करने की तुझमें शक्ति नहीं है तब जैसा जो कुछ कार्य तुम दिन भर करते हो वैसा ही करो।।१४।। इंद्रियों को संयमित नहीं करना, उपभोग लेना नहीं छोड़ना, अपने जाति

८९।। मेरे सहस्त्र नाम। रूपी बनाकर नांव। संसार सागर में अथाह। तारक होत।।९०।। एकल को देख। ध्यान मार्ग अशेख। सपरिग्रह को देत विशेष। नाम नौका।।९१।। प्रेम के बेड़े पर। किसी एक को चढ़ाकर। लाया उसे तीर पर। सायुज्जता के।।९२।। जिनको भक्त यह नाम। वे चतुष्पाद भी सर्व। किये वैकुंठ के राणीव (राज्य)। योग्य पार्थ।।९३।। अतः भक्तों को सर्वथा। नहीं किंचिदपि चिन्ता। उनका समुद्धर्ता। सर्वदा मैं।।९४।। जहां भक्त को मद्भक्ति। अर्पित मुझको चित्तवृत्ति। तत्क्षण मेरी युति। उनसे होत।।९५।। इस कारण भक्तराय!। यह मंत्र तुझको धनंजय। दिया उत्तम पंथराय। अपनाओ इसको।।९६।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

देखो मानस यह एक। एवं बुद्धि को निःशंक। मत्स्वरूप में वृत्तिक। कीजे पार्थ।।९७।। यदि दोनों का अर्जुन। होत मद्रूप में समर्पण। प्रीति पूर्वक मिलन। पावेगा मुझको तू।।९८।। मन बुद्धि से जब ही। गृह करत मेरे ठांई। तब कहो मुझको कोई। मैं तू शेष?।।९९।। अतः दीप जब बुझावत। तेज भी साथ लोपत। जब सूर्यबिंब पावत अस्त। प्रकाश नष्ट।।१००।। प्राणोत्सर्ग समय पार्थ। इंद्रियां भी निकसत समस्त। अहंकार भी आवत। मनबुद्धि साथ।।१।। अतः मत्स्वरूप में अर्जुन। मन बुद्धि का करो निक्षेपण। इससे सर्वव्यापी संपूर्ण। होगे तुम।।२।। इसके अतिरिक्त अर्जुन। न कुछ सत्य अन्य। इसपर तेरी आन। लेऊं मैं।।३।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

अथवा यह चित्त। मन बुद्धि सहित। मेरे हाथ में अचुंबित। न देना शक्य।।४।। तब सुनो धनुर्धर!। इन आठे प्रहर-। में अल्प निमिषभर। देना मुझको।।५।। तब जो-जो निमिख। देखेगा मेरा सुख। होगा उतना ही अरोचक। विषयों प्रति।।६।। शरद काल होवे प्राप्त। सरिता नीर घटत। वैसे त्वरित निकसत चित्त। प्रपंच में से।।७।। तब शशि बिंब पूर्णिमा से। दिन दिन घटत जैसे। अमावस तक होत तैसे। नष्ट संपूर्ण।।८।। वैसे भोग से निकसत। चित्त मुझ में प्रवेशत। शनैः शनैः पंडुसुत। मैं ही होत।।९।। अभ्यास योग जो कहिये। वह इसको ही जानिये। इससे जो न पाइये। ऐसा कुछ भी नहीं।।११०।। अभ्यास बल से पार्थ। एक को अन्तराल में गति प्राप्त। व्याघ्रसर्प निर्वैर करत। कोई एक।।११।। विष का होवे पाचन। समुद्र पर पदक्रमण। किसी को वागब्रह्मज्ञान। अभ्यास से पार्थ।।१२।। अतः अभ्यास से कोई। सर्वथा दुष्कर नाहीं। इसलिये मेरे ठांई। मिलना अभ्यास से।।१३।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

अथवा अभ्यास प्रीत्यर्थ। शक्ति न तुझमें पार्थ। तब जैसा तेरा क्रम प्राप्त। वैसा ही विचर।।१४।। इंद्रियों को न दंडना। भोग को न तोड़ना। अभिमान न छोड़ना।

Funding by IKS-MoE

हजारों नामरूपी नौकाएं बनाकर अथाह संसार सागर में मैं उनका रक्षणकर्ता बनता हूं।।९०।। जो अकेला होता है उनको ध्यान मार्ग प्रस्तुत करता हूं, परिवार सहित रहने वाले को मेरे नाम की विशेष नौका देता हूं।।९१।। प्रेम के बेड़े पर किसी एक भक्त को चढ़ाकर मैं उसे मोक्ष के किनारे ले आता हूं।।९२।। जिनको भक्त कहता हूं ऐसे चार पैरों वाले जानवर भी वैकुंठ में राज्य करने योग्य मैंने बनाये हैं।।९३।। अतः मेरे भक्तों को किसी भी प्रकार की चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती। उनका उद्धार करने वाला मैं समर्थ हूं।।९४।। जब मेरे भक्त मेरी भक्ति प्रारंभ करते हैं, अपनी अंतःकरण की सब वृत्तियां समर्पित करते हैं तत्क्षण वे मेरे साथ एकरूप होते हैं।।९५।। अतः हे भक्त श्रेष्ठ धनंजय! यह मंत्र तुझे बताया है, यह उत्तम श्रेष्ठ मार्ग है, इसको तुम अपना लेना।।९६।।

मुझमें अपना मन स्थिर करो। मेरे में बुद्धि रखो, तुम मेरे शुद्ध स्वरूप में अभेद से रहोगे इसमें शंका नहीं है।।८।।

हे पार्थ! बुद्धि से निश्चय करके मन की समस्त वृत्तियां मेरे स्वरूप में स्थिर करो।।९७।। यदि मन एवं बुद्धि दोनों का मुझमें पूर्णरूप से समर्पण हो गया तो हे पार्थ! अत्यंत प्रेम से मेरे साथ तुम्हारा मिलन होगा।।९८।। मन एवं बुद्धि दोनों स्थिर होकर मेरे स्वरूप में विहार करने लगे तो मुझमें एवं तेरे में क्या भेद रहेगा?।।९९।। जब दीप बुझाया जाता है तब उसका प्रकाश भी उसके साथ नष्ट होता है। जब सूर्यास्त होता है तब प्रकाश भी समाप्त होता है।।१००।। हे पार्थ! मृत्यु के समय जीव के साथ सब इंद्रियां भी निर्जीव होती हैं। तद्वत मन एवं बुद्धि के साथ अहंकार भी मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।।१।। हे अर्जुन! मेरे स्वरूप में मन एवं बुद्धि स्थापित करो, इससे तुम्हें मेरा सर्वव्यापक स्वरूप प्राप्त होगा।।२।। हे अर्जुन! इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सत्य नहीं है, यह शपथ लेकर बताता हूं।।३।।

हे अर्जुन! अपना चित्त मुझमें स्थापित करना तुम्हें संभवनीय प्रतीत नहीं होता हो, तो अभ्यास योग से मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करो।।९।।

मन एवं बुद्धिसहित पूर्ण रूप से अपना चित्त मुझे समर्पित करना तुम्हें योग्य प्रतीत न होता हो, तो।।४।। तब हे धनुर्धर, सुनो! दिन के एवं रात के आठों प्रहर में से अल्पक्षण मुझे पूर्णरूप से देना।।५।। तब उस क्षण में जो तुम्हें मेरा सुखपूर्ण अनुभव आवेगा उससे तुम्हारा मन विषयों से विरागी होगा।।६।। शरत्काल प्राप्त होते ही नदियों का जल स्तर घटने लगता है, वैसे अंतःकरण भी त्वरित प्रपंच से अनासक्त होने लगता है।।७।। चंद्रबिंब पूर्णिमा से प्रत्येक दिन घटता रहता है। अमावस तक संपूर्ण नष्ट हुआ ऐसा लगता है।।८।। वैसे उपभोगों से निकलकर मन जब मुझमें प्रविष्ट होता है तब हे पंडुसुत! धीरे-धीरे वह मद्रूप होता है।।९।। इसको ही अभ्यास योग कहते हैं, इससे कुछ प्राप्त नहीं होता ऐसा नहीं समझना चाहिये। (याने सब प्राप्त होता है) ।।११०।। हे पार्थ! अभ्यास की शक्ति से आकाश में गति प्राप्त होती है, कोई बाघ एवं सांप से भी मैत्री कर लेते हैं।।११।। अभ्यास योग से रोज थोड़ा-थोड़ा विष लेने से उसका पचन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। कोई समुद्र पर चलने का अभ्यास करते हैं, किसी को वेदों से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है।।१२।। अतः प्रयत्न करने पर कोई भी कार्य अशक्य नहीं होता, अतः तुम मुझे अभ्यास योग से मिलने का प्रयास करो।।१३।।

यदि तुम अभ्यास करने के लिये असमर्थ हो तब मेरे लिये कर्म करने के लिए तत्पर बनो। सब कर्म मेरे लिये करने से तुम्हें मोक्षसिद्धि प्राप्त होगी।।१०।।

हे पार्थ! यदि अभ्यास प्रयत्न करने की तुझमें शक्ति नहीं है तब जैसा जो कुछ कार्य तुम दिन भर करते हो वैसा ही करो।।१४।। इंद्रियों को संयमित नहीं करना, उपभोग लेना नहीं छोड़ना, अपने जाति

Funding by IKS-MoE

स्वजाति का ।। १५।। कुलधर्म पालन । विधि निषेध आचरण । सुख से करो अर्जुन । सहजभाव से ।। १६।। किंतु मनवाचा देह से । जो व्यापार होत तुझसे । मैं कर्ता इस भाव से । न करना तुम ।। १७।। कर्म कार्य या अकार्य । वो ही जाने समवाय । विश्व व्यापार धनंजय । वही परमात्मा से ।। १८।। न्यून अधिक कोई । भेद न रखो अपने ठंई । स्वजाति करो सबही । जिवित्व अपना ।। १९।। माली जहां ले जात । पानी निवान्त बहत । उस पानीसम पार्थ । रहना तुम ।। १२०।। अतः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति । भार न वाहे त्वन्मति । रखो अखंड चित्तवृत्ति । मेरे ठंई ।। २१।। वैसे भी हे सुभट । ऋजु या वक्र बाट । रथ क्या खटपट । करत कभी ? ।। २२।। जो जो कर्म कीजे । कम या बहुत न कहिजे । निवान्त सब समर्पिजे । मुझको सदा ।। २३।। ऐसे यदि भावनायुक्त । देहान्त समय में पार्थ । तब सायुज्यसदन प्राप्त । मेरा ही तुझको ।। २४।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तु मद्योगमाश्रितः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।। ११।।

यदि यह भी तुझको । असंभव देना मुझको । तब समझ इसको । पंडुकुंवर ।। २५।। बुद्धि के आगे पीछे किरीटि । कर्म के आदि अथवा अंती । यदि तुझको मेरी स्मृति । दुःसाध्य अति ।। २६।। तब रहने दो मत्स्मरण । छोड़ो मेरा महत्व अर्जुन । करे इंद्रिय संयमन । बुद्धि तेरी ।। २७।। और जो जो काल । करत जो जो कर्म सकल । उनके समस्त फल । त्यजते जाना ।। २८।। जैसे वेली वृक्ष । त्यजत अपने फल अशेख । वैसे कर्मसिद्धि फल देख । छोड़ो सब ।। २९।। मेरा मन में चिन्तन । मत्प्रीत्यर्थ कार्याकारण । सब कुछ न करो अर्जुन । जाने दो शून्य में ।। १३०।। पत्थर पर वर्षा होत । या अग्नि में बीज बोवत । कर्म को समझो पार्थ । स्वप्न जैसे ।। ३१।। अरे आत्मजा से अकल्मष । पिता जैसे निरभिलाष । वैसे कर्म में अशेष । निष्काम होईजे ।। ३२।। वन्हीं की ज्वाला जैसी । वृथा गगन में जात वैसी । क्रिया निष्फल मीनत तैसी । शून्य मध्ये ।। ३३।। यह फल त्याग अर्जुन । यदि दिखत मार्ग सामान्य । किंतु योग में योग महान । धुरंधर यह ।। ३४।। इस फलत्याग से अर्जुन । वह कर्म न विरुढत पुनः । जैसे एक ही बार प्रसवन । बंसी वृक्ष को ।। ३५।। इस शरीर से पार्थ । शरीर धारण पुनः नष्ट । पुनरावृत्तिका बंद होत । द्वार सर्वदा ।। ३६।। महत्ती अभ्यास सोपान की । प्राप्ति होत सम्यग् ज्ञान की । ज्ञान से भेट ध्यान की । धनुर्धर ।। ३७।। तब ध्यान को आलिंगन । देत सब भाव अर्जुन । उससे कर्मजात संपूर्ण । रहत दूर ।। ३८।। कर्म जहां दूरीकृत । वहां फलत्याग संभवत । त्याग से स्वाधीन होत । शांति अशेष ।। ३९।। यदि वांच्छत शांति । यही अनुक्रम सुभद्रापति । अतः अभ्यास सांप्रति । करना युक्त ।। १४०।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। १२।।

अभ्यास से गहन । होत यह ज्ञान । ज्ञान से भी ध्यान । गहन

Funding by IKS-MoE

का अहंकार भी नहीं छोड़ना ।।१५।। कुलपरंपरा के अनुसार धर्म का पालन करना, विधि निषेध के अनुसार सुखपूर्वक, स्वाभाविक रीति से हे अर्जुन! तुम आचरण करना ।।१६।। किंतु मन, वाणी एवं शरीर से जो व्यवहार तुम करोगे उसको मैं कर रहा हूं ऐसा नहीं समझना ।।१७।। कर्म योग्य है या अयोग्य है यह परमात्मा जानता है। हे धनंजय! वह विश्व का व्यापार करनेवाला जानता है ।।१८।। कमी या अधिक हुआ इस प्रकार का विचार तुम अपने मन में कभी नहीं करना। अपने संपूर्ण मनोभाव में समता रखते हुए जीवन के कार्य करना ।।१९।। उद्यान में माली जिस क्यारी में पानी को ले जाता है, वहां वह जाता है, उस पानी जैसा हे पार्थ! रहने का तुम प्रयास करो ।।१२०।। अतः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का भार तुम्हारे बुद्धि पर नहीं लादना। अपनी चित्त की वृत्तियां नित्य मुझमें रखना ।।२१।। हे सुभट! मार्ग अच्छा हो या बुरा। क्या रथ कभी तकरार करता है? ।।२२।। जो कुछ कर्म तुम करोगे उसको कमी या ज्यादा नहीं कहना। शांती से सब कार्य मुझे समर्पित करो ।।२३।। हे पार्थ! तुम्हारी भावना जब इस प्रकार की हो जायेगी तब मृत्यु के समय तुम निश्चित रूप से मेरे साथ एकरूप हो जाओगे ।।२४।।

मेरे लिए कर्म करने में तत्पर एवं मुझे सब कर्म समर्पित बुद्धि से करने में यदि तुम असमर्थ हो, तब तुम मेरी शरणागति का आश्रय करना। इंद्रियों का निग्रह करके सब कर्मों के फलों का त्याग करो ।।११।।

हे पंडुकुंवर! कर्म का समर्पण करना तुम्हें यदि असंभव प्रतीत होता है, तब तुम इसको समझो ।।२५।। हे किरीटी! बुद्धि के आगे पीछे कर्म के प्रारंभ में या अन्त में मेरा स्मरण करना संभव नहीं है ।।२६।। तब मेरा स्मरण रहने देना। हे अर्जुन! मेरे महत्व को छोड़ दो। किंतु तेरी बुद्धि इंद्रिय निग्रह में नित्य जागृत रहे ।।२७।। एवं जिस काल में जो कर्म किया जायेगा, उनके संपूर्ण फलों का त्याग करो ।।२८।। जैसे लताएं एवं वृक्ष अपने सब फलों का त्याग करते हैं। वैसे कर्म करने के उपरांत उसके फल का तुम पूर्ण त्याग करो ।।२९।। हे अर्जुन! मन में मेरा चिंतन नहीं करना। मेरे लिए कार्य नहीं करना। सब कुछ शून्य में जाने देना ।।१३०।। हे पार्थ! जब पत्थर पर वर्षा होती है, या अग्नि में बीज दग्ध होता है, वह जैसे निरुपयोगी होते हैं वैसे कर्मों को स्वप्न जैसे समझना ।।३१।। अपनी कन्या के प्रति पिता का मन जैसे पापरहित रहता है, वैसे कर्म भी निष्काम एवं अभिलाषा रहित होना चाहिये ।।३२।। अग्नि की ज्वालाएं जैसी आकाश में व्यर्थ हो जाती हैं वैसे सब कर्म शून्य में मिलने देना ।।३३।। हे अर्जुन! यह फल का त्याग सामान्य दिखता है किंतु योगमार्ग में महान योग है ।।३४।। हे अर्जुन! इस फल के त्याग से कर्म का बंधन उत्पन्न नहीं होता। जैसे वांस का वृक्ष एक बार बीज आने पर निरुपयोगी होता है ।।३५।। हे पार्थ। इस देह से पुनः देह धारण करना समाप्त कर दिया जाता है। जन्म मृत्यु का द्वार हमेशा के लिये बंद होता है ।।३६।। हे अर्जुन! अभ्यास की सीढ़ियां चढ़कर आत्मज्ञान प्राप्त किया जाता है। हे धनुर्धर! ज्ञान साधना से ध्यानावस्था प्राप्त होती है ।।३७।। ध्यानावस्था में सब भाव समरस होते हैं, तब सब कर्म स्वाभाविक रीति से दूर होते हैं ।।३८।। जहां कर्म समाप्त होते हैं वहां फलत्याग संभव होता है। फलत्याग से अखंड शांति प्राप्त होती है ।।३९।। हे सुभद्रापति! जिनको शांति की इच्छा है उनके लिए साधना का यही अनुक्रम है। अतः अभी अभ्यास करना (पुनः पुनः प्रयत्न करना) योग्य होगा ।।१४०।।

अभ्यास से परोक्षज्ञान श्रेष्ठ है, परोक्षज्ञान से मुझ परमेश्वर का ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से भी सब कर्मों के फेर का त्याग मेरे लिये करना श्रेष्ठ है, त्याग से तत्काल शांति मिलती है ।।१२।।

अभ्यास से ज्ञान गहन है, ज्ञान से ध्यान में विशेष

Funding by IKS-MoE

विशेष ।।४१।।पश्चात कर्मत्याग । ध्यान से भी सुरंग । त्याग से उत्तम भोग । शांति सुख का ।।४२।। ऐसे ये मार्ग समस्त । इन्हीं टप्पों से पार्थ । गंतव्य तक पहुंचत । शांति धाम के ।।४३।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१३।।

भूत मात्र के ठांई। द्वेष का लेश नाही। न आप पर भाव दोनों ही। चैतन्यसम ।।४४।। उत्तम को चाहत। अधम को अव्हेरत। यह कुछ न जानत। वसुधा जैसी ।।४५।। राज देह में रहिये। रंक शरीर त्यागिये। न कहत कदापि देखिये। कृपावंत प्राण ।।४६।। धेनु की तृषाहरत। व्याघ्र को विषरूप से नाशत। ऐसे न कभी करत। तोय जैसे ।।४७।। वैसी समस्त भूतमात्री। समान जिसकी मैत्री। कृपा की धात्री। स्वयं जो ।।४८।। मैं यह भाषा न जानत। मेरा न कुछ समझत। सुखदुखः भाव पार्थ। नाहीं जिसको ।।४९।। क्षमा जिसकी अर्जुन। पृथ्वीसम महान। संतोष को उत्संगपर स्थान। दिया जिसने ।।१५०।।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तःस मे प्रियः ।।१४।।

वर्षा ऋतुबिन सागरू। जैसा जल से नित्य निर्भरू। वैसा निरुपचारू। संतुष्ट जो ।।५१।। लेकर अपनी आन। संयमित स्वांतःकरण। निश्चय को साचपन। लाया जिसने ।।५२।। जीव परमात्मा जिसमें। बिठा कर ऐक्यासन में। जिनके हृदय भुवन में। विराजत ।।५३।। ऐसा योग समृद्धि। होकर जो निरवधि। अर्पण करत मनोबुद्धि। मेरे ठाई ।।५४।। अंतर्बाह्य योग। सिद्ध करत सुरंग तब प्राप्त मेरा अनुराग। सप्रेम जिसको ।।५५।। अर्जुन वही भक्त। वही योगी वही मुक्त। वह वल्लभा मैं कान्त। ऐसा प्रिय ।।५६।। इतनी ही नहीं बात। वह प्राणों से भी प्यारा पार्थ। किंतु यह भी दृष्टान्त। न्यून यहां ।।५७।। यह प्रियकर की बात। भुलाकर भ्रमित करे चित्त। वाणि से अवर्णनीय किंतु कहत। श्रद्धा तेरी ।।५८।। इसलिये हम इनको। सहज देत यह उपमा को। वैसे क्या कभी प्रेमको। अनुवाद दूजा ? ।।५९।। रहने दो यह किरीटि। यह प्रियजनों की गोष्टी। दुगुनबल से सृष्टि। प्रेम की करत ।।१६०।। उस पर तुझ जैसा पार्थ। प्रेमी संवादिया प्राप्त। उस मधुरता को यथार्थ। उपमा कैसी? ।।६१।। अतः हे पंडुसुता। तू ही प्रिय तू ही श्रोता। और प्रियकर की यह वार्ता। संयोगवश ।।६२।। वहां कहत श्रीरंग। आप्लावत यह सुखतरंग। बोलते ही तत्क्षण सुरंग। डोलन लागत ।।६३।। सुनो हे अर्जुन। जानो वह भक्त का लक्षण। जिसके लिये मैं स्वांतःकरण। बिछावत ।।६४।।

यस्मानोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१५।।

जैसा सिंधु क्षोभित। जलचर को न भय उपजवत। और जलचर से न उद्वेलित ।। समुद्र जैसा ।।६५।। कैसे जग से यह उन्मत। न कभी दुखी होत। और जिसके संग से पार्थ। त्रस्त न लोक ।।६६।। किंबहुना पांडव वैसे। शरीर इन अवयवों से। वैसे न

Funding by IKS-MoE

गहराई है।।४१।। ध्यान से भी श्रेष्ठ कर्मफल का त्याग है, त्याग से शांति का उपभोग करना श्रेष्ठ है।।४२।। ऐसे यह सब मार्ग परंपरा से आगे बढ़ते हुए परमशांति एवं ब्रह्मानंद प्राप्ति के स्थान तक पहुंचाते हैं।।४३।।

जो सब प्राणिमात्र के प्रति द्वेषरहित है, सबसे मित्रभाव से व्यवहार करता है, हेतु रहित दयालु है, ममता रहित, एवं अहंकार रहित है, सुखदुखों में सम एवं क्षमावान है।।१३।।

प्राणिमात्र के प्रति लेशमात्र द्वेषभाव नहीं रखता, चैतन्य के समान अपना एवं पराया का भाव भी नहीं होता।।४४।। उत्तम की चाह रखना एवं नीच का त्याग करना जैसे भूमि नहीं जानती।।४५।। राजा के देह में निवास करेंगे एवं दरिद्री के शरीर का त्याग करेंगे ऐसा कृपावंत प्राण कभी नहीं कहता।।४६।। गाय की प्यास मिटायेंगे, एवं बाघ को विषरूप बनकर मारेंगे ऐसा कभी जल नहीं करता।।४७।। वैसे सब प्राणि मात्र में जिसकी समान मैत्री रहती है, जो स्वयं भूमि के सदृश समभाव रखता है।।४८।। मैं हूं यह भाषा वह नहीं जानता, मेरा कुछ है ऐसा भी नहीं समझता। हे पार्थ! वह सुख दुःख के भाव नहीं रखता।।४९।। हे अर्जुन! जिसकी क्षमा करने की वृत्ति पृथ्वी के समान महान होती है वह नित्य संतोष को अपने हृदय में स्थान देता है।।१५०।।

जो ध्यानयोग में स्थिर हुआ है, लाभहानि में समभाव रखकर जो नित्य संतुष्ट है, मन एवं इंद्रियों को वश में किया है, दृढ़ निश्चयवाला, मेरे में मनबुद्धि जिसने समर्पित की है ऐसा भक्त मुझे अत्यंत प्यि है।।१४।।

वर्षाऋतु के बिना जैसे सागर नित्य परिपूर्ण रहता है वैसा जो किसी भी उपभोग के बिना ही संतुष्ट रहता है।।५१।। जिन्होंने अपनी शपथ लेकर, निग्रहपूर्वक अपने अंतःकरण को संयमित किया है जिससे सत्कर्म करने के निश्चय को सत्यस्वरूप प्राप्त हुआ है।।५२।। जीवात्मा एवं परमात्मा एक आसन पर बैठकर जिनके हृदयरूपी घरमें, सिंहासन पर विराजमान हैं।।५३।। जीवात्मा एवं परमात्मा के अमर्याद योग से संपन्न होकर जो मेरे सगुण रूप में मन एवं बुद्धि अर्पण करता है।।५४।। अंतःकरण में जीव ब्रह्मयोग एवं शरीर से भक्ति योगयुक्त अष्टांग योग साधना उत्तम रीति से सिद्ध होने पर उसको मेरा अनुराग प्रेमसहित प्राप्त होता है।।५५।। हे अर्जुन! वही भक्त है, वही मुक्त योगी है,। वह (प्रियकर एवं मैं प्रेयसी) वही पति एवं मैं पत्नी ऐसा मुझे प्रिय होता है।।५६।। हे पार्थ! यह बात इतनी सी नहीं है। मेरा भक्त मुझे प्राणों से प्यारा होता है। वास्तविक यह दृष्टान्त भी यहां कम ही है।।५७।। यह प्रियकर की बात मन को भ्रमित करती है। क्योंकि यह प्रेम वाणी से अवर्णनीय है। हे अर्जुन! तुम्हारी श्रद्धा मुझे बोलने के लिए बाध्य करती है।।५८।। अतः हमने पति-पत्नी एवं जीव की उपमा दी है। वैसे क्या कभी प्रेम का अनुवाद दूसरा हो सकता है?।।५९।। हे किरीटी! अब यह रहने दो! प्रियजनों की बातें करते हुए, उनके प्रेम का वर्णन करते हुए दुगना उत्साह उत्पन्न होता है।।१६०।। हे पार्थ! तुम्हारे जैसा प्रेमपूर्ण अंतःकरण का संवाद करने वाला मिल जाये, तब जो माधुर्य उत्पन्न होता है, उसको उपमा कैसी?।।६१।। अतः हे पंडुसुत! यहाँ तुमही प्रिय भक्त हो एवं श्रोता भी तुम ही हो। प्रिय भक्तों की कथा सुनाने का सुयोग प्राप्त हुआ है।।६२।। यह कहते हुए भगवान श्रीरंग आत्मानंद में सुखपूर्वक डोलने लगे।।६३।। सुनो हे अर्जुन! भक्तों का लक्षण अब तुम जानना। ऐसे भक्त हैं जिनके लिए मैं अपना अंतः करण का आसन बिछाता हूँ।।६४।।

किसी जीव को जिससे उद्वेग नहीं होता, उसको भी किसी जीवसे उद्वेग नहीं होता, जो हर्ष, शोक, भय एवं उद्वेगरहित है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।।१५।।

समुद्र में तूफान आने पर उसकी गर्जना से जलचरों को भय उत्पन्न नहीं होता। एवं जलचरों की क्रीड़ाओं से समुद्र को कष्ट नही होता।।६५।। जग में लोगों के उन्मत्त व्यवहार से वह दुःखी नही होता। उसके संगति में लोगों को कष्ट नहीं होता।।६६।। किंबहुना हे पाण्डव! जैसे अपना शरीर अपने अवयवों से दुःखी नहीं होता, तद्वत जीवभाव से अन्य जीवों से वह दुःखी नहीं

Funding by IKS-MoE

उद्विजत जीवों से। जीव भाव से।।६७।। जग ही देह पार्थ। अतः प्रियाप्रिय नष्ट। हर्षामर्ष लोपत। दूजे बिन।।६८।। ऐसा द्वंद्व से निर्मुक्त। भय उद्वेग रहित। जो पूर्ण रूप से भक्त। मेरे ठांई।।६९।। उसकी मुझे प्रीति। मुझको वह प्रिय अति। मत्प्राण का प्राण किरीटि। भक्त मेरा।।१७०।। जो निजानंद से तुष्ट। रूपान्तर से जन्म पावत। पूर्णता का साक्षात। वल्लभ वह।।७१।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

जिसके मन में गुडाकेश। अपेक्षा को नहीं प्रवेश। सुख को भर विशेष। निरंतर।।७२।। मोक्षदायक उदार। काशी क्षेत्र धनुर्धर। किंतु त्यागना पड़त शरीर। गांव में उस।।७३।। दोषनाशक हिमवत। किंतु जीवन को हानि होत। वैसे शुचित्व न पार्थ। सज्जनों का।।७४।। शुचित्व में शुचि गांग तोय। और पाप ताप ही जाय। परंतु वहां सदा भय। डूबने का पार्थ।।७५।। भक्ति सखोल अपार। भक्त को न डूबने का डर। अविछन्न बिन हानि साचार। पावत मोक्ष।।७६।। संत अंग संग अर्जुन। करत गंगा को भी पावन। उस संग से शुचित्व पूर्ण। निःसंदेह।।७७।। ऐसा जो धनंजय। पावित्र्य में तीर्थों का आश्रय। दशदिशा में त्वरित जाय। मनोमल।।७८।। वह अंतर्बाह्य अखंडित। सूर्य जैसा निर्मल पार्थ। और तत्त्वार्थ का द्रष्टा सार्थ। पदजातसम।।७९।। व्यापक एव उदास। जैसे यह आकाश। वैसे जिसका मानस। सर्वत्र देखो।।१८०।। संसार व्यथा नष्ट। नैराश्य से आभूषित। व्याधहस्त से मुक्त। विहंग जैसा।।८१।। वैसा वह सुखी संतत। न कोई उसको कष्ट। जैसा गतायुषको न होत। लज्जा कभी।।८२।। कर्मारंभ प्रीत्यर्थ। जिसको नहीं अहंकृति पार्थ। जैसे अग्नि समस्त शमत। निरिंधन।।८३।। वैसे उपशम पूर्ण। जिसको प्राप्त अर्जुन। मोक्ष का मार्ग संपन्न। किया उसने।।८४।। इस विध जो नर। सोहंभाव से सराबोर। किया द्वैतका पैलतीर। पार उसने।।८५।। भक्ति सुख प्राप्त्यर्थ। स्वयं दो भाग में विभक्त। एक को सेवक पार्थ। रखत नाम।।८६।। दूजे को देव कहत। यथाविधि भजत जात। नास्तिक को भी देत। भक्तियोग।।८७।। उसका मुझे व्यसन। वह मेरा निजध्यान। किंबहुना तब समाधान। जब प्राप्त वह।।८८।। उसके लिये मेरा अवतार। मेरा यह वास्तव्य साचार। उस पर मत्प्राण निछावर। इतना प्रिय।।८९।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

जो आत्मलाभ सम। न मानत अन्य उत्तम। भोगविशेष से जिसका मन। पावत न

होता।।६७।। संपूर्ण जग अपना देह है ऐसा समझ से, हे पार्थ! द्वैत का लोप हो गया है। अतः प्रिय अप्रिय, हर्ष शोक आदि भाव लुप्त हो गये है।।६८।। इस प्रकार से जो द्वैत से मुक्त हो गया है, जो भय एवं उद्वेगरहित है, जो पूर्ण रूप से मेरी भक्ति करता है।।६९।। ऐसे भक्तों की मुझे प्रीति है! ऐसे भक्त मुझे अत्यंत प्रिय हैं। हे किरीटी! वह मेरे प्राणों का प्राण है।।१७०।। जो आत्मानंद में नित्य तृप्त रहता है। जिसको स्वाभाविक परिवर्तन से जन्म प्राप्त हुआ है, वह साक्षात पूर्णताका स्वामी है।।७१।।

जो पुरुष आकांक्षा से रहित है, अंतर्बाह्य शुद्ध है, चतुर एवं पक्षपात रहित है, दुःखों से मुक्त, प्रारब्ध से होने वाले स्वाभाविक कर्मो में अहंकार रहित त्यागी ऐसे भक्त मुझे अत्यंत प्रिय होते हैं।।१६।।

हे गुडाकेश! जिसके मन में किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं है। जिसके अस्तित्व से सुख में निरंतर वृद्धि होती है।।७२।। हे धनुर्धर! काशी क्षेत्र मोक्ष देने में उदार है ऐसी उसकी प्रसिद्धि है। किंतु उस क्षेत्र में शरीर त्याग होना चाहिये।।७३।। हिमालय में दोष नष्ट होते हैं! किंतु वहां जीवन समाप्त होने का भय रहता है। हे पार्थ! संत सज्जनों की शुद्धता वैसी नहीं होती।।।७४।। गंगाजल अपने पावन गुण से पवित्र है, उसके जल में स्नान करने से पाप एवं त्रिविध ताप (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) नष्ट होते हैं। किंतु हे पार्थ! वहां नित्य डूबने का भय रहता है।।७५।। भक्ति उससे गहन एवं अपार है। उसमें डूबने का भक्तों को भय नहीं होता। जीवित अवस्था में ही उसे मोक्ष का अनुभव आता है।।७६।। संतो के शरीर के स्पर्श से हे अर्जुन! गंगा भी पवित्र होती है (पापियों के नहाने से गंगाजी में जो पाप संचित होता है वह संतो के स्नान करने से नष्ट होता है) उनकी संगति में निःसंदेह पूर्ण शुद्धता प्राप्त होती है।।७७।। हे धनंजय! ऐसा जो पावित्र्य में तीर्थों का आश्रय बनता है उनकी संगति में मन का मैल दश दिशाओं में त्वरित भाग जाता है।।७८।। हे पार्थ! सूर्य जैसा अंतर्बाह्य निर्मल होता है। वैसा जो माया के आवरण में स्थित ब्रह्मरूपी धन को प्रत्यक्ष देखनेवाला पैर के तरफ से जन्मनेवाला है ऐसा समझना।।७९।। (पैर से जन्मनेवाले बालक में भूमिगत धन देखने की क्षमता रहती है ऐसा कहा जाता है) यह आकाश व्यापक एवं उदास है। वैसे जिसका मन सर्वव्यापी होते हुए अनासक्त होता है।।१८०।। संसार तापसे नष्ट होता है, निरीच्छ अवस्था से विभूषित है, जैसे व्याध के हाथ से छूटा हुआ पक्षी मुक्त होता हुआ आकाश में भ्रमण करता है वैसा वह मुक्त होता है।।८१।। वह निरंतर आत्मसुख में निमग्न रहता है। उसको किसी प्रकार के कष्ट नहीं होते। मृत देह को जैसे लज्जा उत्पन्न नहीं होती वैसा वह निर्लिप्त होता है।।८२।। हे पार्थ! कर्म का प्रारंभ करने पर मेरे भक्त को अहंकार नहीं होता। जैसे ईंधन न डालनेपर अग्नि अपनेआप शांत हो जाता है। वैसा जिसका अहंकार शांत हो गया है।।८३।। हे अर्जुन! जिसको पूर्ण शांति प्राप्त है उससे ही मोक्ष का मार्ग संपन्न हुआ है।।८४।। इस प्रकार से जो भक्त सोहंभाव से ओतप्रोत साम्यावस्था प्राप्त करता है वह द्वैत भाव से अतीत होकर कृतार्थ होता है।।८५।। भक्ति का सुख उपभोगने के लिये, ब्रह्मावस्था प्राप्त होने पर भी स्वयं देव एवं भक्त दोनों भूमिकाओं का, सेवक एवं स्वामी बनकर हे पार्थ! वह आत्मानंद लेता है।।८६।। दूजे भाव को देव कहता है। विधिपूर्वक भक्ति करता है। नास्तिक जीव को भी भक्तियोग सिखाता है।।८७।। ऐसे भक्त का मुझे व्यसन है। मैं स्वयं ऐसे भक्तों का ध्यान करता हूं। किंबहुना ऐसे भक्त जब मुझे मिलते हैं तब मुझे समाधान प्राप्त होता है।।८८।। ऐसे भक्तों के लिये मैं अवतार धारण करता हूं। उनके लिये ही मृत्युलोक में मैं वास्तव्य करता हूं। उनके ऊपर मैं अपने प्राण निछावर कर देता हूं, इतना वह भक्त मुझे प्रिय होता है।।८९।।

इष्ट की प्राप्ति में जिसको हर्ष नहीं होता, अनिष्ट की प्राप्ति में जो द्वेष नहीं करता, वियोग में शोक नहीं करता, किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता, ऐसा जो शुभ एवं अशुभ कर्म का त्याग करनेवाला भक्त मुझे अत्यंत प्रिय है।।१७।।

जो आत्मतत्व की प्राप्ति में ही लाभ समझता है, अन्य किसी बात को उत्तम नहीं समझता। अतः

Funding by IKS-MoE

हर्ष।।१९०।। स्वयं विश्वाकार होत। भेदभाव सहज लुप्त। अतः द्वेष संपूर्ण नष्ट। जिसका पार्थ।।९१।। अपनी वस्तु विशेष। कल्पांत में भी न नामशेष। यह सत्य जाने निःशेष। गतशोक न करत।।९२।। जिस स्वरूप से पार्थ। उत्तम वस्तु न जग में समस्त। वह अपने में अनुभवत। कांक्षारहित जो।।९३।। उत्तम अधम किरीटि। न मानत जिसकी मति। समान दिवस रात्री। सूर्य को तैसी।।९४।। ऐसा बोध ही केवल। रहे होकर निर्मल। उस पर भजनशील मद्भाव से।।९५।। उस भक्त के समान। प्रिय न मेरा कोई अन्य। सत्य सत्य तेरी आन। धनंजय।।९६।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।१८।।

जिसके ठंई पार्था। नहीं वैषम्य की वार्ता। रिपुमित्र को सर्वथा। मानत सम।।९७।। स्वगृहवासी को प्रकाश देत। परकीय को अंधेरा करत। यह कदापि न जानत। दीप जैसा।।९८।। जो घाव से करे छेदन। या स्वहस्त से रोपण। करत छाया समान। वृक्ष जैसा।।९९।। नातर इक्षुदंड खास पोषक को देत मिठास। और औटक को कटुत्व विशेष। न कभी देत।।२००।। अरि मित्र से तैसा। अर्जुन जिसका भाव ऐसा। मानापमान में एकसा। भाव जिसका।।१।। तीनों ऋतु में समान। जैसा होत गगन। वैसा एक ही मान। शीतोष्ण में जिसको।।२।। दक्षिणोत्तर मारुत। मेरु को सम पंडुसुत। वैसा सुखदुःख प्राप्त। समबुद्धि को।।३।। माधुर्य चंद्रिका को। समान राजा रंक को। वैसा जो सकल भूतमात्र को। सदा सम।।४।। समस्त जगत को। एक। सेव्य जैसे उदक। वैसे जिसको तीनों लोक। आकांक्षत।।५।। अंतर्बाह्य संबंध। छोड़कर सब बंध। करत मनका अनुबंध। मन में ही स्थिर।।६।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

जो न निंदासे त्रस्त। स्तुति से न तुष्ट। आकाश को न बाधत। संसर्ग जैसा।।७।। वैसे निंदा एक स्तुति। मानत एक पांति। विचरत जिसकी प्राणवृत्ति। जनवन में।।८।। सत्य असत्य दोनों अर्जुन। नष्ट संकल्प बोलकर भी मौन। जो भोगत उन्मनी पूर्ण। निरंतर।।९।। जो यथा लाभ से न तोषत। अलाभ से न हो क्रोधित। जैसे पर्जन्यबिन न सूखत। समुद्र जैसा।।२१०।। जैसे वायु को अर्जुन। नहीं एक वसतिस्थान। तैसा न उसका जान। आश्रय कहीं।।११।। संपूर्ण आकाश स्थिति। वायु की जैसी नित्य स्थिति। वैसे जगही विश्रांति-। स्थान जिसको।।१२।। यह विश्व ही मेरा घर। ऐसी मति जिसकी स्थिर। किंबहुना चराचर। स्वयं होत।।१३।। इस पर और पार्था। मेरे भजन में आस्था। उसको मैं माथा-। मुकुट करत।।१४।। उसको सदा मस्तक। नवाइजे न कुछ कौतुक। किंतु मान देत तीनों लोक। पदतीर्थ को जिसके।।१५।। ऐसे श्रद्धावान का आदरु। जानिये उसका प्रकारू। यदि होत श्रीगुरू। सदाशिव।।१६।। रहने दो यह साम्प्रत। महेश को यदि बखानत। आत्मस्तुति पार्थ। होगी निश्चित।।१७।। युक्त न यह दृष्टान्त। कहत

किसी प्रकार के विषयोपभोग से वह आनंदित नहीं होता॥१९०॥ स्वयं जिसकी वृत्ति विश्वात्मक हो गयी है उसका भेदभाव स्वाभाविक रीति से समाप्त हो जाता है। अतः हे पार्थ! उसकी द्वेषभावना समूल नष्ट होती है॥९१॥ वास्तविक स्वरूप अपना आत्मतत्त्व है, वह कल्पांत में भी नष्ट नहीं होगा, यह सत्य जानने के कारण गई हुई वस्तु का शोक वह नहीं करता॥९२॥ हे पार्थ! जिस आत्मस्वरूप से बढ़कर अन्य कोई वस्तु विश्व में नहीं है, इस बात का अनुभव इच्छारहित होकर वह करता है॥९३॥ हे किरीटी! उत्तम, नीच, श्रेष्ठ, कनिष्ठ का भाव उसकी बुद्धि में प्रविष्ट नहीं होता। जैसी सूर्य को दिन एवं रात समान होती है॥९४॥ ऐसा ज्ञान शुद्ध होकर उसके मनमें रहता है। मेरा वह भक्त मद्रूप होकर मेरी भक्ति करता है॥९५॥ उस भक्त के समान अन्य कोई मेरा प्रिय नहीं होता। हे धनंजय! यह सत्य बात तेरी शपथ लेकर मैं कहता हूं॥९६॥

जो शत्रु एवं मित्र, मान एवं अपमान को समान मानता है, शीत, उष्ण, सुख एवं दुःख के प्रति समभाव रखते हुये सर्वसंगरहित है॥१८॥

हे पार्थ! जिसमें विषमता का भाव नहीं है, शत्रु एवं मित्र को जो समान मानता है॥९७॥ अपने घर में रहनेवाले को प्रकाश देना एवं पराये को अंधेरा करना जैसे दीप नहीं जानता॥९८॥ जो धाव मारकर काटता है, या जो भूमि में स्वयं बोता है, दोनों को वृक्ष समान छाया देता है॥९९॥ खेतिहर किसान को गन्ना मिठास देता है, एवं कोल्हू में पीसनेवाले के लिए कड़वा हो जाता है, ऐसा गन्ना कभी करता नहीं॥२००॥ हे अर्जुन! वैसा शत्रु एवं मित्र से जिसका समान भाव रहता है वैसा सम्मान देनेवाले तथा अपमान करनेवाले के प्रति समान भाव होता है॥१॥ तीनों ऋतुओं में जैसा आकाश समान रहता है वैसा शीत एवं उष्णता के प्रति एक जैसा भाव होता है॥२॥ दक्षिण वायु एवं उत्तर दिशा से आने वाला वायु, हे पंडुपुत्र! मेरुपर्वत के लिए समान होता है। वैसा जो सुख दुःख में समबुद्धि रहता है॥३॥ चंद्रप्रकाश राजा एवं रंक को एक जैसा समान प्राप्त होता है, वैसा जो नित्य संपूर्ण भूतमात्र के प्रति समभाव रखता है॥४॥ संपूर्ण विश्व के लिये जैसे जल आवश्यक वस्तु होती है वैसा वह तीनों लोक में प्रिय होता है॥५॥ अंतर्बाह्य विषयों का त्याग करके मन को मन में ही स्थिर करते हुए आत्मानंद लेता है॥६॥

निंदा एवं स्तुति जिसको समान प्रतीत होते हैं, मननशील, वाणी का नियमन करनेवाला, नित्य संतुष्ट, रहने के स्थान के प्रति अनासक्त, स्थिर बुद्धि भक्त मुझे अत्यंत प्रिय है॥१९॥

जो निंदा से त्रस्त नहीं होता, स्तुति से संतुष्ट नहीं होता, जैसा आकाश को किसी के संसर्ग की बाधा नहीं होती॥७॥ वैसे निंदा, स्तुति दोनों को एक पंक्ति में समझता है, लोगों में एवं अरण्य में समान वृत्ति से विचरण करता है। जैसे प्राणवायु सब प्राणियों में समभाव से संचारित होता रहता है॥८॥ हे अर्जुन! सत्य एवं असत्य के संकल्प जिसके नष्ट हो हो गये हैं। बाते करते हुये भी जो निरंतर उन्मनी ब्राह्मी स्थिति का अनुभव करता रहने से वही उसका मौन होता है॥९॥ लाभ होने से जो संतुष्ट नहीं होता, हानि होने से क्रोधित नहीं होता। जैसे पर्जन्य के बिना समुद्र सूखता नहीं वैसा वह भी नित्य पूर्ण होता है॥२१०॥ हे अर्जुन! जैसे वायु का कोई निश्चित वसतिस्थान नहीं होता, वैसा उसका आश्रयस्थान भी निश्चित नहीं होता॥११॥ संपूर्ण आकाश ही वायु के लिए वसतिस्थान होता है वैसे संपूर्ण जग उसका विश्रांति स्थान रहता है॥१२॥ यह विश्व मेरा घर है, ऐसी जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, किंबहुना संपूर्ण चराचर उसका स्वरूप होता है॥१३॥ हे पार्थ! इसके अतिरिक्त उसको मेरे भजन में अत्यंत आस्था होती है। उसको मैं अपने माथे पर मुकुट के सदृश धारण करता हूं॥१४॥ उसको नित्य मस्तक से प्रणाम करने के लिए सिर झुकाया जाये, इसमें आश्चर्य ही किस बात का है? किंतु तीनों लोक जिसके चरण तीर्थ को सम्मान देते हैं॥१५॥ ऐसे श्रद्धावान भक्त का आदर करने का प्रकार जानने के लिये भगवान सदाशिव जैसे सद्‌गुरु जिनको प्राप्त होते हैं, वही यह प्रकार जानते हैं॥१६॥ हे पार्थ! इतना कहना यथेष्ट है। भगवान महेश की स्तुति करते हुए उसमें आत्मस्तुति निश्चित होगी॥१७॥ अतः यह दृष्टान्त योग्य नहीं

Funding by IKS-MoE

स्वयं रमानाथ। अर्जुन मैं धारण करत। मस्तक पर उसको ।।१८।। चतुर्थ सिद्धी पुरुषार्थ। लेकर अपने हाथ। अनुसरत भक्ति पंथ। जग को भी देत ।।१९।। अधिकारी कैवल्य का। व्यवहार करे मोक्ष का। नम्रता स्वभाव जल का। अपनावत ।।२२०।। इसलिये उसका करत वंदन। वह स्वमाथा का मुकुट अर्जुन। करूं उसका पवित्र पदचिन्ह। धारण हृदय पर ।।२१।। उसके गुण आभूषण। अपने वाणी पर धारण। उसकी कीर्ति करण-। को पहिनाऊं मैं ।।२२।। उसके दर्शन की आस। अतः मुझ अचक्षुको चक्षु खास। स्वहस्तलीला कमल से गुडाकेश। पूजत उसको ।।२३।। और दो भुजा दो हस्त पर। आऊं मैं धारण कर। आलिंगनार्थ हे सुवीर। अंग उसका ।।२४।। उसके अंगसुख प्रीत्यर्थ। मुझ विदेह को देह धारण पार्थ। वह मेरा जीव प्राण सार्थ। निरूपम ।।२५।। वह मेरा परम मित्र। इसमें कौनसी बात विचित्र। किंतु उसका सुचरित्र। श्रवण करत जो, ।।२६।। वे भी प्राण से प्रिय। प्रियजन सत्य सत्य। जो भक्त चरित्र धनंजय। प्रशंसत ।।२७।। जो यह साद्यंत। कहा तुझको प्रस्तुत। भक्ति योग श्रेष्ठ। योग रूप ।।२८।। जो मुझे प्रिय अत्यंत। मन मस्तक पर धारण करत। इतना महत्व श्रेष्ठ। जिस स्थिति का ।।२९।।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव में प्रियाः ।।२०।।

ऐसी यह वस्तु रम्य। अमृत धारा धर्म्य। करत प्रतीति गम्य। सुनकर जो ।।२३०।। वैसे अर्जुन आदर से। जिनके ठांई दृढ़ श्रद्धा से। मन में पूर्ण विचार से। अनुसरत जो ।।३१।। जिनको निरूपित ऐसी स्थिति सहज मानसी। तब सुक्षेत्र में जैसी। रोपनी होत ।।३२।। मुझको मानत परम। मेरे ठांई उनका प्रेम। सर्व भावसे सप्रेम। भजत मुझको ।।३३।। पार्था इस जगी (जग में)। वे ही भक्त वे ही योगी। अखंड उत्कंठित अनुरागी। उनके लिये मैं ।।३४।। वे ही तीर्थ वे ही क्षेत्र। जग में वे ही पवित्र। भक्तिकथा मित्र। निरंतर जो ।।३५।। मैं उनका करूं ध्यान। वे ही मेरा देवतार्चन। उसके बिना न अन्य। भाये मुझको ।।३६।। उनका मुझे व्यसन। वे मेरे निधिनिधान। किंबहुना समाधान। जब प्राप्त वे ।।३७।। प्रिय भक्तों की वार्ता। अनुवादत जो पंडुसुता। उसको मानूं परमदेवता। मेरी सार्थ ।।३८।। ऐसा निजजनानंद वह जगदादिकंद। बोलत श्री मुकुंद। संजय कहे ।।३९।। हे नृपनाथ, जो निर्मल। निष्कलंक लोककृपाल। शरणागत प्रतिपाल। शरण्य जो ।।२४०।। जो सुरसहाय शीलु। लोकलालन लीलू। प्रणत प्रतिपालु। यह खेल जिसका ।।४१।। जो धर्मकीर्ति उज्वल। अगाध दातृत्व में सरल। अतुल बल से प्रबल। बलिबंधनु जो ।।४२।। जो भक्तजन वत्सलु। स्नेहीजन प्रांजलु। सत्यसेतु सकलु। कलानिधि ।।४३।। वह श्रीकृष्ण वैकुंठ का। चक्रवर्ती निज जनों का। बोलत वह

है। ऐसा स्वयं रमानाथ भगवान श्रीकृष्ण ने कहा। हे अर्जुन! ऐसे भक्तों को मैं मस्तक पर धारण करता हूं।।१८।। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि अपने हाथ में लेकर संपूर्ण जगको भक्ति पंथ का मार्गदर्शन करते हुए वह विचरण करता रहता है।।१९।। वह कैवल्य मोक्ष का अधिकारी भक्त मोक्ष का लेना देना करता है। जल का नम्रता का स्वभाव वह अपनाता है।।२०।। इसलिये उसको प्रणाम करते हैं। हे अर्जुन! स्वयं के माथे पर मुकुट जैसा धारण करते हैं। उनके पवित्र चरण चिन्हों को वतसलांछन को मैं अपने हृदय पर धारण करता हूं।।२१।। उनके गुणों को अलंकार समझकर मैं अपने वाणी में धारण करता हूं (उसके गुणों की स्तुति वाणी से करता हूं) उसकी कीर्ति अलंकार के समान कानों से सुनता हूं।।२२।। हे गुड़ाकेश! उसके दर्शन की आशा से मैं अचक्षु होते हुए भी चक्षु धारण करता हूं, स्वयं के करकमलों से उसका पूजन करता हूं।।२३।। दोपर और दो भुजा धारण कर चतुर्भुज बनकर, हे सुवीर! उसको आलिंगन देने के लिये मैं आता हूं।।२४।। उसके देह का सुख प्राप्त करने के लिये, मैं विदेही होते हुये देह धारण करता हूं। हे पार्थ! ऐसे भक्तों को मेरा निरुपम जीव एवं प्राण समझना।।२५।। वह मेरा परममित्र होता है, इसको कौन विचित्र बात है, उसका उत्तम चरित्र जो सुनता है।।२६।। वे भी मुझे प्राण से प्रिय प्रतीत होते हैं। हे धनंजय! जो मेरे भक्तोके चरित्र की प्रशंसा करते हैं वे भी मेरे प्रियजन होते हैं यह बात सत्य है।।२७।। जो यह आदि से अंत तक अभी मैंने जो भक्ति योग कहा है वह सब श्रेष्ठ योग है।।२८।। जो मुझे अत्यंत प्रिय होता है, उसको मन में एवं मस्तक पर मैं धारण करता हूं। इतना श्रेष्ठ महत्व उस स्थिति का है।।२९।।

परमश्रद्धा रखनेवाले, मुझेही परमगति समझने वाले, मेरी सेवा में तत्पर ऐसे भक्त धर्मरूप अमृत सेवन करते हैं। वेही मुझे अत्यंत प्रिय होते हैं।।२०।।

भक्ति की एवं भक्तों की मनोहर, पवित्र एवं अमृतधारा के समान मधुर कथा सुनकर जो लोग उसका अनुभव करते हैं।।२३०।। हे अर्जुन! आदर से एवं दृढ़ श्रद्धा से मन में पूर्ण विचार, करके जो भक्ति मार्ग का अनुसरण करते हैं।।३१।। उपजाऊ भूमि में बोये हुए बीज के समान जिनके मनकी सहज स्थिति उपर वर्णन किये हुये स्थिति के समान होती है।।३२।।

जो मुझे सर्वस्व मानते हैं, मुझमें उनका विशेष प्रेम रहता है। अपने सर्ब भाव भावना सहित जो प्रेमपूर्वक मेरी भक्ति करते हैं।।३३।। हे पार्थ! इस जग में वही भक्त है, वही योगी समझना। उनके दर्शन के लिये मैं नित्य उत्कंठित रहता हूं।।३४।। वे ही तीर्थ है, वे ही क्षेत्र है, विश्व में उन्हें ही पवित्र समझना चाहिये। भक्ति कथा सुनने की निरंतर उनमें मित्रता रहती है।।३५।। मैं उनका ध्यान करता हूं वे ही मेरे लिये पूजनीय होते हैं। मैं उनका ध्यान करता हूँ वे ही मेरे लिये पूज्यनीय होते हैं। इनके बिना मुझे कोई अन्य प्रिय नहीं होता।।३६।। उनका मुझे व्यसन है ऐसा समझना। वे ही मेरे निधि निधान है। (क्योंकि भक्तिरूपी धन की निधि उनके पास है) जब उनका मिलन होता है तब मुझे समाधान प्राप्त होता है।।३७।। प्रिय भक्तों की वार्ता हे पंडु सुन। जो कहता है उनको हे पार्थ! मैं मेरी परमदेवता समझता हूँ।।३८।। ऐसा अपने भक्तों को आनंद देने वाले, विश्व को उत्पन्न करने वाले भगवान मुकुंद ने कहा, 'हे संजय ने कहा।।३९।। हे नृपनाथ! जो निर्मल, निष्कलंक, लोगों के प्रति अत्यंत करुणावरुणा लय है। शरणोगमों का पालन करने वाले भगवान श्रीकृष्ण भक्त के शरणागत है।।२४०।। जो देवताओं को मद न करने वाला है। लोगों का पालन करना जिसकी सहज लीला है। शरणगत भक्तों का जो रक्षणकर्ता है। यह सब जिसकी सहज क्रीड़ा है।।४१।। धर्मरक्षक ऐसी जिसकी उज्जवल कीर्ति है। अगाध दातृत्व में जो उधार है। अतुलनीय शक्ति से जो संपन्न है। जबलि राजा के प्रेम से जो उसके बंधन में बंध गया है।।४२।। जो भक्त लोगों के प्रति अत्यंत वत्सल है। स्नेही जनों के प्रति प्रामाणिक एवं सुलब है। सत्य मार्ग से चलने वालों के लिये सेतु के समान पार लगाने वाला कलाओं का निधि है।।४३।। वह वैकुंठाधिपति भगवान श्रीकृष्ण भक्तजनों का

सुनत पंडु का। सुभग सुत ।।४४।। अब इसके उपरान्त। सुनो हे नृपनाथ। वह प्रसंग संजय कहत। धृतराष्ट्र को ।।४५।। वही सुरस कथा। प्राकृत प्रतिपंथ में पार्था। निरूपण उसका तत्त्वता। सुनो सांप्रत ।।४६।। ज्ञानदेव कहत आप सर्व। संत हमको शरण्य सेव्य। यह आदेश दिया स्वामी ने योग्य। निवृत्तिदेव ने ।।४७।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिंदीअनुवादे भक्तियोगोनाम द्वादशोऽध्याय: (श्लोक २० ओवियाँ २४७)

Funding by IKS-MoE

सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट है। वह कहता जा रहा है एवं पंडु राजा का भाग्यवान पुत्र अर्जुन सुन रहा है।।४४।। अब इसके उपरान्त, हे राजा! सुनिये। वह प्रसंग घृतराष्ट्र राजा को संजय कहेंगे।।४५।। हे पार्थ! वही रसपूर्ण कथा, प्राकृत भाषामें तत्वरूप निरुपण करुंगा उसे उसे तुम अभी सुनना।।४६।। ऐसा ज्ञानदेव जी ने कहा, आपसब संत हो। आपकी सेवा शरणागत होकर करना ऐसा योग्य आदेश मुझे श्री निवृत्ति देव ने दिया है।।४७।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

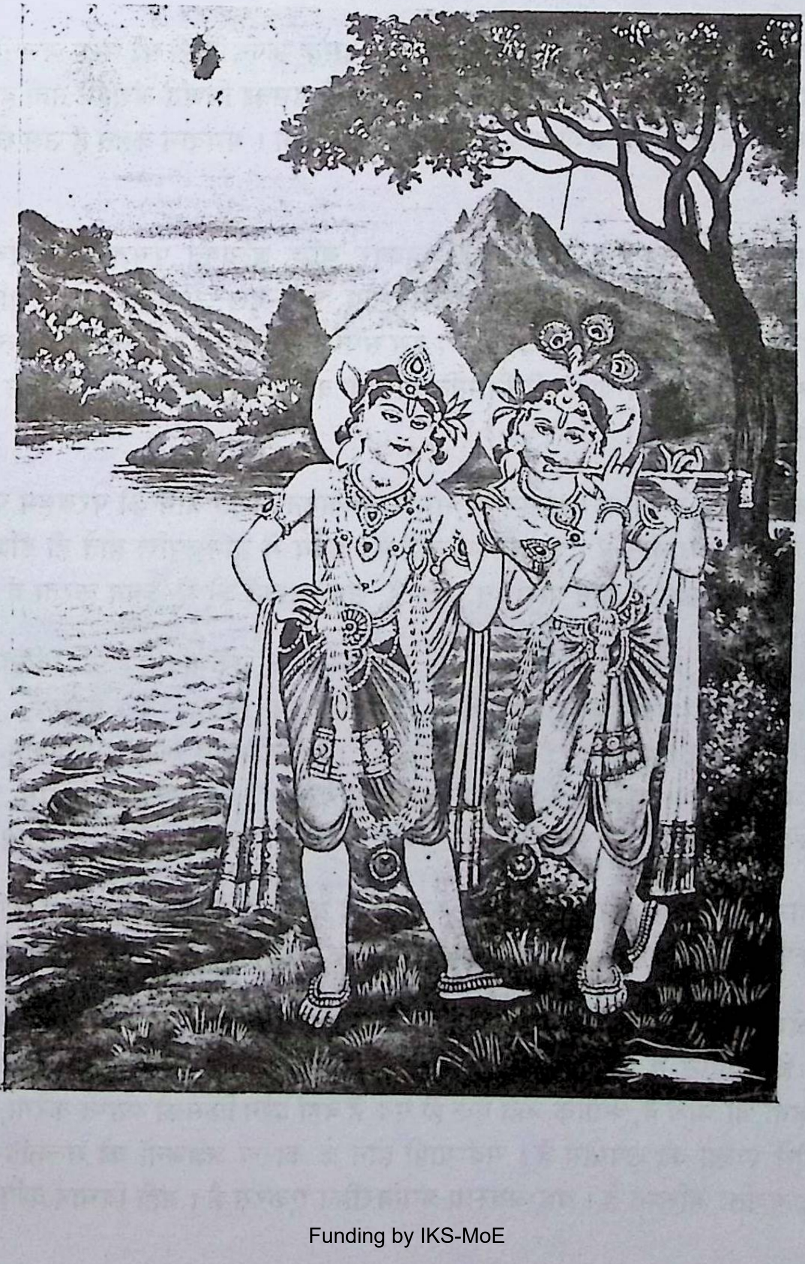

अध्याय-तेरहवाँ

सारांश

तब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का। जो देखत अन्तर उनका। उन्मेश पर उनके स्वयं का। ज्ञान उतारे हम।।अ.१३-११३५।।

इस अध्याय में नरदेह का और जिसकी सत्ता से यह चलता है, उस पुरुष का विचार किया है। इसी को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कहते हैं। प्रथमतः जिनके स्मरण से शब्द सृष्टि स्वाधीन होकर वक्तृत्व को नवरस की बहार आती है, उन श्री निवृत्तिनाथ की वंदना करके श्री ज्ञानेश्वरजी विषय प्रतिपादन का प्रारंभ करते हैं। (१-६)

इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं। शरीर को क्षेत्र क्यों कहते हैं, इसके ऊपर किसी की सत्ता चलती है इसका ज्ञान हर एक को होना आवश्यक है। इस शरीर पर किसकी सत्ता है इसका निर्णय अद्यापि नहीं हुआ है। वेदों से लेकर, देवता, बड़े-बड़े विचार को भी अभी तक इसका पता नहीं चला। भगवान कहते हैं उस क्षेत्र का कथन मैं अब करता हूं।

यह शरीर छत्तीस तत्त्वों से बना है। पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, मन, ज्ञानेंद्रियों के पंच विषय, कर्मेंद्रियों के पंच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुख, संघात, चेतना, धृति आदि उपरि लिखित पैंतीस तत्त्वों के समुदाय को 'संघात' कहते हैं। इस संघात को मिलाकर कुल छत्तीस तत्त्व मिलाकर यह शरीर बनता है। इस शरीर में पाप पुण्य की निर्मिति होने के कारण इसे क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र में स्थावर जंगम सृष्टि का समावेश होता है। (७-१६०)

अब ज्ञान का विचार कथन करता हूं। संसार को समूल उच्चाटन करके जीव को परब्रह्म पद प्राप्त कराने का सामर्थ्य ज्ञान है। वह शब्दातीत है। शब्दगम्य नहीं है। हृदय में ज्ञानोत्पत्ति होते ही इंद्रियों की क्रियायें रूपांतरित होती हैं। जिन लक्षणां से ज्ञान परिचित होता है, उन लक्षणों को मैं कथन करता हूं। (७२-१६०)

१.अमानित्व, २.अदंभत्व, ३.अहिंसा, ४.शांति, ५.आर्जव, ६.गुरुभक्ति (गुरु भक्ति का व्याख्यान प्रेमपूर्ण और सविस्तर है), ७.शुचित्व, ८.स्थैर्य, ९.अंतःकरण निग्रह, १०.वैराग्य, ११.अनहंकार, १२.जन्म-मृत्यु, जरा व्याधि, दुःख दोष इनका अनुदर्शन, १३.अनभिसंग और अनासक्ति, १४.समचित्त, १५.अव्यभिचारी भक्ति, १६.अरति, १७.अध्यात्मज्ञाननित्यत्व, १८.तत्त्वज्ञानार्थदर्शन, तत्त्व ज्ञान के अभ्यास का फल जो ज्ञेय ब्रह्म, उसका ज्ञानी को सर्वत्र अनुभव आता है। (१६०-६३१)

ज्ञानेश्वरजी ने ज्ञान के अठारह लक्षण स्पष्टतया, सरसता से कथन किये हैं। ज्ञानलक्षणों से विपरित अज्ञान, यह अज्ञानका श्रीकृष्णोक्त लक्षण न देकर ज्ञानदेवजी अज्ञान लक्षण का सविस्तर वर्णन करते हैं।

अब ज्ञानदेवजी ज्ञेय का कथन करते हैं। परमात्म वस्तु को ज्ञेय कहते हैं। बिना ज्ञान अन्य उपाय से उसकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञेय प्राप्ति से मानव कृतकृत्य होता है। यह ज्ञेय निराकार, रंगरूपरहित है, परंतु सर्वत्र व्याप्त है। ऐसा कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि जहां एक ही एक है वहां कौन किसको व्याप्त करेगा, किंतु शिष्य को समझाने के लिये ऐसे शब्दों का उपयोग है। सर्वव्यापी होने के कारण अज्ञजनों को सत्वादि गुणों के समान भासता है, किंतु वह पूर्णतः अलिप्त है। वह अवस्था त्रयविरहित एकरस है। यही विचार कपिल प्रणित सांख्य

शास्त्र के परिभाषा में कथन करता हूं। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ को सांख्य शास्त्र में प्रकृति, पुरुष कहते हैं। यह दोनों अनादि सिद्ध हैं। प्रकृति से बुद्धि इंद्रिय गुणों की उत्पत्ति होती है। गुण से कर्म और कर्म से सुख दुःख की उत्पत्ति होती है। यह सुखदुःख प्रकृति भर्ता को (पुरुष) भोगना पड़ता है, ऐसा दिखता है किंतु निर्गुण, निराकार होते हुए भी प्रकृति उसको वश करके संसार करने को बाध्य करती है। परिणामतः उसको जन्ममृत्यु की अनर्थ परंपरा भोगना पड़ती है। यह गुण का प्रभाव है। वस्तुतः पुरुष को जन्म है न भोग है। (९७८-१०२८)

आत्मा का शोध लेने के लिये संत सहवास, संत सेवा और संतों के उपदेशानुसार आचरण इत्यादि आवश्यक है, ऐसे संतसेवक जन्ममरणमुक्त होते हैं।

तात्पर्य भिन्न-भिन्न दिखनेवाले पदार्थ एक ही वस्तु से उत्पन्न हुए हैं, सबमें एक ही अविनाशी वस्तु व्याप्त है, किंतु दैवहीन लोगों को एकत्व नहीं दिखता, अनेकत्व दिखता है, विरले भाग्यशाली लोगों को ही अनेकत्व में एक परब्रह्म ही दृग्गोचर होता है। देहगुणवान, नाशवंत और दुःखरूप है, किंतु देहस्थ आत्मा निर्गुण, नित्य, आनंदरूप है। आत्मा प्रकृति से भिन्न है ऐसा अपरोक्ष अनुभव आते ही साधक ब्रह्मरूप होता है। ज्ञानेश्वरजी ने शांतरसयुक्त, अमृत से भी मधुर अलंकारयुक्त वाणी से व्याख्यान मैं करूंगा, श्री गुरुदेव ने मुझे आशीर्वाद देना चाहिये, ऐसा कहकर यह अध्याय समाप्त किया। (१०२०-११७०)

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - तेरहवाँ

करके आत्मरूप गणेश का स्मरण। जो सकल विद्याओं के अधिकरण। वे ही वंदन करूं श्रीचरण। श्रीगुरुके अब ।।१।। स्मरण मात्र से जिसके सर्व। कवित्वशक्ति अभिनव। स्वाधीन सारस्वत अपूर्व। जिव्हा के सब ।।२।। वक्तृत्व को ऐसा मार्धुय। जो अमृत भी फीका होय। रस होत आश्रित कौन्तेय। अक्षर को यहां ।।३।। भाव का अवतरण। प्रकट अनुभव पूर्ण। हस्तगत संपूर्ण। तत्त्वभेद ।।४।। श्रीगुरुके चरण। हिय में यदि नित्य स्मरण। लभत भाग्य महान। ज्ञानोदय का ।।५।। करके उनको वंदन। कहूं अब जो कहत कृष्ण। पितामह का पिता लक्ष्मीनारायण। सुनो वह ।।६।।

श्री भगवान उवाच–

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१।।

तब सुनो यह पार्थ!। देह यही क्षेत्र। जानत जो यह सत्य। क्षेत्रज्ञ यहां ।।७।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।२।।

यहां क्षेत्रज्ञ जो विद्यमान। वह मैं ही जानो अर्जुन। करूं सब क्षेत्र का पोषण। सुनिश्चित ।।८।। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको। जानना यथार्थ जिसको। ज्ञान संज्ञा उसको। माने हम ।।९।।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्। स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन में श्रृणु ।।३।।

क्षेत्र इस नाम से। यह शरीर जिस भाव से। वह अभिप्राय पूर्ण रूप से। कहूं अब ।।१०।। क्यों कहना इसको क्षेत्र?। कैसे कहां से सृजत?। विकारों से पोषत।

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - तेरहवाँ

सब विद्याओं का आश्रयस्थान, जो आत्मरूप गणेश वही साक्षात श्री गुरुदेव हैं। उनको स्मरण करके उन्हीं की चरण वन्दना मैं करता हूं।।१।। जिसके केवल स्मरण मात्र से सर्व नवीन कवित्वशक्ति प्राप्त होती है, अपूर्व ज्ञान जिव्हा को स्वाधीन होता है।।२।। वक्तृत्व में ऐसी मधुरता आती है कि अमृत भी फीका लगता है। हे कौंतेय! नवरस अक्षरों के आश्रित होते हैं।।३।। विभिन्न सिद्धांतों का भेद बताकर, पूर्ण अनुभव प्रकट करने के लिए जो भावों का प्राकट्य होता है, वह सब स्वाधीन होता है।।४।। श्रीगुरु के चरणों को नित्य हृदय में धारण करके नित्य स्मरण करने से ज्ञान प्राप्ति का महान सौभाग्य प्राप्त होता है।।५।। उनको प्रणाम करके अब जो कृष्ण कहते हैं उसको कहूंगा। वह श्रीकृष्ण पितामह का पिता लक्ष्मीरमण है। उसको अब सुनिये।।६।।

भगवान ने कहा हे कौन्तेय! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है, इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उनके तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं।।१।।

हे पार्थ! देह यही क्षेत्र है उसको सुनो! इस सत्य को जो जानता है वह यहां क्षेत्रज्ञ है।।७।।

हे भारत! सब क्षेत्रों में तुम क्षेत्रज्ञ अर्थात जीवात्म भी मेरे को ही जान। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अर्थात विकार रहित प्रकृति का और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है, वही ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है।।२।।

हे अर्जुन! यहां जो क्षेत्रज्ञ विद्यमान है वह मैं ही हूं। मैं सब क्षेत्र का पोषण निश्चित करता हूं।।८।। क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ को यथार्थ जानना उसको हम ज्ञान कहते हैं।।९।।

अतः वह जो क्षेत्र है, एवं जैसा है, तथा जिन विकारोंवाला है, एवं जिस कारण से जो हुआ है संक्षेप में मेरे से सुनो।।३।।

इस शरीर का जिस अभिप्राय से क्षेत्र नाम से उल्लेख किया है वह सब भाव तुम्हें बताता हूं।।१०।। इसको क्षेत्र क्यों कहना चाहिये यह कैसा एवं कहां उत्पन्न होता है, कौन से विकारों से इसका

Funding by IKS-MoE

कौन-कौन से यहां?।।११।। यह लघु औट हस्त। कितना भार कितना विस्तृत। सुपज या निरूपज पार्थ। किसका यह?।।१२।। इत्यादि सर्व। जो-जो इसके भाव। कहूं सांप्रत वह। दो अवधान अब।।१३।। इसी क्षेत्र संबंध में अर्जुन। श्रुति सदा करे विवरण। तर्क करे निर्णय पूर्ण। वाद विवाद से।।१४।। करते इसका वर्णन। परास्त हुए षड्दर्शन। इसलिये अब भी अर्जुन। द्वंद शेष।।१५।। शास्त्रसंयुत वाद शुद्ध। इस जग में प्रसिद्ध। वह भी असफल करने सिद्ध। एकमत इसका।।१६।। मुख मुख को न मानत। बोल बोलसे न सहमत। युक्ति हुई शिकस्त। यत्न में इस।।१७।। न जाने किसका यह स्थल। किंतु कैसा अभिलाषा का बल। जो घरघर माथापच्ची केवल। इसी के लिये।।१८।। नास्तिक मुख को करने बंद। वेद महाप्रसिद्ध। देखकर करत पाखंड। विवाद अन्य।।१९।। कहत वेद निर्मूल। झूठे ये सब वाग्जाल। इस पर पोफल । रखे हम (बीड़ा उठायें हम)।।२०।। पाखंडि के झुंड। नग्न लुंचत मुंड। तब भी उनके वाद वितंड। निष्फल होत।।२१।। मृत्युबल प्रभाव से। नष्ट होगा बिन काज से। देखकर इसी निमित्त से। सिद्ध योगीजन।।२२।। मृत्यु से भयभीत। सेवत निरंजन एकान्त। यम नियम के जुटावत। समुदाय पूर्ण।।२३।। इस क्षेत्राभिमान सहित। महेश राज्य त्यजत। उपाधि टालने करत। श्मशान वास।।२४।। इस प्रतिज्ञा से महेश। ओढ़कर दिशा दश। रिश्वतखोर मदन को अशेष। भस्म करत।।२५।। इसी क्षेत्र का करने ज्ञान। सत्यलोकनाथ को चार वदन। फिर भी वह असफल अर्जुन। न जाने इसको।।२६।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

एक कहत यह स्थल। जीवाधीन समूल। और इसकी व्यवस्था कुल। देखत प्राण।।२७।। इस प्राण का घर। जिसमें बंधु श्रमिक चार। और मन पहरेदार। नियंत्रक।।२८।। दशेंद्रिय बैल जोड़ा पास। न जानत रात्रि-दिवस। विषय क्षेत्र में विशेष। श्रमत नित्य।।२९।। विहित कर्म टालत। अन्यायबीज बोवत। कुकर्म का डालत। खाद उसमें।।३०।। उस बीज के समान। प्रचुर पाप उत्पन्न। जन्म कोटि दुःख दारुण। भोगत जीव।।३१।। अथवा विधि सुसमय साधकर। सत्क्रिया बीज डालकर। जन्मशत अपार। भोगत सुख ही सुख।।३२।। तब विरोध करत अन्य। कहत न यह जीवाधीन। यह संपूर्ण क्षेत्रज्ञान। पूछो हमसे।।३३।। अहो जीव यहां आगुंतक। बाट चलत करे वस्ति तनिक। प्राण बलुतेदार एक। अतः जागत।।३४।। अनादि यह प्रकृति। सांख्य गात जिसकी स्तुति। क्षेत्र यह वृत्ति। जानो उसकी।।३५।। और इसका ही समग्र। संपूर्ण यह परिवार। अतः क्षेत्र का सब कारोबार। देखत घर में।।३६।। इसके मूल कृषक अर्जुन। इस सृष्टि में तीन। वे इससे ही उत्पन्न। गुणत्रय।।३७।। रजोगुण बोवत। सत्य पोषण करत। तम कटाई करत। समेटत सब।।३८।। रचकर महतत्त्व का खल। मलनी करत कालबैल। वहां

Funding by IKS-MoE

विकास होता है।।११।। यह छोटा साढ़े तीन हाथों का है, इसका भार कितना है एवं यह कितना बड़ा है? यह उपजाऊ जमीन है या अनउपजाऊ जमीन है। एवं यह किसके अधिकार में है।।१२।। इत्यादि इसके जो-जो सर्व भाव हैं, वह अभी तुम्हें कहता हूं। तुम ध्यान देना।।१३।। हे अर्जुन! क्षेत्र के विषय में श्रुति भगवती नित्य विवरण करती है, तर्कशास्त्र वाद विवाद से पूर्ण निर्णय करता है।।१४।। इसका वर्णन करते हुए छः शास्त्र परास्त हो गये, अतः हे अर्जुन! अब भी उनमें द्वैत शेष है।।१५।। शास्त्र युद्ध, वाद-विवाद इस जग में सुप्रसिद्ध है। इन शास्त्रों का एक मत करने का प्रयास असफल होता है।।१६।। एक मुख से दिया निर्णय दूजा नहीं मानता, एक का प्रतिपादन दूसरे प्रतिपादन से न मिलने से इस यत्न में शिकस्त करने पर भी युक्ति सहमत नहीं होती।।१७।। यह स्थल किसका है समझता नहीं। किंतु इसको अपने निर्णय की अभिलाषा है, इस बल से वह हर घर में व्यर्थ बड़बड़ाने को बाध्य करता है।।१८।। नास्तिक का मुख बंद करने के लिये वेदों को श्रेष्ठत्व दिया गया यह देखकर पाखण्डी लोग अन्य विवाद उत्पन्न करते हैं।।१९।। पाखण्डी कहते हैं कि वेद निर्मूल है, तुम्हारा शब्द पांडित्य झूठा है। इसके लिए होड़ लगाने वे तैयार हैं।।२०।। पाखंडी लोगों में जैन, दिगंबर श्रमणक-मस्तक के केश हाथ से खींचकर उखाड़ने का विधि करते हैं, उसको लोंच विधि कहते हैं- उनके वितंडवाद भी निष्फल होते हैं।।२१।। मृत्यु के प्रभाव से यह शरीर व्यर्थ जायेगा यह देखकर योगी क्षेत्र का निर्णय करने के लिये सिद्ध हुए।।२२।। मृत्यु से भयभीत उन योगियों ने वन में एकान्त में रहकर यमदम नियम का अभ्यास पूर्ण किया।।२३।। इस क्षेत्र का निर्णय करने के लिए अहंकार से कैलास के राज्य का त्याग करके देवाधिदेव महेश ने उपाधि टालने के लिए श्मशान में रहिवास किया।।२४।। इस प्रतिज्ञा से भगवान शंकर ने दश दिशाओं के वस्त्र का स्वीकार किया, (सर्व संग छोड़ दिया) रिश्वतखोर मदन को जलाया।।२५।। हे अर्जुन! ब्रह्माजी के चारों मुख क्षेत्रनिर्णय करने के लिए ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करने लगे, किंतु वह भी असफल हुए। क्षेत्र निर्णय नहीं जान पाये।।२६।।

यह क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा विविध प्रकार से कहा गया है, विविध वेद मंत्रों से विभागपूर्वक समझाया गया है, अच्छे प्रकार से निर्णय किये हुए युक्ति युक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी वैसे ही कहा गया है।।४।।

एक कहते हैं कि यह स्थल मूलतः जीव के आधीन है, एवं इसकी संपूर्ण व्यवस्था प्राण देखता है।।२७।। इस प्राण के घर में चार भाई श्रम करनेवाले हैं (अपान, व्यान, उदान, समान) एवं नियंत्रण करनेवाला मन पहरेदार है।।२८।। प्राण के पास दस इंद्रियों की बैल जोड़ियां हैं, वह प्राण रात दिन विषयरूपी खेत में मेहनत करता है।।२९।। विहित कर्मों को वह टालकर अन्याय का बीज बोता है, एवं कुकर्म का खाद उसमें डालता है।।३०।। उस बीज से पापरूपी विपुल फसल उत्पन्न होती है, जिससे कोटी जन्मतक जीव दुःख भोगता है।।३१।। अथवा योग्य समय के अनुसार उत्तम कर्म का बीज जब डालता है, तब सौ जन्म तक अनंत सुख का उपभोग करता है।।३२।।(जीववादी लोगों के इस विवेचन को सुनकर प्रकृतिवासियों ने अपने विचार प्रकट किये) दूसरे लोगों ने इस विवेचन का विरोध किया वे कहने लगे कि यह क्षेत्र जीव के अधीन नहीं है, इस क्षेत्र का संपूर्ण ज्ञान हमसे पूछो।।३३।। यहां जीव आकस्मिक कुछ समय के लिये आगंतुक (बिना बुलाये) आया है, राह चलते हुए कुछ समय बस्ती करने आया है, प्राण यहां रक्षक होने से रात दिन जागता रहता है।।३४।।

यह प्रकृति अनादि है, सांख्यशास्त्र इसकी स्तुति करते हैं, उस प्रकृति की यह क्षेत्र वृत्ति है।।३५।। एवं उसका संपूर्ण परिवार होने से यह सब क्षेत्र का कारोबार घर में ही करते हैं।।३६।। क्षेत्र के लिए कष्ट करनेवाले प्रमुख तीन गुण रज; तम, सत्व, हैं, वे इससे ही उत्पन्न हुए हैं।।३७।। रजोगुण बोनी करता है, सत्व गुण उसका रक्षण करता है, तमोगुण कटाई करके सब समेटता है।।३८।। महत् तत्त्व के गोलाकार में धान्य संग्रहित करने पर कालरूपी बैल

Funding by IKS-MoE

अव्यक्त का सांजकाल। सहज होत।।३९।। तब एक मतिमान। करत इस बात का खंडन। कहत यह समस्त जान। अर्वाचीन।।४०।। अहो परतत्त्व सम्मुख सार्थ। क्या इस प्रकृति की बात। यह सब क्षेत्र वृत्तांत। सुनो निवान्त।।४१।। शून्य सेज शाला में साचार। सुलीनता की शय्या पर। निद्रा करत बलवत्तर। संकल्प वहां।।४२।। अकस्मात वह चेतत। उद्यम में सदैव रत। अतः निधान पावत। इच्छावश।।४३।। निरालंब का उद्यान। जो यह त्रिभुवन। इसके उद्यम में पूर्ण। पावे रंग रूप।।४४।। महाभूतों की समग्र। स्वैर व्यापत भूमि ऊसर। भूतग्राम के चारों प्रकार। सृजत पूर्ण।।४५।। पश्चात प्रथम पार्थ। पंचभूतों की क्यारी यथार्थ। प्रभेद से तैयार करत। धनुर्धर।।४६।। कर्माकर्म की बांधकर मेढ़। दोनों ओर दृढ़। नपुंसक बंजर में निबिड़। निर्मित बन।।४७।। वहां यातायात को सुवीर। जन्म-मृत्यु का निरन्तर। सृजत भूमि गव्हर। संकल्प से इस।।४८।। आगे अहंकार से संधि पार्थ। करके जीवनावधिपर्यंत। बुद्धिबल से श्रमवत। चराचर को।।४९।। ऐसे चिदाकाश में अर्जुन। सृजत संकल्प शाखा पूर्ण। प्रपंच को मूलकारण। हुआ वह।।५०।। ऐसा उनका मुक्त कथन। सुनकर स्वभाववादी अन्य। कहत हो बहुत विद्वान। आप सब!।।५१।। यदि माना परब्रह्म के गांव में। संकल्प किरायेदार उसमें। क्यों न सांख्यों की माने। प्रकृति हम?।।५२।। रहने दो यह समस्त। होना न आप भ्रमित। बतलाऊं मैं सांप्रत। आपको सब।।५३।। तब आकाश में कौन। भरत मेघों में जीवन?। अंतरिक्ष में तारांगण। को आधार किसका?।।५४।। आकाश का यह छत। ताना किसने कब यथार्थ। पवन सदा गतिमंत। यह आज्ञा किसकी?।।५५।। रोम कौन बोवत?। कौन सिंधुको भरत। पर्जन्य की सृजत। धारा कौन?।।५६।। वैसे स्वभावसिद्ध यह क्षेत्र। नहीं किसका वतन पार्थ। जोतत उसको फलत। न अन्य किसी को।।५७।। तब एक और। कहत क्रुद्ध होकर। फिर सत्ताकाल की इस पर। किस कारण?।।५८।। तब इसका मार। देखकर भी अनिवार। करत स्वमत का प्रचार। अभिमानवश।।५९।। यदि मानकर मृत्यु भयंकर। जैसे सिंह का कंदर। कीजे बकबक असार। क्या सार्थ वह?।।६०।। महाकल्पान्तपर्यंत। आलिंगत अवचित। सत्य लोक को भी ग्रासत। भद्रजाति को।।६१।। लोकपाल नित्य नूतन। दिग्गज अष्ट पूर्ण। प्रवेशत स्वर्ग बन। संहरत सबको।।६२।। अन्य अंगवात से पार्थ। जन्ममृत्युगर्त में समस्त। निर्जीव होकर भ्रमत। जीवमृग सब।।६३।। पंजा का विस्तार देखो। कितना विशाल जाको। समस्त आकार गज को। पकड़त मध्य में।।६४।।

अतः काल की सत्ता अपार। बोल यह सत्य त्रिवार। ऐसे भेद नाना सुवीर। क्षेत्र संबंध में।।६५।। इसविध चर्चा बहुत। ऋषि नैमिष में करत। प्रमाण पुराण समस्त। आधार इसका।।६६।। अनुष्ठभादि छंद। प्रबंधों में विविध। ग्रंथ

मलनी करता है। तब अव्यक्त का संध्या समय स्वाभाविक होता है।।३९।। तब एक बुद्धिमान संकल्पवादी खंडन करते हैं, यह आपका ज्ञान आधुनिक काल का है।।४०।। परतत्त्व के सम्मुख इस प्रकृति की बात कहां से आयेगी? यह सब क्षेत्र क्या है यह शांति से सुनो।।४१।। शून्य ब्रह्मरूपी शय्यागृहों में पूर्ण लीनता की अवस्था में शक्तिशाली संकल्प निद्रित था।।४२।। अकस्मात वह जागृत होता है, वह नित्य उद्योग करता रहता है, अतः उसके इच्छा के अनुसार उसे निधान प्राप्त होता है।।४३।। निराकार परब्रह्मरूपी उद्यान मे तीनों लोकों का घर उसके परिश्रम से पूर्ण होकर उसको रंग एवं रूप प्राप्त हुआ।।४४।। पंचमहाभूतों की ऊसर भूमि, जो निरुपयोगी थी, उस पर उसने पूर्ण अधिकार कर लिया, प्राणिमात्र के चारों प्रकार पूर्ण उत्पन्न किये।।४५।। प्रारंभ में पंच महाभूतों के पंचात्मक मिश्रण से, हे धनुर्धर! शरीर निर्माण किये।।४६।। मनुष्य शरीररूपी खेत के दोनों बाजु में कर्माकर्म के पत्थर की पक्की बाढ़ लगाकर उस बंजर वन को उपजाऊ बनाया।।४७।। उस वन में आवागमन करने के लिये, हे सुवीर! जन्ममृत्युरूपी गव्हर, भूमि के भीतर संकल्प से निरंतर निर्माण किया।।४८।। हे पार्थ! संकल्प ने अपने जीवनपर्यंत अहंकार के साथ संधि करके चराचर जगत को अपने बुद्धि के भरोसे पर भ्रमित किया।।४९।। हे अर्जुन! इस प्रकार से चिदाकाश में संकलप की पूर्ण शाखाएँ विकसित होती हैं, वही प्रपंच का मूल कारण है।।५०।। उनका विस्तृत विवेचन सुनकर अन्य स्वभाव वादी ने कहा, आप सब बहुत विद्वान हो!।।५१।। पर ब्रह्म के गाँव में संकल्प किरायेदार है ऐसा यदि मान लिया तब सांख्य मतवादियों की प्रकृति को क्यों न माना जाय?।।५२।। यह सब रहने दो, आप भ्रमित नहीं होना, मैं अभी आपको सब बतलाता हूं।।५३।। आकाश में मेघों में कौन जल भरता है, अंतरिक्ष में तारांगण को आधार किसका है?।।५४।। आकाश का यह छत किसने और कब ताना है? वायु नित्य गतिमान रहे यह किसकी आज्ञा है।।५५।। शरीर पर बालों की बौनी कौन करता है? समुद्र को कौन भरता है? बारिश की धाराओं को कौन निर्माण करता है?।।५६।। यह क्षेत्र स्वाभाविक निर्माण हुआ है, वह किसी का वतन नहीं है, जो इसको जोतता है उसी को उसका फल मिलता है अन्य किसी को नहीं।।५७।। तब दूसरे क्रोधित होकर कहते हैं, फिर काल की सत्ता इस पर किस कारण से है?।।५८।। उस काल का अनिवार भार देखकर भी अहंकार से अपने मन का प्रचार करते हो।।५९।। मृत्युरूपी सिंह का यह मुख है ऐसा मानकर भी व्यर्थ बकबक करना क्या योग्य है? ऐसा कालवादी पूँछते हैं।।६०।। महाकल्पांत पर्यंत यह अकस्मात लपेट लेता है, सत्यलोकरूपी हाथी पर भी धावा करता है।।६१।। यह कालरूपी सिंह स्वर्गरूपी अरण्य में प्रवेश करके हर रोज नये लोकपाल एवं आठ दिक्पालों का पूर्ण संहार करता है।।६२।। हे पार्थ! उसके शरीर की वायु से जीवरूपी हिरन निर्जीव होकर सब जन्म मृत्यु के गड्ढे में भटकते हैं।।६३।। कालरूपी सिंह के पंजे का विस्तार विशाल है, आकाशरूपी हाथी को हाथ के तलुवे में पकड़ता है।।६४।। यह विचार तीन बार सत्य कहता हूं, काल की सत्ता अपार है, हे सुवीर!। क्षेत्र के विषय में ऐसे विविध भेद हैं।।६५।। इस प्रकार की चर्चा नैमिषारण्य में ऋषियों ने बहुत की है, इसका आधार एवं प्रमाण पुराण ग्रंथ है।।६६।।

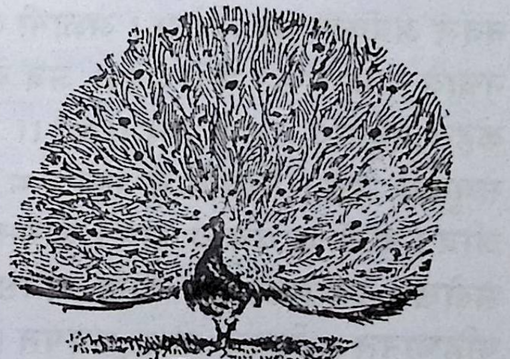

Funding by IKS-MoE

रचना प्रसिद्ध। अद्याप करत।।६७।। वृहत वेद का सामसूत्र। जो ज्ञानदृष्टि से पवित्र। किंतु उसको भी यह क्षेत्र। अनाकलनीय।।६८।। और और भी बहुत। महाकवि हेतुमंत। इस विवाद में परास्त। हुए सब।।६९।। परंतु इतना यह विकट। खास किसको न यह स्पष्ट। न किसके वशीभूत। धनंजय।।७०।। अब सुनो जैसे। यह क्षेत्र क्या कैसे। कहूं तुमको विस्तार से। साद्यंत अब।।७१।।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।
इच्छा द्वेषं सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

यह महाभूतपंचक। और अहंकार एक। बुद्धि प्रकृति दशक। इंद्रियों का।।७२।। मन और भी एक। विषयों का दशक। द्वेष सुख दुःख। संघात इच्छा।।७३।। और चेतना धृति। एवं सब क्षेत्र व्यक्ति। कही तुझको किरीटि। सविस्तार।।७४।। महाभूत।।७५।। महाभूत कौन कौन। कौन विषय करण कौन। करूं वर्णन भिन्न-भिन्न। एकेक का अब।।७६।। जैसे जागृत दशा में। स्वप्न छिपा रहत उसमें। अथवा गुप्त अमावस में। चंद्रबिंब।।७७।। या अप्रौढ़ बालक में पार्थ!। तारुण्यभाव निहित। अविकसित कलिका में सुप्त। आमोद जैसा।।७८।। किंबहुना काष्ट में यथार्थ। वन्हि जैसा अप्रकट। प्रकृति पेट में समाहित। गौप्य जो।।७९।। जैसा ज्वर धातुगत। कुपथ्य का मिष खोजत। जब होवे शरीर को ग्रासत। अंतर्बाहय।।८०।। वैसे पांचों जब एकत्र। तब देहाकार प्रकट। चौबाजू नचावत। अहंकार वह।।८१।। नवल अहंकार का अशेख। अज्ञानी को न स्पर्शत देख। ग्रासत ज्ञानी का कंठ विशेख। नचावे नाना संकट में।।८२।। अब बुद्धि संज्ञा यथार्थ। वह इस विध जानो सार्थ। जो कहत यदुनाथ। सुनो अब।।८३।। कंदर्प के बल से। इंद्रियवृत्ति के मेल से। विजित समुदाय जैसे। विषयों के सब।।८४।। वह सुख दुःखों का अनुभव। झाड़ा देत जब जीव। दोनों का यथार्थ भाव। जानत जिससे।।८५।। यह सुख यह दुख। यह पुण्य यह सदोख। मिलावट यह चोख। निर्धारत जो।।८६।। उच्च नीच जानत। लघु श्रेष्ठ पहिचानत। विषय बोध अवगत। दृष्टि के जिसको।।८७।। जो तेज तत्त्वों की आदि। जो सत्वगुण की वृद्धि। जो आत्मा जीव की संधि-। में व्यवस्थित।।८८।। अर्जुन उसको जान। बुद्धि वही संपूर्ण। अब सुनो लक्षण। अव्यक्त का तुम।।८९।। सांख्यमत का सिद्धांत। प्रकृति जो हे प्रज्ञावंत। वही यहां प्रस्तुत। अव्यक्त वह।।९०।। और जो सांख्ययोग मत से। प्रकृति कही तुझसे। पूर्वी द्विविध रूपसे। विवेचन जिसका।।९१।। वहां द्वितीय जो जीवदशा। उसका नाम वीरेशा। यहां अव्यक्त ऐसा। अभिप्राय जिसको।।९२।। जहां दिन उदित। गगन में तारागण लोपत। अथवा अस्तमान में स्थगित। लोकक्रिया।।९३।। अथवा देहपतन पश्चात। देहादिक विकार जात। उपाधि पेट में लोपत। कृतकर्मों के।।९४।। जैसे बीजमुद्रा में पार्थ। स्थित तरु समस्त। तंतुदशा में वस्त्र। रहत गुप्त।।९५।। छांडके स्थूल धर्म।

Funding by IKS-MoE

अनुष्टुप छंद में विविध प्रकार से काव्य रचना है, इस ग्रंथ का लोग अभी तक आश्रय लेते हैं।।६७।। ऋग्वेद में जो बृहत्साम सूत्र है, वह ज्ञान दृष्टि से अत्यंत पवित्र है, किन्तु उसको भी यह क्षेत्र समझा नहीं।।६८।। बहुत से महाकवियों ने क्षेत्र निर्णय करने के लिए अपनी बुद्धि लगाई है वे सब परास्त हो गए।।६९।। परंतु यह इतना विकट है कि किसी को भी स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आया, हे धनंजय! किसके अधिकार में है इसका भी पता नहीं लगा।।७०।। यह क्षेत्र कैसा क्या है अब सुनो आदि से अंत तक तुम्हें अब विस्तार से कहूंगा।।७१।।

हे अर्जुन! आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी का सूक्ष्म भाव यह पांच महाभूत एवं अहंकार, बुद्धि, मूल प्रकृति, त्रिगुणमयी माया तथा दश इंद्रियां (श्रोव, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा), एक मन एवं पाँच इंद्रियों के विषय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध।।५।।

इच्छ्र, द्वेष, सुख, दुख और स्थूल देह का पिण्ड एवं चेतनता और धृति इस प्रकार यह क्षेत्र विकारों के सहित संक्षेप में कहा गया।।६।।

पांच महाभूत एवं एक अहंकार, बुद्धि, प्रकृति एवं दस इंद्रियाँ।।७२।। एक और मन तथा दस विषय द्वेष, सुख एवं दुःख, संघात एवं इच्छा।।७३।। और चेतना, धृति एवं सब क्षेत्र के ३६ तत्त्व, हे किरीटी! तुम्हें सविस्तर बताये हैं।।७४।। महाभूत कौन हैं? उस प्रत्येक का विषय क्या है?, उसका कारण क्या है? उसका वर्णन, प्रत्येक का अलग अलग करूंगा।।७५।। तब पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश यह पांच महाभूत कहलाते हैं, इसको जानो।।७६।। जैसे जागृत दशा में स्वप्न छिपा रहता है, अथवा अमावस में चंद्रमा गुप्त रूप से रहता है।।७७।। शिशुओं में जैसा तारुण्य सुप्त रहता है, अविकसित कलियों में सुगंध गुप्त रहती है।।७८।। या ईंधन में अग्नि जैसा अप्रकट रहता है, वैसे प्रकृति के उदर में अहंकार गुप्त रहता है।।७९।। शरीर धातुओं में गुप्त ज्वर प्रकट होने के लिए कुपथ्य का निमित्त होता है, वह ज्वर शरीर को अंतर्बाह्य ग्रासता है।।८०।। वैसे पंच महाभूत जब एक साथ देह के रूप में प्रकट होते हैं तब अहंकार देह को चारो तरफ नचाता है।।८१।। यह अहंकार विलक्षण है, वह अज्ञानियों को स्पर्श नहीं करता, वह ज्ञानियों की गर्दन पकड़ता है, उसको विविध संकटों में नचाता है।।८२।। अब बुद्धि को उस प्रकार से समझो, ऐसे यदुनाथ श्रीकृष्ण ने कहा- कि वह अब सुनो।।८३।। मदन बल पर व्रत्तिओं के साथ इंद्रियाँ विषयों के समुदाय पर विजय प्राप्त करती हैं।।८४।। उन सुख दुःख के अनुभव जब जीव लेता है तब दोनों का यथार्थ भाव जिससे जानता है।।८५।। यह सुख, यह दुःख, यह पुण्य, यह पाप, या शुद्ध एवं अशुद्ध को वह समझता है।।८६।। ऊंचा नीच को जानता है, छोटे बड़े को पहचानता है, दृष्टि से विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है।।८७।। जो तेज तत्त्व का मूल है, सत्व गुण का विकास करती है, वह आत्मा एवं जीव के बीच निवास करती है।।८८।। हे अर्जुन! वही सब बुद्धि है, हे अर्जुन! अब अव्यक्त का लक्षण सुनो।।८९।। सांख्य सिद्धांत के अनुसार जो ज्ञान स्वरूप प्रकृति है वही यहां अव्यक्त कहलायी जाती है।।९०।। सांख्य योग के मतानुसार तुम्हें दो प्रकार के प्रकृति का विवेचन करके बताया था।।९१।। उन परा एवं अपरा प्रकृति में जो परा नामक प्रकृति है उसको ही अव्यक्त ऐसा दूसरा नाम है।।९२।। सूर्योदय होने पर आकाश में तारांगण लुप्त होते है, या सूर्यास्त होने पर लोगों का कार्य स्थगित होता है।।९३।। अथवा देह छूटने के उपरान्ह देह के विकार जाते है, किये हुये कर्मों के उदर में देह की उपाधि विलीन होती है।।९४।। बीज के आकार में जैसे संपूर्ण वृक्ष रहता है, तंतुओं के रूप में वस्त्र ही गुप्त रूप में रहता है।।९५।। तद्वत स्थूल धर्म को छोड़कर, पंच महाभूत पंचमहाभूतों से उत्पन्न भूतमात्र के रूप में, सूक्ष्म बनकर, उसमें विलीन

Funding by IKS-MoE

महाभूत भूतग्राम। रहत होकर सूक्ष्म। विलीन जिसमें ।।९६।। वही हे अर्जुन। अव्यक्त रूप जान। अब सुनो पूर्ण। इंद्रिय भेद ।।९७।। तब श्रवण नयन। त्वचा, रसना, घ्राण। इनको ही कहत ज्ञान-। इंद्रिय पांचों ।।९८।। इन तत्त्व मेल से समग्र। सुख दुःखों का विचार। बुद्धि करत साचार। पांचों से इन ।।९९।। फिर वाचा और कर। चरण और अधोद्वार। पायू यह प्रकार। और पांच ।।१००।। कर्मेंद्रियां जो कहलावत। वही इनको जानो पार्थ। सुनो कैवल्यपति स्वतः। निरूपत स्वयम ।।१।। इस प्राण की पत्नी अर्जुन। जो क्रियाशक्ति शरीर में जान। उसकी यातायात पूर्ण। पंचद्वार से इन ।।२।। एवं इंद्रिया दश। निरूपित तुझको गुडाकेश। अब सुनो निश्चित विशेष। कैसा मन यह ।।३।। जो इंद्रिय बुद्धि से पार्थ। संधिमध्ये वास करत। शाखापर विहरत। रजोगुण के ।।४।। नीलिमा अंबर में। या लहरे मृगजल में। वायु का व्यर्थ स्फुरण उसमें। वैसा ही मन ।।५।। और शुक्र शोणित का मिलन। पंचभूताकार अर्जुन। होत स्थानभेद से दशप्राण। वायुतत्त्व एक ।।६।। वे दश भाग में। देहधर्म बल से अपने। अपने स्वस्थान में। अधिष्ठित सब ।।७।। वहां चांचल्य निखिल। एक ही शेष केवल। अतः रजोगुण से बल। प्राप्त उनको ।।८।। वह बुद्धि के बाहिर। अहंकार के अंकपर। ऐसे मध्य में साचार। हुआ दृढ़ ।।९।। उसको मन संज्ञा व्यर्थ। अन्यथा वह कल्पना मूर्तिमंत। जिसके संग से वस्तु को प्राप्त। जीवदशा जग में ।।११०।।

जो प्रवृत्ति का मूल। वासना को जिससे बल। अखंड करत छल। अहंकार को जो ।।११।। इच्छा के वर्धवत। आशा को बल देंत। जो सहाय करत। भय को नित्य ।।१२।। द्वैत जिसमें उत्पन्न। अविद्या होत बलवान। इंद्रियों को लोटत पूर्ण। विषयों में सब ।।१३।। संकल्प से सृष्टि सृजत। तत्क्षण विकल्प से ध्वंसत। मनोरथ के मीनार मोडत-। रचत महान ।।१४।। जो भ्रम का कोठार। वायुतत्त्व का सार। बुद्धि का द्वार। आवृत जिसमें ।।१५।। वह हे किरीटि मन। बोल यह सत्य मान। अब विषयाभिधान-। भेद सुनो ।।१६।। तब स्पर्श एवं शब्द। रूप, रस, गंध। यह विषय पंचविध। ज्ञानेंद्रियों के ।।१७।। पांचों द्वारा से इन। बाहिर दौड़त ज्ञान। जैसे हरे घांस में अर्जुन। भ्रमत पशु ।।१८।। आगे स्वर वर्ण विसर्ग। अथवा स्वीकार त्याग। संक्रमण उत्सर्ग। विण्मूत्र का ।।१९।। ये कर्मेंदियों के पांच। विषय विशेष साच। जिसका बांधकर माँच (मचान)। धावत क्रिया ।।१२०।। ऐसे ये दर्श। विषय देह में वीरेश। अब इच्छा का विशेष। कहूं अर्थ ।।२१।। पूर्व अनुभव का स्मरण। या कर्ण में शब्द उच्चारण-। से जो चेतत तत्क्षण। वह जो वृत्ति ।।२२।। इंद्रिय विषयों की भेंट। सहित तत्काल प्रकट। काम की बाह पार्थ। पकड़कर जो ।।२३।। जिसका वहां उद्भव। मन की स्वैर वहां धाव। न जाना वहां सावयव। मारत मुख ।।२४।। जिस वृत्ति की संगत। करे बुद्धि को भ्रमित। विषयों में पूर्ण रत। वही यह इच्छा ।।२५।। जैसी यह इच्छा उत्पन्न। और न यदि वह संपन्न। उस लाभ की वृत्ति

Funding by IKS-MoE

होकर रहते हैं।।९६।। हे अर्जुन! वही यह अव्यक्त स्वरूप है ऐसा समझना, अब इंद्रियों के भेद सुनो।।९७।। कान, नेत्र, त्वचा, नासिका एवं जिंव्हा यह पांच ज्ञानेंद्रिय हैं इसको समझो।।९८।। इन छत्तीस तत्त्वों के मेल में बुद्धि इन पांच इंद्रियों के सुख दुःखों का योग्य विचार करती है।।९९।। फिर वाणी और कर, चरण एवं अधोद्वार, उपस्थ यह और पांच प्रकार हैं।।१००।। हे पार्थ! यह पांचों कर्मेंद्रिय कहलातेहैं, मोक्ष के अधिपती कैवल्यनाथ स्वयं समझा रहे हैं; हे अर्जुन! सुनो!।।१।। हे पार्थ! प्राण की पत्नी जो क्रियाशक्ति शरीर में है, उसका आना-जाना इन पांच कर्मेंद्रिय से होता है।।२।। हे गुडाकेश! इस प्रकार से दस इंद्रियाँ तुम्हें बताई हैं, अब मन किस प्रकार का है यह निश्चित सुनो।।३।। हे पार्थ! यह मन इंद्रियाँ एवं बुद्धि के बीच में रजोगुण के शाखा पर विहार करता है।।४।। आकाश में जैसा नीला रंग, या मृगमरीचिका में जैसे तरंग दिखाई देते हैं, या वायु का बहना मृगमरीचिका के लिये जैसा व्यर्थ होता है वैसा यह मन।।५।। हे अर्जुन! शुक्र एवं शोणित (रेत एवं रक्त) के मिलन से जैसे शरीर का आकार बनता है तब एक ही वायु स्थान भेद से (पंच प्राण एवं पंच उपप्राण) दस प्रकार की होती है।।६।। दस प्रकार के वायु ने देह धर्म की शक्ति से अपने स्थान में आश्रय लिया।।७।। वहाँ चंचलता शेष थी, उसने रजोगुण का आश्रय लिया।।८।। बुद्धि के बाहर एवं अहंकार के अंक पर दोनों के बीच में वह दृढ़ स्थिर हुआ।।९।। उसको मन यह नाम व्यर्थ दिया गया है, वास्तविक वह मूर्तिमंत कल्पना है, जिसकी संगति में, इस जग में, वस्तु को जीव दशा प्राप्त होती है।।११०।। जो प्रवृत्ति का मूल है, जिससे वासनाओं को शक्ति मिलती हैं, जिससे अहंकार का अखंड छल होता है।।११।। इच्छाओं को बढ़ाता है, आशा को शक्ति देता है, जो नित्य भय को मदद करता हैं।।१२।। जिससे द्वैत-भेदभावना-उत्पन्न होती है, अज्ञान बढ़ता है, इंद्रियों को विषयों में आसक्त कराता है।।१३।। जो अपने संकल्प से सृष्टि का निर्माण करता है, उसी क्षण विकल्प से उसका नाश भी करता है, एवं मनोरथ मीनार तोड़ता है एवं निर्माण करता है।।१४।। वह भ्रम का कोठार है, वायुतत्त्व का आंतरिक भाग है, जिसने बुद्धि का द्वार ढाँक दिया है।।१५।। हे किरीटी! वही मन है, मेरी वाणी सत्य समझो, अब विषयों के विविध भेद सुनो।।१६।। स्पर्श, शब्द, रूप, रस एवं गंध यह पांच ज्ञानेंद्रिय के पांच विषय होते हैं।।१७।। इन पांचो द्वार से ज्ञान बाहर दौड़ता है, हे अर्जुन! जैसे हरे घास में पशु भ्रमित होता है।।१८।। स्वरण, वर्ण, विसर्गका मुख से उच्चार करना, हाथ से गृहण करने की या त्याग करने की क्रिया करना, मलमूत्र का त्याग करना।।१९।। यह कर्मेंद्रिय के विशेष पांच विषय हैं, इन पांचों को बांधकर क्रिया का व्यवहार चलता है।।१२०।। हे वीरेश! यह दस विषय इस देह में होते हैं, अब इच्छा क्या होती है यह बताऊंगा।।२१।। पूर्व अनुभव का स्मरण कान में शब्द का उच्चारण, होते ही मन में जो वृत्ति उत्पन्न होती हैं।।२२।। वह इंद्रियाँ एवं विषयों की भेंट होती है, तत्क्षण काम का हाथ पकड़कर जो वृत्ति उत्पन्न होती है।।२३।। जहाँ जो वृत्ति उत्पन्न होती है वहाँ मन दौड़कर पहुँचता है, जहाँ प्रवेश करना नहीं चाहिये वहाँ इंद्रियाँ पहुँचती हैं।।२४।। जिस वृत्ति की संगति बुद्धि को भ्रमित करती है, जो विषयों में नित्य आसक्त रहती है वही इच्छा है।।२५।। यह इच्छा जैसी उत्पन्न होती है उसकी यदि पूर्ति संभव नहीं हुई, तो हे अर्जुन! वह वृत्ति द्वेष उत्पन्न करती

Funding by IKS-MoE

अर्जुन। जानो द्वेष वही।।२६।। अब आगे सुनो सुख। वह एवंविध देख। जिस एकसे अशेख। विस्मरत जीव।।२७।। कायावाचा मन। लेकर अपनी आन। देहभाव का स्मरण। नाशत जो।।२८।। जब होवे प्राप्त। प्राण पंगु होवत। सात्विक वृत्ति दुगनत। होत लाभ।।२९।। अशेष इंद्रियवृत्तियां पार्थ। हृदयान्तर में समेटत। सहलाकर सुलावत। एकान्त में जो।।१३०।। किंबहुना जहां आश्रय। आत्मा से जीवका होय। वहां जो अनुभव। नाम सुख उसको।।३१।। और ऐसी यह व्यवस्था। यदि न पावे पार्था। वह जीव की अवस्था। दुःख जानो।।३२।। मनोरथ संग से न प्राप्त। अन्यथा सिद्ध स्वतः। ये दोनों उपाय पार्थ। सुख दुःख के।।३३।। अब असंग को साक्षीभूत। देह में चैतन्य की जो सत्ता। उसको नाम पंडुसुता। चेतना यहां।।३४।। जो नखशिखान्त। खड़ी शरीर में जागृत। जो तीनों अवस्थान्तर्गत। अपरिवर्तित।।३५।। मनबुद्ध्यादि समस्त। जिससे सदा प्रफुल्लित। प्रकृति वन माधव सी पार्थ। सदोदित जो।।३६।। जड़ चेतन में समग्र। समरूप में संचार। चेतना वह साचार। निस्संशय।।३७।। राजा परिवार न जानत। आज्ञा मात्र से करे परचक्र परास्त। पूर्णचंद्र से समुद्र को प्राप्त। ज्वार जैसा।।३८।। अथवा भ्रामक का सन्निधान। लोहको करे सचेतन। सूर्यसंग से जान। व्यवहार सब।।३९।। और मुखमेल बिन। प्रिय शिशुका पोषण। करत दृष्टि निरीक्षण-। कुर्मी जैसे।।१४०।। उसके समान पार्थ। शरीर में आत्म संगत। जड़ वस्तुको सचेत। करत जो।।४१।। तब उसको चेतना। कहत हे अर्जुन। अब धृति विवेचना। भेद सुनो।।४२।। वैसे भूतों में परस्पर। स्पष्ट जाति स्वभावं बैर। क्यों न पृथ्वी को नीर। नाशत सहज।।४३।। नीरको शोषत तेज। तेज की वायु से झूंझ। और गगन तो सहज। भक्षत वायुको।।४३।। वैसे किसी भी काल। न होवे किसी से भी मेल। ओतप्रोत किन्तु पृथक सकल। से आकाश यह।।४३।। ऐसे ये पांचों भूत। एकदूजे को न सहत। किन्तु जब ऐक्य पावत। होत देह।।४६।। द्वंद का विवाद पार्थ। छोड़कर रहत एकत्र। परस्पर को पोषत। निज अंगगुण से।।४७।। इसविध जो असंभव। हो जिससे संभव। ऐसा जो भाव। धृति वह।।४८।। और जीवसहित पांडव। इन छत्तीसों का समुदाय। जानिये यहां वह। संघात नाम।।४९।। एवं छत्तीस भेद। तुझको किये विशद। सब मिलकर प्रसिद्ध। सो क्षेत्र यह।।१५०।। विभिन्न रथांग पार्थ। मिलकर संज्ञा रथ। अधोर्ध्व अवयव को समस्त। नाम देह।।५१।। करि तुरंग समाज। उसको सेना संज्ञा सहज। अथवा वाक्य माने पुंज। अक्षरों का ।।५२।। या जलधरों का मेल। कहत उसे अभ्र निखिल। नानालोक समुदाय सकल। को संज्ञा जग।।५३।।

अथवा वन्ही स्नेह सूत्र। मेल जब एकत्र। कहत लोक समस्त। दीप उसको।।५४।। वैसे छत्तीस ये तत्त्व। पावन जिससे एकत। वह समूह-परत्व। को कहिये क्षेत्र।।५५।। भौतिक यहां भ्रमत। पाप पुण्य उपजत। अतः कौतुक से इसे

है।।२६।। अब सुख क्या है इसके आगे सुनो, वह इस पक्रार का है इस एक के योग से जीव सब भूल जाता है।।२७।। शरीर, वाणी, मन के व्यापार बंद होते हैं, देहभाव का स्मरण नहीं होता।।२८।। जब यह सुख प्राप्त होता है तब प्राण शान्त होता है, सात्विक वृत्ति दुगुनी बढ़ती है ऐसा लाभ होता है।।२९।। हे पार्थ! इंद्रियों की सब वृत्तियाँ हृदय के भीतर समेट कर उस एकान्त में सहलाकर-दुलारकार सुलाती हैं।।१३०।। यहाँ जीव को आत्मा का लाभ होता है, वह जो आलौकिक अनुभव है उसी का नाम सुख है।।३१।। हे पार्थ! ऐसी स्थिति यदि प्राप्त न हुई तब जीव की वह अवस्था दुःखप्रद होती है।।३२।। वह सुख मनोरथ की संगति में प्राप्त नहीं होता, अन्यथा वह स्वतः सिद्ध है, (मन की स्थिरता एवं चंचलता) यह दोनो उपाय हे पार्थ! सुख-दुख के कारण हैं।।३३।। हे पंडुसुत! असंग साक्षी ऐसा जो चैतन्य उसकी देह में जो सत्ता है, उसको यहाँ चेतना नाम है।।३४।। जो नखशिख नित्य जागृत रहती है, जो तीनों अवस्थाओं में बदलती नहीं।।३५।। मन, बुद्धि आदि जिसके कारण प्रसन्न रहते है, प्रकृति (शरीर) रूपी वन का वह बसंतऋतु है।।३६।। जिसका जड़ चेतन में समान रूप से संपूर्ण संचार रहता है, वह निःसंशय चेतना है।।३७।। अपना सैन्य कितना है यह न जानते हुये भी राजा की आज्ञा परचक्र का निवारण करती है, या पूर्ण चंद्रमा का उदय होते ही समुद्र में ज्वार आता है।।३८।। अथवा चुंबक का साथ लोहे को गतिमान करता है, या सूर्य की संगति लोगों को अपने व्यवहार कराती है।।३९।। कूर्मी-कच्छपी जैसी अपने प्रिय शिशु का पालन केवल दृष्टि से मुख का स्पर्श किये बिना करती है।।१४०।। हे पार्थ! उसके समान ही इस शरीर में आत्मा की संगति जड़ देह को चेतनता देती है।।४१।। हे अर्जुन! तब उसको चेतना कहते है, अब धृति का विवेचन उसके भेद सहित सुनो।।४२।। पंच महाभूतों में जाति स्वभाव के अनुसार आपस के स्पष्ट बैर भाव हैं, किन्तु (चारो तरफ से घेरकर) समुद्र पृथ्वी का नाश सहज क्यों नहीं करता?।।४३।। जल का शोषण तेज करता है, तेज एवं वायु में युद्ध है, आकाश वायु को स्वाभाविक निगल जाता है।।४४।। किसी भी काल में किसी से भी इनका मेल नहीं होता, सबने ओतप्रोत भरा होने पर भी आकाश सबसे पृथक होता है।।४५।। ऐसे यह पंचमहाभूत एक दूजे को सहते नहीं, किन्तु जब उनका ऐक्य होता है, जब देह की निर्मिति होती है।।४६।। हे पार्थ! भेदभाव का विवाद छोड़कर सब एक साथ रहते है, अपने स्वाभाविक गुण से एक दूसरे का पोषण करते है।।४७।। इस प्रकार जो असंभव है, उससे ही उत्पत्ति होती है, ऐसा जो भाव वही धृति या धैर्य है।।४८।। और हे पांडव! जीव सहित इन छत्तीसों का जो समूह है, उसको ही संघात यह नाम है।।४९।। अतः यह छत्तीस भेद तुम्हे स्पष्ट करके बताये है, सब मिलकर यह सुप्रसिद्ध क्षेत्र है।।१५०।। हे पार्थ! विभिन्न विभाग मिलकर जैसा रथ नाम है, वैसे उपर नीचे के सब अवयव मिलकर देह कहलाता है।।५१।। हाथी घोड़े आदि के समूह को सैन्य नाम है, अथवा वाक्य अक्षरों का समूह।।५२।। ढगों के समूह को ही सब अभ्र कहते है, विविध प्रकार के समस्त लोगों को एकत्र जग यह नाम है।।५३।। अथवा तेल, बत्ती, अग्नि को जब एकत्रित करके रखा जाता है तब उसको सब लोग दीपक कहते हैं।।५४।। वेसे यह छत्तीस तत्त्वों का जिससे एकता प्राप्त होती है, तब समूह परत्व से उसे क्षेत्र कहते हैं।।५५।। भौतिक देह यहाँ श्रम करता है, उससे पाप पुण्य उत्पन्न होता है, अतः कौतुहल से

Funding by IKS-MoE

कहत। क्षेत्र हम।।५६।। और अन्यों का मत। इसको देह कहत। ऐसे कई अनंत नाम इसको।।५७।। परतत्त्वपूर्व पार्थ। स्थावर जंगम समस्त। जो जो सृजत नाशत। क्षेत्र ही वह।।५८।। किन्तु सुर नर उरग। जो उपजत योनी विभाग। उसका गुणकर्मसंग। कारण जानो।।५९।। यही गुण विवेचन। आगे कहूं अर्जुन। सांप्रत तुझको ज्ञान-। रूप दिखाऊं।।१६०।। क्षेत्र यह सविस्तर। कथित साविकार। इसीलिये अब उदार (उत्तम)। सुनो ज्ञान।।६१।। जिस ज्ञान प्रीप्त्यर्थ। योगी गगन निगलंत। स्वर्ण का आडा पँथ। लांघकर।।६२।। सिद्धि न करत चाड (आस)। ऋद्धिकी न धरत भीड़। योगमार्ग कठोर दृढ़। मानत तुच्छ।।६३।। तपोदुर्ग लांघत। क्रतुकोटि निछावर करत। समूल उखाड़त। कर्मवल्ली।।६४।। नाना भजन मार्ग से। धावत उघारे अंग से। एक रीगत सुरंगे में जैसे। सुषुम्नाके।।६५।। ऐसा जो ज्ञान। उत्कंठित मुनिमन। वेदतरू पर करत भ्रमण। पर्ण-पर्ण में।।६६।। गुरू सेवा में अर्जुन। लभत बुद्धिज्ञान। जन्मशत का फेरा पूर्ण। नाशत जो।।६७।। जिस ज्ञान का प्रवेश। नाशत अविद्या निःशेष। जीवात्म ऐक्य अशेष। करावे जो।।६८।। इंद्रियद्वार बंद करत। प्रवृत्ति के पाव तोड़त। जो दैन्य चिन्ता नाशत। मनकी पूर्ण।।६९।। द्वैत का दुष्काल देखत। साम्य का सुकाल होत। जिस ज्ञानप्राप्ति से लभत। सुविधा ऐसी।।१७०।। मद का ठाँव नाशत। महामोह को ग्रासत। आप पर भाषा की बात। रहत न शेष।।७१।। संसार का उन्मूलन। संकल्प पंक नष्ट पूर्ण। देत ज्ञेय को आलिंगन। अनावर को जो।।७२।। जिसके ज्ञान से पार्थ। प्राण पंगु होत। जिसकी सत्ता से यह समस्त। जग व्यापार।।७३।। प्रकाश से जिसके। खुलत नेत्र बुद्धि के। सागर में आनंद के। निमग्नजीव।।७४।। ऐसा जो ज्ञान। पवित्रैक निधान। जहां विषयमलिन मन। होत शुद्ध।।७५।। आत्मा को जीवबुद्धि। ग्रासत क्षयव्याधि। वह जिसके सन्निध त्रिशुद्धि। निरामय होत।।७६।। उस अरूप का निरूपण। बुद्धि से जानो संपूर्ण। दृष्टि को इसका दर्शन। असंभव।।७७।। जब वही शरीर में इस। दिखावें अपना प्रभाव विशेष। तब इंद्रियव्यापार में अशेष। गोचर दृष्टि को।।७८।। बसंत का आगमन। सूचित करे तरुका ताजापन। वैसे इंद्रिय व्यापार से ज्ञात पूर्ण। ज्ञानप्राप्ति।।७९।। देखो वृक्ष के तल में। जल पहुँचत मूलं में। शाखाविस्तार के रूप में। बाहिर दिखत।।१८०।। अथवा भूमी का मार्दव। कोपल की कोमलता पांडव। नाना आचार गौरव। सुकुलीन का।।८१।। अथवा स्नेह आदरातिथ्य से। होवे व्यक्त जैसे। जानिये दर्शनप्रशस्ति से। पुण्य पुरुष।।८२।। कदली से कर्पुर उत्पन्न। परिमल से प्रतीत पूर्ण। कांचगृह में स्थित दीप अर्जुन। प्रकाशत बाहिर।।८३।। वैसे जब प्रकट हिय में ज्ञान। देह में दिखत चिन्ह। वे सब कहूँ संपूर्ण। सुनो सावधान।।८४।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौच स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

Funding by IKS-MoE

हम उसे क्षेत्र याने खेत कहते हैं।।५६।। अन्य लोग इसको देह कहते हैं, ऐसे इसके अनन्त नाम हैं।।५७।। हे पार्थ! परतत्व के पूर्व, स्थावर जंगम-जड़ चेतन के बीच सब जो कुछ उत्पन्न होता है,उसका नाश भी होता, वह सब क्षेत्र है।।५८।। गुण एवं कर्म की संगति में देव, मनुष्य सांप आदि जाति के अनुसार इस क्षेत्र की रचना होती है, उसका कारण जान लेना।।५९।। हे अर्जुन! गुणों का यह विचार तुम्हें आगे समझाऊंगा, अभी तुम्हें ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करके बताता हूँ।।१६०।। तुम्हें क्षेत्र विकारों के साथ विस्तार से बताया है, अब उत्तम ज्ञान सुनो।।६१।। इस ज्ञान प्राप्ति के लिये योगी जन स्वर्ग का टेढ़ा रास्ता छोड़कर आकाश को आत्मसात करते हैं (मूर्ध्नि आकाश का लय करते है)।।६२।। सिद्धियों की इच्छा नहीं करते, ऐश्वर्य की पर्वा नहीं करते, योग मार्ग दृढ़ कष्ट साध्य होते हुये भी उसको तुच्छ समझते हैं।।६३।। (इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये) जपश्वर्यारूपी दुर्ग लांघकर आगे निकल जाते है, कोटि यज्ञ को निछावर कर देते हैं,एवं कर्मरूपी लता को जड़ से उखाड़ फेंकते हैं।।६४।। कोई भक्त (अंतर्बाह्य परिग्रह का त्याग करके) नंगे बदन से दौड़ लगाते हुये; भजन मार्ग से जाते हैं, कोई भक्त सुषुम्ना के सुरंग में प्रवेश करते है।।६५।। ऐसा जो ज्ञान है, मुनि श्रेष्ठ उस ज्ञान के लिये उत्कंठित रहते हैं, उस ज्ञान प्राप्ति के लिये वेदरूपी वृक्ष के पत्ते-पत्ते छांन डालते हैं, (वेदों का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं)।।६६।। हे अर्जुन! श्री गुरू सेवासे वह ज्ञान प्राप्त होगा, सौ जन्म का आने-जाने के फेरे का पूर्ण नाश करेगा।।६७।। जिस ज्ञान की प्राप्ति में संपूर्ण अज्ञान का नाश होता है, जीव एवं आत्मा का संपूर्ण ऐक्य जो करा देता है।।६८।। इंद्रियों के आसक्ति का द्वार बंद करता है, प्रवृत्ति के पैर तोड़ता है, जो मन का दैन्य एवं चिंता का संपूर्ण नाश करता है।।६९।। भेदभाव का अकाल समाप्त होता है, समता की विपुलता होती है, उस ज्ञान से ऐसी स्थिति प्राप्त होती है।।१७०।। वह ज्ञान उन्मत्त भाव का जड़ से नाश करता है, महाभ्रान्ति को समूल नष्ट करता है अपना पराये का भाव शेष नहीं रहने देता।।७१।। संसार को उखाड़ता है, संकल्परूपी कीचड़ साफ करता है, अनाकल्पनीय परब्रह्म को आलिंगन देता है।।७२।। हे पार्थ! जिस ज्ञानप्रकाश में बुद्धि के नेत्र खुलते हैं, आनंद सागर में जीव तल्लीन हो जाता है।।७४।। ऐसा जो ज्ञान है, वह पवित्रता का निधान है, (वह ज्ञान प्राप्त होने पर) विषयों से दूषित मन शुद्ध होता है।।७५।। देह बुद्धि आदि अनात्म पदार्थ मेरा स्वरूप हैं ऐसा जीव बुद्धि का क्षय रोग आत्मा को हुआ था, वह जिसके संगति में शुद्ध होकर निरोग होता है।।७६।। उस ज्ञान का निरूपणं बुद्धि से संपूर्ण जानना-। दृष्टि को इसका दर्शन, असंभव है।।७७।। जब वही ज्ञान इस शरीर में अपना विशेष प्रभाव दिखाने लगता है, तब इंद्रियों के व्यवहार से वह दृष्टि को दिखते लगता है।।७८।। वृक्ष के ताजगी से वसंत ऋतु का आगमन पहिचाना जाता है, तद्वत ज्ञानी जनों की इंद्रिया उनके ज्ञान का अस्तित्व प्रकट करती हैं।।७९।। वृक्ष जड़ से पानी ग्रहण करता है, वह दिखाई नहीं देता, किन्तु शाखाओं के विस्तार से बाहर दिखाई देता है।।१८०।। हे पांडव! अंकुर की कोमलता भूमि का मार्दव प्रकट करती है। उत्तम कुलीनता उत्तम आचार, व्यवहार से श्रेष्ठता बताती है।।८१।। आदरातिथ्य से स्नेह प्रकट होता है, दर्शन के समाधान से पुण्य पुरुष पहचाना जाता है।।८२।। कर्दली से कर्पूर उत्पन्न होता है, उसका पता सुवास से लगता है। हे अर्जुन! कांच के घर में दीप रखने से उसका प्रकाश जैसा बाहर भी फैलता है।।८३।। वैसे जब हृदय में ज्ञान प्रकंट होता तब देह में जो लक्षण दिखाई देते है उनको सब संपूर्ण कहता हूं, सावधान चित्त से सुनो।।८४।।

* * *

हे अर्जुन! श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दंभाचरण का अभाव, प्राणिमात्र को किसी भी प्रकार से नहीं सताना, और क्षमाभाव तथा मन, वाणी की सरलता, श्रद्धाभक्ति सह श्रीगुरू सेवा, अंतर्बाह्य शुद्धि, अंतःकरण की स्थिरता, मन एवं इंद्रियों के साथ शरीर निग्रह।।७।।

Funding by IKS-MoE

किसी भी विषयों की प्राप्ति। न वांछत जिसकी मति। प्रतिष्ठा और कीर्ती। माने बोझ जो।।८५।। स्वगुण कीर्ति का वर्णन। लोगों से मान सम्मान। अपनी योग्यता की चर्चा अर्जुन। होवे जब।।८६।। तब वह घबराये कैसा। व्याघ्र से रोधित मृग जैसा। अथवा भंवर में फंसा। तैराक कोई।।८७।। पार्थ उसके समान। सम्मान माने संकट महान। गरिमा को पास जान। आने न दे जो।।८८।। न देखे पूज्यता स्वचक्षुसे। न सुने स्वकीर्ति कर्ण से। अपने व्यक्तित्व की स्मृति लोगों से। न चाहत जो।।८९।। वहां सत्कार की क्या बात?। कैसा आदर सहेगा पार्थ। मरणसम अन्यों का मानत। प्रणाम जो।।१९०।। वृहस्पति समान। सर्वज्ञता अंग में विद्यमान। किंतु बावला बनत. अर्जुन। महिमा भय से।।९१।। चातुर्य छिपावत। महत्व खोवत। उन्माद सेवत। सप्रेम जो।।९२।। लौकिक का उद्वेग धरत। शास्त्रार्थ को टालत। मौन पर जोर देत। धनुर्धर।।९३।। जग अवज्ञा करे। संबंधी संगत न धरे। ऐसे रखत मन में सारे। विकल्प बहु।।९४।। हीनता करत धारण। माने वही भूषण। ऐसी क्रिया बहुधा अर्जुन। करत जो।।९५।। स्वतः जीवित ना मृत। धारणा ऐसी जन करत। ऐसा रहे वर्तन सतत। यही आशा उसकी।।९६।। यह चलत अपने पांव से। या लुढकत वायुवेग से। लोग माने ऐसे। चाहत जो।।९७।। मेरे अस्तित्व का होवे नाश। होवे नाम रूप निःशेष। मुझसे भय न पावे अशेष। प्राणिजात।।९८।। मन्नत मांगे ऐसी मति। नित्य एकांत की प्रीति। विजन स्थल ही। किरीटी।।९८।। जीवन जिसका चलत वायु अनुरोध से। करे संभाषण गगन से। जीवप्राण सम प्रिय जैसे। मानत वृक्ष जो।।२००।। किंबहुना ऐसे चिन्ह। जिसके अंग में अर्जुन। ज्ञानशय्या में शयन। करे वह।।१।। पुरुष का अमानित्व। जानो इसी मिष से पार्थ। अब अदांभिकत्व का गूढार्थ। कहूं तुझको।।२।। तब अदांभिकत्व वह ऐसा। लोभी का मन जैसा। जी जावे किंतु न कहे सहसा। द्रव्य भूमिगत।।३।। उस सम अर्जुन। चाहे संकट में पड़े प्राण। न करत अपना सुकृत वर्णन। अंग मुख से।।४।। लतखोर गैया अर्जुना।? चुरावत दुग्ध अपना। या चुरावे पण्यांगना। प्रौढ़त्व उसका।।५।। धनी बन में विपदाग्रस्त। करत न अपना धन प्रकट। अथवा कुलवधु आच्छादत। अवयव अपने।।६।। नाना बीज बोवत कृषीवल। मिट्टी से ढाकत सकल। वैसे छिपावत कृत निखिल। दानपुण्य अपना।।७।। पुनः-पुनः देह न भूषवत। लोकार्जव कभी न करत। स्वकर्म का न बजावत। डंका स्वतः।।८।। पर उपकार न कहत। विद्या अपनी न दर्शवत। कभी न उसको बेचत। स्फीति के लिये।।९।। शरीर भोगार्थ। कृपण सम पार्थ। परंतु धर्मकायार्थ। लुटावे सब।।२१०।। घरमें सदा दैन्य। शरीर कृत संपूर्ण। किंतु दान में करे होड़ अर्जुन। सुरतरु से वह।।११।। स्वधर्म में तत्पर। अवसर में उदार। आत्मचर्चा में चतुर। बावला अन्यथा।।१२।। कदली का पेड़ अर्जुन। दिखत पोला पूर्ण। किंतु फल ठोस धन। रसभरित जैसा।।१३।। मेघांग अतिविरल। भासत

Funding by IKS-MoE

कौन से भी विषयों में उसकी बुद्धि किसी प्रकार की इच्छा नहीं करती, प्रतिष्ठा एवं कीर्ति का उसको बोझ होता है।।८५।। स्वयं के गुणों की कीर्ति का वर्णन या लोगों से मान सम्मान, हे अर्जुन! जब अपनी योग्यता की चर्चा होती है।।८६।। तब वह घबरा जाता है, जैसा मृग व्याध के द्वारा मार्ग रोकने से घबरा जाता है, भँवरे में तैरनेवाला फंस जाने पर जैसा घबराता है।।८७।। हे पार्थ! तद्वत उसका सम्मान महान संकट प्रतीत होता है, श्रेष्ठता को अपने पास आने नहीं देता।।८८।। अपनी पूज्यता अपने नेत्रों से नहीं देखता, अपने कान से अपनी कीर्ति श्रवण नहीं करता, अपने व्यक्तित्व का स्मरण लोगों को रखने की इच्छा वह नहीं करता।।८९।। वहाँ सत्कार कराने की क्या बात है? हे पार्थ! उससे आदर सहा नहीं जाता, दूसरे ने किया हुआ प्रणाम वह मृत्यु के समान समझता है।।१९०।। वृहस्पति के समान सब ज्ञान उसको प्राप्त है, किन्तु हे अर्जुन! श्रेष्ठता मिलने के भय से वह बावलापन के आवरण में रहताहै।।१९१।। चतुरता छिपाता है, श्रेष्ठता छोड़ता है, अत्यंत प्रेम से बावलापन धारण करता है।।९२।। लौकिक प्रसिद्धि की घृणा उसको है। शास्त्रों का विवेचन वह टालता है। हे धनुर्धर! मौन रहने पर उसका जोर रहता है।।९३।। जब अपनी अवज्ञा करे, आत्मीयजन अपनी संगति में न रहे, ऐसी उसके मन की इच्छा होती है।।९४।। उसमें सब बात की कमी है, यही वह भूषण समझता है, हे अर्जुन! इस प्रकार का व्यवहार वह रकता है।।९५।। यह जीवति है, या मृत ऐसी धारणा लोग करेंगे ऐसा उसका आयुष्य क्रम रहे ऐसी वह आशा करता है।।९६।। वह अपने पैर से चलता है या नहीं, या वायु से लुढ़कता है ऐसा लोगों ने समझना चाहिये उसकी इच्छा होती है।।९७।। मेरे अस्तित्व का नाश होवे, मेरा नाम एवं रूप किसी को याद न रहे, प्राणिमात्र को मेरा भय प्रतीत न होवे।।९८।। हे किरीटी! ऐसी जो मानता माँगता है, उसको नित्य एकान्त प्रिय होता है, अरण्य वास ही उसका जीवन बनता है।।९९।। वायु के अनुकूल चलता है, आकाश के साथ बातें करता है, वृक्ष को अपने जीव एवं प्राण समान समझता है।।२००।। हे अर्जुन! ऐसे लक्षण जिसके शरीर में दिखाई देते हैं वह ज्ञानशय्या पर सोता है ऐसा समझना चाहिये।।१।। हे पार्थ! पुरुष का अमानित्व गुण इन लक्षणों से जानना चाहिये, अब अदांभिकत्व का गूढ़ अर्थ तुम्हें कहूँगा।।२।। अदांभिकत्व ऐसा है, लोभी का मन जैसे अपने धन में आसक्त रहता है, प्राण निकल जाये किन्तु गड़े धन का स्थान नहीं बतावेगा।।३।। हे अर्जुन! संकट आने पर भी कृपण जैसा किया हुआ पुण्य कर्म बताता नहीं।।४।। लतखोर गैया जैसी दूध छुपाकर स्तन में ही रहने देती है, या प्रौढ़ वैश्या अपनी अपनी अवस्था प्रकट करना नहीं चाहती।।५।। विपत्ति आने पर भी धनिक अरण्य में अपना धन प्रकट नहीं करता, या कुलवधू अपने अवयव वस्त्र से ढाँक लेती है।।६।। किसान विविध प्रकार का जो कुछ बीज बोते हैं, उसको वे मिट्टी से ढाँक देते हैं, वैसे साधक जो कुछ दान, पुण्य उन्होंने किया होगा उसको वे संपूर्ण छिपाते है।।७।। पुनः-पुनः देह को वे सजाते नहीं, लोकों की चापलूसी वे नहीं करते, जो कर्म किया होगा उसका अपने मुख से डंका नहीं बजाते (फुशारकी नहीं मारते)।।८।। दूसरों पर किया हुआ उपकार अपने मुख से नहीं कहते, अपना ज्ञान भी प्रकट नहीं करते, कीर्ति प्राप्त करने के लिये उसको कभी बेचते नहीं।।९।। हे पार्थ! शरीर भोगों के प्रति वह कृपण दिखता है, धर्म कार्य के लिये वह सब कुछ लुटा देता।।२१०।। घर में नित्य दारिद्रय रहता है, शरीर अत्यंत कृश होता है किन्तु हे अर्जुन! दान करने के लिये वह कल्पवृक्ष से होड़ लगाता है।।११।। स्वयं के धर्म का पालन करने के लिये नित्य तैयार रहता है, योग्य प्रसंग में वह उदार रहता है, आत्म चर्चा करते समय उसकी चतुरता प्रकट होती है, अन्यथा वह बावला बना रहता है।।१२।। हे अर्जुन! केले का पेड़ पूर्ण पोला दिखता है, किन्तु उसके फल ठोस एवं रसभरित होते हैं।।१३।। मेघ अत्यंत हलके विरल होतेहैं, हवा उसको बहाकर ले जाती ऐसा दिखता है किन्तु ठोस ओले की जब वर्षा करते हैं तब आश्चर्य प्रतीत होता

सच्चिदानंद गोविंदम्
जय जय माधव कृष्णं

वायु से गतिशील। किंतु जब वर्षत नवल। ओले धन॥१४॥ वैसा उसका पूर्णत्व। देख बुद्धि के नयन तृप्त। वाणी को एकमेव पार्थ। विषय जो॥१५॥ इन लक्षणों का अर्जुन। नटनाच जिसमें पूर्ण। जानो संपूर्ण। ज्ञान हस्तगत उसको॥१६॥ अदांभिकत्व जिसे कहत। कथित वह यथार्थ। अब सुनो लक्षण पार्थ। अहिंसा तुम॥१७॥ भिन्न-भिन्न मतांतर। अपने ढंग से प्रकार। अनेकानेक साचार। बरनत सब॥१८॥ किंतु वह विचित्र ऐसी। तोड़कर समस्त शाखा जैसी। बनाना मेढ़ सार्थ उसी। वृक्ष को जैसे॥१९॥ या बाहु काट के पकाना। तब क्षुधा शमवाना। नाना मंदिर तोड़कर बनाना। प्रांगण देवको॥२२०॥ वैसे हिंसा ही करके अहिंसा। करिये यह भाव ऐसा। निर्णय पूर्व मीमांसा। इसविध करत॥२१॥ होवे अवृष्टिका उपद्रव। त्रसित जब संपूर्ण विश्व। करता पर्जन्येष्टि सर्व। यज्ञयाग॥२२॥ तब उस इष्टि का जड़। पशुहिंसा रोकड। तब अहिंसा का तीरदृढ़। पावे कैसे?॥२३॥ बोइये केवल हिंसा। वहां क्या ऊगत अहिंसा?। किंतु सुनो नवल धैर्य कैसा। इन याज्ञिकों का?॥२४॥ और आयुर्वेद में पूर्ण। ऐसा ही क्रम अर्जुन। जो जीवके कारण। करत जीवघात॥२५॥ नाना रोग से ग्रस्त। देखकर भूतमात्र पीड़ित। हिंसा निवारणार्थ करत। चिकित्सा उनकी॥२६॥ औषधि योजना प्रीत्यर्थ। एकका कंद खोदत। एक को उखाड़त। समूल सपत्र॥२७॥ एकको मध्य में मोड़त। अजंगम की खाल निकालत। एक गर्भिणिको उबालत। संपुट मध्ये॥२८॥ अजात शत्रु तरुवर को। चिरा देत सर्वांग को। सत्व निचोड़कर उसको। करत शुष्क॥२९॥ और जंगम को हस्त। लगाकर निकालत पित्त। इसविध बचावत पीड़ित-। जीव अन्य॥२३०॥ अहो रहने का यदि घरबार। तोड़कर बनाया मंदिर। न निभाया व्यवहार। डाला अंत सत्र॥३१॥ मस्तक पूर्ण ढाकत। नीचे सारा अंग उघारत। घर तोड़कर बाधत। मंडप आंगन में॥३२॥ नाना वस्त्र प्रावरण। जलाकर तपत अर्जुन। अथवा करावत स्नान। कुंजरो को॥३३॥ बेचकर ढोर बांधे सार। पिंजरा बनावे शुक को भगाकर। क्या यह काम या चेष्टा असार। हास्यास्पद॥३४॥ कोई संप्रदाय अनुसरत। छना पानी पीबत। छनन को जब निचोड़त। भरत असंख्य जीव॥३५॥ कोई न भक्षत कण। हिंसा के भय से अर्जुन। उनके व्याकुल होत प्राण। वह भी हिंसा॥३६॥ एवं हिंसा ही अहिंसा। कर्मकांडी वह ऐसा। सिद्धांत सुमनस। जानो तुम॥३७॥ जब अहिंसा के नाम। निरूपण सोचा प्रथम। तब बुद्धिको भाया अर्जुन। इस विध सब॥३८॥

किंतु इसे त्यागिये कैसे?। अतः वर्णन किया ऐसे। होगा बोध तुमको जिससे। भाव यही॥३९॥ बहुत करके किरीटि। करे यही विषय चर्चा मन्मति। अन्यथा आडमार्ग से कोई व्यक्ति। जावेगा क्यों?॥२४०॥ और स्वमत का निर्धार। स्थापित करने धनुर्धर। अन्य मतमतान्तर-। का खंडन युक्त॥४१॥ इसविध निरूपण की सत्य। कहने की यही स्पष्ट रीत। अब इस विषय में मुख्य मत। सुनो

है।।१४।। वैसे पूर्णता की दृष्टि से उस साधक को देखकर बुद्धि एवं नेत्र तृप्त होते हैं, हे पार्थ! वाणी से बोलने के लिये एकमात्र विषय वही होता है।।१५।। हे अर्जुन! इन गुणों का उत्कर्ष जिसमें होगा, उसको संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा समझना।।१६।। इसको अदांभिकत्व कहते हैं, वह तुम्हें स्पष्ट रूप से बताया है, हे पार्थ! अब अहिंसा का लक्षण सुनो।।१७।। अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये विविध प्रकार से, अहिंसा के विषय में, अपने ढंग से, अनेक लोगों ने वर्णन किया।।१८।। किन्तु उन्होंने ऐसी विचित्र अहिंसा बताई है कि जैसे समस्त शाखा तोड़कर वृक्ष के तल में मेढ़ (बाड़) की हो।।१९।। अथवा हाथ तोड़कर उसे बेचकर भूख शान्त करने जैसी है, या मंदिर तोड़कर मंदिर के चारों तरफ दीवाल बनाने जैसी।।२२०।। हिंसा करके अहिंसा करना ऐसा निर्णय पूर्व मीमांसा शास्त्र ने किया है।।२१।। वर्षा न होने से संपूर्ण विश्व को कष्ट होता है, अतः वर्षा होने के लिये पर्जन्य वृष्टि करने वाले (कारीर-यज्ञ) यज्ञयाग करना चाहिये।।२२।। प्राणिमात्र के रक्षण के लिये किये जाने वाले इस यज्ञ के प्रारंभ में बलिहिंसा की जाती है; अतः अहिंसा का पैलतीर कैसे दिखेगा?।।२३।। केवल हिंसा बोते हैं, वहाँ क्या अहिंसा की फसल आयेगी? इन याज्ञिकों का शौर्य आश्चर्यकारक है।।२४।। हे अर्जुन! वैद्यक शास्त्र, आयुर्वेद भी ऐसा ही है, एक जीवन का रक्षण करने के लिये दूजे जीवन का घात करता है।।२५।। विविध रोगों से आक्रान्त रोगियों को दुःखी देखकर हिंसा का निवारण करने के लिये, हे पार्थ! उनकी चिकित्सा करते हैं।।२६।। औषधि योजना करने के लिये एक का कंद खोदकर निकालते हैं, एक पौधे को जड़ से, पत्ते सहित उखाड़ते हैं।।२७।। एक को बीच में मोड़ते हैं, कुछ वृक्ष की खाल निकालते हैं, फल देने के समय (गर्भिणी) वृक्ष को आग के पुट देकर उबालते हैं।।२८।। वृक्ष तो अजात शत्रु होते हैं (उनका किसी के साथ शत्रुत्व नहीं होता) उनके शरीर पर जगह-जगह काटकर उनका संपूर्ण सत्व निचोड़कर उनको शुष्क बनाते हैं।।२९।। जीवित प्राणियों के भीतर हाथ डालकर उनका पित्ताशय निकालकर, अन्य पीड़ित जीवों की रक्षा करते हैं।।२३०।। रहने का घर-द्वार तोड़कर मंदिर बनाया, और व्यवहार न सम्हालते अन्नसत्र खोला।।३१।। नग्न शरीर होते हुये मस्तक पर पूर्ण आवरण होने से क्या फायदा? घर तोड़कर आंगन में मंडप को बनाना।।३२।। हे अर्जुन! विविध वस्त्रों को जलाकर ठंड तपने से क्या उपयोग? यह तो हाथी को स्नान कराने जैसा है (हाथी स्नान करते ही शरीर पर मिट्टी डाल लेता है)।।३३।। जानवरों को बेचकर उनके बांधने के लिये स्थान बनाना, या तोते को भगाकर उसके लिये पिंजड़ा बनाना, यह क्या हास्यास्पद चेष्टाएँ हैं?।।३४।। किसी संप्रदाय में पीने का पानी छानकर पीते हैं, छानन को निचोड़ने से असंख्य जीव मरते है।।३५।। हे अर्जुन! कोई हिंसा के भय से पकाया खाना नहीं खाते, उनके प्राण व्याकुल होते हैं, वह भी हिंसा है।।३६।। अतः हिंसा ही अहिंसा है, हे सुमनस! यह कर्मकाण्ड का सिद्धान्त तुम समझ लेना।।३७।। हे अर्जुन! अहिंसा नाम का निरूपण करने का प्रथम विचार किया तब बुद्धि को ये सब बातें बताने की स्फुर्ति हुई।।३८।। इन मतों को कैसे छोड़ दिया जाता? अतः उसका वर्णन किया, विभिन्न मतों की जानकारी तुम्हें होवे यही भाव इसके पीछे था।।३९।। हे किरीटी! मेरी बुद्धि से इसी विषय की चर्चा दिखाई देती है, अन्यथा प्रतिपादन का विषय छोड़कर अन्य विवरण कोई क्यों करेगा?।।२४०।। हे धनुर्धर! स्वयं के मत का प्रतिपादन करने के लिये अन्य लोगों के मतों का खण्डन करना आवयक रहता है।।४१।। अतः निरूपण करने की यही सत्य एवं स्पष्ट पद्धति है,

Funding by IKS-MoE

तुम ।।४२।। स्वमत जो कहूं पार्थ। अहिंसा का रूप यथार्थ। जब अंतःकरण में प्रकटत। ज्ञान मूर्त ।।४३।। जब अंग में अधिष्ठित पूर्ण। होत वैसा ही आचरण। जैसे कसौटि से करे निर्धारण। मूल्य स्वर्णकार ।।४४।। वैसी ज्ञानमन की जब भेंट। बिंब अहिंसा का पड़त। वही किरीटी स्पष्ट। सुनो अब ।।४५।। जल तरंग न उल्लंघत। लहरें पावसे न फोड़त। स्थिरता न मोड़त। पानी की पार्थ ।।४६।। वेग से किंतु हलके से। दृष्टि अभिषार्थ मृदुता से। जल में बक जैसे। डालत पांव ।।४७।। अथवा कमल में भ्रमर। रखे चरण मृदुतर। जो कचरत कोमल केसर। शंका से इस ।।४८।। वैसे परमाणुओं में सुकुमार। स्थिर जीव सूक्ष्म अपार। अतः करुणा भाव से चरण अधर। रखकर चलत ।।४९।। मार्ग से कृपा बरसत। दिशाओं में स्नेह भरत। जीवों के नीचे बिछावत। जीव अपना ।।२५०।। इसविध दक्षता से अर्जुन। करे जो आचरण। अनिर्वाच्य परिमाण। अनुपम जो ।।५१।। देखो अति स्नेह से। शिशु को बिल्ली पकड़े मुखसे। न लागत दंतव्रण जैसे। धनुर्धर ।।५२।। या माता स्नेहल पार्थ। शिशु की बाट निहारत। तब प्रेम दृष्टि में प्रकटत। अति मृदु जो ।।५३।। अथवा कमल पत्र से अर्जुन। डुलावत जब वीजन। प्राप्त नेत्र पुतली को समाधान। वायु से तब ।।५४।। वैसे मार्दव से पाव। भूमिपर रखत जाय। जिन जीवों को स्पर्शत होय। सुख उनको ।।५५।। ऐसे कोमलतासे चलत। कृमि कीटक यदि देखत। पीछे परिवर्तत त्वरित। मृदुता से जो ।।५६।। सोचे जोर से यदि पड़त पांव। निद्राभंग स्वामि का होय। स्वास्थ्य को पहुंचेगा घाव। निर्घात से उस ।।५७।। ऐसी करुणा सहित। मार्ग से निवर्तत। कृमि कीट पर न चलत। कदापि कभी ।।५८।। जीव के नाम से पार्थ। तृणको भी न उल्लंघत। करेगा किसी का घात। यह तो असंभव ।।५९।। चीटी न लांघे मेरुको। मशक न तैरे सिंधुको। वैसे न करे किसी प्राणि को। अतिक्रमण कभी ।।२६०।। ऐसी जिसकी चाल। कृपाफल से बहरत निखिल। वाणीसे अधिष्ठित केवल। दया मूर्त ।।६१।। स्वयं का श्वसन सुकुमार। मुख मोह का नैहर। माधुर्य को ऊगत अंकुर। दशन वैसे ।।६२।। सम्मुख स्नेह स्त्रवत। पीछे अक्षर चलत। शब्द पश्चात आवत। कृपा प्रथम ।।६३।। बहुधा न वह बोलत। यदि कभी बोले क्वचित। सोचत बोल न पहुंचावत। पीड़ा किसी को ।।६४।। कुछ न्यून अधिक। न होवे मर्मघातक। कोई न होवे साशंक। बोल से उस ।।६५।।

बिगड़े न आयोजित कार्य। भयभीत कोई न जागे कौंतेय। किसी को न आए संशय। मन में कभी ।।६६।। न होवे किसी को क्लेश। कोई भृकुटि न ताने वीरेश। ऐसा भाव मन में अशेष। इसलिये मौन ।।६७।। यदि प्रार्थित कदाचित। स्नेह से उनसे बोलत। तब श्रोताओं को होत। मातपिता वह ।।६८।। वह नादब्रह्म मूर्तिमंत। अथवा गंगोदक उछलत। या पतिव्रता को प्राप्त। वृद्धत्व जैसे ।।६९।। वैसे

Funding by IKS-MoE

अब इस विषय में प्रमुख मत सुनो ।।४२।। हे पार्थ! अहिंसा का योग्य सत्य स्वरूप क्या है इस विषय में मेरा मत अब कहता हूँ, जब अंतःकरण में मूर्त ज्ञान प्रकट होता है।।४३।। कसौटी का पत्थर से सुवर्णकार जैसे सुवर्ण के मूल्य का निर्धारण करता है, वैसे जब अहिंसा पूर्ण आत्मसात होती है तब वैसा ही उसका आचरण होता है।।४४।। जब ज्ञान एवं मन का मिलन होता है तब तब अहिंसा बिंब हृदय में प्रतिबिंबित होता है हे किरीटी! वही बात अब स्पष्ट सुनो।।४५।। तरंग जल का उल्लंघन नहीं करते, चरणों से उसको नहीं फोड़ते, हे पार्थ! पानी की स्थिरता नहीं मोड़ती।।४६।। शीघ्र गति से किन्तु सम्हालकर, अत्यंत कोमलता से, अमिष पर दृष्टि रखकर, बगुला जैसे जल में पैरे रखता है।।४७।। अथवा कमल में भ्रमर अत्यंत कोमलता से चरण रखता है, कोमल केसर को धक्का लगेगा इस आशंका से वह डरता है।।४८।। वैसे परमाणुओं में भी सुकुमार, सूक्ष्म असंख्य जीव होते हैं, अतः करुणा से अधर चरण रखकर वह ज्ञानी चलता है।।४९।। वह जिस रास्ते से चलता है वहां कृपा की वर्षा होती है, जिन दिशाओं में देखता है वहां प्रेम भर जाता है, जीवों के लिये वह अपना प्राण बिछाता है।।२५०।। हे अर्जुन! इसी प्रकार से अत्यंत दक्षता से जो आचरण करता है, उसका उपमा रहित परिमाण वाणी से वर्णन नहीं किया जाता।।५१।। अत्यंत प्रेम से बिल्ली अपने बच्चे को मुख में पकड़ती है, हे धनुर्धर! तब उसको दांत से घाव नहीं होते।।५२।। हे पार्थ! स्नेहपूर्ण माता अपने छोटे बालक की राह देखती है, तब उसकी दृष्टि से जो प्रेम प्रकट होता है वह अत्यंत मृदु होता है।।५३।। हे अर्जुन! कमलपत्र के पंखे को हिलाकर जब हवा की जाती है, तब उस हवा से नेत्र की पुतली को भी समाधान प्राप्त होता हे।।५४।। वैसे अत्यंत मृदुता से चरण रखते हुये भूमि पर जब वह चलता है तब जिस प्राणी को उसका स्पर्श होता है उसको सुख प्राप्त होता है।।५५।। ऐसे कोमलता से चलते हुये जब वह कोई कृमि- कीटक देखता है तब वह अत्यंत मृदुता से पीछे लौट जाता है।।५६।। पैर का जोर से आघात होने से स्वामी का निद्रा भंग होगा एवं सुखरूपता को विक्षेप उत्पन्न होगा।।५७।। इस करुणा से वह पीछे लौट जाता है कृमि कीट पर वह कभी पैर नहीं रखता।।५८।। हे पार्थ! जीव के नाम से वह तृण का भी उल्लंघन नहीं करता। किसी का घात करना उसको असंभव है।।५९।। चींटी जिस प्रकार से मेरू पर्वत का उल्लंघन नहीं कर सकती, मशक सागर तैरकर पार नहीं कर सकता, वैसा वह भी किसी प्राणि का अतिक्रमण नहीं करता।।२६०।। ऐसी जिसकी चाल संपूर्ण कृपारूपी फल से बहरती है, वाणी से केवल दया, मूर्त होकर स्थिर होती है।।६१।। श्वासोच्छ्वास वह अत्यंत कोमलता से करता है, उसका मुख प्रीति का नैहर होता है, माधुर्य को जैसे अंकुर उत्पन्न हुये हैं, ऐसे उसके दांत होते हैं।।६२।। सन्मुख प्रेम झरता है, पीछे अक्षर चलते हैं, कृपा पहले प्रकट होती है, शब्द पश्चात आते हैं।।६३।। वह विशेष बोलना नहीं, कभी वह किंचित बोलता है, जब प्रथम वह सोचता है कि उसके वाणी से किसी को पीड़ा न पहुँचे।।६४।। कुछ अधिक या कभी शब्द किसी को मर्मघातक न होवे या किसी के मन में कुछ शंका उत्पन्न होना नहीं चाहिये।।६५।। निश्चित किये हुये कार्य बिगाड़ होना नहीं चाहिये, हे कौंतेय! भयभीत होकर किसी का निद्राभंगन होवे, कभी किसी के मन में संशय न आये।।६६।। किसी को कष्ट न होवे, वे वीरेश! कोई क्रोधित न होवे, ऐसा भाव उसके मन में रहता है, अतः वह मौन रहता है।।६७।। किसी के प्रार्थना करने पर अत्यंत प्रेम से वह बोलता है, तब श्रोता उसको अपना माता पिता समझते हैं।।६८।। उसकी वाणी साक्षात नाद ब्रह्म प्रतीत होती है, या गंगा जल मानो उछलता है, या जैसे पतिव्रता को वृद्धावस्था प्राप्त हुई है।।६९।। वैसे सत्य एवं कोमल, अल्प एवं

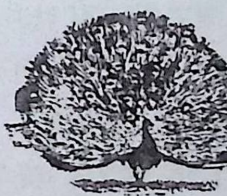

Funding by IKS-MoE

साच और मृदुल। परिमित एवं रसील। शब्द जैसे कल्लोल। अमृत के।।२७०।।
विरोध वादवर्धक। प्राणिताप दायक। उपहास छलकारक। वर्मस्पर्शी।।७१।। व्यंग
वेग हकलाना। आशा शंका प्रतारणा। संन्यासित अवगुण नाना। वाचा ने
जिसकी।।७२।। और वैसे ही किरीटि। स्थिर जिसकी दृष्टि। सरल सीधी भृकुटि।
धनंजय।।७३।। जो सब भूतों से ब्रह्मस्थित। होगा उसको अपाय क्वचित। इस
कल्पना से न देखत। किसी को कदा।।७४।। इस पर भी किसी काल। अंत:कृपा बल
से केवल। खोलकर नेत्र स्नेहल। निहारत जब।।७५।। तब चंद्रबिंब से धार। स्त्रवत
किंतु न गोचर। निरंतर चकोर को सुवीर। आल्हाद देत।।७६।। वैसे प्राणियों को
होवे। यदि वह दृष्टि से देखत जाये। उस अवलोकन की न उपमा सोहे। कूर्मी
कभी।।७७।। किंबहुना भूतमात्र को। ऐसी दृष्टि से देखे उनको। हस्तगुण भी
जाको। कृपालु वैसे।।७८।। जैसे होकर कृतार्थ। रहत सिद्धों के मनोरथ। वैसे
जिसके हाथ। निर्व्यापार।।७९।। अक्षम सन्यास लेत। निरींधन और बूझत। मूक
और धरत। मौन जैसे।।२८०।। इसविध कोई। जिसके करों को कार्य नाहीं। जो
अकर्ता भाव में ही। आरूढ़ पार्थ।।८१।। धक्का लगे वायु को। गड़ेगा नख अंबर को।
इस बुद्धि से स्वकर को। न हिलावत कभी।।८२।। वहां मक्खी को उड़ाना। या
नेत्रप्रवेशक कीट को निवारना। अथवा पशु पक्षियों को दिखाना। डर कैसा?।।८३।।
कैसी संभव यह बात। हस्त में न दंड लाठी चाहत। वहां शस्त्र धारण की पार्थ।
कल्पना कैसी?।।८४।। लीला कमलदल से खेलना। या पुष्पमाला उठना। न करे
होगा गोफना। डर से इस।।८५।। दुख होगा रोमावलीको। इस भय से न सहलावे
अंग को। बढ़ावत अंगुलीपर नख को। हिंसा भय से।।८६।। कार्य का संपूर्ण अभाव।
किंतु कभी क्वचित प्रस्ताव। हस्तको यही भाव। जुड़त वंदन में।।८७।। अथवा
अभयकार देना। या गिरते को उठना। आर्त को सहलाना। मृदु स्पर्श से।।८८।। यह
भी कष्ट से करत। किंतु आर्तभय हरत। चंद्रकिरण न जानत। आर्दत्व जो।।८९।।
उसका वह सुखद स्पर्श। उससे मलयानिकल भी परुष। पावत प्राणि हर्ष। म्रुदुतर
ऐसा।।२९०।। हस्त जिसके सदा मुक्त। जैसे सब चंदनांग पार्थ। शीतल स्पर्श
सफल सतत। यद्यपि निष्फल।।९१।। अब रहनें दो यह वाग्जाल। जानो उसके
करतल। जैसा स्वभाव शील। सज्जनों का।।९२।। अब उनका मन। यदि करना
सांच निरुपण। तब कहो किसको सब वर्णन-। विलास यह।।९३।। क्या शाखा नहीं
तरु। जलबिन कभी सागरू?। क्या तेज और तेजाकारू। भिन्न दोनों?।।९४।।
अवयव एवं शरीर। क्या पृथक होत सुवीर। अथवा रस और नीर। भिन्न
कभी?।।९५।।

अत: ये जो सर्व। कथित बाह्यभाव। वह मन ही सावयव। जानो
ऐसे।।९६।। बीज जो भूमि में बोवत। वही ऊपर वृक्ष होत। इंद्रिय द्वारों से प्रकटत।
मन ही मूर्त।।९७।। यदि मन में ही पार्थ। अहिंसा न होवे उदित। कैसी वह स्रवत।

रसपूर्ण, ऐसे अमृत के तरंगों के सदृश शब्द निकलते हैं।।२७०।। वाद बढ़ानेवाला बिरोध, प्राणियों को कष्टप्रद, छलकारक उपहास, अतंकरण को चोट करने वाले शब्दों का उच्चारण करना,।।७१।। हकलाकर बोलने का व्यंग, आशा, शंका, प्रतारणा, इस प्रकार के विभिन्न अवगुणों का जिसकी वाणी ने पूर्णतः त्याग किया है।।७२।। हे किरीटी! जिसकी दृष्टि स्थिर हो गई, हे धनंजय! जिसकी भौंहे नित्य सीधी रहती हैं।।७३।। जो सब प्राणिमात्र में ब्रह्म स्थित है, इस भावना से, किसी को अपनी दृष्टि से कष्ट न होवे, अतः वह किसी को कदापि देखता नहीं।।७४।। इस पर भी कभी अंतः कृपा की प्रेरणा से, प्रेमपूर्ण नेत्र खोलकर, जब किसी को देखता है।।७५।। तब चंद्रबिंब से अमृत धारा की वर्षा होती है किन्तु दिखती नहीं, हे सुवीर! चकोर पक्षी को नित्य आनंद होता है।।७६।। यदि वह जब देखता है तब वैसा प्राणियों को होता है, कच्छपी की दृष्टि को भी उस दृष्टि की उपमा नहीं दी जावेगी।।७७।। भूत मात्र को जब इस दृष्टि से वह देखता है वह कृपापूर्ण होती है उसके हाथ का गुण भी वैसा ही होता है।।७८।। जैसे सिद्धों के मनोरथ कृतार्थ होकर रहते हैं, वैसे उसके हाथ व्यापार रहित होते हैं।।७९।। जिसमें कोई क्षमता नहीं उसने सन्यास लेकर सब त्याग दिया, काष्ट रहित अग्नि बुझा हुआ है; मूलतः मूक होते हुये मौन व्रत धारण किया है,।।२८०।। हे पार्थ! इस प्रकार से जिसके हाथों को कोई कार्य नहीं होता, जिसका कर्तव्य कुछ भी शेष नहीं है ऐसे अकर्ता भाव में वह स्थिर होता है।।८१।। वायु को धक्का लगेगा, आकाश को नाखून गड़ेगा इस भय से वह हाथ स्वयं का कभी हिलाता नहीं।।८२।। वहाँ मक्खी को उड़ाना, या नेत्र में प्रवेश करने वाले कीढक का निवारण करना, या पशु पक्षियों को कैसा डर दिखाना।।८३।। ऐसी बात कैसे संभव है, हाथ में दंड या लाठी की इच्छा नहीं होती, हे पार्थ! वहां तो शस्त्रधारण करने की कल्पना कैसे होगी?।।८४।। कमल दल से लीला से खेलना, या पुष्प माला उठाना, ऐसा करने से सूक्ष्म प्राणियों को गोफण के भार के समान होगा। ऐसा भय उसके मन में होता है।।८५।। शरीर की रोमावली हिलने से उसके आश्रयं से रहने वाले जीवों को कष्ट होगा, अतः वह अपना शरीर सहलाता नहीं, हिंसा के भय से अंगुली पर नाखून बढ़ाता है।।८६।। हाथों के कार्य का संपूर्ण अभाव होता है, कभी हाथ उठाने का प्रसंग आया तब वह हाथ जोड़ने के लिये-प्रणाम करने के लिये ही उठाये जाते हैं।।८७।। अथवा किसी को अभय देना, गिरने वाले को उठाना, या दुःखी जीव को अपने मृदुस्पर्श से सहलाना।।८८।। यह भी वह कष्ट से करता है, किन्तु दुःखियों के दुःख का हरण करता है, उसके हाथ के स्पर्श से मृदुता चंद्रकिरण भी नहीं जानते।।८९।। उस सुख कारक स्पर्श प्राणियों को आनंद होता है, मलय पर्वत से आने वाली वायु जैसी सुगंधित एवं शीतल होती है।।२९०।। हे पार्थ! जैसे चंदन के वृक्ष को फल न लगते हुये भी उसका संपूर्ण शरीर शीतल एवं फलद समझना चाहिये वैसे कार्य न करते हुये भी ज्ञानियों के हाथ वैसे होते हैं।।९१।। अब यह व्यर्थ का वाक्जाल रहने दो, जैसे सज्जनों का स्वभाव शीतल होता है, वैसे उसके हाथ के तलुवे होते हैं।।९२।। उसके मन का यदि योग्य निरुपण करना है, तब अभी तक जिसका यह सब वर्णन किया है वह और किसका है?।।९३।। शाखाएँ ही वृक्ष होती हैं, जल के बिना सागर नहीं होता, प्रकाश एवं सूर्य दो भिन्न होते हैं क्या?।।९४।। अवयव एवं शरीर, हे सुवीर! क्या अलग होते हैं? या द्रवता एवं जल कभी भिन्न होता है? ।।९५।। अतः यह जो सब बाह्य भाव बतलाये हैं, वह वृत्तियों सहित मन ही है ऐसा समझो।।९६।। भूमि में जो बीज बोया जाता है वही बाहर वृक्ष बनता है, इंद्रियों से मन ही साक्षात प्रकट होता है।।९७।। हे पार्थ! यदि मन में अहिंसा उत्पन्न नहीं होती, तब वह बाहर कभी, कैसे

बाहिर कभी?।।९८।। कोई भी वृत्ति सार्थ। प्रथम मन में स्फुरत। वाचा दृष्टि से पश्चात। पहुंचत हस्ततक।।९९।। जो मन में न कौंतेय। वाचा से कैसे प्रकट होय?। जैसे बीजबिन भूमि से शक्य। अंकुर कभी।।३००।। मन का मनपन जब लुप्त। इंद्रियां पहले ही परास्त। सूत्रधार बिन दारु यंत्र। व्यर्थ जैसे।।१।। उद्गम में ही जो सूखत। तैसे वह ओघ से बहत? क्या गतप्राण को कभी पार्थ। चेष्टा देह में?।।२।। वैसे मन ही मूल पांडव। उसमे ही सब इंद्रियभाव। बाह्य व्यापार सर्व। इनसे ही जानो।।३।। जिस समय जैसे। अंतर में भाव वैसे। बाहिर समरूप से। व्यापार इसके।।४।। इसलिये साचोकार से पार्थ। मन में अहिंसा स्थिर होत। जैसे पक्व फल का सौरभ सार्थ। प्रसरत सहज।।५।। अतः इंद्रियां वही संपदा। मानत वे पुरुष सदा। अहिंसा का धंधा। करत जात।।६।। ज्वार आवे समुद्र को। समुद्र ही भरत खाड़ियों को। वैसे स्वसंपत्ति से इंद्रियों को। भरत चित्त।।७।। बहुत क्या कहना पंडित-। पकड़कर बालक का हस्त। अक्षर पंक्ति लिखत स्पष्ट। स्वयं ही पार्थ।।८।। वैसे अपना दयालुत्व। हस्तपादादि इंद्रियों में समस्त। लाकर वहां उपजवत। अहिंसा को।।९।। किरीटि इसकारण। इंद्रिय क्रिया पूर्ण। वह मन का ही व्यापार जान। सुनिश्चित।।३१०।। इसविध काया वाचा मन से। हिंसा का संन्यास जैसे। हुआ उसमें ऐसे। देखोगे तुम।।११।। वह जानो विलासशील। ज्ञान का राउर (मंदिर) केवल। साक्षात सकल। ज्ञान ही वह।।१२।। जो अहिंसा सुनिये कर्ण से। निरूपण कीजिये ग्रंथाधार से। यदि देखना प्रत्यक्ष से। लेना दर्शन उसका।।१३।। ऐसे जो बरनत देव। एक शब्दों में जो कहना भाव। किंतु हुआ विस्तार मुझसे यह। क्षमा कीजिये आप।।१४।। जैसे हरे घांस में पशु पार्थ। विसरत मार्ग अशेष क्रमित। वायुभर के पखेरू उड़त। गगन में जैसे।।१५।। वैसी यह प्रेमस्फूर्ति। प्रसरत जो रसवृत्ति। वश में जो न मेरी मति। बह गया मैं।।१६।। कहोगे ऐसा आप संतजन। किंतु इस विकार का भी है कारण। अन्यथा पद यह मात्र तीन। अक्षरों का।।१७।। वर्णन लघु अहिंसा का सत्य। किंतु वही होगा स्पष्ट। जब कोटि अन्य खंडित। मतमतांतर।।१८।। अन्यथा विविध मतांतर। रखकर वैसे ही सज्जनवर। यदि कहूं आपको साचार। न भायेगा कभी।।१९।। रत्नपारखियों के गांव में पार्थ। कदाचित खोलना शालिग्राम संयुक्त। किंतु काश्मीरी की न करना युक्त। स्तुती कभी।।३२०।।

कर्पुर का सुगंध जहां। मानत मद जहां। अन्य चूर्ण को बिक्री वहां। संभव कैसी?।।२१।। अतः यदि इस सभा में। वक्तृत्व अभिमान से कुछ कहूं मैं। क्या स्वीकारोगे उसे मन में। कहो प्रभू?।।२२।। विशेष और सामान्य। करूं यदि उनका मिश्रण। कभी न लावोगे आप सर्वज्ञ। कर्णद्वारतक उसे।।२३।। शुद्ध प्रमेय निर्मल। शंकामल से यदि धूमिल। पीछे पग से निवर्तत सकल। अवधान आपका।।२४।। ओढ़कर शैवाल का आवरण। जिस ताल में रहत जीवन। क्या करेगा उस और

Funding by IKS-MoE

झरती?।।९८।। कोई भी वृत्ति अर्थ सहित मन में स्फुरित होती है, वाणी एवं दृष्टि के द्वारा वह हाथ तक पहुँचती है।।९९।। हे कौंतेय! मन में जो नहीं होता वह वाणी से कैसे प्रकट होगा? बीज के बिना भूमि से कभी अंकुर उत्पन्न होते हैं क्या? ।।३००।। जब मन का मनपन समाप्त हो जाता है तब इंद्रियां पहले ही परास्त हो जाती हैं, सूत्रधार के बिना कठपुतली व्यर्थ होती है।।१।। प्रारंभ से ही जो सूखा है उसका प्रवाह कैसे प्रवाहित होगा? हे पार्थ! देह छूट जाने पर कभी देह कुछ क्रिया कर सकता है?।।२।। हे पांडव! वैसे मन ही मूल है, उसमें इंद्रियों के सब भाव उत्पन्न होते हैं, बाह्य व्यवहार का कारण भी इन्हें ही समझना चाहिये।।३।। जिस समय मन में जो भाव भीतर उत्पन्न होता है, बाह्य व्यापार समरूप से वैसे ही होते हैं।।४।। हे पार्थ! इसीलिये मन में अहिंसा स्थिर होना चाहिये, वायु से फल की सुगंध सर्वत्र स्वाभाविक फैलायी जाती।।५।। इंद्रियों को ही अपनी संपत्ति समझनेवाले पुरुष नित्य अहिंसा को धंधा बनाते हैं।।६।। समुद्र में ज्वार आती है, समुद्र खाड़ियों को भरता है, वैसे चित्त-मन इंद्रियों को अहिंसारूपी जलसंपत्ति से भर देता।।७।। अब बहुत क्या कहूँ? जैसे पंडित-ज्ञानी-बालक का हाथ पकड़कर, हे पार्थ! स्वयं ही अक्षरों की पंक्ति स्पष्ट लिखता है।।८।। वैसे अपना दयालुत्व, हाथ, पैर आदि सब इंद्रियों में लाकर वहाँ अहिंसा को उत्पन्न करता है।।९।। हे किरीटी! इसी से इंद्रियों की संपूर्ण क्रियाएं, निश्चित रूप से मनकारी व्यवहार है ऐसा निश्चित समझना।।३१०।। इस प्रकार से शरीर, वाणी एवं मन से हिंसा का त्याग इस ज्ञानी में तुम्हें दिखाई देगा।।११।। वह ज्ञान का केवल मंदिर समझना साक्षात् वह संपूर्ण ज्ञान ही है।।१२।। जिस अहिंसा को कान से सुनते हैं, या ग्रन्थ का आधार लेकर उसका वर्णन किया, या प्रत्यक्ष उसको देखकर उस ज्ञानी का दर्शन करना चाहिये, (जिससे अहिंसा का प्रत्यक्ष दर्शन होगा)।।१३।। ऐसा वर्णन जब देव कर रहे थे, उस भाव को एक शब्द में कहना चाहिये था, किन्तु उसका मुझसे बहुत विस्तार हुआ है, अतः आप मुझे क्षमा कीजिये।।१४।। हे पार्थ! जैसे हरे घास में पशु आगे जाना है यह भूल जाता है, या वायु वेग से पंछी जैसे आकाश में उड़ता रहता है।।१५।। वैसी यह प्रेम की स्फूर्ति है, वह रस वृत्ति बढ़ती गयी, मेरी बुद्धि मेरे वश में न रहते हुये मैं बह गया था।।१६।। आप संतजन ऐसा कहोगे, किन्तु इस विकार का भी कारण है, अन्यथा यह पद केवल तीन अक्षरों का है।।१७।। अहिंसा का सत्य में अत्यंत थोड़ा वर्णन है, जब अन्य कोटी मत एवं मतांतर का खंडन होगा तभी वह स्पष्ट होगा।।१८।। अथवा अन्य मत मतांतर वैसे ही छोड़ देने से, हे सज्जन श्रेष्ठ! आपको पसंद नहीं आवेगा।।१९।। हे पार्थ! जहां उत्तमोत्तम रत्नों की परीक्षा की जाती है। ऐसे रत्न परिक्षकों के गांव में गंडकी नदि में मिलनेवाला ''शालिग्राम'' भगवान विष्णु मूर्ति की भावना से लेनेवाले कोई हो तो अपने गठरी से निकालकर दिखाना, किन्तु उन रत्नपरीक्षकों के सामने स्फटिक पत्थर लेने के लिये स्फटिक की स्तुति नहीं करना चाहिये।।३२०।। जहाँ कपूर की सुगंध को भी मंद है ऐसा कहा जाता है, वहाँ अन्य चूर्ण की बिक्री कहाँ संभव होगी?।।२१।। अतः इस सभा में वक्तृत्व के अभियान में कुछ कहना, हे प्रभु! उसे मन से क्या स्वीकार करोगे?।।२२।। विशेष एवं सामान्य का यदि मिश्रण करने से कान के द्वार तक आप उसको आने नहीं देंगे क्योंकि आप सब जानते हो।।२३।। शुद्ध निर्मल सिद्धांत शंका रूपी मल से जब मलीन होता है तब आपका ध्यान लौटकर पूर्व चला जावेगा।।२४।। काई को ओढ़ कर जब ताल में जल रहता है तब उस तरफ हंस कभी जा सकता

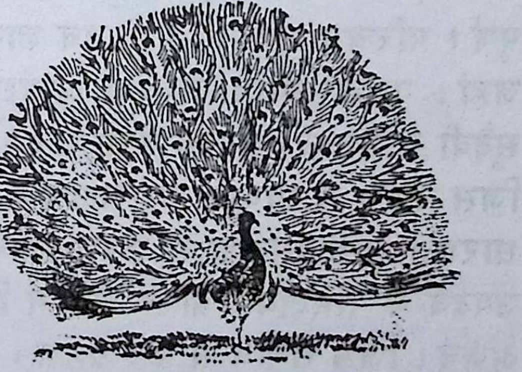

Funding by IKS-MoE

गमन। हंस कभी?।।२५।। अभ्र के पीछे चंद्रिका। मलिन जब अशेखा। तब चकोर चंचुको देखा। खोले न कदा।।२६।। आप न प्रतीक्षा करोगे। न स्वीकारोगे किंतु रूठोगे। यदि निर्विवाद न होंगे। निरूपण मेरे।।२७।। यदि न करूं अन्यमत का खंडन। आक्षेप का न होगा निरसन। तब आपको वह व्याख्यान। न होगा प्रिय।।२८।। और मेरा तो निवेदन। यही मेरा प्रतिपादन। जो होवे आप संतजन। प्रसन्न सदा।।२९।। वैसे आप समस्त। गीतार्थ के आप्त। यही जानकर करली हृदयस्थ। गीता मैंने।।३३०।। जब करोगे सर्वस्व दान। तब ही छुड़ावोगे यह ऋण। ग्रंथ नहीं यह है जामीन (रहन)। सत्य मानो।।३१।। रखोगे लोभ यदि धन का। करोगे अव्हेर जामीन का। होगा तब मेरा और गीता का। हाल एक।।३२।। किंबहुना मुझको निश्चित। आपकी कृपा की चाहत। इसलिये किया निमित्त। ग्रंथ का इस।।३३।। तब आप रसिक जोग। व्याख्यान शोधना सुरंग। अतः कहने भिन्न मतांग। प्रवृत्त हुआ मैं।।३४।। इससे हुआ कथाविस्तार। रह गया श्लोकार्थ दूर। कीजे क्षमा संतवर। अपत्य को अपने को।।३५।। देखो कंकड ग्रास में। समय लगे निकालने में। क्या वह व्यर्थ सोचो मन में?। या योग्य प्रभु।।३६।। या साहू चोर को छुड़ाने। दिन बीते कितने। क्या करना कोप माताने। या जाना बलिहारी?।।३७।। यह मेरा दीर्घ व्याख्यान। अच्छा किया जो आपने श्रवण। अब सुनो श्रीकृष्ण। बोलत जो।।३८।। कहत उन्मेष सुलोचन!। सावधान होना अर्जुन!। कराउं तुझे ज्ञान का पूर्ण। परिचय अब।।३९।। तब ज्ञान जो यहां। पहिचानो तुम वहां। आक्रोशबिन जहां। वसत क्षमा।।३४०।। अगाध सरोवर में। कुमुदिनी प्रफुलिलत उसमें। या सुदैवी के घर में। संपत्ति जैसी।।४१।। इसविध पार्थ। क्षमा जिससे वर्धत। होय वह जिस लक्षण से स्पष्ट। कहूं लक्षण वे।।४२।। देखो प्रिय आभूषण। करे जिस भाव से धारण। उसी धारणा से करत सहन। सर्व ही जो।।४३।। त्रिविध मुख्य पांडव। उपद्रव के समुदाय। प्राप्त जब न विकल होत। पुरुष जो।।४४।। अपेक्षित पावे अर्जुन। जिस संतोष से करे ग्रहण। अनपेक्षित को वही मान। देता जो।।४५।। जो मानापमान सहे। सुख, दुःख जहां समाये। निंदा स्तुति से न होवे। द्विधा जो।।४६।। उष्ण से जो न तपत। हिमवंत न कंपित। दारुण संकट से न भयभीत भी। प्राप्त जब।।४७।। स्वशिखर का भारु। न मानत जैसा मेरु। की धरा को यज्ञसूकरू। बोझ न माने।।४८।।

नाना चराचर भूतों से। क्षिति न माने भार जैसे। नाना द्वंद्वप्राप्ति से। न पसीजत जो।।४९।। लेकर जल के ओघ। आवत नदी नदके संघ। विस्तृत करे पेट हे अनघ। समुद्र जैसा।।३५०।। वैसे जिसको कोई। असहनीय बात नाही। और स्वयं सहत इसका कुछ ही। न स्मरण किंचित।।५१।। देह को प्राप्त दशा। मानत स्वयं को अशेषा। सत्य यह नवल वीरेशा। किंतु निरभिमानी जो।।५२।। यह अनाक्रोश क्षमा। पास जिसके प्रियोत्तमा। उससे प्राप्त महिमा। ज्ञान को पार्थ।।५३।। वह

Funding by IKS-MoE

है?।।२५।। अभ्र छा जाने से सब चन्द्रप्रकाश अत्यंत धीमा एवं अभ्र के बीच से जब आता है तब चकोर पक्षी अमृत प्राशन के लिए चोंच नहीं खोलते।।२६।। तद्वत यदि मेरा निरूपण शंकारहित न होगा तब आप उसकी प्रतीक्षा नहीं करोगे, उसका स्वीकार नहीं करोगे किंतु आप रूठेंगे।।२७।। दूसरों के मतों का यदि मैं खंडन नहीं करूंगा तब आक्षेपों का निरसन कैसे होगा? तब आपको वह व्याख्यान पसंद नहीं होगा।।२८।। आप सब संतजन सदा प्रसन्न होवें इसलिए यही मेरा ग्रंथ प्रतिपादन करने का उद्देश्य है।।२९।। वैसे आप सब गीतार्थ को जाननेवाले हो, यही जानकर श्री गीता को मैंने हृदय में धारण किया।।३३०।।

पूर्ण कृपारूपी सर्वस्व दान करने से ही गीतारूपी ऋण से छुड़ा सकोगे, अतः यह ग्रंथ नहीं है, यह तो सत्य में आपका जामीन (गिरवी) है।।३१।। यदि धन का लोभ करके जामीन का अव्हेर करोगे, तब मेरी एवं गीताकी एकही गति होगी।।३२।। किंबहुना मैं निश्चित रूप से आपकी कृपा चाहता हूं, अतः मैंने इस ग्रंथ का निमित्त किया।।३३।। आप सब रसिक श्रोता हो, अतः आपके योग्य व्याख्यान की रचना की है, इसीलिये मैंने अन्य मतों की चर्चा की है।।३४।। इससे कथा का विस्तार हुआ है, उससे श्लोक का अर्थ दूर रह गया है, अतः अपने इस बालक को हे संतश्रेष्ठ! आप क्षमा कीजिए।।३५।। कौर में यदि कंकड़ है, उसे निकालने में समय लगता ही है। वह योग्य है या अयोग्य है यह हे प्रभु! आप ही विचार करो।।३६।। साथ में चलनेवाले सभ्य चोर को छकाने में ज्यादा दिन लग गये, अतः माता ने देर हो जाने के लिये क्या क्रोध करना चाहिये? (या वह सुरक्षित आया) इसलिये बलिहारी जाना चाहिये?।।३७।। यह मेरा विस्तृत व्याख्यान आपने अच्छी तरह से सुना है अब श्रीकृष्ण क्या कहते हैं वह सुनिये।।३८।। हे ज्ञानरूपी उत्तम दृष्टि प्राप्त अर्जुन! सावधान रहना, अब तुम्हें ज्ञान का पूर्ण परिचय कराता हूं।।३९।। जहां ज्ञान रहता है वहां आक्रोश के बिना क्षमा रहती है, तुम उसको पहचानो।।३४०।। विशाल सरोवर में कमल पुष्प प्रफुल्लित विकसित होते हैं, एवं भाग्यवान लोगों के घर में विपुल संपत्ति होती है।।४१।। तद्वत, हे पार्थ! जिसकी क्षमावृत्ति नित्य विकसित होती रहती है, वह जिन लक्षणों से स्पष्ट होती है वह अब कहता हूं, वह सब लक्षण सुनो।।४२।। प्रिय अलंकार को जिस भाव से धारण किया जाता है, उसी धारणा से वह सब सहता जाता है।।४३।। आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक यह तीनों मुख्य उपद्रव के समुदाय हैं, हे पांडव! इन तीनों से कष्टहोने पर भी वह साधक पुरुष विकल नहीं होता।।४४।। अपेक्षित वस्तु प्राप्त होने पर संतोष होता है, वैसे अपेक्षा न रखते हुये प्राप्त वस्तुसे उसे वही संतोष होता है।।४५।। जो मान, अपमान समान रूप से सहता है, सुख एवं दुख, निंदा एवं स्तुति से जो विचलित नहीं होता।।४६।। उष्णता से जिसको कष्ट नहीं होते, शीत से जो कांपता नहीं, अत्यंत कठिन संकट प्राप्त होने पर भी जो भयभीत नहीं होता।।४७।। मेरुपर्वत अपने शिखर को भार नहीं समझता या वराह अवतार में भगवान पृथ्वी को भारी नहीं समझते।।४८।। विविध चराचर प्राणियों से पृथ्वी को भार नहीं होता, विविध द्वंदों से (सुखदु:खादि) वह पसीजता नहीं।।४९।। अनेक नदियां एवं नद जल के प्रवाह लेकर समुद्र में समाने से उसको वह अपने में समा लेता है।।३५०।। अतः जो नित्य सहता जाता है, सहता जा रहा है इसकी याद भी उसे कभी रहती नहीं।।५१।।(सुख दु:खादि) जो दशा शरीर को प्राप्त होती है, उसको वह आत्मस्वरूप समझता है, हे वीरेश! जो निरभिमानी है, उसके लिये यह नवल सत्य है।।५२।। हे प्रियोत्तम! जिसकी क्षमा क्रोधित न होते ऐसा श्रेष्ठत्व प्राप्त करती है उसको ज्ञान की महत्ता प्राप्त होती है।।५३।। हे पांडव! ऐसा पुरुष ज्ञान की द्रवता

Funding by IKS-MoE

पुरुष पांडव। ज्ञान का ज्ञानो आर्दत्व। अब सुनो आर्जव। का स्वरूप कैसा ?।।५४।। तब आर्जव वह ऐसे। प्राण का सौजन्य जैसे। करे किसी उद्देश्य से। अनुकूल उसको।।५५।। मुख देखकर प्रकाश। न करे जैसे चंडांश। जग को एक ही अवकाश। आकाश जैसे।।५६।। वैसा जिसका मन। प्रत्येक से न भिन्न-भिन्न। और उसका वर्तन। इसीविध जानो।।५७।। जो सब जगही परिचित। जग से पूर्व चिरसंबंध पार्थ। आप पर भाष सार्थ। न जाने जो।।५८।। किसी से भी उसका मेल। पानी जैसा उसका शील। न किसी के प्रतिकूल। चित्त उसका।।५९।। पवन वेग जैसा सरल। भाव उसका निर्मल। शंका लिप्सा लौल्य। नाही जिसमें।।३६०।। मात गोद में बालक बैठक। न कछु शंका मन में उठत। वैसा स्वमन पर को देत। निःशंक जो।।६१।। प्रफुल्लित इंदीवर। लुटावत स्वसौरभ धनुर्धर। वैसा अंतर्बाह्य समग्र। एकसा जो।।६२।। रत्न का चोखापन। पीछे दिखत पहले किरण। वैसे आगे जिसका मन। कृति पीछे।।६३।। आलोचना जो न जानत। अनुभव से सदा तृप्त। आसक्ति अनासक्ति पार्थ। नाही जिसमें।।६४।। दृष्टि न जिसकी भ्रष्ट। वाचा सदा स्पष्ट। किसी से हीन बुद्धि युक्त। न वर्तन जिसका।।६५।। इंद्रिया प्रांजल। निष्प्रपंच निर्मल। पंचप्राण मुक्त सकल। आठों प्रहर।।६६।। अमृत की धार। वैसे ऋतु अंतर। किंबहुना जो नैहर। चिन्हों का इन।।६७।। वह पुरुष सुभट। आर्जव की मूर्ति स्पष्ट। वही वस्ति यथार्थ। करत ज्ञान।।६८।। अब इस पर पार्थ। गुरुभक्ति की रीत यथार्थ। कहूं सुनो चतुरनाथ। सावधान चित्त से।।६९।। समस्त भाग्यों की। जन्म भूमि सेवा गुरु की। देत जीव को स्थिति ब्रह्म की। शोक ग्रस्त को भी।।३७०।। वह आचार्योपास्ति। प्रकट करूं तुमको सुमति। रहने दो एकपांति। अवधान तेरा।।७१।। सकल जल समृद्धि सहित। गंगा उदधि तक जात। या श्रुति महापद में प्रविष्ट। सब अभिप्राय युक्त।।७२।। अथवा अपना सब जीवित। नाना गुणावगुण सहित। पतिव्रता अर्पण करत। प्रिय प्राणनाथ को।।७३।। वैसे सबाह्य अंतर पार्थ। गुरु कुल को करे समर्पित। करे स्वशरीर आगार सार्थ। गुरुभक्ति का जो।।७४।। गुरुगृह जिस देश में। वही देश रह मानस में। विरहिणी चिंतत चित्तमें। वल्लभ को जैसी।।७५।। वहां से जो वायु आवत। उसको भी अगवानी करत। साष्टांग दंडवत करके कहत। आओ गृह में मेरे।।७६।। सच्चे प्रेम के उफान से। चाहे बोलना उसी दिशा में। जीव करत स्थानपति जैसे। गुरुगृह में जो।।७७।। यदि गुरुआज्ञा से क्वचित। देहग्राम में भवसत। गोवत्स रज्जु से बद्ध पार्थ। रहत वैसा।।७८।। कहत कब छूटेगा यह बंधन। होगा कब स्वामी से मिलन। युग से भी मानत महान। निमिष को वह।।७९।। ऐसे में गुरुग्राम से कोई आवे। या स्वयं गुरु पठवे। तब गतायुष को प्राप्त होवे। जैसे जीवन।।३८०।। या शुष्क अंकुर पर। वर्षत पीयुषधार। अथवा अलपोदक का मीन सुवीर। पहुंचत सागर में।।८१।।

Funding by IKS-MoE

है, अब आर्जव का स्वरूप सुनो।।५४।। किसी भी उद्देश्य से प्राण को अनुकूल करो उसकी सृजनता सबके प्रति समान होती है।।५५।। किसी का मुख देखकर सूर्य प्रकाशित नहीं होता, संपूर्ण जग के लिए आकाश एवं अवकाश एक ही होता है।।५६।। वैसा जिसका मन विविध व्यक्तिओं के प्रति भिन्न भाव नहीं रखता, उसका वर्तन इस प्रकार का रहता है, इसको जानो।।५७।। हे पार्थ! संपूर्ण विश्व उसका परिचित होता है, जग के साथ उसके पूर्व संबंध होते हैं, जो अपना, पराया ऐसा भाव नहीं रखता।।५८।। उसका किसी से भी मेल होता है, पानी के समान उसका शील होता है, किसी के विरुद्ध उसका चित्त नहीं होता।।५९।। वायु का वेग जैसा सरल होता है, वैसा उसका भाव निर्मल होता है, शंका लोभ, आसक्ति उसमें नहीं होती।।३६०।। माता के गोद में जब बालक बैठता है तब कोई भी शंका मन में उत्पन्न नहीं होती, वैसा अपना मन निःशंक रीति से वह दूसरों के सामने खोलता है।।६१।। हे धनुर्धर! विकसित कमलपुष्प प्रफुल्लित होकर अपना सुगंध लुटाता है, वैसा अंतर्बाह्य वह एक जैसा रहता है।।६२।। रत्न की शुद्धता दिखने के पूर्व उसका तेज दिखाई देता है, वैसा उसका मन प्रथम रहता है, कृति बाद में करता है।।६३।। आलोचना करना वह जानता नहीं, आत्मानुभव से वह नित्य तृप्त रहता है, हे पार्थ! आसक्ति एवं अनासक्ति दोनों भाव उसके पास नहीं होते।।६४।। जिसकी दृष्टि भ्रष्ट नहीं होती, वाणी नित्य स्पष्ट रहती है, किसी से भी हीन बुद्धि से वह व्यवहार नहीं करता।।६५।। जिसकी इंद्रियां सरल, निष्कपट एवं शुद्ध होती हैं, पांचों प्राण, आठो प्रहर मुक्त रहते हैं।।६६।। जैसे अमृत की धारा होती है वैसा उसका अंतःकरण सीधा, सरल, ऋजु होता है, किंबहुना इन सब लक्षणों का वह मातृस्थान समझना।।६७।। हे सुभट! ऐसा पुरुष आर्जव की साक्षात् मूर्ति समझना, वहीं ज्ञान निवास करता है।।६८।। अब हे पार्थ! गुरुभक्ति की योग पद्धति बताता हूं, हे चतुरनाथ! सावधान चित्त से सुनो।।६९।। श्री गुरु की सेवा संपूर्ण सौभाग्य की जन्मभूमि समझना, वह शोक पीड़ित जीव को भी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करा देती है।।३७०।। वही आचार्योपास्ति तुम्हें प्रकट करता हूं। एकाग्र चित्त से ध्यान देना।।७१।। संपूर्ण जल संपत्ति लेकर गंगा नदी समुद्र तक पहुंचती है, या श्रुती भगवती सब अभिप्रायों के साथ महापद में ब्रह्मपद में प्रविष्ट होती है।।७२।। अथवा अपना संपूर्ण जीवन, गुण, अवगुणों सहित, पतिव्रता स्त्री प्रिय प्राणपती को समर्पित करती है।।७३।। हे पार्थ! वैसे जो अंतर्बाह्य गुरुकुल को समर्पित करता है, अपने शरीर को वह गुरुभक्ति का घर बनाता है।।७४।। गुरु का घर जिस देश में है, उसकी मन में नित्य स्मृति रहती है, जैसी विरहिणी पत्नी अपने प्रियकर को मन में नित्य स्मरती है।।७५।। वहां से जो वायु आता है, उसका भी वह स्वागत करता है, साष्टांग दंडवत करके वह कहता है, "आप मेरे घर में पधारियें"।।७६।। सद्गुरु प्रेम से पगलाने के कारण उसी दिशा से बोलता रहता है, मानो उसने अपना जीव गुरु गृह में एक स्थान में बांध दिया है।।७७।। बछड़े को बांधने से इच्छा होते हुए भी वह धेनु के पास नहीं जा सकता वैसे गुरु आज्ञा के बिना वह स्थान नहीं छोड़ सकता।।७८।। यह बंधन कब छूटेगा ऐसा कहता है, स्वामी से मिलन कब होगा, एक क्षण को युगसमान दीर्घ समझता है।।७९।। इस स्थिति में गुरु के गांव से कोई आ गया, या गुरुदेव ने स्वयं भेजा, जैसा मरणोन्मुख को जीवन प्राप्त हुआ ऐसा समझता है।।३८०।। या सूखे अंकुर पर अमृत की धारा की वर्षा हुई, हे सुवीर! उथले पानी की मछली समुद्र में पहुंच गयी,।।८१।।

Funding by IKS-MoE

नातर रंक पावत निधान। किया जन्मांध के खुलत नयन। या दरिद्री को प्राप्त महान। इंद्रपद जैसे।।८२।। वैसे गुरुकुल नाम से। बढ़े बहुत महासुख से। जो आलिंगत प्रीति से। आकाश पूर्ण।।८३।। देखो गुरुकुल के प्रति। ऐसी जिसकी प्रीति। ज्ञान उसकी किरीटि। पाईकी करत।।८४।। और अभ्यंतर में जैसे। प्रेम के प्रभाव से। करत गुरुरूप की ध्यान से। उपासना जो।।८५।। हृदयशुद्धि के परिसर में। करे आराध्य को निश्चल ध्रुव उसमें। तब सब भाव परिवार में। स्थित स्वयम्।।८६।। चैतन्य के चौथरे पर। आनंद मंदिर में सुवीर। करे अभिषेक श्रीगुरुलिंग पर। ध्यानामृत का।।८७।। उदित जब बोधार्क। बुद्धि डलिया अस्ट सात्विक। भरकर देत त्र्यंबक-। को लक्ष्य देत।।८८।। कालशुद्धि त्रिकाल में किरीटि। जीव भाव की धूपारती। ज्ञानदीप से उतारत आरती। निरंतर।।८९।। सामरस्य का रससोय (रससिद्धि)। अखंड अर्पण करत जाय। स्वयं पुजारी होय। गुरु शिवलिंग।।३९०।। स्वजीव की रोज करत। गुरु कांत बनाके भोगत। इसविध पुलकित होत। बुद्धि कौतुक से।।९१।। किसी एक अवसर। अनुराग से भरे अंतर। उसको ही क्षीर सागर। माने जो।।९२।। वहां ध्येय ध्यान बहुसुख। वही शेषशय्या निर्दोख। उपर जलशयन देख। गुरुको माने।।९३।। तब चरण सेवा रत। लक्ष्मी स्वयं होत। गरुड़ बनकर खड़ा रहत। स्वतः ही जो।।९४।। स्वयं उत्पन्न नाभीसे। ऐसे गुरुमूर्ति प्रेम से। अनुभवत मनोधर्म से। ध्यान सुख।।९५।। किसी एक काल क्वचित। भावबल से गुरु को माता करत। स्तन्य सुख में पहुंड़त। अंक पर।।९६।। अथवा कभी पार्थ। चैतन्यतरुतल स्थित। गुरु धेनु स्वयं को मानत। वत्स उसका।।९७।। गुरुकृपा स्नेह सलिल में। स्वयं बनत मछली उसमें। इसविध किसी समय में। माने जो।।९८।। गुरुकृपामृत की वृष्टि। स्वयं गुरुसेवा अंकुर किरीटि। ऐसी संकल्प सृष्टि। सृजत मन।।९९।। चक्षुपंख बिन। शिशु होत आपुन। कैसा देखो अपार पन। प्रेमभाव का।।४००।। गुरु को पक्षिणी करत। चंचुसे दाना चुगत। गुरु तैराक पकड़त। दृढ़ उनको।।१।। इसविध प्रेमबल से। ध्यान ही ध्यान को प्रसवत तैसे। अथवा तरंग पूर्ण सिंधु से। उपजत पार्थ।।२।। किंबहुना इस प्रकार। गुरुमूर्ति से व्याप्त अंतर। सुनो अब धनुर्धर। बाह्य सेवा।।३।। मन में ऐसा विचार। नीका दास्य करूं साचार। जो होंगे प्रसन्न गुरुवर। कहेंगे, मांगों वर।।४।। ऐसी उत्कृष्ट उपास्ति। जो प्रसन्न होगी गुरुमूर्ति। तब इसविध बिनति। करूंगा मैं।।५।। कहूंगा आपको कृष्ण। परिवार जो संपूर्ण। करूं उतने रूप धारण। अकेला मैं।।६।। और जो-जो सब उपयुक्त। उपकरण आपके अच्युत। होऊंगा पृथक-पृथक समस्त। मैं ही एक।।७।। ऐसा मानूंगा वर। तब हां कहेंगे श्रीगुरु। वह पूर्ण परिवारु। बनूंगा मैं।।८।। उपकरण जात सकल। मैं ही बनू निखिल। तब उपास्ति का कौतुक अखिल। देखोगे आप।।९।। वैसे श्रीगुरु सबकी माता। कैसे होगी मुझे

अथवा दरिद्री को धन प्राप्त हुआ, जन्म से अंधे को दृष्टि प्राप्त हुई, या दरिद्री को श्रेष्ठ इंद्रपद प्राप्त हुआ।।८२।। वैसे गुरुकुल के नाम से उसका महासुख बढ़ता है, वह आकाश को प्रीति से आलिंगन देने की इच्छा करता है।।८३।। गुरुकुल के प्रति ऐसी प्रीति जिसके मन में होती है हे किरीटी! ज्ञान उसकी सेवा करता है।।८४।। अपने अंतःकरण में प्रेमभाव से वह गुरु का ध्यान करके उपासना करता है।।८५।। अंतःकरण की शुद्धता के परिसर में आराधना करने योग्य श्रीगुरुकी प्राण प्रतिष्ठा करता है, तब काया, वाणी, मन से सब भाव एवं परिवार स्वयं बनता है।।८६।। हे सुवीर! चैतन्य के चौथरेपर, ज्ञानरूपी आनंद मंदिर में गुरुरूपी लिंगपर ध्यानरूपी अमृत का अभिषेक करता है।।८७।। ज्ञानसूर्य जब उत्पन्न होता है तब उसमें बुद्धि की टोकनी अष्ट सात्विक भाव से भरकर गुरुरूपी त्र्यंबकेश्वर को लक्ष पुष्प समर्पित करता है।।८८।। हे किरीटी! पवित्र काल ही शिवपूजन का त्रिकाल समझकर जीवभाव रूपी धूप जलाकर ज्ञानरूपी दीप से निरंतर आरती उतारता है।।८९।। ऐक्यभाव का नैवेद्य भोग अखंड अर्पण करता है, गुरु को शिवलिंग बनाकर स्वयं पुजारी बनता है।।३९०।। जीवरूपी शय्यापर गुरुको पति बनाकर आनंद लेता है, इस प्रकार से बुद्धि की कुशलता से पुलकित होता रहता है।।९१।। किसी समय में प्रेम से अंतःकरण परिपूर्ण होता है, उसको वह क्षीर सागर समझता है।।९२।। वहां ध्येय का ध्यान करने में अत्यंत सुख प्राप्त होता है (गुरु का ध्यान करने में) वही शेष की निर्दोष शय्या है, उस शय्या पर जल में (महाविष्णु बनकर) श्री गुरुदेव सो रहे हैं ऐसा वह समझता है।।९३।। तब चरण सेवा में तल्लीन स्वयं लक्ष्मी बनता है, गरुड़ बनकर स्वयं सामने खड़ा रहता है।।९४।। स्वयं नाभी से उत्पन्न होता है, (ब्रह्माणी विष्णु भगवान की नाभी से उत्पन्न हुये हैं) ऐसे गुरुमूर्ति के प्रेम से मन में ध्यानावस्था में अनुभव करता है। एवं सुख प्राप्त करता है।।९५।। कभी-कभी क्वचित अपने भावशक्ति से श्रीगुरु को माता समझता है, दूध पीने की इच्छा से (स्तनपान करने की) गोद में शिशु बनकर लेटता है।।९६।। हे पार्थ! कभी चैतन्य वृक्ष के तल में श्रीगुरु को कामधेनु बनाकर स्वयं को उसका बछड़ा समझता है।।९७।। गुरु कृपारूपी जल में स्वयं उसमें मछली बनता है, इस प्रकार की कल्पना कभी वह करता है।।९८।। हे किरीटी! गुरु कृपामृत की वर्षा में स्वयं गुरुसेवारूपी पौधा अंकुरित हुआ ऐसी संकल्प की सृष्टि उसके मन में उत्पन्न होती रहती है।।९९।। नेत्र, पंख के बिना छोटा पक्षी स्वयं बनता है, कैसी प्रेमभाव की विशालता है देखिए।।४००।। गुरु को पक्षिणी करके चोंच से दाना चुगते हैं, गुरु तैरनेवाले हैं, स्वयं उनको दृढ़ पकड़कर निर्भय है।।१।। इस प्रकार से प्रेमभाव से ध्यान से ध्यान उत्पन्न होता रहता है, पार्थ! उफनते समुद्र से जैसे लगातार तरंग उत्पन्न होते रहते हैं।।२।। इस प्रकार से गुरु के स्वरूप से अंतःकरण व्याप्त होता है, हे धुनर्धर! अब बाह्य सेवा सुनो।।३।। उत्तम रीति से सेवा करूंगा ऐसा विचार मन में आता है, तब गुरुदेव प्रसन्न होकर वर मांगों कहेंगे।।४।। सत्य एवं उत्तम उपासना से गुरुदेव जब प्रसन्न होंगे तब इस प्रकार की प्रार्थना उनसे करूंगा।।५।। हे गुरुदेव! आपका संपूर्ण परिवार जितना है वे सब रूप मैं अकेला धारण करूंगा।।६।। और जो-जो आपके उपयोग में आनेवाले उपकरण हैं, वह सब अलग-अलग मैं अकेला बनूंगा।।७।। ऐसी जब मैं याचना करूंगा तब श्रीगुरु हां कहेंगे, तब वह पूर्ण परिवार मैं बनूंगा।।८।। सब प्रकार के उपकरण, मैं बनने से उपासना का कौतुहल देखोगे।।९।। वैसे श्रीगुरु सबकी माता हैं, वह सर्वथा मेरी अकेले की होगी,

अकेले की सर्वथा। लेवहूं शपथ उनसे पार्था। कृपा से उनकी ।।४१०।। उनको छंद मेरे अनुराग का। दूंगा व्रत एक पत्नी का। करूंगा क्षेत्र संन्यासी उनका। स्नेहवश ।।११।। चतुर्दिक्षु वायु सुवीर। किंतु कभी न जात बाहिर। गुरुकृपा को पिंजर। बनूंगा मैं ।।१२।। मेरी गुरुसेवा स्वामिनी को। स्वगुण आभूषण चढ़ाऊं उसको। बनूंगा स्वयं गुरुभक्ति को। गिलाफ मैं ।।१३।। गुरुस्नेह की वृष्टि। तल मैं बनूं पृथ्वी किरीटी। ऐसे मनोरथ की सृष्टि। रचूंगा अनेक ।।१४।। कहे श्रीगुरु का भुवन। बनूंगा स्वयं आपुन। करूंगा दास बनकर पूर्ण। दास्य उनका ।।१५।। निर्गमागमन में जो उल्लंघत। वह देहरी बनूंगा सार्थ। द्वार मैं होऊंगा मैं ही पार्थ। द्वारपाल भी ।।१६।। पादुका मैं बनूंगा। मैं ही उनको पहिनाऊंगा। छत्र मैं और करूंगा। बारीपन भी मैं ।।१७।। कहूं यह नीचे यह ऊपर। दूं हाथ बनू चंवरधर। स्वामी सम्मुख पंथसुखकर। होऊंगा मैं ।।१८।। स्वामी की झारी धरूं मैं। कराऊं कुल्ला उनको मैं। थूंकत जब वे जिसमें। बनूं तस्त मैं ।।१९।। मैं ही बनूंगा पानदान। दूंगा तांबुल मैं ही अर्जुन। करूं पीक हस्त में धारण। कराऊं स्नान मैं ।।४२०।। होऊं गुरु का आसन। कराऊं अलंकार परिधान। बनूं चंदनादि पूर्ण।उपचार सब ।।२१।। मैं होऊंगा सुआरु (रसोइया)। परोसूंगा उपहारू। करू स्वशरीर से श्रीगुरु। की आरती स्वयम् ।।२२।। जब गुरुदेव करत भोजन। पंगत मैं करूं भोजन साथ। मैं ही उठकर सार्थ। बीड़ा देऊं उनको ।।२३।। थाली मैं उठाऊं। सेज मैं सवारूं। चरणसंवाहन करूं। मैं ही उनके ।।२४।। मैं स्वयं बनूं सिंहासन। करेंगे गुरुदेव आरोहण। इसविध उनकी पूर्ण। करूं सेवा ।।२५।। श्री गुरुदेव का मन। जिसको देगा अवधान। होऊंगा वह संपूर्ण। चमत्कार मैं ।।२६।। उस अवधान के आंगन में। अक्षौहिणीयां शब्द की बनूं मैं। होगा अंगस्पर्श जिस स्थान में। वह स्थान भी मैं ।।२७।। श्रीगुरु के नयन कमल। अवलोकन अति स्नेहल। जिनको देखत सकल। बनूं रूप मैं ।।२८।। रसना को प्रिय जो-जो रस। उनको सो-सो मैं ही अशेष। गंधरूप से करूं खास। घ्राण सेवा ।।२९।। एवं बाह्य मनोगत। श्री गुरुसेवा समस्त। करूं बनकर सब वस्तुजात। धनुर्धर ।।४३०।। जब तक यह देह धारण। इसविध सेवा करूं पूर्ण। होवे जब देह पतन। नवल सुनो ! ।। ३१।। इस शरीर की मिट्टी। मिलाऊं उस क्षिति में किरीटि। जहां खड़ी रहत गुरुमूर्ति। चरणधूलि बनू मैं ।।३२।। इस शरीर का उदकांश। मिलाऊं उस आप में अशेष। कौतुक से स्पर्श करत। श्रीगुरु जिसको ।।३३।। जिस दीप से गुरु आरति होत। जिस भवन में वे दीप प्रदीप्त। उसके दीप्ति में रखूं समस्त। तेजांश अपना ।।३४।। श्रीगुरु के चंवर और वीजन। उसमें लय करूं स्वप्राण। वायु रूप से अंगसेवन। करूं उनका ।।३५।। जिस-जिस अवकाश में। श्रीगुरु स्वपरिवार में। आकाश उस आकाश में। मिलाऊं मैं ।।३६।। जीते मरते निरन्तर। दूंगा न किसी को अवसर। करूं कोटी कल्प अपार। गुरुसेवा

Funding by IKS-MoE

उनकी कृपा से ही उनसे शपथ लेने के लिये बाध्य करूंगा।।४१०।। गुरुप्रेम को मेरा ही छंद लगा दूंगा, एक पत्नीव्रत ग्रहण कराऊंगा, प्रेम में वश होकर वह क्षेत्र संन्यासी के अनुसार, एक ही स्थान रहेंगे।।११।। हे सुवीर! दौड़ने पर भी वायु चारों दिशाओं से बाहर नहीं जाता, वैसे गुरुकृपा को मैं पिंजड़ा बनूंगा।।१२।। गुरुसेवा स्वामिनी को मेरे गुणों के अलंकार पहनाऊंगा, स्वयं गुरुभक्ति को मैं आवरण बनूंगा।।१३।। गुरु प्रेम की दृष्टि को मैं पृथ्वी बनूंगा, हे किरीटी! ऐसी मनोरथ की सृष्टि की मैं रचना करूंगा।।१४।। मैं स्वयं गुरु का घर बनूंगा, उनका सेवक बनकर उस घर में उनकी सब सेवा करूंगा।।१५।। आते-जाते समय जिस देहली को पार करके जायेंगे वह देहली मैं बनूंगा, द्वार भी मैं बनूंगा एवं द्वारपाल भी मैं ही रहूंगा।।१६।। मैं पादुका बनूंगा, मैं ही उनको पहनाउंगा, छत्र मैं बनूंगा एवं बारी भी मैं ही करूंगा।।१७।। यह गड्ढा है, यहां ऊंचा है यह बताने वाला सेवक मैं बनूंगा, उनको हाथ से पकड़कर ले जानेवाला मैं ही रहूंगा, चवरी धरनेवाला मैं बनूंगा तथा जिस रास्ते से जायेंगे वह सुखकर रास्ता मैं ही बनूंगा।।१८।। स्वामी की कमंडलु मैं धरूंगा, उनको कुल्ला कराउंगा, जिस तस्त में वह थूकेंगे वह तस्त भी मैं बनूंगा।।१९।। मैं ही पानदान बनूंगा, हे अर्जुन! मैं ही पान दूंगा, उनका पीक हाथ में धरूंगा, उनको स्नान मैं ही कराऊंगा।।४२०।। श्री गुरु का आसन मैं बनूंगा, उनको अलंकार पहनाऊंगा, चंदन आदि सब उपचार मैं बनूंगा।।२१।। मैं खाना बनानेवाला बनकर उनको भोजन कराउंगा, अपने शरीर से स्वयं मैं श्री गुरु की आरती उतारुंगा।।२२।। जब गुरुदेव भोजन करेंगे तब उनके साथ भोजन करूंगा, मैं ही उठकर उन्हें पान दूंगा।।२३।। थाली मैं उठाउंगा, उनके लिये शय्या बिछाऊंगा, उनकी चरण सेवा भी मैं ही करूंगा।।२४।। मैं स्वयं सिंहासन बनूंगा, उस पर गुरुदेव विराजमान होंगे, इस प्रकार से उनकी सेवा करूंगा।।२५।। जिस बात पर गुरुदेव का मन जायेगा, वह सब मैं बनूंगा, ऐसा चमत्कार होगा।।२६।। उस अवधान के आंगन में मैं अक्षौहिणी शब्द बनूंगा, जिस स्थान को गुरुदेव के शरीर का स्पर्श होगा वह स्थान मैं बनूंगा।।२७।। अत्यंत स्नेहपूर्ण ऐसे श्रीगुरु के नेत्रकमल जो कुछ देखेंगे उतने रूप मैं बनूंगा।।२८।। उनके जिव्हा को जो रस प्रिय होगा वह मैं बनूंगा, गंधरूप बनकर उनकी घ्राणसेवा करूंगा।।२९।। मेरे बाह्य मनोगत से हे धनुर्धर! सब वस्तु जात बनकर सब प्रकार की गुंरु सेवा करूंगा।।४३०।। जब तक देह रहेगा तब तक पूर्ण सेवा करूंगा, जब देह पतन होगा तब नवल सुनो।।३१।। इस शरीर का पृथ्वी तत्त्व उस मिट्टी में मिलाऊंगा जहां गुरुदेव खड़े रहेंगे वहां की चरण धूली मैं बनूंगा।।३२।। उस शरीर का जलतत्त्व संपूर्ण उस जल में मिलाऊंगा जहां गुरुदेव कौतुक से स्पर्श करेंगे।।३३।। मैं अपना तेज अंश उस दीप में मिलाऊंगा जिससे श्री गुरुकी आरती उतारी जायेगी, या जहां वे रहेंगे उस घर के दीपक में मैं अपना तेजांश मिलाऊंगा।।३४।। श्री गुरु के चंवर एवं पंखे मैं अपना वायुतत्त्व विलीन करूंगा, वायु के रूप में उनके शरीर की सेवा करूंगा।।३५।। जिस अवकाश में श्री गुरु परिवार सहित (शिष्यों सहित) रहेंगे, आकाश तत्त्व को वहां के आकाश में मैं मिलाऊंगा।।३६।। जीवित रहते हुये या मृत्यु के बाद अन्य किसी को सेवा का अवसर नहीं दूंगा, कोटी कल्प बीत जायें किंतु मैं गुरुसेवा करता

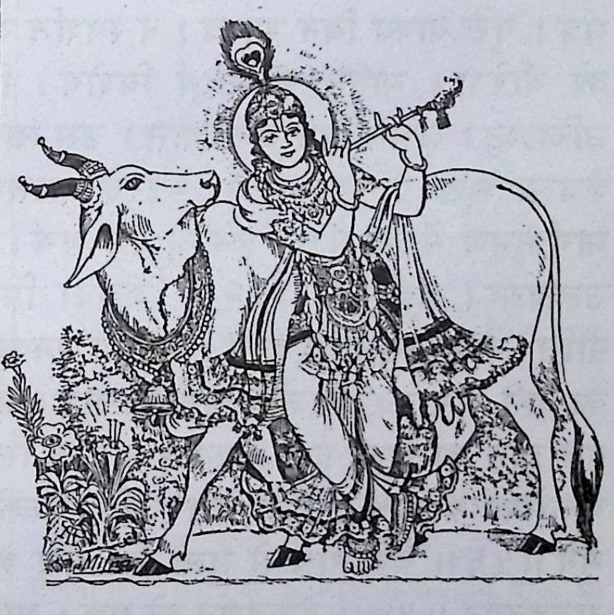

Funding by IKS-MoE

मैं।।३७।। इसविध इच्छा पूर्ण। जिसके मन में अर्जुन। और करके ऐसा आराधन। सदा सज्ज जो।।३८।। रात्रि दिवस न जाने। न्यून अधिक न माने। आज्ञापित गुरुकार्य करने। उल्लसित जो।।३९।। इस प्रकार गुरु कार्यार्थ। गगन से भी बड़ा होत। अकेला ही करत पार्थ। उसी समय।।४४०।। हृदयवृत्ति से भी आगे। अंग उसका भागे। शर्त लेत मनसंगे। धनुर्धर।।४१।। किसी एक काल। श्री गुरुलीलार्थ निखिल। निछावर करत सकल। जीवित अपना।।४२।। जो गुरु दास्य से कृश। जिसे गुरु सेवा से संतोष। जो गुरु आज्ञा निवास। स्थान स्वयम्।।४३।। जो गुरुकुल से कुलीन। गुरुबंधु सौजन्य से सुजनु। गुरुसेवा व्यसन से सद्व्यसन। निरन्तर।।४४।। गुरु संप्रदाय धर्म। वही जिसका वर्णाश्रम। गुरु परिचर्या नित्यकर्म। जिसका पार्थ।।४५।। गुरु क्षेत्र गुरु देवता। गुरु माता गुरु पिता। गुरु सेवा बिन सर्वथा। मार्ग न जाने।।४६।। श्री गुरु का द्वार। वह जिसका सर्वस्व सार। गुरु सेवक को सहोदर। स्नेह से भजत।।४७।। और जिसके वक्त्र-। पर गुरु सेवा मंत्र। गुरु वाक्य बिन शास्त्र। न स्पर्शत जो।।४८।। गुरु चरण स्पर्श। जिस पानी को वीरेश। मानत महातीर्थ विशेष। त्रिलोक में उसको।।४९।। श्री गुरु का उच्छिष्ट। लभत जब अकस्मात। उस लाभ से हीन लेखत। समाधिसुख।।४५०।। कैवल्य सुख प्रीत्यर्थ। गुरु पदरज मस्तक पर धरत। जो पदतल से उछलत। मार्गक्रमण में।।५१।। रहने दो यह पार्थ। गुरुभक्ति अपार अनंत। इसकारण मति उत्क्रान्त। हुई मेरी।।५२।। जिसको प्रिय गुरुभक्ति। उस विषय की जिसको प्रीति। सेवाबिन अन्य कृति। न भाये मनको।।५३।। वह तत्त्वज्ञान का आगार। ज्ञान का वही शृंगार। देव ज्ञान दोनों साचार। भक्त उसके।।५४।। यह जानो साचोकार। वह ज्ञान का खुला द्वार। सकल जग के लिये प्रचुर। निश्चित जानो।।५५।। जिस गुरुसेवा प्रीत्यर्थ। मन मेरा अति उत्कंठित। अतः वर्णन अमर्यादित। किया मैंने।।५६।। वैसे हाथ से लूला मैं। अंध भजनावधान मैं। पंगु से पंगु परिचर्या मैं। सज्जनवर।।५७।। गुरुवर्णन को मूक। आलसी अवगुण अनेक। तदपि पोषत शरीर देख। सानुराग से मैं।।५८।। यही एक कारण। इसीलिये यह स्थूल पोषण। प्राप्त मुझको संतजन। कहे ज्ञानदेव।।५९।। वह किया श्रवण सज्जनवर। सेवार्थ अब दीजिये अवसर। कहूं अब उत्तम सार। ग्रंथार्थ का।।४६०।। सुनो! सुनो! श्रीकृष्ण। जो भूतभार सहिष्णु। बोलत वह श्री विष्णु। सुनत पार्थ।।६१।। कहे शुचित्व वह ऐसा। जिसके पास हे सुमनसा!। अंग मन जैसा। कर्पूर का।।६२।। या रत्न का रूप अर्जुन। अंतर्बाह्य दीप्तिमान। बाहिर भीतर एक समान। सूर्य जैसा।।६३।। बाहिर कर्म से क्षालित। भीतर ज्ञान से प्रज्वलित। दोनों प्रकार से यथार्थ। हुआ शुद्ध।।६४।। मृत्तिका एवं जल से। इनके बाह्य मेल से। निर्मल होत मंत्रोच्चार से। वेदों के जैसे।।६५।। कभी भी बुद्धिबल से यथार्थ। रज दर्पण निर्मल करत। या भट्टी

Funding by IKS-MoE

रहूंगा।।३७।। हे अर्जुन! इस प्रकार की पूर्ण इच्छा जिनके मन में होती है, एवं इस प्रकार की आराधना करने के लिये जो नित्य तत्पर रहता है।।३८।। वह रात या दिन नहीं जानता, कभी अधिक नहीं समझता, गुरुकार्य करने की जब आज्ञा होती है तब वह उल्हसित होता है।।३९।। इस प्रकार से गुरु कार्य के लिये आकाश से भी बड़ा होता है, अकेला सब सेवा करता रहता है।।४४०।। उसी समय उसकी अंतःकरण की वृत्तियों के आगे शरीर दौड़ता है, हे धनुर्धर! प्रत्यक्ष कृति मन के साथ होड़ लगाती है।।४१।। किसी समय श्री गुरु की लीला के लिये अपना समस्त जीवन वह निछावर करता है।।४२।। जो गुरु की सेवा करके दुबला होता है, जिसको गुरुसेवा करने से संतोष होता है, जो गुरु की आज्ञा का साक्षात स्वयं स्थान है।।४३।। जो गुरुकुल से कुलीन है, गुरुबंधु के प्रेम से सुजन है, निरंतर गुरुसेवा यही उसका व्यसन होता है।।४४।। गुरु का संप्रदाय यही उसका धर्म होता है, वही उसका वर्णाश्रम का व्यवहार है, हे पार्थ! गुरुसेवा यही उसका नित्यकर्म होता है।।४५।। गुरु ही उसका क्षेत्र है, गुरु ही उसका देवता है, गुरु माता एवं गुरु ही पिता है, जो गुरुपूजन के बिना अन्य मार्ग वह जानता नहीं।।४६।। श्री गुरु का द्वार उसका सर्वस्व होता है, गुरुसेवक को सगे भाई के समान प्रेम से भजता है।।४७।। जिसके मुख में गुरुनाम का मंत्र होता है, वह गुरुवाक्य के बिना अन्य शास्त्र को स्पर्श नहीं करता।।४८।। गुरु चरणों का स्पर्श जिस जन को होता है हे वीरेश! उसको तीनों लोकों में वह महातीर्थ समझता है।।४९।। जब अकस्मात ही गुरु का उच्छिष्ट प्रसाद प्राप्त होता है तब उस लाभ से समाधिसुख उसे कम प्रतीत होता है।।४५०।। गुरुदेव जब रास्ते से चलते हैं तब उनके चरणों के तल से जो धूल उड़ती है कैवल्य सुख मोक्षसुख के प्राप्ति के लिए गुरु चरण की वह धूल मस्तक पर धारण करता है।।५१।। हे पार्थ! यह अब रहने दो, गुरु भक्ति को पार नहीं है, वह अनंत है, इस कारण से मेरी बुद्धि विस्तृत हुई है।।५२।। जिसको गुरुभक्ति प्रिय है, इस विषय की जिसको प्रीति है, उसको सेवा के बिना अन्य कार्य पसंद नहीं आता।।५३।। वह तत्त्वज्ञान का स्थान है, वही ज्ञान का शृंगार है, देव एवं ज्ञान दोनों उसके भक्त होते हैं।।५४।। वह ज्ञान का खुला द्वार है यह सत्य जानना, सकल जग के लिये वह विपुल ज्ञान देता है, यह निश्चित जानना।।५५।। उस गुरुसेवा के लिए मेरा मन नित्य उत्कंठित रहता है, अतः उसका विस्तृत वर्णन, मर्यादारहित, मैंने किया है।।५६।। वैसे मैं हाथ से लूला हूं, भजन में ध्यान देने में मैं अंधा हूं, हे धनुर्धर! मैं पंगु से भी पंगु हूं।।५७।। वाणी होते हुये गुरवर्णन करने के लिए मैं मूक हूं, अनेक अवगुणों के साथ मैं आलसी हूं, तथापि इस शरीर का पोषण मैं प्रेमपूर्वक करता हूं।।५८।। इसी एक कारण से इस स्थूल शरीर का पोषण करता हूं, मुझे संतो की प्राप्ति हो, यही ज्ञानदेव कहते है।।५९।। हे सज्जन श्रेष्ठ!। आपने सब श्रवण किया है, अब आपकी सेवा करने का अवसर मुझे दीजिये, अब ग्रंथ के अर्थ का उत्तम सार कहूंगा।।४६०।। जो भूतमात्र भार सहने वाले श्री विष्णु जो श्रीकृष्ण हैं वह बोलते हैं एवं पार्थ सुन रहा है, उसको सुनिये।।६१।। शुचित्व ऐसा होता है, कपूर्र जैसा अंतर्बाह्य स्वच्छ होता है वैसा उनका मन एवं शरीर स्वच्छ होता है।।६२।। हे अर्जुन! रत्न का रूप अंतर्बाह्य तेजस्वी होता है, सूर्य जैसा बाहर से तथा भीतर से एक जैसा होता है।।६३।। बाहर कर्म से एवं भीतर जो ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित है, वह दोनों प्रकार से सच्चे अर्थ से शुद्ध हुआ है।।६४।। मिट्टी एवं जल इनके बाह्य मिलन से, वेदों के मंत्रों का उच्चारण करने से शरीर की बाह्य शुद्धि होती है।।६५।। हे पार्थ! अपनी बुद्धि की सहायता से मलिन दर्पण को स्वच्छ कर सकते हैं,

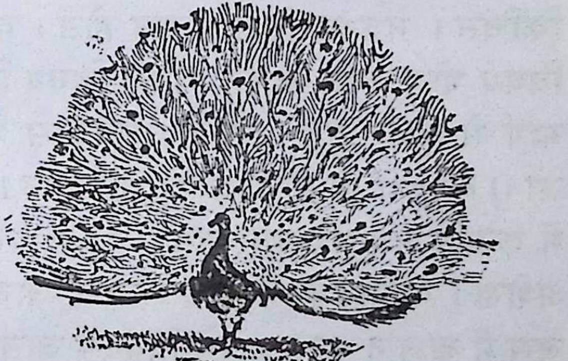

Funding by IKS-MoE

में रजक छुड़ावत। दाग वस्त्रों के।।६६।। किंबहुना इस प्रकार। बाह्य चोखा धनुर्धर। ज्ञानदीप अंतर में और। इसलिये शुद्ध।।६७।। वैसे भी पंडुसुत। अशुद्ध जिसका चित्त। उसका बाह्यकर्म तत्त्वतः। विडंबन केवल।।६८।। मृत जैसा शृंगारित। गर्दभ तीर्थ से स्नापित। कटु तुंबा (सूखी लौकी) लिप्त। गुड़ से जैसे।।६९।। निर्वास (निर्जन) गृह में बांधा तोरण। पेटपर क्षुधित के लीपा अन्न। या कुंकुम सिंदूर से प्रसाधन। कान्हीना को।।४७०।। मुलामेका कलश पोल। व्यर्थ उसकी चमक केवल। क्या करना चित्रीव फल। गोबर अंदर।।७१।। वैसे बाह्यकर्म सकल। अशुद्ध को न आवत मोल। न होगा मदिराकुंभ निर्मल। गंगा से भी।।७२।। जब अंतर में ज्ञान स्थित। बाह्यशुद्धि सहज प्राप्त। किंतु कर्म से ज्ञान सृजन। कैसे संभव यह।।७३।। इसलिये बाह्यभाग। कर्म से धूत सुरंग। ज्ञान से नाशत व्यंग। अंतर का।।७४।। ऐसे में अंतर्बाह्य भेद नष्ट। निर्मलत्व एकत्रित। किंबहुना अवशिष्ट। शुचित्व ही वहां।।७५।। विकल्प जहां स्फुरत। झूठी विकृति उपजत। कुप्रवृत्ति का प्रस्फुटत। बीजांकुर।।७६।। जो देखे सुने होवे प्राप्त। मन में न परिणाम किंचित। मेघरंग से न मलिन होत। व्योम जैसे।।७७।। वैसी इंद्रियों की संगत। विषय भोग उदंड भोगत्। किंतु विषय विकार से लिप्त। न होवे कभी।।७८/७९।। मार्ग से कभी पार्थ। चोखी अंत्यजासे भेटत। एक दूजे को न स्पर्शत। वर्तत वैसा जो।।४८०।। या पतिपुत्र को आलिंगन। देत एक ही तरुणांगी अर्जुन। वहां पुत्र भाव में कदापि न। प्रवेशत काम।।८१।। वैसे हृदय चोख। संकल्प विकल्प से परिचित अशेख। कृत्याकृत्य विशेख। स्पष्ट जानो।।८२।। पानी में हीरा न भीगत। उफनत जल में बालू न चुरत। वैसे विकल्प जात से न लिंपत। मनोवृत्ति।।८३।। उसको नाम शुचिपन। सुनो पार्थ संपूर्ण। यह जहां विद्यमान। जानो ज्ञान वहीं।।८४।। और स्थिरता सत्य। जिसके घर रींगत। वह पुरुष ज्ञान का सार्थ। जीवन जानो।।८५।। देह तो उसपर उपर। संचरत स्वभावानुसार। किंतु बैठक न बिगड़े धनुर्धर। मानस की कदा।।८६।। धेनू का वत्स विषय में। स्नेह न जाये बन में। भोग न सती के सहगमन में। प्रेमभोग।।८७।। अथवा लोभी दूर जाये। जीव गुप्त धन में रहे। वैसे चलत देह किंतु न होवे। विचलित चित्त।।८८।। चलते मेघ सहित। आकाश न भागे पार्थ। भ्रमण चक्र में न भ्रमत। ध्रुव जैसा।।८९।। पथिक के आवागमन। सह पंथ न चलत अर्जुन। या तरुवर को संचरण। नाहीं जैसा।।४९०।। वैसे चलन भ्रमणात्मक। रह कर यह पंचभौतिक। न कभी भूतोर्भि से अनेक। विचलित कभी।।९१।। चंडवात के बल से। न ढलत पृथ्वी जैसे। उपद्रव कल्लोल से। बहत न जो।।९२।। दैन्य दुःख से न तप्त। भय शोक से न कंपित। देहमृत्य से न भयक्रान्त। प्राप्त जब।।९३।। आर्ति आशा अभिलाषा से। वय व्याधि गर्जना से। पीठ न फेरत धैर्य से। अग्रसर होत जो।।९४।। दंड निंदा अपमान का। वर्चस्व काम लोभ का।

Funding by IKS-MoE

या भट्टी में डालकर धोबी वस्त्रों के दाग छुड़ाता है।।६६।। हे धनुर्धर! इस प्रकार से बाह्य शरीर शुद्ध होता है, ज्ञान दीपक हृदय में प्रकाशित होते ही वह शुद्ध होता है।।६७।। हे पंडुसुत! जिसका चित्त अशुद्ध है, उसका बाह्य कर्म वैसे भी तत्त्वतः विडंबन होता है।।६८।। मृत देह को शृंगारित किया, या गधे को तीर्थ स्नान कराया, कड़वे लौकी को गुड़ में लपेटा।।६९।। जहां कोई रहते नहीं उस घर में तोरण बांध दिया, भूखे के पेट पर अन्न का लेप किया, पति विरहित विधवा स्त्री को कुंकुम, सिंदूर से सजाया।।४७०।। भीतर से पोले कलश को सुवर्ण का मुलामा लगाया तब उसकी चमक व्यर्थ होती है, गोबर के बनाये हुये सुंदर फल व्यर्थ होते हैं।।७१।। वैसे सब बाह्यकर्म अशुद्ध होने से उसका कुछ भी मोल नहीं होता, गंगाजल से धोने पर भी शराब का पात्र शुद्ध नहीं होगा।।७२।। जब अंतःकरण में ज्ञान स्थिर होता है, बाह्यशुद्धि अपने आप होती है, किंतु कर्म से ज्ञान उत्पन्न होना कैसे संभव है?।।७३।। अतः बाह्य शरीर कर्म से शुद्ध होता है, भीतर अंतःकरण का दोष ज्ञान से नष्ट होता है।।७४।। ऐसे अंतर्बाह्य भेद नष्ट होता है, शुद्धता एकत्रित होती है, केवल शुचित्व शेष रहता है।।७५।। जहां विकल्प उत्पन्न होता है वहां झूठी विकृति उत्पन्न होती है एवं कुप्रवृत्ति का बीज अंकुरित होता है।।७६।। जो देखता है, सुनता है, या प्राप्त होता है, उसका उसके मन पर किंचित भी परिणाम नहीं होता, जैसे बादलों के रंगों से आकाश मलिन नहीं होता।।७७।। वैसी इंद्रियों की संगति होती है, विषयों का विपुल उपभोग करने पर भी विषय के विकारों से कभी लिप्त नहीं होता।।७८।। हे पार्थ! रास्ते परसे शुद्ध ब्राह्मण स्त्री एवं अंत्यज स्त्री जाने से वे एक दूजे को स्पर्श नहीं करती, ऐसा उसका व्यवहार होता है।।७९/४८०।। हे अर्जुन! तरुण स्त्री पति को एवं पुत्र को आलिंगन देती है, तब पुत्र भाव में काम कदापि नहीं होता।।८१।। जब हृदय शुद्ध होता है, तब संकल्प विकल्प को वह अच्छा पहचानता है, कृत्य व अकृत्य को विशेष स्पष्टरूप से जानता है।।८२।। पानी से हीरा (रत्न) नहीं भींगता, उफनते जल में डालने पर भी रेती नहीं पकती, वैसे विकल्प आदि से उसकी मनोवृत्ति लिप्त नही होती।।८३।। उसका नाम शुचित्व है, हे पार्थ! यह जहां रहता है वहां ज्ञान साक्षात रहता है।।८४।। और स्थिरता जिसके घर में प्रवेश करती है, वह पुरुष ज्ञान का साक्षात् जीवन है ऐसा समझना।।८५।। देह तो स्वभाव के अनुसार व्यवहार करते हुये दिखाई देता है, किंतु हे धनुर्धर! मन की मूल स्थिरता बिगड़ती नहीं।।८६।। गाय के साथ उसका बछड़े का प्रेम बन में नहीं जाता, या सभी जानेवाली स्त्री के भोग, प्रेमभोग नहीं होते।।८७।। या लोभी कार्यवश दूर जाने पर भी उसका ध्यान गुप्त धन में रहता है, वैसे इसका देह चलता है किंतु उसका चित्त विचलित नहीं होता।।८८।। हे पार्थ! मेघ के साथ आकाश नहीं चलता, ध्रुव जैसा अन्य ग्रहों के साथ चक्कर नहीं लगाता।।८९।। पथिक के आने जाने से हे अर्जुन! मार्ग नहीं चलता, या वृक्ष कभी आवागमन नहीं करता।।४९०।। यह पंच भौतिक शरीर चलन, भ्रमणात्मक होते हुए भी प्राणिमात्र के विकारों से कभी विचलित नहीं होता।।९१।। वैसा वह उपद्रवरूपी लहरों से बहता नहीं। तूफानी हवा से जैसी पृथ्वी की स्थिरता नष्ट नहीं होती। ऐसा वह उपद्रव रूपी लहरों से बहता नहीं।।९२।। दारिद्रय एवं दुःख से दुःखी नहीं होता, भय एवं शोक से कांपता नहीं, देह के मृत्यु के समय वह भयभीत नहीं होता।।९३।। मानसिक पीड़ा, आशा, अभिलाषा, वृद्ध अवस्था, रोग होने से वह धैर्य से आगे बढ़ता है, विचलित नहीं होता।।९४।। अपमान एवं निंदा का

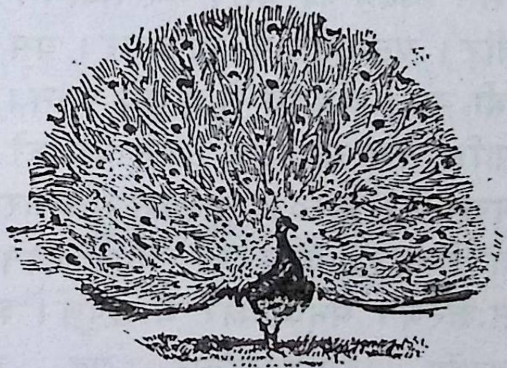

Funding by IKS-MoE

किंतु बाल न होवे बांका। मन का कभी।।९५।। आकाश गिरे खंडित होकर। घुल जाये पृथ्वी तदनंतर। मोहरा न पलटे धनुर्धर। चित्तवृत्तिका।।९६।। मारो हाथी को पुष्प से। टस-मस न होवे जैसे। भेदक दुर्वाक्य शैली से। अप्रभावित जो।।९७।। क्षीराब्धि कल्लोल से पार्थ। मंदराचल न कभी कंपित। आकाश न दग्ध होत। वडवाग्निज्वाला से।।९८।। वैसी आते जाते उर्मि। जो अचल मनोधर्मी। किंबहुना धीर क्षमी। कल्पान्त में भी।।९९।। अब स्थैर्य ऐसी भाष। बोलिये जिसको अशेष। देखो वह दशा सविशेष। दर्शन कुशल।।५००।। ऐसे स्थैर्य निर्भय। अंग जीव में कौन्तेय। वह ज्ञान का निश्चय। निधान सत्य।।१।। ब्रह्मसमंध अपने घरको। अथवा योद्धा शस्त्र को। न भूलत भांडार को। लोभी जैसा।।२।। एकलौते बालकपर। अंबिका करे प्राण निछावर। मधुमक्षिका मधुकी निरंतर। लोभिणी जैसी।।३।। इस विध जो पार्थ। अंतःकरण जतन करत । खड़ा न होने दे क्वचित। इंद्रिय द्वार में।।४।। डरावेगा काम असुर। देखेगी आशा डाकिन क्रूर। आवेगा प्राणसंकट जीवपर। इसलिये डरत।।५।। व्यभिचारिणी को जैसी। गृह में पति बंद रखत वैसी। निगरानी करत तैसी। प्रवृत्ति की।।६।। सचेतन में साधन कमी से। घिसत स्वदेह को जैसे। करे संयमित बोध से। इंद्रियों को।।७।। मन के महाद्वार में सुवीर। प्रत्याहार के चौकीपर। यम दम पहरेदार। खड़े जगावत।।८।। आधार नाभी कंठ। बंधत्रय से करावे गश्त। चंद्रसूर्य संपुट में प्रवृत्त। करे चित्तको।।९।। समाधि सेज सन्निध। ध्यान को करे बद्ध। करे चित्त अंतर में अनुबद्ध। चैतन्य समरस में।।५१०।। सुनो जो अंतःकरण निग्रह। जानो जहां तुम यह। जिसके पास, वहां विजय। ज्ञान का जानो।।११।। जिसकी आज्ञा अर्जुन। सिर पर रखे अंतःकरण। मनुष्याकार में संपूर्ण। ज्ञान ही वह।।५१२।।

इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

और विषयों के प्रति। वैराग्य की उत्तम प्रीति। वसत जीति जागती। प्रचुर मन में।।१३।। देख वमित अन्न प्रीत्यर्थ। लार न रसना को छूटत। या आलिंगन को अंग न डारत। प्रेत पर कभी।।१४।। न चाहत विषभक्षण। जलते भवन में न रींगत अर्जुन। व्याघ्रविवर में न करे गमन। वस्ती प्रीत्यर्थ।।१५।। उफनत लोहरस में पार्थ। कतई न कोई कूदत। न कभी उपधान (सिरहाना) लेत। अजगर का।।१६।। अर्जुन उसके सरिख। अप्रिय विषयवार्ता अशेख। जाने न दे इंद्रियमुख-। में कुछ भी कभी।।१७।। जिसके मन में आलस्य। देह अतिकार्श्य। शमदम में सौरस्य। देखो जिसको।।१८।। तपोव्रतों का समुदाव। जिसके पास पांडव। माने युगान्त गांव-। में जाने से जो।।१९।। योगाभ्यास अतिप्रिय। विजन की ओर दौड़ कौन्तेय। न सहे लागे नाम अप्रिय। संघात का।।५२०।। नाराचपर शयन। पूयपंक में विचरण। माने वैसे भोग पूर्ण। ऐहिक के जो।।२१।। और स्वर्ग की मन से। वार्ता मानत वैसे। सड़ा पिशित

Funding by IKS-MoE

मार लगने से, या काम एवं लोभ अधिकार जमाने से उसके मन का बाल कभी बांका नहीं होता ।। ९५।। आकाश टुकड़े, बनकर गिर पड़े, उसके बाद पृथ्वी जल में घुल जाये, हे धनुर्धर! उसके मनोवृत्ति में कभी बदल नहीं होता ।।९६।। हाथी को पुष्प से मारने से उस पर कुछ परिणाम नहीं होता, वैसे वह अपशब्दों से अप्रभावित रहता है ।।९७।। हे पार्थ! क्षीरसागर के तरंगों से मंदराचल पर्वत कभी कंपित नहीं होता, वड़वाग्नि की ज्वाला से आकाश कभी जलता नहीं ।।९८।। वैसी विकारों के तरंग आते जाते रहते हैं, उसकी मनोवृत्ति अचल रहती है, किंबहुना कल्पांत आने पर भी वह धीर एवं क्षमावान रहता है ।।९९।। अब स्थिरता जिसको कहते हैं, जिसका विशेष वर्णन किया जाता है, वह यही अवस्था है हे कुशल दर्शन अर्जुन! इसको समझो ।।५००।। हे कौंतेय! ऐसी निर्भय स्थिरता जिस जीव के शरीर एवं मन में स्थिर होती है वह ज्ञान का निश्चित निधान है ।।१।। ब्रह्म समन्ध अपने घर को नहीं भूलता, योद्धा अपने शस्त्र को नहीं भूलता, लोभी अपने धन को जैसे नहीं भूलता ।।२।। अपने एकलौते बालक पर माता-पिता अपने प्राण निछावर करते है, जैसे मधु मक्खी नित्य मधु की लोभी होती है ।। ३।। हे पार्थ! जिस प्रकार से जो अपने अंतःकरण को संभालकर रखता है इंद्रियों के द्वार में अंतःकरण को खड़ा होने नहीं देता ।।४।। कामरूपी राक्षस डरावेगा, क्रूर आशारूपी डाकिन, देखेगी, तब जीव पर प्राण संकट आवेगा, इसलिये वह डरता है ।।५।। व्यभिचारिणी स्त्री को पति जैसे घर में बंद रखता है, वैसी प्रवृत्ति की वह निगरानी रखता है।।६।। चित्त में साधन की कमी से जैसे अपने देह को वह घिसता है, वैसे ज्ञान से वह इंद्रियों को संयमित करता है ।।७।। हे सुवीर! मन के महाद्वार में, (प्रत्याहार के चौकी पर) अंतर्मुखता के पहरे की जगह पर, यम, दम पहरेदार खड़े रहकर उसे जागृत करते रहते हैं ।।८।। आधार चक्र में मूलबंध, नाभी में उड्डियानबंध एवं कंठ में जालंधर बंध लगाकर तीनों से गस्त लगाता है, चंद्रनाड़ी एवं सूर्यनाड़ी (इड़ा एवं पिंगला) के संगम स्थान में, सुषुम्ना में चित्त प्रवाहित करता है ।।९।। समाधिरूपी शय्या के पास ध्यानावस्था को बांधकर रखता है, चित्त एवं चैतन्य के समरसता से अंतर्मुखता में लीन हो जाता है ।।५१०।। जो अंतःकरण का निग्रह होता है, उसको सुनो, जहां निग्रह है वहां ज्ञान की विजय है ।। ११।। हे अर्जुन! जिसकी आज्ञा, अंतःकरण मस्तक पर धारण करता है, मनुष्य के आकार में वह ज्ञान ही है ।। १२।।

इस लोक एवं परलोक के संपूर्ण भोगों में आसक्ति अहंकार का अभाव होता है, एवं जन्म मृत्यु, जरा रोग आदि में दुःख, दोष आदि का बारंबार विचार करता है ।।८।।

विषयों के प्रति जीती जागती, वैराग्य की उत्तम प्रीति विपुल मात्रा में होती है ।। १३।। वमन किये हुए अन्न की जिव्हा आसक्ति नहीं रखत्ती, या प्रेम को कोई अपने शरीर से आलिंगन नहीं देता ।। १४।। विष खाने की किसी को इच्छा नहीं होती, हे अर्जुन! जलते हुए घर में कोई प्रवेश नहीं करता, रहने के लिये कोई बाघ की गुफा में नहीं जाता ।। १५।। हे पार्थ! उफनते लोहे के रस में कोई कूदता नहीं, या अजगर का कोई तकिया बनाता नहीं ।। १६।। हे अर्जुन! वैसी विषयों की वार्ता उसे अप्रिय होती है, इंद्रियों के द्वार से विषयों को मन तक पहुंचने नहीं देता ।। १७।। जिसके मन में विषयों के प्रति आलस्य है, देह कृश रहता है किंतु यमदम में जो आनंद लेता है ।। १८।। हे पांडव! तप एवं व्रत वह करता जाता है, गांव में प्रवेश करना युगान्त के समान उसको प्रतीत होता है ।। १९।। योग का अभ्यास उसको अत्यंत प्रिय होता है, हे कौंतेय! (एकांत में रहना)-जन विरहित स्थान में उसकी दौड़ रहती है, जनसमूह का नाम अप्रिय प्रतीत होता है ।। ५२०।। बाण शय्या पर जैसे निद्रा करना या पीप (मवाद) के कीचड़ में लेटना, इस संसार के भोगों को वह वैसा समझता है ।। २१।। स्वर्ग के भोग सुनकर उसको वह, हे पार्थ! सड़े कुत्ता के मांस जैसे मानता

Funding by IKS-MoE

(मांस) जैसे। 'श्वान का पार्थ।।२२।। सो यह वैराग्य। जो आत्मप्राप्ति का सौभाग्य।
इससे ब्रह्मानंद के योग्य। बनत जीव।।२३।। ऐसा उभय भोग में त्रास। देखोगे जहां
खास। जानो वही निवास। ज्ञानका तुम।।२४।। और आस्थायुक्त। यज्ञ दृष्टि
आचरत किंतु। कृतकर्म का स्मरण किंचित। न रखे मन में।।२५।। वर्णाश्रम
पोषक। कर्म नित्य नैमित्तिक। रखत न न्यून एक। आचार में पार्थ।।२६।। किंतु मैंने
यह किया। या मुझसे यह सिद्ध हुआ। ऐसा न कभी चाहा। मन में जिसने।।२७।।
जैसा स्वभावगत अर्जुन। वायु का सर्वत्र विचरण। या उदय निरभिमान। सूर्य का
जैसे।।२८।। श्रुति का निरपेक्ष बोलना। गंगा का निस्वार्थ बहना। वैसे अवष्टंभहीन
उत्तम अर्जुना। आचरण जिसका।।२९।। ऋतुकाल में जो फलत। किंतु न स्मरण
उसका किंचित। उन वृक्ष जैसी वृत्ति पार्थ। कर्मफल में सदा।।५३०।। मन कर्म बोल
से अशेष। किया अहंकार का नाश। खीच ली एकावली से वीरेश। डोरी
जैसी।।३१।। संबंध रहित जैसे। अभ्रपुंज आकाश में जैसे। देह के कर्म तैसे। जिसके
पार्थ।।३२।। मद्यपी के अंग के वस्त्र। या चित्र के हाथ का 'शस्त्र। बैल उपर रखा
'शास्त्र। धनुर्धर।।३३।। वैसा मैं देही। जिसे यह स्मरण नाहीं। निरहंकारता मूर्त
ही। संज्ञा उसको।।३४।। यह संपूर्ण दिखत जहां। जानो ज्ञान वहां। अन्य मत वहां।
न बोलो तुम।।३५।। जन्म मृत्यु जरा दुःख। व्याधि वार्धक्य कल्मष। आने पूर्व ही
देखो अशेष। दूर से ही जो।।३६।। मांत्रिक जैसे पिशाच को। अथवा योगी उपसर्ग
को। या भित्तिके न्यून अधिक को। साहुल से साधे।।३७।। बैर जन्मान्तर का। मन
से न जाये सर्प को। वैसे अतीत जन्मोंका। दूषण स्मरे जो।।३८।। बालू न आंख में
घुलत। नसाहे 'शरीर के 'शल्यघात। वैसे भूतकाल के न विस्मरत। जन्म
दुःख।।३९।। पूर्यगर्त से गया। मूत्रमार्ग से बाहर आया। अरेरे मैंने ये क्या किया।
चूसा कुचस्वेदभी।।५४०।। ऐसे ऐसे प्रकार से पार्थ। जन्म का उद्वेग धरत। अब न
करूं वह मैं कदाचित। जिससे ऐसा होय।।४१।। जुवाड़ी यदि पराजित। मनोयोग से
दूजा दाव खेलत। या पुत्र प्रतिशोध लेत। पिता के वैर का।।४२।। मारे कोई क्रोध
से। पीछे रक्षक बदला लेवे जैसे। करे यत्न दक्षता से वैसे। जन्मनिवारणार्थ।।४३।।
किंतु ऐसे जन्म की दुष्कीर्ति। छांड़त न जिसकी मति। संभावित को अपकीर्ति।
असहनीय जैसी।।४४।। और मृत्यु जब भविष्य में। चाहे आवे कल्पांत में। होवे
आजही मन में। सावधान जो।।४५।। पानी मध्य में अथाह। जानकर तीर पर ही
पांडव। तैराक कसत त्वरित एव। काछ जैसे।।४६।। या रणगमन पूर्व अर्जुन।
सम्हालत अपना अवधान। धाव के आगे ही रोके आक्रमण। ढाल से अपने।।४७।।
बटमार हो कल के मुकाम पर। तब होईये सावधान आजही साचार। जीव जाने पूर्व
औषधि की सत्वर। कीजे दौड़धूप।।४८।। नातर ऐसा होत पार्थ। जलते गृह में यदि
प्रविष्ट। स्वशक्ति से तब खोदना व्यर्थ। कुवां जैसे।।४९।। डोह में पत्थर समान।

Funding by IKS-MoE

है।।२२।। ऐसा वह वैराग्य, आत्म प्राप्ति का सौभाग्य होता है, इससे जीव ब्रह्मानंद प्राप्त करने योग्य बनता है।।२३।। इहलोक एवं परलोक के उपभोग में जिसको वैराग्य होता है, वहां निश्चित रूप से ज्ञान का निवास है ऐसा तुम समझना।।२४।। इच्छा पूर्ण करनेवाले कर्म सकाम पुरुष के समान आस्थापूर्वक करता है, किंतु जो कर्म किया है उसका स्मरण मन में यत्किंचित नहीं रखता।।२५।। वर्णाश्रम धर्म को पोषक नित्य एवं नैमित्तिक कर्म करते हुए हे पार्थ! उसमें किसी प्रकार की कमी रहने नहीं देता।।२६।। किंतु मैंने यह किया या मुझसे यह पूर्ण हुआ, ऐसा अहंकार उसके मन में नहीं होता।।२७।। हे अर्जुन! जैसा सर्वत्र वायु का बहना स्वाभाविक होता है, या जैसे सूर्य का उदय अभिमान रहित होता है।।२८।। श्रुती भगवती अपेक्षा के बिना बोलती है, गंगा नदी बिना स्वार्थ से बहती रहती है, वैसे हे अर्जुन जिनका आचरण अहंकार रहित होता है।।२९।। योग्य ऋतु में वृक्षों में फल लगते हैं, किंतु हे पार्थ! वृक्ष उसका स्मरण नहीं रखता वैसे कर्म के फल के प्रति नित्य अनासक्त वृत्ति रहती है।।५३०।। हे वीरेश! माला का धागा खींचते ही मोती जैसे बिखर जाते हैं, तद्वत मन से, कर्म से एवं वाणी से अहंकार नष्ट होता है।।३१।। बादलों का आकाश से कोई संबंध नहीं होता, वैसे हे पार्थ! जिसके देह के कर्म होते हैं।।३२।। शराबी व्यक्ति के शरीर के वस्त्र, या चित्र के हाथ का शस्त्र, या हे धनुर्धर! बैल के पीठ पर रखी शास्त्रों की पोथी जैसी निरर्थक होती है।।३३।। वैसे हे पार्थ! मैं देही हूं इसका जिसे स्मरण नहीं होता, वह निरहंकारता की साक्षात मूर्ति होता है।।३४।। यह संपूर्ण जहां दिखता है, वह ज्ञान है ऐसा समझना, उस विषय में अन्य कुछ बोलना नहीं।।३५।। जन्म, मृत्यु, वार्धक्य, दुःख, रोग, एवं पातक आने के पूर्व ही उसको उसका बोध हो जाता है।।३६।। मांत्रिक जैसा पिशाच को दूर रखता है, या योगी बाधाओं को दूर रखता है या कारीगर दिवाल बांधने के पूर्व साहुल से कमी-अधिक देख लेता है।।३७।। जन्म, जन्मांतर का बैर सांप के मन से जाता नहीं, वैसे पूर्व जन्म के दोष का स्मरण वह रखता है।।३८।। नेत्र में प्रविष्ट सूक्ष्म कंकड़ जैसा आंखों में घुलता नहीं, घाव में जैसा शस्त्र सहा नहीं जाता, वैसे पूर्व जन्म के दुःख वह भूलता नहीं।।३९।। जन्म लेते समय मैं पीप (मवाद) के गड्ढे में था, मूत्रमार्ग से बाहर आया, अरेरे! मैंने स्तन के पसीनों को चूस लिया, यह मैंने क्या किया है?।।५४०।। हे पार्थ! इस प्रकार से जनम का वह तिरस्कार करता है, जिससे पुनः जन्म प्राप्त होगा ऐसा मैं कुछ नहीं करूंगा।।४१।। जुआड़ी यदि पराजित होता है तब वह दुगुने उत्साह से दांव लगाता है, या पुत्र पिता के बैर का बदला लेता है।।४२।। कोई क्रोध से जब मारता है तब रक्षक बदला लेते हैं, वैसे जन्म का निवारण करने के लिये अत्यंत दक्षता से वह प्रयत्न करता है।।४३।। जन्म की दुरावस्था जिसके बुद्धि से कभी निकल नहीं जाती, जैसे संभावित व्यक्ति को अपकीर्ति असहनीय होती है।।४४।। भविष्य में आनेवाला मृत्यु यदि कल्पांत तक दूर क्यों न हो, वह आज ही आया है ऐसा समझकर सावधान रहता है।।४५।। हे पांडव! नदी के अथाह जल में तैरनेवाला तैराक किनारे पर ही अपना काछ पक्की बांध लेता है।।४६।। हे अर्जुन! जैसे युद्ध में जाने के पूर्व ही जो अपना अवसान संभालता है एवं घाव लगने के पूर्व ही ढाल से आक्रमण रोकता है।।४७।। बात रोककर लूटने वाले, मुझे कल मार्ग पर मिलेंगे यह समझकर आज ही सावधान होना योग्य होता है, जीव जाने के पूर्व ही औषधि के लिए दौड़-धूप करना योग्य।।४८।। हे पार्थ! कभी ऐसा होता है कि घर में अग्नि लगने ने बाद अपने शक्ति से कुआं खोदना व्यर्थ होता है।।४९।। हे अर्जुन! दह में पत्थर के समान

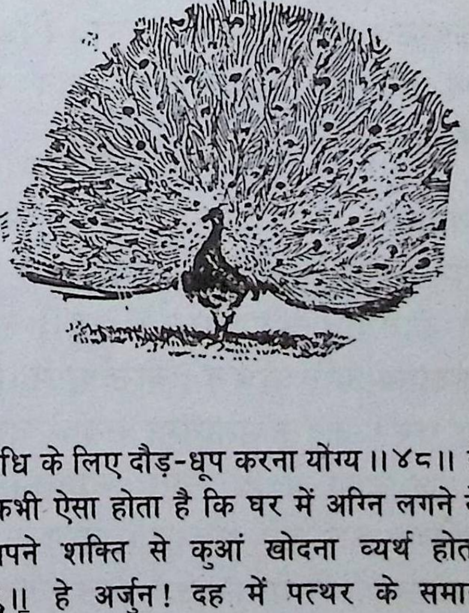

Funding by IKS-MoE

जो डूबत अर्जुन। आक्रंदन सह पावे मरण। किंतु बतावें कौन? ।।५५०।। अतः समर्थ के साथ बैर। जिसका होवे कट्टर। वह सज्ज जैसे आठों प्रहर। पैंने शस्त्र से ।।५१।। नातर वधु मंगनी पश्चात्। या संन्यासी सन्यासपूर्व पार्थ। वैसे मरण पूर्व ही मन में रखत। मृत्यु सूचना ।।५२।। जो इसविध करे अर्जुन। भावी जन्म का निवारण। देह मरण से मृत्यु को हनन। करके बचे स्वयम् ।।५३।। उसके घर ज्ञान का। न्यून नाहीं सर्वथा। जिसको जन्ममृत्यु का। दुःख न शेष ।।५४।। वैसे ही ज्यों न आवे जरा। इस शरीर को धनुर्धरा। भर तरुणाई में सुवीरा। देखे जो ।।५५।। कहे आज के अवसर में। पुष्टि जो वसत शरीर में। बदलेगी शुष्क लकड़ी में। धनुर्धर ।।५६।। निदैवी के व्यवसाय। असमर्थ होंगे हाथपांव। मंत्री हीन राजा सम होय। निर्बल देह ।।५७।। पुष्प गंध का अर्जुन। भोग जो लेत घ्राण। होगा ऊंट के जानुसमान। बधिर जो ।।५८।। चौपायों के खुर। खुरपकासे अवस्था घोर। वही दशा मेरा शरीर। पावेगा यह ।।५९।। कमलदल से स्पर्धा करत। जो मेरे ये नयन सांप्रत। पक्व परेर जैसे निश्चित। होंगे वह ।।५६०।। भौं पटल दोनों जान। लटकेंगे शुष्क छाल समान। उर गलेगा जल से पूर्ण। आसुवों के ।।६१।। जैसे बबूल का काष्ट। लीपत मलमूत्र से सरट। वैसा मुख लिरबिडित। श्लेष्मा से पूर्ण ।।६२।। चूल्हा सम्मुख चरइ में। बुदबुद उठत मलिन पानी में। वैसे फूटक फुक्के नासिका में। नासामल के ।।६३।। तांबुल से ओष्ट रंगारू। हसते दांत दिखाऊं। उत्तम बोल बोलूं। जिस मुख से मैं ।।६४।। उसी मुख को धनुर्धर। आवेगा लार श्लेष्मा का पूर। उखड़ेगी दंष्ट्रा ऊपर। दंत सहित ।।६५।। कृषिक कोई ऋणग्रस्त। या अतिवृष्टि से ढोर ठिठुरत। वैसे न कछु यत्न से उठत। जिव्हा यह ।।६६।। जैसे शुष्क तृण। उड़त हवा से अर्जुन। वैसी आपदा वदन-। दाढ़ों को प्राप्त ।।६७।। आषाढ़ के जल से। शैल शिखर झिरत जैसे। वैसे लार का मुखरंध से। लोटत पूर (बाढ़) ।।६८।। वाचा होवे अस्पष्ट। कर्ण न सुनेंगे स्पष्ट। पिंड वृद्ध मर्कटवत। होवेगा यह ।।६९।। विभिषिका तृण की जैसे। आंदोलत वायु से सहज तैसी। कंपकपी छूटे वैसी। सर्वांग को ।।५७०।।

पांव-पांव में फसत। मुट्ठि में हाथ जखड़त। सुंदरपन का स्वांग रचावत। मदारी जैसा ।।७१।। मल मूत्र द्वार। चलनी होत धनुर्धर। प्रार्थत जन इतर। मृत्यु मेरा ।।७२।। देखकर जग थूकेगा। मरण मेरा चाहेगा। सब संबंधियों को आवेगा। उद्वेग मेरा ।।७३।। स्त्रीजन मानत भूत। भय से बालक मूर्छा पावत। किंबहुना अतिघृणित। होऊंगा मैं ।।७४।। खांसी का ठसका सुनकर। निद्रित पड़ौसी का घर। कहत सतावेगा सबको बहुतर। वृद्ध यह ।।७५।। ऐसे वार्धक्य का संकेत। तरुण दशा में ही स्वतः जानत। विवेक से उससे होत। विरक्त स्वयम् ।।७६।। आयेगा कल यह सोचत। भोग में वर्तमान होगा व्यतीत। तब क्या शेष बचत। स्वहित के लिये ।।७७।। अतः जब तक न होवे बधिर। श्रवण करे शास्त्र समग्र।

डूबनेवाला एवं मैं डूब रहा हूं, ऐसा चिल्लानेवाला मृत्यु को प्राप्त होता है, वहां बताने के लिये कौन शेष रहता है ।। ५५० ।। समर्थ पुरुष के साथ जिसका कट्टर शत्रुत्व रहता है उसको आठों प्रहर पैने शस्त्र सज्ज रखना पड़ते हैं ।। ५१ ।। मंगनी होने के पश्चात कन्या नैहर के प्रति अनासक्त होती है, हे पार्थ! संन्यास लेने के पूर्व संन्यासी जैसा उदासीन होता है, वैसे मृत्यु के पूर्व ही वह मृत्यु की सूचना ध्यान में रखता है ।। ५२ ।। हे अर्जुन! जो इस प्रकार से इस जन्म से भावी जन्म का निराकरण करता है, जो देह के मृत्यु से मृत्यु का नाश करके जन्म क्षयातीत होता है ।। ५३ ।। उसके घर में ज्ञान की कमी नहीं होती, उसको जन्म मृत्यु का दुःख शेष नहीं रहता ।। ५४ ।। हे धनुर्धर! वैसे भी इस देह को वृद्धत्व आने के पूर्व ही तरुण अवस्था में ही जो भविष्य के वृद्धकाल का विचार करता है ।। ५५ ।। कहता है तरुणावस्था में शरीर में शक्ति है, हे धनुर्धर। वृद्धत्व आने पर वह लकड़ी के अनुसार शुष्कता में बदल जावेगी ।। ५६ ।। दुर्देवी मनुष्य के व्यवहार नुकसानदायक होते हैं, हाथ पैर दुर्बल होते हैं, मंत्री के बिना जैसा राजा दुर्बल होता है वैसा देह निर्बल होता है ।। ५७ ।। हे अर्जुन! पुष्प की सुगंध नासिका लेती है, वह नासिका वृद्धावस्था में ऊंट की नासिका के समान दिद्रूप एवं असमर्थ होगी ।। ५८ ।। जानवरों के खूरों से जैसी जमीन खराब होती है वैसी दशा मेरे इस शरीर की होगी ।। ५९ ।। मेरे नेत्र अभी कमलदल से होड़ लगाते हैं वे पके परेरे जैसे निश्चित होंगे ।। ५६० ।। भौहें एवं पलकें शुष्क छाल के समान लटकेंगे, आंसुओं से छाती गीली होगी ।। ६१ ।। जैसे बबूल की लकड़ी होती है, उसको गिरगिट मलमूत्र से खराब करता है, वैसा मुख थूक से गंदा होगा ।। ६२ ।। चूल्हे के सन्मुख जैसे गंदे पानी में बुलबुले उठते हैं वैसे नासिका से बुलबुले उठेंगे ।। ६३ ।। तांबूल खाकर होंठों को रंग लाल या हंसते हुए मेरे शुभ्र दांत अभी दिखते हैं, जिस मुख से मैं उत्तम बोलता हूं, ।। ६४ ।। हे धनुर्धर! उसी मुख में लार का पूर आवेगा, दाढ़ें, दातों के साथ उखड़ जावेंगी ।। ६५ ।। ऋण से कोई किसान त्रस्त हो गया, अतिवर्षा से ठिठुरकर जानवर बैठने पर उठते नहीं, वैसे किसी यत्न से जिव्हा उठती नहीं ।। ६६ ।। हे अर्जुन! सूखा घास हवा से जैसा उड़ता है, मुख में दाढ़ी की अवस्था वैसी होती है ।। ६७ ।। आषाढ़ महिने में जलवर्षा से पर्वत के शिखर से जैसा जल झिरता रहता है, वैसे मुख से लार बहती है ।। ६८ ।। वाणी अस्पष्ट होती है, कान से स्पष्ट सुनाई नहीं देता, ऐसा वह वृद्ध देह बंदर जैसा दिखाई देगा ।। ६९ ।। घास की बनाई विभीषिका (जानवरों को डराने के लिये बनाई गई खेत की पुतली) जैसी हवा से हिलती रहती है, वैसी शरीर को कंपकपी छूटती है ।। ५७० ।। पैर पैर में लड़खड़ाते हैं, हाथ टेढ़े हो जायेंगे, अब जो सौंदर्य दिखाई देता है वह वृद्धावस्था में मदारी जैसा सुंदरता का स्वांग लेता है वैसा दिखेगा ।। ७१ ।। हे धनुर्धर मलमूत्र द्वार की चलनी होगी, अन्य जन मेरे मृत्यु की कामना करेंगे ।। ७२ ।। देखकर जग थूकेगा मेरी मृत्यु की इच्छा करेंगे, मेरे रिश्तेदारों को मेरा उद्वेग आयेगा ।। ७३ ।। स्त्रियां भूत कहेंगी, भय से बालकों को मूर्छा आवेगी किंबहुना मेरी अत्यंत घृणित अवस्था होगी ।। ७४ ।। खांसी सुनकर पड़ौसी त्रस्त होंगे, कहेंगे यह बूढ़ा अब सबको सतावेगा ।। ७५ ।। ऐसा वृद्धावस्था का संकेत तरुण अवस्था में जो जानता है, विवेक से उससे वह विरक्त होता है ।। ७६ ।। भविष्य में वृद्धत्व आवेगा, तरुण्य विषयोंपभोग में जावेगा, तब अपने हित के लिये क्या शेष बचेगा? ।। ७७ ।। अतः जब तक बधिर नहीं होता तब तक सब शास्त्रों को सुनना चाहिये, जब

पंगुत्व के पूर्व ही सब तीर्थक्षेत्र। को जाये जो।।७८।। जब तक दृष्टी अच्छी पार्थ। तब तक दर्शनीय सब देखत। मूकत्व के पहले करे सुभाषित। मुखाग्र सब।।७९।। लूले होंगे हार्थ। ज्ञान यह अल्प पार्थ। अतः पहिले ही करे समस्त। दानादिक।।५८०।। आवेगी आगे ऐसी दशा। तब मन होगा भ्रमित सर्वशा। तब चिंतन करके देखे वीरेशा। आत्मज्ञान शुद्ध।।८१।। कल चोर अंग को झपटत। तब आज ही दूर कीजे संपत। दीप बूझने पूर्व ही करना युक्त। झांक पाक।।८२।। वैसे कल वार्धक्य आयेगा। बिन हित व्यर्थ जायेगा। अतः यत्न से ज्ञान पावेगा। तारुण्य में ही जो।।८३।। जहां तहां दुर्ग विकीर्ण। देखकर निवर्तत खग गण। वहां उपेक्षा से जो करे गमन। लुट गया वह।।८४।। वैसे वार्धक्य की आशा में पार्थ। सांप्रत तरुणपन गवायें व्यर्थ। उसके शतवृद्धत्व का यथार्थ। भरोसा क्या?।।८५।। झरी तिल की बोंड़ी झारत। फल न कदापि पुनः पावत। अग्नि यद्यपि प्रदीप्त क्या जलावत। राख को कभी?।।८६।। अतः पहले ही वार्धक्य के स्मरण से। हानि न पावे जो वार्धक्य से। उसमें विद्यमान निश्चय से। ज्ञान जानो।।८७।। वैसे ही नाना रोग। जब तक न पछाड़त अंग। आरोग्य के उपाय सवेग। योजत जो।।८८।। सर्प के मुख से पार्थ। पिंड यदि बाहर गिरत। वह छांडत त्वरित। प्रबुद्ध जैसा।।८९।। वैसे जिसके वियोग से दुःख। पोखत आपत्ति शोक। वह स्नेह से छोड़के सुख। होत उदासीन जो।।५९०।। और जिन जिन मार्ग से पार्थ। पाप प्रवेश पावत। कर्मरंध्र में नियम के ठेकत। पाषाण दृढ़।।९१।। ऐसी ऐसी युक्ति। योजत जिसकी मति। वही मूर्त ज्ञान संपत्ति-। का स्वामी जानो।।९२।। अब और एक। लक्षण अति अलौकिक। कहूं सुनो देख। धनुर्धर।।९३।।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।९।।

तब जो इस देह पर। उदास ऐसा धनुर्धर। पथिक किसी मुकाम पर। ठहरे जैसा।।९४।। या वृक्ष की छाया में पार्थ। मार्ग चलते विश्रमत। घर पर उतनी भी निश्चित। आस्था नाहीं।।९५।। निजछाया सदा सन्निध। किंतु मन में न उसका बोध। वैसे स्त्रीविषय संबंध-। में लोलुप्य नाहीं।।९६।। और प्रजा को अर्जुन। मानत पथिक समान। या गौकुल लेत विश्राम। वृक्ष तल में।।९७।। यदि वह लक्ष्मीवंत। भासत ऐसा पंडुसुत। वस्तु विषय में मार्गस्थ। साक्षी केवल।।९८।। किंबहुना रहे पुंसा पार्थ। पिंजरे में स्वामी आज्ञांकित। वेदाज्ञाभय से वर्तत। निरन्तर।।९९।। वैसे द्वारा गृह पुत्र। नाहीं इनका जो मित्र। जानो वह आधार। ज्ञान का सार्थ।।६००।। महासिंधु सरिसा। ग्रीष्म वर्षा में एकसा। नाही इष्टानिष्ट भाव वैसा। पास जिसके।।१।। या तीनों काल में पार्थ। त्रिधा नहीं गभस्त। वैसे सुख दुःख में किंचित। भेद नाही।।२।। जहां नभ समान। समत्व को नहीं न्यून। वहां

Funding by IKS-MoE

तक लंगड़ा नहीं होता, पैर साथ देते हैं तब तक तीर्थयात्राएं कर लेना चाहिये।।७८।। जब दृष्टि अच्छी रहती है, तब हे पार्थ! अच्छे स्थल देख लेना चाहिये। वाणी नष्ट होने के पूर्व सुभाषित याद करना चाहिये।।७९।। आगे हाथ कमजोर होंगे, हे पार्थ! यह जानकर दान आदि पहले ही कर देता है।।५८०।। आगे ऐसी दशा आवेगी, तब मन भ्रमित होगा, अतः शुद्ध आत्मज्ञान का चिंतन विचार अभी ही कर लेता है।।८१।। चोर संपत्ति लूटकर ले जाते हैं, उसके पूर्व ही उस संपत्ति को दूर करना चाहिये, दीप बुझने के पूर्व ही सब चीजें ढांककर रखना चाहिये।।८२।। वृद्धावस्था आने पर वह व्यर्थ निकल जायेगी अतः यत्न करके तरुण अवस्था में ही ज्ञान प्राप्ति कर लेना चाहिये।।८३।। जहां दुर्ग टूटा होता है वहां पक्षी निवास करते हैं, वहां उपेक्षा करके जो निकल जाता है वह लूट लिया जाता है।।८४।। हे पार्थ! वृद्धावस्था की आशा में अभी तरुण अवस्था व्यर्थ गंवाने से वृद्धावस्था में सौ वर्ष जियेंगे इसका क्या भरोसा है?।।८५।। तिल की बोंडी झारने पर पुनः उसमें तिल उत्पन्न नहीं होते, प्रदीप्त अग्नि राख को क्या कभी जलाता है?।।८६।। अतः वृद्धावस्था का पहले से स्मरण जो करता है वृद्धावस्था में हानी नहीं होती, उसको निश्चित रूप से ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा समझना।।८७।। भविष्य में विविध रोग होंगे अतः जो प्रथम आरोग्य प्राप्त कर लेता है,।।८८।। हे पार्थ! सर्प के मुख से स्पर्श किया हुआ पदार्थ जैसा बुद्धिमान मनुष्य के द्वारा फेंक दिया जाता है।।८९।। वैसे जिसके वियोग से दुःख, आपत्ति, शोक आदि उत्पन्न होते हैं, उनको वह प्रेम से छोड़कर समाधान वृत्ति से उदासीन रहता है।।५९०।। हे पार्थ! जिन मार्ग से पांव प्रविष्ट होता है, उस कर्म के झरोखे में वह नियम के पत्थर ठोंककर पक्का कर लेता है।।९१।। ऐसी युक्ति उसकी बुद्धि योजना करती है। वही ज्ञान संपत्ति का साक्षात स्वामी है ऐसा समझना।।९२।। अब और एक लक्षण, जो अत्यंत अलौकिक है, उसको हे धनुर्धर तुम सुनो।।९३।।

पुत्र, पुत्री, घर, धन आदि में आसक्ति का अभाव एवं ममता का न होना। प्रिय, अप्रिय की प्राप्ति में सदा समचित्त रहना।।९।।

हे धनुर्धर! जो इस देह के प्रति अनासक्त है, जैसा पथिक ठहरने के स्थान के प्रति उदासीन रहता है।।९४।। हे पार्थ! वृक्ष की छाया में मार्ग में चलते समय विश्राम करते हैं, तब उसमें आसक्ति नहीं होती वैसे घर के प्रति निश्चित आसक्ति नहीं होती।।९५।। अपनी छाया नित्य अपने पास रहती है, किंतु उसका उसको भान नहीं रहता, वैसा स्त्री विषय संबंध में उसकी आसक्ति नहीं होती।।९६।। हे अर्जुन! पुत्र-पौत्रों को पथिक के समान समझता है, वृक्ष के तल में जैसा गोधन विश्राम करता है।।९७।। हे पंडुसुत! यदि वह धनी- श्रीमान है, तब ऐसा लगता है मानो सब वस्तुओं के प्रति वह केवल साक्षी है।।९८।। मालिक के आज्ञा के अनुसार तोता पिंजड़े में बंद रहता है, वैसा वह वेदों की आज्ञा के अनुसार निरन्तर भय से व्यवहार करता है।।९९।। वैसे पत्नी, पुत्र, घर आदि का वह मित्र नहीं होता, वह ज्ञान की माता समझो।।६००।। ग्रीष्म ऋतु में एवं वर्षा ऋतु में महासागर एक जैसा होता है, वैसे प्रिय एवं अप्रिय का भाव उसके पास नहीं होता।।१।। तीनों काल में सूर्य तीन प्रकार का नहीं होता, तद्वत सुख एवं दुःख में उसमें भेद नहीं होता।।२।। आकाश सर्वत्र सम होता है, वैसी उसमें समता की कमी नहीं होती वहां शुद्ध ज्ञान है उसको तुम

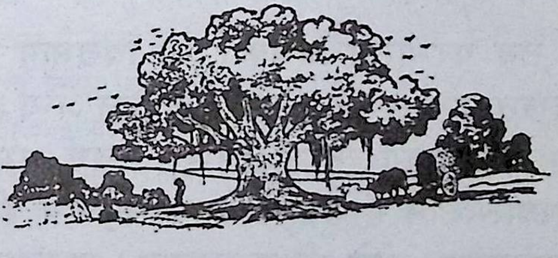

Funding by IKS-MoE

शुद्धज्ञान। पहिचानो तुम।।३।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्मरतिर्जनसंसदि।।१०।।

और मेरे बिन कुछ ही। और वस्तु सुंदर नाहीं। ऐसा निश्चय तीन्हों ही। से किया जिसने।।४।। शरीर वाचा मानस। पीवत कृतश्चिय का कोश। एक मेरे बिन आस। न देखत अन्य।।५।। किंबहुना निकट निजमन। जिसका मत्स्वरूप में लीन। को मेरी अपनी सेज अर्जुन। की एकही जिसने।।६।। पति समागम समय। नहीं अंगजीव में शंका कौंतय। उस कांतासम अनन्य। अनुसरत जो।।७।। मिलकर मिलत ही जात। समुद्र में गंगाजल पार्थ। मद्रूप होकर मुझे भजत। सर्वस्व भाव से।।८।। सूर्य के साथ प्रकट होवे। साथ सूर्य के ही लय पावे। यह समर्पण सुहावे। प्रभा को जैसा।।९।। पानी की सतह पर जैसे। पानी ही उभरत कौतुक से। लौकिक में कहत लहर उसे। अन्यथा पानी ही वह।।६१०।। जो अनन्य इस प्रकार। मद्रूप मुझे ही भजत साचार। वही वह मूर्त आकार। ज्ञान सत्य।।११।। और तीर्थ पवित्र तट। तपोवन सुघट। गिरीशिखर विकट। प्रिय जिसको।।१२।। शैलकक्ष के गव्हर। जलाशय का परिसर। बरत जो सादर। नगर न भाये।।१३।। प्रिय बहु एकान्त। जिसको जनपद की खंत। जानो मनुजाकार में मूर्त। ज्ञान की वह।।१४।। और भी आगे किरीटि। लक्षण सुनो सुमति। ज्ञान के लिये स्पष्टरीति। कहूं तुझको।।१५।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

तब परमात्मा नामक। जो विद्यमान वस्तु एक। जिस ज्ञानके कारण प्रत्यक्ष। दिखत पार्थ।।१६।। उस एक बिन अन्य। जिससे भवस्वर्गादि ज्ञान। वह अज्ञान ऐसा मन। निश्चय करत।।१७।। स्वर्ग गमन छोड़त। भववार्ता कान से न सुनत। अध्यात्मज्ञान में डुबकी लेत। सद्भाव की।।१८।। मार्ग में चौराहपर। छोटी गली अव्हेरकर। होवे सीधा अग्रसर। राजमार्ग से।।१९।। वैसे अन्य ज्ञान जात। विवेक से तज के पार्थ। मन बुद्धि मोहरा करत। अध्यात्म ज्ञानमें।।६२०।। कहे यही एक सत्य। अन्य जानना सब भ्रांत। ऐसी मति जिसकी निश्चित। मेरु जैसी।।२१।। एवं निश्चय जिसका। द्वार में अटल अध्यात्म का। ध्रुवदेव गगन का। वैसा स्थिर।।२२।। उसके ठौंई ज्ञान। बोल यह सत्य जान। ज्ञान में ही स्थिर मनतत्क्षण। वह सो ही मैं।।२३।। अध्यात्म निष्ठा से जो प्राप्त। वह मात्र बोल से न लभत। अतः ज्ञान एवं निष्ठा को सार्थ। योग्यता सम।।२४।। और तत्वज्ञान निर्मल। प्रसवत जो एक फल। उस ज्ञेय पर उसकी सरल। दृष्टि पहुंचे।।२५।। वैसे ज्ञान बोध हुआ कौंतेय। और न प्राप्त मनको ज्ञेय। तब पाकर भी वृथा होय। ज्ञानलाभ।।२६।। अंधे ने हस्त में दीप तो लिया। किन्तु लेकर क्या किया?। वैसा ज्ञाननिश्चय हुआ। व्यर्थ सब।।२७।। यदि ज्ञान के प्रकाश से। परतत्व में प्रवेश न दृष्टि से। वह स्फूर्ति व्यर्थ

Funding by IKS-MoE

पहचानो ॥ ३॥

मुझ परमेश्वर में एकीभाव से स्थितिरूप ध्यानयोग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकांत एवं शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों में प्रेम का न होना उसका स्वभाव होता है ॥१०॥

मेरे बिना अन्य कोई वस्तु सुंदर नहीं है, ऐसा मन, शरीर एवं वाणी इन तीनों ने निश्चय किया है ॥ ४॥ शरीर मन एवं वाणी प्रतिज्ञा पूर्वक मेरे बिना अन्य किसी को देखते नहीं। एवं किसी से आशा रखते नहीं ॥ ५॥ किंबहुना जिसका अंतःकरण मेरे स्वरूप में पूर्ण विलीन हुआ है, उसकी एवं मेरी, हे अर्जुन! उसने एक ही शय्या, की है ॥ ६॥ हे कौंतेय! पतिव्रता स्त्री को शरीर एवं अंतःकरण में पति समागम के समय शंका नहीं होती, उस स्त्री के समान जो अनन्य भाव से अनुसरण करता है ॥ ७॥ हे पार्थ! जैसे गंगाजल समुद्र में मिलता ही जाता है, वैसा वह भक्त सर्वभाव से मद्रूप होकर मुझे भजता ही जाता है ॥ ८॥ सूर्य के साथ प्रकट होना एवं सूर्य के साथ ही विलीन होना यह जैसा प्रकाश को समर्पण शोभा देता है ॥ ९॥ पानी के सतह पर जैसे पानी ही कौतुहल से खेलता रहता है, लौकिक रीति से उसे लहर कहते हैं वास्तविक वह पानी ही होता है ॥ ६१०॥ जो इस प्रकार अनन्य है, मद्रूप होकर मेरी भक्ति करता है, वही ज्ञान का मूर्त आकार है ऐसा समझना चाहिये ॥ ११॥ तीर्थ, नदि तट, प्रसाद बन में तपश्चर्या के स्थान, पर्वत विकट शिखर जिसको प्रिय होते हैं ॥ १२॥ पर्वत की गुफाएं, जलाशय के किनारे में वह आदरपूर्वक रहता है, उसको नगर प्रिय नहीं होते ॥ १३॥ एकांत अत्यंत प्रिय होता है, लोगों में रहने से मन दुःखी होता है, वह मनुष्य के आकार में ज्ञान की साक्षात मूर्ति है ऐसा समझो ॥ १४॥ हे किरीटी! और भी आगे सुनो, हे बुद्धिमान! ज्ञान के लक्षण सुनो, ज्ञानप्राप्ति की स्पष्ट पद्धति तुम्हें कहता हूं ॥ १५॥

अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना, यह सब ज्ञान है एवं इससे जो विपरीत है वह अज्ञान है ऐसा कहा गया है ॥११॥

जो परमात्मा नाम से एक वस्तु विद्यमान है, जिस ज्ञान से वह प्रत्यक्ष दिखती है ॥ १६॥ उस एक के बिना अन्य ज्ञान जिससे संसार एवं स्वर्ग का बोध होता है, वह अज्ञान है ऐसा मन निश्चय करता है ॥ १७॥ स्वर्ग में जाना वह छोड़ देता है, सांसारिक बातें कान से सुनता नहीं, अपने उत्तम भाव सहित अध्यात्मज्ञान में वह डुबकी लगाता है ॥ १८॥ मार्ग में चौराहेपर छोटी गलियों का त्याग करके, राजमार्ग से सीधा आगे चलता है ॥ १९॥ वैसे अन्य विषयों का ज्ञान विवेक से त्यागकर। हे पार्थ मन एवं बुद्धि को अध्यात्मज्ञान में लगाता है ॥ ६२०॥ यही एक सत्य है ऐसा वह कहता है, अन्य सब जानना भ्रांति है, मेरु पर्वत के समान ऐसी जिसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ २१॥ जिसका अध्यात्मज्ञान का अटल निश्चय, आकाश ध्रुवतारे के अनुसार स्थिर होता है ॥ २२॥ उसका ज्ञान स्थिर है, यह मेरी वाणी सत्य जानना, ज्ञान में ही मन तत्क्षण स्थिर होता है वह मैं ही हूं ॥ २३॥ अध्यात्म निष्ठा से जो प्राप्त होता है, वह केवल वाणी से नहीं मिलता, अतः ज्ञान एवं निष्ठा को समान योग्यता होती है ॥ २४॥ और शुद्ध तत्त्वज्ञान जिससे प्राप्त होता है, उस ज्ञेय पर (परमात्मा उसकी दृष्टि पहुंचती है ॥ २५॥ हे कौंतेय! वैसे ज्ञान प्राप्त हुआ एवं मन को भगवद्प्राप्ति नहीं हुई, तब ज्ञान प्राप्त होने पर भी वह व्यर्थ होता है ॥ २६॥ अंधे ने हाथ में दीपक तो ले लिया, किंतु लेकर क्या किया? वैसे ज्ञान का निश्चय व्यर्थ होता है ॥ २७॥ यदि ज्ञान के प्रकाश से परतत्त्व में दृष्टि से प्रवेश न हुआ, वह अंधे जैसी स्फुरणा व्यर्थ

Funding by IKS-MoE

जैसे। अंधसम।।२८।। अतः उस ज्ञान में जहां तहां। एक वस्तु मात्र दिखत वहां।
ऐसी होना सर्वशः। बुद्धि चोख।।२९।। अतः निर्दोष ज्ञान से। दिखाया जो ज्ञेय से।
उस शुद्ध उन्मेख से। सम्पन्न जो।।६३०।। जितनी ज्ञान की वृद्धि। उतनीही जिसकी
बुद्धि। वह ज्ञान उसकी प्रसिद्धि। अनावश्यक।।३१।। ज्ञान की प्रभासह पार्थ। मति
जिसकी ज्ञेय में स्थित। वह हां हां कहते स्पर्शत। परतत्व को।।३२।। वही ज्ञान रूप
कौन्तेय। कहने में क्या विस्मय?। क्या सूर्य को सूर्य। कहना ही पड़त?।।३३।। तब
श्रोता गण बोलत। न करना अतिश्योक्ति युक्त। ग्रंथोक्ति को प्रतिबंध व्यर्थ।
लगावत क्यों?।।३४।। आपका महान उपकार। वक्तृत्व से किया साकार। जो ज्ञान
विषय सविस्तर। निरूपित स्पष्ट।।३५।। रस होना अतिमात्रु। यह सामान्य
करिमंत्रु। आमंत्रित श्रोताओं को शत्रु। करिये क्यों?।।३६।। भोजन को सिद्ध
मेहमान। पिछवाड़े से भागे लेकर भोजन। कहो मेहमानी के सब उपचार अन्य। किस
कामके?।।३७।। सब गुण से यदि युक्त। सांझ को ऐन छूने न देत। एसी लतखोरी
गैया संतत। पाले कौन?।।३८।। ज्ञान विषय में न किचिंत करत। किन्तु भला अन्य
वलगना बहुत। किंतु भला किया तुमने युक्त। वर्णन यहां।।३९।। ज्ञानलेशोद्देश से
जिस। करत योगादि सायास। किये तृप्त सबके मानस। निरूपण से अपने।।६४०।।
अमृत की सप्तझड़ी। होवे यदि अनुघड़ी। सुख के बिन करोड़ यदि। क्या मीनत
कोई?।।४१।। पूर्ण चंद्र की रात। यदि रहे युगपर्यंत। तब क्या न देखत। चकोर
वह?।।४२।। ज्ञान का सुंदर वचन। और ऐसे रसभरित पूर्ण। अब कहो बस कहे
कौन?। सुनते ही जात।।४३।। सुभग अतिथि आवे। सुभगा भोजनदात्री होवे। तब
कोई न समाप्ति चाहे। रस सिद्धि।।४४।। वैसा यह प्रसंग। जहां ज्ञान में हमारा
लाग। और तुमको भी अनुराग। उसी में ही।।४५।। अतः इस व्याख्यान-। को बल
आवे चौगुन। ना कहेंगे न दर्शक महान। ज्ञान के तुम।।४६।। तब आगे सांप्रत। प्रज्ञा
के अंतःपुर में सार्थ। पद को विशद करो सत्य। निरूपण में।।४७।। इस संत वाक्य
सहित। निवृत्तिदास विन्रम कहत। जो मेरा भी मनोगत। यही प्रभो!।।४८।। इस
पर आपका सांप्रत। स्वामी सेवक आज्ञांकित। यह वाग्जाल व्यर्थ। न बढ़ाऊंगा
मैं।।४९।।

एवं यहां सुनो सुबीजनाः। ज्ञान लक्षण अठारह। श्रीकृष्ण निरूपत स्वतः।
धनुर्धर को।।६५०।। जहां ये सब लक्षण। ज्ञान वहां विद्यमान। यह स्वमत एवं
ज्ञानीजन। मानत सकल।।५१।। गोल कर जल उपर। डोलत देखों अमलक सुवीर।
वैसे चक्षु से ज्ञान साकार। दिखाया तुझको।।५२।। अब धनजंय महामति। अज्ञान
जिसकी नामोक्ति। वह कहुं ष्पष्ट सांप्रति। लक्षण सहित।।५३।। वैसे जब ज्ञान
स्पष्ट। अज्ञान सहज पहचानत। जो नाहीं ज्ञान स्वभावतः। अज्ञान हो पार्थ।।५४।।
देखो जब दिन पूर्ण समाप्त। तब बारी रात्रि की शेष निश्चित। बिन उसके तीसरा
पदार्थ। नाहीं जैसा।।५५।। वैसे ज्ञान जहां नाहीं। जानो अज्ञान वहीं। यद्यपि कहूं कोई

Funding by IKS-MoE

होती है।।२८।। अतः उस ज्ञान में जहां-तहां एक ही वस्तु दिखना चाहिये, ऐसी बुद्धि शुद्ध होना चाहिये।।२९।। अतः निर्दोष ज्ञान से, जो परमात्म वस्तु दिखाई दी, उस शुद्ध ज्ञान से जो संपन्न है।।६३०।। जितना ज्ञान का विकास होता है, उतनी ही उसकी बुद्धि विकसित होती है, ज्ञान ही उसका सुप्रसिद्ध रूप है।।३१।। हे पार्थ! ज्ञान के प्रकाशसहित जिसकी बुद्धि ज्ञेय में स्थिर होती है, वह तत्क्षण परतत्त्व को स्पर्श करता है।।३२।। हे कौंतेय! वही ज्ञानरूप है, इस कहने में क्या आश्चर्य है? क्या सूर्य को सूर्य कहना पड़ता है।।३३।। तब श्रोता कहने लगे, अतिशयोक्ति करना योग्य नहीं, ग्रंथ में जो कहा है उसमें प्रतिबंध व्यर्थ क्यों लगाते हो?।।३४।। आपका हम पर महान उपकार है, ज्ञान का विषय सविस्तर एवं स्पष्ट निरूपण करके तुमने अपने वक्तृत्त्व से उसे साकार किया है।।३५।। रस की अतिशयोक्ति करना सामान्य कवियों की पद्धति होती है, जिससे आमंत्रित श्रोता शत्रु बनते हैं।।३६।। भोजन करने मेहमान आ गये। भोजन लेकर पिछवाड़े से भाग गये, अब मेहमानी के अन्य सब उपचार किस काम के होंगे?।।३७।। सब गुणों से योग्य होते हुए भी संध्या के समय दूध देते समय जो छूने नहीं देती ऐसी लातों से मारनेवाली गाय कौन पालेगा?।।३८।। ज्ञान विषय में अन्य लोग बहुत बातें करते हैं, किंतु तुमने यहां योग्य वर्णन किया है।।३९।। थोड़ा ज्ञान प्राप्त होवे इस उद्देश्य से योग आदि के कष्ट योगी करते हैं, तुमने अपने निरूपण से सबके मन तृप्त किये हैं।।६४०।। अमृत की झड़ी लगातार सात दिन होने पर भी अच्छा लगता है वैसा सुख के करोड़ों दिनों की कोई गिनती नहीं करता।।४१।। पूर्ण चंद्र की रात एक युगपर्यंत रहने पर भी चकोर पक्षी को वह समाप्त हो ऐसा नहीं लगता।।४२।। ज्ञान की सुंदर वाणी एवं वह भी रस परिपूर्ण, अब बस करो ऐसा कौन कहेगा? सुनते ही जायेंगे।।४३।। भाग्यवान अतिथि आये, भाग्यवती भोजन परोसनेवाली हो, तब भोजन की समाप्ति की चाह किसी को नहीं होगी।।४४।। वैसा यह प्रसंग है, जहां ज्ञान में हमारी रुचि है, तुम्हें भी उसकी प्रीति है।।४५।। अतः इस व्याख्यान को चौगुना बल आ गया है, दर्शक ना नहीं कहेंगे, तुम महान ज्ञाता हो।।४६।। अब अभी आगे ज्ञान के अंतःपुर में पद को स्पष्ट करो एवं निरूपण आगे बढ़ाओ।।४७।। इन संतवाक्यों के साथ निवृत्तिदास ज्ञानदेव विनम्रता से कहते हैं, हे प्रभो! मेरा भी यही मनोगत है।।४८।। अतः आप स्वामी ने सेवक को आज्ञा की है, यह वाणी की व्यर्थ विस्तृतता अब मैं नहीं बढ़ाऊंगा।।४९।। हे बुद्धिमान जन!। सुनो! अठारह ज्ञानलक्षण धनुर्धर पार्थ को भगवान श्रीकृष्ण स्वयं निरूपण करके बता रहे हैं।।६५०।। जहां यह सब लक्षण होते हैं वहां ज्ञान विद्यमान रहता है, यह मेरा स्वयं का मत है, ज्ञानीजन भी ऐसा ही कहते हैं।।५१।। हे सुवीर! तल हाथ पर आंवला जैसा डोलते हुए स्पष्ट दिखाई देता है वैसा ज्ञान तुम्हें अपने नेत्र से देखने लायक साकार करके दिखाया है।।५२।। अब हे महाबुद्धिमान धनंजय! जिसको अज्ञान नाम है वह तुम्हें अभी लक्षणों सहित कहता हूं।।५३।। वैसे जब ज्ञान स्पष्ट होता है, तब अज्ञान सहज पहचान में आता है, जो स्वाभाविक ज्ञान नहीं है वह अज्ञान होता है।।५४।। देखो! जब दिन पूर्ण समाप्त होता है तब रात्री की बारी निश्चित शेष रहती है, उसके बिना जैसा तीसरा पदार्थ नहीं होता।।५५।। वैसे जहां ज्ञान नहीं होता, वहां अज्ञान समझना, यद्यपि उसके कुछ लक्षण

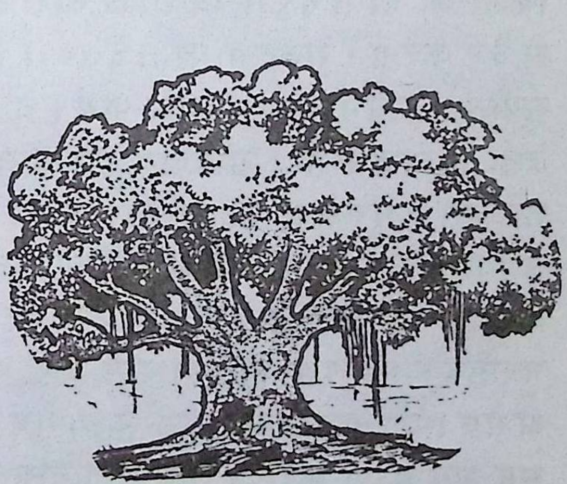

कोई। चिन्ह उसके।।५६।। जो जीवित प्रतिष्ठा प्रीत्यर्थ। सन्मान के लिये लालायित। सत्कार से संतोषत। घनुर्धर।।५७।। चढ़े पर्वत शिखर पर गर्व सें। न उतरत कभी महत्व से। उसके ठाँई पूर्ण रूप से। अज्ञान जानो।।५८।। स्वधर्म का मांगलिक तोरण। बांधे वाचा के अश्वत्थ पर अर्जुन। अथवा देवालय में खड़ा जान। मोर्चल रखत।।५९।। स्वविद्या का प्रचार करत। सुकृत का डंका पीटत। सब कुछ मोहरा करत। स्फीति के लिये।।६६०।। उपर भस्म लेपन। टालत जन अभ्यर्चन। वह जानो यहां खान। अज्ञान की पार्थ।।६१।। और वन्ही वन में विचरत। वहां स्थावर जंगम जलत। वैसे जिसके आचार से होत। दु:ख जगको।।६२।। कौतुकसे करे ज्यों ज्यों जलपन। छेदत सब्बल से तीक्ष्ण। संकल्प विष से भी दारुण। मारक जिसका।।६३।। उसको बहुंत अज्ञान। अज्ञान का वह निधान। हिंसा को आयतन। जीवित जिसका।।६४।। फूंकने के भाथी फूलत। छोड़ने पर तत्क्षण दबत। वैसा चढ़त तड़पत। संयोग वियोग से।।६५।। आवेष्टित चक्रवात में। धूल चढ़े आकाश में। वैसे फूलत सुप्तिकाल में। हर्ष से जो।।६६।। अल्प निंदा सुनत। माथा पकड़कर बैठत। बूंद से घुलत हवा से सूखत। कर्दम जैसा।।६७।। वैसा मानापमान से होवे। विकार उर्मि कोई न साहे। उसके पास निश्चित रहे। अज्ञानपूर्ण।।६८।। मन में दु:संकल्प गुप्त। बाहिर वाचा दृष्टि खुली रहत। लिपटत अंग से जीव से झटकत। किसी को भी।।६९।। व्याध का चारा देना। वैसा प्रांजल जिसका पोसना। अंत:करण से वैर करना। सज्जनों का।।६७०।। शिला शैवाल से वेष्टित। पक्व निंबफल जैसे सुपीत। वैसी जिसकी उत्तम पार्थ। बाह्य क्रिया।।७१।। अज्ञान उसके ठांई। वसत देखो निश्चित ही। प्रत्यवाय इस बोल को नाहीं। सत्य मानो।।७२।। गुरुकुल से लज्जित। गुरुसेवा जो टालत। विद्या पाकर होवे उन्मत्त। गुरु से ही जो।।७३।। उसका नामोच्चारण। वाचा से जैसा शूद्रान्न सेवन। किंतु हुआ मुझसे लक्षण। वर्णन में यह।।७४।। अब करूं गुरु भक्तों का स्मरण। वाचा को प्रायश्चित से पापहरण। गुरुसेवक का गुण कीर्तन। सूर्य जैसा।।७५।। इससे पापका दोष। निरसेवा वाचाका अशेष। जो गुरुनिंदक नाम से विशेष। हुआ मुझसे।।७६।। नाम यह पापका पार्थ। सब भय हरण करत। आगे सुनो बतावत। चिन्ह अन्य।।७७।। जो अंग से कर्महीन केवल। मनमें किंतु विकल्प सकल। अटवी का अमंगल। कुआं जैसा।।७८।। उसके मुख में कंटक। अंदर अस्थि समूह देख। अशुचि इसविध अशेख। सबाह्य जो।।७९।। जिस विध श्वान पार्थ। खुला ढका न जानत। वैसे अपना पराया न देखत। द्रव्य के लिये।।६८०।। जैसे ग्रामसिंह के ठाई। ठांव अठांव मिलनीको नाही। वैसा स्त्री संबंध में कुछ ही। न विचारे जो।।८१।। कर्म का समय चूकत। नित्य नैमित्तिक वैसे ही रहत। किंतु उससे न होवे दु:खित। मनमें कदा।।८२।। पाप में निर्लज्ज पार्थ। पुण्यविषय में अति भ्रष्ट। मन में जिसके वेग बहुत। विकल्प

बताऊंगा।।५६।। जो प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये जीवित रहता है, सन्मान के लिए लालायित रहता है, हे धनुर्धर! सत्कार से संतुष्ट होता है,।।५७।। पर्वत के शिखर के अनुसार जो गर्व से उन्नत रहता है, कभी नम्रता से व्यवहार नहीं करता उसके पास पूर्ण रूप से अज्ञान है ऐसा समझना।।५८।। स्वधर्म का मंगलमय तोरण अपने वाणी के अश्वत्थ पर नित्य बांधता है, हे अर्जुन! मंदिर में मोर्चल नित्य खड़ा रखते हैं।।५९।। स्वयं के ज्ञान का प्रचार करता रहता है, उत्तम कार्य कभी किया हो, तब उसका डंका पीटता रहता है, जो कुछ भी वह करता है उससे उसको कीर्ति प्राप्त हो यही हेतु रहता है।।६६०।। ऊपर से भस्म लेपन, लोगों की अगवानी टालता है, वह अज्ञान की खान समझना।।६१।। अरण्य में अग्नि लगने से, वहां स्थावरजंगम सब जलता है, वैसे उसके आचरण से जग को दुःख होता है।।६२।। कौतुक से जैसे ही वह बढ़ाई से बकवाद करता है वह सब्बल से भी तीक्ष्ण प्रतीत होता है, उसका संकल्प विष से भी ज्यादा घातक होता है।।६३।। जिसका जीवन हिंसा का घर है, वहां बहुत अज्ञान है, वह अज्ञान का निधान है।।६४।। फूंकने के भाथी फूलती है, छोड़ने पर उसी क्षण दब जाती है, वैसा अज्ञानी संयोग, एवं वियोग से, फूलता एवं तड़पता है।।६५।। चक्रवात में धूल आकाश में उड़ती है, वैसे स्तुति सुनने से वह हर्ष से फूलता है।।६६।। थोड़ी निंदा सुनने से मस्तक पकड़कर बैठता है, (दुःखी होता है) जैसा कीचड़ पानी में घुलता है एवं हवा से सूखता है।।६७।। वैसा मान, अपमान से उसको होता है, कोई भी विकार का वेग उससे सहा नहीं जाता, उसके पास पूर्ण अज्ञान निश्चित होता है।।६८।। मन में बुरा भाव रहता है, बाह्य रीति से वाणी एवं दृष्टि खुली रखता है, चाहे जिसको आलिंगन देता है एवं किसी को भी झटक देता है।।६९।। व्याध जानवरों को जैसे घांस देता है, वैसे उसका दूसरों का पालन करना एवं अंतःकरण से सज्जनों का बैर करना होता है।।६७०।। काई से आच्छादित पत्थर एवं कड़वे नीम का कड़ुवा फल जैसे सुंदर पीतवर्ण का होता है, वैसे हे पार्थ! उसकी बाह्य क्रियाएं उत्तम होती हैं (किंतु अंतःकरण मलिन रहता है)।।७१।। उसके पास निश्चित अज्ञान रहता है, इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं, इसे सत्य समझना।।७२।। गुरुकुल की उसे लज्जा लगती है, गुरुसेवा जो टालता है, ज्ञान प्राप्त करके गुरु से ही जो उन्मत्त व्यवहार करता है।।७३।। उसका नाम उच्चारण करना मानो शूद्र के अन्न का सेवन करनेवाला होता है, किन्तु मुझसे यह लक्षण वर्णन करते हुए कहे गये हैं।।७४।। अब गुरु भक्तों का स्मरण करता हूं, प्रायश्चित करके वाणी का पाप नष्ट होगा, सूर्य के जैसा गुरुसेवक का गुण कीर्तन करेंगे।।७५।। इससे पाप का दोष, जो वाणी से हुआ है, वह नष्ट होगा, जो गुरुनिंदक के नाम से मुझसे विशेष हुआ है।।७६।। हे पार्थ! पापका यह नाम, सब भय नष्ट करता है, आगे इसके लक्षण बताऊंगा, तुम सुनो।।७७।। जो शरीर से केवल कर्मरहित रहता है, किंतु मन में सब विकल्प रखता है, जंगल का कुआं जैसा अमंगल होता है।।७८।। कुए में कांटे भरे होते हैं भीतर अस्थिपंजर होते हैं, अतः वह अंतर्बाह्य अशुद्ध होता है।।७९।। हे पार्थ! जैसे कुत्ता खुला या ढंका नहीं जानता, वैसा जो अपना पराया धन के कारण नहीं देखता।।६८०।। कुत्ता मिलन के लिये योग्य, अयोग्य स्थान नहीं जानता, वैसा यह स्त्री संग के लिये कुछ भी विचार नहीं करता।।८१।। विहित कर्म करने का समय निकल जाता है, नित्य नैमित्तिक कर्म कैसे भी करता है, किंतु उससे मन में कभी दुःखी नहीं होता।।८२।। हे पार्थ! पाप के विषय में जो निर्लज्ज होता है, पुण्यकर्म में भ्रष्ट व्यवहार करता है, जिसके मन में विकल्प

Funding by IKS-MoE

को ।।८३।। वह जानो निखिल। अज्ञान का पुतला केवल। बांधत चक्षुको सकल। वित्ताशासे ।।८४।। और किंचित स्वार्थ के लिये। बुद्धि से विचलित होवे। जैसा तृण बीज हिल जाये। चींटीं से भी ।।८५।। पाव रखते क्षण। तडाग कर्दममय होवे पूर्ण। भय के नाममात्र से अर्जुन। व्याकुल जो ।।८६।। मनोरथ के प्रवाह सहित। बहत जिसका चित्त। महापूर में गिरा प्रक्षिप्त। कद्दू जैसा ।।८७।। वायु का सहाय्य पावे। धूम दिगंतर में जाये। वैसे दुःखवार्ता से होवे। विचलित जो ।।८८।। चक्रवात के समान। अनाश्रय सदा गतिमान। तीर्थ क्षेत्र नगर में अर्जुन। स्थिर नाहीं ।।८९।। अथवा उन्मत्त सरट। कभी फुनगी कभी स्तंभ तक। भ्रमत कोरा निरर्थक। यहां वहां ।।६९०।। कनारी जमाने बिन पार्थ। स्थिर न रहे कदाचित। लेटे जब तक शांत। घूमत अन्यथा ।।९१।। उसके ठाँई उदण्ड। अज्ञान वसत वितन्ड। जो चंचल गुन्ड। भाई मर्कट का ।।९२।। और हे अर्जुन!। जिसके अंतर में सुन। नहीं कुछ बंधन। संयम का ।।९३।। नाले को जब आवे पूर। रोके न सिकतासेतु सुवीर। वैसे शास्त्रशुद्ध आचार। का भय न माने जो ।।९४।। व्रतबंधन न मानत। स्वधर्म पंख से कुचलत। मर्यादा नियम की उल्लंघत। क्रिया जिसकी ।।९५।। नाहीं पापका भय। नहीं पुण्य से स्नेह। लज्जा की सीमा कौंतेय। उखाड़त जो ।।९६।। कुलधर्म को पीठ दिखाकर। वेदाज्ञा दूर हटाकर। कृत्याकृत्य व्यापार। निर्णय न जाने ।।९७।। वृषभ जैसा मुक्त। पवन सीमारहित। बांध जैसा फूटत। निर्जन में ।।९८।। अंध हाथी मदोन्मत्त। पर्वत पर दावानल प्रदीप्त। वैसा विषयोन्मुख चित्त। जिसका पार्थ ।।९९।। क्या न फेकत घूरे पर (कचरा फेकने की जगह)। मुक्त वृष किससे वश होत?। कौन न देहरी से गुजरत। ग्राम द्वार के?।।७००।। अन्नसत्र में कोई भी खात। या सामान्य को जब प्रभुता प्राप्त। दुकान में बनिया के पार्थ। कौन न रीगत?।।१।। वैसा जिसका अंतःकरण। उसके ठाँई संपूर्ण। अज्ञान की विद्यमान। ऋद्धि वहां ।।२।। और विषयों की प्रीति। जीते मरते न छोड़े किरीटि। करे स्वर्ग में भी भोगप्राप्ति-। के उपाय यहीं से ।।३।। जो अखण्ड भ्रमत भोगार्थ। जिसे काम क्रिया का व्यसन पार्थ। विरक्त का मुख देखकर करत। सचैल स्नान जो ।।४।। विषयों से श्रान्त होत। किंतु न उनको छोड़त। सड़े गलित हस्त से भक्षत। कोढ़ी जैसा ।।५।।

खरी लगने न दे उड़त। लत्ता से नासिका फोड़त। तथापि न जैसे मुड़त। पीछे खरू ।।६।। वैसा जो विषय प्राप्त्यर्थ। कूदत जलती आग में पार्थ। मानत अंग में आभूषण सार्थ। व्यसनों को जो ।।७।। चाहे ऊर फूटत। लालसा मृग की और बढ़त। किंतु न वह माया जानत। मृगजल की ।।८।। वैसा जन्म से मृत्यु पर्यंत। करे बहुविध यत्न विषयार्थ। किंतु न ऊबत और बढ़त। प्रेम अधिक ।।९।। प्रथम बालदशा में। माता-पिता का ही छंद मन में। पश्चात उनके स्त्रीमांस में। भूले सब ।।७१०।। जब स्त्री भोग में असमर्थ। वार्धक्य प्राप्त होवे पार्थ। तब वही प्रेमभाव यथार्थ। रखे पुत्र

बड़े वेग से उत्पन्न होते हैं।।८३।। वह पूर्ण रीति से अज्ञान का पुतला समझना, वह अपनी दृष्टि केवल धन पर रखता है।।८४।। थोड़े स्वार्थ के लिये उसकी बुद्धि विचलित होती है, जैसे चीटी से घांस का बीज हिल जाता है।।८५।। पांव रखते ही डबरे का पानी गंदा होता है, हे अर्जुन! नाममात्र भय से वह व्याकुल होता है।।८६।। मनोरथ के प्रवाह के साथ जिसका चित्त बहता जाता है, जैसे कद्दू पूर में गिरने पर जल के साथ बहता जाता है।।८७।। वायु की सहायता से धुआं आकाश में दूर तक जाता है, वैसे दुःख की वार्ता से वह विचलित होता है।।८८।। चक्रवात के समान जो स्थिर नहीं रहता है, हे अर्जुन! तीर्थ नगर एवं क्षेत्र में भी स्थिर रहना वह जानता नहीं।।८९।। अथवा उन्मत्त सरट गिरगिट पेड़ के तल से उपर तक एवं ऊपर से तल तक केवल आता जाता रहता है, तद्वत अज्ञानी भटकता रहता है।।६९०।। हे पार्थ! कनारी जमीन में गाडे बिना स्थिर नहीं होती, जब वह सोता है तभी शान्त रहता है अन्यथा घूमता रहता है।।९१।। उसमें प्रचुर मात्रा में अज्ञान रहता है, उसको चंचलता में बंदर का भाई समझना चाहिये।।९२।। और हे अर्जुन! जिसके हृदय में कुछ भी बंधन नहीं होता, जो संयम जानता नहीं।।९३।। नाले को जब बाढ़ आती है, तबे हे सुवीर! रेती का सेतु टिकता नहीं, वैसे शास्त्र शुद्ध आचार का। उसके मन में भय नहीं होता।।९४।। व्रतों का बंधन नहीं मानता, स्वधर्म को लात से कुचलता है, जिसके कर्म मर्यादा के नियमों का उल्लंघन करते हैं।।९५।। उसको पाप का भय नहीं होता, पुण्य से प्रेम नहीं होता, हे कौंतेय! जो लज्जा की मर्यादा समूल उखाड़ता है।।९६।। अपने कुल के आचार नहीं मानता, वेदों की आज्ञा को तुच्छ समझता ह, सत्कर्म एवं असत्कर्म कौन सा है इसका वह निर्णय नहीं कर सकता।।९७।। सांड़ जैसा मुक्त रहता है, वायु जैसा मर्यादारहित होता है,निर्जन स्थान में बांध फूटने पर जल जैसा अनिर्बंध बहता है।।९८।। अंधा हाथी मदोन्मत्त होने पर जैसा अनिर्बंध घूमता है, पर्वत पर जलने वाला अग्नि-दावानल सर्वत्र फैलता है, वैसा हे पार्थ! जिसका चित्त नित्य विषयों में लिप्त रहता है।।९९।। खुले स्थान में कचरे में क्या नहीं फेंका जाता? मुक्त घूमनेवाला बैल किसको वश होगा? गाँव के द्वार की देहरी कौन नहीं लांघता?।।७००।। अन्न सत्र में कोई भी आकर खाता है, सामान्य व्यक्ति को जब श्रेष्ठता प्राप्त होती है तब वह क्या नहीं करता? या हे पार्थ! बनिया की दुकान में कौन नहीं जाता?।।१।। वैसा जिसका अंतःकरण है वहाँ अज्ञान साक्षात विकसित होता है।।२।। हे किरीटी! विषयों की प्रीति जीवित रहते हुए एवं मरते समय भी नहीं छोड़ता, स्वर्ग में भी उपभोग प्राप्त हो ऐसा उपाय वह करता है।।३।। जो अखण्ड उपभोग के लिये ही कष्ट करता है, हे पार्थ! जिसको केवल काम क्रिया का ही व्यसन है, विरागी लोगों का मुख देखकर जो सचैल स्नान करता है।।४।। विषयों से थकता है किन्तु उसे छोड़ता नहीं, कोढ़ी जैसा सड़े-गले हाथों से खाना खाता है।।५।। गधी स्पर्श होने नहीं देती, लथाड़ती रहती है, पैर से नासिका फोड़ती है, किन्तु गधा जैसे पीछे नहीं हटता।।६।। वैसा जो विषयोपभोग के लिये, हे पार्थ! जलती आग में कूदने को तैयार रहता है, जो व्यसनों को अपने शरीर के आभूषण समझता है।।७।। मृगमरीचिका को देखकर मृग दौड़ता है, अन्त में छाती फूटकर गिरता है किन्तु माया न जानते हुये मृग की जल पीने की (मृग जल) इच्छा और बढ़ती है।।८।। वैसा जन्म से मृत्युपर्यंत विषय प्राप्ति के लिये विविध प्रयास करता रहता है, किन्तु उसका विषयों की प्रति प्रेम अधिक बढ़ता है, विराग नहीं होता।।९।। प्रथम बाल्यावस्था में माता-पिता का, मन में छंद होता है, उसके पश्चात तारुण्यावस्था में स्त्री मांस में प्रेम होता है, सब भूल जाता है।।७१०।। जब स्त्री का उपभोग लेने में असमर्थ होता है, हे पार्थ! वृद्धत्व प्राप्त होता है, तब वही प्रेमभाव पुत्र में रखता

Funding by IKS-MoE

में ।।११।। जैसे जन्मांध रहे घरमें। रहत वैसे सुत परिवार में। जीये मरे किंतु न त्रसित मन में। विषयों से जो ।।१२।। जानो उसके ठाँई। अज्ञान की सीमा नाहीं। सांप्रत कुछ और ही। कहूं चिन्ह ।।१३।। तब यही बुद्धि देहात्म। ऐसा जिसका मनोधर्म। मानकर दृढ़ जो कर्म। प्रारंभ करे ।।१४।। और न्यून या अधिक। जो जो कर्म करे सकौतुक। उसके अहंकार से अत्यधिक। होवे उनमत्त जो ।।१५।। प्रसाद लेकर मस्तक पर। देव भगत घूमत चौफेर। वैसा विद्या यौवन गर्व निर्भर। तनकर चले ।।१६।। कहे मैं ही एक कुबेरपति। मेरे ही घर में सब संपत्ति। मुझ जैसी आचारनीति। किसकी जगमें? ।।१७।। नहीं मेरे समान श्रेष्ठ। मैं सर्वज्ञ और वरिष्ठ। इस तुष्टिगण्ड से गर्विष्ठ। वर्तत सदा ।।१८।। व्याधिग्रस्त मानव को। भोग जैसा असह्य उसको। वैसे औरों का सुख जिसको। असहनीय ।।१९।। बाति का गुण भक्षत। स्नेह सब जलावत। जहां रखो वहां होत। कालिख पूर्ण ।।७२०।। जीवन सिंचन से तड़तड़त। हवा से प्राण छोड़त। स्पर्श से गृह धड़धड़त। काडी न बचत ।।२१।। किंचित प्रकाश देत। उतने से ही अति उष्मा करत। ऐसे दीप के समान। सुविज्ञ जो ।।२२।। औषध के नाम से दिया दूध। नवज्वर होवे और प्रक्षुब्ध। या निवर्तत होकर विषशुद्ध। सर्प से वही ।।२३।। वैसे सद्गुण से मत्सर। व्युत्पत्ति से अहंकार। तपोज्ञान से अपार। उन्माद चढ़े ।।२४।। अंत्यज राज्यपर प्रतिष्ठित। या अजगर खंबा निगलत। वैसे गर्व से फूलत। सदा जो ।।२५।। जो बेलन सम दृढ़ पार्थ। पत्थर सम न पसीजत। गुनिया के न उतरत। मांत्रिक जैसा ।।२६।। किंबहुना उसके पास। अज्ञान विद्यमान विशेष। यह निश्चित अशेष। कहूं तुझको ।।२७।। और भी अर्जुन। गृहदेहसामग्रि में जो मग्न। किंतु गतजन्म का स्मरण। न रहे जिसको ।।२८।।

कृतघ्नपर उपकार किया। चोर को व्यवहार दिया। या निर्लज्ज का स्तवन गाया। बिसरत जैसा ।।२९।। घर से निकाला बाहिर। पूंछ कान काटकर। श्वान जैसे यद्यपि बहे रुधिर। आवे पुनः ।।७३०।। मेंढक सर्पमुख में पार्थ। निगला जाय जीव सहित। किंतु वह तो मक्षिकार्थ लालायित। स्वस्थिति जाने ना ।।३१।। वैसे नवही द्वार स्रवत। अंग में उभरत कुष्ट। जिससे यह दशा पावत। न विषाद किंचित ।।३२।। माता के उदर कुहर में। निमग्न विष्टा के पूर में। नवमास पर्यंत जठर में। उबलत जो ।।३३।। गर्भकालकी व्यथा। और प्रसव में जो हुई तत्त्वता। वह कुछ भी सर्वथा। स्मरत न जो ।।३४।। मलमूत्र पंक में। पड़ा जननी अंक में। देखकर न त्रसित मन में। थूके न जो ।।३५।। कलतक गत जन्म कित्येक। आगे भी और दुःखदायक। आवेंगे भविष्य में अनेक। सोचे न जो ।।३६।। और भी इसी प्रकार। यौवन वैभव में चूर। मन में न करे विचार। मृत्यु चिंताका ।।३७।। जीवित का करके विश्वास। एक दिन मृत्यु आयेगा खास। यह बात जिसका मानस। माने ना ।।३८।। जैसे अलमोदक का मीन। कभी यह सूखेगा पर्ण। जानकर भी। न जावे अर्जुन।

Funding by IKS-MoE

है।।११।। जैसे जन्म से अंधा घर में रहता है, माता उससे अधिक प्रेम करती है, वैसा जीवित रहते हुये वह विषयों से विरक्त नहीं होता।।१२।। उसके पास अज्ञान की मर्यादा नहीं, यह जानो, अब तुम्हें और लक्षण बताता हूँ।।१३।। देह ही आत्मा है ऐसी उसकी बुद्धि होती है, ऐसा उसका मन का धर्म होता है, ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर वह कर्म प्रारंभ करता है।।१४।। और कमी या अधिक जो कुछ कार्य आनंद से वह करता है उसका अहंकार रखकर वह गर्व करता है।।१५।। मस्तक पर प्रसाद रखकर। देव एवं भक्त चारो तरफ घूमते हैं, वैसे विद्या से एवं तरुण अवस्था से अहंकार में उद्धत शरीर से चलता है।।१६।। मैं ही एक कुबेरपति हूँ मेरे घर में ही सब धन है, मेरे जैसी आचरण की पद्धति जग में कहाँ हैं?।।१७।। मेरे जैसा कोई श्रेष्ठ नहीं है, मैं सब जानता हूं। एवं प्रसिद्ध हूं, इस समाधान से वह और अहंकार करता है।।१८।। रोगी मनुष्य को भोग करना असह्य होता है, वैसे अन्य लोगों का सुख उसको असहय प्रतीत होता है।।१९।। दीपक बत्ती को खाता है, तेल को जलाता है, जहाँ रखो वह स्थान काला होता है।।७२०।। जल के स्पर्श से तड़तड़ करता है, हवा से बुझता है, उसके स्पर्श से घर जलता है कुछ शेष नहीं बचता।।२१।। थोड़ा प्रकाश देता है किन्तु उससे अति उष्णता उत्पन्न होती है, ऐसे दीपक के समान जो थोड़े में अहंकारी बनता है।।२२।. औषधि के रूप में दूध देने से नवज्वर ज्यादा बढ़ता है, या सांप को दूध पिलाने से वह विष बनता है।।२३।। वैसे सद्गुणों से मत्सर करने से, ज्ञान से अहंकार बढ़ता है, तपोज्ञान से उन्माद बढ़ता है।।२४।। अंत्यज को राज्य पर अधिष्ठित करने से वह अहंकार से फूलता है, लकड़ी निगलने से अजगर फूलता है, वैसे जो नित्य अहंकार से फूलता है।।२५।। जो बेलन के समान कठिन होता है, हे पार्थ! पत्थर के समान पसीजता नहीं, मांत्रिक, गुनियाँ सांप का विष नहीं उतार सकता।।२६।। किंबहुना उसके पास अज्ञान विद्यमान है ऐसा. समझना है, यह तुझे निश्चित कहता हूँ।।२७।। और भी हे अर्जुन! जो घर, शरीर, सामग्री में मग्न होकर पूर्व जन्म की याद नहीं रखता।।२८।। कृतघ्न मनुष्य जैसा किया हुआ उपकार का स्मरण नहीं रखता, चोर उधार लिया हुआ धन भूल जाता है, निर्लज्जा पुरुष को, की हुई स्तुति का विस्मरण जैसे होता है।।२९।। कान एवं पूँछ काटकर कुत्ते को घर से बाहर निकाल देने पर भी, रक्त बहता है फिर भी वह लौटकर आता है।।७३०।। सांप मुख में मेंढक को पकड़ता है, उसको वह पूरा निगल जाना चाहता है, मेंढक अपनी स्थिति न जानते हुये सामनेवाली मक्खी को निगलने के लिये लालायित रहता है।।३१।। वैसे नवद्वार झरते है, शरीर में कुष्ठ रहता है, जिस कर्म से यह दशा प्राप्त हुई है उसका उसको किंचित् भी विषाद नहीं होता।।३२।। माता के उदररूपी गुफा में, मलमूत्र के पूर में उदर में नवमास पर्यंत खौलता रहता है।।३३।। गर्भ में जो निवास रहता है उस काल की व्यथा एवं प्रसव में जो कष्ट हुये उसका उसको तत्त्वतः कुछ भी स्मरण नहीं रहता।।३४।। मलमूत्र के कीचड़ में माता के गोद में पड़ा रहता है, देखकर त्रस्त न होते हुये, घृणा नहीं मानता।।३५।। कितने जन्म निकल गये, आगे भी कितने दुःखदायक जन्म लेने पड़ेंगे, भविष्य का विचार वह नहीं करता।।३६।। और भी इस प्रकार से तरुणाई में मस्त रहते हुये मृत्यु चिंता का मन में विचार नहीं करता।।३७।। जीवित रहने में विश्वास रहता है, एक दिन मृत्यु निश्चित आने वाला है, इस बात को जिसका मन नहीं मानता।।३८।। जैसे डबरे में रहनेवाली मछली यह नहीं जानती कि एक दिन यह जल सूखने वाला है, हे अर्जुन! जानते हुये भी

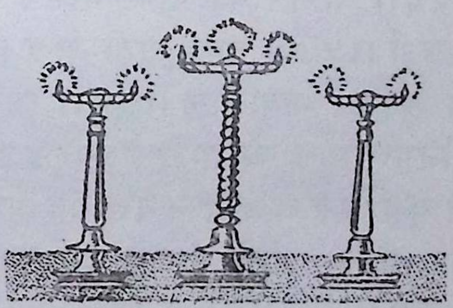

Funding by IKS-MoE

महादह में।।३९।। मधुर गान से भ्रमित। मृग व्याध को न देखत। गल न देखे निगलत। मांस खण्ड मीन।।७४०।। दीप की जगमग। जलायेगी पतंग। किंतु झोंकत अपना अंग। अज्ञान से वह।।४१।। निद्रासुख में मूरख मग्न। जलता स्वगृह न देखे अर्जुन। या न जानकर विषाक्त अन्न। सेवन करे जो।।४२।। वैसे जीवित के मिष से। देवें निमंत्रण मृत्यु को जैसे। न जाने राजससुख से। धनंजय।।४३।। शरीर का पोषण। अहोरात्रि का परिभ्रमण। विषय सुख संवेदन। माने सत्य।।४४।। किंतु विचार न जाने बुद्धिहीन। यह वैश्या का सर्वस्व अर्पण। सच तो यह लूटना संपूर्ण। धनुर्धर।।४५।। साहु-चोर की यह संगत। प्राणनाशक सुनिश्चित। मृणमूर्ति को जैसे स्नपन होत। नाशकारी।।४६।। पंडुरोग से अंग फूलना। जानो मृत्यु का समीप आना। ऐसे में आहार निद्रा में खो जाना। भ्रम यह।।४७।। सम्मुख शूल के पार्थ। द्रुतगति पद से धावत। प्रतिपद सन्निध आवत। मृत्यु जैसा।।४८।। वैसे देह ज्यों-ज्यों वर्धत। दिन ज्यों-ज्यों बीतत। और ज्यों-ज्यों होवे लिप्त। विषय सुख में।।४९।। तब-तब अधिकाधिक पार्थ। मरण आयुष्य को जीतत। नमक जैसे घुलत। उदक में।।७५०।। जैसे जीवित्व जाये। काल सान्निध आवे। देखते-देखते नाश होवे। न जाने जो।।५१।। किंबहुना सुनो अर्जुन। यह अंग का मृत्यु नित नवीन। जो न जाने माया पूर्ण। विषयों की।।५२।। पार्थ! वह मूढ़मति। अज्ञान देश का भूपति। जानो यह मेरी उक्ति। निःसंदेह।।५३।। जीवित के संतोष से। मृत्यु को न देखे जैसे। वैसे तारुण्य के भय से। जरा न गणत।।५४।। पर्वत से गिरा गाड़ा (गाड़ी)। शिखर से छूटा धोंड़ा (पत्थर)। वैसा न देखे सम्मुख खड़ा। वार्धक्य जो।।५५।। बन नाले को आया पूर। या छिड़ी भैसों की झुंझ घोर। वैसे यौवन के मद में चूर। हुआ उन्मत्त जो।।५६।। शरीर की पुष्टि नष्ट। मुख की कान्ति लुप्त। मस्तक प्रान्त में छूटत कंप। पार्थ।।५७।। पक्व दाढ़ी शुभ्र होत। ना ना करे ग्रीवा कंपित। तथापित अंत तक न छूटत। मायाजाल।।५८।। सामने खंबा गिरे वक्ष पर। फिर भी न देखे अंध नर। निगले फल जो गिरा नेत्रपर। आलसी प्रेम से।।५९।। वैसे तारूण्य आजका। भोगते वृद्धत्व कल का। न देखे वह अज्ञान का। प्रतीक पूर्ण।।७६०।। अशक्त कुब्ज देखकर जैसे। हंसी उड़ावे अभिान से। किन्तुन कहे होगा ऐसे-। ही कल मुझे।।६१।।

और अंग में वृद्धपन। जो प्रत्यक्ष मरण का चिन्ह। परन्तु तारुण्य का अर्जुन। भ्रम न नष्ट।।६२।। वह अज्ञान का घर। सत्य मानो यह उत्तर। सुनो अब अन्य और। लक्षण इतर।।६३।। व्याघ्र के वन में से पार्थ। चर के आवे दैव से सुरक्षित। उसी विश्वास से पुनः वहां धावत। वृष जैसा।।६४।। सर्पगृह भीतर से पार्थ। निधि निकाला रहा स्वस्थ। इसीलिये हुआ निश्चिंत। बना नास्तिक जो।।६५।। वैसे यह शरीर कौन्तेय। है अभी तक निरामय। किन्तु कभी रोगी होगा यह सत्य। माने न जो।।६६।। वैरी को नींद आयो। अब द्वंद्व कुछ शेष नाहीं। समझे,

Funding by IKS-MoE

वह महादह में नहीं जाती।।३९।। मधुर गायन से भूलकर हिरण बहेलिया के तरफ ध्यान नहीं देता, आमिष को देखकर जैसे मछली गल को भूल जाती है।।७४०।। दीपक की लौ पतंग को जलायेगी यह न जानते हुये पतंगा अपना शरीर ज्योति पर अज्ञान से निछावर कर देता है।।४१।। हे अर्जुन! जो निद्राका सुख लेने में निमग्न है, ऐसा मूर्ख अपना जलता घर नहीं देखता, या न जानकर विषयुक्त अन्न जो खाता है।।४२।। वैसे जीवित रहने के निमित्त मृत्यु को निमंत्रण देना है वह रजोगुण के कारण जानता नहीं।।४३।। हे धनंजय! शरीर का पोषण, दिन एवं रात का भ्रमण, विषय सुख की संवेदना, वह सत्य मानता है।।४४।। किन्तु वह बुद्धिहीन यह नहीं जानता, हे धनुर्धर! वेश्या का सर्वस्व अर्पण करना ही सत्य में लूटना है।।४५।। सभ्य चोर की दोस्ती निश्चित रूप से प्राणों का नाश करने वाली होती है, मिट्टी के मूर्ति को स्नान कराना ही उसका नाश करना होता है।।४६।। पंडु रोग से शरीर पर सूजन आना ही मृत्यु समीप आना है, ऐसी परिस्थिति में आहार एवं निद्रा में समय बिताना यह भ्रम है।।४७।। हे पार्थ! शूल सम्मुख देखते हुये दौड़कर जाने से प्रत्येक क्षण मृत्यु पास आ जाती है।।४८।। वैसे देह जैसे-जैसे बढ़ता है, दिन जैसे बीतता है, वैसा वह विषय सुख में अधिकाधिक लिप्त होता है।।४९।। हे पार्थ! तब मृत्यु मनुष्य पर विजय प्राप्त करता है, जैसे नमक जल में घुलता है।।७५०।। जैसे जीवन समापत होकर मृत्यु पास आवे, देखते-देखते नाश होगा यह जो जानता नहीं।।५१।। किंबहुना हे अर्जुन! सुनो! यह शरीर का मृत्यु नित्य नया रहता है, जो विषयों की माया पूर्ण रीति से नहीं जानता।।५२।। हे पार्थ! वह मूर्ख बुद्धि अज्ञान देश का राजा समझना चाहिये, यह मेरा कहना संदेह रहित समझना।।५३।। जीवन के संतोष से वह जैसा मृत्यु को नहीं देखता, वैसे तारुण्य के मद में वृद्धावस्था का ध्यान नहीं रखता।।५४।। पर्वत से गाड़ी गिरती है तब या शिखर से जब पत्थर गिरता है तब वह सीधा नीचे तल में आता है वैसा जो पास खड़े वृद्धत्व को देखता नहीं।।५५।। जंगल में नाले को बाढ़ आती है, या भैसों का झगड़ा प्रारंभ होता है तद्वत तारुण्य के मद में जो नित्य उन्मत्त रहता है।।५६।। शरीर की मुटापा नष्ट होता है, मुख का तेज लुप्त होता है, हे पार्थ! मस्तक को कंप उत्पन्न होता है,।।५७।। दाढ़ी पककर सफेद होती है, गर्दन कांपने लगती है, तथापि अन्त तक मायाजाल छूटता नहीं।।५८।। खंबा गिरकर छाती पर पड़ता है, फिर भी अंधे को दिखता नहीं, आलसी मनुष्य नेत्र पर गिरा फल प्रेम से खाता है।।५९।। वैसे जो आज तरुण है वह कल वृद्ध होने वाला है, जो यह देखता नहीं वह अज्ञान का प्रतीक समझना चाहिये।।७६०।। अशक्त एवं कुरूप देखकर जो अभिमान से हंसी उड़ाता है किन्तु भविष्य में मैं भी ऐसा हो सकता हूं इसको वह समझता नहीं।।६१।। शरीर में वृद्धता आना ही प्रत्यक्ष मृत्यु का लक्षण है, हे अर्जुन! वह देखकर भी तारुण्य का भ्रम नष्ट नहीं होता।।६२।। वह अज्ञान का घर समझता चाहिये, यह उत्तर तुम सत्य मानना, अब और अन्य लक्षण सुनो।।६३।। बाघ जिस जंगल में है वहाँ से दैववशात् चरने के बाद लौटकर सुरक्षित आने पर विश्वास से पुनः बैल उसी जंगल में पुनः दौड़ता जाता है।।६४।। हे पार्थ! सर्प के बिल से धन निकालने पर स्वस्थ होकर जो निश्चिंत बैठकर नास्तिक बनता है।।६५।। वैसे हे कौंतेय! यह शरीर अभी तक सुदृढ़ है, किन्तु यह कभी जो भी रोगी होगा यह बात वह मानता नहीं।।६६।। शत्रु को नींद आयी है, अतः अब युद्ध नहीं होगा, ऐसा जो समझता

Funding by IKS-MoE

होवे सकुटुम्ब नर वही। नष्ट जैसा।।६७।। और स्त्री-पुत्रादि संपत्ति। जब तक सुख देत किरीटि। उसी से जिसकी होव दृष्टि। मदान्ध पूर्ण।।६८।। वह केवल अज्ञान। वही अज्ञानमूर्त अर्जुन। जो इंद्रियों से स्वैर वर्तन। करत जात।।६९।। होगा वियोग क्षण में। आवेगी विपदा प्रहर में। यह भावी दुःख मन में। देखे न जो।।७७०।। वह अज्ञानी पार्थ। वही मूढ़ यथार्थ। स्वच्छंद से जो पोषत। इंद्रियों को।।७१।। यौवन के उत्कर्ष से। संपत्ति के सहाय से। सेव्यासेव्य एकसे। भोगत जो।।७२।। न करना वह करे। असंभाव्य मन में धरे। न सोचना वही विचारे। मति जिसकी।।७३।। प्रवेशत जहाँ न प्रवेशना। माँगत जो न मांगना। स्पर्शत जिसको न स्पर्शना। अंग मन से।।७४।। न जाना वहीं जावे। न खाना वही खावे। न देखना देखकर वही होवे। तब ही तोष।।७५।। न करना वही संग। न रखना वही लाग। अनाचरणीय मार्ग। आचरत जो।।७६।। अश्रवणीय सुनत। न बोलना वही बकत। किन्तु होगा पाप न यह देखत। वर्तन में जो।।७७।। अंग मन जिससे संतुष्ट। अतः कृत्याकृत्य न सोचत। जो क्रिया सब करत। अनाचरणीय।।७८।। किन्तु पाप भागी मैं होऊंगा। या नरक यातना पाऊंगा। यह आगे का न देखेगा। कुछ भी वह।।७९।। उसी के समागम से। प्रसरत अज्ञान जग में ऐसे। जो सज्ञान को भी एक से। ग्रासत पार्थ।।७८०।। रहने दो अब यह देख। अज्ञान का चिन्ह और एक। होगा जिससे तुझको सम्यक। ज्ञान उसका।।८१।। तब जिसकी प्रीति पूर्ण। उलझी गृह में अर्जुन। नव गंध केसर में जान। भ्रमरी जैसी।।८२।। शर्करा राशि में पार्थ। बैठी मक्षिका न उठत। वैसे स्त्री में आसक्त चित्त। जिसका पूर्ण।।८३।। मेंढक जैसे कुंड सेऽ।या मक्खी नासामल से। ढोर जैसे कर्दम से। फँसा दलदल में।।८४।। वैसे जिसका तन मन। न निकले गृह से कदाचन। जैसे सर्प होकर बैठे अर्जुन। बामी में उस।।८५।। प्रियतम के कंठ को जैसे। प्रमदा आलिंगत दृढ़ प्रेम से। कुटिया को पकड़े वैसे। धनुर्धर।।८६।। मधुर रसोद्देश्य प्रीत्यर्थ। मधुकर भ्रमत अविरत। वैसे गृहसंगोपनार्थ। यतत जो।।८७।। वार्धक्य में प्राप्त पुत्ररत्न। वह भी एकलौता अर्जुन। उसका जितना भूषण। माता पितरको।।८८।। उस समान पार्था। गृह में जिसको प्रेम आस्था। और स्त्री सेवा सर्वथा। जाने न जो।।८९।। वैसा स्त्री देह में जो पार्थ। मग्न आसक्त सर्वभाव युक्त। कौन मैं क्या कर्म उचित। कुछ जाने ना।।७९०।। महापुरुष का चित्त। ब्रह्मपद में जब सुस्थित। रुके सब व्यवहारजात। जिस प्रकार।।९१।। हानि लाज न देखत। परापवाद न सुनत। इंद्रियां जिसकी आसक्त। स्त्रीमांस में।।९२।। आराधत स्त्री का चित्त। और उसके छंद में ही नाचत। मर्कट जैसे वशीभूत। मदारी के।।९३।। स्वतः श्रमत अपार। दुखी करके इष्टमित्र। धनवृद्धि करे प्रचुर। लोभी जैसा।।९४।। दानपुण्य को पीछे हटत। गोत्र कुटुंबियों से करे कपट। किन्तु स्वस्त्री की मरजी झेलत। न्यून पड़ने न दे।।९५।। कृपणता से पूजे कुलदैवत। मीठे बोले से गुरु को

है वह सपरिवार नष्ट होता है।।६७।। एवं स्त्री पुत्र आदि संपत्ति, हे किरीटी! जब तक सुख देती है, उसी से जिसकी दृष्टि मंदाध होती है।।६८।। अर्जुन! वही अज्ञानी है। जो इंद्रियों को स्वयं वर्तन करने देता है। वही साक्षात अज्ञान की मूर्ति है।।६९।। एक क्षण में वियोग होगा, विपत्ति आयेगी, यह भविष्य का दुःख मन में जो देखता नहीं।।७७०।।

हे अर्जुन! वह अज्ञानी है, सत्य में वह मूर्ख है, जो इंद्रियों को स्वच्छंद से विषय पूर्ति कराता है।।७१।। तारुण्य के उत्कर्ष से, संपत्ति की सहायता से, योग्य, अयोग्य का चुनाव न करते जो विषय सेवन करता है।।७२।। न करना चाहिये वह करता है, न होने वाली असंभाव्य बातें मन में धरता है, सोचना नहीं चाहिये उसका विचार उसकी बुद्धि करती है।।७३।। जहाँ प्रवेश नहीं करना चाहिये वहाँ जाता है, जो मांगना नहीं चाहिये उसको मांगता है, जिसको स्पर्श नहीं करना चाहिये उसको शरीर एवं मन से स्पर्श करता है।।७४।। जहाँ जाना नहीं चाहिये वहीं जाता है, खाना नहीं चाहिये वही खाता है, जो देखना नहीं चाहिये उसको देखकर संतुष्ट होता है।।७५।। जिसकी संगति नहीं रखना चाहिये उसकी संगति में रहता है, जहां संबंध नहीं रखना चाहिये वहां संबंध रखता है, आचरण नहीं करना चाहिये ऐसा आचरण करता है।।७६।। सुनना नहीं चाहिये उसे वह सुनता है, बोलना नहीं चाहिये उसको वह बकता है, किन्तु अपने वर्तन से पाप होगा ऐसा वह देखता नहीं।।७७।। शरीर एवं मन जिससे संतुष्ट होता है, अतः सत्कर्म, असत्कर्म वह देखता नहीं, सदाचरण के विरुद्ध सब क्रियाएँ वह करता है।।७८।। किन्तु मैं पाप का भागीदार बनूंगा या नरक यातना भोगनी पड़ेगी यह भविष्य का विचार कुछ भी वह करता नहीं।।७९।। उसी के आश्रय से जग में अज्ञान का प्रसार होता है, हे पार्थ! वह अज्ञान ज्ञानी को भी ग्रासता है।।७८०।। अब यह रहने दो, अब अज्ञान का एक लक्षण और सुनो, जिससे तुम्हें अज्ञान का पूर्ण ज्ञान होगा।।८१।। हे अर्जुन! जिसका मन घर में पूर्ण आसक्त रहता है, जैसा नव विकसित कमल केसर में भ्रमरी जैसी मुग्ध हो जाती है।।८२।। हे पार्थ! शक्कर की राशी में बैठी मक्खी जैसी उठती नहीं, वैसा जिसका चित्त स्त्री में आसक्त रहता है।।८३।। मेंढक जैसा कुंड में रहता है, मक्खी जैसे नासिका के मल में नशा, जानवर कीचड़ के दलदल में फंसता है।।८४।। वैसे जिसका शरीर एवं मन घर से कदापि निकलता नहीं, वैसे हे अर्जुन! सांप होकर वह बांमी में रहता है।।८५।। प्रियतम के कंठ को जैसी स्त्री दृढ़ प्रेम से आलिंगन देती है, हे धनुर्धर! वैसे वह कुटिया को पकड़े रहता है।।८६।। मधुर रस के लिये भ्रमर जैसा अविरत श्रम करता है, वैसे इस घर का संगोपन करने के लिये वह कष्ट करता है।।८७।। वृद्धावस्था में पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, हे अर्जुन! उस एकलौते पुत्र का माता-पिता को भूषण होता है।।८८।। हे पार्थ! उसके समान घर में जिसको प्रेम एवं आस्था होती है, और स्त्री के बिना अन्य कुछ वह जानता नहीं।।८९।। हे पार्थ! वैसे स्त्री देह में जो मग्न रहकर नित्य आसक्त रहता है, मैं कौन हूँ, जो कर्म करता हूँ वह क्या उचित है? यह कुछ वह जानता नहीं।।७९०।। महापुरुष का चित्त परब्रह्म परमात्मा में जब स्थिर होता है, तब जिस प्रकार से उसके सब व्यवहार रुक जाते हैं।।९१।। वह फायदा, नुकसान नहीं देखता, दूसरे निंदा कर रहे हैं, इसका उसको भान नहीं होता, जिसकी इंद्रियाँ स्त्री देह में ही आसक्त रहती हैं।।९२।। मदारी के वश में जैसा बंदर रहता है वैसा स्त्री के चित्त की वह आराधना करता है, उसके छंद में ही नाचता है।।९३।। स्वयं अपार कष्ट करता है, अपने इष्ट मित्र को दुःखी करता है, लोभी मनुष्य के समान धन की वृद्धि करता रहता है।।९४।। दान, पुण्य, कर्म करते समय पीछे हटता है, गोमज एवं कुटुंबीय आत्मीय जनों से कपट करता है, किन्तु स्वयं के स्त्री की मर्जी प्रसन्न रखता है किसी बात की कमी नहीं रहने देता।।९५।। कुल दैवत का पूजन करते समय कृपणता दिखाता है, मीठी वाणी से गुरू को बदलाता है, माता पिता के लिये अपने दरिद्रता का रोना रोता

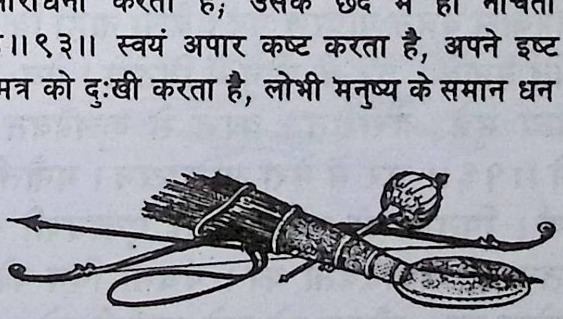

Funding by IKS-MoE

बहलावत। माता पिता को दिखलावत। दारिद्रय अपना।।९६।। स्त्री के प्रीत्यर्थ। अनेक भोगसंपत। वस्तु सुंदर लावत। देखे जो जो।।९७।। जिस प्रकार प्रिय भक्त। कुलदैवत को भजत। वैसा एकाग्रचित्त उपासत। स्त्री को जो।।९८।। साँच और चोख। देत सब स्त्री को अशेख। औरों को निर्वाह तक देख। नाहीं वह भी।।९९।। कोई देखे बुरी नजर से। या विरोध करे उससे। तब युगान्त होवें जैसे। माने जो।।८००।। दाद के डर से पार्थ। नाग देवता की मन्नत देत। वैसी पूर्ण करत मनोगत। स्त्री का सदा।।१।। किंबहुना किरीटि। स्त्री ही सर्वस्व जिसकी मति। और उससे जात संतति। विषय में प्रेम।।२।। और भी जो समस्त। उसको संपत्ति जात। वह जीवन से भी आप्त। मानत जो।।३।। वह अज्ञान का मूल। अज्ञान को उससे बल। रहने दो वह केवल। अज्ञान रूप।।४।। और मत्त सागर में पार्थ। छोड़ दी तरी मुक्त। कल्लोल सहित अधोर्ध्व संतत। आंदोलत जैसी।।५।। वैसी प्रिय वस्तु पावे। अतिसुख से उन्मत्त होवे। वैसाही अप्रिय सहित रहे। धराशायी जो।।६।। ऐसी जिसकी चित्तवृत्ति। वैषम्य साम्य की चिन्ता किरीटि। वह न करे हे महामति। वह अज्ञान पूर्ण।।७।। और मेरे ठँई भक्ति। फलप्राप्ति की जिसको आर्ति। धनोद्देशी की विरक्ति। जैसी पार्थ।।८।। अथवा कान्तमन पार्थ। करके स्वैरिणी संतुष्ट। सिद्ध जार के साथ। समागम करे जैसी।।९।। वैसे भजत मुझको किरीटि। पावरी करत मेरी भक्ति। किन्तु रखे अपनी दृष्टि। विषयों में जो।।८१०।। और ऐसी भक्ति सहित। विषय यदि न होवे प्राप्त। तब छोड़ो-छोड़ो यह कहत। झूठ सब।।११।। अधबटई कृषिक अर्जुन। वैसे पूजत दैवत भिन्न-भिन्न। करे स्वकुल दैवत के समान। उपचार जो।।१२।। उस गुरुमार्ग ग्रहण करत। जो ऋद्धि-सिद्धि ऐश्वर्य युक्त। उसका ही मंत्र लेत। अन्य का नाहीं।।१३।। प्राणिजात को निष्ठुर। विश्वास बहुत पाषाण पर। वैसी नाहीं किसी एक पर। भक्ति जिसकी।।१४।। मेरी मूर्ति बनावे। घर के कोने में बिठवे। देव-देवी की जत्रा में जावे। स्वयं पार्थ।।१५।। नित्य मुझे आराधत। काज से कुलदैवत भजत। पर्वविशेष में करत। पूजाअन्य की।।१६।। घर में मेरा अधिष्ठान। मनौती अन्य की अर्जुन। पितृकार्य अवसर भजत पूर्ण। पितरों को जो।।१७।। एकादशी के दिन को। जितना महत्व मुझको। देवे उतना ही नागदेवता को। पंचमी दिन को।।१८।। देखे चांद चौथ का। होवे भक्त गणेश का। चौदस को कहे दुर्गाजी को। "मां तेरा ही मैं"।।१९।। नित्य नैमित्तिक छाँडत। नवचंडी का घट स्थापत। आदित्य वार को परोसत। खिचड़ी भैरव को।।८२०।।

पश्चात सोमदिन आवे। लेकर बेल लिंगतक धावे। ऐसा अकेला ही होवे। भक्त सबका।।२१।। अखंड करे भजन। स्तब्ध न रहे एक क्षण। ग्रामद्वार में सबके गुण। गाये गणिका जैसी।।२२।। ऐसा जो भक्त। देखो तुम स्वैर धावत। जानो अज्ञान का मूर्त। अवतार वह।।२३।। और पवित्र एकान्त। तपोवन तीर्थ तट।

Funding by IKS-MoE

है।।९६।। स्त्री के लिये अनेक प्रकार की उपभोग की, जो देखता है वही वस्तुएँ, उत्तम प्रकार की लाता है।।९७।। जिस प्रकार से प्रिय भक्त कुलदैवत की भक्ति करता है।।९८।। सत्य एवं शुद्ध सब स्त्री को पूर्ण देता है, अन्य को निर्वाह लायक भी देता नहीं।।९९।। कोई बुरी नजर से देखेगा, या कोई उससे विरोध करे तब युगांत के अनुसार वह मानता है।।८००।। दाद रोग के भय से हे पार्थ! नागदेवता की मानता मानते हैं, वैसे स्त्री की इच्छाएँ नित्य पूर्ण करता है।।१।। हे किरीटी! किंबहुना, उसके बुद्धि को स्त्री ही सर्वस्व प्रतीत होती है, और उससे जो संतति उत्पन्न होती है, उससे भी उसका प्रेम होता है।।२।। उसकी सब वस्तु जात वह अपने जीव से भी निकट वह समझता है।।३।। वह अज्ञानका मूल है, अज्ञान को उससे बल मिलता है, वह केवल अज्ञान रूप होता है।।४।। हे पार्थ! सागर में नौका छोड़ देने पर वह जैसी मुक्तता से लहरों पर ऊपर नीचे आंदोलित होती रहती है।।५।। वैसी वस्तु प्राप्त होने पर, अत्यंत सुख से जो उन्मत्त होता है, वैसे ही अप्रिय घटना से वह दुःखी होता है।।६।। ऐसी जिसकी अंतःकरण की प्रवृत्ति है, हे किरीटी! विषमता एवं समता की चिंता उसको रहती है, हे महामति अर्जुन! वह पूरा अज्ञानी है।।७।। और मुझ में जिसकी भक्ति रहती है, जिसको फल की आसक्ति होती है, धन के उद्देश्य से जैसे विराग धारण करते हैं।।८।। हे पार्थ! पत्नी का मन जैसे स्वैरिणी स्त्री संतुष्ट करती है, प्यार के साथ समागम करने के लिये तत्पर रहती है।।९।। वैसे हे किरीटी! मेरी भक्ति करते हैं, मेरे भक्ति की सीढ़ी बनाते हैं किन्तु अपनी दृष्टि विषयों में रखते है।।८१०।। इस प्रकार के भक्ति सहित यदि विषय प्राप्त न हुआ, तब यह सब झूट है, इसको छोड़ो ऐसा कहता है।।११।। आधे बटाई वाले किसान के अनुसार विभिन्नदेवताओं का पूजन करता है, अपने कुलदैवत के अनुसार अन्य देवताओं की भी उपासना करता है।।१२।। जो ऋद्धि-सिद्धि से ऐश्वर्य युक्त है ऐसा गुरू वह करता है, उसका ही मंत्र लेता है, अन्य का नहीं।।१३।। प्राणि मात्र के प्रति निष्ठुरता का व्यवहार करता है, पाषाण प्रतिमा पर विश्वास करता है, वैसी किसी एक पर उसकी भक्ति नहीं रहती।।१४।। मेरी मूर्ति बनाता है, घर के कोने में बिठाता है, देव-देवी की जत्रा में हे पार्थ! स्वयं जाता है।।१५।। नित्य मेरी आराधना करता है, कालानुसार कुलदैवत का पूजन करता है, पर्व विशेष में अन्य का पूजन करता है।।१६।। घर में मेरा अधिष्ठान रहता है, मनौति अन्य देवताओं की मानता है। हे अर्जुन! पितृ श्राद्ध के समय पितरों की भक्ति करता है।।१७।। एकादशी के दिन जितना महत्व मुझे देता है, उतना ही महत्व नागपंचमी के दिन नागदेवता को देता है।।१८।। चौथ का चांद देखता है एवं गणेश जी की भक्ति करता है, चौदस को दुर्गाजी को कहता है, हे माँ! मैं तेरा ही हूँ।।१९।। नित्य नैमित्तिक छोड़ता है, नव चंडी की घटस्थापना करता है, रविवार को भैरवजी को खिचड़ी परोसता है।।८२०।। पश्चात सोमवार को बेलपत्र लेकर शिवलिंग पर चढ़ाने दौड़ता है, ऐसा अकेला सब का भक्त होता है।।२१।। अखंड भजन करता है, एक क्षण स्थिर नहीं रहता है,ग्रामद्वार में रहने वाली वैश्या जैसे सबका गुणवर्णन करती है।।२२।। ऐसा जो भक्त तुम मुक्त दौड़ते हुये जब देखोगे, तब वह अज्ञान का मूर्त अवतार है ऐसा समझ लेना।।२३।। और पवित्र एकान्त स्थान, तपोवन तीर्थ का किनारा, देखकर

देखकर माने जो कष्ट। वो ही वह ।।२४।। जिसको जनपद में सुख। भीड़भाड़ में माने कौतुक। चाहे वर्ण लौकिक। वो ही वह ।।२५।। और आत्मा जिससे होवे गोचर। ऐसी जो विद्या धनुर्धर। सुनते ही कर्ण बंद करे नर। ऐसा विज्ञान जो ।।२६।। उपनिषद को न पढ़त। भोगशास्त्र न रुचत। अध्यात्ज्ञान में चित्त। नाहीं जिसका ।।२७।। जहाँ केंद्रित आत्मज्ञान। ऐसी बुद्धि की भित्ति अर्जुन। गिराकर जिसका मन। दौड़े इतरत्र ।।२८।। कर्मकांड तो जानत। पुराण सब मुखोगत। भविष्य होवे जैसा ही कहत। ऐसा ज्ञानी ।।२९।। हस्तकला में अतिनिपुण। पाप कर्मों में भी प्रवीण। विधि अथर्वण। हस्तगत पूर्ण ।।८३०।। कोकशास्त्र वश पार्थ। महाभारत कंठस्थ। आगम स्वाधीन समस्त। मूर्त होत ।।३१।। नीतिशास्त्र में पारंगत। आयुर्वेद में निष्णात। काव्य नाटक में दूजा यथार्थ। चतुर नाहीं ।।३२।। स्मृति की चर्चा जानत। गारुडी का दंशु जानत। निघंट प्रज्ञा कोष होत। पाइक जिसका ।।३३।। जो वैय्याकरण में संपूर्ण। तर्कशास्त्र में प्रवीण। किन्तु आत्म ज्ञान में पूर्ण। जात्यंध जो ।।३४।। उस एक अध्यात्म शास्त्र बिन। सिद्धान्त निर्माण धात्रा पूर्ण। जल जाये वह बालक मूल में उत्पन्न। नितान देखे जिसको ।।३५।। मयूर अंग में अशेष। पिच्छ रहत डोलस (नेत्रयुक्त)। किन्तु दृष्टिहीन सब खास। वैसा पांडित्य जिसका ।।३६।। यदि परमाणु समान। संजीवनी मूल प्राप्त अर्जुन। तब गाड़ा औषधि का अन्य। भरना क्यों? ।।३७।। आयुष्य बिन लक्षण। शीर्ष बिनु अलंकरण। बारात वरवधु बिन। विडंबन ही केवल ।।३८।। अन्य शास्त्रों का गहन ज्ञान। बिन एक अध्यात्मज्ञान। वह अशेष अप्रमाण। धनुर्धर ।।३९।। इसलिये सुन अर्जुन। विशेख इस आध्यात्मज्ञान निःशेख। नहीं जिसको नित्यबोध देख। शास्त्र मूढको ।।८४०।। उसको जो यह शरीर प्राप्त। मानो अज्ञान का बीज वर्धित। उसका उत्पन्न हुआ व्यर्थ। अज्ञान वल्ली सम ।।४१।। वह जो जो बोलत। मानो अज्ञान ही प्रफुल्लित। उसके पुण्य को जो फल प्राप्त। अज्ञान ही वह भी ।।४२।। और अध्यात्म ज्ञान पर। श्रद्धा न जिसकी सुवीर। वह न देखे ज्ञानार्थसार। सुनिश्चित ।।४३।। ऐल तीर पर भी नहीं आवत। भगत पीछे निवर्तन। पैल द्वीप की उसको वार्ता पार्थ। कैसे होत? ।।४४।।

या जिस चोर का देहली में। काटा सिर गाड़ा वही गर्त में। वह धन भीतर घर में। देखे कैसे? ।।४५।। वैसे अध्यात्म ज्ञान में संपूण। अपरिचय जिसको अर्जुन। उसको ज्ञानार्थ दर्शन-। को विषय नाही ।।४६।। अतः अब विशेष। न देखे वह ज्ञानतत्त्व अशेष। अंकलेखन से कहना बात को इस। अनावश्यक तुम्हें ।।४७।। जब सगर्भ को परोसत। भीतर गर्भ उससे ही तृप्त। वैसे वर्णित पूर्व पद से ही स्पष्ट। यह भी पार्थ ।।४८।। पृथक इसके बिन। अनावश्यक अन्य व्याख्यान। जैसे दिया अंधको निमंत्रण। पावे दूजे को भी ।।४९।। एवं इसके विपरीत। अज्ञान चिन्ह

Funding by IKS-MoE

जिसको कष्ट होते हैं, वही अज्ञानी है।।२४।। जिसको लोगों में रहना सुखकारक लगता है, भीड़भाड़ में आनंद मनाता है। लौकिक बातों का वर्णन जिसको प्रिय है, वही अज्ञानी है।।२५।। आत्मा जिससे प्रकट होता है, हे धनुर्धर! ऐसी जो विद्या है, सुनते ही जो अपने कान बंद करता है, वह अज्ञानी है।।२६।। उपनिषद पढ़ता नहीं, योगशास्त्र रूचता नहीं, अध्यात्मज्ञान में जिसका चित्त लगता नहीं।।२७।। जहाँ आत्मज्ञान केंद्रित होता है वहां बुद्धि की दीवाल गिराकर हे अर्जुन! जिसका मन इतरत्र दौड़ता है।।२८।। जो कर्मकांड जानता है, पुराण जिसको मुखोद्गत है, भविष्य जैसा कहता है वैसा होता है ऐसा ज्ञानी है।।२९।। हस्तकला में अत्यंत निपुण है, पापकर्मों में भी प्रवीण है, अर्थ वर्ण वेद के विधि (मंत्रतंत्र के साथ) उसको पूर्ण हस्तगत हैं।।८३०।। काम शास्त्र उसको पूर्ण वश है महाभारत कंठस्थ है, मंत्र शास्त्र (आगम) उसके स्वाधीन होकर मूर्त होता है।।३१।। नीति शास्त्र में वह पूर्ण पारंगत होता है, आयुर्वेद में निष्णात होता है, काव्य नाटकों में उसके जैसा दूसरा चतुर नहीं मिलता।।३२।। स्मृति ग्रन्थ की चर्चा जानता है, इंद्रजाल विद्या का मर्म समझता है, वैदिक शब्दों के कोश को वह अपना सेवक बनाता है।।३३।। जो व्याकरण शास्त्र में प्रवीण है, किन्तु अध्यात्मशास्त्र में वह जन्मांध होता है।।३४।। उस एक अत्यात्मशास्त्र के बिना अन्य सब शास्त्रों के निर्मिति की वह भूमि है, मूल नक्षत्र में जन्म लिये बालक को जैसे पिता ने देखना नहीं चाहिये।।३५।। मयूर के शरीर में पिच्छ में असंख्य नेत्र होते हें किन्तु वे दृष्टिहीन होते हैं, वैसा उसका पांडित्य रहता है।।३६।। यदि अत्यंत अल्प प्रमाण में संजीवनी वनस्पति की जड़ प्राप्त हो जाने से हे अर्जुन! अन्य वनस्पति की क्या आवश्यकता?।।३७।। सर्व उत्तम सामुद्रिक हस्तरेखा होते हुये आयुष्य रेखा अल्प है, शरीर पर सब अलंकार है किन्तु केवल मस्तक नहीं, वर वधु के बिना बारात निकालना केवल विडंबना है!।।३८।। एक अध्यात्म शास्त्र के बिना अन्य शास्त्रों का गहन अध्ययन करना, हे धनुर्धर! अप्रमाण है।।३९।। अतः हे अर्जुन! जिसको अध्यात्म ज्ञान किंचिन मात्र नहीं है, उस शास्त्र मूढ़ को नित्य ज्ञान नहीं होता।।८४०।। उसको जो देह प्राप्त हुआ है, मानो अज्ञान का बीज विकसित हुआ है, उसकी विद्वता अज्ञानलता के समान व्यर्थ है।।४१।। वह जो कुछ बोलता है उससे मानो अज्ञान प्रफुल्लित होता है, उसके पुष्प को अज्ञान का ही फल प्राप्त होगा।।४२।। हे सुवीर! अध्यात्मज्ञान पर जिसकी श्रद्धा नहीं है, उसको ज्ञान अर्थ का रहस्य (जो ब्रह्म) है उसको वह निश्चित रूप से जानेगा नहीं।।४३।। इस किनारे पर पहुँचते ही वह लौटकर वापस जाता है, हे पार्थ! उससे पर तीर की बात कैसे होगी? ।।४४।। जिस चोर का मस्तक काटकर देहली के गर्त में गाड़ा है वह घर के भीतर रखा धन कैसे देखेगा?।।४५।। हे अर्जुन! वैसे अज्ञात्मज्ञान से जो संपूर्ण अनभिज्ञ हैं उसको ज्ञानका अर्थ जो परब्रह्म उसका विषय कैसे ज्ञात होगा?।।४६।। अतः अब उसे ज्ञान का तत्त्वबोध नहीं होता, अंकलेखन से इस बात को तुम्हें कहना अनावश्यक है।।४७।। गर्भवती स्त्री को खाना देने से वह अनायास गर्भस्थबालक को तृप्ति देता है, ज्ञान के वर्णन में अज्ञान के लक्षणों का अंतर्भाव होता है।।४८।। इसके बिना अलग व्याख्यान आवश्यक नहीं, जैसे अंधे को न्यौता देने से उसको लाने वाले को भी निमंत्रण होता है।।४९।। इस प्रकार से अमानित्वादि ज्ञान लक्षण उलटी पद्धति से पुनः

Funding by IKS-MoE

पार्थ। अमानित्वादि प्रभृति यथार्थ। निरूपित सब।।८५०।। जो ज्ञानपद अठारह। उलटकर यदि किये समग्र। अज्ञान स्पष्ट साकार। पावत सहज।।५१।। पूर्वी श्लोकाध से (अज्ञानंयद तोन्यथा)। श्री मुकुंद कहत ऐसे। जो होवे उलट ज्ञान पद से। अज्ञान वही।।५२।। अतः इस प्रकार। किया मैंने विस्तार। नहीं तो दूध में पानी मिलाकर। बढ़ाना क्यों?।।५३।। वैसे मैं न बोलूं व्यर्थ। पद को सीमा न लांघत। मूल ध्वनि पार्थ करते विस्तृत। हुआ निमित्त।।५४।। तब रुको कहत श्रोतागण। रस निरसन का न कछु कारण। क्यों भय धरन अकारण। कविपोष का!।।५५।। तुमको श्री अच्युत। कहत करो अब प्रकट। जो अभिप्राय गव्हर में गुप्त। रखा मैंने।।५६।। वह देव का मनोगत। दिखावत हमको तुम मूर्त। वही कहते होत चित्त। सदगद तेरा।।५७।। नव ऐसा न कहना युक्त। हम सर्वथा संतुष्ट। जो ज्ञानतरी हमको प्राप्त। श्रवण सुख की यह।।५८।। अब इसके उपरान्त। जो वह श्री अच्युत। उपदेश निरूपत। कहो शीघ्र।।५९।। इस संत वाक्य सरिस। कहे श्री निवृत्तिदास। अब खास। कहत कृष्ण जो।।८६०।। बोलत तुमने गुड़ाकेश। यह चिन्ह समुच्चय विशेष। सुना वह जानो अशेष। अज्ञान भाग।।६१।। इस अज्ञान विभाग। को पीठ देकर हे सुभग। ज्ञान विषय में आप रंग। करो दृढ़।।६२।। अब उस शुद्ध ज्ञान से। श्रेय की भेंट होगी मन से। वह जानने के भाव से। उत्कंठित पार्थ।।६३।। तब सर्वज्ञों का राव। जानकर उसका भाव। कहत सुनो श्रेय का अभिप्राय। बतलाऊं अब।।६४।।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

वह ज्ञेय ऐसा कथन। वस्तु ही वह इस कारण। जो जानो ज्ञानबिन अन्य। उपाय से प्राप्त।।६५।। और जाने उपरान्त। न कुछ करना शेष पार्थ। वह ज्ञान ही तन्मयता पर्यन्त। लावत जिसको।।६६।। जो जानकर सुवीर। संसार रखकर तीरपर। जाना पेट में घुलकर। नित्यानंद के।।६७।। वह ज्ञेय अर्जुन ऐसे ही। आदि जिसको नाहीं। और प्ररब्रहम सहज ही। नाम जिसको।।६८।। यदि नाहीं कहत। तब विश्वाकार में दिखत। और यदि उसको विश्व मानत। तो माया यह।।६९।। रूपवर्ण व्यक्ति। नाहीं दृष्यादृष्य स्थिति। तब है वह कैसे किरीटि। कहना उसको?।।८७०।। और साच यदि नाहीं। तब महदादि किसके ठाँई?। स्फुरत कैसे सबही। बिन उस पार्थ?।।७१।। अतः है नाही यह कथन। जो देखकर श्रुति हुई मौन। विचार की खंडित पूर्ण। राह जहां।।७२।। जैसे भांड घट कुंड में। तदाकार पृथ्वी उसमें। वैसी सर्व होकर सर्व में। रहे जो वस्तु।।७३।।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरेमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

सर्व देशाकाल में सदा। देश काल से न पृथक कदा। क्रिया स्थूलास्थूल में सर्वदा।

Funding by IKS-MoE

बताये हैं।।८५०।। जो अठारह ज्ञान लक्षण समझाये हैं, उन सबको उलटा करने से अज्ञान मूर्तिमंत्र प्रकट होता है।।५१।। पहले श्लोकार्ध में (अज्ञानंयदतोन्यथा) श्री मुकुंद ऐसा कहते हैं, 'ज्ञान पद के विरुद्ध अज्ञान होता है'।।५२।। अतः इस प्रकार से मैंने विस्तार किया है, नहीं तो दूध में पानी मिलाकर दूध को क्यों बढ़ाना?।।५३।। वैसे मैं व्यर्थ नहीं बोलता, पद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, मूल ध्वनित अर्थ को विस्तार पूर्वक बताने में मैं निमित्त हुआ हूं।।५४।। तब श्रोतागण कहते हैं, 'रुको! इसका निरसन करने का कुछ कारण नहीं है। हे कविपोषक! व्यर्थ भय किस कारण करते हो?।।५५।। श्री अच्युत जो कहते हैं उसको अब प्रकट करो। जो अभिप्राय गीतारूपी गुफा में गुप्त रखा है।।५६।। वह देव का मनोगत तुम मूर्त करके हमें दिखा रहे हो, वह कहते हुए तुम्हारा चित्त सद्गदित होता है।।५७।। तब ऐसा कहना योग्य नहीं है, हम लोग सब प्रकार से संतुष्ट हैं, यह श्रवणसुख की ज्ञान नौका हमें प्राप्त हुई।।५८।। अब इसके बाद जो अच्युत उपदेश करेंगे वह शीघ्र कहो।।५९।। यह संतवाक्य सुनकर श्री निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते है, अब श्रीकृष्ण क्या खास बात कहते हैं वह सुनो।।८६०।। हे गुड़ाकेश! यह तुमने सर्व लक्षणों का समूह सुना है, वह सब अज्ञान का भाग समझना।।६१।। हे सुभग!। इस अज्ञान विभाग का त्याग करके ज्ञान में तुम अपना अंतःकरण दृढ़ करो।।६२।। अब उस शुद्ध ज्ञान से, उस ज्ञेयरूप परब्रह्म का मन से मिलन होगा, वह जानने के लिये पार्थ उत्कंठित हुआ।।६३।। तब सर्व जाननेवालों के राजा, भगवान श्री कृष्ण, अर्जुन का अभिप्राय समझकर कहते हैं, अब तुम्हें ज्ञेय का अभिप्राय बताता हूँ, सुनो।।६४।। ज्ञान के बिना अन्य उपाय से जाना नहीं जाता।।६५।। और जानने के उपरान्त हे पार्थ! कुछ करना शेष नहीं रहता, वह ज्ञान ही तन्मयता पर्यंत ले जाता है।।६६।। हे सुवीर! जिसको जानकर संसार का निराश करके नित्यानंद में एकरूप होकर डुबकी लगावें।।६७।। हे अर्जुन! वह ज्ञेय ऐसा है जिसको आदि नहीं है, जिसका परब्रह्म नाम सहज है।।६८।। यदि नहीं है ऐसा कहते हैं, तब विश्व के आकार में दिखता है, यदि उसको विश्व कहते हैं तो यह माया है।।६९।। उसको रूप, वर्ण, आकार नहीं है, देखने के लिये विषय एवं देखने वाला यह नहीं है, अतः वह है ऐसा, हे किरीटी! उसको कैसे कहेंगे?।।८७०।। और यदि सत्य नहीं है, तब पंचमहाभूत कहाँ स्फुरित होते हैं? हे पार्थ! इसके बिना कहाँ क्या है? ।।७१।। अतः है एवं नहीं कहना देखकर श्रुती भगवती मौन हुई यहाँ विचारधारा का मार्ग पूर्ण खंडित होता है।।७२।। जैसे बर्तन, घट, कुंड के आकार में एक मिट्टी ही होती है, वैसे सर्व होकर सबमें वह वस्तु रहती है।।७३।।

और हे अर्जुन! जो जानने के योग्य है, तथा जिनको जानकर मनुष्य परमानंद को प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूंगा, वह आदिरहित परम ब्रह्म अकथनीय होने से न सत् कहा जाता है, और न असत् कहा जाता है।।१२।।

ब्रह्म को ज्ञेय इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह

सब तरफ से हाथ, पैरवाला एवं सब तरफ से नेत्र, सिर एवं मुखवाला तथा सर्वत्र श्रोत्रवाला है, क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।।१३।।

वह सब देश एवं काल में नित्य है, वह देश एवं काल से अलग नहीं है, क्रिया स्थूल से सूक्ष्म में नित्य

वही हाथ जिसके।।७४।। उसको इस कारण से। विश्वबाहु कहना ऐसे। जो सर्व, सर्वपन से। करे संतत।।७५।। और समस्त स्थान में अर्जुन। एक ही समय विद्यमान। इसलिये जिसको धारण। विश्वांघ्रिनाम।।७६।। जैसे सविता को अंग नेत्र। न होत पृथक-पृथक पार्थ। वह तो स्वस्वरूप से ही सकल देखत। सर्वदृष्टा जो।।७७।। अतः विश्वतः चक्षु। यह अचक्षु के ठँई पक्षु। कहने को जो दक्षु। हुआ वेद।।७८।। जो सबके सिर ऊपर। नित्य वसत सर्वतः धनुर्धर। ऐसी स्थिति वश सुवीर। कहिये विश्वमूर्धा।।७९।। किंतु अरे मूर्ति वही मुख। हुताशन जैसे देख। वैसे सब प्रकार से अशेख। भोक्ता जो।।८८०।। इसलिये उसको पार्था। विश्वतोमुख यह व्यवस्था। आई बाक्पथ में सर्वथा। श्रुति के सार्थ।।८१।। और वस्तुमात्र में गगन। रहे जैसा संलग्न। वैसे शब्दजात में कर्ण। सर्वत्र जिसके।।८२।। अतः हम उसको पार्थ। सर्वत्र श्रवणकर्ता कहत। एवं जो सर्वव्याप्त। निरन्तर।।८३।। वैसे भी हे महामति। विश्वतः चक्षु आदि नामसे श्रुति। उसके इस व्याप्ति-। को बरनत स्वयम्।।८४।। सिवा हस्त नेत्र पाव। यह भाष कैसे वहां होय?। शून्य का भी न साहे वह। निष्कर्ष जो।।८५।। पै कल्लोल को कल्लोल। ग्रासत क्वचित काल। किंतु ग्रसित ग्रासक कल्लोल। से क्या भिन्न होत?।।८६।। वैसे साचही जो एक। वहां क्या व्याप्य व्यापक। पर समझाने को क्षणैक। कहनाही पड़त।।८७।। किंतु शून्य को जो दिखाना। तब बिंदुरूप से उसे लिखना। वैसे अद्वैत यदि शब्द से बताना। तब कीजे द्वैत।।८८।। वैसे तो देखो अन्यथा। गुरु शिष्य सत्पथ को पार्था। प्रतिबंध होवे सर्वथा। होगी चर्चा ही बंद।।८९।। अतः श्रुति भगवति पार्थ। द्वैतभावसे अद्वैत का समस्त। निरूपण का किया प्रवाहित। मार्ग प्रशस्त।।८९०।। वही अब सुनो साचार। इन्हीं नेत्रों से गोचर साकार। वह ज्ञेय ब्रह्म किस प्रकार। व्यापक होत।।९१।।

सर्वेंन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्त च।।१४।।

तब किरीटि वह ऐसा। अवकाश में आकाश जैसा। या पट में पट होकर एकसा। तंतु रहत।।९२।। उदक में उदक होकर। रस देखो जैसा धनुर्धर। दीपक में दीपपन से साचार। तेज जैसे।।९३।। कर्पुर में कर्पुरत्व से। वसत सौरभ जैसे। होकर शरीर शरीर में वैसे। क्रिया जैसी।।९४।। किंबहुना पांडवा। सुवर्ण ही सुवर्ण का रवा। वैसा जो स्वयं सर्वेसर्वा। सर्वांगमें व्याप्त।।९५।। परंतु रवारूप में पार्थ। रवा सम ही भासत। किंतु सुवर्णरूप से यथार्थ। सुवर्ण ही वह।।९६।। देख जलौध यद्यपि वक्र। पानी सरल हे सुमित्र। वन्हिसे तप्त लोहसाचार किंतु। न होवे लोह।।९७।। घटाकार से आवृत। नभ वहां वर्तुलाकार ही भासत। देखे मठ में वही दिखत। चौकोर पार्थ।।९८।। किंतु वह आकाश जैसा। नाहीं घटमठकारसा। विकार पाकर भी वैसा। न विकारी जो।।९९।। मनमुखादि इंद्रियां। सत्वादि गुणत्रया। सहित

होती है, वही जिसके हाथ है।।७४।। उसको इस कारण से विश्वबाहू कहते हैं, जो सर्व वस्तु बनकर सर्वदा सबकुछ करता है।।७५।। हे अर्जुन! सब स्थानों में एक ही समय विद्यमान रहता है, अतः उसको विश्वांद्रि नाम है।।७६।। जैसे सूर्य का सब शरीर ही उसका नेत्र है, हे पार्थ! उसको अलग-अलग नहीं किया जाता, वह तो अपने सब शरीर से देखता है, अतः वह सर्वदृष्टा है।।७७।। अतः विश्वतः चक्षु यह नेत्ररहित को कहने के लिए वेद दक्ष हुआ।।७८।। जो सबके मस्तक पर नित्य रहता है, हे धनुर्धर! हे सुवीर! ऐसी स्थितिवश उसको विश्वमूर्धा कहते हैं।।७९।। किंतु हे अर्जुन! अग्नि की मूर्ति वही उसका मुख होता है और वह सब प्रकार से संपूर्ण उपभोग करता है।।८८०।। हे पार्थ! इसीलिये उसको विश्वतोमुख ऐसे कहने की व्यवस्था, श्रुती ने वाक्प्रचार में लाई है।।८१।। वस्तुमात्र में आकाश मिलकर रहता है, वैसे शब्दमात्र में जिसको सर्वत्र कर्ण होते हैं।।८२।। हे पार्थ! अतः हम उसको सर्वत्र श्रवण करनेवाला कहते हैं, एवं वह नित्य सर्वत्र व्याप्त है।।८३।। हे महामति! वैसे भी विश्वतः चक्षु नाम से वह श्रुती भगवती ने स्वयं उसके व्याप्ति का वर्णन किया है।।८४।। हाथ, नेत्र, पैर यह भाषा यहाँ कैसे कही जावेगी? जो शून्यत्व का अन्त है यह सिद्धांत भी यहाँ कैसे सहा नहीं जाता?।।८५।। एक तरंग दूजे को निगल जाता है ऐसा कहा जाता है किंतु निगलने वाला एवं निगल जानेवाला क्या भिन्न होता है?।।८६।। वैसे जो एक सत्य है, वहाँ क्या व्याप्य व्यापक भाव रहता है, किंतु एक क्षणभर समझाने के लिए कहना ही पड़ता है।।८७।। किन्तु शून्य दिखाने के लिए उसे बिंदुरूप से दिखाना पड़ता है, वैसे अद्वैत को शब्द से बताने के लिए द्वैत करना पड़ता है।।८८।। हे पार्थ! अद्वैत का वर्णन करने के लिए, द्वैत का अंगिकार न करने से गुरुशिष्य संप्रदाय को पूर्णतः बाधा उत्पन्न होगी, एवं चर्चा बंद होगी।।८९।। अतः हे पार्थ! श्रुति भगवती ने द्वैत की सहायता से अद्वैत में वर्णन करने का मार्ग प्रशस्त करके प्रवाहित किया।।८९०।। वही अब सत्य में सुनो, इन्हीं नेत्रों से साकार रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला वह ज्ञेय ब्रह्म किस प्रकार व्यापक होता है, वह सुनो।।९१।।

संपूर्ण इंद्रियों के विषयों को जाननेवाला, परंतु वास्तव में सब इंद्रियों से रहित, आसक्ति रहित और गुणों से अतीत होने पर भी अपनी योगमाया से सबको धारण-पोषण करनेवाला एवं गुणों को भोगनेवाला है।।१४।।

हे किरीटि! यह ब्रह्म ऐसा है जैसे अवकाश में आकाश व्याप्त है, या वस्त्र में वस्त्र बनकर जैसे धागा रहता है।।९२।। जल में जल होकर जैसी द्रवता रहती होती है, हे धनुर्धर! दीपक में दीप के रूप में जैसा तेज होता है।।९३।। कर्पूर में कर्पूर बनकर जैसा सुगंध रहता है। शरीर में शरीर बनकर जैसी क्रिया होती है।।९४।। किंबहुना हे पांडव! सुवर्ण ही सुवर्ण का कण होता है, वैसा जो स्वयं सर्वेसर्वा है, वह सर्वांग में व्याप्त है।।९५।। किंवा कण में कण जैसा दिखाई देता है, किंतु सर्वांग में व्याप्त है।।९५।। या कण में कण जैसा दिखाई देता है किंतु सुवर्ण रूप में वह सुवर्ण ही होता है।।९६।। जल प्रवाह यदि टेढ़ा दिखाई देता है, हे सुमित्र! जल सरल होता है, अग्नि से लोहा गरम होता है, किन्तु अग्नि लोहा नहीं बनता।।९७।। घट के आकार में आकाश वर्तुलाकार (वृत्ताकार) दिखता है, हे पार्थ!। वैसे मठ में वह चौकोर दिखता है।।९८।। किंतु आकाश, जैसा घटमठ के आकार का नही होता, वैसे परब्रहम परमात्मा विकारी दिखाई देने पर भी विकारी नहीं होता।।९९।। जिसमें मन मुख्य है ऐसी इंद्रियां सत्व आदि त्रिगुणों

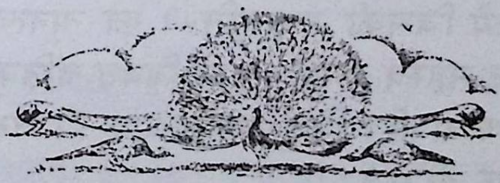

ऐसा धनंजया। भासते वैसा।।९००।। देख गुड़ का मीठापन। न उसके आकार में अर्जुन्। कैसे गुण इंद्रियों में जान। ब्रह्म नाही।।१।। अरे क्षीरकी दशा में। घृत रहत क्षीराकार में। किन्तु घृत क्षीर नाहीं मन में। जानो कपिध्वज।।२।। वैसे जो इन विकारों से भिन्न। न कभी विकार पावत अर्जुन। जैसे आकार भिन्नता से बिछिया कंकण। अन्यथा सोना सोना ही।।३।। इस प्राकृत में स्पष्ट। कहूं तुझको पार्थ। जो यह पृथकपन समस्त। गुणेंद्रियों से ही।।४।। नाम-रूप संबंध। जाति क्रिया भेद। यह आकार को ही प्रवाद। वस्तु को नाहीं।।५।। वहां न गुण कोई। गुण से उसका संबंध नाहीं। किंतु उसके ही ठँई। आभास उनका।।६।। इसी कारण से अर्जुन। संभ्रान्त का मन। करे कल्पना ऐसी पूर्ण। जो गुणही वह।।७।। तब यह धारणा कैसी। अभ्र से आकाश को वैसी। या प्रतिवदन गुड़ाकेशी। दर्पण से ही।।८।। नातर सूर्य मण्डल। धारण करत सलिल। या रश्मि किरण से मृगजल। धरना जैसे।।९।। वैसे ही कुछ संबंध बिन। सबको धारण करे निर्गुण। किंतु यह सब व्यर्थ अर्जुन। मिथ्या दृष्टि से।।९१०।। और इसविध निर्गुण से। गुण को भोगना वैसे। रंक ने राज्य करना जैसे। स्वप्न में पार्थ।।११।। अतः गुण का संग। अथवा गुणभोग। निर्गुण से इसका लाग। कहना न युक्त।।१२।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत्।।१५।।

जो चराचर भूतजात-। में विद्यमान पंडुसुत। नाना वन्हि में। अभेद जैसे।।१३।। अविनाशित्व भाव से। जो सबमें सूक्ष्मदशा से। रहे व्याप्त जानिये उसे। ज्ञेय यहां।।१४।। जो एक भीतर बाहिर। जो एक समीप और दूर। जिस एक बिन प्रकार। दूजा नाहीं।।१५।। क्षीरसागर का मधुरत्व। मध्ये बहु कमी तटपर पार्थ। ऐसा नहीं वैसा सर्वतः। पूर्ण जो।।१६।। स्वेदजादिप्रभृति। भिन्न भिन्न भूतजाति–। मध्ये जिसकी अनुस्युति-। को न्यूनत्व नाहीं।।१७।। किन्तु हे श्रोतमुख तिलक!। घट सहस्त्र अनेक। मध्ये बिंबत चंद्रिका एक–। को न भेद जैसा।।१८।। नाना लवण कण राशी। किंतु क्षारता एक ही जैसी। एक और गट्ठेभर गन्ने में वैसी। मधुरता एक ही।।१९।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

वैसे अनेक भूतजात में किरीटि। एकत्व से जिसकी व्याप्ति। विश्वरचनार्थ सुमति। आदिकारण जो।।९२०।। अतः यह भूताकार। जहां से वहीं उसका आधार। कल्लोल को सागर। जिस प्रकार।।२१।। बाल्यादि तीनों काल में। काया एकही सबमें। वैसे आदि स्थिति अंत में। अखंड जो।।२२।। सायं प्रातर्मध्यान। होत जात दिनमान। किंतु तीनों में जैसे गगन। न बदले कभी।।२३।। सृष्टि काल में प्रियोत्तमा। नाम जिसको ब्रह्मा। व्याप्ति काल में वही विष्णुनामा। होवे पात्र।।२४।। और जब आकार निरसत। तब रुद्र जिसको कहत। जब गुणप्रय

Funding by IKS-MoE

के साथ, हे धनंजय! वैसी दिखाई देती है।।९००।। गुड़ का मीठापन उसके आकार में नहीं होता, वैसा ब्रह्मस्वरूप में गुण एवं इंद्रियाँ नहीं होती।।१।। हे कपिध्वज! दूध की दशा में घी दूध के आकार में रहता है किन्तु घी दूध नहीं होता, इसको मन में समझ लेना।।२।। वैसे जो इन विकारों से भिन्न है, हे अर्जुन! उसमें कभी विकार उत्पन्न नहीं होते, जैसे आकार से बिछियाँ, कंकण कहते है, किंतु वह सोना ही है।।।३।। हे पार्थ! प्राकृत भाषा में तुझे स्पष्ट कहता हूँ, कि यह अलगाव संपूर्ण गुण इंद्रियों के कारण होता है वस्तु में यह भेद नहीं है।।४।। नाम, रूप, संबंध, जाति, क्रिया, भेद यह आकार का प्रवाद है, ब्रह्म वस्तु के विषय में यह बात नहीं है।।५।। वहाँ कोई गुण नहीं होता, गुण से उसका संबंध नहीं होता, किन्तु उसी में उसका आभास होता है।।६।। हे अर्जुन! इसी कारण से, अज्ञानियों के मन में वह पूर्ण गुण ही है ऐसी कल्पना होती है।।७।। हे गुडाकेश! आकाश बादल को जैसे धारण करता है। या दर्पण में मुख का जैसे प्रतिबिंब दिखता है, वैसा परब्रह्म गुणों को धारण करता है।।८।। नहीं तो जैसे सूर्यमंडल जल को धारण करता है, या सूर्य किरणों से जैसी मृगमरीचिका दिखाई देती है।।९।। वैसे ही कुछ संबंध के बिना, निर्गुण ब्रह्म सबको धारण करता है, किंतुयह सब मिथ्या कल्पना होने से व्यर्थ है।।९१०।। इस प्रकार जैसे दरिद्री स्वप्न में राज्य करता है, वैसे निर्गुण बह्म हे पार्थ! गुणों का उपभोग करता है।।११।। अतः गुण का संग या गुणों का उपभोग, निर्गुण से इसका संबंध है, ऐसा कहना योग्य नहीं है।।१२।।

वह परमात्मा चराचर सब भूतों से बाहर, भीतर परिपूर्ण है, चर, अचर रूप भी वही है, वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है, तथा अति समीप, या दूर भी वही स्थित है।।१५।।

हे पंडुसुत! विविध स्थान में प्रज्वलित अग्नि में एक ही उष्णता अभेद रूप में रहती है, तद्वत ब्रह्म चराचर भूत मात्र में विद्यमान है।।१३।। अविनाशी भाव में, सब में, सूक्ष्म दशा में, जो ब्रह्म व्याप्त रहता है, उसे ही यहाँ ज्ञेय समझना चाहिये।।१४।। जो एक भीतर, बाहर, जो एक समीप एवं दूर है,जिस एक के बिना दूजा प्रकार नहीं है।।१५।। क्षीरसागर की मधुरता, बीच में बहुत किनारे पर कम नहीं होती, हे पार्थ! तद्वत वह सर्वत्रयूर्ण है।।१६।। स्वेदज आदि विभिन्न भूत मात्र में भी उसके व्याप्ति में कमी नहीं होती।।१७।। हे श्रोताओं में भूषण भूत अर्जुन! सहस्त्र घटों मे चंद्रबिंब जैसा प्रतिबिंबित होता है किन्तु चंद्र में अनेकता नहीं होती।।१८।। नमक के विविध राशियों में जैसे क्षारता एक ही होती है, एक गन्ने में एवं गट्ठे के अनेक गन्नों में मधुरता एक जैसी होती है।।१९।।

वह विभाग रहित, एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण होते हुए भी चराचर संपूर्ण भूतों में पृथक-पृथक स्थित प्रतीत होता है, तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णुरूप से भूतों को धारण पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला एवं ब्रह्मरूप से सबको उत्पन्न करने वाला है।।१६।।

हे किरीटी! भूत मात्र में जो एकत्व से सबमें व्याप्त है, वैसे हे सुमति! विश्व रचना का वह आदिकारण है।।९२०।। अतः यह सब भूतमात्र के आकार जहाँ से उत्पन्न होते हैं वहीं उसका आधार भी है, जैसे तरंग को सागर आधार होता है।।२१।। बाल्य आदि तीनों काल में एक ही शरीर सब अवस्थाओं में रहता है, वैसे आदि स्थिति अन्त में वही अखंड है।।२२।। सायंकाल, माध्यान्त एवं प्रातःकाल में सर्व दिन होते हुये भी तीनों में आकाश कभी बदलता नहीं।।२३।। हे प्रियोत्तम! सृष्टिकाल में जिसका नाम ब्रह्मा है, स्थिति काल में उसको ही विष्णु कहते है,।।२४।। और जब आकार का लोप होता है, तब जिसको रुद्र कहते हैं, जब तीनों गुणों

Funding by IKS-MoE

लोपत। तब जो शून्य ।।२५।। नभ का शून्यत्व निगलकर। गुणत्रय को निरस्त कर। वह शून्य ही महाशून्य। श्रुतिवचन संमत ।।२६।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ।।१७।।

जो अग्नि का दीपन। जो चंद्रमा का जीवन। सूर्य के नयन। देखत जिससे ।।२७।। जिसके प्रकाश से पार्थ। तारागण को तेज प्राप्त। महातेज जिससे प्रकाशत। शक्ति से जिसके ।।२८।। जो आदि की आदि। जो वृद्धि की वृद्धि। बुद्धि की जो बुद्धि। जीव जीव का ।।२९।। जो मन का मन। जो नेत्र के नयन। कर्ण के जो कर्ण। वाचा वाचा की ।।९३०।। जो प्राण का प्राण। जो गति के चरण। क्रिया का कर्तापन। जिससे पार्थ ।।३१।। आकार को जिससे आकार। विस्तार को जिससे विस्तार। संहार को जिससे संहार। पंडुकुमार ।।३२।। जो मेदिनी की मेदिनी। जो पानी को जीवनदानी। दीप की दीपजलनी। तेज से जिस ।।३३।। जो वायु का श्वासोत्श्वास। जो गगन का अवकाश। और जो अशेष आभास। आभास से जिसके ।।३४।। किंबहुना पांडव। जो सर्वही सर्व। जहां द्वैतभाव–। को प्रवेश नाहीं ।।३५।। जो देखते ही तत्काल। दृश्य-दृष्टा यह निखिल। एकत्र होवे सकल। सामरस्य में ।।३६।। तब वही होत ज्ञान। ज्ञाता ज्ञेय अर्जुन। ज्ञान से साध्य जो स्थान। वह भी वह ।।३७।। जब गिनती की समाप्ति। योग एक ही निश्चिति। साध्य साधनादिक किरीटि। पावत ऐक्य ।।३८।। गणना द्वैत की शेष नाहीं। अर्जुन जिसके ठँई कुछ ही। जो हृदय में सबके सदा ही। वसत पार्थ ।।३९।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः। मदभक्त एतद्विज्ञाय मदभावायोपपद्यते ।।१८।।

एवं तुझको प्रियमित्र। दिखाया आदि क्षेत्र। स्पष्ट रूप से विस्तृत। विवेचन से पूर्ण ।।९४०।। वैसे ही क्षेत्रनंतर। खुली दृष्टि से देखोगे समग्र। वह ज्ञान भी धनुर्धर। निरुपित तुझको ।।४१।। सकौतुक अज्ञान को। रूप किया निको। जब तक होवे श्रम बुद्धि को। कहोगे रुको अब ।।४२।। और दृष्टांत से सांप्रत। उपपत्ति से विस्तृत। निरूपित तुझको स्पष्ट। ज्ञेय जो ।।४३।। यह संपूर्ण विवंचना। करके बुद्धि से अर्जुना। मत्सिद्धि भावना–। सहित मद्रूप होत। ।।४४।। देहादि परिग्रह से पार्थ। संन्यस्त होकर यथार्थ। जीव मेरे ठंई करत। वृत्तिक जो ।।४५।। वे मुझको अंत में निश्चित। जानकर ज्ञेय स्पष्ट। होत स्वयं साटोबाट (परस्पर)। मत्स्वरूप ।।४६।। मद्रूप प्राप्यर्थ। यह मुख्य रीति पार्थ। सुलभ सर्वतोपरि रचित। हमने स्वयं ।।४७।। गिरीरोहण को सीढ़ी बनाना। अंतराल में मचान बांधना। या अथाह पानी में डालना। तरी जैसे ।।४८।। वैसे सर्वत्र आत्मा। कहूं यदि तुम्हें वीरोत्तमा। न मानेगा मनोधर्मा।

Funding by IKS-MoE

का लोप होता है तब शून्य शेष रहता है।।२५।। आकाश की शून्यता को निगलकर तीनों गुणों का नाश करके वह शून्य ही महाशून्य कहलाता है, ऐसा सर्व संमत श्रुति वचन है।।२६।।

वह ब्रह्म ज्योतियों की ज्योति एवं माया से अत्यंत परे है, वह परमात्मा ज्ञान स्वरूप एवं जानने योग्य है, तत्त्व ज्ञान से प्राप्त होनेवाला वह सबके हृदय में स्थित है।।१७।।

जो अग्नि को दीप्ति देनेवाला है, चंद्रमा को अमृत देने वाला है, उस ब्रह्म के प्रकाश में सूर्य के नेत्र देखते हैं।।२७।। हे पार्थ! जिसके प्रकाश से तारांगण को तेज प्राप्त होता है, महातेज जिसमें है ऐसा सूर्य जिसके शक्ति से प्रकाशित होता है।।२८।। जो आदित की आदि है, जो विकास का विकास है, बुद्धि की जो बुद्धि है, एवं जीव का जीव है।।२९।। जो मन का मन है, जो नेत्र का नेत्र है, कर्ण का कर्ण है, वाणी की वाणी है।।९३०।। जो प्राण का प्राण है, जो गति का चरण है, क्रिया का कर्तापन जिससे होता है।।३१।। आकार को जिससे आकार प्राप्त होता है, विस्तार को जिससे विस्तृतता प्राप्त होती है; संहार जिससे नाश करता है।।३२।। जो पृथ्वी की पृथ्वी है, जल को जीवनदान देने वाला जल है, जिसके तेज से तेज को प्रकाश दिया जाता है।।३३।। जो वायु का श्वासोच्छ्वास है, जो आकाश का अवकाश है, यह जगत भास जिससे भासमान होता है।।३४।। किंबहुना हे पांडव! जो सर्व ही सर्व है, जहाँ द्वैत भाव को प्रवेश नहीं है।।३५।। जो देखते ही तत्काल दृश्य, द्रष्टा यह सब ऐक्य भाव के समरसता में एक होते हैं।।३६।। वही ब्रह्म ज्ञान, ज्ञाता एवं ज्ञेय बनता है, हे अर्जुन! ज्ञान से जो स्थान प्राप्त होता है वह भी वही है।।३७।। जब गिनती की समाप्ति होती है, तब एक ही योग होता है, तद्वत साध्य, साधन आदि हे किरीटी! ब्रह्म में एक होते हैं।।३८।। हे पार्थ! जहाँ द्वैत का व्यवहार चलता नहीं, जहाँ कुछ भी शेष नहीं, वह नित्य सबके हृदय में रहता है।।३९।।

हे अर्जुन! इस प्रकार से क्षेत्र एवं ज्ञान, एवं जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप से कहा है, इसको तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।।१८।।

हे प्रियमित्र! तुझको मैंने आदि क्षेत्र दिखाया है स्पष्ट रीति से, विस्तृत रूप में उसका पूर्ण विवेचन किया है।।९४०।। वैसे ही क्षेत्र के अनन्तर नंगे नेत्रों से संपूर्ण देखोगे वह ज्ञान भी, हे धनुर्धर! तुम्हें निरूपण किया है।।४१।। तुम्हारे बुद्धि को श्रम होकर तुम रुको कहोगे इतना सविस्तर और कौतुकपूर्ण अज्ञान का वर्णन मैंने किया है।।४२।। एवं अभी दृष्टांत द्वारा उपपत्ति से विस्तारपूर्वक ज्ञेय स्पष्ट रूप से समझाया है।।४३।। यह संपूर्ण विवेचन हे अर्जुन! बुद्धि से किया हैं, जो इस प्रकार से मद्भावना से मेरे स्वरूप सिद्धि को प्राप्त होते है।।४४।। हे पार्थ! देह के आसक्ति का जिन्होंने त्याग किया है, एवं मुझमें अपना जीव रहन रखकर जो सन्यस्त वृत्ति के हो गये है।।४५।। वे अंत में निश्चित रूप से, ज्ञेय को स्पष्ट रीति से जानकर, स्वयं मत्स्वरूप होते है।।४६।। मेरे स्वरूप के प्राप्ति प्रीत्यर्थ, यही मुख्य पद्धति है, यह सबमें अत्यंत सुलभ रीति बतायी है।।४७।। पर्वत पर चढ़ने के लिये सीढ़ी बनाना, अंतराल में मचान बांधना, या अथाह जल में नौका डालना।।४८।। वैसे सर्वत्र आत्मा है ऐसा, हे वीरोत्तम! तुम्हें कहूँ तब तुम्हारे

Funding by IKS-MoE

तेरा पार्थ।।४९।। अतः एक ही जो व्याप्त। चतुर्धा हमने विभाजित। जो दुर्बलत्व जानत। प्रज्ञा का तेरी।।९५०।। बालक को को यदि जिमाना। ग्रास एक के बीस करना। वैसे एक ही चतुर्विध बताना। माना युक्त हमने।।५१।। एक क्षेत्र का ज्ञान। एक ज्ञेय एक अज्ञान। विभाग किये अवधान। जानकर तेरा।।५२।। और इस पर भी पार्थ। यदि अभिप्राय तुम न जानत। तब यही व्यवस्था सांप्रत। कहूं एक बार और।।५३।। अब चतुर्विध न मानो। एक भी न जानो। आत्मानात्म रखो दोनों। समसमान।।५४।। किंतु एक तुम करना। जो मांगू मुझको देना। जो कर्ण ही नाम रखना। स्वयं का पार्थ।।५५।। सुनकर यह श्रीकृष्ण का कथन। रोमांकित हुआ पार्थ पूर्ण। देव कहत, अच्छा हुआ मन। स्थिर इसका।।५६।। ऐसा जब आवे उमंग। रोककर बोलत श्रीरंग। प्रकृति पुरुष विभाग। कहूं सुनो तुम।।५७।। जिस मार्ग को जग में अर्जुन। सांख्य कहत योगी जन। जिसका करने वर्णन। हुआ कपिल मैं।।५८।। वह सुनो निर्दोख। प्रकृति पुरुष विवेक। कहत आदि पुरुख। अर्जुन को।।५९।।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धचनादि उभावपि। विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।१९।।

वैसे पुरुष अनादि किरीटि। अनादि ही देखो प्रकृति। संचरत दोनों दिन राति। संग संग जैसे।।९६०।। देखो रूप नाहीं सत्य। किंतु छाया रूप के साथ। बीज जब बढ़त। बढ़े कण सह तुष।।६१।। वैसे जुड़वा सम पार्थ। दोनों यहां एक साथ। प्रकृति पुरुष प्रकटत। अनादि सिद्ध।।६२।। क्षेत्र के नाम से अर्जुन। जो जो बतलाया पूर्ण। वही यही जानो पूर्ण। प्रकृति रूप।।६३।। और क्षेत्रज्ञ ऐसे। जो कहलाया उसे। जानिये पुरुष रूपसे। निःसंशय।।६४।। इनके अन्यान्य नाम पार्थ। किंतु निरूपण भिन्न न होत। यह लक्षण चित्त में रखो सतत। बारम्बार।।६५।। तब जो केवल सत्ता। वही पुरुष पंडुसुता। समस्त प्रकृति को तत्त्वता। नाम क्रिया।।६६।। बुद्धि इंद्रिया अंतःकरण। इत्यादि विकार भरण। और तीनों गुण। सत्वादिक।।६७।। यह समुदाय समस्त। बना प्रकृति पार्थ। यही कारण संभव यथार्थ। कर्म के लिये।।६८।।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुवयत्वे।।२०।।

वहां इच्छा और बुद्धि। सृजत अहंकार उपाधि। पश्चात् लगावे छंद में त्रिशुद्धि। विषयों को।।६९।। इसी कारण प्रीत्यर्थ। जो सूत्र गृहित पार्थ। उसको ही संज्ञा सार्थ। कार्य जानो।।९७०।। और इच्छा जब मद से युक्त। जगावत मन को सुप्त। जो इंद्रियों को प्रेरणा देत। जानो कर्तृत्व वही।।७१।। अतः यह तीनों को। कार्य कर्तृव्य कारण को। जानो मूल प्रकृति को। सिद्धराज कहे।।७२।। एवं तीनों को समवाय से। प्रकृति कर्मरूप होवे जैसे। किंतु वर्धत गुण बल से। होवे उसी

Funding by IKS-MoE

मन को वह मान्य नहीं होगा।।४९।। अतः एक ही जो व्याप्त है, उसको हमने चार प्रकार से विभाषित किया है, क्योंकि तुम्हारे बुद्धि की दुर्बलता हमने जान ली।।९५०।। छोटे बालक को यदि भोजन करना है तो एक ग्रास के छोटे-छोटे बीस ग्रास बनाने पड़ेंगे, वैसे एक ही बात चार प्रकार से बताना हमें योग्य प्रतीत हुआ।।५१।। एक क्षेत्र, एक ज्ञान, एक ज्ञेय, एक अज्ञान, तेरा अवधान जानकार हमने विभाग किये हैं।।५२।। और इस पर भी हे पार्थ! यदि यह अभिप्राय तुम जानते नहीं तब यही बात एक बार और कहता हूँ।।५३।। अब चार प्रकार से नहीं कहूंगा, सब एक ब्रह्म ही है, ऐसा भी नहीं कहूँगा, आत्मा एवं अनात्मा को समान रखकर कहूंगा।।५४।। किन्तु तुम एक करना, जो मांगू वह मुझको देना, हे पार्थ! तुम अपनी पूर्ण चेतना कर्ण में एकत्रित करो।।५५।। यह श्रीकृष्ण का कथन सुनकर पार्थ पूर्ण रोमांचित हुआ। देव ने कहा अब इसका मन अच्छा स्थिर हुआ है।।५६।। ऐसा जब हर्ष वेग उत्पन्न होता है तब उसको रोककर बोलते है, अब प्रकृति पुरुष विभाग कहता हूँ, तुम सुनो।।५७।। हे अर्जुन! जिस मार्ग को जग में योगी लोग सांख्य योग कहते है, जिसका वर्णन करने के लिये मैं कपिल मुनि हुआ।।५८।। निर्दोष प्रकृति पुरुष विवेक सुनो, आदि पुरुष श्रीकृष्ण, अर्जुन को कहते हैं।।५९।।

हे अर्जुन! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ, इन दोनों को ही तू अनादि जानना, रागद्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक संपूर्ण पदार्थो को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए, ऐसा जानना।।१९।।

पुरुष अनादि है, प्रकृति भी अनादि है, जैसे दिन एवं रात साथ साथ चलती है।।९६०।। देखो! देह सत्य नहीं है, (रूप) किन्तु रूप के साथ छाया रहती है, जब बीज बढ़ता है, तब बीज के कण के साथ तुष भी बढ़ता है।।६१।। जुड़वे बच्चों के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष एक साथ अनादि सिद्ध प्रकट होते हैं।।६२।। हे अर्जुन! क्षेत्र नाम से जो तुझे पूर्ण बतलाया है, वही यहाँ प्रकृति का रूप जानना।।६३।। और क्षेत्रज्ञ ऐसे जो कहा है उसको निःसंशय पुरुष समझना।।६४।। हे पार्थ!, इनके विविध नाम हैं, किन्तु उनका निरूपण भिन्न नहीं होता, यह लक्षण अपने हृदय में पुनः-पुनः रखना।।६५।। तब जो केवल सत्ता है, वही हे पंडुसुत! पुरुष है, समस्त प्रकृति को तत्त्वतः क्रिया नाम है।।६६।। बुद्धि, इंद्रिय, अंतःकरण इत्यादि विकारों का समुदाय एवं सत्व, रज एवं तमोगुण,।।६७।। यह समस्त समुदाय प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, और यह प्रकृति कर्म के उत्पत्ति का हेतु है।।६८।।

कार्य एवं करण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही गयी है, और जीवात्मा सुख दुःखो के भोक्तापन में हेतु कहा जाता है।।२०।।

प्रकृति प्रथम इच्छा एवं बुद्धि अहंकार को निर्माण करती है, उसके पश्चात उन्हें विषयों के छंद में लगाते हैं।।६९।। उसी कारण से जो सूत्र ग्रहित है, हे पार्थ! उसको ही कार्य यह संज्ञा है।।९७०।। और जब इच्छा मद से युक्त होती है, वह मन को जगाती है, वह कर्तृत्व की प्रेरणा इंद्रियों को देती है।।७१।। अतः इन तीनों को कार्य, कर्तृत्व एवं कारण को प्रकृति मूल है यह समझना, ऐसे सिद्धों के राजा भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं।।७२।। एवं इन तीनों के समदाय से प्रकृति कर्मरूप बनती है, एवं जिस गुण

समान।।७३।। जो सत्त्वगुण से सृष्ट। वह सत्कर्म निश्चित। रजोगुण से जो निर्मित। जानो मध्यम वह।।७४।। जो तम से केवल। वह कर्म सकल। निषिद्ध अधम निखिल। जानो उसको।।७५।। इसविध संतासंत। कर्म प्रकृतिजन्य पार्थ। उन कर्मों से प्राप्त। सुख-दुख दोनों।।७६।। असंत से उपजत दुःख । सत्कर्म से सृजत सुख। भोग दोनों का लेत पुरुख। सांख्य मत यह।।७७।। सुख-दुख जब तक। उपजत सत्य एकेक। प्रकृति उद्यमरत तब तक। भोगत पुरुष।।७८।। प्रकृति पुरुष का यह संसार। विसंगत देखो अति विचित्र। जो आंबुली (स्त्री) करे सब व्यापार। खाये आंबुली बैठ कर (पुरुष)।।७९।। कभी न संजोग। साथ किंतु आंबुली जग। सृजत नवल सुनो।।९८०।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्। कारणं गुणसंड्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

वह अनंग उदासीन। असंग धनहीन। जीर्ण अतिवृद्ध से भी अर्जुन। वृद्ध जानो।।८१।। उसको नाम पुरुष देख। वैसे स्त्री या नपुंसक। इनमें से कुछ एक। यह निश्चित नाहीं।।८२।। वह अचक्षु अश्रवणु। अहस्तु अचरण। रूप ना वर्णू। नाहीं नाम भी।।८३।। जिसका कुछ भी नहीं अर्जुन। वह प्रकृति का भर्ता जान। ऐसे को भी भोगमान। सुख दुःख का।।८४।। वैसा यह अकर्ता। उदास अभोक्ता। किंतु बनावे यह पतिव्रता। भोक्ता उसको।।८५।। जैसे कोई स्त्री किंचित। स्वरूण गुण शृंगार सहित। विलक्षण खेल दिखावत। नचावे पुरुष को।।८६।। तब प्रकृति को तो इस। गुणमयी नाम खास। किंबहुना साक्षात अशेष। गुण ही यह।।८७।। प्रतिक्षण नित्य नूतन। रूप गुण युक्त अर्जुन। जड़ को भी करे मत्तपूर्ण। ऐसा मद इसका।।८८।। नाम सब इससे ही प्रसिद्ध। स्नेह इससे ही स्निग्ध। इंद्रिया प्रबुद्ध। इसीसे ही।।८९।। वैसे मन यह नपुंसक। किंतु भरमावे भ्रमवत तीनों लोक। ऐसे ऐसे अलौकिक। कार्य इसके।।९९०।। यह भ्रमका महाद्वीप। यह व्याप्तिका रूप। विकार अनाप। किये इसने।।९१।। यह काम की मंडपि का। यह मोहबन की वसंतिका। यह देवी मायिका। नाम से प्रसिद्ध।।९२।। यह वाड्गमयकी व्याप्ति। साकार की प्राप्ति। प्रपंच की चढ़ाई किरीटि। निरन्तर।।९३।। कला यहां से उत्पन्न। विद्या इसी के कारण। इच्छाज्ञान क्रिया पूर्ण। बियानी यह।।९४।। यह नाद की टकसाल। चमत्कार का घर के वल। किंबहुना यह सकल। खेल इसका।।९५।। जो उत्पत्ति प्रलय होत। वे इसके सायंप्रात। इतनी ही नहीं अति अद्भुत। मोहिनी यह।।९६।। यह अद्वैत की सहधर्मिर्णि। निःसंग की संगिनी। निरालंब की वासिनी। धनुर्धर।।९७।। इसका यहां तक पार्थ। सौभाग्य व्याप्ति का प्रांत। इसीलिये वश करत। अनावर को यह।।९८।। उसको तो ठाँई। कतई कुछ भी नाहीं। तब भी होत उसका सबही। अनायास।।९९।। उस स्वयंभू की संभूति। उस अमूर्त की मूर्ति। स्वयं

Funding by IKS-MoE

की अधिकता होती है वैसी वह बनती है ।।७३।। जो सत्वगुण से निर्माण होता है उससे निश्चित सत्कर्म होते है, रजो गुण से मध्यम निर्मिति होती है ।।७४।। जो केवल तमो गुण से होता है, वह सब कर्म, निषिद्ध एवं संपूर्ण अधम हैं ऐसा उनको समझना ।।७५।। इस प्रकार से सत् एवं असत् कर्म प्रकृति से होते है, उन कर्मों से सुख एवं दुःख प्राप्त होता है ।।७६।। असत् कर्म से दुःख उत्पन्न होता है एवं सत्कर्म से सुख उत्पन्न होता है, इन दोनों का उपभोग पुरुष लेता है यह सांख्य मत है ।।७७।। जब तक सुख दुःख सत्य में उत्पन्न होता रहता है तब तक प्रकृति कष्ट करती है एवं पुरुष उसको भोगता है ।।७८।। प्रकृति पुरुष का यह संसार विसंगत एवं अति विचित्र है, पत्नी सब व्यापार करती है, एवं पुरुष बैठकर खाता है ।।७९।। स्त्री पुरुष का हे पार्थ! एक दूजे के साथ संयोग नहीं होता, हे पार्थ! किन्तु (स्त्री) प्रकृति जग उत्पन्न करती है, यह नवल सुनो ।।९८०।।

प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुये त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भोगता है, और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा का अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है ।।२१।।

हे अर्जुन! वह पुरुष अंगहीन, उदासीन, असंग, धनहीन पुरातन, वृद्ध से भी वृद्ध है, ऐसा उसको जानो ।।८१।। उस का नाम पुरुष है, वह न स्त्री है.न नपुंसक उसमें से एक भी निश्चित नहीं है ।।८२।। उसको नेत्र, कान, हाथ, पैर, रूप, रंग एवं नाम भी नहीं है ।।८३।। हे अर्जुन! जिसको कुछ भी नहीं है, वह प्रकृति का स्वामी समझना, ऐसे पुरुष को भी सुख-दुःख भोगना पड़ता है ।।८४।। वैसा यह अभोक्ता, उदास, अकर्ता है, किन्तु यह पतिव्रता उसको भोक्ता बनाती है ।।८५।। स्त्री को अपने गुण एवं रूप से पुरुष को मोहित करना बनता है वह पुरुष को विलक्षण क्रीड़ा कराके नचाती है ।।८६।। तब इस प्रकृति को गुणमयी ऐसा नाम है, किंबहुना वह साक्षात् गुणही होती है ।।८७।। हर क्षण नित्य नये रूप एवं गुण से युक्त होती है, हे अर्जुन! जड़ को भी वह मत्त बनाती है ऐसा उसका मद होता है ।।८८।। सब नाम इससे प्रसिद्ध है, प्रेम इससे ही स्निग्ध हुआ है, इससे ही इंद्रियाँ अपने कार्य सें ज्ञानी बन गयी हैं ।।८९।। वैसे यह मन नपुंसक है, किंतु उसको वह तीनों लोकों में भटकाती है, ऐसे अलौकिक इसके कार्य होते हैं ।।९९०।। यह भ्रम का महाद्वीप है यह मूर्तिमंत व्यापक है, इसने अनंत विकार उत्पन्न किये हैं ।।९१।। यह प्रकृति कामरूपी लता का मंडप है, यह मोहरूपी वन का बसंत ऋतु है, यह दैवी माया के नाम से प्रसिद्ध है ।।९२।। यह वाग्ड़मय का विकास है, यह साकार रूप की प्राप्ति है, यह प्रपंच की निरंतर चलनेवाली चढ़ाई है ।।९३।। यहाँ से कला उत्पन्न होती है, इसी के कारण ज्ञान है, इच्छा, ज्ञान क्रिया संपूर्ण इससे ही उत्पन्न हुई है ।।९४।। यह नाद की टकसाल है, चमत्कारों का केवल घर है, किंबहुना यह सब इसका खेल है ।।९५।। जो उत्पत्ति एवं प्रलय होता है, वे इसका सायंकाल एवं प्रातःकाल है, इतना ही नहीं, यह अत्यंत अद्भुत मोहिनी है ।।९६।। यह अद्वैत की पत्नी है, निःसंग पुरुष की संगिनी-साथी है। हे धनुर्धर! जहाँ कुछ भी आलंबन नहीं वहां यह निवास करती है, ।।९७।। हे पार्थ! इसका यहाँ तक सौभाग्य के व्यापकता का प्रान्त है, इसलिये वह उस अनावर को जो किसी के पकड़ में नहीं आता उसको वश करती है ।।९८।। उसके पास तो कुछ भी नहीं है, तब भी उसका अनायास सब होता है ।।९९।। उस स्वयंभू की उत्पत्ति, उस अमूर्त की मूर्ति, उसका रहने का स्थान एवं स्थिति (रहना) भी स्वयं बनती

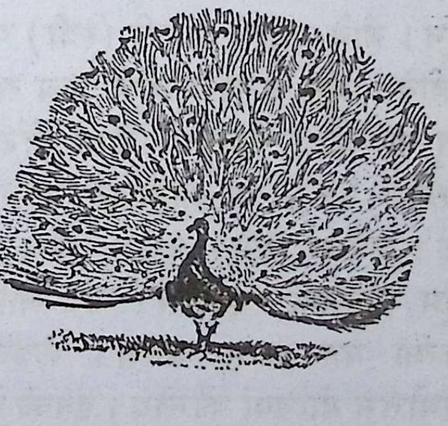

होत स्थिति। स्थान भी उसका ।।१०००।। उस अनार्त की आर्ति। उस पूर्ण की तृप्ति। उस अकुल की जाति। गोत्र होत ।।१।। उस अनर्च का चिन्ह। उस अपार का मान। उस अमनस्क का मन। होवे बुद्धि भी ।।२।। उस, निराकार का आकार। उस निर्व्यापार का व्यापार। निरहंकारीका अहंकार। होकर रहे ।।३।। उस अनाम का नाम। उस अजन्मा का जन्म। कर्म क्रिया स्वयम्। होवे उसकी ।।४।। उस निर्गुण का गुण। अचरण के चरण। उस अश्रवण के श्रवण। अचक्षु के चक्षु ।।५।। उस भावातीत के भाव। उस निरवयव के अवयव। किंबहुना होत सर्व। पुरुष का यह ।।६।। ऐसी-ऐसी इसकी प्रकृति। अपनी सब व्याप्ति। सो उस अविकारी को विकृति। वश करत ।।७।। वहां जो पुरुषत्व। वह इस प्रकृति दशा से प्राप्त। चंद्रमा अमावस में गुप्त। निस्तेज जैसा ।।८।। विदल बहुत चोख। मीनत वाल से एक। होवे पंधरा (शुद्ध) से पांच का देख। कस जैसा ।।९।। साधु के अंग में पिशाच्च पार्थ। संचरके कुकर्म में करे प्रवृत्त। नभमंडल सुदिन को करत। दुर्दिन जैसा ।।१०१०।। जैसे पय पशु पेट में। अथवा वन्हि काष्ट में। या आवृत पट में। रत्नदीप ।।११।। राजा पराधीन हुआ। या सिंह रोगजर्जर भया। वैसा पुरुष ने प्रकृति संग पाया। खोवत स्वतेज वह ।।१२।। जागता नर सहसा। निद्राधीन होवे जैसा। स्वप्न के भोग में एकसाथ। होते वशीभूत वह ।।१३।। वैसे प्रकृति आधीन। पुरुष का गुणभोग अर्जुन। होवे उदास अंतुरी (स्त्री) गुण। कामवश जैसा ।।१४।। वैसे इस अज नित्य को होवे। अंग जन्म-मृत्युके घाव सहे। जब गुणसंग लाहे। प्रकृति का वह ।।१५।। परंतु वह कैसा पंडुसुत। जैसा पीटत लोह तप्त। बोलत वन्हीं पर होत। आघात धनुर्धर ।।१६।। या आंदोलन उदक। प्रतिमा होवे अनेक। वह अनेकत्व आरोपत लोक। चंद्रपर जैसे ।।१७।। दर्पण के समीपत्व से। आवे दूजेपन मुख को जैसे। या कुंकुम स्फटिक रखने से। पावे लोहितत्त्व वह ।।१८।। वैसे इस गुण संगसे पार्थ। अजन्मा यह जन्म पावत। केवल भास ऐसा होवत। अन्यथा नाहीं ।।१९।। अधमोत्तम योनियां कौन्तेय। इनको ऐसा ही मानो भाव। जैसे सन्यासी स्वप्न में होय। अंत्यजादि जाति ।।१०२०।। अतः यह केवल पुरुष। न इसे होना भोगना देख। यहां गुणसंग ही अशेख। मूल जानो ।।२१।।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।२२।।

यह प्रकृतिमध्य स्थित। किंतु जुही के आधार स्तंभवत। प्रकृति इस बीच अंतर पार्थ। पृथ्वी नभ समान ।।२२।। प्रकृति सरिता तीर पर। मेरु यह सुवीर। बिंबत न बहत पर। जलौध से ।।२३।। प्रकृति होत जात। यह तो अनादि अनन्त। अतः आब्रह्मका स्वतः। शास्ता यह ।।२४।। प्रकृति इससे पाये जीवित। इसको सत्ता से जग। सृजत इसलिये इसका पार्थ। भर्तार यह ।।२५।। अनंत काल से किरीटि।

है ।।१०००।। उस इच्छा रहित की इच्छा, उस पूर्ण की तृप्ति, कुलरहित की जाति एवं गोत्र भी स्वयं होती है ।।१।। जिसकी चर्चा नहीं होती उसका चिन्ह, मन रहित पुरुष का मन एवं बुद्धि वह होती है ।।२।। वह निराकार पुरुष का आकार, व्यापार रहित का व्यापार, एवं अहंकार रहित पुरुष का अहंकार स्वयं बनती है ।।३।। उस अनाम का नाम, उस अजन्मा का जन्म, उसके कर्म, क्रिया सब वह स्वयं होती है ।।४।। उस निर्गुण का गुण, जिसको पैर नहीं उसके पैर, कर्ण बिन के कान एवं जिसको नेत्र नहीं हैं उसके नेत्र भी स्वयं बनती है ।।५।। जो भाव के अतीत है उसके भाव, जिसको अवयव नहीं उसके अवयव, किंबहुना पुरुष का वह सबकुछ होती है ।।६।। ऐसी इसकी प्रकृति है, अपने सर्वव्यापकता से अविकारी पुरुष को वह विकारी बनाती है, एवं वश में करती है ।।७।। वहाँ जो पुरुषत्व है वह इस प्रकृति के दशा से मिला है, जैसा अमावस के दिन चंद्रमा गुप्त रहता है एवं निस्तेज रहता है ।।८।। सुवर्ण शुद्ध रहता है, उसमें अन्य हीन धातु मिलते ही वह अशुद्ध बनकर उसका कस पंधरा से पांच पर आता है ।।९।। हे पार्थ! साधु के शरीर में पिशाच का संचार होते ही कुकर्म करने पर उसे प्रवृत्त करता है, आकाश में बादल छा जाने पर उत्तम दिन को दुर्दिन में उदासीनता में परावर्तित करते हैं ।।१०१०।। गौ के स्तन में जैसा दूध, लकड़ी में अग्नि जैसा अप्रकट होता है, या वस्त्र में तेजस्वी रत्न लपेटने से उसका तेज ढँक जाता है ।।११।। राजा पराधीन होने पर या सिंह रोगों से ग्रस्त होने पर जैसा निस्तेज होता है, वैसा पुरुष ने प्रकृति का संग करते ही वह अपना तेज खो देता है ।।१२।। जागृत पुरुष निद्रा के अधीन होने पर स्वप्न के भोग से, सुख दुःख भोग के वशीभूत होता है ।।१३।। वैसे प्रकृति के अधीन होकर पुरुष को गुणों को भोगना पड़ता है, हे अर्जुन! जैसे विरक्त पुरुष स्त्री के कारण जैसा कामवश होता है ।।१४।। जब पुरुष को प्रकृति के गुणों की संगति प्राप्त होती है, तब वह स्वभावतः जन्मशून्य एवं नित्य होते हुये भी उसको जन्म-मृत्यु के घाव सहने पड़ते हैं ।।१५।। हे पंडुसुत! वह ऐसा है, जैसे गरम लोहे पर पीटा जाता है तब वह अग्नि पर आघात हो रहे हैं ऐसा कहा जाता है ।।१६।। अथवा जल हिलने पर चंद्रमा के विविध प्रतिबिंब जल में दिखते है, तब अज्ञानी लोग चंद्रमा में अनेकता की कल्पना करते हैं, ।।१७।। दर्पण के सान्निध्य में मुख को दूजापन आता है, या स्फटिक पत्थर पर कुंकुम रखने से उसका वर्ण लाल दिखाई देता है ।।१८।। हे पार्थ! वैसे इन गुणों की संगति से यह अजन्मा जन्म लेता है, केवल ऐसा भास होता है, अन्यथा वहाँ कुछ भी नहीं होता ।।१९।। हे कौंतेय! ऊंच एवं नीच योनियों को ऐसा ही भाव मानो, जैसे स्वप्न में संन्यासी अंत्यज आदि जाति का होता है ।।१०२०।। अतः यह केवल पुरुष उत्पन्न नहीं होता न कुछ भोगता है, यहाँ गुणों की संगति ही सबकी जड़ होती है ।।२१।।

वास्तव में यह पुरुष इस देह में स्थित हुआ है किन्तु वह त्रिगुणमयी माया से सर्वथा अतीत है, केवल साक्षी होने से उपदृष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमंता, एवं सबको धारण करने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का स्वामी होने से महेश्वर एवं शुद्ध सच्चिदानंदघन होने से परमात्मा कहा गया है ।।२२।।

यह प्रकृति में स्थित है, किन्तु जूही की लता को जैसे खंबे का आधार होता है, तद्वत यह पुरुष प्रकृति का केवल आश्रय है उसके एवं प्रकृति में आकाश एवं पृथ्वी के बीच का अंतर है ।।२२।। हे सुवीर! प्रकृति रूप नदी के किनारे पर मेरूपर्वत के समान यह, प्रतिबिंबित होता है किन्तु जल के प्रवाह से बहता नहीं ।।२३।। प्रकृति उत्पन्न होती है एवं नष्ट भी होती है, यह तो अनादि, अनंत है, अतः यह ब्रह्मा से लेकर सबका स्वयं शास्ता है ।।२४।। प्रकृति इससे जीवित रहती है, इसकी सत्ता से जग का निर्माण करती है, इसीलिये यह प्रकृति का पति कहलाता है ।।२५।। हे किरीटि! अनंतकाल से, जितनी सृष्टि होती है, वह कल्पांत के समय इसमें

Funding by IKS-MoE

जितनी होवे सृष्टि। रीगत इसमें समवृष्टि। कल्पान्त समय में।।२६।। यह महद्ब्रह्म गोसावी पार्थ। ब्रह्मगोल का सूत्रधार सार्थ। अपारपन से आजमावत। प्रपंच को।।२७।। किंतु इस देह में। परमात्मा जो इसमें। कहत वह जानिये सबमें। इसीको ही।।२८।। अरे प्रकृति के परतः। कोई एक पंडुसुत। ऐसा प्रवाद जो तत्त्वतः। पुरुष ही वह।।२९।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

इसविध जो चोखेपन से। जानत इस पुरुष को ऐसे। और गुणकर्म पूर्ण रूप से। प्रकृति के सब।।१०३०।। यह रूप या छाया। पैल जल यह माया। निर्णय ऐसा धनंजया। कीजे जैसा।।३१।। उसी प्रकार अर्जुन । प्रकृति पुरुष विवेचन। गोचर होवे पूर्ण। मनको जिसके।।३२।। वह इस शरीर से। करे सकल कर्म जैसे। न होवे मलिन आकाश धूल से। वैसा ही वह।।३३।। प्राप्त हुआ देह यह। परंतु न ग्रासत देहमोह। न पावे जन्म जब नष्ट देह। पुनरपि वह।।३४।। इस प्रकार उसको एक। प्रकृति पुरुष विवेक। उपकार अलौकिक। होवे पार्थ।।३५।। परन्तु अन्तर में सुवीर। भानु सम यही विचार। उदित करे ऐसे प्रचुर। उपाय सुनो।।३६।।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

कोई एक हे सुभट। विचार अंगीठ में सतत। आत्मा नात्मरूप कीट। को पुट देकर।।३७।। छत्तीस प्रकार भेद। तोड़कर निर्विवाद। छांटत शुद्ध। तत्त्वस्वतः।।३८।। उस आत्मस्वरूप ज्ञान में किरीटि। आत्मज्ञान की लगाकर दृष्टि। निरखत निश्चिति। स्वयं कोही।।३९। और कोई दैवयोग से। चित्त देत सांख्ययोग से। कोई एक अंगलगसे। कर्ममार्ग के।।१०४०।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

इन इन प्रकार से। निस्तरत साचोकार से। इस भवभय भ्रांति से। सब वे।।४१।। परंतु वे इसविध वर्तत। जो अभिमान देश को भगावत। एक पर विश्वास करत। सुनत बोल उसके।।४२।। जो हिताहित सोचत। शिष्य हानी से दुखी होत। पूछकर संशय हरत। देतसुख।।४३।। उसके मुख से जो स्रवत अर्जुन। अति आदर से वह करत श्रवण। सुनकर होवत तल्लीन। अंग मन से।।४४।। उस श्रवण को ही समग्र। जानत साधन उपकार। जीव उन अक्षरों पर। निछावर करत।।४५।। इसविध हे कपिध्वज!। इस मरणार्णव समाज। से पार होत सहज। उत्तम रीति से।।४६।। ऐसे-ऐसे ये उपाय। बहुतेरे यहां कौन्तेय। उपस्थित लाभाय। वस्तु के एक।।४७।। अब रहने दो यह बहुत। यह सर्वार्थ का मथित। सिद्धांत नवनीत। दूं मैं तुझको।।४८।। इससे ही पंडुसुत। अनुभव सहज प्राप्त। और इसके प्राप्त्यर्थ। सायास नाही।।४९।। अतः बुद्धि से करे वर्णन। मतवाद का खंडन। करे शुद्ध

Funding by IKS-MoE

विलीन होती है।।२६।। यह महत् ब्रह्म का स्वामी है,यह ब्रह्म गोल का सूत्रधार है, अपने अनन्तता से मर्यादित प्रपंच को बाधित करता है।।२७।। किन्तु इस देह में जो परमात्मा कहलाता है, वह सब में इसको ही जानता है।।२८।। हे पंडुसुत! प्रकृति के परे कोई एक है ऐसा जो तत्त्वतः प्रवाद है वह पुरुष वही है।।२९।।

इस प्रकार से पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह सब प्रकार से वर्तन करते हुये भी उसका पुनर्जन्म नहीं होता।।२३।।

इस प्रकार जो शुद्धता से इस पुरुष को जो जानते है, एवं गुण एवं कर्म सब प्रकृति के है ऐसा जानते हैं।।१०३०।। यह देह एवं उसकी यह छाया है, आगे जल है, जल सदृश दिखनेवाली मृग-मरीचिका माया है, हे धनंजय! ऐसा निर्णय करना चाहिये।।३१।। हे अर्जुन! उसी प्रकार से प्रकृति पुरुष का विवेचन स्पष्ट मन में समझ में आ गया है।।३२।। वह इस देह से सब कर्म करते हुये, जैसा आकाश धूल से मलिन नहीं होता, वैसा वह अनासक्त है।।३३।। यह देह प्राप्त हुआ है किन्तु देह के मोह से वह भूलता नहीं, वह देह छूटने पर पुनः जन्म नहीं लेता।।३४।। इस प्रकार से प्रकृति पुरुष विवेक मनुष्य पर लोकोत्तर उपकार करता है।।३५।। हे सुवीर! यही विचार अंतःकरण में सूर्य के समान प्रकाशित होने के विविध उपाय हैं, उनको सुनो।।३६।।

हे अर्जुन! उस परमपुरुष परमात्मा को मनुष्य शुद्ध सूक्ष्म बुद्धि से, ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं तथा अन्य ज्ञान योग के द्वारा तथा अन्य निष्काम कर्म योग के द्वारा देखते हैं।।२४।।

इस प्रकार से हे सुभट! विचाररूपी अग्नि में नित्य आत्मानात्म मिश्रणरूपी हीन सुवर्ण को पुट (मुलामा) देते हैं।।३७।। छत्तीस अनात्मभेद निःसंशय छांटकर शुद्ध आत्मभाव को तत्त्वतः चुनते हैं।।३८।। हे किरीटि! उस आत्मरूप ज्ञान में आत्मज्ञान की दृष्टि लगाकर स्वयं अपने आपको देखते हैं।।३९।। कोई दैववशात् सांख्ययोग के द्वारा आत्मा का विचार करते है, कोई कर्मयोग का आश्रय करके आत्मा को देखते हैं।।१०४०।।

मंदबुद्धि वाले पुरुष इस प्रकार से न जानते हुये तत्त्व को जाननेवाले पुरुषों से सुनकर उपासना करते हैं, वह भी मृत्यु रूप संसार सागर से निःसंदेह तर जाते हैं।।२५।।

आत्मा को न जाननेवाले इस प्रकार से सर्व संसार भय सत्य में नष्ट करते है।।४१।। परन्तु वे इस प्रकार से व्यवहार करते है, वे अहंकार को भगाकर एक पर विश्वास करते है एवं उनकी वाणी सुनते है।।४२।। जो हित का एवं अहित का विचार करते हैं, वे शिष्य के हानि से दुःखी होते है, किस कारण दुःख है यह पूछकर उसका वे संशय नष्ट करते है एवं उनको सुख देते हैं।।४३।। हे पार्थ! उनके मुख से जो निकलता है वह आदरपूर्वक वैसा आचरण करता है, अत्यंत आदर से सुनता है सुनकर शरीर एवं मन से तल्लीन होता है।।४४।। उस सुनने को ही सब वह साधन एवं उपकार समझता है, उन अक्षरों पर अपना जीवन निछावर करता है।।४५।। हे कपिध्वज! इस मृत्युरूप समाज से वह उत्तम रीति से उसपार चला जाता है।।४६।। ऐसे यह उपाय यहाँ बहुत हैं, हे कौंतेय! परमात्मा के प्राप्ति के लिये लाभदायक मार्ग बहुत हैं।।४७।। अब यह रहने दो, सब अभिप्रायों का मंथन करके सिद्धान्त रूपी मक्खन में तुझे देता हूँ।।४८।। हे पंडुसुत! इससे तुम्हें सहज अनुभव प्राप्त होगा, और इसके लिये कष्ट करने की आवश्यकता नहीं।।४९।। अतः इस सिद्धान्त को बुद्धि से वर्णन करूंगा, मतों के दुराग्रह का खंडन करेंगे, एवं गर्भित अर्थ का शुद्ध, स्पष्ट विवरण

विवरण। फलितार्थ का ।।१०५०।। तब क्षेत्रज्ञ इस नाम से पार्थ। आत्मतत्त्व तुझको दिखाया सार्थ। और क्षेत्र भी यथार्थ। कहा पूर्ण ।।५१।।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वंस्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।२६।।

उनके परस्पर मेल से। सृजत भूतजात सब एकसे। अनिल संग से उठत जैसे। कल्लोल सलिल में ।।५२।। अथवा तेज और उखर। मेल जब होवे सुवीर। मृगजल का पूर। निर्माण होत ।।५३।। नाना मेघ वर्षा से। आर्द्र जब वसुंधरा उनसे। प्रस्फुटत अंकुर जैसे। नानाविध ।।५४।। वैसे चराचर संपूर्ण। जो कुछ जीव नाम से पूर्ण। वह उभय संयोग से उत्पन्न जानो यह ।।५५।। इसलिये किरीटि। क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-। से समस्त भूतव्यक्ति। भिन्न न होत ।।५६।। वैसे तो पटत्व तंतु नाही। किंतु तंतु से ही वही। ऐसी सखोल दृष्टि से सबही। ऐक्य देखो ।।५७।।

समं सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२७।।

सकल अर्जुन। एकसे ही उत्पन्न। किंतु उनकी प्रतीति भिन्न। जानो तुम ।।५८।। इनके नाम भिन्न। न्यारा इनको वर्तन। वेष भी भिन्न-भिन्न। इनके पार्थ ।।५९।। ऐसा देखकर किरीटि। यदि मानोगे सत्य प्रवृत्ति। तब जन्म शतकोटी। न उबारोगे तुम ।।१०६०।। नाना प्रयोजनशील। दीर्घ वक्र वर्तुल। होत एकही के फल। तुंबिनी के ।।६१।। शाखा ऋजु या वक्र। किंतु बेरी की ही समग्र। वैसे टेढ़े-मेढ़े भूतमात्र। किंतु वस्तु ऋजु ।।६२।। अंगारकण में बहुवस जैसे। उष्णता समाहित एकसी। वैसी नाना जीवराशि। किंतु पुरेशु एक ।।६३।। गगन भर में धारा। किंतु पानी एक ही सुवीर। वैसा इस भूताकार में पूरा। सर्वांग में वह ।।६४।। यह भूतग्राम विषम। परंतु वस्तु यहां सम। घटमठ में व्योम। जिस प्रकार ।।६५।। जब यह नाशत भूतभास। आत्मा तो अविनाश। जैसे केयूरादिकी कस। सुवर्ण का ।।६६।। एवं जीवधर्म हीन। जो जीव से अभिन्न। न देखो वह सुनयन। ज्ञानियों में पार्थ ।।६७।। ज्ञानचक्षु से वीरेश। चाक्षुसों में चाक्षुस। स्तुति नाहीं बहुवस। भाग्यवान वह ।।६८।।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८।।

यह गुणेंद्रिय की पेटी। देह धातुकी त्रिकुटि। पंचतत्त्व के मेल से किरीटि। दारुण यह ।।६९।। यह पंचलूम की बिच्छी अर्जुन। लगावे पंचधा अगन। प्राप्त जीवपंचानन-। को हिरन कुटि यह ।।१०७०।। ऐसा समर्थ शरीर में। क्यों न नित्यबुद्धि की छुरी उसमें। अनित्यभाव के उदर में। न भोंकत वह ।।७१।। तथापि इस देह में पार्थ। जो न करे अपना घात। और अन्त में निश्चित। मीनत वही ।।७२।। जहां योगज्ञान की प्रौढ़ी किरीटि। लांघकर योगी जन्म कोटी। निकलेंगे न ऐसी उक्ति। बोलत प्रतिज्ञापूर्वक ।।७३।। जो आकार का पैल तीर। जो नाद की परिसीमा सुवीर। तूर्याका मध्यधर। परब्रह्म जो ।।७४।। मोक्ष सहित गति। पावत

Funding by IKS-MoE

करेंगे।।१०५०।। हे पार्थ! क्षेत्रज्ञ इस नाम से तुझे आत्मतत्त्व ही दिखाया है, और क्षेत्र भी स्पष्ट रीति से कहा है।।५१।।

हे अर्जुन! जो कुछ यावन्मात्र स्थावरजंगम वस्तु उत्पन्न होती है उस संपूर्ण को तू क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुये है ऐसा जानना।।२६।।

उनके आपस के मेल से संपूर्ण भूतमात्र एक जैसे उत्पन्न होते हैं, जैसे वायु के संगति में जल में तंरग उत्पन्न होते हैं।।५२।। हे सुवीर! जब तेज एवं उखर जमीन का मेल होते ही मृग-मरीचिका का पूर निर्माण होता है।।५३।। मेघों की वर्षा से जब पृथ्वी भीगती है तब विविध प्रकार से अंकुर उसमें से निकलते हैं।।५४।। वैसे संपूर्ण चराचर जो कुछ जीव नाम से जाना जाता है वह सब प्रकृति पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है।।५५।। हे किरीटी! क्षेत्रज्ञ एवं प्रकृति से संपूर्ण भूत मात्र भिन्न नहीं होता।।५६।। वैसे वस्त्र तंतु नहीं होता, किन्तु तंतु से ही वस्त्र बनता है, ऐसा सखोल दृष्टि से तुम एकता देखना।।५७।।

वह पुरष नष्ट होते हुये सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को, समभाव से स्थित देखता है।।२७।।

संपूर्ण भूतमात्र एक से ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु उनका अनुभव विभिन्न प्रकार से होता है। यह तुम समझना।।५८।। इनके नाम अलग होते हैं, उनका वर्तन अलग होता है हे पार्थ! इनके वेष भी भिन्न होते हैं।।५९।। हे किरीटी! ऐसा देखकर यदि तुम्हारे मन में द्वैत भावना स्थिर हो गयी, तब तुम्हारा सैकड़ों कोटि जन्म उद्धार नहीं होगा।।१०६०।। लौकी के एकही लता के फल लंबे, टेढ़े, गोल ऐसे विभिन्न आकार के होते है।।६१।। बेरी के वृक्ष की शाखाएं सीधी या टेढ़ी हो सकती हैं किन्तु उससे उत्पन्न अग्नि सीधा रहता है, वैसे भूतमात्र विविध होते हुये भी ब्रह्मवस्तु उसमें एक रहती है।।६२।। हे गुडाकेश! अग्नि के कणों में उष्णता एक जैसी होती है, वैसे विविध जीवों में परमात्मा एक ही होता है।।६३।। हे सुवीर! आकाश से सर्वदूर जलवर्षा होती है किन्तु जल एक ही रहता है, वैसे इन भूतों के आकार में पूर्ण शरीर में मैं हूं।।६४।। यह भूतमात्र विषम होते हुये भी परमात्म वस्तु यहाँ सम होती है, घट एवं मठ में जैसा आकाश होता है।।६५।। जब यह भूतों का आभास नष्ट होता है, तब आत्मा अविनाशी है ऐसा बोध होता है, अलंकार भिन्न होते हैं किन्तु उसमें सुवर्ण का कस एकहि होता है।।६६।। अतः परमात्मा इस प्रकार से जीवधर्म रहित है, वह जीव से अभिन्न है, इस प्रकार से जो परमात्मा को जानता है, वह ज्ञानियों में सुनयन है ऐसा समझना।।६७।। हे वीरेश! ज्ञान दृष्टि से देखनेवालों को उत्तम ज्ञाननेत्र प्राप्त हैं, यह उसकी स्तुति नहीं है, वह भाग्यवान है।।६८।।

वह पुरुष सबमें समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ, शरीर का नाश होने से अपने आत्मा का नाश नहीं मानता, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।।२८।।

यह देह, गुण एवं इंद्रियों की रहने की पेटी है, कफ, पित्त एवं वात इन तीनों से यह देह बना है, यह पंचमहाभूतों का समुदाय है, यह बड़ा बुरा एवं भयंकर है।।६९।। हे अर्जुन! यह पांच लूम की बिच्छी है, विभिन्न पांच स्थानों में अग्नि सदृश दंश करती है, जीवरूपी सिंह को यह देहरूपी हिरण की कुटियां मिली है।।१०७०।। ऐसे इस समर्थ शरीर में यह बुद्धिरूपी छुरी, अनित्य भाव के उदर में क्यों नहीं भोंकते?।।७१।। हे पार्थ! ज्ञानी पुरुष देह में रहते हुए, अपना नुकसान नहीं करते अंत में निश्चित रूप से ब्रह्मरूप में मिलते हैं।।७२।। हे किरीटी! यहां योग एवं ज्ञान की शक्ति से, योगी लोग, कृतनिश्चय से, कोटी जन्म लांघकर ब्रह्मस्वरूप में डुबकी लगाते हुए बाहर नहीं निकलेंगे ऐसे प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं।।७३।। हे सुवीर! जो आकार रूपी नदी का पैल किनारा है, वह ब्रह्म अनाहद नाद की अंतिम सीमा है (ऊँकाररूप है), तुरीया अवस्था की तद्रूप स्थिति है।।७४।। गंगा आदि नदियां सागर में जैसे विलीन होती हैं वैसे मोक्ष

Funding by IKS-MoE

जहां विश्रांति। गंगादि आपापति-। को सरिता जैसे।।७५।। वह सुख इसी देह में पार्थ। पांवप्रक्षालन को प्राप्त। जो भूतवैषम्य से न होत। विषमबुद्धि।।७६।। दीप कोटि जैसे। किंतु तेज एक ही वैसे। विद्यमान ईशभाव से। सर्वत्र जो।।७७।। इसविध समत्व से पंडुसुत। जिये तो इस बूझ के साथ। वह मरण और जीवित-। से होवे मुक्त।।७८।। अतः वह विशेष दैववान। वर्णु उसको बारबार अर्जुन। जो साम्यसेज पर करे शयन। निरन्तर।।७९।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

और मन बुद्धि प्रमुख। कर्मेंद्रियां अशेख। करे प्रकृति ही देख। सत्य जाने जो।।१०८०।। गृहवासी गृह में रहाटत। गृह तो न कुछ करत। अभ्र अंबर में दौड़त। अंबर तो स्तब्ध।।८१।। तैसी प्रकृति आत्मप्रभा। खेलत गुणमयी विविधारंभा। यह आत्मा तो आश्रयखंबा। कौन न जाने?।।८२।। इसविध अनुभव से अर्जुन। हिय में जिसके प्रकाशत ज्ञान। अकर्ता को पूर्ण। जाना उसने।।८३।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति। तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।३०।।

वैसे जब हे अर्जुन!। होवे ब्रह्म संपन्न। तब यह भूताकृति भिन्न। दिखत एकरूप।।८४।। लहरें जैसी जल में। परमाणुकणिका स्थल में। रश्मिकिरण सूर्य में। जैसी पार्थ।।८५।। नातर देह में अवयव। मन में सब भाव। विस्फुल्लिंग सावेव (सर्व)। वन्हीं में एक।।८६।। वैसे प्राणिजात उत्पन्न एकसे। दृष्टि में भाव यह स्थिर जैसे। तबही ब्रह्म संपत्ति का निश्चित से। जहाज पाये।।८७।। तब जहां तहां पार्थ। दृष्टि ब्रह्ममय देखत। किंबहुना होवे प्राप्त। अपारसुख।।८८।। इस प्रकार कौन्तेय। प्रकृति-पुरुष व्यवस्था यह। कथित निश्चित अनुभव। दृष्टान्त से तुझको।।८९।। अमृत हाथ में आया जैसे। या निधान देखा दृष्टि से। मानिजे यह लाभ वैसे। धनुर्धर।।१०९०।। ऐसी जो हुई प्रतीति। न हो जाओ उसमें स्थिरमति। न ऐसा करो सुभद्रापति। इतने में अभी।।९१।। क्योंकि एक दो और बोल। कहूंगा तुझको सखोल। गिरवी रखकर मन को निखिल। लेना वह।।९२।। ऐसा कहकर श्रीरंग। प्रारंभ करत कथन सुरंग। तव अवधानमय सर्वांग। होत पार्थ।।९३।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

तब परमात्मा जो कहिये। वह इस स्वरूप से जानिये। जल में जल से न लिप्त होवे। सूर्य जैसा।।९४।। जल के पूर्व और पश्चात। वह तो रहत ही पार्थ। मध्ये बिंबत तब ही दिखत। औरों को वह।।९५।। वैसे आत्मा देह में अर्जुन। विद्यमान यह कथन। सांच नाहीं जान। जहां का वहीं वह।।९६।। दर्पण में मुख जैसे बिंबत। तब नाम वैसे। देह में रहना तैसे। आत्मतत्त्व को।।९७।। उसका देहका मेल पार्थ। बात यह सर्वथा व्यर्थ। वायु और बालु का साथ। संभव कैसा?।।९८।। अग्नि और कपास में जैसे। पिरोना धागा कैसे?। कैसे जोड़ना पाषाण से-। आकाश को?।।९९।। चले

१०७५-१०९९)

के साथ गति जहां विश्राम प्राप्त करती है ।।७५।। हे पार्थ! वह सुख इसी देह में चरण प्रक्षालन के लिए मिलता है, भूतमात्र के भिन्नता से उसकी बुद्धि में भेद भावना उत्पन्न नहीं होती ।।७६।। कोटी दीपों में जैसे तत्त्वतः प्रकाश एक ही होता है, वैसे परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है ।।७७।। हे पंडुसुत! इस प्रकार से समता के भाव से देखते हुए जो जीवन यापन करता है, वह जन्म मृत्यु से मुक्त होता है ।।७८।। अतः वह विशेष भाग्यवान समझना चाहिये, हे अर्जुन! उसका पुनः-पुनः वर्णन करूंगा, क्योंकि उसने समतारूपी शय्यापर निद्रा की है ।।७९।।

जो पुरुष संपूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से किये देखते हैं, प्रकृति से उत्पन्न गुण ही गुणों में व्यवहार करते हैं, एवं आत्मा को अकर्ता देखते हैं ।।२९।।

एवं मन एवं बुद्धि जिसमें प्रमुख है, वह सब कर्मेंद्रिय जो करते हैं, वह सब प्रकृति ही करती है, यह सत्य जो जानते हैं ।।१०८०।। घर में रहनेवाले विभिन्न व्यवहार करते हैं, किंतु घर कुछ करता नहीं, मेघ आकाश में दौड़ते हैं किंतु आकाश स्तब्ध होता है ।।८१।। वैसी प्रकृति आत्मप्रकाश में विविध कर्म से त्रिगुणों में क्रीड़ा करती है, यहां आत्मा तो खंबे के अनुसार केवल आधार होता है, यह कौन जानता नहीं? ।।८२।। हे अर्जुन! इस प्रकार से अनुभव से जिनके हृदय में ज्ञान प्रकाशित होता है, उसने अकर्ता आत्मा को जान लिया है, ऐसा समझना चाहिये ।।८३।।

यह पुरुष जिस काल में भूतों के न्यारे भाव को एक परमात्मा के संकल्प से संपूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, वह सच्चिदानंदघन ब्रह्म को प्राप्त होता है ।।३०।।

हे अर्जुन! जब वह ब्रह्म संपन्न होता है, तब यह विविध भूतों की प्रकृति उसे एकरूप दिखती है ।।८४।। जल में जैसे तरंग, परमाणु के कण जैसे भूमिपर, हे पार्थ! सूर्य में जैसे सूर्यकिरण ।।८५।। देह में जैसे अवयव, मन में जैसे विविध भाव, अग्नि में जैसे अग्निकण एक होते हैं ।।८६।। वैसे सब प्राणिमात्र एक ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं ऐसा भाव जब दृष्टि में स्थिर होता है, तब उसको ब्रह्मरूप संपत्ति से भरा जहाज प्राप्त होता है ।।८७।। हे पार्थ! तब जहां देखो वहां दृष्टि को ब्रह्ममय दिखाई देता है, किंबहुना उसको अपार सुख प्राप्त होता है ।।८८।। हे कौंतेय! इस प्रकार से यह प्रकृति एवं पुरुष की व्यवस्था है, दृष्टांत से तुझे निश्चित अनुभव बताया है ।।८९।। हाथ में जैसे अमृत आया है या दृष्टि से धन दिखाई दिया, हे धनुर्धर! यह लाभ वैसा समझना ।।१०९०।। ऐसा जब अनुभव आता है, तब उसमें अपनी बुद्धि स्थिर मत करो, हे सुभद्रापति! शीघ्रता नहीं करना ।।९१।। क्योंकि एक बार और मैं तुझे कहूंगा, उन सखोल वाणी को, मन को गिरवी रखकर तुम लेना ।।९२।। ऐसा कहकर भगवान श्रीरंग ने सुंदर कथन प्रारंभ किया, तब पार्थ का सब शरीर अवधानमय हुआ ।।९३।।

हे अर्जुन! अनादि एवं गुणातीत होने से, अविनाशी परमात्मा, शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में कुछ करता नहीं, न लिप्त होता है ।।३१।।

जिसको परमात्मा कहते हैं उसको इस रूप में जानना चाहिये जैसे जल में प्रतिबिंबित सूर्य जल से लिप्त नहीं होता ।।९४।। हे पार्थ! जल के पूर्व वह था, जल के पश्चात भी था, केवल हे पार्थ। बीच में वह प्रतिबिंबित होता है तब औरों को वह दिखता है ।।९५।। हे अर्जुन! वैसे देह में आत्मा विद्यमान है, यह कहना योग्य नहीं है, आत्मा जहां का वहीं होता है ।।९६।। दर्पण में जब मुख दिखता है तब उसको प्रतिबिंब कहते हैं, वैसे आत्मतत्त्व देह में रहता है ।।९७।। हे पार्थ! उसका एवं देह का मेल है ऐसा कहना व्यर्थ है, वायु एवं रेत का साथ कैसा संभव होगा? ।।९८।। अग्नि में एवं कपास में कैसा धागा पिरोया जायेगा? पत्थर से आकाश को कैसे जोड़ा जायेगा? ।।९९।। एक पूर्व दिशा में जाता है, दूजा

Funding by IKS-MoE

एक पूर्वदिशा को। जाये एक पश्चिम को। मेल समान उनको। संबन्ध यह।।११००।। प्रकाश और अंधेरे का। जो भेद मृत जीवित का। वही आत्मा देहका। जानो तुम।।१।। रात्रि एवं दिवस। कनक और कपास। नहीं जैसा सादृष्य। वैसा ही इसको।।२।। देह तो पंचभूत से सृष्ट। कर्मगुण से ग्रथित। भवचक्र में स्थित। जन्म-मृत्युके।।३।। यह कालानल के कुण्ड में पार्थ। मक्खन का पिंण्ड पड़त। या मक्षिका पंखुड़ि झाड़त। उतने में ही नष्ट।।४।। या अग्नि में गिरत क्वचित। तब भस्मी होकर उड़त। यदि श्वान को प्राप्त। होवे विष्टा यह।।५।। यदि चूकत दोनों काज। तब होवे कृमी का पुंज। यह परिणाम कपिध्वज। कश्मल अति।।६।। इस देह की ऐसी दशा। और आत्मा तो यहां ऐसा। नित्य शुद्ध सहज सा। अनादिपन से।।७।। सकल या निष्कल। अक्रिय या क्रियाशील। कृश ना स्थूल। निर्गुणपन से।।८।। आभासू ना निराभासु। प्रकाशु ना अप्रकाशु। अल्प ना बहवसु। अरूपपन से।।९।। रीता ना भरित। रहित ना सहित। मूर्त ना अमूर्त। शून्य पन से।।१११०।। आनन्दु ना निरानन्दु। एकु ना विविधु। मुक्तु ना बद्धु। आत्मपन से।।११।। इतना ना उतना। स्वयंभ ना किससे बना। मौनी या बोलता ना। अलक्षपन से।।१२।। सृष्टिसहित न सृष्ट। सर्व संहार में न नष्ट। है नहीं दीनों का पार्थ। पंचत्व जो।।१३।। नापे न बरनवत। बढ़त न घटत। न होवे खर्च न बिगड़त। अव्ययपन से।।१४।। एवं रूप वह आत्माराम। देह में जो रहत प्रियोत्तम। वह मठाकार से व्योम। संज्ञा जैसी।।१५।। वैसी उसकी अनुस्युति। तब होत जात देहाकृति। धरत न त्यागत सुमति। रहे स्वस्वरूप सा।।१६।। आहोरात्र, जैसे। आवे जावे अंबर में वैसे। आत्मसत्ता से तैसे। देहधारण जानो।।१७।। अतः इस शरीर में पार्थ। न कछु करे ना करवत। कोई सहजव्यापार में क्वचित। सज्ज न होत।।१८।। इलिये स्वरूप को पार्थ। न्यून अधिक विकार न संभवत। इतना ही नहीं वह न लिप्त। देह से देह में।।१९।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

कहो नहीं कहां आकाश?। कहां न इसका प्रवेश?। किन्तु किसीसे भी न इसको क्लेश। धनुर्धर।।११२०।। वैसा सर्वत्र सर्व देहमें। आत्मा वास करे उनमें। किन्तु संगदोष से एक भी उसमें। न होवे लिप्त।।२१।। अतः पुनः-पुनः यहां पार्थ। यही शुद्ध लक्षण निश्चित। जो जानिये क्षेत्रज्ञ को सार्थ। क्षेत्रविहीन ही।।२२।। संसर्ग से लोह चेष्टत। किंतु लोह भ्रामक न होत। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को वैसा ही भिन्नत्व। धनुर्धर।।२३।। दीपक की ज्योति से अर्जुन। गृहव्यवहार होवे पूर्ण। किंतु पृथकत्व कोटिगुण। दीप और गृहको।।२४।। काष्ट के पेट में किरीटि। वन्हि रहे निश्चिति। किंतु वह न काष्ट यह दृष्टि। रखिये यहां।।२५।। नंतर नभ अभ्र में। या सूर्य और

Funding by IKS-MoE

पश्चिम दिशा में जाता है, उनके मिलन के सदृश आत्मा एवं देह का संबंध है।।११००।। प्रकाश एवं अंधेरे में जो भेद होता है, मृत या जीवित व्यक्ति में जो भेद होता वही आत्मा एवं देह का संबंध है ऐसा तुम समझना।।१।। रात्रि एवं दिन सुवर्ण एवं कपास जैसी कुछ भी समानता नहीं होती, वैसा इसको समझना।।२।। देह तो पंचमहाभूतों से बना है, कर्म गुणों में पिरोये हैं, वह जन्म मृत्यु के संसार चक्र पर स्थित है।।३।। हे पार्थ! कालरूपी अग्नि के मुख में यह मक्खन का पिंड पड़ा है, मक्खी अपनी पंखुड़ियाँ झाड़ती है उतने समय में वह नष्ट होता है।।४।। यह देह यदि अग्नि में पड़े तब वह भस्म बनकर उड़ जाता है, यदि कुत्ते को प्राप्त हुआ तब उसकी विष्ठा बनती है।।५।। यह दोनों अवस्थाएँ जब चूक जाती हैं तब वह देह कृमि का पुंज बनता है, हे कपिलध्ज! यह परिणाम अत्यंत बुरा है।।६।। इस देह की ऐसी दशा है और यहां आत्मा स्वाभाविक, नित्य, शुद्ध एवं अनादि है।।७।। यह आत्मा सकल या निष्फल, क्रियारहित या कर्मशील, नाकृश न स्थूल, ऐसा अपने निगुर्ण रूप में स्थित है।।८।। वह न दृश्य है न अदृश्य, प्रकाशयुक्त या प्रकाशरहित है, अपने निराकार अवस्था में वह न अल्प है या न विपुल है।।९।। वह आत्मा शून्य होने से रिक्त नहीं है, या परिपूर्ण भी नहीं है किसी वस्तु से रहित या किसी के साथ नहीं है वह न तो प्रकट है न वह अप्रकट है।।१११०।। वह आत्मा आनंद नहीं है, या आनंद रहित भी नहीं है, वह एक नहीं एवं विविध प्रकार का भी नहीं है, वह आत्मरूप से बद्ध नहीं है एवं मुक्त भी नहीं है।।११।। वह आत्मा किसी का विषय न होने से इतना नहीं एवं उतना भी नहीं है, वह स्वयंभू नहीं है एवं किसी से बना भी नहीं है, वह अलक्ष होने से ना मौनी है न कुछ बोलता है।।१२।। वह उत्पत्ति के साथ उत्पन्न नहीं होता। सृष्टि का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता, हे पार्थ! है एवं नहीं का वह लय स्थान है।।१३।। अव्यय होने से उसका नाप नहीं होता, न उसका वर्णन होता है, वह न बढ़ता है, न घटता है, न खर्च होता है न बिगड़ता है।।१४।। इस प्रकार का वह आत्माराम है, हे प्रियोत्तम! देह में वह रहता है, जैसा मठ के आकार का आकाश मठाकाश कहलाता है।।१५।। वह अखंड होने से उस पर देह के आकार होते हैं, एवं जाते हैं, हे सुमति! वह देह को धरता नही, न उसका त्याग करता है, अपने स्वरूप में रहता है।।१६।। आकाश में जैसे दिन एवं रात आते-जाते रहते हैं, वैसे आत्मसत्ता का देह को धारण करना समझो।।१७।। अतः हे पार्थ! इस शरीर में वह न कुछ करता है न कराता है, सहज व्यवहार वह कर्त्ता नहीं।।१८।। अतः हे पार्थ! आत्म स्वरूप को कमी या अधिक विकार उत्पन्न नहीं होते, देह में रहते हुए भी वह देह से लिप्त नहीं होता।।१९।।

जिस प्रकार से सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने से लिप्त नहीं होता वैसे देह में स्थित होते हुए भी आत्मा गुणातीत होने से देह के गुणों से लिप्त नहीं होती।। ३२।।

आकाश कहाँ नहीं है कहो? आकाश का प्रवेश भी कहाँ नहीं है? किन्तु हे धनुर्धर! उससे किसी को कष्ट नहीं होता।।११२०।। वैसा आत्म सर्वत्र सर्व देह में वास करता है, किन्तु संगति के एक भी दोष से वह लिप्त नहीं होता।।२१।। हे पार्थ! अतः पुनः पुनः यही क्षेत्रज्ञ के शुद्ध लक्षण निश्चित है, अतः क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र विहीन समझना।।२२।। चुंबक की संगति में लोहा भ्रमण करता है किन्तु लोहे का चुंबक नहीं बनता, हे धनुर्धर! क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ में वैसा ही भेद है।।२३।। ~~हे अर्जुन!~~ दीपक की ज्योति से घर के सब काम होते हैं, किन्तु दीपक एवं घर में कोटी गुण भिन्नता है।।२४।। ईंधन के उदर में अग्नि निश्चित रहती है, किन्तु ईंधन अग्नि नहीं है, यह दृष्टि यहाँ रखना चाहिये।।२५।। आकाश एवं बादलों में जो भेद है, या सूर्य एवं मृगमरीचिका में जो भिन्नता है,

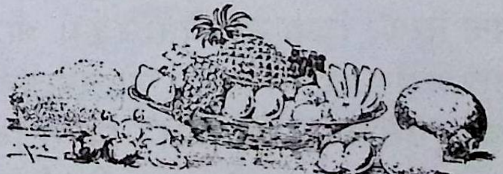

मृगजल में। यदि देखे आत्मा देह में। विवेक चक्षु से।।२६।।

यथा प्रकाशत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

और तो और एक। गगन में जैसा अर्क। प्रकाशत नाना लोक। भार जो।।२७।। वैसे जानिये क्षेत्रज्ञ को। प्रकाशक क्षेत्राभास को। मनमें न रखो शंका को। और न पूछे कुछ।।२८।।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

शब्द तत्त्व सारज्ञा!। वह ही चाक्षुषी प्रज्ञा। जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ-। का भेद देखे।।२९।। इन दोनों में अंतर। जानने को चतुर। आराधत द्वार। ज्ञानियों का।।११३०।। इस प्रीत्यर्थ सुमति। जोड़त शांति संपत्ति। शास्त्र की दुधार धेनु किरीटि। पालत घर में।।३१।। इसी ज्ञान के प्रीत्यर्थ। इसी आशा से पुरुष पार्थ। बड़े धैर्य से चढ़त। योगाकाश वे।।३२।। शरीरादि समस्त। मानत तृणवत। जीव से संतों के होवत। पादुकाधारी।।३३।। ऐसे-ऐसे प्रकार की। सामग्री ज्ञान की। जुटाकर निजान्तर की। निःसंशय होत।।३४।। तब क्षेत्र क्षेत्रज्ञका। देखत अन्तर उनका। उन्मेख पर उनके स्वयं का। ज्ञान उतारे हम।।३५।। और महाभूतादिक। विकार विशेष से अनेक। विस्तारित जग में अशेख। झूठी प्रकृति यह।।३६।। जो शुकनलिका न्याय से। अलिप्त को लिपटत जैसे। यह स्व प्रज्ञाबल से। जाने जो।।३७।। जैसी माला तो माला ही पार्थ। ऐसी ही दृष्टि देखत। जब मिथ्या भ्रम नाशत। सर्पबुद्धिका।।३८।। अथवा शुक्ति तो शुक्ति। यह साच होवे प्रतीति। जब रुपया की भ्रान्ति। होत नष्ट।।३९।। वैसा पृथक पृथकपन। प्रकृति का सान्तःकरण। देखत वे होत ब्रह्मपूर्ण। कहूं मैं।।११४०।। जो आकाश से महान। अव्यक्त का पैलतीर अर्जुन। आत्मत्त्व से साम्यासाम्य भिन्न। होने न देत।।४१।। आकार जहां लोपत। जीवत्व जहां विरमत। द्वैत जहां न बचत। अद्वय जो।।४२।। जो परमतत्त्व पार्था। होत वे पुरुष सर्वथा। आत्मानात्म व्यवस्था-। के राजहंस जो।।४३।। ऐसा यह सर्व। जीव का जीव जो पांडव। दिया उसको अनुभव। हृदगत का अपने।।४४।। एक कलश का दूजे में जैसा। उड़ेलना जिस प्रकार वैसा। श्री हरिने अपना तैसा। दिया उसको।।४५।। और किसको देत कौन?। वह नर वही नारायण। कहत अर्जुन को श्रीकृष्ण। जो तुम वही मैं।।४६।। क्यों मैं कहूं गत व्यर्थ। बिन पूछे नृपको (धृतराष्ट्र) यह बात। किन्तु दिया अर्जुन को समस्त। सर्वस्व देव ने।।४७।। तथापि वह पार्थ मन में। अब भी तृप्ति न माने। अधिकाधिक तृष्णा मन में। बढ़ावत जात।।४८।। स्नेह की भरमार से। प्रदीप्त दीप को तेज अधिक जैसे। सुनकर अर्जुन अन्तर में वैसे। वर्धत इच्छा।।४९।। सुगरन और उदार। अतिथि रसज्ञ चतुर। हस्त बढ़ावत परस्पर। धनुर्धर।।११५०।। वैसे देव को घटित पार्थ। श्रवण को

वैसी भिन्नता विवेक के नेत्र से देखने पर आत्मा एवं देह में दिखाई देती है।।२६।।

हे अर्जुन! जिस प्रकार से एक ही सूर्य संपूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार से आत्मा संपूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करती है।।३३।।

आकाश में जैसे अकेला सूर्य हर रोज तीनों लोकों को प्रकाशित करता है।।२७।। वैसा क्षेत्रज्ञ क्षेत्र के प्रतीति का प्रकाशक है, मन में शंका नहीं रखता एवं अब कुछ पूछना नहीं।।२८।।

इस प्रकार से क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के भेद को विकार सहित प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान नेत्रों से तत्त्व से जानते हैं वे महात्माजन परमात्माओं को प्राप्त होते हैं।।३४।।

शब्द के स्वरूप का मर्म जानने वाले अर्जुन! वही बुद्धि ज्ञान नेत्र युक्त होती है, जो क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ की भिन्नता देखती है।।२९।। इन दोनों में जो भिन्नता है, उसको जानने के लिये चतुर लोग ज्ञानियों के द्वार में आराधना करते हैं।।११३०।। हे सुमति! इसीलिये शांतिरूपी संपत्ति प्राप्त करते हैं, हे किरीटी! शस्त्ररूपी विपुल दूध देने वाली गौ का घर में पालन करते हैं।।३१।। इसी ज्ञान के लिये हे पार्थ! साधक इसी आशा से योग मार्ग के आकाश में बड़े धैर्य से चढ़ते हैं।।३२।। समस्त शरीर आदि को वे तृणवत् समझते हैं, संतों की चरण पादुकाएं धरते हुए सेवा करते हैं।।३३।। इस प्रकार की सामग्री अपने अंतःकरण में ज्ञान की सहायता से एकत्रित करके संशय रहित होते हैं।।३४।। जब क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ की भिन्नता देखते हुए उनके ज्ञान पर से अपने ज्ञान की आरती उतारेंगे।।३५।। पंचमहाभूतों के अनेक पदार्थों के रूप में विशेष विकारों के रूप में, यह मिथ्या प्रकृति जग में विस्तारित हुई है।।३६।। जो शुक-नालिका न्याय से आलिप्त को जैसे लिपटती है, यह सब अपने ज्ञान शक्ति से जो देखता है।।३७।। हे पार्थ! माला तो माला ही होती है, जब सर्प बुद्धि का मिथ्या भ्रम नष्ट होता है, तब सत्य स्वरूप दिखाई देता है।।३८।। या सीप तो सीप ही होती है, जब चांदी की भ्रांति नष्ट होती है, तब उसका सत्य अनुभव होता है।।३९।। वैसे आत्मा से भिन्न प्रकृति को भिन्नता से अंतःकरण में जो देखते हैं वे ब्रह्म होते हैं, ऐसा मैं कहता हूं।।११४०।। जो आकाश से महान है, अव्यक्त का दूजा किनारा है, हे अर्जुन! उसकी प्राप्ति होने पर समता एवं असमता आत्मत्व से भिन्न नहीं होती।।४१।। जहां आकार का लोप होता है, जीव भाव का जहाँ विराम होता है, जहाँ द्वैत्त शेष नहीं रहता ऐसा वह अद्वैत है।।४२।। हे पार्थ! जो परमतत्त्व है, जैसा जो होते हैं, वे आत्मा एवं अनात्मा को अलग करने वाले राजहंस होते हैं।।४३।। ऐसा यह सब जीव का जीव जो पंडुपुत्र अर्जुन है, उसको अपने हृदगत का अनुभव दिया।।४४।। एक कलश जल का जैसा दूजे में उड़ेला जाता है, वैसा श्री हरी ने अपना ज्ञान अर्जुन को दिया।।४५।। और किसको कौन देता है? वह न रहे, वही नारायण है, श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं, जो तुम हो वही मैं हूं।।४६।। मैं यह व्यर्थ क्यों कहूं राजा धृतराष्ट्र को बिना पूछे यह बात कहता हूं कि, अर्जुन को देव ने समस्त सर्वस्व दिया संजय कहता है।।४७।। तथापि वह पार्थ मन में अभी भी तृप्ति नहीं मान रहा था। उसके मन में अधिकाधिक तृष्णा (ज्ञान प्राप्ति की) बढ़ती जा रही थी।।४८।। तेल ज्यादा होने से जलते हुए दीपक का जैसे अधिक तेज बढ़ता है वैसे अर्जुन अपने मन में ज्ञान सुनकर अधिक इच्छा बढ़ा रहा था।।४९।। उत्तम भोजन बनाने वाली गृहिणी जब उदारता से खाना परोसती है, एवं अतिथि रस को जानने वाला चतुर हो, तब हे धनुर्धर! खाने वाला एवं परोसने वाली दोनों अपना हाथ बढ़ाते हैं।।११५०।। वैसा श्रीकृष्ण देव को हुआ, पार्थ सुनने के लिये उत्सुक था, अतः व्याख्यान

उत्कंठित। देखते-देखत चौगुन बढ़त। व्याख्यान उनका ।।५१।। सुवायु से मेघ करत। चंद्रसे सिंधु को ज्वार आवत। वैसे मत्त रस वर्धत। उत्सुक श्रोताओं से ।।५२।। अब आनंदमय पूर्ण। करेंगे, देव विश्व संपूर्ण। सुनो राजा देकर अवधान। संजय कहे ।।५३।। एवं जो महाभारत में। अप्रान्तमति श्री व्यास ने। भीष्म पर्व संगत में। कही कथा ।।५४।। वह श्रीकृष्णार्जुन संवाद। प्राकृत भाषामें विशद। कहकर दिखाऊं प्रबंध। ओवियों का ।।५५।। केवल यह शांतिरस कथा। लगाऊं मैं वाक्पंथा। जो शृंगार के भी माथा। रखे पांव ।।५६।। दिखाऊं प्रिय देशी में नूतन। जो साहित्य को होवे भूषण। अमृत को लावे न्यून! माधुर्य से अपने ।।५७।। बोलंकी आर्द्रतागुण से। चंद्र ही झरत जैसे। रसरंग, भुलावत वैसे। लोपत नाद ब्रह्म ।।५८।। खेचरों के मनको। लाये भर सात्त्विक को। श्रवण सहित सुमन को। समाधि प्राप्त ।।५९।। वैसा वाग्विलास विस्तार से। भर विश्व गीतार्थ से। आनंद का आवास जैसे। बांधे जग में ।।११६०।। नाश हो विवेक का दैन्य। हो सफल कर्ण मनका जीवन। दिखे सबको खान। ब्रह्म विद्या की ।।६१।। देखे परतत्त्व नयन। उदित हो सुख का सुदिन। होवे ब्रह्मबोध के सुकाल में मगन। विश्व पूर्ण ।।६२।। होगा सब यह सद्य निर्माण। ऐसे सुंदर बोलूं वचन। जो अनुगृहीत परम देव से पूर्ण। श्रीनिवृत्ति से मैं ।।६३।। प्रत्येक अक्षर में सन्तवर। लगे कवित्त्व उपमा की भीर। प्रतिपद का वरनु सार। गीतार्थ का मैं ।।६४।। यहां तक मुझको संतजन!। सारस्वत से परिपूर्ण। किया सब शास्त्र निपुण। श्रीमंत गुरुराजने ।।६५।। उस कृपा सहाय से श्रोतागण। बोलूं जितना अपनाओगे पूर्ण। और होऊंगा पात्र निश्चित पूर्ण। गीतार्थ कथन को ।।६६।। और आप संतों के पद। पाये आज मैंने शुभद। अतः न कोई प्रतिबन्ध। आवेगा कभी ।।६७।। प्रभूजी सरस्वती को मूक-। न उपजे कौतुक से भी न उपजे बालक। न ही न्यून सामुद्रिक। लक्ष्मी सन्निध ।।६८।। वैसे आप संतों के पास। कैसी अज्ञान की बात खास। इसीलिये अब नवरस। की वर्षा करूं मैं ।।६९।। किंबहुना अब देव। अवसर मुझे दीजे अपूर्व। जो उत्तम कहे ज्ञानदेव। कहूंगा ग्रंथ मैं ।।११७०।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे प्रकृति पुरुष विवेकयोगोनाम त्रयोदशोऽध्यायः (श्लोक ३४ ओवियाँ ११७०)

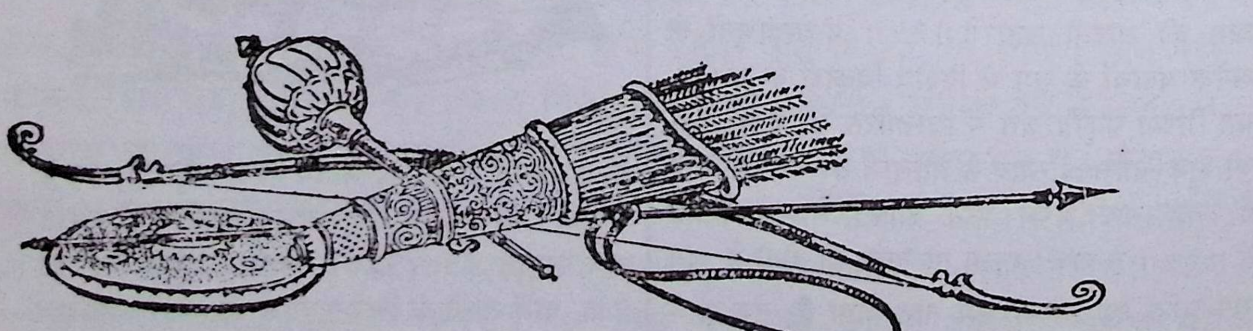

Funding by IKS-MoE

देखते देखते चौगुना बढ़ गया।।५१।। अनुकूल वायु से मेघ भरते हैं, पूर्ण चंद्रमा से समुद्र में जैसे ज्वार आता है वैसे उत्सुक श्रोताओं से व्याख्यान का रस बढ़ता है।।५२।। अब देव संपूर्ण विश्व पूर्ण आनंदमय करेंगे, हे राजा धृतराष्ट्र ध्यान देकर सुनना, ऐसा संजय कहते हैं।।५३।। एवं जो महाभारत में विशाल बुद्धि व्यास जी ने भीष्मपर्व में शांतरस पूर्ण कथा कही है।।५४।। वह श्रीकृष्ण एवं अर्जुन का संवाद प्राकृत भाषा में स्पष्ट करके ओवीबद्ध काव्य में दिखाऊंगा।।५५।। यह केवल शांत रस की कथा है, मैं वाणी के द्वारा इसको कहूंगा, वह श्रृंगार रस के मस्तक पर चरण रखेगी।।५६।। प्रिय देशी भाषा साहित्य शास्त्र में भूषण बनेगी, अपने माधुर्य से अमृत को भी न्यूनता लावेगी।।५७।। मेरी वाणी जैसे चंद्रमा से द्रवता झरती है वैसे शीतलता प्रदान करेगी रसों के रंगों के मोहक शक्ति से नादब्रह्म को तृप्त करेंगे।।५८।। पिशाच, यक्षादि योनियों के मन को भी मेरे वाणी से सात्विक गुण की प्राप्ति होगी, शुद्ध मन के लोगों को सुनते ही समाधि स्थिति प्राप्त होगी।।५९।। इस प्रकार से वाणी के विलास का विस्तार करेंगे, गीतार्थ से विश्व भर देंगे, जग में आनंद का आवास बांधेगे।।११६०।। आत्मानात्म विवेक का दैन्य नष्ट होवे, कान एवं मन का जीवन सार्थक होवे, सबको ब्रह्म विद्या की खान दिखलायी देवे।।६१।। परतत्त्व परब्रह्म परमात्मा का दर्शन नेत्रों से होवे, सुख के दिन का उदय होवे, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ज्ञान के विपुलता में मगन हो जावे।।६२।। परमश्रेष्ठ देव श्री निवृत्ति नाथ ने मुझे अनुग्रहित किया है, यह सब अभी निर्माण होगा ऐसी वाणी में मैं कहूंगा।।६३।। हे सुवीर! शब्दार्थ का मर्म प्रकट करने वाले शब्दों से, उपमा एवं काव्य की भीड़ लगाकर गीता ग्रंथ के प्रत्येक पद का अर्थ स्पष्ट करके बतावेंगे।।६४।। मेरे ऐश्वर्य सम्पन्न गुरुदेव ने मुझे पूर्ण विद्या से युक्त एवं सब शास्त्रों में निपुण किया है।।६५।। उस श्री गुरु कृपा की सहायता से मैं जो कुछ बोलता हूं वह आप श्रोतागण को मान्य हो रहा है, आप संतों में गीतार्थ कथन को मैं निश्चित पात्र होऊंगा।।६६।। और आप संतों के शुभदायी चरण मुझे आज प्राप्त हुए हैं, अतः कभी कोई प्रतिबंध नहीं आवेगा।।६७।। सरस्वती क्या मूक बालक की माता बनेगी? लक्ष्मीजी को सामुद्रिक लक्षणों की क्या कमी होगी?।।६८।। वैसे आप संतों के पास अज्ञान की खास बात क्या होगी? अतः मैं नवरसों की वर्षा करूंगा।।६९।। किबंहुना अब हे गुरुदेव! मुझे बोलने का अपूर्व अवसर प्रदान कीजिये, मैं उत्तम रीति से ग्रंथ कहूंगा, ऐसा श्री ज्ञानदेव कहते हैं।।११७०।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

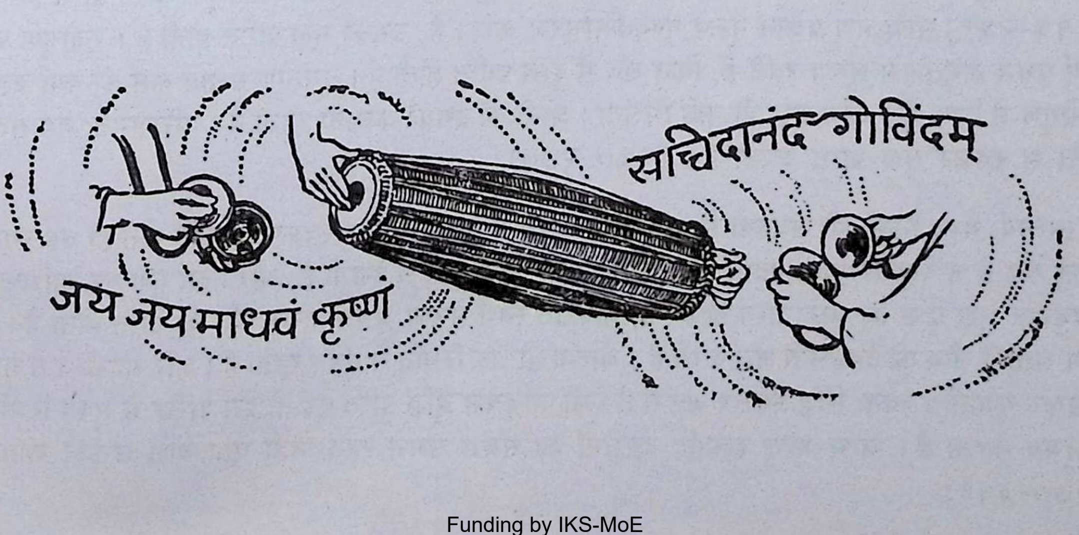

Funding by IKS-MoE

अध्याय - चौदहवाँ

सारांश

गुण कितने कैसे। बांधत कौन रीति से। और चिन्ह कैसे। गुणातीत के। एवं सब इसीप्रकार। अर्थ का निरूपण साचार। वर्णन विषय सार। चतुर्थ अध्याय में।।अ.१४/३६-३७।।

विषय प्रतिपादन के पूर्व ज्ञानेश जी ने श्री निवृत्तिनाथ की स्तुति की है। गीता का गूढ़ अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये आपकी पूर्ण कृपा ही चाहिये। ऐसी बिनती करने पर ज्ञानेशजी व्याख्या प्रारंभ करते हैं। भगवान कहते हैं- ज्ञान जिसका उसी के पास रहता है, वह उसका स्वरूप है। किंतु जीव विषयासक्त बन गया और उसको ज्ञान की विस्मृति हुई। यदि मन को अन्तर्मुख करके उसको ज्ञान का निदिध्यास लगाया तो जीव मद्रूप होकर अनंत और आनंदरूप हो जायेगा। जीव को स्वरूप ज्ञान की विस्मृति होती है इस स्थिति को अज्ञान कहते हैं। यह अज्ञान चित् प्रकाश पर आवरण डालता है। इस आवृत प्रकाश को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। अज्ञान का महत्व बढ़ाना यह क्षेत्रज्ञ का स्वभाव है। इस स्वभाव से वस्तु अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकती। परंतु वह स्वयं दृश्य करके नाना प्रकार से देखती है। अज्ञान कार्य का ऐसा प्रारंभ होता है। फिर अष्ट विकारों की सहायता से त्रिगुणात्मक अनेक ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती है। यह अपना संसार उसी का एक भाग है। (१-११५)

इस विश्व के चित्र विचित्र भूतों का प्रकाशन मैं करता हूं। जब जीव को अपने मूल स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, तब दृश्य रूप से प्रतीत होनेवाले संसार का (जग) लय होता है। गुणत्रय से जीव पुनर्जन्म से बद्ध हो जाता है। सत्वगुण के विकास से मन विषयों से परावृत्त हो जाता है। विवेक जागृति होती है। किंतु 'मैं सुखी और ज्ञानी' ऐसा अहंकार रहता है। परिणामतः सत्वगुण के सुख और ज्ञान इन पाशद्वय से वह बद्ध हो जाता है, फलतः मरणोपरांत उसको पुनर्जन्म लेना पड़ता है। परंतु सत्व गुणोत्कर्ष से ज्ञानी पुरुषों के कुल में उसको जन्म प्राप्त होता है। रजोगुणोप्रधान व्यक्ति विषय सेवन प्रवृत्त होता है। मरणोपरांत वह काम्य कर्माचरण करनेवाले गृहस्थ के घर में जन्म लेता है। तमोगुण प्रधान व्यक्ति मोहग्रस्थ, आलसी, विचार, शून्य मंदबुद्धि रहता है। उसकी आयु भ्रष्टाचार युक्त रहती है, फलतः उसको पशु, पक्षी, कीटक सदृश निकृष्ट जन्म प्राप्त होता है। (११६-२५९) सत्व गुण प्रधान पुरुष पुण्यकर्माचरण करता है, उसको सुख प्राप्ति होती है। रजोगुण प्रधान कर्म प्रथम अमृतोपम सुखद रहते हैं, किंतु अंत में दुःख प्राप्ति होती है। तमोगुण प्रधान कर्म का क्या कहना? तमोगुण से बिना दुख और कुछ भी नहीं मिलता। ज्ञानी को इसकी कल्पना रहती है। परिणामतः वह सत्वस्थ वृत्ति से रहकर सुख प्राप्त करता है। (२६०-२७०)

तात्पर्य, वस्तु किसी भी अवस्था में वस्तुत्व से अपने में पूर्ण है। परंतु स्वरूप विस्मृति होते ही वह स्वयं को वस्तु रूप से न देखकर नाना पदार्थ और उनके गुणों की स्थिति से देखती है, और जिस गुण का आधिक्य हो, तदनुसार सुख दुःख का भोग प्राप्त होकर मरणोपरांत स्वर्ग मनुष्य अथवा नरक गति को प्राप्त होता है। तीनों गुण अज्ञानी जीव को देहरूप से बद्ध करते हैं। आत्मा तो उस स्थिति से मुक्त रहता है। और साक्षित्व से गुण को देखकर गुणातीत स्वतः सिद्ध स्वरूप अपना है ऐसी अविचल बुद्धि प्राप्त हुई तो इस शरीर में मुक्त स्थिति का अनुभव करता है। जन्म-मृत्यु इत्यादि देहधर्मों का संबंध उससे रहता नहीं ऐसा बोध उसको रहता है। (२७०-३१९)

Funding by IKS-MoE

गुणातीत पुरुष का आचरण कैसा रहता है और वह गुणमुक्त कैसा होता है? श्रीकृष्ण कहते हैं गुणातीत गुणों से तादात्म्य नहीं होता। परिणामतः गुणोत्पन्न सुख-दुख उसमें नहीं दिखते। देहतादात्म्य का संपूर्ण अभाव यह गुणातीत का लक्षण है। द्वंद्व बाधा उसको नहीं होती। उसकी भोग प्राप्त्यर्थ क्रिया प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। (३२०-३७०)

गुणों से मुक्त होने का एक ही साधन है। मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति। मेरे बिना चित्त को अन्य बंधन न रखकर मेरे स्वरूप में पूर्णतः लीन होना यही मेरी श्रेष्ठ भक्ति है। फलतः संसार और मैं इनमें भेद नहीं रहेगा। भक्त और मैं अभिन्न हूं। इस अनादि ऐक्य से दृष्टि का उन्मीलन होना यह भक्ति का सार है। यह अव्यभिचारी भक्ति है। यह तत्त्व यदि समझ में नहीं आया तो मेरी भक्ति ब्रह्मस्थिति प्राप्ति का साधन है और मैं ब्रह्म से भिन्न हूं ऐसी धारणा होगी। वस्तुतः नित्य, अचल सुखरूप ब्रह्म मैं हूं। (३७१-४०७)

यह संवाद हर्षयुक्त होकर संजय धृतराष्ट्र को कथन करता था। किंतु धृतराष्ट्र पुत्र स्नेहग्रस्त होने के कारण उसका चित्त अपने पुत्र विजयवार्ता श्रवण करने को उत्सुक था। फलतः भगवद्वाक्य श्रवण करने की उसको उत्सुकता नहीं थी। अष्ट सात्विक भाव से पूरित संजय की स्थिति का वर्णन करके श्री ज्ञानेशजी ने यह अध्याय समाप्त किया है। (४०८-४१५)

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - चौदहवाँ

जय जय आचार्या !। समस्त सुखोदया !। प्रज्ञाप्रभातसूर्या !। सुखोदया !।। १।। जय जय सर्व विश्रामिया। सोऽहंभावसुहावया। नाना लोक हेलाविया। समुद्र आप ।। २।। सुनो हे आर्तबंधु। निरंतरकारुण्यसिंधु। विशदविद्यावधु-। वल्लभो जो ।। ३।। आप जिनके प्रति छिपत। जिनको विश्व सत्य प्रतीत। जिनको प्रकट नभ दिखावत। स्वरूपमय सर्व ।। ४।। प्रेक्षक की नजर चुराता। यह तो नजरबंदी करना। किंतु नवल विलक्षण प्रभो अपना। स्वस्वरूप चोर आप ।। ५।। जी आप ही आप इन सबको। किंतु मायाबोध किसी को। ऐसे जो आप गारुड़िको। प्रणाम मेरा ।। ६।। जानो आपके आर्दत्व से। पानी को उसका सुरत्व। आप से ही क्षमत्व। पृथ्वी को प्रभु ।। ७।। रविचंद्रादि शकित। उदय करत त्रिजगती। वह आपकी ही दीप्ति। दे तेज तेजको ।। ८।। वायु का संचार समस्त। आपके देवत्व से ही सार्थ। नभ आप में ही खेलत। लुका छिपी ।। ९।। किंबहुना माया आप में अशेष। ज्ञान आप से चाक्षुस। वर्णन आपका सायास। श्रुति को भी ।। १०।। वेद वर्णन में चतुर सुरंग। जब तक न देखे अंतरंग। तब वे हम एकसंग। धरे मौन ।। ११।। जो एकार्णव के ठाँई। प्रलय मेघ को ठव नाही। महानदी का भी न कोई। अस्तित्व पृथक ।। १२।। या उदित जब भासत स्व। चंद्र वैसा ही खद्योत। वर्णन को हम श्रुति को सार्थ। योग्यता एक ।। १३।। जहां द्वैत का ठव मोड़त। परासहित वैखरी डूबत। ऐसे आपका वर्णन होत। किस मुख से प्रभो ?।। १४।। इसलिये सांप्रत। स्तुति छांड के निवान्त। चरण

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - चौदहवाँ

सब देवताओं में श्रेष्ठ, आत्मबुद्धिरूपी उषःकाल करनेवाले सूर्यदेव, आत्मसुख का उदय करनेवाले श्री गुरुमहाराज, आपका जयजयकार हो।।१।। आप संपूर्ण विश्व का विश्राम स्थान हो, सोऽहं भाव सेवन करानेवाले आप हो, आप विभिन्न लोकरूपी तरंगों के समुद्र हो, आपका जयजयकार हो।।२।। हे दुःखी जनों को संकटों से छुड़ानेवाले, नित्य करुणासिंधु आप अध्यात्म ज्ञानरूपी स्त्री के प्रियकर हो।।३।। आप जिनके प्रति छिपते हो उन्हें विश्व सत्य प्रतीत होता है, जब आप प्रकट होते हो, तब उन्हें सब विश्व भगवन्मय दिखाई देता है।।४।। दूसरों की दृष्टि चुराना यह तो नजरबंदी होती है, किंतु आप तो अपने स्वयं के स्वरूप को छिपाते हो, हे प्रभो! यही आपका नवल विलक्षण है!।।५।। इस जग में सब कुछ तुमही हो, किंतु किसी को आपका ज्ञान होता है, किसी को माया से आपके संबंध में अज्ञान है ऐसे आप जादूगर को मेरा प्रणाम।।६।। आपकी आर्द्रता से जल को उसका उत्तम रसत्व प्राप्त हुआ है, हे प्रभो! आपसे ही पृथ्वी को क्षमावृत्ति प्राप्त हुई है।।७।। सूर्य एवं चंद्ररूपी सीप तीनों लोकों को प्रकाशित करते हैं, तेज को तेज आपके तेज से मिला है।।८।। वायु में सर्वत्र संचार करने की क्षमता आपके देवत्व से मिली है, आकाश आपके स्वरूप में लुकाछिपी खेलता है।।९।। माया के प्रकाशक भी आप ही हो, आपसे ज्ञान को नेत्र प्राप्त हुए हैं, श्रुती भगवती को भी आपका वर्णन करने के लिए कष्टप्रद प्रतीत होता है।।१०।। जब तक आपका अंतरंग दिखता नहीं तब तक ही वेदों को चतुर कहा जाता है, आपका वर्णन करते समय हम एवं वेद दोनों मौन धारण करते हैं।।११।। प्रलयकाल में जब सब समुद्र एक होते हैं तब महानदियों का भी पृथक अस्तित्व नहीं होता है, तब प्रलय मेघ को कहां स्थान मिलेगा?।।१२।। सूर्योदय होने पर चंद्रमा जुगनू जैसा दिखता है, तद्वत आपका वर्णन करते समय हमारी एवं श्रुति की एक अवस्था होती है।।१३।। जहां द्वैत स्थान नष्ट होता है, वैखरी वाणी परावाणी के साथ डूब जाती है, हे प्रभो! ऐसा आपका किस मुख से वर्णन किया जाये?।।१४।। अतः स्तुति

Funding by IKS-MoE

में रखूं माथ। वही युक्त।।१५।। तब आप जैसे हो यथार्थ। नमन गुरुराज समर्थ। मुझको ग्रंथोद्यम प्रीत्यर्थ। साहूकार होईजे।।१६।। आप कृपा मुद्दल छोड़िये। मन्मति थैली में भरिये। ज्ञानपद्य दीजिये। लाभ मुझको।।१७।। उसको करूं मैं वर्णन। करूंगा संतों को कर्ण। भूषण पहिनाऊं सुलक्षण। विवेक के मैं।।१८।। जो गीतीर्थ निधान। निकाले मेरा मन। डालो ऐसा स्नेहांजन। अपना आप।।१९।। यह वाक्सृष्टि एक समय। देखे मम बुद्धिचक्षु सदय। होवे अब शुद्ध उदय। कारुण्य बिंब का।।२०।। मेरी प्रज्ञावल्ली वेल्हाल (सुन्दर)। काव्य फल से होगी सफल। होवे वसंत स्नेहल। श्रेष्ठ आप।।२१।। प्रमेय महापूर से। मतिगंगा मेरी भरे जैसे। बरसो ऐसी कृपादृष्टि से। अपार आप।।२२।। अहो विश्वैकधामा!। आप का प्रसाद चंद्रमा!। करे मुझको पूर्णिमा!। स्फूर्ति की जी।।२३।। आप जब अवलोकत मुझको। आवे भर उन्मेष सागर को। ज्वार रसवृत्ति को। उमड़ेगी स्फूर्ति।।२४।। तब संतुष्ट गुरुराज। कहत लेकर विनती का ब्याज। बढ़ावत द्वैतकाज। स्तवन मिष से।।२५।। रहने दो अब यह व्यर्थ। वह सुंदर ज्ञानार्थ। विशद करो ग्रंथ। न करो उत्कंठा भंग।।२६।। जी वैसी ही होगा स्वामी। यही सोच मैं अंतर्यामी। जो श्री मुख से हो आज्ञा नामी। ग्रंथ कथन की।।२७।। पहले ही दुर्वांकुर। स्वभावतः अमर। उस पर वर्षत पूर। पीयूष का अब।।२८।। अब तो पाया प्रसाद। करुं विन्यास विदग्ध। मूलशास्त्र पद। प्रशंसू मैं।।२९।। जिससे जिवान्तर की समस्त। संदेह नौका डूबत। श्रवण की चाह वर्धत। श्रोताओं की।।३०।। बोली वैसी मेरी। करे प्रकट माधुरी। भिक्षा मांगकर द्वारी। गुरुकृपा के।।३१।। पीछे त्रयोदश में। बात उस अध्याय में। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कथा में। कही ऐसी।।३२।। जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ योग से। सृजत यह जग जैसे। होवे आत्मा गुण संग से। संसारिया।।३३।। और यही प्रकृति गत। सुख दुःख भोग प्राप्त। अन्यथा गुणातीत। केवल यह।।३४।। तब कैसा इस असंग को संग। कैसा क्षेत्राक्षेत्रज्ञयोग। सुख दुखाःदि भोग। कैसा इसको।।३५।। गुण कितने कैसे। बांधत कथन रीति से। और चिन्ह कैसे। गुणातीत के।।३६।। एवं सब इसी प्रकार। अर्थ का निरूपण साचार। वर्णन विषय सार। चतुर्दश अध्याय में।।३७।। तब वह ऐसा सांप्रत। सुनो करूं मैं प्रस्तुत। अभिप्राय विश्वेश का स्पष्ट। वैकुंठवासी का।।३८।। कहत कृष्ण हे अर्जुन!। अवधान का पूरा सैन्य। जुटाकर इस ज्ञान को पूर्ण। लिपटना तुम।।३९।। पहले हमने तुम को बहुत। उपपती से दर्शित। किंतु अब भी न प्रवेषत। प्रतीति पेट में तेरे।।४०।।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्। यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

अतः पुनः हे किरीटि!। कहूं यह तुझ प्रति। 'पर' कहकर श्रुति। ने विशद किया जो।।४१।। अन्यथा अपना यही ज्ञान। किंतु हुआ पर अर्जुन। जो भाया हमको पूर्ण। भवस्वर्गादिक यह।।४२।। अरे इसी कारण से। कहूं इसे उत्तम सबसे। जो वन्हि यह

करना छोड़कर आपके चरणों पर मस्तक रखना ही योग्य होगा।।१५।। हे श्री गुरुदेव!। आप जैसे सत्य समर्थ स्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूं, मेरा ग्रंथरूपी व्यापार सफल होने के लिए आप साहूकार बनिये।।१६।। आप कृपारूपी मूलधन छोड़िये, मेरे बुद्धिरूपी थैली में भर दीजिए, एवं ज्ञानरूपी काव्य का लाभ मुझे दीजिये।।१७।। मैं अब उसका वर्णन करूंगा, जिससे संतों के कान को उत्तम लक्षणों से युक्त विवेक के अच्छे आभूषण, अलंकार पहनाऊंगा।।१८।। मेरा मन गीतार्थ रूपी धन निकालने के लिए समर्थ होने के लिए आप अपना कृपारूपी अंजन मेरे ज्ञान नेत्र में डालिये।।१९।। यह शब्दसृष्टि एक साथ मेरे ज्ञान नेत्र देख सकेगी, इस पद्धति से, हे गुरुरूपी सूर्यदेव! आप करुणारूप बिंब से उदित होना।।२०।। हे कृपालुओं में श्रेष्ठ गुरुदेव! मेरी बुद्धि रूपी सुंदर एवं कोमल लता को काव्यरूपी उत्तम फल आने के लिये आप प्रेमपूर्ण वसंत ऋतु बनना।।२१।। जिससे बुद्धि रूपी गंगाजी को ब्रह्म सिद्धांतरूपी ज्ञान का पूर आने से वह भर जायेगी, अपनी कृपादृष्टि से ऐसी अपार वर्षा करना।।२२।। संपूर्ण विश्व का आश्रय स्थान है गुरुदेव। आपका प्रसन्नतारूप चंद्रमा मेरे अंतःकरण में स्फूर्ति की पूर्णिमा करे।।२३।। आप जब कृपादृष्टि से मुझे देखेंगे तब मेरे बुद्धिरूपी सागर में स्फूर्ति को शांत आदि नवरसों की ज्वार आयेगा।।२४।। तब संतुष्ट होकर श्री गुरुदेव ने कहा, प्रार्थना करने के निमित्त से स्तुति रूप में तुमने द्वैत को बढ़ावा दिया है।।२५।। अब यह व्यर्थ बात रहने दो, श्रीगीता ग्रंथ का सुंदर ज्ञानरूपी अर्थ स्पष्ट करके श्रोताओं की उत्कंठा भंग न करो।।२६।। श्री ज्ञानदेव कहते हैं, हे स्वामी! वैसा ही होगा, ग्रंथ का विवेचन करने की आज्ञा आपके श्रीमुख से मिलने की मैं अतःकरण में बाट देख रहा था।।२७।। दूबा के अंकुर स्वाभाविक रीति से अमर होते हैं, उस पर अमृतवर्षा हो तो फिर क्या कहना।।२८।। श्रीगुरुप्रसाद से गीता शास्त्र के मूल पद विस्तृत रूप से एवं चतुरता से वर्णन करूंगा।।२९।। जिससे जीव के भीतर की भ्रमनौका डूब जायेगी, एवं श्रोताओं की सुनने की इच्छा बढ़ेगी।।३०।। मेरी वाणी ऐसी मधुरता प्रकट करे ऐसी श्री गुरुकृपा के द्वार में मैं भिक्षा मांगता हूं।।३१।। तेरहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने, अर्जुन को ऐसी कथा कही थी।।३२।। क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के मिलन से यह जग निर्माण होता है, एवं गुणों के संपर्क से संसारी बनाना है।।३३।। प्रकृति के कारण सुःख-दुःख का भोग भोगता है अन्यथा यह केवल गुणातीत है।।३४।। तब इस असंग को संग कैसा प्राप्त हुआ, कैसा क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का मिलन हुआ, सुख-दुख आदि भोग यह कैसे भोगता है।।३५।। गुण कितने हैं, आत्मा को वे किस प्रकार से बंधन में डालते है, एवं गुणातीत के लक्षण क्या हैं?।।३६।। एवं सब इसी प्रकार अर्थ का योग्य निरूपण वर्णन करने के लिये चौदह अध्याय का प्रतिपद्य विषय है।।३७।। वैकुंठ में निवास करनेवाले विश्वाधिपति का प्रस्तुत अभिप्राय ऐसा है उसको अब सुनो।।३८।। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन! अवधानरूपी पूर्ण सेना जुटाकर इस ज्ञान को तुम निपटना।।३९।। हमने इसके पूर्व अनेक युक्तिवाद से यह विचार तुम्हें समझाया था, किंतु अद्याप तुम्हारे उदर में प्रतीति ने प्रवेश नहीं किया।।४०।।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! ज्ञानों में उत्तम परमज्ञान को मैं फिरसे तुझे कहूंगा, इसको जानकर सब मुनिजन संसार से मुक्त होकर परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।।१।।

अतः पुनः हे किरीटि!। तुझे यह बताता हूं, भगवति श्रुति ने इसका स्पष्ट विवरण किया है।।४१।। अपना यह ज्ञान पराया हुआ है, क्योंकि हमें संसार एवं स्वर्ग की आसक्ति उत्पन्न हुई है।।४२।। इसी कारण से यह ज्ञान अग्निसदृश एवं अन्यज्ञान को तुम तृणसमान समझना, अतः यह

Funding by IKS-MoE

जो तृण सा जैसे। अन्य ज्ञान।।४३।। जो भव स्वर्ग जानत। यज्ञ को उत्तम मानत। भेद ही परखत। निरन्तर।।४४।। वह अशेष ज्ञान। या इसने स्वप्न। अंत में वातोर्मि गगन। निगलत जैसे।।४५।। या उदित जब रश्मिराज। लोपत चंद्रादि तेज। नाना प्रलयाम्बु में लुप्त सहज। नदी नद जैसे।।४६।। वैसे देखकर यह। ज्ञानजात पावे लय। अतः हे धनंजय। उत्तम जानो।।४७।। अनादि जो मुक्तता। अपनी हे पंडुसुता। यह मोक्ष हस्तगत तत्त्वता। होय जिससे।।४८।। जिसके प्रतीति हे पार्थ!। विचार वीर संमस्त। संसृति को न करने देत। माथा ऊपर।।४९।। मन से मन को हटाकर। स्वानुभव से विश्राम पाकर। देही देह में रहकर। विकारी न होत।।५०।। तब इस देहद्वय-। को लांघकर उसी समय। काटकर समतोल कौंतेय। मुझसे होत।।५१।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्व मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

जो मेरी नित्यता। से स्वयं नित्य पांडुसुता। परिपूर्ण पूर्णता। से मेरी ही पार्थ।।५२।। मैं जैसा अनन्तानन्द। और जैसा सत्यसिंध। वैसे ही वे न भेद। शेष कुछ।।५३।। जो मैं जितना जैसा। वैसे ही वे वीरेश। घट भंगपर आकाश सा। घटाकाश वैसा।।५४।। नातर मूल दीप में। दीप शिखा अनेक उसमें। मीनत जब मूल में। तेज जैसा।।५५।। अर्जुन उसी प्रकार। शेष न द्वैतचक्र। वसत नामार्थ एकसर। मैं तू बिन।।५६।। इसी कारण से पार्थ। उत्पत्ति जोते में न जखड़त। न जन्म लेना पड़ता। सृष्टिकाल में।।५७।। सृष्टि के सर्वादि। जिनको न देहोपाधि। उनका प्रलयावधि। में नाश कैसा?।।५८।। अतः जन्म क्षय। अतीत वे धनंजय। आत्मज्ञान से यह। हुए मद्रूप वे।।५९।। ऐसी वृद्धि ज्ञान की। प्रशंसत देव नीकी। पार्थ को प्रीति उसको। लगाने को।।६०।। तब उसको हुआ ज्ञान। सर्वांग को स्फुटत कर्ण। निखालिस अवधान। से व्याप्त वह।।६१।। अब देव का ऐसा। जानत प्रेमोत्कर्ष जैसा। जो निरूपण इतना व्यापक सा। न समाये आकाश में।।६२।। तब कहत हे प्रज्ञाकान्ता। विकसित आज मेरी वक्तृत्व दुहिता। जो तुझसम ज्ञानी श्रोता। पाया वररूप में।।६३।। अतः एक मैं अनेक से। फसत देहापाश से। त्रिगुण बहेलिया से। किस प्रकार।।६४।। कैसा क्षेत्र योग से पार्थ। सृजत जग यह समस्त। सुनो कह वह सांप्रत। सुनिश्चत।।६५।। तब इस व्याज से क्षेत्र। बोलिये इसको सुमित्र। जो सृजत भूतमात्र। सत्संग बीज से।।६६।।

मम योनिर्महब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

वैसे तो महद्ब्रह्म। इसलिये ऐसा नाम। जो महदादि विश्राम-। शालिका यह।।६७।। विकार को बहु विस्तार। करत यह सुवीर। इसलिये कहत साकार। महद्ब्रह्म।।६८।। अव्यक्त वादियों भांति। कहत अव्यक्त ऐसी वदन्ति। सांख्यो की प्रतीति। से प्रकृति यही।।६९।। वेदान्ती इसको माया। कहत हे प्राज्ञराया। किंतु सब धनंजया। अज्ञान यह।।७०।। अपना अपने को अर्जुन। होवे जो विस्मरण। वही

Funding by IKS-MoE

सबसे उत्तम है।।४३।। जो स्वर्ग एवं संसार को जानते हैं, यज्ञ को उत्तम समझते हैं, द्वैत को नित्य जानते हैं।।४४।। वह सब. ज्ञान, इस ज्ञान ने स्वप्नवत मिथ्या ठहराया है, जैसे आकाश वायु को निगल जाता है।।४५।। जब किरणों के स्वामी सूर्य भगवान का उदय होता है, तब चंद्रमा आदि तेज लुप्त होता है, प्रलय काल के जल में सब नदियां एवं नद जैसे सहज लोप होते हैं।।४६।। हे धनंजय! वैसे इस ज्ञान को देखकर संपूर्ण अन्य ज्ञान का लोप होता है, अतः इसको उत्तम समझना।।४७।। हे पंडुसुत! अपनी जो अनादि मुक्तता है, वह मोक्ष तत्त्वतः इससे प्राप्त होता है।।४८।। हे पार्थ! जिसके अनुभव से समस्त ज्ञानी संसार को अपना मस्तक ऊपर उठाने नहीं देते।।४९।। मन से मन को नियंत्रित करके, स्वयं के अनुभव से विश्राम पाते हैं (ब्रह्मरूप होते हैं) देह में रहते हुए भी विकारों में लिप्त नहीं होते।।५०।। तब स्थूल एवं सूक्ष्म देह को एक साथ अनासक्त होकर (लांघकर) मेरे समतोल होते हैं।।५१।।

हे अर्जुन! इस ज्ञान के आश्रय से मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के प्रारंभ में उत्पन्न नहीं होते, प्रलय काल में व्याकुल नहीं होते, क्योंकि उनकी दृष्टि से मुझ वासुदेव से कोई वस्तु भिन्न नहीं होती।।२।।

हे पंडुसुत! जो मेरी नित्यता से स्वयं नित्य है, मेरी परिपूर्णता से पूर्ण है।।५२।। मैं जैसा अंतर्याद आनंद हूं, जैसा सत्य का सागर हूं, वैसे वे (ज्ञानी) होते हैं, हम दोनों में भेद नहीं होता।।५३।। मैं जैसा जितना हूं वैसे उतने ज्ञान की सहायता से वे होते हैं, घट भंग होने पर घटाकाश ही महाकाश होता है।।५४।। दीपक के मूल ज्योति में अन्य अनेक ज्योति मिलने पर सब एकरूप होती है।।५५।। हे अर्जुन! उसी प्रकार से ज्ञानियों में द्वैत का आना जाना सब समाप्त होता है, तब आत्मस्वरूप में मैं, तू द्वैत के बिना निवास करते हैं।।५६।। हे पार्थ! इसी कारण से जब मूल सृष्टि उत्पन्न होती है, तब उसका जन्म नहीं होता।।५७।। सृष्टि के प्रारंभ में जिनका जन्म नहीं होता उनका प्रलयकाल में नाश कैसा होगा?।।५८।। हे धनंजय! वह (ज्ञानी) जन्म मृत्यु के अतीत होते हैं, ज्ञान के मार्ग से वे मद्रूप हुए हैं।।५९।। ऐसी ज्ञान की महानता है, देव उत्तम प्रकार से उसकी प्रशंसा करते हैं, अर्जुन के मन में ज्ञान की प्रीति उत्पन्न होवे इसीलिये भगवान ने यह बताया।।६०।। तब अर्जुन को ज्ञान प्राप्त हुआ, मानो संपूर्ण शरीर में कर्ण उत्पन्न हुए, वह पूर्ण अवधान से व्याप्त हुआ।।६१।। अर्जुन अवधानरूप होते ही देव के अंतःकरण में प्रेम का उफान आया, भगवान का निरूपण तब आकाश में न समाने जैसा विस्तृत हुआ।।६२।। तब भगवान कहते हैं, हे ज्ञान के स्वामी! आज मेरी वक्तृत्व रूपी कन्या को तुम्हारे जैसा ज्ञानी श्रोता वररूप में मिलने से, वह प्रसन्न और विकसित हुई है।।६३।। मैं एक होते हुए त्रिगुणरूपी व्याध से अनेक देहपाश में कैसा फंसता हूं, उसको बताता हूं, सुनो।।६४।। हे पार्थ! क्षेत्र के सहयोग से इस संपूर्ण सृष्टि को कैसे उत्पन्न करता हूं वह अब निश्चित रूप से सुनो।।६५।। मेरे संगतिरूपी बीज से प्राणिरूपी फसल कैसे आती है, जिससे हे सुमित्र! इसको क्षेत्र कहते हैं वह अब तुम सुनो।।६६।।

हे अर्जुन! मेरी महत ब्रह्म प्रकृति यही त्रिगुणमायी माया है, वह संपूर्ण भूतों की योनी है, मैं उसके गर्भ में चेतनरूप बीज रखता हूं, उस जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।।३।।

वैसे तो इसको महद्ब्रह्म ऐसा नाम इसलिये है क्योंकि यह पंचमहाभूतों का विश्रामस्थान है।।६७।। हे सुवीर! यह विकारों का बहुत विस्तार कराता है, अतः इसको साकार परब्रह्म कहते हैं।।६८।। अव्यक्तवादी लोगों के मत से यही अव्यक्त है, सांख्यमत के अनुसार यही प्रकृति है।।६९।। हे बुद्धिमान धनंजय! वेदान्ती इसको माया कहते हैं, किंतु यह सब अज्ञान है।।७०।। हे अर्जुन! अपने सत्य स्वरूप को भूल जाना ही अज्ञान का स्वरूप

जो तृण सा जैसे। अन्य ज्ञान।।४३।। जो भव स्वर्ग जानत। यज्ञ को उत्तम मानत। भेद ही परखत। निरन्तर।।४४।। वह अशेष ज्ञान। या इसने स्वप्न। अंत में वातोर्मि गगन। निगलत जैसे।।४५।। या उदित जब रश्मिराज। लोपत चंद्रादि तेज। नाना प्रलयाम्बु में लुप्त सहज। नदी नद जैसे।।४६।। वैसे देखकर यह। ज्ञानजात पावे लय। अतः हे धनंजय। उत्तम जानो।।४७।। अनादि जो मुक्तता। अपनी हे पंडुसुता। यह मोक्ष हस्तगत तत्त्वता। होय जिससे।।४८।। जिसके प्रतीति हे पार्थ!। विचार वीर समस्त। संसृति को न करने देत। माथा ऊपर।।४९।। मन से मन को हटाकर। स्वानुभव से विश्राम पाकर। देही देह में रहकर। विकारी न होत।।५०।। तब इस देहद्वय-। को लांघकर उसी समय। काटकर समतोल कौंतेय। मुझसे होत।।५१।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्व मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

जो मेरी नित्यता। से स्वयं नित्य पांडुसुता। परिपूर्ण पूर्णता। से मेरी ही पार्थ।।५२।। मैं जैसा अनन्तानन्द। और जैसा सत्यसिंध। वैसे ही वे न भेद। शेष कुछ।।५३।। जो मैं जितना जैसा। वैसे ही वे वीरेश। घट भंगपर आकाश सा। घटाकाश वैसा।।५४।। नातर मूल दीप में। दीप शिखा अनेक उसमें। मीनत जब मूल में। तेज जैसा।।५५।। अर्जुन उसी प्रकार। शेष न द्वैतचक्र। वसत नामार्थ एकसर। मैं तू बिन।।५६।। इसी कारण से पार्थ। उत्पत्ति जोते में न जखड़त। न जन्म लेना पड़ता। सृष्टिकाल में।।५७।। सृष्टि के सर्वादि। जिनको न देहोपाधि। उनका प्रलयावधि। में नाश कैसा?।।५८।। अतः जन्म क्षय। अतीत वे धनंजय। आत्मज्ञान से यह। हुए मद्रूप वे।।५९।। ऐसी वृद्धि ज्ञान की। प्रशंसत देव नीकी। पार्थ को प्रीति उसको। लगाने को।।६०।। तब उसको हुआ ज्ञान। सर्वांग को स्फुटत कर्ण। निखालिस अवधान। से व्याप्त वह।।६१।। अब देव का ऐसा। जानत प्रेमोत्कर्ष जैसा। जो निरूपण इतना व्यापक सा। न समाये आकाश में।।६२।। तब कहत हे प्रज्ञाकान्ता। विकसित आज मेरी वक्तृत्व दुहिता। जो तुझसम ज्ञानी श्रोता। पाया वररूप में।।६३।। अतः एक मैं अनेक से। फसत देहापाश से। त्रिगुण बहेलिया से। किस प्रकार।।६४।। कैसा क्षेत्र योग से पार्थ। सृजत जग यह समस्त। सुनो कह वह सांप्रत। सुनिश्चित।।६५।। तब इस व्याज से क्षेत्र। बोलिये इसको सुमित्र। जो सृजत भूतमात्र। सत्संग बीज से।।६६।।

मम योनिर्महब्रह्म तस्मिन्गर्भ दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

वैसे तो महद्ब्रह्म। इसलिये ऐसा नाम। जो महदादि विश्राम-। शालिका यह।।६७।। विकार को बहु विस्तार। करत यह सुवीर। इसलिये कहत साकार। महद्ब्रह्म।।६८।। अव्यक्त वादियों भांति। कहत अव्यक्त ऐसी वदन्ति। सांख्यो की प्रतीति। से प्रकृति यही।।६९।। वेदान्ती इसको माया। कहत हे प्राज्ञराया। किंतु सब धनंजया। अज्ञान यह।।७०।। अपना अपने को अर्जुन। होवे जो विस्मरण। वही

Funding by IKS-MoE

सबसे उत्तम है।।४३।। जो स्वर्ग एवं संसार को जानते हैं, यज्ञ को उत्तम समझते हैं, द्वैत को नित्य जानते हैं।।४४।। वह सब. ज्ञान, इस ज्ञान ने स्वप्नवत मिथ्या ठहराया है, जैसे आकाश वायु को निगल जाता है।।४५।। जब किरणों के स्वामी सूर्य भगवान का उदय होता है, तब चंद्रमा आदि तेज लुप्त होता है, प्रलय काल के जल में सब नदियां एवं नद जैसे सहज लोप होते हैं।।४६।। हे धनंजय! वैसे इस ज्ञान को देखकर संपूर्ण अन्य ज्ञान का लोप होता है, अतः इसको उत्तम समझना।।४७।। हे पंडुसुत! अपनी जो अनादि मुक्तता है, वह मोक्ष तत्त्वतः इससे प्राप्त होता है।।४८।। हे पार्थ! जिसके अनुभव से समस्त ज्ञानी संसार को अपना मस्तक ऊपर उठाने नहीं देते।।४९।। मन से मन को नियंत्रित करके, स्वयं के अनुभव से विश्राम पाते हैं (ब्रह्मरूप होते हैं) देह में रहते हुए भी विकारों में लिप्त नहीं होते।।५०।। तब स्थूल एवं सूक्ष्म देह को एक साथ अनासक्त होकर (लांघकर) मेरे समतोल होते हैं।।५१।।

हे अर्जुन! इस ज्ञान के आश्रय से मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के प्रारंभ में उत्पन्न नहीं होते, प्रलय काल में व्याकुल नहीं होते, क्योंकि उनकी दृष्टि से मुझ वासुदेव से कोई वस्तु भिन्न नहीं होती।।२।।

हे पंडुसुत! जो मेरी नित्यता से स्वयं नित्य है, मेरी परिपूर्णता से पूर्ण है।।५२।। मैं जैसा अंतर्याद आनंद हूं, जैसा सत्य का सागर हूं, वैसे वे (ज्ञानी) होते हैं, हम दोनों में भेद नहीं होता।।५३।। मैं जैसा जितना हूं वैसे उतने ज्ञान की सहायता से वे होते हैं, घट भंग होने पर घटाकाश ही महाकाश होता है।।५४।। दीपक के मूल ज्योति में अन्य अनेक ज्योति मिलने पर सब एकरूप होती है।।५५।। हे अर्जुन! उसी प्रकार से ज्ञानियों में द्वैत का आना जाना सब समाप्त होता है, तब आत्मस्वरूप में मैं, तू द्वैत के बिना निवास करते हैं।।५६।। हे पार्थ! इसी कारण से जब मूल सृष्टि उत्पन्न होती है, तब उसका जन्म नहीं होता।।५७।। सृष्टि के प्रारंभ में जिनका जन्म नहीं होता उनका प्रलयकाल में नाश कैसा होगा?।।५८।। हे धनंजय! वह (ज्ञानी) जन्म मृत्यु के अतीत होते हैं, ज्ञान के मार्ग से वे मद्रूप हुए हैं।।५९।। ऐसी ज्ञान की महानता है, देव उत्तम प्रकार से उसकी प्रशंसा करते हैं, अर्जुन के मन में ज्ञान की प्रीति उत्पन्न होवे इसीलिये भगवान ने यह बताया।।६०।। तब अर्जुन को ज्ञान प्राप्त हुआ, मानो संपूर्ण शरीर में कर्ण उत्पन्न हुए, वह पूर्ण अवधान से व्याप्त हुआ।।६१।। अर्जुन अवधानरूप होते ही देव के अंतःकरण में प्रेम का उफान आया, भगवान का निरूपण तब आकाश में न समाने जैसा विस्तृत हुआ।।६२।। तब भगवान कहते हैं, हे ज्ञान के स्वामी! आज मेरी वक्तृत्व रूपी कन्या को तुम्हारे जैसा ज्ञानी श्रोता वररूप में मिलने से, वह प्रसन्न और विकसित हुई है।।६३।। मैं एक होते हुए त्रिगुणरूपी व्याध से अनेक देहपाश में कैसा फंसता हूं, उसको बताता हूं, सुनो।।६४।। हे पार्थ! क्षेत्र के सहयोग से इस संपूर्ण सृष्टि को कैसे उत्पन्न करता हूं वह अब निश्चित रूप से सुनो।।६५।। मेरे संगतिरूपी बीज से प्राणिरूपी फसल कैसे आती है, जिससे हे सुमित्र! इसको क्षेत्र कहते हैं वह अब तुम सुनो।।६६।।

हे अर्जुन! मेरी महत ब्रह्म प्रकृति यही त्रिगुणमायी माया है, वह संपूर्ण भूतों की योनी है, मैं उसके गर्भ में चेतनरूप बीज रखता हूं, उस जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।।३।।

वैसे तो इसको महद्ब्रह्म ऐसा नाम इसलिये है क्योंकि यह पंचमहाभूतों का विश्रामस्थान है।।६७।। हे सुवीर! यह विकारों का बहुत विस्तार कराता है, अतः इसको साकार परब्रह्म कहते हैं।।६८।। अव्यक्तवादी लोगों के मत से यही अव्यक्त है, सांख्यमत के अनुसार यही प्रकृति है।।६९।। हे बुद्धिमान धनंजय! वेदान्ती इसको माया कहते हैं, किंतु यह सब अज्ञान है।।७०।। हे अर्जुन! अपने सत्य स्वरूप को भूल जाना ही अज्ञान का स्वरूप

Funding by IKS-MoE

रूप लक्षण। अज्ञान को इस।।७१।। और एक खास बात। विवेक से न कभी दिखत। दीप से न गोचर होत-। अंधेर जैसा।।७२।। चलाने से जाये। निश्चल तब ही आवे। दूध में मलाई छाये। दूध की जैसे।।७३।। तब जागृति न स्वप्न। न स्वरूप अवस्थान। वह सुषुप्ति धन। जैसी होत।।७४।। या वायुउत्पत्ति पूर्व पार्थ। आकाश भासत रिक्त। उसी समान निश्चिंत। अज्ञान यह।।७५।। दूर स्तंभ या, पुरुख। न कह सके निश्चय से एक। किंतु कुछ तो आलोक। भासमान।।७६।। वस्तु जैसी होत। वैसी न दिखत। कुछ भिन्न भी न भासत धनुर्धर।।७७।। ना रात्रि ना तेज। संधि जैसी सांज। वैसे विरुद्ध अथवा निज। ज्ञान नाही।।७८।। ऐसी कोई एक दशा। उसको नाम अज्ञान ऐसा। उस अवगुंठित प्रकाश को तैसा। क्षेत्रज्ञ नाम।।७९।। अज्ञान होवे वर्धित। स्वयं को न जानत। वही रूप पार्थ। क्षेत्रज्ञ का।।८०।। अब यह उभय योग। जानो अच्छे से हे सुभग!। सत्ता का नैसर्ग। स्वभाव यह।।८१।। इसी अज्ञान सहित। वस्तु अपने को न देखत। रूप अनेक धारण करत। अनगिनत।।८२।। तैसा रंक भ्रमिष्ट। कहे हटो मैं राजा आवत। या भ्रम से करेमूर्छित। गया स्वर्ग लोक मैं।।८३।। वैसी विचलित जब सृष्टि। जो जो देखत किरीटि। उसको नाम सृष्टि। सृजत मैं ही।।८४।। जैसे स्वप्न मोहसे। देखे स्वतः को अनेक रूप से। वही स्थिति विस्मरण से। आत्मा को जानो।।८५।। यही अतिभ्रान्त। प्रमेय पुनः करूं स्पष्ट। किंतु इसकी प्रतीति सत्य। लेना जरूर तुम।।८६।। तब यह मेरी गृहिणी। अनादि तरुणी। अनिर्वाच्य गुणी। अविद्या यह।।८७।। कुछ नहीं यही इसका रूप। स्थान इसका अति अमाप। यह निद्रित के समीप। जागृत से दूर।।८८।। मेरे ही अंग पर निद्रित। यह पंडुसुत जागृत। सत्ता संभोग से पार्थ। गर्भिणी होत।।८९।। महद्ब्रह्म उदर में। प्राकृत अष्ट विकारों में। गर्भवृद्धि करे उसमें। पंडुकुमर।।९०।। उभय संग से प्रथम। बुद्धि तत्त्व का जन्म। बुद्धि तत्त्व से उत्पन्न। संकल्पात्मक मन।।९१।। तरुणी ममता मन की। जननी अहंकार तत्त्व की। उससे महाभूतों की। अभिव्यक्ति होत।।९२।। और विषयेंद्रियों का वेष्टन। महाभूतों का सभावजन्य। अतः पावत रूप अर्जुन। साथ उनको।।९३।। विकार जब क्षोभित। त्रिगुण पीछे खड़े रहत। तब वासनावश उपजत। ठाई ठाई।।९४।। आकार वृक्ष का। रखे मन में बीज कणिका। लाहे वह जब उदर का। संग तत्क्षण।।९५।। वैसे मेरे संग से सुवीर। नाना अविद्या अंकुर। सृजत अणिदार विश्वाकार।।९६।। तब गर्भगोलको उस। कैसा रूप आकार खास। सुनो वह विशेष। सृजनराय।।९७।। देखो अंडज स्वेदज। उद्भिज जारज। प्रस्फुटत सहज। अवयव यह।।९८।। व्योम वायु वश। वर्धत गर्भरस। मणिज जीवन विशेष। पावत वह।।९९।। तम, रज गुणयुक्त। तोय तेज अधिकत्व। तब उपजत। स्वेदज पार्थ।।१००।। आप पृथ्वी पर उत्कट। और तमोमात्र निकृष्ट। स्थावर प्रकट। उद्भिज यह।।१।। सहाई पांचो को

Funding by IKS-MoE

है।।७१।। एक खास बात विवेक से कभी नहीं दिखाई देती, जैसा दीपक के प्रकाश में अंधेरा नहीं दिखाई देता।।७२।। दूध की मलाई दूध पर जैसे छा जाती है, दूध हिलाने से मलाई उसमें घुल जाती है।।७३।। न जागृत स्थिति है, न स्वप्नावस्था है, अपने स्वरूप का बोध नहीं, ऐसी अवस्था प्रगाढ़ सुषुप्ति होती है।।७४।। वायु बहने के पूर्व आकाश खाली भासमान होता है, हे पार्थ! उसी के समान निश्चित रूप से यह अज्ञान होता है।।७५।। दूर से देखने पर खंबा है या कोई पुरुष खड़ा है इसका निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता, किंतु कुछ तो जरूर दिखता है।।७६।। वस्तु जैसी होती है वैसी नहीं दिखती, किंतु हे धनुर्धर! कुछ भिन्नता भी दिखाई नहीं देती।।७७।। रात्र नहीं है एवं प्रकाश भी नहीं है, उस संधि समय को संध्याकाल कहते हैं, तद्वत विपरीत ज्ञान नहीं रहता एवं स्वरूप का सत्य ज्ञान भी नहीं रहता, उस अवस्था को अज्ञान कहते हैं।।७८।। ऐसी कोई एक अवस्था होती है उसको अज्ञान नाम है, उस अज्ञान से आवृत जो प्रकाश (चैतन्य) होता है उसको क्षेत्रज्ञ नाम है।।७९।। अज्ञान बढ़ता है, स्वयं को नहीं जानता, हे पार्थ! वही क्षेत्रज्ञ का स्वरूप है।।८०।। क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ दोनों का संबंध हे सुभग! अच्छी तरह से जान लेना, यह चैतन्य-सत्ता का सहज स्वभाव है।।८१।। इसी अज्ञान के कारण आत्मा अपने को नहीं देखता, अनगिनत अनेक रूप धारण करता है।।८२।। भ्रमित दरिद्री मनुष्य कहता है, हटो, मैं राजा आया हूं, या मूर्छित मनुष्य भ्रम में स्वर्ग में गया हूं ऐसा समझता है।।८३।। आत्मस्वरूप से जब दृष्टि विचलित होती है, तब जो कुछ दृश्य प्रस्तुत होता है, उसका नाम सृष्टि है और मैं ही उसको निर्माण करता हूं।।८४।। जैसे स्वप्न में स्वयं को अनेक रूपों में देखते हैं, वही स्थिति आत्मा की विस्मरण से होती है।।८५।। यही बात दूसरे प्रकार से कहता हूं। यह सब स्वप्नसृदश मिथ्या है, उसका सत्य अनुभव तुम जरूर लेना।।८६।। तब मेरी यह गृहिणी, अनादि तरुणी है, उसमें अनिवर्चनीय गुण हैं वही अविद्या है।।८७।। कुछ नहीं यही उसका रूप है, इसका स्थान अमर्याद एवं विशाल है, यह अविद्या निद्रित व्यक्ति के निकट होती है, जागृत व्यक्ति से दूर होती है।।८८।। मैं स्वयं जब निद्रित रहता हूं, तब यह जागृत रहती है, मेरी सत्ता का आश्रय करके यह गर्भिणी होती है।।८९।। महद्ब्रह्म अपने उदर में प्राकृत आठ विकारों से, हे पंडुकुंवर! जगद्रूप गर्भ का विकास करता है।।९०।। तेरे एवं माया के संगति में प्रथम बुद्धितत्त्व का जन्म होता है, बुद्धितत्त्व से संकल्पात्मक मन उत्पन्न होता है।।९१।। मन की ममता नाम की तरुण पत्नि अहंकार की माता है, उससे पंचमहाभूत प्रकट होते हैं।।९२।। हे अर्जुन! विषय एवं इंद्रियां स्वभावतः पंचभूतों के साथ रूप प्राप्त करते हैं।।९३।। पंच महाभूत, विषय एवं इंद्रियां तयार होने पर विकारों के क्षोभ से त्रिगुणों से तैयार यह गर्भपिंड व्यक्त होता है, स्थान-स्थान पर वासनाओं में स्थित जीव गर्भ में प्रविष्ट होता है।।९४।। बीज को जल मिलते ही वृक्ष का सूक्ष्म आकार तैयार होता है।।९५।। तद्वत मेरे संग से अविद्या जगद्रूप नोंकवाले विविध अंकुर विश्व के आकार में उत्पन्न करती है।।९६।। हे सुजन राजा! उस समय गर्भ गोलका आकार कैसा प्रकट होता है सुनो!।।९७।। तब अंडज, स्वेदज, उद्भिज एवं जारज ये अवयव स्वाभाविक उत्पन्न होते हैं।।९८।। आकाश एवं वायु के संयोग से गर्भरस की वृद्धि होकर मणिज अवयव उत्पन्न होता है।।९९।। तम एवं रजोगुण से युक्त, जल एवं तेज की अधिकता होने से हे पार्थ! स्वेदज योनि उत्पन्न होती है।।१००।। जल एवं पृथ्वीतत्त्व की अधिकता से केवल नीच तमोगुण से स्थावर उद्भिज योनि उत्पन्न होती है।।१।। पंचमहाभूत आपस में सहकार्य करते हैं, हे सुवीर! मन एवं बुद्धि से मनुष्य आदि जारण

Funding by IKS-MoE

परस्पर। मन बुद्धयादि सुवीर। ये तो जानिये हेतु कर। जारज के।।२।। ऐसे चारों यह सरल। जगद्गर्भ के कर चरण तल। महाप्रकृति स्थूल। वही सिर।।३।। प्रकृति जिसका पेट। निवृत्ति उसकी पीठ। सुर योनि अंग अष्ट। उर्ध्व के।।४।। कंठ दैदीप्यमान स्वर्ग। मृत्युलोक मध्य भाग। अधोदेश सुरंग। नितंब प्रदेश।।५।। ऐसा बालक एक। प्रसवत प्रकृति पत्नी देख। जिसकी तीनों लोक। पुष्टि पार्थ।।६।। चौर्‍यासी लक्ष योनी अर्जुन। अस्थि अंगुली संधिस्थान। वर्धत दिन प्रतिदिन। बालक यह।।७।। नाना देह अवयव पर। पहिनावत नाम अलंकार। मोहस्तन्य से बढावे साचार। नित्य नूतन।।८।। पृथक-पृथक सृष्टि। करांघ्रि अंगुलिया किरीटि। करे भिन्नाभिमान अंगूठी। धारण वहां।।९।। यह एकलौता चराचर। अविचारी सुंदर बालक। प्रसव कर अतिमात्र। गौरवान्वित वह।।११०।। ब्रह्मा उसका प्रातःकाल। विष्णु माध्यान्हकाल। सदाशिव सायंकाल। बालक का उस।।११।। महाप्रलय सेज पर पार्थ। खेलकर सोवत निवान्त। विषयज्ञान से जागत। कल्पोदय में।।१२।। अर्जुन इसी प्रकार। मिथ्या दृष्टि गृह में साचार। बढ़ावत युगानुवृत्ति के पैर। कौतुक में आगे।।१३।। संकल्प जिसका इष्ट। अहंकार विनष्ट। ऐसे इसका होवे अन्त। ज्ञान से इस।।१४।। अब रहने दो बात बहुत। विश्व ऐसी माया प्रसवत। वहां सहाय होत। सत्ता मेरी।।१५।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

इस कारण मैं पिता। महद्ब्रह्म यह माता। अपत्य पंडुसुता। जगडंबर यह।।१६।। अब ये शरीर बहुत। देखकर भेद न मानो पार्थ। जो मनबुध्यादि भूत। एक ही यहां।।१७।। देखो देह में एक ही। क्या अवयव पृथक नाही। वैसे विश्व ही विचित्र सब ही। किन्तु एक ही यह।।१८।। ऊंच नीच शाखा। विषम भिन्न अशेखा। किन्तु विस्तार एक बीज का। पंडुकुमर।।१९।। और संबंध वह ऐसा। घट मृतिका का पुत्र जैसा। या पटत्व कर्पास का वैसा। नाति होत।।१२०।। नाना कल्लोल परंपरा। संतति जैसी सागरा। हम चराचर का सुवीरा। संबंध तैसा।।२१।। अतः ज्वाला और अनल। दोनों अनल ही केवल। वैसे मैं ही सकल। अन्य संबंध व्यर्थ।।२२।। यदि जग सृष्टि से मैं लुप्त। तब जगत्व से कौन प्रकट?। माणिक के तेज से माणक पार्थ। क्या लोपत कभी?।।२३।। जब अलंकार बनत। कहो क्या सुवर्णत्व नाशत?। या कमल जब विकसित। क्या कमलत्व नष्ट?।।२४।। कहो तुम धनंजय। क्या अवयवी अवयव। से आच्छादित होय।, या वही रूप जिसका।।२५।। विरूढ़त जब जवार। लाहे भुट्टारूप सुवीर। क्या नष्ट या भिन्न साचार। दिखत वह।।२६।। अतः पृथक करके जग को। यदि देखो तुम मुझको। न दिखूंगा तुझको। क्योंकि सब मैं ही।।२७।। तुम यह कौंतेय। करो निश्चय सत्य। पल्ले में बांधो वह। जीव के अपने।।२८।। अब मुझसे मैं ही प्रकाशित। भिन्न-भिन्न शरीर से पार्थ।

Funding by IKS-MoE

योनि उत्पत्ति के कारण होते हैं।।२।। ऐसे यह चार सरल जगद्गर्भ के हाथ एवं पैर हैं, एवं स्थूल महाप्रकृति यह मस्तक होता है।। ३।। प्रवृत्ति जिसका पेट है, निवृत्ति जिसकी पीठ है, आठ देव योनि कमर के ऊपर के अंग हैं।।४।। आनंददायक स्वर्गलोक उसका कंठ है, मृत्युलोक उसकी कमर है, पाताल लोक उसका नितंब भाग है।।५।। हे अर्जुन! ऐसे एक बालक को प्रकृतिरूपी पत्नी जन्म देती है, उस बालक की मोटाई तीनों लोक हैं।।६।। हे अर्जुन! चौऱ्यासी लक्ष योनी, उस बालक के, अस्थि, अंगुलि एवं संधिस्थान हैं, ऐसा यह बालक हर रोज बढ़ता है।।७।। देह के विभिन्न अवयवों पर नाम के अलंकार पहनाती है, एवं मोहरूपी दूध से वह माया उस बालक को नित्य नई पद्धति से बढ़ाती है।।८।। हे किरीटी! विभिन्न सृष्टि उस बालक के हाथ एवं पैर की अूंगुलिया हैं, प्रत्येक योनि में उत्पन्न अहंकार यह अंगुली में पहनी हुई मुद्रिकाएं हैं।।९।। स्थावर जंगम तक (चराचर) जगद्रूप एकलौता, अविचारी एवं सुंदर बालक को जन्म देकर वह माया गौरव महसूस करती है।।११०।। उस बालक काब्रह्मा प्रातःकाल है, विष्णु माध्यान्हकाल एवं सदाशिव सायंकाल है।।११।। बालक खेलकर जब लौटता है तब महाप्रलय रूप शैय्या पर वह सोता है, कल्प के प्रारंभ में विषयज्ञान से वह जागृत होता है।।१२।। हे अर्जुन! इसीप्रकार से मिथ्यावृष्टि के घर में युग के अनुवृत्ति के पैर कौतुक से बढ़ाता है।।१३।। इस बालक को संकल्प अत्यंत प्रिय है, अहंकार उसका बालमित्र है, ऐसे बालक का अंत ज्ञान से होता है।।१४।। अब यह बहुत बात रहने दो, विश्व को इस प्रकार से माया जन्म देती है, इस माया को मेरे अधिष्ठान का आधार है।।१५।।

हे कौंतेय! सब योनियों में निर्माण होनेवाले शरीर के लिए माया कारण होती है, उसमें बीज बोनेवाला पिता मैं हूं।।४।।

इस कारण से मैं पिता हूं, महद्ब्रह्म माता है, हे पंडुसुत! यह सब विश्व अपत्य है।।१६।। अब यह विविध शरीर देखकर मन में भेदभावना नहीं रखना, मन, बुद्धि, पंचमहाभूत यहां एक ही है।।१७।। देखो एक देह में ही अवयव पृथक होते हैं, वैसे यह विश्व सब विचित्र होते हुए भी एक ही है।।१८।। जैसे ऊपर नीचे विभिन्न शाखाएं वृक्ष में होती हैं, किंतु हे पंडुकुंवर! वह सब विस्तार एक ही बीज से होता है।।१९।। संबंध घट का विचार करने से उसको मिट्टी का पुत्र कहना चाहिये, या कपास का नाति वस्त्र को समझना चाहिये।।१२०।। विविध तरंग, सागर की संतति समझना चाहिये, हे सुवीर! वैसा हमारा एवं चराचर का संबंध है।।२१।। अतः अग्नि एवं ज्वाला, अग्नि ही होती है, वैसे मैं ही सब कुछ हूं। अन्य संबंध व्यर्थ हैं।।२२।। यदि इस जगसृष्टि में छुप जाऊं, तब जगरूप में कौन प्रकट होगा? हे पार्थ! माणिक रत्न के तेज से क्या माणिक का लोप होता है?।।२३।। सुवर्ण से अलंकार बनाने पर उसका सुवर्णत्व क्या नष्ट होता है? या कमल विकसित, होने पर उसका कमलत्व नष्ट होता है?।।२४।। हे धनंजय! अवयवों से क्या देह ढंक जाता है? अवयव तो देह का रूप होता है।।२५।। हे सुवीर! ज्वार बोने पर जब भुट्टा परिपक्व होता है, तब प्रथम बोया गया बीज नष्ट हुआ या विपुल हुआ?।।२६।। अतः जगको अलग करके यदि मुझे देखोगे तब मैं तुम्हें नहीं दिखाई दूंगा, क्योंकि सब मैं ही हूं।।२७।। हे कौंतेय! तुम यह निश्चय करो, अपने अंतःकरण में इस सिद्धांत का दृढ़ निश्चय करो।।२८।। मैं ही मुझे प्रकाशित करता हूं, हे पार्थ! विभिन्न शरीर में त्रिगुणों से मैं बद्ध हुआ हूं ऐसा

Funding by IKS-MoE

त्रिगुणों से मैं ही बद्धित। भासत ऐसे।।२९।। जैसे स्वप्न में स्वतः। मृत की कल्पना करत। और दुखी होवत। कपिध्वज।।१३०।। पीलियाग्रस्त से अर्जुन। पीले होत नयन। पीले दिखत पदार्थ पूर्ण। उन्हीं से जानो।।३१।। अथवा सूर्य प्रकाश से। प्रकट होत अभ्र जैसे। लोपत जब भी दिखत वैसे। सूर्य से ही।।३२।। अपने से ही जो निर्माण। छाया अपनी ही अर्जुन। देखकर जो भीत क्या भिन्न। उससे वह।।३३।। नाना देह में वैसे। एक मैं ही होत अनेक जैसे। अनेकत्व का बंध वैसे। जानू मैं ही।।३४।। बद्ध या बिना बंधन। मद्रूप से ही मेरा ज्ञान। अज्ञानी को बंध उत्पन्न। अपने से ही पार्थ।।३५।। तब कौन गुण से कैसा। मुझे मैं ही बंधन ऐसा। भासत सुनो वैसा। धनुर्धर।।३६।। गुण कितने उनके क्या धर्म। क्या उनका रूप नाम। उत्पन्न कैसे यह मर्म। सुनो अब।।३७।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

तब सत्त्व रजतम। तीनों को ये नाम। और प्रकृति जन्म-। भूमि इनकी।।३८।। यहां सत्त्व उत्तम। रज सो मध्यम। और तीनों में तम। अधम जानो।।३९।। उत्पन्न एक ही वृत्ति के ठाँई। अतः अनुभव त्रिगुणत्व यही। वयसात्रय एक ही। देह में जैसे।।१४०।। जितना मिलावे कीट। भार ज्यौं-ज्यौं बढ़त। त्यौं-त्यौं सुवर्णहीन होत। पांचिक कस का।।४१।। किंतु जागृतपन जैसे। नष्ट होत आलस से। और सुषुप्ति होवे उससे। दृढ़ जैसी।।४२।। वैसी अज्ञानांगिकार से। वृत्ति बहकत तैसे। सत्वरज और तम उसे। संज्ञा पार्थ।।४३।। अर्जुन अरे जान। इसी को नाम गुण। अब दिखाऊं लक्षण। जिससे बांधत वे।।४४।। तब क्षेत्रज्ञ दशा में पार्थ। आत्मा प्रवेशत किंचित। देह में ही यह मुहूर्त। करे वो।।४५।। आजन्म मरणान्त। देह धर्म के समस्त। डोर ममत्व-। का लेत न ज्यों।।४६।। जैसे मीन के मुख में पार्थ। जब तक न पिंड गिरत। तब ही गल खींचत। जलपारधी जैसा।।४७।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकनामयम्। सुखसंङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

लुब्धक (बहेलिया) सत्व वैसे। सुख ज्ञान पाश से। खीचे जब मृग को जैसे। तड़पत तब।।४८।। ज्ञान पाश से तड़पत। विद्वता खुर झाड़त। सुख अपना लुढ़कत। हाथ से अपने।।४९।। तब अपनी विद्या से तोषत। लाभ मात्रा से हर्षत। समझकर मैं संतुष्ट। श्लाघत स्वयं को।।१५०।। अहोभाग्य अपना मानत। आज न दूजा सुखी कहत। विकाराष्टक से फूलत। सात्विक से वह।।५१।। इतना ही नहीं अर्जुन। लागे दूसरा बंधन। विद्वता का भूत पूर्ण। संचरत अंग में।।५२।। स्वयं ज्ञानस्वरूप होय। विस्मरत न करे दुःख कोय। फूले विषयज्ञान से कौन्तेय। गगन समाना।।५३।। राव जैसा स्वप्न में। रंकपन से जावे राजधानी में। दो दाने से संतुष्ट मन में। माने इंद्र ही मैं।।५४।। वैसे यह देहातीत। जब होत देहवन्त। पावत हर्ष पंडुसुत। ब्राह्यज्ञान से।।५५।। प्रवृत्ति शास्त्र में निष्णात। बझत यज्ञविद्या समस्त। किंबहुना जानत।

भासता है।।२९।। जैसे स्वप्न में मृत्यु की कल्पना करते हैं, और हे कपिध्वज! दुःखी होते हैं।।१३०।। हे अर्जुन! जिसको पीलिया बीमारी होती है, उसके नेत्र पीले होते हैं, उन्ही नेत्रों से सब पदार्थ पीले दिखाई देते हैं।।३१।। सूर्य प्रकाश में बादल स्पष्ट दिखते हैं, जब वह छट जाते हैं तब भी सूर्य प्रकाश ही दिखाई देता है।।३२।। अपनी छाया अपने देह से ही निर्माण होती है, उसका यदि भय लगने लगा तो वह क्या अपने से भिन्न होती है?।।३३।। वैसे विविध देह में मैं ही अनेक बनता हूं, अनेकत्व का बंधन भी मेरे द्वारा ही निर्माण किये जाते हैं।।३४।। बद्ध हूं या मुक्त हूं यह ज्ञान मेरे स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न होता है, यथार्थ स्वरूप का ज्ञान मुक्तता का कारण होता है।।३५।। तब कौन से गुण से कैसा मुझे बंधन होता है, हे धनुर्धर! यह भास कैसा होता है सुनो।।३६।। गुण कितने हैं? उनके धर्म क्या हैं? उनका रूप एवं नाम क्या है? उत्पन्न कैसे होते हैं? इसका मर्म अब सुनो।।३७।।

सत्व, रज एवं तम यह तीन गुण होते हैं, प्रकृति उनकी जन्म भूमि है, हे महाबाहो!, ये गुण देह में अविनाशी आत्मा को बंधन में डालते हैं।।५।।

सत्त्व, रज, तम इन तीनों को गुण कहते हैं, प्रकृति उनकी जन्मभूमि है।।३८।। इन तीन गुणों में सत्वगुण उत्तम है, रजोगुण मध्यम एवं तमोगुण सहज कनिष्ठ है।।३९।। एकहि देह में जैसे बाल्य, तारुण्य एक वृद्धावस्था यह तीनों अवस्थाएं रहती हैं तद्वत एकही अंतःकरण वृत्ति में तीनों गुण भासमान होते हैं।।१४०।। सुवर्ण में हीन धातु के मिश्रण से सुवर्ण का तोल बढ़ता है किंतु उसका कस हलका होता है।।४१।। आलस्य से सावधानता नष्ट होती है, एवं प्रगाढ़ निद्रा आती है।।४२।। तद्वत अज्ञान का अंगिकार करने से वृत्ति बहकती है, हे पार्थ! उसको सत्व, रज एवं तम नाम दिया गया है।।४३।। हे अर्जुन! इसको गुण कहते हैं, वह कैसे बंधन में डालते हैं इसका मर्म बताता हूं।।४४।। आत्मा जीव दशा में थोड़ा प्रवेश करते ही मैं देह हूं ऐसा वह क्षेत्रज्ञ दशा में समझता है।।४५।। जन्म से मृत्यु पर्यंत सब देहधर्म में मतत्व का अभिमान करता है।।४६।। जैसे मछली ने आमिष निगलते ही केवट गल खींचता है।।४७।।

सत्त्वगुण निर्मल होने से प्रकाशक एवं उपद्रवसहित है, हे पापरहित पार्थ! वह सत्त्वगुण सुख एवं ज्ञान इन दो पाश से प्राणि को बद्ध करता है।।६।।

सत्त्वगुणरूपी लुब्धक सुख एवं ज्ञानरूपी पाश खींचता है, तब हिरन जैसे जाल में फंसता है, वैसा वह सुख एवं ज्ञान के पाश में फंसता है।।४८।। ज्ञानपाश में विद्वता के खुर झाड़ता है, जिससे अपने हाथ से अपना सुख लुढ़काता है।।४९।। अपने ज्ञान से एवं सम्मान से वह संतुष्ट होता है, किसी भी लाभ से आनंदित होता है, संतुष्ट है यह समझकर स्वयं को धन्य समझता है।।१५०।। अपना अहोभाग्य समझता है, मेरे जैसा दूजा आज सुखी कोई नहीं है। ऐसे अष्ट सात्विक भाव से उसको अहंकार चढ़ता है।।५१।। हे अर्जुन! इतना ही नहीं उसके पीछे दूजा बंधन लगता है, उसके शरीर में विद्वत्तारूपी भूत का संचार होता है।।५२।। स्वयं ज्ञानरूप है वह न जानने का दुःख नहीं है, विषय ज्ञान से स्वयं को अत्यंत श्रेष्ठ आकाश के समान समझता है।।५३।।

राजा स्वप्न में भिखारी बनकर नगर में प्रवेश करता है, दो दाने मिलने पर मैं इंद्र हूं ऐसा स्वप्न में समझता है।।५४।। हे पंडुसुत! देह से अतीत आत्मा देह से तादात्म्य करता है, तब बाह्य ज्ञान से वह वैसा ही आनंद मनाता है।।५५।। संसार से संबंधित शास्त्र वह जानता है, यज्ञ का ज्ञान विधियुक्त वह समझता है, किंबहुना स्वर्ग पर्यंत सब देखता

Funding by IKS-MoE

स्वर्गपर्यंत।।५६।। और कहत आज शून्य। बिन मेरे नहीं सज्ञान। चातुर्य चंद्र को गगन। चित्त मेरा।।५७।। ऐसे सत्व सुख ज्ञान से पार्था। बांधत जीव को जोता। गाड़े में बैलसम तत्त्वता। खीचे उसको।।५८।। अब इसी शरीर में कैसे। किस प्रकार रज से। बद्ध होत कहूं तुझसे। सुनो तुम।।५९।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

यह रज उसी कारण। करे जीव का रंजन। अभिलाषा सदा तरुणपन। इसका पार्थ।।१६०।। जीव में यदि प्रवेश किंचित। काम मद में फसावत। तृष्णा पवन पर आरूढ़त। धनुर्धर।।६१।। अग्नि कुंड में घृतसिंचन। करे वज्राग्नि प्रदीप्त पूर्ण। होवे छोटी बड़ी सम समान। वस्तु दग्ध।।६२।। चाड़ (इच्छा) मन में वैसी उछलत। भासत मधुर दुःख सहित। इंद्र श्री को भी मानत। क्षुद्र पार्थ।।६३।। ऐसी तृष्णा बढ़त। जो मेरू भी यदि हस्तगत। चाहत होवे कोई वस्तु प्राप्त। दारुण उससे भी।।६४।। कभी कौडी यदि प्राप्त सुवीर। करे जीव अपना निछावर। माने तृण लाभ पर। कृतकृत्य स्वयं को।।६५।। आज नष्ट संचित धन सकल। तब कल क्या होगा हाल। आरंभत इस तृष्णाबल-। से व्यवसाय बड़े।।६६।। सोचत स्वर्ग में तो जाना। किंतु वहां क्या खाना। इस चिंता से करत नाना। यज्ञ याग।।६७।। व्रत पीछे व्रत। आचरत इच्छा पूर्ति प्रीत्यर्थ। काम्य कर्म बिन न स्पर्शत। कर्म अन्य।।६८।। जैसे ग्रीष्मान्त का समीर। न जाने विश्राम सुवीर। वैसे करे व्यापार। निरन्तर।।६९।। क्या चंचलता में मीन। क्या कामिनी कटाक्ष भी अर्जुन। द्रुतगति उस समान। विजु की नाही।।१७०।। ऐसे अति वेग से। स्वर्ग संसार इच्छा से। आग में रीगत जैसे। क्रियाओं की।।७१।। ऐसा देही देह से भिन्न। तृष्णा शृंखला से बद्ध अर्जुन। करे खटपट गले में पाषणा। ढोवे व्यापार का।।७२।। यह रजोगुण का दारुण। देह में देही को बन्धन। अब सुनो लक्षण। तम का तुम।।७३।।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तान्निबध्नाति भारत।।८।।

व्यवहार के भी नयन। मंद जिस जवनिका से अर्जुन। मोहरात्रि के काले घन। मेघ जो।।७४।। अज्ञान का जीवित। जिस एक को प्राप्त। उससे विश्व भ्रमित। नाचन लागे।।७५।। अविवेक का महामंत्र। जो मोहमधका पात्र। इतना ही नहीं मोहनास्त्र। जीव को जो।।७६।। पार्थ जानो वह तुम। इसविध रचकर युक्ति परम। जो ग्रासत चौबाजू से देहात्म। बुद्धियों को।।७७।। यह एक ही शरीर में। बढ़ने लगे चराचर में। वहां अन्य बात उसमें। संभव नाहीं।।७८।। सर्वेंद्रिय में जड़ता। मन में उत्पन्न मूढ़ता। दोनों में आलस्य की दृढ़ता। व्याप्त पूर्ण।।७९।। अंग से अंगड़ाई लेत। कार्यजात में रुचि न किंचित। केवल जम्हाई देत जात। एक पीछे एक।।१८०।। उसकी खुली दृष्टि। किंतु न देखे वस्तु सृष्टि। पुकारे बिन उठे किरीटि। आवाज देकर।।८१।। अंग में पत्थर गिरत। न दाएं बायें पलटत। वैसे करवट भी न

है।।५६।। कहता है, आज मेरे बिना अन्य किसी को ज्ञान नहीं है, चतुरता रूपी चंद्र का मेरा चित्त आकाश है।।५७।। हे पार्थ! ऐसे सत्व सुख के ज्ञान से जीव को जोता बांधते हैं, गाड़े में बंधा बैल गाड़े को खींचता है वैसे तत्त्वरूप से उसे खींचते हैं।।५८।। अब इसी शरीर में कैसे, किस प्रकार से रजो गुण से बंधन में फंसते हैं यह तुम्हें कहता हूं, तुम अब सुनो।।५९।।

हे अर्जुन! रजोगुण को कामना एवं आसक्ति से उत्पन्न हुआ जानो, वह जीवात्मा को कर्म एवं उनके फल की आसक्ति से बांधता है।।७।।

यह रजोगुण इसीकारण से जीव का मनोरंजन करता है, अभिलाषा इसकी तरुण पत्नी है।।१६०।। रजोगुण जीव में किंचित प्रवेश करते ही काममद उसको फंसाता है, हे धनुर्धर! तृष्णा मानो वायु पर आरूढ़ हो जाती है।।६१।। अग्निकुंड में घी को सींचकर वज्राग्नि प्रज्वलित करने पर छोटी बड़ी सब वस्तुएं उसमें समान रूप से जल जाती हैं।।६२।। इच्छा बलवती होती है, दुःखसहित सब मधुर भासता है, इंद्र का ऐश्वर्य भी तुच्छ समझता है।।६३।। ऐसी उसकी प्यास बढ़ती रहती है, मेरुपर्वत प्राप्त होने पर भी अन्य कोई वस्तु और प्राप्त होवे, चाहे वह भयंकर (दारुण) क्यों न हो।।६४।। हे सुवीर! कभी कुछ थोड़ा प्राप्त होने पर अपना जीव निछावर करता है, तृणसदृश लाभ होने से स्वयंको कृतकृत्य समझता है।।६५।। आज संचित धन सब नष्ट हुआ तब कल क्या हाल होगा यह सोचकर बड़े व्यवसाय तृष्णा बल से प्रारंभ करता है।।६६।। सोचता है, स्वर्ग में तो जाना है किंतु वहां क्या खायेंगे? इस चिंता से विविध यज्ञयाग करता है।।६७।। व्रत के बाद व्रत करता जाता है, इच्छाओं की पूर्ति हो उसके प्रीत्यर्थ वह ऐसा आचरण करता है, काम्य कर्म के बिना अन्य कर्म को वह स्पर्श नहीं करता।।६८।। ग्रीष्म ऋतु के अंत में वायु क्षण के लिये विश्राम नहीं करता, हे सुवीर! वह रजोगुणी पुरुष निरन्तर उद्योग करता रहता है।।६९।। चंचलता में मछली एवं तरुण स्त्री का नेत्रकटाक्ष, से भी रजोगुणी पुरुष अधिक चंचल होता है, बिजली में उतनी चंचलता नहीं होती।।१७०।। ऐसे अति वेग से, स्वर्ग एवं संसार की इच्छा से, कर्मरूपी अग्नि में प्रवेश करता है।।७१।। हे अर्जुन! देह में रहते हुए जो देह से भिन्न होता है, तृष्णारूपी बेड़ियों में बद्ध होता है, अपने गले में व्यापार पत्थरों को ढोता है।।७२।। इस रजोगुण का देह में देहधारी को भयंकर बंधन होता है, अब तमोगुण का लक्षण सुनो।।७३।।

तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है, सब प्राणियों को वह मोहित करता है, हे भारत! प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा से वह बद्ध करता है।।८।।

हे अर्जुन! व्यवहार की दृष्टि जिस पर्दे में बंद होती है, वह मोह रूपी काले रात्री का मेघ समझना।।७४।। तमोगुण को अज्ञान की आत्मीयता है, उससे विश्व भ्रमित होकर नाचने लगता है।।७५।। अविचार तमोगुण का महामंत्र है, जो मोहरूपी शराब का पात्र है, जीव को मोहित करनेवाला वह मोहनास्त्र है।।७६।। हे पार्थ! इस प्रकार से तमोगुण युक्ति से देह को ही आत्मा समझने वाले को वह चारों तरफ से जकड़ता है, यह तुम ध्यान में रखना।।७७।। यह चराचर में जब शरीर में बढ़ने लगता है तब वहां तमोगुण के बिना अन्य बातें नहीं होतीं।।७८।। सब इंद्रियों में जड़ता आती है, मन में मूढ़ता उत्पन्न होती है, एवं मन और इंद्रियां दृढ़ आलस्य का आश्रय करते हैं।।७९।। शरीर में अंगड़ाई लेता है, कार्य करने में किंचित भी रुचि नहीं होती, एक के बाद एक जम्हाई लेता रहता है।।१८०।। हे किरीटी! दृष्टि खुली होते हुए भी सृष्टि की कोई वस्तु उसे दिखाई नहीं देती, बिना पुकारे आवाज देकर वह उठता है।।८१।। शरीर पर पत्थर गिरते हैं, वह दायां या बांया पलटता नहीं, वैसे करवट भी नहीं बदलता, जब वह सोता रहता

बदलत। निद्रित जब।।८२।। पृथ्वी पाताल में जावे। आकाश अंगपर आवे। उठने की न इच्छा होवे। मन में कभी।।८३।। उचित अनुचित पार्थ। न स्मरे कुछ सोचत जात। जहां के वहां लेटत। मेधा ऐसी।।८४।। उठाकर करतल। दबाकर दोनों कपोल। घुटनों में सर्वकाल। रखत सिर।।८५।। निद्रा में रुचि सुरंग। मन में उसका ही लाग। सोवत जब स्वर्ग। भी माने हीन।।८६।। ब्रह्मा की आयु मांगत। कल्प पर्यंत सोना चाहत। बिन इस दूजा न वांछत। व्यसन कोई।।८७।। या चलत मार्ग में सहज। फिसलकर पांव गिरत। न अमृत भी चाहत। जब आवे नींद।।८८।। वैसे आक्रोश बल से। कोई कर्म में प्रवृत्त जैसे। क्रोधित अंधसम वैसे। चले पार्थ।।८९।। कब कैसे बरतना। किससे क्या बोलना। कुलीन कफल्लक पहिचानना। न जाने पार्थ।।१९०।। प्रदीप्त दावानल। पीछु पंख से सकल। पतंग यह उच्छा से केवल। झड़पत जैसा।।९१।। ऐसे साहस में प्रवृत्त। अकरणीय धैर्य से करत। प्रमाद सदा भावत। मनको जिसके।।९२।। एवं निद्रा आलस्य प्रमाद में। तब इन त्रिबंधों में। बांधे शुद्ध को उसमें। निरुपाधिक को।।९३।। जब वन्हि काष्ट में प्रविष्ट। काष्टाकार तब दिखत। व्योम घट में व्याप्त। घटाकाश बहु।।९४।। अथवा सरोवर परिपूर्त। तब चंद्रबिंब वहां बिंबत। वैसे गुणपाश से बद्ध होत। आत्मत्त्व पार्थ।।९५।।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।९।।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

नष्ट करके कफवात। जब देह में वर्धत पित्त। तब करे संतप्त देह को जैसे।।९६।। या वर्षा आतप बीतत। पीछे शीतकाल आवत। तब होवे पूर्ण शीत। आकाश जैसा।।९७।। अथवा स्वप्न एवं जागृति। लुप्त होकर आवे सुषुप्ति। क्षणएक होवे चित्तवृत्ति। जड़मूढ़ जैसी।।९८।। करके रज तम परास्त। जब मत्त सत्त्व वर्धत। तब जीव से कहलावत। सुखी हूं मैं।।९९।। जैसे सत्त्व रज। नष्ट करके तम का तेज। बल लेत तब सहज। प्रमादी होत।।२००।। वैसे ही परिपाठि से। सत्त्व तम को दबोचकर जैसे। उभरत जब सहज से। रजोगुण।।१।। तब कर्म बिन कोई। अन्य सुंदर नाहीं। ऐसे मानत देही। देहराज।।२।। त्रिगुण बुद्धि निरूपण। त्रिश्लोक से बनाया अर्जुन। अब पृथक सत्त्वादि वृद्धि लक्षण। सादर सुनो।।३।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वामित्युत।।११।।

पाकर विजय रज तम पर। देह में वर्धत सत्व धनुर्धर। तब उसका चिन्ह समग्र। ऐसे होत।।४।। प्रज्ञा अंतर में पार्थ। न समावत बाढ़ि उमड़त। वसंत में पद्मखण्ड से प्रसरत। दृति जैसी।।५।। सर्वेन्द्रिय प्रांगण में देख। सेवा करत विवेक। करचरण को प्रत्यक्ष। चक्षु प्राप्त।।६।। राजहंस सम्मुख अर्जुन। रखा करके मिश्रण। चंचुअग्रसे करे पृथःकरण। नीरक्षीर का।।७।। वैसे दोषादोष विवेक। इंद्रियां करत स्वयं परख।

है ।।८२।। पृथ्वी यदि पाताल में चली जाये, आकाश शरीर पर गिर पड़े, तब भी मन में उठने की इच्छा नहीं होती ।।८३।। योग्य एवं अयोग्य कर्म, का स्मरण या विचार मन में न करते हुए जहां सोया है वहां ही आलस्य से लेटे रहने की उसकी बुद्धि होती है ।।८४।। दोनों हाथ के तलुवे से अपने गाल पकड़ता है, एवं घुटने पर सर्वदा मस्तक रखता है ।।८५।। निद्रा का प्रेम मन में बहुत रहता है, निद्रा के सामने उसको स्वर्गसुख तुच्छ प्रतीत होता है ।।८६।। ब्रह्मा की आयु मांगता है एवं कल्प पर्यंत सोना चाहता है, इसके बिना दूजे कुछ व्यसन की वह इच्छा नहीं करता ।।८७।। या मार्ग में सहज चलते समय पांव फिसलकर गिरता है, तब नींद आती है तब वह अमृत भी नहीं चाहता ।।८८।। जैसा जन्मांध क्रोधित होकर कार्य करने जाये, तब वह कहां गिरेगा एवं कहां जायेगा इसका भरोसा नहीं होता ।।८९।। कब कैसे व्यवहार करना, किससे क्या बोलना, हे पार्थ! कौन कुलीन है, कौन कफल्लक है, इसकी पहचान करना वह जानता नहीं ।।१९०।। दावानल जब प्रज्वलित होता है, उसको अपने पंखों से बुझाने की इच्छा से पतंग, अग्निपर झपटता है ।।९१।। ऐसे साहस में प्रवृत्त होकर जो नहीं करना चाहिये वह धैर्य से करता है, नित्य गलतियां करना उसके मन को पसंद रहता है ।।९२।। निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद में, इन तीन प्रकार से निरुपाधिक एवं शुद्ध आत्मा को बंधन में डालता है ।।९३।। ईंधन को अग्निस्पर्श होने पर अग्नि इंधन के आकार का दिखाई देता है, अथवा घट के भीतर के रिक्त स्थान को घटाकाश कहते हैं ।।९४।। भरे हुए सरोवर में चंद्रमा का बिंब प्रतिबिंबित होता है, वैसा आत्मा गुणों के संगति में बंधन में बंधा हुआ दिखाई देता है ।।९५।।

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्म में, आसक्ति उत्पन्न कराता है, तमोगुण ज्ञान को ढांककर प्रमाद में लगाता है ।।९।। हे अर्जुन! रज एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, रजोगुण एवं सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है, वैसे ही तमोगुण एवं सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है ।।१०।।

कफ एवं वात को नष्ट करके जब शरीर में पित्त बढ़ता है, तब वह देह को संतप्त करता है ।।९६।। वर्षा ऋतु एवं ग्रीष्म ऋतु समाप्त होने पर शीतकाल आता है, तब आकाश भी शीत होता है ।।९७।। जागृत एवं स्वप्नावस्था समाप्त होकर जैसे प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था आती है तब एक क्षण चित्तवृत्ति जड़मूढ़ होती है ।।९८।। तद्वत रजोगुण एवं तमोगुण परास्त होकर सतोगुण बढ़ता है, तब वह जीव से मैं सुखी हूं ऐसा कहलवाता है ।।९९।। जैसे सत्वगुण एवं रजोगुण नष्ट होकर तमोगुण बढ़ता है, तब आत्मा स्वाभाविक गलतियां करती रहती है ।।२००।। वैसे ही परिपाठ के अनुसार सत्व गुण एवं तमोगुण को दबोचकर रजोगुण सहज उभरता है ।।१।। तब कर्म के बिना अन्य कोई सुंदर नहीं लगता, ऐसे देह में देह का स्वामी आत्मा समझता है ।।२।। इन गुणों का विकास कैसे होता है, इसका निरूपण तीन श्लोकों में तुम्हें बताया है, हे अर्जुन! अब सत्त्व आदि गुणों का विकास कैसे होता है इसके लक्षण आदरपूर्वक सुनो ।।३।।

जिस काल में इस देह में तथा अंतःकरण एवं इंद्रियों में चेतनता एवं ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है, उस काल में ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ।।११।।

रजोगुण एवं तमोगुण पर विजय प्राप्त करके, हे धनुर्धर! देह में सत्त्वगुण विकसित होता है, तब उसका लक्षण इस प्रकार से दिखाई देता है ।।४।। हे पार्थ! हृदय में ज्ञान विकसित होता है, वह हृदय में न समाते हुये बाहर उमड़ता है, बसंत ऋतु में कमल से परिमल जैसे बाहर फैलता है ।।५।। सब इंद्रियों के आंगन में विवेक सेवा करता है, हाथ एवं पैर को मानों नेत्र प्राप्त होते हैं। कर्मेंद्रिय को अच्छा-बुरा कर्म समझने की क्षमता उत्पन्न होती है ।।६।। हे अर्जुन! राजहंस के सम्मुख दूध में पानी का मिश्रण करके रखने पर चोंच के अग्रभाम से वह नीर एवं क्षीर का पृथक्करण करता है ।।७।। वैसे पाप एवं पुण्य के विवेक में स्वयं इंद्रियां परख करती हैं, उस

Funding by IKS-MoE

नियम होवे पाईक। सेवा करत।।८।। कर्ण स्वयं तजत अश्रवणीय। दृष्टी न देखे अदर्शनीय। जिव्हा टालत अवाच्य। धनुर्धर।।९।। बाती सामने जैसे। भागने लागत अंधेर वैसे। निषिद्ध इंद्रियों के तैसे। सम्मुख न आवे।।२१०।। वर्षाकाल में पार्थ। महानदी उफनत। वैसी बुद्धि प्रसरत। शास्त्र जात में।।११।। सुनो पूनम के दिन में। धावत चंद्रप्रभा आकाश में। वैसी वृत्ति ज्ञान में। विकसत पूर्ण।।१२।। वासना एकवटत। प्रवृत्ति निवर्तत। मानस विरक्त होत। विषयों से।।१३।। एवं जब सत्ववर्धन। यही उसका लक्षण। ऐसे में यदि आवे मरण। पंडुकुमर।।१४।। हुवा कोई सुकाल सुवीर। आया कोई त्यौहार। स्वर्ग से आवे घर। मेहमान प्रिय कोई।।१५।। होवे घर में बहुत संपत्ति। वैसी ही मन में औदार्य धैर्यवृत्ति। तब साधन परत्र और कीर्ति। क्यों न होवे।।१६।। तब ऐसे प्रसंग को। कैसी उपमा उसको। ऐसा कौन स्थान देह को। सत्त्व से अन्य।।१७।। जो सत्त्वगुण में उद्‌भट सुवीर। शुद्ध सत्त्व लेकर। त्यागत यह शरीर। भोगक्षम जो।।१८।। अकस्मात ऐसा जो जावे। वह सत्त्वमूर्ति नूतन लाहे। किंबहुना निश्चित जन्म पावे। ज्ञानियों में ही।।१९।। कहो तुम कौंतेय। राजा राजपन से गिरीपर जाये। कहो क्या कुछ कम होय?। ऐश्वर्य उसका।।२२०।। ना तो यहां का दीप पार्थ। गांव में पड़ौस के ले जात। वहां भी जानो निश्चित। दीप ही वह।।२१।। वैसी यह सत्त्वबुद्धि। होवे अधिक ज्ञानवृद्धि। तरंगत विवेक पर बुद्धि। धनुर्धर।।२२।। महदादि परिपाटी में। विचार कर अन्त में। विचार सहित पेट में। मीनत ब्रह्म के।।२३।। छत्तिस अपेक्षा सैतिसवां। चौबीस परे पच्चीसवां। तीनों छांडकर स्वभाव से। जो पांडवा। चतुर्थ जो।।२४।। ऐसा सर्व जो सर्वोत्तम। हुआ जिसको सुगम। सत्त्वगुण यह निरूपम। लाहे देह।।२५।। इसी प्रकार से देख। तम सत्व अधोमुख। करके जब बढ़त अशेख। रजोगुण।।२६।।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

अपने कार्यकलाप से पार्थ। देह गांव में धूम मचावत। तब जो चिन्हों का होत। उदय वहां।।२७।। उठत जब चक्रवात। तब समेटत वस्तुजात। विषय में छूटत मुक्त। इंद्रियां तैसी।।२८।। परदारादि संग समस्त। शास्त्र विरुद्ध न मानत। बकरी के मुख सम चरत। विषय सब।।२९।। लोभकी इतनी सीमा अर्जुन। करे स्वैरत्व से वर्तन। हाथ न आवे जान। बचत वही।।२३०।। और जो-जो आवे सम्मुख। उद्यम जात अशेख। प्रवृत्ति हाथ से न छोड़े देख। धनंजय।।३१।। वैसे एखाद प्रासाद। या करना अश्वमेघ। ऐसा अफाट छंद। उठे लेकर।।३२।। नगर बनाना। जलाशय खोदना। महावन लगाना। नाना विध।।३३।। ऐसे-ऐसे अचाट कर्म। आयोजन उपक्रम। दृष्टा दृष्ट में अतिकाम। असंतुष्ट सदा।।३४।। सागर भी पड़े न्यून। अग्नि न होवे कौड़ी का तीन। ऐसी अभिलाषा अर्जुन। दुर्भर उसकी।।३५।। भागे आगे मन की स्पृहा। आशा की दौड़ ऐसी महा। विश्व संपूर्ण हुआ। पदतल नीचे।।३६।। एवं

Funding by IKS-MoE

समय इंद्रियनिग्रह सेवा करता है।।८।। जिसको सुनना नहीं चाहिये उसको कान वर्ज करते हैं, जिसको देखना नहीं चाहिये उसका त्याग दृष्टि करती है, जिसका उच्चार नही होना चाहिये उसका जिव्हा त्याग करती है।।९।। दीपक के सम्मुख जैसे अंधेरा भाग जाता है वैसे इंद्रियों के सम्मुख निषिध्द विषय नहीं आते।।२१०।। हे पार्थ! वर्षा ॠतु में महानदियों में अपार उफान आता है, वैसी उसकी बुद्धि शास्त्रविषय जानने में सखोल होती है।।११।। पूर्णिमा के दिन पूर्ण चंद्रमा का प्रकाश आकाश में जैसा व्याप्त होता है, वैसे ज्ञान में वृत्ति सर्वत्र फैलती है।।१२।। वासनाएं एकत्रित होती हैं, ससार की प्रवृत्ति समाप्त होती है, मन विषयों के प्रति अनासक्त होता है।।१३।। हे पंडुकुमर! सतगुण जव विकसित होता है, तब यह लक्षण गोचर होते हैं, इस स्थिति में यदि मृत्यु हुई।।१४।। हे सुवीर! सुकाल हुआ है, कोई त्यौहार आया है, स्वर्ग से कोई प्रिय मेहमान आ गया है।।१५।। घर में विपुल संपत्ति हो एवं मन में उदारता एवं धर्मवृत्ति रहे, तब इहलोक में कीर्ति एवं परलोक की प्राप्ति क्यों न होगी?।।१६।। तब ऐसे प्रसंग को कैसी उपमा दी जायेगी? सत्त्वगुण के विकास में मृत्यु आने से देह को कौन सा अन्य स्थान है?।।१७।। हे सुवीर! जो सतगुण में श्रेष्ठ है, शुद्ध सत्त्वगुण को लेकर, भोगों का त्याग करके जो देह छोड़ता है।।१८।। जो ऐसा अकस्मात जाता है, उसको नया जन्म सत्त्वगुण युक्त मिलता है, किबंहुना उसको ज्ञानियों में निश्चिय जन्म मिलता है।।१९।। हे कौंतेय! राजा पहाड़ी पर जब जाता है, तब उसके जाने से उसका ऐश्वर्य क्या कम होता है, तुम ही कहो।।२२०।। हे पार्थ! इस गांव का दीपक दूसरे गांव में ले जाने से वहाँ भी उसको दीपक ही कहेंगे,।।२१।। वैसा यह सत्व बुद्धिज्ञान विकसित होता है, हे धनुर्धर! उसकी बुद्धि विवेक पर स्थिर होती है।।२२।। महद्‌तत्त्व का अनुक्रम से विचार करने पर अन्त में विचार के साथ ब्रहम स्वरूप में लीन होते हैं।।२३।। छत्तीस तत्त्वों के परे सैंतीसवा, एवं चौवीस तत्त्वों के परे पच्चीसवां, हे पांडवा! वैसे ही तीनों गुणों को छोड़कर जो चौथा है।।२४।। ऐसा जो सब में सर्वोत्तम है, वह जिसको सुलभता से प्राप्त हुआ है, उनको सत्त्वगुण से युक्त, निरूपम सुदृढ़ देह मिलता है।।२५।। इसी प्रकार से तमोगुण एवं सत्त्वगुण कम होते हैं, तब रजोगुण बढ़ता है।।२६।।

हे अर्जुन! रजोगुण बढ़ने पर, लोभ, सांसारिक चेष्टाएं एवं सब प्रकार के कर्म स्वार्थ बुद्धि से आरंभ होते हैं, उनकी चंचालता, एवं विषयोप भोग की आसक्ति उत्पन्न होती है।।१२।।

हे पार्थ! तब रजोगुण शरीर रूपी गांव में धूम मचाता है, उस समय शरीर में ये लक्षण प्रकट होते हैं।।२७।। जब चक्रवात उत्पन्न होता है तब अपने में सब वस्तुओं को समेटता है, वैसे इंद्रियां विषयों में स्वैर विचरण करती हैं।।२८।। परस्त्री संग आदि शास्त्र विरुद्ध आचरण है ऐसा वह समझता नहीं, वह बकरी के सदृश इंद्रियों को अच्छे बुरे विषयों को खिलाता रहता है।।२९।। हे अर्जुन! रजोगुणी पुरुष का लोभ स्वेच्छाचारी बनता है, दूसरों की वस्तुएं पाने की लालसा से जो नहीं ले सकते वही शेष रहता है।।२३०।। जो कुछ सम्मुख आता है वह करने के लिये हे धनंजय! उस उद्यम करने की प्रवृत्ति वह छोड़ता नहीं।।३१।। एकाद प्रासाद बनाना या अश्वमेघ यज्ञ करना, ऐसा अघटित छंद लेता है।।३२।। नया नगर बनाना, या जलाशय खोदना, विविध प्रकार के महाबन लगाना।।३३।। ऐसे अचाट कर्म का उपक्रम आरंभ करता है, इहलोक एवं परलोक के काम में नित्य असंतुष्ट रहता है।।३४।। समुद्र भी उसको कम पड़ता है, हे अर्जुन! ऐसी उसकी इच्छाएं दुर्भर होती हैं कि वहअग्नि को भी तीन कोड़ी की कीमत नही देता।।३५।। उसकी विषय तृष्णा मन के आगे आशा से दौड़ लगाती है, संपूर्ण विश्व को अपनी इच्छाओं के पदतल में वह रगड़ता है।।३६।। जब रजोगुण का विकास होता है जब ऐसे लक्षण विकसित होते हैं, ऐसे समय यदि देह

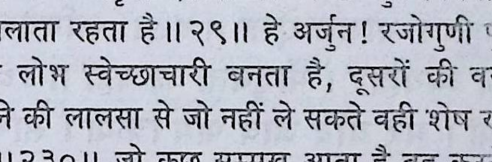

जब वर्धत रज। चिन्ह ये विकसित सहज। और ऐसे यदि समाज-। में गिरत देह।।३७।। इन्हीं लक्षण परिवार से ही। प्रवेशत यदि अन्य देही। मानुषी योनि में सहज ही। पावे जन्म।।३८।। ठठ से भिखारी कोई क्वचित। राजमंदिर में रहत। तब कहो क्या वह होत। राजा कभी?।।३९।। बैल जहां कड़बी अर्जुन। मिथ्या नहीं कभी यह वचन। चाहे ले जाओ बारात में सदन। समर्थ के उसको।।२४०।। अतः निरन्तर व्यापार में। विश्राम न देह को रात्री में। वह ऐसे के ही संगत में। जोता जाये।।४१।। कर्मप्रिय के ठाँई। पावत जन्म वह देही। जो रजोवृत्ति के दह में ही। डूबत मरत।।४२।। वैसे ही आये अर्जुन। सत्व रज वृत्ति का करके दमन। उन्नत होत तमोगुण। पंडुकुमार।।४३।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

तब जो प्रकट लिंग। तथा बहिरंग। उनको सुनो सुरंग। श्रोतृ बल से।।४४।। उसका होवे ऐसा मन। जैसे रविचन्द्रहीन। रात्रि का होत गगन। अमावस के।।४५।। वैसे अंतर विरस। होवे स्फूर्तिहीन उदास। विवेक की तब भाष। नष्ट पूर्ण।।४६।। बुद्धि पाषाण से भी जड़ पार्थ। मृदुता छांडत इस सीमापर्यंत। स्मरण शक्ति हुई बहिष्कृत। भासत ऐसा।।४७।। अविवेक बलवत्तर। उन्मत्त होवे शरीर। केवल लेन देन का व्यवहार। मौढ्यता का वहाँ।।४८।। आचार भंग की अस्थियाँ। सेवत सम्मुख इन्द्रियाँ। मरे यदि जावे पाप क्रिया। साथ उसके।।४९।। और एक बात दुष्कृति में। चित्त उल्लसित अंधेरे में। देखना पार्थ। उलूक जैसे।।२५०।। वैसे निषिद्ध के नाम से। अति लौल्य हृदय से। दौड़े उसी विषय में जैसे। इंद्रियों के।।५१।। मदिरापान बिन डोलत। सन्निपात बिन बर्रावत। निष्प्रेम से भूलत। भ्रमित जैसा।।५२।। चित्त तो भटकत कहीं। किन्तु वह उन्मनी नाहीं। ऐसा व्याप्त पूर्ण ही। मत्त मोह से।।५३।। किंबहुना ऐसे-ऐसे। पोषत तम चिन्ह से। तब वर्धत स्वगुण बल से। धनुर्धर।।५४।। ऐसे में कहे श्रीरंग। आवे यदि मरण का प्रसंग। तब गिरत सुरंग। में हीन योनि के।।५५।। राई बीज में राई का। समाकर तजत स्वरूप अर्जुन। विरुदत तब कौन। लक्षण अन्य?।।५६।। होकर दीपकलिका अर्जुन। बुझाये या अग्नि से होए प्रज्वलित। जलाओ वहाँ पुनः प्रतीत। वही वह।।५७।। अतः तम की गठरी में। बांधकर संकल्प उसमें। जावे जब देहतमरूप में। प्रकट पुनः।।५८।। अब क्या विस्तार का प्रयोजन। जो तमोवृद्धि में आवे मरण। वह पशु पक्षी होवे अर्जुन का। वा पेड़ या कृमि।।५९।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

देखो इसी कारण से। जो उपजत सत्त्वगुण से। उसको सुकृत कहत ऐसे। श्रुति समुदाय।।२६०।। अतः वह निर्मल। सुख ज्ञान से सरल। पावत जो अपूर्व फल। सात्त्विक वह।।६१।।

Funding by IKS-MoE

गिर गया।।३७।। इन लक्षणों के परिवार से युक्त उसे पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त होता है।।३८।। कोई भिखारी ठाठ से राजमंदिर में जाकर बैठ गया, तब कहो कभी वह क्या राजा बनेगा?।।३९।।हे अर्जुन! धनी गृह में विवाह के समय बैल को गाड़ी में जोतकर ले जाने से उसका घांस खाना क्या समाप्त होना है?।।२४०।। व्यापार में रात दिन विश्राम नहीं मिलता, ऐसे लोगों की पंक्ति में वह जोता जाता है।।४१।। जो रजोगुण की वृत्तियों के मोह में मरता है वह काम्य कर्म करने वाले लोगों में ही पुनः जन्म लेता है।।४२।। हे अर्जुन! वैसे ही सत्त्वगुण एवं रजोगुण की वृत्तियों का दमन करके, हे पंडुकुमर! जब तमोगुण का विकास होता है।।४३।।

हे अर्जुन! तमोगुण बढ़ने पर अंतःकरण एवं इंद्रियों में प्रकाश एवं कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति एवं प्रमाद निद्रा आदि अंतःकरण की मोहिनी वृत्तियां उत्पन्न होती हैं।।१३।।

उस समय देह में अंतर्बाह्य जो लक्षण दिखाई देते हैं उनको सुनो, उसको ध्यान पूर्वक सुनना।।४४।। अमावस्या की रात्री का आकाश जैसा सूर्य एवं चंद्रमा से रहित होता है, वैसा तमोगुणी पुरुष का मन होता है।।४५।। अंतःकरण पूर्णतः विचार शून्य एवं रिक्त होता है, तब सारासार विचार पूर्ण नष्ट होता है।।४६।। हे पार्थ! बुद्धि पत्थर से भी जड़ होती है, मृदुता छोड़ देता है, स्मरण शक्ति बहिष्कृत हुई ऐसा लगता है।।४७।। शरीर में अंतर्बाह्य अविवेक का अतिरेक दिखाई देता है, उस तमोगुण में मूर्खता की ही केवल लेन देन होती है।।४८।। तमोगुणी पुरुष के इंद्रिय रूपी स्थान पर आचार भ्रष्टता की हड्डियां गाडी हुई दिखाई देती हैं, मृत्युपर्यत उसके कर्म भ्रष्टता के होते हैं।।४९।। एक और लक्षण सुनो! उल्लू को जैसे अंधेरे में दिखता है तद्वत तमोगुणी पुरुष बुरे कर्म करने में उत्साह रखता है।।२५०।। वैसे निषिद्ध कर्म के नाम से अंतःकरण में उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है, वह निषिद्ध कर्म करने के लिये उसकी इंद्रियां दौड़ने लगती हैं।।५१।। मदिरापान न करते हुए वह उन्मत होता है, सन्निपात वायु के बिना बड़बड़ाता है पागल प्रेम न मिलने से जैसा भ्रमित होता है, वैसा वह भ्रमित होता है।।५२।। उसका चित्त तो कही भी भटकता है किन्तु वह उन्मनी अवस्था नहीं होती, ऐसा मोह से व्याप्त होकर वह मत्त होता है।।५३।। हे धनुर्धर! तमोगुण ऐसा पूर्णतः बढ़ता है, तब ऐसे लक्षण विकसित होते हैं।।५४।। जब तमोगुण ऐसा विकसित होता है तब मृत्यु आने से तमोगुण के साथ वह हीन योगियों के सुरंग में गिरता है ऐसा श्रीरंग कहते हैं।।५५।। हे अर्जुन! राई का बीज राई के पौधे में समाकर अपने रूप का त्याग करता है, तब उसमें अन्य लक्षण कैसे आयेंगे?।।५६।। हे अर्जुन! दीपज्योति प्रज्वलित होने पर यदि बुझ गई या उसने अग्नि उत्पन्न किया, तब वह अग्नि ही होती है।।५७।। अतः तम की गठरी में संकल्प को बांधकर जब मृत्यु होती है तब वह पुनः तमरूप में ही देह प्रकट होता है।।५८।। अब और विस्तार करने में क्या प्रयोजन है तमोगुण का जब प्राबल्य रहता है तब मृत्यु होने से उस तमोगुणी पुरुष को, हे अर्जुन! पशु, पक्षी या कृमि कीटक या पेड़ का जन्म मिलता है।।५९।।

हे अर्जुन! जब यह जीवात्मा सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उत्तम कर्म करने वालों के दिव्य स्वर्ग आदि लोकों को प्राप्त होता है।।१४।।

देखो! इसी कारण से जो सत्वगुण से उत्पन्न होता है उसको सुकृत है, ऐसा श्रुति ने कहा है।।२६०।। अतः उस निर्मल सुकृत को सुख एवं ज्ञान का लोकोत्तर फल आता है, वही सात्विक फल कहलाता है।।६१।।

Funding by IKS-MoE

रजसि प्रलयं गत्वा कर्म संङ्गिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।

अब राजस क्रिया पार्थ। जैसी इंद्रावणी फलत। नेत्र को सुख देत। जिव्हा को फल दुखद।।६२।। या कडवे नीम के फल कित्येक। ऊपर मधु भीतर विख। वैसे वह राजस देख। क्रिया फल।।६३।। तामस कर्म से निःशेख। अज्ञान फल ही फलत देख। निषांकुर से विख। जिस प्रकार।।६४।।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मल फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञान तमसः फलम्।।१६।।

अतः श्रीकृष्ण कहे अर्जुन को। यहाँ सत्त्व ही हेतु ज्ञान को। जैसे कि दिनमान को। सूर्य कारण।।६५।। वैसे ही यह जानो अर्जुन। जो लोभ का रज कारण। होवे अपना ही विस्मरण। अद्वैत को जैसे।।६६।। मोह अज्ञान प्रमाद यह। मिलकर दोषवृंद पुनः पुनः। इनको हे प्रबुद्ध। तम ही मूल।।६७।। ऐसे विवेक चक्षुसे देख। तीनों गुण पृथक-पृथक। दिखाया तुझको आमलक। तल हस्गत जैसा।।६८।। तब रज तम दोनो अर्जुन। प्रौढ़ पतन के कारण। न लावत सत्त्व बिन। ज्ञान के निकट।।६९।। अतः सात्त्विक वृत्ति। से एक हुए जन्मवृत्ती। सर्वत्याग कर अपनाई चतुर्थी। भक्ति जैसी।।२७०।।

तत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

तैसे नट नाच से सत्त्व के। जीवन मरण उल्हास से जिनके। वे तनुत्याग के पश्चात स्वर्ग के। राजा होत।।७१।। इसी प्रकार रजोत्कर्ष से। जो जीयत मरत जैसे। जन्मत वे मनुष्य रूपसे। मृत्युलोक में।।७२।। वहाँ सुख दुःख खिचड़ी का पार्थ। एक ही थाली में भोग लगावत। जहाँ इस मरणमार्ग से निश्चित। मुक्तता नाही।।७३।। उसी प्रकार तम में। बढ़कर मरत भोगक्षमी उसमें। वे लेत नरक भूमि में। मूलपत्र।।७४।। एवं वस्तु की सत्ता। त्रिगुण से ही पंडुसुता। दिखाई कारण वशता। अशेष तुझको।।७५।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

वस्तु का वस्तुत्व सदा निर्विकार। भासत गुण संग से भिन्नाकार। सत्वा देखकर कार्य विशेष सुवीर। अनुसरत वह।।७६।। राजा बनकर स्वप्नस्थ। जब पर चक्र देखत। तब मानत पराजित। स्वयं को ही पार्थ।।७७।। वेसे मध्यार्ध्व अध। ये जो गुणवृत्ति भेद। दृष्टिबिन शुद्ध। वस्तु ही वह।।७८।। रहने दो यह कथन। न जानो तुम यह भिन्न। सुनो कहूं वही निरूपण। पूर्व कथित जो।।७९।। तब ऐसे जानिये। सामर्थ्य से तीनों मानिये। प्रकटत देहब्याज से सुनिये। गुण ही ये।।२८०।। इंधन के आकार से पार्थ। अग्नि वैसा ही भासत। या भूमिरस प्रकट। तरु रूप से।।८१।। अथवा दही के मिष से। विकारत दूध ही जैसे। या मूर्त होय इक्षुरूप से। मधुरता स्वयम्।।८२।। वैसे ये सान्तःकरण। देह ही होत त्रिगुण। अतः बंध का कारण।

रजोगुण विकसित होने पर जब मृत्यु आता है तब कर्मों की आसाक्ति वाले मनुष्यों में वह जन्म लेता है, तमोगुण विकसित होने पर भरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है।।१५।।

हे पार्थ! राजस कर्म इंद्रावणी के फल के सदृश (कटु) होते हैं, नेत्र को तो सुख देता है किन्तु जिव्हा को दुख देता है।।६२।। या कड़वे नीम के फल बाहंर से सुंदर दिखते हैं, भीतर से कड़वे विष जैसे होते है, वैसे रजो गुण के कर्म का फल है।।६३।। तामसं कर्म से पूर्णतः अज्ञान ही फल देता है, जैसे विष से विष ही अंकुरित होता है।।६४।।

सात्विक कर्म का सुख, ज्ञान एवं वैराग्य का निर्मल फल मिलता है, राजस कर्म का फल दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान होता है।।१६।।

श्री कृष्ण कहते है सुनो! यहां ज्ञान को सत्वगुण हेतु है, जैसे दिन को सूर्य कारण होता है।।६५।। हे अर्जुन! रजोगुण लोभ का कारण है उससे अपना ही विस्मरण परमात्मा को होता है।।६६।। हे प्रबुद्ध अर्जुन! मोह, अज्ञान एवं प्रमाद यह मलिन दोषों को तमोगुण कारण होता है।।६७।। ऐसे विवेक के नेत्र से देखने पर, जैसे हाथ के तलुएपर आंवला रखने पर देखा जाता है, वैसे तीनों गुण दिखाई देते हैं।।६८।। हे अर्जुन! तब रजोगुण एवं तमोगुण दोनों पतन के कारण होते है, सत्वगुण के बिना ज्ञान के पास नहीं जा सकते।।६९।। अतः सबका त्याग करके ज्ञान रूप भक्ति का जीवन में आचरण करते हुए मृत्युपर्यंत सात्विक वृत्ति में रहते है।।२७०।।

सत्त्व गुण में स्थित पुरुष स्वर्गलोक को जाते हैं, रजोगुण में स्थित पुरुष मनुष्य लोक में (मृत्यु) रहते हैं एवं तमोगुणी पुरुष अधोगति को प्राप्त होते हैं।।१७।।

इसलिये सत्त्वगुण में स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुण में स्थित राजस पुरुष, मध्य में अर्थात् मनुष्यलोक में ही रहते हैं एवं तमोगुण के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि में स्थित हुए तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को प्राप्त होते हैं।।१८।।

सत्व गुण का प्राबल्य रहते हुए मृत्यु आने पर उन्हें स्वर्ग लोक का राज्यपद मिलता है।।७१।। इसी प्रकार से रजोगुण के उत्कर्ष में मृत्यु होने पर मृत्यु लोक में मनुष्य रूप में जन्म होता है।।७२।। वहां हे पार्थ! सुख एवं दुःख की खिचड़ी होती है, उसका एक ही थाली में भोग लगाया जाता है, मृत्यु से इसमें मुक्तता नहीं होती।।७३।। तमोगुण विकसित होने पर मृत्यु आने से नरक भूमि में जाने का दाखिलापत्र वे लेते हैं।।७४।। हे पंडुसुत! वस्तु की सत्ता से (परमात्मा की सत्ता से) सत्व आदि तीनों गुण उर्ध्व गति को कैसे कारण हैं यह तुम्हें दिखाया।।७५।।

हे अर्जुन! जिस काल में समष्टि चेतन में एकीभाव से स्थित पुरुष तीनों गुणों को छोड़कर अन्य किसी को कर्ता नहीं समझता एवं तीनों गुणों से परे सच्चिदानंदघन मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है, वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।।१९।।

हे सुवीर! परब्रह्म परमात्मा अपने स्थान में पूर्णत्व से होता है, गुणों की संगति में वह भिन्न दिखता है, विशेष कार्य देखकर उसके अनुसार वह व्यवहार करता है।।७६।। राजा स्वप्न में जब परमचक्र आया ऐसा देखता है, तब विजयी या पराजित, स्वयं को, वह स्वप्न में, स्वयं ही मानता है।।७७।। वैसे उत्तम, मध्यम एवं अधोगति यह भेद गुणों की वृत्तियों के कारण होते हैं, गुणों की दृष्टि छोड़ते ही ब्रह्मवस्तु जैसी शुद्ध थी वैसी ही होती है।।७८।। यह कथन अब रहने दो, इसको तुम भिन्न नहीं समझना, अब पुनः वही निरूपण सुनाता हूं।।७९।। सह तीनों गुण अपने सामर्थ्य से देह में स्वाभाविक होते हैं।।२८०।। ईंधन के आकार से अग्नि ईंधन के आकार का होता है, भूमि का रस वृक्षरूप में प्रकट होता है।।८१।। अथवा दही के रूप में दूध ही जैसे रहता है, या गन्ने के रूप में मधुरता मानो साक्षात प्रकट होती है।।८२।। तद्वत यह तीनों गुण अंतःकरण के साथ देह बनते हैं वही जीव को

Funding by IKS-MoE

रजसि प्रलयं गत्वा कर्म संड्गिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

अब राजस क्रिया पार्थ। जैसी इंद्रावणी फलत। नेत्र को सुख देत। जिव्हा को फल दुखद।।६२।। या कडवे नीम के फल कित्येक। ऊपर मधु भीतर विख। वैसे वह राजस देख। क्रिया फल।।६३।। तामस कर्म से निःशेख। अज्ञान फल ही फलत देख। निषांकुर से विख। जिस प्रकार।।६४।।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मल फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञान तमसः फलम्।।१६।।

अतः श्रीकृष्ण कहे अर्जुन को। यहाँ सत्त्व ही हेतु ज्ञान को। जैसे कि दिनमान को। सूर्य कारण।।६५।। वैसे ही यह जानो अर्जुन। जो लोभ का रज कारण। होवे अपना ही विस्मरण। अद्वैत को जैसे।।६६।। मोह अज्ञान प्रमाद यह। मिलकर दोषवृंद पुनः पुनः। इनको हे प्रबुद्ध। तम ही मूल।।६७।। ऐसे विवेक चक्षुसे देख। तीनों गुण पृथक-पृथक। दिखाया तुझको आमलक। तल हस्गत जैसा।।६८।। तब रज तम दोनो अर्जुन। प्रौढ़ पतन के कारण। न लावत सत्त्व बिन। ज्ञान के निकट।।६९।। अतः सात्त्विक वृत्ति। से एक हुए जन्मवृत्ती। सर्वत्याग कर अपनाई चतुर्थी। भक्ति जैसी।।२७०।।

तत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

तैसे नट नाच से सत्त्व के। जीवन मरण उल्हास से जिनके। वे तनुत्याग के पश्चात स्वर्ग के। राजा होत।।७१।। इसी प्रकार रजोत्कर्ष से। जो जीयत मरत जैसे। जन्मत वे मनुष्य रूपसे। मृत्युलोक में।।७२।। वहाँ सुख दुःख खिचड़ी का पार्थ। एक ही थाली में भोग लगावत। जहाँ इस मरणमार्ग से निश्चित। मुक्तता नाही।।७३।। उसी प्रकार तम में। बढ़कर मरत भोगक्षमी उसमें। वे लेत नरक भूमि में। मूलपत्र।।७४।। एवं वस्तु की सत्ता। त्रिगुण से ही पंडुसुता। दिखाई कारण वशता। अशेष तुझको।।७५।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

वस्तु का वस्तुत्व सदा निर्विकार। भासत गुण संग से भिन्नाकार। सत्वा देखकर कार्य विशेष सुवीर। अनुसरत वह।।७६।। राजा बनकर स्वप्नस्थ। जब पर चक्र देखत। तब मानत पराजित। स्वयं को ही पार्थ।।७७।। वेसे मध्याऊर्ध्व अध। ये जो गुणवृत्ति भेद। दृष्टिबिन शुद्ध। वस्तु ही वह।।७८।। रहने दो यह कथन। न जानो तुम यह भिन्न। सुनो कहूं वही निरूपण। पूर्व कथित जो।।७९।। तब ऐसे जानिये। सामर्थ्य से तीनों मानिये। प्रकटत देहब्याज से सुनिये। गुण ही ये।।२८०।। इंधन के आकार से पार्थ। अग्नि वैसा ही भासत। या भूमिरस प्रकट। तरु रूप से।।८१।। अथवा दही के मिष से। विकारत दूध ही जैसे। या मूर्त होय इक्षुरूप से। मधुरता स्वयम्।।८२।। वैसे ये सान्तःकरण। देह ही होत त्रिगुण। अतः बंध का कारण।

रजोगुण विकसित होने पर जब मृत्यु आता है तब कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में वह जन्म लेता है, तमोगुण विकसित होने पर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है॥१५॥

हे पार्थ! राजस कर्म इंद्रावणी के फल के सदृश (कटु) होते हैं, नेत्र को तो सुख देता है किन्तु जिव्हा को दुख देता है॥६२॥ या कड़वे नीम के फल बाहंर से सुंदर दिखते हैं, भीतर से कड़वे विष जैसे होते है, वैसे रजो गुण के कर्म का फल है॥६३॥ तामसं कर्म से पूर्णतः अज्ञान ही फल देता है, जैसे विष से विष ही अंकुरित होता है॥६४॥

सात्विक कर्म का सुख, ज्ञान एवं वैराग्य का निर्मल फल मिलता है, राजस कर्म का फल दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान होता है॥१६॥

श्री कृष्ण कहते है सुनो! यहां ज्ञान को सत्वगुण हेतु है, जैसे दिन को सूर्य कारण होता है॥६५॥ हे अर्जुन! रजोगुण लोभ का कारण है उससे अपना ही विस्मरण परमात्मा को होता है॥६६॥ हे प्रबुद्ध अर्जुन! मोह, अज्ञान एवं प्रमाद यह मलिन दोषों को तमोगुण कारण होता है॥६७॥ ऐसे विवेक के नेत्र से देखने पर, जैसे हाथ के तलुएपर आंवला रखने पर देखा जाता है, वैसे तीनों गुण दिखाई देते हैं॥६८॥ हे अर्जुन! तब रजोगुण एवं तमोगुण दोनों पतन के कारण होते है, सत्वगुण के बिना ज्ञान के पास नहीं जा सकते॥६९॥ अतः सबका त्याग करके ज्ञान रूप भक्ति का जीवन में आचरण करते हुए मृत्युपर्यंत सात्विक वृत्ति में रहते है॥२७०॥

सत्त्व गुण में स्थित पुरुष स्वर्गलोक को जाते हैं, रजोगुण में स्थित पुरुष मनुष्य लोक में (मृत्यु) रहते हैं एवं तमोगुणी पुरुष अधोगति को प्राप्त होते हैं॥१७॥

इसलिये सत्त्वगुण में स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुण में स्थित राजस पुरुष, मध्य में अर्थात् मनुष्यलोक में ही रहते हैं एवं तमोगुण के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि में स्थित हुए तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को प्राप्त होते हैं॥१८॥

सत्व गुण का प्राबल्य रहते हुए मृत्यु आने पर उन्हें स्वर्ग लोक का राज्यपद मिलता है॥७१॥ इसी प्रकार से रजोगुण के उत्कर्ष में मृत्यु होने पर मृत्यु लोक में मनुष्य रूप में जन्म होता है॥७२॥ वहां हे पार्थ! सुख एवं दुःख की खिचड़ी होती है, उसका एक ही थाली में भोग लगाया जाता है, मृत्यु से इसमें मुक्तता नहीं होती॥७३॥ तमोगुण विकसित होने पर मृत्यु आने से नरक भूमि में जाने का दाखिलापत्र वे लेते हैं॥७४॥ हे पंडुसुत! वस्तु की सत्ता से (परमात्मा की सत्ता से) सत्व आदि तीनों गुण उर्ध्व गति को कैसे कारण हैं यह तुम्हें दिखाया॥७५॥

हे अर्जुन! जिस काल में समष्टि चेतन में एकीभाव से स्थित पुरुष तीनों गुणों को छोड़कर अन्य किसी को कर्ता नहीं समझता एवं तीनों गुणों से परे सच्चिदानंदघन मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है, वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है॥१९॥

हे सुवीर! परब्रह्म परमात्मा अपने स्थान में पूर्णत्व से होता है, गुणों की संगति में वह भिन्न दिखता है, विशेष कार्य देखकर उसके अनुसार वह व्यवहार करता है॥७६॥ राजा स्वप्न में जब परमचक्र आया ऐसा देखता है, तब विजयी या पराजित, स्वयं को, वह स्वप्न में, स्वयं ही मानता है॥७७॥ वैसे उत्तम, मध्यम एवं अधोगति यह भेद गुणों की वृत्तियों के कारण होते हैं, गुणों की दृष्टि छोड़ते ही ब्रह्मवस्तु जैसी शुद्ध थी वैसी ही होती है॥७८॥ यह कथन अब रहने दो, इसको तुम भिन्न नहीं समझना, अब पुनः वही निरूपण सुनाता हूं॥७९॥ सह तीनों गुण अपने सामर्थ्य से देह में स्वाभाविक होते हैं॥२८०॥ ईंधन के आकार से अग्नि ईंधन के आकार का होता है, भूमि का रस वृक्षरूप में प्रकट होता है॥८१॥ अथवा दही के रूप में दूध ही जैसे रहता है, या गन्ने के रूप में मधुरता मानो साक्षात प्रकट होती है॥८२॥ तद्वत यह तीनों गुण अंतःकरण के साथ देह बनते हैं वही जीव को

Funding by IKS-MoE

बनत वे।।८३।। किन्तु आश्चर्य वह अर्जुन। जो इतना सब बन्धन। न लाये न्यूनपन। मोक्ष व्यवहार को।।८४।। त्रिगुण स्वगुणधर्म से। वर्तत देह में निरन्तर जैसे। किन्तु न होवे बद्धकर इनसे। गुणातीत।।८५।। ऐसी यह मुक्ति सहज। वह बतलाऊं तुझ-। को जो तुम ज्ञानांबुज-।द्विरेफ यहाँ।।८६।। और गुण में गुण संग से कौन्तेय। न परिवर्तित कदा चैतन्य। कहा सिद्धान्त यही मान्य। पहले ही।।८७।। तुझको तब पार्थ यह ऐसा। बोधित यह मनको दिखत वैसा। स्वप्न का मिथ्याभास जैसा। जागृत को।।८८।। नातर स्वयं जल में। बिंबित देखे तीर से उसमें। आन्दोलन कल्लोल में। अनेकधा।।८९।। या नाटक के स्वांग से। नट भ्रमित न होवे जैसे। गुणजात को मानिये जैसे। साक्षीभूत।।२९०।। या आकाश में ऋतुत्रय। धारण करत कौंतेय। किन्तुन कभी लिप्त होय। पृथक ही वह।।९१।। वैसे गुण में गुण के पर। जो स्वयं का अस्तित्व सुवीर। आरुढत अहं मूल पद पर। धनुर्धर।।९२।। जब वहाँ से देखत। साक्षी मैं अकर्ता कहत। ये गुण से ही क्रियाजात। नियोजित।।९३।। सत्त्व रज तम के। भेद से प्रसार कर्म के। होत वह गुणो के। विकार पार्थ।।९४।। इनमें मैं ऐसा। वन में वसंत जैसा। वनलक्ष्मी विलास को तैसा। हेतुभूत।।९५।। या तारागण का लोपन। सूर्यकान्त का उद्दीपन। कमल का विकसन। तम निस्तरण।।९६।। इनमें किसी में कोई। सविता जैसे लिप्त नाही। वैसा अकर्ता मैं देही। सत्ता रूप।।९७।। मैं दिखाऊँ तब गुण दिखत। मुझमें ही गुणत्व वर्धत। अन्त में शेष बचत। मैं ही वह।।९८।। ऐसे विवेक का उदय। जिसके हिय में धनंजय। गुणातीतता प्राप्त होय। इसी मार्ग से उसको।।९९।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

अब निर्गुण यह पृथक। वह जाने अचूक। जो किया टीका प्रत्यक्ष। ज्ञान ने उसको।।३००।। किंबहुना पंडुसुता। ऐसी मेरी वह सत्ता। पावत जैसी सरिता। सिंधुत्व देख।।१।। नलिका से शुक उठकर। बैठत अन्य शाखा पर। वैसे अधिष्ठत मूल अहंपर। सोऽहं कहकर।।२।। अरे! अज्ञान की निद्रा से। घुरघुरत उच्च स्वर में। जागृत स्वस्वरूप में जैसे। प्रबुद्ध वह।।३।। तब बुद्धिभेद का दर्पण। गिरा हाथ से अर्जुन। अतः प्रकृति मुखभास पूर्ण। नष्ट सहज।।४।। हेदाभिमान का वारा। बंद हुआ अब सुवीरा। तब ऐक्य विचि सागरा। जीवेश को यह।।५।। इसीलिये मद्‌भाव को पार्थ। तक्षण वे होत प्राप्त। वर्षान्त में घन जात। आकाश में जैसे।।६।। वैसे मद्रूप होकर अर्जुन। उस देह में विद्यमान। देहसंभूत वह गुणाधीन। न होवे कभी।।७।। अरे! कांच के गृह से। भी दीप प्रकाश न रुके जैसे। या न बुझत सागर से। बड़वानल।।८।। जैसे आवे जावे त्रिगुण। बोध उनका न होवे मलिन। वह देही जैसा व्योमका अर्जुन। चंद्र जल में।।९।। तीनों गुण प्रौढ़ी से पार्थ। स्वच्छन्द देह में नाचत खेलत। देखकर भी न छोड़त। अहंता को।।३१०।। इस स्थितिपर्यंत। स्थिर

बंधन का कारण होता है॥८३॥ आश्चर्य यह है अर्जुन! इतना बंधन जीव को होते हुए भी मोक्ष व्यवहार को न्यूनता नहीं होती॥८४॥ तीनों गुण अपने धर्म से देह में आगे पीछे निरन्तर व्यवहार करते हुए भी आत्मा के गुणातीत अवस्था को बंधन उत्पन्न नहीं होता॥८५॥ ऐसी यह मुक्ति स्वाभाविक होती है, वह अब तुम्हें बताता हूं, क्योंकि तुम ज्ञान रूपी कमल के भ्रमर हो॥८६॥ हे कौंतेय! चैतन्य गुण में होते हुए भी गुणों को वश नहीं होते, यह सिद्धांत पहले ही तुम्हें बताया है॥८७॥ हे पार्थ! अंतःकरण को जब प्रतीति होगी तब स्वप्न का मिथ्याभास जागृत होने पर नष्ट होता है॥८८॥ तरंग हिलते हुए अपने ही प्रतिबिंब के विभिन्न टुकड़े हुए हैं ऐसा दिखाई देता है॥८९॥ नट जैसे लिए हुए स्वांग से भ्रमित नहीं होता तद्वत संपूर्ण गुणों को साक्षीभूत समझना चाहिये॥२९०॥ आकाश तीनों ऋतुओं को अपने उदर में धारण करता है, हे कौंतेय! किंतु वह कभी लिप्त नहीं होता, नित्य पृथक रहता है॥९१॥ तद्वत गुणों में होते हुए गुणों के जो परे होते हैं वे हे धनुर्धर! अपने मूल पद पर आरूढ़ होते हैं॥९२॥ जब वे वहां से देखते हैं तब मैं साक्षी अकर्ता हूं ऐसा वे कहते हैं, सब कर्मों को गुण ही कारण होते हैं॥९३॥ सत्व, रज, तम के भेद के अनुसार कर्म का विस्तार होता है, वह गुणों का, हे पार्थ! विकार होता है॥९४॥ वन में जैसा वसंत ऋतु से वनलक्ष्मी की शोभा का विलास दिखाई देता है, वैसा मैं गुणों के विकारों में साक्षी हूं॥९५॥ तारांगण लुप्त होते हैं, सूर्यकान्त मणि से अग्नि उत्पन्न होता है, सूर्य विकासी कमल विकसित होते हैं एवं अंधेरा नष्ट होता है॥९६॥ इन सब क्रियाओं में सूर्य जैसा लिप्त नहीं होता वैसा देह में सत्ता रूप में अकर्ता रहता हूं॥९७॥ मेरे दिखाने से गुण दिखाई देते हैं, मुझमें ही गुण विकसित होते हैं, अंत में मैं ही अकेला शेष बचता हूं॥९८॥ ऐसा विवेक का उदय हे धनंजय! जिसके हृदय में होता है, उसको गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है॥९९॥

स्थूल शरीर के उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों का उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था एवं सब दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है॥२०॥

अब निर्गुण नाम से जो एक है उसको वह निश्चित जानता है, क्योंकि ज्ञान वहां प्रत्यक्ष रहता है॥३००॥ किंबहुना हे पंडुसुत! जैसे नदी समुद्र में समर्पित होती है वैसा वह मेरी सत्ता को प्राप्त होता है॥१॥ तोता जैसा नलिका से उड़कर शाखापर बैठता है, वैसे वह ज्ञानी देह का अहंकार छोड़कर सोऽहं भाव में स्थित होता है॥२॥ अज्ञानरूपी निद्रा में जो घुरघुर करता था वह आत्मस्वरूप में जागृत हुआ॥३॥ तब बुद्धि भेद का दर्पण हाथ से गिर गया, अतः हे अर्जुन! प्रकृति का मुख का आभास पूर्ण नष्ट हो गया॥४॥ हे सुवीर! देह के अभिमान की वायु बंद हो गई! जिससे जीव एवं शिव का ऐक्य हो गया॥५॥ हे पार्थ! इसीलिए उस ज्ञानी को मेरे भाव की प्राप्ति हुई, जैसे वर्षाऋतु समाप्त होने पर बादल आकाश में विलीन होते हैं॥६॥ हे अर्जुन! मद्रूप होने पर देह में रहते हुये भी देह से उत्पन्न गुणों से वह लिप्त नहीं होता॥७॥ दीपक का प्रकाश कांच से छिपाया नहीं जाता, या समुद्र से बडवानल बुझाया नहीं जाता॥८॥ वैसे तीनों गुण आते हैं एवं जाते हैं, उसका ज्ञान मलिन नहीं होता, आकाश स्थित चंद्रमा जैसे जल में प्रतिबिंबित होता है, वैसा वह देह में अलिप्त होता है॥९॥ तीनों गुण अपने सामर्थ्य से देह में विविध चेष्टाएं करते रहते हैं, किंतु अपनी अहंता को वह चेष्टाओं में लिप्त नहीं होने देता॥३१०॥ हे पार्थ! वह अपने अंतःकरण में दृढ़ निश्चय से रहता है, अब अपने शरीर में क्या हो

Funding by IKS-MoE

निश्चय से अंतर में पार्थ। क्या घटत शरीर में सांप्रत। यह भी न जाने॥११॥ केंचुली अंग की छोड़ पार्थ। सर्प बामी में प्रवेशत। कौन उस त्वचा को सम्हालत। पुरुष होवे वैसा॥१२॥ या सौरभ्य कमल का जीर्ण। आमोद आकाश में मीनत पूर्ण। पुनरपि कमल कोश में अर्जुन। न आवे वह॥१३॥ वैसे समरस से। हुआ उसको भी हम जैसे। वहां देहधर्म क्या कैसे। न जाने देह॥१४॥ अतः जन्म जरा मरण। इत्यादि षड्गुण। वे देह से ही निगड़ित अर्जुन। अलिप्त वह॥१५॥ घट का खप्पर घटभंग पर। फेका दूर। महदाकाश सहज सुवीर। होवे जैसा॥१६॥ वैसे देहबुद्धि जाये। अखंड स्मरण रहे। तब अन्य कुछ न होवे। उसके बिन॥१७॥ ऐसे बोध से महान। देह में उसका वास अर्जुन। इसीलिये कहूँ उसको जान। गुणातीत मैं॥१८॥ इस देव के बोल से। पार्थ अतिसुख पावत जैसे। हर्षित मेघगर्जना से। मयूर जैसा॥१९॥

कैलिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो। किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥२१॥

उस संतोष से वीर पूछत। जी कौन चिन्ह से वह प्रकटत। जिसके ठाँई वसत। बोध ऐसा॥३२०॥ वह निर्गुण कैसे आचरत। किस प्रकार गुण निस्तरत। कथित यह नैहर मूर्त। कृपा का आप॥२१॥ इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न पर। वह षड्गुणों का अधीश्वर। सुनो उसका उत्तर। जो कहत कृष्ण॥२२॥

श्री भगवान उवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥२२॥

कहे पार्थ तेरी नवाई। यह इतना ही पूछत काई?। जैसे पूछना नाम झूठ या सच ही। वैसा असंबद्ध यह॥२३॥ गुणातीत जिसको नाम अर्जुन। निश्चित नहीं वह गुणाधीन। गुण में रहकर भी अधीन। गुण के इन॥२४॥ वह अधीन या अलिप्त। यह कैसे जानिये यथार्थ। गुण के मरुस्थल में स्थित। धनुर्धर॥२५॥ यह संदेह यदि मन में करत। तब सुख से पूछो पार्थ। सुनो उसका रूप यथार्थ। कहो अब॥२६॥ तब रजोगुण के मद से। फूटत देह में कर्मांकुर जैसे। प्रकृति जब घेरत उसे। पंडुकुमर॥२७॥ तब मैं ही एक कर्मठ। ऐसा न अभिमान प्रकट। या कर्म दरिद्रता से मन में पार्थ। न खेद भी॥२८॥ अथवा जब होवे सत्वोत्कर्ष। सर्वेंद्रियों में प्रकट ज्ञान अशेष। तब सुविधा से संतोष-। मग्न होवे वह॥२९॥ था वर्धित तमसे। न निगलित मोह भ्रम से। तब उस अज्ञानत्त्व से। विषाद न होवे॥३३०॥ क्वचित मोह के अवसर में। ज्ञान की चाड़ (इच्छा) न धरे मन में। ज्ञान से न रखे आदर कर्म से। न उससे दुखी॥३१॥ सायं प्रात मध्यान्ह। तीनोंकाल की गणना अर्जुन। नाही जैसी यह तपन-। को वैसा वह॥३२॥ क्या उसको अन्य प्रकार से। होवे प्राप्त ज्ञानित्व ऐसे। क्या जलार्णव वृष्टि से। परिपूर्ण होत?॥३३॥ या कर्म में जब प्रवर्तत। आवे तब कर्मठत्व। कहो हिमवंत हिम से पार्थ। कँपत कभी?॥३४॥ अथवा जब मोह

Funding by IKS-MoE

रहा है यह वह जानता नहीं ॥११॥ हे पार्थ! शरीर की केंचुली छोड़कर सर्प बिल में प्रवेश करता है, उसकी त्वचा को कौन संभालता है? ॥१२॥ या कमल का सुगंध परिपक्व होने पर आकाश में विलीन होता है, वह कमलपुष्प में लौटकर नहीं आता ॥१३॥ हे अर्जुन! परब्रह्म के साथ ऐक्य होने पर उस ज्ञानी की वैसी स्थिति होती है, अब देह के धर्म क्या हैं यह वह जानता नहीं ॥१४॥ अतः जन्म वृद्धावस्था मृत्यु , इत्यादि छः गुण, हे अर्जुन! देह से बंधित होते हैं, उसका आत्मा से कुछ संबंध नहीं होता ॥१५॥ घट फूटने पर घटके खप्पर फेंक दिये जाते हैं, हे सुवीर! वह अपने आप महाकाश होता है ॥१६॥ जब देहबुद्धि का नाश होता है, आत्मास्वरूप का अखंड स्मरण रहता है, तब अन्य कुछ आत्मस्वरूप के बिना दिखाई नहीं देता ॥१७॥ ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान से हे अर्जुन! देह में वह निवास करता है, इसीलिये मैं उसको गुणातीत कहता हूं ॥१८॥ भगवान की इस वाणी से पार्थ को अत्यंत सुख प्राप्त हुआ, जैसे मेघगर्जना से मयूर आनंदित होता है वैसा पार्थ आनंदित हुआ ॥१९॥

अर्जुन पूछता है, हे पुरुषोत्तम! इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष, किन लक्षणों से युक्त होता है? उसका आचरण किस प्रकार होता है? हे प्रभो! किस उपाय से इन तीनों गुणों से वह अतीत होता है? ॥२१॥

संतोष से वीर अर्जुन ने पूछा, हे प्रभो! कौन से लक्षणों से ऐसे पुरुष को पहचानना चाहिये जिसमें ऐसा ज्ञान होता है? ॥३२०॥ वह गुणातीत कैसा आचरण करता है?। गुणों का निवारण वह कैसा करता है? आप कृपा का नैहर हो। कृपा करके हमें बताइये ॥२१॥ इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न पर षड़गुणेश्वर्य संपन्न भगवान श्रीकृष्ण उत्तर दे रहे हैं, उसको सुनिये ॥२२॥

अर्जुन के प्रश्न पूछने पर भगवान श्रीकृष्ण बोले, हे अर्जुन! जो पुरुष सत्वगुण का कार्यरूप प्रकाश रजोगुण की कार्यरूप प्रवृत्ति एवं तमोगुण के कार्यरूप मोहको न तो बुरा समझता है न निवृत्त होने पर उसकी आकांक्षा रखता है ॥२२॥

हे पार्थ! प्रश्न पूछने की तेरी पद्धति अपूर्ण है, वह गुणातीत क्या कर्म करता है? गुणों से कैसा तर जाता है, इतना ही असंबद्ध पूछ रहे हो, यह नाम झूठा है या सच ऐसा पूछने समान है। ॥२३॥ हे अर्जुन! जिसको गुणातीत नाम है, वह निश्चितरूप से गुणों के अधीन नहीं होता, यदि गुण में रहता है किंतु इन गुणों के अधीन नहीं होता ॥२४॥ वह अधीन है या अलिप्त है, यह स्पष्ट रूप से कैसे जानना चाहिये, या हे धनुर्धर! वह गुणों के मरुस्थल में स्थित है यह कैसे समझोगे? ॥२५॥ यह संशय यदि तुम्हारे मन में है तब यह प्रश्न सुखपूर्वक पूछना, उसका अब हम स्पष्ट उत्तर देते हैं, सुनो ॥२६॥ हे पंडकुंवर! रजोगुण के उत्कर्ष से वह गुणातीत पुरुष जब प्रवृत्ति से आवेष्टित होता है तब उसके देह से कर्म अंकुरित होता है ॥२७॥ तब मैं ही एक कर्मठ हूं ऐसा अहंकार उसको नहीं होता, या कर्म नहीं हुए ऐसा उसके बुद्धि में दुःख नहीं होता ॥२८॥ जब सत्वगुण का उत्कर्ष होता है, तब सब इंद्रियों में ज्ञान प्रकट होता है। तब उस सुविधा से वह संतोष में मग्न होता है ॥२९॥ जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह गुणातीत ज्ञानी मोह एवं भ्रम से निगल नहीं जाता, उस अज्ञान से उसको दुःख नहीं होता ॥३३०॥ मोह के समय गुणातीत ज्ञानी, ज्ञान की इच्छा नहीं करता, ज्ञान से कर्म का आदर नहीं करता, न उससे दुःखी होता है ॥३१॥ सायंकाल, प्रातःकाल एवं मध्यान्हकाल की गणना, हे अर्जुन! जैसी सूर्य को नहीं होती, वैसा ही यह होता है ॥३२॥ क्या उसको अन्य प्रकार से ज्ञान प्राप्त होनेवाला है? क्या वर्षा से समुद्र परिपूर्ण भरता है? ॥३३॥ गुणातीत पुरुष की कर्म में प्रवृत्ति होने पर हे पार्थ! जैसा हिमालय पर्वत को बर्फ से कंप उत्पन्न नहीं होता, वैसे उसको कर्मठत्व प्रतीत नहीं होता ॥३४॥ अथवा जब मोह उत्पन्न होता है, तब उसका ज्ञान क्या नष्ट होता है? महाअग्नि को ग्रीष्म ऋतु क्या कभी दाहक प्रतीत

उत्पन्न। क्या नष्ट उसका ज्ञान?। महाअग्नि को ग्रीष्म अर्जुन। दाहक कभी?।।३५।।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।

कैसे गुणागुण यह कार्य। आपुन ही सर्व होय। अतः सुख दुखः न कोय। एकेक से इस को।।३६।। ऐसी उसकी प्रतीति। देह में करत वस्ती। मुसाफिर मुकाम में किरीटि। आपत्तिं में जैसा।।३७।। उसको न जय पराजय। गुणवश न करे न कुछ कौन्तेय। जैसे कि श्रोणी (भूमि) होय। संग्राम की।।३८।। या शरीरान्तर्गत प्राण। जैसे घर आया अतिथि ब्राह्मण। चौराह पर खड़ा स्तंभ पूर्ण। उदासीन जैसा।।३९।। और गुण आवागमन से। होवे न विचलित जैसे। मृग जल के कल्लोल से। मेरू जैसा।।३४०।। बहुत क्या कहना यह। व्योम वायु से चलित न होत। अथवा क्या निगलित सूर्य। अन्धःकार से कभी?।।४१।। स्वप्न देखो जिस प्रकार। जागृत को न भ्रमकर। ज्ञानी जैसा गुणविकार-। से बद्ध न होत।।४२।। गुण से न कभी आकलत। दूर से ही कौतुक से निहारत। गुणदोष कठपुतली का निहारत। दर्शक जैसा।।४३।। सात्त्विक सत्कर्म में। रज राजसंभोग में। तम मोहादिक में। साक्षीभाव से।।४४।। सुनो ऐसी उसकी सत्ता। होत उससे गुण क्रिया समस्ता। जानो निश्चित जैसा सविता। लोक व्यवहार को।।४५।। समुद्र को ज्वार आवत। सोमकान्त मणि द्रवत। कुमुदिनी विकसत। चंद्र तो स्तब्ध।।४६।। वायु बाजत शमत। गगन तो निश्चल पार्थ। वैसा न होवे विचलित। गुणविद्रोह से जो।।४७।। इन लक्षणों से अर्जुन। जानो वह गुणाती पूर्ण। अब सुनो आचरण। कैसा उसका।।४८।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

वस्त्र के पीठ पेट में निश्चित। नाही तंतु बिन कुछ भी किरीटि। ऐसी चराचर में दृष्टि। मद्रूप जिसकी।।४९।। अतः सुख दुःख में वैसा। समतोल आचरण एकसा। रिपुभक्त को जैसा। दान हरी का।।३५०।। वैसे तो सहज अर्जुन। तब ही सुख दुःख भोगमान। जब होवत मीन। देह जल में।।५१।। अब तो उसने वह त्यक्त। हुआ स्वस्वरूप में स्थित। सस्यान्त में शेष बचत। बीज जैसे।।५२।। या जलौघ छाँडकर गांग। मीनत प्रवेशत समुद्र का अंग। निस्तरत अशेष सलग। खलबली उसकी।।५३।। वैसे आत्मस्वरूप में बस्ती। जिसकी हुई किरीटि। देह में अपने आप समस्थिति। होवे सुख दुःख की।।५४।। रात्रि वैसा ही दिन। गृहस्तंभ को एक अर्जुन। देह में अर्न्तद्वन्द्व समान। आत्माराम को।।५५।। निद्रित अंग को जैसी। सर्प वैसी उर्वशी। देही स्वरूपस्थ को तैसी। भावना द्वंद्व की।।५६।। अतः उसके ठाँई। सुवर्ण गोमय में भिन्नता नाही। रत्न पाषाण में कुछ ही। भेद न जाने।।५७।। घर को आवे स्वर्ग। या अंग पर झड़पत बाघ। किन्तु आत्मबुद्धि अंग। न होवे कदा।।५८।। मृत न जैसा हो जागृत। या दग्धबीज न विरुदत। साम्यबुद्धि न मोड़त। उसी

Funding by IKS-MoE

होगा? ॥ ३५॥

जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ, गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता, गुण ही गुणों में व्यवहार करते हैं,. ऐसा समझते हुये जो सच्चिदानंदघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है, एवं उस स्थिति से चलायमान नहीं होता ॥ २३॥

गुण एवं गुणों के कार्य सब आत्मस्वरूप समझने से इस एक-एक गुण से उसको सुखदुःख नहीं होता ॥ ३६॥ ऐसा उसका अनुभव होता है, हे किरीटि! जैसा मुसाफिर आपत्ति के समय किसी स्थान में मुकाम करता है, वैसा वह देह में उदासीनता से बस्ती करता है ॥ ३७॥ जैसे युद्ध की भूमि पर जय पराजय का कुछ परिणाम नहीं होता, वैसा वह गुणातीत पुरुष गुणों के वश में नहीं होता ॥ ३८॥ या शरीर के भीतर प्राण जैसा उदास रहता है, घर में आनेवाला ब्राह्मण अतिथि उदासीन होता है, या चौराहे पर गड़ा स्तंभ जेसे उदासीन होता है ॥ ३९॥ वैसा वह गुणातीत गुणों के आने जाने से विचलित नहीं होता, मृगमरीचिका के तरंगों से मेरु पर्वत हिलता नहीं ॥ ३४०॥ अब बहुत क्या कहेंगे। आकाश जैसे वायु से हिलता नहीं, अथवा सूर्य क्या कभी अंधकार को निगलता है? ॥ ४१॥ जागृत मनुष्य को जैसे स्वप्न भ्रमित नहीं करता, वैसा वह ज्ञानी गुणों के विकारों से बंधन में नहीं फंसता ॥ ४२॥ गुण से कभी व्याकुल नहीं होता, दूर से कौतुक देखता है, जैसा देखनेवाला कठपुतली के गुणदोष देखता है वैसा गुणातीत देखता है ॥ ४३॥ सात्विक गुण सत्कर्म करता है, रजोगुण रजोगुणी कर्म करता है, तमोगुण मोह आदि तामसी कर्म करता है ॥ ४४॥ जैसे लोगों के कर्म सूर्य की सत्ता से चलते हैं तद्वत गुणों के सब कर्म गुणातीत पुरुष वे सत्ता से चलते हैं यह तुम निश्चित समझना ॥ ४५॥ पूर्ण चंद्रमा का उदय होते ही समुद्र में ज्वार आता है, चंद्रकान्त मणि द्रवित होता है, कुमुदिनी का विकास होता है, किंतु, चंद्रमा तो अपने स्थान पर स्तब्ध रहता है ॥ ४६॥ वायु बहता है या स्तब्ध रहता है किंतु आकाश स्थिर होता है, तद्वत गुणों के हलचल से वह विचलित नहीं होता ॥ ४७॥ हे अर्जुन! इन लक्षणों से गुणातीत को पूर्ण जान लीजिये, अब उसका आचरण कैसा होता है सुनिये ॥ ४८॥

जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित हुआ, सुखदुःख को समान समझनेवाला होता है, मिट्टी, पत्थर, सुवर्ण में समान भाववाला और धैर्यवान है, तथा जो प्रिय एवं अप्रिय को समान समझता है, एवं निन्दास्तुति में समान भाववाला होता है ॥ २४॥

वस्त्र के बाहर-भीतर जैसे तंतु के बिना कुछ होता नहीं, हे किरीटी! ऐसी चराचर सृष्टि के साथ सब विश्व वह मद्रूप समझता है ॥ ४९॥ अतः सुखदुःख में वैसा उसका एक जैसा आचरण होता है, जैसे श्रीहरि शत्रु एवं भक्त को समान दान देते हैं ॥ ३५०॥ देहरूपी जल में जैसे मछली बनकर रहना चाहिये, वैसे अर्जुन! रहने से सुखदुःख के भोग भोगने पड़ते हैं ॥ ५१॥ पीक फलने के बाद छिलके जैसे अलग निकालने पड़ते हैं, तब बीज प्राप्त होता है ॥ ५२॥ तद्वत देह तादात्म्य छोड़ने पर वह अपने आत्मस्वरूप में स्थित होता है। गंगाजल किनारा छोड़कर समुद्र में जैसे प्रविष्ट होता है तब उसकी खलबलाहट समाप्त होकर वह शांत होता है ॥ ५३॥ हे किरीटी! जिसकी आत्म स्वरूप में स्थिति हो गई है उसको अपने देह में सुख-दुःख में समान स्थिति होती है ॥ ५४॥ जैसा दिन वैसी रात घर के स्तंभ को समान होती है, हे अर्जुन! देह में उत्पन्न होनेवाले सुखदुःख के अंतर्द्वंद आत्माराम को समान होते हैं ॥ ५५॥ जैसे प्रगाढ़ निद्रा में खोये हुए पुरुष के लिए जैसा सांप वैसी उर्वशी समान होगी, जिसकी आत्मस्वरूप में स्थिरता हो गयी है उसके लिये सुख-दुःख दोनों द्वंद्व समान होते हैं ॥ ५६॥ अतः उसको गोबर एवं सुवर्ण तथा रत्न एवं पत्थर में कोई भेद नहीं होता, ॥ ५७॥ घर में स्वर्ग आवे या शरीर पर शेर झड़प डाले किंतु आत्मज्ञान कभी भंग नहीं होता ॥ ५८॥ मृत मनुष्य जैसा जागृत नहीं होता, या जलाहुआ बीज जैसे अंकुरित नहीं होता, वैसी उसके बुद्धि की समता कभी नष्ट नहीं

प्रकार ।। ५९।। यह ब्रह्मा ऐसे स्तवन। न करे नीच जानकर अपमान। जलना बुझना नजाने अर्जुन। राख जैसी ।। ३६०।। वैसी निन्दा और स्तुति। नही कुछ भी अभिव्यक्ति। नहीं अंधेरा अथवा बत्ती। सूर्य गृह में ।। ६१।।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।। २५।।

ईश्वर कहकर पूजित। या चोर मानकर दंडित। या वृष गज से वेष्टित। किया राजा ।। ६२।। सुहृद आवे निकट। अथवा वैरी होवे प्राप्त। किन्तु न जाने दिन रात्र। सूर्य तेज जैसा ।। ६३।। षड़्ऋतु में आकाश। निर्लिप्त जैसे अशेष। वैषम्य जिसका मानस। न जानेकदा ।। ६४।। और एक देखो बात। आचार यद्यपि करत। किन्तु व्यापार में न लिप्त। दिखत वह ।। ६५।। सर्वारम्भ बन्द होत। प्रवृति जहाँ विरमत। कर्मफल भस्म होत। ज्ञानाग्नि में ।। ६६।। दृष्टादृष्ट विचार। भाव भी न उपजत साचार। सेवन करत समग्र। सहज प्राप्त जो ।। ६७।। फूले न तड़पे पार्थ। जैसे कोई पाषाणवत। घट मोड़ वैसी तजत। मन से पूर्ण ।। ६८।। अब कितना करू विस्तार। जानो ऐसा आचार। जिसका वही साचार। गुणातीत ।। ६९।। गुण का अतिक्रमण। होवे जिस उपाय से अर्जुन। वह सुनो अब निरुपण। कहे कृष्णनाथ ।। ३७०।।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। २६।।

तब व्यभिचार रहित चित्त से। मुझको भक्तियोग से। सेवत वह गुण को निश्चित से। करत वश ।। ७१।। अब कौन मैं कैसी भक्ति। अव्यभिचार की क्या अभिव्यक्ति। इसका विवेचन किरीटि। करना युक्त ।। ७२।। सुनो सावधान मनसा। मैं तो यहाँ ऐसा। रत्न में प्रकाश जैसा। रत्न ही वह ।। ७३।। या द्रवपन ही नीर। अवकाश ही अंबर। मधुरता ही शक्कर। अन्य नाही ।। ७४।। वन्हीवही ज्वाल। दल को ही नाम कमल। वृक्ष वही फल-। शाखादिक ।। ७५।। अरे हिम जो घनीभूत। वही होवे जैसे हिमवंत। जमने से जमा दूध कहावत दही पार्थ ।। ७६।। वैसे जो विश्व के नाम से। मैं ही जानो उससे। अनावश्यक छिलना चंद्रबिंब को जैसे। जो चंद्र ही वह ।। ७७।। घृत का घनपन। फिर भी वह घृत ही जान। या न पिघला यदि कंकण। सुर्वण ही वह ।। ७८।। न विदारित पट। तंतु उसमें रहे स्पष्ट। यदि न छुलत घट। किन्तु मृतिका ही जैसे ।। ७९।। अतः विश्व की जब व्यावृत्ति। पश्चात मेरी उत्पत्ति। नहीं ऐसा विश्वसहित किरीटि। समग्र मैं ।। ३८०।। ऐसा मुझको जानिये। वही अव्यभिचारिणी भक्ति कहिये। यहाँ यदि भेद देखिये। व्यभिचार वह ।। ८१।। इस कारण भेद को। छोंड़कर अभेद चित्त से मुझको। अपने सहित एक को। जानो पार्थ ।। ८२।। स्वर्ण का कण पार्थ। स्वर्ण को ही जड़ावत। वैसे अपने को अन्य पदार्थ। न मानो तुम ।। ८३।। सूर्य का सूर्य से ही निसृत। किन्तु सूर्य से ही संबंधित। उस रश्मि सम निश्चित। लेना बोध ।। ८४।। परमाणु भूतल पर। हिम कण हिमाचल पर। निहारो मेरे अधिष्ठान पर। अहं को वैसे ।। ८५।। तरंग लघु अर्जुन। किन्तु सिंधु

Funding by IKS-MoE

होती ॥ ५९ ॥ हे अर्जुन! यह ब्रह्मदेव समझकर स्तुति करना, या नीच समझकर निंदा करना, जलना या बुझना जैसी राख नहीं जानती ॥ ३६० ॥ वैसी निंदा एवं स्तुती ही किसी रूप में प्रकट नहीं होती, जैसी सूर्य के घर में अंधेरा या बत्ती नहीं होती ॥ ६१ ॥

जो मान एवं अपमान में सम है तथा मित्र एवं शत्रुओं के प्रति समदृष्टि है, कर्म का आरंभ करना यदि जिसका स्वभाव ऐसा अहंकार रहित पुरुष गुणातीत कहा जाता है ॥ २५ ॥

ईश्वरबुद्धि से पूजन करो अथवा चोर समझकर उसको दंड करो, या बैल एवं हाथियों से परिवेष्टित राजा बनाओ ॥ ६२ ॥ मित्र निकट आवे, या शत्रु सम्मुख उपस्थित होवे, जैसा सूर्य दिन एवं रात जानता नहीं ॥ ६३ ॥ छः ऋतुओं में आकाश जैसा निर्लिप्त रहता है, तद्वत गुणातीत का मन भेदभाव नहीं जानता ॥ ६४ ॥ एक बात और ध्यान में रखना, कार्य करते हुए वह दिखता है, किंतु किसी भी व्यापार में वह आसक्त नहीं दिखता ॥ ६५ ॥ कर्म का आरंभ बंद होता है, प्रवृत्ति शांत होती है, ज्ञानरूपी अग्नि में कर्म के फल भस्म होते हैं ॥ ६६ ॥ इहलोक एवं परलोक में सुख प्राप्ति की इच्छा मन में उत्पन्न नहीं होती, प्रारब्ध से जो प्राप्त होगा उसका वह सेवन करता है ॥ ६७ ॥ हे पार्थ! न वह फूलता है, न वह तड़पता है, जैसा पत्थर रहता है वैसा वह त्याग एवं स्वीकार का त्याग करता है ॥ ६८ ॥ अब कितना विस्तार करूं? इससे ही गुणातीत का आचार जानना, ऐसा जिसका आचरण होगा वह गुणातीत होता है ॥ ६९ ॥ हे अर्जुन! जिस उपाय से गुणों का उल्लंघन होता है, वह निरूपण अब सुनो, ऐसा श्रीकृष्णनाथ कहते हैं ॥ ३७० ॥

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योग के द्वारा मेरा नित्य भजन करते हैं, वह तीनों गुणों का उल्लंघन करके सच्चिदानंदघन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिए योग्य होता है ॥ २६ ॥

व्यभिचार रहित चित्त से, मेरे बिना अन्य कहीं भी मन को आसक्त नहीं होने देते, भजनरूप मार्ग से मेरी उपासना करते हैं वही गुणों को अपने वश में रख सकता है ॥ ७१ ॥ मैं कौन हूं, मेरी भक्ति कैसी होती है, अव्यभिचार भक्ति का क्या स्वरूप है, हे किरीटी! इसका विवेचन करना योग्य होगा ॥ ७२ ॥ सावधान मन से सुनो, रत्न में विद्यमान तेज जैसा रत्न ही होता है, वैसा मैं विश्व में हूं ॥ ७३ ॥ द्रवता हीं जल होती है, अवकाश ही आकाश होता है, मधुरता ही शक्कर होती है ॥ ७४ ॥ अग्नि ही ज्वाला होती है, दल का ही नाम कमल है, वृक्ष ही फल एवं शाखा आदि होता है ॥ ७५ ॥ घनीभूत बर्फ ही हिमालय है, दूध जमने पर हे पार्थ उसको दही कहते हैं ॥ ७६ ॥ वैसें जो विश्व के नाम से मैं ही हूं ऐसा समझता है, चंद्रबिंब को छिलने की आवश्यकता नहीं होती चंद्र पूर्ण ही होता है ॥ ७७ ॥ घी का गाढापन वह घी होता है, सुवर्ण के कंकण को पिघलाने पर वह सुवर्ण ही कहलाता है ॥ ७८ ॥ तंतुओं को पृथक न करते हुए वस्त्र में तंतु स्पष्ट दिखते हैं, घट न घुलनेपर भी वह जैसी मिट्टी ही होती है ॥ ७९ ॥ अतः विश्व का विश्वपन नष्ट होने पर मेरी प्राप्ति होगी ऐसा नहीं है, हे पार्थ! सबसे सहित मैं हूं ॥ ३८० ॥ ऐसा मुझको जानना अव्यभिचारी भक्ति कहलाती है, यहां भेद देखना ही व्यभिचार है ॥ ८१ ॥ इसीकारण भेद को छोड़कर अभेद चित्त से मुझको अपने सहित हे पार्थ! एक समझना ॥ ८२ ॥ हे पार्थ! सुवर्ण का कण जैसे सुवर्णपर चिपकाया जाता है, वैसे अपने को तुम अन्य नहीं समझना ॥ ८३ ॥ सूर्य किरण सूर्य से उत्पन्न होते हैं, सूर्य से ही उनका संबंध रहता है, उस सूर्यकिरणों के समान ज्ञान समझना ॥ ८४ ॥ भूमिपर मिट्टी के कण, हिमालय पर बर्फ के कण, वैसे मेरे अधिष्ठान पर तुम अपने को देखो ॥ ८५ ॥ हे अर्जुन! तरंग छोटा होता है, किंतु सागर से वह पृथक नहीं होता, वैसे ईश्वर से मैं अन्य नहीं हूं, यह निश्चित

से नहीं भिन्न। वैसे ईश्वर से मैं नहीं अन्य। सुनिश्चित ।।८६।। अरे ऐसे समरस से। दृष्टि विकसित होवे जैसे। तब ही उसको भक्ति ऐसे। कहत हम ।।८७।। और ज्ञान का विशालपन। इसी दृष्टि को नाम अर्जुन। योग का भी संपूर्ण। सर्वस्व यह ।।८८।। सिंधुऔर जलधर। मध्य गिरत अखंड धार। वैसी वृत्ति सुवीर। प्रवृत्त जब ।।८९।। अथवा कूप का आकाश। मुख पर न कोई संधि विशेष। वैसे वह परमपुरुष। से एक रूप जो ।।३९०।। प्रतिबिंब से बिंब पर्यंत। प्रभा जैसी समान पार्थ। सोऽहंवृत्ति अखंडित। वैसे होत ।।९१।। इसविध आगे परस्पर। सोऽहं वृत्ति का अवतार ।। तब वह भी नष्ट साचार। अपने आप ।।९२।। जैसा सैंधव का कण पार्थ। सिंधु बीच घुल जात। घुलत पूर्ण तब होत। घुलना बंद ।।९३।। नातर जलाकर तृण। वह्नि भी शमत स्वयं पूर्ण। वैसे भेद नष्ट करके ज्ञान। ज्ञान भी न शेष ।।९४।। मेरा परभाव जाये। भक्त का हीनत्व नष्ट होवे। अनादि जो ऐक्य रहे। प्रकट वही ।।९५।। तब गुणों को वह पार्थ। जीतत यह भी न बात। ऐक्य को भी आलिंगन समाप्त। निश्चित जहाँ ।।९६।। किंबहुना ऐसी दशा। वह ही ब्रह्मत्व सुदशा। पार्थ वह यह जो ऐसा। भजत मुझको ।।९७।। और इन लक्षण से युक्त। इस जग में जो मेरा भक्त। ब्रह्मता पतिव्रता होकर पार्थ। सेवत उसको ।।९७।। जैसे गंगा का ओघ। बहत जब संथ सवेग। सिंधुपद ही उसको जोग। अन्य नाही ।।९९।। वैसे ज्ञान दृष्टि से सार्थ। जो मेरी सेवा करत। ब्रह्मता के मुकुट में होत। चूड़ारत्न वह ।।४००।। इस ब्रह्मत्व को ही पार्था। सायुज्य ऐसी व्यवस्था। यही पुरुषार्थ चौथा। सुनिश्चित ।।१।। किंतु मेरा आराधन। ब्रह्मत्व का जानो सोपान। ऐसे में मैं और साधन भिन्न। मानोगे यदि ।।२।। यह कदाचित ऐसे। चित्त को तेरे भाये वैसे। किन्तु ब्रह्म न मुझमें मुझसे। भिन्न कभी ।।३।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२७।।

ब्रह्म इस नाम से पार्थ। अभिप्राय जो अभिप्रेत। मैं ही इन्हीं शब्दों से समस्त। प्रसिद्ध जानो ।।४।। देखो मंडल एवं चंद्रमा। दो नहीं सुवर्मा। वैसा मैं और ब्रह्म। में भेद नाही ।।५।। अरे नित्य जो निष्कंप। अनावृत धर्मरूप। सुख जो अनाप। अद्वितीय ।।६।। विवेक अपना काम। करके ही पावे जो धाम। वह निष्कर्ष का निःसीम। मैं ही पार्थ ।।७।। सुनो इस विध नृपनाथ। अनन्यों का प्रिय लक्ष्मीकान्त। कहत यह सांप्रत। पार्थ वीर को ।।८।। यहाँ संजय को धृतराष्ट्र बोलत। किसने पूछी तुझको यह बात?। क्यों पूछे बिन व्यर्थ। कहत जात ।।९।। अब करो मेरी चिन्ता दूर। कहो पुत्रविजय का समाचार। छोड़ो यह गोष्ठी विचार। निरर्थक ।।४१०।।

समझना ।।८६।। ऐसी समरसता से दृष्टि जब विकसित होती है। तब उसको भक्ति ऐसा हम कहते हैं ।।८७।। हे अर्जुन! ज्ञान की विशालता यह इसी दृष्टि का मर्म है, योगमार्ग का संपूर्ण सार भी यही है ।।८८।। सागर एवं मेघों में अखण्ड जलधारा होती है सागर एवं मेघों में अखंड जलधारा होती है, हे अर्जुन! वैसी वृत्ति अखंड ब्रह्ममय होना चाहिये ।।८९।। कुएं के मुख पास जो आकाश रहता है उसका महाकाश से कोई जोड़ नहीं है, वह एक ही होता है वैसा गुणातीत पुरुष परब्रह्म से एकरूप होता है ।।३९०।। प्रतिबिंब से बिंब पर्यंत तेज एकजैसा होता है, हे पार्थ! वैसी सोऽहंवृत्ति अखंडित वैसी होती है ।।९१।। जी एवं ब्रह्म इन दोनों में जब सोऽहं वृत्ति प्रकट होती है, तब वह भाव भी अपने आप नष्ट होता है ।।९२।। हे पार्थ! जैसा सैंधा नमक का कण सागर में सहज घुल जाता है, जब पूर्ण घुल जाता है तब उसका घुलना बंद होता है ।।९३।। घास को जलाकर अग्नि भी बुझ जाती है, वैसे भेदभाव नष्ट करके ज्ञान की शेष नहीं रहता ।।९४।। मेरा आप पर भाव जाये, भक्त के मन का भेद नष्ट होता है तब अनादि ऐक्य रहता है वही प्रकट होता है ।।९५।। हे पार्थ! तब गुणों को वही जीतता है यह बात भी नहीं रहती, ऐक्य का आलिंगन भी यहां निश्चित समाप्त होता है ।।९६।। किंबहुना ऐसी जो दशा है उसीको ब्रह्मत्व कहते हैं, जो अव्यभिचारी भाव से भक्ति करता है उसको ऐसी दशा प्राप्त होती है ।।९७।। और इस लक्षणों से युक्त इस जग में जो मेरा भक्त है, ब्रह्मता पतिव्रता बनकर उसकी सेवा करती है ।।९८।। जैसा गंगाजल का प्रवाह जब वेग से संथ बहता है, तब उसके लिए सागर ही योग्य रहता है, अन्य नहीं ।।९९।। वैसे हे पार्थ! ज्ञानवृष्टि से जो मेरी सेवा करता है, वह ब्रह्मता के मुकुट में चूड़ारत्न के समान शोभा पाता है ।।४००।। इस ब्रह्मत्व को ही हे पार्थ! सायुष्य मुक्ति कहा जाता है, यह निश्चित रूप से चौथा पुरुषार्थ है ।।१।। किंतु मेरी आराधना यही ब्रह्मत्व की सीढ़ी है, इस स्थिति में मैं एवं मेरे प्राप्ति की साधना में तुम भिन्नता मानोगे ।।२।। ऐसी कल्पना मन में नहीं आने देना, मेरे से ब्रह्म भिन्न नहीं है ।।३।।

हे अर्जुन! उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्यधर्म का और अखण्ड एकरस आनंद का मैं ही आश्रय हूं ।।२७।।

हे पार्थ! ब्रह्मनाम से जो अभिप्राय अभिप्रेत है, वह मैं ही हूं यह इन शब्दों से प्रसिद्ध है ।।४।। चंद्रमंडल एवं चंद्रमा, हे सुवर्मा दो नहीं होते, वैसा मैं एवं ब्रह्मा में भेद नहीं है ।।५।। जो ब्रह्म नित्य, अचल, प्रकट, धर्मरूप, अमर्याद सुख एवं अद्वितीय है ।।६।। अज्ञान नष्ट करके अपना कार्य करके विवेक जो स्थान प्राप्त करता है वह सिद्धांतों का अंतिम स्थान मैं ही हूं ।।७।। हे नृपनाथ सुनो! अनन्य भक्तों का प्रिय लक्ष्मीकांत अभी वीर पार्थ को यह बता रहे हैं ।।८।। संजय को धृतराष्ट्र कहता है, किसने यह बातें तुझे पूछी हैं? क्यों बिना पूछे कहता जा रहा है ।।९।। अब मेरी चिंता दूर करो, पुत्रविजय का समाचार कहो, यह निरर्थक गोष्टी छोड़ देना ।।४१०।। संजय मन में विस्मित हो गया, क्रोध

संजय मानस में विस्मित। क्रोधयुक्त अरे रे कहत। कैसा देखो देव के साथ। बैर इसका ॥११॥ किन्तु कृपाल वह होवे संतुष्ट। देवें इसको विवेक का घूंट। करे मोह रूपी इसका नष्ट। महारोग ॥१२॥ संजय इसविध सोचत। कृष्णार्जुन संवाद स्मरत। महापूर हर्ष का लोटत। चित्त में इसके ॥१३॥ अतः अब यह मूर्त। उत्साह का अवतरण साक्षात। जो निरूपण कृष्ण करत। कहेगा अब ॥१४॥ वह अक्षर गर्भित अभिप्राय। ले जाऊँ हित तक वही भाव। सुनो कहे ज्ञानदेव। श्री निवृत्ति का ॥१५॥

इति श्री ज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे गुणातीतयोगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः। (श्लोक २७ ओवियाँ ४१५)

Funding by IKS-MoE

से अरेरे कहने लगा, देव के साथ इस का कैसा शत्रुत्व है? ॥११॥ किंतु वह कृपालु भगवान संतुष्ट होवे, इसको विवेक का घूंट दे देवे, इसका मोहरूपी महारोग नष्ट करें॥१२॥ संजय इस प्रकार से विचार कर रहा था, श्रीकृष्ण एवं अर्जुन का संवाद का स्मरण करने लगा, उसके मन में आनंद का महापूर आया॥१३॥ अतः वह उत्साह से भगवान श्रीकृष्ण क्या निरूपण कर रहे हैं वह बतावेगा॥१४॥ वह अक्षरों का गूढ़ अभिप्राय आपके हृदय तक मैं पहुंचाऊंगा वह आप सुनना, ऐसे निवृत्तिनाथ के शिष्य श्री ज्ञानदेव कहते हैं॥१५॥

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

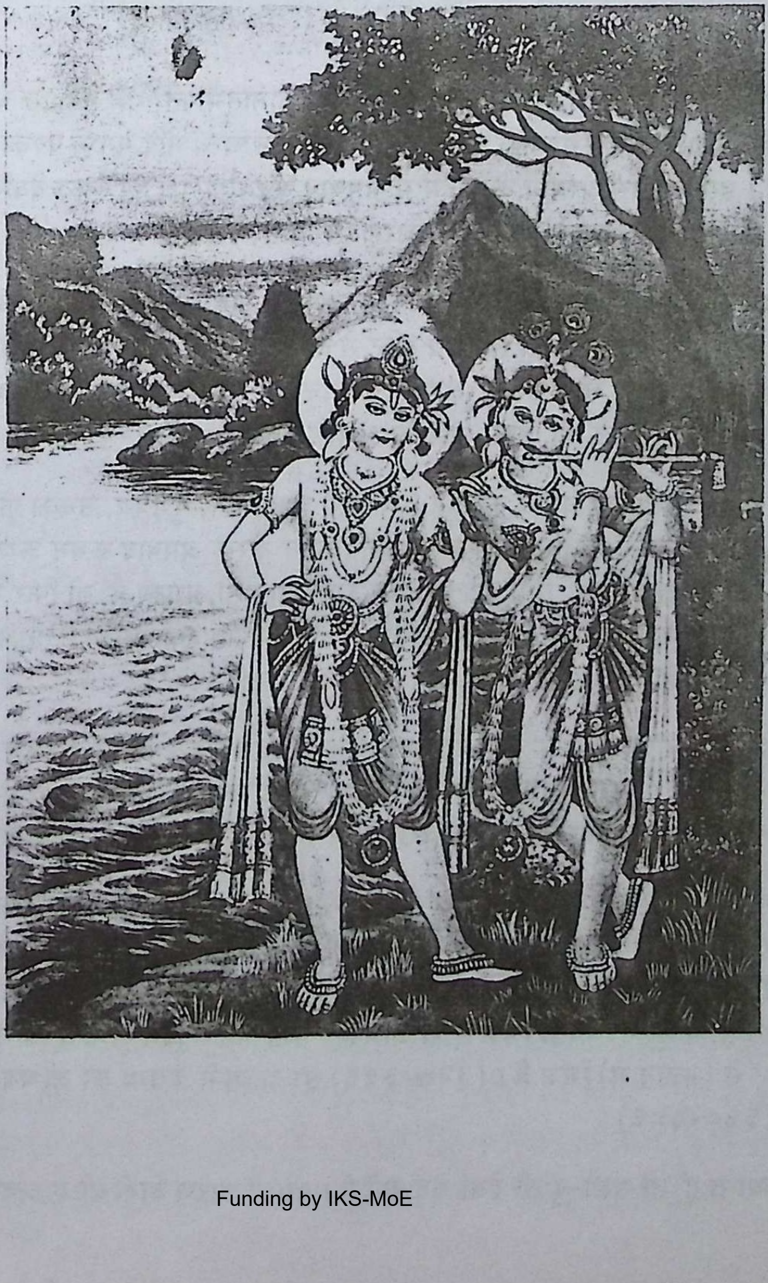

अध्याय-पंद्रहवाँ

सारांश

व्यर्थ सिद्ध करने संसार। स्वरूप में अहं को स्थिर-। करने को अध्याय हितकर।
पंदरहवां यह ।।अ.१५-४३।।

यह अध्याय ज्ञानेशजी की दृष्टि से ज्ञानकांड का अर्थात गीता का अंतिम और महत्वपूर्ण अध्याय है। जीव को संसार का मिथ्यत्व दिखाकर, उसको आत्म प्राप्ति कराकर, जॅन्म-मरण की यातायात समाप्त करना, यह उस अध्याय का विषय है। प्रथमतः श्री ज्ञानेशजी ने श्री गुरुपद की मानस पूजा बड़ी उत्कटता से की है। गुरुभक्ति से पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति होती है। निर्विषय ब्रह्म वाचा बद्ध होता है। फलतः श्रोताओं को ज्ञान का महानंद प्राप्त होता है। (१-२८)

चौदह और पंद्रह अध्यात्मका संबंध वर्णन करते हुए 'ज्ञानात्मुक्ति' यह सिद्धांत चौदह अध्याय में कथन किया। यह ज्ञान बिना वैराग्य स्थिर नहीं रहता। संसार का अनित्यत्व यदि मन में पक्का स्थापित हो, तो वैराग्य प्रबल रहता है। इसलिये इस अध्याय के प्रारंभ में भगवान अश्वत्थ वृक्ष का रूपक देकर संसार का वर्णन करते हैं। इस वृक्ष को अश्वत्थ कहने कहने का कारण भगवान बताते हैं। (२९-७१)

यह वृक्ष कल तक रहनेवाला नहीं है, क्षणभंगुर (क्षणिक) है, इसलिये इस वृक्ष को 'अश्वत्थ' कहते हैं। इस वृक्ष का नाश प्रति क्षण होता है, परंतु सामान्य दृष्टि से वह नाश नहीं दिखता। अज्ञानी लोगों को यह वृक्ष सदा हरा-भरा दिखता है। ज्ञानी लोग इसका क्षणिकत्व जानते हैं। इस वृक्ष का मूल अज्ञान है। इसका दिखना आभास है। ऐसे जानने वाले भी ज्ञानी मुझे प्रिय और पूज्य हैं। (७२-१४३)

भगवान् भववृक्ष का विकास कथन करते हैं। चौरासी लक्ष योनि, गुणत्रय, उनका फल, विहित कर्म, निषिद्ध कर्म इन सबों का सर्वांगपूर्ण विवेचन करके अध्यारोपकथन करके अपवाद कथन करते हैं। यह बलवान वृक्ष उखाड़ना अशाक्य प्रतीत होता है, किंतु इस वृक्ष की जड़ अज्ञान तो असत्य है, तो फिर यह प्रचंड विस्तार सत्य क्यों कर होगा? यह वृक्ष असत्य होते हुये भी अनादि है। कारण यह वृक्ष असत्य है तो आरंभ कहां से हुआ? इस दृष्टि से यह अनादि है।

जब तक इस विचार का प्रादुर्भाव नहीं होता तब तक इस वृक्ष का अंत नहीं इसलिये यह अनंत है। इस वृक्ष को उखाड़ना सुलभ है। जिस अज्ञान से वृक्ष की उत्पत्ति हुई उस अज्ञान का नाश यही एकमात्र साधन है। अर्थात यथार्थ ज्ञान। ज्ञान साधना में दृढ़ वैराग्य की परमावश्यकता है। (१४४-२६६)

अनादि प्रपंत्र का निरास करके अपना स्वरूप अद्वैतरूप से देखना है। विरक्त, मुमुक्षु, दर्शनार्थी उस स्वरूप का दर्शन करते हैं। इन पुरुषों को जिस ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, वह ब्रह्मपद अनिर्देश्य और शब्दातीत है। मेरे स्वरूप से जो एकरूप हुये हैं, उनको पुनर्जन्म नहीं है। (२६७-३२०) अर्जुन प्रश्न करता है- जो पुरुष देव से एकरूप होते हैं, वे मूलतः देव से भिन्न हैं या अभिन्न? समाधान- सूक्ष्म दृष्टि से (ज्ञान से) वे मेरे से अभिन्न हैं, परंतु देह दृष्टि से (अज्ञान से) भिन्न हैं। (३२७-३३६) सच्चा ज्ञानी वैराग्य का आश्रय लेकर विषयों का त्याग करता है। (३६८-३८६)

सर्वत्र मैं व्याप्त हूं, तो सुखी-दुःखी ऐसा भेद क्यों है। इसका कारण ज्ञानी को एकत्व से सुख और अज्ञानी को

Funding by IKS-MoE

द्वैत से दुःख होता है। एकत्व का अनुभव आने के लिये वैराग्य, संतसमागम, और संतोंपदिष्ट मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। परिणामतः अंतःकरण की शुद्धि होकर 'मैं वासुदेव हूं' ऐसी अनुभूति होती है। अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान प्रथम उपाधि का वर्णन करते हैं। श्रीकृष्ण चंद्र शाखा न्याय से उपाधि विचार कथन करके अर्जुन को निरुपाधिक स्वरूप में ले जाने वाले हैं। (४३१-४७०) इस जगत में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं। क्षर ज्ञानदृष्टि हीन, देहासक्त और उपाधितंत्र हैं, किंतु अक्षर पुरुष सर्वांग परिपूर्ण हैं। दोनों पुरुषों का वर्णन विस्तृत है। (४७०-५२५)

क्षराक्षर से भिन्न, श्रेष्ठ, उपाधिरहित और एकाकी ऐसा और एक उत्तम पुरुष है। लौकिक में इसको परमात्मा कहते हैं। वह विश्व को धारण करता है। उसके सदत्व से जग का अस्तित्व है। उसके प्रकाश से जग भासमान होता है। वह सदा सर्वत्र है। (५२५-५७७)

'वासुदेवः सर्वमिति' ऐसा अनुभव आने के बाद मेरा भजन करने की पात्रता आती है। सब वेदों का सार गुह्यातिगुह्य ज्ञान मैंने तुझको कथन किया। गीता ग्रंथ पांडित्व दर्शनार्थ नहीं है यह अनुभूति लेने का ग्रंथ है। (५७८-५८७)। इसप्रकार ज्ञानेश्वरजी समारोप करते हैं। व्यासकृपा से संजय को श्रीकृष्ण बोधामृत प्राप्त हुआ। धृतराष्ट्र अनधिकारी है। इस समय इस बोधामृत का उसको उपयोग नहीं हुआ। अंतकाल में उसका चित्त स्थिर हुआ। श्रीगुरुकृपा से मैंने आपको यह संवाद सुनाया। आप संत न्यूनता की पूर्णता करें, मैं बालक दुलार से बोलता हूं। (५८८-५९९) इसप्रकार संतचरणों में अपना निवेदन करके श्री ज्ञानदेवजी इस अध्याय का समारोप करते हैं।

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - पन्द्रहवाँ

अब हृदय अपना निर्मल। प्रक्षालकर सुविमल। उपर रखूं चरणकमल। श्री गुरु के ॥१॥ ऐक्यभाव की अंजुल में। सर्वेंद्रिय कलिका उसमें। भरकर पुष्पांजुली से तुम्हें। अर्घ्य दूं मैं ॥२॥ अनन्योदक से चोखट। वासना जो सन्निष्ठ। वहीं चंदन लगाऊं सुघट। अनामिकासे ॥३॥ प्रेम के भांगार-। के बनाकर नुपुर। पहनाऊ सुकुमार। चरणों में उनके ॥४॥ अतिदृढ़ प्रीतिछंद। अव्यभिचारी विशुद्ध। डालूं उसकी बिछिया शुभद। पदांगुलियों में ॥५॥ आनंदमोद बहुल। सात्त्विक का मुकुल। विकसित वह अष्टदल। चढ़ाऊँ ऊपर ॥६॥ वहां अहं का धूप जलाऊँ। नाहं तेज से आरती उतारुं। सामरस्य से आलिंगन दूं। निरन्तर ॥७॥ मेरा प्राण और शरीर। दो खड़ाऊ चढ़ाऊ श्रीचरणपर। करूँ भोग मोक्ष निछावर। उन पर मैं ॥८॥ इस श्री गुरुचरण सेवा से। ऐसी योग्यता पावे सुदैव से। जो सकलार्थ मेल का होत सहज से। स्वामी वह ॥९॥ ब्रह्म के विश्राम पर्यंत। ऐसा उन्मेष उजियारा प्राप्त। जो इस वाचा को करत। सुधासिंधु ॥१०॥ कोटि पूर्णचन्द्र निछावर। उसके वक्तृत्व पर। ऐसी मधुरता अपार। अक्षरों को ॥११॥ प्राची को शक्ति जब सूर्य की। देवें जग को राणीव (राज्य) प्रकाश की। वैसे वाणी से श्रोताओं को ज्ञानकी। दीपावली करत ॥१२॥ लगे नादब्रह्म भी बौना। कैवल्य भी सोहे उतना। ऐसा होते बोल सुहाना। जिस दैव से ॥१३॥ श्रवण सुख के मण्डप में। भोगत विश्व वसंत उसमें।

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - पन्द्रहवाँ

अब मैं अपना शुद्ध अंतःकरण उत्तम रीति से धोकर उसके ऊपर श्रीगुरुके चरण कमल रखूंगा।।१।। ऐक्य भाव की अंजुली में संपूर्ण इंद्रियारूपी कलिकाओं को लेकर पुष्पांजलि से श्रीगुरु चरणों पर अर्ध्य समर्पित करूंगा।।२।। एक निष्ठारूप अनन्य भाव के स्वच्छ जल से स्नान कराकर श्री गुरुचरणों में जो इच्छा है वही चंदन बनाकर अनामिका उंगली से श्री गुरुचरणों में चंदन लगावूंगा।।३।। प्रेम रूपी शुद्ध सुवर्ण के नुपूर-पायल बनाकर श्रीगुरु के चरणों में पहनाऊंगा।।४।। अनन्य भाव से शुद्ध दृढ़ प्रेम से विशुद्ध एवं शुभद बिछियां चरणों के अंगुलियों में पहनाऊंगा।।५।। आनंद रूपी सुवास से परिपूर्ण, अष्ट सात्विक भाव से विकसित, कमल पुष्प सद्गुरु के चरणों पर समर्पित करूंगा।।६।। वहां अहंकार का धूप जलाऊंगा ''न अहं'' यह निराभिभान वृत्ति रूपी तेज से श्री गुरु की आरती उतारुंगा, तदाकार वृत्ति से श्री सद्गुरु चरणों में नित्य आलिंगन दूंगा।।७।। मेरा प्राण एवं शरीर स्थूल शरीर एवं लिंगदेह रूपी है। दो पादुकाएं (खड़ाऊ) गुरुचरणों में पहनाऊंगा, ऐहिक एवं पारमिक भोग एवं मोक्ष को गुरुचरणों पर निछावर करूंगा।।८।। इस गुरुचरण सेवा से, सौभाग्य से ऐसी योग्यता प्राप्त होती है, जिससे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का स्वामी बनते हैं।।९।। ऐसा ज्ञानप्रकाश प्राप्त होगा जो ब्रह्म की प्राप्ति कराके ही विश्राम करेगा, वही इस वाणी को अमृत सागर बनाता है।।१०।। कोटी पूर्ण चंद्र उस वाणी से निछावर होंगे, अक्षरों को अपार मधुरता प्राप्त होगी।।११।। पूर्व दिशाको जब सूर्यशक्ति प्राप्त होती है तब वह विश्व को प्रकाश का राज्य देती है, वैसे वाणी से श्रोताओं को ज्ञान की दीपावली करती है।।१२।। जिस भाग्य से ऐसे व्याख्यान की स्फुरणा होती है उसे नादब्रह्म भी कभी प्रतीत होता है, मोक्ष की शोभा नहीं देता।।१३।। श्रवण सुख के मंडप में

वैसी विकसित सौंदर्य में। वाचावल्ली ॥१४॥ ठाँव न पाकर जिसका किंचित। वाचा निवर्तत मनसहित। वह देव शब्द का विषय होत। चमत्कार अति ॥१५॥ ज्ञान भी न जो जानत। ध्यान को भी अप्राप्त। होवे वह अगोचर स्पष्ट। शब्द रूप में!॥१६॥ ऐसा अपूर्व सोभाग। पावे वाचा का अंग। गुरुपाद पद्म पराग। लाहे जब॥१७॥ और क्या कहूँ बहुत। आज वह अन्य को प्राप्त। नाही एक बिन मेरे यथार्थ। कहे ज्ञानदेव॥१८॥ मैं नन्हा सा बालक। मेरे प्रभु का इकलौता एक। इस कारण अकेला मैं एक। पात्र कृपा को॥१९॥ देख अशेष जलसम्पत्ति। लुटावे मेघ चातक पर करे वृष्टि। मेरे लिये किया उसी भांति। गोसावी ने मेरे॥२०॥ अतः रिक्त मेरा मुख। करने लगे जब बक-बक। सो गीताशास्त्र मधुर देख। पाया उसने॥२१॥ होवे अनुकूल अदृष्ट। तब बालू भी रत्न बनत। आयुष्य दीर्घ तब मारक भी होत। हितकारी॥२२॥ डालें कंकड़ अधुन में। बदले वे अमृत मय तण्डुल में। जो चाहे क्षुधाशमन मन में। जगन्नायक!॥२३॥ श्री गुरू उसी प्रकार। करत जब अंगिकार। तब ठाके होकर संसार। मोक्षमय पूर्ण॥२४॥ देखो जी नारायण। उन पांडवों का विगुण। करत विश्व वंद्य पुराण। स्वकृपा से॥२४॥ श्री निवृतिराजने वैसे। अज्ञानपन को मेरे जैसे। पहुंचाया पात्रता को तैसे। ज्ञान की साक्षात॥२६॥ किन्तु रहने दो सांप्रत। कहते प्रेमभाव उमड़त। वैसे गुणगौरव वर्णन प्रीत्यर्थ। मुझमें उन्मेष कहां?॥२७॥ अब उनके ही प्रसाद से। संतचरण सेवा होवे मुझसे। अभिप्राय कथन से। गीतार्थ के॥२८॥ तब वही प्रस्तुत में। चौदहवें अध्याय के अन्त में। निर्णय कैवल्यपति ने। किया ऐसा॥२९॥ यह ज्ञान जिसके हाथ। वही मुक्ति को पात्र पार्थ। जैसे पतसुख से पावत। स्वर्ग संपत्ति॥३०॥ अथवा शत एक जन्म। ब्राह्मण कुल में करे ब्रह्मकर्म। होवे वही ब्रह्म परम। अन्य नाही॥३१॥ था सूर्य का प्रकाश। लाहे जैसा चाक्षुस। वैसे ज्ञान से ही प्राप्त सौरस। मोक्ष का सार्थ॥३२॥ तब ऐसे ज्ञान के लिये। कौन अंग में योग्यता पावे। यदि जग में देखिये। तो एकहि ऐसा॥३३॥ जो पाताल का भी निधान। दिखावे वह अंजन। किन्तु चाहिये लोचन। पद जात के॥३४॥ वैसे मोक्ष देगा ज्ञान। इसमें न कोई शंका अन्य। किन्तु स्थिर चाहिये मन। शुद्ध निर्मल॥३५॥ तब विरक्ति बिन कोई। ज्ञान को स्थिरता नाही। यह सोचकर ठाँई-ठाँई। निरूपित देव ने॥३६॥ तब विरक्ति की परी कौन। जो मन का आकर करे वरण। यह भी सर्वज्ञ श्रीकृष्ण। जानत पूर्ण॥३७॥ जो विष से पाकिरसाद्ध होवे। और भोजक के समझ में आवे। तब थाली छोड़कर जावे। जिस प्रकार॥३८॥ वैसा यह संसार समस्त। जाना जब अनित्य। तब रोकने पर भी दौड़ता। वैराग्य उसका॥३९॥ तब उसका अनित्यत्व कैसे। वही वृक्षाकार मिषसे। निरूपित। विश्वेश उसे पंचदश में कहा॥४०॥ सहज यदि उखड़त। पेड़ तब उलटत। वह शीघ्र ही सूखत। वैसा नहीं यह॥४१॥ इसी एक

Funding by IKS-MoE

विश्व वसंत ऋतु का आनंद लेता है, वैसी वाणीरूपी लता अपने सौंदर्य से विकसित होगी।।१४।। किंचित् भी स्थान न पाकर जहां से वाणी मन के साथ लौटकर आती है वह देव उस भाग्यशाली पुरुष के शब्दों का विषय होता है, यही अत्यंत चमत्कार है।।१५।। ध्यान को जो प्राप्त नहीं होता, ज्ञान भी नहीं जानता, ऐसा जो निर्विषय ब्रह्म वह उसको शब्दरूप में स्पष्ट होता है।।१६।। श्री गुरुचरण रूपी कमलों का पराग जब प्राप्त होता है तब इतना अपूर्व सौभाग्य वाणी को प्राप्त होता है।।१७।। और बहुत क्या कहूं? आज वह सौभाग्य मेरे बिना अन्य किसी को प्राप्त नहीं है, ऐसा ज्ञानदेव कहते हैं।।१८।। मैं नन्हा, मेरे गुरु का इकलौता बालक हूं, इसीलिये मैं अकेला इस कृपा का पात्र हुआ हूं।।१९।। चातक पक्षी के लिये मेघ अपनी सब जल संपत्ति लुटाता है, मेरे स्वामी ने मेरे लिये उसी भांति ज्ञान लुटाया है।।२०।। अतः मेरा मुख रिक्त है, जब बकबक करने लगा तब भगवद्गीताशास्त्र जैसा मधुर अमृत मैंने पाया।।२१।। जब देव अनुकूल होता है, रेती भी रत्न बनती है, जब आयुष्य दीर्घ होता है तब मारनेवाला भी हित करनेवाला बनता है।।२२।। यदि खौलते पानी में कंकड़ डाल दिये जायें वह अमृत सदृश चावल में बदल जाते हैं, जिससे जगन्नायक भूख शांत करने के लिये मनपसंद देते हैं।।२३।। उसी प्रकार से जब श्रीगुरु अंगिकार करते हैं तब शिष्य के लिये संपूर्ण संसार पूर्ण मोक्षमय होता है।।२४।। पांडवों में अनेक प्रकार का वैगुण्य होते हुये भी अपनी कृपा से उनके पुराण श्री नारायण ने विश्व में वंदनीय बनाये।।२५।। श्री निवृत्तिनाथ ने तद्वत मेरा अज्ञान ज्ञान के योग्य साक्षात पात्र बनाया।।२६।। किंतु इसको अब रहने दो, कहने से प्रेम भाव उमड़ता है, वैसे भी श्रीगुरुदेव के गुणों का गौरव वर्णन करने का मुझे ज्ञान कहां है?।।२७।। अब उनके ही प्रसाद से संतों के चरणों की सेवा मुझसे होवे, जिससे मैं गीतार्थ का अभिप्राय बता सकूं।।२८।। वही अभिप्राय मोक्ष के स्वामी श्रीकृष्ण परमात्मा ने चौदह अध्याय के अंत में ऐसा सिद्धान्त कहा।।२९।। यह ज्ञान जिसको प्राप्त होता है वही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बनता है, हे पार्थ! जैसे सौ यज्ञ करने पर स्वर्ग संपत्ति प्राप्त होती है।।३०।। अथवा लगातार सौ बार ब्राह्मण जन्म पाने पर वह ब्रह्मकर्म करता रहता है, वही ब्रह्मा होता है अन्य नहीं।।३१।। जैसे जिसको नेत्र से दिखता है वही सूर्यप्रकाश का फायदा ले सकता है, तद्वत ज्ञान से मोक्षकी योग्यता प्राप्त होती है।।३२।। तब ऐसे ज्ञान के लिए किस में योग्यता है इसका विचार करने से विश्व में केवल एक ही दिखाई दिया।।३३।। जमीन में गड़ा हुआ धन दिखाने के लिये आवश्यक अंजन मिल सकता है किंतु उसके लिये पैर से जन्मे हुये बालक के नेत्र चाहिये।।३४।। वैसे मोक्ष ज्ञान देगा, इसमें कोई अन्य शंका नहीं है, किंतु उसके लिये मन स्थिर, शुद्ध एवं निर्मल चाहिये।।३५।। तब वैराग्य के बिना ज्ञान को कोई स्थिरता नहीं होती, यह विचार करके भगवान ने पुनः पुनः उसका निरूपण किया है।।३६।। तब वैराग्य का कौनसा प्रकार है जो स्वयं मुमुक्षुके मन का वरण करे! यह भी नित्य भगवान श्रीकृष्ण ही जानते हैं।।३७।। विषयुक्त अन्न देखकर खानेवाला जिस प्रकार से थाली छोड़कर चला जाता है।।३८।। वैसा यह समस्त संसार अनित्य है ऐसा समझ लेने

पर, रोकने पर भी उसकी विरागी वृत्ति जागृत होती है।।३९।। संसार कैसा अनित्य है यही बात वृक्ष के आकार के रूप में विश्व के ईश्वर भगवान श्रीकृष्ण पंधरहवे अध्याय में निरूपण कर रहे हैं।।४०।। सहज यदि पेड को उखाड़ा गया तब पेड़ उलट जाता है एवं शीघ्र ही वह सूखता है, वैसा यह वृक्ष नहीं है।।४१।। इसी एक प्रकार से रूपक की कुशलता से,

प्रकार से। रूपक की कुशलता से। नाशत फेरा जैसे। संसार का ।।४२।। व्यर्थ सिद्ध करके संसार। स्वरूप में अहं को स्थिर। करने को अध्याय हितकर। पंदरहवा यह।।४३।। अब यही अशेष। ग्रंथ गर्भसार विशेष। विस्तरत विश्वेश। सुनो जीव से।।४४।। तब महानंद समुद्र। जो पूर्ण पौर्णिमाचन्द्र। सो वह द्वारका नरेंद्र। कहत ऐसे।।४५।। अरे ओ पंडुकुमर!। पहुंचते स्वरूप के घर। करत जो प्रतिबंध सुवीर। विश्वाभास वह।।४६।। वोही यह जगडंबरु। नाही यहां संसारु। जानो यह महातरु। वर्धित पार्थ।।४७।। किंतु अन्य वृक्ष समान। तल में मूल न ऊपर शाखा अर्जुन। अतः इसका वर्णन। न संभव किसी को।।४८।। आगी या कुल्हाडी पार्थ। यदि जड़ में प्रवेशत। कितनी भी होवे विस्तृत। वृद्धि ऊपर।।४९।। छेदत जब मूलरहित। शाखा सहित उन्मूलत। किंतु नहीं यहां ऐसी बात। न सुलभ यह।।५०।। अर्जुन यह कौतुक। कहने में अति अलौकिक। जो वृद्धि अधोमुख। वृक्ष की इस।।५१।। जैसी भानु की ऊंचाई न ज्ञात। किंतु रश्मिजाल नीचे प्रसारित। संसार यह अति अद्भुत। वृक्ष वैसा।।५२।। और है नहीं जितना अशेष। समेटा इस एक में ही निःशेष। व्याप्त जैसा आकाश। कल्पना उदक ने।।५३।। या रवि अस्तमान में जैसे। डूबत अंधेर में रजनी वैसे। गगन भर में तैसे। परिपूरित यही।।५४।। इसको भक्षणीय फल नाही। सुगंध युक्त फूल नहीं कोई। जो कुछ वह यह वृक्ष ही। पंडुसुत।।५५।। यह ऊर्ध्वमूल पार्थ। किंतु नहीं उन्मूलित। इसलिये सर्वदा रहत। हराभरा यह।।५६।। और उर्ध्वमूल से। निरूपित स्पष्ट जैसे। परंतु अद्य में ही बहुत से। मूल इसको।।५७।। यह प्रसरित चौफेर। पीपल बड़ जिस प्रकार। जो मूल में भी विद्यमान सुवीर। शाखा इसकी।।५८।। वैसे भी देखो धनंजय। संसार तरु को यह। अधमेही शाखा सर्व। ऐसा नाही।।५९।। तब ऊर्ध्व में ही पार्थ। शाखा संभार बहुत। दिखत अनगिनत। विस्तरित।।६०।। हुआ गगन ही पल्लवमय। पवन वृक्षरूप कौन्तेय। नाना अवस्थात्रय। के रूप में प्रकट।।६१।। ऐसा यह एक। विश्वाकार विटंक (विस्तृत)। उत्पन्न जानो वृक्ष। ऊर्ध्वमूल।।६२।। अब ऊर्ध्वभाग कवन। यहां मूल का किं लक्षण। या अधोमुखपन। शाखा को कैसे?।।६३।। अथवा द्रुमको इस। अध में मूल विशेष। और कैसी इसकी खास। ऊर्ध्वशाखा।।६४।। और अश्वत्थ यह कैसी। प्रसिद्धि इसकी ऐसी। आत्मविद विलासी-। निर्णय करत।।६५।। यह अशेष सुंदर। तुझको प्रतीत होवे सुवीर। कैसे कहूं समझाकर। विशिष्ट विन्यास से।।६६।। तब सुनो हे सुभग। योग्य तुझको यह प्रसंग। कर्ण ही करो सर्वांग। श्रवणार्थ हियसे।।६७।। ऐसे प्रेमरस से सरोबर। कहत जग यादववीर। तब अवधान अर्जुनाकार। हुआ मूर्त!।।६८।। देव निरूपत सो अल्प न्यून। श्रोतापन इतना महान। जैसे आकाश को आलिंगन। हुआ दश दिशा में।।६९।। श्रीकृष्णोक्तिसागर। यह यह अगस्तिही दूसर। अतः लेना चाहे घूंट एक

Funding by IKS-MoE

संसार में आना जाना समाप्त होता है ।।४२।। संसार का मिथ्यात्व बताकर आत्मस्वरूप में अहंकार को स्थिर करने के लिये यह पंधरहवां अध्याय हितकारक है ।।४३।। अब ग्रंथ के सार रूप उत्तम सिद्धांत विश्व के स्वामी विस्तारपूर्वक बता रहे हैं, उसको सुनो ।।४४।। ब्रह्मानंद का समुद्र पूर्ण पौर्णिमा का चंद्रमा, द्वारकाधिपती भगवान श्रीकृष्ण परमात्मा ने ऐसा कहा ।।४५।। हे पंडुकुमर!। हे सुवीर!। आत्मस्वरूप के घर पहुंचने के लिये विश्व का आभास बाधा उत्पन्न करता है ।।४६।। यह विश्वरूपी दृश्य यह संसार नहीं है, यह एक विशाल महावृक्ष बढ़ा हुआ है ।।४७।। किंतु अन्य वृक्ष के समान तल में जड़ें एवं ऊपर शाखाएं ऐसा यह नहीं, अतः इसका वर्णन करना किसी को संभव नहीं है ।।४८।। अग्नि या कुल्हाड़ी हे पार्थ!। यदि जड़ में मारी गयी तब ऊपर का विस्तार कितना भी क्यों न हो ।।४९।। जब जड़सहित इसको काट दिया जाता तब यह शाखाओं के साथ गिर जाता, किंतु यहां ऐसी बात नहीं है, यह सुलभ नहीं है ।।५०।। हे अर्जुन! इस संसार वृक्ष का आश्चर्य विलक्षण है, क्योंकि इस वृक्ष का विकास नीचे होता है ।।५१।। जैसे सूर्य की ऊंचाई जानते नहीं किंतु उसकी किरणें नीचे फैलती हैं, संसारवृक्ष भी ऐसा ही अद्भुत है ।।५२।। प्रलयकालीन जल से जैसे आकाश व्याप्त होता है, वैसा जितना है एवं नहीं, उन सबको इसने अकेलेने ही समेटा है ।।५३।। या सूर्यास्त होने पर रात्री अंधेरे में डूब जाती है, संपूर्ण आकाश में वह पूर्ण भर जाता है ।।५४।। इसमें खानेलायक फल नहीं होते, सुगंध से परिपूर्ण फूल भी नहीं होते, जो कुछ रहता है वह यही वृक्ष होता है, ।।५५।। हे पार्थ इसकी जड़ें ऊपर होती हैं किंतु यह गिरता नहीं, अतः यह नित्य हराभरा रहता है ।।५६।। ऊपर इसकी जड़े होती हैं ऐसा स्पष्ट निरूपण किया है किंतु नीचे भी इसकी बहुत जड़े होती हैं ।।५७।। यह चारों तरफ फैलता है, जैसे पीपल एवं बड़ फैलता है, हे सुवीर! जड़ में भी इसको शाखायें होती हैं ।।५८।। हे धनंजय! इस संसार वृक्ष को नीचे ही सब शाखाएं होती हैं ऐसा नहीं है ।।५९।। हे पार्थ! ऊपर भी बहुत शाखाएं होती हैं, जो असंख्य विस्तरित दिखती हैं ।।६०।। संपूर्ण आकाश पत्तों से भर गया है, वायु वृक्षरूप हुआ है, हे कौंतेय! तीनों अवस्थाओं में विविधरूप में प्रकट होता है ।।६१।। ऐसा यह एक विश्व के आकार का ऊर्ध्वमूल वृक्ष को तुम अच्छी प्रकार से समझ लेना ।।६२।। अब ऊर्ध्वभाग कौनसा है? जड़ का क्या लक्षण है, या शाखाएं नीचे कैसे होती हैं ।।६३।। या इस वृक्ष को नीचे विशेष मूल है इसकी विशेष शाखाएं ऊपर कैसी होती हैं ।।६४।। एवं अश्वत्थ नाम से इसकी कैसी प्रसिद्धि है, आत्मज्ञानी इसका क्या निर्णय करते हैं ।।६५।। हे सुवीर! अच्छी तरह से यह बातें तुम्हारे ध्यान में आवे वैसे तुम्हें विशिष्ट पद्धति से कैसे कहूं ।।६६।। हे सुभग! सुनो, यह विषय सुनने के लिए तुम ही योग्य हो, अब अपनी सब चेतना हृदय से अपने कर्ण में केंद्रित करो ।।६७।। जब भगवान श्रीकृष्ण ने प्रेमरस परिपूर्ण वाणी से कहां तब अर्जुन के आकार से अवधान प्रकट हुआ ।।६८।। आकाश अमर्याद होते हुये भी उसको दशदिशाओं ने लपेट लिया है, तद्वत श्रीकृष्ण की वाणी व्यापक होते हुये भी, अर्जुन के अवधान से वह अल्प प्रतीत हुई ।।६९।। श्रीकृष्ण के निरूपण रूप सागर को प्राशन करनेवाला अर्जुन दजा अगस्ति ऋषि उत्पन्न हुआ, अतः निरूपण को एक साथ आत्मसात करने का प्रयास करने

सर। अशेषका ॥७०॥ ऐसी श्रवणप्रीति अपार। अर्जुन में देखे यदुवर। तब करे संतोष निछावर। उस पर देव ॥७१॥

श्री भगवानुवाच-

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

तब कहे धनंजय। इस तरु को ब्रह्म ऊर्ध्व। जिसको आवे यह ऊर्ध्वत्व। इसी वृक्ष से ॥७२॥ अन्यथा मध्योर्ध्व अध। यह नहीं जहां भेद। अद्वय का ऐक्य विशद। जिसके ठाँई ॥७३॥ जो श्रवण अगम्य नाद। जो असौरभ मकरंद। जो प्राप्त स्वरूपानन्द। सुरती बिन ॥७४॥ जिसको इह वहीं पर। आगा-पीछा एक सुवीर। दृष्टिबिन गोचर। अदृष्य इंद्रियों को ॥७५॥ जब उपाधि का दूसर। डालकर ओपसर (संबंध)। नामरूप संसार का विस्तार। होवे जिसका ॥७६॥ ज्ञातृज्ञेय विहीन। केवल जो ज्ञान। सुख से संपृक्त गगन-। से छना जो ॥७७॥ जो कार्य ना कारण। जिसको एक ना दूजापन। अपना जो आपुन। एकलौता एक ॥७८॥ ऐसी जो वस्तु सत्य। वह ऊर्ध्व इस तरुका पार्थ। उस मूल का अंकुर यथार्थ। इस प्रकार ॥७९॥ उसको माया यह ख्याति। अस्तित्व जिसका मिथ्या किरीटि। या बांझ की संतति। वर्णन जैसी ॥८०॥ वैसी सत न असत। विवेक का नाम भी न सहत। इस प्रकार अनादि अद्भुत। कहत इसे ॥८१॥ जो नाना तत्त्वों की पेटी। जगद्भ्र को आकाश किरीटी। विश्वाकार वस्त्र की पुटी। की जैसी ॥८२॥ भवद्रुम बीजिका। जो प्रपंच चित्र भूमिका। विपरित ज्ञान दीपिका। प्रज्वलित ॥८३॥ वह माया वस्तु के ठाई। रहत जैसी मिथ्या ही। किंतु वस्तु प्रमारूपसे वहीं। होवे प्रकट ॥८४॥ अपने को जब आवे नींद। करे स्वतः को जैसी मुग्ध। या कालिख करे मंद। प्रभा दीप की ॥८५॥ तरुणांगी स्वप्न में निद्राधीन। प्रियसम्मुख जगाकर तत्क्षण। आलिंगत आलिंगन बिन। सकामु करत ॥८६॥ वैसे स्वरूप से माया उत्पन्न। करे उसका ही विस्मरण। वही इस वृक्ष की जान। प्रथम मूल ॥८७॥ वस्तु को अपना अबोध। वही उर्ध्व का मायाकंद। वेदान्त में यही प्रसिद्ध। बीजभाव ॥८८॥ धन अज्ञान सुषुप्ति। वह बीजांकुरभाव किरीटि। अन्य स्वप्न और जागृति। फलभाव उसको ॥८९॥ ऐसी यह वेदांत में पार्थ। निरूपम की भाषा प्रतीत। रहने दो यह जानो प्रस्तुत। अज्ञान ही मूल ॥९०॥ ऊर्ध्व वह आस्था निर्मल। अधोर्ध्व प्रस्फुटत मूल। खोदकर बलिष्ट गहरा थाल। माया योग का ॥९१॥ तब अध में संदेहान्तर। उठत जिसको अपार। चौबाजू से फूटत अंकुर। सखोल ज्ञात ॥९२॥ ऐसे भवद्रुम का मूल। ऊर्ध्व में यह करत बल। तब अंकुर संभार सकल। अध में दिखावत ॥९३॥ वहां चिद्वृत्ति प्रथम पार्थ। महत्तत्व विकसत। वह पर्ण कोमल सृजत। अति प्रिय एक ॥९४॥ पश्चात सत्वरजात्मक। त्रिविध अहंकार जो एक। प्रस्फुटत त्रिपर्णी अधोमुख।

लगा ॥७०॥ ऐसी सुनने की अपार प्रीति यदुश्रेष्ठ भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन की देखी, तब उन्होंने अपना संतोष उसपर निछावर किया ॥७१॥

श्रीकृष्ण भगवान ने कहा, हे अर्जुन! आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले, जिस संसाररूपी पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा जिसके पत्ते वेद कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूलसहित तत्त्व से जानते हैं, वही वेदों के तात्पर्य को जानता है ॥१॥

तब कहा, हे धनंजय! इस संसार वृक्ष का ब्रह्म ऊर्ध्व है, ब्रह्म से ऊर्ध्वता संसार वृक्ष के कारण होती है ॥७२॥ वास्तविक विचार करने से ब्रह्म में ऊपर, बीच एवं नीचे का ऐसा भेद नहीं होता अद्वय ब्रह्म की एकता स्पष्ट की गयी है ॥७३॥ जो कर्ण को विषय न होनेवाला अगम्य नाद, नासिका से सुगंध न लेते हुये आनेवाला मकरन्द, उपभोग के बिना प्राप्त होनेवाला स्वरूप का आनंद है ॥७४॥ हे सुवीर! जिसको ऊपर नहीं है, जिसको पीछे कोई नहीं या आगे भी कोई नहीं है, देखनेवाले के बिना जो देखता है वह इंद्रियों को दिखाई नहीं देता ॥७५॥ ब्रह्म में माया के उपाधि से दूजे संबंध से नामरूप का व्यवहार होता है ॥७६॥ ज्ञातृज्ञेय विहीन केवल जो ज्ञानस्वरूप है, [illegible] है, वह सब से परिपूर्ण है ॥७७॥ जो किसी का कार्य नहीं है, जो किसी का कारण नहीं है, जिसको कोई दूजा नहीं है एवं दूसरे से आनेवाला एकत्व भी नहीं है, जो अपने में स्वयं इकलौता एक ही है ॥७८॥ ऐसी जो सत्य वस्तु है, वह इस वृक्ष का ऊर्ध्व है, उसमें संसार वृक्ष के अंकुर निकल आये ॥७९॥ उसको माया ऐसी प्रख्याति है, हे किरीटी! उसका अस्तित्व मिथ्या है, जैसे वंध्या स्त्री के संतति का वर्णन करना केवल शब्द होते हैं ॥८०॥ वैसी वह सत् नहीं, असत भी नहीं है, विवेक का नाम भी वहां सहा नहीं जाता, अतः इसको इस प्रकार से अनादि एवं अद्भुत कहते हैं ॥८१॥ जो विविध तत्त्वों की पेटी है, हे किरीटी!, जगत्‌रूपी मेघों का जो आकाश है, या वह माया विश्वाकाररूपी वस्त्र की तह है ॥८२॥ संसाररूपी वृक्ष का जो बीज है, प्रपंचरूपी चित्र की भूमि है, विपरीत ज्ञान प्रकाशित करनेवाली वह माया छोटा दीप है ॥८३॥ वह माया ब्रह्म वस्तु में मिथ्यापन से रहती है, ब्रह्मप्रकाश जगद्‌गुरु से प्रकट होता है ॥८४॥ अपने को जब नींद आती है, वह स्वतः को मूर्ख बनाती है, जैसे दीपक के प्रकाश को कालिमा धीमा करती है ॥८५॥ स्वप्न में पति के निकट सोई हुई तरुण स्त्री स्वप्न में पति को आलिंगन देकर उसका स्वप्न में सकाम करती है ॥८६॥ वैसे ब्रह्म से उत्पन्न माया अपना अधिष्ठान जो ब्रह्म उसमें अज्ञान उत्पन्न करती है वही इस वृक्ष का प्रथम अंकुर समझना ॥८७॥ ब्रह्मवस्तु में जो अज्ञान है वही ऊर्ध्व स्थित रूपी जड़ इस संसार वृक्ष की होती है, इसको वेदान्ती बीजभाव कहते हैं ऐसी प्रसिद्धि है ॥८८॥ प्रगाढ़ अज्ञान जो गहरी निद्रा होती है उसको हे किरीटी! बीजांकुर भाव कहते हैं, अन्य स्वप्न एवं जागृति इसका फलभाव समझना ॥८९॥ हे पार्थ! इस प्रकार वेदों में प्रतिपादन करते जो भाषा है उसकी यह संज्ञा सुप्रसिद्ध है, यह अब रहने दो, इन सबका कारण अज्ञान है ॥९०॥ शुद्ध आत्मा ऊर्ध्व है, मूल जड़ नीचे एवं ऊपर बढ़ती है, उसके चारों तरफ पक्की माया योग का गड्ढा बनाया है ॥९१॥ अनन्तर वह अंकुरित होकर गहराई में नीचे जाते हैं ॥९२॥ ऐसी यह संसार वृक्ष की जड़ ऊपर शक्ति से बढ़ती है, तब बहुत से अंकुर नीचे दिखाई देते हैं ॥९३॥ हे पार्थ! वहां अंतःकरण का वृत्ति रूपी प्रथम महत्तत्व विकसित होता है, उसके पत्ते अत्यंत कोमल एवं सुंदर होते हैं ॥९४॥ उसके पश्चात सत्त्वगुण एवं रजोगुण से तीन प्रकार का अहंकार होता है, वह नीचे की तरफ विकसित होता

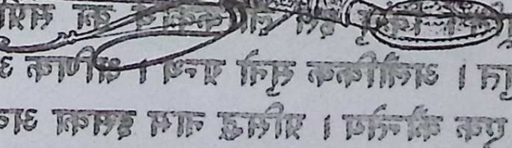

धर्नुधर ।।९५।। वह बुद्धि की फुनगी अन्य। लेकर करे भेद का वर्णन। वहां धरत
विकसित पूर्ण। शाखा मन की ।।९६।। इस विध मूल दृढ़ जब। विकल्प रूप रस से
तब। चित चतुष्टय शाखा सब। अंकुरत पार्थ ।।९७।। और आकाश वायु द्योतक।
आप पृथ्वी ये पंच फोंक (शाखाएं)। महाभूत के पुष्ट देख। सीधे सृजत ।।९८।। वैसे
श्रोत्रादि तन्मात्र। अंगाश्रित गर्भ पत्र। कोमल अतिविचित्र। प्रस्फुटत ।।९९।। वहां
शब्दांकुर को आलिंगनार्थ। श्रोत्रवृद्धि डेवड़ी होवे पार्थ। तब शाखा निर्मिति करत।
विषय आकांक्षा की ।।१००।। अंग त्वचा के वेली पल्लव। स्पर्शान्कुर तक भावत
पाण्डव!। वहां शैवाल उठे अभिनव। विकारों का ।।१।। पश्चात रूप पत्र लता
पर्यत। दीर्घ शाखा चक्षु प्रसवत। वहां व्यामोह का पार्थ। विस्तार होत ।।२।। और
रस के साथ। शीघ्र गति से बढ़त। अतिपर्ण के जिव्हा को बहुत। समूह सृजत ।। ३।।
वैसे अंकुरित गंध जब। घ्राण की फुनगी लेत तब। स्वानंद से वहां अनुभव सब।
प्रलोभ का ।।४।। एवं महदहंबुद्धि। मन महाभूत समृद्धि। यह संसार की अवधि।
विस्तरित सर्वत्र ।।५।। किंबहुना इन्हीं अष्ट। अंग से यह अधिक बर्धत्त। किंतु सीप
समान प्रकटत। रूपा जैसा ।।६।। या समुद्र का जितना विस्तार। उतने ही ऊपर
तरंग अपार। वैसे ब्रह्म ही होवे वृक्षाकार। अज्ञान मूलक ।।७।। अब यही इसका
विस्तार। यही इसका परिवार। जैसे स्वप्न में सब परिवार। एकल ही का ।।८।।
किंतु रहने दो ऐसे। उस उन्मत्त वृक्ष से। प्रस्फुटत महदादि अंकुर से।
अधोशाखाएं ।।९।। और ऐसे इसको अश्वत्थ। जो ज्ञानीजन कहत। वह सुनो यहां
साप्रत। कहूं तुझको ।।११०।। तब स्वःमाने कल तक। एक समान इसका एक।
निर्वाह नाही प्रपंचरूप। वृक्ष का पंडुकुमर ।।११।। जैसा न व्यतीत एक क्षण। मेघ
होवे नानावर्ण। या विजु न रहे संपूर्ण। निमिषभर ही ।।१२।। अथवा कंपित पद्म
दल-। पर स्थिर न रहे जल। या चित्त जैसे व्याकुल-। मनुष्य का ।।१३।। वैसी
इसकी स्थिति। प्रतिक्षण नष्ट होवे किरीटि। इसलिये कहत निश्चित। अश्वत्थ
इसको ।।१४।। और अश्वत्थ इस नाम से। व्यवहार में पीपल संज्ञा जिसे। किन्तु वह
अभिप्राय नाही इससे। श्री हरि का ।।१५।। वैसे पीपल ही किरीटि। प्रभु की नीकी
विभूति। किंतु इस लौकिकार्थ का संप्रति। प्रयोजन क्या? ।।१६।। इसलिये यह
प्रस्तुत। अलौकिक सुनो ग्रन्थ। क्षणिक अतः अश्वस्थ। कहिये इसको ।।१७।। और
भी एक कौन्तेय। प्रसिद्ध नाम इसका अव्यय। किन्तु इसका गर्भित अभिप्राय। इस
प्रकार ।।१८।। जैसे मेघ के मुख से। समुद्र रीतत एक अंग से। और नदी दूजी ओर
से। भरत जात ।।१९।। किन्तु वह न कमत न बढ़त। अतः सदा परिपूर्त। जब तक
चक्र यह न रुकत। मेघ- नदी का ।।१२०।। इस वृक्ष की उत्पत्ति लय। अति शीघ्र
गति से कौन्तेय। अतः इसको अव्यय। कहत लोक ।।२१।। वैसे दानशील पुरुष
एक। दातृत्वपन से ही पुण्य संचक। वैसे व्यय से ही यह वृक्ष। अव्यय भासत ।।२२।।

Funding by IKS-MoE

है।।९५।। त्रिगुणात्मक अहंकार सत्त्वगुण से उत्पन्न बुद्धिकी फुनगी लेकर भेदभावना का विकास करती है, वहां मन की कोमल शाखा विकसित होने लगती है।।९६।। इस प्रकार से जब जड़ें दृढ़ मूल होती हैं, तब विकल्परूपी रस से परिपूर्ण, हे पार्थ! मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकाररूपी छोटी शाखायें (त्रिगुणात्मक अहंकार में) निकलती हैं।।९७।। (तामस अहंकार से उत्पन्न) आकाश, वायु, तेज, उदक एवं पृथ्वी यह पंचमहाभूतों की शाखाएं सीधी जोर से बढ़ती हैं।।९८।। तद्वत श्रोत्र कर्ण आदि पंच ज्ञानेंद्रिय एवं सूक्ष्म विषय इन शाखाओं में अविकसित, विविध आकार के कोमल पत्ते। निकलते हैं।।९९।। हे पार्थ! शब्दांकुर तक कर्ण का विकास होते हुये कान विषयों की आकांक्षा रूपी शाखा निर्माण करता है।।१००।। शरीर की त्वचा के पत्ते एवं लताएं स्पर्शरूपी अंकुर तक दौड़ लगाती हैं वहां हे पांडव विकाररूपी अभिनव काई उत्पन्न होती है।।१।। रूप विषयों के पत्ते विकसित होने पर नेत्र लंबी शाखाएं निर्माण करती हैं, उस समय भ्रम का अच्छा विकास होता है।।२।। रस के साथ वह शीघ्र गति से बढ़ता है, जिव्हा को इच्छा के विपुल पत्ते उत्पन्न होते हैं।।३।। गंध विषरूपी अंकुर विकसित होने पर, नासिका की फुनगी स्वानंद से प्रलोभन का अनुभव लेती है।।४।। अतः महत्तत्व सें उत्पन्न अहंकार, मन, बुद्धि, पंचमहाभूतों का समुदाय यह सब संसार की मर्यादा निर्माण होती है।।५।। किंबहुना इस आठ अंग से संसारवृक्ष अत्यंत बढ़ता है। सीप जैसी चांदी के समान प्रतीत होती है वैसा इसका रूप होता।।६।। समुद्र का जितना विस्तार होता है, उतने ही उसके ऊपर तरंग होते हैं, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा, अज्ञान जिसका मूल है ऐसा संसार वृक्ष बनता है।।७।। अब यही इसका विस्तार है, यही इसका परिवार है, जैसे स्वप्न में अकेले देखनेवाला स्वप्न का परिवार बनता है।।८।। अब इसको रहनो दो, उस उन्मत्त वृक्ष से महदादि अंकुर फूटते हैं, जो अधोशाखा कहलाती है।।९।। ज्ञानी लोग इसको अश्वत्थ कहते हैं, वह तुम्हें अभी बताता हूं सुनो।।११०।। श्वः का अर्थ होता है कल तक, तब तक प्रपंचरूप वृक्ष एक समान एक नहीं रहता, (उसमें नित्य बदल होता रहता है)।।११।। जैसा एक क्षण न जाते हुये भी बादल विविध वर्ण के होते हैं, या बिजली एक क्षण भी नहीं रहती।।१२।। कमल का दल कंपित होने पर भी जल स्थिर नहीं रहता, या मनुष्य का चित्त जैसे व्याकुल रहता है।।१३।। वैसी इसकी स्थिति होती है, हे किरीटी! प्रतिक्षण वह नष्ट होता रहता है, अतः इसको निश्चित अश्वत्थ कहते हैं।।१४।। और अश्वत्थ इस नाम से, जिसको व्यवहार में पीपल नाम है, किंतु श्रीहरी का यह अभिप्राय नहीं है।।१५।। हे किरीटी! वैसे पीपल वृक्ष प्रभु की उत्तम विभूति है, किंतु इस लौकिक अर्थ का यहां क्या प्रयोजन है? ।।१६।। इसलिये अभी यह अलौकिक ग्रंथ सुनो, क्षणभंगुरता से इसको अश्वत्थ कहते हैं।।१७।। हे कौंतेय! और भी एक है, इसका अविनाश नाम प्रसिद्ध है, किंतु इसका गूढ़ अभिप्राय इस प्रकार से है।।१८।। जैसे बादलों के मुख से समुद्र ही अपने शरीर से बरसता है, नदियां दूसरी ओर से इन्हें भरती जाती हैं।।१९।। किंतु वह कम नहीं होता एवं बढ़ता भी नहीं, सदा परिपूर्ण रहता है, मेघ एवं नदि का यह चक्र रुकता नहीं।।१२०।। इस वृक्ष की उत्पत्ति एवं नाश, हे कौंतेय! अत्यंत शीघ्र गति से होता रहता है, अतः इसको सब लोग अव्यय कहते हैं।।२१।। जैसे दानी पुरुष अपने दातृत्व से पुण्य संचय करते रहते हैं, वैसे खर्च करके ही यह वृक्ष नित्य अव्यय प्रतीत होता है।।२२।। अत्यंत शीघ्र गति से चलने से रथचक्र

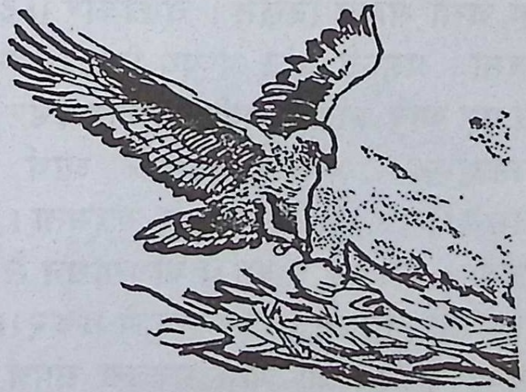

चलते अति शीघ्र गति से। भ्रम से भासत भूमि में गड़ा ऐसे। दिखत रथ चक्र वैसे। धनुर्धर।।२३।। कालातिक्रम से जो सूखत। भूतशाखा वह यहां गिरत। तब कोट्यावधि अंकुर पार्थ। सृजत उसको।।२४।। किंतु कब एक नष्ट। कोटी शाखा कब सृष्ट। न जाने कैसे आवत जात। आषाढ़ अभ्र।।२५।। महाकल्पान्त में किरीटि। उत्पन्न जो उन्मूलत सृष्टि। और अरण्य की उत्पत्ति। एवं वृद्धि होत।।२६।। प्रचंड संहार वात से पार्थ। जीर्ण छाल प्रलयान्त में झड़त। पुनः कल्पादि में पल्लवत। वृक्ष संभार।।२७।। मन्वन्तर आगे मन्वन्तर। वंश पर वंश का होवे विस्तार। जैसी इक्षुबुद्धि होवे सुवीर। कांड (पोर) पर कांड से।।२८।। कलियुगान्त में शुष्क अर्जुन। चार युग की गिरे छाल संपूर्ण। तब कृतयुग की दुगनी नूतन। उपजत पुनः।।२९।। वर्तमान वर्ष बीतत। आगामी को पाचारत। वैसे दिन उदय होत या अस्त। न जाने कोई।।१३०।। जैसे पवन के झोंकों का अर्जुन। न जाने कौन संधिस्थान। वैसी शाखा पर शाखा जानो। प्रस्फुटत बहुत।।३१।। एक देह का ठूंसा टूटत। सैकड़ों देहांकुर फूटत। इस विध भवतरु भासत। अव्यय जैसा।।३२।। बहता पानी बहे शीघ्र। दिसत अखंड पीछे से मिले और। वैसे असत यह जगव्यापार। भासत सत्य।।३३।। या निमिष भर में पार्थ। जब कोट्यावधि होत जात। किंतु अज्ञानी को तरंग भासत। नित्य जैसे।।३४।। पुतली एक काक को अर्जुन। दोनों ओर घुमावत समान। तब दो पुतली का भ्रम उत्पन्न। होवे जग को।।३५।। लट्टू घूमे तीव्र गति से। भासत भूमि में गड़ा जैसे। अति वेग से भ्रम ऐसा। अति वेग होवे पार्थ।।३६।। रहने दो यह बहुत। अंधेरे में मशाल घुमावत। यह जैसी सहज दिखत। चक्राकार।।३७।। यह संसार वृक्ष तैसा। निर्मित नाशत सहसा। अज्ञानी भ्रांत अव्यय ऐसा। मानत इसको।।३८।। किंतु इसकी गति तीव्र। जो यह जाने क्षणिक सुवीर। निमिषभर में कोटि बार। होत जात।।३९।। नहीं मूल अज्ञानबिन। अस्तित्व इसका व्यर्थ जान। ऐसा वृक्ष जीर्ण शीर्ण। जाना जिसने।।१४०।। उसको हे पंडुसुता। कहूं मैं सर्वज्ञाता। वाग्ब्रह्म सिद्धांत को सर्वथा। वंद्य वह।।४१।। योगसाधन से प्राप्त। अकेले उसको ही फलित। किंबहुना उससे ही जीवित। ज्ञान जग में।।४२।। रहने दो यह विस्तृत कथन। कौन कर सके इसका वर्णन। जो जाने भववृक्ष संपूर्ण। क्षणभंगुर यह।।४३।।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

तब इसी प्रपंचरस को। अधःशाखिया पादप को। प्रस्फुटत ऋजु ऊर्ध्व को। डालियां बहुत।।४४।। और अध में विकसित डाल। वही बनत इसका मूल। उससे बहरत तल में निखिल। पल्लव सतत।।४५।। ऐसा जो हमने कहा। तुझको उपक्रम

जैसा जमीन में गड़ा है ऐसा प्रतीत होता है,।।२३।। तद्वत, कालगति से संसार वृक्ष की प्राणिरूपी शाखा नष्ट होते ही, जहां वह गिरती है वहां हे पार्थ कोटी अंकुर उत्पन्न होते हैं।।२४।। किंतु जब एक नष्ट हुआ एवं कोटी शाखाएं कब उत्पन्न हुईं यह समझ में नहीं आता जैसे आषाढ़ महिने में बादल कब आते हैं एवं कब जाते यह ध्यान में नहीं आता।।२५।। हे किरीटी! महाकल्पांत में जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश होता है पुनः कल्प के प्रारंभ में उत्पत्ति एवं विकास होता है।।२६।। हे पार्थ! संहार के समय प्रचंड वायु से संसार वृक्ष की छाल झड़ती है एवं कल्प के प्रारंभ में वृक्ष का विस्तार पल्लवित होता है।।२७।। मन्वंतर के बाद मन्वंतर एवं एक वंश पर वंश का विस्तार होता रहता है, हे सुवीर! जैसे एक पोर पर दूजा पोर से गन्ने का विकास होता है।।२८।। कलियुग के अंत में शुष्क होकर चारों युगों की छाल संपूर्ण गिर जाती है, हे अर्जुन! तब कृतयुग की दुगनी नयी छाल पुनः उत्पन्न होती है।।२९।। वर्तमान वर्ष समाप्त होता है, वह आगामी वर्ष को निमंत्रित करता है, दिन निकलता है एवं जाता है पता नहीं लगता।।१३०।। जैसे वायु के झोकों की संधि कहां है पता नहीं लगता, वैसे संसार वृक्ष की उत्पत्ति एवं नाश कब होता है एवं शाखा पर शाखाएं कब उत्पन्न होती है पता नहीं लगता।।३१।। एक देह का दूंसा गिरता है सैंकड़ों देहरूपी अंकुर फूटते हैं, इस प्रकार से यह संसार वृक्ष अव्यय दिखाई देता है।।३२।। बहता हुआ पानी अखंड दिखता है क्योंकि पीछे से उसको पानी मिलता जाता है, वैसे यह जग अस्थिर होते हुये इसको लोग सत्य मानते हैं।।३३।। एक क्षण में कोटी उत्पत्ति होती है, एवं नष्ट भी होती है किंतु अज्ञानी लोगों को जैसे तरंग नित्य प्रतीत होते हैं।।३४।। हे अर्जुन! कौए के नेत्र में केवल एक पुतली होती है, दोनों तरफ वह घुमाता है, समान घुमाने से लोगों को दो पुतली का भ्रम होता है।।३५।। लट्टू जब तीव्र गति से घूमता है तब जैसा भूमि में गड़ा है ऐसा दिखाई देता है, हे पार्थ! अत्यंत वेग से ऐसा भ्रम होता है।।३६।। अब यह रहने दो, अंधेरे में मशाल को घुमाने से वह चक्राकार दिखती है।।३७।। वह संसार वृक्ष जैसा निर्माण होता है एवं उसका नाश भी होता है अज्ञानी लोग भ्रांती से उसको अविनाशी समझते हैं।।३८।। किंतु इसकी गति तीव्र होती है, हे सुवीर! जो इसको नाशवान समझता है, एक क्षण में कोटीबार होता जाता है।।३९।। अज्ञान के बिना इस संसारवृक्ष की अन्य जड़ें नहीं होती, इसका अस्तित्व मिथ्या होता है, ऐसा वृक्ष जीर्ण छालवाला भासमात्र है, ऐसा जिसने जान लिया।।१४०।। हे पंडुसुत! मैं सर्व जाननेवाला कहता हूं, वेदों के सिद्धांतों को वही पूजनीय होता है।।४१।। योगसाधना से प्राप्त फल अकेले को ही मिलता है, ज्ञान भी उसी से इस जग में जीवित रहता है।।४२।। यह बातें रहने दो, जो संसार वृक्ष को मिथ्या समझता है, उसका वर्णन कौन कर सकता है?।।४३।।

हे अर्जुन! संसार वृक्ष की तीनों गुणरूप जल के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय भोगरूप कोपलोंवाली, देव, मनुष्य, एवं निर्यक योनिरूप शाखाएं नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं, तथा मनुष्य योनि में कर्मों के अनुसार बांधनेवाला अहंता, ममता एवं वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं।।२।।

तब उसी वृक्ष को नीचे शाखाएं होती हैं वैसी बहुत शाखाएं सीधी ऊपर जाती हैं।।४४।। नीचे जो शाखाएं विस्तारित हुई है, वही शाखाएं जड़े बनती है, उससे अनेक लताएं एवं पत्ते उत्पन्न होते है।।४५।। ऐसा जो हमने प्रारंभ में कहा था वह हम

में। कहूं वही सुगम बोली में। सुनो अब।।४६।। दृढ़ बद्ध मूल अज्ञान। लेकर महदादिक वेदशासन। प्रपंच का महाबन। निर्मित पार्थ।।४७।। किंतु प्रथम स्वेदज। जारज उद्भीज मणिज। अधः स्तंभ से महाभुज। प्रस्फुटत चार।।४८।। इन एकेक से और। चौरासी लक्षधा अंकुर। फूटत जीव शाखा में अवान्तर। डालिया सैंध।।४९।। प्रसवत कुछ शाखा सरल। नाना सृष्टिरूप बहुल। आड़े में शाखा सकल। भिन्नजाति की।।१५०।। स्त्री पुरुष नपुंसक। व्यक्तिभेद सांचे अनेक। आंदोलत आंगिक। विकार भार से।।५१।। जैसे वर्षाकाल गगन में। प्रसरत नवधनरूप में। वैसे आकारजात अज्ञान में। बहरत पार्थ।।५२।। तब शाखा के अंगभार से। झुककर उलझत परस्पर से। गुणक्षोभ वायु उससे। बहने लगत।।५३।। तब उस अति वेगवन्त। गुणवृद्धि प्रकोप से पार्थ। त्रिस्थान में यह फटत। ऊर्ध्वमूल।।५४।। इसविधरज का झोंका। झड़झड़त तीव्र गति से देखा। तब मनुष्यजाति शाखा। वर्धत वहां।।५५।। उनसे ऊर्ध्व में न अध में। लदालद भरत मध्य में। स्फुटत आड़ी शाखाएं इसमें। चतुवर्ण की।।५६।। वहां विधि निषेधरूप पल्लव। वेदवाक्यों के अभिनव। डोलत नित्यनूतन अपूर्व। स्वच्छंद से।।५७।। अर्थकाम के अंकुर। अग्रवन का होवे विस्तार। प्रसरत क्षणिक पदान्तर। ऐहिक भोग की ।।५८।। वहां प्रवृत्ति के वृद्धि लोभ। से प्रस्फुटत शुभाशुभ। नाना कर्मों के स्तंभ। न जाने कितने।।५९।। वैसे भोगक्षय उपरांत। शुष्क देहवृक्ष उन्मूलन। तब आगे शाखाएं बढ़त। नूतन देह की।।१६०।। और शब्द स्पर्शादिक। सहजरूप से आकर्षक। विषय पल्लव नूतन कित्येक। सृजत नित्य।।६१।। इसविध रजोवात से प्रचंड। मनुष्य शाखाओं के झुंड। वर्धत जहां वह रूढ़। मृत्युलोक।।६२।। ऐसा वह रजका पवन। रुकत जब एकक्षण। तब गर्जत विलक्षण। तम घोर।।६३।। वहां इसी मनुष्य शाखा से। नीच वासना अध में जैसे। पल्लवत उपशाखा उससे। कुकर्मों की।।६४।। अप्रवृत्ति के बलिष्ट। कोपल सरल फूटत। पर्ण प्ररोह प्रस्फुटत। प्रमादों के।।६५।। कहत निषेध नियम। जो ऋचाएं यजु:साम। वह पर्ण संभार अग्रिम। सिरे पर।।६६।। प्रतिपादित अभिचार। अथर्वर्ण में जो परमार। त्रिपर्णों का वह विस्तार। वासना वल्ली का।।६७।। तब तब होवे पुष्ट। अकर्म तलस्तंभ पार्थ। और आगे-आगे धावत। जन्मशाखा।।६८।। वहां चांडालादि निकृष्ट। हीन जाति महाशाखा सृष्ट। भ्रमित कर्मभ्रष्ट को प्राप्त। होवे सहज।।६९।। पशु पक्षी सूकर। व्याघ्र वृश्चिक विषधर। ये आडशाखा प्रकार। प्रबल होत।।१७०।। किंतु ऐसी शाखाएं अर्जुन। सर्वांग को नित्य नूतन। निरयभोग दारुण। पावत वे।।७१।। और हिंसा विषय मुख्य पार्थ। कुकर्मसंग धुरी धरत। अनेक अग्रांकुर जन्मपर्यंत। बढ़त जात।।७२।। ऐसे होवत तरु तृण। लोह लोष्ट पाषाण। वहां शाखा फल जान। योनियां यही।।७३।। सुनो ध्यान से सुवीर। मनुष्य से इन स्थावर। पर्यंत वृद्धि होवे

सरल भाषा में बताते हैं।।४६।। हे पार्थ! अज्ञानरूपी दृढ़ जल से महत्तत्व आदि को लेकर वेदरूपी पत्ते निकलते हैं।।४७।। प्रथम स्वेदज, जारज, उद्भिज, मणिज, यह चार बड़ी शाखाएं जड़ से उत्पन्न होती हैं।।४८।। इन एक से और चौर्‌यासी लक्ष अंकुर उत्पन्न होते हैं, उस समय जीवरूपी शाखा से विविध शाखाएं उत्पन्न होती हैं।।४९।। कुछ शाखाएं सीधी विपुल सृष्टिरूप शाखाएं निर्माण करती हैं, विविध जातियों की टेढ़ी शाखाएं सीधी विपुल सृष्टिरूप शाखाएं निर्माण करती हैं, और विविध जातियों की आड़ी शाखाएं इस संसार वृक्ष को उत्पन्न होती हैं।।१५०।। स्त्री पुरुष नपुंसक यह भेदात्मक आकार के ढांचे, काम आदि विकारों के बोझ से एक दूजे के ऊपर पटके जाते हैं।।५१।। जैसे वर्षाकाल में आकाश में नये मेघ फैलते हैं, वैसे अज्ञान में आकार विकसित होते हैं।।५२।। तब शाखा के अंगभार से, नीचे झुककर आपस में उलझते हैं, तब गुण क्षोभित होकर वायु बहने लगती है।।५३।। हे पार्थ! गुणों से क्षोमित वायु जोर से भयंकर बहने लगता है। तब तीन स्थानों से वह संसार वृक्ष ऊपर से नीचे तक फटता है।।५४।। इस प्रकार से रजोगुण का झोंका तीव्र गति से बहने लगता है, तब मनुष्य जाति रूपी शाखाएं बढ़ती हैं।।५५।। उनसे ऊपर एवं नीचे न उत्पन्न होते हुये बीच में ही पूर्ण भर जाते हैं, चारों वर्ण की आड़ी शाखाएं निकलती हैं।।५६।। वहां विधिनिषेधरूप पत्ते ऐसे वेदवाक्यों से डुलने वाले पत्ते मनुष्यरूपी शाखाओं को शोभा निर्माण करते हैं।।५७।। ऐहिक भोगों की नाशवंत अनेक स्थानहि विविध अंकुर होते हैं, वह अर्थ एवं काम के विस्तार से जोर से बढ़ते हैं।।५८।। उस समय संसार के विकास के लिये इस लोभ से अनेक शुभ एवं अशुभ कर्म की शाखाए कितनी बढ़ती हैं पता नहीं लगता।।५९।। तद्वत पिछले जन्म में किये गये कर्म के भोगों का क्षय होने से देहरूपी शुष्क काष्ठ गिर जाते हैं, अनन्तर नये देह का विस्तार तैयार होता है।।१६०।। नैसर्गिक आकर्षकतासे सुशोभित शब्द आदि विषयरूप पत्ते नित्य नये तैयार होते रहते हैं।।६१।। इस प्रकार से रजोगुण रूपी प्रचंड वायु से मनुष्य शाखाओं के झुंड बढ़ते जाते हैं, वहां उसको "मृत्युलोक" नाम रूढ़ है।।६२।। ऐसी यह रजोगुणी वायु जब एक क्षण रुकती है तब तमोगुण विलक्षण घोर गर्जना करता है।।६३।। वहां इसी मनुष्य शाखा से नीचे तक वासना की उपशाखाएं पल्लवित होती हैं।।६४।। अप्रवृत्ति के दृढ़ कोपल उसको सीधे निकलते हैं, प्रमादरूपी पत्ते एवं शाखाएं निकलती हैं।।६५।। यजुर्वेद एवं सामवेद के मंत्र निश्चय से निषिद्ध कर्म बताते हैं, वह मंत्ररूपी पत्ते उस शाखाओं के अग्रभाग में हैं।।६६।। दूसरों का नाश करने के लिये जारण, मारण आदि अथर्वण वेद में बताया गया है, यह शास्त्र ही पल्लव है, उसके साथ वासनारूपी लता विस्तारित होती है।।६७।। हे पार्थ! निषिद्ध कर्म के तल में जो जड़ें होती हैं, वह बढ़ती हैं, उससे जन्मरूपी शाखाएं श्रेष्ठ योनि से नीचे योनि में जन्म लेती हैं।।६८।। चांडाल आदि निकृष्ट हीन जाति की महाशाखा निर्माण होती है, तमोगुण से मोहित कर्मभ्रष्ट को ऐसी नीच योनि सहज प्राप्त होती है।।६९।। पशु, पक्षी, सुअर, बाघ, वृश्चिक, सांप यह आड़ी शाखाएं प्रबल होती हैं।।१७०।।

किंतु हे अर्जुन! ऐसी मनुष्य शाखाओं को संपूर्ण शरीर में नित्य नया नरक भोग यही फलप्राप्ति होती हैं।।७१।। हे पार्थ! हिंसा एवं वासनापूर्ति यहां प्रमुख होती है, कुकर्म की संगति वहां प्रमुख रहती है, हिंसा आदि निषिद्ध कर्म के अंकुर अनेक जन्म में बढ़ते ही जाते हैं।।७२।। तमोगुणों से युक्त मनुष्य उपभोग में जीवन बिताते हुये अंत में घांस, लोहा, मिट्टी, पत्थर आदि जड़ योनि में जन्म लेते हैं, वहां शाखा भी वही एवं फल भी वही होता है।।७३।। हे सुवीर! ध्यान से सुनो। मनुष्यों से इस स्थावर पर्यंत अधो शाखाओं

साचार। अधो शाखाओं की।।७४।। अतः यह मनुष्य डाल। जानो इसको ही अधोमूल। जो यहां से प्रसरित सकल। संसार तरु।।७५।। वैसे ऊर्ध्व अध का पार्थ। यदि मुद्दल मूल देखत। यही शाखा मध्यस्थ। मनुष्यरूप।।७६।। किंतु तामस सात्विक। सुकृत दुष्कृतात्मक। विरूढ़त शाखाएं अनेक। अधोर्ध्व की।।७७।। और वेदत्रयीके पर्ण। न प्रस्फुटत अन्यत्र अर्जुन। एक मनुष्यबिन इनके विधान। को विषय नाही।।७८।। अतः तनु मानुष। ऊर्ध्वमूलक शाखा विशेष। किन्तु कर्मवृद्धि को अशेष। यही मूल।।७९।। अन्य सामान्य वृक्ष में। शांखा वृद्धि से आवे दृढ़ता मूल में। मूल पुष्ट तब होवे शाखा में। विस्तार और।।१८०।। वैसा ही यह शरीर। कर्म जबलग देह संसार। और देह तब तक व्यापार। न छूटे कभी।।८१।। अतः यह मानुष देह कौंतेय। मूल कर्म साधन को अनिवार्य। ऐसे जगज्जनक श्री यदुराय। निरूपत स्वयम।।८२।। तम का दारुण भर। होवे जब स्थिर। सत्व का छूटत घोर। चण्डवात।।८३।। तब इसी मनुजाकार जड़ से। सुवासनांकुर फूटत जैसे। सुकृतांकुर उससे। प्रस्फुटत पार्थ।।८४।। विकसित जब उन्मेख। प्रज्ञाकुशलता की तीक्ष्ण अनेक। टहनियां उभरत निमिख-। भर में शीघ्र।।८५।। मतिरूप लंबी शाखा पार्थ। स्फूर्ति के बल से बढ़त। बुद्धि प्रकाश फैलत। विवेक से।।८६।। वह मेघारस सगर्भ अर्जुन। आस्थापत्र से सुशोभन। अंकुर सरल उत्पन्न। सद्वृत्ति के।।८७।। सदाचार के अचानक। प्रस्फुटत कोपल कित्येक। गर्जत घोष अनेक। वेद पद्यों के।।८८।। शिष्टागम विधान। यज्ञगायादि विविध अनुष्ठान। ऐसे वर्ण ऊपर पर्ण। प्रसरत वहां।।८९।। ऐसे यमदम के गुच्छे पार्थ। तब ही टहंनियां निर्मित। वैराग्य शाखा कोमल विस्तृत। लिपटत उनको।।१९०।।

विशिष्ट व्रत के फोक (पतली शाख)। घृति के अणिदार अनेक। जन्म गति से ऊर्ध्वमुख। ऊंचे बढ़त।।९१।। मध्य में वेदपर्ण घनदाट। करत सुविद्या का घड़घड़ाट। जब गर्जत अचाट। सत्त्वानिल वह।।९२।। वहां घर्मडाल विस्तृत। जन्मांकुर सरल फूटत। स्वर्गादिक के फल स्वादिष्ट। पकत वहां।।९३।। आगे उपरतिरूप लोहित वर्ण। शाखा के धर्ममोक्ष पर्ण। लहलहत नित्य नूतन। निरन्तर।।९४।। और रविचंद्रादि ग्रहवर। पितर ऋषि विद्याधर। ऐसे आडशाखा प्रकार। बढ़त बहुत।।९५।। इससे भी ऊंचे अधिक। ढांकत फल मूल को अशेख। संभार दैवी इंद्रादिक। वृहत शाखाओं के।।९६।। पश्चात उनके भी ऊपर। तपोज्ञान से शाखापर। बसत मरीचि कश्यपादि निरन्तर। जहां पार्थ।।९७।। एवं मालाक्रम से उत्तरोत्तर। ऊर्ध्व शाखाओं का विस्तार। जड़ में लघु विशाल अग्र। फलभार से।।९८।। इसके ऊपर भी शाखा अनेक। आवत जो फलभार देख। ले अणीदार ब्रह्मेशतक। अंकुर वहां।।९९।। फल के बहुभार से। दुनत अध में ऊर्ध्व से। भासत

Funding by IKS-MoE

की वृद्धि होती है।।७४।। अतः यह मनुष्यरूपी शाखाएं इसका भी अधोमूल जानना, जहां संसार रूपी वृक्ष विकसित होता है।।७५।। हे पार्थ! वैसे उर्ध्व एवं अश्व या यदि मूल जड़ देखना है तो यही मनुष्यरूप शाखाएं बीच में स्थित हैं।।७६।। किंतु तामस एवं सात्त्विक, सुकृत, दृष्कृतात्मक अनेक शाखाएं नीचे एवं ऊपर बढ़ती हैं।।७७।। तीनों वेदों के पत्ते आदि अन्य कहीं भी निकलते नहीं, हे अर्जुन! एक मनुष्य के बिना शरीर संसार वेदाज्ञा के लिए योग्य नहीं हैं।।७८।। अतः मनुष्य शरीर संसार वृक्ष की ऊपर की शाखाएं हैं किंतु कर्म विस्तार के लिए यही जड़ें हैं ऐसा समझना।।७९।। अन्य सामान्य वृक्ष में शाखाओं के विकास से जड़ों में दृढ़ता आती है, जब जड़े सखोल दृढ़ होती हैं तब शाखाओं का अधिक विस्तार होता है।।१८०।। वैसा ही यह शरीर है, जब तक कर्म है तब तक देह रहता है, जब तक देह होता है, तब तक कर्म देह से कभी छूटते नहीं।।८१।। अतः हे कौंतेय। यह मनुष्य देह संसार वृक्षा की जड़े अनिवार्य है ऐसे जगज्जनक यदुराज श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है।।८२।। तमोगुण का भयंकर वायु शांत होने पर सत्त्वगुण की घोर प्रचंड वायु उत्पन्न होती है।।८३।। तब इसी मनुष्य रूपी जड़ों से उत्तम वासनाओं के अंकुर निकलते हैं, हे पार्थ! उससे ही सत्कर्म रूपी अंकुर फूटते हैं।।८४।। ज्ञान जब विकसित होता है तब बुद्धिचातुर्य के तीक्ष्ण अंकुर एक क्षण में फैल जाते हैं।।८५।। हे पार्थ! बुद्धिरूपी शाखाएं स्फूर्ति बल से फैलती हैं एवं विवेक से बुद्धि प्रकाशित होती है।।८६।। हे अर्जुन! तब धारणा शक्तिरूपी रस जिसमें भरा हुआ है, एवं आदर के पल्लवों से जो सुशोभित है, ऐसे सद्वृत्ति के अंकुर सीधे निकलते हैं।।८७।। अचानक सदाचार के अनेक अंकुर उत्पन्न होते हैं, वेदों के पद्यों की वह गर्जना करते हैं।।८८।। श्रेष्ठ पुरुष एवं शास्त्रों ने बताये हुये मार्ग से आचरण करते हैं तथा अनेक प्रकार के यज्ञों का विविध अनुष्ठान यही ऊपर के पर्णों के ऊपर पर्ण यहां फैलते हैं।।८९।। हे पार्थ! ऐसे यमदम के गुच्छे एवं तप की टहनियां निर्माण होती हैं, वैराग्यरूपी कोमल शाखाएं विस्तृत रूप से उन्हें लिपटती हैं।।१९०।। विशिष्ट व्रत की टहनियां, धृति से जो नोकदार बनी हुई है, जन्म उत्पत्ति के गति से ऊपर उठती हैं।।९१।। मध्य भाग में वेदरूपी पर्ण घने बढ़ते हैं, उत्तमज्ञान की गर्जना प्रारंभ होती है, तब सत्त्वगुण रूपी अग्नि अपार गर्जना करता है।।९२।। वहां धर्म की शाखाएं विस्तृत होती हैं, जन्म के अंकुर सीधे फूटते हैं, स्वर्ग आदि के स्वादिष्ट फल वहां पकते हैं।।९३।। आत्म पश्चातापरूपी लालवर्ण की शाखाओं को धर्म मोक्ष के पत्ते लगते हैं, वह नित्य नये लहलहाते रहते हैं।।९४।। इस धर्मरूपी शाखाओं को सूर्य, चंद्र आदि श्रेष्ठ ग्रह, पितर, ऋषि, विद्याधर आदि आड़ी शाखाओं का विस्तार होता है (धर्माचरण से श्रद्धा के अनुसार यह लोक प्राप्त होते हैं)।।९५।। इससे भी अधिक ऊंची इंद्र आदि बड़ी धनी शाखाएं होती हैं, उसकी जड़े फलों से टंकी रहती है।।९६।। हे पार्थ! उसके पश्चात ऊपर की शाखाओं पर तप से एवं ज्ञान से समृद्ध मरीचि एवं कश्यप आदि ऋषि रूपी ऊपरी शाखाएं रहती हैं।।९७।। इस प्रकार से मालाक्रम से ऊर्ध्व शाखाओं का उत्तरोत्तर विस्तार होता है, जो जड़ में छोटा एवं अग्रभाग में फलो के भार से विशाल होता है।।९८।। उसके ऊपर भी अनेक शाखाएं होती हैं, वे फलों के भार से ब्रह्मदेव एवं शंकर भगवान रूपी नोंकदार अंकुर होते हैं।।९९।। फल के भार से ऊर्ध्व से नीचे दुगने बढ़ते हैं, हे पार्थ! वह मनुष्य रूपी शाखाएं सत्कर्म के

टिकत जैसे। मूल तक पार्थ।।२००।। वैसे भी सामान्य वृक्ष में। जब लदत फल भार उसमें। झुकत भार से अध में। स्पर्शत जड़को।।१।। वैसे जहां से यह संपूर्ण। संसार तरु उत्पन्न। जड़तक ज्ञानवृद्धि से पुनः। झुकत पार्थ।।२।। अतः ब्रह्मैशान के पर। जीव को न वृद्धि साचार। वहां से आगे समग्र। ब्रह्म ही एक।।३।। रहने दो यह ऐसे। ब्रह्मादिक भी अंगसामर्थ्य से। उस ऊर्ध्वमूल ब्रह्म से। न तुलत कभी।।४।। और भी ऊर्ध्वशाखा पार्थ। सनकादिक नाम से विख्यात। जिनको फल-फूल न प्राप्त। केवल ब्रह्मरूप।।५।। ऐसे मनुष्य योनि से अर्जुन। ऊर्ध्व में ब्रह्मादि अंतिम पर्ण। शाखाओं की वृद्धि पूर्ण ऊंची बढ़त।।६।। पार्थ! ऊर्ध्वस्थिति ब्रह्मादि। मनुष्यत्त्व ही आदि। अतः इनको प्रसिद्ध। अधमूल की।।७।। एवं तुझको अलौकिक। यह अधोर्ध्व शाख। निरूपित भववृक्ष। ऊर्ध्वमूल।।८।। और अधस्थित ये मूल। बतलाएं सविस्तार सकल। अब सुनो इनका समूल। उन्मूलन कैसा?।।९।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चार्दिन च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

किन्तु तेरे चित्त में पार्थ। संदेह यह होगा क्वचित। इस वृक्ष का उत्पादन करत। ऐसा शस्त्र कौन सा।।२१०।। जिसकी ब्रह्मलोकपर्यंत। ऊर्ध्वशाखाएं वर्धित। और मूल तो सुस्थित। निराकार में ऊर्ध्व।।११।। शाखा अध की विस्तीर्ण। स्थावर तक प्रसरत अर्जुन। मध्य में बहरत संपूर्ण। मनुष्यरूप।।१२।। ऐसा दृढ़ और बलिष्ठ। कौन करेगा इसका अन्त। कदाचित ऐसा भाव निकृष्ट। आवे तव मन में।।१३।। तब करने इसका उन्मूलन। क्या सायास यहां अर्जुन। क्या हव्वा को देश में अन्य। भगाना पड़त?।।१४।। गंधर्व दुर्ग को क्या गिराना?। कैसा शशविषाण तोड़ना?। होगा यदि तब ना तोड़ना। आकाश पुष्प!।।१५।। वैसा संसार यह सुवीर। वृक्ष नाही साचोकार। तब उन्मूलन में धनुर्धर। यत्न कैसा?।।१६।। हमने मूल शाखा प्रकार। बतायें जो अपरंपार। जानिये वह वंशविस्तार। वन्ध्या का पार्थ।।१७।। स्वप्न का संभाषण। क्या उपयोगी जागृति में अर्जुन?। वैसे जानिये वृक्षकथा पूर्ण। निरर्थक यह।।१८।। हमने कहा जैसा। अचल दृढ़मूल ऐसा। यदि सच में यह वैसा। रहे तब।।१९।। ऐसा मां का पूत कौन?। जो करे इसका उन्मूलन। क्या फूंकने से गगन। उड़त पार्थ?।।२२०।। अतः सुनो धनंजय। वर्णित सब माया ही वह। कैसे राजा को मेजबानी शक्य। घी से कछवी के।।२१।। मृगजल का ताल। दूर से दृष्टि से देखना केवल। क्या उससे धान फल। उगाना शक्य?।।२२।। मूल मिथ्या यह अज्ञान। क्या उसका कार्य कारण। अतः यह संसारवृक्ष साच। जाने माया सब।।२३।। और अन्त इसको नाही। ऐसा जो कथन कोई। वह भी देखो सत्य ही। प्रकार से एक।।२४।। जागृति न आवे जब तक। अन्त निद्रा का कैसा तब तक?। या रात्रि न बीतत। तब

Funding by IKS-MoE

फलभार से मूल माया तक पहुंचते हैं।।२००।। लौकि वृक्ष जब फल से भर जाता है तब उसकी शाखाएं फल के भार से नीचे झुकती हैं।।१।। हे पार्थ! तद्वत जहां से इस संसार वृक्ष का विस्तार हुआ था उस जड़ में बढ़नेवाले ज्ञान को मनुष्य रूपी शाखाएं जड़ में पहुंचाती हैं।।२।। अतः ब्रह्मा एवं शंकर भगवान के ऊपर जीव को बढ़ना नहीं है, वहां से आगे केवल ब्रह्म ही होता है।।३।। अतः हे अर्जुन! यह रहने दो, ब्रह्म आदि शाखाएं इस संसार वृक्ष की अग्रिम जड़ जो माया उससे तुलना नहीं होती।।४।। हे पार्थ! और सनकादिक नाम से विख्यात है, उनको फल या जड़ें नहीं होती, वे केवल ब्रह्मरूप होती हैं।।५।। हे अर्जुन! ऐसे मनुष्य से ब्रह्मा तक संसार वृक्ष की शाखाओं की पूर्ण वृद्धि ऊंचाई में होती है।।६।। हे पार्थ! ऊर्ध्व में रहने वाले ब्रह्मा आदि है, उनको मनुष्यत्व ही मूल कारण है, अतः मनुष्यत्व नीचे की जड़ें हैं ऐसी इनकी प्रसिद्धि है।।७।। अतः नीचे एवं ऊपर शाखाएं जिसमें हैं एवं ऊपर जड़े हैं ऐसा लोकोत्तर संसार वृक्ष तुम्हें बताया है।।८।। नीचे की जड़ें तुम्हें स्पष्ट बताई हैं, अब यह संसार वृक्ष का किस प्रकार से उन्मूलन होता है, उसको सुनो।।९।।

संसार वृक्ष का स्वरूप जैसा कहा गया है वैसा यहां विचार वास्तव में नहीं पाया जाता, क्योंकि न इसकी आदि है, और न अन्त है, न अच्छी प्रकार से स्थिति है, अतः इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाला संसाररूपी पीपल के वृक्ष को दृढ़ वैराग्य रूप शस्त्रों द्वारा काटना चाहिये।।३।।

किंतु हे पार्थ! तेरे चित्त में संदेह होगा, कि इस वृक्ष को उखाड़ने वाला ऐसा कौनसा शस्त्र होगा?।।२१०।। जिसकी ब्रह्मलोक तक ऊर्ध्व शाखाएं बढ़ती है, एवं उसकी जड़ें ऊपर निराकार में पक्की स्थित हैं।।११।। नीचे की शाखाएं विस्तीर्ण हैं अर्जुन! स्थावर तक फैलनेवाला एवं मध्य में संपूर्ण मनुष्य रूप में बहरने वाला।।१२।। ऐसा दृढ़ एवं बलिष्ठ यह संसार वृक्ष है, इसका अन्त कौन करेगा ऐसा निकृष्ठ विचार तेरे मन में यदि आवेगा?।।१३।। तब इसको उखाड़ने क्या यहां कष्ट है?। हे अर्जुन! क्या हव्वा को और देश में भगाना पड़ता है?।।१४।। मेघों से बननेवाले किले को क्या गिराना पड़ता है?। खरगोश के सिंग कैसे तोड़ना? आकाश पुष्प यदि होगा तभी तो उसको तोड़ोगे।।१५।। हे सुवीर! वैसा यह संसार सत्य वृक्ष नहीं है, तब हे धनुर्धर! उसको उखाड़ने में प्रयत्न कौनसा होगा?।।१६।। हमने जो जड़े एवं शाखाओं के प्रकार बताये हैं, वह अपरंपार वंश विस्तार समझना, किंतु वह वंध्यापुत्र का विस्तार है।।१७।। हे अर्जुन! स्वप्न में किया संभाषण जागृति में किस उपयोग का है? वैसे यह वृक्ष की कथा पूर्ण निरर्थक समझना।।१८।। जैसा हमने कहा यह वृक्ष अचल एवं दृढ़ मूल है ऐसा यदि होता तब सत्य में वैसा रहे।।१९।। ऐसा मां का कौन पुत्र है, जो इसको उखाड़ फेंके? हे पार्थ! क्या फूकने से आकाश उड़ जाता है?।।२२०।। अतः हे धनंजय! सुनो! जिसका अभी तक वर्णन किया है वह सब माया है, कछवी के घी से क्या राजा को मेजवानी करना है?।।२१।। मृग मरीचिका का सरोवर केवल दूर से दृष्टि से देखना है, उसमें क्या धान उगाया जायेगा?।।२२।। यह अज्ञान मूलतः मिथ्या है, फिर उसका कार्यकारण क्या होगा? अतः यह संसार वृक्ष सत्य में सब माया है।।२३।। अतः इसका अन्त नहीं होता, ऐसा जो कहना है, वह भी एक प्रकार से सत्य है।।२४।। जब तक जागृति नहीं होती तब तक निद्रा का अन्त कैसे होगा? जब तक रात्र समाप्त नहीं होती तब दिन का

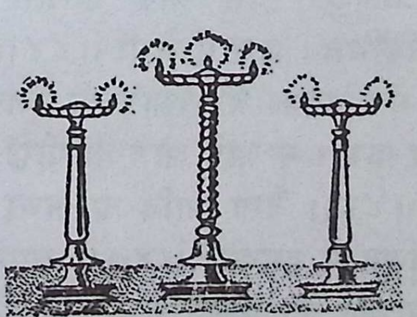

Funding by IKS-MoE

तक ।।२५।। नहीं दिनोदय जैसा । वैसा जब तक पार्थ । न उठावत विवेक नाथ । इस
भवरूप अश्वत्थ को ।।२६।। अन्त नाहीं बहत वारा संतत । जब तक न रहे निवान्त ।
तब तक तरंग अनंत । कहना ही पड़त ।।२७।। जब सूर्य का होवे अस्त । तब भास
मृगजल का लोपत । या बुझत दीप तब लुप्त । प्रभा उसकी ।।२८।। वैसे मूल अविद्या
भक्षत । ज्ञान ऐसे जब होवे उदित । तब ही संभव इसका अन्त । अन्यथा
नाहीं ।।२९।। वैसा यह अनादि । ऐसी जो इसकी उपाधि । वृथा नहि वह प्रसिद्धि ।
धनुर्धर ।।२३०।। इस संसार वृक्ष के ठँई । वास्तविकता कतई नाहीं । उसको नहीं
आदि कोई । सुनिश्चित ।।३१।। जो साथ जहां से उत्पन्न । उसको आदि सोहे अर्जुन ।
अब नहीं जो मूलतः जनन- । उसको कहां से? ।।३२।। अतः जन्म नाही जिसको ।
कौन माता उसको? । कहां अभावरूप से ही इसको । अनादि पार्थ ।।३३।। बांझ के पुत्र
की । कैसी जन्म पत्रिका उसकी? । नीली भूमिका नभकी । कैसी कल्पना
यह? ।।३४।। व्योम कुसुम का पार्थ । डंठल कौन तोड़त? । अतः नाही को ऐसे भवको
संभवत । आदि कैसी? ।।३५।। वैसे घटोत्पत्ति पूर्व । अनादि जैसा घटभाव । वैसा
समूल वृक्ष यह । अनादि जान ।।३६।। देखो इस विध पार्थ । नहीं इसको आद्यंत ।
मध्य में अस्तित्त्व जो भासत । मिथ्या वह ।।३७।। ब्रह्मगिरि से न उत्पन्न । समुद्र में
न इसका मिलन । मध्ये जो प्रत्यक्ष दर्शन । मृगांबु का जैसे ।।३८।। वैसा आद्यन्त
निश्चित नाहीं । और सत्य भी न कब ही । किंतु मिथ्यत्त्व की नवाई । जो भासत
यह ।।३९।। नाना रंगों से युक्त । जैसे इंद्रधनु दिखत । वैसे अज्ञानी को भासत सत्य ।
आभास इसका ।।२४०।। वैसे स्थिति काल में पार्थ । अज्ञानी के नेत्र भुलावत । जैसे
बहुरूपी लोगों को लूटत । लाघव से अपने ।।४१।। शामिका न होते हुए वैसी । दिखत
व्योम में छांई जैसी । किंतु क्षण एक में होवे नाश वैसी । पंडुकुमर ।।४२।। स्वप्न के
मिथ्या पदार्थ । क्या निर्वाह उनका यथार्थ । कैसा आभास यह क्षणिक पार्थ । निःसार
जान ।।४३।। देखें यदि भासत सत्य । किंतु हाथ में न आवत । मर्कट चेष्टा
प्रतिबिंबित । जल में जैसी ।।४४।। तरंग उठत विरमत जल में । विजु प्रकटत लोपत
नभ में । उनका भी संसार की तुलना में । क्षणिकत्त्व हीन ।।४५।। जैसे ग्रीष्मान्त का
पवन पार्थ । न जाने आगे या पीछे से बहत । वैसे स्थैर्य नाही किंचित । भवतरु को
इस ।।४६।। वैसा आदि ना अन्त । न कोई रूप निश्चित । ऐसे में क्या खटपट ।
उन्मूलन में इसको? ।।४७।। अपने ही अज्ञान से । वृथा वृक्ष विस्तरित जैसे । अब
आत्मज्ञान की कुल्हाडि से । काटो इसको ।।४८।। एक ज्ञान के बिना । उपाय करे
कितने नाना । जानो अधिक उलझना । वृक्ष में इस ।।४९।। तब कितनी शाखोपशाखा
में । भ्रमण इसका ऊर्ध्वअध में । अतः छेदो इसको मूल में । सम्यकज्ञान से
ही ।।२५०।। वैसे मारने उरग डोर का । ढेर जमाया लाठी का । यत्न वह व्यर्थ ही
का । धनुर्धर ।।५१।। तैरने मृगजल की गंगा । धावत बन से लाने को डोंगा (तरी) ।

Funding by IKS-MoE

उदय कैसा होगा?॥२५॥ हे पार्थ! वैसा जब तक विवेक अपना मस्तक ऊपर उठाता नहीं तब तक संसार रूप अश्वत्व वृक्ष का अन्त नहीं होता॥२६॥ जब तक वायु बहती है, वह शांत नहीं होती तब तक जल में अनन्त तरंग है ऐसा कहना पड़ता है॥२७॥ जब सूर्यास्त होता है, तब मृगमरीचिका का नाश होता है, जब दीप बुझता है तब उसके प्रकाश का लोप होता है॥२९॥ वैसा यह संसारवृक्ष अनादि है, ऐसी इसकी जो प्रसिद्धि है, वह व्यर्थ नहीं है॥२३०॥ इस संसारवृक्ष में किंचित भी वास्तविकता नहीं है, इसको कोई आदि नहीं यह सुनिश्चित है॥३१॥ जो जहां से उत्पन्न होता है, उसको उत्पत्ति है ऐसा कहना शोभा देता है, जो स्वरूपतः है ही नहीं उसका आरंभ कहां से होगा?॥३२॥ जिसका जन्म नहीं होता उसकी कौनसी माता होगी? हे पार्थ! अतः यह संसार वृक्ष अभाव रूप में अनादि है॥३३॥ वंध्या के पुत्र की जन्मपत्रिका कौनसी होगी? आकाश में नीली भूमि है ऐसी कल्पना कहां करेंगे?॥३४॥ आकाश पुष्प का कौन डंठल तोड़ेगा? अतः स्वरूपतः जो नहीं ऐसे संसार का आरंभ कहां से होगा॥३५॥ घट की उत्पत्ति के पूर्व जैसा घट का अभाव अनादि होता है वैसा यह समूल संसार वृक्ष अनादि है॥३६॥ हे पार्थ! इस प्रकार से इसे देखना, इसको आरंभ नहीं एवं अन्त भी नहीं है, बीच में जो अस्तित्व दिखाई देता है वह भी मिथ्या है॥३७॥ वह ब्रह्मगिरी से उत्पन्न नहीं होता एवं समुद्र में समर्पण भी नहीं होता जैसे मृगमरीचिका होती है वैसा उसका बीच में दर्शन होता है॥३८॥ वैसे प्रारंभ एवं अंत निश्चित नहीं, किंतु उसका मिथ्यत्व का आश्चर्य ऐसा है कि न होते हुये भी वह भासमान होता है॥३९॥ जैसे इंद्रधनुष में विविध रंग दिखाई देते हैं, तद्वत अज्ञानीयों को संसारवृक्ष सत्य प्रतीत होता है॥२४०॥ हे पार्थ! स्थिति काल में अज्ञानी मनुष्य को यह संसारवृक्ष झुकाता है। जैसे बहुरुपियां विविध रूप लेकर अपने लाघव से लोगों को लूटता है॥४१॥ जो नहीं है वैसी नीलिमा आकाश में छाई हुई दिखती है, हे पंडुकुमर! एक क्षण में उसका नाश भी होता है॥४२॥ स्वप्न के मिथ्या पदार्थ स्वप्न में सत्य प्रतीत होते हैं, वैसा इस संसारवृक्ष का आभास क्षणिक एवं निःसार जानना॥४३॥ यदि सत्य दिखाई देते हुये भी उससे कुछ प्राप्त नहीं होता, जैसे जल में दिखाई देने वाले प्रतिबिंब को बंदर पकड़ने का प्रयास करता है, किंतु उसको हाथ में कुछ भी प्राप्त नहीं होता॥४४॥ तरंग जल में उत्पन्न होते हैं, उसी में विलीन भी होते हैं, बिजली आकाश में उत्पन्न होती है उसी में उसका लोप भी होता है, उसकी क्षणभंगुरता संसार वृक्ष की तुलना में कमी होती है॥४५॥ हे पार्थ! जैसे ग्रीष्म ऋतु के अंत में वायु आगे या पीछे से बहती है, यह समझ में नहीं आता, वैसे इस संसारवृक्ष को किसी भी प्रकार का स्थैर्य नहीं है॥४६॥ वैसे इसको प्रारंभ नहीं है एवं अन्त भी नहीं है, इसका कोई निश्चित रूप भी नहीं है, अतः इसको उखाड़ने में क्या श्रम होंगे?॥४७॥ अपने ही अज्ञान से व्यर्थ ही इस वृक्ष का विस्तार होता है, आत्मज्ञान की कुल्हाड़ी से इसको काटना पड़ेगा॥४८॥ एक ज्ञान के बिना कितने भी उपाय किये गये, उससे और इस संसार वृक्ष में तुम उलझ जाओगे॥४९॥ तब कितनी शाखा उपशाखाओं में ऊपर एवं नीचे, भटकना पड़ेगा, अतः इसको आत्मज्ञान से जड़ से ही छेद डालना॥२५०॥ वैसे रस्सी का सांप मारने के लिए लाठीयों का ढेर जमाने का प्रयत्न, हे धनुर्धर! व्यर्थ होता है॥५१॥ वैसे ही मृगजल की गंगाजी को तैरने के लिये बन से नौका लाने के लिये दौड़ते हैं, हे पंडुकुमर!। वह नाले में गिरकर बीच में ही सत्य में डूबता

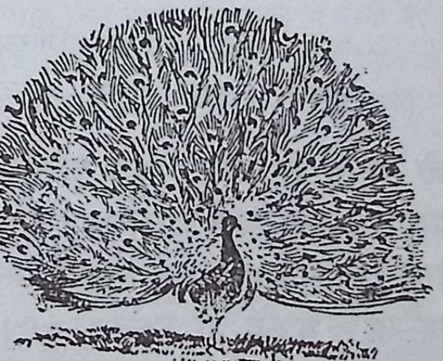

नाले में डूबत सच में वही गा। पंडुकुमर ।।५२।। वैसे मिथ्या इस संसार में। नाहक भ्रमत उसमें। मरे स्वयं या पड़े प्रकोप में। वायु के वह ।।५३।। स्वप्न के घाव का पार्थ। उपाय एक, होना जागृत। वैसे अज्ञान मूल करने खंडित। ज्ञान ही खंड ।।५४।। किंतु चलाने को वह लीलया। वैराग्य का नित्य नया। बल अभंग बुद्धि का धनंजया। होना युक्त ।।५५।। जो उत्पन्न होवे वैराग्य। यह त्रिवर्ग सब भोग्य। जानकर अयोग्य। श्वान वमन जैसा ।।५६।। उस सीमा तक गुड़ाकेश। पदार्थ जात में अशेष। होना वैराग्य का आवेश। बल और दृढ़ ।।५७।। देहाभिमान का म्यान तत्क्षण। निकालकर खड्ग पर से अर्जुन। प्रत्यग् बुद्धि को मुट्ठी में धारण। करना तुम ।।५८।। विवेक पाषाण पर। ब्रह्मास्मि बोध की तीक्ष्ण धार। अद्वैत बोध का पानी बारंबार। चढ़ाना उसपर ।।५९।। फिर निश्चय के मुष्टिबल से पार्थ। घुमाना कुछ काल पर्यंत। पश्चात शुद्ध मन से संतत। तौलना उसको ।।२६०।। जब ज्ञान खड्ग से एकता। होवे निदिध्याससे पंडुसुता। खंडन को शेष न तत्त्वता। द्वैतवृक्ष ।।६१।। वह आत्मज्ञान का शस्त्र। तीव्र अद्वैत प्रभा से पार्थ। कहीं भी न बचने देत। भववृक्ष को ।।६२।। शरदागम का समीर। झाड़े मेघमल करे निर्मल अंबर। या उदित रवि अंधेरे। का लेत घूंट ।।६३।। अथवा प्राप्त जब जागृति लक्षण। नष्ट स्वप्न सृष्टि पूर्ण। वैसे स्वप्रतीतिधारा अर्जुन। करत नाश ।।६४।। तब उर्ध्व का मूल। या अध का शाखातल। कुछ भी न दिखत मृगजल। चांदनी में जैसे ।।६५।। इस प्रकार हे वीरमाथा!। आत्मज्ञान की खड्गलता। छेदत भवाश्वत्थ को तत्त्वता। ऊर्ध्वमूल को ।।६६।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः पसृता पुराणी ।।४।।

जो इदंता से ज्ञात। अहं वृतिबिन विस्तरित। वह रूप देखें स्वतः। अपना ही स्वयम् ।।६७।। किंतु दर्पणाधार से। एक को ही दो करके जैसे। मुख देखत मूढ़ वैसे। न देखो तुम ।।६८।। यह देखना ऐसा। न खुदे कूप में जैसा। उद्गम स्थान में निर्झर छिपा सा। भरके ही रहत ।।६९।। नातर सूखत जब अंभ। मीनत निजबिंब में प्रतिबिंब। या विलीन नभ में नभ। घटाभाव से ।।२७०।। अथवा इंधनांश जब नष्ट। वन्हीं स्वरूप में प्रविष्ट। वैसे अपने में अपने को पार्थ। निहारना तुम ।।७१।। सुस्वाद जिन्होंने लेना। पुतली को स्वचक्षु से देखना। वैसा यह निरखना। स्वयं का जानो ।।७२।। या प्रभा को प्रभा मीनत। गगन गगनपर पहुड़त। अथवा पानी की झोली में भरत। पानी ही पार्थ ।।७३।। स्वतः अपने आपको जैसे। देखे अद्वैत भाव से। यह ऐसा ही निश्चित से। कहूं तुझको ।।७४।। दृष्टा दृष्यबिन जो ज्ञान। विशिष्ट भाव से न जानो अर्जुन। आद्यपुरुष नाम से विद्यमान। स्वयं जो ।।७५।। वहां उपाधि का आश्रय। लेकर उभारत जिसका कौन्तेय। और नामरूप का गौरव। वृथा

Funding by IKS-MoE

है।।५२।। वैसे इस मिथ्या संसार में व्यर्थ ही कष्ट करते हैं, स्वयं मरता है या वायु के क्रोध में पड़ता है।।५३।। स्वप्न में जो घाव होते हैं उसका उपचार जागृत होना है, वैसे अज्ञान की जड़ें नष्ट करने के लिये ज्ञान की तलवार आवश्यक होती है।।५४।। हे धनंजय! ज्ञानरूपी खड्ग सहज चलाते बनेगा किंतु वैराग्य बाज अभंग बुद्धि को नित्य नया आवश्यक होता है।।५५।। वैराग्य उत्पन्न होने पर स्वर्ग, मृत्यु एवं पाताल के उपभोग का त्याग होता है, उसके श्वान के वमन के अनुसार अयोग्य समझा जाता है।।५६।। हे गुड़ाकेश! पदार्थ मात्र के प्रति विरागी भाव उत्पन्न होगा ऐसा दृढ़ वैराग्य चाहिये।।५७।। हे अर्जुन! देह के अहंकार की म्यान तत्क्षण निकालकर ज्ञानखड्ग से अंतर्मुख बुद्धिरूपी मुट्ठी में तुम पकड़ना।।५८।। वह ज्ञानरूपी खड्ग विवेकरूपी पत्थर पर घिसते हुए, अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान की धार तीक्ष्ण होती है किंतु उसमें अद्वैत ज्ञान का जल पुनः पुनः उसपर चढ़ाने पड़ता है।।५९।। हे पार्थ! मैं ब्रह्म हूं इस निश्चय रूपी मुट्ठी बल से उसे कुछ काल तक घुमाना चाहिये, उसके पश्चात शुद्ध मन से उसको तौलते जाना चाहिये।।२६०।। जब ज्ञान खड्ग से एकत्व का भाव सतत निदिध्यास से होवे, तब हे पंडुसुत! तब काटने के लिये द्वैतवृक्ष तत्त्वतः शेष नहीं रहता।।६१।। वह आत्मज्ञान का शस्त्र, हे पार्थ। अद्वैत प्रकाश की अधिकता से संसार वृक्ष को बचने नहीं देता।।६२।। शरद ऋतु के प्रारंभ का वायु आकाश का मेघ रूपी कचरा साफ करता है, या सूर्योदय होने पर जैसा अंधेरा निगल जाता है।।६३।। जब जागृति प्राप्त होती है तत्क्षण संपूर्ण स्वप्न सृष्टि नष्ट होती है, वैसे आत्मानुभव रूपी तीक्ष्ण धार हे अर्जुन! भववृक्ष का नाश करती है।।६४।। जैसे चंद्रप्रकाश में मृगमरीचिका दिखाई नहीं देती वैसी ऊर्ध्व की जड़ें एवं नीचे का शाखाओं का विस्तार कुछ भी दिखाई नहीं देता।।६५।। इस प्रकार से हे वीर श्रेष्ठ!। आत्मज्ञानरूपी खड्ग से संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष को ऊर्ध्वमूल से तत्त्वतः पूर्ण नष्ट किया जाता है।।६६।।

उसके उपरांत उस परमपदरूप परमेश्वर को अच्छी प्रकार खोजना चाहिये। जिससे पुनः संसार में नहीं आते, जिस परमेश्वर से यह पुरातन संसार वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तरित हुई है, उस आदि पुरुष नारायण के मैं शरण हूं ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिये।।४।।

अपने से भिन्न प्रतीत होनेवाला 'इदंभाव' स्फुरित होता है, जहां अहं स्फुरण भी नहीं होता ऐसा अहं, इदं वृत्ति शून्य, प्रसिद्ध आत्मस्वरूप स्वयं देखना चाहिये।।६७।। किंतु दर्पण के आधार से एक ही मुख को, प्रतिबिंब को देखकर दूजा समझते हुए जैसे अज्ञानी देखते हैं वैसा तुम नहीं देखना।।६८।। यह देखना ऐसा है न खोदे हुए कुये में जैसा उत्पत्ति के स्थान पर झरना जैसे छिपकर भरा हुआ रहता है, वैसे देखना।।६९।। जल सूखने से अपने मूलरूप में प्रतिबिंब रहता है, या घट के अभाव में आकाश में घटाकाश जैसे रहता है।।२७०।। जब ईंधन समाप्त होता है तब अग्नि अपने स्वरूप में रहती है, वैसे अपने में अपना हे पार्थ!। तुम निरीक्षण करना।।७१।। जिव्हा जैसी अपना स्वाद चखती है, या नेत्र ने अपने पुतली को स्वयं देखा है, तद्वत स्वयं को निरखना है यह जान लेना।।७२।। या तेज में तेज मिल जाता है, आकाश का आकाश पर लेटना है, हे पार्थ! या पानी की झोली में पानी ही भरना है।।७३।। स्वयं अपने आपको जैसे अद्वैत भाव से देखना चाहिये, यह कैसा है यह निश्चित कहता हूं।।७४।। आत्मस्वरूप को दृश्य साक्षेप द्रष्टा की कल्पना छोड़कर देखना चाहिये, कुछ न जानना यही जानना है, जो आत्मस्वरूप आदि पुरुष नाम से विद्यमान है।।७५।। इस आत्मस्वरूप में माया के उपाधि का आश्रय लेकर वेद आत्मस्वरूपका वर्णन करते हैं, वहां नाम रूप का व्यर्थ गौरव बढ़ाते

Funding by IKS-MoE

करत ।।७६।। किंतु भव स्वर्ग से उद्विग्न। मुमुक्षु अवलंबत योग ज्ञान। न पायेंगे जन्म पुनः। शर्त से इस ।।७७।। संसार को ताली देकर। दौड़त होड़से वीतराग संसार। कर्मप्राप्त ब्रह्मपद की चोटी लांघकर। छोड़त पीछे ।।७८।। अहंकार निजिविकार। इनको पूर्ण झाड़ा देकर। प्राप्त करत प्रमाणपत्र। मूलधर का ।।७९।। जहां से यह विस्तृत। विश्वपरंपरा की वल्ली वर्धित। व्यर्थ आशा जैसी बढ़त। निदैवी की ।।२८०।। जिस वस्तु का अज्ञान। बनावें इस विश्व को महान। बढ़ावत नही जो विद्यमान। मै तू पन जग में ।।८१।। जो विश्व का आदिकारण। वही अपने को जानो अर्जुन। जैसे शीत को आते शीतपन। शीत से ही ।।८२।। और भी एक चिन्ह। आत्मस्वरूप का जान। उपरान्त जिसके मिलन। आना न पुनः ।।८३।। किन्तु उसको मिलना ऐसे। जो सर्वत्र समभाव से। परिपूर्णत्व से जैसें। प्रलयांबुका पार्थ ।।८४।।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।५।।

जिन पुरुषों का मन। छांडत सब मोह मान। वर्षात में जैसे घन। आकाश को ।।८५।। जो निर्धन और निष्ठुर। स्वजन त्रस्त जात दूर। वैसे न ग्रासत जिसको विकार। धनुर्धर ।।८६।। फलित कदली उन्मूलत। वैसी जिसकी क्रिया समस्त। शनैः शनैः निर्मूल होत। आत्मज्ञान से ।।८७।। आग लगते ही वृक्ष को। पक्षी छांडत उसको। वैसे छोड़त जिसको। विकल्प सब ।।८८।। सुनो सकल दोषतृण। अंकुरत जिसमें मेदिनी से अर्जुन। उस भेदबुद्धि का ज्ञान। नाहीं जिसको ।।८९।। सूर्योदय सरिसी। भागे रात अपने से जैसी। गई देह अहंता तैसी। अविद्या सहित ।।२९०।। आयुष्यहीन जीव को पार्थ। शरीर तत्क्षण छांडत। वैसे मोहमूलकद्वैता। तजत उसको ।।९१।। लोह दुर्भिक्ष पारस को। अंधेर न दिखत सूर्य को। वैसे अखंड दुकाल जिसको। द्वैतबुद्धि का ।।९२।। पार्थ सुखदुखाकार। द्वैत जिस देह में गोचर। वह सम्मुख जिसके साचार। न आवे कभी ।।९३।। स्वप्न का राज्य या मरण। न होवे हर्ष शोक का कारण। जागृति में जैसे अर्जुन। जिस प्रकार ।।९४।। वैसे सुखदुखादिक। द्वंद्व पापपुण्यदायक। कदापि न आवे सम्मुख। गरुड़ के तैसे ।।९५।। और अनात्म वर्ग नीर। छांडकर आत्मरस का क्षीर। सेवत जो सविचार। राजहंस ।।९६।। जैसे सूर्यनारायण। भूतलपर करे जलवर्षण। पुनरपि करे शोषण। रश्मिजाल से ।।९७।। वैसे आत्मभ्रांति से पार्थ। वस्तु विकीर्ण दशदिशांत। ज्ञान दृष्टि से एक करत। अखंड जो ।।९८।। किंबहुना अन्त में आत्म स्वरूप का। निर्धारित विवेक जिसका। विलीन प्रवाह गंगा का। सिंधु में जैसे ।।९९।। होवे सर्वत्र स्वरूप का ज्ञान। न शेष अभिलाषा का कारण। जैसे अन्य ग्रामको गमन। आकाश को नाही ।।३००।। जैसे अग्नि के पर्वत पर। विरुदत नहीं बीजांकुर। वैसे जिसके मन में विकार। न उपजत

हैं।।७६।। संसार एवं स्वर्ग से त्रस्त लोग, अष्टांग योग एवं ज्ञान का आश्रय लिये हुए मुमुक्षु पुनः स्वर्ग एवं संसार लिप्त नहीं होंगे, इस प्रतिज्ञा से आत्मरूप की प्राप्ति के प्रयास में लग गये।।७७।। संसार को ताला लगाकर वीतरागी होड़ लगाकर दौड़ते हैं, कर्म से प्राप्त ब्रह्मपद की चोटी पार करके उसको पीछे छोड़ देते हैं।।७८।। अहंकार आदि सर्व अनात्म वस्तुओं का त्याग करके प्राप्त करके आत्मस्वरूप रूपी मूल घर में जाने के लिये ज्ञान का प्रमाण पत्र ज्ञानी लोग प्राप्त करते हैं।।७९।। जहां से यह विस्तारित होकर विश्वपरंपरा की लता विकसित होती है, जैसी दुर्भागी पुरुष की आशाएं व्यर्थ बढ़ती रहती हैं।।२८०।। जिस वस्तु का अज्ञान इस विश्व को महान बनाता है, मैं तू पना जो जगमें नहीं है उसको वह बढ़ावा देता है।।८१।। जो विश्व का आदिकारण है, वही हे अर्जुन! अपने को तुम जानना, जैसे ठंड को ठंडपना ठंडी से ही आवे।।८२।। आत्मस्वरूपका और एक लक्षण जानो, उससे ऐकत्र होने पर पुनः जन्म नहीं होता।।८३।। प्रलयकाल का जल जैसे सर्वत्र समरूप से भरा हुआ होता है, वैसे ज्ञान से ज्ञानियों का आत्मभाव सर्वत्र समान होता है, उसे ज्ञानी आत्म स्वरूप को प्राप्त करते हैं।।८४।।

जिनका मान एवं मोह नष्ट हो गया है, तथा आसक्ति रूप दोषों को जिसने जीत लिया है एवं परमात्मस्वरूप में निरन्तर जिनकी स्थिति है, जिनकी कामना पूर्ण नष्ट हो गयी है ऐसे सुख दुःख नामक द्वंद्व से विमुक्त हुए ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।।५।।

जिन पुरुषों का मन सब मोह एवं मान अपमान को छोड़ देता है, वर्षा ऋतु के अंत में आकाश बादलों को जैसे छोड़ देता है।।८५।। जो निर्धन है एवं दरिद्री है एवं निष्ठुर है, उनके आत्मीयजन त्रस्त होकर दूर चले जाते हैं। तद्वत विकारों के अधीन नहीं होता।।८६।। हे धनुर्धर! कदलीवृक्ष फलने पर वह उखड़ जाता है तद्वत ज्ञानीओं की सब क्रियायें धीरे-धीरे आत्मज्ञान से छूटती हैं।।८७।। वृक्ष को अग्नि लगते ही पंछी उसको छोड़ देते हैं, वैसे ज्ञानीयों को सब विकल्प छोड़ देते हैं।।८८।। हे अर्जुन! सकल दोषरूपी घास जिस भूमि में ऊगता है उस भेद बुद्धि का ज्ञान जिसको नहीं होता,।।८९।। सूर्योदय होते ही जैसे रात अपने आप भाग जाती है, वैसी देह की अहंता अज्ञान के साथ भाग जाती है।।२९०।। हे पार्थ! जिसका आयुष्य समाप्त हुआ है उसका शरीर तत्क्षण छूट जाता है, वैसे मोह जिसका मूल है ऐसा द्वैत उसका त्याग करता है।।९१।। पारस को लोह का दुर्भिक्ष होता है, सूर्य को अंधेरा दिखाई नहीं देता है वैसे अखण्ड द्वैतबुद्धि का उसको दुकाल होता है।।९२।। हे पार्थ! सुख दुःख के आकार में जिस देह में द्वैत दिखाई देता है वह उसके सम्मुख कभी आते नहीं।।९३।। स्वप्न का राज्य या मृत्यु, हर्ष शेक का कारण नहीं होता, जागृत होने पर मिथ्या का ज्ञान होता है।।९४।। वैसे सुख दुख के द्वंद्व, पाप या पुण्य देने वाले होते हैं, सांप जैसे गरुड़ के सम्मुख नहीं आता (वैसे ज्ञानी लोग द्वंद्वों से लपेटे नहीं जाते)।।९५।। ज्ञानी पुरुषरूपी राजहंस क्षणभंगुर पदार्थरूपी जल का त्याग करके आत्मरस रूपी दूध सेवन करते हैं।।९६।। जैसे सूर्यनारायण भूमि पर जलवर्षा करते हैं एवं पुनः अपने किरणों से जाल से शोषण करते हैं।।९७।। वैसे हे पार्थ!। आत्मस्वरूप के भ्रांति से देह आदि में आत्मभाव फैला हुआ है, उसको ज्ञानीलोग ज्ञान दृष्टि से अपने में एकत्व से देखते हैं।।९८।। जैसा गंगाजी का प्रवाह सागर में विलीन होता है वैसा जिसका विवेक आत्मस्वरूप का निर्धारण करता है। एवं एकरूप होता है।।९९।। उसे सर्वत्र स्वरूप का बोध होता है, आसक्ति का कारण शेष नहीं रहता, जैसे आकाश को एक स्थान से दूसरे जगह जाने की आवश्यकता नहीं होती।।३००।। जैसे अग्नि के पर्वत तर बीज अंकुरित नहीं होते वैसे उनके मन में

कभी ।।१।। निकालत जब मंदराचल। रहे क्षीराब्दि निश्चल। वैसे शमत भर निखिल। कामोर्मिका जिसमें ।।२।। चंद्रमा कला से तृप्त। न कहीं न्यून दिखत। वैसे अपेक्षा उफान समस्त। लुप्त जिसका ।।३।। कितनी कहूं यह निरूपत बात। परमाणु वायु सम्मुख न ठहरत। वैसे विषयों का न बचत। लेश भी जहां ।।४।। एवं दोष जिसके इसविध पार्थ। ज्ञानाग्निमें दग्ध समस्त। वे वहां विलीन होत। हेम में हेम जैसे ।।५।। वहां माने कहां कहोगे। ऐसे यदि कुछ पूछोगे। तब पद वह जानोगे। नाश न जिसका ।।६।। दृष्टव्य से देखना। ज्ञेयत्व से जानना। प्रत्यक्ष जिसको दिखाना। ऐसा न वह ।।७।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।६।।

दीपक दीप्ती को। अथवा चंद्रप्रकाश को। या अंशुमाली के तेज को। प्रकाशित जो ।।८।। इन तीनों से जो दिखत। वह उसका न दिखना पार्थ। अशेष विश्व प्रतीत। अज्ञान से जिसके ।।९।। जैसी सीप पन जब लोपत। तब ही साच रूप प्रकटत। अथवा सर्पाभास तब लुप्त। जब डोर स्पष्ट ।।३१०।। कैसे सूर्य चंद्रादिक पार्थ। अंधेर में जिसके प्रकाशत। प्रखर तेज से युक्त। धनुर्धर ।।११।। वह वस्तु तेजोराशी। सर्व भूतात्मक सरिसी। चंद्रसूर्य मानस में तैसी। प्रकाशत जो ।।१२।। अतः चंद्रसूर्य किरण समस्त। वस्तु के प्रकाश से प्रकट। तेजवन्त का तेज पार्थ। वस्तु का अंग जो ।।१३।। और जिसके प्रकाश में लोपत। जग संपूर्ण चंद्रार्क सहित। सचंद्र नक्षत्र जैसे लुप्त। दिनोंदय में ।।१४।। नातर प्रबोध समय में पार्थ। स्वप्नसृष्टि सब समाप्त। या सांजकाल में न अवशिष्ट। मृगतृष्णिका जैसी ।।१५।। वैसे जिस वस्तु के ठौंई। आभास कुछ भी नाहीं। जानो निजधाम वही। मुख्य पार्थ ।।१६।। जो जो वहां गये। लौटकर न पुनः आये। महोदधी में समाये। स्त्रोत जैसे ।।१७।। या लवण की कुंजरी पार्थ। लवण सागर में जहां प्रविष्ट। न पुनः वहां से आवत। वापस जैसी ।।१८।। अंतराल में जो गई। वन्हीं ज्वाला न लौटकर आई। तप्त लोह पर जल गिरते ही। न निर्वतत कभी ।।१९।। वैसे मुझमें एकवट। हुवे ज्ञान से जो चोखट। उनको पुनरावृत्ति की बाट। बंद सदा ।।३२०।। वहां प्रज्ञा पृथ्वी का नरेंद्र। पार्थ कहे जी पाया प्रसाद। किंतु सुनो एक बिनती गोविंद। चित्त देकर ।।२१।। देव में जो स्वयं एक होत। न पुनः वे निवर्तत। क्या वे देव से भिन्न अच्युत। या अभिन्न वे ।।२२।। यदि भिन्न ही अनादि सिद्ध। तब न लौटत यह असंबद्ध। फूल में प्रविष्ट षट्पद। क्या होवे फूल ।।२३।। जैसे लक्ष से भिन्न। लक्ष को वेधकर बाण। पुनरपि गिरत अर्जुन। वैसे परिवर्तित वे ।।२४।। नातर आप ही जो स्वभाव से। तब कौन मिले कौन से। छेदना अपने को अपने से। शस्त्र से कैसे? ।।२५।। अतः आपसे अभिन्न जीव। आपका संयोग-वियोग देव। कैसे कहे अवयव। भिन्न शरीर से? ।।२६।। और जो सदा तुझसे

कौने से भी विकास अंकुरित नहीं होते।।१।। मंदार पर्वत को बाहर निकालने पर क्षीरसागर निश्चल-शांत रहता है, वैसे उसकी सब कामनारूपी तरंग शांत हो जाती हैं।।२।। षोडश कलाओं से युक्त चंद्रमा में किसी भी अंग से कभी दिखाई नहीं देती, वैसा अपेक्षा एवं इच्छाएं उत्पन्न होने का न्यून उसमें नहीं होता।।३।। यह उपमारहित बातें अब कितनी कहूं? वायु के वेग से परमाणु जैसे नहीं टिकते वैसे विषयों का कण भी वहां शेष नहीं रहता।।४।। हे पार्थ! जिसके इस प्रकार से सब दोष ज्ञानरूपी अग्नि में जल जाते हैं, जैसे सुवर्ण में सुवर्ण मिल जाता है, वैसे वे आत्मस्वरूप में विलीन होते हैं।।५।। वहां किस स्थान पर ऐसा यदि तुम पूछोगे तब उस स्थान को नाश नहीं ऐसा वह स्थान है।।६।। देखने का विषय समझकर जिसको देखा जाता है, जानने का पदार्थ समझकर जिसको जाना जाता है, प्रत्यक्ष जिसको दिखाया जाता है ऐसा वह नहीं है।।७।।

उस स्वयं प्रकाशमय परमपद को न सूर्य प्रकाशित करता है। न चंद्रमा न अग्नि ही प्रकाशित करता है, जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य पुनः संसार में नहीं आता वही मेरा परमधाम है।।६।।

दीपक के तेज को अथवा चंद्रमा के प्रकाश को, या सूर्य के तेज को जो प्रकाशित करता है।।८।। इन तीनों से जो दिखता है, हे पार्थ!। वह उसका न दिखना ही जानो, अज्ञान के कारण संपूर्ण विश्व दिखाई देता है।।९।। सीप के सत्य स्वरूप का ज्ञान होने पर चांदी का आभास समाप्त होता है, जब रस्सी का ज्ञान होता है तब सांप का मिथ्याभास का लोप होता है।।३१०।। हे पार्थ! सूर्य, चंद्रमा आदि महातेज आत्मस्वरूप के अज्ञान में प्रकाशित होते हैं।।११।। वह आत्मवस्तु तेजोराशी है, सब प्राणियों में आत्मस्वरूप से व्याप्त है, चंद्रसूर्य के मन में भी वह प्रकाशित होती है।।१२।। अतः चंद्रमा एवं सूर्य आत्मवस्तु के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, वह उसी की किरणें समझना, तेजस्वी वस्तुओं में तेज, हे पार्थ! उस आत्मवस्तु का अंग समझना।।१३।। जिसके प्रकाश में चंद्रसूर्य का प्रकाश लुप्त होता है, दिन निकलते ही जैसे चंद्रमासहित नक्षत्रों का लोप होता है।।१४।। हे पार्थ! जागृह होने पर जैसी स्वप्न सृष्टि समाप्त होती है, या संध्या समय में जैसे मृगमरीचिका शेष नहीं रहती।।१५।। वैसे जिस आत्मवस्तु में कुछ भी आभास नहीं है, हे पार्थ वही मेरा अपना मुख्य स्थान है।।१६।। जो वहां गये वे लौटकर पुनः नहीं आये, जैसे सब जलप्रवाह महासागर में समाते हैं।।१७।। या नमक की हथिनि, हे पार्थ! नमक के सागर में प्रवेश करते ही वहां से पुनः लौटकर नहीं आती।।१८।। अंतराल में जो ज्वाला जाती है वह लौटकर नहीं आती, गरम लोहे पर जल गिरते ही वह कभी लौटकर नहीं आता।।१९।। वैसे जो मेरे साथ शुद्ध ज्ञान से एक रूप हुए हैं उनको पुनः लौटकर आनेका मार्ग सदा बंद होता है।।३२०।। बुद्धिरूपी पृथ्वी का राजा अर्जुन उसने कहां, हे प्रभो! हमने यह प्रसाद पाया है, किंतु हे गोविंद! एक बिनती ध्यान से सुनिये।।२१।। भगवान के साथ जो एकरूप होते हैं वे पुनः लौटकर नहीं आते, क्या हे अच्युत! वे भगवान से भिन्न होते हैं? या अभिन्न हैं?।।२२।। यदि वे स्वरूपतः मूल से भिन्न हैं, वे लौटकर नहीं आते ऐसा कहने से विसंगत दिखाई देता है, फूलों पर बैठे भ्रमर क्या फूल बनते हैं?।।२३।। वैसे लक्ष्य से भिन्न लक्ष को वेधकर वह गिरते हैं, वैसे हे पुरुष भगवद स्वरूप को स्पर्श करके ऐक्य न होते हुए लौटकर आवेंगे ही।।२४।। जो आपका स्वरूप ही बनते हैं, तब कौन किससे मिलता है? अपने को शस्त्र से छेदना कैसे संभव है?।।२५।। अतः जो आपसे अभिन्न जीव है उनका कैसा संयोग एवं वियोग है, शरीर के अवयवों को कैसे भिन्न कहा जावेगा?।।२६।। और जो नित्य तुझसे भिन्न है, वे कभी ब्रह्मलीन नहीं होते, वे न

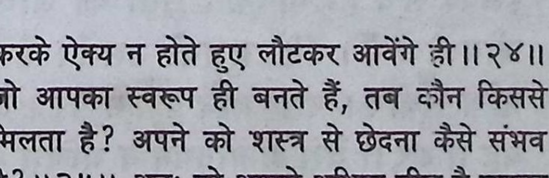

Funding by IKS-MoE

भिन्न। वे कभी न होत ब्रह्मलीन। वे आवत न आवत। व्यर्थ चर्चा यह।।२७।। तब आपसे कौन। न लौटत होकर विलीन। हे विश्वतोमुख! यह मुझे पूर्ण। समझाओ आप।।२८।। यह आक्षेप अर्जुन का। वह शिरोमणि सर्वज्ञों का। संतुष्ट बोध शिष्य का। देखकर।।२९।। तब कहत हे महामती!। पाकर मुझे न लौटत किरीटि। वे भिन्नाभिन्न रीति। प्रकार दो।।३३०।। जो विवेक से कीजे मंथन। और वे अभिन्न। वैसे ऊपर से विभिन्न। भासत दोनों।।३१।। जैसे पानी पर उछलत कल्लोल। भासत पृथक सकल। वैसे तो वे केवल। पानी ही पार्थ।।३२।। या स्वर्ण से अन्य। अलंकार भासत भिन्न। देखे यदि तत्त्वतः सुवर्ण। अशेषही वे।।३३।। वैसे ज्ञानकी दृष्टी। से वे अभिन्न किरीटि। यहां भिन्नत्व की प्रतीति। अज्ञान से ही पार्थ।।३४।। और यदि करे वस्तु विचार। कैसे मुझ एक को रूप दूसर। यह भिन्न-भिन्न व्यवहार। संभवत कैसा? ।।३५।। यदि आकाश इतना सूर्यबिंब। कहां दिखेगा उसका प्रतिबिंब?। कैसे प्रवेशत रश्मि तब। धनुर्धर।।३६।। कल्पान्त के पानी से पार्थ। केवल खाडियां भरत। अतः कैसे अंशु संभवत। अक्रिय को मुझ।।३७।। प्रवाह के अनुरोध से। पानी ऋजु वक्र दिखत। या रवि को दूजापन वैसे। तोय संबंध से।।३८।। व्योम वर्तुल या चौकोर। कौन कह सकत सुवीर। किंतु घटमठोपाधि से साचार। भासत वैसे।।३९।। सुनो निद्रा के आधार से। क्या भरे न परिवार जगमें एक से। विचरत राजा पन से। स्वप्न में जब।।३४०।। या कीट जब मिलावे सुवर्ण में। आवे हीनता उसमें। वैसे स्वमाया से ग्रस्त मैं। शुद्ध स्वरूप जो।।४१।। जब अज्ञानारूढ़। सोऽहं विकल्प होत दृढ़। तब सोचकर समझत मूढ़। देह ही मैं।।४२।।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

एवं देहाकार समान। माने जब पृथक आत्मज्ञान। तब मेरा अंश मानव अर्जुन। अज्ञान से वह।।४३।। समुद्र जैसा वायुवश। तरंगाकार उछलत विशेष। वह लघु समुद्रांश। सम दिखत।।४४।। वैसा जड़ को जीवनदाता। देह अहंता उत्पन्नकर्ता। मैं ही भासत भारता। जीवलोक में।।४५।। ऐसा जो जीवबोध। को गोचर व्यवहार विविध। वही जीवलोक शब्द-। का अभिप्राय।।४६।। अरे उपजना या मरना। इसको सच ही मानना। उसी को जीवलोक संज्ञा। अथवा संसार।।४७।। एवं विध जीवलोक में। देखो मुझको उसमें। जैसा चंद्र उदक में। उदकातीत।।४८।। स्फटिक मणि सुवीर। रखा यदि कुंकुम पर। औरों को भासत लोहित साचार। किंतु न वैसा वह।।४९।। वैसे अनादिपन न भंगित। अक्रियत्व मेरा न खंडित। कर्ता-भोक्ता जो मैं भासत। यह भ्रान्ति जानो।।३५०।। किंबहुना आत्मा चौखट। होकर प्रकृति से एकवट। बांधे प्रकृति का राजपाट। अपने लिये।।५१।। मनादि षट् इंद्रियां पार्थ। श्रोत्रादि प्रकृति कार्य समस्त। स्वयं का मानकर होत। व्यापारारूढ़ वह।।५२।। जैसे

Funding by IKS-MoE

आयेंगे न जायेंगे, यह चर्चा व्यर्थ होगी ॥२७॥ तब आपसे कौन विलीन होकर लौटकर नहीं आते, हे विश्वतोमुख! आप मुझे यह पूर्ण समझाओ ॥२८॥ यह अर्जुन का आक्षेप सुनकर, वह सब जाननेवाला में सर्वश्रेष्ठ शिष्य का ज्ञान देखकर संतुष्ट हुए ॥२९॥ उन्होंने तब कहा, हे महाबुद्धिमान किरीटि! मुझे प्राप्त होनेपर जो लौटकर नहीं आते उनमें मुझे मिलकर न आनेवाले एवं लौटनेवाले ऐसे दो प्रकार हैं ॥३३०॥

जब विवेक से देखा जाता है तब वे एवं मैं दोनों में अभिन्नता है, ऊपर यद्यपि दोनों भिन्न दिखाई देते हैं ॥३१॥ जैसे जलपर तरंग उछलते हुये दिखते हैं, वे अलग प्रतीत होते हैं, वास्तविक देखा जाये तो हे पार्थ! सब जल ही है ॥३२॥ या सुवर्ण से अन्य अलंकार भिन्न दिखाई देते हैं, तत्त्वरूप से वे सब सुवर्ण ही होता है ॥३३॥ वैसे ज्ञान की दृष्टि से हे किरीटि! वे मुझसे अभिन्न हैं, हे पार्थ! यह भिन्नत्व की प्रतीति अज्ञान से होती है ॥३४॥ आत्मदृष्टि से विचार करने पर मैं एक ही हूं मेरे जैसा दूजा कोई नहीं है, तब भिन्न-भिन्न व्यवहार कैसा संभव होगा ॥३५॥ यदि आकाश में पूर्ण सूर्यबिंब होने पर उसका प्रतिबिंब कहां दिखेगा? उसकी किरणें भी कहां प्रवेश करेंगी? ॥३६॥ हे पार्थ कल्पांत के जल से संपूर्ण जलमय होता है, अतः मैं जो अक्रिय हूं, मुझे कैसे अंश संभव होंगे ॥३७॥ किनारे की वक्रता से सीधा जल टेढ़ा दिखता है, जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिंब दिखने से उसको दूजापन (बिंब एवं प्रतिबिंब) आ गया है ॥३८॥ आकाश गोल है या चौकोर है, हे सुवीर! कौन है! किन्तु घट एवं मठ की उपाधि से वह गोल या चौकोर दिखाई देता है ॥३९॥ निद्रा में स्वप्न दिखने पर वहां राजा बनने से उससे अकेले से क्या जग भर नहीं जाता? ॥३४०॥ जब सुवर्ण में हीन धातु मिलाई जाती है तब शुद्ध सुवर्ण का कस कम होता है, तद्वत जो मैं शुद्ध हूं वह मैं माया से आवेष्टित होता हूं ॥४१॥ तब मेरे में केवल अज्ञान का व्यवहार होता है, तब मैं कौन हूं इस संशय का प्रारंभ होता है, एवं मैं देह हूं ऐसा निश्चय किया जाता है ॥४२॥

हे अर्जुन! इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, और वही त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई मनसहित पांचों इंद्रियों को आकर्षित करता है ॥७॥

हे अर्जुन! जब आत्मज्ञान शरीर में मर्यादित होता है तब वह मेरे व्यापक स्वरूप से पृथक होता है, तब वह मेरा एक अंश है ऐसा अज्ञान से समझता हैं ॥४३॥ सागर जैसा वायु के कारण तरंगों के रूप में उछलता है तब वे तरंग छोटे छोटे समुद्र के अंश हैं ऐसा भास होता है ॥४४॥ वैसा हे अर्जुन! जड़ देह को सचेतन करनेवाला देह के अहंकार को उत्पन्न करनेवाला, मैं जीवलोक में जीव जैसा प्रतीत होता हूं ॥४५॥ ऐसा जो जीव के ज्ञान का विधि प्रकार का प्रत्यक्ष व्यवहार है वही जीवलोक शब्द का अभिप्राय है ॥४६॥ हे अर्जुन! शरीर उत्पन्न हुआ या उसका मृत्यु हुआ इसको सत्य मानना उसी को जीव लोक ऐसी संज्ञा है या उसी को संसार कहते हैं ॥४७॥ इस प्रकार जीव लोक में मुझे देखो, जैसे चंद्रमा जल में प्रतिबिंबित होता है किंतु वह जल से अलग होता है ॥४८॥ हे सुवीर! स्फटिक का मणि कुंकुम पर रखने से देखनेवालों को वह लाल दिखाई देगा किंतु उसका मूलरूप वैसा नहीं होता ॥४९॥ वैसे मेरा अनादित्व का नाश नहीं होता, मेरा अक्रियत्व खंडित नहीं होता, मैं कार्य का कर्ता हूं या किसी वस्तु का उपभोग करता हूं ऐसा जब मैं भासता हूं तब वह भ्रांति समझना ॥३५०॥

किंबहुना शुद्ध आत्मा प्रकृति के साथ एकरूप होकर प्रकृति का राज्यपाट अपने लिये बनाता है ॥५१॥ मनसहित श्रोत्र आदि ज्ञानेंद्रियां प्रकृति का कार्य है [illegible] हुये भी वह मेरे हैं ऐसा समझकर जीव कार्य करने के लिये प्रवृत्त होता है ॥५२॥ कोई संन्यासी स्पप्न में अपनाही परिवार बनता है, एवं स्त्री पुत्र के मोह में

Funding by IKS-MoE

परिव्राजक स्वप्न में। स्वतः अपना कुटुंब होवे उसमें। और उनके ही मोह में। धावे स्वैर।।५३।। होवे अपनी विस्मृति। मानत स्वयं को प्रकृति। और आगे-आगे किरीटि। उसको ही भजत।।५४।। आरूढ़ मन के रथ पर। श्रवण द्वार से निकल बाहिर। पश्चात शब्द के साचार। प्रवेशत बन में।।५५।। वही प्रकृति की बागडोर। करत त्वचा के मोहर। और स्पर्श के घोर। बन में पार्थ।।५६।। कभी किसी अवसर। प्रवेशकर नेत्रद्वार। रूप के डोंगर में स्वैर। घूमन लागे।।५७।। या रसनामार्ग से पार्थ। निकलकर हे सुभट। रसगुफा में प्रविष्ट। रमत वहां।।५८।। अथवा लांघकर घ्राण का द्वार। जब देहांश जावे बाहिर। गंध के अटवियों में संचार। करे वह।।५९।। इस विध देहेंद्रिय नायक। मन सन्निध विषय पंचक। उपभोगत शब्दादिक। धनुर्धर।।३६०।।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

किंतु कर्ता भोक्ता ऐसा। जीव तबही भासत वैसा। जब शरीर में कोई सहसा। प्रवेशत वह।।६१।। जैसा विलासिया और संपन्न। तब ही पहिचानत अर्जुन। जब करे निवासस्थान। राजधानी में।।६२।। वैसा आधिक्य अहं कतृत्व का। या उत्पात इंद्रियों का। जब करत आश्रय देह का। जीव पार्थ।।६३।। अथवा शरीर तो छेड़त। किंतु इंद्रिय समुदाय समस्त। अपने साथ मनसहित। लेकर जात।।६४।। जैसा अपमानित अतिथी। ले जावे सुकृत संपत्ति। या नष्ट कठपुतली की गति। सूत्रतंतु बिन।।६५।। अस्तमान में तपन किरीटि। ले जात लोगों की दृष्टि। या पवन पुष्प से द्रुती। ले जात जैसा।।६६।। वैसे ज्ञानेंद्रिय सहित मन। लेकर जात देह से अर्जुन। वैसे करत देहावसान। समय देहराज।।६७।।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

तब यहां या स्वर्ग में पार्थ। जहां जिस देह का आश्रय लेत। वहां वैसा ही पुनः विस्तरत। मनादिक।।६८।। जैसे बुझावत जब दीप अर्जुन। प्रभासहित लोपत पूर्ण। प्रज्वलित यदि पुनः। प्रकाशत वहां।।६९।। ऐसी यह व्यवहार रीति। जहां अविवेकियों की दृष्टि। मानत ऐसे ही किरीटि। सुनिश्चित।।३७०।। आत्मा जो देह को प्राप्त। और विषय वही भोगत। अथवा देह को छांडत। माने सच ही यह।।७१।। वैसे तो आना और जाना। कर्म करना और भोगना। ये प्रकृति धर्म नाना। मानत आत्मा के।।७२।।

उत्क्रामन्तं स्थितिं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

लघु देह जब उत्पन्न। और प्राप्त जब चैतन्य। देखकर वही चलन वलन। कहत आया यह।।७३।। वैसे उसकी संगत में समस्त। इंद्रियां अपने विषय में वर्तत। उसी का नाम सुभद्रानाथ। भोगना जिसका।।७४।। पश्चात जब भोग क्षीण। नष्ट जब

स्वप्न में स्वैर भटकता है।।५३।। हे किरीटी! तद्वत आत्मा अपने मूल स्वरूप को भूलकर स्वयं को शरीर समझकर शरीर को ही पुनः भजता है।।५४।। जीवात्मा मन के रथ पर विराजमान होकर श्रवणेंद्रिय द्वारा निकलकर शब्दों के अरण्य में प्रवेश करता है।।५५।। प्रकृति की बागडोर त्वचा के तरफ घुमाकर स्पर्श विषयरूपी भयंकर बन में प्रवेश करता है।।५६।। कभी किसी अवसर पर नेत्र द्वार में प्रविष्ट होकर, रूप के पर्वत पर स्वच्छंदता से घूमता है।।५७।। या जिव्हा के मार्ग से हे सुभट रस गुफा (जिव्हा ,मुख) में प्रवेश करके वहां ही रममाण होता है।।५८।। अथवा नासिका के द्वार से देह का स्वामी जीव, बाहर निकलता है, एवं गंधविषय के भयंकर अरण्य पार कर जाता है।।५९।। इस प्रकार देह एवं इंद्रियों का स्वामी जीव, मन के साथ शहद आदि विषय पंचक का हे धनुर्धर! उपभोग करता है।।३६०।।

वायु गंध के स्थान से गंध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है वैसे देह का स्वामी जीवात्मा, जिस पहले शरीर को त्यागता है उससे मनसहित इंद्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें जाता है।।८।।

किंतु कर्ता भोक्ता ऐसी जीव की स्थिति तब दिखाई देती है जब जीव (कर्म के अनुसार) किसी स्थूल देह में प्रविष्ट होता है।।६१।। ऐश्वर्य संपन्न विलासी पुरुष जैसी किसी राजधानी के स्थान में रहने के लिये जाता है।।६२।। तद्वत अहंकार का आधिक्य अथवा विषय एवं इंद्रियों का उत्पात तब दिखाई देता है, जब जीव, हे पार्थ! देह का आश्रय लेता है।।६३।। जब जीव शरीर को छोड़ता है, तब वह अपने साथ इंद्रिय समुदाय साथ में लेकर दूसरे शरीर में जाता है।।६४।। जैसे अपमानित अतिथि पुण्यरूप संपत्ति ले जाता है, अथवा धागा टूटने से कठपुतली की गति नष्ट होती है।।६५।। जैसे हे किरीटी! सूर्यास्त के समय वह लोगों की दृष्टि ले जाता है, या जैसे वायु सुगंध को पुष्पों से ले जाता है।।६६।। वैसे ज्ञानेंद्रिय के साथ मन देह से ले जाता है, हे अर्जुन! देह का स्वामी जीवात्मा मृत्यु के समय वैसा करता है।।६७।।

उस शरीर में स्थित हुआ यह जीवात्मा श्रोत्र चक्षु, एवं त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके ही विषयों का सेवन करता है।।९।।

तब यहां या स्वर्ग में हे पार्थ! जिस देह का आश्रय वह लेता है, वहां मन आदि का वैसा ही विस्तार होता है।।६८।। हे अर्जुन! जैसे दीपक को बुझाने से उसके साथ उसका प्रकाश भी जाता है, पुनः जलाने पर उसका प्रकाश प्रज्वलित होता है।।६९।। वैसी यह व्यवहार की रीति है, किन्तु हे किरीटी! अविचारी लोगों की दृष्टि वैसे ही अज्ञानवश समझती है।।३७०।। आत्मा ने देह धारण करते ही आत्मा विषयों का उपभोग करती है, अथवा देह छोड़ती है, ऐसा अज्ञानी समझते हैं।।७१।। वैसे तो आना एवं जाना, कर्म करना या उपभोग लेना, यह प्रकृति के विविध धर्म, अविचारी मनुष्य आत्मा के धर्म समझता है।।७२।।

शरीर छोड़कर जाते हुये को या शरीर में स्थित, या विषयों को भोगनेवाले को, या तीनों गुण से युक्त हुए को भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रवाले ज्ञानीजन उसे तत्त्व से जानते हैं।।१०।।

* * *

छोटा देह जब उत्पन्न होता है, उसमें जब चेतना प्रविष्ट होती है, तब उसका चलन वलन देखकर कहते हैं जन्म हुआ।।७३।। तद्वत उस चेतना की संगति में इंद्रिया अपने अपने विषयों में व्यवहार करती हैं, हे सुभद्रानाथ! इसीको ही अज्ञानी लोग जीव का उपभोग लेना समझते हैं।।७४।। पश्चात भोग क्षीण होने पर जब चैतन्य नष्ट होता है तब देह अपने आप पड़ता है, तब वह हलचल नहीं करता हे

Funding by IKS-MoE

चैतन्य आवे मरण। वहां गया, गया अर्जुन!। चिल्लावत वे।।७५।। जब वृक्ष हिलते देखिये। तब ही वायु बहता मानिये। जहां वृक्ष न होवे। समझना नहीं वह?।।७६।। या दर्पण सम्मुख राखिये। और स्वयं वहां देखिये। तब ही हम उत्पन्न ऐसा समझें। क्या पहले से नहीं?।।७७।। या हटाया जब दर्पण। लुप्त जब आभास पूर्ण। अपना अस्तित्व ही नष्ट अर्जुन। क्या जाने ऐसा?।।७८।। शब्द तो आकाश का। किंतु कहत वह मेघका। चंद्रपर वेग अभ्र का। आरोपत पार्थ।।७९।। वैसे होत जात देह यह। और आत्मसत्ता अविक्रय। किंतु मोहवश करत यही निश्चय। अंधजन वे।।३८०।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

यहां आत्मा आत्मा के ही ठौंई। तथा देहधर्म देह में ही। देखत इसविध वे और ही। पुरुष पार्थ।।८१।। ज्ञान से जिनके नयन। जानकर देह को खोली अर्जुन। सूर्य रश्मी ग्रीष्म में अति तीक्ष्ण। अभ्रपटल को।।८२।। वैसे जिनका विवेक प्रकाश से। ज्ञान स्वरूप में स्थिर जैसे। वे ज्ञानी देखत ऐसे। आत्मा को।।८३।। जैसे तारागण युक्त। समुद्र में गगन बिंबत। किंतु न वह खंडित। या गिरत पार्थ।।८४।।जैसे तारंगण युक्त। समुद्र में गगन बिंबत। किंतु न वह खंडित। या गिरत पार्थ।।८४।। गगन तो गगन में ही। आभास वहां प्रतिबिंब ही। वैसा आत्मा देखत देह में ही। परिवेष्टित देह से।।८५।। निर्झर की चंचलता। निर्झर में ही वसत सर्वथा। बिंबित चंद्रिका स्थिर तत्त्वता। चंद्र में ही जैसी।।८६।। या डबरा तो भरत सुखत। सूर्य जैसा का वैसा ही रहत। देह होते जाते देखत। मुझ को ही वे।।८७।। घट मठ बांधत। पश्चात उसी को तोड़त। किंतु आकाश अखंडित। सर्वकाल।।८८।। वैसी अखंड आत्मसत्ता। अज्ञान दृष्टि से कल्पित पार्था। आना जाना देह का ही सर्वथा। जानत स्पष्ट।।८९।। चैतन्य न वर्धत ना घटत। न चेष्टा करावत न करत। ऐसे आत्मज्ञान से शुद्ध सत्य। जानत वे।।३९०।। वैसे ज्ञान भी होगा प्राप्त। प्रज्ञा परमाणु भी गिन सकत। और शास्त्रसार समस्त। होगा हस्तगत।।९१।। ऐसी यदि विद्वता किरीटि। किंतु मन में ना उनके विरक्ति। तब सर्वात्मक मुझसे निश्चिति। भेट नाही।।९२।। शास्त्रज्ञान मुख में पूर्ण। और विषय से भरा अंतःकरण। उनको न मैं प्राप्त अर्जुन। त्रिशुद्धि जानो।।९३।। बर्रावत ग्रंथज्ञान। क्या छूटे संसार बंधन?। किया पोथी को वस्त्र से वेष्टन। क्या पढ़ी वह?।।९४।। अथवा ढांककर नयन। बांधे घ्राण को मुक्ताफल अर्जुन। क्या जानत मोलमान। उसका कभी?।।९५।। वैसा अहंकार चित्त में। शास्त्राभ्यास पूर्ण जिव्हा में। बीते कोटि जन्म ऐसे में। तथापि न प्राप्त मैं।।९६।। जो समस्त में मैं एक। भूतजात में व्यापक। उस व्याप्ति का रूप अलौकिक। करूं प्रकट अब।।९७।।

Funding by IKS-MoE

अर्जुन! आत्मा गया ऐसा वे चिल्लाते हैं।।७५।। जब वृक्ष को हिलते हुए देखने पर ही क्या वायु बहता है ऐसा समझना चाहिये? जहां वृक्ष नहीं होता वहां क्या वायु नहीं रहती?।।७६।। दर्पण को सम्मुख रखने पर स्वयं को उसमें देखिये, तब ही क्या हम उत्पन्न हुए हैं, उसके पूर्व क्या नहीं थे?।।७७।। या जब दर्पण को हटाया तब उसमें दिखनेवाला आभास पूर्ण नष्ट हुआ, हे अर्जुन! प्रतिबिंब के साथ क्या हमारा अस्तित्व नष्ट होता है?।।७८।। आकाश के शब्द को मेघों की आवाज समझते हैं, हे पार्थ! मेघों का आच्छादन वायुवेग से बहता है उस पर चंद्र के वेग का आरोप करते हैं।।७९।। वैसे देह होता है एवं जाता है, विकार रहित आत्मसत्ता पर, अविचारी लोग भ्रम से निश्चयपूर्वक आरोपित करते हैं।।३८०।।

योगीजन अपने हृदय में स्थित आत्मा को प्रयत्नपूर्वक तत्त्व से जानते हैं, जिन्होंने अपने अंतःकरण को शुद्ध नहीं किया ऐसे अज्ञानीजन यत्न करते हुये भी इस आत्मा को नहीं जानते।।११।।

यहां आत्मा, आत्मा में देखना चाहिये, तथा देह के धर्म को देह में देखना चाहिये, हे पार्थ! ऐसा देखनेवाले विरले होते हैं।।८१।। जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तीक्ष्ण किरणें मेघपटल को भेदकर बाहर निकलती हैं, वैसे जिनके ज्ञाननेत्र देह का निरसन करके आत्मा को स्पर्श करते हैं।।८२।। विवेक के प्रकाश में ज्ञानिओं की बुद्धि आत्मस्वरूप में स्थिर होती है, इस प्रकार से वे आत्मा को देखते हैं।।८३।। जैसे नक्षत्रों से परिपूर्ण आकाश समुद्र में प्रतिबिंबित होता है, किंतु वह टूटकर समुद्र में गिरा नहीं है या खंडित नहीं हुआ है।।८४।। आकाश तो आकाश में ही है, प्रतिबिंब आभास मात्र है, वैसा आत्मा देह से भिन्न है यह ज्ञानी जानते हैं।।८५।। निर्झर की चंचलता झरने में होती है, चंद्रमा का प्रतिबिंब बहते पानी में हिलता हुआ दिखाई देने पर भी चंद्रमा की चंद्रिका उसमें स्थिर होती है।।८६।। जल से डबरा भरा जाता है एवं सूखता भी है किंतु उसमें प्रतिबिंबित होनेवाला सूर्य जैसा का वैसा रहता है, तद्वतं देह उत्पन्न होते समय एवं देह नष्ट होने पर आत्मा का नाश नहीं होता यह ज्ञानी जानते हैं।।८७।। घट एवं मठ को बनाने के उपरांत उसको नष्ट भी कर दिया, किंतु उसके साथ आकाश नष्ट नहीं हुआ, वह तो नित्य अखंड है।।८८।। वैसी आत्मसत्ता अखंड है, हे पार्थ! देह का आना जाना अज्ञान दृष्टि से कल्पित है ऐसा ज्ञानी जानते हैं।।८९।। चैतन्य बड़ता नहीं एवं घटता भी नहीं, न किसी से कर्म कराता है एवं स्वयं भी करता नहीं, ऐसे आत्मज्ञान से शुद्ध सत्य को वे जानते हैं।।३९०।। वैसा ज्ञान अपने स्वाधीन होगा, बुद्धि परमाणुओं को भी गिन सकेगी, एवं सब शास्त्रों का सार प्राप्त होगा।।९१।। हे किरीटी। ऐसी उनकी विद्वत्ता होगी किंतु वैराग्य यदि मन में स्थिर न हुआ, तब सबके अंतर्यामी आत्मरूप में विराजमान मेरा उसको दर्शन नहीं होगा।।९२।। सब शास्त्रों का ज्ञान मुखेद्गत है, किंतु अंतःकरण विषयों में आसक्त है, हे अर्जुन! उनको मैं निश्चित रूप से प्राप्त नहीं हो सकता।।९३।। निद्रा में ग्रंथों की बड़बड़ करने से क्या संसार बंधन छूटता है? पोथी को वस्त्र में बांध देने से क्या उसका पाठ हो जाता है?।।९४।। अथवा नेत्र को ढांककर नासिका को मौक्तिक बांध देने से क्या उसका मूल जान सकेंगे?।।९५।। वैसा अंतःकरण में अहंकार है एवं जिव्हा से सब शास्त्रों का पूर्ण अभ्यास किया है, कोटी जन्म ऐसे बीत जानेपर भी मेरी प्राप्ति नहीं होगी।।९६।। जो मैं सब प्राणियों में व्याप्त हूं, मेरे उस व्याप्ति का अलौकिक रूप अब स्पष्ट करता है।।९७।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जब जिस सूर्यतेज से समस्त। विश्वरचना दृष्टि से दिखत। वही दीप्ति मेरी निश्चित। आद्यंत पार्थ।।९८।। जब शोषत जब सविता। पुनः आर्द्रत्व देत तत्त्वता। वह चंद्र में पंडुसुता। ज्योत्स्ना मेरी।।९९।। और दहन पाचन सिद्धि। करत जो निरवधि। वह हुताशन में तेजवृद्धि। मेरी ही पार्थ।।४००।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

मैंही प्रवेशत भूतल में। अतः समुद्र के महाजल में। रजः कण की यह भेली उसमें। घुलत न कभी।।१।। और भूतजात चराचर। जो धारण करे यह अपार। मैं ही धरत उनको साचार। प्रविष्ठ होकर।।२।। गगन में मैं पंडुसुत। चंद्ररूप से अमृत। चलता सरोवर बनत। जानो तुम।।३।। वहां से प्रसरत रश्मिकर। बनाकर जलौध अपार। सर्वोषधिओं के आगार। भरत मैं।।४।। इस विध सस्यादिक को सकल। धान्य जातिका करूं सुकाल। अन्न द्वारा पोषण निखिल। भूतजात का।।५।। और निर्माण किया जो अन्न। तथापि कैसा उसका दीपन। जो पाचन होकर समाधान। भोगत जीव।।६।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अतः प्राणिमात्र के घट में किरीटि। नाभिकंद पर करके अंगिठी। जठर में विद्यमान जो दीप्ति। हुआ मैं ही।।७।। प्राणापान जोड़ भाथी से पार्थ। हवा करके अहोरात्र। न जाने कितना शोषत। अन्न उदर में।।८।। शुष्क अथवा स्निग्ध। सुपक्व अथवा विदग्ध। मैं ही अन्न चतुर्विध। पचावत सब।।९।। एवं मैं ही समस्त जन। जननिर्वाहिक मैं ही जीवन। जीवन का मुख्य साधन। वन्ही भी मैं ही।।४१०।। अब इसके आगे और। क्या कहूं व्याप्ति का नवल बिस्तार। यहां न दूजा कोई सर्वत्र। मैं ही एक।।११।। तब कहो इस जगमें। कोई सदा सुख में। और कोई बहुत दुख में। आक्रांत भूत।।१२।। ऐसा यदि तर्क वितर्क। करत मानस में एक। तब करूं निरसन देख। शंका का मैं।।१४।। मैं सर्वत्र ओत-प्रोत। सर्वथा जानो निश्चित। प्राणियों के बुद्धि से कल्पित। भिन्न भिन्न।।१५।। आकाश का शब्द गुण। सर्वत्र यदि समप्रमाण। किंतु वाद्य विशेष से भिन्न। भासत जैसा।।१६।। अथवा यह एकही उदित सूर्य। विभिन्न लोक चेष्टा से कौन्तेय। विविध व्यवहार को होय। उपयुक्त देख।।१७।। नाना बीज धर्मानुरूप। वृक्ष में उपजवत आप। वैसे आकारत स्वरूप। जीव में मेरा।।१८।। अरे एक मूढ़ एक चतुर। सामने दो लड़ी नीलमणि का हार। सर्पत्व से एक को भय कर। सुखकर दूजे को।।१९।। जाने दो स्वाति का उदक। शुक्ति में मोती व्याल में विख। वैसे सज्ञानी को मैं सुख। दुःख अज्ञानी को।।४२०।।

सर्वस्व चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

हे अर्जुन! जो तेज सूर्य में स्थित हुआ संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, तथा जो तेज, चंद्रमा में स्थित है, और जो तेज अग्नि में स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज समझना।।१२।।

जिस सूर्य के तेज से समस्त विश्व की रचना दृष्टि से दिखती है वही प्रकाश आदिं से अंत तक, हे पार्थ! निश्चित मेरा समझना।।९८।। जब सूर्य जल का शोषण करता है, पुनः तत्त्वरूप से जल देता है, उस चंद्रमा में मेरी ही ज्योत्स्ना होती है।।९९।। एवं जलाने की एवं पाचन करने की शक्ति अग्नि में है वह प्रखर तेज मेरा ही समझना।।४००।।

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूं और रसस्वरूप याने अमृतमय चंद्रमा होकर संपूर्ण औषधियों को पुष्ट करता हूं।।१३।।

भूमि के तल में प्रवेश किया है, अतः चारों तरफ से समुद्र से परिवेष्टित यह मिट्टी की ढेली जल में नहीं घुलती।।१।। चराचर अपार भूतमात्र को यह धारण करती है, उन सब भूतों को पृथ्वी में प्रवेश करके मैंही धारण करता हूं।।२।। हे पंडुसुत! आकाश में चंद्रमा के रूप में अमृत का चलता तालाब मैं बना हूं।।३।। वहां प्रसारित चंद्रकिरण रूपी अपार जलप्रवाह को धारण करके मैं सब वनस्पतियों के उद्यान भर देता हूं।।४।। इस प्रकार से सब धान्य की मैं विपुलता करता हूं अन्न के द्वारा प्राणिमात्र को जीवन देता हूं।।५।। अन्न पकाने के उपरान्त अन्न का पचन होकर जीव को समाधान प्राप्त होगा ऐसी भूख की प्रखरता कहां से होगी?।।६।।

सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्निरूप बनकर मैं प्राण एवं अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न का पाचन करता हूं।।१४।।

अतः प्राणिमात्र के देह रूपी घट में नाभिस्कंधपर अंगिठी बनाकर जठर में मैं अग्नि हुआ हूं।।७।। हे पार्थ! प्राण एवं अपानरूप जोड़ भांथी से दिनरातं हवा करके मैं उदर में कितने अन्न का पाचन करता हूं, समझ में नहीं आता।।८।। शुष्क अथवा स्निग्ध, पका हुआ या जला हुई चारों प्रकार के अन्न का मैं ही पाचन करता हूं।।९।। एवं मैंही सब प्राणि बना हूं, प्राणिओं को जीवित रखनेवाला अन्न भी मैं ही हूं। अन्न का पाचन करानेवाला जठराग्नि भी मैं ही हूं।।४१०।। अब इसके आगे और क्या कहूं? मेरे व्याप्ति का विस्तार आश्चर्यकारक है, यहां दूजा कोई नहीं है, सर्वत्र मैं ही एक हूं।।११।। तब कहो! इस जग में कोई सुख में दिखाई देता है कोई दुःख से आक्रांत है, ऐसा स्वरूप वैचित्र्य कैसे उत्पन्न हुआ?।।१२।। ऐसा यदि तर्क वितर्क मन में करते हो, तब उस शंका का निरसन करता हूं।।१३।। मैं सवत्र ओत-प्रोत भरा हूं, यह निश्चित जानना, प्राणिओं के बुद्धि के अनुसार मेरे विषय में विभिन्न प्रकार की कल्पनाएं होती हैं।।१४।। जैसे एक ही आकाशध्वनि विविध वाद्यों से विविध नादों के रूप में बाहर निकलती है।।१६।। अथवा एक सूर्य का उदय होने पर विविध लोग अपने कार्य के अनुसार हे कौंतेय विभिन्न प्रकार के व्यवहार करते हैं उसमें उपयुक्त होता है।।१७।। विविध बीज उनके गुणों के अनुरूप वृक्ष में, जल उत्पन्न करता है, वैसा मेरा स्वरूप जीव में आकार लेता है।।१८।। एक मूढ़ एक चतुर, दोनों के सम्मुख, दो लड़ी के नीलमणिओं के हार को अज्ञानियों को सांप एवं ज्ञानिओं को यथार्थ ज्ञान होने से सुखप्रद प्रतीत होता है।।१९।। एक ही स्वाति नक्षत्र का जल सीप में मोती बनता है, सर्प में विष होता है, तद्वत मैं ज्ञानियों के लिये सुखस्वरूप एवं अज्ञानियों के लिये दुःखरूप हूं।।४२०।।

* * *

मैं ही सब प्राणियों को हृदय में अंतर्यामी रूप में स्थित हूं मेरे से ही स्मृति, ज्ञान, अपोहन, होता है, सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं, वेदान्त का कर्ता एवं वेदों को जाननेवाला भी मैं ही हूं।।१५।।

Funding by IKS-MoE

वैसे सब के हृदय में स्थित। मैं एक ही ऐसी पार्थ। बुद्धि जो अहर्निश स्फुरत। वस्तु वही मैं।।२१।। परंतु संतो की संगत से। और योगज्ञान के अभ्यास से। गुरुचरण उपासना से। वैराग्यसहित।।२२।। इन्हीं सत्कर्मों से पार्थ। अशेष अज्ञान विरमत। जिनका अहं विश्रामत। आत्मरूप में।।२३।। सहज ज्ञान दृष्टि से दर्शन। मेरे आत्मरूप से पावे सुख पूर्ण। इस स्थिति को क्या अर्जुन। हेतु कोई?।।२४।। अरे, होवे जब सूर्योदय। सूर्य से ही देखे सूर्य। वैसे मेरे ज्ञान को कौंतेय। कारण मैं ही।।२५।। शरीर परायण की सेवा कर। संसार गौरव सुनकर। देह में डूबा जिनका समग्र। आत्मभाव।।२६।। वे स्वर्गसंसार प्रीत्यर्थ। कर्ममार्ग पर दौड़त। पावत दुःख विशिष्ट। धनुर्धर।।२७।। किंतु इसका भी मूल अर्जुन। मेरा अशेष अज्ञान। जैसा जागृत ही कारण। निद्रा स्वप्न को।।२८।। अभ्र से दिवस लोपत। वह दिवस से ही होवे प्रतीत। वैसे मुझे न जानकर विषय देखत। सत्ता से ही मेरी।।२९।। निद्रा अथवा जागरण। प्रबोध ही उसका कारण। वैसे ज्ञान अज्ञान को अर्जुन। मूल में ही।।४३०।। जैसे सर्पत्व या डोर को। डोर ही मूल उसको। वैसे ज्ञान अज्ञान संसार को। अधिष्ठान में ही।।३१।। अतः मैं जैसा हूं वैसे को। न जानकर धनंजय मुझ को। वेद जो लगा वर्णन करने को। हुई शाखाएं उसकी।।३२।। तब तीनों शाखा भेद में। जानो त्रिशुद्धि मैं ही उसमें। जैसे पूर्वापार नदी को समुद्र में। प्राप्य स्थान एक।।३३।। और महासिद्धान्त के निकट। श्रुति लोपत शब्द सहित। जैसी आकाश में सुगंधयुक्त। वातलहरी।।३४।। वैसे समस्त ही श्रुति जात। ठकत लजाकर निवान्त। उसको मैं ही करूं यथावत। प्रकट पार्थ।।३५।। पश्चात श्रुतिसहित अशेष। जग लोपत निःशेष। वह निजज्ञान का गुडाकेश। ज्ञाता मैं ही।।३६।। जागत जब निद्रा से अर्जुन। नष्ट स्वप्न का दूजापन। किंबहुना एकत्व तब जान। देखे अपना।।३७।। वैसे अपना अद्धयपन। मैं ही जानूं दूजेबिन। उसका भी बोधकारण। ज्ञाता मैं ही।।३८।। जलत जब कर्पूर। न कालिख ना वैश्वानर। शेष वहां सुवीर। जिस प्रकार।।३९।। वैसे समूल अविद्या खोवे। वह ज्ञान भी जब लुप्त होवे। तब अस्ति नास्ति न सहे। आत्मस्वरूप।।४४०।। पूर्ण विश्व हरे जो गुप्त। कैसे करे उस चोर को प्रकट। ऐसी जो एक दशा पार्थ। शुद्ध वह मैं।।४१।। ऐसी जड़ाजड़ में व्याप्ति। कहकर कैवल्यपति। निरुपाधिक स्वरूप में विश्रांति। अन्त में लेत।।४२।। वह अशेष बोध सहसा। अर्जुन में प्रकटत कैसा। व्योम का चंद्रोदय जैसा। क्षीरार्णव में।।४३।। या प्रतिभित्तिपर निघर्षित। चित्र सामने का प्रतिबिंबित। वैसा अर्जुन अन्तर में प्रकट। कृष्णबोध।।४४।। तब धन्य वस्तुस्वभाव। प्राप्त ज्यौं ज्यौं बढ़े मधुरभाव। अतः अनुभव का राव। अर्जुन कहे।।४५।। जी! कहते अपना व्यापकपन। निरुपाधिक का निरूपण। अच्छा किया

Funding by IKS-MoE

सबके हृदय में स्थित हे पार्थ! एक ही बुद्धि जो स्फुरित होती है वह मैं ही हूं॥२१॥ परंतु संतों के सत्संग में और योगज्ञान के अभ्यास से गुरुचरणों की उपासना वैराग्य सहित करने से॥२२॥ हे पार्थ! इन्हीं सत्कर्मों से सब अज्ञान का नाश होता है, अहंकार आत्मरूप में विलीन होता है॥२३॥ ज्ञान दृष्टि से सहज स्वाभाविक दर्शन होता है मेरे आत्मस्वरूप से पूर्ण सुख की प्राप्ति होती है, इस स्थिति को क्या कोई हेतु होता है॥२४॥ अरे। जब सूर्योदय होता है तब सूर्य से ही सूर्य को देखा जाता है, वैसे मेरे स्वरूप के ज्ञान को मैं ही कारण हूं॥२५॥ शरीर सेवा में लिप्त देहासक्त लोगों के संगति में रहकर संसार की महत्ता सुनते हुए जिनका अहंकार देह में ही स्थित हुआ है॥२६॥ वे स्वर्ग एवं संसार के लिये कर्ममार्ग से दौड़ लगाकर हे धनुर्धर! दुःख प्राप्त करते हैं॥२७॥ अज्ञानिओं को दुःख प्राप्ति भी मेरे कारण ही होती है, जैसा जागृत पुरुष निद्रा एवं स्वप्न का कारण होता है॥२८॥ मेघों से व्याप्त सूर्य जैसा सूर्य से ही दिखाई देता है वैसे मुझे न जानते हुए मेरी सत्ता से ही विषयों को वेभोगते हैं॥२९॥ हे अर्जुन! जैसे निद्रा एवं जागृति को जैसी जागृति कारण होती है तद्वत जीव के ज्ञान एवं अज्ञान को मैं ही कारण हूं॥४३०॥ जैसे रस्सी एवं सांप दिखने को रस्सी ही कारण होती है, वैसे ज्ञान एवं अज्ञान के व्यापार को मैं ही अधिष्ठान हूं॥३१॥ अतः मैं जैसा हूं वैसे को, हे धनंजय! मुझको न जानकर, वेद जो वर्णन करने लगा तब उसकी शाखाएं हुईं॥३२॥ तब तीनों शाखा भेद में मैं ही सत्य रूप में जाना जाता हूं, जैसे पूर्ववाहिनी एवं पश्चिम वाहिनी नदियां अंत में समुद्र में ही विलीन होती हैं॥३३॥ 'एकमेवा द्वितीयं ब्रह्म' इस महासिद्धांत में श्रुति भगवती शब्द सहित मौन होती है, जैसे सुगंध बहाकर ले जानेवाली वायुलहरी आकाश में विलीन होती है॥३४॥ वैसे संपूर्ण श्रुति लज्जित होकर स्तब्ध होती है तब उस लुप्त श्रुति का मैं प्रकट होकर यथावत् सम्मान बढ़ाता हूं॥३५॥ वेदों के श्रुति के साथ संपूर्ण जगत् जिस शुद्ध आत्मज्ञान में संपूर्ण विलीन होते हैं, हे गुडाकेश! वह शुद्ध आत्मज्ञान जाननेवाला भी मैं ही हूं॥३६॥ हे अर्जुन! जब निद्रा से जागृति आती है, स्वप्न का द्वैत नष्ट होता है, किंबहुना तब अपने एकत्व का बोध होता है॥३७॥ वैसा मेरा अद्वयपना, दूजे के बिना मैं ही जानता हूं उसका ज्ञान होने का कारण भी मैं ही होता हूं॥३८॥ कर्पूर जब जलता है तब कालिमा नहीं रहती एवं अग्नि भी, हे सुवीर! शेष नहीं रहता॥३९॥ वैसे अविद्या का मूलसहित नाश होवे, उस ज्ञान का भी लोप जब होता है तब आत्मस्वरूप में है या नहीं का भाव भी नहीं सहा जाता॥४४०॥ पूर्ण विश्व का जो गुप्त रीतिं से हरण करता है उस चोर को कैसे प्रकट करें? ऐसी जो एक दशा होती है हे पार्थ! वह शुद्ध दशा मैं ही हूं॥४१॥ ऐसी जड़ चेतन में मेरी व्याप्ति है ऐसा कहकर कैवल्यपति भगवान श्रीकृष्ण ने अपने निरुपाधिक रूप में उस व्याख्यान का पर्यवसान किया॥४२॥ वह सब ज्ञान अर्जुन में एक साथ प्रकट हुआ, जैसे आकाश का चंद्रोदय क्षीर समुद्र में प्रतिबिंबित होता है॥४३॥ जिस भित्ती पर चित्र निकाला जाता है वह विरुद्ध भित्ति पर प्रतिबिंबित होता है जब वह भित्ती दर्पण सदृश होती है, वैसा श्रीकृष्ण का ज्ञान अर्जुन के हृदय में प्रकट हुआ॥४४॥ ब्रह्म वस्तु का स्वभाव धन्य है, ज्यों-ज्यों उसका स्वरूप अनुभव में आता है त्यों-त्यों उसका मधुर भाव बढ़ता ही है, अतः अनुभवियों का राजा, अर्जुन कहता है॥४५॥ हे महाराज! आपने व्यापकता का वर्णन करते हुए निरुपाधिक स्वरूप का निरूपण किया, हे कृष्ण! हे प्रभु! आपने यह

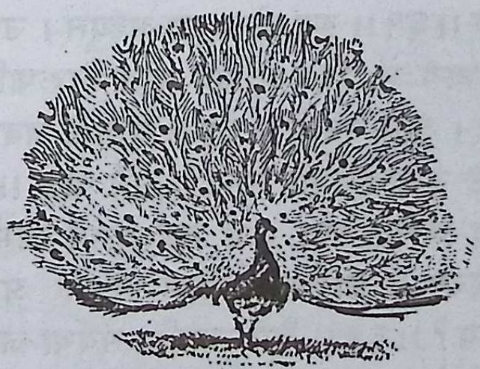

Funding by IKS-MoE

प्रासंगिक कृष्ण। आपने प्रभु।।४६।। वह एक बार अव्यंग। कहो मेरे लिए सुरंग। वहां कहे द्वारकानाथ श्रीरंग। भला किया तुमने।।४७।। हमको निरन्तर पार्थ। यही कहने की प्रीत। किन्तु क्या करे न प्राप्त। प्रश्नकर्ता ऐसा।।४८।। आज मनोरथ को फल। मिले तुम मुझको केवल। जो प्रेमभरित मुख से निखिल। पूछा तुमने।।४९।। जो अद्वैत से भोगना अर्जुन। उस अनुभव का तुम साधन। पूछकर मुझे मत्स्यरूप ज्ञान। देत सुख विशेष।।४५०।। जैसे दर्पण आवे निकट। देखे स्वयं को स्वचक्षुसे बिंबित। वैसे संवादिया तुम पार्थ। निर्मल शिरोमणि।।५१।। तुमने अज्ञान से कुछ पूछना। तब कुछ हमने तुम को सुनाना। नहीं ऐसी यह भावना। प्रेम संवाद यह।।५२।। ऐसे कहकर आलिंगत। कृपा दृष्टी से अवलोकत। तब देव क्या कहत। अर्जुन से।।५३।। दो होठें से एक बोलना। दो चरण से एक चलना। वैसे पूछना बताना। तेरा मेरा।।५४।। एवं हम तुम यहां पार्थ। देखत एक ही अर्थ को तत्त्वतः। जो वक्ता श्रोता यथार्थ। एक ही दोनों।।५५।। ऐसे हुये देव मोहित। अर्जुन को दृढ़ आलिंगत। किंतु भीत मन में कहत न युक्त। प्रेम इतना।।५६।। भेली करने इक्षुरसकी। आवश्यकता होत क्षार की। अन्यथा संवाद सुख में रस की। हानि होत।।५७।। पहले ही मुझमें इसमें कोई। नर नारायण में भिन्नत्व नाहीं। अतः प्रेमावेश वह मेरे ठाँई। विलीन होवे।।५८।। इस बुद्धि से तत्क्षण। कहत अर्जुन को कृष्ण। कैसा पूछा तुमने प्रश्न। अवसर में इस।।५९।। श्रीकृष्ण रूप में अर्जुन। हो रहा था जो तल्लीन। सो प्रश्न कथा पुनः। लगा सुनने।।४६०।। वहां कहत सद्गद् वाचा से। अर्जुन जी जी कहत प्रेम से। कहो निरुपाधिक रूप स्पष्ट से। अपना प्रभो।।६१।। इस बोल पर अच्युत। उपाधि को ही निरूपत। वही कहने के प्रीत्यर्थ। दो भाग में।।६२।। यह पूछा निरुपाधि। क्यों बतावत उपाधि। ऐसी कोई शंका यदि। आवे मन में।।६३।। तक्र से जब पृथक करना। तब ही नवनीत को निकालना। कीट जलाकर ही सोना। होवे शुद्ध।।६४।। हटावे हाथ से शैवाल। तब ही प्राप्त शुद्ध जल। नष्ट अभ्र तब गगन निर्मल। सहज ही पार्थ।।६५।। ऊपर तुष का आवरण। झाड़कर किया पृथक अर्जुन। तब क्या करने प्राप्त कण। लागे समय?।।६६।। वैसे उपाधि सर्वथा जब नष्ट। तब तत्त्वता जो अवशिष्ट। न पूछे किसको तुम पार्थ। निरुपाधिक ही वह।।६७।। होते पती का नामोच्चारण। बाला मौन रहकर दे पहिचान। वैसे कहत श्रुति शब्द बिन। अचर्चा को।।६८।। जो अवर्णनीय शब्द से। प्रथम कहकर उपाधि रूप से। उसका वर्णन करत ऐसे। लक्ष्मीनाथ।।६९।। प्रतिपदा की चन्द्ररेखा। स्पष्ट दिखाने को शाखा। दिखाइये वैसे उपाधिक का। वर्णन यहां।।४७०।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

प्रासंगिक निरूपण अच्छा किया है॥४६॥ वह एकबार पुनः कुछ भी न्यून न रखते हुए, बताईए, द्वारकानाथ श्रीरंग ने कहा, तुमने अच्छा पूछ लिया है॥४७॥ हे पार्थ! हमको निरन्तर यही कहने की प्रीति है, किंतु ऐसा प्रश्न करनेवाला प्राप्त नहीं होता॥४८॥ आज मेरे मनोरथ को फलरूप में केवल तुम मुझे मिले हो, जो प्रेमपूर्ण मुख तुमने सब पूछा है॥४९॥ हे अर्जुन! जो अद्वैत से भोगना चाहिये उस अनुभव का तुम साधन हो, मेरे स्वरूप का ज्ञान मुझसे पूछकर तुम मुझे विशेष सुख दे रहे हो॥४५०॥ जैसे दर्पण निकट आने पर अपने नेत्रों से अपने को प्रतिबिंबित हुआ देखते हैं वैसे तुम शुद्ध संवाद करनेवालों में श्रेष्ठ हो॥५१॥ अज्ञान से तुमने कुछ पूछना, तब कुछ हमने तुमको सुनाना ऐसी यह भावना नहीं है यह तो प्रेम का अंतरंग संवाद है॥५२॥ ऐसे कहकर भगवान ने अर्जुन का आलिंगन किया, कृपादृष्टि से अर्जुन को देखा, तब देव अर्जुन से क्या कहते हैं?॥५३॥ दो होंठों से एकहि वाणी निकलती है, दो चरणों से चलना एक होता है, वैसे तेरा एवं मेरा पूछना एवं बताना है॥५४॥ हे पार्थ! हम एवं तुम एक ही अर्थ को तत्त्वतः देखते हैं, जो वक्ता एवं श्रोता यहां एक ही है॥५५॥ ऐसे देव मोहित हुए, उन्होंने अर्जुन को दृढ़ आलिंगन दिया, किंतु डरकर मन में कहते हैं इतना प्रेम योग्य नहीं है॥५६॥ गन्ने के रस की भेली बनाने के लिए क्षार की आवश्यकता होती है, संवाद सुख में रस की हानि होगी॥५७॥ पहले ही मुझमें एवं इसमें, याने नर-नारायण में कोई भेद नहीं है, अतः मेरा प्रेम का आवेश मेरे में ही विलीन होवे॥५८॥ श्रीकृष्ण ने एकसाथ प्रश्न पूछा, हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन! तुमने कैसा प्रश्न किया था?॥५९॥ श्रीकृष्ण रूप में अर्जुन तल्लीन हो रहा था वह प्रश्न की कथा पुनः सुनने लगा॥४६०॥ सद्‌गद वाणी से अर्जुन ने प्रेम से कहा, हे प्रभो अपना निरुपाधिक रूप स्पष्ट कहिये॥६१॥ इस बोल पर वे अर्जुन को उपाधि का निरूपण करने लगे, दो प्रकार से उसी प्रीत्यर्थ उन्होंने कहा॥६२॥ निरुपाधिक रूप पूछने पर भगवान क्यों उपाधि बता रहे ऐसी कोई शंका यदि मन में आवे॥६३॥ मही से मक्खन को मथकर ही निकाला जाता है। हीनता जलाकर सोना शुद्ध होता है॥६४॥ हाथ से काई को जब हटाया जाता है, तब ही शुद्ध जल मिलता है, बादल नष्ट होते ही आकाश स्वाभाविक शुद्ध होता है॥६५॥ धान्य के छिलके का आवरण पृथक करने पर शुद्ध धान्य प्राप्त करने के लिए हे अर्जुन! क्या विलंब लगता है?॥६६॥ वैसे जब उपाधि सब नष्ट होती है तब तत्त्वरूप से जो शेष बचता है, हे पार्थ! वही निरुपाधिक रूप होता है यह तुम किसीसे पूछना नहीं॥६७॥ पति के नाम का उच्चारण होते ही नवविवाहित बाला मौन रहकर पहिचान बताती है, वैसे श्रुति, भगवती स्थूल प्रपंच परमात्मा नहीं है ऐसे बताती है, एवं जिसके विषय में चर्चा नहीं हो सकती उस भगवान का स्वरूप श्रुति मौन रहकर शब्द के बिना बताती है॥६८॥ जो अवर्णनीय है, शब्द से जिसका वर्णन नहीं हो सकता, उसका वर्णन लक्ष्मीनाथ उपाधि रूप कहकर ऐसा करते हैं॥६९॥ प्रतिपदा तिथि में चंद्ररेखा दिखाने के लिए जैसे प्रथम वृक्ष की शाखा दिखाना पड़ती है (शाखा चंद्र न्याय) वैसे निरुपाधिक का वर्णन करने के लिए उपाधि का यहां वर्णन है॥४७०॥

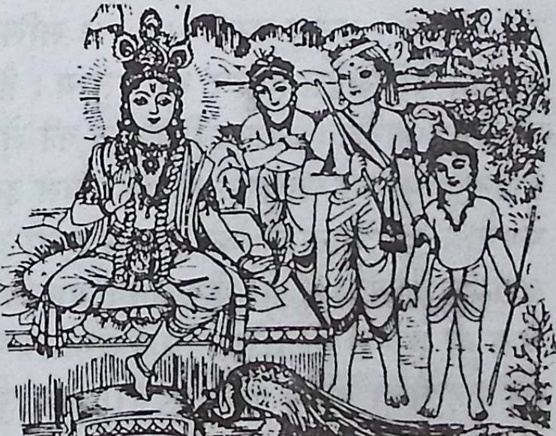

हे अर्जुन! इस संसार में नाशवान् और अविनाशी ऐसे दो प्रकार के पुरुष हैं, उनमें संपूर्ण भूप्राणियों के शरीर नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है॥१६॥

तब कहत वह धनुर्धर। यह संसार जानो लघुनगर। जहां वसत साचोकार। पुरुष दो।।७१।। जैसे पूर्ण गगन में। वर्तत दिवारात्र उसमें। वैसे इस संसार राजधानी में। दो ही ये।।७२।। और भी तीजा पुरुष। जो न साहे इनका नामनिर्देश। प्रकटते ही करत दोनों का नाश। नगर सहित।।७३।। रहने दो यह बात। प्रथम सुनो दोनों का वृतांत। जो संसार ग्राम में आवत। वस्ती को पार्थ।।७४।। एक अंध उन्मत्त अपंग। दूजा सर्वांग सुंदर अव्यंग। किंतु ग्राम गुण से हुआ संग। परस्पर।।७५।। उस एक का नाम क्षर। दूजे को कहत अक्षर। इन्हीं दोनों से संसार नगर। व्याप्त पूर्ण।।७६।। अब क्षर वह कौन। अक्षर का किं लक्षण?। अभिप्राय यह कहूं संपूर्ण। सविस्तर।।७७।। जब महदहंकार-। आदि से धनुर्धर। तृणान्त के अग्र।- पर्यंत पार्थ।।७८।। लघु श्रेष्ठ सुवीर। चल अथवा सुस्थिर। किंबहुना गोचर। मन बुद्धि को जो।।७९।। जो जो पंच भौतिक से सृष्ट। नाम रूप के अंतर्गत। टंकशाला में मुद्रित। गुणत्रय के।।४८०।। भूताकृतीका नाणक। जिस सुवर्ण से घटित विशेख। काल द्यूत खेलत देख। कौड़ियों से जिन।।८१।। विपरित ज्ञान से पार्थ। जो जो कुछ होवे ज्ञात। और जो प्रतिक्षण नाशत। उत्पन्न होकर।।८२।। तोड़कर भ्रांतिका दाग। उभारत सृष्टि का अंग। रहने दो यह बहुत, जग। नाम जिसको।।८३।। अष्टधा भिन्न ऐसे। दिखाया प्रकृति मिष से। क्षेत्र नाम छत्तीस प्रकार से। वर्णित जो।।८४।। यह कितना कहूं पूर्व कथित। सुनो सद्य जो किया प्रस्तुत। वृक्षाकार रूपाकृत। निरूपित जो।।८५।। यह अशेष साकार। जानकर अपना नगर। व्याप्त सर्वत्र तदनुसार। चैतन्य ही।।८६।। जैसे कुए में स्वयं बिंबित। प्रतिबिंब देखकर सिंह क्षोभत। होकर तब संतप्त। कूदत उसमें।।८७।। सलिल में स्वयं विद्यमान। बिंबत व्योम पर व्योम अर्जुन। वैसे अद्वैत होकर भी चैतन्य। द्वैत होत।।८८।। इस प्रकार आकारयुक्त। देह को नगर मानत। आत्मा विस्मृति की लेत। निद्रा वहां।।८९।। किन्तु स्वप्न में शैय्या देखना। जाकर उसीपर लेटना। वैसे इस पुरी में सोना। आत्मा को पार्थ।।४९०।। पश्चात उस निद्रा के भर से। मैं सुखी दुःखी कहत जैसे। अहं ममता के आवेश से। बर्रावत जात।।९१।। यह जनक यह माता। मैं गोरा काला स्वतः। पुत्र वित्त कान्ता। मेरा ही सब।।९२।। इस विध मग्न स्वप्न में। दौड़त भव स्वर्ग के बन में। उस चैतन्य को कहूं मैं-। पुरुष क्षर।।९३।। अब सुनो क्षेत्रज्ञ। इस नाम से जिसको तत्त्वज्ञ। जग में जीव कहत अर्जुन। दशा को जिस।।९४।। स्वरूप को विस्मरत। सब भूतमात्र में वसत। उस आत्मा को जानत। पुरुष क्षर।।९५।। जो कि वह तत्त्वतः पूर्ण। और देहपुरी में करत शयन। आवे पुरुषता अर्जुन। अतः पुरुष वह।।९६।। और क्षरत्त्व का व्यर्थ। आरोप उस पर पार्थ। उपाधिकरण सार्थ। जानो तुम।।९७।। जैसी जल की खलबल से। आंदोलन चंद्रिका वैसे। विकारवश उपाधि से। भासत वैसा।।९८।।

Funding by IKS-MoE

तब भगवान कहते हैं, हे धनुर्धर! यह संसार एक छोटा सा नगर है, वहां दो पुरुष रहते हैं।।७१।। जैसे पूर्ण आकाश में दिन एवं रात ये दो ही रहते हैं वैसे इस संसार की राजधानी में ये दो ही रहते हैं।।७२।। और भी तीजा पुरुष है, जो इनका नाम तक नहीं सहता, वह प्रकट होते ही इन दोनों का नाश नगरसहित कर देता है।।७३।। यह बात अब रहने दो, प्रथम दोनों का वृत्तांत सुनो, हे पार्थ! जो इस संसार ग्राम में बस्ती करने आते हैं।।७४।। एक अंधा, उन्मत्त एवं अपंग है, दूजा सर्वांगसुंदर, अव्यंग है, किंतु एक ही गांव में रहने से परस्पर का संग हुआ है।।७५।। उस एक का नाम क्षर है, दूजे को अक्षर कहते हैं, इन्हीं दोनों से संसार नगर संपूर्ण व्याप्त है।।७६।। अब क्षर कौन है, अक्षर का क्या लक्षण है, यह अभिप्राय संपूर्ण सविस्तार कहूंगा।।७७।। जब महत् अहंकार आदि से तृण के अग्रपर्यंत हे पार्थ!।।७८।। हे सुवीर! छोटा एवं श्रेष्ठ, चल एवं सुस्थिर, किंबहुना जो मन, बुद्धि को गोचर है।।७९।। जो जो पंचमहाभूतों से निर्माण हुआ है वह नामरूप के अंतर्गत आता है, वह तीनों गुणों से टंकशाला में मुद्रित हुआ है।।४८०।।

भूत मात्र आकृति का चलन जिस सुवर्ण से बनता है, या काल जिस धन से-कौड़ियों से द्यूत खेलता है।।८१।। हे पार्थ! विपरीत ज्ञान से जो जो कुछ समझ में आता है वह प्रतिक्षण उत्पन्न होकर नष्ट होता है।।८२।। भ्रांतिरूपी जंगल की लकड़ियों से जो सृष्टि का आकार निर्माण होता है, उसको जग कहते हैं, और क्या वर्णन करूं?।।८३।। आठ प्रकार से भिन्न करते हुए प्रकृति के रूप में पहले (अध्याय ७ श्लोक ४) बताया एवं क्षेत्र नाम से छत्तीस भाग करके (अध्याय १३ श्लोक ५ और ७) वर्णन किया।।८४।। पहले बताया हुआ अब कितना कहूं। अब जो वर्णन किया है उसको सुनो, वह वृक्ष के आकार के रूप में बताया है।।८५।। यह सब आकार स्थूल, सूक्ष्म देह अपना नगर समझकर वही अपना स्वरूप व्याप्त है ऐसा चैतन्य समझने लगा।।८६।। कुए में स्वयं का प्रतिबिंब देखकर सिंह क्रोधित होकर उसमें दूजा सिंह समझकर जैसे कूदता है।।८७।। जल में स्वयं आकाश है उस आकाश पर आकाश का प्रतिबिंब पड़ता है, तद्वत मूलतः अद्वैत होते हुए भी चैतन्य द्वैत के साथ एकरूपता करता है।।८८।। इस प्रकार से साकार शरीर को नगर की कल्पना करके आत्मा वहां विस्मृति की निद्रा लेता है।।८९।। किंतु स्वप्न में शैय्या देखना, एवं जाकर उसी पर सो जाना, वैसे इस नगर में आत्मा की निद्रा रहती है।।४९०।। पश्चात उस प्रगाढ़ निद्रा में मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं ऐसा कहता है, अहंकार एवं ममता के आवेग से बड़बड़ाता रहता है।।९१।। यह मातापिता हैं, मैं स्वयं गौर वर्ण का हूं या श्याम वर्ण का हूं, पुत्र, धन, पत्नी सब मेरे हैं।।९२।। इस प्रकार से वह स्वप्न में मग्न रहता है, संसार एवं स्वर्ग के अरण्य में भटकता रहता है, उस चैतन्य को मैं क्षर पुरुष कहता हूं।।९३।। अब क्षेत्रज्ञ इस नाम से जिसका उल्लेख होता है अथवा जिस दशा को जग में तत्त्वज्ञ जीव ऐसा कहते हैं।।९४।। जो स्वरूप को भूल जाता है, सब भूतमात्र में रहता है, उस आत्मा को क्षर पुरुष कहते हैं।।९५।। वह क्षर पुरुष आत्मस्वरूप से पूर्ण है, किंतु देहनगर में निद्रा करता है, अतः उसको पुरुष यह संज्ञा है।।९६।। हे पार्थ! क्षरत्व का उसपर वृथा आरोप है, वह उपाधि के कारण यह उससे तादात्म्य करता है।।९७।। जैसी जल की हलचल से जल में चंद्रमा का प्रतिबिंब हिलता है, वैसा यह क्षर पुरुष विकारवश उपाधि से वैसा दिखाई देता है।।९८।। छोटा जलाशय जब सूखता है तब उसमें दिखाई देनेवाला चंद्रमा का प्रतिबिंब तत्क्षण नष्ट होता है, वैसे विकारों के नाश से वह

Funding by IKS-MoE

लघु जलाशय जब सूखत। चंद्रिका तत्क्षण नाशत। वैसे विकार नाश से न दिखत।
उपाधिक वह।।९९।। उस विध उपाधि संग से पार्थ। चैतन्य को क्षणिकत्त्व प्राप्त।
उस हीनत्व से पावत। नाम क्षर।।५००।। एवं जीव चैतन्य अशेष। जानो वह क्षर
पुरुष। अब रूप करूं विशेष। अक्षर का।।१।। तब दूजा जो अक्षर। पुरुष जानो
धनुर्धर। यह मध्यस्थ गिरीवर। में मेरु जैसा।।२।। जो वह पृथ्वी पाताल स्वर्ग।
इनसे न होवे त्रिविभाग। वसत अज्ञान दो अंग। से न बदले वह।।३।। न यथार्थ ज्ञान
से ऐक्य पावत। न अन्यथा ज्ञान से होवे द्वैत। जो शुद्ध अज्ञान पार्थ। वही रूप
जो।।४।। मृतिकत्त्व निःशेष जाये। न घट भांडादि होवे। उस मृत्पिंड सम रहे।
मध्यस्थ जो।।५।। जैसे शुष्क होवे सागर। शेष न तरंग ना नीर। वैसी जो
अनाकार। दशा पार्थ।।६।। जागृति जब समाप्त। और स्वप्नावस्था न अभी प्राप्त।
ऐसी निद्रासम यथार्थ। स्थिति जो।।७।। विश्वाभास तो लुप्त। किंतु आत्मबोध न
प्रकट। इस अज्ञान दशा को सार्थ। अक्षर नाम।।८।। सर्व कलाविरहित शेष।
अमावस में चंद्रत्व रहत। वैसे जानियो रूप तत्त्वतः। अक्षर का तुम।।९।। जहां
सर्वोपाधि विनाश। यह जीवदशा का जहां प्रवेश। पक्व फलबीज में अशेष। वृक्ष
जैसा।।५१०।। वैसे उपाधि उपहित। रखत जहां सुप्त। उसी दशा को अव्यक्त।
कहत पार्थ।।११।। भन अज्ञान सुषुप्ति। वही बीज भाव किरीटि। और स्वप्न और
जागृति। फलभाव जिसको।।१२।। जिसको संज्ञा बीजभाव। वेदान्त में है प्रज्ञाराव।
वह अव्यक्त जानो ठाव। अक्षर पुरुष का।।१३।। जहां से उत्पन्न विपरीत ज्ञान।
वहीं से प्रकटत जागृति स्वप्न। हुआ नाना बुद्धि का बन। वृद्धिंगत।।१४।। जीवत्व
जहां से अर्जुन। विश्वसहित उत्पन्न। जीव विश्व का संगम स्थान। अक्षर पुरुष
वह।।१५।। दूजा क्षर पुरुष पार्था। जागृति स्वप्न में क्रीडाकर्ता। इन दोनों ही
अवस्था। प्रसवत जो।।१६।। अज्ञान धन सुषुप्ति। ऐसी श्रुति में जो ख्याति। वहां
न्यून एक प्राप्ति। ब्रह्म की जो।।१७।। साथ ही इसके आगे सुवीर। यदि न आवे
स्वप्न जागर। तब इस स्थिति को साचार। कहे ब्रह्मभाव।।१८।। किंतु प्रकृति
पुरुष पार्थ। अभ्र इस गगन में उदित। और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को देखत। स्वप्न में
जो।।१९।। जो अधो शाखों का विस्तार। इस संसार वृक्ष को धनुर्धर। उसका
मूलरूप अक्षर। पुरुष ही यह।।५२०।। क्यों पुरुष यह अभिधान। जो सोवत होकर
पूर्ण। या मायापुर में करे शयन। इसलिये भी।।२१।। और विकारों का जो फेर। वह
विपरीत ज्ञान का प्रकार। नहीं जिसके अंदर। सुषुप्ति यह।।२२।। अतः इसको
अर्जुन। क्षरण का न कोई कारण। और एक मात्र ज्ञानबिन। नाश न इसका।।२३।।
इसलिये यह अक्षर पार्थ। कहत इसको वेदान्त। एक महान सिद्धान्त। प्रसिद्ध जग
में।।२४।। ऐसा जीव कार्यकारण। जिसका मायासंग ही लक्षण। अक्षर पुरुष जान।
चैतन्य वही।।२५।।

Funding by IKS-MoE

उपाधिरहित दिखता है।।९९।। हे पार्थ! इस प्रकार से उपाधि के संगति से चैतन्य को क्षणभंगुरता प्राप्त होती है, उस हीनता के कारण वह क्षर पुरुष कहलाता है।।५००।। जीव एवं चैतन्य को क्षर पुरुष समझना। अब अक्षर पुरुष का वर्णन करता हूं।।१।। जैसे सब पर्वतों में मेरु पर्वत श्रेष्ठ है, वैसा जो दूजा पुरुष उसको अक्षर जानो।।२।। जो यह पृथ्वी, पाताल एवं स्वर्ग से उनके तीन भाग नहीं होते, वैसा यह ज्ञान एवं अज्ञान से संबंध नहीं रखता।।३।। यथार्थ ज्ञान से एकरूप नहीं होता एवं अन्यथा ज्ञान से द्वैत भी उत्पन्न नहीं होता, हे पार्थ! केवल अज्ञान ही अक्षर पुरुष का रूप है।।४।। मिट्टी का गुण निकल जाता है घट या पात्र नहीं बनता, कीचड़ के गोले जैसा बीच का उसका स्वरूप है।।५।। समुद्र सूखने पर उसमें तरंग उत्पन्न नहीं होते जल भी नहीं होता, वैसी आकार रहित अवस्था होती है।।६।। जागृति समाप्त हो गयी है, स्वप्नावस्था अभी प्राप्त नहीं हुई है, ऐसी निद्रा के समान वह यथार्थ में स्थिति होती है।।७।। संपूर्ण विश्वाभास लुप्त होता है, आत्मज्ञान अभी प्राप्त नहीं हुआ, इस अज्ञानावस्था को अक्षर यह संज्ञा है।।८।। सब कलाओं से रहित चंद्रमा का कलारहित अमावस्या का जो स्वरूप है, वैसा अक्षर पुरुष का तत्त्वस्वरूप है।।९।। फल पकने पर वृक्ष जैसा बीज में लीन रहता है, वैसा सब उपाधियों का नाश होने पर यह जीवदशा जहां लीन होकर रहती है।।५१०।। क्षर पुरुष की देहादि उपाधि एवं उपाधि संबंधित क्षर पुरुष, दोनों जिस दशा में सुप्त रखे जाते हैं।।११।। प्रगाढ़ अज्ञान एवं सुषुप्ति हे किरीटी! बीजभाव है, स्वप्न एवं जागृति उसका फलभाव है।।१२।। जिसको बीजभाव ऐसा नाम, वेदांत में दिया है, हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अर्जुन! वह अव्यक्त अक्षर पुरुष का स्थान है।।१३।। जहां से विपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है, वहीं से जागृति एवं स्वप्न के अवस्थाओं का विस्तार करके विभिन्न बुद्धि का बन विकसित हुआ।।१४।। हे अर्जुन! जहां से विश्व के साथ जीवत्व उत्पन्न होता है, जीव एवं विश्व का संगमस्थान अक्षर पुरुष होता है।।१५।। दूजा क्षर पुरुष हे पार्थ! जागृति एवं स्वप्न में क्रीड़ा करता है, इन दो अवस्थाओं को जो निर्माण करता है।।१६।। अज्ञान एवं प्रगाढ़ सुषुप्ति ऐसी श्रुति में जो प्रख्याति है, वहां ब्राम्हमी स्थिति की केवल एक न्यूनता बाकी है।।१७।। हे सुवीर! इसके आगे स्वप्नावस्था नहीं आती एवं जागृत भी नहीं होते, तब इस स्थिति को सत्य में ब्रह्मभाव कहते हैं।।१८।। प्रकृति पुरुषरूपी बादल इस आकाश में उत्पन्न होते हैं और क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को जो स्वप्न में देखता है।।१९।। जो नीचे की शाखाओं का विस्तार है, इस संसारवृक्ष को हे धनुर्धर! उसका मूलरूप यह अक्षर पुरुष ही है।।५२०।। इसको पुरुष यह नाम क्यों है? यह अपने स्वरूप से पूर्ण ही है, किंतु यह मायानगर में निद्रा करता है, इस कारण से इसको पुरुष कहते हैं।।२१।। विकारों का आना जाना यह विपरीत ज्ञान का जो प्रकार है, वह प्रकार सुषुप्ति अवस्था में समझ में नहीं आता, वह सुषुप्ति यह अक्षर पुरुष है।।२२।। अतः हे अर्जुन ! क्षरण का यहां कोई कारण नहीं है, और ज्ञान के बिना इसका नाश नहीं होता।।२३।। अतः हे पार्थ! यह अक्षर है ऐसा वेदान्त में कहते हैं, जग में यह महान सिद्धांत प्रसिद्ध है।।२४।। ऐसा जीव कार्य का कारण है माया के उपाधि का आश्रय करना यही उसका लक्षण है, उस चैतन्य को अक्षर पुरुष समझना।।२५।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

स्वप्न और जागृति। नाना विपरीत ज्ञान की स्थिति। धन अज्ञानत्व में किरीटि।
खोवत दो।।२६।। अज्ञान ज्ञान में डूबत। ज्ञान कीर्ति मुखत्व से अवशिष्ट। जैसे काष्ट
जलाकर नष्ट। अग्नि स्वयम्।।२७।। वैसे नष्ट करके अज्ञान। ब्रह्मत्त्व देत जान।
शेष ज्ञातव्यबिन। ज्ञाप्ति जो।।२८।। वह जानो उत्तम पुरुष। जो तृतीय निष्कर्ष।
दोनों से भिन्न विशेष। पूर्व निरूपित जो।।२९।। सुषुप्ति एवं स्वप्न। से बहुविध
अर्जुन। जागृति में भिन्न भिन्न। बोध जानो।।५३०।। या रश्मि और मृगजल। से
भिन्न सूर्यमंडल। वैसे सर्वतः पृथक केवल। उत्तम देख।।३१।। वन्हीं काष्ट में जैसा।
काष्ट से भिन्न वैसा। क्षराक्षर से तैसा। भिन्न जो।।३२।। मर्यादा अपनी लांघकर।
नदी नद को करत एकत्र। कल्पान्त में करे जयजयकार। एकार्णव का।।३३।। वैसे
स्वप्न ना सुषुप्ति। न जागृति की स्थिति। जैसे निगलत दिवारात्री। प्रलय
तेज।।३४।। तब ऐक्य ना द्वैत। है या नहीं न जानत। अनुभव स्वयं भ्रमित। जहां
पार्थ।।३५।। ऐसा अवाच्य जो एक। वही उत्तम पुरुष देख। परमात्म तत्त्व नाम से
विशेख। ज्ञात जो।।३६।। ऐक्य यहां न प्राप्त। कथन यह जीवत्त्व से पार्थ। जैसी
डूबनहाराकी करे। खड़ा किनारे जो।।३७।। वैसे विवेक के तट पर। खड़ा यदि
धनुर्धर। करत तब पैलपार। की चर्चा वेद।।३८।। अतः पुरुष क्षराक्षर। दोनों
देखकर ऐलतीर को। इसको कहत पर। आत्मरूप।।३९।। अर्जुन इस विध। यह
परमात्म शब्द। से पहिचानो प्रसिद्ध। पुरुषोत्तम।।५४०।। जहां मौन ही बोलना।
कुछ न जानना ही जानना। कुछ न होना ही होना। वस्तु जो।।४१।। सोहं भी
अस्तमान। जहां निरुपित ही होवे निरूपण। दृष्टासहित विलीन। दृष्य
जहां।।४२।। बिम्ब प्रतिबिम्ब में पार्थ। प्रभा कैसी कहना न उचित। यद्यपि न प्राप्त
न ही प्रतीत। प्रयत्न से भी।।४३।। घ्राण पुष्प दोनों में। द्रुति जो विद्यमान उसमें। न
दिखत किन्तु मन में। भी न कहो ऐसा।।४४।। वैसे दृष्टा दृष्य जब नष्ट। कौन कहे
क्या अवशिष्ट। किन्तु जो अनुभव से प्राप्त। वही रूप जिसका।।४५।। जो
प्रकाश्यबिन प्रकाश। जो इशितव्यबिन ईश। व्यापकत्व से अवकाश। समावत
जो।।४६।। नाद ही जिसका सुनत नाद। स्वाद ही जिसका लेवे स्वाद। जो भोगत
आनंद। आनंद से ही।।४७।। जो पूर्णता का परिणाम। पुरुष वह पुरुषोत्तम।
विश्रांति का भी विश्राम। शांत जहां।।४८।। सुख से सुख जुड़त। तेज को तेज
प्राप्त। शून्य ही जहां डूबत। महाशून्य में।।४९।। जो विकास उपरांत अवशिष्ट।
प्रलय में विश्वग्रास को पूर्ण निगलत। जो बहुत प्रकार से बहुत। बहुतों से।।५५०।।
चांदी कभी नहीं शुक्ति। किंतु दर्शवत अज्ञानियों प्रति। चांदीपन की प्रतीति।
धनुर्धर।।५१।। नाना अलंकार दशा में। सोना न छिपते हुये छिपा उसमें। न होते हुये

Funding by IKS-MoE

उन दोनों में उत्तम पुरुष अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण, पोषण करता है एवं अविनाशी परमात्मा ऐसा कहा गया है।।१७।।

स्वप्न एवं जागृति अन्यथा ज्ञान की विपरीत स्थिति है, प्रगाढ़ अज्ञान तत्त्व हे किरीटी!, दोनों खो जाते हैं।।२६।। अज्ञान ज्ञान में डूबता है, अहंब्रह्माऽस्मि ऐसी कीर्ति ज्ञान से शेष रहकर ज्ञान ही समाप्त होता है, जैसे काष्ठ को जलाकर अग्नि स्वयं शांत हो जाता है।।२७।। वैसे अज्ञान को नष्ट करने के उपरांत ब्रह्मत्व का आत्म साक्षात्कार कराके केवल ज्ञान के बिना ज्ञान शेष रहता है।।२८।। वह उत्तम पुरुष समझना, पहले जिनका वर्णन किया है उन दोनों से यह तीजा पृथक है।।२९।। हे अर्जुन! सुषुप्ति एवं स्वप्न से पृथक जागृति में विभिन्न प्रकार का बोध रहता है।।५३०।। सूर्यकिरण एवं मृगजल इनसे सूर्यमंडल भिन्न होता है, वैसे उत्तम पुरुष इन दो पुरुषों से बिलकुल अलग हैं।।३१।। इंधन में जैसा अग्नि होता है, वह इंधन से भिन्न होता है, वैसा यह क्षर एवं अक्षर से भिन्न है।।३२।। अपनी मर्यादा लांघकर कल्प के अंत में जलमय एक समुद्र होता है, सब नदियां एवं नद को एक करता है।।३३।। वैसे वहां स्वप्नावस्था नहीं है, न प्रगाढ़ निद्रा वैसे जागृत स्थिति भी नहीं होती, प्रलयकाल का तेज दिन एवं रात को भी निगल जाता है।।३४।। तब ऐक्य नहीं रहता एवं द्वैत भी नहीं होता है या नहीं यह भी जानता नहीं, हे पार्थ! यहां अनुभव स्वयं भ्रमित होता है।।३५।। ऐसा वाणी के परे जो एक है वही उत्तम पुरुष है समझना, वही परमात्मा नाम से तत्त्वतः जाना जाता है।।३६।। यहां ऐक्य नहीं होता, जीवभाव से यहां कहना है, हे पार्थ! जैसे डूबनेवाले की वार्ता किनारे पर खड़ा होनेवाला बता सकता है।।३७।। वैसे विवेक के किनारेपर, हे धनुर्धर! जो खड़ा है, ऐसे वेद पैलपार की चर्चा करते हैं।।३८।। अतः क्षर एवं अक्षर पुरुष दोनों को इस किनारे पर देखकर उत्तम पुरुष को पर आत्मरूप-परमात्मारूप कहते हैं।।३९।। हे अर्जुन! इसविध यह परमात्मा शब्द से प्रसिद्ध पुरुषोत्तम को पहचानो।।५४०।। जहां मौन ही वाणी है, कुछ न जानना ही यथार्थ में जानना है, कुछ न होते हुए जो परमात्म वस्तु बनता है।।४१।। सोऽहं भी यहां समाप्त होता है, बतानेवाला ही स्वयं निरूपण हुआ है, दृष्टा के साथ यहां दृश्य विलीन हो गया।।४२।। हे पार्थ! सूर्य का बिंब एवं उसका प्रतिबिंब इन दोनों के बीच तेज कैसा है यह कहना उचित नहीं है, वह यद्यपि प्राप्त नहीं होता, प्रयत्न करने पर अनुभव भी नहीं होता।।४३।। नासिका एवं पुष्प दोनों के बीच में जो सुगंध विद्यमान रहता है, वह यद्यपि नेत्र को दिखाई नहीं देता, तब उसको नहीं है ऐसा नहीं कह सकते।।४४।। वैसे जब देखनेवाला एवं दृश्य जब नष्ट होता है, तब शेष क्या है कौन कहेगा, जो अनुभव से देखता है, वही उसका रूप होता है।।४५।। जो प्रकाशित किये बिना ही प्रकाश है, ईश्वरत्व भाव के बिना ईश्वर है, अपने व्यापकता से संपूर्ण अवकाश में समाया है।।४६।। जिसका नाद, नाद ही सुनता है, स्वाद जिसका स्वाद ही लेता है, जो आनंद से आनंद का उपभोग करता है।।४७।। जो पूर्णता का अंतिम स्वरूप है, वह सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम है, विश्रांती को भी यहां विश्राम प्राप्त हुआ है।।४८।। सुख को प्राप्त सुख यह है, तेज को प्राप्त तेज यह है, शून्य भी महाशून्य में यहां डूब जाता है।।४९।। जो विश्व के विस्तार को व्याप्तकर शेष है, जो प्रलयकाल में विश्वग्रास को पूरा निगलता है, वह बहुत प्रकार से बहुतों से विपुल है।।५५०।। जैसे सीप अपने को चांदी नहीं समझती, किंतु अज्ञानियों को वह चांदी प्रतीत होती है।।५१।। विविध प्रकार के अलंकार की दशा में सुवर्ण छिपा न रहते हुए भी उसमें छिपा है, न होते हुए भी अविनाशी रूप में वह विश्व को धारण करता

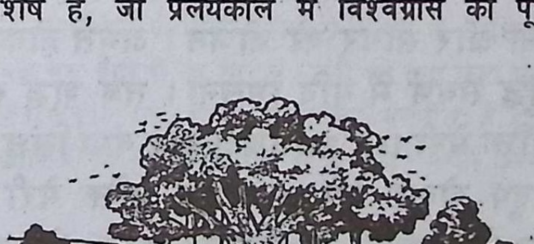

धरे अधिष्ठान रूप में। विश्व को जो।।५२।। जल और तरंग अर्जुन। जैसे न होत भिन्न भिन्न। वैसे सत्ता और प्रत्यक्ष ज्ञान। जग का स्वयं जो।।५३।। जो अपने ही आपुन। संकोस विकास का कारण। या जल के प्रतिबिंब में पूर्ण। चंद्र जैसा।।५४।। विश्व विकास में न प्रकट। विश्व विनाश से न नष्ट। जैसा रात्रि दिवस में न होत। द्विधा रवि।।५५।। वैसे किसी काल देश में अर्जुन। किसी कारण से न होवे क्षीण। जिसकी तुलना पूर्ण। उसी से है स्वयम।।५६।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

जो अपने का आपुन। करे स्वयं प्रकाशन। बहुत क्या कहूं उपमान। न जिसको दूजा।।५७।। वही निरुपाधिकु। क्षराक्षर उत्तम एकु। अतः कहत वेद और लोकु। पुरुषोत्तम।।५८।।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

रहने दो यह इसविध। मुझ पुरुषोत्तम को प्रसिद्ध। जाने दो प्रबुद्ध। ज्ञान मित्रो-दय से।।५९।। जागृति में होकर अपना ज्ञान। जैसे नष्ट होवे स्वप्न। वैसे त्रिभुवन भासमान। लगे मिथ्या जिसको।।५६०।। माला जब आवे हाथ। लुप्त भय सर्पाभास का पार्थ। वैसे आत्मबोध जब उदित। अस्तंगत विश्वाभास।।६१।। अलंकार को जो जाने सुवर्ण। अलंकारत्त्व भासत व्यर्थ अर्जुन। वैसे मुझे जानकर त्यागत पूर्ण। द्वैत जो।।६२।। जब कहे सर्वत्र सच्चिदानन्द। मैं ही एक स्वतः सिद्ध। स्वतः सहित समस्त अभेद। जानत जो।।६३।। जाना सब उसने ही। कहना यह भी कम ही। जो कही भी शेष नाहीं। द्वैत उसमें।।६४।। अतः मेरे भजन। को उचित वही अर्जुन। आलिंगन को जैसे गगन। गगन के ही।।६५।। होना क्षीर सागर स्वयं आपुन। तब देना क्षीर सागर को भोजन। अमृत होकर ही संभव मिलन। अमृत में जैसे।।६६।। शुद्ध सुवर्ण में यदि मिलना। तब शुद्ध सुवर्ण ही होना। वैसे मैं ही होकर करना। भक्ति मेरी।।६७।। भिन्न यदि गंगा सिंधु से। कैसा संभव मिलन उससे?। अतः बिना मद्रुप होकर वैसे। असंभव भक्ति मेरी।।६८।। इसविध सब प्रकार से। अभिन्न कल्लोल सागर से। मुझको अनन्य होकर वैसे। भजत जो।।६९।। प्रभा और सूर्य। अद्वैत इनका जैसा नित्य। उसी तरह योग्य। भक्ति उसकी।।५७०।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। एतद्बुद्ध्वाबुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

उपनिषदों का दिव्य कमल। उससे प्रसृत जो परिमल। सर्वशास्त्रों का सार निर्मल। कथित यहां।।७१।।यह शब्द ब्रह्म का मथित। श्री व्यास प्रज्ञाहस्त से पार्थ। मंथन कर किया प्राप्त। सहज हमने।।७२।। जो ज्ञानामृत की जान्हवी। जो आनन्द चन्द्र की कला सतरहवीं। विचार क्षीरार्णव की नवी। लक्ष्मी जो।।७३।।

Funding by IKS-MoE

है ।।५२।। हे अर्जुन! जल एवं तरंग जैसे भिन्न नहीं होते, वैसे जिसकी सत्ता एवं प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं जो जग का बना है ।।५३।। जो स्वयं अपने विकास एवं संकोच का कारण है, जैसे जल में पूर्ण चंद्र का प्रतिबिंब होता है ।।५४।। जैसे रात्रि एवं दिन के कारण सूर्य दो प्रकार का नहीं होता, वैसे विश्व जब विकसित होता है तब यह प्रकट नहीं होता, विश्व का विनाश होने से यह नष्ट नहीं होता ।।५५।। तद्वत् कभी, किसी काल में हे अर्जुन! किसी कारण से यह क्षीण नहीं होता, जिसकी तुलना पूर्ण उसी से ही होती है ।।५६।।

क्योंकि मैं नाशवान, जड़वर्ग क्षेत्र से सर्वथा अतीत हूं और माया में स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूं अतः लोगों में एवं वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं ।।१८।।

अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, अब क्यों और क्या उपमान दूं, जिसके जैसा दूजा नहीं है ।।५७।। क्षर एवं अक्षर इन दो पुरुषों से श्रेष्ठ वही उपाधिरहित ऐसा मैं एक हूं, अतः वेद एवं सब जन मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं ।।५८।।

हे भारत! इस प्रकार तत्त्व से जो ज्ञानी पुरुष मेरे को पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को भजता है ।।१९।।

इस प्रकार से यह रहने दो, हे अर्जुन! ज्ञानसूर्य का उदय होने पर ऐसा मैं जो पुरुषोत्तम, उस मुझे जो जानते हैं ।।५९।। जागृति में अपना ज्ञान होने पर जैसे स्वप्नावस्था नष्ट होती है, वैसे आत्मज्ञान से त्रिभुवन मिथ्या प्रतीत होता है ।।५६०।। हे पार्थ! माला हाथ में लेने पर सांप का भय नष्ट होता है, वैसे जब आत्मज्ञान होता है तब विश्व का आभास समाप्त होता है ।।६१।। अलंकार को जो सुवर्ण समझता है, हे अर्जुन! उसको अलंकार का आकार व्यर्थ प्रतीत होता है, वैसे मुझे जानकर जो संपूर्ण द्वैत का त्याग करता है ।।६२।। जब सर्वत्र सच्चिदानंद है ऐसा कहते हैं, वह मैं ही एक स्वतःसिद्ध हूं, स्वयं के साथ सर्वत्र वह अभेद जानता है ।।६३।। उसने सब कुछ जान लिया है, यह कहना भी कम है, सर्वत्र ब्रह्ममय होने से उसमें द्वैत शेष नहीं है ।।६४।। हे अर्जुन! अतः मेरा भजन करने के लिए वही योग्य है, आकाश जैसे आकाश को आलिंगन देने के लिए योग्य होता है ।।६५।। क्षीरसागर को मेहमानी करने के लिये स्वयं को क्षीरसागर बनना होगा, अमृत बनकर ही अमृत में मिलन संभव होगा ।।६६।। शुद्ध सुवर्ण में यदि मिलना है तब शुद्ध सुवर्ण बनना पड़ेगा, वैसे मद्रूप बनकर ही मेरी भक्ति करना चाहिये ।।६७।। यदि गंगाजल में भिन्नता होती, तो समुद्र के साथ उसका मिलन कैसे होता? अतः मद्रूप हुए बिना मेरी भक्ति असंभव है ।।६८।। जैसे तरंग सागर से अभिन्न होते हैं, उसी प्रकार जो अनन्य भाव से मुझको भजता है ।।६९।। सूर्य एवं सूर्य की प्रभा, इनका अद्वैत जैसा नित्य होता है, उसी तरह योग्यता भक्ति की होती है ।।५७०।।

हे निष्पाप अर्जुन! ऐसे यह अति रहस्यपूर्ण गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है, उसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान एवं कृतार्थ होता है उसको कुछ करना शेष नहीं रहता ।।२०।।

उपनिषदों के दिव्य कमल से निसृत जो सुगंध है, वह सब शास्त्रों का सार है, उसी को यहां कहां गया है ।।७१।। यह शब्द ब्रह्म का नवनीत है, श्री व्यासजी के बुद्धिरूपी हाथ से हे पार्थ! मंथन करके इसको हमने सहज प्राप्त किया है ।।७२।। जो ज्ञानरूपी अमृत की गंगा है, आनंदरूपी चंद्रमा की सतराहवीं जीवन कला है, विचाररूपी क्षीरसागर का मंथन करके निकली हुई नयी लक्ष्मीजी हैं ।।७३।। अतः यह गीतारूपी लक्ष्मी अपने पद से, वर्ण से एवं अर्थ से जीव प्राण से मेरे बिना गीता के हृदय में अन्य

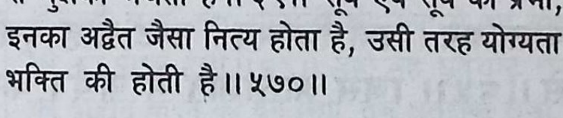

धरे अधिष्ठान रूप में। विश्व को जो ।।५२।। जल और तरंग अर्जुन। जैसे न होत भिन्न भिन्न। वैसे सत्ता और प्रत्यक्ष ज्ञान। जग का स्वयं जो ।।५३।। जो अपने ही आपुन। संकोस विकास का कारण। या जल के प्रतिबिंब में पूर्ण। चंद्र जैसा ।।५४।। विश्व विकास में न प्रकट। विश्व विनाश से न नष्ट। जैसा रात्रि दिवस में न होत। द्विधा रवि ।।५५।। वैसे किसी काल देश में अर्जुन। किसी कारण से न होवे क्षीण। जिसकी तुलना पूर्ण। उसी से है स्वयम ।।५६।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१८।।

जो अपने का आपुन। करे स्वयं प्रकाशन। बहुत क्या कहूं उपमान। न जिसको दूजा ।।५७।। वही निरुपाधिकु। क्षराक्षर उत्तम एकु। अतः कहत वेद और लोकु। पुरुषोत्तम ।।५८।।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९।।

रहने दो यह इसविध। मुझ पुरुषोत्तम को प्रसिद्ध। जाने दो प्रबुद्ध। ज्ञान मित्रोदय से ।।५९।। जागृति में होकर अपना ज्ञान। जैसे नष्ट होवे स्वप्न। वैसे त्रिभुवन भासमान। लगे मिथ्या जिसको ।।५६०।। माला जब आवे हाथ। लुप्त भय सर्पाभास का पार्थ। वैसे आत्मबोध जब उदित। अस्तंगत विश्वाभास ।।६१।। अलंकार को जो जाने सुवर्ण। अलंकारत्त्व भासत व्यर्थ अर्जुन। वैसे मुझे जानकर त्यागत पूर्ण। द्वैत जो ।।६२।। जब कहे सर्वत्र सच्चिदानन्द। मैं ही एक स्वतः सिद्ध। स्वतः सहित समस्त अभेद। जानत जो ।।६३।। जाना सब उसने ही। कहना यह भी कम ही। जो कही भी शेष नाहीं। द्वैत उसमें ।।६४।। अतः मेरे भजन। को उचित वही अर्जुन। आलिंगन को जैसे गगन। गगन के ही ।।६५।। होना क्षीर सागर स्वयं आपुन। तब देना क्षीर सागर को भोजन। अमृत होकर ही संभव मिलन। अमृत में जैसे ।।६६।। शुद्ध सुवर्ण में यदि मिलना। तब शुद्ध सुवर्ण ही होना। वैसे मैं ही होकर करना। भक्ति मेरी ।।६७।। भिन्न यदि गंगा सिंधु से। कैसा संभव मिलन उससे?। अतः बिना मद्रुप होकर वैसे। असंभव भक्ति मेरी ।।६८।। इसविध सब प्रकार से। अभिन्न कल्लोल सागर से। मुझको अनन्य होकर वैसे। भजत जो ।।६९।। प्रभा और सूर्य। अद्वैत इनका जैसा नित्य। उसी तरह योग्य। भक्ति उसकी ।।५७०।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। एतद्बुद्ध्वाबुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।२०।।

उपनिषदों का दिव्य कमल। उससे प्रसृत जो परिमल। सर्वशास्त्रों का सार निर्मल। कथित यहां ।।७१।।यह शब्द ब्रह्म का मथित। श्री व्यास प्रज्ञाहस्त से पार्थ। मंथन कर किया प्राप्त। सहज हमने ।।७२।। जो ज्ञानामृत की जान्हवी। जो आनन्द चन्द्र की कला सतरहवीं। विचार क्षीरार्णव की नवी। लक्ष्मी जो ।।७३।।

है।।५२।। हे अर्जुन! जल एवं तरंग जैसे भिन्न नहीं होते, वैसे जिसकी सत्ता एवं प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं जो जग का बना है।।५३।। जो स्वयं अपने विकास एवं संकोच का कारण है, जैसे जल में पूर्ण चंद्र का प्रतिबिंब होता है।।५४।। जैसे रात्रि एवं दिन के कारण सूर्य दो प्रकार का नहीं होता, वैसे विश्व जब विकसित होता है तब यह प्रकट नहीं होता, विश्व का विनाश होने से यह नष्ट नहीं होता।।५५।। तद्वत् कभी, किसी काल में हे अर्जुन! किसी कारण से यह क्षीण नहीं होता, जिसकी तुलना पूर्ण उसी से ही होती है।।५६।।

क्योंकि मैं नाशवान, जड़वर्ग क्षेत्र से सर्वथा अतीत हूं और माया में स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूं अतः लोगों में एवं वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं।।१८।।

अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, अब क्यों और क्या उपमान दूं, जिसके जैसा दूजा नहीं है।।५७।। क्षर एवं अक्षर इन दो पुरुषों से श्रेष्ठ वही उपाधिरहित ऐसा मैं एक हूं, अतः वेद एवं सब जन मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।।५८।।

हे भारत! इस प्रकार तत्त्व से जो ज्ञानी पुरुष मेरे को पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को भजता है।।१९।।

इस प्रकार से यह रहने दो, हे अर्जुन! ज्ञानसूर्य का उदय होने पर ऐसा मैं जो पुरुषोत्तम, उस मुझे जो जानते हैं।।५९।। जागृति में अपना ज्ञान होने पर जैसे स्वप्नावस्था नष्ट होती है, वैसे आत्मज्ञान से त्रिभुवन मिथ्या प्रतीत होता है।।५६०।। हे पार्थ! माला हाथ में लेने पर सांप का भय नष्ट होता है, वैसे जब आत्मज्ञान होता है तब विश्व का आभास समाप्त होता है।।६१।। अलंकार को जो सुवर्ण समझता है, हे अर्जुन! उसको अलंकार का आकार व्यर्थ प्रतीत होता है, वैसे मुझे जानकर जो संपूर्ण द्वैत का त्याग करता है।।६२।। जब सर्वत्र सच्चिदानंद है ऐसा कहते हैं, वह मैं ही एक स्वतःसिद्ध हूं, स्वयं के साथ सर्वत्र वह अभेद जानता है।।६३।। उसने सब कुछ जान लिया है, यह कहना भी कम है, सर्वत्र ब्रह्ममय होने से उसमें द्वैत शेष नहीं है।।६४।। हे अर्जुन! अतः मेरा भजन करने के लिए वही योग्य है, आकाश जैसे आकाश को आलिंगन देने के लिए योग्य होता है।।६५।। क्षीरसागर को मेहमानी करने के लिये स्वयं को क्षीरसागर बनना होगा, अमृत बनकर ही अमृत में मिलन संभव होगा।।६६।। शुद्ध सुवर्ण में यदि मिलना है तब शुद्ध सुवर्ण बनना पड़ेगा, वैसे मद्रूप बनकर ही मेरी भक्ति करना चाहिये।।६७।। यदि गंगाजल में भिन्नता होती, तो समुद्र के साथ उसका मिलन कैसे होता? अतः मद्रूप हुए बिना मेरी भक्ति असंभव है।।६८।। जैसे तरंग सागर से अभिन्न होते हैं, उसी प्रकार जो अनन्य भाव से मुझको भजता है।।६९।। सूर्य एवं सूर्य की प्रभा, इनका अद्वैत जैसा नित्य होता है, उसी तरह योग्यता भक्ति की होती है।।५७०।।

हे निष्पाप अर्जुन! ऐसे यह अति रहस्यपूर्ण गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है, उसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान एवं कृतार्थ होता है उसको कुछ करना शेष नहीं रहता।।२०।।

उपनिषदों के दिव्य कमल से निसृत जो सुगंध है, वह सब शास्त्रों का सार है, उसी को यहां कहां गया है।।७१।। यह शब्द ब्रह्म का नवनीत है, श्री व्यासजी के बुद्धिरूपी हाथ से हे पार्थ! मंथन करके इसको हमने सहज प्राप्त किया है।।७२।। जो ज्ञानरूपी अमृत की गंगा है, आनंदरूपी चंद्रमा की सतराहवीं जीवन कला है, विचाररूपी क्षीरसागर का मंथन करके निकली हुई नयी लक्ष्मीजी हैं।।७३।। अतः यह गीतारूपी लक्ष्मी अपने पद से, वर्ण से एवं अर्थ से जीव प्राण से मेरे बिना गीता के हृदय में अन्य

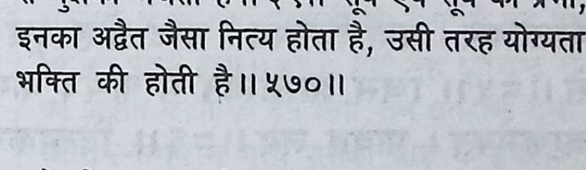

इसलिये वर्ण पद से। अर्थ के जीव प्राण से। मेरे बिन किसी को जैसे। न जाने वह।।७४।। क्षराक्षर सामने आया। पुरुषत्त्व उनका नष्ट किया। मुझको सर्वस्व दिया। पुरुषोत्तम को।।७५।। अतः इस जग में गीता। मेरे पाणिग्रहण से पतिव्रता। जो यह प्रस्तुत तत्त्वता। सुनी तुमने।।७६।। सच ही बोल जोग न यह शास्त्र। यह संसार विजय का शस्त्र। इसके अंक्षर दिव्यमंत्र। आत्म प्राप्ति के।।७७।। तेरे सन्मुख यह निवेदन। वह इस प्रकार अर्जुन। जैस प्रकटित गोप्यधन। मेरा आज।।७८।। गीता गंगा ली माथे पर। जो मैं चैतन्य शंकर। गौतम सम खींची बाहर। आस्था निधि तुमने।।७९।। जैसे शुद्ध दर्पण में पार्थ। वस्तु सामने की प्रतिबिंबित। वैसे आत्मस्वरूप करने व्यक्त। दर्पण तुम मेरे।।५८०।। जैसे चंद्रतारासहित। नभ सिंधु में प्रतिबिंबित। वैसे मुझे हृदय में गीता सहित। समाहित तुमने।।८१।। जो त्रिविध ताप मल। क्षालन करके तुम निर्मल। अतः गीतासहित निवासस्थल। हुए मेरे।।८२।। अर्जुन क्या कहूं यह गीता। यह तो मेरी उन्मेषलता। जाने जो इसको तत्त्वता। मोह से मुक्त वह।।८३।। अमृत सरिता का भोजन। करे सब रोग का हरण। और उचित अमरपन। देह सहज।।८४।। कैसे होवे जब गीताज्ञान। क्या विस्मय? नष्ट मोह पूर्ण। आत्मरूप में होवे लीन। आत्मज्ञान ही से।।८५।। जिस आत्मज्ञान में पार्थ। कर्म निष्कर्म होत सहज। स्वजीव से होकर ऋणमुक्त। पावत लय।।८६।। दिखाकर खोई वस्तु जैसा। शोध पूर्ण होवे वीर विलासा। कर्मप्रासाद पर चढ़त वैसा। ज्ञानकलश।।८७।। अतः ज्ञान जिसको प्राप्त। कर्म उसका होवे समाप्त। बोले ऐसे परम आप्त। अनाथों के।।८८।। वह श्रीकृष्ण वचनामृत। पार्थ हृदय से छलकत। तब व्यास कृपा प्राप्त। संजय को।।८९।। वही वह धृतराष्ट्र राजा को। देत प्राशन करने को। अतः जीवित का अंत उसको। बोझ न लागे।।५९०।। वैसे गीता श्रवण अवसर में। जब रुचि अनधिकारि को उसमें। प्राप्त

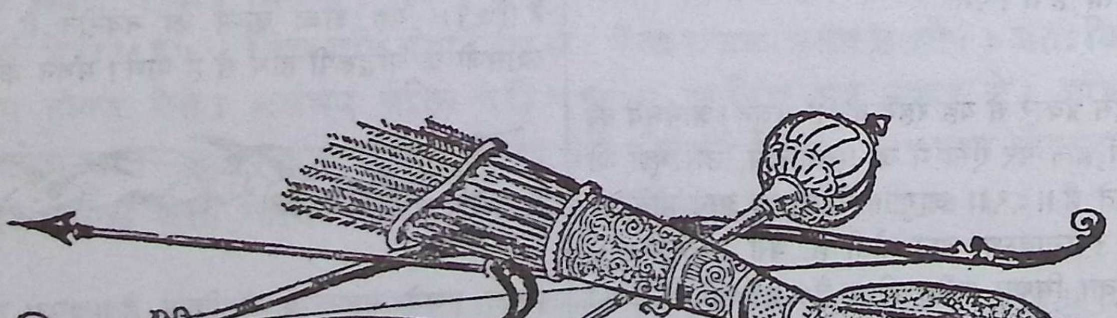

Funding by IKS-MoE

कुछ भी नहीं है ।।७४।। क्षर पुरुष क्षरत्व से एवं अक्षर पुरुष अक्षरत्व से सम्मुख आया, किंतु गीता ने उनका पुरुषत्व नष्ट किया और अपना सर्वस्व मुझ पुरुषोत्तम को समर्पित किया ।।७५।। अतः जिस गीता को तुमने अभी तक सुना है, वह इस जग में आत्मरूप मैं हूं, मुझमें वह अनन्यशरण होने से वह पतिव्रता है ।।७६।। यह गीता केवल शब्द पांडित्य का शास्त्र नहीं है, यह संसारपर विजय प्राप्त करनेवाला शस्त्र है, इस गीता के अक्षर आत्मा को प्रकट करनेवाले दिव्य मंत्र हैं ।।७७।। तेरे सम्मुख यह गीताशास्त्र जो बताया है वह तुमने मेरा गुप्तधन आज बाहर निकाला है ।।७८।। हे अर्जुन! गीतारूपी गंगाजी का मैं चैतन्यरूपी शंकरजी के मस्तकपर भी उसको खींचकर निकालने के लिए हे श्रद्धानिधि अर्जुन! तुम कारण बने हो ।।७९।। हे पार्थ! जैसे शुद्ध दर्पण में सामने की वस्तु प्रतिबिंबित होती है, वैसे आत्मस्वरूप प्रकट करने के लिए तुम मेरा दर्पण बने हो ।।५८०।। जैसे चंद्रमा एवं ताराओं के साथ आकाश सागर में प्रतिबिंबित होता है, वैसे गीतासहित मुझे तुमने अपने हृदय में समाहित कर लिया है ।।८१।। हे अर्जुन! तुम्हारे चित्त से तीन प्रकार के मैल निकल गये हैं, उसीसे गीता के साथ मेरा रहने का स्थान तुम बने हो ।।८२।। हे अर्जुन! यह गीता क्या कहूं? यह मेरी ज्ञानलता है, जो इसको तत्त्वसे समझ लेगा वह मोह से मुक्त हो जायेगा ।।८३।। अमृत की नदी के जल का सेवन करने से वह सब रोगों को नष्ट कर देता है, एवं अमरत्व की प्राप्ति होती है ।।८४।। गीता को समझलेने से मोह नष्ट होता है इसमें क्या आश्चर्य है? गीता को जानने से आत्मज्ञान प्राप्त होकर आत्म ज्ञान में लीन होते हैं ।।८५।। जिस आत्मज्ञान से कर्म निष्कर्म होकर स्वाभाविक रीति से स्वयं के जीव से मुक्त होकर ऋण मुक्त होकर विलीन होते हैं ।।८६।। खोई हुई वस्तु मिलने पर जैसी खोज समाप्त होती है, हे वीर विलास! कर्मरूपी मंदिर पर ज्ञानरूपी कलश चढ़ता है ।।८७।। अतः जिसको ज्ञान प्राप्त होता है उसका कर्म समाप्त होता है, अनाथों के नाथ भगवान कृष्णने ऐसा कहा ।।८८।। वह श्रीकृष्ण का वचनरूपी अमृत पार्थ के हृदय में झलकने लगा, तब व्यासजी की कृपा से वह संजय को भी प्राप्त हुआ ।।८९।। वही वह धृतराष्ट्र राजा को प्राशन करने को देने लगा, तब धृतराष्ट्र राजा के अन्तिम-समय में मृत्यु उसको बोझ के सदृश नहीं लगा ।।५९०।। वैसे गीता सुनने के समय में

Funding by IKS-MoE

उसी को उसी से अंत में। प्रकाश ज्ञान का।।९१।। द्राक्ष वेली में दूध डाला पार्थ। लगा तब गया व्यर्थ। किंतु अंत में फल माधुर्य द्विगुणित। होत जैसे।।९२।। वैसे श्री हरिवक्त्र के अक्षर। संजय निरूपित सादर। उसमें अंध भी उस अवसर। सुखिया हुवा।।९३।। वैसी देशी भाषा विन्यास से। मैंने यथामति जैसे तैसे। उबड़खाबड़ उन्मेष से। निरूपित आपको।।९४।। सेवंति अरसिक को पार्था। दिखत न कछु विशेषता। किंतु लिया सौरभ्य उसका तत्त्वता। भ्रमरने ही।।९५।। वैसे मान्य वही स्वीकारिये। न्यून जो मुझे दीजिये। जो अज्ञानपन ही देखिये। रूप बालक का।।९६।। यद्यपि अज्ञानी वह। देखकर पिता और माय। हर्ष कही न समाय। कौतुक करत।।९७।। वैसे संत मेरा पीहर। लड़ियाऊ आपसे मिलकर। ग्रंथ का व्याज लेकर। जानिये ऐसा।।९८।। अब विश्वात्मक मेरा साजा। स्वामी निवृत्तिराजा। अवधारे वाक्यपूजा। ज्ञानदेव कहे।।५९९।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिंदीअनुवादे
पुरुषोत्तमयोगोनाम पंचदशोऽध्यायः (श्लोक २० ओवियाँ ५९९)

Funding by IKS-MoE

अनाधिकारी है ऐसा लग रहा था, किंतु उसके अंतिम समय में उसीसे उसको ज्ञानप्रकाश प्राप्त हुआ।।९१।। हे पार्थ! द्राक्ष की लता के जड़ में दूध डालने से व्यर्थ गया ऐसा लग रहा था, किंतु अन्त में फल के माधुर्य में द्विगुणित मधुर स्वाद हुआ।।९२।। वैसे श्रीहरि के मुख से निकलनेवाले अक्षर संजय ने आदरपूर्वक बताये, अतः अंधा होते हुए भी राजा धृतराष्ट्र को सुख प्राप्त हुआ।।९३।। वैसी देशी भाषा की रचना से मैं यथामति जैसे मुझसे बना वैसे टूटी फूटी वाणी से आपको बताया।।९४।। बसंती के पुष्प को देखनेपर अरसिक व्यक्ति को कुछ विशेषता दिखाई नहीं देती, किंतु तत्त्वतः उसका सुगंध भ्रमर ही लेता है।।९५।। वैसे गीता के प्रतिपादन में जो योग्य होगा उसका आप श्रोतागण! स्वीकार कीजिये, उसमें जो न्यून होगा, वह मुझे लौटा दीजिए, कुछ भी न समझना यही छोटे बालकों का स्वरूप होता है।।९६।। बालक अज्ञानी होते हुए भी माता पिता को बालक को देखकर हृदय में आनंद नहीं समाता वे बालक का कौतुक करते हैं।।९७।। वैसे संत मेरा पीहर है, आपसे मिलकर प्यार करा लेने की इच्छा होती है, यह ग्रंथ का निमित्त मैं ले रहा हूं, ऐसा समझिये।।९८।। अब विश्वात्मक मेरा स्वामी श्री निवृत्ति राजा मेरा यह वाक्यपूजन स्वीकार करें ऐसा ज्ञानदेवजी कहते हैं।।९९।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

Funding by IKS-MoE

अध्याय - सोलहवाँ

सारांश

सहज इष्टानिष्ट करणी। दोनो ये लीलाकारिणी। उद्घोषणा जिसकी सुनी। नवमोध्याय में। अतः वह प्रसंग देव। निरूपत अब॥अ.१६/६१-६२॥

ज्ञान सूर्योदय होते ही पुरुषोत्तम स्वरूप का यथार्थ अनुभव आता है। इसप्रकार श्रीकृष्ण ने पंद्रहवें अध्याय के अन्त में कथन किया। इस अध्याय के प्रारंभ में उस ज्ञानचित सूर्य का रूपक लेकर श्री ज्ञानदेवजी अपने गुरु का अलौकिक अध्यात्मिक सामर्थ्य का वर्णन करते हैं। मैंने अनेक कल्पतरू सत्य बोलने का तप किया। फलतः श्री गुरु का दर्शन होकर उनकी कृपा से गीता सदृश अगाध और अगम्य ग्रंथ पर भाष्य करने का कठिन कार्य मुझसे हो रहा है। अध्याय संगति कथन करते हैं। ज्ञानी को आत्मलाभ प्राप्ति होने से परमानंद प्राप्ति होती है। (१-१६) यह ज्ञान प्राप्त करने के लिये तदनुकूल दैवी संपत्ति और प्रतिकूल आसुरी संपत्ति का कथन श्रीकृष्ण इस अध्याय में करते हैं। दैवी संपत्ति के छब्बीस गुण इस प्रकार हैं— १.अभय, २.सत्व शुद्धि ३.ज्ञान योग व्यवस्थिति ४.दान, ५.दम, ६.यज्ञ, ७.स्वाध्याय, ८.तप, ९.आर्जव, १०.अहिंसा, ११.सत्य, १२.अक्रोध, १३.त्याग, १४.शांति, १५.अपैशून्य, १६.दया, १७.अलोलुप्य, १८.मार्दव, १९.लाज, २०.अचापल्य, २१.तेज, २२.क्षमा, २३.धैर्य, २४.शौच, २५.अद्रोहत्व तथा २६.अमानित्व। (१७-२१२)

दैवी संपत्ति कथन के उपरान्त आसुरी संपत्ति कथन करते हैं। आसुरी संपत्ति का त्याग करने के लिये आसुरी संपत्ति के लक्षण कथन करना अवश्य है। जो इस प्रकार हैं—१.दंभ, २.दर्प, ३.अभिमान, ४.क्रोध, ५.पारुष्य, ६.अज्ञान आसुरी संपत्ति षट्‌गुण संपन्न होते हुए भी सर्व प्रकार से जीव का नाश करके नरक प्राप्त कराने का सामर्थ्य उसी में है। आगे आसुरी प्रकृति के पुरुष का वर्णन करके आसुरी संपत्ति के दोष से मुक्त होने का उपाय श्रीकृष्ण कथन करते हैं। (२१३-२८०)

आसुरी गुण संपन्न पुरुष पापकर्मरत रहता है। ईश्वर को वह नहीं मानता। जगदुत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण काम है, यही उसका तत्त्वज्ञान है। वे स्त्री सखादि का यथेच्छ उपभोग लेते हैं। तत्प्राप्यर्थ योग्य अयोग्य मार्ग से द्रव्यार्जन करते हैं। यह विषय भोग की तृष्णा कदापि नष्ट नहीं होती। वे जारण मारणादि क्रिया करते हैं। कभी-कभी महंत बनकर यज्ञ करते हैं। किंतु यह केवल दिखावा रहता है। (२८१-३८८) भगवान कहते हैं इस स्वैराचार से तुझे सर्वांतर्या भी आत्मा को कष्ट होता है। जब वे सती, सत्पुरुष, भक्त इत्यादि का छल करते हैं तब मैं भक्तों का पक्ष लेकर दुष्टों को शासन करना हूं और उनको कोट्यावधि वर्षों तक नरक में स्थापित करता हूं। (३८९-४१६) इन लोगों की ज्ञानेश्वरजी को दया आती है। उनकी वाणी अति आर्त होती है। निराशा के उद्गार मुख से निकलते हैं। (४१७-४२४)

भगवान समापन करते हैं। जहां काम, क्रोध, लोभ है वहां पाप और नरक है। परलोक विषयक बातें करना तो दूर, उनका इहलोक भी अच्छा नहीं रहता। कल्याण कामी पुरुषों ने काम, क्रोध, मोह की संगत त्याग देना चाहिये। संत सहवास और सत्‌शास्त्र श्रवण करना चाहिये। आत्म कल्याणेच्छु जब शास्त्रोक्त मार्ग का पथिक होता है, तब वह गुरुकृपा पात्र होकर उसको आत्मप्राप्ति होती है, फलतः उसकी जन्म मरण की यातायात समाप्त होती है, एवं नित्यानंद प्राप्ति होती है। कार्याकार्य विचार शास्त्र दृष्टि से करना चाहिये, अपने बुद्धि से नहीं। वेद जननीवत सबों का हित देखता है। वेदाज्ञा शिरसावंद्य है। वेदैक निष्ट होने से अनिष्ट कहां से प्राप्त

Funding by IKS-MoE

होगा ? प्रत्येक ने ब्रह्मप्राप्ति होने तक वेदावलंबन त्याग नहीं करना चाहिये। अर्जुन ! तेरे ऊपर बड़ा उत्तरदायित्व है। आज तू जो करेगा उसको प्रामाण्य देकर इतर लोग वर्तन करेंगे। (४२५-४६८)

इस प्रकार भगवत् कथन का अनुवाद करके श्री ज्ञानदेवजी ने अपने को व्याख्यान की स्फूर्ति देनेवाले श्रीगुरु की ओर कृतज्ञतापूर्वक देखकर कृपा याचना की। और अध्याय की समाप्ति की। (४६९-४७३)

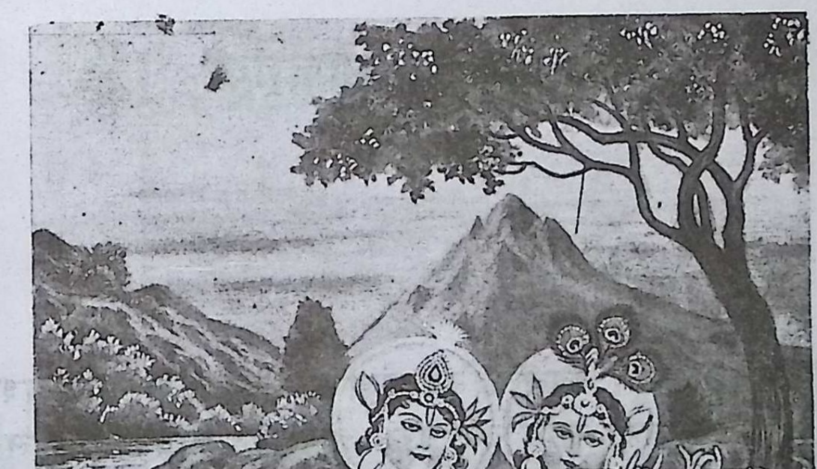

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - सोलहवाँ

अस्त करके विश्वाभासु। नवल उदित चंडाशु। अद्वयाब्जिनीविकाशु। गुरु को वंदन अब।।१।। जो अविद्या रात्रि करे दूर। ज्ञानाज्ञान चांदनी निकालकर। सुदिन करे स्वबोध का सर्वत्र। ज्ञानियों को।।२।। जिस प्रातः से उदीयमान। लभत आत्मज्ञान के नयन। छोड़त देहाहंताका नीडस्थान। जीव पंछी।।३।। लिंगदेह कमलस्थ। जीव भ्रमर जो बंदिस्त। तत्काल होवे मुक्त। उदय से जिसके।।४।। शब्दादिक जंजाल से। भेद नदी के दो तीर से। आक्रंदत विरहव्याकुल जैसे। बुद्धिबोध।।५।। उस चक्रवाक का मिथुन। सामरस्य का समाधान। भोगवत जो चिद्‌गगन। भुवनदीप!।।६।। जिसका होते उदय। भेदचोर काल का होवे विलय। सिधारत आत्मानुभव राह-। पर पथिक योगी।।७।। जिसके विवेक किरण संग। उन्मेख सूर्यकांत स्फुल्लिंग। प्रदीप्त जलावत दांग (अरण्य)। संसार के।।८।। जिसके रश्मिपुंज प्रखर। जब स्वरूप उखर में स्थिर। आवे मृगजल का पूर। महासिद्ध के।।९।। प्रत्यग्बोध के माथे पर। सोऽहंभाव का माध्यान्य प्रहर। आत्मभ्रांति छाया छिपकर। पदतल में लुप्त।।१०।। जहां विश्व स्वप्न सहित। माया रात्रि पूर्ण नष्ट। विपरीत ज्ञान को सम्हालत। कौन तब?।।११।। अतः अद्वयबोध नगर में पार्थ। निबिड़ महानंद की भीड़ बहुत। सुखानंद की लेन देन समस्त। मंद होत।।१२।। किंबहुना जिसका प्रकाश। मुक्त कैवल्य का सुदिवस। देत सबको विशेष। निरंतर।।१३।। जो निजधाम व्योमका राव। करत बोध उदय सदैव। नाशत पूर्वादि

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - सोलहवाँ

विश्वसंबंधित मिथ्याभास को नष्ट करनेवाला, अद्वैत स्थितिरूपी कमल का विकास करनेवाला, श्रीगुरुनिवृत्ति जो रूपी आश्चर्यकारक सूर्य उदित हुआ है, उसको हम अब वंदन करते हैं।।१।। जो गुरुरूपी सूर्य माया के रात्री का नाश करता है, ज्ञान एवं अज्ञानरूपी तारकाओं को नष्ट करके ज्ञानिओं को अध्यात्म ज्ञान के निरभ्र दिन की प्राप्ति करा देता है।।२।। उसके उदित होने से प्रकाशित होने वाले प्रातःकाल में आत्मज्ञानरूपी दृष्टि प्राप्त होकर, जीवरूपी पंछी देहरूपी अहंकार का घर छोड़ देते हैं।।३।। श्रीगुरुरूपी सूर्य का उदय होने पर लिंगदेह रूपी कमल के उदर में बंदिस्त, नष्ट होनेवाले जीव चैतन्यरूपी भ्रमर की बंधन से मुक्तता होती है।।४।। भेदरूपी नदि के दोनों किनारे पर बुद्धि को मोहित करनेवाले शास्त्रों के शब्द जंजाल में, विरह से व्याकुल होकर बुद्धिरूपी चक्रवाक एवं ज्ञानरूपी चक्रवाकी आक्रंदन करते हैं।।५।। ऐसे बुद्धि एवं ज्ञानरूपी चक्रवाक पंछी की जोड़ी को चिदाकाशरूपी भुवन स्थित श्रीगुरुरूपी सूर्य एकता के आनंद का अनुभव कराता है।।६।। जिस गुरुरूपी सूर्य से प्रकाशित प्रातः समय में भेदरूपी चोर का, चोरी का समय व्यतीत हो जाता है, आत्मानुभव के मार्ग पर पथिकरूपी साधक चलने लगते हैं।।७।। विवेकरूपी किरणों की संगति में, बुद्धिरूपी सूर्यकान्त मणि से निकलनेवाली ज्ञानरूपी स्फुल्लिंग प्रज्वलित होनेपर संसार बनको दग्ध करते हैं।।८।। ब्रह्मस्वरूपरूपी उखर जमीन पर जिनके प्रखर किरणों का समूह स्थिर होता है तब उस स्थान में अष्ट महासिद्धिरूपी मृगजल की बाढ़ आती है।।९।। अहंब्रह्माऽस्मि भावरूपी माध्यान्हकाल में शिष्य के अंतर्मुख वृत्तिरूप मस्तकपर श्रीगुरु सूर्य आते ही शिष्य की आत्मस्वरूपरूपी भ्रांति की छाया, शिष्य के आत्मानुभवरूपी चरणों के नीचे छिपती है।।१०।। जहां मायारूपी रात शेष नहीं रहती, उसमें विश्वाभासरूपी स्वप्न के साथ, विपरीत ज्ञान रूपी निद्राकी याद कौन करेगा?।।११।। अतः हे पार्थ! अद्वैत ज्ञानरूपी नगर में ब्रह्मानंद की विपुलता रहती है, उस आनंद के अनुभव का लेना-देना मंद होता है।।१२।। जिसके प्रकाश में इस प्रकार से मुक्त कैवल्यरूपी उत्तम दिन प्राप्त होता है।।१३।। जो

दिशासह ठांव। उदय अस्त का।।१४।। नाशत तम प्रकाश सहित। आवृत्त दोनों से पूर्ण प्रकटवत। बहुत क्या कहूं करत अद्भुत। उषा पूर्ण।।१५।। अहोरात्रि के पार। कौन देखे वह ज्ञानभास्कर। जो प्रकाश करे विस्तार। प्रकाश बिन।।१६।। वह चित्सूर्य निवृत्ति। उसको पुनः पुनः प्रणति। वाचा से उसकी स्तुति। बाधक 'शब्द को।।१७।। महिमा देवका देखकर पार्थ। स्तुति तब ही होगी उत्कृष्ट। जब स्तव्य बुद्धि का समस्त। होगा लय।।१८।। वस्तुज्ञान सब खोकर जानना। मौन रहकर वर्णन करना। आत्मविस्मरण से पाना। जिसको पार्थ।।१९।। सद्गुरु आपके स्तवन प्रीत्यर्थ। पश्यति मध्यमासहित। परा को पीछे हटाकर वैखरी होत। विलीन स्वयम्।।२०।। ऐसे आपको सेवाभाव से पूर्ण। चढाऊं वक्तृत्व के आभूषण। कहूं स्वीकारो लावे आपको न्यून। अद्वयानंद आप।।२१।। किंतु रंक अमृत का सागर। युक्तायुक्त भूले देखकर। करने लगे स्वागत अर्पण कर। 'शाकाओं से।।२२।। वहां 'शाकाही पक्वान्न मानना। हर्षविग ध्यान में लेना। दीप दिखावे सूर्य को तब देखना। भक्तीहि उसमें।।२३।। बालक यदि जाने उचित। तब बालक पन कैसा दिखत?। किंतु उससे साच माता रीझत। अतः संतुष्ट वह।।२४।। गांव का गंदा जल। गंगा में गया घुल मिल। क्या कहत गंगा निकल। बाहिर उसको?।।२५।। सुनो भृगु का कैसा उपकार। मानकर उसे प्रियोपचार। प्रसन्न स्वीकारत शाङ्र्गधर। गुरु प्रसाद वह।।२६।। अंधेरे से अंबर व्याप्त। दीनानाथ सम्मुख आवत। क्या वह हटो पीछे कहत। उसको कभी?।।२७।। वैसे भेदबुद्धि तराजू में। नाप डालकर सूर्यश्लेष से। तौला आपको एक काल उसे। कीजे क्षमा।।२८।। देखा ध्यान चक्षु से। वर्णित वेदादिने वाचा से। वह सहा आपने जैसे। वैसे करो मुझे।।२९।। करने आपका गुणवर्णन। लालायित मेरा अपराधी मन। अब न छोडूं बीच में स्वामिन्। न उठूं अर्धतृप्त मैं।।३०।। गीता नामक प्रसादामृत। सेवन करने हुआ मैं प्रवृत्त। देव से द्विगुणित सामर्थ्य प्राप्त। हुआ सुदेवी मैं।।३१।। मैंने सत्यभाषण का तप। किया वाचा से बहुत कल्प। जो फल यह गीता महाद्वीप। पाया प्रभु।।३२।। पुण्य जो अर्जित असाधारण। अतः आपका गुणवर्णन। देखकर मुझे मुक्त ऋण। हुवा आज।।३३।। जीवित्व के अटवी में। फंसा मैं मरणगांव में। वह अवदशा आपने। की हरण सब।।३४।। गीताख्य आपकी कीर्ति। विख्यात देव त्रिजगती। पाई अविद्यानाशक बलवती। वर्णन को हमने।।३५।। निर्धन के घर अकस्मात। आकर महालक्ष्मी बैठत। उसको निर्धन कैसे सहत। कोई कभी?।।३६।। अथवा अंधेर के स्थान पर। दैव से सूर्य होवे सवार। क्या न होत वह अंधेर। प्रकाश जग को?।।३७।। जिस देव का ऐसा व्यापकपन। समस्त विश्व न परमाणु भी समान। क्या बंधा भाव बंधन। में नहीं वह?।।३८।। वैसा मेरा गीता व्याख्यान। यह खपुष्प का गंधग्रहण। किंतु समर्थ आपने की पूर्ण। अभिलाषा मेरी।।३९।। अतः आपका

Funding by IKS-MoE

श्रीगुरुसूर्य का आत्मस्वरूपी आकाश का राजा है, वह अपने स्वरूप से नित्य उदित है, उसका उदय होने पर पूर्व आदि दिशाओं के साथ उदय एवं अस्त का ठाँव नष्ट होता है।।१४।। ज्ञात प्रकाश सहित अज्ञानरूपी अंधेरे को नष्ट करता है, दोनों से आवृत्त जो स्वरूप है वह ज्ञान अज्ञानातीत स्वरूप सर्वत्र प्रकट करता है, अब क्या कहूं? वह ऐसा अद्भुत उषःकाल होता है।।१५।। दिन एवं रात के पास कौन उस ज्ञानसूर्य को देखता है?। प्रकाशित होनेवाले पदार्थों के बिना प्रकाश की विपुलता करता है।।१६।। श्रीगुरु की शब्दों द्वारा की हुई स्तुति बाधक होने से निवृत्तिरूप ज्ञानसूर्य को अब पुनः पुनः प्रणाम करता हूं, ऐसा ज्ञानदेवजी कहते हैं।।१७।। हे पार्थ! श्री गुरु की महिमा देखकर स्तव्य बुद्धि के साथ स्तवन करनेवाला विलीन होता है।।१८।। कुछ न जानने से श्रीगुरुको जाना जाता है, मौन रहकर वर्णन किया जाता है एवं आत्मविस्मरण से हे पार्थ! जिसको प्राप्त करना है।।१९।। हे सद्गुरु! आपकी स्तुति करने के हेतु से मध्यमा, पश्यंति इन वाणिओं को हटाकर परावाणी के साथ वैखरी वाणी स्वयं विलीन होती है।।२०।। ऐसे आपको पूर्ण सेवाभाव से वक्तृत्व के आभूषण चढ़ाऊं, ऐसा मेरा कहना आप स्वीकार कीजिये। ऐसा कहना भी, हे अद्वितीय आनंदरूप श्रीगुरु आपको न्यूनता देनेवाला है।।२१।। दरिद्री मनुष्य, अमृत सागर का दर्शन करने पर आनंदित होकर शाक-सब्जी का नैवेद्य समर्पित करने लगता है, योग्य क्या है एवं अयोग्य क्या है यह भूल जाता है।।२२।। वहां शाकाओं को ही मिष्टान्न समझना चाहिये, उसका आनंद ध्यान में लेना चाहिये, सूर्य को दीप से आरती उतारने से उसमें उसकी भक्ति देखना चाहिये।।२३।। बालक यदि योग्य क्या है जानता है तब उसका बाल्य कैसा, कहा जायेगा? किंतु माता को सत्य में संतोष होता है, वह खुश होती है।।२४।। गांव का गंदा जल जब गंगानदी में समर्पित होकर घुलमिल जाता है, तब बाहर निकल जाओ ऐसा गंगा उसको नहीं कहती।।२५।। भृगु ऋषि ने कैसा उपकार किया था किंतु उसको अपने प्रिय भक्त का उपचार समझकर, शाङ्गर्धर ने श्रीगुरु प्रसाद के रूप में उसको प्रसन्न मन से स्वीकार किया।।२६।। अंधेरे से व्याप्त आकाश, सूर्य के सम्मुख आते ही वह उसको पीछे हटो ऐसा कभी कहता है?।।२७।। भेदरूपी तराजू में एक बाजु में सूर्य की उपमा एवं दूजे में आपको रखकर वजन किया, महाराज। आप मुझे सह लीजिए।।२८।। जिसने आपको ध्यान नेत्र से देखा है, वेदों की वाणी से आपका वर्णन किया गया है, उसको आपने सह लिया है वैसा अभी भी सहना।।२९।। आपका गुणवर्णन करने के लिए मेरा अपराधी मन लालायित रहता है, अब हे स्वामी! मैं बीच में नहीं छोड़ूंगा, मैं अर्धतृप्त नहीं उठूंगा।।३०।। गीता नाम का प्रसादरूपी अमृत सेवन करने के लिये मैं प्रवृत्त हुआ हूं, भाग्य से मुझे दुगना सामर्थ्य प्राप्त हुआ है ऐसा मैं सुदैवी हूं।।३१।। सत्य बोलने का तप मैंने इस वाणी से बहुत कल्प के किया है, हे प्रभु! गीता व्याख्यान रूपी महाद्वीप फल रूप में मुझे प्राप्त हुआ है।।३२।। असाधारण पुण्य जो प्राप्त किया है, उससे आपका गुणवर्णन करते हुए देखकर, आज मैं ऋण मुक्त हुआ।।३३।। हे महाराज! जीवदशा के अरण्य में मरणरूपी गांव में, मैं फंसा था, वह दुर्दशा आज आपने समाप्त की है।।३४।। अज्ञान का नाश करनेवाली बलशाली, तीनों लोकों में सुप्रसिद्ध, ऐसी आपकी गीता नाम से प्रख्यात कीर्ति हमने पायी है।।३५।। निर्धन के घर अकस्मात महालक्ष्मी आकर जब बैठती है, उसको कभी कोई निर्धन कैसे कहेंगे?।।३६।। अथवा अंधेरे स्थान पर दैव से सूर्य सवार हुआ तब वही अंधेरा क्या जगको प्रकाश नहीं होता?।।३७।। जिस देव की ऐसी व्यापकता है, संपूर्ण विश्व परमाणु के योग्यता में नहीं आता, वह (परब्रह्म परमात्मा) भक्तों के भाव के बंधन में क्या नहीं आता।।३८।। वैसा मेरा गीता का व्याख्यान आकाश पुष्प का सुगंध सूंघने समान है। किंतु हे समर्थ गुरुदेव! आपने मेरी इच्छा पूर्ण की है।।३९।। अतः आपके प्रसाद से गंभीर अर्थ से परिपूर्ण गीता के श्लोकों का स्पष्ट रीति से निरूपण करूंगा, ऐसा ज्ञानदेव कहते

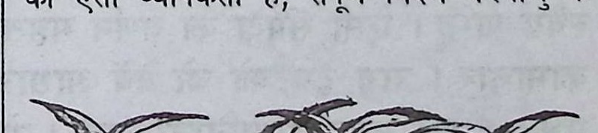

Funding by IKS-MoE

प्रसाद। जो यह गीतापद्य अगाध। निरूपण करूं विशद। कहे ज्ञानदेव।।४०।। पन्द्रहवे अध्याय में श्रीकृष्ण। शास्त्र सिद्धान्त संपूर्ण। करत स्पष्ट निरूपण। पंडुपुत्रको।।४१।। जो वृक्ष रूपक परिभाष। किया उपाधिरूप अशेष। कुशल वैद्य परखत दोष। अंगलीन जैसे।।४२।। और कूटस्थ जो अक्षर। दिखाया पुरुषरूप धनुर्धर। जो उपाधि युक्त आकार। चैतन्य का।।४३।। पश्चात उत्तम पुरुष-। का करके मिष। विषद किया विशेष। आत्मतत्त्व।।४४।। आत्म अंतरंग का ज्ञान। श्रेष्ठ बलिष्ठ साधन। वह स्पष्ट किया निवेदन। अर्जुन को।।४५।। अतः इस अध्याय में पार्थ। निरुप्य न कोई अवशिष्ट। गुरुशिष्य दोनों को अब प्राप्त। मात्र स्नेह।।४६।। एवं इस संबंध में सुवीर। ज्ञानीजन संतुष्ट अपार। किंतु हुए मुमुक्षु इतर। शंकित सब।।४७।। वह मैं जो पुरुषोत्तम। मिला ज्ञान से सुवर्म। वही मर्मज्ञ सीमा परम। भक्तीकी ज़ानो।।४८।। ऐसे यह त्रिलोकनायक। बोलत इस अध्याय में जो श्लोक। करत ज्ञानवर्णन ही विशेख। संतोष से वे।।४९।। भरकर, प्रपंच का घूंट। दृष्टा को दृष्य दृष्ट। आनंद साम्राज्य का पाट। प्राप्त जीव को।।५०।। ऐसा बलिष्ट उपाय। अन्य नाही कहे देव। यह सम्यग ज्ञान का राव। उपायों में।।५१।। ऐसे आत्मजिज्ञासु धनुर्धर। संतुष्ट चित्त से सादर। करत ज्ञानपर निछावर। जीव अपने।।५२।। मन में जिसकी प्रीत। उसका ही ध्यान संतत। उसमें ही रमत जात। प्रेम लक्षण ऐसा।।५३।। अतः जिज्ञासु में ज्ञानी कोई। जब तक प्रतीति नीकी नाही। ज्ञान विषय में योग क्षेम ही। सोचत वे।।५४।। अतः वह सम्यग् ज्ञान। कैसे होवे स्वाधीन। प्राप्त यदि उसके वृद्धि का यत्न। होवे कैसे?।।५५।। या ज्ञान ही न होने देवे उत्पन्न। उत्पन्न यदि होवे कुमार्ग में मन। ऐसे जो ज्ञानमार्ग में विघ्न। जानना ही योग्य।।५६।। प्रथम ज्ञान के जो विरुद्ध। निकले अंतःकरण से निषिद्ध। पश्चात सोचे ज्ञान के हित में जो बोध। सर्वभाव से।।५७।। ऐसे जिज्ञासु आप समस्त। चित्त में जो भाव धरत। वही पूर्ण करने लक्ष्मीकांत। बोलेंगे अब।।५८।। ज्ञान को सुजन्म लभत। अर्जित ज्ञान को स्थैर्य प्राप्त। ऐसी संपदा का वर्णन महत। करेंगे प्रभु।।५९।। और जिस ज्ञान से कामाचार। राग द्वेष को जो देवें आधार। वह आसुरी का भी रूप घोर। करेंगे प्रभु।।६०।। सहज इष्टानिष्ट करनी। दोनों ये लीलाकारिणी। उद्घोषणा जिसकी सुनी। नवमोध्याय में।।६१।। विचार वहां करना था सर्व। किंतु उठा कुछ अन्य प्रस्ताव। अतः प्रसंग वह देव। निरूपत अब।।६२।। सुनो निरूपण का इस। अध्याय यह षोडश। देखे यदि प्रारंभ से विशेष। अनुक्रम इसका।।६३।। किंतु रहने दो यह प्रस्तुत। ज्ञान के हिताहित संबंध में पार्थ। संपत्ति जो समर्थ। सो वही दो।।६४।। जो मुमुक्षु को मार्ग में साथ। जो मोहरात्रि में मशाल प्रदीप्त। वह प्रथम दैवी संपत। सुनो अब।।६५।। एक दूजे को पोषक। ऐसे बहुत पदार्थ देख। एकत्रित जहां विशेख। कहत संपत्ति उसे।।६६।। वह दैवी सुख संभवी। दैवी गुण को एकोपजीवी। इसलिये

Funding by IKS-MoE

हैं।।४०।। पंद्रहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने संपूर्ण शास्त्रों का स्पष्ट निरूपण पंडुपुत्र अर्जुन को बताया।।४१।। शरीर में गुप्त रोगों का उपचार उत्तम वैद्य जैसा परखकर करता है, वैसे वृक्ष के रूपक के उपाधि का स्वरूप बताया।।४२।। कूटस्थ जो अक्षर, जो पुरुषरूप दिखाया, हे धनुर्धर! वही चैतन्य का उपाधियुक्त आकार है।।४३।। उसके बाद उत्तम पुरुष का निमित्त करके आत्मतत्त्व का विशेष रूप स्पष्ट किया।।४४।। आत्मा का अंतरंग ज्ञान श्रेष्ठ, एवं बलिष्ट साधन, अर्जुन को अपने निवेदन में स्पष्ट किया।।४५।। अतः इस अध्याय में, हे पार्थ निरूपण करने के लिए कुछ शेष नहीं है, गुरु एवं शिष्य दोनों को प्रेम की उपलब्धि होगी।।४६।। एवं इस संबंध में हे सुवीर! ज्ञानी लोगों को असीम संतोष हुआ, किंतु अन्य मुमुक्षुओं के मन में शंका उत्पन्न हुई।।४७।। हे मर्मज्ञ अर्जुन! मुझ पुरुषोत्तम को ज्ञान से जो एक रूप होता है, वही सब जाननेवाला सर्वज्ञ है, भक्ति की अंतिम सीमा भी वही है।।४८।। पंद्रहवें अध्याय के अंतिम श्लोक में तीनों लोकों के स्वामी भगवान श्रीकृष्ण ने आनंद से ज्ञान का विशेष वर्णन करते हुए ऐसा कहा।।४९।। संपूर्ण संसार का निरास यह ज्ञान करता है, जीव को उसके आत्मस्वरप का ज्ञान करा देता है, जीव को आत्मानंद के सुख साम्राज्य का राज्याभिषेक करता है।।५०।। ऐसा श्रेष्ठ उपाय अन्य नहीं है ऐसा भगवान ने कहा, अन्य सब उपायों में यथार्थ ज्ञान करा देनेवाला यह राजा है।।५१।। हे धनुर्धर! आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा जिनमें है ऐसा जिज्ञासु संतुष्ट अंतःकरण से आरदपूर्वक ज्ञान पर अपना जीव निछावर करने लगे।।५२।। मन में जिसकी प्रीति होती है, उसका ही नित्य ध्यान लगता है, उसमें ही मन रमता है, ऐसा प्रेम का लक्षण होता है।।५३।। अतः जिज्ञासु लोगों में कोई ज्ञानी, जिनको कोई अनुभव नहीं होता, वे ज्ञान के विषय में केवल योगक्षेत्र का (जीवनोपार्जन का) उपाय सोचते हैं।।५४।। अतः वह यथार्थ ज्ञान कैसे प्राप्त होगा एवं प्राप्त होने पर वह विकसित कैसे होगा?।।५५।। या ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होने देते, यदि ज्ञान उत्पन्न हुआ तो उनका मन विपरीत मार्ग से उसका उपयोग करतें हैं, ऐसे ज्ञान मार्ग में जो विघ्न है, उसको जान लेना योग्य है।।५६।। प्रथम ज्ञान के विरुद्ध जो है उन निषिद्ध को अंतःकरण से निकाल देते हैं, उसके पश्चात् ज्ञान के हित में जो अनुकूल होगा उसका सर्वभाव से विचार करेंगे।।५७।। आप सब जिज्ञासुओं ने मन में जो इच्छा रखी है उसको पूर्ण करने के लिये अब लक्ष्मीकांत श्रीकृष्ण बोलेंगे।।५८।। जिससे उत्तम ज्ञान उत्पन्न होगा, प्राप्त किये हुये ज्ञान को स्थैर्य प्राप्त होगा, ऐसी दैवी संपदा का वर्णन प्रभु करेंगे।।५९।। जिस ज्ञान से वासना बढ़ेगी, ऐसी आसुरी संपत्ति राग एवं द्वेष को आश्रय देती है, उस आंसुरी संपत्ति का भी वर्णन प्रभु करेंगे।।६०।। इष्ट एवं अनिष्ट करना यह स्वभावतः जिसका कार्य है ऐसी दैवी एवं आसुरी संपत्ति है, उसका वर्णन नवम अध्याय में सुना है।।६१।। वहां ही उसका विचार करना था, किंतु दूसरा प्रसंग उपस्थित हुआ, अतः देव प्रसंग के अनुसार अब व्याख्यान करेंगे।।६२।। यही निरूपण सोलहवां अध्याय है, यदि प्रारंभ में इसका विशेष अनुभव देखेंगे तब समझ में आयेगा।।६३।। किंतु अब इसको रहने दो, हे पार्थ! ज्ञान के हित में एवं अहित के संबंध में समर्थ यही दो संपत्ति हैं।।६४।। मुमुक्षुओं को आत्मज्ञान के मार्ग में पहुंचानेवाली, मोहरूपी रात्री में प्रकाश के लिए प्रदीप्त यह मशाल है, वह दैवी संपत्ति प्रथम सुनो।।६५।। एक दूजे को पोषक ऐसे विपुल पदार्थ जहां विशेष एकत्रित किये जाते हैं उसको संपत्ति कहते हैं।।६६।। वह दैवी संपत्ति सुख उत्पन्न करनेवाली, सब दैवी गुणों के निर्वाह का एक ही साधन है, अतः इसको दैवी संपत्ति कहा गया

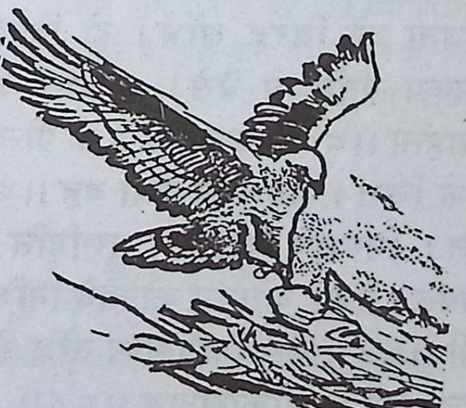

हुई दैवी। संपत्ति यह ।। ६७।।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

अब देव गुणों में पूर्ण। धुरंधर जिसका आसन। सुनो उसका नाम अर्जुन। 'अभयत्त्व' ।।६८।। छलांग न मारे महापूर में। न भय उसको डूबने का उसमें। किंवा पथ्य रखते देह में। आवत न रोग।।६९।। वैसे कर्माकर्म के सम्मुख अर्जुन। ऐके अहंभाव का उत्थान। संसार का भय पूर्ण। छोड़ना जिससे।।७०।। अथवा ऐक्यभाव के विकास से। माने आत्मतुल्य दूसरों को जैसे। भववार्ता भगावे सहज से। दूर देश में जो।।७१।। पानी लवण को डुबाने जावे। तब लवण ही जलरूप होवे। अद्वैत वृत्ति जब होवे। नाशत भय पूर्ण।।७२।। अरे अभय जिसका नाम अर्जुन। उसका यह जानो लक्षण। सम्यगज्ञानका पूर्ण। रक्षण करे जो।।७३।। अब सत्त्वशुद्धि जो कहिये। वह ऐसे चिन्ह से जानिये। जैसे जले न बुझे देखिये। राख जैसी।।७४।। अमावस्या तो गई। प्रतिपदा अभी न आयी। ऐसे में अति सूक्ष्मता से रही। चंद्रकला जैसी।।७५।। नातर वर्षाकाल से मुक्त। ग्रीष्म से अभी न ग्रस्त। निजरूप से संधि में स्थित। गंगा जैसी।।७६।। वैसे संकल्प विकल्प का मनोरथ। छोड़कर रजतम की कांवर पार्थ। भोगते निजधर्म की प्रीत। बुद्धि में शेष।।७७।। इंद्रियवर्ग से दर्शित। निषिद्ध अथवा विहीत। विस्मय न चित्त में होत। कदापि कभी।।७८।। गया परदेस वल्लभ। होवे पतिव्रता को विरह क्षोभ। हो कितना भी हानिलाभ। न विचलित मन।।७९।। सत्सरूप प्रीति से वैसे। बुद्धिका अनन्य होना जैसे। 'सत्त्वशुद्धि' कहत उसे। केशिहंता।।८०।। आत्मलाभ के प्रीत्यर्थ। ज्ञानयोग दो मार्ग पार्थ। जिस एक में रमत अपना चित्त। अवलंबन करो वह।।८१।। वहां समस्त चित्तवृत्ति। त्यागने की ऐसी रीति। निष्काम बुद्धि से पूर्णाहुति। हुताशन में जैसी।।८२।। आत्मजा अपनी कुलवंत। देकर कुलवंत को होवे निश्चिंत। अथवा हुई लक्ष्मी सुस्थित। विष्णुपद में जैसी।।८३।। वैसे निर्विकल्प बुद्धि से। योग ज्ञान में होना वृत्तिक जैसे। तीजा गुण कहत उसे। श्रीकृष्णनाथ।।८४।। अब देह वाचा चित्त से। यथा संपन्न वित्त से।सहाय वैसी अति को भी जैसे। करना पार्थ।।८५।। पत्र पुष्प छाया। फलभूल धनंजया। पथिक मार्ग से जो भी आया। देवे वृक्ष जैसा।।८६।। वैसे धनधान्य पर्यन्त। विद्यमान यथा अवसर समस्त। श्रान्त के समाधान प्रीत्यर्थ। उपयोजत जो।।८७।। उसका नाम जानो 'दान'। जो मोक्षनिदान का अंजन। अब सुनो कहूं चिन्ह। दमका तुम्हें।।८८।। विषय में इंद्रियां आसक्त। उसको करे विभक्त। जैसे करे खड्गपाणि खंडित। शत्रु को पार्थ।।८९।। बंद करके इंद्रियद्वार। बहने न दे विषय समीर। उनको स्वाधीन करे बांधकर। प्रत्याहार के जो।।९०।। प्रवृत्ति चित्त में जो समस्त। बाहिर दौड़त सतत। अतः वैराग्य अग्नि डालत। दशद्वारमें।।९१।।

Funding by IKS-MoE

है ।। ६७ ।।

श्रीकृष्ण भगवान ने कहा, हे अर्जुन! दैवी संपदा जिन पुरुषों को प्राप्त है, तथा जिनको आसुरी संपदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक कहता हूं, भय का सर्वथा अभाव, अंतःकरण की शुद्धता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति, एवं सात्त्विक दान, इंद्रियों का दमन, भगवद्पूजन, अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म का आचरण वेद शास्त्रों का पठनपूर्वक, भगवान के नाम गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहना, शरीर एवं इंद्रियों के साथ अन्तःकरण की सरलता यह सात्त्विक गुण संपत्ति है ।। १ ।।

दैवी संपत्ति में श्रेष्ठ, प्रथम आसन पर विराजमान, उस गुण का नाम हे अर्जुन! अभयत्व है ।। ६८ ।। महापूर में छलांग न लगाने से जैसा डूबने का भय नहीं होता, या पथ्य का पालन करने से शरीर में रोग नहीं होते ।। ६९ ।। तद्वत विहीत एवं निषिद्ध कर्म के संबंध में अहंकार उत्पन्न न होना एवं संसार का भय छोड़ना ।। ७० ।। अथवा अद्वैत भाव के विकास से आत्मा के सदृश दूसरे को समझकर संसार का भय सहज भगा देते हैं ।। ७१ ।। नमक को डुबाने जब जल जाता है तब नमक जलरूप होता है, जब अद्वैत वृत्ति होती तब भय पूर्ण नष्ट होता है ।। ७२ ।। हे अर्जुन! जिसका नाम अभय है उसका यही लक्षण है, जो यथार्थ ज्ञान का पूर्ण रक्षण करता है ।। ७३ ।। अब सत्त्वशुद्धि को ऐसे लक्षणों से जानना, जैसे राख न जलती है एवं न बुझती है ।। ७४ ।। अमावस्या समाप्त हो गयी अभी प्रतिपदा नहीं आयी, ऐसे में चंद्रकला अत्यंत सूक्ष्म रहती है ।। ७५ ।। वर्षाऋतु का पूर बह गया है, ग्रीष्म से अभी ग्रस्त नहीं हुई है, इस बीच काल में जैसे गंगा स्वाभाविक रूप में रहती है ।। ७६ ।। वैसे संकल्प विकल्प के मनोरथों को छोड़कर, रजोगुण एवं तमोगुण का बोझ छोड़कर, आत्मचिंतन की प्रीति भोगनेवाली बुद्धि रहती है ।। ७७ ।। इंद्रियों के द्वारा दर्शित निषिद्ध एवं विहीत कर्म से जिनके चित्त में हलचल नहीं होती ।। ७८ ।। पति परदेश जाने से, पतिवियोग से विरह क्षोभ होने से, कितना भी हानिलाभ होवे किंतु पतिव्रता उसको नहीं मानती ।। ७९ ।। तद्वत सत्त्स्वरूप प्रीति से जब बुद्धि अनन्य होती है तब उसको सत्त्वबुद्धि कहते हैं ऐसे केशि राक्षस का वध करने वाले भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं ।। ८० ।। आत्मलाभ के लिए ज्ञानयोग के दो मार्ग हैं, हे पार्थ! जिस एक में अपना मन रमेगा उसका अवलंबन करना चाहिये ।। ८१ ।। अंतःकरण की सब चित्त वृत्तियों का त्याग करने की ऐसी पद्धति है, निष्काम पुरुष वैसा अग्नि में पूर्णाहुती देता है ।। ८२ ।। जैसा लक्ष्मीजी विष्णु भगवान के चरणों में स्थिर हुई है वैसी कुलवान पुरुष अपनी कन्या उत्तम कुल में देता है ।। ८३ ।। वैसे निर्विकल्प बुद्धि से योगज्ञान में वृत्ति रेहन रखना वह तीजा गुण है ऐसा श्रीकृष्णनाथ कहते हैं ।। ८४ ।। अब देह वाणी एवं चित्त से अपनी अनुकूलता के अनुरूप द्रव्य से प्रतारणा न करते हुए संकटग्रस्त को मदद करना ।। ८५ ।। हे धनंजय! पत्ते, पुष्प, फल, जड़ें एवं छाया जैसे वृक्ष मार्ग से जानेवाले पथिक को देता है ।। ८६ ।। वैसे मन से लेकर धनपर्यंत जो कुछ अपनेपास होगा, उससे प्रसंग के अनुसार पीड़ित लोगों के मन को आनंद देना यही उपयोजना है ।। ८७ ।। उसका नाम दान है, यह मोक्षरूपी निधान दिखानेवाला अंजन है, यह दान का लक्षण है, अब दम का लक्षण सुनो ।। ८८ ।। विषयों में इंद्रियां आसक्त रहती हैं उसको जो विभक्त करता है, हे पार्थ! हाथ में जिसके खड्ग होता है वह शत्रु का नाश करता है ।। ८९ ।। इंद्रियों के द्वार बंद करके विषयरूपी वायु को बहने नहीं देता, उनको बांधकर प्रत्याहार के स्वाधीन कर देता हैं ।। ९० ।। भीतर अंतःकरण पर्यंत सबका त्याग करके प्रवृत्ति संपूर्ण बाहर निकल जाती है, अतः दश द्वार में वैराग्यरूपी अग्नि डालते हैं ।। ९१ ।। श्वासोश्वास से विपुल एवं

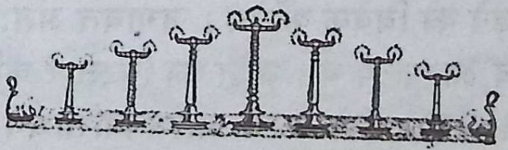

श्वासोश्वास से बहुतर। व्रत करत दुष्कर। रात्रंदिन निरन्तर। न श्रमत जो ।।९२।। 'दम' ऐसा जिसको कहत। स्वरूप उसका इसविध पार्थ। कहूं संक्षेप में योगार्थ। सुनो अब ।।९३।। अग्रभाग में ब्राह्मण को रखकर। स्त्री शूद्रादिक को पैलपार। मध्य में वैश्य यथाधिकार। अपने आपमें ।।९४।। जिसको जो सर्वोत्तम। भजनीय देवता धर्म। वे विधिपूर्वक यथागम। भजन कीजे ।।९५।। द्विज करे षट्कर्माचरण। शूद्र करे उसको वंदन। फल दोनों को समान। यज्ञकर्म का ।।९६।। वैसे अधिकारानुसार। समस्त को यज्ञाचार। किंतु न रखे विषय विष मात्र। फलाशा का उसमें ।।९७।। और मैं कर्ता यह भाव। देह द्वार से मन में न जाय। वेदाज्ञा को ठाँव। होना स्वयम् ।।९८।। अर्जुन एवं यज्ञ। सर्वत्र जानो प्राज्ञ!। कैवल्य मार्ग का अभिज्ञ। साथी यह ।।९९।। भूमी पर करना गेंद से आघात। न ऐसा लेना हस्त में ही पार्थ। बीज क्षेत्र में फैलाना बिखुरना सर्वत्र। लक्ष फसल ही ।।१००।। रखी चीज देखने के लिये। आदर दीप का कीजिये। शाखा फल के लिये। सींचिये मूल ।।१।। अधिक क्या कहे दर्पण। देखने अपने को अर्जुन। अतः अनेकबार पुनः पुनः। पोंछिये प्रीति से ।।२।। वैसा वेदप्रतिपाद्य ईश्वर। वह होने गोचर। श्रुति का करना निरन्तर। अभ्यास पार्थ ।।३।। द्विज जनों को ब्रह्मसूत्र। अन्य को स्तोत्र या मानमंत्र। करना आवर्तन पवित्र। पाने को तत्त्व ।।४।। पार्थ करे 'स्वाध्याय'। बोलत सो यह कहत देव। तप शब्द का अभिप्राय। सुनो कहूं अब ।।५।। तब दानरूप से सर्वस्व देना। अन्यथा व्यय सो अपव्यय जानना। जैसे फलित इंद्रायन का सूखना। औषध के लिये ।।६।। नाना धूप का अग्निप्रवेश। कनक में कीटका नाश। पितृपक्ष का पोषिता ह्रास। जैसा चंद्र का ।।७।। वैसे आत्मस्वरूपका होने दर्शन। शरीर इंद्रियां और प्राण। नियम धर्म से करना क्षीण। यही 'तप' ।।८।। अथवा इससे भिन्न। और एक तप का लक्षण। विभागत क्षीर नीर का मिश्रण। चंचु से राजहंस जैसे ।।९।। वैसे देहजीव का ऐक्य। तोड़ने को विवेक कौंतेय। जगावत अंतःकरण में सत्य। जन्मतः जो ।।११०।। देखना यदि आत्मा पार्थ। बुद्धि का विस्तार कुंठित। जैसे निद्रासहित स्वप्न लुप्त। जागृति में ।।११।। वैसे करने आत्मपर्यालोचन। प्रवृत्त जो विवेक अर्जुन। उसको ही तप जान। 'सुनिश्चित' ।।१२।। अब बालक के हित को स्तन्य। जैसे नाना भूतों में चैतन्य। वैसे प्राणिमात्र के लिये सौजन्य। 'आर्जव' वही ।।१३।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।२।।

और जग के सुखोद्देश्य से। शरीर वाचा मन से। आचरण जो ऐसे। रूप अहिंसा का वही ।।१४।। तीक्ष्ण होकर कोमल। जैसे जाति पुष्प का मुकुल। या तेज परंतु शीतल। शशांक का ।।१५।। दर्शन मात्र से करे रोग नाश। और जिव्हा को नाही कटु विरस। निर्मित ही न वह औषध विशेष। उसको उपमा कैसी? ।।१६।। वैसे

कठिन व्रतों का पालन करते हैं, तब रात दिन नित्य श्रम करते हैं।।९२।। उसको दम ऐसा कहते हैं, हे पार्थ! उसका स्वरूप इसप्रकार का है, अब संक्षेप में योग का अर्थ सुनाता हूं, अब सुनो।।९३।। ब्राह्मणों को प्रारंभ में रखकर, स्त्री शूद्र को अंत में रखते हैं एवं वैश्य को उसके अधिकार के अनुरूप मध्य में अपने आप में रखते हैं।।९४।। जिस वर्ण को जो उत्तम लगता है, उसके पूजनीय देवता एवं आचरणीय जो धर्म होता है उनका विधिपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।।९५।। ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन आदि षटकर्म का आचरण करे, शूद्र उनको वंदन करता है, दोनों को ही यज्ञ का समान फल मिलता है।।९६।। वैसे अधिकार के अनुसार सब इस प्रकार से यज्ञ का आचरण करना चाहिये, किंतु उसमें फलाशा का विषयरूपी विष नहीं रखना चाहिये।।९७।। मैं कर्ता हूं यह बात देह के द्वार में मन में प्रविष्ट न होवे, वेदों की आज्ञाओं का स्वयं स्थान बने।।९८।। हे अर्जुन! इस प्रकार से सबके आचरण में आनेवाला यह यज्ञ मोक्ष के मार्ग पर, मार्गदर्शक है।।९९।। गेंद को भूमि पर पटकना वह भूमि को मारने के लिए नहीं, किंतु उछलकर अपने हाथ में आवे इसीलिये, खेत में बीज डालना, उसका लक्ष्य अच्छा फसल आवे यही रहता है।।१००।। रखी हुई चीज को देखने के लिए दीप का आश्रय लेना चाहिये, शाखा एवं फल प्राप्ति के लिए वृक्ष के जड़ में पानी सींचना चाहिये।।१।। अधिक क्या कहूं? हे अर्जुन! स्वयं को देखने के लिये दर्पण को बारबार स्वच्छ करना चाहिये,।।२।। वेदों के द्वारा प्रतिपादित ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये श्रुति का नित्य अभ्यास करना चाहिये।।३।। ब्राह्मणों को ब्रह्मसूत्र, अन्य लोगों को स्तोत्र या नाममंत्र आदि का पुनः पुनः तत्त्व को पाने के लिए आवर्तन करना चाहिये।।४।। हे पार्थ! जिसको स्वाध्याय कहते हैं वह यही है, ऐसे भगवान कहते हैं, अब तप शब्द का अभिप्राय सुनो, उसको मैं अभी बतलाता हूं।।५।। दान के रूप में सर्वस्व दान करना, अन्य व्यय, अपव्यय समझना चाहिये, फल देनेवाले इंद्रायणि का सूखना केवल औषधी के लिए होता है।।६।। धूप का अग्नि में प्रवेश होने पर धूप नष्ट होता है, हीन सुवर्ण को शुद्ध करने से तौल कम होता है, वद्य पक्ष में चंद्रमा कम होता जाता है।।७।। वैसे आत्मस्वरूप का दर्शन होने के लिए, प्राण, इंद्रियों एवं शरीर को नियम धर्म आदि से क्षीण करना तप कहलाता है।।८।। अथवा इससे भिन्न, और एक तपका लक्षण है, दूध एवं जल का मिश्रण अपने चोंच से राजहंस अलग करता है।।९।। वैसे हे कौंतेय! देह एवं जीव का ऐक्य तोड़ने के लिए अंतःकरण में जो सत्य विवेक को जन्मतः जगाता है।।११०।। हे पार्थ! यदि आत्मा को देखना है, तब बुद्धि संकुचित होती है, जैसे जागृति आने पर निद्रा के साथ स्वप्नावस्था लुप्त होती है।।११।। वैसे आत्मा एवं अनात्मा का विचार अपने अंतःकरण में नित्य जागृत रखकर नित्य जो विवेक जागृत रखते हैं उसको निश्चित रूप से तप कहते हैं।।१२।। बालक के हित के लिए माता का दूध योग्य होता है, जैसे विभिन्न प्राणियों में चैतन्य रहता है, वैसे प्राणिमात्र के लिये भलमनसाहत वही आर्जव कहलाता है।।१३।।

मन, वाणी एवं शरीर से किसी प्रकार का किसी को कष्ट न देना तथा यथार्थ एवं प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालों पर भी क्रोधित न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग एवं अंतःकरण की उपरामता, निंदा न करना, हेतु रहित दया, अनासक्ति, कोमलता, व्यर्थ चेष्टा को टालना।।२।।

जग को सुख प्राप्त होवे इसलिये शरीर, वाणी मन से, जो आचरण होता है वही अहिंसा का रूप है।।१४।। (कमल) कलिका जैसी स्वभावतः तीक्ष्ण होकर भी अति कोमल रहती है (पानी का भेद करती है इसीलिए तीक्ष्ण और स्पर्श में कोमल), चंद्रमा का प्रकाश तेज होते हुए भी वह शीतल होता है।।१५।। दर्शन से केवल रोगों का जो नाश करता है, जिव्हा को कटु भी नहीं होता, ऐसा औषध निर्माण नहीं हुआ है, उसको कैसी उपमा दी जावेगी?।।१६।। वैसे नेत्र में मलना, घिसने से कष्ट नहीं देता, किंतु हे पार्थ!

आंख में मृदुपन से। व्यथा न करत घिसने से। किंतु पर्वत को भेदत जैसे। पानी पार्थ।।१७।। संदेह का करने निवारण। अति तीक्ष्ण शस्त्र समान। सुनकर लज्जित मधुरपन। माधुर्य का भी।।१८।। कौतुक से करते श्रवण। कर्ण को सृजत नयन। सामर्थ्य से सत्य के पूर्ण। भेदत ब्रह्म।।१९।। किबहुना प्रियपन से। झांसा न किसी को देवे जैसे। चुभत यथार्थपन से। नाही किसी को।।१२०।। मीठ पारधिका गायन। परंतु साच वह लेवे प्राण। अग्निप्रकट रूप से करे दहन। जले साचपन ऐसा।।२१।। कर्ण को लागे मधुर। अर्थ से फोड़े जिव्हार। ऐसी वाचा नहीं सुंदर। चुड़ैल ही वह।।२२।। अहित रोकने में कठोर। लालन में पुष्प सा मृदु अंतर। वह माता का साचोकार। स्वरूप जैसा।।२३।। वैसे श्रवण को चतुर सुखकर। परिमणाम में मधुर। बोलना जो अविकार। वह सत्य यहां।।२४।। डाले पानी निरंतर। स्फुटत न पाषाण में अंकुर। निकलत न मक्खन मथकर। कांजी से कभी?।।२५।। केंचुली के सिर पर पांव से। फन न उठावे प्रहार से। या वसंत में भी अंबर को जैसे। न आवत पुष्प।।२६।। अथवा ब्रहमा के रूप से अर्जुन। शुक में न कंदर्प उत्पन्न। या भस्म में न अग्नि उद्दीपन। घृत से भी जैसे।।२७।। शिशु छोटा भी होवे क्रोधित। ऐसे अपशब्द बहुत। और भी अन्यान्य निमित्त। प्राप्त एक साथ।।२८।। विधाता के भी पांव पकड़त। किंतु मृतात्मा न उठत पंडुसुत। वैसा जगाने से भी न जागत। क्रोध जहां।।२९।। 'अक्रोधत्व' ऐसा पार्थ। नाम जिस दशा को सार्थ। जानो इसविध कहत। श्रीनिवास।।१३०।। अब भृत्तिका त्याग से घट। तंतु त्याग से पट। बीजत्याग से जैसा वट। धनुर्धर।।३१।। या गिराकर भित्तिमात्र। त्यागिये संपूर्ण चित्र। या निद्रात्याग से विचित्र। स्वप्नजाल।।३२।। किंवा जलत्याग से तरंग। वर्षा त्याग से मेघ। बिछुड़त जैसे भोग। धनत्याग से।।३३।। वैसे बुद्धिमंत ज्ञानीजन। तजकर अहंभाव अर्जुन। अशेष संसार बंधन। त्यागत सकल।।३४।। उसका नाम त्याग। कहत वह यज्ञांग। जानकर यह सुभग। पूछे पार्थ।।३५।। अब शांति का लक्षण। वह व्यक्त करो कृष्ण। देव कहत अवधान। देना नीका।।३६।। ज्ञेय निगलकर पूर्ण। पश्चात ज्ञाता और ज्ञान। लुप्त निःशेष अर्जुन। जानो 'शांति' वह।।३७।। जैसा प्रलयांबु का पूर। डुबाकर विश्व का विस्तार। स्वयं यत्र तत्र सर्वत्र। व्याप्त पार्थ।।३८।। उगम ओघ सिंधु। शेष न यह व्यवहार भेदु। वहां जलैक्य का बोधु। कैसा किसको?।।३९।। वैसे ज्ञेय से देते आलिंगन। ज्ञातृत्व ही होवे विलीन। तब शेष जो वही ज्ञान। रूप शांतिका।।१४०।। जब सतावत व्याधि। जब तक न बल लेत रोग वृद्धि। आप पर न देखे देत औषधि। सद्वैद्य जैसा।।४१।। या धेनु पंक में फसी। दूधी बाखड़ न जाने कैसी। दुःख से उसके उदासी। व्याकुल होवे।।४२।। अथवा डूबते को सकरुण। न पूछे अंत्यज या ब्राह्मण। निकालकर राखना प्राण। यही जाने।।४३।। अथवा कुलस्त्री बन में पार्थ। की पापी ने उघारी

जैसे जल पर्वतों को भी भेदता है।।१७।। शंका का निवारण करने के लिये अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र के समान जो है, जिसको सुनकर माधुर्य में मधुरता भी लज्जित होती है।।१८।। कौतुक से सहज श्रवण करने से कान को भी नेत्र उत्पन्न हो जाते हैं, सत्य के सामर्थ्य से ब्रह्म पर विजय प्राप्त करता है।।१९।। किंतु प्रेमपूर्वक भाषण से किसी को झांसा नहीं देते, सत्य होते हुए भी किसी को नहीं चुभते।।१२०।। व्याध का गायन मधुर होता है, किंतु वह हिरण का प्राण लेता है, अग्नि जलाने का कार्य प्रकट रूप से करता है, किंतु ऐसे सत्य का क्या फायदा?।।२१।। कर्ण को मधुर लगता है, अर्थ से हृदय में पीड़ा देता है, ऐसी वाणी को सुंदर नहीं कहा जाता उसको चुडैल समझना चाहिये।।२२।। अहितबातों को रोकने में जो कठोर है, लालन पालन करने में पुष्प सदृश मृदु अंतःकरण है, वही माता का सत्य स्वरूप है।।२३।। जो सुनने के लिये सुखकर है, परिणाम उसका मधुर होता है, वाणी विकार रहित सत्य होती है।।२४।। निरन्तर जल डालने पर भी पत्थर अंकुरित नहीं होता, कांजी का मंथन करने से कभी मक्खन नहीं निकलता।।२५।। केंचुली के मस्तक पर चरणों के प्रहार करने पर वह जैसे फन नहीं उठा सकता, या वसंत ऋतु में भी आकाश पुष्पित नहीं होता।।२६।। हे अर्जुन! रंभा अप्सरा के रूप में शुक महर्षि के मन में मदन का विकार (काम विकार) उत्पन्न नहीं होता, घी डालने पर भी भस्म से अग्नि उत्पन्न नहीं होता।।२७।। छोटा शिशु कितना भी क्रोधित होवे ऐसे अपशब्द का उच्चारण करने पर, और ऐसे अन्यान्य निमित्त एक साथ उत्पन्न होने पर भी,।।२८।। ब्रह्मा के चरण पकड़नेपर भी मृत मनुष्य, हे पंडुसुत उठता नहीं वैसा क्रोधित कराने पर भी जिसमें क्रोध उत्पन्न नहीं होता।।२९।। ऐसा अक्रोधत्व, हे पार्थ! जिस दशाको योग्य नाम है वह इस प्रकार समझना, ऐसा श्रीनिवास कहते हैं।।१३०।। जैसे मिट्टी के त्याग से घट का त्याग होता है, तंतुओं का त्याग करने से वस्त्र का जैसे त्याग होता है, हे धनुर्धर! वैसे बीज का त्याग करने से वटवृक्ष का त्याग होता है।।३१।। भित्ति को गिराने से दीवाल के ऊपर के चित्र का त्याग होता है, या निद्रा का त्याग करने से स्वप्नजाल का त्याग होता है।।३२।। जल का त्याग करने से तरंगों का त्याग होता है, वर्षा ऋतु का त्याग करने से जैसे बादल बिछुड़ते हैं, वैसे धनका त्याग करने ये भोगों का त्याग अपने आप होता है।।३३।। वैसे बुद्धिमंत ज्ञानीजन अहंभाव का त्याग करके, हे अर्जुन! सब संसार बंधनों का त्याग करते हैं।।३४।। उसका नाम त्याग है, ऐसे यज्ञस्वरूप भगवान कहते हैं, इसको जानकर भाग्यवान पार्थ पूछता है।।३५।। अब शांति का लक्षण, हे कृष्ण! प्रकट करो, देव कहते हैं अब अच्छी प्रकार से ध्यान देना।।३६।। ज्ञेय (जानने का विषय) को पूर्ण समझकर ज्ञाता (जाननेवाला) एवं ज्ञान भी समाप्त हो जाता है, हे अर्जुन! जैसा प्रलयकाल का जल विशाल विश्व को डुबाकर स्वयं सर्वत्र व्याप्त होता है।।३८।। उगम, प्रवाह, सागर यह व्यवहार में पाया जानेवाला भेद शेष नहीं रहता, वहां जल एकत्रित हुआ है इसका ज्ञान कैसा एवं किसको होगा?।।३९।। वैसे ज्ञेय के साथ एकरूप होने से ज्ञातापन भी विलीन होता है, तब शेष जो ज्ञान बचता है वही शांति का स्वरूप है।।१४०।। जब तक कोई रोग नहीं होता तब तक रोग का विकास भी नहीं होता, जैसा उत्तम वैद्य अपना पराया न देखते हुए रोगी को औषधोपचार करता है।।४१।। जब गौ कीचड़ में फंसती है तब उसको वहां से निकालते समय वह दूध देनेवाली है या नहीं इसका विचार जैसे नहीं किया जाता, उसकी दीन दशा देखकर अंतःकरण विकल होता है।।४२।। जिसके अंतःकरण में करुणा है वह, डूबनेवाला व्यक्ति अंत्यज है या ब्राह्मण है, इसका विचार नहीं करता, उसको बाहर निकालकर प्राण रक्षा करना यही जानता है।।४३।। अथवा कुलवान स्त्री को किसी पापी ने वस्त्रहीन करने से उसको हे पार्थ! बिना वस्त्र पहनाए सभ्य गृहस्थ उसको देखता

Funding by IKS-MoE

कदाचित। बिन वस्त्र डाले न देखत। शिष्ट जैसा।।४४।। अज्ञान प्रसादिक से। या प्राक्तन संचित दोष से। ग्रस्त निंद्यत्व के सर्व विष से। काष्ट कीलक जैसे।।४५।। अपना आंगिक भलापन। सहाय्य देकर अर्जुन। भुलावत भेदक दारुण। शल्य उनके।।४६।। उनके सम्मुख आवे दोष। शुद्ध स्वदृष्टि से करके निर्दोष। पश्चात डाले नेत्रकटाक्ष। उनके ऊपर।।४७।। जैसे देव देखिये करके पूजन। जाईये खेत में करके बीजारोपण। संतुष्ट करके लीजिये आशीर्वचन। अतिथि का।।४८।। वैसे स्वगुण सामर्थ्य से। न्यून औरों के हटाकर जैसे। पश्चात दयार्द्र दृष्टी से। देखना उसको।।४९।। वर्म पर न करना आघात। न करो अकर्म का उच्चार। न बुलाओ नाम लेकर। सदोष का उनको।।१५०।। उलटा उपाय से नाना। गिरते को खड़ा करना। कदापि घाव न मारना। मर्म पर।।५१।। न माने एक को उत्तम। और दूजे को अधम। देखत सब को सम। निर्दोष भाव से।।५२।। 'अपैशुन्य' का यह लक्षण। जानो निश्चित अर्जुन। मोक्ष मार्ग का सुखासन। मुख्य यह।।५३।। अब दया वह ऐसी। पूर्ण चंद्रिका जैसी। शीतल करत एकसी। हीन श्रेष्ठ को।।५४।। वैसे दुःखित का दुख। हरते दयार्द्रपन से अशेख। विचार न करत देख। उत्तमाधम का।।५५।। जग में जीवन समान। जो देकर अपना प्राण। करत जीवित का रक्षण। तृण का भी।।५६।। सम्मुख कोई दुःखित। सकृप होकर दुःख हरत। सर्वस्व अपना देकर मानत। कम ही वह।।५७।। गर्त भरने बिन पार्थ। पानी न आगे बहत। श्रान्त को संतोष देकर ही बढ़त। आगे जो।।५८।। कांटे चुभत पांव में। तब उत्पन्न जो व्यथा मन में। वैसे औरों के संकट में। होवे व्यथित जो।।५९।। या पांव को जब शीतलता प्राप्त। तत्क्षण चक्षु भी होत शांत। वैसे परसुख से सुख पावत। धनुर्धर।।१६०।। हरने सबकी तृषा पार्थ। जग में पानी हुआ निर्माण। वैसे जिसका दुःखितों के हित हेतु समस्त। जीवन जिसका।।६१।। ऐसा जो गुणवंत। वही 'दया' मूर्तिमंत। मैं जन्मतः पार्थ। ऋणी उसका।।६२।। अब सूर्य को जीव से। अनुसरत राजीव वैसे। किंतु वह न स्पर्शत जैसे। सौरम्य उसका।।६३।। या ऋतुराज के मार्ग पर। अक्षोहिणी वनश्रिया स्वागत पर। किंत न करे उनका स्वीकार। आगे बढ़े वह।।६४।। वैसे ऐहिक या स्वर्ग के। भोग पाइक हुए इच्छा के। तथापि न भाये उपभोग उसके। मन को कदा।।६५।। सकल महासिद्ध सहित। महालक्ष्मी वसत निकट। किंतु महाविष्णु न मानत। उसको जैसे।।६६।। क्या कहूं तुमको बहुत। सहज कुतुहल के भी निमित्त। मन न होवे विषयासक्त। अलौलुप्त्व दशा वह।।६७।। अब मधुकोष जैसा मक्षिका को। या जल जलचर को। अथवा अंतराल पक्षियों को। मुक्त जैसा।।६८।। नातर बालक के उद्देश्य से। माता का स्नेह जैसे। या मृदु वासंतिक स्पर्श से। मलयानिल।।६९।। नेत्र को प्रियजनों का मिलन। कछुवी से शिशुओं का अवलोकन। वैसे भूतमात्र से वर्तन। कोमल अति।।१७०।। स्पर्श को अति मृदु। मुख को सुस्वादु।

Funding by IKS-MoE

नहीं ।।४४।। अज्ञान, उन्मत्तता, या दुर्दैव से जो निंद्य कार्य करने में मग्न होते हैं जैसे काष्ट को कीलक होता है ।।४५।। हे अर्जुन! अपने सद्‌गुणों की मदद देकर उनके हृदय का भयानक शल्य भुलाने के लिए सहायता करते हैं ।।४६।। उनके सम्मुख दोष आने से अपने दृष्टि से उसको निर्दोष करते हैं, पश्चात उनके ऊपर कृपादृष्टि डालते हैं ।।४७।। पूजन करके भगवान का दर्शन करना चाहिये, बीज बोने के बाद खेत में जाना चाहिये, अतिथि को संतुष्ट करके उनका आशीर्वाद लेना चाहिये ।।४८।। वैसे स्वयं के गुणों के सामर्थ्य से औरों की कमी को हटाकर तत्पश्चात उसके तरफ दयापूर्ण दृष्टि से देखना चाहिये ।।४९।। किसी के मर्म पर आघात नहीं करना चाहिये, बुरे कर्म का उच्चार नहीं करना चाहिये, किसी में कुछ दोष है उसका उच्चार करके उसको बुलाना नहीं चाहिये ।।१५०।। कोई गिर रहा है उसको विविध उपाय से उसके पैरों पर खड़ा करना चाहिये, कदापि उसके अंतःकरण को चोट नहीं पहुंचाना ।।५१।। एक को उत्तम एवं दूजे को अधम नहीं समझना चाहिये, निर्दोष भाव से सबको समान देखना चाहिये ।।५२।। हे अर्जुन! यह अपैशुन्य का लक्षण है, यह निश्चित समझना, मोक्ष के मार्ग का यह सुख देनेवाला आसन है ।।५३।। अब दया ऐसी है, जैसा पूर्ण चंद्रमा का प्रकाश, ऊंच-नीच का भेद न करते हुए एकसी शीतलता सबको प्रदान करता है ।।५४।। वैसे दुखी जनों का दुःख दयापूर्ण अंतःकरण से हरण करते हैं, उत्तम या अधम है इसका विचार नहीं करते ।।५५।। विश्व में जल अपना प्राण देकर घांस के जीवन का भी रक्षण करता है ।।५६।। कोई दुःखी जीव सामने देखकर, कृपावन्त होकर उसके दुःख को नष्ट करते हैं, अपना सर्वस्व देने का समय उपस्थित होने पर उसको भी वह कम समझ लेते हैं ।।५७।। हे पार्थ! मार्ग में आनेवाले गड्ढे को पूरा भर देने पर ही जल आगे बढ़ता है, वैसे दुखी जीव को संतोष देकर वह आगे बढ़ता है ।।५८।। पैर में कांटे चुभने से मन में जो दुःख उत्पन्न होता है, वैसे दूसरे का दुःख देखकर मन में दुःखी होता है ।।५९।। जब चरणों को शीतलता मिलती है, तत्क्षण नेत्र भी शांत होते हैं, वैसे हे धनुर्धर! दूसरे के सुख से उन्हें सुख प्राप्त होता है ।।१६०।। हे पार्थ! सबकी प्यास मिटाने के लिए जग में जल निर्माण हुआ है, वैसे दुःखी लोगों की हितरक्षा करने के लिए अपना समस्त जीवन देता हैं ।।६१।। ऐसा जो गुणों से परिपूर्ण है वही मूर्तिमंत दया है, हे पार्थ! उसमें दया उत्पन्न होते ही मैं उसका ऋणी होता हूं ।।६२।। सूर्यकमल सूर्य का अंतःकरणपूर्वक अनुसरण करता है, किंतु सूर्य कमल पुष्प के सुगंध को भी स्पर्श नहीं करता ।।६३।। ऋतुराज वसंत के मार्ग पर अक्षोहिणी वनलक्ष्मी स्वागत के लिए उपस्थित होती है, किंतु उसका स्वीकार न करते हुये बसंत ऋतु आगे बढ़ जाता है ।।६४।। ऐहिक भोग या स्वर्ग के भोग उसकी इच्छा के सेवक होने पर भी उसका उपभोग करना उसके मन को पसंद नहीं आता ।।६५।। अष्ट महासिद्धिओं के सहित महालक्ष्मी नित्य पास रहती है किंतु महाविष्णु जैसे उसको मानता नहीं ।।६६।। बहुत क्या कहेंगे! सहज कुतुहल के निमित्त भी जिसका मन विषयासक्त नहीं होता वही अलोलुप्त्व दशा है ।।६७।। मधुमक्खि को जैसे शहद का छत्ता प्रिय होता है, या जलचर मछली आदि को जैसा जल ही जीवन होता है, या पंक्षिओं को स्वैर, विमुक्त उड़ने के लिए जैसा आकाश खुला मिलता है ।।६८।। या माता के अंतःकरण में बालक के प्रति जैसा कोमल स्नेह रहता है या बसंत ऋतु में मलयपर्वत से आनेवाला वायुका स्पर्श जैसा सुखकर रहता है ।।६९।। प्रियजनों का मिलन नेत्र को सुखकर रहता है, कच्छपी की दृष्टि उसके शिशुओं के लिये सुखकर होती है, वैसे प्राणिमात्र से जिसका व्यवहार अत्यंत कोमल होता है ।।१७०।। स्पर्श के लिए अत्यंत मृदु होता है, मुख के लिए उत्तम स्वाद, नासिका को उत्तम परिमल, शरीर से स्वच्छ

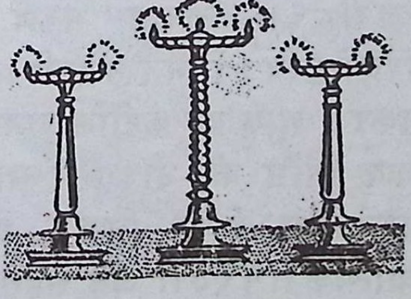

घ्राण को सुगंधु। उज्जवल अंग से।।७१।। जो खावे जितना चाहे। परंतु न विकारक होवे। तब हो उपमान सोहे। कर्पुर यहां।।७२।। महाभूत धरे पेट में। विद्यमान जैसे परमाणु में। रहे विश्वव्यापक होकर विश्व में। गगन जैसा।।७३।। कैसे बरनु ऐसा जीवन। अस्तित्त्व जिसका जगकारण। उसको ही संज्ञा गुण। 'मार्दव' पार्थ।।७४।। जैसा राजा पराभूत। होवे अत्यंत लज्जित। अथवा मानी निस्तेज होवत। हीन दशा में।।७५।। यदि चांडालगृह निकट। आवे संन्यासी अवचट (अकस्मात)। होवे जैसा लज्जित। उत्तम वह।।७६।। क्षत्रिय को रण से भागना। लज्जास्पद कैसे सहना?। या वैधव्यर नाम से पुकारना। महासती को जैसे।।७७।। रूपवान को फूटत कुष्ट। संभावित को दूषण । लज्जा से उसको प्राणसंकट। होवे जैसे।।७८।। औट हाथ का शरीर। जीना जन्म लेकर। जनन मरण बारम्बार। नाना योनियों में।।७९।। गर्भ भेद मूष से। रक्तमूत्र रस से। ढ़ला वह उससे। लज्जाकारक यह।।१८०।। बहुत हुआ विस्तार। यह नामरूपात्मक शरीर। धारण करना बारंबार। घृणास्पद अति।।८१।। ऐसी ऐसी दुर्गति। होवे शरीर से विरक्ति। आवे साधु को लज्जा किरीटि। भाये निर्लज्ज को।।८२।। जब सूत्रतंतु टूटत। क्रिया कठपुतली रुकत। वैसी प्राणजय से गति कुंठित। कर्मेंद्रियों की।।८३।। या अस्तंगत जब दिनकर। नष्ट किरणों का प्रसार। वैसा मनोजय से प्रकार। ज्ञानेंद्रियों का।।८४।। एवं मन पवन नियम से पार्थ। दशेंद्रिया अक्षम होवत। वही अचापल्य कहलावत। 'जानो' तुम।।८५।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

अब ईश्वर प्राप्त्यर्थ। ज्ञानमार्ग में यदि प्रवेशत। तब न्यूनता न किंचित। धैर्य की उसको।।८६।। दारुण मरण सरिस। प्राप्त यदि अग्नि प्रवेश। परंतु प्राणेश्वरोद्देश्य। गिनत न सती।।८७।। आत्मनाथ की चिन्ता कर। विषय विष को जलाकर। शून्य की कटीलि राहपर। दौड़ना भाये।।८८।। न आवे निषेध आड़। न लौकिक विधि की भीड़। न महासिद्धि की चाड़। उपजत मन में।।८९।। ऐसा ईश्वरनोन्मुख चित्त निज। धावत स्वयं सहज। उसको ही संज्ञा तेज। अध्यात्मिक।।१९०।। अब सहते सर्वही गरिमा। गर्व न होवे वही क्षमा। जैसे देह धरते हुए रोमा। गर्व न जाने।।९१।। अब मस्त जब इंद्रियावेग। पूर्वकर्म से वर्धित रोग। अथवा योग वियोग। प्रियाप्रियों के।।९२।। ऐसा आर्तियों का आवे पूर। एक ही समय महाघोर। रहे उसमें खड़ा धीर। अगस्ति सम।।९३।। धूम्ररेखा अंबर। में प्रसरत अति सुंदर। एक ही झोंके से ग्रासत समीर। उसको जैसा।।९४।। वैसे उपद्रव अधिभौतिक। अधिदैविक एवं आध्यात्मिक। प्राप्त यदि पांडव अशेख। निगलत जो।।९५।। इसविध चित्तक्षोभ के अवसर। धैर्य से वर्तत अंतर। वह जो गुण कहे

Funding by IKS-MoE

हो।।७१।। जितना चाहे खाने पर विकास उत्पन्न न करनेवाला होता तब ही कपूर की उपमा दी जाती।।७२।। आकार महाभूतों को धारण करता हैं, किंतु यह विशाल आकाश परमाणु में भी रहता है, जैसे विश्व व्याप्त होने पर भी विश्व में आक्रोश रहता है।।७३।। ऐसे जीवन का कैसे वर्णन करूं? जिसका अस्तित्त्व विश्व के लिए है, उस गुण को मार्दव ऐसी संज्ञा है।।७४।। पराभूत होने पर राजा अत्यंत लज्जित होता है, अभिमानी पुरुष जैसे हीन दशा आने पर निस्तेज होता है।।७५।। अंत्यज के घर में संन्यासी गलती से अकस्मात आने पर जैसा लज्जित होता है।।७६।। रणांगण से भागना क्षत्रिय को लज्जास्पद प्रतीत होता है, महासति को वैधव्य प्रदशिक नाम से पुकारना लज्जास्पद होता है।।७७।। स्वरूप सुंदर व्यक्ति को कुष्ठरोग हुआ, संभावित व्यक्ति को झूठा दूषण लगाया गया, तब लज्जित होकर उसको प्राणसंकट लगता है।।७८।। साढ़े तीन हाथ का शरीर हमारा स्वरूप है ऐसा समझकर विविध योनियों में पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के फेरे लगाना।।७९।। गर्भ में मेद के खाल में, रक्त एवं वीर्यरस का पुतला बनकर रहना लज्जास्पद है।।१८०।। ज्यादा क्या कहेंगे! यह नामरूपात्मक शरीर पुनः-पुनः धारण करना अत्यंत घृणास्पद है।।८१।। ऐसी दुर्गति होने से साधु लोगों को लज्जा उत्पन्न होकर मन में विरक्ति होती है, निर्लज्ज पुरुष को शरीर की आसक्ति प्रिय लगती है।।८२।। कठपुतली की रस्सी टूटने से उसका कार्य रुकता है, वैसे प्राण वायुपर विजय प्राप्त करने से कर्मेंद्रिय की गति कुंठित होती है।।८३।। सूर्यास्त होने पर जैसे सूर्य किरणों का फैलाव अपने आप नष्ट होता है, वैसा मन पर विजय प्राप्त करने से ज्ञानेंद्रिय के व्यापार बंद होते हैं।।८४।। हे पार्थ! इस प्रकार से मन एवं प्राणवायु नियंत्रित करने से दश इंद्रियां (पांच कर्मेंदिय एवं पांच ज्ञानेंद्रिय) अक्षम होते हैं, उसीको 'अचापल्य' कहते हैं ऐसा तुम समझना।।८५।।

तेज, क्षमा, धैर्य, अंतर्बाह्य शुद्धि, शत्रुभाव न होना, पूज्यता के अभिमान का अभाव, यह सब हे अर्जुन! दैवी संपदा प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं।।३।।

अब भगवान के प्राप्ति के लिए ज्ञानमार्ग से उपासना करते हुये धैर्य की उसमें कमी नहीं होना चाहिये।।८६।। मृत्यु से भयंकर अग्नि में प्रवेश करना होता है, किंतु अपने प्राणप्रिय पति के साथ सति जानेवाली स्त्री उसकी गिनती नहीं करती।।८७।। आत्मनाथ की चिंता से विषयरूपी विष को जलाकर शून्य के कांटेदार मार्ग पर दौड़ना प्रिय लगता है।।८८।। निषेध उसके मार्ग में बाधा उत्पन्न नहीं करता, लौकिक विधि की भीड़ नहीं लगती, महासिद्धियां प्राप्त होवे ऐसी इच्छा उत्पन्न नहीं होती।।८९।। ऐसा अपना अंतःकरण ईश्वर के तरफ स्वाभाविक रीति से खींचा जाता है उसको 'आध्यात्मिक तेज' ऐसी संज्ञा है।।१९०।। सब प्रकार की श्रेष्ठता को सहते हुए जिसको अहंकार नहीं होता वही क्षमा है, जैसे देह पर शरीर पर रोम धारण करता है किंतु वह गर्व नहीं करता।।९१।। विषय सेवन के लिए इंद्रियों की प्रवृत्ति अतिरिक्त बढ़ने से, या प्रारब्ध से रोग बढ़ने से, या प्रिय व्यक्ति का वियोग होने से, या अप्रिय वस्तु प्राप्त होने से।।९२।। या सब एक साथ दुर्दैव से एक ही समय आघात होने से, जो अगस्ति ऋषि के सदृश उसमें धीर गंभीरता से खड़ा रहता है।।९३।। आकाश में धुएं की रेखा अत्यंत सुंदरता से फैलती है, किंतु वायु के एक ही झोंके से वह तितर बितर होती है।।९४।। वैसे आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक, उपद्रव प्राप्त होने पर, हे पांडव! वह सब सहन करता है।।९५।। अंतःकरण क्षोभित होने के इस प्रकार के अवसर में उसका अंतःकरण धैर्य से व्यवहार करता है, उसको 'धृति गुण' कहते हैं ऐसा

Funding by IKS-MoE

श्रीधर। 'धृति' जानो।।९६।। सुवर्ण शोधित निर्मल। भीतर अमृतमय गंगाजल। उस कलशसम उज्जवल। शौच पार्थ।।९७।। निष्काम बाह्य आचार। विवेक परिपूर्ण अंतर। ऐसा पुरुष साचार। मूर्ति 'शुचित्व' की।।९८।। नष्ट करते पाप ताप। पोषत तीर के पादप। समुद्र में जाये आप। गंगा का जैसे।।९९।। जग का अंधत्व करते नष्ट। खोलते लक्ष्मी के मंदिर पार्थ। निकलत जैसा भास्कर। परिक्रमा को।।२००।। वैसे वृद्ध को मुक्त करते। डूबते को निकालते। विपदा को हरण करते। आर्तजनों की।।१।। किंबहुना रात्रं दिवस। दूसरों का सुख उत्कर्ष। करके करना प्रवेश। स्वार्थ में अपने।।२।। साधने अपना स्वार्थ। औरों का करना अहित। ऐसा निंद्य संकल्प पार्थ। न करना जो।।३।। अद्रोहत्व यह गुण। सुना जो तुमने निरूपण। प्रत्यक्ष होगा दर्शन। किरीटि तुझको।।४।। और गंगा शंभु का माथ। पहुंचकर जैसी समुचत। वैसे मान प्राप्ति से लज्जित। होवे जो।।५।। ऐसा वह पुनः-पुनः। 'अमानित्व' जानो अर्जुन। क्रिया पहले ही निरूपण। कितना कहूं वही।।६।। एवं इन्हीं छब्बीस। ब्रह्मसंपदाका वास। मोक्ष चक्रवर्ती का विशेष।

अग्रहार जैसा।।७।। अथवा यह संपत्ति दैवी। यह गुण तीर्थों की नित नवी। निर्विण्ण सगरों की देवी। आयी गंगा ही।।८।। या गुण कुसुमों की माला। लेकर यह मुक्तिबाला। वैराग्य निरपेक्ष का गला। खोजत पार्थ।।९।। या इन्हीं गुण ज्योति छब्बीस से। प्रज्वलित करके आरती। गीता आत्म निजपति। को नीराजत स्वयम्।।२१०।। इस गीतार्णव में। दैवी संपदाशुक्ति कलिका में। निर्मल मुक्ताफल उसमें। प्रकटित ये।।११।। बहुत क्या वरनू ऐसी। अभिव्यक्ति होवे अपनेसी। दैवी संपत्ति गुणराशि। का रूप यह।।१२।। अब अंतरंग दुःखवल्ली पार्थ। दोषकंटक से यदि परिपूरित। तथापि निजाभिधान में वर्णित। आसुरी वह।।१३।। किंतु त्याज्य तजने प्रीत्यर्थ। जानो यदि अनुपयोगी तत्त्वतः। तथापि सुनो पंडुसुत। श्रोत शक्ति से।।१४।। तब नरक व्यथा को महति। लावे-अघोर दोष किरीटि। मेल की वह संपत्ति। आसुरी यह।।१५।। नाना विषवल्ली एकत्रित। नाम उसका कालकूट। सकल दोषों का संपुट। धनुर्धर।।१६।।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।।४।।

तब उन्हीं आसुर। दोषों में जिसको सुवीर। श्रेष्ठत्व डंके की चोट पर। वह 'दंभ' जानो।।१७।। जैसी तीर्थरूप जननी। नग्न दिखाई जग में अपनी। कारण होवे वह पावनी। पतन का।।१८।। ब्रह्मविद्या गुरुपदिष्ट। चिल्लाकर चौराहे पर प्रकट। इष्टदा किंतु अनिष्ट। कारक होत।।१९।। डूबते महापूर में। पहुंचावे त्वरित पैलतीर में। नाव ही यदि बांधे सिर में। डूबावत जैसी।।२२०।। अन्न जीवित का कारण। प्रशंसापूर्वक किया अधिक सेवन। वह अन्न ही होवे अर्जुन। विष

श्रीधर ने कहा।।९६।। शुद्ध सुवर्ण के घट में अमृतमय गंगाजल भर दिया उस कलश के समान हे पार्थ! शौच-शुद्धता होती है।।९७।। बाह्य आचार निष्काम है, अंतःकरण विवेक से परिपूर्ण है, ऐसा पुरुष सत्य में शुचित्व की मूर्ति है।।९८।। पाप एवं कष्ट नष्ट करते हुए, किनारे पर लगे हुये वृक्षों का पोषण करते हुए, जैसे गंगा नदी समुद्र में एकरूप होने के लिये चली जाती है।।९९।। विश्व का अंधःकार नष्ट करते हुए लक्ष्मीजी का निवासस्थान, सूर्य विकासी कमलों को विकसित करते हुये, जैसे सूर्यनारायण परिक्रमा करने निकलते हैं।।२००।। वैसे जो संसार में लिप्त है उनको बाहर निकालते हुए, अज्ञानिओं को मुक्त करते हुए, दुःख से पीड़ित लोगों के संकटों का निवारण करते हुए।।१।। किंबहुना रात दिन दूसरों का सुख बढ़ाते हुये जो आत्महित करता रहता है।।२।। अपना स्वार्थ साधन करते हुए दूसरों का अहित करना, हे पार्थ! ऐसा निंद्य कार्य का संकल्प जो नहीं करता।।३।। वही अद्रोहत्व का गुण है, तुमने जो निरूपण सुना है, हे किरीटी! उसका प्रत्यक्ष दर्शन तुम्हें होगा।।४।। शंकरजी के मस्तक पर पहुंचकर जैसे गंगाजी संकुचित होती है, वैसे सम्मान प्राप्त होने पर जो लज्जित होता है।।५।। ऐसा वह पुनः पुनः 'अमानित्त्व' जानना, हे अर्जुन! पहले ही इसका निरूपण किया है, वही बात अब कितनी बार कहूं।।६।। अतः इन छब्बीस गुणों के रूप में यह ब्रह्मैश्वर्य का वास्तव्य है, मोक्षरूपी सार्वभौम राजा को यह छब्बीस गुण अग्रहार हैं (गांव या इनामी भूमि है)।।७।। अथवा यह दैवी संपत्ति छब्बीस गुणरूपी तीर्थों से भरी नित्य नवीन गंगा है, मानो विरक्त पुरुषरूपी सागरों को दैव से वह प्राप्त हुई है।।८।। हे पार्थ! मुक्तिरूपी कन्या छब्बीस गुणरूपी माला लेकर वैराग्य से जिसका मन निरपेक्ष-निरासक्त हुआ है, ऐसे पुरुष के कंठ में पहनाने के लिए खोज रही है।।९।। इन छब्बीस गुण रूपी दीपक की आरती सजाकर श्री गीता आत्माराम रूपी अपने पति की आरती उतारने आई है।।२१०।। श्री गीतारूपी समुद्र से दैवी संपत्तिरूपी सीँप से छब्बीस गुणरूपी निर्मल मौक्तिक प्रकट हुए हैं।।११।। ऐसा बहुत कितना वर्णन करूं? अपने आप स्पष्ट होगा, ऐसा दैवी संपत्ति के गुण समूह का वर्णन किया है।।१२।। अब अंतरंग दुःख की लता, हे पार्थ! दोषरूपी कांटे से वह यदि परिपूर्ण है किंतु उस आसुरी संपत्ति नाम से प्रसिद्ध है उसका वर्णन यह है।।१३।। त्याग करने लायक वस्तु का त्याग करने से, यदि अनुपयोगी तत्त्वतः है, तथापि हे पंडुसुत! उसको जानना चाहिये।।१४।। हे किरीटी! नरक दुःख बढ़ाने के लिए भयंकर दोषों का अघोर समूह हुआ, वही आसुरी संपत्ति है।।१५।। हे धनुर्धर! सब विष एकत्रित होनेपर उसको कालकूट ऐसा नाम दिया जाता है, तद्वत सब दोष जब एकत्रित होते हैं, तब उसको आसुरी संपत्ति यह नाम है।।१६।।

हे पार्थ! पाखण्ड, घमण्ड, अहंकार, क्रोध, कठोर वाणी एवं अज्ञान, यह सब आसुरी संपदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं।।४।।

हे सुवीर! इन्हीं आसुरी दोषों में जिसको डंके की चोट पर श्रेष्ठत्त्व प्राप्त हुआ है वह दंभ नामक प्रथम दोष है।।१७।। तीर्थ के सदृश पवित्र अपनी माता की लोगों में निर्भत्सना करने से वही अधोगति का कारण होती है।।१८।। गुरु के द्वारा उपदेश किया हुआ ब्रह्मज्ञान चौराहे पर चिल्लाकर प्रकट करने से ईष्ट फल देनेवाला उपदेश अनिष्ट कारक होता है।।१९।। महापूर में डूबते हुए को नौका किनारे पर सकुशल पहुंचाने वाली होती है, उसी को यदि सिरपर रखकर पूर में जाने से वह निश्चित डूबो देगी।।२२०।। जीवित रहने के लिए अन्न आवश्यक है, उत्तम भोजन की प्रशंसा करते हुए अतिरिक्त

जैसा।।२१।। दृष्टादृष्ट का सखामित्र। धर्म यदि चौराहेपर कथित। तारक किंतु वही होवत। अहितकारी।।२२।। अतः वाचा से चौराहे पर। किया धर्म का विस्तार। वह धर्म ही अधर्मकर। जानो दंभ।।२३।। जब मूर्ख के जीभपर। गिरे अक्षर बिंदु उसपर। न रीझत वह नर। ब्रह्म सभा में जैसा।।२४।। मादुरी घोड़ेपर सवार। मानत राजाधिपति को भी क्षुद्र। चढ़े गिरगिट कटीले पेड़पर। माने स्वर्ग हीन।।२५।। पावत तृण का ईंधन। ज्वाला स्पर्शत गगन। वैसा डबरे में रहत मीन। माने सागर तुच्छ।।२६।। वैसे उनमत्त स्त्रीधन से। विद्यास्तुति बहुसम्मान से। एक दिन के परान्न से। मत्त निर्धन जैसा।।२७।। अभ्र छाया के निमित्त। स्वगृह निर्दैवी तोड़त। मृगांबु देखकर मूर्ख फोड़त। कूप घर का।।२८।। किंबहुना ऐसे से। मदोन्मत्त संपत्ति मिष से। वह दर्प जानो निश्चित से। धनुर्धर।।२९।। जगका वेद में विश्वास। और विश्व को पूज्य ईश। जग में एक ही तेजस। पदार्थ सूर्य।।२३०।। जगत्स्पृहाका आस्पद। पाना एक सार्वभौम पद। न चाहत निर्विवाद। मरण कभी।।३१।। अतः जग उत्साह से। वेद ईश को स्तवत जैसे। सुनकर वह मत्स्य से। फूलत जो।।३२।। कहे भक्षू ईश्वर को। जहर दूं उन वेदों को। स्वगौरार्थ मर्यादा को। उल्लंघत जो।।३३।। ज्योति न भाये पतंग को। त्रास भानु का खद्योत को। या टिट्टिभ आपापति को। माने वैरी।।३४।। वैसे अभिमान आवेश से। सहे न नाम ईश्वर का जैसे। वेदाज्ञा को कहे वैसे। सौतन मेरी।।३५।। ऐसा मान्यता का पुष्ट गंड। वह अभिमानी परमलंड। रौरव का जो रूढ। मार्ग ही जाने।।३६।। और दूजे का सुख अर्जुन। देखकर क्रोधाग्नि से जिसका मन। तत्काल होवे विषपूर्ण। पंडुकुमर।।३७।। जल शीतल तप्त तैल में। गिरते उफनत उसमें। चंद्र देखकर जले मन में। शृगाल जैसा।।३८।। विश्व को जो देत जीवन। उस सूर्य को उदितमान। देखकर फूटत नयन। दिवा भी तके जैसे।।३९।। जग की सुप्रभात। चोर को मरण से निकृष्ट। दूध का होवे कालकूट। व्याल मुख में।।२४०।। अगाध समुद्र जल से। अधिक भी जल प्राशन से। न कभी लभत शांति जैसे। वडवानल को।।४१।। वैसे विद्याविनोद वैभव से। देखकर औरों के भाग्य से। तब तब दुगनावत रोष जैसे। मानो 'क्रोध' वह।।४२।। और सर्पकुटिसम मन। नाराज जैसे तीक्ष्ण नयन। अग्निवृष्टि सम भाषण। दाहक जिसका।।४३।। और सब क्रिया जात। मानो फौलाद की आरी पार्थ। ऐसे सबाह्य जिसका चरित्र। कठोर अति।।४४।। वह मनुष्य में अधम जान। 'पारुष्य' का केवल अवतरण। अब सुनो लक्षण। अज्ञान का।।४५।। प्रदीप्त अग्नि करे आरोगण। न देखे खाद्याखाद्य अर्जुन। या पारस न जाने भिन्न पन। लोह सुवर्ण का।।४६।। जैसा स्पर्श शीतोष्ण। भेद न जाने पाषाण। अथवा रात और दिन। जात्यंध जैसा।।४७।। नातर नाना रस में। चलत करछुली उनमें। किंतु रसास्वाद न जाने। धनुर्धर।।४८।। या पवन पारखी जैसा। नहीं मार्गामार्ग विषय में वैसा।

Funding by IKS-MoE

खाने से हे अर्जुन! अन्न ही विष होता है ॥२१॥ वैसे इहलोक में एवं परलोक में तारनेवाले धर्म को चौराहे पर प्रसिद्ध करने से मारनेवाला ही मारक होता है ॥२२॥ किये हुये धर्म की बढ़ाई वाणी से करने से वह धर्म ही अधर्मकर होता है, उसी को दंभ कहते हैं ॥२३॥ मूर्खों के वाणी से कुछ शब्द निकल पड़ने पर वह ब्रह्मा की सभा को तुच्छ समझता है ॥२४॥ घोड़े पर सवार मादुरी राज्य के अधिपति को भी क्षुद्र समझता है, कंटीले वृक्षपर चढ़ा गिरगिट स्वर्ग को तुच्छ समझता है ॥२५॥ तृण को अग्निस्पर्श होने पर आकाश में ज्वालाएं जाती हैं, डबरे की मछली समुद्र को तुच्छ समझती है ॥२६॥ वैसा जो स्त्री के धन से, विद्या, स्तुति, बहुत सम्मान आदि से जो उन्मत्त होता है, परान्न सेवन करने से दरिद्री जैसा उन्मत्त होता है ॥२७॥ बाद्दलों की छाया प्राप्त होने से दुर्दैवी जैसा अपना घर तोड़ता है, अथवा मृगजल देखकर मूर्ख मनुष्य घर का कुवां फोड़ता है ॥२८॥ किंबहुना ऐसे संपत्ति से जो मदोन्मत्त होता है, हे धनुर्धर! उसको निश्चित दर्प समझना ॥२९॥ सर्व विश्व में वेदों पर विश्वास है, संपूर्ण विश्व को परमेश्वर पूजनीय है, संपूर्ण विश्व में तेजस्वी पदार्थ एक सूर्य ही है ॥२३०॥ सार्वभौम राजा की राजगद्दी यही सर्व जग में महत्वाकांक्षी की अभिलाषा रहती है, मृत्यु न आवे यही सब लोगों की जग में इच्छा रहती है ॥३१॥ विश्व का वेदों में विश्वास है एवं ईश्वर जगत्वंद्य है, अतः आनंद से कोई उनका वर्णन करते ही मत्सर से वह फूलता है ॥३२॥ कहना है, मैं ईश्वर का भक्षण करूंगा, वेदों को जहर दूंगा, स्वयं का गौरव कराने के लिए वह मर्यादा का भी उल्लंघन करता है ॥३३॥ दीपक की ज्योति पतंग की भांति नहीं, जुगनू को सूर्य से कष्ट होता है, टिटिभ पक्षी समुद्र को बैरी मानता है ॥३४॥ वैसे अहंकार के आवेश में वह ईश्वर का नाम सहता नहीं, वेदों को मानो अपनी सौतन समझता है ॥३५॥ इस प्रकार से मानमान्यता का ऐसा बड़ा अहंकार रहता है, अहंकारी पुरुष उन्मत्त होता है, रौरव नरम का वह रूढ़ मार्ग समझना चाहिये ॥३६॥ हे अर्जुन! दूसरे का सुख देखकर क्रोधाग्नि से जिसका मन तत्काल विषयुक्त होता है ॥३७॥ गरम तेल में जल का छींटा पड़ते ही वह उफनकर तड़तड़ाता है, जैसे जल में चंद्रमा का प्रतिबिंब देखकर सियार मन में जलता है ॥३८॥ विश्व को जीवन देनेवाला सूर्योदय होते ही उल्लू के नेत्र अंधे हो जाते हैं ॥३९॥ विश्व के लिए जो सुप्रभात होती है वही चोर के लिये वही प्रातःकाल मृत्यु से भी निकृष्ट प्रतीत होता है। सांप के मुख में दूध का भी कालकूट विष बनता है ॥२४०॥ वड़वाग्नि अधिकाधिक, अगाध समुद्रजल पीता है वैसा वह ज्यादा प्रज्वलित होता है, मानो जल प्राशन से उसकी शांति नहीं होती ॥४१॥ तद्वत विद्या, विनोद, ऐश्वर्य से युक्त दूसरों का भाग्य देखकर उसका क्रोध दुगना होता है ॥४२॥ जिसका मन सर्प का बिल होता है। घातक संकल्प मन करता है। उसके नेत्र मानों बाणों की वृष्टि होती है, जिसकी वाणी अग्नि सदृश दाहक-तापदायक होती है ॥४३॥ उसकी सब क्रियाएं फौलाद की आरी के समान होती हैं, हे पार्थ! अंतर्बाह्य उसका चरित्र अत्यंत कठोर होता है ॥४४॥ वह मनुष्यों में अत्यंत अधम समझना चाहिये, वह कठिनता पारुष्य की साक्षात् मूर्ति है, अब अज्ञान का लक्षण सुनो ॥४५॥

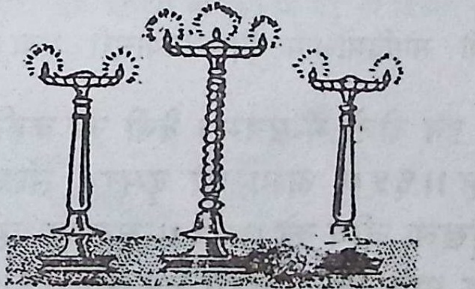

जैसे अग्नि खाते समय योग्य अयोग्य का विचार नहीं करता, पारस पत्थर लोहा एवं सुवर्ण में भेद नहीं जानता ॥४६॥ जैसे पाषाण शीत व उष्णता का भेद नहीं जानता, जैसे जन्म से जो अंधा है वह रात एवं दिन में भेद नहीं समझता ॥४७॥ विविध व्यंजनों में करछुली प्रवेश करती है, किंतु उन व्यंजनों की रुचि वह जानती नहीं ॥४८॥ या वायु जैसे मार्गामार्ग का विचार नहीं करता, तद्वत कृत्य-अकृत्य, सत्कर्म एवं

कृत्याकृत्य विवेक में वैसा। अंधपन जो।।४९।। यह चोखा यह मैल। न जानकर बाल। देखे सोही केवल। डाले मुख में।।२५०।। वैसी पाप-पुण्य की खिचड़ी पार्थ। करके खाते बुद्धि चेष्टा समस्त। कटु मधुर न भासत। ऐसी दशा जो।।५१।। उसका नाम 'अज्ञान'। इसमें न संशय अर्जुन। एवं षट्दोष का चिन्ह। निरूपित।।५२।। ये षट्दोष अंग में पार्थ। यह बलिष्ट आसुरी संपत। जैसा सुभगां में विषय बहुत। कृश तनु के।।५३।। अग्नि त्रिभुवन में अर्जुन। देखे यदि संख्या में तीन। किंतु विश्व भी अल्प पूर्ण। प्राणाहुति को।।५४।। धाता को भी आवे शरण। न चूकत त्रिदोष से मरण। वह तीनों की दुगुन। छह दोष ये।।५५।। इन्हीं दोषों से संपूर्ण। हुआ इसका उभार पूर्ण। अतः आसुरी कोई न्यून। संपदा नाही।।५६।। जैसा क्रूर ग्रहों का कौंतेय। एक राशी में मिले समुदाय। या निंदक के पास जाय। अशेष पाप।।५७।। मरणहार के अंग-। में आवत समस्त रोग। अथवा कुमुहुर्त में दुर्योग। जुटत सब।।५८।। विश्वसित ने चोर से लुटवाना। श्रान्त को महापुर में लोटना। वैसे नर का अनिष्ट करना। काम इनका।।५९।। बिच्छी सप्त लूम की पार्थ। मरण समय में काटत। वैसे छह ही दोष समस्त। प्राप्त उनको।।२६०।। मोक्षमार्गस्थ नर। यदि बूंद इनका गिरे उसपर। डूबत जैसा कभी न आवे ऊपर। संसार में वह।।६१।। अधम योनियों का सोपान। क्रम क्रम से उतर के अर्जुन। पहुंचत स्थावर तल तक। जान नर वह।।६२।। रहने दो यह उसके ठाँई। मिलकर षट्दोष यही। आसुरी संपत्ति सबही। बढ़ावत।।६३।। ऐसी ये दो पार्थ। प्रसिद्ध संपदा जग में समस्त। पृथक चिन्ह से कथित तुमको। यहां।।६४।।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। मा शुचः संपदं देवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

इन दोनों में प्रथम। दैवी जो कही सुवर्म!। मोक्ष सूर्य से उदित उत्तम। उषा ही वह।।६५।। अन्य जो दूसर। संज्ञा जिसको आसुर। मोह लोह की साचोकार। शृंखला जीव को।।६६।। सुनकर यह तत्क्षण। न करना भय शंकित मन। क्या रात्रि का धाक दिन। धरत मन में?।।६७।। यह आसुरी संपत उनको। कारण होत बंध को। जो छह ही उन दोषों को। आश्रय देत।।६८।। तुम तो हे भारत!। दैवी ऊपरी निर्दिष्ट। संपत का यथार्थ जन्मतः। गुणनिधि प्रत्यक्ष।।६९।। अतः तुम पार्थ!। दैवी संपत का नाथ। होकर पहुंचना सुखप्रत। कैवल्य के।।१७०।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च। दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु।।६।।

अब दैवी एवं आसुर। संपत्तिवंत नर। उनका अनादिसिद्ध उजागर। व्यवहार जग में।।७१।। जैसे रात्रि के अवसर। कार्य करत निशाचर। दिन में सुव्यवहार। मनुष्यादि के।।७२।। वैसे अपनी अपनी पद्धति। से वर्तत दोनों सृष्टि। दैवी और

Funding by IKS-MoE

दुष्कर्म में वह विवेक नहीं करता ॥४९॥ छोटा बालक शुद्ध अशुद्ध में भेद न जानते हुए जिस वस्तु को देखता है उसी को मुख में डालता है ॥२५०॥ वैसे हे पार्थ! पाप एवं पुण्य की खिचड़ी बनाकर खाते समय उसकी बुद्धि में विवेक नहीं होता जिससे कटु एवं मधुरता का भेद नहीं समझता ऐसी यह दशा है ॥५१॥ उसका नाम अज्ञान है, हे अर्जुन! इसमें संशय नहीं है, दोषों के ये छह लक्षण तुम्हें बताये हैं ॥५२॥ हे पार्थ! यह छह दोष जब शरीर में रहते हैं। किंतु इन छह दोषों से आसुरी संपत्ति बलिष्ट हुई है, सुंदर स्त्री में योग कृश शरीर होने पर कामेच्छा अधिक होती है ॥५३॥ हे अर्जुन! तीनों लोकों में अग्नि केवल तीन प्रकार का है, किंतु प्राणों की आहुति लेने के लिए उसको संपूर्ण विश्व भी कम ही प्रतीत होता है ॥५४॥ कफ, पित्त एवं वात का प्रक्षोभ होने से, इन तीन दोषों से ब्रह्मा को शरण जाने पर भी मृत्यु नहीं टलता, इन तीन दोषों से दुगने यह छह दोष हैं ॥५५॥ इन्हीं दोषों से संपूर्ण आसुरी संपत्ति की निर्मिति हुई है, अतः आसुरी संपत्ति को कभी नहीं समझना ॥५६॥ हे कौंतेय! जैसे क्रूर ग्राहों का समूह एक ही राशि में आवे, या जैसी निंदा करनेवाले के पास सब पाप आते हैं ॥५७॥ मृत्यु समय आने पर शरीर में समस्त रोग उत्पन्न होते हैं, कुयोग में सब दुर्योग एकत्र होते हैं ॥५८॥ जिसके ऊपर विश्वास रखा उसने ही चोरों से लुटवाया, या थके हुए को महापूर में ढकेल दिया, वैसे लोगों का अनिष्ट करना इनका काम है ॥५९॥ सात लूम की बिच्छी मृत्यु के समय काटती है, वैसे छह दोष सब उसको प्राप्त होते हैं ॥२६०॥ मोक्ष मार्ग पर चलनेवाले को यदि इसका संपर्क हुआ तब वह पुन्हा संसार में लिप्त होकर बाहर नहीं निकलता ॥६१॥ हे अर्जुन! अधम योनियों को क्रम से नीचे उतरने के लिये ये सीढ़ियां हैं, स्थावर तक वह नर पहुंचता है ॥६२॥ अब यह उसके पास ही रहने दो, ये छह दोष मिलकर आसुरी संपत्ति को बढ़ावा देते हैं ॥६३॥ ऐसी यह हे पार्थ! संपूर्ण जग में दो प्रकार की संपदा है, पृथक लक्षणों से तुम्हें यहां समझाया है ॥६४॥

दोनों संपदाओं में दैवी संपत्ति मुक्ति के लिये और आसुरी संपत्ति बंधन के लिये कहलाई गई है, अतः हे अर्जुन! तुम शोक नहीं करना, क्योंकि तुम दैवी संपदा को प्राप्त हुये हो ॥५॥

हे सुवर्म! इन दोनों संपदाओं में दैवी संपत्ति जो कही गयी है वह मोक्षरूपी सूर्य से उदित उत्तम उषःकाल है ॥६५॥ अन्य जो है जिसको आसुरी संपत्ति की संज्ञा है, वह बंधन का कारण है, वह सत्य में मोहरूपी लोहे की जीव के लिए श्रृंखला है ॥६६॥ किंतु उसका लक्षण सुनकर अपना मन भयशंकित नहीं करना, क्या रात्रि का धाक दिन में धरता है? ॥६७॥ यह आसुरी संपत्ति उन लोगों को बंधन का कारण होती है जो इन छह दोषों को आश्रय देते हैं ॥६८॥ हे अर्जुन! तुम तो ऊपर बताये हुये दैवी संपत्ति के गुणों के निधि रूप में जन्म लिये हो ॥६९॥ अतः पार्थ। तुम दैवी संपत्ति के स्वामी होकर कैवल्य के सुखपर्यंत पहुंचना ॥२७०॥

हे अर्जुन! इस लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं, एक देवों के जैसा एवं दूसरा आसुरों जैसा, उनमें देवों का स्वभाव विस्तार से कहां गया है, अतः अब आसुरों के स्वभाव को भी विस्तार से सुनना ॥६॥

अब दैवी एवं आसुरी संपत्ति से युक्त लोगों के व्यवहार के अनादिसिद्ध दो मार्ग हैं ॥७१॥ रात्री के समय जैसे निशाचरों के व्यवहार होते हैं एवं दिन में मनुष्यों के उत्तम व्यवहार होते हैं ॥७२॥ वैसी अपनी अपनी पद्धति दैवी संपत्ति एवं आसुरी संपत्ति

Funding by IKS-MoE

किरीटि। आसुरी यहां ॥७३॥ वैसे पूर्वाध्याय में पार्थ। दैवी संपत सुविस्तृत। ज्ञान कथन में यथार्थ। निरूपित ॥७४॥ अब आसुरी जो सृष्टि। उनकी बरनूं गोष्टी। अवधान की नीकी दृष्टि। देना तुम ॥७५॥ सुनो बोधबिन नाद। कदापि न देत प्रतिसाद। या पुष्पबिन मकरंद। न लभत जैसा ॥७६॥ वैसा प्रकृति यह आसुर। अकेली न होवे गोचर। जब तक कोई एक शरीर। न अंगिकारत वह ॥७७॥ घिसते लकड़ी लकड़ी पर। होवे अग्नि दृष्टिगोचर। वैसे प्राणिदेह में दिखत समग्र। व्याप्त यह ॥७८॥ तब गन्ने की वृद्धि जैसी। अंदर रसवृद्धि भी तैसी। देहाकृति होवे वैसी। प्राणियों की ॥७९॥ अब उन प्राणियों का पार्थ। रूप बतलाऊं यथार्थ। जो दोषवृन्द से युक्त। आसुरि के ॥२८०॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न निदुरासुरा:। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

अतः पुण्य विषय में प्रवृत्ति। या पाप विषय से निवृत्ति। इस ज्ञान की रात्रि। उनका मन ॥८१॥ निर्गम या प्रवेश पार्थ। न सोचत बांधत सावेश। स्वगृह जैसा कीटकोश। फसल उसमें ॥८२॥ आवे न आवे वापस। दिया पैसा अपने पास। देवे मुद्दल चोर को खास। मूर्ख जैसा ॥८३॥ वैसे प्रवृत्ति निवृत्ति। न जानत आसुरी किरीटि। और शुचित्व स्वप्न में भी दृष्टि। न देखे जिनकी ॥८४॥ कोयला कालिख छोड़ेगा। कौवा शुभ्र होवेगा। मांस का ऊबग राक्षस को भी ॥८५॥ किन्तु ये आसुरजन। शौच न राखत अर्जुन। मद्यपात्र को पवित्रपन। न कदापि जैसे ॥८६॥ न मानत विधि विधान। श्रेष्ठों का आज्ञापालन। और भाष सदाचरण। न जानत वे ॥८७॥ जैसा चरना बकरी का। या दौड़ना वायु का। जलाना अग्नि का। बिन सोचे ॥८८॥ वैसे होकर स्वैर। आचरत वे आसुर। सत्य से उनका वैर। निरन्तर ॥८९॥ लूम से यदि अपने पार्थ। बिच्छू गुदगुदी करत। तब ही सत्य बोलत। आसुरी वे ॥२९०॥ अपान के मुख से कदाचित। यदि सुगंध निसृत। तब ही सत्य उनको प्राप्त। आसुरी को ॥९१॥ इसविध बिन कारण। अंग में जिनके दुष्टपन। उनका विलक्षण भाषण। सुनो कहूं अब ॥९२॥ वैसे ऊंट के अंग। में कौन सा अवयव चांग। वैसा आसुरियों का प्रसंग। सुनो प्रसंगानुसार ॥९३॥ चिमनी के मुख से पार्थ। धूम्र के उभड़ उभड़त। वैसे जानो स्पष्ट। बोल उनको ॥९४॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

अनादि यह विश्वनगर। नियंता इसका परमेश्वर। वेद करत चौकीपर। न्याय अन्याय भेद ॥९५॥ वेद कहत अन्यायी जिसको। नरक भोग प्राप्त उनको। और स्वर्गसुख संन्यासी को। धनुर्धर ॥९६॥ ऐसी यह विश्व व्यवस्था। अनादि जो रही पार्था। किंतु इसको कहत वृथा। अशेष ये ॥९७॥ यज्ञमूढ़ पागल यज्ञ में। भ्रमित देवपूजक प्रतिमा पूजन में। लुट गये समाधि भ्रम में। संन्यासी योगी ॥९८॥ अतः

युक्त लोग व्यवहार करते हैं ॥७३॥ वैसे हे पार्थ! पूर्व अध्याय में दैवी संपत्ति का विस्तृत वर्णन ज्ञान कथन करते हुए यथार्थ निरूपण किया है ॥७४॥ अब जो आसुरी सृष्टि है, उनकी गोष्टी का वर्णन करूंगा, तुम ध्यान देकर सुनना ॥७५॥ सुनो! वाद्य के बिना नाद किसी को सुनाई नहीं देता, या पुष्प के बिना जैसा सुगंध नहीं मिलता ॥७६॥ वैसी यह आसुरी संपत्ति अकेली प्रकट नहीं होती, जब तक कोई शरीर उसका अंगिकार नहीं करता तब तक यह अनुभव में नहीं आती ॥७७॥ लकड़ी पर लकड़ी घिसने से अग्नि, दृष्टि से दिखाई देता है, वैसे प्राणियों के देह में जब यह व्याप्त हो जाती है तब दिखाई देती है ॥७८॥ जैसी गन्ने की वृद्धि होती है तब संपूर्ण गन्ने में रस भर जाता है, वैसी प्राणियों के देह की आकृति समझना चाहिये ॥७९॥ हे पार्थ! अब उन प्राणियों का रूप बतलाता हूँ जो आसुरी दोष के समूह से युक्त होते हैं ॥२८०॥

हे अर्जुन! आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्त्तव्य कार्य में प्रवृत्त होना और अकर्त्तव्य कार्य से निवृत्त होना दोनों को नहीं जानते, इसलिए उनमें न तो बाहर भीतर की शुद्धि है न श्रेष्ठ आचरण, न सत्य भाषण है ॥७॥

पुण्य कर्म करने की इच्छा एवं पाप कर्म करने से विमुखता, इस विषय में रात्री के सदृश उनके मन में अंधेरा रहता है ॥८१॥ कोश कीटक घर बनाते समय आने जाने के लिए द्वार रखना चाहिये इसका विचार न करते हुए अपने घर में ही वह फंस जाता है ॥८२॥ दिया हुआ मुद्दल वापस मिलेगा या नहीं इसका विचार न करते हुए मूर्ख मनुष्य किसी चोर को धन देता है ॥८३॥ वैसे हे किरीटी! आसुरी वृत्ति के लोग प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को नहीं जानते, शुचित्व का स्वप्न में भी विचार नहीं करते ॥८४॥ कोयला कभी कृष्णवर्ण छोडदेगा? कौवा सफेद होगा?, राक्षस को मांस की घृणा होगी? ॥८५॥ किंतु यह आसुरी वृत्ति के लोग, हे अर्जुन! कभी शुद्धता नहीं रखतें, जैसे मद्य का पात्र कभी पवित्र नहीं हो सकता ॥८६॥ विधि-विधान को नहीं मानते, श्रेष्ठ लोगों की आज्ञा का पालन करना और उत्तम आचरण की भाषा वे जानते नहीं ॥८७॥ बकरी का जैसा चरना होता है, वायु का नित्य दौड़ना, या अग्नि जैसे बिना सोचे जलाती रहता है ॥८८॥ वैसे जो स्वैर आचरण करता है, वे आसुरी वृत्ति के होते हैं, सत्य से उनका नित्य बैर रहता है ॥८९॥ हे पार्थ! अपने लूम से यदि बिच्छू गुदगुदी करता तब ही वे आसुरी लोग सत्य बोलेंगे ॥२९०॥ अपान मुख से कदाचित सुगंध बाहर निकलेगा, तब ही आसुरी लोगों को सत्य प्राप्त होगा ॥९१॥ इस प्रकार से बिना कारण से जिनके शरीर में दुष्टता होती है, उनका विलक्षण भाषण अब कहता हू सुनो ॥९२॥ वैसे ऊंट के शरीर में कौनसा अवयव अच्छा होता है, वैसा आसुरीओं के विषय में, प्रसंग के अनुसार सुनो ॥९३॥ हे पार्थ! चिमनी के मुख से धुवें के बादल उमड़ते हैं, उस प्रकार इन असुरों के बोल होते हैं उनको स्पष्ट सुनो ॥९४॥

आसुरी प्रकृतिवाले पुरुष कहते हैं कि जगत् आश्रय रहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है, इसलिये केवल भोगों को भोगने के लिए ही है इसके बिना अन्य क्या है? ॥८॥

यह विश्व का नाट अनादि है, इसका नियंता परमेश्वर है, वेद यहां न्याय अन्याय का निर्णय स्पष्ट रूप से करता है ॥९५॥ वेद जिसको अन्यायी कहते हैं, उसको नरक के भोग भोगने पड़ते हैं, हे धनुर्धर! संन्यासीयों को स्वर्गसुख मिलता है ॥९६॥ ऐसी विश्व की यह व्यवस्था है, वह पुरातन काल से चली आ रही है, उसको यह व्यर्थ कहते हैं ॥९७॥ यज्ञ के पीछे पागल होनेवाले यज्ञ में फंसते हैं भगवान का पूजन करनेवाले प्रतिमा पूजन में भ्रमित होते हैं, समाधि के भ्रम में संन्यासी एवं योगी भ्रम में पड़ते हैं ॥९८॥ अतः हे पार्थ! बुद्धि के बल से विषयों को भोगना चाहिये, इससे और दूसरा पुण्य कौनसा

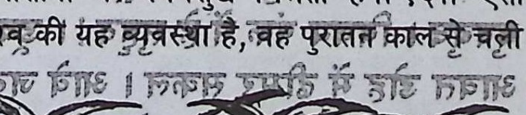

बुद्धि बल से स्वतः। भोगना विषय समस्त। दूजा इससे और श्रेष्ठ। पुण्य कौनसा ?।।९९।। आंगिक अशक्तपन से। विषय भोग न शक्य उससे। सुखरहित जीवन ऐसे। पाप वही।।३००।। धनवंत का प्राण लेना। पाप यदि उसको मानना। किंतु सर्वस्व उसका पाना। पुण्य फल ही वह।।१।। बली निर्बल को खावे। कर्म निषिद्ध यह होवे। क्यों न मत्स्यों का होवे। निःसंतान तब।।२।। होने वंश का वर्धन। उभयकुल परखकर अर्जुन। सुमुहुर्त में करना लग्न। हेतु यदि यह।।३।। तब पशुपक्षादि संतान। अखंड बढ़ने कारण। कौन करे उनका लग्न। किस मुहूर्त में ?।।४।। चोरी का धन आवे। क्या किसको विष होवे ?। प्रीत से परद्वार करे वह पावे। कुष्ट कभी ?।।५।। अतः देवस्वामी सबका। भोग देत धर्माधर्म का। और भोगत फल ऐहिक का। परलोक में।।६।। परंतु परत्र और देव। न दिखत अतः व्यर्थ सर्व। मरे कर्ता तब शेष ठाँव। भोग्य का कौन ?।।७।। स्वर्गलोक में जैसा इंद्र। भोग से उर्वशी के सुखी अपार। वैसे कृमि भी नरक में प्रचुर। मानत सुख।।८।। अतः नरक एवं स्वर्ग। नहीं पाप-पुण्य भाग। जो दोनों में सुखभोग। काम का ही पार्थ।।९।। इस कारण कामतृप्ति। को संग स्त्री पुरुष युग्म का किरीटि। उससे ही होवे उत्पत्ति। अखिल जग की।।३१०।। और जो जो अभिलाष। स्वार्थ का जिससे परिपोष। पश्चात परस्पर द्वेष। से नाश काम का ही।।११।। एवं काम के बिन कोई। इस जग का मूल नाही। ऐसे बोलत सबही। आसुरी जन।।१२।। अब रहने दो यह कुविचार। न करना इनका विस्तार। होवे कहते मत आसुर। निष्फल वाचा।।१३।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

द्वेष अत्यंत ईश्वर का। अतः न करत उच्चार उसका। मन में न किसी प्रकार का। निश्चय एक।।१४।। किंबहुना अंग में स्पष्ट। भरकर पाखंड पार्थ। नास्तिकपन की छड़ी। निश्चित गाड़त जैसे।।१५।। तब स्वर्ग का आदर। या नरक का डर। इन वासनाओं का अंकुर। दंभ पूर्ण।।१६।। फिर केवल यह देह खोड़। अभेध्योदक का बुदबुद। विषय पंक में हे सुहृद !। डूबत सब।।१७।। प्राप्त जलचर का मरणकाल। आवत डोह में ढ़ीमर सकल। आवे जब शरीर का अंतकाल। उद्‌भवत रोग।।१८।। उदय केतु का जैसे। जग के अनिष्ट उद्देश्य से। वैसे जन्मतः वे नाशार्थ। लोगों के पार्थ।।१९।। विरुदत जब अशुभ। फूटत जब वे कोंभ। जलते कीर्ति स्तंभ। पाप के वे।।३२०।। अगले पिछले को जलाना। इतना अग्नि में जानना। वैसे विरुद्ध ही केवल करना। सबका सदा।।२१।। वह विरुद्ध आचरण। करत जिस समारोह से अर्जुन। वह करो अब श्रवण। कहे श्रीनिवास।।२२।।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

देखो, जाल पानी से न भरत। अग्नि इंधन से न कभी तृप्त। ऐसा जो अग्रभाग में

है?॥९९॥ शरीर की अशक्तता से विभिन्न भोग भोगते नहीं बनते ऐसा विषय सुख रहित जीवन वही पाप होता है॥३००॥ धनी लोगों का प्राण हरण करना, यदि उसको पाप कहते हैं, उसना सर्वस्व जब प्राप्त होता है वह पुण्य का फल नहीं है क्या?॥१॥ बली निर्बल को खाता है यह निषिद्ध कर्म है, तब मछलीयों का निःसंतान क्यों नहीं होता?॥२॥ वंश का विकास होवे हे अर्जुन! इसीलिये उभयकुल परखकर सुमुहुर्त में विवाह करना चाहिये यही हेतु यदि होता है॥३॥ तब पशुपक्षिओं की संतान अखंड बढ़ती दिखती है, उनके विवाह कौन कराता है एवं किस मुहूर्त में वे करते हैं?॥४॥ चोरी का धन आता है, क्या वह किसी को विषवत् बनाता है, विषयों की प्रीति से जो व्यभिचार करता है क्या वह कोढ़ी होता है?॥५॥ अतः भगवान सबका स्वामी है, वह धर्म अधर्म का भोग देता है, और इहलोक का फल परलोक में वे भोगते हैं॥६॥ परंतु परलोक एवं देव, दिखता नहीं अतः सब व्यर्थ है, कर्ता मरता है तब भोग भोगने का स्थान कौनसा रहेगा?॥७॥ स्वर्गलोक में जैसा इंद्र है, उर्वशी के भोग से असीम सुख प्राप्त करता है, वैसे कृमि भी नर्क में असीम सुख मानता है॥८॥ अतः नरक एवं स्वर्ग पाप पुण्य से प्राप्त होने वाले स्थान नहीं हैं, हे पार्थ! दोनों स्थान में वासना का ही भोग भोगते हैं॥९॥ इसी कारण कामवृष्टि का संग स्त्री पुरुष की जोड़ी को मिलता है उनसे अखिल विश्व की उत्पत्ति होतीं है॥३१०॥ जो जो इच्छाएं बढ़ती हैं, स्वार्थ की तृप्ति होती है, पश्चात आपस में द्वेष उत्पन्न होकर काम ही जग का नाश करता है॥११॥ वासना के बिना कोई इस जग की जड़ नहीं है, ऐसे सब आसुरी वृत्ति के लोग कहते हैं॥१२॥ अब यह कुविचार रहने दो, इनका विस्तार मत करो, आसुरी मत कहते हुये वाणी निष्फल होती है॥१३॥

इस मिथ्या ज्ञान को आत्मसात करके जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है एवं जिनकी बुद्धि मंद हुई है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत का नाश करने के लिये उत्पन्न होते हैं॥९॥

ईश्वर का अत्यंत द्वेष करते हैं, अतः उसका उच्चार नहीं करते, उनके मन में किसी भी प्रकार का निश्चिय नहीं होता॥१४॥ किंबहुना शरीर में स्पष्ट पाखंड भरकर हे पार्थ! नास्तिकपना की छड़ी निश्चित गाड़ते हैं॥१५॥ तब स्वर्ग का आदर करना या नरक का भय रखना इन वासनाओं का अंकुर केवल दंभ होता है॥१६॥ अपवित्र जल के बुदबुदे के समान, हे सखा! यह क्षणभंगुर शरीर के खोड़े में जखड़कर विषयरूपी कीचड़ में डूबते हैं॥१७॥ जलचरों का नाश होने के समय दह पर मछियारे पहुंचते हैं, मृत्यु का समय प्राप्त होनेपर विविध रोग उत्पन्न होते हैं॥१८॥ हे पार्थ! धूमकेतु का उदय विश्व का अनिष्ट होने के लिये होता है, तद्वत लोगों का नाश करने के लिए वह असुर जन्म लेते हैं॥१९॥ पाप उत्पन्न होने पर उनसे जो अंकुर उत्पन्न होते हैं वही यह आसुरी वृत्ति के लोग होते हैं, वह आसुरी वृत्ति के लोग पाप के चलते फिरते कीर्ति स्तंभ हैं॥३२०॥ आगे पीछे जो रहेगा उसको जलाना अग्नि का कार्य होता है, वैसे सबके विरुद्ध आचरण करना यही आसुरी वृत्ति के लोग जानते हैं॥२१॥ वह विरुद्ध आचरण वे जिस उत्साह से आरंभ करते हैं, हे अर्जुन! उनके उत्साह का प्रकार सुनो ऐसा श्रीकृष्ण कहते हैं॥२२॥

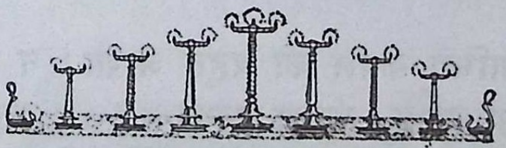

दंभ, मान और मद से युक्त हुए किसी पूर्ण न होनेवाली कामनाओं का आसरा लेकर अज्ञान से मिथ्या सिद्धांता को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरण से युक्त हुए वह आसुरी वृत्ति के लोग व्यवहार करते हैं॥१०॥

देखो! जाल में पानी कभी नहीं भरता, अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होता, कभी तृप्त न होने वाली वस्तुओं में जो प्रथम प्रतीका बुभुक्षित होता

Funding by IKS-MoE

स्थित। बुभुक्षितों के।।२३।। उसी काम का आर्द्रत्व। जीव में रखकर पांडव। दंबसान का समुदाय। समेटत जो।।२४।। पहलेही मत्त कुंजर। उसमें पिलाई मदिरा और। वैसे बढ़ते जरासे आसुर। होवे मदोन्मत्त।।२५।। दुराग्रह का वही ठाँव। ऊपर मूढ़त्व सहाय। तब क्या बरनूं निर्वाह। निश्चय का।।२५।। जिसमें परताप होवे। परजीव चकनाचूर होवे। ऐसे कर्मों में अति सुख पावें। जन्मव्रती वे।।२६।। जिससे परताप पावत। परजीव का रगड़ा होत। ऐसे कर्मों में दृढ़ प्रवृत्त। जन्मवृत्तिक वे।।२७।। सकर्म की प्रौढ़ी बरनत। और जगको धिक्कारत। दश दिशा में प्रसरत। स्पृहा ज्वाला।।२८।। ऐसा धरत अपमान। करत घोर पापाचरण। जैसी चरत खेत में अर्जुन। धर्म धेनु सुक्त।।२९।।

चिन्तामपरिसेयां च प्रलयान्तासुपाश्रिताः। कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

इसी एक साधन से पार्थ। उनकी कर्म प्रवृत्ति संतत। और मरण उपरान्त की भी वहत। चिन्ता वे।।२३०।। पाताल से भी निम्न। ऊंचाई को जिससे ठिगना गगन। अणसमान न त्रिभुवन। सम्मुख जिसके।।३१।। संन्यासी नवदीक्षित। को योगनियम की चिन्ता संतत। या न छांडत पतिव्रता मरण उपरान्त। वल्लभ को जैसी।।३२।। वैसा चिन्ता अपार। वर्धवत निरन्तर। प्राप्त करने असार। विषयादिक।।३३।। स्त्री गायन सुनना। स्त्री रूप नेत्र से देखना। सर्वेन्द्रिय से आलिंगन देना। स्त्री को ही।।३४।। निछावर कीजे अमृत। ऐसे सुख स्त्रीबिन पार्थ। नहीं दूजा करे चित्त। निश्चय ऐसा।।३५।। वह स्त्री भोग करने प्राप्त। स्वर्गपाताल पर्यन्त। दशदिशा पार धावत। निरन्तर।।३६।।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

आमिष कवल की बहुत आशा। न सोचकर मीन निगलत जैसा। करत तैसी विषय आशा। वंचना उनकी।।३७।। वासना की न कभी तृप्ति। वर्धत शुष्क आशा संतति। बढ़ते-बढ़ते होत निश्चिति। कोष कीटक वे।।३८।। और वर्धित यह अभिलाष। अपूर्ण जब होवे वही द्वेष। एवं काम क्रोध से विशेष। पुरुषार्थ नाहीं।।३९।। जैसे पहरेदार को। फेरी दिन को जागना रात को। अहोरात्र वैसे आसुरको। विश्रांति नाहीं।।३४०।। फेंका ऊंचे पर्वत से काम नें। गिरिशिखर पर गिराया क्रोधने। तथापि राग-द्वेष विषय प्रेम ने। किया उन्मत्त उनको।।४१।। हृदय में अति लालसा कौन्तेय। जुटा विषय वासना समुदाय। किंतु क्या उसका भोग शक्य। अर्थ ही से ना।।४२।। अतः कामभोगार्थ। संचय करने अर्थ। मिले उनको लूटत। यथेच्छ वे।।४३।। मौका देखकर एक को मारत। एक का सर्वस्व हरण करत। किसी एक के लिये योजत। अपाय यंत्र।।४४।। पाश बोरा वागुर। भाला चिकाटी कुक्कुर। लेकर जात पहाड़ पर। पारधी जैसा।।४५।। केवल भरने पेट।

है।।२३।। वही वासना का आर्द्रत्व है, हे पांडव! जो जीवभाव से उसका आश्रय करके दंभ एवं मान का समूह एकत्रित करते हैं।।२४।। पहले ही हाथी मदोन्मत्त है, उसको और मदिरा पिलाई गई, वैसे आसुरी लोग थोड़ा बढ़ते ही मदोन्मत्त होते हैं।।२५।। हठ-दुराग्रह का वह स्थान होता है, ऊपर मूर्खता सहाय करती है, उसके निश्चय की स्थिरता क्या वर्णन करें? ।।२६।। जिससे दूसरे को कष्ट होंगे, दूसरों के जीव का नाश होगा, ऐसे कर्मों में वे आसुरी लोग जीवन भर मानो वृत्तिक बने होते हैं।।२७।। स्वयं के कर्मों का डंका बजाते हैं, संपूर्ण जग को तुच्छ समझते हैं, अपनी आसक्ति की ज्वाला दश दिशाओं में फैलाते हैं।।२८।। जैसी धर्म हेतु छोड़ी गौ मुक्त छोड़ दी जाती है, एवं वह खेतों में चरती रहती है, वैसे विकारों के आधीन होकर घोर पापाचरण करते हैं।।२९।।

आसुरी वृत्ति के लोग मृत्यु पर्यंत अनंत चिंताओं का आश्रय किये हुये विषय भोग भोगने में तत्पर, उसमें ही आनंद माननेवाले होते हैं।।११।।

हे पार्थ! इसी एक साधन से उनकी कर्म प्रवृत्ति नित्य बढ़ती है, मृत्यु के उपरांत की भी चिंता वे करते हैं।।३३०।। पाताल से भी नीचा और ऊंचाई को जिससे आकाश भी ठिकना लगता है, अणुसमान तीनों लोग उनके सम्मुख होते हैं।।३१।। नयी दीक्षा लिये हुये संन्यासी को योग नियम की चिंता संतत रहती है, पतिव्रता स्त्री मृत्यु के उपरांत भी जैसे पति का त्याग नहीं करती।।३२।। विषयों के विविध प्रकार प्राप्त करने के लिये लिये वह असीम चिंता नित्य बढ़ाता रहता है।।३३।। स्त्रियों का गायन सुनना, स्त्रियों का रूप नेत्रों से देखना, अपने सब इंद्रियों से स्त्री को ही आलिंगन देना है।।३४।। हे पार्थ! स्त्री भोग के बिना वह अमृत को भी निछावर कर देता है, उसका अंतःकरण इसके बिना अन्य किसी का विचार नहीं करता।।३५।। उस स्त्री भोग के लिए पाताल स्वर्ग दश दिशाओं के पार दौड़ने की निरंतर उनकी तैय्यारी रहती है।।३६।।

आशारूप सैकड़ों पाश से बंधे हुए और काम क्रोध परायण हुये विषयोपभोग की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धनादिक बहुत से पदार्थ संग्रहित करने की चेष्टा करते हैं।।१२।।

जैसे मछली विचार न करते हुए बड़ी आशा से आमिष निगलती है, तद्वत विषयों में अपनी आसक्ति रखने से उनकी ऐसी स्थिति होती है।।३७।। वासना की कभी तृप्ति नहीं होती शुष्क आशारूपी संपत्ति नित्य बढ़ती रहती है, बढ़ते बढ़ते कोश कीटक जैसी उनकी स्थिति निश्चित होती है।।३८।। अभिलाषा नित्य बढ़ती रहती है, जब इच्छा पूर्ण नहीं होती तब द्वेष उत्पन्न होता है, उनके विचार से काम एवं क्रोध से अधिक योग्यता का कोई पुरुषार्थ नहीं।।३९।। जैसे पहरेदार को रात को जागना पड़ता है, दिन में मालिक के साथ घूमना पड़ता है, अतः उसको कभी विश्राम नहीं मिलता, तद्वत आसुरीवृत्ति के मनुष्य को दिनरात विश्रांती नहीं मिलती।।३४०।। ऊंचे पर्वत से वासनाने फेंक दिया, पर्वत शिखर पर क्रोध ने गिराया, किंतु विषयवासना पर जो प्रेम है उससे उनके मन में राग द्वेष उत्पन्न नहीं होता।।४१।। हे कौंतेय! अंतःकरण में अत्यंत लालसा होती है विषयवासनाओं का समूह जुट जाता है, किंतु उसका उपभोग धन से ही संभव होता है न।।४२।। अतः कामनाओं का भोग करने के लिए धन संग्रहित करने के लिये जो मिलता है उसको यथेच्छ लूटते हैं।।४३।। मौका देखकर एक को मारते हैं, एक का सर्वस्व हरण करते हैं, किसी एक के लिए अन्य उपाय योजना करते हैं।।४४।। पाश, बोरा, जाल, कुत्ते, खरगोश, चिकारी, भाला आदि लेकर व्याध पर्वत की तरफ जाता है।।४५।। केवल पेट भरने के लिए, प्राणियों के समूह वह मारता है, ऐसे नीच कर्म

मारत प्राणियों के संघाट। ऐसे से कर्म निकृष्ट। करत वे।।४६।। करके पर
प्राणघात। जोड़त अपार वित्त। मिला उससे भी चित्त। संतुष्ट नाहीं।।४७।।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमति मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

कहे आज मैंने पार्थ। बहुतों की संपत्ति बहुत। की अपने हस्तगत। धन्य हुआ
मैं।।४८।। ऐसा अपने को जब श्लाघत। तब और भी मनमें चाहत। कहे देखो लूटूं
तुरंत। औरों को भी।।४९।। अब तक जो जुटाया सकल। उसका बनाकर मुद्दल।
लाभ लूंगा शेष अखिल। चराचर में।।३५०।। विश्व का संपूर्ण धन। स्वामी बनूं
अकेला मैं अर्जुन। देखू जिसको उसको पूर्ण। नष्ट करूं मैं।।५१।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

कुछ कम वैरी अभी नष्ट। और भी मारूंगा बलिष्ट। तब सुख से जीऊं पार्थ।
अकेला मैं।।५२।। जो बने वो मेरे दास। बिन उनके मारूं अशेष। किंबहुना चराचर
में खास। ईश्वर सो मैं।।५३।। मैं भोगभूमिका राव। आज सब सुखों को ठाँव। इंद्रभी
लज्जित पांडव!। देखकर मुझको।।५४।। मैं मन वाचा देह से। चाहूं वह न होवे
कैसे?। कौन मुझबिन वाणी से। आज्ञाकारी दूजा?।।५५।। तब तक ही बली काल।
जब तक न दिखा मैं अतुलबल। साच सब सुख का केवल। राशि मैं ही।।५६।।

आढयोऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्तिसदृशोमया। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

होगा कुबेर भी संपन्न। किन्तु नहीं वह मुझ समान। नहीं मुझसम धनवान।
श्रीनाथ भी।।५७।। मेरे कुल की बहु प्रसिद्धि। उच्च मेरे सगे संबंधी। तुलना में
प्रत्यक्ष विधि। दिखत हीन।।५८।। उस ईश्वरादिक की कीर्ति। व्यर्थ लोग गात
किरीटि। नही मुझसी समबल व्यक्ति। कोई जग में।।५९।। सांप्रत लुप्त अभिचार।
करूं मैं उसका जीर्णोद्धार। प्रतिष्ठा करूं परघातकर। त्याग सर्वत्र।।३६०।। मुझको
गात स्तवत। नाट्यनर्तन से रिझावत। उनको दूं मैं जो मांगत। वस्तु वही।।६१।।
करके मदिरा अन्नपान। प्रमदाओं का आलिंगन। त्रिभुवन में होऊंगा संपूर्ण।
आनंदाकार मैं।।६२।। क्या बहुत कहूं ऐसे। वे आसुरी प्रकृति उन्माद से। सूंघत
गगन पुष्प जैसे। अपरिमित।।६३।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

ज्वर के भर से पार्थ। रोगी कुछ भी बर्रावत। संकल्प से वैसे बकत। आसुरी
वे।।६४।। अज्ञान धूली में फंसत। अतः उन्हें आशाचक्रवात। अन्तराल में घुमावत।
मनोरथ के।।६५।। अमर्यादित आषाढ़ मेघ। अखंड समुद्र तरंग। वैसे वांछत अभंग।
काम ही वे।।६६।। तब कामनाओंकी कटीली। अंतर में उलझत वल्ली। खरकाना
जैसी कमलकली। कांटों पर से उन।।६७।। या पाषाण के माथ। फूटत हंडी पार्थ।
जीव के टुकड़े होत। सर्वशः वैसे।।६८।। तब बढ़ते रजनी में। तमवृद्धि होवे उसमें।

वे करते हैं।।४६।। दूसरों के प्राणों का घात करके असीम धनसंचय करते हैं, जो मिला है उससे भी उनका चित्त संतुष्ट नहीं होता।।४७।।

उन पुरुषों के विचार इस प्रकार के होते हैं, कि मैंने आज जो पाया है, इस मनोरथ को प्राप्त करूंगा, मेरे पास इतना धन है किंतु और भी प्राप्त करूंगा।।१३।।

हे पार्थ! वह कहता है, बहुतों की विपुल संपत्ति मुझे प्राप्त होकर मैं धन्य हुआ हूं।।४८।। ऐसी अपनी जब स्तुति करता है, तब मन में और प्राप्त करने की चाह रहती है, कहता है त्वरित और लोगों को भी लूटूंगा।।४९।। अब तक सब जो जुटाया है, उसका मूलधन बनाकर, चराचर में मैं फायदा उठाऊंगा।।३५०।। विश्व के संपूर्ण धन का मैं अकेला मालिक बनूंगा। हे अर्जुन! जिसको मैं देखूंगा उसको मैं पूर्ण नष्ट करूंगा।।५१।।

यह मेरा शत्रु मैंने मारा, अन्य बैरियों को भी मैं मारूंगा, मैं ईश्वर हूं, मैं सुख भोगनेवाला हूं, मैं सिद्धियों से युक्त, बलवान एवं सुखी हूं।।१४।।

अभी तक शत्रुओं का नाश किया, और भी बलवान को मारूंगा तब हे पार्थ! मैं अकेला सुखपूर्वक जीऊंगा।।५२।। जो मेरे दास बनेंगे उनको छोड़कर सबको मैं मारूंगा किंबहुना चराचर में मैं ही ईश्वर हूं।।५३।। मैं भोगरूपी भूमि का राजा हूं, सब सुखों का आज मैं स्थान हूं, इंद्र भी मुझे देखकर लज्जित होगा।।५४।। मैं मन वाणी, देह से, जो चाहूंगा वह कैसा नहीं बनेगा? मेरे बिना कौन अन्य की आज्ञा मान्य की जावेगी?।।५५।। तब तक काल को बलिष्ट समझते हैं जब तक अतुलबली उन्होंने मुझको देखा नहीं, संपूर्ण सुखों की मैं राशी हूं।।५६।।

मैं बड़ा धनवान एवं कुटुंबवाला हूं, मेरे समान दूजा कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, हर्ष को प्राप्त करूंगा, इस प्रकार के अज्ञान से वह मोहित है।।१५।।

कुबेर भी धनसंपन्न होगा, किंतु मेरे समान नहीं होगा, मेरे समान धनवान लक्ष्मीपति भी नहीं होंगे।।५७।। मेरे कुल की बहुत प्रसिद्धि है, मेरे सगे संबंधी सब श्रेष्ठ हैं, तुलना करने से प्रत्यक्ष ब्रह्मा भी हीन दिखाई देगा।।५८।। ईश्वर आदि-की कीर्ति, हे किरीटी! व्यर्थ करते हैं, इस जग में मेरे समान बलशाली व्यक्ति कोई नहीं है।।५९।। जारण मारण की विद्या अभी लुप्त हुई है, अतः मैं उसका जीर्णोद्धार करूंगा, दूसरों का नाश करनेवाले यज्ञ को सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त करा दूंगा।।३६०।। मेरी स्तुति गाते हैं, मुझे नृत्य नाटक से रिझाते हैं, उनको जो मांगेंगे वह वस्तु मैं दूंगा।।६१।। मद्यपान, अन्न आदि का सेवन करके, स्त्रियों का आलिंगन करके तीनों लोकों में मैं संपूर्ण आनंद की मूर्ति बनूंगा।।६२।। क्या बहुत कहूं? आसुरी प्रकृति के उन्माद में वे जैसे परिमित आकाशपुष्प सूंघते हैं।।६३।।

अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले आज्ञानीजन मोहरूपी जाल में फंसते हैं एवं विषयोपभोग में अत्यंत आसक्त हुए महान अपवित्र नरक में गिरते हैं।।१६।।

हे पार्थ! ज्वर के भर से रोगी कुछ भी बर्राता है, वैसे संकल्प से आसुरी वृत्ति के लोग कुछ भी बकते हैं।।६४।। अज्ञानरूपी धूल में फंसे हैं, अतः आशारूपी चक्रवात मनोरथ के अंतराल में घुमाता है।।६५।। आषाढ़ मास के बादल अमर्यादित होते हैं, समुद्र में तरंग अखंड रहते हैं, वैसे वे अखंड काम की इच्छा करते हैं।।६६।। वह कामानाओं की कटीली लता अंतःकरण में उलझती है, जैसे कांटों पर से कमल की कली को सरकाया।।६७।। या पत्थर के माथे पर मिट्टी का घड़ा फूटता है, वैसे जीव के टुकड़े होते हैं।।६८।। जैसी रात बढ़ती है, उसमें तमोगुण भी बढ़ता है, वैसा मोह भी अंतःकरण में बढ़ने

वैसा मोह अंतःकरण में। बढ़ने लागत ।।६९।। जब-जब बढ़े मोह। तब-तब विषय में वर्धत चाह। विषय वही ठाँव। पातक को ।।३७०।। पाप अपने बल से पार्थ। क्रम क्रम से समूह जुटावत। तब जीते जी भोगत। नरक सब ।।७१।। अतः हे सुमति !। कुमनोरथ जो रखत किरीटि। वे आसुर करत बस्ती। स्थान में उस ।।७२।। जहां असिपत्र तरुवर। खदिरांगार के डोंगर (पहाड़)। तप्त तैल के सागर। उफनत ।।७३।। जहां यातनाओं की श्रेणी। नित्य नूतन दारुणी। यमयातना उनको भोगनी। नरक लोक में ।।७४।। ऐसे छटे साचार। नरक के भागीदार। भ्रमिष्ट करत धनुर्धर। यज्ञ याग ।।७५।। वैसे यज्ञादिक क्रिया पार्थ। माना फलदायी अंततः। किंतु निष्फल सब होत। नाटक में जैसे ।।७६।। वल्लभ का लेकर आश्रय। कुस्त्रियां अपने को कौंतेय। तोषत मानकर सौभाग्य-। वती जैसे ।।७७।।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः। यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपर्वकम् ।।१७।।

वैसे अपने को आपुन। मानकर महंतपन। फूलत असाधारण। गर्व से उस ।।७८।। न जानत झुकना कैसे ?। ढले लोह के स्तंभ जैसे। या खड़े ऊंचे आकाश में वैसे। शिलाराशी ।।७९।। और अपने ऐश्वर्यगुन। मन में रीझत अर्जुन। औरों को तृण समान। मानत हीन ।।३८०।। ऊपर धन के मद से पार्थ। होकर स्वयं उन्मत्त। कृत्याकृत्य विचार सर्वतः। तजत वे ।।८१।। अंग में जिनके सामग्री ऐसी। उनको यज्ञ याग की गोष्टी कैसी ?। क्या-क्या क्रिया विपरीत सी। न करत भ्रमित वे ।।८२।। अतः किसी एक काल वैसे। मौढ्यमद के बल से। रचत यज्ञ का स्वांग जैसे। धनुर्धर ।।८३।। कुंडमंडप ना वेदी। नहीं उचित समृद्धि। विधि विधान से उनकी बुद्धि। करे वैर सदा ।।८४।। देव ब्राह्मण नामका पार्थ। वारा भी न कभी सहत। ऐसे में कौन आवे प्रतिष्ठित। पास उनके ।।८५।। बछवे का मूडा धनुर्धर। गौ के सम्मुख रखकर। दोहन करत रसक्षीर। बुद्धिमंत ।।८६।। वैसे याग के नाम से। सब लोगों को बुलाकर जैसे। लूटत उपहार मिष से। सबको वे ।।८७।। ऐसे अपने उत्कर्ष प्रीत्यर्थ। होम हवन का आडंबर रचत। उससे प्राणिजात का वांछत। सर्वनाश वे ।।८८।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः। मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।।१८।।

आगे भेरी निशान। लगाकर अपना दीक्षितपन। जग में उजागर करत जान। व्यर्थ ही वे ।।८९।। तब उस महत्व से उनको। गर्व चढ़त अधम को। जैसे लेप पुट दिये तमको। काजल के ।।३९०।। वैसे मौढ्य होवे ठोस। औद्धत्य की वृद्धि विशेष। अहंकार दुगनत खास। अविवेक सहित ।।९१।। तब दूजे की भाष पार्थ। नष्ट करने निःशेष। बल को उनके प्राप्त। बल अधिक ।।९२।। ऐसा अहंकार बलिष्ट। ऐक्य बल का जब पावत। क्षुब्ध होकर सीमा छांडत। दंभसागर तब ।।९३।। दर्प जब उभड़त। काम का पित्त भड़कत। उस अग्नि से सेंध बढ़त। क्रोधाग्नि वह ।।९४।।

लगता है ॥६९॥ जब मोह बढ़ता है, तब विषयों में आसक्ति बढ़ती है, विषय ही पातक का स्थान है ॥३७०॥ हे पार्थ! पाप अपने बल से क्रम से समूह जुटाता है, तब जीते जी वह नरकावस्था भोगता है ॥७१॥ अतः हे सुमति बुरे मनोरथ जो रखता है वहां आसुरी वृत्ति उस स्थान में बस्ती करती है ॥७२॥ जहां तलवार जैसी तीक्ष्ण पत्तों के वृक्ष होते हैं, अग्नि के डोंगर (पहाड़) हैं, तप्त तेल के सागर उफनते हैं ॥७३॥ जहां यातनाओं की पंक्ति है, नित्य नूतन भयंकर यमयातना नरक में भोगना पड़ती हैं ॥७४॥ ऐसे नरक लोक के भागीदार छाटे हुए है धनुर्धर यज्ञयाग करते हुए भ्रमित हुए ऐसा लगता है ॥७५॥ हे पार्थ! वैसे यज्ञ आदि क्रियाएं अंत में फलदायी समझी जाती हैं, किंतु नाटक करनेवाले लोगों के सदृश उनकी सब क्रियाएं निष्फल होती हैं ॥७६॥ प्रियकर का आश्रय लेकर कुमार्गगामी स्त्रियां अपने को सौभाग्यवती समझकर संतुष्ट होती हैं ॥७७॥

अपने आपको श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष, धन एवं मान से मदोन्मत्त होकर शास्त्रविधि से रहित केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखंड में पूजन करते हैं ॥१७॥

वस अपने को महंत समझकर असाधारण अहंकार से फूलते हैं ॥७८॥ झुकना कैसा होता है वे जानते नहीं, जैसे लोहे के बनाये खंबे होते हैं, या आकाश में पत्थर की राशी जैसी खड़ी होती है ॥७९॥ हे अर्जुन! अपने ऐश्वर्य एवं गुण से मन में आनंदित होते हैं, अन्य लोगों को तृण के समान हीन समझते हैं ॥३८०॥ ऊपर हे पार्थ! धन के अहंकार में स्वयं उन्मत्त होकर सत्कर्म एवं कुकर्म का विचार वे पूर्णतः त्याग देते हैं ॥८१॥ जिनके शरीर में ऐसी सामग्री होती है उनको यज्ञयाग की बात क्या समझेगी? भ्रमित लोग विपरीत क्रियाएं क्या नहीं करने की? ॥८२॥ अतः किसी एक समय मूर्खता रूपी मद्य के बल से यज्ञ की नकल करते हैं ॥८३॥ कुंड, मंडप नहीं रहता, वेदी भी नहीं होती, योग्य साधन भी नहीं जुटाये जाते हैं, विधि विधान से तो उनका शत्रुत्व होता है ॥८४॥ हे पार्थ! देव ब्राह्मण के नाम से वायु भी सही नहीं जाती, वहां किसको आने की इच्छा होगी? ॥८५॥ हे धनुर्धर! बछड़े का मड़ा गौ के सन्मुख रखकर बुद्धिमान लोग गौदोहन करते हैं ॥८६॥ वैसे यज्ञ के नाम से सब लोगों को बुलाकर उपहार के निमित्त वे सब लोगों को लूटते हैं ॥८७॥ ऐसे अपने ही उत्कर्ष के प्रीत्यर्थ होमहवन का आडंबर दिखावा रचते हैं, उसमें प्राणिमात्र के नाश की इच्छा रहती है ॥८८॥

अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध परायण दूसरों की निंदा करने वाले पुरुष अपने एवं दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अंतर्यामी से द्वेष करनेवाले हैं ॥१८॥

अपने सम्मुख नौबत, डंका, भेरी, निशान लगाकर अपना दीक्षितपना जग में व्यर्थ ही प्रसिद्ध करते हैं ॥८९॥ उस महत्व से उस अधम की अत्यंत अहंकार उत्पन्न होता है, अंधेरे को काजल का लेप लगाने जैसा होता है ॥३९०॥ उसकी मूर्खता घनी होती है, उद्धत व्यवहार बढ़ता है, अविवेक के साथ अहंकार दुगना बढ़ता है ॥९१॥ तब दूजे की भाषा पूर्णतः नष्ट करने के लिये उनके बल को अधिक बल मिलता है ॥९२॥ ऐसा अहंकार एवं बल का ऐक्य जब होता है तब दंभ का सागर अपनी मर्यादा लांघकर क्रोधित होता है ॥९३॥ उन्मत्तता अत्यंत बढ़ जाने से काम का पित्त भड़कता है, उस अग्नि से क्रोधाग्नि अधिक भड़कती है ॥९४॥ ग्रीष्म की अग्नि प्रखर एवं प्रदीप्त होकर घी एवं तेल के भांडार को जब स्पर्श

ग्रीष्माग्नि प्रखर प्रदीप्त। घी तेल भांडार को स्पर्शत। और उसमें छूटत सैराट। वायु जैसा।।९५।। वैसे अहंकार को बल प्राप्त। दर्प काम क्रोध में उलझत। इन दोनों का मेल होत। जिनके ठँई।।९६।। वे अपनी स्वेच्छ से। हिंसा कौन कौन की उन्माद से। न होवत इन प्राणियों से। सोचो तुम।।९७।। प्रथम तो धनुर्धर। अपना मांस रुधिर। व्यय करत अभिचार। प्रीत्यर्थ सब।।९८।। देह को अपने वे जलावत। किंतु उनमे मेरा वास पार्थ। आत्मा मेरी पावत। पीड़ा दाह सब।।९९।। वे अभिचारक अर्जुन। करत जो जो पीड़न। वहां भोगत दुःख पूर्ण। चैतन्यरूप मैं।।४००।। और व्यभिचार के अतिरिक्त। जो जो बचत कदाचित्। उनपर इंटे फेकत। पैशुन्यकी वे।।१।। सती और सत्पुरुष। दानशील याज्ञिक। तपस्वी अलौकिक। संन्यासी जो।।२।। या महात्मा और भक्त। जो मेरा निजधाम पार्थ। होमधर्म जो पवित्र। श्रोतादिक से।।३।। उनको द्वेषकालकूट। चढ़ाकर अति बिकट। कुबोल के तीक्ष्ण बलिष्ट। मारत बाण।।४।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

ऐसे जो सर्वतोपरि पार्थ। मेरे वैर में प्रवृत्त। पापियों को जो मैं दण्ड देत। सुनो तुम।।५।। मनुष्य देह का आधार। लेकर जगको होत पीड़ाकर। उनकी मनुष्य पदवी छीनकर। रखूं मैं।।६।। जो क्लेशगांव का घूरा। भवपुरी का पौसरा (प्याऊ)। देत तम योनिकी वृत्ति वीरा। उन मूढ़ों को।।७।। तब आहार के नाम से पार्थ। तृण भी जहां न ऊगत। व्याघ्र वृश्चिक वनवासी करत। उनको मैं।।८।। जहां क्षुधा से बहुत ग्रस्त। लुंचकर अपनाही अंग खावत। मर मरके पुनः आवत। योनियों में वही।।९।। अपने ही गरलाग्नि में। जलावत स्वअंग की खाल उसमें। वह सर्प ही बिल में। फंसा जैसा।।४१०।। किंतु लिया सांस न जाये बाहिर। इतना भी अल्प अवसर। विश्राम दूं धनुर्धर। दुर्जनों को मैं।।११।। इसविध कोटी कल्पान्त। गिनते होवे समाप्त। तब तक न करूं मुक्त। क्लेश से उनको।।१२।। दैव से उनके जहां गमन। वहां का यह प्रथम स्थान। भोगत वहां दुःख दारुण। पहले से भी।।१३।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

इस सीमापर्यंत। वे आसुरी संपत्त युक्त। अधोगति सुनो निश्चित। प्राप्त उनको।।१४।। पश्चात व्याघ्रादि तामसी। योनि में उनको थोडीसी। स्वस्थता देहाधार की जैसी। पावत ज्योंहि।।१५।। वह भी विश्राम करूं हरण। और जहां करके प्रयाण। अंधेर भी काला। पड़त अर्जुन। अवचित।।१६।। जिसकी घृणा पाप को। भय प्राप्त नरक को। जहां मूर्ख आवे श्रमको। परिश्रम से।।१७।। मल जिससे होवे मलिन। ताप भी तप्त पूर्ण। जिसका नाम सुन। डरे महाभय भी।।१८।। पाप भी जिससे त्रसित। आवे अमंगल को अमंगलत्व पार्थ। अस्पृश्यता भयभीत। स्पर्श से जिसके।।१९।। ऐसे विश्व में जो निकृष्ट। अर्जुन अधम अत्यंत। भोगकर वे

करती है तब वायु भी मुक्तता से बहती है।।९५।। वैसे अहंकार को बल प्राप्त होता है, दर्प एवं काम-क्रोध से उलझते हैं, दोनों का जिसमें मेल होता है।।९६।। वे अपनी इच्छा से कौन कौन से उन्माद से इन प्राणियों की हिंसा नहीं करते, यह तुम सोचना।।९७।। हे धनुर्धर! प्रथम वे अपना मांस एवं रक्त जारण मारण के लिये खर्च करते हैं।।९८।। अपनी देह को वे जलाते हैं, तब आत्मरूप में उनमें वास क़रनेवाली मेरी आत्मा को पीड़ा एवं दाह होता है।।९९।। हे अर्जुन! जारण मारण करनेवाले जो जो पीड़ा देते हैं वहां चैतन्यपूर्ण मुझको दुःख भोगना पड़ता है।।४००।। जारण मारण के अतिरिक्त जो शेष बचता है, उनपर दोष दृष्टि रूपी इंटे फेंकते हैं।।१।। सती एवं सत्पुरुष, दानशील एवं यज्ञ करनेवाले तपस्वी एवं अलौकिक संन्यासी जो होते हैं।।२।। या महात्मा एवं भक्त, जो मेरा अपना रहने का स्थान है, हे पार्थ! वे श्रोतादि यज्ञक्रियाओं से शुद्ध हुये होते हैं।।३।। उनको ये आसुरी कालकूट विष एवं तीव्र शब्दरूपी बलिष्ट शाब्दिक बाण मारते हैं।।४।।

द्वेष करनेवाले, पापी आचरण करनेवाले, क्रूरकर्म करनेवाले नराधमों को मैं संसार में पुनः-पुनः आसुरी योनियों में गिराता हूं।।१९।।

हे पार्थ! ऐसे जो सब प्रकार से मेरे साथ शत्रुत्व करने के लिये प्रवृत्त होते हैं, उनको मैं क्या दण्ड करता हूं सुनो।।५।। मनुष्य देह का आधार लेकर जो जगको कष्ट देते हैं, उनकी मनुष्य- पदवी मैं छीन लेता हूं।।६।। जो क्लेशरूपी गांव का घूरा है उन मूर्खों को हे वीर! मैं संसाररूपी पानी भरने की जगह में तमो योनिकी वृत्ति उनको देता हूं।।७।। तब आहार के नाम से, हे पार्थ! जहां घास भी ऊगता नहीं, वहां बाघ, बिच्छु उन्हें जंगल में उनको रखता हूं।।८।। वहां भूख से वे तड़पते हैं, अपना ही शरीर तोड़कर खाते हैं, पुनः पुनः मरकर उसी योनि में जन्म लेते हैं।।९।। अपने ही विष की अग्नि में जिनके शरीर की त्वचा जलती है, वे बिल में फंसे सांप, उन्हें बनाता हूं।।४१०।। किंतु लिया हुआ श्वास बाहर निकलने के लिए जितना समय लगता है, उतने समय भी उन दुर्जनों को विश्राम मिलता नहीं।।११।। इस प्रकार से कोटी कल्प की संख्या गिनते हुये समाप्त होती है, तब तक मैं उन्हें कष्टों से छुटकारा, नहीं देता।।१२।। दैव से जहां जाते हैं, वहां का वे प्रथम स्थान है, वहां भयंकर दुःख भोगते हैं, पहले से।।१३।।

वे मूढ़ पुरुष जन्म जन्मांतर में आसुरी योनि को प्राप्त हुए मुझे प्राप्त नहीं करते, उससे भी अत्यंत नीच गति को प्राप्त होते हैं।।२०।।

उस आसुरी संपत्ति से इस प्रकार की अधोगति उन्हें निश्चित प्राप्त होती है।।१४।। उसके पश्चात बाघ आदि तामसी योनियों में उनको देह के आधार का थोड़ा विश्राम मिलता है।।१५।। वह विश्राम भी मैं हरण कर लेता हूं, जहां जाने पर अंधेरा भी काला पड़ता है।।१६।। जिसकी पाप को घृणा आती है, नरक को भय प्राप्त होता है, जिस श्रम से परिश्रम मूर्ख बनता है।।१७।। मैल जिससे अधिक मैला होता है, ताप भी झुलस जाता है, जिसका नाम सुनकर महाभय भी भयभीत होता है।।१८।। पाप भी जिससे त्रस्त होता है, हे पार्थ! अमंगल अधिक अमंगलत्व प्राप्त करता है, अस्पृश्यता भी जिसके स्पर्श से भयभीत होती है।।१९।। ऐसे विश्व में जो नीच से नीच स्थान को वह आसुरी लोग व्याघ्र आदि की योनि भोगने के उपरांत प्राप्त होते हैं, तामसी

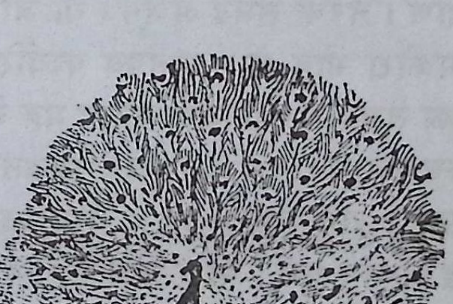

Funding by IKS-MoE

पावत। तामसी योनी।।४२०।। जो कहते वाचा सेवत। स्मरण से पीछे मुड़त। हाय रे वे मूर्ख जोड़त। निरय भोग।।२१।। किसलिये वे किरीटि। व्यर्थ पोषत आसुर संपत्ति। जिससे भोगत ऐसी आपत्ति। घोर पतन की।।२२।। अतः तुम धनुर्धर। न होना उसके मोहर। जहां बस्ति आसुर-। संपत्तिवन्त की।।२३।। और दंभादि दोष छहही। संपूर्ण जिसके ठौंई। उनको त्यागना निश्चित ही। पार्थ तुम।।२४।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

जहां काम, क्रोध लोभ। इन तीनों के वर्धत स्तंभ। वहां जानो अशुभ। परिपक्व पार्थ।।२५।। सब दुख दिखाने को। इहलोक में अपने को। मार्गदर्शक ये सब को। धनंजय।।२६।। पापी को नरक भोग पार्थ। कराने इस जग में समस्त। पातकों की महाबलिष्ट। सभाहीं यह।।२७।। या रौरव का घोरपत। वर्णित पुराण में अर्जुन। तब तक ही लगे भीषण। जब तक न प्राप्त ये।।२८।। अपाय उनसे सत्वर। यातना पावन अपार। हानी न हानी धनुर्धर। तीनों मूर्त हानी ही ये।।२९।। बहुत क्या कहूं सुभट। कथित जो जो निकृष्ट। नरक की देहरी पार्थ। त्रिशंक यह।।४३०।। इस कामक्रोध लोभ त्रय। में जीव से खड़ा कौंतेय। नरकपुर की सभा में वह। पावे सम्मान।।३१।। अतः पुनः पुनः किरीटि। यह कामादि दोष त्रिपुटी। त्यागना तुम यह खोटी। सर्वतोपरि इसको।।३२।।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

धर्मादि पुरुषार्थ चार। तब ही सधत साचार। जब छूटे संघात घोर। दोषों का इन।।३३।। जब तक मन में जागृत किरीटि। तब तक कल्याण की प्राप्ति। न सुनेंगे कर्ण मेरे निश्चिति। कहत देव।।३४।। जिसको अपनी प्रीति। आत्मनाश का मन में भय किरीटि। न करना उससे इनकी संगति। रहना सावधान।।३५।। बांधकर पेट में पाषाण। तैरना समुद्र अर्जुन। या जीने को करना भोजन। कालकूट का।।३६।। इन्हीं कामक्रोध मोह से। अशक्य कार्यसिद्धि इनसे। अतः मिटाओ नामनिशान जड़से। इनका तुम।।३७।। जब सहसा यह बेडी। टूट जाये त्रिकड़ी। होवे चलते प्रीत बड़ी। आत्मराह में।।३८।। त्रिदोष छांडत शरीर। त्रिकपट से मुक्त नगर। त्रिदाहविहीन अन्तर। होवे जैसे।।३९।। वैसा कामादिक ये तीन। नष्ट जब मन से अर्जुन। प्राप्त सुख सत्संग पूर्ण। मोक्ष मार्ग में।।४४०।। तब सत्संग बल से। सच्छास्त्र के ज्ञान से। उल्लंघत उसर बन जैसे। जन्ममृत्यु के।।४१।। गुरुकृपा का पुण्य स्थान। जो आत्मानंद से परिपूर्ण। सदोदित सुप्रसन्न। लभत पार्थ।।४२।। वहां भेटत परमप्रिय। आत्मा माऊली (माता) सदय। होवे आलिंगन से तत्क्षण विलय। संसार ताप का।।४३।। ऐसा जो कामक्रोध लोभ को। खड़ा त्यागकर इनको। वही इतने लाभ को। गोसावी होत।।४४।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

योति उन्हें प्राप्त होती है ।।४२०।। आसुरी लोगों की कथा बताते हुये वाणी रोती है, स्मरण से पीछे हटती है, हाय! वे मूर्ख केवल नरक जोड़ते हैं ।।२१।। हे किरीटी! किसलिये वे आसुरी संपत्ति जुटाते हैं? जिससे ऐसी घोर पतन की आपत्ति वे भोगते हैं।।२२।। अत: धनुर्धर! जहाँ आसुरी वृत्ति के लोग रहते होंगे वहाँ तुम नहीं जाना।।२३।। एवं दंभ आदि छह दोष जिसमें संपूर्ण भरे हुये हैं, उसका हे पार्थ तुम निश्चित त्याग करना।।२४।।

हे अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं, अत: इन तीनों का त्याग करना चाहिये।।२१।।

जहां काम, क्रोध एवं लोभ इन तीनों के खंबे बढ़ते हैं, वहां हे पार्थ! अशुभ परिपक्व हुआ है, ऐसा जानो ।।२५।। सब दु:ख दिखाने के लिये इहलोक में काम, क्रोध एवं लोभ सबको मार्गदर्शक हैं ।।२६।। हे पार्थ! पापी को नरक भोग कराने इस जग में समस्त पातकों की यह बलवान सभा है।।२७।। जब तक ये तीनों विकार अंत:करण में नहीं उत्पन्न होते तब तक रौरव नरक का जो घोर वर्णन किया है, वह उनको प्राप्त नहीं होता।।२८।। उनसे त्वरित अअपय होता है, असीम यातनाएं मिलती हैं, हे धनुर्धर! हानि ही हानि नहीं किन्तुयह तीनो मूर्तिमंत हानि हैं।।२९।। अब क्या बतावें! हे सुभट! यह तीनों ऊपर निर्दिष्ट नरक की देहली है, यह त्रिशंकु है।।४३०।। इस काम, क्रोध, लोभ तीनों का जो आश्रय करता है, नरकपुर सभा में सम्मानित होता है।।३१।। अत: पुनपुन: किरीटी! यह काम आदि दोषों की त्रिपुटी का त्याग करना यह बार बार मैं तुम्हें बताता हूं।।३२।।

तीनों यह नरक के द्वार से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परम गति को जाता है।।२२।।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चार पुरुषार्थ तब ही सत्य में साध्य होते हैं, जब इन दोषों का संघात छूटता है।।३३।। हे किरीटी! जब तक यह तीनों दोष मन में जागृत हैं तब तक कल्याण की प्राप्ति होगी ऐसा मेरे कान निश्चित नहीं सुनेंगे, ऐसा देव कहते हैं ।।३४।। जिसको अपनी प्रीति है, उसको आत्मनाश का मन में भय रहता है, हे किरीटी! अत: उनका साथ नहीं करना, सावधान रहना ।।३५।। पेट में पत्थर बाँधकर समुद्र में तैरना, हे अर्जुन! जीवित रहने के लिए कालकूट विष का भोजन करना ।।३६।। इन्हीं काम क्रोध मोह से, कार्य सिद्धि अशक्य है, अत: इनका नामोनिशान तुम जड़ से मिटा देना।।३७।। इस त्रिकड़ी की बेड़ी जब टूट जाती है, तब आत्मानुभव के मार्ग में सुखपूर्वक बड़ी प्रीति से चलता बनेगा ।।३८।। जब शरीर तीनों दोषों का त्याग करता है, तीन कपटों से यह देहनगर मुक्त होता है, अथवा तीनों ताप विरहित अंत:करण होता है ।।३९।। वैसे काम आदि यह तीन, हे अर्जुन! जब मन से नष्ट होते हैं, तब सुख का पूर्ण सत्संग मोक्ष मार्ग में प्राप्त होता है ।।३४०।। तब सत्संग के बल से, सत्शास्त्र के ज्ञान से, जन्म मृत्यु के ऊसर बन को वे उल्लंघन करते हैं।।४१।। गुरुकृपा का पुण्य स्थान, जो आत्मानंद्र से परिपूर्ण रहता है, हे पार्थ! उससे नित्य प्रसन्नता प्राप्त होती है।।४२।। वहां परमप्रिय आत्मारामरूपी दयालु माता का मिलन होता है उनके आलिंगन से तत्क्षण संसारताप का अंत होता है ।।४३।। ऐसा जो काम क्रोध लोभ को संपूर्ण समाप्त करके मुक्त होता है वही इतने लाभ का स्वामी बनता है।।४४।।

जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से व्यवहार करता है वह न तो सिद्धि प्राप्त करता है, न परमगति एवं न सुख को प्राप्त करता है।।२३।।

Funding by IKS-MoE

आत्महित की प्रीत नाही। कामक्रोधादिक के ही ठैंई। घुसाया सिर पूराही। आत्मचोर ने जिस।।४५।। जो जग में समान सकृप। हिताहित दर्शक दीप। उस वेदको किया बाप!। अमान्य जिसने।।४६।। न धरत विधि की भीड़। न मन में आत्मज्ञान की चांड। अविवेक से करत लाड़। इंद्रियों के।।४७।। कामक्रोध लोभ का आश्रय। न छोड़े पाले उनका वचन कौन्तेय। स्वैराचार वन में प्रवेश वह। करे जो।।४८।। वह मुक्ति की नदी में। पानी न पावे उसमें। कहानी मुक्तता की स्वप्न में। भी दूर उसको।।४९।। और परत्र तो नष्ट ही होय। बात यह निश्चित कौंतेय। किंतु ऐहिक भी सब भोग्य। न भोगत भोग।।४५०।। मीन लोभ से ब्राह्मण। मछुओ में प्रवेशत अर्जुन। किंतु वहां भी उसको प्राप्त जान। नास्तिकवाद ही।।५१।। वैसे विषय प्रीत से। परत्र को पलटाया जैसे। ले गया अन्य योनी में सहज से। मरण उसको।।५२।। एवं परत्र ना स्वर्ग। ना ही ऐहिक विषय भोग। उसको कहां प्रसंग। मोक्ष का पार्थ।।५३।। अतः प्रबल जब काम पिपासा। विषय सुख ज्यौं होवे आतुर। उसको विषय स्वर्ग दोनों दूर। न उद्धरत वह।।५४।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

इस कारण धनंजया। जिसको है अपनी दया। उसने न करना अवज्ञा। वेदवचनों की।।५५।। अनुसरके पति का मत। पतिव्रता करे प्राप्त। अनायास आत्महित। सुनिश्चित।।५६।। नातर श्रीगुरु के वचन। निष्ठासे करके जतन। प्रवेशत आत्मभुवन। शिष्य जैसा।।५७।। जाने दो यह निधि अपना। हस्तगत यदि करना। तब आदर से आगे दिखाना। दीप पार्थ।।५८।। वैसा अशेष ही पुरुषार्थ। का जो चाहे स्वामित्व। उसने श्रुति स्मृति माथ। पर धरना युक्त।।५९।। शास्त्र कहे सो त्यागना। यदि राज्य भी तृणसम मानना। जो देवे लेना न कहना। मारक विष भी।।४६०।। ऐसा होकर वेदनिष्ठ। वेदाज्ञा जो पालत श्रेष्ठ। तब वह कैसा अनिष्ट। पावे पार्थ।।६१।। अहित से मुक्तिकारक अर्जुन। हितप्रद करे जो सुखसंवर्धन। नहीं श्रुतिबिन अन्य। माउली जग में।।६२।। जिससे होवे ब्रह्मप्राप्ति। न छोड़ना वहां श्रुति भगवति। करना तुम भक्ति। विशेष इसकी।।६३।। जो आज तुम यहां पार्थ। करना सत्यशास्त्र सार्थ। धर्म के ही बल से यथार्थ। जन्म तेरा।।६४।। और धर्मानुज ऐसी। उपाधि जो प्राप्त सहज सी। न करना अन्यथा उसी। को आचार से अपने।।६५।। कार्याकार्य का विवेक। शास्त्र से लेना परख। अकृत्य व्यवहार निन्दक। करना वर्ज।।६६।। और जो उत्तम सत्य। अपने अंग से वही कृत्य। अति

Funding by IKS-MoE

आत्महित का प्रेम नहीं, काम क्रोध आदि में अपना मस्तक जिसने पूरा घुसाया है, वह आत्मचोर है ॥ ४५ ॥ जो विश्व में सब पर समान कृपा करनेवाला है, हित अहित दिखानेवाला दीपक है, उस वेदों को जिसने अमान्य किया है ॥ ४६ ॥ विधि विधान की भीड़ वह नहीं धरता, मन में आत्मज्ञान की इच्छा नहीं होती, जो इंद्रियों की इच्छापूर्ति करता जाता है ॥ ४७ ॥ काम क्रोध लोभ का आश्रय करके हे कौंतये! उनको दिये वचन का वह पालन करता है, अतः स्वैर आचार के वन में वह प्रवेश करता है ॥ ४८ ॥ मुक्तिरूपी नदी में उसको जल नहीं मिलता, छुटकारा होने की बात स्वप्न में भी उसको दूर होती है ॥ ४९ ॥ परलोक तो नष्ट ही होता है, हे कौंतेय! यह बात निश्चित है, किंतु ऐहिक भोग भी वह नहीं भोग सकता ॥ ४५० ॥ मछली के लोभ से ब्राह्मण जब मछुआरों के बीच प्रवेश करता है, किंतु उसको वहां भी नास्तिकवाद ही प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥ विषयों के प्रीति से, जैसे परलोक को पलटा दिया अन्य योनियों में सहज उसे मृत्यु ले गया ॥ ५२ ॥ एवं परलोक नहीं, स्वर्ग भी नहीं, ऐहिक विषयों का भोग भी नहीं, वहां मोक्ष की बात कहां होगी? ॥ ५३ ॥ अतः जब काम विकार प्रबल रहता है, विषय सुख लेने का प्रयास करता है, उसको विषय सुख मिलता नहीं, स्वर्ग भी नहीं मिलता, या उसका उद्धार भी नहीं होता ॥ ५४ ॥

अतः तेरे लिए कर्तव्य अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र प्रमाण है, अतः शास्त्र विधि से नियत कर्म ही करने के लिए योग्य होते हैं ॥ २४ ॥

अतः हे अर्जुन! जिसको अपनी दया आती है, उसने वेदों के वचनों की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये ॥ ५५ ॥ पति के मतों का अनुसरण करके पतिव्रता स्त्री अनायास सुनिश्चित अपना हित करती है ॥ ५६ ॥ श्रीगुरु के वचन निष्ठा से जतन करके आत्मभुवन में शिष्य जैसा प्रवेश करता है ॥ ५७ ॥ यह रहने दो! अपना धन प्राप्त करने के लिये अंधेरे में प्रथम दीपक आदि से आगे दिखाना पड़ता है ॥ ५८ ॥ वैसे सब कुछ पुरुषार्थ का अधिकार जो चाहता है उसने श्रुति एवं स्मृति को मस्तकपर धारण करना चाहिये ॥ ५९ ॥ शास्त्र कहता है उसका त्याग करना चाहिये, यदि वह राज्य भी हो तो भी तृण के समान तुच्छ समझना चाहिये, शास्त्र ने जिसको लेने के लिए कहा है वह विष भी मारक होते हुये लेना चाहिये ॥ ४६० ॥ ऐसा वेदों पर श्रद्धा रखते हुये जो श्रेष्ठ वेदों की आज्ञाओं का पालन करता है, तब हे पार्थ! उसका अनिष्ट कैसे हो सकता है? ॥ ६१ ॥ हे अर्जुन! अकल्याण से निकालनेवाली, मुक्तिदायक, हितबढ़ानेवाली ऐसी श्रुति के बिना सुखों का संवर्धन करनेवाली अन्य माता इस जग में नहीं है ॥ ६२ ॥ जिससे ब्रह्मप्राप्ति होती है, उस श्रुति भगवती को नहीं छोड़ना चाहिये, इसकी भक्ति तुम विशेष करना ॥ ६३ ॥ हे पार्थ! तुम आज यहां शास्त्र को सत्य करना, क्योंकि तुम्हारा जन्म धर्म के बल से हुआ है ॥ ६४ ॥ एवं धर्म का छोटा भाई ऐसी संज्ञा तुम्हें सहज प्राप्त है, अपने आचरण उसको अन्यथा नहीं करना ॥ ६५ ॥ कार्य एवं अकार्य का विवेक शास्त्र से परख लेना, जो करने के लिए इस जग में निंदनीय है उसका अवश्य त्याग करना चाहिये ॥ ६६ ॥ जो सत्य उत्तम है, करने के लिए योग्य है, उसको तुम आदर से आचरण करके पूर्ण

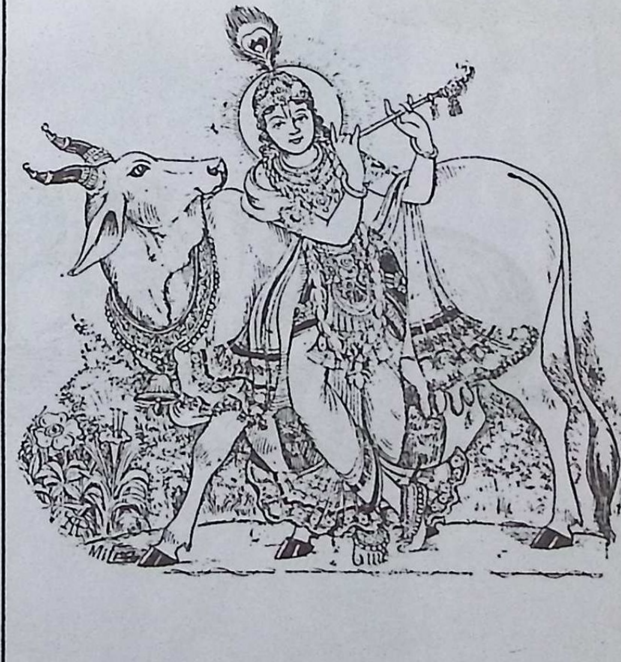

आदर अगत्य से। करना तुम।।६७।। जो विश्वप्रामाण्य की मुदी। हाथ में तेरे आज सुबुद्धि। लोकसंग्रह को त्रिशुद्धि। योग्य तुम।।६८।। ऐसी आसुरी संपत भीषण। उसका स्वरूप लक्षण। पांडव को किया नीका निरूपण। भगवन्त ने।।६९।। आगे पंडुकुमर अर्जुन। हृदय में सद्भाव पूर्ण। पूछेगा प्रश्न करो श्रवण। चैतन्य कर्ण से।।४७०।। संजय ने कहा व्यासकृपा से। नृप को वृतान्त विस्तारसे। वैसे मैं भी निवृत्ति कृपा से। कहूंगा आपको।।७१।। आप सब मेरी ओर। करो कृपादृष्टि वर्षा निरन्तर। तब ही आपको मान्य संतवर। होऊंगा मैं।।७२।। अब निज अवधान। दीजिये यही प्रसाददान। जिससे बनूंगा मैं समर्थ पूर्ण। कहे ज्ञानदेव।।४७३।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिंदीअनुवादे देवासुरसंपद्विभागयोगोनाम षोडशोऽध्यायः (श्लोक २४ ओवियाँ ४७३)

Funding by IKS-MoE

करना॥६७॥ जो विश्व के प्रामाण्य की मुद्रा है, हे बुद्धिमान अर्जुन! तेरे हाथ में आज है, तुम लोगों का संग्रह करने के लिये योग्य हो॥६८॥ ऐसी आसुरी संपत्ति भीषण है, उसका स्वरूप, लक्षणों के साथ पांडव अर्जुन को उत्तम रीति से निरूपण भगवान ने सुनाया॥६९॥ पंडुकुमर अर्जुन हृदय में पूर्ण सद्‌भाव रखते हुये प्रश्न पूछेगा, उसको चैतन्यरूपी कान से, तन्मयता से श्रवण करना॥४७०॥ व्यासजी की कृपा से संजय ने राजा धृतराष्ट्र को विस्तारपूर्वक वृत्तांत कहा, वैसे मैं भी निवृत्तिनाथजी की कृपा से आपको कहूंगा॥७१॥ आप सब मेरी तरफ कृपा दृष्टि की निरन्तर वर्षा करना, तब ही हे संतश्रेष्ठ! मैं आपको मान्य होऊं॥७२॥ अब अपना अवधान का प्रसाद दान मुझे दीजिये, जिससे पूर्ण समर्थ बनूंगा। ऐसा ज्ञानदेव कहते हैं॥७३॥

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

अध्याय-सत्रहवाँ

सारांश

अशक्य प्राप्ति सबको कृष्ण। ये शास्त्रों के साधन। वहां मूर्ख मुमुक्षुओं के कौन? गति देखो। यही प्रश्न पूछने अभिप्राय। जहां अर्जुन रखे प्रस्ताव। वही सतरहवें का विषय। अध्याय में इस।।अ.१७/२९-३०।।

इस अध्याय के प्रारंभ में ज्ञानेशजी ने श्री निवृत्ति नाथ की गणपति रूपक से स्तुति करके अपने गुरु का अध्यात्म सामर्थ्य वर्णन किया है। अन्त में कहते हैं- आपको सेव्य सेवक भाव की रुचि नहीं है। एक रूप होने से ही आपकी सच्ची भक्ति है। मुझे पूर्ण काम करके गीता पर भाष्य करने की योग्यता आपने मुझे प्राप्त कर दी। उस सामर्थ्य का वर्णन करने के लिये मैं असमर्थ हूं। (१-२०)

षोडशोध्याय में शास्त्र प्रामाण्य कथन किया है। शास्त्र के विरुद्ध आचरण करने वालों को अस्त्र और परत्र दोनों का सुख नहीं होता। अर्जुन की शंका से इस अध्याय की निर्मित हुई। शास्त्रानुसार कर्म करनेवाला एक वर्ग, कामाचार करने वाला दूसरा वर्ग, और एक तीसरा वर्ग है जिसमें शास्त्र के प्रति श्रद्धा है किंतु शास्त्र वचन समझने की बुद्धि नहीं। इन लोगों ने कर्म करने पर उनको कौन सी गति प्राप्त होती है? अर्जुन के इस शंका का समाधान श्रीकृष्ण करते हैं। (२१-४८) पुरुषों के गुणानुसार श्रद्धा दृग्गोचर होती है। सात्विक श्रद्धावान पुरुष विद्या यज्ञ संपादन करते हैं। राजसी लोग यक्ष, राक्षसों का भजन करते हैं। तामस श्रद्धावान पुरुष प्राणि मात्रों का घात करते हैं। मुमुक्षू ने सात्विक श्रद्धा का अंगीकार करना चाहिये। सात्विक श्रद्धावान मतिमंद होते हुये भी मोक्ष प्राप्ति कर लेता है। (४९-९२)

जिनको शास्त्र अवगत नहीं है और शास्त्र विषयक श्रद्धा भी नहीं वे शास्त्र बाह्य वर्तन करते हैं। लोगों को पीड़ा देना यही उनका ध्येय रहता है। इनके इस वर्तन से सर्वांतरयामी मुझको बड़ा दुख होता है। इन दुष्ट लोगों का त्याग करके जिस प्रकार सात्विक वृत्ति का विकास हो वैसा ही आचरण करना चाहिये। आहार और वृत्ति का घनिष्ठ संबंध है। मनुष्य जिस प्रकार का आहार करता है, उस प्रकार के शरीरांतर्गत रक्त मांसादि धातु बनते हैं। उससे मनुष्य का स्वभाव बनता है। (९३-११९)

आहार भी तीन प्रकार के हैं। सात्विक आहार, मधुर, सरस और स्निग्ध रहता है। इससे शरीर रोगमुक्त और मन प्रसन्न रहता है। राजस आहार, आम्ल, कटु, तिक्त, क्षारयुक्त होता है, फलतः देह रोगी और मन दुःखी रहता है। तामसी आहार अभक्ष्य, अपेय, सड़ा, गंदा रहता है, परिणामतः यातना, दुःख तत्काल भुगतना पड़ता है। (१२०-१६८)

कर्म भी तीन प्रकार के हैं। यज्ञ के प्रकार इस प्रकार हैं – सात्विक, याज्ञिक, यथासांग विधिवत कर्म करते हैं। उनका यह कर्म फल निरपेक्ष, अहंकार रहित रहता है। राजस याज्ञिक अहंकारी और फलाकांक्षी रहता है। तामस याज्ञिक का यज्ञ स्वैराचारी होता है। (१६९-१९५)

तप त्रिविध हैं, शारीरिक, वाचिक और मानसिक। त्रिविध तप गुणानुसार तीन प्रकार का होता है। सात्विक तप, राजस तप और तामस तप। (१९६-२६३)

दान भी त्रिविध हैं, सात्विक दान, राजसदान और तामस दान। (२६४-३०७) राजस और तामस इन दोनों का त्याग करके सत्वगुणालंबन करना आवश्यक है। अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं। स्वतंत्र रीती से सात्विक कर्म मोक्षप्रद नहीं है। एक और बात मोक्षप्रद है श्रीकृष्ण उस वस्तु का महात्म्य कथन करते हैं। (३०८-३२७)

'ॐ तत् सत्' यह परब्रह्म का नाम है। श्रुतियों ने परब्रह्म को यह नाम दिया है। यह नाम लेकर सात्विक कर्माचरण किया तो वे कर्म मोक्षद होते हैं। ऐसा सामर्थ्य इस नाम में है। इस नाम के आवर्तन से ब्रह्माजी को सृष्टि रचना का सामर्थ्य प्राप्त हुआ था। यह नाम कैसा आवर्तित करना इसका ज्ञान होना आवश्यक है। (३२८-३५३)

इस नाम का विनियोग इस प्रकार है, प्रथम ॐ कारका अर्थ वृत्ति पर आरूढ़ करके फिर वाणी से स्पष्टोच्चार करना, तदनंतर 'तत्' शब्द का विनियोग करना, 'तत्' शब्द का वाचक ब्रह्म है। उस ब्रह्म को कर्म और फल दोनों भी अर्पण करना। फलतः कर्म ब्रह्मरूप होता है। फिर कर्ता ब्रह्रूप होने के लिये 'सत्' शब्द का विनियोग कर्म के अन्त में कथित है। (३५४-३७९)

ब्रह्मनिर्दोश है यह 'तत्' शब्द कथन करता है। जब ब्रह्मरूप कर्म का 'तत्' शब्द से ऐक्य होता है, तब अपने सहित सब ब्रह्म है ऐसा अद्वैतानुभव प्राप्त होता है। यह 'तत्' शब्द 'सत्' के सामर्थ्य से कर्म का न्यूनत्व और असत् दोष नष्ट करके कर्म को पूर्णत्व प्रदान करता है। इस प्रकार यज्ञ-दानादि कर्मों को, कर्तासह ब्रह्मतक पहुंचाने का सामर्थ्य 'ॐ तत् सत्' इस नाम में है। (३८०-४२३)

श्रीकृष्ण मुख से नाम महात्म्य श्रवण करते ही अर्जुन ब्रह्मानंद मग्न हो गया। यह देखकर संजय आनंदित हुआ। वस्तुतः अर्जुन उसका शत्रु था। परन्तु उसीके निमित्त भगवान ने श्री मुख से विस्तृत भाषण उसको (संजय को) श्रवण करने का अवसर मिला था। इन उपकारों का स्मरण प्रकट करने की उसकी इच्छा थी। किंतु धृतराष्ट्र को क्रोध आयेगा, इस कारण से वह स्तब्ध हुआ, ऐसा वर्णन करते हुये श्री गुरु निवृत्तिनाथ का स्मरण करके, श्री ज्ञानेश्वरजी ने यह अध्याय समाप्त किया है। (४२४-४३३)

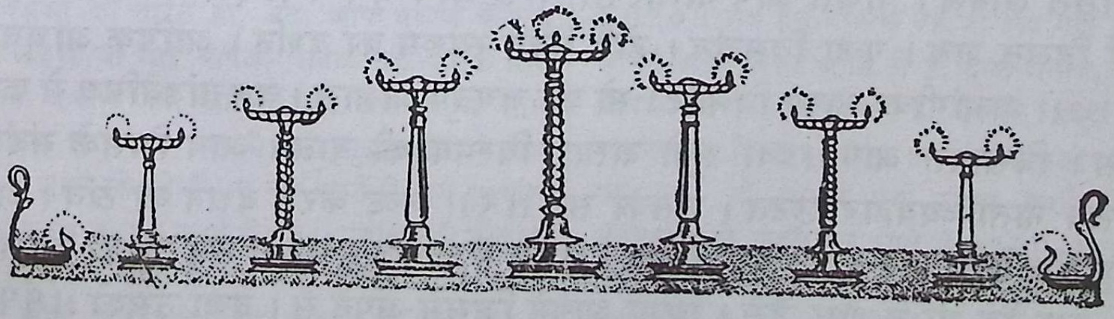

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - सत्रहवाँ

विश्वविकासित मुद्रा। नष्ट करे आपकी योगनिद्रा। नमन उस गणेंद्रा!। श्री गुरुरायको।।१।। त्रिगुण त्रिपुर से वेष्टित। जीवत्व दुर्ग में बंदिस्त। वह आत्माशंभुने किया मुक्त। स्मृति से आपकी।।२।। अतः तुलना यदि शिव के साथ। गुरुत्व से आपही समर्थ। किंतु मायाजाल में तारक यथार्थ। लघुभार आप।।३।। आपको न जाने जो भूढ़। उनके लिये आप वक्रतुंड। ज्ञानियों को दिखत अखंड। ऋजु आप।।४।। यदि दैविकी सूक्ष्म दृष्टि से। तथापि मिलनोन्मिलन से। करत उत्पत्ति प्रलय दोनों जैसे। लीलया आप।।५।। होवे प्रकृतिकर्ण की हलचल। प्रसरत मंद सुगंधित अनिल। पूजित आप नीलोत्पल-। से जीव भृंग के।।६।। पश्चात निवृत्ति कर्ण हिलत जब। पूजा विसर्जन। होवे मुक्त स्वरूप का दर्शन। आंगिक आभूषण से।।७।। वामांगीका लास्य विलास। सो यह जगद्रुप आभास। वह तांडवमिष से कला खास। दिखावत आप।।८।। सुनो दातार विस्मय की बात। आप जिसके संबंधी बनत। नाता व्यवहार छूटत। उसका सब।।९।। नष्ट करते बंधन का ठांव। आप जगद्बंधु ऐसा भाव। लेत दृढ़ आश्रय। चरण में आपके।।१०।। तब उसको द्वैत नाम से। प्रभु देह भी न शेष जैसे। किया आपने जिससे अपने से। दूजा उसको।।११।। आपको मानकर भिन्न। करत जो उपाय साधन। वे बहुत अंतर से जान। रहत दूर।।१२।। मानस में जो ध्यान धरत। आपन उसके मन में बसत। ध्यान भी जो विस्मरत। सो प्रिय आपको।।१३।। आप सिद्ध जो न जानत। जगत में सर्वज्ञपन से

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - सत्रहवाँ

हे गणेश। आपकी योगनिद्रा जब नष्ट होती है तब विश्व विकसित होता है, उस गुरुरूपी गणों के अधिपति, हे सद्गुरो! आपको नमन है।।१।। सत्व, रज, तम तीन गुणों से परिवेष्टित, जीव भाव रूपी दुर्ग में बंदिस्त, जो अपनी आत्मा, उसको गुरुरूपी आप गणेश का स्मरण करके आत्मशिवजी ने मुक्त किया।।२।। शिवजी से आपकी तुलना करने से आपही श्रेष्ठ जान पड़ते हैं, मायारूपी जलसे आप मुमुक्षुओं को तारते हो, अतः आप यथार्थ में लघु हो।।३।। जो मूर्ख आपको जानता नहीं उसके लिये आप वक्रतुंड हो, ज्ञानियों को आप नित्य सीधे सन्मुख हो।।४।। आपकी दैवी सूक्ष्म दृष्टि से जब आप आंखें खोलते हैं एवं बंद करते हैं, तब उत्पत्ति एवं प्रलय लीलया करते हैं।।५।। प्रवृत्तिरूपी कर्ण की हलचल जब होती है, तब मंद, सुगंधित वायु फैलती है, जीव भ्रमररूपी नील कमल से आप पूजित हो।।६।। जब निवृत्ति कर्ण हिलता है तब उसके पश्चात् पूजन का विसर्जन होता है, शरीर के आभूषण निकल जाने से आपके मुक्त स्वरूप का दर्शन होता है।।७।। मायारूपी पत्नी की जो नृत्यक्रीड़ा है वही जगद्रूप आभास है, तांडव नृत्य के निमित्त अपनी कला आप दिखाते हो।।८।। हे दाता! विस्मय की बात सुनो। आप जिसके संबंधी बनते हो, उसका प्रापंचिक रिश्ते का व्यवहार सब छूट जाता है,।।९।। बंधन का स्थान नष्ट करके, जगद्बंधु ऐसा नाम आपको यथार्थ शोभा देता है, अतः आपके चरणों का मैं दृढ़ आश्रय लेता हूं।।१०।। तब द्वैत नाम से देह भी शेष नहीं रहता, आपने अपने जैसा अपने से ही दूजा बनाया। (जो आपको आत्मा समझता है उसको संपूर्ण जग आत्मरूप दिखता है)।।११।। आपको भिन्न समझकर, जो साधन एवं उपाय करते हैं, वे अंतःकरण से बहुत दूर रहते हैं।।१२।। मनमें जो ध्यान धरते हैं आप उनके मन में नहीं बसते, जो ध्यान को भी भूल जाता है वही आपको प्रिय होता है।।१३।। आप सिद्ध हो यह तो जानता नहीं वह सब जानता है ऐसा मिथ्या भ्रम रखता है, वेदों द्वारा किये गये स्तुति वचन भी आप सुनते नहीं, ऐसे आप

Funding by IKS-MoE

विचरत। स्तुति वेदवचन की भी न सुनत। ऐसे आप।।१४।। मौन राशिनाम आपका। कैसा धरूं हठ स्तवन का। दृश्य सब खेल माया का। भजू किसविध?।।१५।। दैविक जानकर बनू सेवक। वह द्रोह ही होगा अशेख। अतः न रखू द्वैतमूलक। संबंध कुछ।।१६।। सर्वथा जब छूटत संबंध। पाऊं तब ही आपका अदव्यबंध। जानू मैं यह मर्मशुद्ध। आराध्य लिंगा।।१७।। तब छोड़कर भिन्नपन। रसमें रहत जैसा लवण। वैसा जानो मेरा नमन। क्या कहूं और।।१८।। देखो रिक्तकुंभ समुद्र में प्रविष्ट। भरकर पूर्ण जलसे निकलत। या बाति दीप ही होत। दीपसंगसे।।१९।। वैसी आपकी प्रणति। हुवा मैं पूर्ण निवृत्ति। अब करूं अभिव्यक्ति। गीतार्थ की।।२०।। पहले षोडश अध्याय में। समाप्ति के श्लोक में। किया निर्णय निश्चित उसमें। देव ने स्वयम्।।२१।। जो कृत्याकृत्य व्यवस्था। अनुष्ठान यदि करना पार्था। तब शास्त्र ही सर्वथा। प्रमाण तुमको।।२२।।

अर्जुन उवाच –

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निंष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

तब अर्जुन कहे मनसा। प्रभु यह कथन कैसा। जो शास्त्रबिन नहीं सहसा। छूट कर्म को।।२३।। बोलो तक्षक के फन से। निकालना मणि कैसे?। या पाना सिंह के नाक से। बाल कैसे?।।२४।। प्राप्त जब उसमें पिरोना। तब ही अलंकार पहनना। नहीं तो क्या रहना। रिक्त कंठ से?।।२५।। वैसे समस्त शास्त्र भिन्न। ऐक्य उसको करेगा कौन। एकवाक्यता का फल पूर्ण। भोगेगा कौन।।२६।। होवे यदि एकवाक्यता। किसको समय अनुष्ठान को श्रीकांता। किसको मर्यादा प्राप्त तत्वता। दीर्घायुष्य की इतनी?।।२७।। देश काल शास्त्र अर्थ। ये चारों लभत एकत्र। उपाय यह कैसा प्राप्त। सबको कभी?।।२८।। अशक्य प्राप्ति सबको कृष्ण। अतः शास्त्रों के साधन। वहां मूर्ख मुमुक्षुओं की कौन?। गति देखो।।२९।। यही प्रश्न करके अभिप्राय। जहां अर्जुन रखे प्रस्ताव। वही सतरहवें का विषय। अध्याय में इस।।३०।। तब सबके लिये वितृष्णु। जो सकल कला में प्रवीणो। कृष्ण को भी नवल प्रतिकृष्ण। अर्जुनभाव से।।३१।। शौर्य को जिसका आधार। जो सोमवंश को शृंगार। सुखादि उपकार। लीला जिसकी।।३२।। जो प्रज्ञा प्रमदा का प्रियोत्तम। ब्रह्म विद्या का विश्राम। सहचर मनोधर्म। देवका जो।।३२।। वह अर्जुन कहे तमालशामा। इंद्रिय गोचर परब्रह्मा। कथन आपका गुणधामा। संशययुक्त अति।।३४।। जो शास्त्रबिन न और। प्राणियों को मोक्षकर। इसविध एकपक्षी क्यों रमावर। कहा आपने?।।३५।। तब न मिले कभी वह देश। नहीं काल का अवकाश। गुरु जो करावे शास्त्राभ्यास। दुर्लभ भी।।३६।। और अभ्यास में सहायक। सामग्रियां जो अनेक। न स्वाधीन एकाएक। सुलभ सहज।।३७।। अनुकूल नहीं प्राक्तन। न करे

हो।।१४।। मौन आपका राशि नाम है, आपके स्तवन का हठ कैसे करूं? माया का खेल सब दृश्य है, आपका भजन किस प्रकार से करूं?।।१५।। देव समझकर सेवक बनने की इच्छा करना आपसे द्रोह होगा, अतः द्वैत प्रकट करनेवाला कुछ भी संबंध नहीं रखूंगा।।१६।। जब सब संबंध छूटते हैं, तभी आपका अद्वैत बंधन प्राप्त होता है, यह आपका शुद्ध मर्म, हे आराध्य लिंग। मैं जानता हूं।।१७।। तब भिन्नपन छोड़कर जल में जैसा नमक रहता है वैसा मेरा नमन जानना, और क्या कहूं?।।१८।। समुद्र में खाली घड़ा डालने से वह पूर्ण भरकर निकलता है, या बाति दीप के संगति में दीपही होती है।।१९।। वैसा हे निवृत्तिनाथ। आपको प्रणाम करके मैं पूर्ण हुआ हूं, अब मैं गीता का अर्थ प्रकट करता हूं।।२०।। सोलहवें अध्याय में पहले, समाप्ति के श्लोक में देव ने स्वयं निश्चित निर्णय किया है।।२१।। जो सत्कार्य एवं असत्कार्य की व्यवस्था है, यदि अनुष्ठान करना है तब शास्त्र ही तुमको प्रमाण मानना चाहिये ऐसा भगवान कहते हैं।।२२।।

भगवान के वचनों को सुनकर अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र विधि का उल्लंघन करके केवल श्रद्धा से देवताओं का पूजन करता है उनकी स्थिति कौनसी है? क्या सात्वक, राजस, तामस?।।१।।

अर्जुन ने मन में ऐसा कहा, हे प्रभु! आपका कहना ऐसा कैसा है। शास्त्र के बिना कर्म को छुटकारा नहीं है।।२३।। तक्षक नाग के फन से मणि कैसे निकालेंगे, या सिंह के नाक से बाल कैसे निकालना?।।२४।। उस बाल में वह नागमणि पिरोकर पहनना, नहीं तो क्या नंगे गले से रहना?।।२५।। वैसे सब शास्त्र अलग हैं, उनका ऐक्य कौन करेगा? एक वाक्यता का फल कौन भोगेगा।।२६।। यदि एकवाक्यता हो भी गयी तब अनुष्ठान करने के लिये हे श्रीकांत! किसको समय है? इतने दीर्घायुष्य की मर्यादा किसको तत्त्वतः प्राप्त होगी?।।२७।। देश, काल, शास्त्र, अर्थ यह चारों एकत्र चाहिये, ऐसा उपाय सबको कभी कैसा प्राप्त होगा?।।२८।। हे कृष्ण! अतः शास्त्रों के साधन ऐसी प्राप्ति के लिए अशक्य है, वहां मूर्ख एवं मुमुक्षुओं की कौन गति है? देखो!।।२९।। यह अभिप्राय पूछने के लिये अर्जुन प्रश्न करेगा वही सत्रहवें अध्याय का विषय है।।३०।। सब विषयों में जो निरीच्छ है, सकल कलाओं में जो प्रवीण है ऐसे प्रतिकृष्णरूपी अर्जुन के भावका कृष्ण को भी नवल हुआ।।३१।। शौर्य को जिसका आधार है, वह अर्जुन चंद्रवंश का भूषण है, दूसरों को सुख देना एवं उपकार करना यह उसकी लीला है।।३२।। जो बुद्धिरूपी स्त्री का प्रिय पति है, ब्रह्मज्ञान का विश्राम स्थान है, भगवान के मनोधर्म के अनुसार व्यवहार करनेवाला उनका प्रिय सखा है।।३३।। तमाल वृक्ष के सदृश श्यामवर्ण श्रीकृष्ण। हमारे इंद्रियों को अनुभव में आनेवाले गुणों के धाम ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण। आपका कहना हमें संशययुक्त प्रतीत हो रहा है।।३४।। जो शास्त्र के बिना प्राणियों के लिए अन्य कुछ मोक्षदायी नहीं है, हे रमावर! आपने ऐसा एकपक्षी क्यों कहा है?।।३५।। शास्त्र के अनुसार वर्णित स्थान दुर्लभ होता है कर्म करने के लिए काल से आयुष्य मिलता नहीं, शास्त्राभ्यास करा लेने वाला गुरु भी प्राप्त नहीं होता।।३६।। अभ्यास में सहायक होनेवाली जो अनेक सामग्रियां होती हैं वह सुलभ रीति से प्राप्त नहीं होती।।३७।। भाग्य अनुकूल नहीं होता, बुद्धि मदद नहीं करती, अतः शास्त्र का

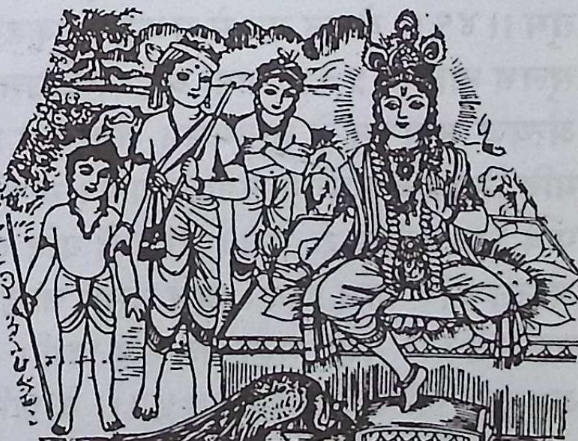

Funding by IKS-MoE

प्रज्ञा संवाहन। ऐसा छूटा आपादन। शास्त्र का जिसका।।३८।। और शास्त्र विषय में एकवाक्यता। करने नहीं समर्थन तत्वतः। इसलिये शास्त्रचर्चा सर्वथा। छोड़ी जिन्होंने।।३९।। किंतु अध्ययन करके शास्त्र। अर्थानुष्ठान पवित्र। रहत सदा परत्र-। में सानंद जो।।४०।। होवे हम उन समान। ऐसी इच्छा मन में कृष्ण। उनका मार्गानुकरण। आचरत जो।।४१।। पाठ के देखकर अक्षर। नीचे बालक लिखे दातार!। या आगे करके परिकर। अक्षम चलत।।४२।। वैसे सर्वशास्त्र निपुण। उनका जो आचरण। वही मानत प्रमाण। श्रद्धा से अपनी।।४३।। तब शिवादिक पूजन। भूम्यादिक महादान। करे अग्निहोत्रादि यजन। श्रद्धापूर्वक।।४४।। ऐसे सात्विक राजस तामस। को कौन गति खास। लाभत उनको विशेष। कहिये हमको।।४५।। तब वैकुंठपीठ के लिंग। निगम पद्म पराग। जीयत यह जग। अंगछाया से जिसके।।४६।। वह कालबल जिससे दृढ़। लोकोत्तर प्रौढ़। अद्वितीय गूढ़। आनंदघन जो।।४७।। इन गुणों को शक्ति। जिसके अंग से किरीटि। स्वमुख से वे श्रीपति। लगे कहने।।४८।।

श्री भगवान उवाच—
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु।।२।।

कहत पार्थ तेरा विचार। जानूं मैं साचोकार। जो शास्त्राभ्यास दुष्कर। मानत तुम।।४९।। केवल मन से सश्रद्ध। पकड़ना चाहत परमपद। तब इतना यह हे प्रबुद्ध। सुलभ नाही।।५०।। माना श्रद्धा एक उत्तम गुण। किंतु नकरना विश्वास अर्जुन। क्या अंत्यज समागम से ब्राह्मण। अंत्यज न होत।।५१।। गंगोदक भी पार्थ। मद्यपात्र में यदि स्थित। कभी न लगाना हाथ। सोचो तुम ही।।५२।। चंदन होत शीतल। किंतु पावे जब अग्नि से मेल। हस्त में यदि लेवे उसी काल। क्या न दाहक वह।।५३।। ओटत यदि धातु हीन। डाले उसमें चोखा सुवर्ण। दीजे मूल्य पूर्ण। क्या न ठगना ही यह।।५४।। वैसा श्रद्धा का रूप पार्थ। यदि मूल में शुद्ध अत्यंत। किंतु विभाग में आवत। प्राणियों के जिन।।५५।। वे प्राणि तो स्वभाव से। अनादि माया प्रभाव से। सब तो त्रिगुण-से। ही बने निश्चित।।५६।। वहां भी जब दोनों क्षीण। बल लेत तीसरा गुण। होत वृत्ति तत्‌समान। जीवों की तब।।५७।। वृत्ति जैसी वासना होत। वासना सम कर्म घटत। कर्मानुरूप शरीर पावत। मरण उपरान्त।।५८।। बीज लोपत वृक्ष होय। वृक्ष मोड़त बीज में समाय। ऐसे कल्प कोटी बीत जाय। किंतु जाति न नष्ट।।५९।। इस विध अपार। होत जात जन्मान्तर। किंतु आवे न त्रिगुणत्व में अन्तर। प्राणियों के।।६०।। अतः प्राणियों में पार्थ। श्रद्धा जो उदित। वह त्रिगुणानुरूप निश्चित। जानो तुम।।६१।। क्वचित जब वर्धत सत्व शुद्ध। ज्ञानवृद्धि को देत साद। किंतु रजतम दो विरुद्ध। रोकत उसको।।६२।। सत्त्व के जब

Funding by IKS-MoE

संपादन असंभव होता है।।३८।। शास्त्र विषय में एकवाक्यता नहीं है, उसका समर्थन नहीं हो सकता, अतः जिन्होंने शास्त्रों की चर्चा छोड़ दी है।।३९।। किंतु शास्त्रों का अध्ययन करके, शास्त्र के अर्थ के अनुसार पवित्र आचरण करके, परलोक में आनंद से रहते हैं।।४०।। उनके समान हम होवें ऐसी इच्छा मन में रखकर हे, कृष्ण! उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं।।४१।। पाठ के अक्षर देखकर बालक वैसे ही अक्षर नीचे लिखता है, देखनेवाले को पकड़कर जैसे अंधा चलता है।।४२।। वैसे सब शास्त्रों में जो निपुण है उनका आचरण देखकर उसको ही अपनी श्रद्धा से प्रमाण मानते हैं।।४३।। तब शिव आदि देवताओं का पूजन, भूमि आदि बड़े दान, अग्नि होम आदि यज्ञ जो श्रद्धा से करते हैं,।।४४।। ऐसे सात्विक, राजस, तामस वृत्ति के लोगों को कौनसी गति प्राप्त होती है, यह हमको कहिये।।४५।। जो वैकुंठ पीठ का आराध्य लिंग है, जो वेदरूपी कमल का पराग है, जिसके शरीर की केवल छाया से यह जग जीता है।।४६।। स्वभावतः काल की प्रबलता, लोकोत्तरता, प्रौढ़ता, अद्वयता, गूढ़ता एवं आनंद घनता।।४७।। हे किरीटि! इन गुणों को जिसके शरीर से शक्ति मिली है, वह श्रीपति अपने मुख से कहने लगे।।४८।।

अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान ने कहा, प्राणियों की स्वाभाविक श्रद्धा, सात्विक, राजस, तामस ऐसी तीन प्रकार की रहती है, उसको सुनो।।२।।

भगवान ने कहा, हे पार्थ! तेरा विचार मैंने यथार्थ जान लिया है, तुम शास्त्र के अभ्यास को कठिन समझ रहे हो।।४९।। केवल मनकी श्रद्धा से मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हो, हे बुद्धिमान अर्जुन! इतना यह सरल नहीं है,।।५०।। श्रद्धा एक उत्तम गुण है, यह मान्य है, किंतु केवल श्रद्धा से कार्यभाग होगा ऐसा विश्वास नहीं करना, क्या अंत्यज के संपर्क से ब्राह्मण भी अंत्यज नहीं बनता?।।५१।। गंगाजी का जल मद्यपात्र में रखा गया, उसको कभी हाथ नहीं लगाना। तुमही विचार करो।।५२।। चंदन शीतल रहता है, किंतु जब अग्नि से उसका मिलन होता है, तब हाथ में लेने के लिये क्या वह दाहक नहीं बनता?।।५३।। कीट युक्त हीन सुवर्ण औटते समय उसमें यदि शुद्ध सुवर्ण डाल दिया, तब हीन के संसर्ग से उसका मूल्य कम होगा, उससे क्या ठगना नहीं होगा?।।५४।। वैसा श्रद्धा का रूप पार्थ! यदि मूल में शुद्ध होता है, प्राणियों के प्राप्त होने पर उनके गुणों के अनुसार उसमें विभाग होते हैं।।५५।। वे प्राणी स्वभाव से, अनादि माया की प्रभाव से, सब त्रिगुण से ही बने हुए हैं।।५६।। त्रिगुणों में दो गुण कम होते हैं, तब एक बलशाली होता है, तब जीवों की वृत्ति उस गुण के समान होती है।।५७।। जैसी वृत्ति होती है वैसी वासना होती है, वासना के अनुसार कर्म होते हैं, कर्म के अनुसार मृत्यु के उपरांत शरीर प्राप्त होता है।।५८।। बीज लुप्त होकर वृक्ष बनता है, वृक्ष लुप्त होकर बीज में समाता है, ऐसे कोटी कल्प बीत जाते हैं, किंतु उनकी जाति नष्ट नहीं होती।।५९।। इस प्रकार से असीम जन्मांतर होते जाते हैं, किंतु प्राणियों के त्रिगुणों में अंतर नहीं होता।।६०।। अतः हे पार्थ! प्राणियों में जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह त्रिगुणों के अनुरूप होती है, ऐसा तुम निश्चित समझो।।६१।। क्वचित् जब शुद्ध सत्वगुण बढ़ता है तब ज्ञान के विकास को वह साथ देता है, किंतु रजोगुण एवं तमोगुण विरुद्ध होने से उसको रोकते हैं।।६२।। सत्वगुण के संपर्क से श्रद्धा मोक्षफल तक पहुंचती है हे पार्थ! तब क्या

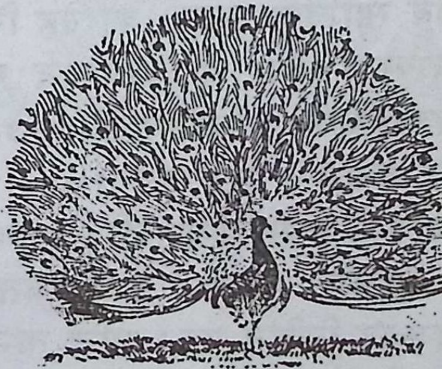

Funding by IKS-MoE

अनुसंग से। श्रद्धा मोक्षफल तक पहुंचत जैसे। किंतु क्या तब रजतम रहत वैसे। मौन पार्थ।।६३।। मरोड़कर सत्व का त्राण। जाय आकाश तक रजोगुण। तब होत कर्म प्रवण। श्रद्धा वही।।६४।। जब तमो अग्निप्रदीप्त। तब वही श्रद्धा बढ़त। करे भोग को प्रवृत्ति। कैसे भी।।६५।। एवं सत्वरजतम-। से भिन्न श्रद्धा सुवर्म!। नहीं निश्चित जीवग्राम-। मध्ये इस।।६६।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

अतः श्रद्धा स्वाभाविक। होत जानो त्रिगुणात्मक। रजतम और सात्विक। भेद से इनके।।६७।। जैसे जीवन ही उदक। किंतु विष में होवे मारक। वही मिरचा में तीख। मधु ईख में।।६८।। वैसे वर्धित जब तम गुण। पावे सदा जन्म मरण। वहां श्रद्धा परिवर्तत अर्जुन। वही होकर।।६९।। तब काजल और मसी। में भिन्नता न दिखे जैसी। श्रद्धा तामस में वैसी। भिन्न नाही।।७०।। वैसी ही राजस् जीव में। रजोमय ही जानो उसमें। और सत्वमय सात्विकों में। पूर्ण वह।।७१।। इसविध यह सकल। जगडंबर निखिल। श्रद्धा से ही केवल। ढला पार्थ।।७२।। किंतु त्रिगुणवश से। त्रिविधपन के चिन्ह से। श्रद्धा में प्रकटत जैसे। पहचानो तुम।।७३।। वृक्ष जानिये देखकर सुमन। बोल सुनकर जानिजे मन। भोग से जानिजे प्राक्तन। पूर्वजन्म का।।७४।। वैसे जिन चिन्हों से पार्थ। श्रद्धा के तीनों रूप यथार्थ। स्पष्ट रीति से दिखत। अवधारो अब।।७५।।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

तब सात्विक श्रद्धा। का देह जिनका बहुधा। विचार करे उनकी मेधा। स्वर्ग प्राप्तिका।।७६।। वे विद्याजात पढ़त। चर्चा यज्ञ क्रिया की करत। किंबहुना निश्चित पावत। देवलोक वे।।७७।। और श्रद्धा राजस। स्वभाव से जो वीरेश!। वे भजत राक्षस-। खेचरादि।।७८।। श्रद्धा जो का तामसी। कहूं मैं तुझको वह कैसी। निर्दयत्व से केवल पापराशी। कर्कश अति।।७९।। जीव वध से बली देत। अमंगल कुल भूतप्रेत। स्मशान में वे पूजत। संध्याकाल में।।८०।। वे तमोगुण का सार। निचोड़कर निर्मित नर। जानो तामसी का घर। श्रद्धा का वह।।८१।। ऐसी तीनों चिन्ह से युक्त। त्रिविध श्रद्धा जग में पार्थ। किंतु इस कारण कहत। यहां तुमको।।८२।। जो यह श्रद्धा सात्विक। जतन करो यत्नपूर्वक। अन्य दोनों विरुद्ध देख। त्यागो तुम।।८३।। जो सात्विकमति धनंजय। आचरत इसविध सदैव। उनको न हव्वा होय। कैवल्य कभी।।८४।। न पढ़े वह ब्रह्मसूत्र। न सीखे सब शास्त्र। सिद्धान्त न होवे स्वतंत्र। हस्त में उसके।।८५।। किंतु श्रुति स्मृति का अर्थ। जो स्वयं होकर मूर्त। अनुष्ठान से जग को होवत। मार्गदर्शक वे।।८६।। उनके पांव के पीछें पार्थ। सात्विक श्रद्धा से जो चलत। वही फल यथार्थ। पावत वह।।८७।। एक दीप

रजोगुण एवं तमोगुण मौन रहते हैं?॥६३॥ सत्व गुण की शक्ति मरोड़कर आकाश तक रजोगुण बढ़ता जाता है, तब वही श्रद्धा कर्म प्रवण होती है॥६४॥ जब तमोगुण रूपी अग्नि प्रदीप्त होता है, तब वही श्रद्धा विषयोपभोग की तरफ कैसे भी प्रवृत्त करती है॥६५॥ हे सुवर्म! जीवरूपी गांव में सत्व, रज, तम इनके विरहित भिन्न प्रकार की श्रद्धा नहीं होती॥६६॥

हे अर्जुन! प्रत्येक की श्रद्धा सत्व आदि संस्कार के अनुरूप होती है, मनुष्य प्राणि श्रद्धामय है, जिसकी जहां श्रद्धा होती है, वैसा वह रहता है॥३॥

अतः श्रद्धा स्वाभाविक होती है, सत्व, रज, तम इन त्रिगुणों से श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है॥६७॥ जल ही जीवन है किंतु विष में वही मारक होता है, मिर्ची में तीखा एवं गन्ने में मधुर होता है॥६८॥ वैसे जब तमोगुण बढ़ता है तब पुनः पुनः जन्म मृत्यु प्राप्त होता है हे अर्जुन! वहां श्रद्धा वही गुण बनकर परिवर्तित होती है॥६९॥ तब काजल एवं स्याही में भेद नहीं दिखता, वैसी श्रद्धा तामस गुणों से भिन्न नहीं रहती॥७०॥ वैसी राजस वृत्तियों के जीवों में वह रजोमय होती है, एवं सात्विकों में पूर्ण सत्वमय होती है॥७१॥ इस प्रकार से यह सब जग केवल श्रद्धा से ढला है॥७२॥ यह विश्व तीन गुणों के आधीन होने से उनकी श्रद्धा में तीन प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं, ऐसा तुम समझना॥७३॥ पुष्प से वृक्ष पहचाना जाता है, वाणी सुनकर मन समझा जाता है, भोगों से पूर्वजन्म का प्राक्लन जाना जाता है॥७४॥ हे पार्थ! वैसे जिन लक्षणों से श्रद्धा के तीन रूप स्पष्ट होते हैं, उसको अब सुनो॥७५॥

सात्विक श्रद्धा से युक्त ऐसे मनुष्य देवताओं की उपासना करते हैं, राजस श्रद्धापूर्वक यक्ष राक्षसों की उपासना करते हैं, तामस लोग भूत, प्रेत आदि की उपासना करते हैं॥४॥

सात्वि श्रद्धा से जिनका देह बनता है, उनकी बुद्धि स्वर्ग प्राप्ति का विचार करती है॥७६॥ वे ज्ञान का- विद्याओं का अध्ययन करते हैं, चर्चा करते हैं, यज्ञ क्रियाओं में प्राविण्य प्राप्त करते हैं, किंबहुना, उन्हें निश्चित देवलोक प्राप्त होता है॥७७॥ और राजस श्रद्धा जो स्वभाव में स्वाभाविक होती है, हे वीरेश! वे यक्ष राक्षसों की उपासना करते हैं,॥७८॥ जो तामसी श्रद्धा होती है, वह कैसी होती है वह मैं तुम्हें कहता हूं, अनेक पाप राशिओं से लिप्त, निर्दय एवं अत्यंत कर्कश होती है॥७९॥ जीव का वध करने बली देते हैं, अमंगल भूत प्रेतों को संध्याकाल में स्मशान में वे पूजते हैं॥८०॥ वह पुरुष तमोगुण का अर्क निचोड़कर निर्माण किये हैं, वे ही तामसी श्रद्धा का घर है॥८१॥ ऐसे तीनों लक्षणों से युक्त तीन प्रकार की श्रद्धा, हे पार्थ! जग में है किंतु इस कारण तुमसे मैं यहां कहता हूं॥८२॥

जो यह सात्विक श्रद्धा है, उसको यत्नपूर्वक जतन करना, अन्य दोनों विरुद्ध हैं, उसका तुम त्याग करना॥८३॥ हे धनंजय! जो सात्विक वृत्ति के होते हैं नित्य सात्विक आचरण होता है, उनको मोक्ष प्राप्ति का भय नहीं होता॥८४॥ वह ब्रह्मसूत्र का अध्ययन न करता हो, सब शास्त्र न सीखे हो, सिद्धान्त स्वतंत्र रीति से उसके स्वाधीन न होवे॥८५॥ किंतु श्रुति, स्मृति का अर्थ, स्वयं प्रकट होकर अनुष्ठान से वह विश्व का मार्गदर्शक बनता है॥८६॥ उनके चरणों के पीछे पार्थ! सात्विक श्रद्धा से जो चलता है, वही फल उसको भी प्राप्त होता है॥८७॥ एक दीपक प्रयत्न पूर्वक लगाने से दूजा उससे सहज प्रज्वलित किया जाता है, तब क्या

Funding by IKS-MoE

लगावे यत्न से। दूजा उससे से ही सहज से। क्या तब प्रकाश से। वंचित वह ।।८८।। या कोई मोल अपार। व्यय करके बांधत.धवलार। क्या न वह सुख वस्तीकर। भोगत पार्थ?।।८९।। रहने दो यह जो ताल खोदत। क्या वह उसकी तृषा हरत?। क्या रसोइया कोही अन्न तृप्त करत। औरों को नहीं?।।९०।। बहुत क्या कहूं तुझको। क्या गंगा एक गौतम को?। अन्य समस्त जगको। क्या झरना क्षुद्र?।।९१।। अतः कुशलता से जो अर्जुन। करे शास्त्र अनुष्ठान। करे श्रद्धा से उसका अनुसरण। तरे मूर्ख भी वह।।९२।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः। दम्भाहंकारसंयुक्ता कामरागबलान्विताः।।५।।

स्वयं न जानत नाममात्र। अध्ययन किया न किंचित शास्त्र। और किसी शास्त्रज्ञ को सीमापर। आने न देत।।९३।। बड़ों की धर्मक्रियायां पार्थ। देखकर खिल्ली उड़ावत। पंडितों के। सामने बजावत। चुटकियां वे।।९४।। अपने अहंकार से। धनिकत्व के दर्प से। तप करत पाखंडपन से। ढोंगी वे।।९५।। आवे सामने उसपर। करत शस्त्र प्रहार। भरते और यज्ञपात्र। रक्त मांस से वे।।९६।। प्रदीप्त यज्ञकुंड में। आहुति पिशाच्च की अर्पित। मानता के लिये बली देत। बालक को।।९७।। क्षुद्र देवता करने प्रसन्न। अति दुराग्रह से अर्जुन। करत सप्ताहभर अनुष्ठान। अन्नत्याग से।।९८।। ऐसे आत्मपर पीड़ा करे पार्थ। तमक्षेत्र में बीज बोवत। आगे तब निश्चित। अंकुरत वही।।९९।। बाहू नहीं अपने समर्थ। और नौका में भी न बैठे पार्थ। उसकी जो दुर्गति होत। समुद्र में जैसी।।१००।। करत वैद्य का द्वेष। ढकेलत पांव से औषधि रस। जीवित से धोवत हाथ खास। रोगी वह।।१।। चक्षुवंत के द्वेष से पार्थ। फोड़त स्वचक्षु स्वतः। पश्चात घर में बैठत। अंध जैसा।।२।। उन असुरों का होवे वैसे। जो निंदत शास्त्र को मन से। और स्वैर धावत मोह से। बन में वे।।३।। काम करावत सो करत। क्रोध मरावत उसे मारत। किंबहुना मुझको गाड़त। दुःख दरड़ (पत्थर) में।।४।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

अपने या पर शरीर को। दुःख जो जो देत सबको। उतनी सब मुझ आत्मा को। पीड़ा होत।।५।। वाचा के भी पल्लू से। स्पर्शना ना उन पापियों को मन से। किंतु कहना पड़ा वैसे। त्यागने को ही।।६।। प्रेत को बाहर ही निकालिये। अंत्यज को भाषण में ही त्यागिये। और तो और धोइये। कश्मल भी।।७।। किया इसमें शुद्धि का प्रयोजन। स्पर्श दोष न लगे अर्जुन। इसलिये किया वर्णन। त्यागार्थ यहां।।८।। तब तुम इसको अर्जुन। जब देखो करो मेरा स्मरण। जो और प्रायश्चित अन्य। न चलेगा यहां।।९।। अतः श्रद्धा जो सात्विकी। आगे एक ही उसकी। करना रक्षा नीकी। सर्वोपरि तुम।।११०।। और करना वैसा संग। जिससे वर्धत। सात्विक का अंग।

Funding by IKS-MoE

वह प्रकाश से वंचित रहेगा?।।८८।। अपार धन खर्च करके किसीने विशाल महल बनाया, उस घर में थोड़ी देर रुकनेवाला पथिक भी वही सुख भोगता है।।८९।। जो तालाब खोदता है, क्या उसकी प्यास केवल तृप्त होती है, या खाना बनानेवाला रसोइया केवल भोजन करता है अन्य को क्या वह मिलता नहीं?।।९०।। अब तुम्हें बहुत क्या कहूं? क्या गंगा एक गौतम ऋषि के लिए है, अन्य समस्त जग के लिए वह क्या क्षुद्र झरना है?।।९१।। हे अर्जुन! जो कुशलता से शास्त्र का अनुष्ठान करता है, श्रद्धा से उसका अनुसरण करता है, वह मूर्ख भी तर जाता है।।९२।।

दंभ, अहंकार से युक्त लोग, अभिलाषा, आसक्ति आदि के बल पर शास्त्र संमति के विरुद्ध घोर तप का आचरण करते हैं।।५।।

स्वयं नाममात्र जानते नहीं, किंचित् प्रयत्न से शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, किसी शास्त्रज्ञ को गांव के सीमापर भी आने नहीं देते।।९३।। हे पार्थ! बड़ों की धर्मक्रिया देखकर खिल्ली उड़ाते हैं, एवं पंडितों के सम्मुख वे चुटकियां बजाते हैं।।९४।। अपने अहंकार से धन के दर्प से पाखण्ड पद से तप करनेवाले वे ढोंगी होते हैं।।९५।। उनके सम्मुख आनेपर वे शस्त्रों का प्रहार करते हैं, यज्ञ पात्र को रक्त मांस से वे भरते हैं।।९६।। प्रज्वलित अग्निकुंड में पिशाच्च को आहुति अर्पण करते हैं, मानता के लिए बालक का बली देते हैं।।९७।। क्षुद्र देवताओं को प्रसन्न करने अत्यंत दुराग्रह से, हे अर्जुन! एक सप्ताह अनुष्ठान करते हैं तब अन्न, त्याग करते हैं।।९८।। हे पार्थ! इस प्रकार से स्वयं अपने को एवं दूसरे को वे पीड़ा देते हैं, तमरूपी खेत में तमोगुण का बीज बोते है जिससे वह आगे अंकुरित होता है।।९९।। अपने बाहु समर्थ नहीं है, जो नौका में भी नहीं बैठता, उसकी समुद्र में दुर्गति होती है।।१००।। वैद्य का जो द्वेष करता है, अपने चरणों से औषधिरस को फेंक देता है, वह रोगी खास अपने जीवन से हाथ धोता है।।१।। हे पार्थ! जिसको नेत्र हैं उसका द्वेष करते हुये अपने ही नेत्र स्वयं फोड़ता है, उसको बाद में अंधा बनकर घर में ही बैठना पड़ता है।।२।। उन असुरों का वैसे होता है, जो मन से शास्त्रों की निंदा करता है, वह बन में मोह से स्वैर दौड़ता है।।३।। काम जो कराता है वह वे करते हैं, क्रोध जिसको मरवाता है उसको वे मारते हैं, किंबहुना मुझे दुःखरूपी दरड में डुबाते हैं।।४।।

शरीर में स्थित भूतसमूह को कृश करते हैं, शरीर में स्थित मुझे वे अविवेकी, दुःख देते हैं, उनको तुम आसुरी बुद्धि के समझना।।६।।

अपने या दूसरे के शरीर को, सबको जो दुःख देते हैं, उतनी सब मुझ आत्मा को पीड़ा होती है।।५।। वाचा के पल्लू से उन पापियों के मन को स्पर्श करना नहीं चाहिये, किंतु त्याग करने के लिये उनके विषय में कह दिया।।६।। प्रेत को बाहर निकालना पड़ता है, अंत्यज का त्याग करने के लिए उसके साथ बात करना चाहिये, गंदगी को धोने के लिये हाथ से स्पर्श करना पड़ता है।।७।। जिसमें शुद्धि का प्रयोजन है, उसका दोष नहीं लगता, अतः त्याग करने के लिए वर्णन किया गया।।८।। हे अर्जुन! तब तुम जब इनको देखोगे, तब मेरा स्मरण करना, अन्य प्रायश्चित की यहां आवश्यकता नहीं है।।९।। अतः जो सात्विकी श्रद्धा है, उस एक की उत्तम प्रकार से तुम रक्षा करना।।११०।। और ऐसा संग करना जिससे सात्विक श्रद्धा बढ़ेगी, सत्त्व वृत्ति बढ़नेवाला

Funding by IKS-MoE

लेना सत्त्ववृद्धिकर भाग। आहार में।।११।। देखो और वैसे ही। स्वभाव वृद्धि के लिये तुम ही। जो आहारबिन नाहीं। हेतु बली।।१२।। प्रत्यक्ष देखो सुवीरा। जो सावधान लेवे मदिरा। रहे होकर तत्क्षण बावरा। नशा में वह।।१३।। की जो सात्त्विक अन्नरस सेवत। वह भी वातश्लेश्म स्वभाव से व्याप्त। क्या ज्वर को शमवत। पयादिक उसको?।।१४।। वैसे जैसा लेना आहार। वैसा ही होवे धातु आकार। और धातु जैसा अंतर-। में वर्धत भाव।।१५।। नातर अमृत जिस प्रकार। सेवन से मरण टालत। या मृत्यु होवे प्राप्त। विष से जैसे।।१६।। देखो पात्र के ताप से। उदक भी भीतर तपत जैसे। धातुवश होत वैसे। चित्तवृत्ति।।१७।। अतः सात्त्विक रस सेविजे। तब ही सत्त्ववृद्धि पाईजे। राजस तामस होइजे। अन्य रस से।।१८।। अब सात्विक कौनसा आहार। राजस तामस का क्या आकार। कहूं यह करो आदर-। से श्रवण तुम।।१९।।

आहारस्त्वपि सर्वस्व त्रिविधो भवति प्रियः। यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु।।७।।

सर्वसामान्य जो आहार। हुए उसके तीन प्रकार। कैसे वही सविस्तर। कहूं अब।।१२०।। रुचि भोजन की जैसी किरीटि। वैसी पक्वान्न की निष्पत्ति। और भोजन को गुणों का निश्चिति। दास यहां।।२१।। जो जीव कर्ता भोक्ता। वह गुणवश स्वभावता। पाकर त्रिविधता। चेष्टत त्रिधा।।२२।। अतः त्रिविध आहार। यज्ञ भी त्रिप्रकार। तप ज्ञान और व्यापार। त्रिविध ही वे।।२३।। किंतु प्रथम आहार लक्षण। कहूं जो तुझको अर्जुन। वह करो श्रवण। नीका तुम।।२४।।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

जब दैवयोग से अर्जुन। जीव सत्व गुणसंपन्न। तब मधुरस में पूर्ण। रुचि उसकी।।२५।। स्वयं जो पदार्थ सुरस। अंग से जो मधुर खास। स्वतः स्निग्ध बहुवस। सुपक्व जो।।२६।। न बड़ा आकार में। अति कोमल स्पर्श में। स्नेहल स्वाद में। जिव्हा को जो।।२७।। जो नरम रसपूर्ण। द्रवभाव से परिपूर्ण। पेड़पर ही पक्व अर्जुन। अग्निताप से।।२८।। लघु अंग परिणाम थोर। जैसे गुरुमुख के अक्षर। वैसे अल्प में भी जिनसे अपार। तृप्ति पार्थ।।२९।। जैसे मुख में मधुर। परिणाम भी सुखकर। अन्त वह प्रीतिकर। सात्विकों को।।१३०।। एवं गुण लक्षण। सात्विक भोज्य जान। आयुष्य को नित्य पूजन। बलवर्धक।।३१।। ऐसे सात्विक रस से। जब देह में वर्षत जैसे। तब आयुष्य नदी पूर से। भरे दिन-दिन।।३२।। सत्वरक्षणार्थ किरीटि। कारण यही सुमति। कारण दिन की उन्नति। करे भानु जैसा।।३३।। और शरीर एवं मनसा। वह बल को आश्रय सा। ऐसे आहार में कैसी दशा। रोग को पार्थ?।।३४।। यह सात्विक होवे भोग्य। तब ही भोगना आरोग्य। शरीर को भाग्य। उदित जानो।।३५।। और सुख की लेन-देन। सुखमय विस्तार अर्जुन। वदे मित्रभाव

Funding by IKS-MoE

ही आहार लेना चाहिये।।१११।। वास्तविक देखिए, स्वभाव बनने के काम में आहार के बिना बलवान हेतु अन्य नहीं है।।१२।। हे धनुर्धर! प्रत्यक्ष देखो, जो सावधानी से मद्य पीता है, तत्क्षण वह नशे में बावला बनता है।।१३।। जो सात्त्विक अन्न सेवन करता है वह भी वात कफ से व्याप्त होता है, ज्वर आनेपर क्या दूध उसको शांत कर सकता है?।।१४।। वैसे जैसा आहार लेता है वैसा ही धातु का आकार होता है जैसा रक्त मांस आदि धातु बनते हैं वैसा ही अंतःकरण में भाव बढ़ता है।।१५।। जिस प्रकार से अमृत सेवन से मृत्यु टलता है, जैसे विष से मृत्यु प्राप्त होता है।।१६।। पात्र जब गरम होता है तब भीतर रखा जल भी ग़रम होता है, जैसी धातु होती है वैसी चित्त की वृत्तियां होती हैं।।१७।। अतः सात्त्विक अन्न का सेवन करने से सत्त्वगुण का विकास होता है, अन्य रस से राजस एवं तामस वृत्ति होती है।।१८।। अब सात्त्विक आहार कौनसा है, राजस, तामस का क्या आकार है, कहता हूं, तुम आदर से सुनो।।१९।।

प्राणिमात्र को प्रिय आहार तीन प्रकार का होता है, यज्ञ, तप एवं दान इनका भेद सुनो।।७।।

सर्वसामान्य जो आहार है, उसके तीन प्रकार हुए हैं, वह कैसे हुए अब सविस्तर सुनाता हूं।।१२०।। हे किरीटि! भोजन की रुचि जैसी होती है वैसे व्यंजन बनते हैं, भोजन करनेवाला गुणों का दास होता है।।२१।। जो जीव कर्ता एवं भोक्ता होता है, वह गुण के वश होकर स्वाभाविक रीति से तीन गुणों से युक्त होकर तीन प्रकार से व्यवहार करता है।।२२।। अतः तीन प्रकार का आहार, यज्ञ भी तीन प्रकार के तप, ज्ञान एवं व्यवहार भी तीन प्रकार का होता है।।२३।। किंतु प्रथम आहार का लक्षण, हे अर्जुन! तुझको कहता हूं, वह तुम अच्छी तरह से सुनो।।२४।।

आयुष्य, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति की वृद्धि करनेवाले सुरस, स्निग्ध, शरीर में बहुत समय रहनेवाला मन को आनंददायक ऐसा आहार सात्त्विक वृत्ति के लोगों को प्रिय होता है।।८।।

हे अर्जुन! दैवयोग से सत्त्वगुण से संपन्न होता है, तब मधुर रसपूर्ण पदार्थों में उसकी रुचि बढ़ती है।।२५।। स्वभावतः रसपूर्ण पदार्थ मीठे होते हैं, स्वाभाविक स्निग्ध एवं परिपक्व पदार्थ सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं।।२६।। आकार में बड़ा नहीं होता, स्पर्श अत्यंत कोमल होता है, स्वाद में जिव्हा को मधुर प्रतीत होता है।।२७।। जो नरम एवं रसपूर्ण है, तरलता से परिपूर्ण है, हे अर्जुन! पेड़ पर ही सूर्य की उष्णता से पके हुए हैं।।२८।। गुरु द्वारा उपदेशित शब्द छोटे होते हैं किंतु उनका पराक्रम विशाल होता है, तद्वत हे पार्थ! थोड़े आहार में असीम तृप्ति प्राप्त होती है।।२९।। मुख के स्वाद के लिये मीठे जिसका परिणाम सुखकर होता है, ऐसे अन्न के प्रति सात्त्विक लोगों का प्रेम होता है।।१३०।। गुण एवं लक्षण सात्त्विक भोजन का तुम जानो, वह आयुष्य में नित्य नूतन बल बढ़ानेवाला होता है।।३१।। ऐसे सात्त्विक रस से जब देह में मेघ वर्षा होती है तब आयुष्य की नदी पूर से दिनोंदिन भरती है।।३२।। हे किरीटि! सात्त्विक गुण के रक्षणार्थ, हे सुमति! वही कारण होता है, जैसा सूर्य दिन को विकसित करता है।।३३।। एवं शरीर तथा मन (बल को) शक्ति को आश्रय है, हे पार्थ! इस प्रकार से आहार लेने से रोगों का अस्तित्व कहां रहेगा?।।३४।। सात्त्विक आहार सेवन करने से आरोग्य भोगने के लिए शरीर का भाग्योदय होता है।।३५।। और सुख का लेना देना, हे अर्जुन! सुख का ही विस्तार करता है, पूर्ण आनंद से मित्रभाव

Funding by IKS-MoE

पूर्ण। आनंद से।।३६।। ऐसा सात्विक आहार। परिणाम में अति सुखकर। करे यह उपकार। सबाह्य को।।३७।। अब राजस से प्रीति। जिन रसों में किरीटि। उसकी करूं अभिव्यक्ति। प्रसंगानुसार।।३८।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

तब मारकपन जैसे रहित। कटु जैसे कालकूट। या चूना से भी दाहक पार्थ। और आम्ल अति।।३९।। पानी आटे में जितना। डाले नमक अन्न में उतना। और भी उसमें मिलाना। रस नमकयुक्त।।१४०।। इसविध नमकीन अपार। राजस को अतिप्रियकर। गरम इतना कि मुख से सुवीर। निगलत अग्नि ही।।४१।। भाप के अग्रपर पार्थ। बाति भी रखे तो जलत। ऐसे उष्ण पदार्थ मांगत। राजस वह।।४२।। वक्रवात से भी अधिक। सब्बल सा प्रहारक। वैसे वह खावे तीख। छेदत घावबिन जो।।४३।। और राख से भी रुक्ष। अंतर्बाह्य समान एक। व्यंजन वह जिव्हादंशक। भाये बहुत उसको।।४४।। दांत के ऊपर दांत। चबाते घर्षण होता। ऐसे कठिन पदार्थ खात। होवे संतोष उससे।।४५।। पहले ही वस्तु चिरपिर। ऊपर डाले बघार। जिसके खाते होवे धुंवार। नाक मुख।।४६।। आग को भी पीछे करत। ऐसे तीक्ष्ण अत्यंत। वह प्राण से प्रिय पार्थ। राजस को।।४७।। ऐसा अतृप्त भूखा संतत। जिव्हाने किया भ्रमिष्ट। अन्न मिष से भड़भड़ भरत। अग्नि ही पेट में।।४८।। लौंग सोंठ मुख में मुरावत। भूमीपर लोट-पोट होवत। पानी का कभी न छूटत। पात्र मुख से।।४९।। तब न यह अन्न। व्याधिव्याल निद्रित अर्जुन। यह विषैला मदिरापान। जगाने को उसको।।१५०।। तब एक-एक की स्पर्धा से। उठत रोग एक साथ जैसे। राजस आहार फलत ऐसे। केवल दुःख।।५१।। इसविध राजस आहार। रूप उसका धनुर्धर। परिणाम का विस्तार। निरूपित तुझको।।५२।। अब सुनो तामस-। को प्रिय जो आहार खास। सुनकर जिसको घृणा विशेष। आवेगी तुझको।।५३।। सड़ा गला खाते पार्थ। न जाने अपना अहित। भैंस जैसे खात जात। भोजन बासा।।५४।।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

सबेरे का पका अन्न। दोपहर या दूसरे दिन। अति प्रीत से तामस अर्जुन। भक्षत वह।।५५।। नातर अर्धपक्व। या केवल जली राख। रसहीन निःशेख। खावे जो।।५६।। जिसकी हुई पूर्ण निष्पत्ति। जहां इसकी सुरस व्यक्ति। वह ऐसी प्रतीती। तामस को नाहीं।।५७।। कभी कहीं कदाचित्। सदन्न उसको प्राप्त। सड़ने तक रखत। व्याघ्रसमान।।५८।। रखा जो बहुत दिन। हुवा पूर्ण स्वाद हीन। 'शुष्क या सड़ा अर्जुन। या फूला हुवा जो।।५९।। या बालक के हाथ से। किया कर्दभ जैसे। या एक थाली में गोत्रज जैसे। खिचडी खावे।।१६०।। ऐसी निकृष्ट सेवे अन्न। तब

Funding by IKS-MoE

बढ़ता है।।३६।। ऐसा सात्त्विक आहार परिणाम में अत्यंत सुखकारक होता है। अंतर्बाह्य वह उपकार करता है।।३७।। अब राजस को प्रेम जिन रसों में होता है, हे किरीटि! प्रसंग के अनुसार उसको प्रकट करता हूं।।३८।।

तीखा, खट्टा, ज्यादा नमकवाला, अत्यंत उष्ण, तीक्ष्ण, रुक्ष, दाह उत्पन्न करनेवाला ऐसा आहार रजोगुण की वृत्तिवाले लोगों को प्रिय होता, यह दुःख, शोक एवं रोग प्राप्त करानेवाले होते हैं।।९।।

प्राणहरण नहीं करते किंतु कालकूट विष के समान कड़वा या चूने से भी अधिक जलानेवाला हे पार्थ! अत्यंत खट्टा।।३९।। जितना पानी आटे में डाला जाता उतना नमक अन्न में डालते हैं, अन्य पदार्थों में भी उतना ही नमक होता है।।१४०।। इस प्रकार से अत्यंत नमक युक्त पदार्थ असीम मात्रा में राजसगुणी मनुष्य को प्रिय होते हैं, हे सुवीर! इतना गरम खाते हैं कि मानो मुख से अग्नि निकलता है।।४१।। हे पार्थ! भाप के अग्रपर बाति रख दिया जावे, तो वह जल उठेगी, ऐसा उष्ण पदार्थ वह रजोगुणी मांगता है।।४२।। चक्रवात से भी अधिक एवं सब्बल जैसा प्रहार करने वाला तीखा पदार्थ वह खाता है, जो घाव के बिना छेदता है।।४३।। राख से भी रुक्ष, अंतर्बाह्य एक समान जिव्हा को दंश करनेवाले पदार्थ उनको अत्यंत प्रिय होते हैं।।४४।। दांत के ऊपर दांत किटकिटाते हैं। तब चबाते हुये घर्षण होता है, ऐसे घर्षण पदार्थ खाते हुए उन्हें संतोष प्रतीत होता है।।४५।। पहले ही वस्तु तीखी बनाते हैं, उसमें ऊपर बघारते हैं, जिसको खाने से नाक मुंह से धुंवा निकलता है।।४६।। आग को भी पछाड़ते हैं, ऐसे तीक्ष्ण पदार्थ राजसगुणी लोगों को प्राण से प्रिय होते हैं।।४७।। वह नित्य अतृप्त, भूखा रहता है, मानो जिव्हाने उसको भ्रमित किया हो, अन्न के निमित्त मानो प्रज्वलित अग्नि ही पेट में भरता है।।४८।। लोंग, सोंठ, मुंह में रखता है, जतन होने से भूमि पर लोट-पोट होता है, पानी का पात्र कभी मुख से छूटता नहीं।।४९।। यह अन्न नहीं है, व्याधि रूपी सांप को, जो सोया हुआ है, उसको हे अर्जुन! जगाने के लिये यह विषैला मदिरापान है।।१५०।। सब एकेक की स्पर्धा से एक साथ रोग उठते हैं, राजस आहार ऐसा फलता है जो केवल दुःख ही देता है।।५१।। इस प्रकार से राजस आहार का रूप, हे धनुर्धर! परिणाम के विस्तार सहित तुम्हें बताया है।।५२।। अब तामस गुण सुनो। तामस गुण के लोगों को जो आहार प्रिय होता है उसको सुनकर घृणा उत्पन्न होगी।।५३।। हे पार्थ! सड़ा गला खाते हैं, अपना अहित नहीं जानते, जैसे भैंस बासा भोजन खाती जाती है।।५४।।

जो अन्न तैयार होकर प्रहर से अधिक समय हो गया हैं, जिसका ताजा रस-गंध समाप्त हुआ है, दुर्गंधयुक्त, एक दिन पहले बनाकर रखा हुआ जूठ, सदोष ऐसा भोजन तमोवृत्ति के लोगों को प्रिय होता है।।१०।।

सबेरे का पका अन्न दोपहर या दूसरे दिन, हे अर्जुन! अत्यंत प्रेम से तामसगुणी खाते हैं।।५५।। नहीं तो आधा पका या केवल जली राख, संपूर्ण रसहीन खाना, उन्हें पसंद आता है।।५६।। जिसको पूर्ण पकाकर बनाया है, स्वादिष्ट है, उसका अनुभव तामस नहीं लेता।।५७।। कभी कहीं कदाचित् अच्छा अन्न उसको प्राप्त हुआ तो भी बाघ के समान सड़ने तक उसको रखता है।।५८।। जो बहुत दिन तक रखा हुआ है, जो पूर्ण स्वादहीन हुआ है, हे अर्जुन! सूख गया हो या सड़ा हो या जो फूल गया है।।५९।। या बालक के हाथ से, उसको कीचड़ जैसे किया हो, या एक थाली में जैसे गोत्रज खिचड़ी खाते हैं, वैसे।।१६०।। ऐसा निकृष्ट अन्न वह सेवन करता है, तब ही उसका भोजन सुखपूर्वक हुआ, ऐसा उसको लगता है, किंतु इसमें भी उस पापी को समाधान नहीं

ही होवे सुखभोजन। किंतु इसमें भी न समाधान। पापी को उस।।६१।। देखो
चमत्कार अद्भुत। जो पदार्थ दूषित। और शास्त्र मानत। निषिद्ध जिसको।।६२।।
उस अपेय का पान। अभक्ष का भक्षण। वृत्ति होवे उत्तान। तामसों की।।६३।। ऐसे
आहार में तामस। इच्छा जिसकी विशेष। उसका फल भी खास। पावे
तत्क्षण।।६४।। ऐसा अन्न अपवित्र। स्पर्शत उसका वक्त्र। तब ही जानो पाप को
पात्र। हुवा वह।।६५।। इसविध जो भोजन। वह भोजन की न रीत अर्जुन। वह तो
पेट में भरण। यातनाओं का।।६६।। क्या दुःख शिरच्छेद का। या अग्नि प्रवेश का।
क्या अनुभव लेना इनका। किंतु सहत वह।।६७।। अतः तामस अन्न। का परिणाम
और भिन्न। कहना न आवश्यक अर्जुन। कहत देव।।६८।। अब इसके उपरान्त।
आहार के समान पार्थ। यज्ञ भी त्रिद्या यथार्थ। सुनो तुम।।६९।। तब तीनों में जो
प्रथम। सात्विक यज्ञ का मर्म। सुनो हे सुमहिम-। शिरोमणि।।७०।।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

तब एक प्रियोत्तम-। बिन बढ़ने न दे काम। जैसा कि यह मनोधर्म। पतिव्रता
का।।७१।। या सिंधुतक पहुंचकर पार्थ। गंगा न आगे बढ़त। या वेद रहत निवान्त।
आत्मदर्शन उपरान्त।।७२।। वैसे स्वहित में किरीटि। समर्पित अशेष चित्तवृत्ति।
नष्ट करत अहंकृती। फलकी जो।।७३।। पहुंचकर वृक्षमूल। पीछे न मुड़त जल।
विलीन होत निखिल। अंग में उसके।।७४।। वैसे देह और मन-। से यज्ञकर्म में
निमग्न। समर्पित जो पूर्ण। कामनारहित।।७५।। वे फलवांछ त्यागी। एक स्वधर्म
बिन विरागी। यजल यज्ञ सर्वांगी। सुअलंकृत।।७६।। और दर्पण में अपने को अपने
से। नयनों से निरखत जैसे। या हथेली पर दीप से। देखनारत्नपार्थ।।७७।। अथवा
उदित जब दिनकर। मार्ग होवे दृष्टिगोचर। वैसा वेद पालनकर। निर्धार से।।७८।।
वे कुंड मंडप वेदी। और भी यज्ञसमृद्धि। जुटावत जैसे विधि। स्वयं प्रत्यक्ष।।७९।।
सकल अवयव में उन्नित। पहनकर अलंकार पार्थ। जहां के वहां पदार्थ।
व्यवस्थित।।१८०।। बहुत क्या कहे धनुर्धर। जैसी सर्वाभरण से सजकर। आई
यज्ञविद्या साकार। यज्ञमिष से।।८१।। वैसा यथासांग। पूर्ण होवे यह याग। न
रखकर कुछ लाग। मन में कुछ।।८२।। प्रतिपालन कीजे इसप्रकार का। पानी
सींचकर तुलसी का। किंतु उसमें फल-पुष्प छाया का। मोह नाहीं।।८३।। किंबहुना
फलाशा बिन। इस युक्ति से परिपूर्ण। होवे जो यज्ञ वही जान। सात्विक पार्थ।।८४।।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्। इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

अब यज्ञ दूजा वीरेशा। करत इसके सरिसा। किंतु श्राद्ध के लिये जैसा। निमंत्रित
नृत।।८५।। राजा यदि घर में आवेगा। उपयोग बहुत होवेगा। और कीर्तिमान भी
पावेगा। होगा श्राद्ध भी।।८६।। रखकर ऐसी कामना किरीटि। कहे होगी सहज

Funding by IKS-MoE

होता।।६१।। अद्भुत चमत्कार देखो। जो पदार्थ दूषित होता है और शास्त्र जिसको निषिद्ध समझता है।।६२।। उसे पीने के लिये अयोग्य का वह पान करता है, जो खाना नहीं चाहिये वह खाता है, अतः उन तामसी लोगों की वृत्ति उन्नत होती है।।६३।। ऐसे तामस आहार में जिसकी विशेष इच्छा होती है, उसका फल भी तत्क्षण उन्हें मिलता है।।६४।। ऐसा अपवित्र अन्न का उनके मुख को स्पर्श होता है, तब ही वह पाप को पात्र हुआ है, यह निश्चित जानना।।६५।। इस प्रकार का जो भोजन होता है, हे अर्जुन! वह भोजन करने की पद्धति नहीं होती, वह तो यातनाओं को पेट में भरना है।।६६।। शिरच्छेदसे क्या होता है, अथवा अग्नि में प्रवेश करके कैसा लगता है, उसका क्या अनुभव लेना पड़ता है, किंतु वह सहता है।।६७।। अतः तामस अन्न का परिणाम भिन्न प्रकार से होता है, हे अर्जुन! कहना आवश्यक नहीं है, ऐसा देव कहते हैं।।६८।। अब इसके उपरांत, आहार के समान, हे पार्थ! यज्ञ भी तीन प्रकार का होता है, उसको तुम सुनो।।६९।। तब तीनों में जो प्रथम सात्त्विक यज्ञ है उसका मर्म, हे कीर्तिमंत लोगों में श्रेष्ठ अर्जुन! तुम सुनो।।१७०।।

फलाकांक्षा जो रखते नहीं, विधि का अनुसरण करते हुये कर्तव्य समझकर, समाधानयुक्त मनसे जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ है।।११।।

हे प्रियोत्तम! पतिव्रता अपने मन का संकल्प पति के बिना अन्य स्थान पर जाने नहीं देती।।७१।। हे पार्थ! सागर तक पहुंचकर गंगानदी आगे नहीं बढ़ती, या आत्मदर्शन होने के बाद वेद शांत रहते हैं (नेतिनेति कहते हैं)।।७२।। वैसे हे किरीटी! अपने हित में अपनी संपूर्ण अंतःकरण की वृत्तियां समर्पित करते हुए फल का अहंकार जो नष्ट करते हैं।।७३।। वृक्ष की जड़ में पहुंचकर जल पीछे नहीं मुड़ता, उसके शरीर में वह विलीन होता है।।७४।। वैसे देह एवं मन से यज्ञकर्म में निमग्न रहता है वह कामनारहित होते हुए पूर्ण समर्पित रहता है।।७५।। वे फल की इच्छा का त्याग करते हैं, एक स्वधर्म के बिना उसका मन अनासक्त होता है, सर्व अंग से परिपूर्ण यज्ञ वे करते हैं।।७६।। दर्पण में जैसे अपने आपके नेत्र देखते हैं, हथेली में लेकर दीपक के प्रकाश में जैसे रत्न को देखते हैं।।७७।। सूर्योदय होने पर सब मार्ग दिखने लगते हैं, वैसा वेदों की आज्ञा का निश्चय से पालन करके,।।७८।। वे कुंड, मंडप, वेदी और भी यज्ञ सामग्री जैसे प्रत्यक्ष ब्रह्मा स्वयं यथासांग सामग्री जुटाता हैं, वैसे वे जुटाते हैं।।७९।। अवयवों पर जैसे उचित अलंकार योग्य स्थान पर पहनते हैं, वैसे जहां जो चाहिये वहां वह पदार्थ व्यवस्थित रखते हैं।।१८०।। हे धनुर्धर! बहुत क्या कहूं? सर्व अलंकार से सजकर, यज्ञविधि, यज्ञ के रूप में साकार होकर उपस्थित हुई हैं।।८१।। वैसा यथासांग यज्ञ पूर्ण होता है, मन में कुछ इच्छा नहीं होती।।८२।। तुलसी के पौधे का उत्तम पालन करना चाहिये, इस प्रकार से निरीक्षण करना चाहिये, जिसमें फल, पुष्प, छाया का मोह नहीं होता।।८३।। किंबहुना फलाशा के बिना, इस युक्ति से जो यज्ञ पूर्ण होता है, वही यज्ञ हे पार्थ! सात्त्विक होता है।।८४।।

हे भरत श्रेष्ठ, क्रिया से ऊपर निर्दिष्ट किंतु मन में फल की आशा रखकर, दांभिकता से जो यज्ञ किया जाता है वह राजस यज्ञ है।।१२।।

हे वीरेश! अब दूजा यज्ञ इसके जैसा ही करते हैं, किंतु श्राद्ध के लिये जैसे राजा को निर्मंत्रित करते हैं।।८५।। राजा यदि अपने घर आवेगा तो उसका बहुत उपयोग होगा, कीर्ति होगी, श्राद्ध भी रुकेगा नहीं।।८६।। ऐसी कामना रखकर हे किरीटी! वह कहता है, मुझे सहज स्वर्ग प्राप्ति होगी, लोग मुझे

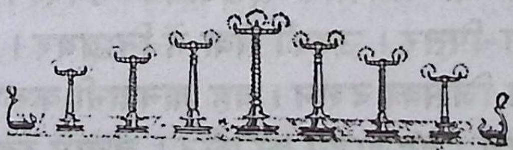

Funding by IKS-MoE

स्वर्ग प्राप्ति। दीक्षितपन की जग में कीर्ति। साधे यज्ञ भी।।८७।। ऐसे फलप्राप्ति सिद्धयर्थ। जग में प्रसरने महत्व। यज्ञनिष्पत्ति जो पार्थ। राजस वह।।८८।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

और पशु-पक्षी विवाह में कोई। कामबिन जोशी नाही। वैसा तामस को दुराग्रह ही। मूल जानो।।८९।। वायु यदि शोधे बाट। मरण यदि देखे मुहूरत। या निषिद्ध का असे धरत। अग्नि यदि।।१९०।। तब ही तामस के आचार-। को मर्यादा धनुर्धर। अतः वह साचार। उच्छशृंखल।।९१।। नहीं विधि का यहां नियम। मंत्रादिक का नहीं काम। मक्षिका का न पाये कण इतना संयम। अन्नदान में।।९२।। वैरभाव रखे ब्राह्मण से। वहां दक्षिणा का विचार कैसे?। अग्नि सहायक जैसे। वायु को पार्थ।।९३।। व्यर्थ संपत्ति व्यय। श्रद्धा का नाम न कौंतेय। मरण पश्चात निपुत्रिक का गृह। लूटत जैसे।।९४।। ऐसा जो यज्ञभास। नाम उसको याग तामस। सुनो कहत निवास। श्री का वह।।९५।। गंगा का एक पानी वैसा। गया भिन्न मार्गों से सहसा। लावे एक को मैल जैसा। शुद्धत्व दूजे को।।९६।। वैसे तीनों गुणों से तप। यहां हुआ त्रिरूप। किया वह एक को दे पाप। उद्धरत एक को।।९७।। जानना यदि कारण। तब प्रथम तप लक्षण। एक तप के भेद तीन। जानो तुम।।९८।। जिसको कहत तप। उसका दिखाऊं स्वरूप। पश्चात कहूं रूप। गुणभेद से।।९९।। तब जो सम्यक्। वह भी त्रिविध देख। शारीर मानसिक। शाब्दिक पार्थ।।२००।। इन तीनों में सुवीर सुनो तप शारीर। शंभु और श्रीधर-। को प्रिय जो।।१।।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

उस प्रिय देवतालय-। में यात्रादिक करते कौंतेय। आठो प्रहर घूमत पांव। लट्टू जैसे।।२।। देवांगन सुशोभित करने। अंगोपचार जुटाने। देवताओं की सेवा करने। शोभत हाथ।।३।। लिंग या प्रतिमा दृष्टि-। से देखत तत्क्षण किरीटि। लोटत जैसी लाठी। गिरे जैसी।।४।। और विधि विनय संपन्न। जग में श्रेष्ठ ब्राह्मण। उनका करे पादपूजन। मनोभाव से।।५।। प्रवास पीड़ा से श्रान्त। अथवा संकट से ग्रस्त। ऐसे जीव जो समस्त। सुखदायक उनको।।६।। सकल तीर्थों से धनुर्धर। श्रेष्ठ जो माता-पितर। उनकी सेवा में निछावर। करे शरीर।।७।। इस संसार में दारुण। हरे पीड़ा जिसका दर्शन। वह ज्ञानदानी करुण। गुरु को भजे।।८।। और स्वधर्म अंगिठी में पार्थ। देहजाड्य का कीट। जलाये स्वाध्याय का पुट। देकर जो।।९।। भूतमात्रस्थ वस्तु को बंदन। भजे परोपकार अर्जुन। स्त्री विषय में नियमन। सर्वतोपरि।।२१०।। केवल जन्मप्रसंग में। स्त्री देह स्पर्शत अंर्ग। आगे सर्वथा न लाग। आमरण जिसको।।११।। भूतमात्र के नाम से पार्थ। तृण को भी न ताडत। किंबहुना यत्न से छांडत। छेदभेद।।१२।। ऐसा जब आचरण-। का अभ्यास शरीर को अर्जुन। तब

Funding by IKS-MoE

दीक्षित समझकर मान्यता देंगे, यज्ञ भी होगा।।८७।। ऐसे फल प्राप्ति की इच्छा से, जग में अपनी कीर्ति बढ़ाने के लिये, जो यज्ञ करता है, हे पार्थ! वह राजस यज्ञ है।।८८।।

शास्त्र विधि को छोड़कर किया गया, जिसमें अन्न नहीं दिया जाता, ऐसा मंत्रहीन, दक्षिणा रहित, श्रद्धा विरहित, किया गया यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है।।१३।।

और पशु-पक्षिओं के विवाह में कामना के बिना अन्य ब्राह्मण विवाह के लिए नहीं होता, वैसा तामस यज्ञ का मूल दुराग्रह होता है।।८९।। वायु,यदि मार्ग ढूंढ़ता है, मृत्यु यदि मुहूर्त देखता है, या अग्नि यदि निषिद्ध पदार्थ का भय रखता।।१९०।। तब तमोगुणी पुरुष के आचार को वेदविधि का बंधन होगा, अतः हे धनुर्धर! तमोगुणी पुरुष का आचरण उच्छश्रृंखल होता है।।९१।। यहां विधि नियमों का पालन नहीं होता, मंत्र आदि का कोई काम नहीं होता, मक्खी के मुख से कोई अन्न जैसे छूटता नहीं।।९२।। ब्राह्मण से शत्रुत्व रहता है, वहां दक्षिणा का विचार कहां होगा? हे पार्थ! वायु को जैसी अग्नि की सहायता होवे।।९३।। संपत्ति व्यर्थ खर्च की जाती है, हे कौंतेय! वहां श्रद्धा का नाम सुनाई नहीं देता, मृत्यु के पश्चात् जैसे निपुत्रिक का घर लूटते हैं।।९४।। ऐसा जो यज्ञ का बाह्य आभास से निर्माण किया जाता है, वह तामस यज्ञ है, श्रीनिवास कहते हैं अब सुनो।।९५।। गंगाजल जब आकस्मित भिन्न मार्ग से गया, वह एक को अमंगल एवं दूजे का उद्धार करता है।।९६।। वैसे तीन गुणों से तप यहां तीन प्रकार का हुआ है, एक को वह पाप देता है दूजे को उद्धार करता है।।९७।। उसका कारण यदि जानना है, तब प्रथम तप के लक्षण तीन भेदों सहित तुम जानना।।९८।। जिसको तप कहते हैं, उसका स्वरूप दिखाता हूं, उसके पश्चात उसका रूप गुणभेद से कहूंगा।।९९।। शुद्ध तप, शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक ऐसा तीन प्रकार का है, उसको सुनो।।२००।। इन तीनों में शारीरिक तप सुनो, शंभु एवं श्रीधर को वह प्रिय है।।१।।

देव, ब्राह्मण, माता-पिता एवं गुरु का पूजन, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा को शरीर तप कहते हैं।।१४।।

प्रियदेवता के मंदिर में यात्रा करने के लिये हे कौंतेय! साधक आठों प्रहर लहू के समान घूमता रहता है।।२।। मंदिर का आंगन सुशोभित करने, पूजन के उपचार जुटाने, देवताओं की सेवा करने से हाथ की शोभा बढ़ती है।।३।। लिंग या प्रतिमा को देखते ही, हे किरीटी! दंडवत करने के लिये जो भूमिपर लेटता है।।४।। शास्त्रोक्त आचरण एवं नम्रता इन गुणों से ब्राह्मण जग में श्रेष्ठ होते हैं, उनकी चरण सेवा जो मनःपूर्वक करता है।।५।। प्रवास से, कष्ट से, जो थक गया है, अथवा संकटों से जो त्रस्त हुआ है, ऐसे जीव को वह सुख देता है।।६।। हे धनुर्धर! सब तीर्थों में श्रेष्ठ, माता-पिता होते हैं, उनकी सेवा में जो अपना शरीर निछावर करता है।।७।। भयंकर संसार में जिसके दर्शन से सब कष्ट नष्ट होते हैं, ज्ञान का दान करनेवाले कृपालु गुरु को जो भजता है।।८।। स्वधर्मरूप अग्नि में देह अहंकाररूपी मल को बारबार स्वधर्माचरण करके उसके दोष स्वाध्याय से जो नष्ट करता है।।९।। भूतमात्र में प्रभु का निवास है ऐसा समझकर जो प्रणाम करता है, हे अर्जुन! परोपकार करने में जो तत्पर होता है, स्त्री विषय में सर्वतोपरि नियमन करता है।।२१०।। केवल जन्म के समय माता के स्त्री देह को स्पर्श होता है, पश्चात शरीर को स्त्री देह का स्पर्श मृत्यु तक नहीं होने देता।।११।। हे पार्थ! भूतमात्र के नाम से घास को भी नहीं मारता, बहुत क्या बतावें? तोड़फोड़ भी नहीं करता।।१२।। ऐसा जब शरीर का आचरण होता है तब हे अर्जुन! शारीर तप साकार होता

Funding by IKS-MoE

साकार जानो पूर्ण। शारीर तप।।१३।। यह जो करना समस्त। मुख्यतः शरीर से ही पार्थ। इसकारण इसको कहत। शारीर तप।।१४।। एवं शारीर जो तप। उसका दिखाया रूप। अब सुनो हे निष्पाप। वाङ्गमय तप जो।।१५।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वांगमयं तप उच्यते।।१५।।

तब लोह का अंग आकार। न किंचित भी बदलकर। किया सुवर्ण साचोकार। पारस ने जैसे।।१६।। वैसे न पीड़ा देकर किसीको। सुख होवे साथ वालों को। ऐसा साधुत्व जिस वाचा को। धनुर्धर।।१७।। पानी वृक्षमूल को जावे। तृण अनायास जीये। वैसे बोले एक को सबको होवे। हितकर वह।।१८।। अमृत की सुरसरी यदि प्राप्त। प्राणियों को अमर करत। स्नान से पाप ताप नाशत। देवे मधुरता भी।।१९।। वैसे अविवेक भी नष्ट। अपना अनादित्व लभत। श्रवण से रुचि न घटत। अमृतसम।।२२०।। कोई यदि करे प्रश्न। तब ही करे भाषण। अन्यथा सदा अवर्तन। वेदाध्ययन का।।२१।। ऋग्वेदादि की न। प्रतिष्ठित वांगभुवन में अर्जुन। होवे जिनका वदन। ब्रह्मशाला स्वयम्।।२२।। नातर नाम एकमेव। शैव अथवा वैष्णव। सदा वाचा में वाग्भवव-। तप जान।।२३।। अब तप जो मानसिक। वह भी कहूं सुनो देख। कहत लोकनाथ नायक-। नायक वह।।२४।।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

तब सरोवर तरंग ने। छोड़ा आकाश मेघ ने। अथवा उद्यान उरग ने। चंदन का जैसे।।२५।। कलावैषम्य बिन चंद्र। चिंता रहित नरेंद्र। अथवा क्षीरसमुद्र। मंदराचलबिन।।२६।। वैसा नाना विकल्पजाल। निर्मूल होवे सकल। मन निमग्न केवल। स्वरूप में पार्थ।।२७।। तपन बिन प्रकाश। जाड्य विहीन अन्नरस। अंतराल बिना आकाश। रहे जैसा।।२८।। वैसे होवे जब आत्मज्ञान। चांचल्य हीन होवे मन। शीतल शीत से शीतांगपूर्ण। न बाधे शीत जैसे।।२९।। निश्चल और कलंक बिन। शशीबिंब जैसे परिपूर्ण। वैसे आत्मरूप में स्थिर मन। आनंदमय।।२३०।। नष्ट वैराग्य की चाड़। लुप्त मन की भड़ भड़। वहां निजबोध का सुघड़। वाष्प शेष।।३१।। अतः चिंतन करने शास्त्र। उपयोग करना वक्त्र। न धरे वह वाचा का सूत्र। हस्त में पार्थ।।३२।। स्वरूप का जब होवे ज्ञान। नष्ट मन का मनपन। लुप्त जैसे लवण का लवणपन। जलस्पर्श से।।३३।। वहां कैसे उभरत भाव। इंद्रियमार्ग में जिनकी धाव। कैसा प्राप्त उनको गांव। विषय भोग का।।३४।। अतः ऐसे मन को। भावशुद्धि सहज उसको। रोमशुचि जैसी तलहस्त को। धनुर्धर।।३५।। और क्या कहूं अर्जुन। ऐसी अवस्था पावे मन। तब मनोतपोभिधान-। को पात्र वह।।३६।। ऐसा मानस तक का लक्षण। यहां निरूपित संपूर्ण। अर्जुन को कहे श्रीकृष्ण। नीका जानो।।३७।। एवं देह वाचा मन से। त्रिविधत्व पावत जैसे। तप वह सामान्य रूप

है।।१३।। यह सब जो करना है वह सब शरीर से ही मुख्यतः करना है, इस कारण से इसको शारीर तप कहते हैं।।१४।। शरीर तप का लक्षण बताया है, अब हे निष्पाप अर्जुन! वाड्गमय तप सुनो!।।१५।।

दूसरों को दुःख न देनेवाला, सत्य, प्रिय एवं हितकर वाक्य, स्वाध्याय आदि को वाड्मय तप कहते हैं।।१५।।

लोहे का आकार न बदलते हुए पारस लोहे को सुवर्ण बनाता है।।१६।। वैसे कष्ट न देते हुए साथ में रहनेवालों को जिसकी वाणी से सुख होता है, हे धनुर्धर! ऐसा साधुत्व जिस वाणी में होता है,।।१७।। वृक्ष की जड़ में जल जाता है, तब उसके मार्ग में जो तृण रहता है वह अनायास बढ़ता है, वैसे एक को कहने से सबके लिए वह हितकर होता है।।१८।। जब अमृत की गंगा नदी प्राप्त होती है तब वह प्राणियों को अमर करती है, स्नान से पाप एवं ताप का हरण करती है, पीने से मधुरता प्राप्त होती है।।१९।। तद्वत अज्ञान नष्ट होता है, अनादित्व प्राप्त होता है, कितना भी सेवन करने से उबकाई नहीं आती, तद्वत वह वाणी मधुर प्रतीत होती है।।२२०।। कोई यदि प्रश्न करता है तब ही भाषण करता है, अन्यथा सदा वेदों का आवर्तन करता रहता है।।२१।। ऋगवेद आदि तीन वेद, हे अर्जुन! वाणीरूपी मंदिर में प्रतिष्ठित किये जाते हैं, उनका मुख वेद शाला ही बनती है।।२२।। शिव का या विष्णु का नाम नित्य वाणी में रहता है, वही वाड्मय तप समझना।।२३।। अब जो मानसिक तप है वह कहता हूं सुनो, ऐसे लोगों के नाथ श्रीकृष्ण कहते हैं।।२४।।

मन की प्रसन्नता, सौम्यत्व, मौन वृत्ति, आत्मसंयम, कल्पना विरहित अंतःकरण की शुद्ध स्थिति को मानस तप कहते हैं।।१६।।

तरंगों ने सरोवर को छोड़ दिया, आकाश को मेघों ने छोड़ दिया, चंदन का उद्यान सांपों ने छोड़ दिया।।२५।। कलाओं ने प्रतिदिन बढ़ना या घटने की क्रिया ने चंद्रमा को छोड़ दिया, राजा चिंतारहित हुआ, या मंदारपर्वत ने क्षीरसागर को छोड़ दिया।।२६।। वैसा विविध विकल्प समूहों ने मन को छोड़देने पर केवल अपने स्वरूप में रहता है।।२७।। सूर्य के बिना प्रकाश, जडत्व के बिना अन्नरस, अंतराल के बिना आकाश जैसा रहता है।।२८।। वैसे जब आत्मज्ञान होता तब मन की चंचलता का नाश होता है जैसे शीतलता का अपना शरीर शीत से परिपूर्ण होने पर भी उसको शीत की बाधा नहीं होती।।२९।। निश्चल एवं कलंक विरहित जैसे पूर्ण चंद्र बिंब होता है वैसे आत्मरूप में मन स्थिर होते ही वह आनंदमय होता है।।२३०।। वैराग्य की इच्छा समाप्त होती है, मन की व्याकुलता समाप्त होती है, वहां आत्मज्ञान की आर्द्रता शुद्ध तैयार हो जाती है।।३१।। अतः शास्त्रों का चिंतन करने के लिए मुख का उपयोग करना, हे पार्थ! वह मुख वाणी का उपयोग ही नहीं करता (मौन रहता है)।।३२।। जब आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है, तब मन का मनपन नष्ट होता है, जल का स्पर्श होने से नमक का नमकपन समाप्त होता है।।३३।। वहां कौन से भाव उत्पन्न होते हैं, इंद्रियों के मार्ग से जिनकी दौड़ रहती है, उनको विषयभोग का गांव कैसा प्राप्त होगा।।३४।। अतः ऐसे मन की सहज भाव शुद्धि होती है, हे धनुर्धर! हथेली में रोमविरहित स्वच्छता स्वाभाविक होती है।।३५।। हे अर्जुन! और क्या कहूं? मन की ऐसी अवस्था होती है, तब वह मानसिक तप के संज्ञा को प्राप्त होता है।।३६।। ऐसा मानस तप का लक्षण है, संपूर्ण निरूपण करते हुये श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं तुम उत्तम रीति से सुनो।।३७।। एवं शरीर, वाणी एवं मन से त्रिविधता प्राप्त होती है, सामान्य रूप से तुम्हें तप सुनाया

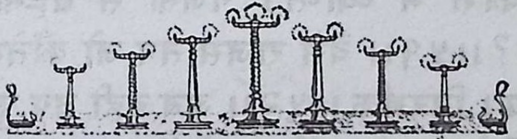

से। सुनाया तुझको।।३८।। अब गुणत्रय संग से पार्थ। पावे यही विशेष त्रिविधत्व। वह भी सुनो समस्त। प्रज्ञाबल से।।३९।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

तब यही तप त्रिविध। दिखाया,तुझको प्रबुद्ध। करो वह पूर्ण सश्रद्ध। फलाशा बिन।।२४०।। जब संपूर्ण सत्त्व शुद्धि से। आचरत आस्तिक्य बुद्धि से। तब ही कहत ज्ञानी उसे। सात्त्विक तप।।४१।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिहं प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

नातर तप करने पार्थ। स्थापन करने द्वैत। बैठने श्रृंगपर सार्थ। महत्वाद्रि के।।४२।। त्रिभुवन का सम्मान। न पावे कोई अन्य। मिले अग्रभाग का आसन। भोजन समय।।४३।। विश्व के स्तुति को संपूर्ण। स्वयं पात्र होना अर्जुन। होने अपना दर्शन। यात्रा करे विश्व।।४४।। लोगों को विविध पूजा का आश्रय। न रहे दूजा कौंतेय। महत्वपूर्ण भोग सर्व। मिले स्वयं को ही।।४५।। अंग वाचा तप से पूर्ण। स्वरूप बिकने अपने को अर्जुन। करे वृद्ध वेश्या अंगहीन। बाह्य श्रृंगार जैसे।।४६।। और धनमान में आस। बढ़ाकर तप करे सायास। तब वही तप राजस। कहा पार्थ।।४७।। पहुरनने जिसका किया स्तनपान। उस ब्याई गैया का अशक्य दोहन। या खेत चराया पूर्ण। फसल न शेष।।४८।। तप जो प्रसिद्धि प्रीत्यर्थ। किया जो सापेक्ष पार्थ। फल उसका होवे व्यर्थ। निशेःष जानो।।४९।। तप निर्फल देखकर किरीटि। बीच में ही छोड़त निश्चिति। अतः ऐसे तपप्रति। स्थिरता नाहीं।।२५०।। अकाल आकाश में व्याप्त। गर्जना से ब्रह्मांड फोड़त। क्या मेघ वे रहत। घड़ीभर भी?।।५१।। वैसे राजस तप जो कौंतेय। बांझसम व्यर्थ जाय। आचार भी उसका होय। निरर्थक।।५२।। अब वही तप पुनः। किया तामस रीति से अर्जुन। परत्र और कीर्ति समान। वंचित दोनों।।५३।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

केवल मूर्खता का अहंकार। रख के मन में धनुर्धर। शरीर से भी वैर। करत जात।।५४।। उष्मा शरीर में अर्जुन। पंचाग्नि से करके प्रदीप्त पूर्ण। डालत स्वशरीर का ईधन। स्वयं पार्थ।।५५।। मस्तक पर जलावत गुग्गुल। पीठ में भोकत गल। प्रदीप्त अग्नि बीच रखत केवल। शरीर अपना।।५६।। बंद करके श्वासोश्वास। व्यर्थ करत उपवास। या धूम्र का लेत ग्रास। अधोमुख से।।५७।। हिम उदक से आकंठ। निवास पाषाण या नदी तट। अपने ही शरीर का लुंचत। मांस स्वयम्।।५८।। इसविध नाना प्रकार से पार्थ। स्वशरीर को कष्ट देत। तप करत सर्वथः। परनाशार्थ।।५९।। पत्थर अंगभार से छूटत। फूटकर खंड-खंड होवत। प्रतिबंध यदि करे तो करत। रगड़ा जैसे।।२६०।। अपने को पीड़ा देकर अर्जुन।

Funding by IKS-MoE

है।।३८।। अब तीनों गुणों की संगति में पार्थ! यही त्रिविधता प्राप्त होती है, वह भी ज्ञानशक्ति से तुम सुनो।।३९।।

यह तीन प्रकार का तप फल की आकांक्षा न धरते हुये पूर्ण सात्त्विकता से, आस्तिक वृत्ति से आचरण करने को सात्विक तप कहते हैं।।१७।।

तब यही तीन प्रकार का तप हे बुद्धिमान अर्जुन! तुम्हें जो दिखाया है वह श्रद्धासहित, फलाशा के बिना तुम पूर्ण करो।।२४०।। जब संपूर्ण शुद्ध सात्विक भाव से आस्तिक बुद्धि से आचरण करने से तब ज्ञानी लोग उसको सात्विक तप कहते हैं।।४१।।

सत्कार, मान, पूजन के लिये दांभिकता से जो तप किया जाता है, उसको इस लोक में राजस तप कहते हैं, वह निष्फल एवं अस्थिर होता है।।१८।।

हे पार्थ! तप करने के लिये द्वैत की स्थापना करते हैं, श्रेष्ठता के शिखर पर बैठने की उनकी इच्छा होती है।।४२।। तीनों लोकों में उन्हें सम्मान मिलना चाहिये, भोजन के समय अग्रस्थान मिलना चाहिये।।४३।। विश्व के द्वारा अपनी ही स्तुति होवे, हे अर्जुन! यात्रा करके विश्व के लोग अपना दर्शन करने आवे।।४४।। पूजन के लिये लोगों को अन्य अवलंबन न होवे, हे कौंतेय! महत्वपूर्ण सब भोग मुझे अकेले को ही प्राप्त होवे।।४५।। जैसे वृद्ध वेश्या बाह्य शरीर को सजाती रहती है, वैसे शरीर वाणी एवं तप अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये करता है।।४६।। धन एवं सम्मान में अपनी आशा बढ़ाकर जो कष्टपूर्ण तप रहता है उस तप को हे अर्जुन राजस तप कहते हैं।।४७।। पहुरणी कीटक ने जिस गाभिन गाय का स्तनपान किया है वह बछड़ा होने पर भी दूध नहीं देती, उसका दोहन अशक्य होता है, जानवरों ने खेत चर लेने पर खेत में फसल नहीं रहती।।४८।। प्रसिद्धि के लिये जो तप किया जाता है, वह निष्फल होता है, उसका तप फल देने के लिये पूर्णतः असफल समझना चाहिये।।४९।। हे किरीटी! तप निष्फल देखकर वह निश्चित रूप से बीच में ही छोड़ देता है, अतः ऐसे तप में! स्थिरता नहीं होती।।२५०।। बे समय आया हुआ बादल पूरे आकाश में व्याप्त होता है, गर्जना से ब्रह्मांड फोड़ता है, किंतु एक घड़ी भी टिकता नहीं।।५१।। हे कौंतेय! वैसा राज्य तप बांझ के समान व्यर्थ जाता है, उनका आचार भी निरर्थक होता है।।५२।। अब तप, हे अर्जुन! तामस रीति से करने से परलोक एवं कीर्ति, दोनों से वह समान वंचित रहता है।।५३।।

मूर्खता के दुराग्रह से, स्वयं को पीड़ा देकर या दूसरे मनुष्य के नाश के लिये किया जाता है उसको तामस तप कहते हैं।।१९।।

केवल मूर्खता का अहंकार मन में रखकर, हे धनुर्धर! शरीर से भी बैर करता जाता है।।५४।। हे अर्जुन! शरीर में उष्णता है, पंचाग्नि साधन करके उस अग्नि को पूर्ण प्रदीप्त किया जाता है, अपने शरीर का ईंधन स्वयं डालता है।।५५।। मस्तक पर गुग्गुल जलाता है, पीठ में गल भोकते हैं, सुलगे अग्नि के बीच केवल अपना शरीर रखते हैं।।५६।। श्वासोश्वास बंद करके व्यर्थ उपवास करते हैं, मुख नीचे लटकाकर धुवें का कौर निगलते हैं।।५७।। गले तक ठंडे जल में खड़े होते हैं, पत्थर या नदी के तट पर बैठते हैं, स्वयं अपने ही शरीर का मांस तोड़ते हैं।।५८।। इस प्रकार से विविध प्रकार से, हे पार्थ! अपने शरीर को कष्ट देते हैं, दूसरों का नाश करने के लिये ही उनका तप होता है।।५९।। शरीर का स्पर्श होने से पत्थर लुढ़कता है एवं फूटकर उसके टुकड़े-टुकड़े होते हैं।।२६०।। हे अर्जुन! अपने को पीड़ा देकर बहुत तपाचरण करते हैं, सुखी प्राणियों को जीतने के लिये यह तप किया जाता

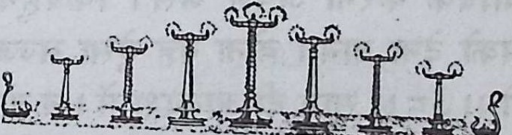

Funding by IKS-MoE

करत बहुत तपाचरण। जीतने की इच्छा से इतर जन। सुखी श्रेष्ठ जो।।६१।। ऐसे अति अनिष्ट। नानाविध करत कष्ट। जानो वह दुष्ट। तामस तप।।६२।। सत्वादिक गुणानुरूप। त्रिविध हुआ जो तप। उसका कहा स्वरूप। स्पष्ट यहां।।६३।। अब बोलते प्रसंगानुसार। आया इसलिये धनुर्धर। दान लक्षण त्रिविध साचार। करूं रूप।।६४।। जग में त्रिविध गुण। अतः हुआ त्रिविध दान। प्रथम सात्विक का चिन्ह। सुनो अब।।६५।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

तब स्वधर्म से पार्थ। जो-जो अपने को प्राप्त। वही देना बहुत। सम्मापूर्वक।।६६।। बीज यदि उत्तम अर्जुन। तथापि क्षेत्र क्यारी बिन। वैसी ही स्थिति इस-। दान की दिखत यहां।।६७।। अनर्घ्य रत्न आवे हाथ। तब सुवर्ण दुर्लभ होत। दोनों यदि साथ न प्राप्त। धारक अंग।।६८।। किंतु सुपर्व सुहृत संपत्ति। इन तीनों की युति। जब होवे उन्नति। भाग्य की अपनी।।६९।। वैसे होना सात्विक दान। सहाय होत सत्वगुण। तब देश काल भाजन। जुटत द्रव्य ही।।२७०।। कुरुक्षेत्र या काशी तीर्थ। दान के लिये उचित। या तुले इन्हीं के साथ। योग्य देश वह।।७१।। वहां रवि, राहू, चंद्र का मेल। होवे वह पुण्यकाल। अथवा उनके सम निर्मल। अन्य अवसर।।७२।। ऐसे देश में किरीटि। रहे ऐसी पात्र संपत्ति। जो शुचित्व की मूर्ति। साक्षात स्वयम्।।७३।। और आचार का मूल पीठ। वेद ज्ञान की हाट-पेठ। ऐसा द्विजरत्न श्रेष्ठ। मिले जब।।७४।। उसके ठाँई वित्त को पार्था। अर्पण करना छोड़कर स्वसत्ता। प्रिय समीप कान्ता। जावे जैसी।।७५।। जिसकी रखी अमानत। लौटाकर होना कृतार्थ। या राजा को बीड़ा देत। सेवक जैसा।।७६।। और निष्काम जीव से। भूम्यादिक करना अर्पण जैसे। किंबहुना फलेच्छा यत्न से। उठने न पावे।।७७।। जिसको देना दान। होना वह ऐसा सज्जन। जिससे न कोई लाभ अर्जुन। अपने को कभी।।७८।। साद दी आकाश में। न होवे प्रति शब्द उसमें। या औंधे दर्पण में। देखा रूप।।७९।। उदक पर यदि कन्दुक। फेका बहु शक्तिपूर्वक। उछलकर न आवे देख। हस्त में कभी।।२८०।। सांड को दिया चारा। पूजा सम्मान से बुरा। न करे प्रत्युपकार वीरा। जिस प्रकार।।८१।। दिया जो दाता ने पार्थ। किसी प्रकार से न लौटावत। किंतु होना वह सुपात्र। सुनिश्चित।।८२।। ऐसे सामग्री से कौंतेय। दान जो होवे वीरराय। जानो वह सात्विक दानवर्य। सर्वोपरि जग में।।८३।। और वही देश काल। होवे वैसा ही पात्र मेल। दान भाग भी निर्मल। शास्त्रानुगत।।८४।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

किंतु मन में दूध की आशा से। चराना धेनु को जैसे। या बंडा बनाकर पहिले से। बोना क्षेत्र।।८५।। उपहार की दृष्टि से अर्जुन। देना संबंधियों को निमंत्रण। या देना

Funding by IKS-MoE

है ।।६१।। ऐसे विविध प्रकार से अत्यंत अनिष्ट कष्ट करते हैं, यह दुष्ट तामस तप होता है, ।।६२।। सत्व गुण के अनुरूप तीन प्रकार का जो तप हुआ है उसका स्पष्ट स्वरूप यहां कहा है।।६३।। हे धनुर्धर! अब प्रसंग के अनुसार बोलने के लिये तीन प्रकार के दान का लक्षण बताता हूं।।६४।। जग में तीन प्रकार के गुणों से दान भी तीन प्रकार का हुआ है, प्रथम सात्विक दान का लक्षण सुनो।।६६।।

स्वधर्म से कमाये पैसों से दान करना कर्तव्य समझकर जिससे कुछ मिलने की अपेक्षा न रखते हुये, योग्य स्थान, काल, पात्र देखकर दिया जाता है, ऐसे दान को सात्विक दान कहते हैं।।२०।।

हे पार्थ! स्वधर्म से जो कुछ अपने को प्राप्त होता है वही सम्मानपूर्वक जब दान किया जाता।।६६।। हे अर्जुन! बीज यदि उत्तम है तथापि खेत क्यारियों के बिना है, वैसी ही स्थिति इस दान की यहां दिखती है।।६७।। अनर्घ्य रत्न हाथ में प्राप्त हुवा, किंतु सुवर्ण दुर्लभ है, दोनों एक साथ प्राप्त हुये तब धारण करने के लिये योग्य शरीर नहीं मिलता।।६८।। उत्तम पर्व, उत्तम मित्र, एवं संपत्ति तीनों की युति होने पर अपने भाग्य की उन्नति होती है।।६९।। वैसे सात्विक दान होना चाहिये, उसको सत्वगुण मदद करता है, तब देश काल, पात्र एवं द्रव्य सब जुटता है।।२७०।। कुरुक्षेत्र या काशी तीर्थ दान के लिये उचित होता है, या इसके साथ तुलना किये जानेवाले अन्य पवित्र स्थान भी योग्य होते हैं।।७१।। वही यदि सूर्य, चंद्र, राहू का यदि मिलन होवे या पुण्यकाल होवे, या उनके समान अन्य निर्मल पर्व हो।।७२।। हे किरीटी! ऐसे देश में उस काल में दान के लिये उत्तम पात्र प्राप्त होवे जो साक्षात् स्वयं शुचित्व की मूर्ति है।।७३।। उत्तम आचरण का जो मूल स्थान है, वेदों की बाजार पेठ है (वेदों का अध्ययन किया है) जब ऐस द्विजश्रेष्ठ मिलता है।।७४।। हे पार्थ! उसको अपना धन, दान करके अपनी सत्ता छोड़ देना चाहिये, जैसी प्रिय पति के समीप पत्नी जाती है।।७५।। किसी की अमानत रखने पर उसको लौटाकर कृतार्थ होना चाहिये, या जैसे सेवक राजा को बीड़ा देता है।।७६।। वैसे निष्काम अंतःकरण से भूमि आदि अर्पण करना चाहिये, किंतु फल की इच्छा मन में उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये।।७७।। जिसको दान देना है वह ऐसा सज्जन होना चाहिये जिससे भविष्य में कोई फायदा नहीं।।७८।। आकाश को पुकारने से आकाश में प्रतिध्वनि उत्पन्न नहीं होता, या ओंधे दर्पण में प्रतिबिंब नहीं दिखता।।७९।। जल की सतह पर पूर्ण शक्ति से गेंद फेंकने से वह उछलकर हाथ में लौटकर नहीं आती।।२८०।। सांड को चारा देने से या कृतघ्न मनुष्य पर उपकार करने से, या पूजन या सम्मान करने से वह पुनः उपकार नहीं करता।।८१।। हे पार्थ! देनेवाले दाता ने जो दिया, उसको किसी प्रकार से लौटाने की शक्ति जिसमें नहीं ऐसा सुपात्र होना चाहिये।।८२।। हे कौंतेय! ऐसे सामग्री से जो दान होता है, हे वीरश्रेष्ठ! वह जग में सर्वप्रकार से सात्विक दान होता है।।८३।। और वही देश, समय काल होवे, वैसा ही सुपात्र ब्राह्मण का मेल होवे, शास्त्र के अनुसार दिया जानेवाला दान भी निर्मल-शुद्ध होवे।।८४।।

उपकार के बदले में कुछ मिले अथवा फल की अपेक्षा रखते हुये अतिशय कष्ट से दिया जानेवाला दान राजस दान कहलाता है।।२१।।

मन में दूध की आशा रखकर जैसे गौ का पालन पोषण किया जाता है, या बंडा बनाकर खेत बोना चाहिये।।८५।। उपहार की दृष्टि से हे अर्जुन! आत्मीयजनों को निमंत्रण देना, या व्रत का दान व्रती

व्रत का दान। व्रती कीर्ती उसको ।।८६।। रिश्वत पहले लेना। फिर दूसरों का काम करना। द्रव्य लेकर दवा देना। पीड़ित को।।८७।। देना जिसको जो दान। होवे उसका संरक्षण। बार बार करे बखान। हेतु से इस।।८८।। या मार्ग से जो करे गमन। जो न लौटा सके दिया दान। मिले जब ऐसा अर्जुन। द्विजोत्तम।।८९।। तब कौड़ी के लिये एक। गोत्रज़ के अपने अशेख। प्रायश्चित के संकल्प से देख। छोड़े उदक।।२९०।। वैसे पारलौकिक। वांछत फल अनेक। किंतु देवे इतना ही भूख। शमे न एक भी।।९१।। उतना ही वह ब्राह्मण। जब ले जात दान। हानी से दुखी जैसे किया हरण। सर्वस्व चोर ने।।९२।। बहुत क्या कहें सुमति। दान में जिस ऐसी मनोवृत्ति। दान वह त्रिजगत में किरीटि। राजस जानो।।९३।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

म्लेच्छों का जहां वसतिस्थान। भूमि अपवित्र और अरण्य। शिविर या चौराह अर्जुन। नगर के।।९४।। ऐसे निंद्य स्थान पर। शाम या रात्रि को मिलकर। चोरी का धन उदार-। हस्त से बाटे।।९५।। तमासगीर और भाट। वैश्या जुगारी माने पात्र। अथवा चेटकी मूर्तिमंत। भाये उसको।।९६।। रूप-नृत्यादि अनेक। सम्मुख दृष्टिवेधक। गीत स्तुति श्रवण में देख। होवे कर्णजप।।९७।। उसमें भी और मंदमंद। पुष्प गंध गुग्गुल का सुगंध। तब संचरत अंग में समंध। महाभ्रम का।।९८।। वहां लूटकर जग समस्त। लावे पदारथ पार्थ। डाले उससे अन्न सत्र। मांग मातंग को।।९९।। एवं ऐसा जो दान। वह कहूं मैं तामसदान। और भी घटत दैवगुण। से प्रकार एक।।३००।। घुनाक्षर में नाम निकलत। कौवा बैठे शाखा टूटत। वैसे तामस को पर्व लभत। तीर्थक्षेत्र में।।१।। ऐश्वर्य उसका देखकर। आया योग्य अतिथिवर। गर्व से कुछ देना सोचकर। धनुर्धर।।२।। किंतु श्रद्धा न मन में रखत। माथा भी न नवावत। स्वयं न करे ना करावत। अर्ध्यादिक।।३।। बैठने को न दे आसन। गंधाक्षत से कैसा पूजन?। ऐसा करे अतिथी का अपमान। तामस वह।।४।। टालिये जैसे ऋणकर पार्थ। वैसे झटकारत उसका हाथ। मैं-तू अपशब्द का करत। प्रयोग बहु।।५।। और जिसको जो देत। उसीका उलाहना करत। कुबोल से करे अपमानित। अवज्ञा करके।।६।। रहने दो बहुत इस प्रकार। द्रव्य-दान में जो धनुर्धर। उसको नाम चराचर-। में तामस दान।।७।। अपने-अपने चिन्ह से यथार्थ। दान तीनों अलंकृत। किन्तु दो अवधान विशिष्ट। रजतमादिक को-।।८।। वहां मैं जानत। जो ऐसे कदाचित। सोचोगे मन में पार्थ। विचक्षण तुम।।९।। जो भवबंध मोचक। कर्म एक सात्विक। तब क्यों विरुद्ध सदोख। कहना अन्य।।३१०।। समंध हटाये बिन। पावत न निधि अर्जुन। या धूम्रसहने बिन। अग्नि न लभत।।११।। शुद्ध सात्विक मार्ग में वैसे। रज तमका द्वार जैसे। भेदना उसको यत्न से। क्या बुरा

Funding by IKS-MoE

की कीर्ति के लिये देना।।८६।। रिश्वत पहले लेकर दूसरों का काम करना, या रोगी को द्रव्य देकर औषधी देना।।८७।। जो दान जिसको देना है, उसका संरक्षण होना चाहिये, बारबार इस हेतु से स्तुति की जाती है।।८८।। या मार्ग से जो जाता है, जो दिया दान लौटा नहीं सकता, हे अर्जुन! ऐसा उत्तम ब्राह्मण जब मिलता है,।।८९।। तब एक कौड़ी के लिये संपूर्ण गोत्रज के प्रायश्चित का उदक उसके हाथ पर छोड़ता है।।२९०।। अनेक पारलौकिक फलों की इच्छा करता है, इतना अल्प दान करता है कि एक समय की भूख भी तृप्त नहीं होती।।९१।। वह अल्प दान जब ब्राह्मण ले जाता है तब वह राजस दानी मन में दुःखी होता है, जैसे चोरों ने सर्वस्व हरण किया हो।।९२।। हे सुमति! बहुत क्या कहूं? दान में ऐसी जिसकी मनोवृत्ति होती है, तीनों लोकों में वह राजस दान समझना।।९३।।

अयोग्य स्थान में, अयोग्य समय में, अयोग्य मनुष्य को, सत्कार रहित, अवहेलनापूर्वक दिया जाता है, उसको तामस दान कहते हैं।।२२।।

म्लेच्छो का जहां निवास होता है, अपवित्र भूमि, अरण्य में, धर्मकृत्य के लिये अयोग्य, या नगर के चौराहेपर।।९४।। ऐसे निंद्य स्थान पर शाम को या रात्री में चोरी-का धन उदार हस्त से जो बांटता है।।९५।। जमासगीर एवं भाट, वेश्या, जुवारी, चेटकी दान देने के लिये वह योग्य समझता है,।।९६।। उसके साथ रूप एवं नृत्य आदि दृष्टि को वेधक, गीत, स्तुति आदि कान में जप के सदृश सुनने में आनंद देता है।।९७।। उसमें भी मंदमधुर फूलों का या गुग्गुल का सुगंध होवे तब शरीर में महाभ्रमरूपी संबंध का संचार होता है।।९८।। वहां सब जग को लूटकर हे पार्थ! सब वस्तुयें लाता है, मांग, मातंगों के लिये अन्न डालता है।।९९।। स्वयं ऐसा जो दान होता है वह मैं तामस दान है ऐसा कहता हूं, दैवयोग से कहीं एक सुयोग प्राप्त हुआ,।।३००।। घुनाक्षर (लकड़ी कुरेदनेवाले कीड़े मे अक्षर लिखा जाना) से नाम निकला, कौवा बैठते ही जब शाख टूटती है, वैसे तामस को तीर्थ क्षेत्र में पर्व का लाभ होता है।।१।। उसकी श्रीमंती देखकर योग्य अतिथि श्रेष्ठ आया है ऐसा समझकर, हे धनुर्धर कुछ देने का विचार वह करता है।।२।। किंतु मन में श्रद्धा नहीं होती, मस्तक भी नहीं झुकता, स्वयं करता नहीं, किसी से कराता नहीं, बैठने के लिये आसन भी नहीं देता,।।३।। फिर अर्ध्य आदि गंध अक्षद से कैसे पूजन करेगा? ऐसा अतिथि का अपमान करता है वह तामस गुणी रहता है।।४।। हे पार्थ! ऐसे ऋणकर को टालना चाहिये ऐसा समझकर उसका हाथ झटकता है, मैं, तू अपशब्द का बहुत प्रयोग करता है।।५।। और, जिसको जो देता है, उसी की उलाहना देता रहता है, अवज्ञा करके अपशब्दों से अपमानित करता है।।६।। अब रहने दो, हे धनुर्धर! द्रव्य दान में उसका नाम चराचर में तामस दान है।।७।। अपने-अपने चिन्ह से तीनों प्रकार के दान आभूषित हुये हैं, सत्त्व, रज, तम नाम से तुम्हें निरूपित किया है।।८।। मैं जानता हूं, तुम कदाचित् मन में, हे विचक्षण! ऐसा सोचोगे।।९।। सात्विक कर्म संसार बंधन से छुड़ानेवाला होता है, तब क्यों विरुद्ध, दोषपूर्ण अन्य गुणों को कहना चाहिये?।।३१०।। समंध को हटाये बिना हे अर्जुन! धन की प्राप्ति नहीं होती, धुवां सहे बिना अग्नि नहीं मिलता।।११।। वैसे शुद्ध सात्विक मार्ग से रजोगुण एवं तमोगुण का द्वार है, उसको प्रयत्नपूर्वक भेदना

Funding by IKS-MoE

इसमें ?।।१२।। हमने श्रद्धा से दान तक पार्थ। जो क्रियाजात समस्त। निरूपित वह व्याप्त। तीनों गुण से।।१३।। वहां मानू मैं निश्चित। तीनों कहना अनुचित। किंतु सत्व को दर्शनि स्पष्ट। कहे दो अन्य।।१४।। जो दोनों में तीजा बसत। दोनों छांडकर ही दिखत। जैसे त्याग कर अहोरात्र पार्थ। संध्यारूप।।१५।। रज तम विनाश से। तीजो स्पष्ट दिखत जैसे। वह सत्त्व तब अपने से। प्रकट वहां।।१६।। एवं सत्त्व दिखाने तुझको। निरूपित तम रज को। छांडकर वे सत्त्व से काज को। साधो अपने।।१७।। इस सत्त्व से ही निर्मल। करो यज्ञादिक सकल। पावोगे तब करतल। से अपना निज।।१८।। सूर्य स्वयं दिखावत जहां। क्या एक न दिखत वहां। सात्त्विक कर्म से फल यहां। क्या न प्राप्त ?।।१९।। ऐसी सर्वतोपरि किरीटि। सात्त्विक सबल शक्ति। किंतु मोक्ष फल की प्राप्ति। होवे जिससे।।३२०।। वह वस्तु न्यारी एक। जब सत्त्वगुण को सहायक। मोक्ष गांव में प्रदायक। प्रवेश पार्थ।।२१।। सुवर्ण यदि बावनकश। किंतु जब समुद्रांकित विशेष। तब ही चलत खास। जिस प्रकार।।२२।। स्वच्छ शीतल सुगंध। जल होवे सुखप्रद। किंतु पवित्रत्व संबंध। तीर्थ में ही।।२३।। नहीं योग्यता कैसी भी पार्थ। किंतु गंगा जब अंगिकारत। तब ही उसको प्रवेश प्राप्त। सागर में।।२४।। वैसे सात्त्विक कर्म का अर्जुन। होने लगे जब मोक्ष से मिलन। वहां न कोई आवे विघ्न। न्यारा ही वह।।२५।। कथन यह सुनते तत्क्षण। अति उत्कंठित अर्जुन का मन। कहे कृपा करके कृष्ण!। कहो वह।।२६।। वह कृपालु चक्रवर्ती। कहत सुनो उसकी व्यक्ति। देखे जिससे सात्विक मुक्ति-। रत्न पार्थ।।२७।।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधिः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

सुनो अनादि परब्रह्म। जो जगदादि का विश्रामधाम। उसका एक नाम। त्रिधा जानो।।२८।। वह अनाम अजात। किंतु अविद्या वर्ग की रात-। में श्रुति उसे जानने प्रीत्यर्थ। निर्देशित स्वयम्।।२९।। बालक को जन्मजात। न कोई नाम पार्थ। रखे नाम से जब पुकारत। उठे आवाज़ देकर।।३३०।। संसार ताप से तप्त। व्यथा से जब अपनी पुकारत। जिस नाम से प्रतिसाद देत। संकेत वही यह।।३१।। ब्रह्म का अनिर्वाच्यपन नष्ट। अद्वैत्व से उसकी होवे भेट। खोजा ऐसा मंत्र कृपावन्त। वेद ने पार्थ।।३२।। जिस मंत्र का उच्चारण। करे ब्रह्म का आवाहन। सहज पीछे जो अर्जुन। आवे सामने वह।।३३।। किंतु निगमाचल शिखरपर। उपनिषदार्थ नगर में साचार। ब्रह्म के पंक्ति में बैठे जो नर। ज्ञात उन्हीं को।।३४।। सुनो और प्रजापति। शक्ति से जिस करत सृष्टि। वह जिस आवृत्ति से किरीटि। नाम के एक।।३५।। सृष्टि उपकर्म पार्था। अकेले ब्रह्म की अवस्था। बावरे सम सर्वथा। जानो तुम।।३६।। मुझ ईश्वर से न था परिचय। और न सृष्टि रचना का बल कौन्तेय। दी

Funding by IKS-MoE

चाहिये, उसमें क्या बुरा है?॥१२॥ हे पार्थ! हमने, श्रद्धा से दान तक सब क्रियायें तीनों गुणों से व्याप्त हैं, उसका निरूपण किया है॥१३॥ तीनों गुण कहना निश्चित रूप से अनुचित था, किंतु सत्वगुण प्रकट करने के लिये अन्य दोनों को कह दिया॥१४॥ जो दोनों में तीजा रहता है, दोनों को छोड़कर ही दिखता हैं, जैसे हे पार्थ! दिन एवं रात का त्याग करके संध्या समय जैसे रहता है॥१५॥ रजोगुण एवं तमोगुण के नाश से तीजा स्पष्ट दिखाई देता है, वह सत्वगुण स्वयं प्रकट होता है॥१६॥ तुम्हें सत्वगुण समझाने के लिये हमने रजोगुण से अपना कार्य साधना॥१७॥ इस शुद्ध सत्वगुण से यज्ञ आदि सब करना, तब हथेलीपर लेने जैसा तुम्हें अपना स्वरूप प्राप्त होगा॥१८॥ सूर्य ने प्रकाशित करने के उपरान्त इस जग में क्या नहीं दिख सकता? वैसे सत्वगुण युक्त कर्म से निश्चित फल प्राप्त होगा॥१९॥ हे किरीटी! ऐसी सबके ऊपर सात्विक शक्ति सबल है, किंतु मोक्षफल की प्राप्ति जिससे होती है॥३२०॥ वह वस्तु न्यारी है, जब सत्वगुण को इसकी सहायता मिलती है तभी उसका मोक्षरूपी गांव में प्रवेश होता है॥२१॥ बावन कस के शुद्ध सुवर्ण को जब राजमुद्रा प्राप्त होती है तब उसका विशेष चलन होता है॥२२॥ स्वच्छ, शीतल एवं सुगंधित जल सुखकारक प्रतीत होता है, किंतु पवित्रता तीर्थस्थान के जल में होती है॥२३॥ हे पार्थ! किसी प्रकार की योग्यता नहीं है, किंतु गंगाजल जब अंगिकार करता है तब उसका सागर में प्रवेश होता है,॥२४॥ हे अर्जुन! वैसे सात्विक कर्म का मोक्ष से मिलन होते समय वहां कोई विघ्न या बाधा उत्पन्न न होवे, वह बात अलग है॥२५॥ यह वाणी सुनते ही तत्क्षण अर्जुन का मन अत्यंत उत्कंठित हुआ, हे कृष्ण! कृपा करके उसको कहो, ऐसा उसने कहा॥२६॥ वह कृपालु चक्रवर्ती ने कहा, उसका स्पष्टिकरण सुनो, हे पार्थ! जिससे सात्विक मुक्ति रत्न दिखाई देता है॥२७॥

ॐ, तत्, सत् ऐसे तीन प्रकार से ब्रह्म का नामनिर्देश बताया है, इस नाम से प्रजापती ने पहले ब्राह्मण, वेद एवं यज्ञ निर्माण किये हैं॥२३॥

सुनो! परब्रह्म अनादि है, विश्वका विश्रांति स्थान है, उसका एक नाम तीन प्रकार का है॥२८॥ वह ब्रह्म नामरहित, जाति रहित है, अज्ञान रात्री में जीवों को पहचान होवे, इसलिये श्रुति भगवती ने जो निर्देश किया वही ब्रह्मनाम है॥२९॥ नवजात शिशु का नाम नहीं होता, रखे हुए नाम से पुकारने पर वह आवाज देकर उठता है॥३३०॥ संसार दुःख से श्रांत जीव, परब्रह्म को, दुःख निवेदन करने के लिये नाम से पुकारते हैं, वही ब्रह्म उस नाम को प्रतिसाद देते हैं, यही वह संकेत है॥३१॥ परब्रह्म परमात्मा वाणी से अतीत है, अद्वयत्त्व से उसका मिलन होवे इसलिये हे पार्थ! कृपावंत वेदों ने ऐसा मंत्र ढूंढ निकाला है॥३२॥ जिस मंत्र का उच्चारण ब्रह्म का आवाहन करता है, वृत्ति के पीछे रहनेवाला ब्रह्म सम्मुख आ जाता है॥३३॥ वेदरूपी पर्वत शिखर पर उपनिषद के अर्थ रूपी नगर में ब्रह्म की पंक्ति में जो मनुष्य बैठता है वही यह जानता है॥३४॥ सुनो! प्रजापति ब्रह्मा में सृष्टि उत्पन्न करने की जो शक्ति है वह जिस नाममंत्र के आवर्तन से प्राप्त हुई है॥३५॥ हे पार्थ! सृष्टि के प्रारंभ में ब्रह्म अकेला बावले जैसी अवस्था में था, यह तुम समझ लेना॥३६॥ मुझ ईश्वर से उसका परिचय नहीं था, हे कौंतेय! सृष्टि निर्मिति की शक्ति भी नहीं थी, एक नाम ने ही उसको यह शक्ति प्रदान

Funding by IKS-MoE

शक्ति जिसको वह। नाम ने ही एक।। ३७।। जिसका अर्थ मन में ध्याते पार्था। और
वर्णत्रय जपते तत्त्वता। विश्व सृजन की योग्यता। आई उसको।। ३८।। तब सृजित
ब्रह्मजन। उसको देकर वेदशासन। दिया यज्ञमार्ग का आचरण। निर्वाह को।। ३९।।
पश्चात न जाने कित्येक और। सृजित लोक अपार। ब्रह्मदत्त उनको अग्रहार। तीनों
भुवन।। ३४०।। ऐसे जिस नाम मंत्र में पार्थ। धाता को बनाया श्रेष्ठ। उसका स्वरूप
सुनो यथार्थ। कहे श्रीकान्त वह।। ४१।। ॐकार जिसका आद्याक्षर। ततकार दूजा
तदनन्तर। सत्कार तीजा आवे अखेर। ऐसा मंत्रराज जो।। ४२।। एवं ॐ
तत्सदाकार। ब्रह्मनाम यह त्रिप्रकार। यह पुष्प सूंघो सुन्दर। उपनिषद का
तुम।। ४३।। ये तीनों मिलकर एक। जब कर्म होवे सात्विक। तब कैवल्य होवे
पाईक। घर का पार्थ।। ४४।। कर्पूर के आभूषण। सुदैव से प्राप्त अर्जुन। कैसे करना
वह धारण। जानना कठिन।। ४५।। वैसे आदर से किया सतकर्म। उच्चार भी किया
ब्रह्मनाम। किंतु यदि जाना मर्म। विनियोग का।। ४६।। तब कोटि कोटि महंत।
स्वेच्छ से घर आये पार्थ। यदि वे हुये अपमानित। होवे पुण्य क्षय।। ४७।। या धारण
करने सुंदर। हसली आदि सुवर्णालंकार। एकबार मोट बांधकर। गले में।। ४८।।
वैसे मुख में ब्रह्मनाम। हाथ से सात्विक कर्म। किंतु विनियोग बिना काम। विफल
होत।। ४९।। अरे अन्न और भूखा। दोनों साथ किंतु। देख खा न सके बालक। पड़े
लंघन उसे।। ३५०।। या स्नेह सूत्र वैश्वानर। मिलाकर यदि एकत्र। किंतु यदि न
युक्ति जाने नर। प्रकाश न प्राप्त।। ५१।। योग्य काल में हुआ कृत्य। मंत्र भी स्मरा
उचित। किंतु हुआ सब व्यर्थ। विनियोग बिन।। ५२।। अतः वर्णत्रयात्मक। जो यह
ब्रह्म नाम एक। सुनो सांप्रत विशेख। विनियोग उसका।। ५३।।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रिया। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।। २४।।

अतः इस नाम के अक्षर तीन। कर्म के आदिमध्यान्त में अर्जुन। योजना करनी
तीन-। स्थानों में तुम।। ५४।। यही एक पद्धति। स्वीकार कर किरीटि। ब्रह्म से
ऐक्यभाव की प्राप्ति। हुई ब्रह्मादिक को।। ५५।। ऐक्य होने ब्रह्म से। न वे वंचित
यज्ञादिक से। जो वे अभिज्ञ शास्त्रज्ञान से। इसीलिये।। ५६।। वह आदि सो ॐकार।
ध्यान से होवे गोचर। पश्चात करे उच्चार। वाचा से ही वह।। ५७।। ध्यान से जब
वह प्रकट। प्रणवोच्चार से स्पष्ट। करे क्रिया समस्त। यज्ञादिक।। ५८।। अभंग दीप
अंधेरे में। सखा समर्थ बन में। वैसा जानो कर्मारंभ में। प्रणव पार्थ।। ५९।। उचित
देवोद्देश्य से। बहुत धर्म्य द्रव्य से। द्विज द्वारा और हुताशन से। करत यजन
वे।। ३६०।। आहवनीय अग्नि पार्थ। निक्षेपरूप हवन से यथार्थ। विधि-विधान से
यजत। निष्णात वे।। ६१।। किंबहुना नाना याग। निष्यति का लेकर अंग। अप्रिय
उपाधि का त्याग। करत जात।। ६२।। न्यायार्जित जो पवित्र धन। भूमिगृहादिक

Funding by IKS-MoE

की ॥३७॥ हे पार्थ! जिसके अर्थ का मन में चिंतन करने पर, तीन शब्दों का जाप तत्त्वतः करने पर, विश्व के निमिति की योग्यता उनमें निर्माण हुई ॥३८॥ उन्होंने प्रथम ब्राह्मण वर्ण निर्माण किया, उनको आचरण की पद्धति बताने वाले वेदों का शासन दिया, निर्वाह के लिये यज्ञमार्ग का कर्म दिया ॥३९॥ उसके पश्चात् कितने और असीम लोगों का निर्माण किया, उनको तीनों लोक ब्रह्मा ने इनाम दिये ॥३४०॥ हे पार्थ! ऐसे जिस नाममंत्र से विधाता को श्रेष्ठ बनाया, उसका सत्य स्वरूप सुनो ऐसा श्रीकांत ने कहा ॥४१॥

सब मंत्रों का राजा, जो आदिवर्ण है, जिसको प्रणव कहते हैं, तत्कार दूजा है और सत्कार तीजा है ॥४२॥ जिसका पहला अक्षर ऊँकार है, तत्कार उसके उपरांत आता है, सत्कार अंत में, तीसरे नंबर में आता है, वह मंत्रराज है ॥४३॥ एवं ऊँ तत्सदाकार यह परब्रह्म का तीन प्रकार का नाम है, इस सुंदर पुष्प का सुगंध उपनिषद् लूटते हैं ॥४४॥ यह तीनों मिलकर एक हैं, जब सात्विक कर्म होते हैं, तब कैवल्य उनके घर का सेवक बनता है ॥४५॥ कर्पूर के अलंकार भाग्य से प्राप्त होते हैं, हे अर्जुन! उनको कैसे धारण करना यह समझना कठिन है, आदरपूर्वक सत्कर्म किया, ब्रह्मनाम का उच्चार भी किया, किंतु विनियोग करने का मर्म जानना चाहिये ॥४६॥ तब कोटी-कोटी महंत, हे पार्थ! अपनी इच्छा से घर आये, वे अपमानित होने पर पुण्यक्षय होता है ॥४७॥ धारण करने के लिये टीका आदि विविध अलंकार सुवर्ण के हैं, उनको एकसाथ बांधकर क्या गले में पहनना? ॥४८॥ वैसे मुख में ब्रह्मनाम, हाथ से सात्विक कर्म है, किंतु विनियोग के बिना वे विफल होते हैं ॥४९॥ हे अर्जुन! भोजन बनकार तैयार है, भूख लगी है, किंतु नवजात शिशु को उपयोग नहीं, उसको उपवास ही होगा ॥३५०॥ हे अर्जुन! तेल, बाती, अग्नि एकत्र आने पर भी दीपक जलाने की युक्ति ज्ञात न होने से प्रकाश कैसे होगा? ॥५१॥ योग्य काल में कर्म किया, योग्य मंत्र का भी स्मरण हुआ, किंतु विनियोग के बिना व्यर्थ हुवा ॥५२॥ अतः तीन वर्णों का यह जो ब्रह्मनाम है उसका विनियोग अभी सुनो ॥५३॥

मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करने वाले मनुष्य को शास्त्रों के अनुसरण से होनेवाले यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएं ऊँ अक्षर का उच्चार करके नित्य प्रारंभ होती हैं ॥२४॥

अतः इस नाम के तीन अक्षर होते हैं, कर्म के प्रारंभ में, मध्य में एवं अंत में, हे अर्जुन! ऐसे तीन स्थानों पर उसकी योजना करना ॥५४॥ हे किरीटि! इसी एक पद्धति का स्वीकार करके परब्रह्म से ऐक्यभाव की प्राप्ति ब्रह्मा आदि को हुई ॥५५॥ परब्रह्म के साथ ऐक्य होने के लिये यज्ञ आदि का त्याग नहीं करते, क्योंकि वे शास्त्र को जानते हैं ॥५६॥ प्रथम वर्ण जो ऊँकार है ध्यान से वह सिद्ध होता है, पश्चात् वाणी से उसका उच्चार होता है ॥५७॥ ध्यान में जब वह प्रकट होता है, वह प्रणव के उच्चार से स्पष्ट होता है, यज्ञ आदि सब कर्म वह करता है ॥५८॥ अंधेरे में जैसा अखंड दीपक होना चाहिये, वन में समर्थ सखा-मित्र साथ में चाहिये, वैसे हे पार्थ! कर्म के प्रारंभ में प्रणव होता है ॥५९॥ योग्य देवताओं के उद्देश्य से, धर्म से प्राप्त द्रव्य, वेदों ने बताये हुये मार्ग से अर्पण करने के हेतु से, ब्राह्मणों द्वारा या अग्निद्वारा यज्ञ करते हैं ॥३६०॥ हे पार्थ! आहवनीय यज्ञाग्नि में त्यागात्मक हवन से विधि विधान में निष्णात होकर यज्ञ करते हैं ॥६१॥ किंबहुना, विविध प्रकार के यज्ञ उत्तम प्रकार के करते हुए अप्रिय उपाधिओं का त्याग करते हैं ॥६२॥ न्याय से प्राप्त किया हुआ जो पवित्र धन, भूमि, गृह आदि, देश, काल, शुद्ध

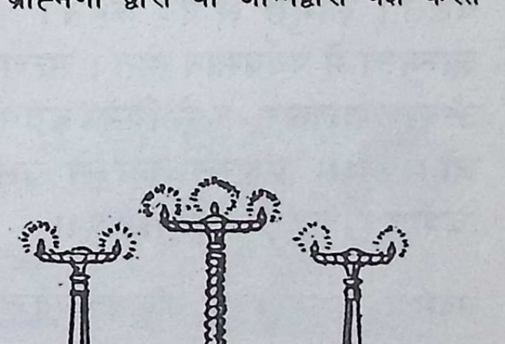

Funding by IKS-MoE

स्वाधीन। देशकाल शुद्ध दान। सत्पात्र को।।६३।। अथवा एकान्तर कृच्छ्र। चांद्रायण मासोपवास। शुष्क करके धातु रास। करत तप।।६४।। एवं यज्ञ दान और तप। जो प्रसिद्ध बंधरूप। प्रणवोच्चार से अपने आप। होवे मोक्षदायक।।६५।। न हिले तरी भूमिपर। जल में तारे वही धनुर्धर। वैसे बंधक कर्म से छूटे नर। नाम से इस।।६६।। रहने दो यह पार्थ। ये यज्ञयागादि क्रिया समस्त। ॐकार संग से होत। फलीभूत।।६७।। ये क्रियाएं जब निश्चित। दिखत होते फलप्रद। उसी समय प्रयोग करत। तच्छब्द वह।।६८।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः। दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।।२५।।

जो सब जगत से अलिप्त। जो एक साक्षी समर्थ। तत्शब्द से कहलावत। परब्रह्म वह।।६९।। जो इन सबका आदिकारण। तद्रूपका करके मन में ध्यान। तन्नामोच्चार से पुनः। करत व्यक्त।।३७०।। कहत जो तद्रूप ब्रह्म। उसको अर्पित हो समस्त कर्म। यह एक अच्छा परम। होवे निःशेष भोग।।७१।। इसविध तदात्मक ब्रह्म को। अर्पण करके वहां कर्म को। न मम कहकर सबको। होत कर्मयुक्त।।७२।। अब ॐकार से प्रारंभित। तत्कार से समर्पित। इसविध ब्रह्मत्त्व प्राप्त। कर्म को पार्थ।।७३।। वह कर्म साचोकार। हुआ मानो ब्रह्माकार। किंतु कर्ता में दूजा और। द्वैतभाव।।७४।। लवण पानी में घुलत। किंतु क्षारपन शेष रहत। वैसे कर्म को ब्रह्म मानत। वही द्वैत।।७५।। और ज्यों-ज्यों उत्पन्न द्वैत। त्यों-त्यों संसारभय वर्धत। स्वमुख से देव कहत। वचन यह।।७६।। अतः परत्व में जो ब्रह्म पार्थ। आत्मत्व में पर्यवसान होत। सतशब्द इस ऋणदोष प्रीत्यर्थ। योजत देव।।७७।। तब ॐकार तत्कार-। से किया ब्रह्मशरीर कर्म से। प्रशस्त सत्च्छब्दादी से। प्रशंसित जो।।७८।। प्रशस्त कर्म से उस। सच्छब्द का विनियोग खास। वही सुनो अब विशेष। कहूं तुझको।।७९।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

तब इस सच्छब्द से। ओटकर असत सिक्का जैसे। दिखाना रूप अव्यंग से। ब्रह्म का पार्थ।।३८०।। देशकालादि प्रभाव से पूर्ण। जिसमें न होवे परिवर्तन। जो अपना आपुन। अखंडित।।८१।। दृष्य जो यह कोई। वस्तुतः वह असतपन नाहीं। जो देखकर स्वरूप ही। जाने जिसको।।८२।। जिससे प्रशस्त वह कर्म। हुआ सर्वात्मक ब्रह्म। ऐक्य बोध को करके सम। देखो उसको।।८३।। तब ॐकार तत्कार-। से जो कर्म हुआ ब्रह्माकार। मिटाना वह भी संस्कार। सन्मात्र से।।८४।। ऐसा यह अंतरंग। सच्छन्द का विनियोग। जानो कहे श्रीरंग। न कहूं मैं।।८५।। कहूं मैं यह यदि मेरा मत। तब श्रीरंग से होगा द्वैत। अतः जानो यह मनोगत। देव का ही तुम।।८६।। और भी एक प्रकार। सच्छब्द सात्त्विक पर। करत जो उपकार। सुनो

Funding by IKS-MoE

देखकर सत्पात्र को दान करते हैं।।६३।। हे अर्जुन! एकांतर से कृच्छ्र से, चांद्रायण से अथवा मास के उपवास से धातुओं का रस शुष्क करते हुए तप करते हैं।।६४।। इस प्रकार से यज्ञ, दान, तप यद्यपि बंधनकारक हैं, ऐसी जिनकी प्रसिद्धि है, प्रणव के उच्चार से अपने आप मोक्ष देनेवाले होते हैं।।६५।। हे धनुर्धर! भूमिपर नौका हिलती नहीं, जल में वही रक्षण करती है, वैसे बंधकारक कर्म से नाममंत्र का उच्चारण करके मनुष्य का छुटकारा होता है।।६६।। हे पार्थ! अब यह रहने दो। यज्ञयाग आदि सब कर्म ऊँकार की संगति में फलद्रूप होता है।।६७।। यह सब क्रियाएं निश्चित जब फलप्रद होती हैं, उसी समय तत् शब्द से विनियोग करना चाहिये।।६८।।

मोक्ष की इच्छा करनेवाले मनुष्य, फल की अपेक्षा न रखते हुये यज्ञ, तप, दान आदि विविध क्रियाएं 'तत्' अक्षर का उच्चार करके, ब्रह्मार्पण बुद्धि से करते हैं।।२५।।

जो सब विश्व से अलिप्त है, जो एक समर्थ साक्षी है, तत् शब्द से वह परब्रह्म कहलाता है।।६९।। जो इन सबका आदि कारण है, उसके रूप का मन में ध्यान करते हुए, तत् नामोच्चार से पुनः उसको व्यक्त करते हैं।।३७०।। कहते हैं जो तद्रूप ब्रह्म है उसको सब कर्म समर्पित होवे, जिससे संपूर्ण भोग निःशेष समाप्त होवे, यही एक परम इच्छा है।।७१।। तत्स्वरूप ब्रह्म को कर्म अर्पण करके, यह मैंने नहीं किये ऐसा कहकर सब कर्म से मुक्त होते हैं।।७२।। अब ऊँकार से प्रारंभ करके, तत्कार से समर्पित करके इस प्रकार से कर्म को ही ब्रह्मत्व प्राप्त होता है।।७३।। वह कर्म ब्रह्मरूप होने से वह ब्रह्म के आकार का हुआ, किंतु कर्ता में दूजा द्वैतभाव रहता है।।७४।। नमक पानी में घुलता है, किंतु क्षारता के रूप में शेष रहता है, वैसे कर्म को ब्रह्म मानना, वही द्वैत है।।७५।। ज्यों ज्यों द्वैत की भावना उत्पन्न होती है, त्यों-त्यों संसार का भय बढ़ता है, स्वयं के मुख से भगवान यह वचन कहते हैं।।७६।। अतः द्वैत में जो ब्रह्मभाव है, हे पार्थ! उसका आत्मभाव में पर्यवसान होता है, सत शब्द की ऋणदोष की कमी निकालने के लिये भगवान ने योजना की है।।७७।। तब ऊँकार, तत्कार के विनियोग से कर्म शरीर में ब्रह्मरूप हुए हैं, जिस कर्म की श्रेष्ठ शब्दों से स्तुति की है।।७८।। उस प्रशस्त कर्म में सत् शब्द का विनियोग है उसको सुनो, वह ऐसा है तुम्हें बताता हूं।।७९।।

कर्ता सद्रूप होने के लिये, सदोष कर्म निर्दोष एवं पूर्ण होने के लिये सत् अक्षर का उपयोग करते हैं, हे पार्थ! प्रशस्त कर्म में सत् शब्द का उपयोग करते हैं।।२६।।

इस सत् शब्द से, जैसे सिक्कों को ओटकर हे पार्थ! निर्दोष स्वरूप ब्रह्म का दिखाया जाता है।।३८०।। देश, काल, आदि के प्रभाव से पूर्ण, जिसमें परिवर्तन नहीं होता वह सत्ता अपने आपमें अखंडित है।।८१।। जो साकार जगत दिखाई देता है, वस्तुतः उसमें असतपन नहीं है, उसको देखकर स्वस्वरूप ही समझना चाहिये।।८२।। जिससे सर्वात्मक ब्रह्मरूप प्रशस्त कर्म उसका सत्संज्ञक ब्रह्म से ऐक्य करके उसको अपने साथ अद्वैत अनुभव से देखना चाहिये।।८३।। ऊँकार एवं तत्कार से जो कर्म ब्रह्मस्वरूप हुआ है ऐसा दिखाया जाता है, उस संस्कार को भी सन्मात्र से ही नष्ट करना चाहिये।।८४।। ऐसा यह अंतरंग सत्शब्द का विनियोग है, यह श्रीरंग कहते हैं, मैं नहीं कहता ऐसा ज्ञानदेवजी ने कहा।।८५।। मैं यदि मेरा मत यह है ऐसा कहूं तब श्रीरंग से द्वैत होगा, अतः यह मनोगत देव का ही है यह तुम जानो।।८६।। और भी एक प्रकार है, सात्विक सतशब्द कर्म पर जो उपकार

Funding by IKS-MoE

वह।।८७।। तो सत्त्कर्म शास्त्रोक्त। यथाविधि यदि चलत। तब भी रहे उसमें किंचित। व्यंग बाकी।।८८।। गात्रहीन शरीर। तब रुकत सब व्यापार। जैसे रथांग टूटने पर। गती रथ की।।८९।। वैसे किसी एक गुण बिन। जब सत् ही होवे असत निर्माण। कर्म में आवे असत्पन। धनुर्धर।।३९०।। तब ॐकार और तत्त्कार। होवे कर्म को नीका सहायकर। और सच्छब्द करे जीर्णोद्धार। असत् कर्म का।।९१।। नष्ट करे असतपन किरीटि। लावे सद्भाव की स्थिति। निजसत्व के शक्ति-। से सच्छब्द यहां।।९२।। दिव्य औषध रोगी को। सहाय जैसे पराजित को। वैसे उपकारी न्यून कर्म को। सच्छब्द पार्थ।।९३।। अथवा कुछ प्रमाद से। स्वमर्यादा भूलकर वैसे। आवे कर्म को जैसे। निषिद्धपन।।९४।। पथिक जब मार्ग चूकत। पारखी को भ्रम होवत। तब क्या-क्या न घटत। व्यवहार देखो।।९५।। अतः वैसे ही कर्म। छांडे अविचार से सीमा परम। असाधुत्व का दुर्नाम। प्राप्त उसको।।९६।। वहां यह सच्छब्दु। ॐ तत् दोनों से अनुविद्धु। प्रयोग से करे साधु। कर्म को उस।।९७।। लोह पारस का घर्षण। नदी गंगा से नाले का मिलन। या मृत को जैसा वर्षण। पीयूष का।।९८।। असाधु कर्म को वैसा। सच्छब्द प्रयोग वीरेशा। क्या कहे गौरव ही ऐसा। नाम का इस।।९९।। सच्छब्द का समझकर मर्म। यदि सोचोगे यह नाम। तब यही केवल ब्रह्म। जानोगे तुम।।४००।। देखो ॐ तत्सत् पार्थ। वचन वहां ले जात। वहां से सब यह प्रकाशत। दृश्य जात।।१।। वह जो निर्विशिष्ट। परब्रह्म चोख सुभट। उसका यह अंतर्गत। व्यंजक नाम।।२।। किंतु आकाश को आश्रय। आकाश का ही कौंतेय। इस नाम नामी का आश्रय। अभेद जात।।३।। आकाश में उदित। रवि ही रवि को प्रकाशत। वैसे नाम यह करत व्यक्त। ब्रह्म को ही पार्थ।।४।। अतः त्र्यक्षर यह नाम। वही जानो केवल ब्रह्म। इसीलिये जो जो कर्म। करेगा तू।।५।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते। कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

वे याग अथवा दान। या तपादिक गहन। होवे पूर्ण या रहे अपूर्ण। पंडुकुमर।।६।। किंतु पारस की कसौटी। न चोख न कीट की भाष किरीटि। वैसे ब्रह्मर्पित क्रिया निश्चित। ब्रह्मती होत।।७।। कर्म जब ब्रह्मार्पण। शेष न भेद पूर्ण अपूर्ण। जैसे नदी न दिखत भिन्न। सागर में।।८।। एवं पार्था तुझ प्रती। ब्रह्मनाम की यह शक्ति। निर्देशित इसकी उपपत्ति। प्राज्ञराय!।।९।। और एक-एक अक्षर। पृथक-पृथक सुवीर। कथित विनियोग नागर-। रीति से यहां।।४१०।। एवं ऐसा सुमहिम!। और यह ब्रह्मनाम। क्या अब जाना यह मर्म। पार्थ तुमने।।११।। अतः आगे इसकी श्रद्धा। रखकर अखंडित सर्वदा। जन्मबन्ध से सदा। पावे मुक्ति।।१२।। जिस कर्म में यह प्रयोग। अनुष्ठित सद्विनियोग। वहां वेदी ही यथासांग। अनुष्ठित जानो।।१३।।

Funding by IKS-MoE

करता है, उसको सुनो।।८७।। शास्त्रोक्त सत्कर्म यदि यथाविधि किये गये तब भी उसमें किंचित् न्यून शेष रहता है।।८८।। अवयव बिना शरीर के सब व्यापार रुक जाते हैं, रथचक्र टूटने पर जैसे रथ की गति रुक जाती है।।८९।। वैसे किसी एक गुण के बिना जब सत् ही असत् होता है, हे धनुर्धर! जो कर्म कर रहे हैं वह भी असत् होता है।।३९०।। तब ऊँकार एवं तत्कार कर्म को अच्छी तरह से मदद करते हैं, एवं सत् शब्द असत् कर्म का जीर्णोद्धार करता है।।९१।। हे किरीटि! वह असतपन को नष्ट करता है, सद्भाव की स्थितिपर ले आता है, वहां वह अपने सत्त्वशक्ति से सत् शब्द कर्म का असत्पन नष्ट करता है।।९२।। रोगी को दिव्य औषध दिया गया, पराजित को समय पर मदद मिली, वैसे हे पार्थ! कर्म की कमी दूर करने के लिये सत् शब्द उपकारी सिद्ध हुआ है।।९३।। अथवा कुछ गलती से, अपनी मर्यादा को भूलकर, कर्म को निषिद्धपन आता है।।९४।। पथिक रास्ता भूलता है, पारखी को भ्रम होता, व्यवहार में क्या नहीं घटता?।।९५।। अतः वैसे ही कर्म अविचार से अपनी मर्यादा छोड़ते हैं, तब उसको दुष्कर्म नाम प्राप्त होता है।।९६।। वहां यह सत् शब्द ऊँ तत् दोनों से जो ज्ञान में प्रौढ़ है, उसका उपयोग करने से उस कर्म को सत्कर्मत्व प्राप्त होता है।।९७।। लौह का पारस से स्पर्श होते ही वह सुवर्ण बनता है, गंदे नाले का गंगानदी से जब मिलन होता है तब वह गंगाजल बन जाता है, या मृत व्यक्तिपर अमृत वर्षा होने से वह जीवित होता है।।९८।। असत्कर्म को वैसा हे वीरेश! सत् शब्द का मर्म समझकर जब ब्रह्मनाम का विचार किया जावेगा, तब यही केवल ब्रह्म है ऐसा तुम जानोगे।।४००।। हे पार्थ! देखो। ऊँ तत् सत् शब्द वहां ले जाता है जहां से सब दृश्य संसार प्रकट होता है।।१।। वह स्थान कर्म रहित, शुद्ध परब्रह्म है, हे सुभट! ऊँ तत् सत् यह उसका अंतरंग किंतु उसको व्यक्त करनेवाला नाम है।।२।। किंतु जैसे आकाश नाम को आकाश ही आश्रय होता है, वैसे इस नाम एवं नाम नामी के आश्रय में अभेद है।।३।। आकाश में उदय होने वाले सूर्य को सूर्य ही प्रकाशित करता है, वैसे यह नाम, हे पार्थ! ब्रह्म को ही प्रकट करता है।।४।। अतः तीन अक्षरों का यह नाम वही केवल ब्रह्म समझना। अतः जो कर्म तू करेगा।।५।।

यज्ञ, तप, दान में से न्यूनता नष्ट होकर उसको संपूर्णता प्राप्त होवे उसको ही सत् कहते हैं, उसके लिये किये गये कर्म को सत् ऐसा कहते हैं।।२७।।

यज्ञ अथवा दान, कठिन तप होवे, वह पूर्ण होवे या हे पंडुकुमर। अधूरे रहे।।६।। किंतु पारस की कसौटी के पत्थर पर शुद्ध अशुद्ध की भाषा नहीं होती, वैसे किये हुये कर्म भगवान को समर्पित होते ही ब्रह्मरूप होते हैं।।७।। कर्म जब ब्रह्मार्पण होता है, पूर्ण, अपूर्ण का भेद तब शेष नहीं रहता, जैसे सागर में समर्पित होने पर नदी भिन्न नहीं दिखाई देती।।८।। एवं हे पार्थ! तुम्हें ब्रह्म नाम की यह शक्ति, हे बुद्धिमानो के राजा! उपपत्ति के साथ बताई है।।९।। और एक एक अक्षर, हे वीरश्रेष्ठ! विनियोग कैसा करना चाहिये यह अलग अलग रीति से प्राकृत भाषा में यहां कहा है।।४१०।। उत्तम महात्म्य जिसमें है ऐसा यह ब्रह्मनाम है। इसका मर्म हे पार्थ! क्या तुमने जान लिया?।।११।। इस नाम में तुम्हारी श्रद्धा अखंड रहने देना, इस नाम के विनियोग से हुआ कर्म जन्ममरण रूपी बंधन से नित्य मुक्त रखता है।।१२।। जिस कर्म में इस नाम का सद्विनियोग के साथ प्रयोग का अनुष्ठान होता वहां वेदों का ही अनुष्ठान होता है, ऐसा समझना।।१३।।

Funding by IKS-MoE

अश्रद्धया हुत दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

मार्ग यह छांडकर। आश्रय श्रद्धा का तोड़कर। सत्ता दुराग्रह की बढ़ाकर। धनुर्धर॥१४॥ फिर कोटि अश्वमेघ कीजे। रत्न भरकर पृथ्वी दीजे। एकांगुष्ट पर तप अनुष्टिजे। सहस्त्र वर्ष॥१५॥ सागर सम विस्तीर्ण। कीजे जलाशय निर्माण। किंतु वह व्यर्थ अर्जुन। जानो तुम॥१६॥ पत्थर पर जल वर्षण। किया भस्ममध्ये हवन। या दिया आलिंगन। छाया को पार्थ॥१७॥ नातर कभी थप्पड़ से। सारा गगन को जैसे। कार्य ये सब वैसे। हुए व्यर्थ॥१८॥ डाले कोल्हू में कंकड पाषाण। निकले न तेल न खली अर्जुन। वैसे केवल दारिद्र्यपूर्ण। नाम मंत्र बिन॥१९॥ मुद्रा के श्रम से खप्पर। पल्ले में यदि बांधकर। किया देश-विदेश सफर। मरे उपवास से॥४२०॥ वैसे कर्म जात से उन। प्राप्त न ऐहिक सुख अर्जुन। वहां करेगा अपेक्षा कौन। परत्र की॥२१॥ अतः ब्रह्मनाम श्रद्धा। छांडकर कीजे जो धंधा। जानो केवल श्रम ही सर्वदा। इह परलोक में वह॥२२॥ ऐसे कलुषकरिकेसरी। त्रितापतिमिरारी। श्रीवीरवरनरहरी। निरूपित स्वयम्॥२३॥ पोर्णिमा की चांदनी में जैसा। खोया चंद्र दिखत वैसा। निमग्न हुआ अर्जुन सहसा। निजानंद में॥२४॥ अहो युद्ध का व्यापार विचित्र। वहां नाप नाराच अणिया कठेर। लेवे जिवित्व समग्र तौलकर। मांस सहित॥२५॥ ऐसा कर्कश समय। कैसा भोगत स्वानंद राज्य। ऐसा न देखा भाग्योदय। इतरत्र कहीं॥२६॥ संजय कहे कौरवनाथ। रिपुगुण से होवे संतुष्ट। और यहां तो गुरुही पार्थ। आत्मसुख का॥२७॥ यदि न ये पूछे बात। देव न छोड़े गठरी की गांठ। तब होवे हमरी भेंट। परमार्थ से कैसी?॥२८॥ या अज्ञान रूप अंधेरे में। जन्ममरण के फेरे में। सो मुझे आत्ममंदिर में। लाया उसने॥२९॥ इतना हम और तुम पर। किया महान उपकार। अतः हुआ यह व्यास सहोदर। गुरुत्व से अपने॥४३०॥ तब संजय मन में कहत। यह स्तुति अतिशय नृपनाथ। न सहेगा इसलिये सांप्रत। न बोलू मैं॥३१॥ अतः यह बोली छांड़त। तब दूसरी कहे बात। जो कि पूछी पार्थ-। ने श्रीकृष्ण को॥३२॥ जैसा उसका प्रश्न। वैसा ही करूं मैं व्याख्यान। कहे ज्ञानदेव करना श्रवण। श्रीनिवृत्तिनाथ का॥३३॥

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिंदीअनुवादे
श्रद्धादिनिरुपणयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः (श्लोक २८ ओवियाँ ४३३)

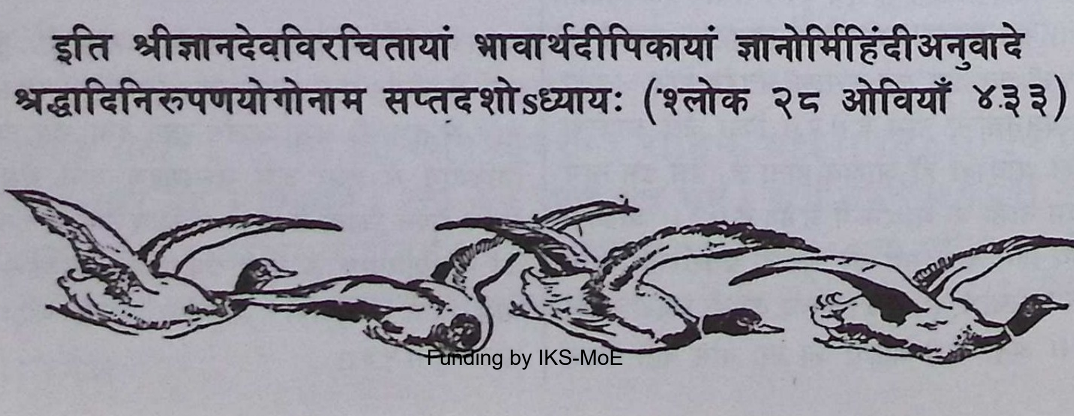

हे पार्थ! अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तप का आचरण किया हुआ कर्म, उसको असत् कहते हैं, मृत्यु के उपरांत परलोक में उसका फल नहीं मिलता, इहलोक में भी नहीं मिलता।।२८।।

यह मार्ग छोड़कर, श्रद्धा का आश्रय तोड़कर हे धनुर्धर! दुराग्रह की सत्ता बढ़ाकर,।।१४।। कोटी अश्वमेघ यज्ञ किये जायें, रत्न भरकर पृथ्वी का दान दिया, हजार वर्ष तक एक अंगूठे पर खड़े होकर तप का अनुष्ठान किया।।१५।। सागर के समान विशाल जलाशय निर्माण किये, किंतु हे अर्जुन! तुम उसको व्यर्थ समझना।।१६।। पत्थर पर जल की वर्षा होना, भस्म में हवन करना, हे पार्थ छाया को आलिंगन देना व्यर्थ होता है।।१७।। कभी आकाश को थप्पड़ मार दी, यह सब कार्य व्यर्थ होते हैं।।१८।। कोलू में कंकड़ एवं पत्थर डाल दिये , हे अर्जुन! उसमें से तेल नहीं निकलता न खली निकलती, वैसे नाम, एवं मंत्र के बिना केवल दारिद्र्य शेष रहता है।।१९।। मुद्रा के भ्रम से खप्पर पल्ले में बांधकर देश विदेश की सफर की तब वह धन के अभाव में उपवास करके मर जायेगा।।४२०।। वैसे कर्म से ऐहिक सुख प्राप्त नहीं होता हे अर्जुन! वहां परलोक की अपेक्षा कौन करेगा?।।२१।। अतः परब्रह्म का नाम श्रद्धा छोड़कर जो करता है, वह नित्य केवल इहलोक में एवं परलोक में श्रम ही करता है।।२२।। पापरूपी हाथी का नाश करनेवाले सिंह, त्रिविधतापरूपी अंधःकार के सूर्य, वीरों में श्रेष्ठ ऐसे श्री नरहरी स्वयं निरूपण कर रहे हैं।।२३।। पौर्णिमा की चांदनी में जैसा चंद्र खोया हुआ दिखता है वैसा अर्जुन आत्मानंद में निमग्न हो गया।।२४।। अहो! युद्ध का प्रसंग बड़ा विचित्र रहता है, बाणों में अग्र का वहां कठोर नाप होता है, समग्र मांस सहित जीवन तौलकर लेता है।।२५।। ऐसा कर्कश समय होते हुये अर्जुन स्वानंद के राज्य का कैसा उपभोग कर रहा है। ऐसा भाग्योदय अन्यत्र कहीं देखा नहीं।।२६।। संजय ने कहा, हे कौरवों के स्वामी! शत्रु के गुणों को देखकर संतोष होना चाहिये, यह अर्जुन इस समय हमको आत्मसुख देनेवाला गुरु ही समझना चाहिये।।२७।। यदि अर्जुन यह बात नहीं पूछता तब देव भी अपने गठरी की गांठ नहीं खोलते, तब हमारी परमार्थ से कैसी भेंट होती?।।२८।। अज्ञानरूप अंधेरे में, जन्म मृत्यु के फेरे में, मुझे आत्मप्रकाश के मंदिर में उन्होंने लाया।।२९।। इतना हम एवं तुमपर महान उपकार किया है, अतः गुरुत्व के रास्ते से यह व्यासजी का भाई हुआ है।।४३०।। तब संजय मन में कहता है, यह स्तुति नृपश्रेष्ठ धृतराष्ट्र को प्रिय प्रतीत नहीं होगी इससे सहा नहीं जायेगा अतः अब नहीं बोलूंगा।।३१।। अतः अर्जुन का गुणवर्णन उसने छोड़ दिया, तब दूसरी बात कहने लगा, जो श्रीकृष्ण को पार्थ ने पूछी थी।।३२।। जैसा उसका प्रश्न था, वैसा ही व्याख्यान मैं करूंगा, तुम अब श्रवण करो ऐसा निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव कहते हैं।।४३३।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

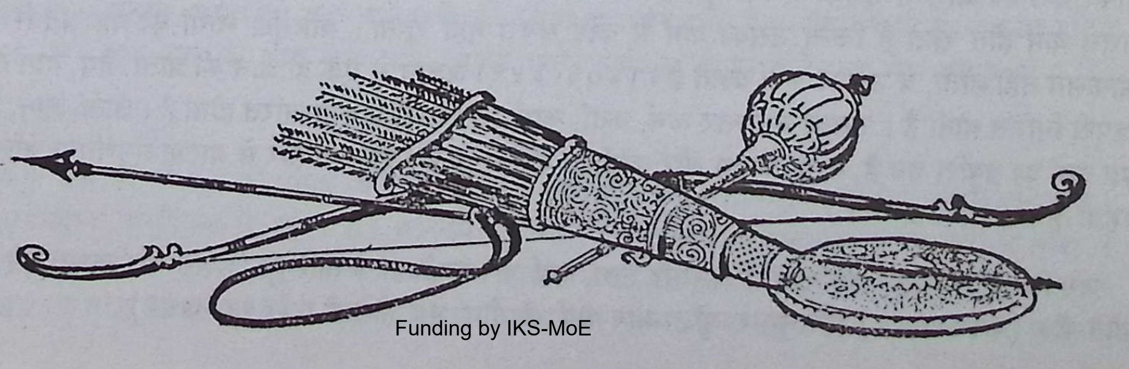

Funding by IKS-MoE

अध्याय - अठरहवाँ

सारांश

अतः त्याग और संन्यास। जानने का करके मिष। खोली वह तह खास। गीता वस्त्र की पुनः। अठरहवां केवल अध्याय नहीं। यह तो एकाध्यी गीता ही ।।अ. १८/८३-८४ ।।

(समुद्र मिलने के समय गंगा का पात्र जैसे विस्तृत होता है, उस प्रकार इस अध्याय की श्री ज्ञानदेवजी की टीका विस्तृत और अलंकारयुक्त है) इसमें गुरुवंदना की कुछ ओवियां संस्कृत के प्रचुर शब्दों से मंडित हैं। वंदनोपरान्त ज्ञानदेवजी श्री गुरु निवृत्तिनाथ को गीता भाष्य प्रारंभ की आज्ञा मांगते हैं। (१-२७)

आज्ञा प्राप्त होते ही ज्ञानदेवजी इस अध्याय का महत्व कथन करते हैं। इस अध्याय का अध्ययन करने से संपूर्ण गीता शास्त्र का आलोकन करने का श्रेय प्राप्त होता है। अठारह अध्याय और सातसौ श्लोकों से गीता ने केवल एक ही सिद्धांत का कथन किया है। जीव की संसार दुःख से मुक्ति होने के लिये एक मात्र उपाय है - ज्ञान। (२८-५९) त्याग और संन्यास के स्पष्टीकरणार्थ अर्जुन विनंति करता है। इस विज्ञप्ति से इस अध्याय की निर्मिति हुई। (६०-८१) भगवान कहते हैं- कर्म के सर्वस्व त्याग को 'संन्यास' कहते हैं और कर्म करके फल त्याग करना इसको 'त्याग' कहते हैं। मुमूक्षू ने काम्य कर्म का कभी भी आचरण नहीं करना चाहिये। (८२-१०९) काम्य और निषिद्ध कर्मो का त्याग और नित्य नैमित्तिक कर्मो का फल त्याग करना चाहिये। फलतः कर्ता आत्मज्ञान का अधिकारी होता है। (११०-१७७) फलत्यागपूर्वक कर्म करने से अंतःकरण शुद्धि होकर आत्मज्ञान निर्मिति होती है। विश्वाभास नष्ट होकर शुभाशुभ भेद भी नष्ट होता है। कर्ता, कर्म का भेद समाप्त होता है। इस प्रकार कर्मत्याग होता है। इस त्याग को सात्विक त्याग कहते हैं। (१७८-२१७)

हर एक मनुष्य मात्र ने कर्म करना चाहिये यह मेरा आग्रह है। जन्म-मरण का चक्र तो घूमता ही रहता है। जिनकी इच्छा समाप्त हुई वे इस भवचक्र से छूटते हैं। इन कर्मों के कारण मीमांक्षा सांख्य सिद्धांत में कथित है। (२१८-२८७) कर्मकारण मीमांसा कथन करते हुये भगवान अपने को भूल गये, अर्जुन भी प्रेम में मस्त हो गया। देव भक्तों का प्रेम संगम का प्रसंग ज्ञानदेवजी ने बड़े क़ोमलता से चित्रित किया है। (२८८-३०३) देव कहते हैं - आत्मा सबसे अलिप्त है। कर्मो के कारण पांच हैं -१. देह, २. मूल स्वरूप विस्मृत जीव, ३. ज्ञानेंद्रिया, ४. प्राण वायु के भेद, ५. दशेंद्रियों पर अनुग्रह करने वाली देवताएं। जन्म-मरण चक्र से छुटकारा पाने के लिए कर्म पाश मुक्त पुरुषों का रहन-सहन देखकर विचार करना चाहिये, उनको भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। (३७७-४०२) यह मुक्त पुरुष होने के पूर्व विश्व को भिन्नत्व से देखता था। किन्तु गुरुपदिष्ट 'तत्त्वमसि' वाक्य के निदिध्यास से उसको अपना मूल स्वरूप आनंद अद्वय सर्वत्र दीखने लगा। यावत देह खड़ा है तावत् उससे कर्म होते रहते हैं किन्तु उसका कर्म से कोई संबंध नहीं रहता। बहिर्मुख लोगों को यह अंतःस्थिति आकलन नहीं होती, वे उसको कर्ता कहते हैं। (४०३-४५९) अज्ञान से एक ही ज्ञान की ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान ऐसी त्रिपुटी निर्मित होती है। उसका रूपान्तर कर्म, कर्ता, कार्य इस त्रिपुटी में रूपान्तरित होता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय यह कर्म का प्रवृत्ति त्रय है, कर्ता, कारण और कार्य यह कर्म संग्रह है। इस व्यवहार से आत्मा संपूर्णतया अलिप्त रहता है। (४६०-५१६)

जग त्रिगुणात्मक है। इन गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्मकर्ता के सात्विक, राजस और तामस ऐसे भेद होते हैं। (६१७-६८९) गुणानुसार बुद्धि और धैर्य के तीन भेद होते हैं। (६९०-७६२)

कर्म के अनुकूल फल को सुख कहते हैं, वह भी त्रिविध है। (७६३-८२०) इस गुणत्रय ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह तीन देवता, त्रिलोक, वर्ण चतुष्टय की निर्मिति की। ब्राह्मणों को शम, दमादि नव कर्म, क्षत्रियों को शौर्य तेजादि कर्म, वैश्यों को कृषि, वाणिज्य और शूद्रों को वर्णत्रय की सेवा इस प्रकार वर्णानुरूप कर्म शास्त्र कथित है। विहित कर्माचरण से मैं सर्वात्मक प्रसन्न होता हूं। और वैराग्य का प्रसाद देता हूं। (७६३-९२१) विहित कर्माचरण कष्टप्रद है, परंतु उनका त्याग योग्य नहीं। ईश्वरप्रसाद प्राप्त वैराग्य से साधक को संसार का ममत्व नहीं रहता। दृढ़ वैराग्य पदारूढ़ व्यक्ति को सद्‌गुरु लाभ होता है। सद्‌गुरु ज्ञानोपदेश करते हैं। विवेक से चित्तमल नष्ट होकर बुद्धि आत्मचिंतन मग्न होती है। वह योग साधना ही करता है। इस रास्ते में निम्न लिखित शत्रु हैं — देहाहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह। इन षट् रिपुओं पर विजय पाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। शांति मिलती है, अद्वैतानुभूति होती है। यह मेरी श्रेष्ठ भक्ति है। इस भक्ति को चतुर्थ भक्ति कहते हैं। वस्तुतः यह मेरी सहज स्थिति है। (९२१-१२२३) इस अध्याय के ५६ वें श्लोक से श्रीकृष्ण पुनः साधन कर्म कथन करते हैं। गीता वेद मूर्ति होने के कारण उसका स्वतः प्रामाण्य है। (१२२४-१२४५) ईश्वर शरणागति से अदृष्य से मुक्ति। (१२४६-१३२२) अर्जुन को दृढ़ालिंगन देकर उसको स्वरूप प्राप्ति करा देते हैं। (१३२३-१४२५)

श्री ज्ञानदेवजी के मतानुसार वेदों से गीता की योग्यता अधिक है। संसार तप्त स्त्री शूद्रों को उद्धार करने के लिये वेदों ने गीता का अवतार लिया। ज्ञानदेवजी अर्जुन की प्रशंसा करते हैं। धन्य है वह अर्जुन और धन्य है उसका पवित्र कुल। (१४२६-१४७२) गीता शास्त्र श्रवण अनन्त जन्मों का पुण्य फल है किन्तु शास्त्र संप्रदायपूर्वक यदि अनुष्ठान न हो, तो वह श्रवण निष्फल होता है। गीता का अधिकारी, तपी, देव और गुरु का भक्त होना आवश्यक है और इस अधिकारी पुरुष को ईश्वर प्रसन्न हो इस एक मात्र हेतु से गीता कथन करेगा वह गीतावक्ता मुझे बहुत प्रिय है। (१४७३-१५३९) श्रीकृष्ण ने आलिंगन देते ही अर्जुन समाधिमग्न हो गया। अर्जुन को देहभान पर लाने के लिये श्रीकृष्ण प्रश्न करते हैं। अर्जुन ने 'करिष्ये वचनं तव' ऐसे कहते ही श्रीकृष्ण को अपने देवत्व की विस्मृति हो गयी और वे आनंद से नाचने लगे। संजय यह दृश्य देखकर आनंदित हुआ। परंतु इसके विपरीत धृतराष्ट्र की स्थिति थी। धृतराष्ट्र संजय को 'युद्ध में' किसकी विजय होगी ऐसा प्रश्न पूछता है। स्पष्टतोत्तर तो अपने स्वामी को पसंद नहीं आयेगा, इस विचार से संजय चतुराई से उत्तर देता है। जिस पक्ष में श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, निःसंशय उस पक्ष का विजयी होकर वहां सुख और कल्याण की स्थिति होगी। (१५४०-१६५८)

ज्ञानदेवजी गीता की महती और फलवर्णन करते हैं। गीता का अंतिम श्लोक गीता का सार है। गीता के श्रवण निदिध्यासन से साधक ब्रह्मस्वरूप हो जायेगा। (१६५९-१७१५) ज्ञानेशजी श्री व्यायजी का गौरव करते हैं। गुरु विषयक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। वैसे तो अंतर्मुख वृत्ति संपन्न श्रोता इस ग्रंथ के अधिकारी हैं। किंतु इतर साहित्यिकों को साहित्य और काव्य का आनन्द प्राप्त होगा। (१७१६-१७५०)

ज्ञानेशजी भी अपनी गुरु परंपरा कथन करते हैं। आदि गुरु शंकर-पार्वती, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव। यहां ज्ञानेशजी की नम्रता दृग्गोचर होती है। श्रोताओं को वंदन करते हुये वे कहते हैं, मेरे चूक-भूल की आप क्षमा करें, आपके चरण रजों का दर्शन होना यह मेरा महत् भाग्य है। (१७५१-१७९२)

ग्रंथ के अन्त में श्री गुरु को प्रसाद भिक्षा की याचना करते हैं। इसी को 'पसायदान' (प्रसाददान) कहते हैं। यह 'पसायदान' अलौकिक है, अमर है। ज्ञानदेव जी कहते हैं — संसार के दुष्ट और खल लोगों के वृत्ति में आमूलाग्र बदल होकर उनको दुष्कर्म का त्याग और सत्कर्म करने की बुद्धि हो जावे। परस्पर बंधुत्व स्थापित हो। धर्म की वृद्धि होकर सब लोग सुख संपन्न हों। लोग भगवत्सेवा में अपना जीवन व्यतीत करें। यह सब

साकार करने के लिये संत-महात्माओं का सत्संग इस धरातल पर निरन्तर मिलना चाहिये। (१७९३-१८०१) 'तथास्तु' ऐसा श्री गुरु निवृत्तिनाथ ने आशीर्वचन दिया। ग्रंथ लेखन स्थल (नेवासे), लेखनकाल (शके १२१२) और लेखन करने वाले (सच्चिदानंद बाबा) लेखक, इसका उल्लेख करते हुये प्रसन्न अंतःकरण से ज्ञानेशजी ने ग्रंथ की समाप्ति की। (१८०१-१८१०)

इसके पश्चात कालान्तर से ज्ञानेश्वरी में कुछ पाठभेद, प्रविष्ट हो गये। उसको निकालकर श्री एकनाथजी ने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ की शुद्धि की। तत् संबंधी चार ओवियां प्रस्तुत हैं। (१-४)

अनुवादिका द्वारा श्री ज्ञानेश्वरजी एवं ज्ञानेश्वरी ग्रंथ गौरव संबंध में भावांजली के रूप में पांच अंतिम ओवियां अर्पित हैं।

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - अठारहवाँ

जयजय देव निर्मल। निजजनाखिलमंगल। जन्मजराजलदजाल-। प्रभंजन।।१।। जयजय देव प्रबल। विदलितामंगलकुल। निगमागद्रुमफल। फलप्रदत।।२।। जयजय देव सकल। विगतविषयवत्सल। कलितकालकौतुहल। कालातीत।।३।। जयजय देव निश्चल। चलितचित्तपानतुंदिल। जगदुन्मीलनाविरल। केलि प्रिय।।४।। जयजय देव निष्कल। स्फुरदमंदानंदबहुल। नित्यनिरस्ताखिलमल। मूलभूत।।५।। जयजय देव स्वयंप्रभ। जगदंबुद्गर्भनभ। भुवनोद्भवारंभस्तंभ। भवध्वंस।।६।। जयजय देव विशुद्ध। अविद्योद्यानद्विरद। शमदममदनमदभेद। दयार्णव।।७।। जयजय देवैकरूप। अतिकृतकंदर्पसर्पदर्प। भक्तभावभुवनदीप। तापापह।।८।। जयजय देव अद्वितीय। परिणतोपरमैकप्रिय। निजजनजित भजनीय। मायागम्य।।९।। जयजय देव श्रीगुरो। अकल्पनाख्यकल्पतरो। स्वसंविद्द्रुमबीजप्ररो-। हणावनी।।१०।। क्या यह एकैक ऐसे। नाना परिभाषा वश से। स्तवन करे तुम्हारे उद्देश्य से। निर्मिशेष तुमको।।११।। जो जो देना विशेषण। वह दृश्य न आपका रूप गुण। जानकर यह मेरा मन। लज्जित वर्णन को।।१२।। मर्यादा पालत सागर। लौकिक ऐसा उसका सुवीर!। जब तक न देखे सुधाकर। उदियमान।। ।।१३।। निजनिर्झर से सोमकान्त। अर्ध्यचन्द्र को न देत। जो चन्द्रही स्वतः। करावत वही।।१४।। न जाने कैसे

Funding by IKS-MoE

ज्ञानेश्वरी

अध्याय - अठरहवाँ

हे निर्मल गुरुदेव। आपका जयजयकार हो। भक्तजनों के लिये आप सर्वतोपरि मंगल हैं। जन्म, मृत्यु एवं वार्धक्यरूपी मेघों को भगानेवाले प्रभंजन हैं।।१।। हे सर्व शक्तिमान प्रभो। आप अमंगल को नष्ट करनेवाले हैं। जीव को वेदशास्त्ररूपी वृक्ष का फल प्राप्त कराने वाले हो।।२।। हे देव आप स्वरूपतः संपूर्ण हैं। जिनकी विषयवासना नष्ट हुई है ऐसे विरक्तों के प्रति आपके मन में स्नेह है। सर्वनाश करानेवाले काल को लीलया आपने अपने अधिकार में रखा है। ऐसे कालातीत आपकी जयजयकार हो।।३।। हे निरुपाधिक! आपके पास स्फुरित होनेवाला महानन्द प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। आपने समस्त मलों को निरस्त किया है। अखिल जगत का आप मूलस्थान हो।।४।। हे स्वयंप्रकाश! जगत्रूपी मेघ गर्भ के निवासस्थान आप आकाश हैं। त्रिभुवन की उत्पत्ति के आधार स्तंभ हैं। आप संसारदुःख का नाश करनेवाले हैं। आपकी जयजयकार हो।।५।। हे देव! आप स्थिर हैं। चंचल चित्त के भक्तों के मन का मान करके आप पुष्ट हुये हैं। जगत को प्रकट करने का अविरल खेल आपको प्रिय है। अीपका जयजयकार हो।।६।। हे देव आप विशुद्ध हैं। अज्ञानरूपी उद्यान का विध्वंस करनेवाले आप हाथी हैं। शमदम द्वारा मदन का गर्व हरण करनेवाले हैं। हे दयासागर! आपका जयजयकार हो।।७।। हे भगवद्स्वरूप गुरुदेव! अपमानित किए हुए मदनरूपी सर्प का गर्व हरण करनेवाले आप हैं। भक्तों के भावभवन के आप दीपक हैं। त्रिविध ताप नष्ट करनेवाले हैं। मैं आपकी जयजयकार करता हूं।।८।। हे देव! आप अद्वितीय हैं। जिनकी बुद्धि परिपक्व हुई है, ऐसे शांत परिणत प्रज्ञ पुरुषों को प्रिय! अपने भक्तों से वश किए हुए भजनीय!! आपकी जयजयकार हो। आप तो माया के लिये भी अगम्य हैं।।९।। हे श्री गुरुदेव! निर्विकल्प ब्रह्म प्राप्ति करा देनेवाले आप कल्पतरू हैं। आप आत्मज्ञान के वृक्ष हैं। प्रकृतिरूप बीज का अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप पृथ्वी आप ही हैं। हे गुरुदेव आपकी जयजयकार हो।।१०।। इस प्रकार से विविध भाषा में, आपकी स्तुति करने के उद्देश्य से कैसी स्तुति करूं? आप तो निर्विशेष हो।।११।। जिस विशेषण से आपकी स्तुति करता हूं, वह आपका दृश्य स्वरूप एवं गुण नहीं है यह जानकर मेरा मन वर्णन करते हुये लज्जित होता है।।१२।। सागर मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता ऐसी उसकी प्रसिद्धि है। हे वीरश्रेष्ठ! जब तक सुधाकर आकाश में उदित नहीं होता तब तक वह स्थिर दिखाई देता है।।१३।। सोमकान्त मणि अपने शरीर से झिरनेवाले जल से

वसंतसंग। अवचित वृक्ष के अंग। प्रस्फुटत वैसे उनके जोग। स्थिति मेरी।।१५।। छुए पद्मिनी को रवि किरण। तब वहां लजावत कौन?। या जल स्पर्श से अंग लवण। भूलत अपना।।१६।। वैसे जहां आपका मुझे स्मरण। वहां मैं विस्मरत मैं-पन। अनावर होवे क्षुधा तृप्त मन-। को डकार जैसा।।१७।। जी आपने मुझे किया वैसा। मेरा मैंपन भुलाकर जैसा। बांधा बावलापन वाचा को तैसा। स्तुतिमिष से।।१८।। नातर रखकर स्वस्मरण। करना जब स्तवन। गुण निर्गुण का विवेचन। करना ही प्राप्त।।१९।। किन्तु आप एकरसका प्रतीक। कैसा करूं गुणागुण विवेक। क्या फोड़कर मोती जोड़ना ठीक। या वैसा ही भला।।२०।। और आप माता पिता। बोल से न स्तुति तत्त्वता। डिंभोपाधि से सर्वथा। दोष वहां।।२१।। यदि स्वयं को पाईक कहना। स्वामीपन आपका कैसे बखानना। कैसे उपाधि से करना। दूषित उसे।।२२।। यदि आत्मा आप एकसर। यह भी कहते दातार!। तब अन्तर से आपको बाहर। खींचना प्राप्त।।२३।। अतः साच ही आपका स्तवन-। प्रीत्यर्थ शब्द न जग में स्वामिन्। मौन बिन और आभूषण। चढ़ाउं क्या?।।२४।। स्तुति कुछ न बोलना। पूजा कुछ भी न करना। विभक्त होकर न रहना। सन्निध आपके।।२५।। किंतु पछाड़कर भ्रान्ती से। बावला बर्रावत जैसे। वर्णन को भी मेरे वैसे। सहियो आप।।२६।। अब गीतार्थ की मुक्त मुद्रा। लगाईये मेरी वाग्वृद्धि को दातारा!। जिससे पावे वह मान पूरा। सज्जन सभा में।।२७।। वहां कहत श्रीनिवृत्ति। करो न बारम्बार बिनति। क्या पारस पर लोह की धृष्टि। अवश्य पुनः-पुनः।।२८।। तब विनय कहत ज्ञानदेव। कहत दीजे प्रसाद यह। जो अवधाव देवे देव। ग्रंथनिरूपण में मेरे।।।२९।। जी गीतारत्नप्रासाद का। कलश अर्थ चिंतामणि का। संपूर्ण गीतादर्शन का। मार्गबोधक जो।।३०।। ज़नसामान्य का यह मत। जो दूर से कलश देखत। और दर्शनफल हस्तगत। देवताओं का।।३१।। वैसा ही यहां होय। जो यह एकहि अध्याय। संपूर्ण गीता का स्वाध्याय। होवे सहज।।३२।। मैं कहूं कलश इसी कारण। इस अष्टादश अध्याय को पूर्ण। चढ़ावत जो बादरायण। गीताप्रासाद को।।३३।। कलश के बाद कोई। काम प्रासाद का शेष नाहीं। वैसा अध्याय यह कहत यही। समाप्ति गीता की।।३४।। श्री व्यास श्रेष्ठ सूत्रधार। निगमाचल भूमि में ऊसर। खोदी खदान सुन्दर। उपनिषदार्थ की यह।।३५।। वहां त्रिवर्ग के अपार। कंकड़ जो निकले अणुयार। महाभारत रूप प्राकार। बनाया उनसे।।३६।। आत्मज्ञान के एकाकार। चुनकर समान पत्थर। रचा पार्थ- वैकुंठ संवाद मंदिर। कुशलता से।।३७।। निवृत्तिरूप सूत्र डालकर। सर्व शास्त्रार्थ मिलाकर। साधी मोक्षरेखा निश्चित कर। रचना चारू।।३८।। ऐसा उभार करत। अध्याय पंद्रहपर्यन्त। भूमि शुद्धि से प्रासाद तक होत। परिपूर्ण वह।।३९।। आगे सोलहवां अध्याय। वही ग्रीवा घंटा होय। सप्तदश वही ठाँव। कलाशाधार।।४०।। उसके भी ऊपर अष्टादश। वह सहज रक्खा कलश। उपर लहराया गीता का श्री व्यास-। ने ध्वज

चंद्र को अर्ध्य समर्पण नहीं करता! चंद्र स्वयं उससे यह करवाता है।।१४।। वसंत ऋतु की संगति में वृक्ष शरीर पल्लवित एवं प्रफुल्लित होते हैं तब वसंत अपनी योग्यतानुसार पल्लव, पुष्पों को धारण करता है। वैसी मेरी स्थिति है।।१५।। पद्मिनी को रवि किरणों का स्पर्श होते ही विकसित होने में लज्जा कैसी? जल का स्पर्श होते ही नमक अपने शरीर को भूल जाता है।।१६।। वैसे ही आपका स्मरण होते ही मेरे अहं का विस्मरण होता है। भोजन से तृप्त मनुष्य डकार देता है।।१७।। आपने मुझे वैसा बनाया। मेरा अहंकार भुला दिया। स्तुति के निमित्त से मेरी वाणी पगलायी गयी है।।१८।। स्वयं का स्मरण रखते हुए जब स्तुति करते हैं, तब गुण निर्गुण का विवेचन कर सकते हैं।।१९।। किंतु आप तो एक रसका प्रतीक हो। आपका गुणागुण का विवेक कैसा करूं? मौक्तिक को फोड़कर जोड़ना क्या उचित होगा? या अखण्ड रखना उचित होगा?।।२०।। आप माता-पिता हो। ऐसा कहने से आपकी तत्त्वत: स्तुति नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें द्वैत का बोध होता है। बालक की उपाधि से मातृत्व, पितृत्व धर्म प्राप्त होता है।।२१।। मैं आपका दास हूं ऐसा कहने से आपके स्वामित्व का मैं कैसे वर्णन करूं? उपाधि से उसको दूषित करना होगा।।२२।। आप आत्मा हो ऐसा कहने से सर्वव्यापक आपको बाहर खींचना होगा।।२३।। अतः हे स्वामी! आपके स्तुति के लिये योग्य शब्द इस जग में नहीं है। अतः मौन बिन अन्य आभूषण क्या चढ़ाऊंगा।।२४।। कुछ न बोलना आपकी स्तुति है। कुछ न करना आपकी पूजा है। विभक्त होकर नहीं रहता, आपका सान्निध्य चाहिये।।२५।। बावला व्यकित भ्रान्ती से ऐसे बड़बड़ाता रहता है, तद्वत मैंने किये हुये वर्णन को आप सह लीजिये।।२६।। हे दाता! मेरी वाणी विकसित होवे इसलिये उसे मुक्तमुद्रा लगाईये, जिससे वह गीता का अर्थ कह सकेगी, एवं सज्जनों की सभा में उसे सम्मान प्राप्त होगा।।२७।। तब निवृत्तिनाथजी ने कहा, अब बार-बार प्रार्थना नहीं करना। सुवर्ण बनने के लिए बार बार लोहे को पारस का स्पर्श करने की क्या आवश्यकता है?।।२८।। मेरे ग्रंथ निरूपण में आप अवधान देंगे यही मेरे लिए प्रसाद है ऐसा ज्ञानदेवजी ने विनय से कहा।।२९।। श्री गीता रत्न मंदिर का (यह अध्याय) अर्थरूपी चिंतामणि रत्न का कलश है। संपूर्ण गीता के दर्शनशास्त्र का बोध करानेवाला है।।३०।। सामान्य जन ऐसा कहते हैं कि दूर से कलश दर्शन करने से मंदिर स्थित भगवान का दर्शन हुआ ऐसा समझना चाहिये।।३१।। वैसा यहां भी है। इस एक अध्याय से संपूर्ण गीता का स्वाध्याय होता है।।३२।। इसी कारण से मैं इसको कलश कहता हूं। व्यास महर्षि ने गीता रत्न मंदिर पर अठारहवे अध्याय का कलश चढ़ाया है।।३३।। कलश के अनन्तर प्रासाद का कोई काम शेष नहीं रहता। गीता समाप्त हुई ऐसा यह अध्याय सूचित करता है।।३४।। श्री व्यास श्रेष्ठ सूत्रधार हैं। वेदरूपी ऊसर भूमिपर उपनिषदार्थ रूपी यह सुंदर खदान उन्होंने खोदी है।।३५।। वहां धर्म, अर्थ एवं कामरूपी तीन प्रकार के जो सूक्ष्म कंकड़ निकले, उससे उन्होंने गीता मंदिर के चारों तरफ महाभारतरूपी प्राकार बनाया।।३६।। आत्मज्ञानरूपी एक आकार के पत्थर चुनकर पार्थ वैकुंठनायक के संवाद्‌रूपी मंदिर को कुशलता से बनाया।।३७।। निवृत्तिरूप सूत्र से मोक्षरेखा निश्चित करके सर्व शास्त्रार्थ मिलाकर मंदिर की सुंदर रचना की।।३८।। इस प्रकार से पंद्रह अध्याय पर्यंत भूमि शुद्धि से प्रारंभ करके (गीता) मंदिर का कार्य पूर्ण हुआ।।३९।। ऊपर सोलहवां अध्याय गोलाकार ग्रीवा घंटा बनाया। सतरहवां अध्याय कलश का आधारस्थान बनाया।।४०।। (आधारस्थान पर) स्वाभाविक कलश विराजमान हुआ। उसके ऊपर सुन्दर व्यास

Funding by IKS-MoE

सुन्दर।।४१।। अतः पूर्व निरूपित अध्याय सत्रह। वह भूमि के चढ़ते स्तर। पूर्णता उनकी दिखावत धनुर्धर। अंग से अपने।।४२।। पूर्ण कार्य में नहीं न्यून। यह स्पष्ट करे कलश दर्शन। वैसे अष्टादश में गीता विवरण। साद्यंत जानो।।४३।। इसविध श्री व्यास ने गीता मंदिर। बनाकर कुशलता से अतिसुन्दर। नाना प्रकार से किया उद्धार। प्राणिमात्र का।।४४।। एक परिक्रमा जपपाठ से। करत इसकी बाहर से। एक तो श्रवण मिष से। बैठत छाया में इसके।।४५।। कोई अवधान देकर। बीड़ा दक्षिणा लेकर। प्रवेशत गर्भगृह में भीतर। अर्थज्ञान के।।४६।। वे निजबोध से सत्त्वर। आत्मा श्रीहरि से भेटत नर। किन्तु मोक्षप्रासाद में बराबर। योग्यता सबको।।४७।। समर्थ गृह के पंक्ति में। एकहि पक्वान्न ऊंचनीच को उसमें। न भेद श्रवण अर्थ पठन में। प्राप्त मोक्ष ही।।४८।। ऐसा गीता वैष्णव प्रासाद। अष्टादश अध्याय कलश विशद। मैंने निरूपित किया यह भेद। विवेकपूर्वक।।४९।। अब सप्तदश पश्चात। क्यों अष्टादश हुआ प्रवृत्त। देखे दृष्टि आपकी स्पष्ट। कहूं संबंध ऐसा।।५०।। जैसा गंगा जमुना उदक। ओघ बल से पृथक। दिखावत होकर एक। जलरूप से।।५१।। नष्ट न होते दोनों आकार। निर्मित हुआ एक शरीर। यह अर्धनारीनटेश्वर। रूप में प्रकट।।५२।। शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन। कला बिंब में वर्धमान। किन्तु न स्तर भिन्न-भिन्न। चंद्र में कोई।।५३।। चारों पद भिन्न जैसे। श्लोक में श्लोकावच्छेद से। अध्याय अध्याय भेद से। भासत भिन्न।।५४।। किन्तु देखे यदि ग्रंथ सिद्धांत। एकता ही दिखत सर्वत्र। जैसे रत्नमणि बहुत। किंतु सूत्र एक।।५५।। मोती पिरोकर विपुल। बने एकावली माल। परन्तु शोभा का रूप उज्जवल। एक ही वहां।।५६।। फूल-फूल माला नाना। अंगुली से न होवे दृति की गणना। जाने श्लोक अध्याय रचना। उसी समान।।५७।। एवं सप्तदश श्लोक। अष्टादश अध्याय के लेख। किन्तु बोलत देव तत्त्व एक। अन्य नाहीं।।५८।। मैंने भी न छोड़ी वह रीत। गीतार्थ किया अभिव्यक्त। तदनुसार आप भी प्रस्तुत। सुनो निरूपण।।५९।। तब सप्तदश अध्याय-। पूर्व के अंतिम श्लोक में देव। अर्जुन के प्रति कहत यह। सुनिश्चित।।६०।। ब्रह्मनाम विषय में धनुर्धर। आस्तिकी बुद्धि जोड़कर। किया जितना कर्म व्यवहार। असत हुआ वह।।६१।। सुनकर देव का यह वचन। डोलन लागा अर्जुन। कहे कर्मनिष्ठापर दूषण। रखा देव ने।।६२।। वह अज्ञानांध पामर। न जाने सर्वव्यापी ईश्वर। आगे का इतना उसको विचार। सूझे कैसे?।।६३।। और रज तम दोनों ही। संपूर्ण लुप्प बिनही। न पावे श्रद्धा सात्त्विक ही। ब्रह्माभिधान।।६४।। तब शस्त्र को आलिंगना। और डोर के ऊपर खेलना। अथवा नागिन से क्रीड़ना। नाशकारी।।६५।। वैसे कर्म श्रद्धाहीन। पुनर्जन्म का कारण। ऐसा दुर्गुण बड़ा दारुण। कर्म में पार्थ।।६६।। होवे यदि ऋजु उपाय में क्वचित्। तब योग्यता ज्ञान की पावत। अन्यथा इससे प्राप्त। निरयाल यही।।६७।। ऐसी कर्म मार्ग में भारत!। बाधाएं इसी सीमातक अनन्त। तब कहो कैसा हो मोक्ष

Funding by IKS-MoE

ध्वज फहराया।।४१।। अतः पहिले अध्याय से सतरह अध्याय भूमि से मंदिर का विकास पूर्णता से दिखाते हैं।।४२।। पूर्ण हुये कार्य में कुछ भी न्यून नहीं है यह कलश दर्शन से स्पष्ट होता है। अतः अठारह अध्याय में श्री गीता का पूर्ण विवरण है ऐसा समझना।।४३।। इस प्रकार से श्री व्यासजी ने कुशलता से अत्यंत सुंदर गीता मंदिर बनाकर। प्राणिमात्र का विविध प्रकार से उद्धार किया।।४४।। कोई (भक्त) जपपाठ करके इसकी परिक्रमा करते हैं। कोई श्रवण करके इसकी छाया में (शांति के लिए) बैठते हैं।।४५।। अंतरंग अधिकारी विड़ा-दक्षिणा (मनन निदिध्यासका) रखकर अर्थज्ञान के गर्भगृह में प्रवेश करते हैं।।४६।। वे आत्मज्ञान प्राप्त करके आत्माराम श्री हरि का आलिंगन करते हैं। किंतु मोक्षप्रसाद में सबको समान योग्यता है।।४७।। समर्थ एवं धनी, उदार गृह में एकहि मिष्ठान्न ऊंच, नीचे को परोसा जाता है। वैसे श्रवण, अर्थ एवं पाठ करनेवालों को मोक्ष ही प्राप्त होता है।।४८।। गीता मंदिर वैष्णव प्रासाद है। अठारहवां अध्याय विशद कलश है। मैंने विवेकपूर्वक यह भेद स्पष्ट किया है।।४९।। सतरह अध्याय के अनन्तर अठारह अध्याय क्यों लिखा यह आपकी दृष्टि में स्पष्ट होने के लिए उसका संबंध ज्ञानदेवजी बताते हैं।।५०।। जैसे गंगा एवं जमुना नदी के प्रवाह पृथक होते हुए भी जलरूप से एक होकर दिखता है।।५१।। दोनों आकार नष्ट न होते भी एक शरीर होता है, यह अर्धनारीनटेश्वर के रूप में प्रकट होता है।।५२।। शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन चंद्रकला बढ़ती है, किन्तु हे पार्थ! चन्द्र में विभिन्न स्तर दिखाई नहीं देते।।५३।। श्लोक में चारों पद अलग होते हैं। श्लोकावच्छेद से एक अध्याय दूसरे से अलग दिखाई देता है।।५४।। किंतु ग्रंथ में, सिद्धांत में, सर्वत्र एकता ही दिखती है। जैसे रत्नमणि विभिन्न होते हुए भी उसमें सूत्र एक होता है।।५५।। विपुल मोती पिरोकर एकावली मात्रा बनती है। किन्तु उसमें उज्जवल शोभा एक ही होती है।।५६।। विभिन्न फूलों से माला बनती है। किन्तु सुगंध की गिनती अंगुली से नहीं होती। उसीके समान श्लोक एवं अध्याय की रचना समझना चाहिये।।५७।। श्री गीता के सात सौ श्लोक एवं अठारह अध्याय में भगवान ने एकहि सिद्धांत प्रकट किया है। अन्य नहीं।।५८।। मैंने भी वह पद्धति न छोड़ते हुए भगवद्गीता का अर्थ स्पष्ट किया है। उसके अनुसार आप भी प्रस्तुत निरूपण सुनिये।।५९।। सतरह अध्याय पूर्ण होते समय भगवान ने अंतिम श्लोक में सुनिश्चित रूप से अर्जुन से कहा।।६०।। हे धनुर्धर! ब्रह्मनाम के विषय में आस्तिक्य बुद्धि छोड़कर जितना कर्म किया जाता है वह असत् व्यवहार होता है।।६१।। भगवान की यह वाणी सुनकर अर्जुन डोलने लगा। कर्मनिष्ठा पर भगवान ने अच्छा दूषण रखा है।।६२।। अज्ञानांध जीव सर्वव्यापी ईश्वर को नहीं जानते। भविष्य का इतना विचार वे बेचारे कैसे कर सकेंगे?।।६३।। रजोगुण एवं तमोगुण संपूर्णतः नष्ट हुए बिना ब्रह्मनाम में सात्विक श्रद्धा कैसी उत्पन्न होगी?।।६४।। तब जैसे शस्त्र को आलिंगन देना, या डोर बांधकर उसके ऊपर खेलना, या नागिन के साथ क्रीड़ा करना नाशकारी होता है।।६५।। वैसे श्रद्धा विरहित कर्म पुनर्जन्म का कारण समझना चाहिये। हे पार्थ! कर्म में बड़ा दारुण दुर्गुण है।।६६।। क्वचित् ऋजु उपाय से कार्य यथासांग संपन्न होते ही ज्ञान की योग्यता प्राप्त होती है। अन्यथा इसी कर्म से नरक प्राप्ति होती है।।६७।। हे भारत! कर्ममार्ग में इसप्रकार से अंततक अनंत बाधाएं आती हैं। तब इन कर्मठों को कैसा मोक्ष

प्राप्त। कर्मठों को इन।।६८।। कर्म का यह दैन्य जावे। सर्वथा उसका त्याग होवे। जीवन में अव्यंग आवे। संन्यास पूर्ण।।६९।। जहां कर्म बाधा को कोई। या जन्ममरण की व्यथा नाही। होवे आत्मज्ञान वही। स्वाधीन जिसके।।७०।। जो ज्ञान का आवाहन मंत्र। ज्ञानोत्पत्ति का सुक्षेत्र। अथवा ज्ञानाकर्षक सूत्र। सुप्रसिद्ध।।७१।। वे दोनों संन्यास त्याग। अनुष्ठान उनका करे जग। तब यही अब मुक्ति याग। पूछूं स्पष्ट।।७२।। ऐसा सोचकर अर्जुन-। ने त्याग संन्यास का लक्षण। विशद जिससे होवे यह प्रश्न। किया तब।।७३।। देने उसका प्रत्युत्तर। जो कहत जगदीश्वर। उसी का व्यक्त विस्तार। अष्टादश यह।।७४।। एवं जन्य जनक भाव से। अध्याय प्रसवत अध्याय से। अब सुनो पूर्ण ध्यान से। पूछा जो।।७५।। तब पंडुकुमर अर्जुन। अब देव का कथन हुआ पूर्ण। जानकर हुआ अति खिन्न। अंतःकरण में।।७६।। वैसे तत्त्वविषय में पार्थ। निश्चित हुआ यथार्थ। किंतु वह न सह सकत। मौन देव का।।७७।। वत्स यदि हुआ तृप्त। परंतु दूर धेनु से न होना चाहत। अनन्य प्रीति की रीत। ऐसी होत।।७८।। बोले वो कारण बिन। देखकर भी देखे पुनः। होवे इच्छा भोग की दुगुन। सन्निध प्रिय के।।७९।। ऐसी यह प्रेम की जाती। और पार्थ तो प्रेम की साक्षात मूर्ति। अतः मौन जब श्रीमूर्ति। हुआ दुःखित अति।।८०।। और संवाद के मिष से। अव्यवहारी वस्तु जो भासे। भोगना वही जैसे। दर्पण में रूप।।८१।। तब संवाद जब होवे बंद। लोपत भोक्ता भोग्य परमानंद। कैसा सहेगा ऐसे सुख छंद-। को लालायित वह?।।८२।। अतः त्याग एवं संन्यास। जानने का करके मिष। खोली वह तह खास। गीतावस्त्र की पुनः।।८३।। अठरहवां केवल अध्याय नहीं। यह तो एकाध्यायी गीता ही। गैया को जब दुहत वत्स ही। तब विलंब कैसा?।।८४।। वैसे समाप्ति के अवसर। पुनः कहलावत गीता सार। स्वामी भृत्य के संवाद सुखकर-। में अशक्य क्या?।।८५।। रहने दो यह विस्तार। कहत तब धनुर्धर। बिनती मेरी विश्वाधार!। सुनो अब।।८६।।

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्। त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

जी हां संन्यास और त्याग। दोनों का एकहि अर्थ से लाग। जैसे संघात और संघ। कहिये संघात कोही।।८७।। वैसे त्याग और संन्यास को। त्याग ही अर्थ दोनों को। यही मेरे मानस को। बोध एक।।८८।। किन्तु यदि कोई इनमें अर्थभेद। करे देव आप विशद। वहां कहत श्री मुकुंद। दोनों भिन्न ये।।८९।। सांप्रत तेरा मन। त्याग और संन्यास अर्जुन। एकार्थ जाने न भिन्न। मानू मैं भी।।९०।। इन्हीं दो शब्द में। त्याग ही निश्चित उनमें। परन्तु भेद उनमें। इतना ही।।९१।। जो कर्म त्याग सर्वथा। वही संन्यास पार्था। केवल फलत्याग जो तत्त्वता। जानो त्याग वही।।९२।। तब किस कर्म का फल। त्यागना कौनसा कम ही केवल। यह विशद करूं निखिल। देना चित्त तुम।।९३।। जैसे बन में पर्वतपर। मुक्त वृक्ष अपने से अपार। किन्तु धान या

प्राप्त होगा यह कहो ? ।।६८।। कर्म की पराधीनता सब जीवों में नष्ट होवे, कर्मफल का सर्वस्वी त्याग होवे, जीवन में निर्दोष संन्यास पूर्णरूप से प्राप्त होवे ।।६९।। इसमें कर्मबाधा से जन्म-मृत्यु की व्यथा होने का भय नहीं होता। आत्मज्ञान उनके स्वाधीन होता है ।।७०।। जो ज्ञान का आवाहन मंत्र है। ज्ञान की उत्पत्ति का उत्तम क्षेत्र है। या ज्ञान को आकर्षित करनेवाला सुप्रसिद्ध सूत्र है ।।७१।। कर्मसंन्यास एवं कर्मफलत्याग इन दोनों का अनुष्ठान करके संपूर्ण विश्व कर्मबंधन से मुक्त होने के लिए स्पष्ट रीति से भगवान से पूछना होगा ।।७२।। ऐसा विचार करके त्याग एवं संन्यास का लक्षण स्पष्ट होने के लिये अर्जुन ने प्रश्न किया ।।७३।। उसका उत्तर देने के लिए, भगवान ने व्यक्त किए विचार प्रकट करने के लिये, यह अठारहवें अध्याय की योजना है ।।७४।। अतः जन्यजनक भाव से एक अध्याय से दूसरे अध्याय की उत्पत्ति हुई है। जो पूछा है उसको अब ध्यानपूर्वक सुनो ! ।।७५।। तब पंडुपुत्र अर्जुन, भगवान का कहना पूर्ण हुआ, इस विचार से अंतःकरण में उदास हुआ ।।७६।। तत्त्व विषय में पार्थ निःशंक हुआ था। किन्तु भगवान का मौन रहना उससे नहीं सहा गया ।।७७।। वत्स (दूध पीकर) तृप्त होने पर भी धेनु से दूर जाना नहीं चाहता। अनन्य प्रीतिकी यही पद्धति है ।।७८।। कारण न होने हुए भी अपने प्रिय व्यक्ति से बोलने की इच्छा होती है। देखने पर भी पुनः पुनः बोलने की इच्छा होती है। सन्निध्य होते हुये भी अपने प्रिय व्यक्ति के सान्निध्य का भोग लेने की 'इच्छा दुगुनी बढ़ती है ।।७९।। ऐसी प्रेम की जाती होती है। पार्थ तो प्रत्यक्ष प्रेम की साक्षात मूर्ति है। अतः भगवान मौन होत ही वह अत्यंत दुखी हुआ ।।८०।। संवाद के निमित्त से भोक्ता भोगरहित और अव्यवहार्य ब्रह्मवस्तु के आनंद का उपभोग होता है जैसे दर्पण में अपना रूप स्पष्ट दिखता है। (वैसे ब्रह्मवस्तु का आनंद संवाद के रूप में मिलता है) ।।८१।। जब संवाद् बंद होता है तब भोक्ता, भोग्य, परमानंद भी लुप्त हो जाता है। ब्रह्मानंद का लालायित अर्जुन को संवाद सुखछंद बंद होना कैसा सहा जायेगा ? ।।८२।। अतः त्याग एवं संन्यास जानने का निमित्त करके गीतावस्त्र की तह उसने पुनः खोली ।।८३।। यह केवल अठारहवां अध्याय नहीं है। यह तो एकाध्यायी भगवद्गीता है। जब वत्स ही गौ दोहन करने लगता है तब दुग्ध प्राप्त होने में विलंब कैसा होगा ? ।।८४।। वैसे समाप्ति के अवसर पुनः श्री गीता का सार कहलवाया। स्वामी भृत्य के सुखकर संवाद में अशक्य क्या है ? ।।८५।। यह विस्तार अब रहने दो। धनुर्धर अर्जुन ने कहा, हे विश्वाधार! अब मेरी एक प्रार्थना सुनो ।।८६।।

हे दीर्घबाहु! आप इंद्रियों के नियंता हो। केशिदैत्य का वध करनेवाले श्रीकृष्ण! त्याग एवं संन्यास का तत्त्व पृथक-पृथक जान लेने की मेरी इच्छा है ।।१।।

त्याग एवं संन्यास इन दोनों शब्दों का एकहि अर्थ मुझे प्रतीत होता है। जैसे संघ एवं संघात से समुदाय का ही बोध होता है ।।८७।। वैसे त्याग एवं संन्यास इन दोनों शब्दों से त्याग को ही स्पष्ट किया जाता है ऐसा मेरा मन कहता है ।।८८।। किन्तु यदि कोई इनमें अर्थभेद हो तो हे देव! आप उसको स्पष्ट कीजिये। दोनों में भिन्नता है ऐसा श्रीमुकुंद ने कहा ।।८९।। हे अर्जुन ! तुम्हारे मन को त्याग एवं संन्यास शब्दों का एकहि अर्थ का बोध हो रहा है यह मैं मानता हूं ।।९०।। इन दो शब्दों में त्यागहि अभिप्रेत है यह निश्चित जानो। किन्तु उसमें भेद है ।।९१।। कर्म का सर्वस्वी त्याग करना संन्यास है। हे पार्थ ! केवल फल का त्याग करना तत्त्वतः त्याग समझना ।।९२।। कौन से कर्म के फल का त्याग करना चाहिये एवं कौनसे कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये यह सब मैं स्पष्ट रूप से बताता हूं। तुम ध्यान से सुनो ।।९३।। जैसे पर्वत पर वन में अपने आप वृक्ष ऊगते हैं किंतु धान या जौ अपने आप नहीं

Funding by IKS-MoE

राजागर। न होत वैसे।।९४।। न बोते बढ़े तृण। किंतु न उपजत धान। कदापि श्रमबिन। जिसप्रकार।।९५।। अंग तो उत्पन्न सहाजिक। किंतु अलंकार उद्यम से विशेख। नदी बनी नैसर्गिक। कुआं खोदने से ही।।९६।। वैसे नित्य नैमित्तिक। कर्म होवे स्वाभाविक। न कामनाबिन कामिक। न उत्पन्न कभी।।९७।।

श्री भगवान उवाच–

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

जो करने को अर्जुना। अंतर में प्रखर कामना। ऐसे अश्वमेघादिक नाना। यज्ञयाग।।९८।। बापी कूप आराप। अग्रहार और महाग्राम। और भी नाना महासंभ्रम। व्रतों के जो।।९९।। ऐसे इष्टापूर्त सकल। जिनको कामना एक मूल। कर्म का भोगवत फल। करके बद्ध।।१००।। देहग्राम में जब पहुंचत। जन्म-मृत्यु व्यापार समस्त। जीव को न कभी छूटत। धनंजय।।१।। अथवा ललाट का लेख। मिट सके न कुछ करके देख। न जाये काला गोरापन अशेख। धोकर कभी।।२।। कृत काम्य कर्म वैसा। फल भोगार्थ दे धरना तैसा। न पटाते ऋण साहूकार जैसा। न छोड़े कभी।।३।। अथवा न करते कामना पार्थ। घड़त कर्म अकस्मात। न जूझते भी प्राण हरत। वाय बाण जैसे।।४।। डाले अनजाने गुड़ मुख में। मिठास ही होत उसमें। मानकर राख, रखे पांव अग्नि में। जलावे ही वह।।५।। काम्य कर्म में यह एक। सामर्थ्य होत स्वाभाविक। अतः कौतुक से भी न करना देख। मुमुक्षु ने यह।।६।। किंबहुना पार्थ ऐसे। काम्य कर्म स्वभाव से। तजिये वह विष जैसे। वमन करके।।७।। जग में ऐसे त्याग को। संन्यास कहत उसको। कहत सर्वदृष्टा अर्जुन को। अंतरंगी जो।।८।। यह काम्यकर्म यदि त्यागना। उखाड़ना समूल कामना। द्रव्यत्याग से दूर करना। भय चोर का जैसा।।९।। और सोम सूर्य ग्रहण। पर्वकाल में करना पार्वण। या माता पिता मरण। अंकित तिथि में जो।।११०।। अथवा अतिथि यदि आवे। तब जो कुछ करना होवे। वह सब जानिये। नैमित्तिक पार्थ।।११।। वर्षाकाल में क्षोभत गगन। बसंत में बहरत दुगना बन। अथवा जैसी शृंगारत यौवन-। दशा देह को।।१२।। सोमकान्त सोम से झरत। या सूर्य से सरोजिनी विकसित। यहां रहे जो वही विस्तरत। अन्य नाहीं।।१३।। वैसा नित्य जो कर्म। लाहे नैमित्तिक का नियम। पावे यहां बड़ा नाम। होवे नैमित्तिक।।१४।। और सायं प्रातः माध्यान्ह में। जो जो करणीय प्रति दिन में। किन्तु दृष्टि जैसी लोचन में। अधिक न होवे।।१५।। न संपादित फिर भी गति। चरण में ही जैसी किरीटि। दीप ज्योति में वैसी दीप्ति। सहजही।।१६।। न देना सुवास ऊपर से। चंदन में सौरभ अंग ही से। अधिकार का वैसे। रूप ही जो।।१७।। ऐसा अधिकारानुरूप कर्म। वही जानिये नित्यकर्म। एवं निरूपित तुझको मर्म। नित्य नैमित्तिक का।।१८।। यही नित्य नैमित्तिक। अनुष्ठान इसका आवश्यक। अतः कहत कोई एक। बांझ इसको।।१९।। या भोजन से जिसविध होवे। तृप्ति लाहे भूख जाये। वैसे नित्य नैमित्तिक से पावे।

Funding by IKS-MoE

ऊगते ॥९४॥ न बोते ही तृण अपने आप उगता है किंतु धान की बिना श्रम से उत्पत्ति नहीं होती ॥९५॥ शरीर स्वाभाविक उत्पन्न होता है किन्तु अलंकार विशेष मेहनत से बनाये जाते हैं। नदी की उत्पत्ति नैसर्गिक होती है किन्तु कुआ खोदने के लिये श्रम करने की आवश्यकता होती है ॥९६॥ वैसेहि नित्य नैमित्तिक कर्म स्वाभाविक होते हैं। किन्तु काम्यकर्म कामना के बिना नहीं होते ॥९७॥

सूक्ष्मदर्शी पुरुष काम्यकर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं। विचारशील पुरुष सर्व कर्म के फलत्याग को त्याग कहते हैं ॥२॥

हे अर्जुन! मन में प्रखर कामना रखकर अश्वमेधादिक यज्ञयाग करते हैं ॥९८॥ कुआं खोदना। उद्यान निर्माण करना। अग्निहोत्र, ग्रामदेवता का पूजन, सत्पात्र ब्राम्हणों को ग्राम इनाम देना, विविध व्रतों का समारंभ करना ॥९९॥ कामना जिनका मूलकारण है ऐसे कर्मों को इष्टापूर्त कर्म कहते हैं। यह बंधन में डालकर कर्मफल का भोग कराते हैं ॥१००॥ देहग्राम में पहुंचने पर हे धनंजय! जन्ममृत्यु का व्यापार जीव से कभी छूटता नहीं ॥१॥ अथवा भाग्य में जो कुछ लिखा है वह मिटाया नहीं जाता। शरीर का कृष्णवर्ण या गौरवर्ण धोने से निकलता नहीं ॥२॥ जैसे साहूकार ऋण चुकाये बिना छोड़ता नहीं वैसे काम्यकर्म भी फल का भोग कराने के लिए बाध्य कराता है ॥३॥ फल इच्छा न करते हुए भी जब कर्म होता है तब भी भोग प्राप्त होता है। जैसे युद्ध न करते हुए भी शर लगने से प्राण हरण होता है ॥४॥ जाने अनजाने मुख में गुड़ डालने से मिठास का अनुभव होता है। राख समझकर चरण रखने से जैसे अग्नि जलाती ही है ॥५॥ वैसे काम्यकर्म में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है। अतः मुमुक्षुओं ने कभी काम्यकर्म नहीं करना चाहिये ॥६॥ हे पार्थ! वमन कराके जैसे विष का त्याग किया जाता है वैसे मन से काम्यकर्म का त्याग करना चाहिये ॥७॥ ऐसे त्याग को जग में संन्यास कहते हैं। जो अंतरंग में सर्वद्रष्टा है वे श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन को यह समझाते हैं ॥८॥ द्रव्यत्याग से जैसे चोरी का भय त्याग दिया जाता है, वैसे काम्यकर्म की कामना का समूल त्याग करना चाहिये ॥९॥ चंद्र सूर्य ग्रहण के पर्वकाल में, या माता पिता के प्रति सांवत्सरिक श्राद्ध निश्चित तिथि में किया जाता है ॥११०॥ या अतिथि आगमन पर किया जानेवाला सब कार्य, हे पार्थ! नैमित्तिक जानो ॥११॥ वर्षाकाल में मेघगर्जना से आकाश क्षुब्ध होता है। वसंत ऋतु में शोभा की दुगुनी बहार हो जाती है। तरुण अवस्था में देह यौवन से शृंगारित होता है ॥१२॥ चंद्र से सोमकांत मणि झरने लगता है। सूर्योदय से कमलिनी विकसित होती है। यहां जो वस्तु जहां रहती है वही उसका विस्तार होता है। अन्य बदल नहीं होता ॥१३॥ वैसे नित्य कर्म का, निमित्त्य की योग से, उत्कर्ष होता है। वही नैमित्तिक कहलाया जाता है ॥१४॥ जैसे दृष्टि नेत्र को कष्टदायक नहीं होती। वैसे सायं, प्रातः, माध्यान्ह में प्रतिदिन किया जानेवाला कर्म करनाहि पड़ता है ॥१५॥ हे किरीटी! चरणों में गति स्वाभाविक होती है। संपादन करने की आवश्यकता नहीं होती। दीपज्योति में प्रकाश स्वाभाविक होता है ॥१६॥ चंदन का सुगंध नैसर्गिक होता है। कृत्रिम गंध देने की आवश्यकता नहीं होती। वैसे स्वाधिकार के अनुरूप कर्म स्वभावतः विहित होता है ॥१७॥ वैसे अधिकारानुरूप जो कर्म होता है उसको नित्यकर्म कहते हैं। इसप्रकार से तुम्हें नित्य एवं नैमित्तिक कर्म का रहस्य मैंने स्पष्ट किया है ॥१८॥ नित्यनैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान करना योग्य होता है। कोई इसको निष्फल कहते हैं ॥१९॥ जिस प्रकार से भोजन से तृप्ति होती है एवं भूख नष्ट होती है। वैसे नित्यनैमित्तिक कर्म से सर्वांगीण फल प्राप्त

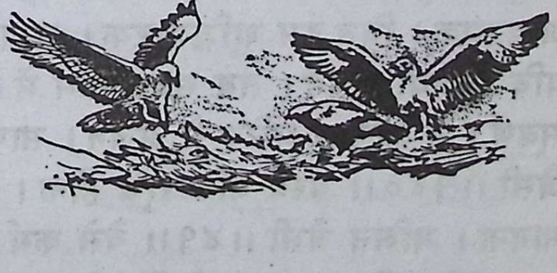

Funding by IKS-MoE

सर्वांगीण फल।।१२०।। दागी सोना अग्नि में तपत। तब मैल छूटत तेज बढ़त। दोनों कर्म से बराबर प्राप्त। फल वैसे।।२१।। प्रत्यवाय होवे नष्ट। वर्धत स्वाधिकार बहुत। वहां हाथोहाथ प्राप्त। सद्गति को।।२२।। इतना यदि विशाल। नित्य नैमित्तिक का फल। त्याजिजे जैसे बालक मूल-। नक्षत्र जात।।२३।। लता सर्वांग में बहरत। आम्रवृक्ष पल्लवित। किन्तु हाथ न लगावे चला जात। वसंत जैसा।।२४।। वैसी न लांघकर कर्मरेखा को। दीजे चित्त नित्य नैमित्तिक को। पश्चात त्यागो अशेष फल को। वमन जैसे।।२५।। इसी कर्मफल त्याग को अर्जुन। कहत त्याग ज्ञानीजन। एवं त्याग-संन्यास निरूपण। बतलाया तुझको।।२६।। ऐसा संन्यास जब संभवतः। तब काम्य कर्म न बाधत। और निषिद्ध कर्म लुप्त होत। निषेध से स्वयं।।२७।। और नित्यादिक सहज से। नाशत इसी फलत्याग से। काटने से सिर गिरत जैसे। कबंध पार्थ।।२८।। सस्य फलपाक उपरान्त। वैसे नष्ट जब कर्मजात। आत्मज्ञान आवे खोजत। अपने से ही।।२९।। ऐसी युक्ति से अर्जुन। करत त्याग संन्यास अनुष्ठान। वे ही सत्पात्र होवत जान। आत्मज्ञान को।।१३०।। छोड़कर ऐसी युक्ति। करत अंदाज से त्याग किरीटि। त्याग न वे अधिक निश्चित। फसत उलझन में ही।।३१।। औषध जो चिकित्साबिन। लिया यदि होवे विषसमान। या अन्न का जो छोड़े सेवन। क्या न मरे भूक से?।।३२।। अतः त्याज्य जो नाहीं। न तजना उसे कतही। और त्याज्य के लिए न होना तुमही। लोभी पार्थ।।३३।। चूके यदि त्याग की युक्ति पार्थ। होगा सर्वत्याग बोझ व्यर्थ। अतः न देखत फलत्यागबिन मर्म सर्वत्र। वीतराग वे।।३४।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः। यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

फलाभिलाष न छोड़त एक। वे कहत कर्म को बंधक। जैसे नग्न स्वयं और जग को देख। कहे कलह कारक।।३५।। या रोगी जिव्हा लंपट। अन्न को ही कहत दूषित। अंग पर आते कुष्ट। कोपत मक्खी पर।।३६।। वैसे फलेच्छु अशक्त। कहत कर्म ही कलुषित। निर्णय केवल देत। कर्म त्याग का।।३७।। एक कहत यागादिक। करनाहि आवश्यक। बिन इस शुद्धिकारक। अन्य नाहीं।।३८।। मन शुद्धि के मार्ग में। होना यदि विजयी उसमें। तब सबल कर्म में। आलस न कीजे।।३९।। यदि शुद्ध करना सुवर्ण। न भागना अग्नि से अर्जुन। साफ कराना यदि दर्पण मलिन। हटाना धूली जैसी।।१४०।। वस्त्र यदि शुभ्र होना। ऐसा यदि मन में माना। तब सौंदनी को न मानना। मलिन जैसी।।४१।। वैसे कर्म क्लेशकर। कहकर न करना अव्हेर। क्या अन्न होवे रुचिकर। पकाये बिन?।।४२।। इन युक्तिवाद से श्रीकृष्ण। कर्म महति करे स्थापन। तब त्याग विसंवाद में अर्जुन। गया उलझ।।४३।। अब विसंवाद तो होवे नष्ट। त्याग का निश्चय प्राप्त। वैसे कहूं सुस्पष्ट। दो अवधान तुम।।४४।।

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम। त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।।४।।

तब जिसको कहत त्याग। उसके है त्रिविध विभाग। विवरण उसका यथासांग।

Funding by IKS-MoE

होता है॥१२०॥ दागी सुवर्ण अग्नि में तपाने से शुद्ध होता है। वैसे नित्यनैमित्तिक कर्म से बराबरी का फल मिलता है॥२१॥ नित्यनैमित्तिक कर्म से पाप नष्ट होता है। स्वाधिकार का उत्कर्ष होता है। त्वरित सद्गति प्राप्त होती है॥२२॥ नित्य नैमित्तिक कर्म का ऐसा विशाल् फल मिलता है। जैसे मूल नक्षत्र में जन्म लिए बालक का त्याग करना चाहिये वैसे कर्मफल का त्याग करना चाहिये॥२३॥ लता सर्वांग में फल पुष्प से बहरती है। वसंत ऋतु में आम्रवृक्ष पल्लवित एवं पुष्पित होता है। किंतु वसंत ऋतु उसको स्पर्श न करते हुए जैसा निकल जाता है॥२४॥ वैसे शास्त्र मर्यादा का त्याग न करते हुए नित्य नैमित्तिक कर्म करना चाहिये। किन्तु कर्मफलका वमनवत् त्याग करना चाहिये॥२५॥ कर्मफल त्याग को ही, हे अर्जुन! ज्ञानीजन त्याग कहते हैं। इस प्रकार से त्याग एवं संन्यास का तुम्हें निरूपण किया है॥२६॥ ऐसा संन्यास जब होता है तब काम्य कर्म से कर्मबंधन उत्पन्न नहीं होते। निषिद्ध कर्म निषेध करने से स्वयं लुप्त होते हैं॥२७॥ जैसे मस्तक काटने से शरीर अपने आप भूमिपर गिर जाता है। वैसे फलत्याग से नित्य नैमित्तिक कर्म का बंधन सहज नष्ट होता है॥२८॥ पक्व धान्य अपने आप सूखने लगता है, वैसे संन्यासियों ने काम्यकर्म, (शास्त्रनिषेध से निषिद्ध कर्म) फलत्याग से नित्यनैमित्तिक कर्म नष्ट होने पर आत्मज्ञान साधकों को खोजते हुए आता है॥२९॥ हे अर्जुन! इस युक्ति से त्याग एवं संन्यास का अनुष्ठान करने से आत्मज्ञान प्राप्ति की योग्यता मिलती है ऐसा समझना॥१३०॥ इस युक्ति को छोड़कर, हे किरीटी! अंदाज से त्याग संन्यास करने से वह त्याग नहीं होता। वह निश्चित उलझन में फंसाता है॥३१॥ चिकित्सा किए बिना औषधी लेना विषसमान होती है। अन्नसेवन का त्याग करने से भूख से, क्या मृत्यु नहीं होगी?॥३२॥ अतः त्याग के लिए अयोग्य का त्याग करना उचित नहीं है। त्याग के लिए योग्य का लोभ करना अयोग्य है॥३३॥ त्याग का रहस्य न समझकर सब कर्मों का त्याग करने से बंधन का बोझ बढ़ता है। अतः हे पार्थ! वीतरागी, फलत्याग के बिना अन्य मर्म नहीं जानते॥३४॥

कुछ बुद्धिमान ऐसा कहते हैं, कर्म दोषमुक्त रहता है अतः सब कर्मों का त्याग करना चाहिये। यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये ऐसा कुछ लोग कहते हैं॥३॥

कुछ लोग फल की अभिलाषा नहीं छोड़ सकते। अतः वे कर्म को बंधनकारक कहते हैं। स्वयं नग्न रहते हुए किसी के कहने पर जग को कलहकारक कहते हैं॥३५॥ जिव्हालंपट रोगी अन्न को दोष देते हैं। कुष्टरोगी मक्खी को दोष देता है॥३६॥ वैसे फलेच्छा रखनेवाले कर्म को कलुषित कहते हैं। एवं सर्व कर्म का त्याग करने का निर्णय स्वबुद्धि से करते हैं॥३७॥ यज्ञ, दान, तप आदि कर्म अवश्य करना चाहिये ऐसा कुछ लोग कहते हैं। चित्त शुद्धि का अन्य साधन इसके बिना नहीं है॥३८॥ चित्तशुद्धि त्वरित होवे इसलिये योग्य कर्म करने में आलस्य नहीं होना चाहिये॥३९॥ हे अर्जुन! सुवर्ण शुद्ध करने के लिए अग्नि से दूर भागने से कार्य नहीं होगा। मलिन दर्पण स्वच्छ करने के लिये धूली को हटाना चाहिये॥१४०॥ स्वच्छ एवं शुभ्र वस्त्र चाहिये, ऐसा मन में विचार करने पर, धोने के पात्र को मलिन नहीं समझना चाहिये॥४१॥ जैसे पकाये बिना रुचिपूर्ण अन्न प्राप्त नहीं होता। तद्वत कर्म कष्टकारक समझकर उसका त्याग नहीं करना चाहिये॥४२॥ श्रीकृष्णभगवान, इस युक्तिवाद से, कर्म की महत्ता स्थापित कर रहे थे। किन्तु त्याग के परस्पर विरुद्ध मतभेद से अर्जुन का मन उलझ गया॥४३॥ परस्पर विसंवाद नष्ट होवे एवं त्याग का सुस्पष्ट आकलन होवे ऐसा मैं कहता हूं। तुम लक्षपूर्वक सुनो॥४४॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! त्याग संबंध में मेरा निश्चित विचार सुनो हे पुरुष व्याघ्र! त्याग तीन प्रकार से कहा गया है॥४॥

जिसको त्याग कहते हैं वह तीन प्रकार का है।

Funding by IKS-MoE

करूं नीका।।४५।। त्याग के तीन प्रकार। करना यदि गोचर। तब तुम इत्यर्थ सार। जानो इतना।।४६।। मेरी सर्वज्ञ की बुद्धि। अचूक अपने माने त्रिशुद्धि। निश्चयतत्त्व वह आदि। सुनो तुम।।४७।। माना अपने को मोक्ष। इस विषय में जो दक्ष। उसने सर्वस्व से यही पक्ष। मानना युक्त।।४८।।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञ दान तपादिक। ये कर्म अति आवश्यक। चलना न छोड़े पथिक। वैसा न छोड़ों इनको।।४९।। खोया न जब तक दिखत। शोध न उसका छोड़ो पार्थ। पेट न जब तक तृप्त। थाली न छोड़े।।१५०।। नौका न छोड़िये तीर तक। कदली न काटिये फल तक। न बुझावे चीज दिखने तक। दीप जैसे।।५१।। वैसी आत्मज्ञान लाभ की। निशिचत न जब तक मन की। तब तक यज्ञादिक की। उपेक्षा न कीजे।।५२।। अपनी योग्यतानुसार। यज्ञ दानादिक आचार। अनुष्ठान करना बारम्बार। अवश्यमेव।।५३।। सत्त्वर जो चलत। सत्वर वह विश्रांती पावत। वैसे कर्मातिशय से प्राप्त। नैष्कर्म शीघ्र।।५४।। ज्यों-ज्यों अधिक औषध। सेवन को रोगी सिद्ध। त्यों त्यों व्याधिक से हे प्रबुद्ध!। पावे मुक्ति।।५५।। वैसे कर्म बारम्बार। कीजे यदि होकर तत्त्पर। रजतम दोष सत्वर। समूल नष्ट।।५६।। या एक पीछे एक पुट। क्षारका जब सुवर्ण को प्राप्त। होवे तब होकर दूर कीट। निर्दोष वह।।५७।। वैसे निष्ठा से किया कर्म। नष्ट करके रज तक। सत्वशुद्धि का दिव्य धाम। दिखावे दृष्टि को।।५८।। अतः हे भारत!। सत्व शुद्धि प्रीत्यर्थ। सत्कर्महि योग्यता पावत। तीर्थ की तब।।५९।। तीर्थ क्षालत बाह्यमल। कर्म से अभ्यंतर उज्जवल। एवं तीर्थ होत निर्मल। सत्कर्म से ही।।१६०।। मरुदेश में तृषार्त को अर्जुना। प्राप्त अमृत का झरना। या अंध के नेत्र ने पाना। सूर्य तेज।।६१।। नदी तारे जैसे डूबते को। संवारे पृथ्वी ही गिरते को। दी आयुष्य वृद्धि मरते को। मृत्यु ने स्वयम्।।६२।। वैसे कर्म ही कर्मबद्धता से। छुड़ावत मुमुक्षुको जैसे। या मरते को विष। रसायन रूप से। बचावे विष से जैसे।।६३।। अतः यद्यपि बंधकारक। कर्म किया यदि युक्तिपूर्वक। होत सर्वथा बंधमोचक। धनंजय।।६४।। अब वही कर्ममुक्ति। नीकी कहूं तुझको किरीटि। जिससे लभत मुक्ति। कर्मबंध सेही!।।६५।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

तब पंचमहायागादिक। कर्म यदि कीजे अचुक। कर्तापन का न आवे देख। अभिमान अंग में।।६६।। मोल से जो जावे तीर्थ को। मैं यात्रा करत ऐसा उसको। श्लाघ्यता से संतोष को। न माने जैसे।।६७।। चक्रवर्ती का सिक्का लेकर। जो मांडलिक को लावे पकड़कर। मैं विजेता ऐसा समझकर। गर्व न करे।।६८।। तैरत जो सहारे से। तैरने का न अभिमान उसे। पुरोहित को प्रतिष्ठा द्रव्यदान से। न प्राप्त जैसे।।६९।। वैसे कर्म यथावसर। बिन कर्तृत्व अहंकार। कृत्य जात के मोहर-। सम बढ़ावत आगे।।१७०।। कृत कर्म का फल। निश्चित पाऊं मैं सकल। इस विषय में

उसका यथासांग विवरण करता हूं।।४५।। त्याग के तीन प्रकार स्पष्ट करता हूं। उसका तात्पयार्थ तुम समझ लेना।।४६।। मेरे सर्वज्ञ बुद्धि को जो अत्यंत युक्त प्रतीत होता है, वह त्याग का निश्चयात्मक तत्त्व प्रथम तुम सुनो।।४७।। मोक्ष प्राप्ति के विषय में जो दक्ष है, उसने काया वाचा मन से इस पक्ष को उचित मानना योग्य होगा।।४८।।

यज्ञ, दान एवं तप आदि कर्म छोड़ना चाहिये। यह कर्म बुद्धिमान मनीषिओं को पवित्र कनेवाले हैं।।५।।

पथिक जैसा चलना नहीं छोड़ सकता, वैसे यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करनाहि चाहिये। छोड़ना नहीं।।४९।। खोयी हुई वस्तु जब तक मिलती नहीं तब तक उसे खोजते रहना चाहिये। जब तक अन्न से तृप्ति नहीं होती तब तक पात्र छोड़ना नहीं चाहिये।।१५०।। किनारेपर पहुंचने तक नौका का त्याग नहीं करना चाहिये। फल के पूर्वहि कर्दली वृक्ष को काटना नहीं चाहिये। अंधेरे में जब तक वस्तु दिखती नहीं, तब तक दीप बुझाना नहीं चाहिये।।५१।। तद्वत आत्मज्ञान के विषय में मन का भ्रम जब तक नष्ट नहीं होता तब तक यज्ञ, दान, तप के विषय में उदासीन रहना उचित नहीं।।५२।। अपनी योग्यता के अनुसार यज्ञ, दान आदि आचार पालन अवश्य पुनः करना चाहिये।।५३।। शीघ्र गति से चलनेवाला विश्रांति स्थान पर त्वरित पहुंचता है। वैसे कर्म करते रहने से नैष्कर्म अवस्था शीघ्र प्राप्त होती है।।५४।। औषध व्यवस्थित ग्रहण करने से, हे प्रबुद्ध अर्जुन! व्याधि से रोगी मुक्त होता है।।५५।। वैसे पुनः-पुनः तत्परता से कर्म करने से रजोगुण एवं तमोगुण निःशेष नष्ट होते हैं।।५६।। एक के बाद एक क्षार का उपयोग करने से सुवर्ण का दोष दूर होता है। सुवर्ण शुद्ध होता है।।५७।। वैसे निष्ठा से कर्म करने से रजोगुण एवं तमोगुण नष्ट होता है। संत्वशुद्धि का स्थान दिखाई देने लगता है।।५८।। अतः हे भारत! चित्त शुद्धि के लिए, सत्कर्मों को तीर्थ स्थान सदृश योग्यता प्राप्त होती है।।५९।। तीर्थ स्थान से बाह्य देह का मल धुल जाता है। किन्तु सत्कर्म से अंतःकरण उज्जवल होता है। सत्कर्म से ही तीर्थ निर्मल होते हैं।।१६०।। हे अर्जुन! निर्जन मरुदेश में तृषार्त को अमृत का झरना दिखाई दे या अंधे के नेत्र को सूर्य सदृश तेज प्राप्त होवे।।६१।। डूबनेवाले को जैसे नदी बचाने के लिये दौड़ी। गिरनेवाले को पृथ्वी ने ही संभाल लिया। मृत्यु ने स्वयं मरनेवाले की आयुष्य वृद्धि की।।६२।। वैसे कर्म से ही, कर्मबंधन से, मुमुक्षुओं का छुटकारा होता है। जैसे मृत्यु के समय रसायन रूपी विष देने से वह अन्य विष बाधा बचानेवाला होता है।।६३।। अतः हे धनंजय! कर्म बंधनकारक होते हुए भी युक्तिपूर्वक कर्म करने से वही कर्म बंधन से मुक्त करनेवाले होते हैं।।६४।। हे किरीटि! कर्मबंधन से मुक्ति देनेवाले कर्म मैं तुम्हें उत्तम प्रकार से कहता हूं।।६५।।

हे पार्थ! सब कर्म कृर्तत्वासक्ति एवं फलाशा छोड़कर करना चाहिये ऐसा मेरा निश्चित मत है।।६।।

पंचमहायज्ञ आदि प्रमुख नित्यनैमित्तिक कर्म शास्त्रशुद्ध करते हुए उसमें कर्तृत्व का अहंकार नहीं होना चाहिये।।६६।। नौकरी के निमित्त जो तीर्थस्थल को जाता है उसको तीर्थयात्रा का आत्मसंतोष नहीं होता।।६७।। चक्रवर्ती राजा की आज्ञा से जो मांडलिक को पकड़कर लाता है, उसे विजेता समझकर गर्व नहीं करना चाहिये।।६८।। दूसरे का सहारा लेकर जो तैरता है उसने तैरने का अहंकार नहीं करना चाहिये। यजमान का प्रतिनिधि पुरोहित यजमान के लिए जब द्रव्यदान करता है तब उसको दान की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती।।६९।। वैसा कर्म करते हुए कर्तृत्व का अहंकार न रखते हुए कर्म का मोहरा आगे बढ़ाते जाना चाहिये।।१७०।। किए हुए कर्म का फल मुझे निश्चित मिलना चाहिये इस विषय में मन में प्रबल वैराग्य होना

Funding by IKS-MoE

प्रबल। वैराग्य मन में।।७१।। प्रथम फल की आसबिन। करे संतोष से कर्माचरण। जैसे धाय करे संगोपन। पर बालक का।।७२।। पीपल फलाशा बिन। पीपल को करे जलसिंचन। वैसे फलाशा छोड़कर पूर्ण। कीजे कर्म।।७३।। दूध की अपेक्षा बिन। राखे ग्वाल गोधन। वैसे कर्मफल को होवे मन। निरीच्छ पार्थ।।७४।। इसविध युक्ति से अर्जुन। करे जो सत्कर्माचरण। उसको आत्मरूपदर्शन। निश्चित होवे।।७५।। अतः फल में लाग। छोड़कर देहसंग। कर्म करना सुरंग। संदेश यह मेरा।।७६।। जीवबंध से जो श्रान्त। मुक्ति के लिए चिंतित। उसने पुनः-पुनः इस बोल की पार्थ। अवज्ञा न करना।।७७।।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

नातर अंधेर के रोष से। फोड़ना आंख नख से। वैसे अशेष कर्म द्वेष से। छोड़े कर्म ही जो।।७८।। ऐसे कर्मत्याग को। कहूं मैं तामस उसको। सिरदर्द के लिए जैसे सिर को। काटना क्रोध से।।७९।। माना मार्ग दुस्तर। किन्तु करना पांव से ही पार। क्या क्रोध से मार्गापराध पर। काटना ही वे।।१८०।। बुभुक्षित सम्मुख अन्न। आया यदि अति उष्ण। बुद्धि से न लेवे करे लंघन। लथियावे पांव से।।८१।। वैसे कर्मदोष कर्म से। निस्तरना करके युक्ति से। न जाने तामस श्रम से। उन्मत्त जो।।८२।। स्वभावानुसार पार्था। स्वकर्म जो सर्वथा। छोड़ना न उसको वृथा। तामसपन से।।८३।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

अथवा स्वाधिकार जानना। विहित भी अपना समझना। किन्तु कर्म क्लेश डर से न करना। आलस्य जो।।८४।। कर्म का प्रारंभ अर्जुन। क्षणभर भासत कठिन। कलेवा भासे बोझ पूर्ण। ढोते समय।।८५।। निंब जीभ को कटु कौंतेय। हर्रा प्रथम कषाय। वैसा कर्मारंभ एवं अन्त होय। दुष्कर अति।।८६।। सींग मारक धेनु का। अंग कटा सेवति का। सुख मंहगा भोजन का। पाक करते।।८७।। वैसे शास्त्रविहित कर्म। प्रारंभ में अति विषम। अतः करते समय श्रम। माने वह।।८८।। प्रारंभ यथाविधि करत। किन्तु जब कष्टकारक होत। अग्निदाह सम त्यजत। मध्य में ही पार्थ।।८९।। कहे वस्तु देहसरिसी। पाई भाग्यविशेष से होसी। क्यों कर्मादिक से पापी जैसी। छलना उसको।।१९०।। कर्म करके जो भोगना। मुझे इसी क्षण प्राप्त होना। क्यों व्यर्थ हाथ से खोना। सुखोपभोग ये।।९१।। शरीर क्लेश भय से। छोड़ना नियत कर्म मन से। राजस त्याग कहत इसे। सुनो तुम।।९२।। वहां भी कर्म छूटत। किन्तु कर्मत्यागफल न प्राप्त। जैसे घी उफनकर अग्नि में गिरत। किन्तु न हवन वह।।९३।। डूबकर आवे मरण। न वह जल समाधि जान। वह तो निश्चित दुर्मरण। धनंजय।।९४।। वैसे देहलोभ से पार्थ। कर्म को तिलांजली देत। उससे साच न लभत। फल त्याग का।।९५।। किंबहुना आत्मज्ञान। जब उदित अर्जुन। जैसे सूर्योदय से नष्ट पूर्ण। नक्षत्र तेज।।९६।। वैसे अज्ञानसहित। कर्मही होवे जिससे

Funding by IKS-MoE

चाहिये ॥७१॥ मन में फल की आशा न रखते हुए संतोष से कर्म का आचरण करना चाहिये। दूसरे के बालक का धाय (आया) जिस प्रकार से संगोपन करती है (वैसा व्यवहार होना चाहिये)॥७२॥ फलकी आशा न रखते हुए पीपल वृक्ष को जल सींचना चाहिये। वैसे ही पूर्ण फलाशा छोड़कर कर्म करना चाहिये॥७३॥ दूध की अपेक्षा न रखते हुए ग्वाला गोधन की देखभाल करता है। वैसे कर्म के फल के लिए हे पार्थ! मन निरीच्छ होना चाहिये॥७४॥ हे अर्जुन! इस प्रकार से युक्ति से जो सत्कर्म का आचरण करता है, उसको आत्मदर्शन निश्चित होता है॥७५॥ अतः फलासक्ति एवं देहाहंकार छोड़कर उत्तम कर्म करना चाहिये, यह मेरा संदेश है॥७६॥ संसार बंधन से जो थक गया है, जिसको मुक्ति पाने की चिंता है, उसने पुनः पुनः मेरे वाणी की अवज्ञा नहीं करना चाहिये॥७७॥

नित्य कर्म का त्याग करना उचित नहीं होता। अज्ञान से किया जानेवाला नित्यकर्म का त्याग 'तामस' कहलाया जाता है॥७॥

अंधेरे में कुछ दिखता नहीं इस क्रोध से नखून से अपनी आंख फोड़ना अनुचित है। वैसे कामकर्म बंधनकारक है ऐसा समझकर नित्यनैमित्तिक सब कर्म जो छोड़ देता है॥७८॥ ऐसे कर्मत्याग को मैं तामस कहता हूं। सिरदर्द हो रहा है इस क्रोध में सिर काटना योग्य नहीं है॥७९॥ दुस्तर मार्ग को चलकर ही पार करना पड़ता है। दुस्तर मार्ग अपराध समझकर क्रोध से अपने ही चरण काट डालना योग्य नहीं होता॥१८०॥ भूखे को ऊष्ण खाना परोसा गया। बुद्धि का उपयोग करके उसको ठंडा न करते हुये पैर से लथाड़ देना अनुचित है॥८१॥ वैसे कर्म के दोषों को युक्ति से निष्काम एवं निराभिमान बुद्धि से कर्म करके निस्तरना पड़ता है। तामस मनुष्य भ्रम से उन्मत्त होता है॥८२॥ हे पार्थ! स्वभाव के अनुसार जो स्वकर्तव्य होता है उसको तामस गुण के अधीन होकर व्यर्थ छोड़ना नहीं॥८३॥

कर्म को दुःखरूप समझकर शारीरिक कष्ट के भय से कर्म का त्याग करता है ऐसे राजस त्याग से त्यागफल प्राप्त नहीं होता॥८॥

रजोगुणी मनुष्य वर्णाश्रम के अनुसार अपना अधिकार समझता है। स्वधर्म, स्वकर्तव्य समझता है। आलस्य से कर्म के कष्ट का भय उसके मन में रहता है॥८४॥ हे अर्जुन! ढोते समय कलेवा जैसे बोझ प्रतीत होता है, वैसे कर्म का प्रारंभ करना क्षणभर कठिन प्रतीत होता है॥८५॥ हे कौंतेय! नीम जीभ को कटु लगता है। हर्रा प्रथम कषाय लगता है। वैसा कर्म के प्रारंभ में (कर्तृत्वाभिमान छोड़ने का भाग) एवं अन्त में फलाशा छोड़ना दुष्कर होता है॥८६॥ धेनु का सींग मारने के लिए वह उपयोग में लाती है बसंती का पुष्प (सुंदर दिखता है किंतु) दल कटा हुआ होता है। भोजन का सुख खाना बनाने का कष्ट देखकर मंहगा प्रतीत होता है॥८७॥ वैसे शास्त्रविहित कर्म प्रारंभ में कष्टकारक प्रतीत होते हैं। रजोगुणी मनुष्य इनको नित्य कष्टदायक समझता है॥८८॥ प्रारंभ यथाविधि करता है। किन्तु कष्टकारक समझकर अग्निदाह सदृश समझकर बीच में ही छोड़ देता है॥८९॥ वह कहता है, देह वस्तु विशेष भाग्य से प्राप्त हुई है। कष्ट कारक कर्म से उसका पापियों जैसा छल क्यों करना॥१९०॥ कर्म का फल भविष्य में भोगने से, प्राप्त सुखोपभोग मुझे इसी क्षण मिल सकते हैं। उसको क्यों खोना?॥९१॥ शरीर कष्ट के भय से नियत कर्म का मन से त्याग करने की क्रिया को राजस त्याग कहते हैं। यह तुम सुनो॥९२॥ रजो गुण में भी कर्म त्याग होता है किन्तु कर्म का त्यागफल प्राप्त नहीं होता। जैसे घी उफनकर अग्नि में गिरता है किन्तु उसको हवन नहीं कहते॥९३॥ हे धनंजय! डूबकर मरने से जैसे उसको जलसमाधि नहीं कहते। वह निश्चित अपघात कहलाता है॥९४॥ वैसे देह के लोभ से, हे पार्थ! जो कर्म को छोड़ता है (तिलांजलि देता है) उसको त्यागफल नहीं मिलता॥९५॥ हे अर्जुन! जैसे सूर्योदय होने पर नक्षत्रों का तेज लुप्त होता है वैसे आत्मज्ञान प्राप्त होने पर अज्ञान के साथ सब (क्रियायें) कर्म समाप्त होते हैं। कर्मत्याग निश्चित मोक्षरूपी फल देता है॥९६, ९७॥ हे भारत! वह

नष्ट। कर्मत्याग वह देवे निश्चित। मोक्षफल।।९७।। वह मोक्षफल भारत। अज्ञान त्याग से न प्राप्त। वह त्याग न मानो तत्त्वतः। राजस जो।।९८।। तब वहां किस त्याग से। मोक्षफल घर आवे जैसे। वह प्रसंगानुसार से। कहूं तुझको।।९९।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सड्गं त्वक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

स्वाधिकारानुरूप पार्थ!। कर्म जो स्वभाव से प्राप्त। करे विधिगौरवसहित। यथासांग जो।।२००।। किन्तु यह मैं करत ऐसा। स्मरण त्यजत मनसा। देवे फलाशा को जैसा। तिलांजली वह।।१।। माता की करना अवज्ञा। या उसके लिये वासना। दोनों पतन को ही अर्जुना। कारण जानो।।२।। तजकर दोनों दोष। सेवा माता की करो विशेष। क्या तजना धेनु अशेष। मुख के लिए।।३।। अपना प्रिय फल। निरस उसका बीज छल। क्या इसीलिये केवल। फेंकना उसे?।।४।। वैसा कर्तृत्व का मद। और कर्मफल का आस्वाद। इन दोनों का नाम बंध। कर्म का पार्थ।।५।। जैसे पिता आत्मजा संबंध में। वैसे निरिच्छ इन दोनों में। न दुखी विहीत क्रिया में। धनुर्धर।।६।। यह वो त्यागरूप वृक्ष। श्रेष्ठ इसका ही फल मोक्ष। प्रसिद्ध नाम से सात्विक। जग में यह।।७।। अब जलाकर बीज जैसे। वृक्ष को निवंश करे सहज से। फलत्याग कर कर्म वैसे। तजा जिसने।।८।। पारस स्पर्श से लोह तत्क्षण। रंग कालिमा नष्ट पूर्ण। वैसे इस त्याग से टूटत अर्जुन। रजतम दोनों।।९।। पश्चात सत्व निर्मल। खुलत आत्मबोध के चक्षु विमल। वहां मृगांबु सांजकाल-। में नष्ट जैसा।।२१०।। वैसा यह विश्वाभास। बुद्धि सन्मुख होवे अदृश्य। जैसे सर्वव्यापी आकाश। न देखे कहीं।।११।।

न द्वेष्टचकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते। त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

अतः प्राचीन के बल से। अलंकृत कुशलाकुशल कर्म वैसे। व्योम अंग में अभ्र जैसे। लोपत पूर्ण।।१२।। उसके दृष्टि से पार्थ। कर्म निर्दोष समस्त। अतः सुखदुःख खटपट। न कोई उसको।।१३।। 'शुभकर्म का आचरण। करे सहर्ष पूर्ण। अशुभ के लिए द्वेष अर्जुन। मन में नाही।।१४।। तब इस विषय में कोई। उसको अल्प भी संदेह नाही। जैसे स्वप्न सृष्टि में हरी। जागृत को।।१५।। अतः कर्म और कर्ता। यह द्वैतभाव की वार्ता। न जाने पंडुसुता। सात्विक त्याग वह।।१६।। इस प्रकार कर्म पार्था। त्याग से ही छूटत सर्वथा। अधिक बाधक अन्यथा। छोड़े यदि।।१७।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

और सुनो हे सव्यसाची!। मूर्ति पाकर देह की। खंत करत कर्म की। वे मूढ़ सब।।१८।। मृत्तिका का द्वेष सुभट। कैसा करेगा घट। कहो तंतु को पट। छोड़ेगा कैसा?।।१९।। अंग में लेकर वन्हित्व। और अग्नि ऊष्मा से उबके पार्थ। कैसा दीपको होवे उचित। द्वेष प्रभा का?।।२२०।। हींग दुर्गंध से त्रसित। किंतु लावे कहां से सुगंधत्व। पानी छोड़कर अपना द्रवत्व। रहे कैसा वह?।।२१।। वैसे 'शरीर के आभास से जैसा। जीव जब तक वर्तत तैसा। पागलपन कर्मत्याग का कैसा।

Funding by IKS-MoE

मोक्षफल अज्ञान त्याग से नहीं मिलता। वह कर्म त्याग नहीं है। तत्त्वतः वह राजस त्याग है॥९८॥ कौन से त्याग से मोक्षफल यहां अपने घर आवे यह तुम्हें प्रसंगानुसार कहता हूं॥९९॥

वर्णाश्रम के अनुसार, वेदाज्ञा के अनुसार, करणीय कर्म, कर्तृत्व का अहंकार एवं फलाशा छोड़कर किया जानेवाला नित्यकर्म, सात्विक त्याग कहलाया जाता है॥९॥

अधिकार के अनुरूप प्राप्त स्वाभाविक कर्म जो वेदविधि के अनुसार गौरवपूर्वक यथासांग करता है॥२००॥ किन्तु 'मैं करता हूं' यह भाव उसके मन में नहीं होता। फलाशा को जैसे वह तिलांजली देता है॥१॥ हे अर्जुन! माता की अवज्ञा करना, या वासना रखना, दोनों अधःपतन का कारण है॥२॥ इन दोनों दोषों का त्याग करके माता की विशेष सेवा करना चाहिये। मुख अपवित्र रहता है इसलिये धेनु का त्याग नहीं किया जाता॥३॥ अपना प्रिय फल, उसकी छाल एवं बीज निरस है इसलिए क्या उसे फेंकते है?॥४॥ वैसे हे पार्थ! कर्तृत्व का अहंकार एवं कर्मफल का आस्वाद इन दोनों का नाम कर्मबंधन है॥५॥ हे धनुर्धर! जैसे पिता कन्या के प्रति अनासक्त रहता है, वैसे विहित कर्म करते समय वह दुःखी नहीं होता॥६॥ यह वह त्यागरूप वृक्ष है। मोक्ष इसका श्रेष्ठ फल है। और इस जग में सात्विक नाम से प्रसिद्ध है॥७॥ बीज जलाने से जैसे वृक्ष सहज निर्वंश किया जाता है, वैसे फलाशा का त्याग करके जिसने कर्मबंधन को त्याग दिया॥८॥ पारस के स्पर्श से लोहे की कालिमा एवं रंग उसी क्षण नष्ट होती है, वैसे इस त्याग से, हे अर्जुन! रज तम दोनों गुण नष्ट होते हैं॥९॥ सायंकाल में जिस प्रकार मृगमरीचिका दिखती नहीं तद्वत शुद्ध सत्वगुण से आत्मज्ञान के निर्मल नेत्र खुलते हैं॥२१०॥ समष्टि बुद्धि से यह विश्वाभास को सत्वगुणी देखता नहीं। (आत्मज्ञान से अज्ञान नष्ट होने पर विश्व के अत्यंता भाव की प्रतीति आती है) आकाश सर्वत्र व्याप्त होते हुये भी कहीं दिखता नहीं॥११॥

सात्विक त्याग करनेवाला, 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस बुद्धि से युक्त, श्रवण मनन से अविद्या सहित संशय नष्ट हुआ पुरुष, अशुभ कर्म का द्वेष नहीं करता। शुभ कर्म के प्रति आसक्त भी नहीं होता॥१०॥

आकाश में जैसे मेघ विलीन होते हैं, तद्वत पूर्वजन्म के संचित कर्म एवं वासनाओं के बल से काम्य, निषिद्ध, नित्य नैमित्तिक शुभाशुभ कर्म का बंधन विलीन होता है॥१२॥ आत्मज्ञानियों की दृष्टि से सब कर्म शुद्ध एवं निर्दोष होते हैं। अतः सुख दुःख की कोई खटपट उसको नहीं होती॥१३॥ शुभकर्म का आचरण वह हर्षपूर्वक करता है। अशुभ कर्म के प्रति, हे अर्जुन! उसके मन में द्वेष नहीं होता॥१४॥ जागृत हुए मनुष्य को जिस प्रकार से स्वप्न के विषय में भ्रम नहीं रहता, वैसे शुभाशुभ कर्म के विषय में उसके मन में विकल्प नहीं होता। (उसकी समदृष्टि होती है)॥१५॥ अतः कर्म एवं कर्ता इस द्वैतभाव की वार्ता, हे पंडुसुत! वह जानता नहीं। वही सात्विक त्याग है॥१६॥ हे पार्थ! इस प्रकार से त्याग से ही कर्म का सर्वथा त्याग होता है। अन्य पद्धति से वह अधिक बंधनकारक होते हैं॥१७॥

देह धारण करनेवाले देहाभिमानी पुरुषों से कर्म का सर्वस्वी त्याग करना संभव नहीं होता। कर्मफल का त्याग करनेवाला ही त्यागी कहलाया जाता है॥११॥

हे सव्यसाची (दोनों हाथों से बाण चलाने की कला जाननेवाला) अर्जुन! देहरूपी मूर्ति प्राप्त होने पर भी कर्म करने का आलस्य करनेवाले सबको मूर्ख समझना चाहिये॥१८॥ मिट्टी का द्वेष घट कैसा करेगा। हे सुभट! वस्त्र तंतुओं को कैसे छोड़ सकता है?॥१९॥ तद्वत अग्नि में दाहकत्व स्वाभाविक है। अग्नि उष्णता को कैसे त्याग सकेगी? दीपक स्वप्रकाश का द्वेष कैसे करेगा॥२२०॥ हींग दुर्गंध से त्रस्त होने पर सुगंध कहां से लावेगा? द्रवता को छोड़कर जल कैसे रहेगा?॥२१॥ हे धनुर्धर! जब तक शरीर के आश्रय से जीव रहता है तब तक

धनुर्धर।।२२।। स्वयं लगावे तिलक अर्जुन। पोछ सके पुनः पुनः। किन्तु क्या भाग्य
का वक्रपन। बदलना शक्य।।२३।। किया स्वयं जो कर्म विहित। अतः छोड़ना उसको
शक्य पार्थ। किंतु देहकर्म अंतस्थ। छोड़ना कैसे?।।२४।। श्वासोंच्छ्वास संतत। निद्रा
में भी चले अव्याहत। अनैच्छिक रूप से चलत। जिस प्रकार।।२५।। इस शरीर के
मिष से। कर्मही जुड़ा उससे। जीते मरते न रुके जैसे। निरंतर।।२६।। इस
कर्मत्याग का भारत। उपाय एकही तत्त्वतः। न जाना वश में किंचित। फलाशा
के।।२७।। कर्मफल करो ईश्वर को अर्पण। होगा तत्प्रसाद से बोध उद्दीपन। वहां
रज्जुबोध से लोपत पूर्ण। व्याल शंका।।२८।। उस आत्मबोध से। कर्म अविद्यासह
नष्ट जैसे। पार्था त्यजो जब ऐसे। कर्मत्याग वहां।।२९।। ऐसा जो योगी। वही
सच्चा कर्मत्यागी। और तो मूर्छना रोगी-। का विश्राम जैसा।।२३०।। कर्म से एक
त्रसित। दूजा विश्राम खोजत। डंडे का दुःख ठोसे से पार्थ। कम करना जैसे।।३१।।
और कितना कहूं किरीटि। वही श्रेष्ठ त्यागी जगत में निश्चिति। किया छोड़के
जिसने फलासक्ति। निष्कर्म कर्म।।३२।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१२।।

वैसे भी धनंजय!। त्रिविध कर्मफल यह। समर्थ भोगने को वह। न छोड़े आशा
जो।।३३।। स्वयं जन्म देकर दुहिता। 'न मम' कहे पिता। छुटे माया से, प्रतिग्रहण
कर्ता। फंसे दामाद जैसा।।३४।। विष का व्यापार करत। लाभ से सुख में जियत।
अन्य मरत जो लेत। मोल से वह।।३५।। कर्म करे साभिमान। या करे फलाशाबिन।
किन्तु न टरे अर्जुन। कर्म दोनों को।।३६।। मार्गतरु का पक्व फल। चाहत जो पावे
सकल। वैसे वांछत जो कर्मफल। सो पावे उसको।।३७।। कर्म करके न लेवे फल। न
फंसे संसार में वही केवल। जानो त्रिविध जग का कर्मफल। धनुर्धर।।३८।। देव
मानव स्थावर। नाम इसका जगडंबर। और ये ही तीन प्रकार। कर्म फल के।।३९।।
वही एक अनिष्ट। एक तो केवल इष्ट। और एक इष्टानिष्ट। त्रिविध ऐसे।।२४०।।
जिनकी विषयासक्त बुद्धि। कर्म करत अविधि। प्रवर्तत कुकर्म में निरवधि। निषिद्ध
में।।४१।। वहां कृमि कीट लोष्ट। ये देह पावत निकृष्ट। उसको ही नाम अनिष्ट।
कर्मफल पार्थ।।४२।। स्वधर्म को मानकर। स्वाधिकार जानकर। वेदविहित
आचार। करे जो।।४३।। तब इंद्रादि देवताओं की। काया प्राप्त सव्यसाची। उस
कर्मफलको इष्ट की। संज्ञा पार्थ।।४४।। खट्टा मीठा एकत्र। वह रस की विचित्र।
रुचि जिसकी मधुर। दोनों से अधिक।।४५।। रेचक ही योगयुक्त। करत स्तंभन
उद्देश्य से पार्थ। वैसा सत्यासत्य सामरस्य जीतत। सत्यासत्य को।।४६।। अतः शुभ

Funding by IKS-MoE

कर्मत्याग का पागलपन कैसे करेंगे?।।२२।। स्वयं तिलक लगाकर उसको पुनःपुनः पोंछ सकते हैं किंतु भाग्य की वक्रता बदलना क्या शक्य है?।।२३।। वेद विहित कर्म प्रारंभ करने पर उसको छोड़ देना शक्य होता है। किन्तु अंतस्थ देहकर्म को (रक्ताभिसरण, श्वास्, प्रश्वास, पचन आदि) हे पार्थ! कैसे छोड़ देंगे।।२४।। श्वास प्रच्छवास की क्रियाएं निद्रा में भी होती रहती हैं। विशेष प्रयत्न न करते हुए अनैच्छिक रूप से वह सतत अव्याहत क्रिया चलती रहती है।।२५।। शरीर के निमित्त से कर्म जीव से जुड़ा हुआ है। जीते मरते निरंतर जैसे वह रुकता नहीं।।२६।। हे भारत! इस कर्मत्याग का तत्त्वतः एक ही उपाय है। फलाशा के वश में किंचित भी नहीं जाना चाहिये।।२७।। भगवान को कर्मफल अर्पण करना चाहिये। उनकी कृपाप्रसाद से आत्मज्ञान प्रकट होगा। रस्सी के ज्ञान से सर्प का भ्रम नष्ट होता है।।२८।। उस आत्मज्ञान से अज्ञानसहित कर्म नष्ट होते हैं। हे पार्थ! जब कर्म का ऐसा त्याग होता है तब वह कर्मत्याग कहलाता है।।२९।। ऐसा जो योगी है वही सच्चा कर्मत्यागी है।(अहंकार रहित, इच्छा रहित, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करके चित्तशुद्धि पूर्वक भगवत्प्रसाद संपादन करता है। उस कृपा से आत्मज्ञान प्राप्त करके अज्ञानसह कर्म का त्याग करनेवाला महात्यागी कहलाता है) मूर्छना आने से विश्राम मिला ऐसा कहनेवाले दूसरे सब त्यागी नहीं होते हैं।।२३०।। कर्म से कोई त्रस्त होता है। दूजा विहित कर्म से विश्राम लेना चाहता है। यह तो हे पार्थ! जैसे डंडा मारने से होनेवाला दुःख, ठोसा मारकर कम करने जैसा है।।३१।। हे किरीटी! अब कितना कहूं? जिसने फलासक्ति छोड़कर निष्काम कर्म किया है वही इस विश्व में निश्चित श्रेष्ठ त्यागी है।।३२।।

कर्मफलत्यागी जो नहीं होते उन्हें कर्म का त्रिविध फल प्राप्त होता है। परंतु आत्मज्ञानी कर्म संन्यासीओं को यह कर्मफल कभी प्राप्त नहीं होता।।१२।।

हे धनंजय! तीन प्रकार के कर्मफल भोगने के लिए वही समर्थ अधिकारी होते हैं जो फल की आशा नहीं छोड़ते।।३३।। कन्या को जन्म देकर पिता स्वयं 'न मम' कहता है। वह कन्या के मोहपाश से छूटता है। किन्तु पत्नीरूप से स्वीकार करनेवाला दामाद उस मोहपाश में फंसता है।।३४।। विष का व्यापार करनेवाले, लाभ प्राप्त करके, सुख से जीवन बिताते हैं। किन्तु धन से विष खरीदनेवाले उसको खाने से मरते हैं।।३५।। अतः कर्तृत्वाहंकार से किया जानेवाला कर्म, या अहंकार विरहित फलाशा रहित किया जानेवाला कर्म करनेवाले कर्ता को कर्म का पूर्णतः त्याग संभव नहीं होता। (जब तक देह रहता है तब तक ज्ञानी अज्ञानीओं को कर्म अनिवार्य है) ।।३६।। मार्ग पर दिखाई देनेवाले वृक्ष का फल चाहनेवाला फल प्राप्त करता है। वे जो कर्मफल की इच्छा करते हैं उनको वह फल मिलता है।।३७।। कर्म करके जो फलाशा नहीं करते वे संसार बंधन में नहीं फंसते। जन्मरूपी व्यवहार में नहीं फसते। यह जगत् तीन प्रकार के कर्मों का फल है।।३८।। देव, मनुष्य एवं स्थावर का नाम जगडंबर है। देव, मनुष्य एवं स्थावर यह तीन प्रकार का कर्मफल है।।३९।। उसमें एक अनिष्ट, एक केवल इष्ट एक इष्टानिष्ट ऐसे तीन प्रकार के हैं।।२४०।। जिनकी बुद्धि विषयासक्त होती है वे अविधि कर्म करते हैं। निरन्तर निषिद्ध कुकर्म में उनकी प्रवृत्ति होती है।।४१।। उनको कृमि, कीटक, लोष्ट पाषाण ऐसे निकृष्ट देह प्राप्त होते हैं। इसका ही नाम अनिष्ट कर्मफल है।।४२।। जो स्वधर्म का सन्मान करता है। स्वयं का अधिकार समझकर जो वेद विहित आचार करता है।।४३।। तब इंद्र आदि देवताओं का शरीर उसे प्राप्त होता है। हे सव्यसाची! उस कर्मफल को 'इष्ट' फल ऐसी संज्ञा है।।४४।। खट्टा-मीठा रस एकत्र करने से इन दो रसों से विभिन्न, अधिक रुचिपूर्ण मधुर रसांतर निर्माण होता है।।४५।। हे पार्थ! योगमार्ग में योगाभ्यास से रेचक (बहनेवाली वायु) वायु रोकने से उसके विरुद्ध स्वभाव के कुम्भक (वायु की निश्चलता) क्रिया को कारणीरूप होता है। वैसे सत्य एवं असत्य के मिथुनीकरण से सत्य एवं असत्य पर विजय प्राप्त हो सकता है। समानाधिकरण से अनिर्वचनीय ज्ञान (तीसरा) निर्माण होता है।।४६।। अतः शुभ एवं अशुभ समान प्रमाण में मिलकर कर्म की उत्पत्ति से

अशुभ समान। ऐसा जब आचरण। उससे पावे जो मनुजपन। मिश्रित फल
वह।।४७।। ऐसा त्रिविध यह कर्मफल। जग में दिखत सकल। जिनकी फलाशा
प्रबल। फसत वे।।४८।। गले तक खाये मिष्टान्न। खाते होवे सुखपूर्ण। किंतु अंत में
अजीरन। होकर मरे।।४९।। अरण्य न आवे जब तक। भली साव चोर की मैत्री तब
तक। वेश्या भली जब तक। न स्पर्शत अंग।।२५०।। वैसे देही कर्म अर्जुन। मन में
रखकर अभिमान। पश्चात जब पावे निधन। भोगत फल सब।।५१।। देखो
साहूकार प्रबल। लेत अवश्य ब्याज मूल। वैसे विकट टारना सकल।
कर्मभोग।।५२।। से जब बीज गिरत। प्रस्फुटित भुट्टे में चढ़त। आगे भूमि में
बोवत। उठे पुनः।।५३।। भोग संचित कर्म से। सृजत जात कर्मांतर से। जैसे चलते
पांव आगे पांव से। जीतत मार्ग।।५४।। नौका जैसे तैरने का साधन। किंतु सदा
इस-उस पार ही अर्जुन। वैसे न छूटे खींचातान। कर्म के भोग की।।५५।। किन्तु
साध्य साधन प्रकार से। फलभोग प्रसरत जैसे। एवं फंसत संसार में वैसे। अत्यागी
वे।।५६।। जातिपुष्प का विकसना। उसी का नाम सूखना। कर्ममिष से न करके
दिखाना। किया कर्म जैसे।।५७।। बीज यदि खाने में खपत। बढ़ती खेती होवे नष्ट।
फल त्याग से बंद होत। कर्मफल वैसे।।५८।। वह सत्वशुद्धि सहकार्य से।
गुरुकृपामृत तुषार से। विकसित ज्ञान बोध से। नष्ट द्वैत दैन्य।।५९।। तब
जगदाभासमिष। स्फुरण से करे त्रिविध फलका नाश। यहां भोक्ता भोग्य भोग
अशेष। लोपत सहज।।२६०।। घड़त ऐसा ज्ञानप्रधान। संन्यास जिनको अर्जुन। वे
ही फलभोग से पूर्ण। मुक्त जान।।६१।। और ऐसे संन्यास से साचोकार। जब
आत्मरूप से दृष्टि स्थिर। क्या कर्ताकर्म भेद सुवीर। दिखत वहां?।।६२।। गिरत
जब भित्ति। होवे अंकित चित्रों की केवल माटी। क्या नष्ट जब रात्री किरीटी। तम
शेष?।।६३।। जब रूप ही न विद्यमान। छाया किसकी सोहे अर्जुन। बिंबत वैसे
दर्पणबिन। वदन कहां।।६४।। नष्ट जब निद्रा का ठांव। कैसे स्वप्न का प्रस्ताव?।
वहां सत्य मिथ्या का भाव। कहे कौन?।।६५।। वैसे संन्यास से इस अर्जुन। मूल
अविद्या को ही न जीवन। तब कैसी करेगा कौन। लेनदेन उसकी।।६६।। अतः इस
संन्यास में पार्थ। कैसी कर्म की कीजे बात। किन्तु यदि अपने देह में वसत। अविद्या
जब।।६७।। तब तब कर्तापन का अहंकार। लेकर करे आत्मा शुभाशुभ आचार।
भेद का प्रभाव गोचर। दृष्टि में जब।।६८।। तब तक हे अर्जुन। कर्म और आत्मा को
द्वैतपन। दिशा जैसे भिन्न-भिन्न। पूर्व पश्चिम।।६९।। आकाश और मेघमंडल। सूर्य
एवं मृगजल। वायु और भूतल। विभिन्न जैसे।।२७०।। ओढ़कर नदी का उदक।
नदी में ही रहे चट्टान एक। परंतु दोनों पृथक। कोटिगुण।।७१।। उदक के अति
निकट। किंतु भिन्न ही शैवाल पार्थ। क्या संग से ही कहना यथार्थ। दीप कालिख
को।।७२।। यदि चंद्र पर कलंक। चंद्र को न उसका दोख। दृष्टि एवं नेत्र गोलक में
विवेक। अपार जितना।।७३।। चलने को मार्ग भिन्न। ओघ प्रवाह अर्जुन। दर्पण से

Funding by IKS-MoE

मनुष्य योनी प्राप्त होती है। यह मिश्रित फल है।।४७।। इस प्रकार से कर्मफल तीन प्रकार से विभाजित हैं। जग में सर्वत्र यह दिखाई देता है। जिनके मन में प्रबल फलाशा होती है, उनको सुख दुःख के भोग में फंसना पड़ता है।।४८।। गलेतक मिष्टान्न खाते समय सुखपूर्ण प्रतीत होता है किन्तु अपचन से भी मृत्यु प्राप्त हो सकती है।।४९।। जब तक अरण्य नहीं आता तब तक सभ्य दिखनेवाले चोर की मित्रता अच्छी होती है। शरीर स्पर्श जब तक नहीं होता तब तक वेश्या अच्छी लगती है। (यह गुप्त रोगों से ग्रस्त वेश्या रोग प्रसारक होती है) ।।२५०।। शरीर से कर्म करते हुए मन में अहंकार रखने से मृत्यु के उपरांत दूसरे जन्म में जीवन पर्यंत कर्म फल भोगना पड़ता है।।५१।। समर्थ साहूकार ब्याज एवं मूलधन लिये बिना रहता नहीं। वैसे प्राणी को कर्म के भोग टालना अत्यंत बिकट है।।५२।। भुट्टे से गिरा हुआ बीज अंकुरित होकर पुनः उसमें भुट्टे लगते हैं। यह पुनः पुनः अंकुरित होने का एवं बीज उत्पन्न होने का क्रम चलता है।।५३।। वैसे संचित कर्म का फल वर्तमान काल में भोगना पड़ता है। वही फल संस्कार एवं क्रियमान कर्म के द्वारा भविष्य में अन्य फल उत्पन्न करता है। कर्म से फल एवं फल से कर्म यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। जैसे चलते हुए एक चरण दूसरे चरण को पीछे रखते हुए आगे बढ़ता है।।५४।। तैरने के साधन जैसे नौका होती है, किन्तु उससे सदा इस पार, उस पार जाया जाता है। हे अर्जुन! वैसे कर्मफल भोग से आवागमन से छुटकारा नहीं होता।।५५।। साध्य साधन प्रकार से अर्थात बीजांकुर न्याय से फलभोग प्रसारित होने लगता है। अतः कर्मफल का त्याग न करनेवाले लोग संसार में फंसते जाते हैं।।५६।। जूही पुष्प का विकसित होना ही उसका सूखना है। वैसे फलाशा छोड़कर कुशलता से कर्म करने का ढोंग करना कर्म न करने जैसा है।।५७।। बोने का बीज खाने में खर्च करने से खेती का नुकसान होता है। तद्वत जिन्होंने फलत्याग किया है उन्होंने कर्मफल समाप्त किया है।।५८।। तब उस निष्काम कर्मयोग से चित्तशुद्धि होती है। जिससे गुरुकृपारूपी अमृत तुषार से विकसित ज्ञान, जीव ब्रह्म का द्वैतरूपी दैन्य (दारिद्र्य) नष्ट करता है।।५९।। मिथ्या विश्व के आकार से भासमान होनेवाला वह इष्ट, अनिष्ट एवं मिश्र त्रिविध फल, ज्ञान से नष्ट होता है। उस अवस्था में भोक्ता, भोग्य एवं भोग की त्रिपुटी स्वाभाविक सहज नष्ट होती है।।२६०।। हे अर्जुन! जिनसे ऐसा ज्ञान प्रधान संन्यास होता है, वे फलभोग से प्राप्त शोक से मुक्त होते हैं।।६१।। हे सुवीर! ज्ञानप्रधान संन्यास से जब आत्मस्वरूप में दृष्टि स्थिर होती है तब कर्ताकर्म भेद दिखना क्या शक्य है?।।६२।। भित्ति जब गिरती है तब भित्ति चित्र भी मिट्टी बन जाता है। रात्र समाप्त होने पर अंधेरा क्या शेष रहता है?।।६३।। हे अर्जुन! जहां रूप नहीं वहां छाया किसकी पड़ेगी? दर्पण के बिना मुख कहां प्रतिबिंबित होगा?।।६४।। जब निद्रा नष्ट हो जाती है तब स्वप्न को कहां स्थान होगा? जहां स्वप्न नहीं वहां सत्य मिथ्या का भाव नहीं होता।।६५।। वैसे ज्ञानप्रधान संन्यास से मूल अज्ञान नष्ट होता है। तब अज्ञान से उत्पन्न कर्मफल का लेना-देना कौन करेगा?।।६६।। हे पार्थ! ज्ञानप्रधान संन्यास में कर्म की बातें कैसी करेंगे?। अपने देह में जब अज्ञान रहता है।।६७।। तब कर्तापन के अहंकार से जीव शुभाशुभ आचार करता है। तब भेद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।।६८।। हे अर्जुन! पूर्व एवं पशिचम दिशा में जैसा भेद (अंतर) है वैसा आत्मा एवं कर्म में भेद है।।६९।। आकाश और मेघमंडल, सूर्य एवं मृगजल, वायु एवं भूतल विभिन्न है।।२७०।। नदी का जल ओढ़कर चट्टान नदी में रहती है किन्तु दोनों में कोटी गुण पृथकता है।।७१।। उदक के अत्यंत निकट शैवाल रहता है, किन्तु उसमें भिन्नता रहती है। निकट संबंध होते हुए भी काजल को दीपक नहीं कहते।।७२।। चंद्रमा में कलंक है किन्तु चंद्र से वह एकरूप नहीं है। दृष्टि एवं नेत्रगोलक दोनों में विलक्षण भेद होता है।।७३।। हे अर्जुन! चलने के लिए मार्ग भिन्न होते हैं। जलप्रवाह अनेक रहते हैं। दर्पण से देखनेवाला अलग होता है। सबमें विविधता निश्चित

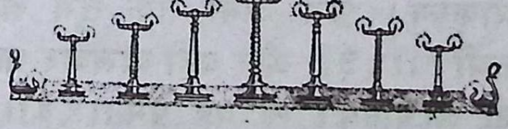

दृष्टा भिन्न। सुनिश्चित।।७४।। देखो उसी प्रमाण से। भिन्न कर्म आत्मा से। किंतु भासत एक जैसे। अज्ञान से।।७५।। विकास से करे सूर्योदय सूचित। दृती आलिवृंद से अनुभवत। वह सरोवर में वसत। आब्जिनी जैसी।।७६।। वैसी आत्मक्रिया पुनः पुनः। उपजत कारणों से अन्यान्य। उन पांचों का रूप लक्षण। कहूं स्पष्ट अब।।७७।।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे। सांख्येकृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

ये पांचों कारण पार्थ। ज्ञात तुमको कदाचित्। जो शास्त्र उठाकर हाथ। कहत इनको।।७८।। वेदराज के राजधानी में। सांख्य वेदान्त के भुवन में। निरूपण के नौबत ध्वनि में। गर्जन जो।।७९।। जो सर्व कर्म सिद्धि को। यही मूल मुद्दल उसको। न मानो आत्मा को। कारण तुम।।२८०।। यह बोल ढिंढोरे से। ये प्रसिद्ध हुए जैसे। अतः रहने दो इसे। कर्ण पुट में तेरे।।८१।। मैं तेरा चिद्रत्न। हस्तगत तेरे अर्जुन। क्या मुखांत से श्रवण। का लेना बोझ?।।८२।। सामने प्रत्यक्ष दर्पण। देखने अपना वदन। क्यों मानना प्रमाण। दृष्टि औरों की।।८३।। भक्त देखे जो जहां। वही होऊं मैं वहां। वह मैं तेरा हुआ यहां। खिलौना आज।।८४।। ऐसे प्रेमभाव से देव बोलत। मूल विषयान्तर होवत। वहां आनंद में अर्जुन स्वतः। निमग्न अंग से।।८५।। चांदनी को आवे सुभर। पहाड़ सोमकान्त का द्रवकर। होने लगे महासरोवर। जैसा पार्थ।।८६।। वैसे सुख और अनुभूति। द्वैतभावों की तोड़कर भित्ति। होवे प्रत्यक्ष अर्जुनाकृति। सुख ही वहां।।८७।। वहां समर्थ देव कृष्ण। इसलिये हुआ उनको स्मरण। किया सुखसागर में डूबते अर्जुन -। को मुक्त स्वतः।।८८।। इतना महान अर्जुन। किंतु प्रज्ञासहित डूब पूर्ण। प्रेमावेश भर संपूर्ण-। से निकालकर पुनः।।८९।। देव कहे सुनो पार्था। अपना स्वरूप देखो सर्वथा। तब निःश्वास छोड़कर माथा। नवाया उसने।।२९०।। कहे जानत आप दातार। द्वैत आपसे न मुझको प्रियकर। आपसे अद्वैत मन में श्रीधर। चाहूं पूर्ण।।९१।। देव आपने सदा समस्त। लालसा मेरी की तृप्त। तब प्रतिबंध क्यों सांप्रत। किया द्वैत को पुनः।।९२।। वहां साच कहत श्रीकृष्ण। पार्थ अभी तक तुम अज्ञान। क्या चंद्र चंद्रिका भिन्न भिन्न। रहे कभी?।।९३।। और यही बोलकर भाव। दिखाऊं तुझको मैं भय। रूठत तुम, वर्धत जो अभिप्राय। सो यह प्रेम।।९४।। तेरा मेरा भिन्नपन। वही अपने जीवन का कारण। अतः आगे यह कथन। समाप्त अब।।९५।। तब कैसे-कैसे सांप्रत। निरूपित तुझको पार्थ। जो कर्मजात समस्त। आत्मा से भिन्न।।९६।। तब कहत अर्जुन हे देव!। मेरा मनोगत स्वभाव। वही आपने प्रस्तावित प्रमेय। सुंदर आज।।९७।। जो सकल कर्मों का बीज। कारण भूत पंचकाज। कहूं तुझको यह पैज। ली है आपने।।९८।। और आत्मा को यहां कोई। सर्वथा संबंध नाहीं। यह जो कहा वही। कहो प्रियवस्तु मेरी।।९९।। इस बोलपर विश्वेश। मन में पावत संतोष। कहे ऐसा हठी जिज्ञासू विशेष। मिलेगा कौन?।।३००।। अब अर्जुन को अच्युत। कहेगा गूढ़

है। ॥७४॥ उसी प्रमाण से आत्मा एवं कर्म में भेद है। किन्तु अज्ञान से आत्मा कर्ता समझा जाता है (दोनों को एक समझा जाता है)॥७५॥ सरोवर में सरोजिनी विकसित होते ही सूर्योदय सूचित किया जाता है। भृंग समुदाय को सुगंध का अनुभव दिलाती है। किन्तु वह स्वयं अविकारी अवस्था में सरोवर में स्थित होती है॥७६॥ वैसी आत्मा की क्रियाएं पुनः-पुनः अन्यान्य कारणों से उत्पन्न होती हैं। उन पांचों कारणों का रूप एक लक्षण अब स्पष्ट कहता हूं॥७७॥

जिसने सिद्धांतों का निर्णय किया है ऐसे सांख्य शास्त्र में सर्व कर्मोंकी उत्पत्ति के पांच कारण बताये हैं। हे महाबाहो! यह पांच कारण मुझसे समझ लेना॥१३॥

हे पार्थ! यह पांचों कारण तुमको ज्ञात होंगे! क्योंकि बाहें फैलाकर शास्त्र इनको कहते हैं॥७८॥ वेदरूपी राजा के राजधानी में सांख्य शास्त्र एवं वेदांत के राजभवन में निरूपण की ध्वनि से गर्जना करके इसकी व्याख्या की जाती है॥७९॥ सब कर्मों की उत्पत्ति का यह पांच कारण मूल है। कर्म के कारणों का सूक्ष्म विचारों से निर्णय न लेते हुए आत्मा को तुम कारण नहीं समझना॥२८०॥ हे अर्जुन! यह वाणी जैसे ढिंढ़ोरा पीटने से प्रसिद्ध हुई है। अतः तुम भी अपने कर्ण से इसे सुनकर यह ज्ञान मन में रखना॥८१॥ मैं ज्ञानरत्न तुम्हारे हाथों में होते हुए, हे अर्जुन! दूसरों के मुख से सुनने के, उपकार का बोझ लेने की क्या आवश्यकता?॥८२॥ दर्पण सम्मुख रहते हुए स्वसौंदर्य का निरीक्षण करने के लिए दूसरों की दृष्टि को प्रमाण क्यों माना जाय?॥८३॥ भक्त जिस भावना से देखता है वह रूप मैं धारण करता हूं। (जैसे नृसिंह, राम, कृष्ण, शिव, गणेश, देवी आदि) वह भक्त के अधीन रहनेवाला मैं, आज तेरा खिलौना बना हूं॥८४॥ प्रेमावेग से बोलते हुए भगवान का मूल विषयों से विषयान्तर हुआ। सुनने वाला अर्जुन आनंद से अपने स्वरूप में निमग्न हो गया॥८५॥ चंद्रप्रकाश का स्पर्श होते ही सोमकान्त मणि के पहाड़ में द्रवता उत्पन्न होकर, महासरोवर उत्पन्न होने लगता है। वैसी पार्थ की स्थिति हुई॥८६॥ सुख एवं अनुभूति के द्वैतभाव की दीवार तोड़कर प्रत्यक्ष आत्मसुख अर्जुन के आकार का बन गया॥८७॥ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान भगवान कृष्ण को स्मरण हुआ। उन्होंने आत्मसुख के सागर में डूबते अर्जुन को स्वयं मुक्त किया। ॥८८॥ इतना महान अर्जुन होते हुए वह ज्ञानसहित आत्मसुख में डूब गया। अष्टसात्विक भाव का प्रेमावेश संपूर्ण भर गया। उसको भगवान ने आनंद सागर से बाहर निकाला॥८९॥ भगवान ने कहा, हे पार्थ! सुनो। तुम अपना स्वरूप देखो। तब निःश्वास छोड़कर अर्जुन ने माथा नवाया॥२९०॥ अर्जुन ने कहा, हे दाता! आप सब जानते हो। हे प्रियकर! आपसे मेरा द्वैत नहीं है। हे श्रीधर! आपसे पूर्ण अद्वैत की चाह मेरे मन में हैं॥९१॥ हे देव! आपने मेरी सब इच्छाएं आज तक तृप्त की हैं। तब अभी आपने द्वैत का प्रतिबंध बीच में क्यों डाला है?॥९२॥ श्रीकृष्ण ने कहा, 'सत्य है। हे पार्थ! अभी तक तुम्हारा अज्ञान नष्ट नहीं हुआ। चंद्र एवं चंद्रिका कभी भिन्न रहते हैं क्या?॥९३॥ यह गूढ़ ब्रह्मैक्यभाव् प्रकट करके तुम्हें भय दिखाना उचित नहीं। तुम्हारे रूठने से प्रेमवर्धित होता है। वही यह प्रेम है॥९४॥ हम दोनों का द्वैत दोनों के जीवन का हेतु है। (अद्वैत ब्रह्मभाव में द्वैत नहीं होता) अतः आगे का कथन समाप्त करते हैं॥९५॥ सब कर्मों की आत्मा से कैसी भिन्नता है यह मैं तुम्हें समझा रहा था॥९६॥ तब अर्जुन ने कहा, हे देव! मेरे मन में जो विषय स्वाभाविक था उसी सुन्दर प्रमेय का आपने प्रस्ताव किया है॥९७॥ जो सकल कर्मों का बीज है। वही पांच कारण मैं कहूंगा, ऐसा आपने शर्त लगाकर कहा था॥९८॥ आत्मा का कर्म के साथ किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है। यह आपने जो कहा वह मेरा प्रिय विषय बताइये॥९९॥ यह सुनकर मन में संतुष्ट होकर विश्वेश्वर श्रीकृष्ण कहने लगे। तुम्हारे जैसा हठी जिज्ञासु मुझे कौन मिलेगा?॥३००॥ अब अर्जुन को श्री अच्युत गूढ़ सिद्धांत कहेंगे। जो प्रेमसे निश्चित उसका ऋणी

सिद्धांत। जो हुआ प्रेम से निश्चित। ऋणी उसका।।१।। तब अर्जुन कहत देव। क्या भूले आप पूर्ण अभिप्राय। जो राखत द्वैतभाव। कथन में अपने।।२।। यहां कहत श्रीकृष्ण। देकर नीका अवधान। करो अब श्रवण। करूं कथन जो।।३।। सुनो साच धनुर्धर। समस्त कर्मों का उभार। होत जात परस्पर। पंचकारणों से।।४।। कर्मों के पांचों उपादान। जिससे कर्म का आकार अर्जुन। होवत हेतु जान। पांच ही वे।।५।। अन्य आत्मतत्त्व उदासीन। वह न हेतु ना उपादान। वह न अंग से करे संवाहन। कर्म सिद्धि का।।६।। वहां शुभाशुभ अंश से। निपजत कर्म ऐसे। रात दिन जैसे। आकाश में।।७।। तोय तेज धूम। इनका वायू से संगम। होवे तब अभ्रागम। व्योम न जाने।।८।। नाना काष्ठ से नौका बनाई। अनिल वेग से वही। मल्लाह ने चलाई। उदक तो साक्षी।।९।। अथवा कोई मृतिंड। बनत उससे भांड। जब हिलावत दंड। भ्रमत चक्र।।३१०।। और कर्तृत्व कुलाल का। वहां क्या खर्चत पृथ्वी का। एक आधारबिन उसका। सोचो तुम ही?।।११।। रहने दो यह, लोक समग्र। के समरूप जग व्यापार। वहां क्या काम भास्कर। करत स्वयम।।१२।। वैसे निमित्त और उपादान। पांचों कारण से अर्जुन। होवे कर्मलतिका निर्माण। आत्मा अलिप्त।।१३।। अब पांचों वही पृथक-। का नीका करुं विवेक। तौलकर लेना देख। मोती जैसे।।१४।।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

वैसे यथार्थ लक्षण। सुनो सब कर्म कारण। तब देह मैं कहूं अर्जुन। प्रथम यहां।।१५।। इसको अधिष्ठान ऐसे। कहत यही उद्देश्य से। जो स्वभोग्यसहित रहत जैसे। भोक्ता यहां।।१६।। इंद्रियों के दश हस्त-। से कष्टत दिनरात। जुटावत सुखदुःख समस्त। प्रकृतिजन्य।।१७।। भोगने वे पुरुष को। न अन्य स्थान उनको। अतः अधिष्ठान संज्ञा देह को। धनंजय।।१८।। यह चौबीस तत्त्वका। कुटुंबगृह वस्ती का। टूटत बंधमोक्ष का। गुत्थी यहां।।१९।। जागृति स्वप्न सुषुप्ति। अवस्थात्रय में इसकी स्थिति। अतः इस देह को किरीटि। नाम यही।।३२०।। कर्म का दूजा कारण। उसको कर्ता यह अभिधान। जो प्रतिबिंबपूर्ण। चैतन्य का।।२१।। आकाश ही वर्षत नीर। तल में संचित वह सरोवर। तब प्रतिबिंब में तदाकार। होवे जैसा।।२२।। या निद्रा जब बहुत गहन। होवे राजा को अपना विस्मरण। समाये वह रंकपन-। से स्वप्न में स्वयम्।।२३।। स्वरूप विस्मरत वैसे। चैतन्य देहाकार होवे तैसे। वही देहभाव आभास से। वर्तत जग में।।२४।। विस्मरण से चैतन्य शुद्ध। जीवभाव से देह में प्रसिद्ध। ममत्व से होवे संबद्ध। निश्चित पार्थ।।२५।। करे प्रकृति सब कर्म। स्वयं करत ऐसा होवे भ्रम। अतः जीव को कर्ता यह नाम। धनुर्धर।।२६।। देखो बरौनी के बाल से वैसी। दृष्टि एक किन्तु भासत ऐसी। मानो मुक्त चंवर जैसी। कटी पार्थ।।२७।। या गृह के भीतर एक। दीप को अवलोकत देख। गवाक्ष भेद से अनेक। भासत जैसे।।२८।। अथवा एक ही नट। नवरस जब करे प्रकट।

Funding by IKS-MoE

हुआ है ।।१।। तब अर्जुन ने कहा, हे देव! क्या आप पूर्व अभिप्राय भूल गये हो? आपके कथन में आप द्वैतभाव रखते हो। ।।२।। श्रीकृष्ण कहते हैं, अच्छा अब जो कहूंगा वह अवधान देकर उत्तम रीति से सुनो।।३।। हे धनुर्धर! अब सत्य सुनो। हे अर्जुन इन पांच कारणों से सब कर्म परस्पर उत्पन्न होते हैं। हे अर्जुन इन पांचों उपादान कारणों से वही उसके पांच निमित्तिकारण होते हैं।।४।। आत्मतत्त्व उदासीन रहता है। वह न हेतु है। ना उपादान होता है। कर्म के उत्पत्ति का भार लेकर मदद भी नहीं करता।।६।। आत्मतत्त्व के अधिष्ठान पर शुभाशुभ कर्म उत्पन्न होते हैं। जैसे रात एवं दिन आकाश में उत्पन्न होते हैं।।७।। समुद्र, जल, सूर्य तेज एवं अग्निधूम का वायू से संपर्क होते ही आकाश में मेघ उत्पन्न होते हैं। किंतु आकाश उसको जानता नहीं।।८।। विविध काष्ठ से नौका बनायी। अनुकूल वायु की गति से मल्लाह वह चलाता है। किन्तु जल केवल साक्षी रहता है।।९।। मिट्टी के (पिंडसे) गोले से (पात्र) घट बनता है। डंडे से हिलाने से चक्र घूमता है।।३१०।। घट तैयार करनेवाले कुम्हार (कुलाल) का कर्तृत्व निमित्त कारण रहता है। वहां पृथ्वी का क्या खर्च होता है? वह केवल आधार देने का कार्य करती है। तुमही विचार करो।।११।। यह दृष्टान्त रहने दो। सूर्य के प्रकाश में लोगों के अनेक व्यवहार होते रहते हैं। किन्तु सूर्य स्वयं क्या काम कराता है?।।१२।। वैसे निमित्त एवं उपादान के कारणों से कर्मलताएं निर्माण होती हैं। आत्मा उसमें अलिप्त रहती है।।१३।। इन पांच कारणों का विभिन्न लक्षणों से उत्तम प्रकार से विवेचन करेंगे। मोतियों को ध्यान से जैसे तौलकर उसे खरीदते हैं वैसे ध्यान से सुनो।।१४।।

इन कर्मसिद्धि में अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीवात्मा), पृथक्विध करण (इंद्रियां), विविध पृथक चेष्टाएं (प्राणापान की क्रियाएं) एवं पांचवां कारण अनुग्राहक देवता है।।१४।।

हे अर्जुन! जिनके जैसे लक्षण हैं वैसे उन कर्मों के कारण भी सुनो। कर्म की उत्पत्ति का प्रथम कारण देह है, ऐसा मैं प्रथम कहता हूं।।१५।। इस देह को इसी अभिप्राय से अधिष्ठान कहते हैं। इस देह में भोक्ता जीव स्वयं के सुखदुःखात्मक भोग्य के साथ रहता है।।१६।। यह प्रकृति पांच ज्ञानेंद्रिय एवं पांच कर्मेन्द्रिय इन दस हाथों से रातदिन कष्ट करते हुए, प्रकृति से उत्पन्न सुख दुःख से जोड़ देते हैं।।१७।। हे धनंजय! सुख दुःख का भोग लेने के लिए पुरुष को देहबिना अन्य स्थान नहीं है। अतः देह को अधिष्ठान संज्ञा है।।१८।। यह चौबीस तत्त्वों का परिवार रहने का स्थान है। इस देह में ही बंधन एवं मोक्ष की गुत्थी सुलझती है। (प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पंच तन्मात्रा, पंचभूत, पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय एवं मन मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। बंधन का कारण अज्ञान होता है। उससे जन्म-मृत्यु का दुःख पुनः-पुनः प्राप्त होता है। मोक्ष का कारण ब्रह्मज्ञान है। मुक्ति का स्वरूप अविद्या निवृत्ति है। नित्य निरतिशय आनंद प्राप्ति इसी देह में होती है। अतः यह देह अधिष्ठान कहलाता है)।।१९।। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति यह तीनों अवस्थाओं का आधार देह है। अतः देह को अधिष्ठान यह अन्वर्थक नाम है।।३२०।। कर्म का दूसरा कारण कर्ता है। वह चैतन्य का पूर्ण प्रतिबंब है। ।।२१।। आकाश से जलवर्षा होती है। वह जल सरोवर में संचित होता है। उसमें प्रतिबिंबित आकाश तदाकार होता है। (वैसा चैतन्य के अधिष्ठान पर अविद्या के साथ अंतःकरण में ब्रह्मचैतन्य प्रतिबिंबित होकर तादात्म्य से अंतःकरण का आकार धारण करता है) ।।२२।। प्रगाढ़ निद्रा में राजा को स्वयं का विस्मरण होता है। मैं रंक हुआ ऐसा स्वप्न में देखता है। स्वप्न के दारिद्रय में एकरूप होता है।।२३।। तद्वत् चैतन्य स्वाश्रित अज्ञान से देह की उपाधि से मैं देह, कर्ता, अज्ञानी आदि स्वरूप में प्रकट होता है। अहंभाव से स्थूल देह के रूप में प्रकट होता है।।२४।। शुद्ध चैतन्य विस्मरण से जीवभाव से देह में प्रसिद्ध है। हे पार्थ! ममत्व से वह निश्चित देह से संबंधित रहता है।।२५।। प्रकृति इंद्रियों से कर्म कराती है। वह कर्म मैंने किया ऐसा जीव समझता है। अतः वह कर्ता कहलाता है।।२६।। हे पार्थ! मनुष्य की अखंड दृष्टि बरौनी के बालों से मुक्त चँवर जैसी कटी हुई दिखती है।।२७।। घर के भीतर दीपक का प्रकाश खिड़कियों से बाहर जाता है। तब उसमें अनेकता आती है। ।।२८।। अथवा एक ही

Funding by IKS-MoE

नवविध दिखत स्पष्ट। दर्शक को जैसा।।२९।। वैसे बुद्धि का एक जानना। श्रोत्रादि भेद से आना। बाहिर इंद्रियभाव से प्रकटना। धनुर्धर।।३३०।। वह पृथक्विध करण। कर्मों का इन कारण। तीसरा पांचों में जान। नृपनंदन!।।३१।। और पूर्व पश्चिम वाहनी। बहकर समुद्र से मिलनीं। होवे नदी नद पानी। एकही जैसे।।३२।। वैसे पवन में क्रियाशक्ति। जो अनपायिनी किरीटि। नानास्थान में निश्चिति। भासत नाना रूप।।३३।। जब वाचा में आना। वही तब होवे बोलना। हाथ में प्रविष्ट तब लेना-। देना होवे।।३४।। देखो चरणों के ठाँई। होवत गति वही। अधोद्वार में दोनों ही। क्षरण वही।।३५।। कंद से हृदयपर्यंत। प्रणव की वृद्धि करत। शरीर में उसको पार्थ। बोलिजे प्राण।।३६।। पश्चात उर्ध्व की जो गति। आगे वही शक्ति। उदान संज्ञा को किरीटि। होवे प्राप्त।।३७।। अधोरंध्र से बाहिर बहुत। अपान यह नाम लभत। व्यापकपन से होत। व्यान वही।।३८।। आरोगत जब रस। शरीर में व्याप्त सरिस। और संधि संधि में निवास। जिसका पार्थ।।३९।। इस विध जो क्रिया पद्धति। नाभिस्थान में जब उसकी स्थिति। 'समान' संज्ञा से किरीटी। बोलिये उसको।।३४०।। और जम्हाई, छींक, डकार। ऐसा जो होवे व्यापार। नाग, कूर्म, कृकर। इत्यादि जानो।।४१।। एवं वायु एक ही तत्त्वता। किंतु भिन्न उसकी क्रिया सर्वथा। अतः पृथक-पृथक नाम पार्था। प्राप्त उसको।।४२।। इसविध जो व्यापार। वायुशक्ति के अनुसार। वही चौथा जानो प्रकार। कर्म कारण।।४३।। ऋतु सुंदर शरद। शरद में शीतल चांद। और उसमें चंद्र को संबंध। पूर्णिमा का।।४४।। या वसंत में अच्छा आराम। आराम में भी प्रिय संगम। संगम में उपचार का आगम। चंदनादिका।।४५।। अथवा कमलपुष्प में अर्जुन। विकास होवे पूर्ण। और विकास में पराग उत्पन्न। सुगंधित।।४६।। वाचा में भला कवित्व। कवित्व में सुंदर रसिकत्व। रसिकत्व में परतत्त्व। स्पर्श जैसा।।४७।। वैसे सब वृत्ति वैभव युक्त। बुद्धि एक ही उत्तम पार्थ। बुद्धि को भी शोभा नूतन नित। इंद्रिय प्रभुता से।।४८।। इंद्रिय मंडल को भूषण। जो जो देवता अधिष्ठात्री अर्जुन। वे सब अनुकूल पूर्ण। धनुर्धर।।४९।। श्रोत्र नेत्रादि वश। इंद्रियसमूह अशेष। करत स्वानुग्रह विशेष। सूर्यादिसुरवृंद।।३५०।। वे देववृंद अर्जुन। पांचवा कर्म कारण। कहत स्वयं श्रीकृष्ण। जानो यहां।।५१।। एवं बुद्धि तेरी इस प्रकार। कर्मजात की खानी समग्र। पंचविध निरूपित सुवीर। क्या सुना तुमने?।।५२।। अब यही कारण बढ़त। तब कर्म सृष्टि उपजत। जिनसे होवे

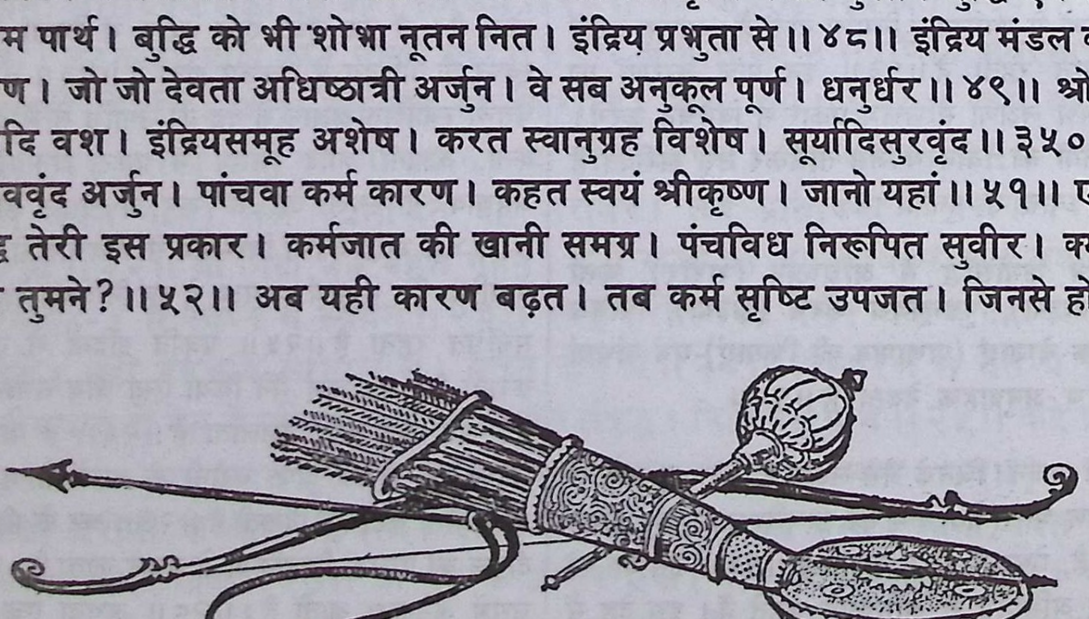

नट जैसे प्रसंग के अनुसार नवरस अभिनय से प्रकट करता है, तब दर्शकों को स्पष्ट नौ प्रकार से दिखता है।।२९।। वैसे हे धनुर्धर! बुद्धि में स्थित ज्ञान, श्रोत्र, चक्षु आदि इंद्रिय भेद से देहभाव से प्रकट होते हैं।।३३०।। हे नृपनंदन! विभिन्न इंद्रियाँ कर्म का तीसरा कारण हैं। उसे समझ लेना।।३१।। जैसे एक ही जल पूर्व एवं पश्चिम दिशा में जब प्रवाहित होता है तब उसे नदी या नद ऐसे नाम दिये जाते हैं, किन्तु वही जल बहते हुये समुद्र में मिलता है तब उसका भेद नष्ट होता है।।३२।। हे किरीटि! तद्वत प्राणवायु में नष्ट न होनेवाली क्रियाशक्ति है। वह विभिन्न स्थानों पर निश्चित रूप में विभिन्न प्रकार से भासमान होती है।।३३।। वह क्रियाशक्ति वाणी में वाचा कहलाती है। हाथ में प्रविष्ठ होते ही लेने-देने का व्यवहार करती है।।३४।। चरणों में गति क्रियाशक्ति होती है। अधोद्वार से क्षरण भी प्राणवायु की शक्ति है।।३५।। हे पार्थ! मूलाधार से हृदय पर्यंत अनाहत नाद के रूप में ॐकार को प्रकट करनेवाला 'प्राण' कहलाता है। (प्राण रूप से हृदयस्थित वायु अनाहत नाद निर्माण करता है) ।।३६।। वही प्राणशक्ति कंठ से श्वास प्रश्वास के रूप में आना जाना करती है। उसी को 'उदान' कहते हैं।।३७।। वही शक्ति अधोद्वार से बाहर निकलती है तब उसको 'अपान' कहते है। जब वह संपूर्ण शरीर में व्याप्त होती है तब उसे व्यान कहते हैं।।३८।। हे पार्थ! वह वायु की क्रियाशक्ति अन्न का जीवन रस संपूर्ण शरीर में सम प्रमाण में भर देती है। सब संधियों में जिसका निवास रहता है।।३९।। हे किरीटि! इस प्रकार की जो क्रियापद्धति होती है एवं नाभि स्थान में वह स्थिर हो जाती है, उसको 'समान' ऐसी संज्ञा है।।३४०।। जम्हाई, छींक, डकार ऐसी जो क्रियाएँ होती है वह नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय नाम से क्रियाशक्ति कहलाती हैं।।४१।। तत्त्वतः वायु एक ही है, किन्तु उसकी क्रियाएं सर्वथा भिन्न होने से, हे पार्थ! उनको पृथक नाम प्राप्त हुये हैं।।४२।। वायुशक्ति के अनुसार इस प्रकार से जो व्यवहार होता है वही वायुशक्ति कर्म का चौथा कारण समझना।।४३।। ऋतुओं में शरद ऋतु में शीतल चंद्रमा और उस चंद्रमा का पूर्णिमा से संबंध होवे तब सर्वत्र वातावरण में आल्हाद भर जाता है।।४४।। वसंत ऋतु में उद्यान (फलपुष्पों से शोभित) आल्हाददायक प्रतीत होता है। उद्यान के एकांत में प्रिय जनों का साथ उत्तम होता है। संग के साथ चंदनादि उपचार हो तो और भी अच्छा। (प्रिय प्रमदा के संग के साथ चंदन का लेप, मृदु पुष्पशैय्या, फल, मधुर पेय, उत्तम संगीत या कलापूर्ण नृत्य, मधुर वाद्य आदि उपचार से) शरीर मन एवं इंद्रियों को आनंद की उपलब्धि होती है।।४५।। हे अर्जुन! पूर्ण विकसित कमल में जैसे सुगंधित पराग होते हैं। (सर्वत्र सुगंध फैलने से भ्रमर आकर्षित होते हैं)।।४६।। वाणी में कवित्व उत्तम होता है। काव्य में सुंदर रसात्मकता उत्तम होती है। रसात्मक काव्य में ब्रह्मतत्त्व का, परातत्व के विवेचन का स्पर्श श्रेष्ठ माना जाता है। (छंदबद्ध काव्य गद्य से श्रेष्ठ होता है। रसात्मकता से सौंदर्य प्रकट होकर मन में संतोष होता है। विविध अलंकारों से उपमा, दृष्टांत से विषय स्पष्ट होता है। काव्य में मार्गदर्शन एवं व्यवहार ज्ञान सौंदर्य पूर्ण पद्धति से करने से कटु प्रतीत नहीं होता। तत्त्वबोध से मुमुक्षुओं को दुःख निवृत्ति का अनुभव होता है। अधिकारी व्यक्ति को परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतः काव्य, रस एवं परातत्त्व के स्पर्श से एक साथ छह प्रयोजन सिद्ध होते हैं)।।४७।। अंतःकरण की वृत्ति वैभव में ज्ञानप्रधान वृत्तियां उत्तम होती हैं। हे पार्थ! इंद्रियों की प्रभुता से बुद्धि को नित्य नूतन शोभा प्राप्त होती है।।४८।। इंद्रिय समुदाय को उस स्थान में स्थित अधिष्ठात्री देवताएं भूषण होते हैं। हे धनुर्धर अर्जुन! वे सब पूर्ण अनुकूल होती हैं।।४९।। अतः सूर्यादि देवताओं का समुदाय श्रोत्रनेत्रादि दश इंद्रियों को स्वयं के अनुग्रह सहित साथ देता है। (इंद्रियों को ज्ञान से शोभा है इंद्रियों से बुद्धि का ज्ञान देह के बाहर विकसित होने पर शोभा पाते हैं) ।।३५०।। हे अर्जुन! देवताओं का समुदाय इंद्रियों पर अनुग्रह करता है। वह कर्म का पांचवां कारण है, ऐसा भगवान श्रीकृष्ण यहां कहते हैं।।५१।। हे सुवीर! इस प्रकार से तुम्हारी बुद्धि समग्र कर्मों की खानी है। पांच प्रकार के कारण तुम्हें समझाए हैं। क्या तुमने सुन लिया?।।५२।। किस निमित्त से यह कारण बढ़ते हैं, एवं कर्म सृष्टि उत्पन्न होती है, वह हेतु जिससे स्पष्ट होंगे ऐसे पांचों कारण तुम्हें

हेतु स्पष्ट। दिखाऊं पांचों ।।५३।।

शरीरवांग्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

आवे अकस्मात वसंत। नवपल्लवी को वह हेतु होत। पल्लव पुष्पपुंज बहरत।
पुष्प से फल।।५४।। या वर्षा में आवे मेघ। मेघ से वृष्टि प्रसंग। वृष्टिकारण भोग।
सस्यसुख का।।५५।। प्राची में होवे अरुणोदय। होवे तदनंतर सूर्योदय। सूर्योदय से
होवे प्रकाशमय। दिन जैसा।।५६।। वैसे अर्जुन यह मन। कर्म संकल्प भाव को
कारण। लगावे दीप वाचा का जान। संकल्प वह।।५७।। उस दीप तेज से पार्थ।
कर्ममार्ग होवे प्रकाशित। कर्ता व्यापार में प्रेरित। कर्तृत्व के।।५८।। तब करने कर्म
शारीर। कारण होवे शरीर। जैसे लोह के औजार-। लोह से ही होत।।५९।। जब
तंतुओं का ताना। उसमें तंतुओं का ही बाना। तब वही तंतु विचक्षणा। होवे
वस्त्र।।३६०।। वैसे मन वाचा देह के पार्थ। कर्मों को मन ही हेतु यथार्थ। रत्न से ही
रत्न की होत। कटाई जैसी।।६१।। यहां शरीरादि कारण। हेतु वे ही कैसे अर्जुन।
शंकित यदि होवे मन। अवधारो (सुनो) तुम।।६२।। सुनो सूर्य के प्रकाश को। हेतु
कारण सूर्य ही उसको। कांड (पोर) गन्ने का हेतु वृद्धि को। गन्ना की पार्थ ।।६३।।
अथवा वाग्देवता का वर्णन। वाचा के श्रम से ही अर्जुन। या वेद की प्रतिष्ठा बखान।
वेदों से ही जैसे।।६४।। वैसे कर्म शरीरादिक समस्त। कारण यह सर्व विदित। किंतु
वे ही हेतु निश्चित। जानो यहां।।६५।। देहादिक कारणों से। मिलकर देहादिक हेतु
से। होवे उभार जैसे। कर्म जात का।।६६।। वैसे शास्त्रानुसार। करो वही मार्ग का
आचार। तब ही न्याय न्याय का साचोकार। हेतु होवे।।६७।। जैसे पर्जन्योद्क का
ओघ पार्थ। कदाचित पहुंचे धान के खेत। निरत किंतु होवे अत्यंत। उपयुक्त
जैसा।।६८।। या रोष से निकले अकस्मात। द्वारिका मार्ग पर लगत। चलते यदि वह
थकत। श्रम न व्यर्थ।।६९।। हेतु कारण मेल से। घटत कर्म जो अंधपन से। यदि
लाहे शास्त्रचक्षु उसे। कहिये न्याय तब।। ३७०।। दूध ऊपर तक उफनत। उफनकर
सहज नीचे गिरत। खर्च तो वह भी पार्थ। किंतु व्यर्थ ही वह।।७१।। वैसे
शास्त्रसहायबिन। किया न होवे अकारण। यदि होगा लूटा धन। दानरूप।।७२।।
अरे! बावन वर्ण विरहित। कौनसा मंत्र जग में पार्थ। या बावन में एक भी न
उच्चारत। ऐसा जीव कोई?।।७३।। किंतु मंत्र की युक्ति। जब तक न ज्ञात
किरीटि। तब तक मंत्रोच्चार की फल प्राप्ति। असंभव जैसी।।७४।। हेतु कारण
योग से। कर्म घटत यदृच्छा से। शास्त्र कसौटी पर जैसे। निखरत जब।।७५।। तब
भी कर्म घटत। किंतु न वह यथार्थ। वह अन्याय रे अन्याय में होत। हेतु
जानो।।७६।।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

एवं पंचकारण कर्म। को हेतु पांचहि सुमहिम!। अब देखो कोई संबंध तुम।

Funding by IKS-MoE

समझाता हूं।।५३।।

शरीर, वाणी एवं मन के द्वारा मनुष्य शास्त्रविहित एवं अविहित कर्म प्रारंभ करता है। उसको यह पांच निमित्तकारण हैं।।१५।।

अकस्मात वसंत ऋतु आने पर नव पल्लवों के उत्पत्ति को वह कारण होतां है। पल्लव पुष्पसमुदाय को एवं पुष्प फलों को प्रकट करते हैं।।५४।। वर्षा ऋतु में मेघ आते हैं। मेघों से वृष्टि होती है। जलवर्षा से धान्य उत्पन्न होता है। उससे खाद्यान्न का सुखोपभोग मिलता है।।५५।। पूर्व दिशा में अरुणोदय होता है। अरुणोदय के अनंतर सूर्योदय होता है। सूर्योदय से जैसे दिन प्रकाशमय होता है।।५६।। वैसे, हे अर्जुन! मन, कर्म करने के संकल्प भाव का कारण होता है। वह संकल्प वाणी का दीप लगाता है। (मुझे कर्म करना है ऐसा उच्चारण कराने के लिए बाध्य करता है)।।५७।। हे पार्थ! वह वाणी की मशाल अनेक कर्म का मार्ग प्रकाशित करती है। कर्ता, कर्तृत्व के उद्योगों में प्रेरित होता है।।५८।। तब शारीरिक कर्म करने के लिए शरीर निमित्त होता है। लोहे के हथियार लोहे से (पीटकर) बनाये जाते हैं।।५९।। हे बुद्धिमान अर्जुन! तंतुओं के ताने में तंतुओं का बाना रहता है तब वही तंतु वस्त्र बनते हैं।।३६०।। जैसे रत्न से ही रत्नों की कटाई होती है। वैसे मन, वाणी एवं देह के कर्म को मन, वाणी, देह ही कारण निर्माण करते हैं।।६१।। कर्मोवृत्ति का शरीरादि कारण कैसा है, हे अर्जुन! ऐसी शंका मन में यदि आती है, उसका हेतु तुम सुनो।।६२।। सूर्यप्रकाश को सूर्य ही निमित्तकारण है। उपादान कारण भी वही है। जैसे गन्ने के वृद्धि के लिए, हे पार्थ! गन्ने के पोर कारण होते हैं।।६३।। हे अर्जुन! वाणी की देवता (सरस्वती) की स्तुति करने के लिये जैसे वाणी को कष्ट देना चाहिये। अथवा वेदों का महत्व वेदों में ही वर्णन किया गया है।।६४।। वैसे शरीर कर्म का उपादन कारण है, वैसा यह सब जानते हैं। वैसा निमित्त कारण भी है। यह निश्चित समझ लेना।।६५।। शरीर, जीवात्मा, इंद्रिय, वायु की क्रिया शक्ति एवं इंद्रियानुग्राहक देवता इन पांच उपादान कारणों की एवं यही निमित्त कारणों की नियमित एकत्रित उपस्थिति रहती है। तब कर्म समूह की निर्मिति होती है।।६६।। शास्त्राधार के अनुसार कर्म करने से वह न्याय कर्म होता है। वही न्याय कर्म धर्मनीति के न्याय का कारण होता है।।६७।। हे पार्थ! पर्जन्य का प्रवाह पृथ्वी में प्रविष्ट होकर जैसे धान के खेत में पहुंचने पर अनायास अति उपयुक्त सिद्ध होता है।।६८।। क्रोधित होकर घर से निकलने पर यदि द्वारिका जाने के मार्ग पर चलने लगा तब थकने पर भी उसके श्रम व्यर्थ नहीं होते।।६९।। तद्वत निमित्त उपादान की एकत्र उपस्थिति से निर्माण कर्म शास्त्रदृष्टि प्राप्त होने पर वही कर्म शास्त्र का अनुसरण करता है। तब वह कर्म 'न्याय्य' कहलाता है।।३७०।। दूध उफनने से सहज नीचे गिरता है। वह खर्च तो है ही किन्तु हे पार्थ! वह व्यर्थ का खर्च समझना।।७१।। शास्त्र की सहायता के बिना कर्म निष्फल होता है, जैसे लूटा हुआ धन दानरूप नहीं समझा जाता।।७२।। हे पार्थ! बावन वर्ण छोड़कर कौनसा मंत्र जग में है? व्यवहार में भी बावन वर्ण का उच्चार न करते हुए बोलनेवाला जीव कोई है क्या?।।७३।। किंतु मंत्र का उच्चार करने की पद्धति जब तक ज्ञात नहीं होती तब तक मंत्रोच्चार की फलप्राप्ति असंभव होती है। (मंत्र गुरुमुख से प्राप्त होना चाहिये। उच्चारण में स्वर, वर्ण, मात्रा, बिंदु आदि में गलती होने से मंत्र सिद्धि नहीं होती)।।७४।। तद्वत उपादान-निमित्त के योग से उत्पन्न होनेवाला स्वैरकर्म शास्त्र शुद्ध नहीं होता।।७५।। तब भी कर्म होता ही रहता है। किंतु वह कर्म धर्मनीति से युक्त नहीं होता। अतः वह अन्याय्य कर्म कहलता है। वह समाज में अधर्म, अनीति, अन्याय, निर्मिति का कारण होता है।।७६।।

कर्म सिद्धि कें निमित्तोपादान कारण आत्मा से भिन्न रहते हैं। जो दुर्बुद्धि मनुष्य आत्मा को ही कर्म का कर्ता समझता है। वह असंस्कृत, अविचारी होने से यथार्थ रूप में आत्मा को जानता नहीं।।१६।।

हे श्रेष्ठ अर्जुन! पांच उपादानकारणों से होने वाले कर्म को पांच निमित्तकारण होते हैं। इस उपादान-निमित्त कारणों के बीच में आत्मा पकड़ा

आत्मा का यहां?।।७७।। भानु न स्वतः विषय रूप का। किंतु है प्रकाशक चक्षुरूपों का। वैसा आत्मा से कर्मों का। प्राकट्य जानो।।७८।। प्रतिबिंब और दर्पण। दोनों नहीं स्वयं आपुन। दोनों को प्रकाशत अर्जुन। निहारता वह।।७९।। या अहोरात्र सविता। न होकर करत पंडुसुता। वैसा आत्मा कर्म कर्ता। जानो तुम।।३८०।। किंतु देहाभिमान भ्रांति। से ग्रसित जिसकी मति। उसको आत्मविषय में किरीटि। हुई मध्य रात्रि ही।।८१।। जिसने माना निज शरीर। ब्रह्म चैतन्य ईश्वर। आत्मा कर्ता यह निर्धार। अचल जिनका।।८२।। आत्मा ही कर्म कर्ता। निश्चय यह भी दृढ़ नहीं तत्त्वता। देह ही को कर्ता सर्वथा। मानत वे।।८३।। जो आत्मा मैं कर्मातीत। सर्व कर्म को साक्षीभूत। ऐसी स्वरूप की बात। न सुनत वे।।८४।। अतः असीम आत्मा को पार्थ। नापत केवल देहपर्यंत। विस्मय क्या न करे रात। दिवाभीत दिन को।।८५।। जिसने आकाश का कही। सत्य सूर्य को देखा नहीं। क्या वह डबरे के प्रतिबिंब को ही। न माने सूर्य?।।८६।। डबरे के अस्तित्व से ही पार्थ। माने सूर्योदय यथार्थ। सूखत जब माने अस्त। कंपित कंप से।।८७।। निद्रित को जागृति ज्यों न आवे। तब तक ही स्वप्न सच होवे। डोर न जाने सर्पभय पावे। विस्मय क्या?।।८८।। पीलिया से जब आंख ग्रसित। तब चंद्र को पीला देखत। क्या मृगजल से भ्रमित। मृग नाहीं?।।८९।। वैसे शास्त्रगुरु नाम पार्थ। सीमा को हवा भी छूने न देते। केवल मौढ्यत्व से ही जीवित। जीव जिसका।।३९०।। उसने देहात्म दृष्टि से। डाला आत्मा पर देह जाल जैसे। माने सियार अभ्रगति से। चले चंद्र ही जैसा।।९१।। उस देहात्म दृष्टि से निश्चित। देह बंदिशाला में पार्थ। कर्म की वज्रगांठ। कसत वह।।९२।। नलिका ऊपर शुक। दृढ़ बद्ध भावना से अशेख। पैर मुक्त रहते देख। न छोड़े वह।।९३।। अतः निर्मल आत्मस्वरूप-। पर प्रकृति का आरोप। नापत वह कोटीकल्प। कर्म ही पार्थ।।९४।। अब कर्म में रहत। किंतु कर्म उसको न स्पर्शत। वड़वानल से अलिप्त। समुद्रोदक जैसे।।९५।। ऐसे ही पृथकपन से। कर्म में रहना जिसका वैसे। पहचानना वह कैसे। कहूं तुझको।।९६।। मुक्त पुरुष का देखते लक्षण। लभत अपने को मुक्तपन। जैसी दीप से दिखत अर्जुन। वस्तु अपनी।।९७।। नातर दर्पण जब स्वच्छ करना। वही अपने को आपुन मिलना। तोय में घुलकर तोय होना। लवण का जैसा।।९८।। निर्वतकर पीछे पार्थ। प्रतिबिंब बिंब को देखत। समाप्त देखना होवे स्वतः। बिंबरूप।।९९।। वैसे संतरूप जब देखत। पावत निज रूप भारत। अतः बखानो श्रवण करो संततः। उन्हीं को तुम।।४००।। वैसे कर्म में रहते कर्म से। न लिप्त सम विषय से। चर्म चक्षु के चाम से। दृष्टि जैसी।।१।। वैसे पायी जिसने मुक्ति। उसका अब लक्षण किरीटि। उठाकर बांह उसकी उपपत्ति। कहूं तुझको।।२।।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

तब अविद्या की नींद। उसमें विश्वस्वप्न का धंध। भोग रहा है प्रबुद्ध। अनादि

Funding by IKS-MoE

गया है क्या? इसका विचार करो।।७७।। सूर्य स्वयं रूपों का विषय नहीं है। किन्तु नेत्र एवं नेत्रों का विषय रूप, दोनों का प्रकाशन करता है तद्वत आत्मा, कर्म एवं कर्म के निमित्तोपादान कारण दोनों का प्रकाशन करता है।।७८।। हे अर्जुन! दर्पण एवं प्रतिबिंब दोनों का स्वरूप धारण न करते हुए निहारनेवाला दोनों का प्रकाशन करता है।।७९।। हे पंडुसुत! जैसे दिन एवं रात न होते हुए सूर्यादय से दिन एवं सूर्यास्त से रात का प्रकाशन होता है। तद्वत आत्मा कर्म एवं कर्ता न होते हुए दोनों को ही प्रकाशित करता है।।३८०।। हे किरीटी! देह मैं हूं ऐसा माननेवाले की बुद्धि भ्रम से देह में स्थिर होती है। उसको आत्मा के विषय में अज्ञान की मध्यरात्र समझना चाहिये।।८१।। अपने देह को जिसने ईश्वर एवं ब्रह्म चैतन्य समझ लिया है। उसको आत्मा कर्ता है ऐसा अचल निर्धार होता है।।८२।। आत्मा कर्ता है यह उसका निश्चय ही सत्य नहीं होता। देहस्वरूप मैं कर्म का कर्ता हूं ऐसा वह समझता है।।८३।। मैं कर्मातीत आत्मा हूं। सब कर्म का साक्षीभूत हूं। ऐसी वास्तव स्वस्वरूप की बात, वह सुनने को भी तैयार नहीं।।८४।। अतः वह देशकाल वस्तु मर्यादा रहित आत्मा को देह में मर्यादा ये नापता है। इसमें आश्चर्य क्या है?। उल्लू दिन को रात नहीं समझता है क्या?।।८५।। जिसने आकाश में सत्य सूर्य देखा नहीं वह डबरे के प्रतिबिंब को ही क्या सूर्य नहीं समझता?।।८६।। वह सूर्य डबरे में देखने से। सूर्यास्त एवं वह सूख जाने पर डबरे के नाश से सूर्यास्त समझता है। उसमें (वायू से) कंप से सूर्य में कंपन समझता है।।८७।। निद्रिस्त मनुष्य जब तक जागृत नहीं होता तब तक स्वप्न को सत्य समझता है। रस्सी को सर्प समझकर भय उत्पन्न होता है इसमें क्या आश्चर्य है?।।८८।। पीलिया के रोग में चंद्रमा पीला दिखता है। मृगमरीचिका में मृग भूलते नहीं क्या?।।८९।। तद्वत दुर्बुद्धि मनुष्य शास्त्र, गुरु आदि नाम को अपने कर्ण की सीमा पर स्पर्श भी होने नहीं देता। वह केवल मूर्खता से जीवन बिताता है।।३९०।। देह में आत्मदृष्टि रखने से आत्मा पर मानो देहरूपी जाल बिछ जाता है। मेघ की गति को जैसे सियार चंद्र की गति समझता है।।९१।। हे पार्थ! देहात्मदृष्टि से देहबंदिशाला में वह कर्म की वज्रगांठ कसता है।।९२।। नलिका के ऊपर (शुक) तोता दृढ़बद्ध भावना से, पैर मुक्त रहते हुए भी नली को पकड़ा रहता है। छोड़ता नहीं।।९३।। अतः असंस्कृत बुद्धि का मनुष्य, शुद्ध अविकारी आत्मस्वरूप पर प्रकृति द्वारा किये गये कर्तृत्व आरोपित करता है। वह कोटि कल्प के नाप से कर्म की गिनती करता है।।९४।। जैसे वड़वानल को समुद्रजल स्पर्श नहीं कर सकता वैसे कर्म में रहते हुए उसको कर्म स्पर्श नहीं करते।।९५।। तद्वत कर्म करते हुए कर्म में अलिप्त रहता है उसको कौन से लक्षणों से पहचानना चाहिये वह मैं तुम्हें बताता हूं।।९६।। हे अर्जुन! जैसे दीपक के प्रकाश में अपनी वस्तु दिखती है, वैसे मुक्त पुरुष का विचार करने से अपनी अनादि सिद्ध मुक्तता प्राप्त होती है।।९७।। दर्पण स्वच्छ करने से अपना अपने से प्रतिबिंब रूप से मिलन होता है! जैसे लवण जल में घुलकर जलरूप होता है।।९८।। प्रतिबिंब एवं बिंब इन दोनों का पुनः विचार करने पर प्रतिबिंब का भेद नष्ट होता है। मूल बिंबरूप शेष रहता है।।९९।। अतः हे भारत! संतस्वरूप देखने पर आत्मरूप प्राप्त होता है। इसलिये नित संतों का वर्णन करो। संतभक्तों के मुख से उनका वर्णन सुनो। ।।४००।। कर्म में रहते हुए भी वे शुभाशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते। नेत्र के पलके चर्म की होती हैं। नेत्र की पुतली भी सूक्ष्म चर्म की ही रहती है। किन्तु उससे दृष्टि को प्रतिबंध नहीं होता।।१।। अतः जो कर्म से मुक्त हुआ है। उसका लक्षण क्या है उसकी उपपत्ति बाहें उठाकर मैं तुम्हें बताता हूं।।२।।

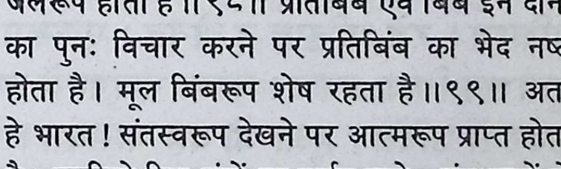

मैं कर्म का कर्ता हूं ऐसा भाव जिसके मन में नहीं होता, जिसकी बुद्धि कर्मफल का उपभोग लेने में लिप्त नहीं होती, वह प्राणियों की हत्या करने पर भी आत्मदृष्टि से नहीं मारता। एवं उस पाप कर्म से बद्ध नहीं होता।।१७।।

जो।।३।। वह महावाक्य के नाम से पार्थ। गुरुकृपाबल से हस्त। न रखा केवल दिया धपट। माथा पर।।४।। वैसी विश्वस्वप्न की माया-। नींद छोड़कर धनंजया। सहसा जगा अद्वया-। नंद में जो।।५।। तब मृगजल का पूर। दिखत एक निरंतर। लुप्त होत चंद्रकर-। प्रकाश से जैसे।।६।। या बीतत जब बालपन। न रहे हव्वा का अस्तित्व अर्जुन। दग्ध पूर्ण न शेष इंधन। रंधनत्व कैसे?।।७।। अथवा आवे जब जागृति। तब स्वप्न न देखे दृष्टि। वैसी अहंममता किरीटि। न शेष उसको।।८।। तब खोजने अंधेर को पार्थ। कोई सुरंग में सूर्य प्रवेशत। किंतु वह कभी उसके हाथ। न आवे जैसे।।९।। वैसे आत्मभाव से वेष्टित। जिस दृश्य को वह निहारत। दृश्य दृष्टापन पावत। भासत आत्मरूप।।४१०।। जैसे वन्हि का होवे लाग। तब वन्हि ही होवत अंग। दाह्य दाहक विभाग। छूटे तब।।११।। वैसे विभक्त कर्मकार। उसका कर्तृत्व आत्मापर। आरोप जब निरस्त सुवीर। शेष तब जो।।१२।। उस आत्मस्थिति का जो राव। क्या माने वह देह का ठाँव?। क्या प्रलयांबु के प्रलय-। से ओहर भिन्न?।।१३।। वैसी ब्रह्मत्व से पूर्ण अहंता। कैसा देहभाव वह पंडुसुता। क्या समावत सविता। बिंब में कभी?।।१४।। मंथन से मक्खन प्राप्त। पुनः यदि तक्त में प्रक्षिप्त। रहे अलिप्त न होवत। एकरूप उसमें।।१५।। अथवा काष्ठ में पार्थ। गुप्त हुताशन किया प्रकट। काष्ट मंजुषा में तब बंदिस्त। रहे कैसा?।।१६।। या रात्री के उदर से उदित। हुआ जो यह भासवत। क्या वह रात की बात। सुने कभी?।।१७।। वैसे वेध वेदकपन। ज्ञान से जब निःशेष अर्जुन। देह में ऐसा अभिमान। कैसा उसको?।।१८।। आकाश जहां-जहां से। जाये रहे भरकर जैसे। अतः व्याप्त पहले से। अपने आप।।१९।। वैसे उसने जो करना पार्थ। वह तो रहत स्वभावतः। तब स्वीकार किस कर्तृत्व-। का या कर्तापन का वह।।४२०।। वही गगनबिन ठाँव। नहीं समुद्र को प्रवाह। न ढ़ले स्थान से ध्रुव। अवस्था वैसी।।२१।। अहंकृति भाव इस प्रकार। व्यर्थ हुआ बोध से जिसका समग्र। जब तक देहनिर्वाह व्यापार। शेष कर्म।।२२।। रुके यदि वायु का बहना। चलत रहे वृक्ष का डोलना। कर्पूर द्रुति का डिबिया में रहना। जलने उपरान्त।।२३।। या समाप्त गीता का समारंभ। कम न गीतानंद का क्षोभ। भूमि में यदि सोकत अंभ। आर्द्रत्व शेष।।२४।। देखो अस्तंगत यदि अर्क। ज्योतिदीप्ति नवल कौतुक। संध्या समय आकाश में विशेख। दिखे जैसी।।२५।। लक्ष्यवेध के उपरान्त। बाण वेग से दौड़त। जब तक न समाप्त। शक्ति उसकी।।२६।। पूर्ण हुआ कुंभ चक्रपर। लिया कुलाल ने निकालकर। चक्र भ्रमत गरगर। पूर्व गति से।।२७।। वैसा देहाभिमान जब नष्ट। जिस स्वभाव से देह पार्थ। कर्म करावत समस्त। जानो सहज वह।।२८।। संकल्प बिन स्वप्न। बिन लगाये अरण्य में बन। बिन रचते गंधर्वभुवन। रचत जैसे।।२९।। आत्मा के उद्यम बिन। वैसे देहादि पंचकारण। करे कर्मजातका निर्माण। स्वभावतः।।४३०।। प्राचीन संस्कार वश से। पांचों कारण सहेतुक जैसे। करावत अनेक कर्माकार से।

Funding by IKS-MoE

अनादि जीव अविद्या की निद्रा में विश्वरूपी स्पप्न का उद्यम करके सुखदु:ख का भोग भोगता है।।३।। उसको (तुम ब्रह्म हो) महावाक्यरूपी शब्द से पुकारकर गुरुकृपाबल से अविद्या की प्रगाढ़ निद्रा से जागृत करके मस्तक पर हाथ रखा। मानो उसको निसंदिग्ध अपरोक्ष ज्ञान होवे इसलिये मस्तक पर धपट दिया।।४।। हे धनंजय! विश्वस्वप्न के साथ अविद्या माया निद्रा को छोड़कर प्रसन्न अद्वैत ब्रह्मानंद में अकस्मात जागृह हुआ।।५।। माध्यान्हकाल में मृगमरीचिका का प्रवाह निरन्तर दिखता था। वह चंद्रकिरण प्रकाश में लुप्त होता है।।६।। हे अर्जुन! बाल्यावस्था निकल जाती है। तब हव्वा का अस्तित्व सत्य प्रतीत नहीं होता। ईंधन जलने पर अग्नि शेष नहीं रहा, तब खाना कैसा बनेगा?।।७।। हे किरीटि! जागृत होनेपर जैसे स्वप्न दिखाई नहीं देता। तद्वत मुक्त जीव में अहंकार एवं ममत्व शेष नहीं रहता।।८।। हे पार्थ! अंधेरे को खोजने के लिए सूर्य ने गुफा में प्रवेश करने पर भी वहां अंधेराहि प्रकाशरूप होने से उसको दिखाई नहीं देता।।९।। वैसा आत्मभाव में स्थिर वह जिस दृश्य को देखता है, वह दृश्य दृष्टा के साथ आत्मस्वरूप बन जाता है।।४१०।। अग्नि का स्पर्श जिस पदार्थ को होता है वह अग्निरूप बनता है। दाह्य, दाहक भेद नष्ट होता है।।११।। कर्मस्वरूप द्वैत से आत्मा पर कर्ता का आरोप लगाया था। वह ज्ञान से नष्ट होने पर जो शेष बचता है उसका शब्द से वर्णन नहीं होता।।१२।। जैसे प्रलयकाल के जल से झरना भिन्न होता है? वैसे जो आत्मानुभव का राजा है (देशकाल वस्तु मर्यादा रहित है) वह विकारी देह को अपने रहने का स्थान कैसा समझेगा?।।१३।। व्यापक ब्रह्मत्व से पूर्ण अहंता, देहभाव से कभी समाहित हो सकेगी? हे पंडुसुत! विश्व को प्रकाशित करनेवाला सूर्य कभी प्रतिबिंब में समाता है?।।१४।। मंथन करके मक्खन निकालने पर पुन: तनु में डालने पर भी वह अलिप्त रहता है। वह एकरूप नहीं होता।।१५।। हे पार्थ! काष्ठ से घर्षण करके अग्नि प्रज्वलित करने पर वह काष्ठ मंजुषा में कैसा बंदिस्त रहेगा?।।१५।। रात्री के उदर से जो उदित हुआ है वह सूर्य क्या रात की बात कभी सुन सकता है?।।१७।। हे अर्जुन! जब ज्ञान से वेद वेदकपना (ज्ञाता के साथ ज्ञेय) नि:शेष नष्ट होता है उसको देह का अहंकार कैसा रहेगा?।।१८।। एक स्थान से दूसरे स्थान तक आकाश परिपूर्ण रहता है। अत: वह स्वाभाविक पहले से ही सर्वत्र व्याप्त है।।१९।। हे पार्थ! मुक्त पुरुष कर्म करता है। वह उसका आत्मस्वभाव होता है। तब स्वीकार या अस्वीकार किस कर्तृत्व का कर्तापन का वह करेगा?।।४२०।। आकाश के बिना अन्य स्थान नहीं। समुद्र को प्रवाह नहीं होता। ध्रुव अपने स्थान से चलित नहीं होता। वैसी यह स्थिर अवस्था है।।२१।। इस प्रकार से जिनके आत्मानुभव में देहाहंकार मिथ्या हो गया है उनका देह जब तक रहता है तब तक कर्म होते ही रहते हैं।।२२।। वायु की गति स्थिर होने पर भी कुछ देर तक वृक्ष हिलता हुआ दिखता है। वैसे डिबिया से कर्पूर निकाल लेने पर भी उसका परिमल शेष रहता है।।२३।। अथवा गीत समाप्त होने पर भी गीत का आनंद उद्रेक मन में रहता है। भूमि से जल निकल जाने पर आर्द्रता शेष रहती है।।२४।। सूर्यास्त के बाद संध्याकाल में पश्चित क्षितिज पर सूर्यप्रकाश अलौकिक दिखाई देता है।।२५।। लक्ष्यभेद के उपरान्त बाण वेग से तब तक दौड़ता है, जब तक उसकी शक्ति समाप्त नहीं होती।।२६।। चक्र पर घट तैयार होने पर कुम्हार घट उठा लेता है। किन्तु चक्र पूर्व गति से फिरता रहता है।।२७।। वैसे ही देह का अभिमान नष्ट होने पर भी जिन कर्मों से देह उत्पन्न हुआ है वे प्रारब्ध कार्य करवाते है।।२८।। पूर्व संकल्प के बिना निद्रा में स्वप्न दिखाई देता है। वृक्षारोपण न करते भी अरण्य में वृक्ष ऊगते हैं। रचना न करते हुए भी गंधर्व नगर निर्माण होता है।।२९।। तद्वत आत्मा के प्रयत्न के बिना पांच कारणों से देह की सब क्रियाएं अपनेआप होती रहती हैं।।४३०।। हे धनुर्धर! संचित कर्म के संस्कार शेष प्रारब्ध के अनुसार निमित्त कारणों के साथ पांचहि कारण अनेक कर्मों

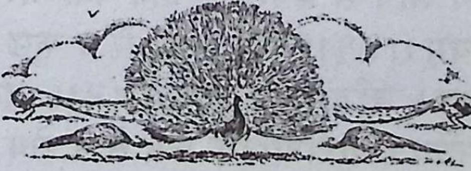

धनुर्धर।।३१।। तब उन कर्मों में पार्थ। नष्ट होवे जग समस्त। अथवा होवे सुंदर निर्मित। सृष्टि नूतन।।३२।। किंतु कैसे कुमुदिनी सूखत। या कैसे कमल फांकत। ये दोनों न रवि देखत। जिसप्रकार।।३३।। आकाश से बीज गिरत। भूतल खंडखंड करत। अथवा हरी-भरी होवत। पर्जन्य वृष्टि से।।३४।। किंतु इन दोनों को जैसे। आकाश न जाने वैसे। देह में विदेह दृष्टि से। रहे जो।।३५।। वह देहादिक चेष्टा को। सृजत ध्वंसत सृष्टि को। न देखे स्वप्न सृष्टि को। जागृत जो।।३६।। चर्म चक्षु से जो पार्थ। आत्मा देहरूप ही जानत। आत्मा को ही कर्ता मानत। मूढ़ वे।।३७।। अथवा विभिषिका घास की। खेत में मेढ़ पर रखी। सच माने मति सियार की। संरक्षिका वह।।३८।। पगला पहने वस्त्र या नग्न। जानना लोगों ने ही अर्जुन। या रणवीरों के गिनना व्रण। औरों ने ही।।३९।। या महासती के भोग। देखत सकल जग। किंतु वह अग्नि ना अंग। न देखे लोग।।४४०।। वैसे स्वरूप प्राप्ति से जागृत। दृष्टा दृश्य सहित नष्ट। क्या जाने व क्रिया समस्त। इंद्रिय ग्राम की?।।४१।। महाकल्लोल से लुप्त लघु कल्लोल। जब देखत तीर के जन सकल। एक से एक गये निगल। माने यदि।।४२।। किंतु उदक दृष्टि से तत्त्वतः। किसको कौन ग्रासत। वैसे पूर्ण को नहीं पदार्थ। मारे जिसको वह।।४३।। सुवर्ण के चंडिका ने। सुवर्ण के ही त्रिशूल ने। सुवर्ण महिष को उसने। किया नष्ट।।४४।। भक्त मन को वह समग्र। भासत सत्य व्यवहार। किंतु शूल चामुंडा महिषासुर। सुवर्ण ही सब।।४५।। चित्र में जल हुतांश। वह तो दृष्टि का ही आभास। पटको अग्नि या आर्द्रांश। दोनों नाहीं।।४६।। मुक्त का देह वैसे। हिलत संस्कारवश से। देखकर मूढ़ भ्रम से। कर्ता कहत।।४७।। और उस कर्म से पार्थ। यदि हुआ त्रिलोक का घात। किंतु उसने किया ऐसी बात। न बोलना तुम।।४८।। तेज ने देखना अंधेरे को। और करना नष्ट उसको। वैसे न दूजा कोई ज्ञानियों को। मारे जिसको वह।।४९।। अतः उसकी बुद्धि। न जाने पापपुण्य की उपाधि। गंगा को मिलते क्षुद्र नदी। अशुद्धि नष्ट सब।।४५०।। आग आग से झपटत। वहां क्या जलत पंडुसुत। क्या शस्त्र कभी चुभत। अपने को स्वयम्।।५१।। वैसे अपने से न कुछ भिन्न। मानत क्रियाजात संपूर्ण। वहां क्या होवे बंधन। बुद्धि को उसके।।५२।। अतः कर्ता क्रिया कार्य। यह स्वरूप ही जिसका कौन्तेय। शरीरादिक कर्म से न होय। बंध उसको।।५३।। कर्ता जीव कुशलता से। पंचकारण खदान से। बनावत दशेंद्रिय औजार से। कर्म मंदिर।।५४।। वहां न्याय और अन्याय। द्विविध साधकर आकार यह। न लगे उभारते क्षण एक कौंतेय। कर्म भुवन।।५५।। इस महाकर्म में पार्था!। आत्मा न होवे सहाय्यकर्ता। और कर्मारंभ को तत्त्वता। न लगावे हाथ।।५६।। वह साक्षी चिद्रूप। अतः कर्मप्रवृत्ति का संकल्प। उठत जो ज्ञानस्वरूप। न देत आज्ञा स्वतः।।५७।। इसविध कर्मप्रवृत्ति में पार्थ। उसको न आयास किंचित। जो प्रकृति की खटपट। लोगों को ही।।५८।। इसलिये आत्मा का ही केवल। जो स्वरूप हुआ निखिल। उसको नहीं बंदिशाल। कर्म की

Funding by IKS-MoE

के पापपुण्यात्मक आकार निर्माण करते हैं।।३१।। हे पार्थ! उस कर्म में जग संपूर्ण नष्ट होता है। अथवा सुंदर नई सृष्टि निर्माण होती है।।३२।। सूर्यादय से चंद्रविकासिनी कुमुदिनी कैसी संकुचित होती है, एवं सूर्यविकासिनी कमलिनी कैसे विकसित होती है यह दोनों प्रकार सूर्य देखता नहीं।।३३।। आकाश से बिजली गिरने से पृथ्वी खंडित होती है। अथवा जल वर्षा से हरीभरी होती है।।३४।। इन दोनों प्रकारों को आकाश जानता नहीं। तद्वत जो देह में रहते हुए भी अनासक्त, मुक्त रहता है।।३५।। जागृत मनुष्य स्वप्न नहीं देख सकता, वैसे देह के कर्म से उत्पन्न जगत् या उसका नाश वह देखता नहीं।।३६।। संसारी गृहस्थ चर्मचक्षु से मुक्त पुरुषों के देह को केवल देखते हैं। हे पार्थ! वे उसे कर्ता समझते हैं।।३७।। घांस की विभीषिका खेत के मेढ़ पर रखने से उसको सियार संरक्षक समझता है।।३८।। हे अर्जुन! पत्रका वस्त पहना है या नग्न है यह देखनेवाला जानता है। वह स्वयं कुछ जानता नहीं। या रणवीर योद्धा के व्रण अन्य लोग ही गिनते हैं। उसको उसका भान नहीं रहता।।३९।। महाप्रतिव्रता सती ने क्या वस्त्रालंकार पहने हैं इसका उसको बोध नहीं रहता। स्वयं का शरीर, चिताग्नि एवं अन्य लोगों के तरफ उसका ध्यान नहीं रहता।।४४०।। कैसे आत्मस्वरूप में जो जागृत होता है उसका दृश्य के साथ दृष्टा का भाव समाप्त होता है। इंद्रियों की क्रिया भी नहीं जानता।।४१।। बड़ी लहरियों में छोटा तरंग लुप्त होने पर किनारे पर खड़े लोग, छोटे तरंग को बड़ा तरंग निठुरता से निगल गया है, ऐसी कल्पना करते हैं।।४२।। जल की दृष्टि से देखने पर किसको कौन निगलता है? तद्वत पूर्ण पुरुष को आत्मस्वरूप से अन्य कोई दिखाई नहीं देता। अतः मारेगा किसको?।।४३।। सुवर्ण की चंद्रिका देवी की मूर्ति सुवर्ण शूल से, सुवर्ण के महिषासुर का नाश करती है।।।४४।। भक्त के मन को वह समग्र व्यवहार सत्य प्रतीत होता है। किन्तु शूल, चामुंडा, महिषासुर सब तत्त्वरूप में सुवर्ण ही हैं।।४५।। वस्त्र पर चित्र चितारने से जल, अग्नि नेत्र को सौंदर्यपूर्ण प्रतीत होते हैं, किन्तु अग्नि की दाहकता एवं जल की आर्द्रता उसमें नहीं होती।।४६।। वैसे मुक्त पुरुष का देह प्राचीन कर्म संस्कार से कार्य करता है। किन्तु अविचारी लोग उसको कर्ता समझते हैं।।४७।। हे पार्थ! उस कर्म से त्रिलोक का भी यदि घात हुआ, तब वह कार्य उसने किया ऐसा तुम कहना नहीं।।४८।। सूर्य ने अंधेरा देखा ही नहीं, तब उसका नाश कैसा करेगा? तद्वत ज्ञानिओं को आत्मा से भिन्न वस्तु दिखती ही नहीं। तब वह आत्मा को ही कैसा मारेगा?।।४९।। अतः उसकी बुद्धि को पापपुण्य का स्पर्श नहीं होता। सामान्य क्षुद्र नदी गंगानदी में समर्पित होते ही उसकी अशुद्धि नष्ट होती है। (वह गंगा नदी बन जाती है)।।४५०।। हे पंडुसुत! अग्नि को अग्नि का स्पर्श होने से वह क्या एक दूजे को जलाता है? शस्त्र को शस्त्र क्या कभी चुभता है?।।५१।। वैसे जो कर्म को अपने से भिन्न समझता नहीं, वहां उसके बुद्धि को क्या बंधन होगा?।।५२।। अतः कर्ता, क्रिया एवं कार्य यह जिसका स्वरूप है, हे कौंतेय! उसको शरीर से किये जानेवाले कर्म से बंधन नहीं होता।।५३।। कर्ता जीवात्मा कुशल कारागीर है। उसने कर्ममंदिर बांधने के लिए पांच कारणों के पत्थर की खदान खोज ली है। दश इंद्रियरूपी औजार से कर्ममंदिर बना रहा है।।५४।। वहां न्याय एवं अन्याय का आकार बनाकर, है कौंतेय कर्म भुवन बनने में एक क्षण का भी विलंब नहीं लगता।।५५।। हे पार्थ! इस महाकर्म में आत्मा सहाय्यकर्ता भी नहीं होता। तत्त्वतः कर्म का प्रारंभ करने में भी हाथ का स्पर्श नहीं होने देता।।५६।। वह चिद्रूप आत्मा केवल साक्षी रहता है। अतः जीव में कार्य करने का संकल्प प्रथम उत्पन्न होता है। उसको भी वह अनुमोदन नहीं देता।।५७।। अतः हे पार्थ! कर्म प्रवृत्ति जब होती है, तब आत्मा को कष्ट नहीं होते। यह सब लोगों के प्रकृति की खटपट रहती है।।५८।। अतः जो मुक्त पुरुष आत्मा का शुद्ध स्वरूप बना है उसको कर्म की बंदीशाला का बंधन नहीं

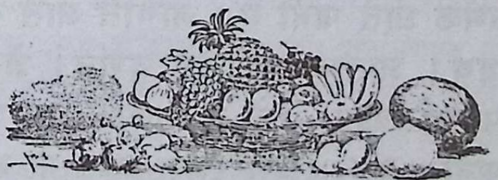

यह ।।५९।। परंतु अज्ञान के पट पर। द्वैत ज्ञान का निर्मित विचित्र। रेखांकित करे त्रिपुटी चित्र। प्रसिद्ध जो ।।४६०।।

ज्ञानं ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।।१८।।

जो ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय। यह जग का बीजत्रय। वह कर्म की निःसंदेह। प्रवृत्ति जानो ।।६१।। अब इन तीनों की व्यक्ति। भिन्न-भिन्न सुमति। करूं उनकी अभिव्यक्ति। स्पष्ट अब। ।।६२।। तब जीवसूर्य बिंब के। रश्मी श्रोत्रादि पंच इसके। कलिकाओं को विषय पद्म के। विकसित करत ।।६३।। अथवा जीव नृप घुड़सवार। लेकर इंद्रियों के हथियार। विषय देश का धन अपार। लूटत जो ।।६४।। जो इन इंद्रियों में रहत। सुखदुःखसहित जीव को प्राप्त। वह सुषुप्तिकाल में लुप्त। ज्ञान जहां ।।६५।। उस जीव का नाम ज्ञाता। जो कथित सांप्रत तत्त्वता। वही ज्ञान यह पंडुसुता। जानो तुम ।।६६।। जो अविद्या पेट से उत्पन्न। और उपजते ही तत्क्षण। बाटत अपने को अर्जुन। त्रिविभाग में ।।६७।। अपने वृत्ति सम्मुख सुवीर। रखकर ज्ञेय का पत्थर। पिछवाड़े में उभार। करे दातृत्व का ।।६८।। तब ज्ञाता ज्ञेय दोनों में। व्यवहार संबंध उनमें। ज्ञान दोनों के बीच में। रहत पार्थ ।।६९।। प्राप्त जब ज्ञेयसीमा अर्जुन। गति आगे की रुकत पूर्ण। सकल पदार्थ को अभिधान। देत तब ।।४७०।। वही देखो सामान्य ज्ञान। बोलको इन न दुमत अन्य। ज्ञेय का भी चिन्ह। सुनो अब ।।७१।। तब शब्द स्पर्श। रूप गंध रस। यह पंचविध आभास। ज्ञेय का जानो ।।७२।। जैसा एकही आम्रफल। उसका रूप परिमल। रस स्पर्शादि सकल। भासत पृथक ।।७३।। वैसे एक ही यदी ज्ञेय। परंतु उसके पंचविषय। ज्ञात इंद्रिय को अतः होय। पंचविध वह ।।७४।। समुद्र में प्रवाह मिलना। गंतव्य में गति का रुकना। अन्त सस्यवृद्धि का होना। फल में जैसा ।।७५।। वैसे इंद्रिय व्यवहार में पार्थ। ज्ञान जहां होवे कुंठित। वही जानो तुम यथार्थ। विषय ज्ञेय ।।७६।। एवं ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान। तीनों का बताया लक्षण। यह त्रिपुटी ही जानो कारण। क्रिया प्रवृत्ति का ।।७७।। जो शब्दादि विषय। वह पंचविध ज्ञेय। प्रिय अथवा अप्रिय। दोनों में एक ।।७८।। करावे ज्ञाता को किंचित् ज्ञान। ज्ञेय वस्तु का दर्शन। स्वीकारने या त्यागने तत्क्षण। प्रवृत्त होवे वहां ।।७९।। किंतु मीन को देखकर बक। जैसा निधान को रंक। या स्त्री को देखकर कामुक। प्रवृत्ति धरे ।।४८०।। पानी दौड़े उतार पर। भ्रमर पुष्प गंध पर। या मुक्त वत्स संध्या अवसर। धेनु सन्निध ।।८१।। अरे स्वर्ग की उर्वशी। सुनकर आकाश को मनुष जैसी। लगावत सीढ़ी हे प्रियदर्शी!। यज्ञयाग की ।।८२।। कपोत पक्षी पार्थ। नभ के पीठ पर चढ़त। कपोती को देखकर लोटत। अंग पूर्ण ।।८३।। गर्जना धन की सुनकर। करे मयूर स्वयं को निछावर। ज्ञाता ज्ञेय देखकर। दौड़त वैसा ।।८४।। अतः ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता। ये त्रिविध पंडुसुता। होवत समस्त कर्मों को तत्त्वता। प्रवृत्त यहां ।।८५।। किंतु वही ज्ञेय कदाचित्। ज्ञाता को यदि प्रिय भावत। तब भोग के लिए न सहत। विलंब क्षणैक भी ।।८६।। अथवा वही

रहता ॥ ५९॥ किन्तु अज्ञान के पटपर, प्रपंच के द्वैत ज्ञान का चित्र रेखांकित होता है। वहां चित्र निकालनेवाली त्रिपुटी सुप्रसिद्ध है ॥ ४६०॥

ज्ञान, ज्ञानविषय, ज्ञाता, यह तीनों कर्म के प्रवर्तक हैं। कर्म का करण, कर्ता को इष्ट क्रिया विषय, क्रिया का कर्ता, यह तीनों कर्म के आश्रय हैं ॥ १८॥

ज्ञान, (विषय का प्रकाशन करने की क्रिया) ज्ञाता, (ज्ञान का आश्रय) ज्ञेय (ज्ञान विषय) यह तीनों जग के प्रवृत्ति के बीज हैं। इन तीनों से जीव की कर्म में प्रवृत्ति होती है ॥ ६१॥ हे सुमति! इन तीनों की अब स्पष्ट अलग-अलग अभिव्यक्ति करेंगे ॥ ६२॥ अंतःकरण जीवरूपी सूर्य, बिंब के श्रोत्रादि पांच इंद्रियरूपी किरणों को वृत्तियों के रूप में देह के बाहर दौड़कर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयरूपी कमल दल को विकसित करते हैं ॥ ६३॥ जीवरूपी नृप संकल्प घोड़े पर सवार होकर इंद्रियों के हथियार से विषय देश का अपार धन लूटते हैं ॥ ६४॥ वृत्तिरूपी ज्ञान इंद्रियों के द्वारा सुख-दुःख सहित जीव को प्राप्त होता है। सुषुप्ति अवस्था में जहां ज्ञान लुप्त होता है। यह ज्ञान जहां रहता है ॥ ६५॥ हे पंडुसुत! उस जीव को ज्ञाता कहते हैं। जो कुछ यहां अभी तक बताया है, उसको ज्ञान कहते हैं। इसको समझ लेना ॥ ६६॥ हे अर्जुन! अविद्या के उदर से जन्म लेते ही वह ज्ञान स्वयं को अंतःकरण, वृत्ति एवं विषयों में विभाजित करता है ॥ ६७॥ हे सुवीर! अपनी वृत्ति के सम्मुख ज्ञेय की दिवाल खड़ी करके अपने पिछवाड़े में ज्ञातृत्व की दिवाल निर्माण करता है (विषयरूपी पत्थर की दिवाल खड़ी करके वृत्तिज्ञान विषयों से बाहर नहीं निकलता)। वृत्तिज्ञान के पीछे अंतःकरण ज्ञाता दिवाल सदृश खड़ा है। अतः वृत्तिज्ञान ज्ञाता के पीछे नहीं जा सकता। एवं ज्ञेय के आगे भी नहीं जा सकता ॥ ६८॥ हे पार्थ! तब ज्ञाता स्वयं ज्ञेय में व्यवहार का संबंध होता है। दोनों के बीच में (वृत्ति) ज्ञान रहता है। (वृत्ति ज्ञान ज्ञाता का विषयों से संपर्क करता है। वृत्ति के द्वारा चैतन्य का अज्ञान का आवरण नष्ट किया जाता है। वृत्ति में प्रतिबिंबित ज्ञान प्रत्यक्ष विषय का ज्ञान कराता है) ॥ ६९॥ हे अर्जुन! ज्ञेय की सीमा जब प्राप्त होती है तब आगे बढ़ना समाप्त होता है। तब वह स्वसंबद्ध पदार्थों को नाम देता है ॥ ४७०॥ वह सामान्य वृत्तिज्ञान है। इस मेरे कहने में दुमत नहीं है। अब ज्ञेय का लक्षण सुनो ॥ ७१॥ शब्द, स्पर्श, रूप, गंध, रस यह पांचों ज्ञेय का मिथ्यारूप है ॥ ७२॥ जैसे एकहि आम्रफल रस से जिव्हा को, वर्ण से नेत्र को, गंध से नासिका को, स्पर्श से त्वचा को, शब्द से कर्ण को, पृथक अनुभव कराते हैं ॥ ७३॥ वैसे ज्ञेय एकहि है। किंतु पांचों इंद्रियों से ज्ञेय का ज्ञान संपादन करने वह पांच प्रकार का हुआ है ॥ ७४॥ नदियों का प्रवाह समुद्र में समाप्त होता है। मनुष्य का दौड़ना गंतव्य स्थान में पहुंचने पर रुकता है। फल आने पर अनाज की वृद्धि रुकती है ॥ ७५॥ हे पार्थ! इंद्रियों के व्यवहार में ज्ञान जहां स्तब्ध होता है वही यथार्थ ज्ञेय विषय है, ऐसा तुम समझना ॥ ७६॥ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों का लक्षण तुम्हें बताया है। यह त्रिपुटी क्रिया प्रवृत्ति का कारण है ऐसा समझना ॥ ७७॥ शब्द, स्पर्शादि पांच प्रकार ज्ञेय के रहते हैं। ज्ञाता को वह प्रिय या अप्रिय प्रतीत होते हैं ॥ ७८॥ ज्ञाता को शब्द स्पर्श आदि का ज्ञान किंचिन्मात्र होते ही तत्क्षण स्वीकार या त्याग करने के लिए प्रवृत्त होता है ॥ ७९॥ मत्स्य को देखकर बक, द्रव्य को देखकर दरिद्री, सुंदर स्त्री को देखकर कामी पुरुष उसको प्राप्त करने की इच्छा करता है ॥ ४८०॥ ढालपर जल दौड़ता है पुष्प का सुगंध आते ही भ्रमर दौड़ता है। संध्या समय में मुक्त वत्स धेनु के पास दौड़कर जाता है ॥ ८१॥ हे प्रियस्तुति! स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी अत्यंत सुंदर है ऐसा सुनकर, मनुष्य (उसको पाने की इच्छा से) स्वर्ग तक यज्ञयागरूपी सीढ़ी लगाता है ॥ ८२॥ हे पार्थ! कपोत पक्षी आकाश में ऊंचा उड़ता है किन्तु कपोती को देखकर वह शरीर जमीन की तरफ लौटा देता है ॥ ८३॥ मेघ गर्जना सुनकर मयूर स्वयं को निछावर कर देता है। वैसा ज्ञाता ज्ञेय को देखकर (भोग्य बुद्धि से) दौड़कर जाता है ॥ ८४॥ हे पंडुसुत! ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता सब कर्म प्रवृत्ति को, तीन प्रकार से तत्त्वतः कारण है ॥ ८५॥ कदाचित् वही ज्ञेय ज्ञाता को यदि प्रिय प्रतीत हुआ, तो उपभोग लेने के लिये ज्ञाता क्षण का विलंब नहीं करता ॥ ८६॥ अथवा वही विषय अप्रिय प्रतीत होतेही उसको छोड़ने के

Funding by IKS-MoE

ज्ञेय। लगे ज्ञाता को अप्रिय। छोड़ने युगान्तसमय असह्य। भासत क्षण।।८७।। व्याल या नीलमणि हार। होवे प्राप्त जब नर-। को हर्ष एवं डर। उठे एक साथ।।८८।। वैसे अप्रिय या प्रिय। ज्ञाता को दिखत ज्ञेय। त्याग स्वीकार का होय। कर्म व्यापार।।८९।। रागी प्रति मल्ल देखके किरीटी। सर्व दल का अधिपति। रथ छोड़कर पायाती। होवे जैसा।।४९०।। वैसे अर्जुन जो ज्ञाता। ज्ञेयसंगम से होवे कर्ता। बने मिष्टान्न का भोक्ता। रसोइया जैसा।।९१।। या बाग लगावे भ्रमर। कसौटि होवे स्वर्णकार। या बांधने लगा मंदिर। देव ही जैसा।।९२।। वैसे ज्ञेय की अभिलाषा से। इंद्रिय समुदाय को जैसे। कर्म करावत उनसे। होवे कर्ता वह।।९३।। और स्वयं होकर कर्ता। ज्ञान को लाये करणता। वहां ज्ञेय ही स्वभावता। होवे कार्य।।९४।। ऐसी ज्ञान की निजगति। परावर्तित होवे सुमति। नेत्र की शोभा शक्ति। बदले रात्री में जैसी।।९५।। या दैव जब होवे उदास। पलटत श्रीमंत का विलास। पोर्णिमा पश्चात शीतांश। पलटे जैसा।।९६।। करते इंद्रिय व्यवहार पार्थ। कर्तापन से जब स्वयं वेष्टित। वहां ज्ञाता के लक्षण निश्चित। सुनो अब।।९७।। तब बुद्धि और मन। चित्त अहंकार अर्जुन। यह चतुर्विध चिन्ह। अंतःकरण का।।९८।। बाह्य त्वचा श्रवण। चक्षु रसना घ्राण। यह पंचविध जान। ज्ञानेंद्रिया पंच।।९९।। वहीं चतुर्विध अंतःकरण। कर्ता को कर्म का देत स्फुरण। और यदि जाने अर्जुन। सुखमूलक।।५००।। तब बाह्य इंद्रियों से। चक्षुरादि दश से। जागृत करके करावे उन्हीं से। कर्मव्यापार।।१।। वहां वह इंद्रिय समूह पार्थ। तब तक उसे श्रमवत। जब तक न हस्तगत। कर्तव्य लाभ।।२।। यदि वह कर्तव्य अशेख। देखत दुःखमूलक। दिखावे उनको त्याग मुख। इंद्रियों के दश।।३।। जब तक न दुःख नष्ट। रात्रंदिन करावत कष्ट। दरिद्र कृषिक को पार्थ। राजा जैसा।।४।। सुनो वैसे त्याग और स्वीकार-। में इंद्रियों की धुरा गर्दन पर। करते वहन ज्ञाता को ही साचार। कर्ता कहत।।५।। और कर्ता के सब कर्म-। में औजार सम सक्षम। अतः इंद्रियों को हम। ''करण'' कहत।।६।। इन्हीं करणों से सुवीर''कर्ता''। करे क्रिया का उभार। उनसे व्याप्त जो व्यापार। सुनो ''कर्म'' वह।।७।। आभूषण सुनार के बुद्धि से। व्यापत चांदनी चंद्रकिरणों से। अथवा व्यापत सौंदर्य विस्तार से। वल्लरी जैसी।।८।। अथवा प्रभा व्यापत प्रकाश। मधुरिमा से इक्षुरस। और आकाश में अवकाश। व्याप्त जैसा।।९।। वैसे कर्ता के क्रिया में पार्थ। तत्त्वता जो रहे व्याप्त। वही कर्म जानो निश्चित। अन्य न कोई।।५१०।। एवं कर्ता कर्म करण। इन तीनों का लक्षण। निरूपित तुझको विचक्षण-। शिरोमणि।।११।। यहां ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय। यह कर्म का प्रकृति त्रय। वैसे ही कर्ता करण कार्य। कर्मसंचय यह।।१२।। वन्हि में जैसा धूम। रहे बीज में द्रुम। या मन में निहित काम। सर्वदा जैसा।।१३।। वैसा कार्य किया करण। इनमें ही कर्म का जीवन। जैसे सुवर्ण खनी में सुवर्ण-। का जन्मस्थान।।१४।। अतः यह कार्य मैं कर्ता। प्रकार यह जहां पंडुसुता।

Funding by IKS-MoE

लिए एक क्षण भी उसको दीर्घकाल सदृश प्रतीत होता।।८७।। सर्प या नीलमणि का हार जब मनुष्य को प्राप्त होता है तब भय या हर्ष एकसाथ उत्पन्न होता है।।८८।। वैसे ज्ञाता को प्रिय या अप्रिय विषय देखकर हर्ष या विषाद होता है। उसका वह स्वीकार या त्याग करने में प्रवृत्त होता है।।८९।। हे किरीटी! चतुरंग सैन्य का अधिपति मार्ग से रथ में जाते हुए कुस्तीगीर रंगदार पहलवान देखकर, कुस्ती खेलने की इच्छा से रथ छोड़कर भूमिपर उतरता है।।४९०।। हे अर्जुन! वैसा ज्ञाता (चैतन्य) भोग्य ज्ञेय संगति में कर्ता बनता है। जैसे मिष्ठान्न खानेवाला, रसोईया बन जाये।।९१।। या भ्रमर उद्यान बनाना प्रारंभ करे, या सुवर्णकार कसौटि बन जावे, या देव स्वयं अपना मंदिर निर्माण करने लगे।।९२।। वैसे ज्ञेय की अभिलाषा से जैसे इंद्रिय समुदाय से कर्म कराकर वह कर्ता बनता है।।९३।। एवं स्वयं कर्ता बनकर ज्ञान को वह क्रिया की करणता लाता है। वहां ज्ञेय स्वभावतः कार्य होता है।।९४।। हे सुमति! नेत्र की शोभा जैसी रात में बदलती है वैसा ब्रह्मस्वरूप ज्ञानक्रिया में फलप्राप्ति के अवस्था तक स्वाभाविक बदल होता रहता है। अतः शुद्ध ज्ञान में उपाधि भेद से बदल होता है।।९५।। धनी व्यक्ति पर प्रारब्ध उदास होने से उसकी श्रीमंती का विलास समाप्त होता है। जैसे पौर्णिमा के अनन्तर एक-एक कला से चंद्र क्षीण होकर अमावस्या को दिखता नहीं वैसे धन समाप्त होकर दारिद्र्य आता है।।९६।। हे पार्थ! इंद्रिय व्यवहार करते हुए ज्ञाता कर्तापना से वेष्टित होता है। तब ज्ञाता के व्यवहार का निश्चित लक्षण सुनो।।९७।। बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार यह अंतःकरण के चार प्रकार हैं।।९८।। बाह्य त्वचा, कर्ण, नेत्र, जिव्हा एवं नासिका यह पंच ज्ञानेंद्रिय हैं।।९९।। हे अर्जुन! अंतःकरण चतुष्टय कर्ता को कर्म करने की स्फूर्ति देता है। वह सुख देनेवाला है ऐसा जब समझता है।।५००।। अंतःकरण के बाहर चक्षु आदि पांच ज्ञानेंद्रिय एवं पांच कर्मेंद्रिय को जागृत करके उन्हें कर्मक्रिया में प्रवृत्ति कराता है।।१।। हे पार्थ! कर्मफल जब तक प्राप्त नहीं होता तब तक इंद्रिय समुदाय से कष्ट कराता है।।२।। जब कर्मफल दुःखद प्रतीत होने लगता है तब वह दशेंद्रिय से त्याग कराता है।।३।। हे पार्थ! दरिद्रि कृषक को जिस प्रकार राजा कष्ट करने के लिये बाध्य करता है वैसे दुःख नष्ट होने तक इंद्रिओं से वह कष्ट कराता है।।४।। त्याग एवं स्वीकार की धुरा गर्दन पर रखकर ज्ञाता कर्ता कहलाता है यह ध्यान में रखना।।५।। कर्ता के सब कर्म करनेवाले इंद्रिय औजार के समान सक्षम होने से उनको हम 'करण' कहते हैं।।६।। हे सुवीर! इन करणों से कर्ता क्रिया करता है। उनसे व्याप्त व्यापार 'कर्म' कहलाता है।।७।। सुवर्णकार के बुद्धि से अलंकार व्याप्त होते हैं। चंद्रकिरणों से चंद्रिका व्याप्त रहती है। सौंदर्य के विस्तार से लता व्याप्त होती है।।८।। प्रभा प्रकाश में व्याप्त रहती है। इक्षुरस में मधुरिमा मिठास रहती है। एवं आकाश में अवकाश रहता है।।९।। हे पार्थ! कर्ता की क्रिया में जो तत्त्वतः व्याप्त रहता है, वही कर्म है, यह निश्चित समझ लेना।।५१०।। हे विचक्षण शिरोमणि! कर्ता, कर्म एवं करण इन तीनों के लक्षण तुम्हें बताये हैं।।११।। इसमें ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय यह तीनों कर्म के प्रवर्तक होते हैं।

कर्ता, करण एवं कर्म यह कर्मसंचय है।।१२।। वन्हि में जैसा धुआं, या बीज में वृक्ष रहता है। या सर्वदा मन में इच्छा रहती ही है।।१३।। सुवर्ण की खदान में जैसे सुवर्ण रहता है, वैसे कार्य, क्रिया, करण में कर्म का जीवन रहता है।।१४।। अतः हे पंडुसुत! यह कार्य करनेवाला मैं कर्ता हूं ऐसा भाव जहां है वहां सब क्रियाओं से आत्मा सर्वथा दूर रहता

Funding by IKS-MoE

वहां आत्मा दूर सर्वथा। क्रियाओं से सब।।१५।। इसलिये पुनः पुनः। आत्मा पृथक अर्जुन। अब कितना करूं विवेचन। प्राज्ञ तुम।।१६।। कर्ता कर्म और ज्ञान। तुमको जो किया निवेदन। वे तीनों त्रिधा भिन्न। गुणभेद से।।१७।। अतः ज्ञान कर्ता कर्म पर। विश्वास न करो तीनों पर। दोनों बंध को मुक्ति को सुवीर। समर्थ एक ही।।१८।। ऐसा जो सात्विक गुण। गुणभेद से उनका विवेचन। किया सांख्य शास्त्र में पूर्ण। विस्तार जिसका।।१९।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः। प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

जो विचार क्षीर समुद्र। स्वबोध कुमुदिनी चंद्र। ज्ञान चाक्षुस को नरेंद्र। शास्त्र का जो।।५२०।। या प्रकृति पुरुष दोनों पार्थ। संयुक्त जैसे दिन रात। त्रिभुवन में उनका विभाजक स्पष्ट। मार्तंड जो।।२१।। यह मोहमय विश्व समस्त। वह केवल चौबीस तत्त्वांतर्गत। नापकर सही परमात्मासहित। लाहिजे सुख।।२२।। अर्जुन वह सांख्य शास्त्र। गावे जिसका स्त्रोत। वह गुणभेद चरित्र। जानो ऐसा।।२३।। त्रिविधत्व के अंक से। अपने अपने जो आंगिक से। करत अंकित समस्त जैसे। दृश्यजात।।२४।। एवं सत्य रज तम। उनका देखो इतना महात्म्य। जो लावे त्रिविधता आदिब्रह्म-। से कृमिपर्यंत।।२५।। किंतु जो विश्व समुदाय समस्त। जिस गुणभेद से पार्थ। विभाजित वह ज्ञान यथार्थ। कहूं प्रथम।।२६।। दृष्टि यदि चोखी कीजे। तब कुछ भी चोख सूझे। वैसे शुद्ध ज्ञान से लाहिजे। शुद्ध ही सब।।२७।। अतः वह सात्विक ज्ञान। अब कहूं दो अवधान। ऐसे कैवल्य गुणनिधान। कहे श्रीकृष्ण।।२८।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

वही जानो निश्चित अर्जुन। सात्विक शुद्ध ज्ञान। उदय से जिसके होवे विलीन। ज्ञातासहित ज्ञेय।।२९।। जैसा सूर्य को न देखे अंधेर। सरिता को न जाने सागर। आलिंगन अशक्य सुवीर। आत्म छाया को।।५३०।। वैसे देखो यह ज्ञान। शिवादि तृणावसान। इन भूतव्यक्ति को भिन्न। जाने ना।।३१।। चित्र देखते हस्तस्पर्श से। नमक धोते पानी से। जागृति आते स्वप्न से। होवे जैसा।।३२।। वैसे जिस ज्ञान से पार्थ। ज्ञातव्य का लेते दर्शन। ज्ञेय ज्ञाता ज्ञान। शेष न कोई।।३३।। बुद्धिमंत सुवर्णालंकार-। से न निकलत सुवर्ण ओटकर। या तरंग पृथक छानकर। न लेत पानी।।३४।। वैसे जिस ज्ञान के हाथ। न लगे दृश्यपथ पार्थ। वही ज्ञान जानो तत्त्वतः। सात्विक तुम।।३५।। देखे कौतुक से दर्पण में भारता!। दिखत सम्मुख खड़ा दृष्टा। वैसे ज्ञेय लुप्त होकर ज्ञाता। दिखत जिससे।।३६।। वही सत्य सात्विक ज्ञान। जो मोक्षलक्ष्मी का भुवन। आगे कहूं चिन्ह। राजस का अब।।३७।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

तब अवधारो अर्जुन। सुनो वह राजस ज्ञान। जो आश्रय भेद का पूर्ण। लेकर चलत।।३८।। भूतमात्र की विचित्रता। करे ठिकरिया जिसकी पार्था। ज्ञाता को बहुत भ्रमिष्टता। लायी जिसने।।३९।। जैसे सत्यस्वरूप के आड़। लगाकर

Funding by IKS-MoE

है।।१५।। हे सुबुद्धि अर्जुन! आत्मा सबसे अलग रहता है उसका पुनः-पुनः कितना विवेचन किया जाये! तुम सब जानते हो।।१६।। ज्ञान कर्म एवं कर्ता यह तीनों तुम्हें समझाया है। तीन गुणों के भेद से तीनों स्थान पर ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं।।१७।। हे सुवीर! ज्ञान, कर्ता एवं कर्म इन तीनों पर विश्वास नहीं करना। राजस एवं तामस ज्ञान, कर्म एवं कर्ता जीव को बद्ध करते हैं। सात्विक ज्ञान, कर्म एवं कर्ता बंधन से मुक्त करने के लिये समर्थ होते हैं।।१८।। वह सात्विक ज्ञान एवं कर्म का तुम्हें ज्ञान होवे इसलिये तीन गुणों के भेद से तुम्हें बताने का मैं विचार कर रहा हूं। वह गुणभेद सांख्य शास्त्र में विस्तार से बताये हैं।।१९।।

गुणों की व्याख्या करनेवाले सांख्यशास्त्र में ज्ञान, कर्म एवं कर्ता इन तीनों को सत्त्व, रज एवं तम गुण भेद से तीन प्रकार के बताये हैं। उन प्रकारों को तुम यथाशास्त्र सुनो।।१९।।

वह सांख्यशास्त्र चौबीस तत्त्वों के विचारों का क्षीर समुद्र है। आत्मानुभूतिरूपी कमलिनी का विकास करनेवाला चंद्र है। ज्ञाननेत्र प्राप्त न्याय आदि शास्त्रों का राजा है।।५२०।। हे पार्थ! प्रकृति पुरुष यह दो जड़, चेतन तत्त्व हैं। अविवेक से दोनों का मिलन हुआ है। दिन एवं रात जैसे संयुक्त होते हैं, किंतु उनका विभाजन त्रिभुवन में सूर्य से होता है। वैसे जड़ चेतन का प्रकृति पुरुष का भेद करनेवाला सांख्यशास्त्र ज्ञान सूर्य है।।२१।। यह समस्त विश्व मोह में व्याप्त है। केवल चौबीस तत्त्वों के अंतर्गत आता है। (प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत, पंच ज्ञानेंद्रियां, पंच कर्मेंद्रियां एवं मन यह चौबीस तत्त्व होते हैं) इन चौबीस तत्त्वों के नापसे नाप लेकर परमात्मासहित सुख प्राप्त कर सकते हैं।।२२।। हे अर्जुन! वह सांख्यशास्त्र जिसकी स्तुति करता है, वह गुणभेद चरित्र ऐसा है समझो।।२३।। त्रिगुणों ने अपने स्वाभाविक त्रिविध संख्या से जग के सब दृश्यों को अंकित किया है। सब पदार्थ सात्त्विक, राजस एवं तामस तीन प्रकार के किये हैं।।२४।। सत्त्व, राज, तम, तीन गुणों की इतनी व्यापकता है, इन तीन गुणों से आदि ब्रह्मा से लेकर कृमिपर्यंत सब प्राणियों के तीन प्रकार करते हैं।।२५।। हे पार्थ! जिस ज्ञान के भेद से अखिल विश्व के समुदाय तीन गुणों के भेद से विभाजित हुए हैं, वह यथार्थ ज्ञान तुम्हें प्रथम कहता हूं।।२६।। अपनी दृष्टि यदि शुद्ध बनी तब कुछ भी पदार्थ शुद्ध दिखता है। वैसे शुद्ध ज्ञान से सब शुद्ध प्राप्त होता है।।२७।। अतः वह सात्त्विक ज्ञान तुम्हें बताता हूं। तुम अवधान देना। ऐसे मोक्ष दाता एवं षड्गुण के निधि भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं।।२८।।

जिस ज्ञान से ज्ञानी पुरुष विभिन्न भूतों में एक अविनाशी भेदशून्य आत्मभाव देखता है। वह ज्ञान सात्त्विक है ऐसा समझना।।२०।।

हे अर्जुन! वही ज्ञान शुद्ध सात्त्विक है। उसका उदय होते ही ज्ञाता के साथ ज्ञेय विलीन होता है।।२९।। हे सुवीर! सूर्य को कभी अंधेरा दिखता नहीं। सुमद्र जैसा नदियों को जानता नहीं। आत्म छाया को जैसा आलिंगन देना अशक्य रहता है।।४३०।। तद्वत जिस अभेद ज्ञान को शिव से तृणपर्यंत भूत व्यक्ति को विभिन्नता से जानता नहीं।।३१।। हाथ से चित्रदर्शन नहीं होता। जल से नमक धोने से नमक शेष नहीं रहता। जागृत रहने पर स्वप्न दिखाई नहीं देता। ।।३२।। वैसे जिस ज्ञान से हे पार्थ! ज्ञेय ब्रह्म को आत्मरूप से प्रत्यक्ष करने पर ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान कोई शेष नहीं रहता।।३३।। अलंकार को गोठकर बुद्धिमान व्यक्ति सुवर्ण नहीं निकालते। क्योंकि अलंकार के रूप में सुवर्ण है यह वे जानते हैं। तरंग को छानकर जल नहीं निकाल जाता।।३४।। हे पार्थ! जिस ज्ञान में दृश्य वस्तु का बोध नहीं होता वह ज्ञान तत्त्वतः सात्त्विक है। यह सब प्रकार से जान लेना।।३५।। हे भारत! कौतुहल से दर्पण देखते ही देखनेवाला दृष्टा प्रतिबिंबरूप में सन्मुख खड़ा दिखता है। वैसे ज्ञेय लुप्त होकर ज्ञाता आत्मा दिखता है।।३६।। वह ज्ञान सात्त्विक है। वह मुक्तिरूपी लक्ष्मी का मंदिर है। अब राजस ज्ञान का लक्षण सुनो।।३७।।

विभिन्न जीवों में सुख-दुःख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व के रूप में भिन्न प्रकार से जिस ज्ञान से आत्मस्वरूप को पहचानते हैं वह राजस ज्ञान है।।२१।।

हे अर्जुन! भेद के आश्रय से परिपूर्ण ज्ञान राजस होता है।।३८।। हे पार्थ! भूतों की विचित्रता से भेदस्वरूप प्राप्त करने उस ज्ञान से ज्ञाता को भ्रमिष्ट बनाया।।३९।। जैसे निद्रा में जाति, कुल, अवस्था

विस्मरण का किवाड़। पश्चात स्वप्न का काबाड़। ला दे निद्रा।।५४०।। अंदर आवार स्वज्ञान का। बाहिर खलिहान मिथ्या मोह का। उसमें क्रम से तीनों अवस्था का। दिखावे खेल।।४१।। अलंकार में सोना आवृत। समझे बालक गया व्यर्थ। वैसे नामरूप से दूर जात। अद्वैत जिससे।।४२।। घट कलश में प्रकट। पृथ्वी हुई मूढ़ों को अपरिचित। दीपत्व रूप से बोध लुप्त। अग्नि का जैसे।।४३।। वस्त्रपन के आरोप-। से नष्ट मूर्खोंप्रत तंतुरूप। अथवा होवे पट का लोप। दिखाकर चित्र।।४४।। वैसे जिस ज्ञान से अर्जुना!। भूतव्यक्ति जानकर भिन्ना। ऐक्यबोध की भावना। हुई लुप्त।।४५।। ईंधन से भिन्न अनल। फूलों से यथा परिमल। या जलभेद से सकल। चंद्र जैसा।।४६।। वैसे पदार्थ भेद बहुवस। जानकर लघु महान वेष। प्राप्त आकार वह राजस। ज्ञान यहां।।४७।। अब तामस का लिंग। कहूं वह पहिचानो सुरंग। परित्याग को मातंग-। सदन जैसा।।४८।।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

तब किरीटी जो ज्ञान। घूमे विधिवस्त्र विहीन। श्रुति पीठ फेरे नग्न-। देखकर उसे।।४९।। शास्त्रों द्वारा इतर पार्थ। अस्पृश्य निंद्य मानकर। भगावत पहाड़पर। म्लेच्छ धर्म के।।५५०।। जो ज्ञान सुनो ऐसे। तामस गुणग्राहसे!। पीड़ित घूमत जैसे। होकर भ्रमित।।५१।। न बाधत नाता संबंध। न माने किस पदार्थ का निषेध। शून्यग्राम में चेष्टत अनिर्बंध। मुक्त श्वान जैसा।।५२।। उसके मुख को जो अप्राप्त। या जिसको खाते मुख जलत। वही मात्र एक छूटत। बाकी खावे सब।।५३।। सोना चुराते मूषक। न देखत हीन या चोख। न जाने मांस भक्षक। काला गोरा जैसा।।५४।। दावानल लगे बन को। कोई विवेक न उसको। या न विचार मक्षिका को। जीत मृत का।।५५।। परोसा या किया वमन। ताजा या सड़ा अर्जुन। काक को एक समान। विवेक न कोई।।५६।। निषिद्ध सब छोड़ना। विहित सादर पालना। विषयासक्ती बिना। जाने न जो।।५७।। दृष्टि सम्मुख जो जो भोग्य। मानत विषय वे अपने योग्य। देवे उसका उपभोग। शिश्नोदर को।।५८।। पवित्र अथवा अपवित्र। भेद न जाने उदक में सर्वत्र। तृषाशमन एकमात्र। जाने वह।।५९।। वैसे ही खाद्याखाद्य। न कहे निंद्या निंद्य। मुख को रोचक वही मेध्य। बोध यही।।५६०।। और अशेष स्त्री जात। त्वचेंद्रियसे ही जानत। उसके संबंध में मानत। बोध एक ही।।६१।। सहायक करे जो स्वार्थ। जाने उसकी को प्रिय आप्त। न करे देह संबंध में विभक्त। ज्ञान जो।।६२।। मृत्यु का ही सब अन्न। सारा अग्निका ही ईंधन। वैसे अशेष जग अपना धन। तामस ज्ञान को।।६३।। इसविध जग सकल। माना विषय ही जिसने केवल। उसको इस जन्म का एक ही फल। देहभरण।।६४।। आकाश से पतित नीर। सिंधु एक ही उसे आधार। वैसे कृत्यजात उदर-। पोषणार्थ जाने।।६५।। स्वर्ग नरक प्राप्ति। कर्म विहित निषिद्ध किरीटि। इन संबंध में रात्री। ज्ञान को जिसके।।६६।। देह खंड को ही नाम आत्मा। ईश्वर केवल पाषाण प्रतिमा।

आदि का सत्यस्वरूप द्वार विस्मरण में बंद होता है। स्वप्न का बोझा उठाने का कार्य निद्रा पश्चात लाद देती है।।५४०।। भीतर स्वज्ञान का आंगन खुला रहता है। उसके बाहर मिथ्या मोह का खलिहान रहता है। उसमें जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का खेल दिखाता है।।४१।। अलंकार बनाने पर सुवर्ण व्यर्थ गया ऐसा बालक समझता है। तद्वत विश्व के नाम से एवं रूप से अद्वैत ब्रह्म में राजस ज्ञान से द्वैत को प्रतीति आती है।।४२।। पृथ्वी घट, कलश आदि के रूप में प्रकट होने पर मूर्ख उसके मूल स्वरूप को नहीं पहचानते। दीप के बोध से अग्नि समझना दुर्बोध लगता है।।४३।। मूर्ख की दृष्टि से वस्त्र बनने पर तंतुत्त्व नष्ट होता है। पट पर चित्र रंगाने पर मूर्ख का ध्यान पट पर नहीं जाता।।४४।। तद्वत जिस ज्ञान से, हे अर्जुन! भिन्न भूतों को जानकर ब्रह्मैक्य ज्ञान की भावना लुप्त हुई है।।४५।। ईंधन से अग्नि भिन्न होता है! फूलों से सुगंध अलग होता है। सरोवर, नदी, समुद्र आदि के जल भेद से प्रतिबिंबित पूर्ण चंद्र में भेद होता है।।४६।। तद्वत विभिन्न पदार्थों के भेद जानकर छोटे बड़े पदार्थों के आकार के अनुसार बदल होने वाला ज्ञान राजस कहलाता है।।४७।। चांडाल के घर का त्याग करने के लिये उसके घर की पहचान होना चाहिये। तद्वत अब त्याग करने के लिये तामस ज्ञान का लक्षण बताता हूं।।४८।।

प्रमाण युक्तिशून्य ज्ञान एकहि कार्य में पूर्णता से रहता है। वह पारमार्थिक विषय रहित (वेदबाह्य) तत्त्वार्थ शून्य एवं क्षुद्र ऐसा जो ज्ञान उसको तामस ज्ञान कहते हैं।।२२।।

हे अर्जुन! विधि का वस्त्र फेंककर जो ज्ञान नग्न भटकता है। अतः श्रुती भगवती उसका तिरस्कार करके पीठ फेर लेती है।।४९।। हे पार्थ! अन्य शास्त्रों के द्वारा उसको तत्त्वार्थ शून्य अस्पृश्य एवं निंद्य समझकर म्लेच्छधर्म के पहाड़पर तामस ज्ञान को भगा दिया।।५५०।। तामस गुण रूपी ग्राह के द्वारा पीड़ित होकर वह ज्ञान भ्रमित होकर जैसे भटकता है।।५१।। निषिद्ध आचरण करने में वह ज्ञान, रिश्ता, संबंध मानता नहीं। किसी भी पदार्थ को निषिद्ध नहीं समझता। निर्जन ग्राम में छोड़ा गया कुत्ता जैसा अनिर्बंध भटकता है।।५२।। भूख से विकल वह कुछ भी खाने का प्रयास करता है। उसके मुख में जो जाता नहीं। या खाते समय जलन होती है बस ऐसे ही पदार्थ को छोड़कर जो कुछ मिलता वह खाता रहता है।।५३।। सुवर्ण की चोरी करते समय चूहा जैसा शुद्ध अशुद्ध का विचार नहीं करता। वैसे मांसाहारी मनुष्य गौर वर्ण या कृष्णवर्ण का विचार नहीं करता।।५४।। वृक्ष कौन से जाति का है इसका विचार दावानल नहीं करता। जीवित या मृत शरीर का विचार मक्खी नहीं करती।।५५।। हे अर्जुन! वमन किया हुआ या परोसा हुआ अन्न ताजा या सड़ा हुआ अन्न है यह विवेक कौए को नहीं होता।।५६।। तद्वत शास्त्र द्वारा निषिद्ध विषय छोड़ देना चाहिये, शास्त्र विहित विषय आदर से स्वीकारना चाहिये, ऐसा विचार तामस ज्ञान नहीं करता।।५७।। दृष्टि सम्मुख जो-जो उपभोग के लिये योग्य दिखता है, उन विषयों को वह भोग्य समझता है। अर्जित स्त्री एवं द्रव्य शिश्न एवं उदर को बांट देता हैं।।५८।। पवित्र एवं अपवित्र जल में वह भेद नहीं समझता। प्यास बुझाना इतना ही वह जानता है।।५९।। भक्ष एवं अभक्ष में भेद नहीं समझता। निंदित एवं अनिंद्य है, ऐसा विचार वह नहीं करता। मुख को प्रिय वही पवित्र, ऐसा तामस ज्ञान में बोध रहता है।।५६०।। सब स्त्रियों को केवल त्वचेंद्रिय से ही वह जानता है। (मातृष्टि से नहीं देखता) उसमें एकही उपभोग संबंध का बोध रहता है।।६१।। अपने स्वार्थ में सहायक होते हैं वही उसके आत्मीयजन होते हैं। देह संबंध के रिश्तेदार उसे मान्य नहीं होते।।६२।। काल सब विश्न को भक्षान्न समझता है। अग्नि सब पदार्थों को ईंधन समझता है। तद्वत तामस ज्ञान को संपूर्ण जग अपना ही धन प्रतीत होता है।।६३।। संपूर्ण विश्व केवल भोग्य विषय समझनेवाला तामस ज्ञान केवल देहभरण जानता है।।६४।। आकाश से वर्षा होनेवाले जल को समुद्र ही आश्रय होता है। तद्वत सब कृत्य देहभरण देह विलास के लिये करना चाहिये ऐसा तामस ज्ञान समझता है।।६५।। उदरभरण के अतिरिक्त स्वर्ग नरक प्राप्ति, या विहित कर्म या निषिद्ध कर्म, हे किरीटि! इस संबंध में उसको रात्री रहती है।।६६।। देह को वह आत्मा समझता है। पाषाण की प्रतिमा को ईश्वर समझता

Funding by IKS-MoE

कितना विस्तार अर्जुन। करने से क्या लाभ अर्जन। उससे यहां।।२२।। इसविध विवेक को यथार्थ। अविवेक के पांव से रौंद। होवे कर्म में उद्युक्त। अहंतायुक्त।।२३।। अपना ही आश्रय जलाकर। भभकत वन्हि धनुर्धर। या स्वमर्यादा लांघकर। उछले सिंधु जैसा।।२४।। तब अल्प बहुत न जानत। आगे पीछे न देखत। मार्ग मार्ग एक साथ। करत नष्ट।।२५।। वैसे कृत्याकृत्य मिलावत। आप पर शेष न रखत। वह कर्म तामस निश्चित। जानो तुम।।२६।। ऐसे गुणत्रय भिन्न। कर्म का यहां अर्जुन। किया उसका विवेचन। उपपत्ति सहित।।२७।। अब कर्ता जो इस कर्म का। अभिमान करे कर्तृत्व का। होवे जीव भी त्रिप्रकार का। पृथक वह।।२८।। पुरुष चतुराश्रमवश से। एकही चतुर्धा दिखत जैसे। कर्ता को त्रैविध्य वैसे। कर्म भेद से।।२९।। तब उन तीनों में पार्थ। सात्विक जो प्रस्तुत। कहूंगा होकर दत्त चित्त। सुनो तुम।।६३०।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

फलोद्देश्य को छेड़कर। बढ़त जैसी सरल अवक्र। शाखा चंदन की सुवीर। मलयाचल की।।३१।। अथवा जैसी नागवेल। सार्थक न लगते फल। वैसी निन्यादिका क्रिया सकल। करे जो।।३२।। यद्यपि फलशून्यता। नही उनको विफलता। तब फल को ही पंडुसुता। फल कैसे?।।३३।। अति आदर से कर्म करत। किंतु मैं कर्ता न जानत। मेघवृंद जैसे वर्षत। वर्षाकाल में।।३४।। वैसे ही परमात्मलिंग को। योग्य जो अर्पण करने को। कर्मकलाप ऐसा करने को। धनंजय।।३५।। तब कालमर्यादा न लांघना। देश शुद्धि भी साधना। अतः शास्त्र दीप से देखना। क्रिया निर्णय।।३६।। वृत्ति एकाग्र करना। चित्त में फलाशा न लाना। हथकड़ी नियमों की रखना। अखंडित।।३७।। निरोध यह सहने कारण। करने उत्तम धैर्य धारण। जीति जागती चिंता अर्जुन। वहन करे जो।।३८।। प्राप्ति होने परमात्मा की। क्रिया करत नित्यादिकी। चिंता देहसुख की। न करे जो।।३९।। आलस निद्रा त्यागकर। स्मरण क्षुधा का न रखकर। सुखावस्था भागे दूर। अंग की जब।।६४०।। तब अधिकाधिक। उत्साह धरे विशेख। अग्नि में सुवर्ण को कस अधिक। यद्यपि भार कम।।४१।। प्रीति यदि साच। तब स्वजीवित माने तुच्छ। अग्निप्रवेश में सती को रोमांच। आवत जैसे।।४२।। तब आत्मा समान प्रिय। प्यारा जो धनंजय। देहकष्ट से क्या होय। खेद उसको?।।४३।। विषय प्रीति नाशत। ज्यों ज्यों देहबुद्धि विस्मरत। त्यों-त्यों आनंद दुगुनत। कर्म में उसका।।४४।। जो कर्म करे इसप्रकार। और कभी किस अवसर। यदि अवस्था ऐसी धनुर्धर। होवे खंडित।।४५।। गिरा गाड़ा पहाड़पर से। न होवे मन में खिन्न उससे। न होवे कर्म रुकने से। उदासीन जो।।४६।। अथवा आदर से आरंभित। निर्विघ्न पूर्णता को प्राप्त। जीत से न फूले किंचित। अहंकार दर्प से।।४७।। ऐसे लक्षण से युक्त। करे कर्म जो सतत। कहना उसको तत्त्वतः। सात्विक कर्ता।।४८।। अब राजस का

Funding by IKS-MoE

कर्म समाप्त होने पर कौनसा फल प्राप्त होगा।।२२।। इन विचारों का विवेक का मार्ग अविवेक से चरणों से रौंदते हुए अहंकार से कर्म करने में प्रवृत्त होता है।।२३।। हे धनुर्धर अपने आश्रय को जलाकर अग्नि भभकता है। स्वयं की मर्यादा उल्लंघन करके जैसा सागर उछलता है।।२४।। तब अग्नि जलाने के लिए अल्प बहुत नहीं जानता। समुद्र भी फैलने के लिए आगे पीछे नहीं देखता। एक साथ मार्ग अमार्ग नष्ट करते हैं।।२५।। वैसे योग्य कर्म एवं अयोग्य कर्म इन दोनों को मिलाते हुये अपना पराया भाव नहीं रखता। ऐसा कर्म निश्चित तामस है। उसको तुम जानना।।२६।। हे अर्जुन! तीन गुणों से भिन्न- भिन्न कर्मों का उपपत्ति सहित विवेचन किया है।।२७।। अब इन कर्मों का कर्ता कर्तृत्व का अहंकार करता है। जिससे जीव भी गुणों के संपर्क से तीन प्रकार का हुआ है।।२८।। चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) के अनुसार एकहि व्यक्ति चार प्रकार का दिखता है। तद्वत कर्म भेद से कर्ता तीन प्रकार का दिखता है।।२९।। इन तीनों कर्ताओं में सात्विक कर्ता का विवेचन, हे पार्थ! प्रस्तुत बताता हूं। दत्तचित्त होकर सुनो।।६३०।।

फलासक्तिरहित, अहंकार रहित, धैर्य एवं उत्साह से युक्त कर्मफल के सिद्धि एवं असिद्धि के प्रति निर्विकार, ऐसा कर्ता सात्विक कहलाता है।।२६।।

हे सुवीर! फल का उद्देश्य छोड़कर चंदन वृक्ष की शाखाएं सीधी मलयागिरी पर्वत पर बढ़ती हैं।।३१।। अथवा फल न लगते हुए नागबेली की लताएं उसके पत्तों से सार्थक होती है तद्वत फलेच्छा न रखते हुए जो नित्यकर्म करता है।।३२।। नित्य नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान करने से वही कर्म स्वयं फलरूप होता है। अब फल को फल कैसे लगेंगे।।३३।। वर्षाऋतु में मेघों से वर्षा होती है, किन्तु वे गर्जना नहीं करते। तद्वत सात्विक कर्ता श्रद्धा पूर्वक कर्म करता है। किन्तु स्वयं को कर्ता नहीं समझता।।३४।। हे धनंजय! नित्य नैमित्तिक कर्म शास्त्र शुद्ध होना चाहिये। वैसी श्रद्धा भी शास्त्र युद्ध होना चाहिये। अर्थात परमात्म लिंग को अर्पण करने योग ऐसा व्यवहार होना चाहिये।।३५।। पूजन के लिये शास्त्रानुसार काल का उल्लंघन न हो। देश की शुद्धता बुद्धिपूर्वक साध्य करना। पूजन भक्ति का निर्णय शास्त्र के स्वच्छ प्रकाश में देखना उत्तम रहता है।।३६।। उपासना या पूजन करते हुए उस कर्म में अंतःकरण वृत्ति एकाग्र होना चाहिये। चित्त में फल की आशा रखना उचित नहीं। कर्म करते हुए शास्त्र नियमों का बंधन (हथकड़ी) सर्वकाल आवश्यक होती है।।३७।। सब निर्बंधों का पालन करने के लिये मन में उत्तम धैर्य धारण करना चाहिये। उसी की उत्तम एवं सजीव चिंता सदैव मन में करता है।।३८।। परमात्म प्राप्ति की इच्छा से व नित्यनैमित्तिक कर्म करता रहता है। देह के सुख की वह यत् किंचित् चिंता नहीं करता।।३९।। आलस्य एवं निद्रा का त्याग करके, क्षुधा का स्मरण भी नहीं रखता। शरीर सुख की अवस्था दूर भाग जाती है।।६४०।। अग्नि में तपाने से सुवर्ण जैसा अधिकाधिक शुद्ध होता है, वैसा नित्य कर्म अधिकाधिक अमर्याद उत्साह से सात्विक कर्ता करता है।।४१।। अग्नि प्रवेश करते समय पतिव्रता सती स्त्री को आनंद से रोमांच उत्पन्न होते हैं। क्योंकि उसकी प्रीति सत्य होने से अपना जीवन वह तुच्छ समझती है।।४२।। हे धनंजय! आत्मा जैसे परम प्रिय वस्तु के लिए साधना के कष्ट करते हुए उन देहकष्ट से उसको क्या खेद होगा?।।४३।। जैसा जैसा विषयभोग छूटता है, तैसे तैसे देहात्मबुद्धि का विस्मरण होता है। सात्विक कर्म करते हुए आनंद एवं उत्साह द्विगुणित होता है।।४४।। हे धनुर्धर! उत्साह से एवं निष्काम बुद्धि से धैर्यपूर्वक आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए कर्म करते समय प्रतिकूल परिस्थिति से कर्म करना खंडित होने से, ।।४५।। जैसी गाड़ी पहाड़ पर से गिरने से संकट नहीं मानते। वैसे कर्म खंडित होने से मन संकुचित या उद्विग्न नहीं होने देते।।४६।। प्रारंभ किया हुआ कर्म सांग एवं निर्दोष सिद्ध होने पर अहंकार एवं दर्प से स्वयं को बहुत जय प्राप्त हुआ ऐसा नहीं समझता।।४७।। ऐसे लक्षणों से युक्त जो सात्विक कर्म करता है उसको तत्त्वतः सात्विक कर्ता कहते हैं।।४८।। हे अर्जुन! विश्व की सब इच्छाओं का जो वसती स्थान है ऐसे राजस कर्ता का लक्षण, हे अर्जुन! अब

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥२४॥

घर में वृद्ध माता-पितर। न करे भाषण व्यवहार मधुर। अन्य विश्व का करे आदर। मूर्ख जैसा॥९५॥ तुलसी वृक्ष में अर्जुन। डाले न बूंदभर जीवन। द्राक्षवेली के जड़ में सिंचन। दुग्ध का करे॥९६॥ वैसे नित्य नैमित्तिक। कर्म जो आवश्यक। उनके लिये न उत्सुक। बैठ उठेना॥९७॥ अन्य काम्य कर्म के नाम से। अशेष देह सर्वस्व से। खर्चत न माने बहुत ऐसे। धनुर्धर॥९८॥ चक्रवृद्धि ब्याज व्यवहार में। डाले चाहे जितना वित्त उसमें। जैसे बीज बोते खेत में। अधिक न कहे॥९९॥ या पारस जब हस्तगत किरीटि। खर्च करके सब संपत्ति। करे लोह की प्राप्ति। धनार्थि जैसा॥६००॥ वैसे फलपर दृष्टि रखकर। काम्य-करे दुर्धर। समझे वह भी अल्पतर। धनुर्धर॥१॥ उस फलकामना से। यथाविधि उत्तम प्रकार से। काम्य क्रिया सब मन से। करत जात॥२॥ और जो-जो करे कर्म। ढिंढोरा पीटत स्वयम्। महाकर्मी यह नाम। बखान करे स्वतः॥३॥ ऐसा बढ़त कर्माहंकारू। तब पिता अथवा गुरु। न माने काल ज्वरू। औषध जैसे॥४॥ ऐसे साहंकार से। फलाभिलाषी नर से। किया गया बहुत आदर से। कर्म जो-जो॥५॥ किंतु वह भी कार्य बहुवस। आश्रय करके सायास। जीवनोपाय जो विशेष। मदारियों का॥६॥ कण एक के लिये इंदुर। खोदत जैसे डोंगर। या शैवाल उद्देश्य से दर्दुर। मथत समुद्र॥७॥ भिक्षाबिन अन्य न पाये। तब भी सपेरा सर्प ढोये। क्या कीजे श्रम ही भाये। प्रिय किसी एक को॥८॥ देखो परमाणु के लाभ से। दीमक पाताल तक पहुंचे जैसे। वैसे करना स्वर्ग सुख लोभ से। परिश्रम पार्थ॥९॥ वह काम्य कर्म सक्लेश। जानिये यहां राजस। अब सुनो तामस-। का चिन्ह तुम॥६१०॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥२५॥

तब जानो वह तामस कर्म। जो निंदा का कालाधाम। शास्त्रनिषेध का जन्म। साच जिससे॥११॥ जो करने पश्चात। कोई न दिखे फल प्राप्त। निकाली पानी पर पार्थ। रेखा जैसी॥१२॥ अथवा कांजी मंथन से। या राख फूंकने से। कोल्हू में बालू डालने से। न प्राप्त कुछ॥१३॥ ना ना पछाड़ने से तुष। अथवा विंधकर तीर से आकाश। किंवा डालना पाश। वायु के लिए॥१४॥ यह अशेष ही वैसे। नाशत होकर बांझ से। जो करने उपरान्त जैसे। होवे व्यर्थ॥१५॥ जिसमें नरदेह समान। निष्फल होवे महाधन। और कर्मपूर्ति से नष्ट अर्जुन। जग का सुख॥१६॥ कमलबन में कटीला पाश। डाले और खीचे खास। स्वयं टूटे करे नाश। कमलों का भी॥१७॥ दीप ऊपर ईर्षा से पतंग। झोंकत स्वयं का अंग। स्वयं जले छीनत जग-। से प्रकाश भी पार्थ॥१८॥ वैसे सर्वस्व वृथा जावे। देह को पीड़ा भी देवे। किंतु दूसरों को होवे। अपाय जिससे॥१९॥ मक्खी पेट में जाकर मरत। वमन से औरों को श्रमवत। ऐसे कल्पष का स्मरण देत। आचार जो॥६२०॥ करने वह सदोष ही जैसे। सामर्थ्य होवे न होवे हठ से। आगे का न देखे वैसे। करत जात॥२१॥ मेरा कितना साधन।

Funding by IKS-MoE

फल की इच्छा करनेवाला अहंकारी मनुष्य अति श्रम करके जो कर्म करता है, उसको राजस कर्म कहते हैं॥२४॥

जो मूर्ख, वृद्ध, माता-पिता से मधुर व्यवहार नहीं करता। अन्य विश्व का आदर करता है॥९५॥ तुलसी के पौधे को एक बूंद भी जल नहीं डालता। हे अर्जुन! द्राक्षलता की जड़ में दूध सींचता है॥९६॥ वैसे नित्य नैमित्तिक कर्म जो आवश्यक होते हैं, वह करने के लिये वह उत्सुक नहीं रहता। एक बार बैठ गया तो उठता नहीं॥९७॥ अन्य काम्य कर्म करने के लिये देहकष्ठ एवं धन खर्च करके बहुत खर्चा हुआ, ऐसा वह समझता नहीं॥९८॥ खेत में कितना भी बीज बोनेपर अधिक हुआ ऐसा किसान कहता नहीं। वैसे चक्रवृद्धि ब्याज व्यवहार में वह जाहे जितना धन डालता है॥९९॥ हे किरीटि! पारस प्राप्त होने पर सब धन खर्च करके लोहा खरीद लेता है। सुवण लोभ से उसके मन में उत्साह रहता है॥६००॥ हे धनुर्धर! फल प्राप्ति की इच्छा से कठिन कर्म भी वह करता है। उसको वह अल्प समझता है॥१॥ फलकी इच्छा से शास्त्र में जैसे कर्म बताये हैं, वह यथाविधि कर्म उत्तम प्रकार से करता है॥२॥ एवं जो-जो कर्म वह करता है उसका स्वयम् ढिंढोरा पीटता है। महाकर्मी इस नामसे उसकी प्रसिद्धि होती है॥३॥ कालज्वर जैसे औषधी की पर्वा नहीं करता, वैसा उसका कर्म का अहंकार बढ़ता रहता है। वह पिता एवं गुरु की पर्वा नहीं करता॥४॥ ऐसे अहंकारी, फलाशा रखनेवाले मनुष्य से जो कुछ आदर से किया जाता है॥५॥ कष्ट करके उपजीविका चलानां मदायिओं का धंधा होता है। वैसे कष्ट करके कर्म किए जाते हैं॥६॥ धान्यकण के लिये जैसा चूहा पहाड़ कुरेदता है। या शैवाल के उद्देश्य से मेंढक समुद्र का मंथन करता है॥७॥ भिक्षा के बिना अन्य कुछ प्राप्त न होते ही सपेरा सर्प को ढ़ोते रहता है। क्या करेंगे किसी-किसी को कष्टप्रिय प्रतीत होते हैं॥८॥ परमाणु के लाभ के लिए दीमक पातालतक पहुंचता है। वैसे स्वर्ग सुख के लोभ से हे पार्थ परिश्रम करते हैं॥९॥ कष्टप्रद काम्य कर्म राजस कर्म कहलाते हैं। अब तामस कर्म का लक्षण सुनो॥६१०॥

भविष्य में होनेवाला दुष्परिणाम, शारीरिक एवं आर्थिक नाश, प्राणियों की पीड़ा एवं अपने सामर्थ्य की परवाह न करते हुए अविचार से जो कर्म प्रारंभ किये जाते हैं, वह कर्म तामस कर्म कहलाये जाते हैं॥२५॥

वह तामस कर्म निंदा का कालाधन है। शास्त्र निषिद्ध कर्म का जन्म उससे होता है॥११॥ हे पार्थ, जैसे जलसतह पर रेखा निकालने से रेखा टिकती नहीं। वैसे कर्म करने के पश्चात् उसका कुछ फल दिखता नहीं॥१२॥ कांजी मथने से राख, फूंकने से कोल्हू में बालू डालने से कुछ प्राप्त नहीं होता॥१३॥ तुष पछाड़ने से, बाण से आकाश भेद करने से, वायु को पकड़ने के लिए पाश डालने से॥१४॥ ये सब उद्योग व्यर्थ होकर नष्ट होते हैं। तद्वत कर्म करने पर तामस कर्म व्यर्थ जाता है॥१५॥ हे अर्जुन! तामस कर्म करने में नरदेहरूपी धन खर्च होता है। किन्तु फल नहीं मिलता। तामस कर्म से जग का सुख नष्ट होता है॥१६॥ कमल के बन में कटीला पाश डालकर खींचने से स्वयं टूटकर खुदका नाश करता है। साथ में कमलों का भी नाश होता है॥१७॥ हे पार्थ! ईर्षा करके पतंक दीपक पर झपटता है तब उसका स्वयं का देह जल जाता है। हे पार्थ! दीपक बुझाकर जग का प्रकाश छीनता है॥१८॥ सब धन नष्ट हुआ। देहघात भी हुआ तो भी चलता है किन्तु दूसरे का नाश होगा ऐसा कर्म करता है॥१९॥ उदर में प्रविष्ट होने से मक्खी मरती है। दूजे को वमन करने का कष्ट देती है। ऐसे कल्मष का स्मरण करा देने का आचार तामस कर्म करता है॥६२०॥ ऐसा घातक कर्म करने का खुद में सामर्थ्य है या नहीं इसका विचार नहीं करता। वैसे भविष्य का भी विचार नहीं करता। केवल कर्म करता रहता है॥२१॥ हे अर्जुन! कर्म प्रारंभ करने के लिए अपना कितना सामर्थ्य है। कर्म करते हुए बीच में कौनसा प्रसंग प्राप्त होगा या लाभ होगा।

Funding by IKS-MoE

इसके अतिरिक्त प्रभा। न माने जिसकी।।६७।। कहे शरीर जब पावे पतन। कर्म सहित आत्मा नष्ट पूर्ण। पश्चात बचे वेष से कौन। भोगने को।।६८।। माना ईश्वरको दृष्टा। कर्म फलभोग का दाता। तब खाये बेचकर पार्था। देव ही को।।६९।। ग्राम का देवालयेश्वर। नियामक यदि साचोकार। तब देश के पर्वत पत्थर। क्यों रहत मौन?।।५७०।। क्वचित यदि देव को मानत। तब पाषाण मात्र ही जानत। और देह को ही तब कहत। आत्मा पार्थ।।७१।। और पाप अथवा पुण्य। झूटा मानकर संपूर्ण। करत सर्वभक्षण। अग्निमुख सम।।७२।। चर्मचक्षु जो दिखावे। इंद्रियां प्रीत लगावे। वही सत्य प्रतीति कहे। निर्धार से जो।।७३।। किंबहुना ऐसी प्रथा। बढ़ती दिखत पार्था। धूम्र वल्ली वृथा। आकाश में जैसी।।७४।। न शुष्क न आर्द्र पार्थ। नहीं कभी उपयुक्त। ऐसा बढ़कर मोड़त। कोई वृक्ष जैसा।।७५।। भुट्टा गन्ने का सुंदर। अथवा नपुंसक नर। बन लगा साबर-। वृक्ष का जैसे।।७६।। नातर बालक का मन। या चोरगृह का धन। अथवा अजागल स्तन। धनुर्धर।।७७।। वैसे जो निरर्थक। जानने को निष्कृष्ट देख। उसको मैं कहूं अशेख। तामस पार्थ।।७८।। वह भी ज्ञान यह भाषा। कहने का भाव ऐसा। जात्यंध का होवे जैसा। विशाल नेत्र।।७९।। या बधिर का सुंदर कर्ण। अपेय का नाम पान। वैसे उपनाम ज्ञान। तामस को उस।।५८०।। जाने दो यह कितना कहे। फिर भी ऐसा जो देखिये। वह ज्ञान नहीं जानिये। साक्षात तम।।८१।। एवं तीनों गुण से। भिन्न यथा लक्षण से। ज्ञान श्रोता शिरोमणि! वैसे। दिखाया तुमको।।८२।। अब इसी त्रिप्रकार-। के ज्ञान प्रकाश से धनुर्धर। क्रिया होत गोचर। कर्ताओं की।।८३।। अतः कर्म भी अर्जुन। अनुसरत त्रिविध ज्ञान। दिशा देने से करे गमन। जलौघ जैसा।।८४।। वही ज्ञानत्रय वश से। होवे त्रिविध जैसे। वहां सात्विक जो वह ऐसे। सुनो प्रथम।।८५।।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

स्वाधिकार के मार्ग से। प्राप्त कर्म जो माना अंग से। पतिव्रता के परिश्वंग से। प्रिय को जैसे।।८६।। शामल अंग को चंदन। प्रमदा लोचन में अंजन। वैसे अधिकार को मंडन। नित्यपन से।।८७।। वह नित्यकर्म उचित। नैमित्तिक उसको सहाय होत। होवे सुवर्ण को प्राप्त। सौरभ्य जैसा।।८८।। और अंगजीव की संपत्ति। खर्चकर करे बालक की रक्षा किरीटि। किंतु न जीव को उद्वेग की स्थिति। मानत माता।।८९।। वैसे सर्वस्व से करे कर्मानुष्ठान। न रखकर फल पर दृष्टि मन। अशेष क्रिया करे समर्पण। ब्रह्म में ही।।५९०।। भोजन समय सहज प्रिय आवे। भक्ष्य सामग्री शेष रहे न रहे। वैसे सत्प्रसंग में न होवे। विहित कर्म यदि।।९१।। उस अकरण के खेद से। द्वेष न बांधे जीव में जैसे। या कर्म पूर्ति के आनंद से। गर्व न करे।।९२।। ऐसी युक्ति से अर्जुन। कर्म जो घटत पूर्ण। सात्विक यह जान। संज्ञा उसको।।९३।। इस उपरान्त राजस का। लक्षण साच कहूं उसका। न करो अवधान का। कृपणपन यहां।।९४।।

Funding by IKS-MoE

है। आत्मा देहत्रयातीत है, इस ज्ञान की निश्चिति तामस ज्ञान नहीं करता।।६७।। मृत्यु के उपरान्त पाप-पुण्यात्मक कर्म के साथ आत्मा नष्ट होती है। कर्म का फल भोगने के लिये वहां कौन बचता है?।।६८।। हे पार्थ! ईश्वर को दृष्टा समझकर कर्म का फल भोग करानेवाला दाता है। अतः वह देवता की प्रतिमाओं को बेचकर धन को खाने के उपयोग में खर्च करता है। (देव जीव को भोग देता नहीं। जीव देवता को बेचकर देवता का भोग करता है। अतः मनुष्य देवता पर नियमन करता है यह बताने का प्रयास करता है)।।६९।। ग्राम में मंदिर में देवता है वह यदि नियामक है। तब पर्वत, पहाड़ आदि मूक क्यों हैं? पाषाण प्रतिमा जैसी जड़ होती है, वैसी पर्वत, पहाड़ भी जड़ ही है।।५७०।। हे पार्थ! कदाचित् देवता पर विश्वास करता है तब वह केवल पाषाण स्वरूप समझता है। देह को आत्मा ही वह समझता है।।७१।। और पाप एवं पुण्य को मिथ्या समझता है। अग्नि जैसे सर्वभक्षक है वैसा वह विषयोपभोग में सदा व्यस्त रहता है।।७२।। चर्मचक्षु जो पदार्थ देखता है। इंद्रियां जिन विषयों की मिठास उत्पन्न करते हैं। वही सत्य है, ऐसा तामस ज्ञान का निश्चयात्मक विश्वास रहता है।।७३।। जैसे आकाश में धूम्रलता फैलती हुई व्यर्थ दिखती है, वैसी जहां नास्तिकता विकसित होते हुए दिखती है वहां तामस ज्ञान है, ऐसा हे पार्थ! तुम समझना।।७४।। जो शुष्क एवं आर्द्र, कभी भी जिसका उपयोग नहीं होता, जो वृद्धि होकर मोड़ता है ऐसे वृक्ष जैसा।।७५।। जैसे गन्ने का भुट्टा सुंदर दिखता है, अथवा नपुंसक नर या साबरी वृक्ष का वन जैसे व्यर्थ होते हैं।।७६।। हे धनुर्धर! छोटे बालक का मन, चोर के घर का धन। अजागल के गले का स्तन।।७७।। तद्वत जो ज्ञान फलशून्य एवं प्रभाशून्य दिखता है उसको मैं तामस ज्ञान कहता हूं।।७८।। तामस ज्ञान अज्ञानरूप होते हुए भी ज्ञान शब्द से कहलाया जाता है। जैसे जन्मांध के नेत्र को विशाल कहते हैं।।७९।। बधिर के सुंदर कर्ण, अपेय (मद्य आदि) को पेय नाम, जैसा दिया जाता है वैसे तामस को ज्ञान कहा गया है।।५८०।। जाने दो। अब कितना कहा जाये! फिर भी जहां नास्तिकता एवं भोगासक्ति दिखाई देती है वहां साक्षात तमोगुण है, ज्ञान नहीं ऐसा समझना।।८१।। मूलतः एकहि ज्ञान तीन गुणों से तीन प्रकार का हुआ है। हे श्रोता शिरोमणि! उनका जैसा लक्षण है वैसा वह ज्ञान तुम्हें बताया।।८२।। हे धनुर्धर! इन तीनों प्रकार के ज्ञानप्रकाश में कर्ताओं की क्रिया प्रकाशित होती है।।८३।। हे अर्जुन! दिशा मिलने से जलप्रवाह को जैसे गति मिलती है, वैसे कर्म भी तीनों प्रकार से ज्ञान का अनुसरण करता है।।८४।। वह तीन प्रकार के ज्ञान से तीन प्रकार का कर्म होता है। उसमें प्रथम सात्विक कर्म सुनो।।८५।।

फलेच्छरहित साधक नित्य, आसक्तिरहित, रागद्वेष रहित जो कर्म करता है वह सात्विक कर्म कहलाता है।।२३।।

पतिव्रता पत्नी के आलिंगन से पति को जैसा आनंद होता है वैसा आनंद वर्णाश्रम के अनुसार प्राप्त कर्म स्वसंतोष से करने से कर्ता को स्वभाविक होता है।।८६।। श्यामल शरीर को चंदन, तरुण स्त्री के नेत्र में अंजन जैसे शोभा देता है वैसा नित्य कर्म वर्णाश्रम को भूषण है।।८७।। सुवर्ण को यदि सुगंध प्राप्त हुआ, तो उसकी शोभा द्विगुणित होगी। तद्वत नित्यकर्म को नैमित्तिक कर्म मदद करता है।।८८।। हे किरिटि! शरीर एवं मनरूपी संपत्ति खर्च करके माता बालक का रक्षण करती है। किंतु उद्वेग या तिरस्कार नहीं करती।।८९।। तद्वत सात्विक ज्ञान प्राप्तकर्ता काया, वाचा मन से नित्य नैमित्तिक कर्म करता है। किंतु कर्मफल की आकांक्षा नहीं रखता। संपूर्ण कर्म वह ब्रह्मार्पण दृष्टि से करता है।।४९०।। भोजन के समय प्रिय व्यक्ति आने से भोजन सामग्री शेष रहे या न रहे। वह आग्रह करके उसका आदर सत्कार करता है। वैसे सत्संग में यदि विहित कर्म न हो सका।।९१।। उस समय अकारण खेद से द्वेष नहीं करता। या कर्म पूर्ण होने पर आनंद से अहंकार भी नहीं करता।।९२।। हे अर्जुन! इस युक्ति से जो कर्म किया जाता है वह कर्म सात्विक कहलाता है। यह उसके गुणों से नाम प्राप्त हुआ है।।९३।। अब राजस कर्म का लक्षण बताता हूं। अवधान देने में कृपणता नहीं करना।।९४।।

Funding by IKS-MoE

लक्षण। यही जानो अर्जुन। जग के अशेष अभिमान। को वसती स्थान जो।।४९।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

ग्राम का कश्मल मलिन। घर में एकत्रित पूर्ण। या अमंगल को स्थान। स्मशान जैसे।।६५०।। वैसे विश्व में अशेष। सदोष जितने अभिलाष। पाद प्रक्षालन का स्थान वह पुरुष। होवे सबको।।५१।। जहां फल की प्राप्ति। सुनिश्चित किरीटि। उसी कर्म की प्रीति। रखत मन में।।५२।। संपत्ति जो स्वर्जित। कौड़ी न उसमें से खर्चत। जीव निछावर करत। छिन-छिन अपना।।५३।। कृपण सा राखे स्वधन। दक्ष छिनने परधन। बक जैसा धरे ध्यान। मीन का पार्थ।।५४।। वस्त्र अटकत जाते निकट। झपटत यदि खरोचे अंग बिकट। फल खाते जिव्हा को कष्ट। बेरी के जैसे।।५५।। वैसे वाचा काया मन से। देत दूसरों को दुःख जैसे। स्वार्थ साधने न देखे वैसे। परहित कभी।।५६।। और शरीर से कर्म। सिद्ध करने अक्षम। किंतु न छोड़े मनोधर्म। उद्वेग उसका।।५७।। देखो धतूरे के फल पर। तीक्ष्ण कंटक मादक अंतर। वैसा भीतर बाहिर। अपवित्र जो।।५८।। और कर्म करने उपरान्त। पावे यदि फल पार्थ। हर्षभर से खिल्ली उड़ावत। जग की वह।।५९।। किंतु आदर से किया कर्म। हुआ यदि वह निष्फल सुवर्म। होवे शोकविव्हल मर्म। धिःकारते उसको।।६६०।। ऐसा कर्माचरण। देखो जिसका अर्जुन। वही राजस कर्ता जान। सुनिश्चित।।६१।। अब इसके अनन्तर। जो कुकर्म का आगार। उसको करूं मैं गोचर। तामस कर्ता जो।।६२।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्ध शठो नैष्कृतिकोऽलसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

होते अपना स्पर्श। सामने का जलत अशेष। यह न जाते हुताश। जिसप्रकार।।६३।। अपनी तीक्ष्णता से पार्थ। कैसे मरत शस्त्र न जानत। अथवा न जाने कालकूट। कर्म अपना।।६४।। वैसे स्वयं को औरों को। विघातक जो सबको। आदर से हीन क्रियाओं को। पसंद करे जो।।६५।। क्रिया करते समय। परिणाम न जाने धनंजय। चक्रवात में चलित वाय। चेष्टत जैसा।।६६।। कामना और कृति। इनमें न कोई संगति। लगे देखकर उसे किरीटि। सीमा पागलपन की।।६७।। इंद्रिय जो भोग देत। वही लेकर राखे जीवित। बैल नीचे चिपकत। कीलनी जैसी।।६८।। रोने हंसने न लगे काल। जैसा कोई अज्ञान बाल। वैसा वर्तत उच्छृश्रंखल। धनुर्धर।।६९।। प्रकृति के प्रभाव से। बुरा भला न जाने जैसे। फूले कुकर्म करने से। धुरासमान।।६७०।। लेकर अंग में अहंकार। ईश्वर सम्मुख न नवाये सिर। नित्य रहत टेटर। पहाड़ जैसा।।७१।। विषय तरंग जिसका मन। चोर जैसा आचरण। पण्यागना सम दृष्टि अर्जुन। विषयी जैसी।।७२।। किंबहुना कपट का। देह ही बना जिसका। जीवन घर जुए का। तिगड्डे पर का।।७३।। उसका समग्र जीवन। साभिलाष भीलों का स्थान। न करना आवागमन। राहपर उस।।७४।। और जिसका

सुनो ।।४९।।

जो विषयाभिलाषी, कर्मफल की इच्छा करनेवाला, लोभी, प्राणियों की हिंसा करनेवाला, अपवित्र, हर्षविषाद से व्याप्त राजस कर्ता कहलाता है ।। २७ ।।

ग्राम की गंदगी जैसे एक स्थान पर एकत्रित करते हैं। या स्मशान में सर्व अमंगल का स्थान होता है ।। ६५० ।। तद्वत विश्व में जितनी दोषपूर्ण अभिलाषा है उन सब इच्छाओं का चरण प्रक्षालन करने, का स्थान वह राजस पुरुष होता है ।। ५१ ।। हे किरीटी! जिस कर्म में फल की प्राप्ति सुनिश्चित होती है, उस कर्म की प्रीति वह मन में रखता है ।। ५२ ।। स्वकष्टार्जित संपत्ति से एक कौड़ी भी खर्च नहीं करता। उस द्रव्य पर क्षण क्षण में अपना जीव निछावर करता है ।। ५३ ।। कृपण सदृश वह अपने धन की रक्षा करता है दूसरों के धन का अपहार करने में वह दक्ष रहता है। हे पार्थ! बक जैसा मछली पकड़ने के लिए ध्यान लगाकर बैठता है, ।। ५४ ।। बेर वृक्ष के पास से जाते समय वस्त्र फंसता है। शरीर में खरोंचें लगती हैं। फल खाते समय खट्टे फल से जिव्हा को कष्ट होता है ।। ५५ ।। वैसे मन, वाणी एवं शरीर से जो दूसरे को दुःख ही देता है। स्वार्थ साधन करते हुए परहित का विचार कभी मन में नहीं आता ।। ५६ ।। शरीर एवं मन से कोई भी कर्म करने की क्षमता उसमें नहीं होती। किंतु कर्म के प्रति उद्वेग नहीं होता ।। ५७ ।। धत्तूरे के फल भीतर से मादक एवं बाहर से तीक्ष्ण कांटेदार रहते हैं। वैसा राजस गुण से युक्त मनुष्य भीतर बाहर अपवित्र रहता है ।। ५८ ।। हे पार्थ! कर्म करने के उपरान्त वह सफल होता है तब हर्षावेग में वह जग की खिल्ली उड़ाता है ।। ५९ ।। अथवा प्रारंभ किया कर्म यदि असफल होता है, तब हे सुवर्म! शोक विव्हल होकर उस कर्म का धिक्कार करता है ।। ६६० ।। हे अर्जुन! ऐसा जिसका कर्म का आचरण रहता है वह निश्चित राजसकर्ता है, ऐसा समझना ।। ६१ ।। अब इसके अनंतर जो कुकर्म का आगार है उस तामसकर्ता को गोचर करता हूं ।। ६२ ।।

असावध, शास्त्र संस्काररहित, अनम्र, झूठ, बोलनेवाला, स्वार्थी, आलसी, विषादी, अतिमंद प्रवृत्ति का व्यक्ति तामसकर्ता कहलाता है ।। २८ ।।

अपना स्पर्श होते ही दूसरा पदार्थ जलता है यह अग्नि नहीं जानती ।। ६३ ।। हे पार्थ! अपने तीक्ष्णता से प्राणि कैसा मरता है, यह शस्त्र नहीं जानता। अथवा कालकूट विष अपना कर्म नहीं जानता ।। ६४ ।। वैसे अपना एवं दूसरे का नाश करने की जो हीन क्रियाएं हैं, उनको आदरपूर्वक करना पसंद करता है ।। ६५ ।। हे धनंजय! चक्रवात में वायु जैसा घूमता है वैसा क्रिया करते समय वह परिणाम का विचार नहीं करता ।। ६६ ।। हे किरीटी! इच्छा एवं कृति में कोई संगति नहीं होती। उसे देखकर पगलाने की सीमा देखने का आचार कौनसा, ऐसा विचार आता है ।। ६७ ।। बैल के नीचे लगी कीलनी जैसे रक्त शोषण करती है वैसी इंद्रिय रूपी बैल को प्रारब्ध कर्म से पंचविषयों का चारा खाकर जीवन रक्षा करता है ।। ६८ ।। नवजात शिशु जैसे योग्या योग्य समय न जानते हुए निष्कारण हंसता एवं रोता है। तद्वत हे धनुर्धर तामस व्यक्ति की उच्छृंखल, स्वैर चेष्टाएं रहती हैं ।। ६९ ।। प्रकृति के अधीन होने से कृत्य, अकृत्य, भला बुरा जानता नहीं। वह स्वैर व्यवहार से तृप्त होकर अहंकार से धुवे समान फूलता रहता है ।। ६७० ।। अहंकार से भगवान के सन्मुख भी विनम्र नहीं होता। प्रणाम नहीं करता। पहाड़ जैसा नित्य टेटर रहता है ।। ७१ ।। हे अर्जुन! जिसका मन विषयों में लिप्त रहता है। जिसका आचरण चोर जैसा रहता है। वैश्याओं जैसी उसकी विषयी दृष्टि रहती है ।। ७२ ।। किंबहुना उसका देह कपट से बना हुआ होता है। उसका जीवन तिगड्डे पर का जुगार (जुआ) का घर है ।। ७३ ।। उसका समग्र जीवन लूटमार करनेवाले किरात का स्थान है। उस मार्ग पर आवागमन नहीं करता ।। ७४ ।। दूसरे का भला तापस व्यक्ति देख नहीं सकता। जैसे लवणयुक्त दुग्ध प्राशन करने योग्य नहीं

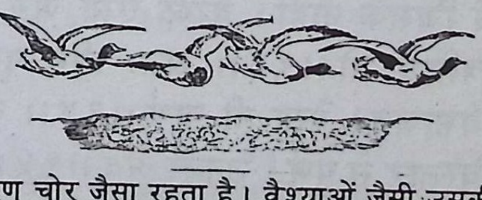

Funding by IKS-MoE

भला हुआ। उससे बैर लिया। जैसे पेय का अपेय किया। लवण ने जैसा।।७५।। चंदनसम शीत पदार्थ। अग्नि में यदि प्रक्षेपित। तत्क्षण होकर प्रदीप्त। होवे अग्निरूप।।७६।। अथवा मिष्टान्न मधुर रसील। शरीर में रहते कुछ काल। होकर रहत केवल। मलरूप जैसा।।७७।। वैसी दूसरों की अच्छाई। अंदर जिसके गई। और विपरीत होकर आई। बाहिर पार्थ।।७८।। गुण सुनकर जो माने दोष। दूध पीकर अशेष। अमृत का करे विष। व्याल जैसा।।७९।। और इहलोक में होवे कीर्ति। होवे परलोक की प्राप्ति। आवे ऐसी उचित कृति-। का अवसर जब।।६८०।। तब उसको निश्चित। घेरत निद्रा अवचित। किंतु दुर्व्यवहार में वही अलिप्त। रहे दूर।।८१।। द्राक्ष आम्र के दिन में पार्थ। वायस को मुखरोग आवत। या दिन में नेत्र फूटत। उलुक के जैसे।।८२।। वैसे कल्याण काल जब आवे। तब आलस उसको खावे। प्रमाद समय में होवे। कहे जो वह।।८३।। समुद्र पेट में किरीटी। जले अखंड अंगिठी। वैसी सदा रहे विषाद स्थिति। मन में जिसकी।।८४।। लेंडी को अग्नि में धूमावधि-। या अपान अंग में दुर्गन्धि। वैसा विषादग्रस्त जीविताविधि। पर्यंत जो।।८५।। कल्पना के उपरान्त। होवे कर्मफल प्राप्त। नये व्यापार का सूत्र डालत। साभिलाष जो।।८६।। अरे! जग के भी विपरीत। इच्छा मन में रखत। करने से न आवे हाथ। तृण भी कभी।।८७।। ऐसा जो समाज में पार्थ। पापपुंज मूर्तिमंत। दिखे जो अव्याहत। तामस कर्ता वह।।८८।। एवं कर्म कर्ता करण। तीनों के त्रिधा चिन्ह। हे सुजन चक्रवर्ती संपूर्ण। दिखाया तुझको।।८९।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु। प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय।।२९।।

अब अविद्या ग्राम में स्थित। मोह का लपेटकर वस्त्र। संदेह के पहनकर पार्थ। आभूषण सब।।६९०।। आत्म निश्चय को शोभा स्पष्ट। दर्पण देखे नखशिखान्त। प्रवृत्ति भी त्रिधा भारत। बुद्धि की वह।।९१।। अरे! सत्वादि गुणों से इन। किसी एकको तीन में विभाजन। न किया ऐसी वस्तु कौन। जग में इस?।।९२।। अग्नि पेट में जिसके नाही। काष्ठ ऐसा जग में कोई। वैसे दृश्यजात में न एकही। न होवे त्रिविध जो।।९३।। अतः तीन गुणों से इन। बुद्धि भयी त्रिगुण। धृति का भी विभाजन। वैसा ही पार्थ।।९४।। वही भेद भिन्न। अलंकृत यथा चिन्ह। कहूं यहां विस्तार से पूर्ण। उनको अब।।९५।। बुद्धि एवं धृति। दो भाग में विभक्त किरीटी। प्रथम रूप करूं सुमति। बुद्धि भेद का।।९६।। तब उत्तम मध्यम निकृष्ट। संसार में हे सुभट। प्राणि को आने के त्रिपथ। जग में इस।।९७।। करणीय काम्य निषिद्ध। वे ये तीनों मार्ग प्रसिद्ध। संसार में होवे बद्ध। इन्हीं से जीव।।९८।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

अतः अधिकार संमत। विधि अनुसार से प्राप्त। वह एक ही श्रेष्ठ। नित्य कर्म।।९९।। वही आत्म प्राप्तिफल-। पर रखकर दृष्टि केवल। जैसे का सेविजे

रहता ॥७५॥ चंदन जैसा शीत पदार्थ अग्नि में डालने से तत्क्षण जलकर अग्निरूप होता है ॥७६॥ मधुर रसीले मिष्ठान्न शरीर में कुछ काल रहने पर जैसे केवल विष्ठा बनती है ॥७७॥ वैसे दूसरों का उत्कर्ष उसके अंतःकरण में प्रविष्ट होने पर वह विपरीत होकर बाहर निकलती है (मत्सर, द्वेष, असूया निंदा के रूप में प्रकट होती है) ॥७८॥ सांप को दूध पिलाने पर वह विष बनता है। तद्वत दूसरे के गुण दोष बनाकर दूसरे को देता है ॥७९॥ जिस कृत्य से इहलोक में सुख प्राप्त होता है। परलोक निश्चित प्राप्त होगा ऐसे भोग्य कर्तव्य का अवसर जब प्राप्त होता है, ॥६८०॥ तब उसको निद्रा अपने आप आती है। दुर्व्यवहार (जुगार, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान आदि) करते समय निद्रा दूर भाग जाती है ॥८१॥ हे पार्थ! द्राक्षरस एवं आम्ररस जब परिपक्व होता है तब कौवे को मुखरोग होता है। दिन में उलूक के नेत्र अंधे होते हैं ॥८२॥ तद्वत कल्याण होने का समय आने पर उसको आलस्य खा जाता है। दुर्व्यवहार करते समय उसके इच्छा के अनुसार कार्य करता है ॥८३॥ समुद्र के उदर में बड़वानल अखंड जलता रहता है। वैसा इसका मन विषाद में जलता रहता है ॥८४॥ बकरी के बोबर का नित्य धुआं निकलता है। अपान वायु से नित्य दुर्गंध रहता है। तद्वत भृत्य पर्यंत वह विषादग्रस्त रहता है ॥८५॥ कल्पना के उपरान्त कर्म प्राप्त होगा। भविष्य में लाभ होगा। इस विचार से नये व्यापार का सूत्र वह डालता है ॥८६॥ अरे! जग के विपरीत इच्छा वह मन में रखता है। ऐसी चिंता करने से तृण भी कभी उसको प्राप्त नहीं होता। (संचित कर्म के अनुसार जितना मिलना चाहिये उतना ही मिलता है) ॥८७॥ हे पार्थ! ऐसा प्रत्यक्ष पाप राशी पुरुष समाज में जब दिखता है तब उसे मूर्तिमंत तामसकर्ता अव्याहत समझना चाहिये ॥८८॥ एवं कर्ता, कर्म, करण, तीनों के गुणभेद के अनुसार, हे सुजन चक्रवर्ती! तीन प्रकार के लक्षण तुम्हें संपूर्ण दिखाये हैं ॥८९॥

अर्जुन! सत्वादि गुणभेद से बुद्धि एवं धृति के तीन प्रकार अब सुनो! त्याग करने को एवं स्वीकार करने को कौन सी बुद्धि एवं धृति योग्य है इसका पृथक संपूर्ण स्वरूप मैं बता रहा हूं। सुनो ॥२९॥

हे पार्थ! अविद्या के ग्राम में मोह का वस्त्र पहनकर संदेह के आभूषण पहनते हैं ॥६९०॥ हे भारत! गुरुपदेश के दर्पण में आत्मनिश्चय शोभा स्पष्ट दिखती है। उस बुद्धि की प्रवृत्ति भी तीन प्रकार की होती है ॥९१॥ इस जग में सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से विभाजन नहीं किया ऐसी कौन सी वस्तु है? जिसके उदर में अग्नि नहीं ऐसी कौन सी लकड़ी है? तद्वत दृश्य पदार्थ एक भी ऐसा नहीं है जो गुणभेद से तीन प्रकार का नहीं होता ॥९३॥ हे पार्थ! अतः बुद्धि भी तीन गुणों से त्रिगुणात्मक हुई है। धृति की भी वैसी भिन्नता है ॥९४॥ वही बुद्धि एवं धृति का स्वरूप जिन लक्षणों से अलंकृत हुआ है, एवं गुणभेद से विस्तृत हुआ है, उसको अब पूर्ण कहूंगा ॥९५॥ बुद्धि एवं धृति इन दोनों में प्रथम बुद्धि के भेद का विवेचन, हे सुमति किरीटी। प्रथम करेंगे ॥९६॥ जन्म लेनेवाले प्रत्येक प्राणि के लिये उत्तम, मध्यम एवं अधम ऐसे तीन मार्ग हैं ॥९७॥ करणीय, काम्य एवं निषिद्ध यह तीनों मार्ग सुप्रसिद्ध हैं। इस संसार में इनसे ही जीव बंधन में पड़ता है ॥९८॥

कर्म मार्ग एवं संन्यास मार्ग, कर्तव्य एवं अकर्तव्य, जन्म मृत्यु का भय, उस भय का अभाव, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि बंधु, उससे तत्त्वज्ञान से प्राप्त मोक्ष, इन सबको बुद्धि जानती है। हे पार्थ! वह सात्विक बुद्धि है ॥३०॥

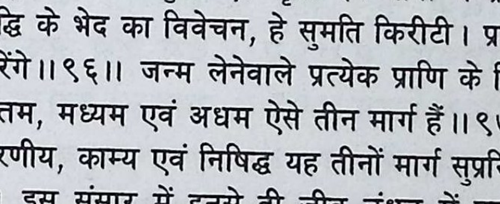

अतः वर्णाश्रम अधिकार से जिसको मान्य किया है। वेद विधि के अनुसार है। वह एकहि नित्य कर्म श्रेष्ठ है ॥९९॥ प्यास लगनेवाले ने जल पीना आवश्यक होता है। वैसे आत्मजिज्ञासु ने नित्यकर्म आत्मप्राप्ति के फलपर ही दृष्टि रखकर करना

Funding by IKS-MoE

जल। तृषार्त ने।।७००।। ऐसी युक्ति से वह कर्म। छुड़ावत जन्मभय से विषम। करावत वही सुगम। मोक्षसिद्धि।।१।। नित्यकर्म जो भला करत। संसारभय से वह छूटत। आचरण से होवे प्राप्त। मुमुक्षुत्व को।।२।। वहां बुद्धि जो ऐसा। करत दृढ़ भरोसा। खड़ा मोक्ष सन्मुख जैसा। पावे निश्चित वह।।३।। नीकी करके प्रवृत्ति को। उभारा जिसने निवृत्ति को। लगाना डुबकी चित्तको। कर्म में ऐसे।।४।। तृषार्त को उदक से जीना। पूर में यदि गिरे तैरना। अंधकूप में गति पाना। सूर्य किरणों से।।५।। पथ्यसहित औषध लेवे। तब रोग जर्जर भी जिये। मीन को आश्रय होवे। जल का यदि।।६।। तब उसका जीवित। निर्भय जानो निश्चित। ऐसे आचरण से प्राप्त। मोक्ष ही उसको।।७।। यह नित्यकर्म करने को। शुद्ध प्रवृत्ति जिस ज्ञान को। और अकरणीय को। जाने स्पष्ट जो।।८।। ऐसे कर्म काम्यादिक। संसार भयदायक। निषिद्धपन का निःशंक। छीटा जिसमें।।९।। अतः जो अकरणीय। जन्ममरण का जिससे भय। प्रवृत्ति के पीछे पाव-। से हटावे शीघ्र।।७१०।। कर न सके प्रवेश अग्नि में। कूद न सके अथाह पानी में। धर न सके हाथों में। धधकता शूल।।११।। कालिया नाग जब फुत्कारत। बामी में न डालना हाथ। न शक्य प्रवेश पार्थ। व्याघ्रगुफा में।।१२।। वैसे कर्म अकरणीय। देखकर महाभय। उपजत निःसंदेह। बुद्धि में जिस।।१३।। पकाकर परोसा विष। मृत्यु वहां अटल गुड़ाकेश। निषिद्ध कर्म से प्राप्त अशेष। बंध जन्ममृत्यु का।।१४।। तब बंधभय की किरीटी। निषिद्ध कर्म से प्राप्ति। विनियोग जाने निवृत्ति। कर्म की जो।।१५।। ऐसी कार्याकार्य विवेकी। जो प्रवृत्ति निवृत्ति नाप की। सच्चा झूठ रत्नपारखी। जाने जैसा।।१६।। वैसी कृत्याकृत्य शुद्धि। जानत जो निरवधि। सात्विक कहिये बुद्धि। वही तुम।।१७।।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

और जैसे बक ग्राम में। क्षीर नीर एकत्रित उसमें। या अंध अहो रात्री में। न जाने भेद।।१८।। पुष्प मकरंद जो सेवत। वही काष्ठ कुरेदत। किंतु न होवे व्यर्थ। भ्रमरपन उसका।।१९।। वैसे जो कार्य अकार्य। धर्माधर्म रूप कौंतेय। न जानकर करत कर्म। बुद्धि जो।।७२०।। बिना परख से मोती। उत्तक की क्वचित ही प्राप्ति। किंतु न मिले सच्चा किरीटी। निश्चित यह।।२१।। वैसे अकरणीय अवचट। न प्राप्त तब ही चूकत। अन्यथा भला बुरा एकवट। माने जो।।२२।। वही चोख विषय में बुद्धि ऐसी। जानो यहां राजसी। आमंत्रित भीड़ जैसी। जनसमुदाय की।।२३।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

और राजा जिस मार्ग से जात। वही आडमार्ग चोरों को होत। या राक्षस को बिन उदित। रात्री में जैसा।।२४।। नाना निदैव को निधान विशेष। भासत काली कोयल की रास। अतः धन रहते अपने पास। वंचित फिर भी वह।।२५।। वैसे अशेष धार्मिक। जिस बुद्धि को लगे पातक। और असत्य जो घातक। माने सत्य जो।।२६।।

चाहिये।।७००।। वही नित्यकर्म जन्ममृत्यु का भय नष्ट करता है। एवं मोक्ष सिद्धि सुगम करा देते हैं।।१।। ऐसे जो कर्म करते हैं वे संसारभय से मुक्त होते हैं। उत्तम प्रकार से नित्य नैमित्तिक कर्म करने से उन्हें मुमुक्षुत्व प्राप्त होता है।।२।। मुमुक्षु की अवस्था में सात्विक बुद्धि स्थिर विश्वास निर्माण करती है। मोक्ष जैसे उसके सम्मुख खड़ा है। उसे वह निश्चित प्राप्त करेगा।।३।। अतः निष्काम कर्म की प्रवृत्ति को करते हुए उसके ऊपर निवृत्ति को-मोक्ष को स्थिर किया। ऐसे कर्म में चित्त डूब जाता है (स्थिर होता है)।।४।। तृषार्त को जल जीवन है। महापूर में गिरने से तैराना बचाता है। अंध कूप में गिरनेपर सूर्य किरण बाहर निकलने के लिए आश्रय है।।५।। पथ्य सहित औषधी लेने से रोगग्रस्त भी जीवित रहता है। मीन को जल ही आश्रय होता है।।६।। तब उसका जीवन निश्चित निर्भय समझना। तद्वत निष्काम बुद्धि से नित्यादि कर्म करने से निश्चित मोक्ष प्राप्त होता है।।७।। नित्य नैमित्तिक कर्म करने के लिए शुद्ध ज्ञानबुद्धि होना चाहिये। अकरणीय कर्म का भी ज्ञान स्पष्ट होना चाहिये।।८।। कामनारहित किये जाने वाले ऐसे कर्म संसार में भय (जन्म, मृत्यु, नरक) देनेवाले हैं। जिसमें निःशंक निषिद्धपन का छीटा है।।९।। जन्म-मृत्यु का जिसमें भय है, ऐसे अकरणीय कर्मों के पीछे पांव हटाना चाहिये। उसमें बुद्धि को प्रवृत्ति नहीं होने देना चाहिये।।७१०।। अग्नि में प्रवेश करते बनता नहीं। अथाह पानी में नहीं कूद सकते। धधकता शूल हाथ में नहीं पकड़ सकते।।११।। जब कालिया नाग फुफ्कारता है तब बामी में हाथ नहीं डालना चाहिये। व्याघ्र की गुफा में हे पार्थ! प्रवेश शक्य नहीं है।।१२।। वैसे अकरणीय कर्म देखकर। जिस बुद्धि में निःसंदेह महाभय उत्पन्न होता है।।१३।। हे गुड़ाकेश! विष पिलाकर पकाया अन्न परसने से वहां मृत्यु अटल है। तद्वत निषिद्ध कर्म में निश्चित जन्म-मृत्यु का बंधन रहता है।।१४।। हे किरीटी! कर्तृत्वादि बंध, जन्म-मृत्यु भय आदि से निषिद्ध कर्म यदि अनिच्छा से या अज्ञान से जब हो जाता है, तब उस पापकर्म के निविृत्ति के लिए प्रायश्चित के विनियोग में जिसकी बुद्धि की प्रवृत्ति होती है।।१५।। ऐसी बुद्धि कार्य का विवेक करनेवाली होती है। जैसा रत्नपारखी सच्चा झूठा रत्न जानता है, वैसी बुद्धि प्रवृत्ति, निवृत्ति का यथार्थ नाप लेती है।।१६।। तद्वत कर्तव्य, अकर्तव्य का निर्णय निरवधिपन से जब बुद्धि जानती है वही बुद्धि तुम सात्विक कहना।।१७।।

बुद्धि के द्वारा धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्य इनको विपरीत रूप से जानता है। हे अर्जुन! वह बुद्धि राजसी होती है।।३१।।

बक के ग्राम में दूध एवं जल का मिश्रन का सेवन किया जाता है। (जहां राजहंस होते हैं वहां जल एवं दूध अलग किया जाता है। यह विवेक है) दिन एवं रात में अंधा भेद नहीं जानता।।१८।। जो फूलों का मकरंद सेवन करता है। वही काष्ठ को कुरेदता है। किन्तु उसका भ्रमरपन व्यर्थ नहीं होता।।१९।। हे कौंतेय! कार्य, अकार्य या धर्म, अधर्म में भेद न जानते हुये बुद्धि जब यथार्थ निर्णय न करते हुए कार्य करती है।।७२०।। हे किरीटी! बिना परख से मोती खरीदने पर उत्तम मौक्तिक की प्राप्ति क्वचित होती है। न मिलना ही निश्चित है।।२१।। वैसे अकरणीय कर्म अकस्मात न किया गया तभी वह अशक्य होता है। अन्यथा कर्तव्य, अकर्तव्य एक जैसे जाने जाते हैं।।२२।। शुद्ध विषयों में ऐसी बुद्धि राजसी समझना चाहिये। जनसमुदाय की भीड़ आमंत्रित की जाती है (वैसे बुद्धि कार्याकार्य का विवेक नहीं जानती) ।।२३।।

जब बुद्धि तमोगुण से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म, एवं सब पदार्थों को विपरीत समझती है। हे अर्जुन! वह तामसी बुद्धि है।।३२।।

राजा जिस मार्ग से जाता है, वह मार्ग चोरों के लिए प्रतिबंधित रहता है। राक्षसों का दिन रात्री में उदित होता है।।२४।। दुर्दैवी मनुष्य को धन का निधि कोयले की राशी दिखती है। धन उसका होते हुए भी वह उस धन से वंचित रहता है।।२५।। तद्वत जितने वेद प्रतिपाद्य धर्म है, वह उस बुद्धि को पाप प्रतीत होता है। सत्य को असत्य समझता है। घातक असत्य को सत्य समझता है।।२६।। जिसमें उत्तम अर्थ है, उसको वह अनर्थ समझता है। सब

जिसमें उत्तम अर्थ। समझत उसको अनर्थ। सद्गुण सब निरर्थ। दोष ही मानें।।२७।। किंबहुना श्रुति ने शिरोधार्य। माना जो सत्कार्य। माने विपरीत अकार्य। बुद्धि जो।।२८।। वह किसी को न पूछे किंचित। कहो बेलाशक तामसी पार्थ। क्या कभी दान धर्मार्थ। उचित रात्री।।२९।। एवं बुद्धि के भेद। तीनों तुझको विशद। निरूपित किये हे स्वबोध-। कुमुद चंद्र को।।७३०।। यह त्रिविधा बुद्धि किरीटी। निश्चय करे कर्म के प्रति। तब होवे वही धृति। त्रिधा वह।।३१।। उस धृति के भी विभाग। तीन यथा लिंग। कहूं तुझको सुरंग। दो अवधान अब।।३२।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

उदित जब दिनकर। चोरी सहित थाके अंधकार। अथवा राजाज्ञा से पापाचार। रुकत जैसा।।३३।। अथवा जब पवन गति। होवे अति शीघ्र किरीटी। गर्जनासहित मेघ निश्चिति। लोपत स्वयम्।।३४।। या होवे अगस्ति का दर्शन। धरे समुद्र तत्काल मौन। चंद्रोदय में सरोजबन। सकुचत जैसे।।३५।। देखो पांव जो उठाया ऊपर। रख न सके मत्त गज भूमि पर। जब सन्मुख आवे गर्जना कर। सिंह यदि।।३६।। वैसा जब धीर। उपजत अंतर में सुवीर। होत मनादिक व्यापार। तक्षण बंद।।३७।। इंद्रिय विषयों की संगत। अपने से छूटत पार्थ। मन माँ के पेट में प्रवेशत। दशही सब।।३८।। अधोर्ध्व गति छोड़कर। नवप्राणों की गठरी बांधकर। छलांग लगावे धनुर्धर। सुषुम्ना में।।३९।। संकल्प विकल्प का वस्त्र। मन होवे खुला उतारकर। बुद्धि पीछे रहकर स्थिर। होवे मौन।।७४०।। ऐसा जो धैर्यराज अर्जुन। इंद्रिया मन और प्राण-। का स्वचेष्टा से संभाषण। करत बंद।।४१।। पश्चात सब एकेक। ध्यान के अंतर कक्ष-। में बंदी करत अशेख। युक्ति से पार्थ।।४२।। किंतु परमात्मा चक्रवर्ती के हाथ। जब तक न उनको सौंपत। तब तक न लेकर रिश्वत। धृति धरत जिनको।।४३।। ऐसी जो धृति प्रबल। वही जानिये सात्विक केवल। कहत वह भक्त कृपाल। अर्जुन को ऐसे।।४४।।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन। प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

स्वयं शरीरी होकर पार्थ। स्वर्ग संसार दो घर में रहत। त्रिवर्गोपाय से सुखसहित। परिपूरित जो।।४५।। वह मनोरथ के सागर-। में धर्मार्थ काम पोतपर। करे कर्म का व्यापार। धैर्यबल से जिस।।४६।। विनियोजत मुद्दल कर्म का। चाहे लाभ चौगुन उसका। उद्यम सहे आयास का। धृति से जिस।।४७।। वह धृति राजस। जानो यहां खास। अब सुनो तामस। तीसरी जो।।४८।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च। न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

लेकर सब अधम गुण। जिनका हुआ निर्माण। कोयला लेकर कालापन। उत्पन्न जैसा।।४९।। जो सामान्य और हीन। उस तम को भी गुणत्व का मान। क्या न कहत संस्कृत में पुण्यजन। राक्षस को भी।।७५०।। देखो ग्रहों में अति जहाल। उसको भी

सद्गुणों को निरर्थक दोष ही वह समझता है।।२७।। किंबहुना श्रुती ने जिसको शिरोधार्य मम्ना है, ऐसे सत्कार्य की वह विपरीत बुद्धि अकार्य समझता है।।२८।। किसी को न पूछते हुए हे पार्थ! उसको बेलाशक तामसी कहो। जिस बुद्धि में धर्म एवं दानादि के प्रति मध्य रात्र है वह अज्ञानी है।।२९।। आत्मबोधरूपी कमल का विकास करनेवाले चंद्ररूपी अर्जुन! तुम्हें बुद्धि के तीन भेद स्पष्ट करके बताये हैं।।७३०।। हे किरीटी! यह तीन प्रकार की बुद्धि कर्म का निश्चय करती है। तब वही तीन प्रकार से धृति होती है।।३१।। उस धृति के तीन भेद हैं। उसको लक्षण सहित कहता हूं। अब अवधान देना।।३२।।

जिस धृति से अव्यभिचारी ध्यानयोग से एवं अव्यभिचारी शास्त्रविहित कर्मयोग से मन, प्राण एवं इंद्रियों की क्रियायें की जाती हैं। शास्त्र विरुद्ध प्रवृत्तिओं से वह नष्ट होती हैं। हे अर्जुन! वह सात्विकी धृति है।।३३।।

सूर्यादय के साथ चौर्य कर्मसहित अंधकार नष्ट होता है। राजाज्ञा से दुर्व्यवहार रुकता है।।३३।। जब वायु की गति तीव्र होती है, तब गर्जना सहित मेघ स्वयं लुप्त होते हैं।।३४।। अगस्त्य ऋषि को देखते ही समुद्र तत्काल मौन धारण करता है। चंद्रोदय होते ही सूर्यविकासी कमलबन संकुचित होते है।।३५।। गर्जना करते हुए सिंह सम्मुख आते ही मदोन्मत्त हाथी ऊपर उठाया हुआ चरण भूमिपर नहीं रखता।।३६।। तद्वत हे सुवीर! अंतःकरण में धैर्य उत्पन्न होते ही मन, बुद्धि, इंद्रियां एवं देह अपना व्यापार तत्क्षण बंद करते हैं।।३७।। हे पार्थ! इंद्रिय विषयों की संगति अपने आप छूट जाती है। दशेंद्रियां अंतर्मुख बनकर मनरूपी माता के उदर में प्रविष्ट होती हैं।।३८।। हे धनुर्धर! अध एवं उर्ध्व गति छोड़कर, अपना, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, इन नव प्राणवायु की गठरी बांधकर सुषुम्ना में छलांग लगाता है।।३९।। संकल्प विकल्प का वस्त्र फेंककर मन उघारा होता है। बुद्धि भी उसके पीछे रहकर स्थिर मौन होती है।।७४०।। हे अर्जुन! ऐसा जो धैर्यराज यम नियम के योग से मन को, आसन, प्राणायाम के योग से प्राण को, प्रत्याहार-धारणा बल से स्वचेष्टा से संभाषण बंद करते हैं।।४१।। हे पार्थ! मन, प्राण एवं इंद्रियां, निःसंग हुए को ध्यान के अंतरकक्ष में सविकल्प समाधि में युक्ति से बंद करते हैं।।४२।। सार्वभौम चक्रवर्ती राजा, परमात्मा उसको जब तक सौंप नहीं देते- अर्थात जब तक निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त नहीं होती है तब तक बाह्य विषयों के उपभोग के लिए मन, प्राण एवं इंद्रियों से रिश्वत न लेते हुए धैर्य से सविकल्प समाधि के घर में धृति उन्हें पकड़कर रखती है।।४३।। ऐसी जो प्रबल धृति है वही केवल सात्विक समझना। भक्तकृपाल श्रीकृष्ण ऐसा अर्जुन को कहते हैं।।४४।।

हे अर्जुन! कर्तृत्ववाभिमान से फल की इच्छा करनेवाले जिस धृति के द्वारा धर्म, काम एवं अर्थ को धारण करते हैं। वह राजसी धृति है।।३४।।

हे पार्थ! देह धारण करनेवाला देह में अहंकार से धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थों की प्राप्ति के मार्ग से स्वर्ग एवं संसार इन दो घरों में रहने की इच्छा करता है।।४५।। वह मनोरथ के सागर में धर्मार्थकाम के जहाज पर धैर्य से कर्म का व्यापार करता है।।४६।। उस व्यापार में पाप पुण्यात्मक कर्म का मूलधन लगाता है। उससे वह चौगुना लाभ की इच्छा करता है। धैर्य से वह कष्ट सहता है।।४७।। वह राजसी धृति है, यह निश्चित जानना। अब तीसरी तामस धृति है उसे सुनो।।४७।।

दुष्टबुद्धि, विचार करने में असमर्थ मनुष्य, निद्रा, भय, इष्ट वियोगजन्य दुःख, इंद्रियों को ग्लानी लानेवाला विषाद, एवं अहंकार को जिस धैर्य से छोड़ता नहीं, वह तामसी धृति है।।३५।।

कोयला काला रंग लेकर ही निर्माण होता है। तद्वत निकृष्ट एवं अधम गुणों से तमोगुण निर्माण हुआ है।।४९।। राक्षस दुष्ट एवं पापी होते हुए उनको संस्कृत में पुण्यजन कहते हैं। तद्वत तमोगुण साधारण एवं हीन हैं। किंतु उसको भी गुणत्व का सम्मान मिला है।।७५०।। सब ग्रहों में मंगल ग्रह अत्यंत तीव्र है। उसको मंगल नाम है। वैसा

कहत मंगल। सामान्य अर्थ से केवल। गुण शब्द वैसा।।५१।। सर्व दोषों का आगार। उस तम का निचोड़कर सार। बनाया जिसका शरीर। ऐसा नर जो।।५२।। दबाकर बगल में आलस को। कभी न छोड़े निद्रा को। पोषण करते जैसे पाप को। हरत न दुःख।।५३।। देह धन पर प्रीति। अतः भय न जाये सदा किरीटी। जैसे पाषाण से काठिण्य अति। न दूर कभी।।५४।। और पदार्थ जात का स्नेंह। अतः शोक का होवे ठँव। यत्न से भी पाप न जाय। कृतघ्न से जैसा।।५५।। और जीव से असंतोष। बांधा जिससे अहर्निश। अतः मित्र किया विशेष। विषाद ने जिसको।।५६।। दुर्गंध रहे लहसुन में। व्याधि अपथ्यशील में। मैत्री मरणपर्यंत उसमें। विषाद से जैसी।।५७।। तारुण्य वित्त काम-। इनका बढ़ावे संभ्रम। अतः मद ने आश्रम। किया वही।।५८।। अग्नि को न छोड़े तापु। प्रतिशोध को जातिवंत सर्पु। या भय जग का रिपु। अखंड जैसे।।५९।। नातर शरीर को काल। न विस्मरत किसी काल। वैसा रहे अटल। तामस में मद।।७६०।। एवं पांचों ये निद्रादिक। तामस के ठई दोष अशेख। जिस धृति ने देख। किये धारण।।६१।। वही जानो पार्था। तामसी धृति सर्वथा। अखिल विश्व का वह पिता। कहत ऐसे।।६२।। ऐसी त्रिविध जो बुद्धि। कर्मनिश्चय करे आदि। धृति उसकी करत सिद्धि। धनंजय।।६३।। सूर्य से मार्ग गोचर होय। और चलत उसी पर पांव। किंतु चलना तो कौन्तेय। धैर्य से ही जैसे।।६४।। वैसे बुद्धि करे कर्मदर्शन। कृति करत इंद्रिय साधन। परंतु उसका कारण। धीरता जैसी।।६५।। सो वह तेरे प्रति। कहीं त्रिविध धृति। इसीसे कर्मत्रय की निष्पत्ति। हुई पार्थ।।६६।। यहां फल जो एक उत्पन्न। सुख जिसको कहत अर्जुन। वह भी त्रिविध जान। कर्मवश।।६७।। तब फलरूप वह सुख। गुणानुरोध से त्रिविध देख। करे विचार उसका चोख। स्पष्ट बोल से।।६८।। किंतु चोखापन वह कैसा। शब्दमार्ग से होवे मलिन जैसा। और श्रवण में कर्ण हस्तका वैसा। लागे मैलही।।६९।। अतः जिसके अव्हेर-। से होवे अवधान भी बाहिर। उस जीव से ही सादर। सुनो तुम।।७७०।। ऐसा कहकर देव। त्रिविध सुख का प्रस्ताव। रखा जो उसका निर्वाह। विशद करत अब।।७१।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

कहत देव सुखत्रय संज्ञा। बतलाई मैंने प्रतिज्ञा-। पूर्वक वही अब प्राज्ञा। सुनो तुम।।७२।। तब सुख वह किरीटि। देखेगी तेरी दृष्टि। जो आत्ममिलन से स्थिति। जीव की होय।।७३।। किंतु मात्रा के नाप से। लेना दिव्यौषधि जैसे। या गिलट का करना रूपा जैसे। रस-भावन से।।७४।। लवण का यदि जल करना। तो उस पर तोय डालना। दो चार बार अर्जुना। धीरे धीरे।।७५।। वैसे प्राप्त जब सुखलेश। बढ़ाना वही अभ्यास। जीवदशा का दुःख विनाश। होवे जिससे।।७६।। वही यहां आत्मसुख। हुआ जो त्रिगुणात्मक। कहूं अब तुझको एकेक। धनुर्धर।।७७।।

Funding by IKS-MoE

सामान्य अर्थ से गुण शब्द केवल कहते हैं।।५१।। सब दोषों का वसती स्थान ऐसे उस तम का सार निचोड़कर जिसका शरीर बनाया वह तामसी समझना।।५२।। बगल में आलस को दबाकर वह निद्रा को नहीं छोड़ता। पाप का पोषण करने से जैसे दुःख छोड़ते नहीं।।५३।। पत्थर जैसे कठिनता कभी नहीं छोड़ता वैसे उसको देह एवं धन की प्रीति रहती है। अतः हे किरीटी! उसका भय कभी नष्ट नहीं होता।।।५४।। कृतघ्न से जैसे पाप नष्ट नहीं किया जाता। वैसे प्रत्येक पदार्थ में आसक्ति रहने के कारण वह दुःख का कारण बनता है।।५५।। वह तमोगुणी मन में रातदिन असंतोषी रहता है। अतः विषाद से उसकी दोस्ती रहती है।।५६।। लहसुन में दुर्गंध रहता है। अपश्यशील में व्याधि रहती है। तद्वत मृत्युपर्यंत उसकी विषाद से मैत्री रहती है।।५७।। तारुण्य द्रव्य विषयभोग इनको नित्य बढ़ावा देता है। अतः अहंकार ने उसको अपना आश्रयस्थान बनाया है।।५८।। अग्नि को उष्णता, जातिवंत सर्प प्रतिशोध को, या विश्व का शत्रु भय को अखंड नहीं छोड़ता।।५९।। कालकी शरीर का विस्मरण किसी काल नहीं होता। वैसा तामस मनुष्य में अटल अहंकार रहता है।।७६०।। निद्रा आदि पांचों ने तामसी मनुष्यों में दोषों को आश्रय लिया है। धृति के द्वारा धारण किए हैं। (भय, शोक, विषाद, मद एवं निद्रा यह पांच तामस गुण हैं)।।६१।। हे पार्थ! वह धृति तामसी समझना। अखिल विश्व का पिता भगवान श्रीकृष्ण ने कहा।।६२।। हे धनंजय! तीन प्रकार की बुद्धि कर्म करने का निश्चय करती है, तब वह तीन प्रकार के धृति से सिद्ध होता है।।६३।। हे कौंतेय! सूर्यप्रकाश में मार्ग दिखाई देता है। चरण चलने का कार्य करते हैं। किन्तु चलने की क्रिया धैर्य से ही होती है।।६४।। वैसे बुद्धि कर्म का प्रकाशन करती है। वह कर्म शरीर, कर्ता, इंद्रिय आदि पांच सामग्री से निर्माण होता है। कर्म निर्मिति के लिए धीरता चाहिये।।६५।। हे पार्थ! तीन प्रकार की धृति तुम्हें बतायी है। इस धृति से सात्विक राजस तामस ऐसे तीन कर्म की उत्पत्ति होती है।।६६।। हे अर्जुन! यहां जो फल निर्माण होता है, जिस फलको सुख कहते हैं, वह कर्म के अनुसार तीन प्रकार का होता है।।६७।। वह फल, रूप, सुख तीन गुणों से तीन प्रकार का हुआ है। अब स्पष्ट शब्दों में उसका विचार करेंगे।।६८।। मेरे शब्दों की शुद्धता कैसी है बताता हूं। शब्द मार्ग से जैसा वह मलिन होगा। मेरे शुद्ध शब्द केवल श्रवण करने से उसको कर्णका-हाथ का मैल लगकर वह मलिन होगा।।६९।। अतः बाह्य अवधान का त्याग करके, आदरपूर्वक अंतर्मुख मन से मेरी वाणी सुनो।।७७०।। ऐसे कहकर भगवान ने तीन प्रकार का सुख बताने का उपक्रम किया। उसको अब स्पष्ट करता हूं।।७१।।

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन! तीन प्रकार का सुख अब सुनो। जिस सुख में मनुष्य ध्यान-श्रवण के अभ्यास से तल्लीन होकर दुःख का नाश करता है।।३६।।

भगवान ने कहा हे बुद्धिमान अर्जुन! तीन प्रकार के सुखों के लक्षण बताता हूं। मैंने ऐसा प्रतिज्ञापूर्वक कहा था। वह अब सुनो।।७२।। हे किरीटी! आत्ममिलन से जीव की जो स्थिति होती है, वह सुख तुम्हें नेत्रों से दिखाऊंगा। अनुभव कराऊंगा।।७३।। दिव्य औषधी विशिष्ट प्रमाण में लेना चाहिये। अथवा रस भावना से गिलट की चांदी बनाते

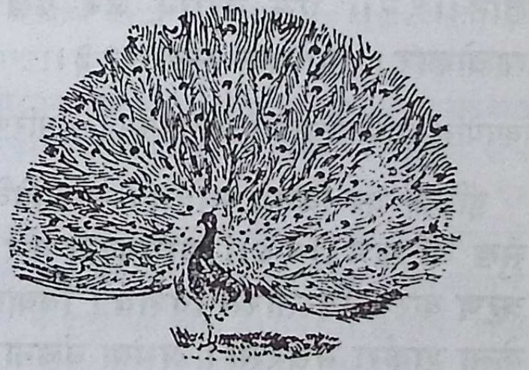

हैं।।७४।। नमक को जलरूप देने के लिए उस पर धीरे-धीरे दो-चार बार बार जल डालना पड़ता है।।७५।। वैसे परमात्म ऐक्य होनेपर प्रारंभ में थोड़ा सुख प्राप्त होता है। उस किंचित् सुख की प्रीति से अभ्यास बढ़ाना चाहिये। इस अवस्था में जीवदशा का दुःख समाप्त होता है।।७६।। वही परमात्म सुख त्रिगुणात्मक हुआ है। हे धनुर्धर! प्रत्येक का अब लक्षण बताता हूं।।७७।।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।। ३७।।

चंदन के तने पर। सर्प रहत भयंकर। अथवा गड़े निधान पर। पिशाच्य जैसे।।७८।। अरे ! स्वर्ग के भोग सुघट। प्राप्ति को कठिन याग संकट। या बालपन का अति बिकट। त्रासकाल।।७९।। अग्नि दीपन की सिद्धि। सहसा धूम आदि। या सेवन करने औषधि। होवे जिव्हा कष्ट।।७८०।। उसीप्रकार पार्थ। करना जिसको सुख प्राप्त। यमदम का भोगना पड़त। समुदाय विषम।।८१।। जलाकर देहादिक की प्रीति। प्रखर वैराग्य अग्नि से किरीटि। स्वर्ग संसार की कांटी। उखाड़त स्वयम्।।८२।। विवेक श्रवण रुक्ष। जहां व्रताचरण कर्कश। करते छेदन अशेष। बुद्ध्यादिक का।।८३।। सुषुम्ना मार्ग से अर्जुन। संचरना प्राण अपना। ऐसे प्रारंभ से ही कठिन। महाकष्ट यहां।।८४।। सारसयुग्म को जो बिछुड़त। स्तन से वत्स को खींचत। पात्र पर से भिखारी को घसीटत। होवे दुःख तब।।८५।। माता के सामने से बालक। काल का ग्रास एकलौता एक। अथवा मीन को उदक। बाहर करत।।८६।। वैसे विषयों का घर। इंद्रियों को छोड़ते समग्र। युगान्तसमं घोर। विराग सहत।।८७।। ऐसा जिस सुख का प्रारंभ। होवे काठिण्यमय क्षोभ। क्षिराब्धि मंथन से लाभ। अमृत का जैसा।।८८।। प्रथम वैराग्य गरल। धैर्य शंभु सम्मुख करे गल। तब ही ज्ञानामृत से सफल। पावेगा सुख।।८९।। द्राक्ष का खट्टापन। अग्निशिखा से असह्य जान। वही परिपक्व जब अर्जुन। मधुर अति।।७९०।। वह वैराग्यादि वैसे। पूर्ण जब आत्मप्रकाश से। वैराग्य सहित नष्ट जैसे। अविद्याजात।।९१।। तब सागर में गंगा जैसी। मीनत आत्मा में बुद्धि वैसी। अद्वयानंद की आपैसी। खुलत खान।।९२।। ऐसे वैराग्य जब प्रखर। होवे आत्मरूप में स्थिर। वही जानिये साचोकार। सात्विक सुख।।९३।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। ३८।।

इंद्रियों का विषय सहित। मेल होवे अति निकट। दोनों तीर छोड़कर उछलत। सुख जो पार्थ।।९४।। अधिकारी करे गांव में प्रवेश। आवे जैसा उत्साह खास। या ऋण करके विस्तारत विशेष। विवाह कार्य।।९५।। या रोगी के जिव्हा को जैसी। केला शर्करा मधुरसी। अथवा बंचनाग की वैसी। मधुरता प्रथम।।९६।। प्रारंभ में साहु-चोर की मैत्री। या बाजारू कलत्र की प्रीति। या लाघविया का किरीटि। विनोद विचित्र।।९७।। वैसे विषयेन्द्रिय दोष से जो सुख। जीव को प्रथम सुखदायक। जैसे धड़के पत्थरपर प्राणघातक। भ्रमित हंस।।९८।। संचित सब नष्ट। जीवित होवे व्यर्थ। सुकृत धन की छूटत। गांठ पार्थ।।९९।। और भुक्त विषय सब ही। स्वप्न जैसे है और नाहीं। खरकना हानी के खाई में ही। शेष पार्थ।।८००।। ऐसा जो ऐहिक सुख। परिणाम जिसका विपत्कारक। परत्र में विषसम बाधक। धनुर्धर।।१।। जो इंद्रियजात का दुलार। करत धर्म उद्यान जलाकर। भोगत

Funding by IKS-MoE

प्रारंभ में विषसदृश कटु किंतु परिणामतः अमृत सदृश रहता है। आत्मविषयक बुद्धि से प्रसन्नतापूर्वक उत्पन्न सुख सात्विक सुख कहलाता है॥३७॥

चंदन के तने पर भयंकर सांप लिपटे रहते हैं। गड़े हुए धन पर जैसे पिशाच्च रहता है॥७७८॥ स्वर्गभोग प्राप्त करने के लिये कठिन यज्ञ याग का संकट रहता है। बाल्यकाल अत्यंक बिकट त्रासदायक काल होता है॥७९॥ दीपक लगाने के लिए धुआं सहना पड़ता है। औषधी का सेवन करना जिव्हा को कष्टप्रद प्रतीत होता है॥७८०॥ हे पार्थ! तद्वत ज्ञान से आत्मसुख प्राप्त करने के लिए मन का निग्रह, इंद्रियों का निग्रह, उपरति, सहिष्णुता, चित्त की एकाग्रता, गुरुवाक्य में विश्वास, इन विषयों का जहां मिलन है, वही आत्मसुख की प्राप्ति होती है। अतः यह कठिन है॥८१॥ हे किरीटी! सब विषय भोग का त्याग करके, प्रखर वैराग्य रूपी अग्नि से स्वर्ग-संसार रूपी कांटेदार बाड़ निकालकर॥८२॥ आत्मानात्म विचार से एवं रुक्ष वेदान्त श्रवण से कठिन व्रतों के आचरण से मन बुद्धि, प्राण, इंद्रियां शिथिल होती हैं। उसके बिना चित्तशुद्धि एवं साधन संपत्ति आत्मसुख के लिये नहीं मिलती॥८३॥ हे अर्जुन! सुषुम्ना के मार्ग से प्राण अपान को संचालित करना पड़ता है। प्रारंभ से ही इस मार्ग में महाकष्ट होते हैं॥८४॥ हे पार्थ! सारस युग्म का (चक्रवाक एवं चक्रवाकी) वियोग कराना, या धेनु के स्तन से वत्स को दूर भगाना, या भूखे भिखारी को घसीटकर भगाना हानीकारक होता है॥८५॥ जैसे माता की गोद से एकलौता बालक मृत्यु ले जाता है, या मत्स्य को जल से बाहर निकालता है॥८६॥ वैसे विषयों को छोड़ते समय इंद्रियों को युगान्त सम प्रतीत होता है। तीव्र वैराग्य से वह सहा जाता है॥८७॥ क्षीरसागर का मंथन करके अंत में जैसे अमृत का लाभ हुआ। वैसे इस सुख का प्रारंभ अत्यंत कठिन है॥८८॥ वैराग्यरूपी विष पान करने के लिए धैर्यरूपी भगवान शंकर अपना कंठ जब प्रस्तुत करेंगे, तब ज्ञानामृत का लाभ होगा॥८९॥ हे अर्जुन! कच्चे द्राक्ष का खट्टापन अग्निशिखा से असह्य प्रतीत होता है। किन्तु वही परिपक्व होने के उपरान्त अत्यंत मधुर होता है॥७९०॥ वैसे वैराग्य आदि साधन अभ्यास से परिपक्व होने पर आत्मज्ञान प्राप्त होता है। उस आत्मज्ञान से वैराग्य के साथ आवरण, विक्षेप सहित अविद्या नष्ट होती है॥९१॥ महासागर में जैसे गंगा समर्पित होती है, तद्वत (महावाक्यजन्म) बुद्धि आत्मस्वरूप में एकरूप होते ही अद्वैयानंद की खदान अपने आप खुल जाती है॥९२॥ इस प्रकार से प्रखर वैराग्य से आत्मरूप में स्थिर होनेवाला सत्य में सात्विक सुख जानिये॥९३॥

विषय एवं इंद्रियों के संयोग से प्रारंभ में अमृतसदृश एवं परिणामतः विषयसदृश प्रतीत होता है वह राजस सुख है॥३८॥

हे पार्थ! विषय एवं इंद्रियों का मेल होते दोनों तीर छोड़कर सुख उछलता है (यह विषयसुख है)॥९४॥ अधिकारी आने से गांव में उत्साह भर जाता है। या ऋण करके धूमधाम से विवाहोत्सव संपन्न किया जाता है॥९५॥ रोगिओं को केला शर्करा सहित खाना अच्छा लगता है (किन्तु रोग बढ़ता है) बचनाग नामक विष खाने में मधुर लगता है। (अंत में मृत्यु होती है)॥९६॥ हे किरीटी! दिखने में सज्जन चोर की दोस्ती प्रारंभ में अच्छी लगती है। या बाजारू वेश्या की प्रीति (धन समाप्त होने पर अपमान कारक) या जादुगरी का प्रयोग केवल मनोरंजन रहता है॥९७॥ जल में दिखनेवाले तारकाओं के प्रतिबिंब रत्न समझकर राजहंस चोंच से पकड़ने जाता है तब उसकी चोंच पत्थर पर पटककर उसे मृत्यु प्राप्त होता है। वैसे विषयेंद्रिय से प्राप्त सुख जीव को प्रथम सुखदायक प्रतीत होता है (अंत में दुःखदायी होता है)॥९८॥ हे पार्थ! प्राप्त धन समाप्त होता है। आरोग्य नष्ट होने से जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है। सुकृत धन (पुण्य संचय) की ग्रंथि छूट जाती है (समाप्त होता है)॥९९॥ अन्य भोग भी स्वप्नसदृश समाप्त होते हैं। (सर्वस्वी हानी होती है) हानी से खाई में गिरे बिना अन्य मार्ग नहीं रहता॥८००॥ हे धनुर्धर! इहलोक का ऐसा सुख अंत में विपत्ति का कारण होता है। परलोक में विष सदृश बाधक होता है॥१॥ हे पंडुकमुर! इंद्रियों के दुलार से धर्म का उद्यान जल जाता है। जब अपार

विषयसुख अपार। पंडुकुमर।।२।। जहां पावत बल। होवे नरक प्राप्ति निखिल। जिस सुख में अपाय केवल। परत्र में ऐसा।।३।। विष का नाम यदि मधुर। किंतु अंत में मारक ही खर। वैसे जो आदि में मधुर। अंत में कटु।।४।। पार्थ वह सुख सर्वथा। जानो बना हुआ रजका। अतः न स्पर्शना उसका। अंग कभी।।५।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

और अपेय के पान से। अखाद्य भोजन से। स्वैर स्त्री संग से। होवे सुख जो।।६।। या औरों को मारकर। नातर परधन अपहारकर। सुख जो उपजत सुवीर। भाट स्तुती से।।७।। जो आलस्य से पुष्ट। जो निद्रा में अनुभूत। निजधर्ममार्ग साद्यंत। विस्मरत जिससे।।८।। वह सुख हे पार्था। तामस जानो सर्वथा। न कहूं बहुत यह कथा। सुख न संभवत जहां।।९।। ऐसे मूल कर्म भेद से। होवे फलसुख भी त्रिधा जैसे। वह यथाशास्त्र वैसे। किया गोचरव तुझको।।८१०।। वह कर्ता, कर्म, कर्मफल। त्रिपुटी यह एकहि केवल। बिन इस न कुछ स्थूल-। सूक्ष्म जग में।।११।। गुंफित पट जैसा तंतुसे। यह त्रिपुटि भी वैसे। ओतप्रोत त्रिगुण से। धनुर्धर।।१२।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

प्रकृति के सत्वादि त्रिगुण। इनका न जिनको बंधन। स्वर्ग पृथ्वी में नहीं अर्जुन। वस्तु ऐसी।।१३।। कम्बल नहीं ऊन बिन। गोला न बने मिट्टी बिन। या न उठत जलबिन। कल्लोल कभी।।१४।। वैसे गुण विरहित। सृष्टिरचना कही घटत। न ऐसा प्राणिजात। सुनिश्चित।।१५।। अतः यह सकल। तीनों गुणों का ही केवल। निर्माण हुआ निखिल। जानो ऐसे।।१६।। त्रिगुण से ही देव होवे। गुण से ही लोक त्रिपुटी पावे। और चतुर्वर्ण को आवे। विभिन्नता जग में।।१७।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

वे ही चारों वर्ण। पूछोगे यदि कौन-कौन। तब उनमें मुख्य ब्राह्मण। धुरंधर।।१८।। इतर क्षत्रिय वैश्यवर्ण। वे भी ब्राह्मण समान। कारण सब विधिविधान-। को योग्य वे।।१९।। चौथा वर्ण शूद्र। जिसको नहीं वेदाधिकार। वृत्ति जिसकी अधीन समग्र। वर्णत्रय के।।८२०।। सेवावृत्ति भाव से पार्थ। ब्राह्मणादिक के आवे निकट। अंतः शूद्र को भी मानत। वर्ण चौथा।।२१।। जैसे पुष्प के सहित। तंतुभी सूंघत श्रीमंत। वैसी द्विजसंग से स्वीकारत। श्रुति शूद्र को।।२२।। ऐसी ऐसी यह पार्था। चतुर्वर्ण की व्यवस्था। करूं कर्ममार्ग का तत्त्वता। रूप अब।।२३।। जिन गुणों से वे वर्ण चार। तजकर जन्म-मृत्यु का फेर। प्रविष्ट होत धनुर्धर। परमेश्वर पद में।।२४।। जिस आत्मप्रकृति से। सत्वादि इन गुणों से। चारों को चतुस्थान में जैसे। बाटा कर्म को।।२५।। पूंजी बाप की पुत्र को। मार्गदर्शन सूर्य का पथिक को। अथवा व्यापार सेवक को। स्वामी का जैसा।।२६।। वैसे प्रकृति के गुण से। कर्म का विस्तार उनसे। किया इन चार वर्ण में जैसे। धनुर्धर।।२७।।

Funding by IKS-MoE

विषय सुख का उपभोग करते हैं (अंत में दुःख प्राप्त होता है)॥२॥ पाप को जहां बल मिलता है वहां निश्चित नर्क प्राप्ति होती है। इस दुख से परलोक में सर्वस्वी अपाय होता है॥३॥ विष नाम मात्र मधुर होता है। परिणामतः मनुष्य को मृत्यु ही देता है। तद्वत प्रारंभ में सुखदायी एवं अंत में यह दुःखदायी होता है॥४॥ हे पार्थ! वह सुख रजोगुणी है। अतः उस सुख का शरीर को स्पर्श नहीं होने देना॥५॥

प्रारंभ में एवं परिणामतः अंतःकरण को मोह निर्माण करनेवाला सुख, निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद से उत्पन्न होनेवाला रहता है। वह तामस सुख है॥३९॥

अपेय पान से (मद्य आदि पीने से) अभक्ष्य भोजन से एवं स्वैर स्त्रीसंग में जो सुख प्राप्त होता है॥६॥ अथवा हे सुवीर! अन्य को मारने से, परधन का अपहार करने से, स्तुति पाठक के वाणी से जो सुख प्राप्त होता है॥७॥ जो आलस्य से बढ़ता है। निद्रा में अनुभव लिया जाता है। स्वयं के धर्म को प्रारंभ से अंत तक भूल जाता है॥८॥ हे पार्थ! वह सुख सर्वथा तामस समझना। जहां सुख की संभावना नहीं है ऐसी यह कथा अब नहीं कहूंगा॥९॥ ऐसे मूलकर्म के भेद से फलरूप सुख भी तीन प्रकार का होता है। उसको यथाशास्त्र मैंने स्पष्ट किया है॥८१०॥ कर्ता, कर्म एवं कर्मफल यह एकहि त्रिपुटी है। स्थूल एवं सूक्ष्म जगत में इसके बिना अन्य कुछ नहीं है॥११॥ हे धनुर्धर! तंतुओं से जैसे वस्त्र बनता है वैसे यह त्रिपुटी तीन गुणों से ओतप्रोत है॥१२॥

पृथ्वी, स्वर्ग एवं देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त है॥४०॥

हे अर्जुन! प्रकृति के सत्त्व आदि त्रिगुणों से जिनको कोई बंधन नहीं ऐसी वस्तु स्वर्ग एवं पृथ्वी पर नहीं है॥१३॥ ऊन के बिना कंबल नहीं बनता। मिट्टी के बिना गोला नहीं बनता। लहरियों को जल के बिना उत्पत्ति स्थान नहीं है॥१४॥ वैसे त्रिगुणविरहित कहीं भी सृष्टि रचना नहीं है। त्रिगुण विरहित कोई प्राणी नहीं है यह सुनिश्चित है॥१५॥ अतः सकल प्राणिजात तीन गुणों से ही निर्माण हुए हैं। इसको जानो॥१६॥ त्रिगुणों से ही देवताओं की निर्मिति हुई है। त्रिगुणों से ही लोगों में त्रिपुटी उत्पन्न होती है। चातुर्वण्य को जग में विभिन्नता आ गयी है॥१७॥

हे शत्रुतापना! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों की वर्ण के अनुसार जो स्वभाव है उसके हेतुभूत गुणों से, स्वभावात्मक निमित्तकारणों से जिनकी उत्पत्ति होती है ऐसे सत्वादि गुणों से कर्म विभाजित होते हैं॥४१॥

वही चार वर्ण कौन से हैं ऐसा यदि पूछोगे तो उसमें हे धनुर्धर! ब्राह्मण प्रमुख है॥१८॥ अन्य क्षत्रिय एवं वैश्य दोनों वर्ण वेदविहित कर्म के अधिकारी हैं। अतः वे भी ब्राह्मणों के समान हैं॥१९॥ चौथा शूद्र वर्ण है। उसको वेदाधिकार नहीं है। किन्तु उसकी वृत्ति तीनों वर्ण के अधीन रहती है॥८२०॥ हे पार्थ! सेवा भाव से तीनों वर्णों के सान्निध्य में रहने से उसको भी चौथा वर्ण कहते हैं॥२१॥ श्रीमान धनी व्यक्ति पुष्प के साथ धागे को भी सूंघते वैसे ब्राह्मणों के साथ शूद्र को भी श्रुती भगवती मान्यता देती है॥२२॥ हे पार्थ! चातुर्वर्ण्य की ऐसी व्यवस्था है। अब कर्म मार्ग का तत्त्वस्वरूप स्पष्ट करूंगा॥२३॥ हे धनुर्धर! जिन गुणों से जन्म मृत्यु का पुनरागमन त्यजकर ईश्वरी भाव में प्रविष्ट होते हैं॥२४॥ आत्मप्रकृति से, सत्वादि गुणों से चारों वर्ण को चार प्रकार के कर्म मानो बांट दिये हैं॥२५॥ पिता ने कमाया हुआ धन पुत्र को बाट दिया जाता है। पथिक को सूर्य का मार्गदर्शन होवे। नौकरों को मालिक विभिन्न कार्य सौंप देता है॥२६॥ हे धनुर्धर! प्रकृति के गुणों ने चारों कर्म का चार वर्णों में विस्तार किया है॥२७॥ हे सुमहिम! वहां सत्वगुण से स्वयं के गौण एवं मुख्य भाग से क्षत्रिय एवं ब्राह्मण वेद विधि के अधिकारी बनाये हैं। केवल सत्वगुण ब्राह्मणों के शांत स्वभाव एवं वैदिक कर्म को हेतु है। रजोगुण की गौणता प्राप्त सत्वगुण क्षात्र गुण संपन्न क्षत्रियों के कर्म का

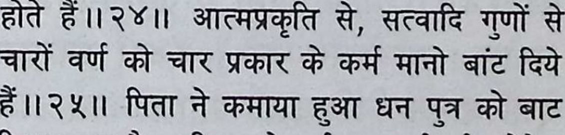

वहां सत्व स्व अंग से स्वयम्। अनुपात से सम विषम। ब्राह्मण क्षत्रिय सुमहिम!। सृजत दोनों॥२८॥ सत्वसहित रजोगुण। उससे उत्पन्न वैश्यवर्ण। रजसहित तमोगुण-। से हुआ शूद्र॥२९॥ ऐसे एक ही जो प्राणिवृंद। उनका चतुर्वर्णधा भेद। त्रिगुण ने ही हे प्रबुद्ध!। किया जानो॥८३०॥ तब स्वतः ने ही रखा जैसे। दिखत सहज दीपाधार से। गुण भिन्न कर्म वैसे। दिखावे शास्त्र॥३१॥ वही अब कौन-कौन। वर्ण विहित का लक्षण। कहूं तुझको करो श्रवण। सौभाग्यनिधि तुम॥३२॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

सर्वेंद्रियों की वृत्ति। लेकर स्वहस्त में किरीटी। बुद्धि आत्मा से मिले एकांती। प्रिया जैसी॥३३॥ बुद्धि का उपरम। उसको संज्ञा शम। वह गुण उपक्रम। कर्म का जिस॥३४॥ और जो बाह्येंद्रिय समूह को। दंडत विधिदंड से उनको। कभी अधर्म पथ को। जाने न दे॥३५॥ ऐसे शम का सहायकर्ता। दम गुण दूजा पार्था। चलावत इंद्रियोंको सर्वथा। स्वधर्म से॥३६॥ छटी के रात में अर्जुना। दीप को न बुझने देना। वैसे ईश्वर को स्मरना। अखंडित॥३७॥ उसका नाम तप। वह तीसरे गुण का रूप। चौथा शौच भी निष्पाप। द्विविध यहां॥३८॥ मन शुद्ध भाव से पूरित। शरीर सत्कर्म से भूषित। ऐसे सबाह्य जीवित। सुंदर जो॥३९॥ उसको नाम शौच पार्था। ब्रह्मकर्म का गुण चौथा। और पृथ्वीसम सर्वथा। सहे सब जो॥८४०॥ सुनो वह क्षमा पांडवा। गुण जहां पांचवा। सप्त सुरों में सुहावा। पंचम जैसा॥४१॥ ओघ यद्यपि वक्र। गंगा ऋजु ही सर्वत्र। ईख कांड में वक्र। मधुरता एक॥४२॥ वैसे विषम भी जीवों से। बरतना उजुकार से। वह आर्जव षष्टम वैसे। गुण जहां का॥४३॥ माली पानी से प्रयत्नपूर्वक। सींचत वृक्षमूल देख। जानत फलप्राप्ति से अशेख। सार्थकता जैसे॥४४॥ शास्त्राचार से पार्थ। ईश्वर ही एक करना प्राप्त। ऐसा जानना निश्चित। यहां ज्ञान वह॥४५॥ ब्रह्मकर्म में वह ज्ञान। सो जान सातवा गुण। और अब देखो विज्ञान-। का रूप जो॥४६॥ सत्व शुद्धि जब होवे पूर्ण। शास्त्र या ध्यान बल से अर्जुन। होवे ईश्वर में विलीन। निष्टंक बुद्धि॥४७॥ ऐसा यह विज्ञान। ब्रह्मकर्म में आठवा गुण। और नवम सो जान। आस्तिक्यभाव॥४८॥ राजमुद्रा प्राप्त जिसको। मान्यता देवे लोक उसको। वैसे स्वीकारत जिस मार्ग को। शास्त्र सब॥४९॥ उस मार्ग का करना आदर। कहत आस्तिक्य उसको सुवीर। कर्म होवे सार्थक समग्र। नवम् गुण से इस॥८५०॥ एवं नव ही शमादिक। गुण जहां निर्दोख। कर्म जानो स्वाभाविक। ब्राह्मण का वह॥५१॥ यह नव गुणों का रत्नाकर। इन नवरत्नों का हार। धारण करे सूर्य निरन्तर। प्रकाश को जैसा॥५२॥ चंपा निजपुष्प से शोभित। चंद्र से चंद्रिका प्रकाशित। स्वयं के सौरम्य से चर्चित। चंदन जैसा॥५३॥ वैसे नव गुण नग। आभूषण ब्राह्मण का अव्यंग। कभी न छोड़त

हेतु है।।२८।। सत्वसहित रजोगुण से वैश्यवर्ण उत्पन्न होता है। रजोगुणसहित तमोगुण से शूद्र उत्पन्न हुए।।२९।। वैसे एकहि प्राणि समुदाय होते हुए उनमें चार प्रकार का भेद होता है। हे प्रबुद्ध! यह भेद त्रिगुण ने किया है।।८३०।। अंधेरे में स्वयं रखी हुई वस्तु दीपक के प्रकाश में दिखती है। तद्वत गुणों से भिन्न कर्म कौन से वर्णन से करना चाहिये यह शास्त्र बताते हैं।।३१।। **कौन से वर्ण को कौनसा** कर्म शास्त्र विहित है, **उसके लक्षण बताता हूं। हे** सौभाग्यनिधि अर्जुन! उसको सुनो।।३२।।

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य यह ब्राह्मणों का स्वाभाविक कर्म है।।४२।।

हे किरीटी! जैसी पत्नी अपने प्रिय पति के साथ एकान्त में समरस होती है, वैसी सब इंद्रियों की वृत्तियां अपने हाथों में लेकर बुद्धि आत्मा के साथ एकरूप होती है।।३३।। इस प्रकार से बुद्धि अंतर्मुखता की संज्ञा शम है। कर्म का प्रारंभ करने के लिए यह गुण हेतुभूत है।।३४।। बाह्य ज्ञानेंद्रिय एवं कर्मेंद्रिय को धर्म दंड से नियंत्रित करके अधर्म के तरफ झुकाव नहीं होने देता।।३५।। शम को मदत करनेवाला दम नामका द्वितीय गुण, हे पार्थ! इंद्रियों को स्वयं के धर्म के अनुसार चलाने को बाध्य करता है।।३६।। हे अर्जुन! नवजात शिशु के जन्मने पर छटी के दिन रात को दीपक बुझने नहीं देना चाहिये। वैसे भगवान का अखंड स्मरण करना चाहिये।।३७।। उसको तप नाम है। यह तीसरा गुण है। चौथा 'शौच' निष्पाप एवं दो प्रकार का है।।३८।। हे पार्थ! मन दैवी संपत्ति के शुद्ध भाव में परिपूर्ण है। देह सत्कर्म से शृंगारित है। ऐसा अंतर्बाह्य सुंदर जीवन है।।३९।। हे पार्थ! उसको शौच नाम है। वह ब्रह्मकर्म का चौथा गुण है। पृथ्वी जैसी सहनशीला है वैसे जो सब सहता है।।८४०।। हे पांडव! अब क्षमा सुनो। यह पांचवा गुण है। जैसे सप्त सुरों में पंचम स्वर अत्यंत मधुर होता है। तद्वत गुणों में अत्यंत महत्व का है।।४१।। प्रवाह चक्र होते हुए भी गंगानदी सर्वत्र सरल ऋजु प्रवाहित होती है। ईख के पोर वक्र होते हुए भी मधुरता एक जैसी होती है।।४२।। विभिन्न स्वभाव के जीवों के साथ व्यवहार करते समय सरल एवं ऋजु बोलने की पद्धति को 'आर्जव' कहते हैं। यह आर्जव कर्म में छटवा गुण है।।४३।। माली जैसे प्रयत्नपूर्वक वृक्षों के जड़ में जल सींचने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह जानता है, उसके कष्ट की कृतार्थता फल में होगी।।४४।। शास्त्रविहित कर्म से चित्तशुद्धि करके अंत में परमात्मतत्त्व प्राप्त करना है। इसको निश्चित समझना 'ज्ञान' है।।४५।। ब्रह्मकर्म में वह ज्ञान सातवा गुण है। अब 'विज्ञान' का स्वरूप देखो।।४६।। हे अर्जुन! चित्तशुद्धि के समय, शास्त्र या ध्यान मार्ग से अखंडाकार बुद्धि परमात्मतत्त्व में निश्चित विलीन होती है।।४७।। यह विज्ञान ब्रह्कर्म में आठवां उत्तम गुणरत्न है। अब आस्तिक्य वनम् गुण जानना।।४८।। राजमुद्रा से अंकित आज्ञा को सब लोग मान्यता देते हैं। वैसे सब शास्त्र जिस मार्ग को स्वीकारते हैं।।४९।। हे सुवीर! उस मार्ग का आदर करना। उसको आस्तिक्य कहते हैं। इस नवम् गुण से ब्रह्मकर्म का सार्थक होता है।।८५०।। शमादिक नवही निर्दोष गुण जहां होते हैं वह ब्राह्मणों का स्वाभाविक कर्म है।।५१।। (ज्ञानदेवजी के विचार से शमादिक गुण है। कर्म नहीं। यह गुण जिनमें होते हैं ऐसे ब्राह्मणों ने किये हुये यज्ञादि कर्म निर्दोष एवं सफल होते हैं) वह ब्राह्मण नव रत्नों का (उपरिनिर्दिष्ट नव गुण) रत्नाकर है। जैसे सूर्य निरंतर प्रकाश धारण करता है, वैसे इन नव गुणरूपी रत्नों का हार ब्राह्मण धारण करता है।।५२।। चंपक वृक्ष चंपक पुष्प से सुशोभित होता है। चंद्र से नित्य चंद्रिका प्रकाशित होती है। स्वयं के सुगंध से चंदन नित्य चर्चित है।।५३।। वैसे शमादि नव गुण रत्न ब्राह्मण के निर्दोष अलंकार होते हैं। वह ब्राह्मण के शरीर को

अंग। ब्राह्मण का वे।।५४।। अब क्षत्रिय को जो उचित। वही कर्म कहूं संक्षिप्त। सुनो बुद्धि सर्वस्व से पार्थ। नीका तुम।।५५।।

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

विश्व यह प्रकाशने को। सहाय न चाहिये सूर्य को। किंवा न अपेक्षित सिंह को। सहायक कोई।।५६।। ऐसा स्वयंभु जो बलिष्ट। सहाय बिन उद्भट। वह शौर्य जहां श्रेष्ठ। प्रथम गुण।।५७।। सूर्य जब प्रकाशित। कोटी नक्षत्र होत लुप्त। किंतु न लोपत चंद्रसहित। नक्षत्र से वह।।५८।। अपने गुण प्रभाव से अद्भुत। सब जग को करे विस्मित। किंतु न करे स्वयं। क्षोभ किंचित। किसी से कभी।।५९।। वह अलौकिक तेजा। जिस कर्म का गुण दूजा। और धैर्य सो जानो तीजा। गुण जहां का।।८६०।। भला टूट पड़े आकाश। बुद्धि के चक्षु मानस-। को न ढ़ांकत ऐसा विशेष। धैर्य जहां।।६१।। पानी कितना भी सखोल। चीर के ऊपर खिलत कमल। ऊंचाई में जीते पदार्थ सकल। आकाश जैसा।।६२।। वैसी विविध अवस्था। प्राप्त जीतकर पार्था। फलरूप मार्ग को सर्वथा। खोजे बुद्धि जो।।६३।। वही दक्षत्व चोख। जहां चौथा गुण देख। और युद्धकौशल अलौकिक। पांचवा गुण वह।।६४।। सूर्य फूल पार्था। सूर्याभिमुख सर्वथा। वैसे शत्रु सम्मुख वीरता-। से धावे जो।।६५।। गर्भवती प्रयत्नपूर्वक जैसी। शय्यासमागम टारे वैसी। रिपु को पीठ न दिखावे तैसी। समरांगण में।।६६।। क्षत्रिय आचार में विशिष्ट। पांचवा गुणेंदु यह प्रशस्त। चारों पुरुषार्थ में श्रेष्ठ। भक्ति जैसी।।६७।। जैसे वृक्ष पुष्प फल। सबको देत सकल। किंवा सुगंध देत कमल। उदारता से।।६८।। अपनी चाहका नाप जितना। चांदनी सुख लेना उतना। याचक के संकल्प से देना। दान जो।।६९।। वह अमर्याद दान। जहां छटवा गुणरत्न। और वेदाज्ञा को एकायतन। होना जो।।८७०।। अपने अवयव को पोषणकर। काम जैसे लेना भरपूर। वैसे प्रेम से जग पालकर। भोगना जो।।७१।। उसको नाम ईश्वरभाव। जो सब सामर्थ्यों का ठाँव। वह सब गुणों का राव। सातवा जहां।।७२।। इसविध जो शौर्यादिक। इन सात गुणोंसहित विशेख। अलंकृत सप्त ऋषियों से देख। आकाश जैसे।।७३।। ऐसा सप्तगुणी विचित्र। कर्म जो जग में पवित्र। वह जानो सहज क्षात्र-। धर्म क्षत्रियों का।।७४।। वह क्षत्रिय नहीं नरु। वह तो साच सुवर्ण का मेरु। अतः स्वर्ग को आधारु। सप्त गुण समुद्र।।७५।। या सप्तगुणार्णव से पार्थ। क्षात्र क्रिया सुंदर वेष्टित। क्रिया न यह पृथ्वी श्रीयुक्त। भोगत वह।।७६।। या सप्तगुण प्रवाह से इन। यह क्रियागंगा जग में अर्जुन। क्षत्रिय महोदधि के अंग में पूर्ण। विलसत जैसे।।७७।। अब बहुत हुआ वर्णन। ये शौर्यादि सप्तगुणात्मक पूर्ण। क्षत्रियों का कर्म जान। नैसर्गिक।।७८।। अब वैश्य जाति-। को उचित कर्म महामती। सुनो तुम सांप्रति। बतलाऊं मैं।।७९।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

Funding by IKS-MoE

कभी छोड़ते नहीं।।५४।। अब क्षत्रिय को उचित कर्म संक्षिप्त कहता हूं। हे पार्थ! बुद्धि सर्वस्व से उत्तम रीति से उसे सुनो।।५५।।

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से विमुख न होना, दान, शासकत्व यह क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है।।४३।।

प्रकाश के लिए सूर्य अन्य सहाय्य की अपेक्षा नहीं करता। या सिंह शिकार करने के लिए अन्य सहायक नहीं चाहता।।५६।। ऐसा जो स्वयंभू शूर है। किसी की सहायता के बिना भव्य उदात्त उद्भट है। वह शौर्य प्रथम श्रेष्ठ गुण है।।५७।। सूर्य के सामर्थ्य से कोटी नक्षत्र लुप्त होते हैं। किन्तु चंद्रसहित कोटी नक्षत्रों से सूर्य लुप्त नहीं होता।।५८।। अपने अलौकिक सामर्थ्य से विश्व को आश्चर्यचकित कर देता है। किन्तु स्वयं किसीसे अस्थिर नहीं होता।।५९।। वह प्रगलभरूप तेज कर्म का दूसरा गुण है। धैर्य उस कर्म का तीसरा गुण है।।८६०।। आकाश टूटकर गिर पड़े। किन्तु मन भयग्रस्त होकर बुद्धि के नेत्र नहीं ढ़ाकता। वह क्षात्रकर्म का धैर्य है।।६१।। अथाह पानी में भी कमल पुष्प जल सतह पर आकर खिलता है। ऊंचाई में आकाश सब पदार्थों से ऊपर रहता है।।६२।। विविध प्रकार की विपन्न अवस्था प्राप्त होने पर भी, हे पार्थ! कुशल बुद्धि दुरवस्था पर मान करके अपेक्षित फल का मार्ग खोजती है।।६३।। वही दक्षता इस कर्म का चौथा गुण है। युद्ध कौशल पांचवा गुण है।।६४।। हे पार्थ! सूर्यफूल के वृक्ष नित्य सूर्य के सम्मुख रहते हैं। तद्वत जो नित्य शत्रुसम्मुख वीरता से दौड़ता है।।६५।। गर्भवती स्त्री प्रयत्नपूर्वक पति सहवास टालती रहती है। युद्ध क्षेत्र में शत्रु को जो पीठ नहीं दिखाता।।६६।। (शरीर नाश व पराजय के भय से युद्ध टालता नहीं) चारों पुरुषार्थ में जैसी भक्ति श्रेष्ठ होती है। तद्वत क्षत्रियों के आचार में यह गुणों का राजा है।।६७।। पुष्प एवं फल देने में वृक्ष नित्य उदार होते हैं। कमल समूह परिमल लुटाने में उदार होते हैं।।६८।। चंद्रिका अपने नाप से चाहे जितनी लूट सकते हैं तद्वत याचकों के इच्छानुसार जो दान देता है।।६९।। यह अमर्याद दान इस कर्म का छटवा गुण रत्न है। एवं वेदाज्ञा को नित्य मान्यता देता है।।८७०।। अपने शरीर स्वस्थ रखकर उसके अमाप कार्य लेना चाहिये। वैसे प्रजा का पालन प्रेम से करके उपभोग लेना चाहिये।।७१।। उसको ईश्वरभाव यह नाम है। वह सब सामर्थ्य का स्थान है। (प्रजा से राजनयिकों का पालन करवाना। एवं अपराधियों को दंड देना यह सामर्थ्य संपन्न सत्ता के बिना राजविधि की कार्यवाही नहीं हो सकती) अतः क्षात्रकर्म का वह सातवा गुण गुणों में राजा है।।७२।। सप्त ऋषियों से जैसे आकाश शोभा पाता है। वैसे इन सातों गुणों से क्षत्रिय को शोभा प्राप्त होती है।।७३।। ऐसा सप्तगुण के विचित्र कर्म इस जग में पवित्र समझे जाते हैं। वह क्षत्रियों का स्वाभाविक क्षात्रधर्म है।।७४।। इन गुणों से संपन्न मनुष्य क्षत्रिय नहीं है, वह तो केवल सत्व गुणरूपी सुवर्ण मेरुपर्वत ही है। वह सप्त गुणरूपी सप्त स्वर्ग को आश्रय स्थान है।।७५।। हे पार्थ! सप्त गुणरूपी सप्त सागरों से परिवेष्टित क्षात्र क्रिया, धनधान्य समृद्ध पृथ्वी है। क्रियारूपी पृथ्वी का उपभोग वह सक्रिय लेता है।।७६।। हे अर्जुन! सप्त गुण प्रवाह से प्रवाहित होनेवाली क्षात्रक्रिया रूपी गंगा क्षत्रिय महासागर में सप्त मुख में (एकरूप होकर) समर्पित होकर शोभा पाती है।।७७।। बहुत वर्णन हुआ है। शौर्यादि गुणों से युक्त कर्म क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है।।७८।। हे महाबुद्धिमान अर्जुन! वैश्यजाती को योग्य एवं शुद्ध क्रियाएं बताता हूं।।७९।।

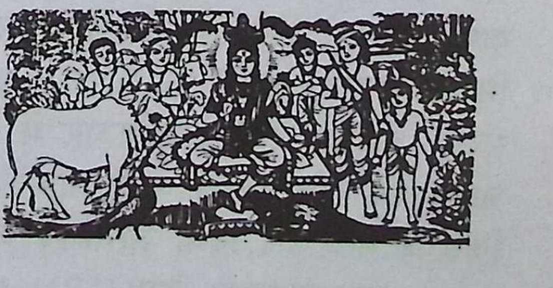

खेती करना, गौरक्षण एवं व्यापार यह वैश्यों का स्वाभाविक कर्म है। शूद्र का सेवारूपी कर्म स्वाभाविक है।।४४।।

सुनो भूमि बीज हल। इस मुद्दल का आधार। लेकर लाभ अपार। उठाना जो।।८८०।। किंबहुना कृषि से जीना। गोधन संवर्धन करना। या सधर्म लेकर बेचना। महर्ध वस्तु।।८१।। ऐसे ये कर्म तीन। वैश्य को करना पालन। यह उनका धर्म पूर्ण। स्वाभाविक।।८२।। और वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण। द्विज जाति के ये तीन वर्ण। इनका जो शुश्रूषण। शूद्र धर्म वह।।८३।। द्विजों की सेवाबिन। कर्म नाही शूद्र को अन्य। किया ऐसा कर्म निरूपण। चतुर्वर्णोचित।।८४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

अब यही कर्म हे विचक्षण!। उचित वर्ण को भिन्न-भिन्न। शब्दादिक विषय ही युक्त जान। कर्णेंद्रिय को जैसे।।८५।। नातर जलदच्युत। पानी को सरिता ही उचित। और सरिता को उचित। स्थान सिंधु ही।।८६।। वैसे कर्मानुसार पार्थ। स्वभाग्य से जो प्राप्त। गोरे अंग को शोभत। गौरवर्ण जैसा।।८७।। वही कर्म स्वभावप्राप्त। आचरण को शास्त्रोक्त। बुद्धि करना सुस्थित। वीरोत्तम तुम।।८८।। अपने लिये रत्न। लेना पारखी से ही अर्जुन। वैसे करना स्वकर्माचरण। शास्त्रविधि से ही।।८९।। अपने ही यदि लोचन। किंतु वस्तु न दिखे दीपबिन। क्या उपयोग मार्ग मिलने बिन। पाव रहकर भी।।८९०।। अतः ज्ञातिवश साचोकार। स्वभाविक जो अधिकार। वह स्वयं यथाशास्त्र गोचर। करना युक्त।।९१।। गृह में ही स्थित निधान। दिखावत दीप नेत्र को अर्जुन। तब लेने में क्या विघ्न। आवे वहां?।।९२।। स्वभाव से जो भाग्य में प्राप्त। और शास्त्र को भी संपत। वह कर्म कहा जो विहित। आचरत जो।।९३।। किंतु आलस छोड़कर। फलका मना तजकर। तन मन धन लगाकर। करे कर्म जो।।९४।। प्रवाह में गिरा पानी। भिन्न गति न उसमें जानी। होवे शास्त्र प्रमाणित से प्राणी। व्ययवस्थित।।९५।। इस प्रकार पार्थ!। करे स्वयं जो कर्म विहित। वैराग्य द्वार में वह स्थिर होत। निकट मोक्ष के जो।।९६।। अकर्म और निषिद्ध। होने न दे इनसे संबंध। अतः भवभय विरुद्ध-। से मुक्त वह।।९७।। ठेंगर चंदन का भी पार्थ। कोई न पांव में डालत। वैसे काम्यकर्म न देखत। कौतुक से भी कभी।।९८।। इतर नित्य कर्म सकल। फलत्याग से किये विफल। अतः मोक्षसीमा निकट सफल। पहुंचे वह।।९९।। इसवधि होते कर्म का निरसन। छूटे शुभाशुभ संसार बंधन। वैराग्य मोक्षद्वार में अर्जुन। होवे खड़ा वह।।९००।। सीमा सकल भाग्य की। निश्चिति मोक्ष लाभ की। समाप्ति कर्म मार्ग की। होवे जहां।।१।। जिसको मोक्षफल दिया जामीन। जो सुकृत तरु का सुमन। उस वैराग्य पर रखे चरण। साधक भ्रमर जैसा।।२।। आत्मज्ञान का सूर्योदय। सूचित करे अरुणोदय। वैसा वह परमवैराग्य। प्राप्त नियत कर्म से।।३।। किंबहुना आत्मज्ञान। जिससे हस्तगत वह निधान। करे धारण वैराग्य दिव्यांजन। जीव से वह।।४।। ऐसे कर्म शास्त्र विहित। पालन करते अव्याहत। मोक्ष की योग्यता पंडुसुत। प्राप्त

हे धनुर्धर! भूमि, बीज एवं हल लेकर उस मूलधन से धान्य से अमर्याद फायदा उठाना।।८८०।। कृषि व्यवसाय में जीवन बिताना। गोधन का संवर्धन करना। स्वस्त वस्तुएं खरीदकर महंगे दर से बेचना यह तीन वैश्यकर्म हैं।।८१।। ऐसे यह तीन कर्म वैश्य को पालन करने पड़ते हैं। यह उनका स्वाभाविक धर्म है।।८२।। वैश्य, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण द्विजन्मा कहलाते हैं। उनकी शुश्रुषा करना शूद्र का धर्म है।।८३।। द्विजों की सेवा किये बिना शूद्र को अन्य कर्म नहीं है। इसप्रकार से चतुर्वर्ण उचित कर्म का निरूपण किया है।।८४।।

अपने-अपने कर्म तत्परता से करनेवाला मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त होता है। स्वकर्तव्य करनेवाले को वैराग्य सिद्धि प्राप्त होती है वह अब सुनो।।४५।।

यह कर्म अलग-अलग वर्ण के लिये योग्य है। जैसे श्रोत्रादि इंद्रियों के ज्ञान को शब्दादि विषय योग्य है।।८५।। मेघ से गिरे हुए जल को नदियां योग्य होती हैं। नदि का समुद्र से मिलन योग्य होता है।।८६।। हे पार्थ ऐसे वर्णाश्रम के अनुसार कर्तव्य, स्वभाग्य से जो प्राप्त होता है वही योग्य होता है। गौर शरींर को गौरवर्ण जैसे स्वाभावित होता है।।८७।। हे वीरोत्तम! जो कर्म स्वाभाविक प्राप्त होता है, वही शास्त्रोक्त आचरण करता है। तुम अपनी बुद्धि स्थिर करो।।८८।। हे अर्जुन! रत्नों की खरीद करते समय पारखी से खरीदना चाहिये। वैसे स्वकर्म का आचरण शास्त्र विधि से करना चाहिये।।८९।। (शास्त्र कर्म का उत्पादक साधन नहीं है। ज्ञापक साधन है। अतः शास्त्र द्वारा ज्ञापन करने के पूर्व कर्म का सूक्ष्म रूप उस वर्ण में अनादि सिद्ध है। शास्त्र के बिना कर्म का स्वरूप समझता नहीं)। अपने ही नेत्र होते हुए भी अंधेरे में दीपक के बिना वस्तु दिखाई नहीं देती। चरण होते हुए भी मार्ग न मिलने पर क्या उपयोग?।।८९०।। अतः वर्णाश्रम के अनुसार सत्य एवं जन्मसिद्ध अधिकार होता है वह किस कर्म में है यह शास्त्रों द्वारा जानना चाहिये।।९१।। हे अर्जुन! दीपक के प्रकाश में घर में स्थित धन जैसा दिखता है। तब उसको लेने में क्या प्रतिबंध हो सकता है।।९२।। वर्णाश्रम के अनुसार प्राप्त स्वाभाविक कर्म शास्त्रद्वारा संमत होता है। वह अपना विहित कर्म समझकर आचरण करना चाहिये।।९३।। आलस्य छोड़कर, फल की इच्छा का त्याग करके शरीर, मन से एवं धन से जो कर्म करता है।।९४।। प्रवाह में गिरा हुआ जल अन्य प्रकार से बहना जानता नहीं। तद्वत शास्त्र प्रामाण्य माननेवाला प्राणि व्यवस्थित शास्त्र युद्ध आचरण करता है।।९५।। हे पार्थ! इस प्रकार से जो स्वयं विहित कर्म करता है वह मोक्ष के पास वैराग्य द्वार में स्थिर होता है,।।९६।। अकरणीय एवं निषिद्ध कर्म करने में वह कभी प्रवृत्त नहीं होता। अतः भव भय से वह मुक्त होता है।।९७।। चंदन का ठेंगर कोई पांव में नहीं डाल लेता। वैसे काम्यकर्म में कौतुहल से प्रवृत्ति नहीं होती।।९८।। अन्य सकल नित्यकर्म फलत्याग से विफल किये हैं। अतः वह अधिकारी मोक्ष की सीमा के पास पहुंचने के लिये योग्य होता है।।९९।। इस प्रकार से कर्म का निरसन होने से शुभ एवं अशुभ कर्म का संसार बंधन छूट जाता है। हे अर्जुन! वह वैराग्य मोक्ष के द्वार में खड़ा हो जाता है।।९००।। वह वैराग्य साधकों के भाग्य की सीमा है। मोक्ष लाभ की निश्चिति है। कर्ममार्ग की समाप्ति होती है।।१।। जिसको मोक्षफल जामीन दिया (तारण दिया) वह पुण्य रूपी वृक्ष का फल है। वैराग्य पुष्प पर साधकरूपी भ्रमर धीरे से चरण रखता है।।२।। आत्मज्ञान सूर्योदय सूचित करनेवाला वह अरुणोदय है ऐसा परम वैराग्य नियत कर्म से प्राप्त होता है।।३।। जिससे आत्मज्ञान का निधि प्राप्त होता है वह वैराग्यरूपी दिव्यांजन वह मनःपूर्वक धारण करता है।।४।। हे पंडुसुत! विहित कर्म के अनुसार, अव्याहत शास्त्रविहित कर्म का आचरण करने से, मोक्ष की योग्यता उसको प्राप्त

उसको ।।५।। यह विहित कर्म। मानो अपना जीव प्राण। यही परमसेवा पूर्ण। मुझ सर्वात्मक की ।।६।। देखो समस्त भोगसहित। प्रिय पति संग पतिव्रता क्रीड़त। जानो उसीका नाम निश्चित। तप उसका ।।७।। बालक को माता बिन। कौनसा और जीवन। अतः उसी की सेवा अर्जुन। परम धर्म उसका ।।८।। पानी समझकर गंगा को। न छोड़कर मीन उसको। सर्वतीर्थ सहवास को। पावन सहज ।।९।। वैसे अपने विहित कर्मबिन। उपाय नहीं कोई अन्य। होवे इस भाव से करते आचरण। भार जगन्नाथ को ।।९१०।। अरे ! जिसका जो विहित। वही ईश्वर का मनोगत। इसलिये करके निभ्रांत। प्राप्त वह ।।११।। दासी राजा को होते मान्य। पावे स्वामिनी की योग्यता अर्जुन। राजकाज को करे शीश अर्पण। पावे पारितोषक वह ।।१२।। पालना स्वामी का मनोभाव। न चूकना परमसेवा कौंतेय। और सब कर्म वह। वाणिज्य केवल ।।१३।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

विहित कर्म का आचरण। वह ईश्वर इच्छा का पालन। जिससे हुआ उत्पन्न। भूतमात्र सब ।।१४।। जो अविद्या का चिथड़ा पार्थ। लपेटकर जीव गुड़िया को संतत। अहंकार रज्जु से नचावत। त्रिगुणात्मक ।।१५।। जिससे जग यह समस्त। अंतर्बाह्य पूर्ण व्याप्त। तेज से भरा ओतप्रोत। दीप जैसा ।।१६।। उस सर्वात्मक ईश्वर-। को स्वकर्म कुसुमों से वीर। पूजा करते होवे अपार। संतोष पार्थ ।।१७।। ऐसी होते स्वकर्मपूजा। संतुष्ट होकर आत्म राजा। प्रसाद वैराग्य सिद्धि का साजा। देवे उसको ।।१८।। जो वैराग्य दशा होवे प्राप्त। लगे ईश्वर का ध्यान भारत !। अन्य सब भोग भासत। वमन सम ।।१९।। प्राणनाथ का होते विरह। होवे विरहिणी को जीवित भी दुःसह। वैसे संसार सुख सब होय। दुःखदायक ।।९२०।। न होवे यदि सम्यक ज्ञान। ध्यान से ही तन्मयता पूर्ण। उपजत ऐसा बोध संपूर्ण। स्वकर्म में ।।२१।। अतः मोक्ष लाभार्थ। मन में उत्कट इच्छा पार्थ। उसने स्वधर्म आस्थासहित। आचरना नीका ।।२२।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

अरे ! अपना यह स्वधर्म। आचरण को यदि विषम। किंतु सोचो उसका परिणाम। अंतिम फल जो ।।२३।। कटुनीम का सेवन। यदि अपना सुख साधन। तब न मानो उसका कटुपन। असह्य तुम ।।२४।। फलने के पूर्व पार्थ। देखो कर्दली तो आस टूटत। ऐसा मैं उखड़त तो कैसा प्राप्त। उत्तम फल उससे ।।२५।। वैसे स्वधर्म आचरण। दुष्कर मानके त्यजा अर्जुन। तब मोक्ष सुख पूर्ण। जानो गया दूर ।।२६।। देखो अपनी माय। कुब्जा यदि होय। प्रेममय उसका हृदय। न वक्त कभी ।।२७।। और दूसरे की माता। माना रंभा से सुंदर पार्था। बालक चित्तको न सर्वथा। भाये वह ।।२८।। अरे ! पानी से बहुत बढ़कर। गुण घी के अंदर। किंतु क्या मीन के लिये

होती है ।।५।। यह विहित कर्म साधकों का अनन्य जीवन है। यही कर्म, मैं सर्वस्वरूप परमेश्वर की श्रेष्ठ सेवा है ।।६।। पतिव्रता स्त्री भोगों के साथ प्रिय पती में समर्पित होती है। वही उसका तप होता है ।।७।। हे अर्जुन! माता के बिना बालक को अन्य कौनसा जीवन है? अतः हे अर्जुन! माताकी सेवा करना बालक का परमधर्म है ।।८।। जल समझकर मत्स्य गंगानदी को नहीं छोड़ता। उसको सर्व तीर्थस्वरूप गंगाजी का सहवास अखंड मिलता है ।।९।। वैसे अपने हित का उपाय समझकर साधकों ने विहित कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। स्वकर्म प्रेमश्रद्धापूर्वक करने से जगन्नाथ भगवान पर भक्त का बोझ होता है ।।९१०।। जिसका जो विहित कर्म होता है वही भगवान की इच्छा समझना चाहिये। विहित कर्म करने से भगवान निश्चित प्राप्त होते हैं ।।११।। हे अर्जुन! दासी राजा को मान्य होते ही स्वामिनी बन जाती है। उसको राज्ञीपद की योग्यता प्राप्त होती है। वैसा शूर सैनिक स्वामी के लिए युद्ध में जब मृत्यु के सम्मुख जाता है तब उसको उसका पारितोषिक निश्चित मिलता है ।।१२।। हे कौंतेय! अतः स्वामी के इच्छा के अनुसार कर्म को न टालते हुये कर्म करना ही परमसेवा है। अन्य सब कर्म स्वार्थ पर वाणिज्य है ।।१३।।

जिससे आकाशादि पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। यह संपूर्ण जगत् जिससे व्याप्त है। उस भगवान की स्ववर्णाश्रमविहित कर्म से पूजन करके मनुष्य वैराग्यसिद्धि प्राप्त करता है ।।४६।।

विहित कर्म करने से भगवान की इच्छा का पालन होता है। उसी भगवान से पंचमहाभूत एवं जीवसृष्टि उत्पन्न हुई है ।।१४।। हे पार्थ! जीवरूपी गुडिया को अज्ञान के चिथड़े लपेटकर त्रिगुणात्मक अहंकार, रस्सी से नचाता है ।।१५।। दीपक जैसा तेज से ओतप्रोत रहता है। वैसे उससे संपूर्ण विश्व अंतर्बाह्य व्याप्त है ।।१६।। हे वीर! उस सर्वस्वरूप ईश्वर की स्वकर्मरूप पुष्पों से पूजन करने से भगवोन को अपार संतोष होता है ।।१७।। उस पूजन से संतुष्ट होकर ईश्वर आत्मराजा विहित कर्म करनेवाले साधक को वैराग्य सिद्धि का प्रसाद देते हैं ।।१८।। हे भारत! वैराग्य अवस्था में भगवद् प्राप्ति की लय लगने से उसको अन्य सब भोग वमन सदृश प्रतीत होते हैं ।।१९।। प्राणप्रिय पति के विरह में सती को अपना जीवन दुःसह प्रतीत होता है। वैसे ईश्वर प्राप्ति की चिंता में सर्व संसार सुख दुःखदायक प्रतीत होता है ।।९२०।। भगवान का आत्मरूप से यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान उदित होने के पूर्व ध्यान से ही पूर्ण तन्मयता प्राप्त होती है। ऐसी ज्ञान की योग्यता स्वकर्म में प्राप्त होती है ।।२१।। हे पार्थ! मोक्ष प्राप्ति की जिनके मन में इच्छा है, उसने स्वधर्म का पालन आस्थापूर्ण उत्तम रीति से करना चाहिये ।।२२।।

उत्तम रीति से अनुष्ठान किये हुए परधर्म से स्वयं का धर्म गुणरहित होते हुए भी श्रेष्ठ होता है। प्रत्येक वर्ण का अधिकार सिद्ध स्वभाव, संस्कारात्मक स्वभाव, एवं त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वभाव, इनसे नियम स्वधर्मरूप कर्म से प्राप्त नहीं होता ।।४७।।

अरे! अपना स्वधर्म आचरण के लिये कठिन होते हअए भी उसके परिणाम का, अंतिम फल का विचार करो। स्वधर्मानुष्ठान से उत्तम फल प्राप्त होगा। उसका परिणाम अच्छा होगा ।।२३।। स्वास्थ्य लाभ के लिए कड़वी नीम का सेवन लाभप्रद होने से उसका सेवन करने में आलस्य नहीं होना चाहिये ।।२४।। फलने से पूर्व केले का वृक्ष केवल पत्ते दिखते हैं। उसको उखाड़ने से सुंदर एवं मधुर फल कहां मिलेंगे? ।।२५।। हे अर्जुन! स्वधर्म का कष्टप्रद आचरण देखकर उसका त्याग करने से मोक्ष सुख दूर गया ऐसा समझना चाहिये ।।२६।। हे पार्थ! अपनी माता यदि कुरूप है किन्तु उसका हृदय प्रेममय रहता है। कभी टेढ़ा नहीं होता ।।२७।। दूजे की माताएं रंभा जैसी सुंदर हैं ऐसा मान लिया, किन्तु बालक को अपनी माता ही पसंद आती है ।।२८।। जल से घी में बहुत गुण होते हैं। किन्तु

सुखकर। होवे वह।।२९।। समस्त जग को जो विष। वह विषकीटक को पीयुष। गुड़ जो सबको मधुर विशेष। मरण उसको।।९३०।। अतः विहित कर्म जो जिसका। पाश टूटे उससे संसार का। यदि कठोर भी पालन उसका। करना वही।।३१।। परधर्म श्रेष्ठ मानकर। करना उसका आचार। पाव का चलना मस्तक से सुवीर। किया जैसा।।३२।। अतः कर्म अपना। जातिस्वभाव से प्राप्त अर्जुना। पालन कर मुक्ति पाना। कर्म बंध से।।३३।। अतः स्वधर्म का स्वीकार। और परधर्म का परिहार। यही नियम धनुर्धर। क्यों न करना?।।३४।। जब तक न होवे आत्मज्ञान। तब तक न छूटे कर्माचरण। और कर्म वहां प्रथम अर्जुन। कष्ट निश्चित।।३५।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमति न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

अतः अशेष कर्म में। आयास यदि आरंभ में। तब कहो स्वधर्माचरण में। दोष क्या?।।३६।। ऋजुमार्ग से चलना। तब पांव ही थकाना। या आडमार्ग से दौड़ना। अर्थ एकही।।३७।। कंकड या कलेवा पार्थ। भार एक ही यथार्थ। किंतु विश्राम में जो उपयुक्त। लीजे वही।।३८।। वैसे तो कण और तूष। कूटने में श्रम सरिस। श्रम रंधन में श्वानमांस। वही हवि में।।३९।। दधि या जल का मंथन। व्यापार एकहि विचक्षण। कोलू में बालू या तिलहन। श्रम समान।।९४०।। नित्य आहुति देना। या पाक को आगी सिलगाना। फूंकते धुआं सहना। आवश्यक ही।।४१।। धर्मपत्नी या बाजारू अर्जुन। खर्च पोषण को समान। तब क्यों दाग अन्याय्यवर्तन-। का लगावे अंग को।।४२।। पीठ में जब लागे वार। न चूके मरण अनिवार। तब क्यों न सामने से प्रहार। शत्रु को कीजे।।४३।। कुलस्त्री जावे पर घर। और डंड़े का खावे मार। तब स्वपति का परिहार। व्यर्थ ही न सब?।।४४।। वैसे कर्म करते स्वेच्छा का। कष्ट न चूकत प्रारब्ध का। तब क्यों विहित कर्म का। माने कष्ट?।।४५।। जिससे प्राप्त अमरत्व। पाने को वह थोड़ासा अमृत। क्यों न करना समर्पित। सर्वस्व अपना।।४६।। क्यों मोल देकर। विष पीना खरीदकर। जहां आत्महत्या का पाप लेकर। मरना निश्चित।।४७।। वैसे इंद्रियों का करके दंडन। बिताकर आयुष्य के दिन। पाप संचय करके क्या दुःख बिन। फल अन्य।।४८।। अतः करना स्वधर्म। जो नष्ट करत श्रम। उचित देगा परम। पुरुषार्थ राज।।४९।। संकट यदि आवे घोर। न बिसारिये सिद्ध मंत्र। वैसा स्वधर्म यदि दुष्कर। न छोड़ो कभी।।९५०।। नौका न छोड़ो उदधि में। दिव्यौषधि महारोग में। विवेक न त्यागो जग में। स्वकर्म पार्थ।।५१।। तब यही हे कपिध्वजा!। करके स्वकर्म की महापूजा। छोड़कर तमरस देवराजा। संतोषत स्वयम्।।५२।। अपने मानस में अर्जुन। बढ़ाकर सत्वगुण। दिखावे कालकूट समान। भवस्वर्ग दोनों।।५३।। वैराग्य यही संसिद्धि। निरूपित तुझको आदि। करावे उसकी उपलब्धि। स्वकर्म पार्थ।।५४।। जीतते वैराग्य भूमि

Funding by IKS-MoE

मत्स्य के लिए क्या वह सुखदायक होगा? ।।२९।। संपूर्ण जग के लिए जो विषप्रद है वह विष कीटक के लिए अमृत सदृश होता है। सबको गुड़ मधुर लगता है। किन्तु विष कीटक की उसमें मृत्यु होती है।।९३०।। अतः जिसका जो विहित कर्म है, उससे उसका संसार बंधन नष्ट होता है। वह विहित कर्म आचरण के लिए कठोर होते हुए भी उसने उसका पालन करना चाहिये।।३१।। हे सुवीर! चलने का कार्य चरणों का होते हुए भी मस्तक से चलने का प्रयास करना। वैसे परधर्म को श्रेष्ठ मानते हुए उसका आचरण करना उचित नहीं है।।३२।। हे अर्जुन! जाति स्वभाव से प्राप्त अपने कर्म का पालन करके कर्मबंध से मुक्ति पाना उचित होता है।।३३।। हे धनुर्धर! स्वधर्म का स्वीकार करना। एवं परधर्म का त्याग करना इस नियम का पालन क्यों नहीं करना चाहिये?।।३४।। हे अर्जुन! जब तक प्रत्यक्ष आत्मज्ञान नहीं होता तब तक कर्म का आचण नहीं छूटता। जहां कर्म है वहां श्रम निश्चित है।।३५।।

अर्जुन! स्वभाविक कर्म सदोष होते हुए भी उसका त्याग नहीं करना! अग्नि धूम्र से आच्छादित रहता है। तद्वत सब कर्म दोष से आच्छादित रहते हैं।।४८।।

कौन से भी कर्म में प्रारंभ में श्रम होते हैं। अतः स्वधर्म में क्या अलग दोष होते हैं?।।३६।। सीधे मार्ग से चलने से चरणों को थकान होती है। आड़मार्ग से दौड़ने से भी पैर ही थकते हैं। (अतः सीधे रास्ते से चलना उचित)।।३७।। पत्थर एवं पाथेय दोनों का मस्तकपर भार ही ढ़ोने पड़ता है। किन्तु हे पार्थ! विश्रामस्थान आने पर कलेवा (पाथेय) उपयुक्त होता है।।३८।। धान्य कण एवं तूष कूटने में श्रम एक जैसे होते हैं। कुत्ते का मांस पकाने में श्रम है वैसे यज्ञीय पुरोड़ास पकाने में भी श्रम होते हैं।।३९।। दधि एवं जल का मंथन दोनों में श्रम एक जैसे हैं। कोल्हू में बालू डालो या तिलहन, समान श्रम होते हैं।।९४०।। आहूति देने के लिये या खाना बनाने के लिये अग्नि सुलगाने से फूंकते हुए धुंवा सहना पड़ता है।।४१।। हे अर्जुन! धर्मपत्नी एवं बाजारू औरत को पोषण का खर्च समान होता है। तब अन्याय वर्तन करके शरीर में दोष क्यों लगाये?।।४२।। युद्ध से पलायन करते हुए शत्रु के वार से पीठ में घाव होता है। तब मृत्यु निश्चित है। अतः शत्रु के सम्मुख खड़े होकर उसको प्रहार क्यों न किया जाये?।।४३।। कुलवती स्त्री जार के घर भी मार ही खाती हो तो पति का घर छोड़ना व्यर्थ हुआ।।४४।। स्वेच्छा के अनुसार कर्म करने पर श्रम करने ही पड़ते हैं। वह प्रारब्ध होता है। विहित कर्म के कष्ट क्यों मानना चाहिये?।।४५।। जिससे अमरतत्व प्राप्त होता है ऐसा अमृत थोड़ासा प्राप्त करने के लिये अपना सर्वस्व समर्पित क्यों नहीं करना चाहिये?।।४६।। पैसे देकर विषपान करने से आत्महत्या का पाप लेकर मृत्यु निश्चित होती है।।४७।। वैसे परधर्माचरण से इंद्रियों को कष्ट देकर आयुष्य के अमोल क्षण व्यय करने से पाप संचय करके दुःख बिना अन्य फल क्या मिलेगा।।४८।। अतः स्वधर्म का आचरण करना चाहिये। उससे साधकों के श्रम नष्ट होते हैं। सब पुरुषार्थों का राजा मोक्ष प्राप्त होता है।।४९।। घोर संकट आने पर भी सिद्ध मंत्र को भूलना नहीं चाहिये वैसा स्वधर्म दुष्कर होने पर भी कभी छोड़ना नहीं चाहिये।।९५०।। हे पार्थ! सागर में नौका का त्याग नहीं करना चाहिये। महारोग में दिव्य औषधी नहीं छोड़ना चाहिये। इस जग में विवेक से स्वकर्म का त्याग नहीं करना चाहिये।।५१।। हे कपिध्वज! स्वकर्म के महापूजन से प्रसन्न हुए भगवान रजोगुण एवं तमोगुण का निःशेष नाश करते हैं।।५२।। हे अर्जुन! अपने मन में सत्वगुण बढ़ाकर स्वर्ग एवं संसार, कालकूट विष के समान त्याज्य है ऐसा दिखता है।।५३।। वैराग्य ही संसिद्धि है। इसका निरूपण पहिले किया है। हे पार्थ! स्वकर्म से उसकी उपलब्धि करना चाहिये।।५४।। हे किरीटी! वैराग्य संसिद्धि पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त उस विरक्त पुरुष की स्थिति कैसी होती है। अनन्तर उसको पूर्णत्व प्राप्ति कैसी होती है, वह अब कहता

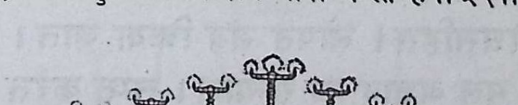

Funding by IKS-MoE

किरीटि। पुरुष की सर्वत्र जो स्थिति। पश्चात लाहे पूर्णत्व प्राप्ति। सो कहूं अब ।।५५।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

तब देहादिक यह संसार से। रचा सब जाल जैसे। न कसे वागुरा से। वायु जैसा ।।५६।। परिपाक के काल। फल को डंठल या डंठल को फल। न धरे वैसा स्नेह सकल। होवे अनासक्त ।।५७।। पुत्र वित्त कलत्र। यदि होवे स्वतंत्र। अपना न कहे पात्र। विष का जैसे ।।५८।। विषयाग्नि में जली पार्थ बुद्धि होकर परावृत्त। पीछे पाव लेकर एकान्त। प्रविष्ट हृदय में ।।५९।। तब दासी स्वामी भय से। अवज्ञा न करे स्वैरपन से। न होवे बुद्धि अंतःकरण प्रभाव से। बहिर्मुख जैसी ।।९६०।। वैसे ऐक्य के मुट्ठि में पार्थ। दृढ़ पकड़कर चित्त। आत्मस्थान में केन्द्रित। करे जो ।।६१।। तब सब स्पृहा दृष्टादृष्ट। संपूर्ण होवे नष्ट। दबाके अग्नि जैसे धूम्र रहत। तैसा पार्थ ।।६२।। नियमबद्ध करत चित्त। वासना नाशत अकस्मात। किंबहुना दशा वासनातीत। प्राप्त उसको ।।६३।। अन्तर का विपरीत ज्ञान। अस्तंगत सर्वथा अर्जुन। उदित होवे सत्यज्ञान। उसके ठँयी ।।६४।। संचित पानी न रहे खर्च से। नष्ट भोग प्राचीन जैसे। और नये क्रियमाण से। न उत्पन्न कुछ ।।६५।। ऐसी कर्मसाध्य दशा। होवे जहां वीरेशा। श्रीगुरु अपने से सहसा। भेटत तब ।।६६।। रात्रि के चारों प्रहर। समाप्त जब तदनंतर। आवे जैसा तमारि भास्कर। चक्षु सम्मुख ।।६७।। पाकर फल का छौर पार्थ। बढ़ना कदली का रुकत। श्री गुरु भेंट बुभुत्सु की रोकत। कर्मगति वैसे ।।६८।। आलिंगत जब पूर्णिमा। कला को छोड़े चन्द्रमा। वैसे होवे वीरोत्तमा। गुरु कृपाबल से ।।६९।। तम अबोध संपूर्ण। गुरुकृपा से नाशत पूर्ण। जैसे निशासहित तम अर्जुन। होवे नष्ट ।।९७०।। कर्ता कर्म कार्य त्रिपुटी। नष्ट अविद्यासहित किरीटि। मारते गर्भिणी निश्चित। मरे गर्भ जैसा ।।७१।। वैसे अबोधसहित। लोपत सब क्रिया जात। ऐसा समूल संभवत। संन्यास यह ।।७२।। इस मूल अज्ञान का संन्यास। लुप्त करत सकल दृश्य। तब जानने को शेष। स्वरूप केवल ।।७३।। जागृत जब तत्क्षण। स्वप्न के उस दह से अर्जुन। खीचने अपने को आपुन। क्या आवश्यक यत्न? ।।७४।। मैं अज्ञानी होगा मुझे ज्ञान। न रहे उसको यह दुःस्वप्न। हुआ ज्ञात श्रेयबिन। चिदाकाश वह ।।७५।। प्रतिबिंबसहित दर्पण। दूर हटाते अर्जुन। दृष्टा दृश्यपन बिन। होवे जैसा ।।७६।। वैसा गया जब अज्ञान। उसने ज्ञान भी किया विलीन। तब शेष क्रियाशून्य। चिन्मात्र ही ।।७७।। स्वभावता ही वहां। नहीं कोई भी क्रिया। अतः प्रवाद उसको धनंजया। नैष्कर्म ऐसा ।।७८।। वह अपना स्वयं स्वतः। मूलरूप होकर रहत। वायुलोप से तरंग होत। समुद्र जैसा ।।७९।। वैसे न होना कोई कर्म। वही नैष्कर्म सिद्धि सुवर्म। सब सिद्धियों में परम। सिद्धि यही ।।९८०।। चढ़ाना देवालय के ऊपर कलश। या गंगा का समुद्र में

हूं।।५५।।

सर्वत्र अनासक्त बुद्धि रखते हुए अंतःकरण को स्वाधीन रखनेवाला, सब विषयों की इच्छा का त्याग करनेवाला, ऐसा पुरुष संन्यास के द्वारा ब्रह्मरूप नैष्कर्म सिद्धि को प्राप्त होता है।।४९।।

निषाद के जाले में जैसे हवा अटकती नहीं। वैसे देह, स्त्री, पुत्र, गृह आदि से संसार में सर्वत्र जाल फैला है वहां साधक फंसता नहीं।।५६।। पक्व फल होने के उपरान्त डंठल फल को, एवं फल डंठल को पकड़ता नहीं। वैसा वह पुरुष सबका स्नेह छोड़कर अनासक्त होता है।।५७।। विषयुक्त पात्र में भोजन करने का आग्रह नहीं किया जाता तद्वत स्त्री, पुत्र एवं वित्त को वह अपना नहीं समझता।।५८।। हे पार्थ! विषयों के आसक्ति में गई बुद्धि परावृत्त होकर पांव पीछे हटाकर हृदय के एकांत में प्रविष्ट होती है।।५९।। स्वामी के भय से जैसी बासी अवज्ञा नहीं करती वैसी बुद्धि अंतःकरण के प्रभाव से बहिर्मुख नहीं होती।।९६०।। हे अर्जुन! एकाग्रता की मूठ्ठी में अंतःकरण दृढ़ पकड़कर जो आत्मस्थान में केंद्रित करता है।।६१।। राख में अग्नि को दबाते ही धुआं रूकता है। तद्वत जब आत्मज्ञान प्राप्त होता है, तब ऐहिक एवं पारत्रिक भोगों की इच्छा नष्ट होती है।।६२।। निग्रहित मन से इच्छाएं अपने आप नष्ट होती हैं। उस साधक को वासनातीत विरागी भूमिका प्राप्त होती है।।६३।। हे अर्जुन! अंतःकरण का विपरीत ज्ञान संपूर्ण नष्ट होकर सम्यक ज्ञान प्राप्त होता है।।६४।। संचिल जल खर्च करने पर समाप्त होता है। तद्वत प्रारब्ध कर्म भोगने से ही समाप्त होता है। पूर्व जन्म का संचित कर्म समाप्त होता है। नया क्रियमाण पापपुण्य की उत्पत्ति नहीं करता।।६५।। हे वीरेश! कर्म की साम्यावस्था जिस ज्ञान में होती है वह ज्ञान प्राप्त कराने के लिए श्रीगुरु अपने आप मिलते हैं।।६६।। रात के चारों प्रहर समाप्त होने पर अंधःकार का नाश करनेवाला सूर्यादय नेत्र के सम्मुख होता है।।६७।। हे पार्थ! फल का छोर कर्दली का बढ़ना जैसे रोकता है, तद्वत पूर्व पुण्य से श्रीगुरु का दर्शन होने पर आत्मज्ञान की इच्छा करनेवाले साधकों की कर्मगति रुकती है।।६८।। हे वीरोत्तम! पूर्णिमा से आलिंगित चंद्रमा जैसा कलाओं की न्यूनता छोड़ देता है। वैसे गुरुकृपाबल से साधक ज्ञान से पूर्ण होता है।।६९।। हे अर्जुन! जैसा रात के साथ अंधेरा समाप्त होता है। वैसे शेष अज्ञान श्री गुरुकृपा से नष्ट होता है।।९७०।। गर्भिणी को मारने से जैसे गर्भस्थ बालक भी मरता है। तद्वत कर्म, कर्ता एवं कार्य की त्रिपुटी, हे किरीटि! अज्ञान सहित समाप्त होती है।।७१।। अज्ञान नष्ट होते ही कर्म की त्रिपुटी नष्ट होती है। ऐसा मूल अज्ञान सहित सर्वकर्म संन्यास का संभव होता है।।७२।। मूल अज्ञान के संन्यास से सकल दृश्य को लुप्त करता है। तब जानने के लिये केवल स्वरूप शेष रहता है।।७३।। स्वप्न में जल के दह में डूब गये ऐसा देखते ही उसी क्षण जागृति आने पर स्वप्न दह से ऊपर निकालने के लिये प्रयास करने की क्या आवश्यकता?।।७४।। मैं अज्ञानी हूं। मुझे ज्ञान होगा। उसका यह ज्ञान अज्ञान का दुःस्वप्न समाप्त होता है। ज्ञातृज्ञेय विहीन केवल चिदाकाश वह बनता है।।७५।। हे अर्जुन! दर्पण को हटाने पर मुख का प्रतिबिंब देखनेवाला दृष्टा दृश्यबिन शेष रहता है।।७६।। तद्वत जब ब्रह्मविषयक अज्ञान नष्ट होता है। तब वह अज्ञान अपने साथ ब्रह्मविषयक वृत्तिज्ञान भी समाप्त करता है। तब अन्त में क्रियाशून्य केवल चिन्मात्र रहता है।।७७।। हे धनंजय! उस ब्रह्मस्वरूप में स्वभावतः कौन सा भी कर्म नहीं होता। अतः उसका नैष्कर्म्य ऐसी संज्ञा है।।७८।। वायु शांत होने पर जैसे समुद्र के तरंग अपने आप लुप्त होते हैं। वैसा अपना मूल स्वरूप ब्रह्मरूप में रहता है।।७९।। तद्वत अपने ब्रह्म स्वरूप में कर्म का अत्यंताभाव जब सिद्ध होता है वही नैष्कर्मसिद्धि है। सब सिद्धिओं में यह सिद्धि स्वभावतः श्रेष्ठ है।।९८०।। देवालय में कलश चढ़ाना। गंगाजी का सागर में समर्पित होना। शुद्ध सुवर्ण बावन कश उतरना। यह अंतिम मर्यादा होती

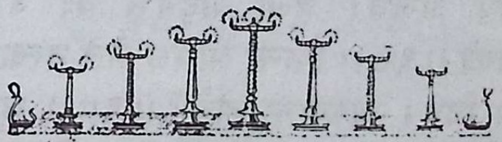

प्रवेश। सोना उतरना बावन कश। अंतिम स्थिति यह।।८१।। वैसे अज्ञान अपना। ज्ञान से ही नष्ट करना। पश्चात वह भी निगलना। ऐसी दशा जो।।८२।। उसके उपरान्त कोई। प्राप्तव्य अन्य नाही। अतः कहिये उसीको ही। परम सिद्धि पार्थ।।८३।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे। समासेनैव कौन्तेय निष्टा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

किन्तु यही आत्मसिद्धि। जो कोई भाग्यनिधि। श्रीगुरुकृपालब्धि-। काल में पावे।।८४।। उदित होते ही दिनकर। प्रकाशरूप होवे अंधेर। या दीपसंग कर्पूर। होवे दीप ही।।८५।। अथवा लवण का कण। मिले पानी में तत्क्षण। पानी ही होवे आपुन। धनंजय।।८६।। किंवा निद्रा से किया जागृत। स्वप्नसहित नींद व्यर्थ। होकर स्वरूप को प्राप्त। होवे जैसा।।८७।। वैसे जिस किसीको दैवसे। त्वरित गुरुवाक्य श्रवण से। द्वैत निगलकर प्राप्त जैसे। आत्मस्थिति स्थिर।।८८।। तब उसने कुछ करना। किसने यह कहना। आकाश का आनाजाना। संभव कैसा?।।८९।। अतः उसको कोई। त्रिशुद्धि कर्म नाहीं। किंतु स्थिति यदि ऐसी ही। प्राप्त न ज़िसको।।९९०।। जहां-जहां सद्‌गुरु मुख से अर्जुन। श्रवण करते ही बोधवचन। ब्रह्मरूप होवे तत्क्षण। विरला ही जानो।।९१।। वैसे स्वकर्म वन्हि में पार्थ। काम्य निषिद्ध ईंधन डालत। रजतम दोनों करत। भस्म प्रथम।।९२।। पुत्रवित्त परलोक। इन तीनों का अभिलाख। जिस गृह में होवे पाईक। धनुर्धर।।९३।। विषयभोग करने स्वच्छंद से। इंद्रिया जो लिप्त पापसे। उनको प्रत्याहार तीर्थोदक से। धोई जिसने।।९४।। और स्वधर्म का फल। ईश्वरार्पण करके सकल। प्राप्त किया अचल। वैराग्यपद।।९५।। आत्म साक्षात्कार की पार्थ। पात्रता ज्ञान की जितनी उपयुक्त। वह संपूर्ण सामग्री प्राप्त। की जिसने।।९६।। और ऐसे समय अर्जुन। हुआ सद्‌गुरु का दर्शन। दिया उन्होंने सम्यग्ज्ञान। अशेष उसको।।९७।। किन्तु औषध लेते तत्क्षण। क्या प्रकृति होवे निरोग पूर्ण। या उदित जब दिन। माध्यान्ह होवे?।।९८।। सुक्षेत्र और सही वृष्टि। बोय बीज भी उत्तम किरीटी। होवे अपार फलप्राप्ति। किन्तु यथावकाश ही।।९९।। मिला मार्ग प्रांजल। हुआ सुसंगत का मेल। किन्तु चाहिये कुछ काल। गंतव्य तक।।१०००।। वैसे हुआ वैराग्य लाभ पार्थ। और सद्‌गुरु भी प्राप्त। हिय में अंकुर प्रस्फुटित। विवेक का।।१।। तब ब्रह्म एक सत्य किरीटि। बाकी सब असत्य भ्रांति। यही दृढ़ प्रतीति। स्थिर अन्तर में।।२।। क़िंतु वही जो परब्रह्म। सर्वात्मक सर्वोत्तम। मोक्ष प्राप्ति का भी काम। न शेष जहां।।३।। साध्य साधक साधन। निगलत जो अवस्था तीन। उस ज्ञान का भी लय पूर्ण। होवे वस्तु में जिस ।।४।। ऐक्य का एकपन नष्ट। आनंद अंश भी न अवशिष्ट। न अन्य शेष केवल बचत। कैवल्य जो।।५।। उस ब्रह्म में ऐक्यपन से। ब्रह्म ही होकर रहत जैसे। वह प्राप्त स्वाधिकार क्रम से। केवल पार्थ।।६।।

Funding by IKS-MoE

है ॥८१॥ तद्वत स्वस्वरूप का अज्ञान निवृत्त करनेवाला ज्ञान भी अंत में संपूर्ण समाप्त होता है। ऐसी यह स्थिति है ॥८२॥ अब इसके उपरान्त प्राप्त करने लायक कुछ शेष नहीं रहता। अतः इस अवस्था को परमसिद्धि कहते हैं ॥८३॥

वैराग्य द्वारा ब्रह्मज्ञान योग्यतारूप सिद्धि प्राप्त अधिकारी जिस प्रकार से ब्रह्मावस्था प्राप्त करता है वह प्रकार संक्षेप में सुनो। वह ज्ञान की परानिष्ठा याने अंतिम मर्यादा है ॥५०॥

जो कोई भाग्य निधि साधक जब श्रीगुरुकृपा प्राप्त करता है, उसको तत्काल यह आत्मसाक्षात्कार सिद्धि प्राप्त होती है ॥८४॥ सूर्योदय होने पर अंधेरा प्रकाश हो जाता है। या दीपक की संगति में कर्पूर दीप बनता है (प्रकाशरूप होता है) ॥८५॥ हे धनंजय! नमक का छोटा कण जल का स्पर्श होते ही जलरूप होता है ॥८६॥ निद्रिस्त प्राणि को जागृत करने के उपरान्त स्वप्नसहित निद्रा व्यर्थ होती है। वह मनुष्य, जागृति में अपने स्वरूप में रहता है ॥८७॥ तद्वत किसी भाग्यशाली साधक को दैवयोग से गुरुवाक्य श्रवण से त्वरित द्वैत नष्ट होकर आत्मस्वरूप में स्थिति स्थिर होती है ॥८८॥ तब उसने कुछ करना, या किसी को कुछ कहना, शेष नहीं रहता। आकाश को आने-जाने की क्रिया संभव नहीं होती ॥८९॥ अतः उसको कोई त्रिशुद्धि कर्म करना शेष नहीं रहता। किन्तु ऐसी स्थिति जिसको प्राप्त नहीं ॥९९०॥ हे अर्जुन जहां सद्गुरु मुख से ज्ञान श्रवण करते ही तत्क्षण ब्रह्मावस्था प्राप्त होती है, ऐसा साधक विरला जानना ॥९१॥ काम्य निषिद्ध के काष्ठ से प्रदीप्त अग्नि में रजोगुण एवं तमोगुण प्रथम जला देना चाहिये ॥९२॥ पुत्र, वित्त एवं पारलौकिक इन तीनों की इच्छाएं जिनके घर में सेवक बनीं है। ऐसी इच्छा का निग्रह जिसने कर लिया है ॥९३॥ हे धनुर्धर! स्वच्छंद विषय भोग से इंद्रियां पापमय हो गयी थीं। उनको प्रत्याहार के तीर्थजल से जिसने धोया है ॥९४॥ एवं स्वधर्म का फल भगवान को समर्पित करके जिसने अचल वैराग्य पद प्राप्त किया ॥९५॥ हे पार्थ! इस प्रकार से आत्मसाक्षात्कार के लिए आवश्यक संपूर्ण सामग्री विवेक ज्ञान की जितनी उपयुक्त पात्रता चाहिये उतनी उसने प्राप्त की ॥९६॥ हे अर्जुन! ऐसी स्थिति में सद्गुरु का दर्शन हुआ। उन्होंने सम्यग्ज्ञान का उपदेश किया ॥९७॥ औषधी लेने पर त्वरित आरोग्य प्राप्ति नहीं होती। प्रातः काल होते ही माध्यान्ह नहीं होता ॥९८॥ हे किरीटी! उत्तम भूमि में उचित समय वृष्टि होनेपर उत्तम बीज बोया। उससे अपार फलप्राप्ति होती है। किन्तु वह यथावकाश होती है ॥ त्वरित नहीं ॥९९॥ मार्ग सरल है। प्रवास में अच्छी संगति का मेल हुआ है। किन्तु गंतव्य तक पहुंचने के लिए कुछ काल चाहिये ॥१०००॥ हे पार्थ! वैसा वैराग्य लाभ हुआ है। सद्गुरु की प्राप्ति हुई है। हृदय में विवेक अंकुरित हुआ है ॥१॥ हे किराटी! एक ब्रह्म ही सत्य है। बाकी सब मिथ्या भ्रांति है। यह दृढ़ प्रतीति हृदय में स्थिर हुई है ॥२॥ वही जो परब्रह्म, जो सर्वात्मक एवं सर्वोत्तम है। मोक्ष प्राप्ति का काम भी जहां शेष नहीं रहता ॥३॥ साध्य साधन एवं साधक

की तीनों अवस्थाएं समाप्त होती हैं। वह ज्ञान भी जिस वस्तु में विलीन होता है ॥४॥ ऐक्य की एकरूपता नष्ट होती है। आनंद का अंश भी शेष नहीं रहता। केवल कैवल्य के बिना कुछ शेष नहीं बचता ॥५॥ उस ब्रह्म में, एकरूपता में जैसे स्वयं ब्रह्म बनकर रहते हैं। हे पार्थ! स्वयं के अधिकार केवल क्रम से प्राप्त होते हैं ॥६॥ भूखे को षड्स भोजन परोसने पर प्रत्येक ग्रास में जैसे उसको तृप्ति

तब क्षुधित सम्मुख विशेष। परोसे जैसे षड्रस। तृप्ति प्रति ग्रास। लाहे जैसी।।७।। वैसे स्नेह डालकर वैराग्य का। दीप वह विवेक का। प्रदीप्त करके निधान आत्मा का। खोजत ही वह।।८।। तब भोगिये आत्मसिद्धि। इतनी योग्यता की सिद्धि। जिसके अंग में निरवधि। प्राप्त पार्थ।।९।। वह जिस क्रम से ब्रह्म। बनना होवे सुगम। उस क्रम का अब मर्म। सुनो कहूं मैं।।१०१०।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।

गुरुदर्शित मार्ग से पार्थ। पहुंचकर विवेक तीर्थतट। बुद्धिका मैल समस्त। धोवे जो।।११।। राहुपाश से मुक्त। प्रभा चंद्र को आलिंगत। शुद्धता से बुद्धि भेटत। आत्मरूप को वैसी।।१२।। छोड़कर दोनों कुल को। अनुसरत कामिनी प्रिया को। निमग्न बुद्धि तजकर द्वंद्व को। आत्मचिंतन में।।१३।। इंद्रियों ने दूर हटाकर। गुह्य वस्तु ज्ञान का निरंतर। शब्दादी को महत्व प्रचुर। दिया पार्थ।।१४।। लुप्त होवे किरणजाल।. अदृश्य होवे मृगजल। किया वृत्ति निरोध से निर्बल। पांचों को वैसे।।१५।। अनजाने अधम गृह का अन्न। सेवन करते करो वमन। वैसे सवासना की वांती अर्जुन। इंद्रिय विषय में।।१६।। प्रत्यगावृत्ति गंगा के चोखट। तीर पर उनको लाकर सुभट। प्रायश्चित्त से शुद्ध पापरहित। किया जिसने।।१७।। पश्चात सात्विक धृति से अर्जुन। शुद्ध कारणों को उन। योगधारणा में समन। लगाया पूर्ण।।१८।। वैसे प्राचीन इष्टानिष्ट। भोग जब प्राप्त। देखकर वहां अनिष्ट। द्वेष न करे।।१९।। अथवा उत्तम भोग कदाचित। आये दैवयोग से सम्मुख पार्थ। उनके लिए न होवत। साभिलाष वह।।१०२०।। इष्टानिष्ट से इस प्रकार। रागद्वेष को छोड़कर। निकुंज या गिरीकंदर-। में वसत जो।।२१।।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

जन कोलाहल से मुक्त। किसी वनस्थली में वसत। एकल स्वअंग अवयव का पार्थ। समुदाय जहां।।२२।। शम दम ही मनोरंजन। न बोले रहे मौन। गुरुवाक्य चिन्तन से विस्मरण। होवे काल का।।२३।। अंग में बल आवे। अथवा क्षुधा जावे। या जिव्हा तृप्त होवे। धनुर्धर।।२४।। भोजन करते समय। इन तीनों न जाने कौन्तेय। मिताहार से संतोष होय। अपार उसको।।२५।। आसन पावक से अर्जुन। होते प्राणशोषण होवे तोषण। इसलिये नित भोजन। करे वह।।२६।। पर पुरुष से अभिलाषित। कुलवधु न अपना अंग देत। वैसे निद्रालस्य से न छोड़त। आसन अपना।।२७।। दंड प्रमाण के अवसर। अंग गिरत भूमिपर। अन्यथा न लेटे शरीर। राभस्य से कभी।।२८।। देह निर्वाह लिये केवल। करे हाथ पांव की हलचल। ऐसा बाह्यांतर सकल। स्वाधीन जिसका।।२९।। और अपनी वृत्ति को। मन के देहलीतक उसको। जाने न दे वाग व्यापार को। तब समय कैसा?।।१०३०।। ऐसे देह वाचा मानस। जीतकर बाह्यप्रदेश। स्वाधीन किया आकाश। ध्यानका पार्थ।।३१।।

प्राप्त होती है।।७।। वैसे वैराग्यरूपी तेल डालकर वह विवेक का दीप प्रदीप्त करके आत्मा का निधान खोजता है।।८।। हे पार्थ! वह आत्मसंपत्ति भोगते हुए अमर्याद अधिकार सिद्धि अलंकाररूप होती है। ब्रह्मरूप साधक को क्रम से यह अधिकार प्राप्त होता है।।९।। जिन सुलभ साधनों के क्रम से ब्रह्मावस्था उसको प्राप्त होती है, उस क्रम का रहस्य तुम्हें अब बताता हूं।।१०१०।।

शुद्ध बुद्धि से युक्त, धैर्य से शरीर, इंद्रियां एवं मन का नियमन करके शब्दादिक विषयों का त्याग करके, राग-द्वेष नष्ट करके वह ब्रह्मावस्था प्राप्त करता है।।५१।।

श्रीगुरु ने बताये हुये मार्ग से कार्याकार्य विवेक के किनारे पर पहुंचकर बुद्धि का मैल जो धोते हैं।।११।। राहू से मुक्त चंद्रमा को आलिंगित उसकी प्रभा शुद्ध होती है। वैसे मल, विक्षेप से युक्त बुद्धि शुद्धता से आत्मरूप को मिलती है।।१२।। दोनों कुल को छोड़कर कन्या पति की इच्छा के अनुसार व्यवहार करती है। तद्वत संसार के सुख दुःख का त्याग करके बुद्धि आत्मचिंतन में निमग्न होती है।।१३।। हे पार्थ! अंतःकरण स्थित ज्ञान जैसी गुप्त वस्तु देह के बाहर ले जाकर सर्वकाल इंद्रियों ने शब्दादि विषयों को अत्यंत महत्व दिया है।।१४।। सूर्यकिरण लुप्त होने पर मृगमरीचिका नष्ट होती है। तद्वत इंद्रिय वृत्तियों के निग्रह से पांच विषयों की स्थिति होती है।।१५।। हे अर्जुन! अज्ञान से नीच जाती का अन्न सेवन करने पर वमन करना चाहिये (ऐसी धर्माज्ञा है) तद्वत साधकों ने इंद्रियों द्वारा अज्ञानवश सेवन किये विषय वासना सहित त्याज्य समझना चाहिये।।१६।। इंद्रियां शुद्ध एवं अंतर्मुख वृत्तिरूपी गंगा किनारे लाकर प्रायश्चित्त से शुद्ध एवं पापरहित जिसने किये हैं।।१७।। मनसहित शुद्ध इंद्रियां सात्विक धैर्य से, हे अर्जुन! योग धारणा में ध्यान में प्रवृत्त किया।।१८।। प्राचीन संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म के रूप में शुभ-अशुभ भोगों के साथ साधकों को प्राप्त होते हैं। उस समय संचित भोगों का द्वेष साधक नहीं करता।।१९।। संचित से उत्तम भोग प्राप्त होने पर उसकी अभिलाषा नहीं रखता।।१०२०।। इस प्रकार से हे अर्जुन! इष्टानिष्ट भोगों के प्रति रागद्वेष छोड़कर पर्वत की गुफा में या निकुंज में वह रहता है।।२१।।

एकान्त में रहनेवाला, मिताहारी, वाणी, शरीर एवं मन का संयम करनेवाला, ध्यान योग निष्ठ, नित्य वैराग्य का आश्रय करनेवाला।।५२।।

जनसंपर्क से दूर अरण्य में वह रहता है। अपने अवयव उसके साथी होते हैं।।२२।। हे पार्थ! शमदम के साथ अरण्य में क्रीड़ा करता है। नित्य मौन रहता है। गुरुपदेश के स्मरण में कितना समय व्यतीत हुआ इसका भान उसे नहीं रहता।।२३।। हे धनुर्धर! शरीर में शक्ति प्राप्त होवे। भोजन से क्षुधा जावे। या रुचिकर अन्न से जिव्हा को तृप्ति प्राप्त होवे।।२४।। हे कौंतेय! इन तीनों को भोजन के समय वह जानता नहीं। मिताहार से उसको अपार संतोष होता है।।२५।। अष्टांग योग साधना करते समय वज्रासन की उष्णता से नष्ट प्राण का पोषण होगा इसलिये वह थोड़ा भोजन करता है।।२६।। कुलवती स्त्री परपुरुष को मान्यता नहीं देती तद्वत निद्रा एवं आलस्य से वह आसन नहीं छोड़ता।।२७।। दण्डवत प्रणाम करने के समय भूमि को शरीर का स्पर्श होता है। अन्य स्थान पर लेटे रहने का अविचार वह नहीं करता।।२८।। देह के उपजीविका के लिए आवश्यक उतना ही व्यवहार हाथ पैर करते हैं। बाह्य शरीर के साथ मन भी उसने स्वाधीन किया है।।२९।। अपनी वृत्तियों को मन की देहली तक जाने नहीं देता। वहां वाणी के व्यवहार के लिये समय कहां?।।१०३०।। हे पार्थ! शरीर, वाणी एवं मन के बाह्य प्रदेश जीतकर साधक ध्यान का आकाश स्वाधीन करते हैं।।३१।। हाथ में दर्पण लेने से अपना प्रतिबिंब देख सकते हैं। तद्वत गुरुवाक्य से जागृत ज्ञान में सोऽहं भाव

गुरुवाक्य से जागृत। सोऽहं बोधसे निश्चित। हस्तगत दर्पण में निहारत। स्वरूप जैसे।।३२।। ध्याता स्वयं पार्थ। ध्यानरूप वृत्ति में स्थित। ध्येयत्व में अपने को स्वीकारत। पद्धति ध्यान की ऐसी।।३३।। वहां ध्येय ध्यान ध्याता। इन तीनों की एकरूपता। जब तक होवे पंडुसुता। कीजे वह।।३४।। अतः वह मुमुक्षु। आत्मज्ञान में हुवा दक्षु। लिया योगाभ्यास का पक्षु। धनुर्धर।।३५।। गुदशिश्न दो अपानरंध्र। मध्य में पार्ष्णी गड़ाकर। साधंत सीम दबाकर। मूलबंध।।३६।। आकुंचन करके अध। लगाकर तीनों बंध। करे सब एक विंध। वायुभेद।।३७।। कुंडलिनी जगाकर। सुषुम्ना विकसित कर। आधार चक्रादि भेदकर। आज्ञापर्यंत।।३८।। सहस्त्र दल मेघ से अर्जुन। पीयूष का करे सिंचन। लाकर ओघ पूर्ण। मूलाधारपर्यंत।।३९।। अग्निचक्र पुण्यगिरी पर। नाचत चिद्भैरव खप्पर-। में मनपवन की परोसकर। खिचड़ी पार्थ।।१०४०।। ऐसा योगाभ्यास बलिष्ट। समुदाय आगे करके सुभट। पश्चिम मार्ग से ध्यान निश्चित। स्वयंभु करत।।४१।। दोनों योग और ध्यान। इनको आत्मज्ञान में निर्विघ्न। स्थिर होने अर्जुन। पहले ही उसने।।४२।। वीतराग सम नीका। प्राप्त किया सखा। वह अशेष भूमिका-। संग चलत।।४३।। देखना जो दिखतपर्यंत। दृष्टि को ही दीप न छोड़त। तब क्या देर लगत। दिखने को।।४४।। जैसे मोक्षमार्ग में जो प्रवृत्त। जब तक ब्रह्म में वृत्ति न लोपत। तब तक यदि वैराग्य साथ। फिर बाधा कैसी?।।४५।। अतः सवैराग्य। ज्ञानाभ्यास जो सभाग्य। इसलिये हुआ वह योग्य। आत्मलाभ के।।४६।। ऐसे वैराग्य का निरन्तर। वज्रकवच चढ़ाकर अंग पर। हुआ राजयोग तुरंग पर। सवार वह।।४७।। तब जो-जो दृष्टि देखत। छेड़ा बड़ा निरास करत। दृढ़ मुट्ठी में धरत। ध्यान खड्ग।।४८।। इसविध संसार रणभीतर। सूर्य जैसे अंधेरे में समग्र। मोक्षविजयश्री का वर। होवे पार्थ।।४९।।

अहंकार बलं दर्प कामं क्रोधं परिग्रहम। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

वहां आये जो आड़। दोष वैरी सो दिये पछाड़। उनमें प्रथम वैरी दृढ़। देहाहंकार।।१०५०।। मुक्त न करे मारकर। जीने न दे जन्मदेकर। कष्ट देवे पुनः पुनः डालकर। देह अस्थि खोड़े में।।५१।। उसका देहदुर्ग आश्रय। फोड़कर जीता वह। और बल दूजा कौन्तेय। मारा वैरी।।५२।। जो विषयोभोग के नाम से। चौगुना बढ़े उनसे। लावे निकट मृतावस्था जैसे। समस्त जगको।।५३।। वह विषय विष का दह। अशेष दोषों का राव। किंतु ध्यान खड्ग का घाव। सहे कैसा?।।५४।। और प्रिय विषयप्राप्ति। करे जिस सुख की अभिव्यक्ति। वही खोल पहनकर किरीटी। गर्जत वह।।५५।। सन्मार्ग को भुलावत। अधर्म बनमें करावे प्रविष्ट। नरकादि बाघ से जखड़त। पंजेमें जो।।५६।। विश्वास देकर मारक। जो रिपु। मार दिया वह दर्पु। और नाम से जिसके छूटत कंपु। तापसों को भी।।५७।। क्रोध जैसा महादोख। देखा

निश्चित होता है।।३२।। हे पार्थ! ध्यान करनेवाला साधक ध्यानात्मक वृत्ति में स्वयं को ध्येयरूप में स्वीकारता है। स्वयं ध्याता एवं स्वयं ध्येय बनकर अभेद ध्यान करने की यह पद्धति है।।३३।। हे पंडुसुत! वहां वह अभेदात्मक ध्यान, ध्येय, ध्याता इन तीनों की एकरूपता होने तक ध्यान किया जाता है।।३४।। हे धनुर्धर! वह मुमुक्षुसाधक आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास करता है।।३५।। गुद एवं शिश्न इन दो अपान रंध्र में सीम दबाकर वज्रासन से मूलबंध लगाता है। तब बायें एड़ी से सीम दबाना पड़ती है।।३६।। नाभि को आकुंचित करके उड्डियान, जालंधर एवं मूलबंध (अनुक्रम से नाभि, हनु, सीम) लगाकर शरीर के प्राणापानदि सब वायु प्राणायाम से एकरूप किये जाते हैं।।३७।। कुंडलिनी को जागृत करके, सुषुम्ना में उसको पहुंचाकर, मूलाधार चक्र से स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा चक्रपर्यंत एक-एक चक्र का क्रम से भेद करके।।३८।। हे अर्जुन! ब्रह्मरंध्र में सहस्त्र दल मेघ से सतराहवीं अमृतकला से अमृत सींचन करके, वह अमृत प्रवाह मूलाधार पर्यंत लाया जाता है।।३९।। षट्चक्ररूपी पुण्य पर्वत पर नृत्य करनेवाले चैतन्यरूपी भैरव के खप्पर के पात्र में हे पार्थ! मन एवं प्राणवायु की खिचड़ी परोसकर।।१०४०।। हे सुभट! योगाभ्यास के कष्ट बलपूर्वक करते हुये पश्चिम मार्ग से स्वयंभु ध्यान निश्चित स्थिर होता है।।४१।। ध्यानयोग एवं अष्टांगयोग आत्मतत्त्व ज्ञान में निर्विघ्नता से स्थिर होने के लिए उस साधक ने पहले ही।।४२।। वैराग्यसदृश उत्तम मित्र प्राप्त किया था। योग मार्ग में वह सब भूमिकाओं में (ऋद्धि सिद्धयोंका विघ्न निवारण करते हुए) साथ चलता है।।४३।। जो देखना है उसको देखने के समय तक दृष्टि की दीप छोड़ता नहीं। साथ देता है। तब दिखने के लिए क्या देर लगेगी।।४४।। मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर वृत्ति ब्रह्म में लीन होने के समय तक वैराग्य जब साथ देता है। तब साधना में विषयासक्ति का विक्षेप भंग कैसा होगा?।।४५।। अतः वैराग्य के साथ ज्ञान साधनों का अभ्यास करके आत्मप्राप्ति का योग्य अधिकारी बना है। ऐसा साधक भाग्यवान होता है।।।४६।। वैराग्य का वज्रकवच शरीर पर निरन्तर चढ़ाकर जो राजयोगरूपी घोड़ेपर वह सवार हुआ।।४७।। जो दृश्य, दृष्टि देखती है वह छोटे बड़े सबका निरास करते हुए ध्यान खड्ग मुट्ठी में दृढ़ धरता है।।४८।। सूर्य जैसा अंधेरे में निर्भयता से जाता है। तद्वत संसार पर विजय प्राप्त करके मोक्ष रूपी विजयश्री का पति होने के लिए संसाररूपी युद्ध क्षेत्र में निर्भयता से जाता है।।४९।।

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह को छोड़कर स्त्री पुत्रादि में ममत्व रहित शांत साधक् ब्रह्मभाव धारण करने योग्य होता है।।५३।।

मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये मार्ग में बाधा करने के लिये जो दोषरूपी शत्रु आये, उनको पछाड़ दिया। उनमें प्रथम वैरी देह का अहंकार है।।१०५०।। वह देहाहंकार एकबार मारने से छोड़ता नहीं। जन्म देने पर जीने नहीं देता। पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु के फेरे कराकर देहरूपी हड्डियों के खोड़े में बद्ध करके जीव को कष्ट देता है।।५१।। हे कौंतेय अहंकार का आश्रय जो देहरूपी दुर्ग पर विजय प्राप्त करके बलरूपी दूसरे शत्रु को मार डाला।।५२।। विषय नामक भोग्य वस्तुओं की जग में जितनी संख्या है, उससे चौगुना भोग की इच्छा से वह बलरूपी शत्रु बढ़ता है।। प्राणि को भोग बल से रोग होकर जग को मृतावस्था निकट आती है।।५३।। वह बलरूपी शत्रु विषका अगाध दह एवं सब दोषों का राजा है। ऐसा बलाढ्य शत्रु ध्यानरूपी खड्ग के घाव कैसा सह सकेगा?।।५४।। हे किरीटी! अनुकूल विषयों की प्राप्ति जिस सुख की अभिव्यक्ति करता है उस सुख का आवरण पहनकर अहंकार से गर्जना करता है।।५५।। जो सन्मार्ग को भुलाता है। अधर्म के अरण्य में प्रविष्ट कराता है। नरकादि व्याघ्र के पंजे में जो जखड़ता है।।५६।। ऐसे विश्वास दिलाकर जीव को मारनेवाला, दर्परूपी शत्रु को मार डाला। काम का नाम लेते ही तपस्वी को कंप छूटता है।।५७।। क्रोध जैसा महादोष, उसका परिणाम है। वह काम अनेक विषयोपभोग

जिसका परिपाक। और भोग अधिकाधिक-। से रीता ही जो ।। ५८।। वह कामशस्त्र भयंकर। निःशेष नष्ट किया सुवीर। वैसे क्रोध का भी संहार। हुआ सहज ।। ५९।। जैसे उखड़ते मूल। शाखा सूखत सकल। वैसे काम करते निर्मूल। नाशत क्रोध ।।१०६०।। अतः काम बैरी पार्थ। हुआ जहां नष्ट। आना-जाना बंद होत। क्रोध का भी ।। ६१।। समर्थ डालकर डेंगर जैसा। लादे सिर पर बोझ वैसा। भोगवत जीव को तैसा। परिग्रह बली ।। ६२।। माथे पर पगड़ी सा सवार। अंगरखा अवगुण का पहिनकर। हाथ में जीव के पकड़ाकर। लाठी ममत्व की ।। ६३।। शिष्य शास्त्रादि विलास से। मठादि मुद्रा के मिष से। डालत फांस जैसे। निःसंग को ।। ६४।। होवे कुटुंब संसार का त्याग। करे बन्य पदार्थ का बन में भोग। ऐसे दिगंबर को भी लाग। जिसका पार्थ ।। ६५।। ऐसा दुर्जय जो परिग्रह। उसका तोड़कर ठांव। भवविजय का उत्साह। भोगत जो ।। ६६।। वहां अमानित्वादि सकल। ज्ञानगुणों का जो मंडल। आवत सब भूपाल। कैवल्य देश के ।। ६७।। और सम्यग्ज्ञान का आधिपत्य। मानकर उसको सत्य। पारिवारिक बनकर नित्य। रहत स्वयम् ।। ६८।। प्रवृत्ति राजपथ पर। अवस्था भय प्रमदाओं से सुंदर। निजसुख करत निछावर। प्रतिपल जो ।। ६९।। आगे विवेक लेकर बोध यष्टि। हटावत दृश्य दर्शकों की भीड़ किरीटी। आवे योगभूमिका करने आरती। सम्मुख जैसी ।।१०७०।। वहां ऋद्धि सिद्धि के अनेक। समुदाय एकत्रित देख। उस पुष्पवर्षा से विशेख। नहात वह ।।१०७१।। ऐसे ब्रह्मैक्य सरिस पार्थ। स्वराज्य जब आवे निकट। हर्ष भरसे उमड़त। तीनों लोक ।। ७२।। जब साम्यता प्राप्त। मेरा यह बैरी या मित्र। न शेष ऐसा द्वेष। धनंजय ।। ७३।। इतना ही नहीं किसी ब्याज से। कहे जिसको मेरा ऐसे। न शेष द्वैतपन से। जो अद्वितीय वह ।। ७४।। अपनी एकही सत्ता-। से व्याप्त सब पंडुसुता। सहज गृह स्त्री पुत्र ममता। छोड़ी जिसने ।। ७५।। इसविध जीतकर रिपुवर्ग। अपना मानकर यह जग। अपने से वह योगतुरग। हुआ स्थिर ।। ७६।। वैराग्य का दृढ़ पार्थ। वज्रकवच जो अंग में पहनत। शिथिल उसको वह करत। कुछ काल ।। ७७।। दूजा न सम्मुख कोई। अतः ध्यान खड्ग का काम नहीं। अतः हाथ वृत्तिका ही । खीचे वह ।। ७८।। जैसा सच्चा रसायन। काम करके अपना पूर्ण। निःशेष स्वयं आपुन। होवे जैसा ।। ७९।। प्राप्त होवे अपना स्थान। रुके पांव की दौड़ अर्जुन। वैसा अभ्यास छूटत पूर्ण। ब्रह्मपद प्राप्ति से ।।१०८०।। संगम होते महोदधी से। गंगा वेग छोड़त जैसे। या कांतसमीप कामिनी जैसे। होवे स्थिर ।। ८१।। कर्दली को फल प्राप्त। तब वृद्धि उसकी खूंटत। या ग्रामनिकट रुकत। मार्ग जैसा ।। ८२।। वैसा आत्मसाक्षात्कार। होते देखकर गोचर। धीरे से साधन हथियार। रखे नीचे ।। ८३।। अतः ब्रह्मसहित एकता। जब होवत तत्त्वता। उतार उपाय की भारता। होवे तब ।। ८४।। पश्चात वैराग्य की गोधुलिक। जो ज्ञानाभ्यास का वार्धक्य। योगफल के परिपाक-। की दशा

करने पर भी जो रीता रहता है।।५८।। हे सुवीर! वह भयंकर काम शत्रु निःशेष नष्ट किया। उससे क्रोध का भी सहज संहार हुआ।।५९।। वृक्ष मूल उखाड़ने से जैसे शाखाएं अपने आप सूखती हैं। तद्वत काम का नाश करने से क्रोध का नाश अपने आप होता है।।१०६०।। अतः कामरूपी शत्रु जब युद्ध में मारा जाता है तब क्रोध का आना जाना समाप्त होता है।।६१।। समर्थ राजा ठेंगर (घोड़ा) डाले हुये गुनहगार को जबरदस्त बोझ सिर पर ढोने के लिये बाध्य करता है। तद्वत बलात्कार से उपभोग देकर परिग्रह बलिष्ठ हुआ है।।६२।। माथेपर पगड़ी बांधकर, अवगुण का अंगरखा (बारहबंदी) पहनाकर, ममत्व का लाठी हाथ में पकड़ाकर।।६३।। शिष्यशाखा, शास्त्राध्ययन, शास्त्रग्रंथ लेखन, मठ, तिलक मुद्रा, माला आदि विलासों द्वारा निःसंग, विरागी साधक को भी जाल में पकड़कर फंसाता है।।६४।। हे पार्थ! परिवार एवं गृह का त्याग करके पर्णकुटी दंड कमंडलु, वृक्ष, क्रीड़ामृग आदि वन्यपदार्थ का वन में भोग लेने वाले दिगंबर को भी परिग्रह बाध्य करता है।।६५।। विजय प्राप्त करने के लिये कठिन परिग्रह का ध्यान खड्ग से समूल नष्ट करके वह साधक संसार पर विजय प्राप्त करने का उत्सव भोगता है।।६६।। तब ज्ञान प्राप्त करा देनेवाले गुण समुदाय जैसा अमानित्वादि, अद्वेष्टा आदि मोक्ष देश के राजे इस विजयोत्सव में सम्मिलित होते हैं।।६७।। यथार्थ ज्ञान के सार्वभौम पद का सत्य राज्याधिकारी मानकर उसके अंकित रहने लगते हैं।।६८।। संसार विजयोत्सव के अनन्तर ज्ञान का राज्यपद प्राप्त होने पर ज्ञानरूपी राजा की शोभायात्रा प्रवृत्ति के राजमार्ग पर चलती है। उस रास्ते पर (समाधि, मुक्ति आदि) जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति आदि तरुण एवं सुंदर स्त्रियां प्रतिपद अपने सुख को निछावर करती हैं।।६९।। आगे विवेक हाथ में सुवर्ण दण्ड लेकर दृश्यरूपी गर्दी हटाता है। (शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति. असंसक्ति, पदार्थ भाविनी एवं तुर्यगा) यह योग भूमिका आरती करने जैसे सम्मुख आती है।।१०७०।। उस प्रसंग में ऋद्धि-सिद्धियों के समुदाय पुष्पवर्षाव करते हैं। उस पुष्पवर्षाव में राजा स्वाभाविक नहाता है।।७१।। हे पार्थ! इस प्रकार से ब्रह्मैक्य जैसे स्वराज्य निकट आनेपर तीनों लोक आनंद से उमड़ने लगते हैं।।७२।। हे धनंजय! उस ज्ञानी राजा को ब्रह्म की ऐक्यता प्राप्त होने पर शत्रु, मित्र ऐसा द्वैत शेष नहीं रहता।।७३।। किसी भी निमित्त से मेरा-तेरा यह द्वैत भाव उसके मन में नहीं रहता, क्योंकि वह अद्वितीय ब्रह्म होता है।।७४।। हे पंडुसुत! गृह, स्त्री, पुत्र की ममता का त्याग करके जिसने अखिल ब्रह्माण्ड को व्याप्त सत्ता प्राप्त की।।७५।। इस प्रकार से अहंकारादि शत्रु पर विजय प्राप्त करके, संपूर्ण विश्व अपना समझकर राजयोगरूपी अश्व स्थिर होता है।।७६।। वैराग्य वज्र का अभेद्य कवच, जो उसने शरीरपर पहना था, उसको कुछ समय वह शिथिल करता है।।७७।। द्वैत शेष न रहने से वह ध्यान खड्ग का अब काम नहीं यह जानते हुये अपने वृत्तियों का हाथ वह खींच लेता है।।७८।। सच्चा रासायनिक औषध जिसे आरोग्य देने का कार्य पूर्ण करके स्वयं शेष नहीं रहता।।७९।। हे अर्जुन! अपना गंतव्यस्थान आने से जैसे चरणों की गति रुकती है। वैसे ब्रह्मपद की प्राप्ति से अभ्यास समाप्त होता है।।१०८०।। महासमुद्र में समर्पित होते ही गंगा नदी अपना वेग समाप्त कर देती है। पति के साथ कामिनी जैसी स्थिर होती है।।८१।। कर्दली वृक्ष में फल लगते ही उसकी वृद्धि समाप्त होती है। या गांव के पास मार्ग रुकता है।।८२।।

आत्मसाक्षात्कार का अनुभव होनेवाला है यह देखकर साधक साधनारूपी हथियार धीरे से नीचे रख देता है।।८३।। अतः साधक ही ब्रह्म के साथ एकता होने का समय जब तत्त्वतः आता है। तब हे भारत! साधनों में कमी होती है।।८४।। सब साधनों कीं शांति वैराग्य का संध्याकाल होता है। वह ज्ञानभ्यास की वृद्धता है। (ज्ञान की परिपक्व अवस्था है) ज्ञानाभ्यास का फल प्राप्त होने की वह दशा

जो।।८५।। वही सच्ची शांती। जब संपूर्ण लाहे किरीटी। आवे योग्यता निश्चिति। ब्रह्मत्वकी उसमें।।८६।। पूनम से चतुर्दशी। जितना न्यून शशी। सोला से पंधरह में जैसी। न्यूनता कंस में।।८७।। सागर में सवेग करे प्रवेश। रूप वह गंगा का गुड़ाकेश। किंतु निश्चल स्थिर निःशेष। समुद्र वह।।८८।। ब्रह्म और ब्रह्मयोग्यता। भेद दोनों में यही पार्था। शांती से ही वह तत्त्वता। त्वरित नष्ट।।८९।। प्रत्यक्ष ब्रह्म होनेबिन। प्रतीत जो ब्रह्मपन। जानो वही योग्यता पूर्ण। ब्रह्मत्व की तुम।।१०९०।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

वही ब्रह्मभाव योग्यता। पाकर पुरुष पंडुसुता। आत्मबोध प्रसन्नता। पदपर बैठे।।९१।। जिससे होवे सिद्ध पाक। ताप वह जब शमत देख। तब होवे सुखकारक। अन्न वह।।९२।। बढ़ते गंगा का पूर। शरत्काल में होवे दूर। या बंद गीत रुकते सुर। उपांग वाद्य के।।९३।। वैसा आत्मबोधार्थ उद्यम। करते जो होवत श्रम। वह भी जहां शांत सम। होवे पार्थ।।९४।। आत्मबोध प्रशस्ति। जिस दशा की यह ख्याति। वह भोगत महामती। योग्य जो।।९५।। वहां आत्मत्व से शोक मनाना। पाने कुछ यत्न करना। न शेष उसको केवल रहना। समभाव भर से।।९६।। उदित जब गभस्ति। नाना नक्षत्र व्यक्ति। खोवत निज आंगिक दीप्ति। धनुर्धर।।९७।। वैसे प्राप्त जब आत्मप्रथा। यह भूतभेद व्यवस्था। टूटकर नष्ट होवे पार्था। सर्वत्र देख।।९८।। अक्षर पाटीपर के जैसे। पोंछ सकत कर से। लोपत भेदांतर वैसे। दृष्टि से उसके।।९९।। वैसे सब अन्यथा ज्ञान। जागृति स्वप्नावस्था में अर्जुन। दोनों होवत लीन। अव्यक्त में।।११००।। आगे वह भी अव्यक्त। बोध बढ़ते क्षीण होत। पूर्ण बोधमें समस्त। डूबत पार्थ।।१।। जैसे भोजन के व्यापार में। क्षुधा शमत प्रतिग्रास में। पश्चात तृप्ति के अवसर में। नष्ट अशेष वह।।२।। चाल बढ़ते पार्थ। मार्ग धीरे धीरे क्रमत। स्थान गंतव्य का जब प्राप्त। न शेष वह।।३।। ज्यों ज्यों जागृति प्रकाशत। त्यों त्यों निद्रा खोवत। जब संपूर्ण जागृति प्राप्त। नष्ट निद्रा पूर्ण।।४।। और पूर्णत्व पाते पार्थ। वृद्धि चन्द्रमा की रुकत। वहां शुक्लपक्ष क्षीण होत। निःशेष जैसा।।५।। वैसे बोध्यजात निगलकर। बोध बोध से मेरे भीतर। नष्ट वहां प्रविष्टकर। अबोध साद्यंत।।६।। तब कल्पान्त के समय। नदी सिंधु मर्यादा कौन्तेय। छोड़कर होवे जलमय। आब्रह्म जैसे।।७।। नातर फूटत जब घट मठ। आकाश रहत एकवट। या काष्ठ जलकर काष्ठ। वन्हिही होत।।८।। अथवा नाना अलंकार। भूस में औंटकर। नामरूप भेद छोड़कर। शेष सुवर्ण प्राप्त।।९।। और जागृति उपरान्त। स्वप्न अशेष नष्ट पार्थ। केवल स्वयं स्वतः। शेष जैसा।।१११०।। वैसे मैं एक बिन कुछ ही। उसको स्वसहित भाव नाही। मेरी चौथी भक्ति यही। पाये वह।।११।। इतर आर्त जिज्ञासु अर्थार्थि। इन तीनों की

है।।८५।। हे किरीटि! वही सत्य शांती है। जब वह संपूर्ण उसे प्राप्त होती है, तब उसमें ब्रह्मत्व की योग्यता निश्चित आती है।।८६।। पूर्णिमा में चुतर्दशी को चंद्रमा में जितनी न्यूनता रहती है। या शुद्ध सोलह कस के सुवर्ण में पंद्रह कस सुवर्ण में जैसी न्यूनता रहती है।।८७।। (ज्ञानदेव, ब्रह्म होना एवं होने की योग्यता प्राप्त होना इसमें भेद समझते हैं। ब्रह्म होने का अर्थ विदेहमुक्ति है। एवं ब्रह्म होने की योग्यता जीवनमुक्ति है। जीवनमुक्ति में व्यावहारिक एवं पारमार्थिक ऐसी दो भूमिकाएं रहती हैं। प्रारब्ध कर्म का भोग रहता है। किंतु गुरुकृपा से ब्रह्मानुभव होता है) हे गुड़ाकेश! गंगाजल सागर में वेगसहित प्रवेश करता है। किंतु समुद्र निःशेष निश्चल एवं स्थिर रहता है।।८८।। ब्रह्मावस्था एवं ब्रह्म होने की योग्यता में अल्प अन्तर रहता है। वह अन्तर वैराग्य एवं शांति के योग से नष्ट होकर वह साधक त्वरित ब्रह्मवस्था प्राप्त करता है।।८९।। शुद्ध विदेह ब्रह्म अवस्था के बिना जो ब्रह्मत्व प्रतीत होता है। वही पूर्ण ब्रह्मत्व की योग्यता तुम समझना।।१०९०।।

ब्रह्मत्व की योग्यता प्राप्त होनेवाला, आत्मज्ञान की प्रसन्नता का लाभ जिसको हुआ है ऐसा पुरुष इष्ट वस्तु का नाश होने पर शोक नहीं करता। इष्ट वस्तु की इच्छा भी नहीं करता। सब भूतों में उसकी आत्मदृष्टि सम रहती है। अतः वह मेरी पराभक्ति प्राप्त करता है।।५४।।

हे पंडुसुत! ब्रह्मत्व की योग्यता प्राप्त वह पुरुष ब्रह्मत्व के अनुभव से आत्मज्ञान के पद पर प्रसन्नता से बैठता है।।९१।। अग्नि से अन्न पकाने पर जब अग्नि बुझाया जाता है, तब उस सुस्वादु अन्न से प्रसन्नता होती है।।९२।। शरदऋतु में गंगा का प्रवाह महापूर को छोड़ देता है। गायन समाप्त होते ही मृदंग, वीणा आदि उपांग वाद्य के सुर रुकते हैं।।९३।। हे पार्थ! आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न करते समय जो श्रम होते हैं, वह श्रम भी शांत एवं सम होकर आत्मरूप बनते हैं।।९४।। हे महाबुद्धिमान! आत्मज्ञान की प्रसन्नता ऐसी उस अवस्था की प्रख्याति है। ब्रह्मत्व की योग्यता प्राप्त पुरुष उसका अनुभव लेता रहता है।।९५।। आत्मत्व भाव में शोक मनाना, या कुछ पाने का यत्न करना, शेष नहीं रहता। वह ज्ञानी पुरुष केवल समत्व भाव में रहता है।।९६।। हे धनुर्धर! गभस्ति का उदय होते ही उसके तेज में अनेक नक्षत्र का तेज लुप्त हो जाता है।।९७।। वैसे हे पार्थ! आत्मानुभव आते ही प्राणिमात्र की परस्पर भेद भावना की मर्यादा नष्ट होती है। उसको सर्वत्र आत्मदर्शन होता है।।९८।। पाटी पर लिखे हुए अक्षर हाथ से सहज पोंछ सकते हैं। वैसे उसके दृष्टि से विविध भेद समाप्त होते हैं।।९९।। हे अर्जुन! वैसे सब अन्यथा ज्ञान, जागृति एवं स्वप्नावस्था अव्यक्त में लीन होते हैं।।११००।। हे पार्थ! आत्मा के अस्तित्व का परोक्षज्ञान निश्चयात्मक होते हुए अज्ञान क्षीण होता है। अन्त में वह क्षीण ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान से पूर्ण ब्रह्मरूप ज्ञान में डूब जाता है।।१।। भोजन करते समय प्रति ग्रास में भूख कम होती जाती है। अन्त में तृप्ति में समाप्त होती है।।२।। हे पार्थ! चलने के वेग से मार्गक्रमण धीरे-धीरे होता है। गंतव्य स्थान पर पहुंचते ही मार्ग समाप्त होता है।।३।। जागृति आते ही निद्रा समाप्त होती है। पूर्ण जागृति के उपरान्त जागृत होने का बोध भी समाप्त होता है।।४।। हे पार्थ! पूर्णिमा के दिन चंद्रमा को अपना पूर्णत्व प्राप्त होता है। उसके साथ चंद्रमा की वृद्धि रुकती है। तब शुक्लपक्ष भी निःशेष समाप्त होता है।।५।। जो ज्ञान ज्ञेय का बोध करता है, उस ज्ञान से साधक मेरे लक्ष्य स्वरूप में प्रविष्ट होता है, उस ज्ञान में प्रविष्ट होकर अज्ञान आवरण से विक्षेप पर्यन्त सब नष्ट होता है।।६।। हे कौंतेय! कल्पान्त के समय नदी एवं समुद्र मर्यादा छोड़कर पाताल से ब्रह्मलोक पर्यन्त सब जलमय होता है।।७।। घट एवं मठ टूटते ही आकाश एकरूप होता है। काष्ट जलने पर जैसे अग्नि होता है।।८।। विविध अलंकार गलाने से अंत में केवल सुवर्ण शेष रहता है।।९।। जागृत होने पर स्वप्न सर्वथा नष्ट होता है। अपने में केवल मनुष्य शेष रहता है।।१११०।। वैसे उस ज्ञानी पुरुष को मेरे बिना, स्वयं के स्वरूप समेत कुछ शेष नहीं रहता। वह चौथ ज्ञानलक्षणा भक्ति उसको प्राप्त होती है।।११।। अन्य आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थि यह तीनों भक्त तीन मार्ग से मेरी भक्ति करते हैं। हे किरीटी! इनका अनुष्ठान करने पर सापेक्ष ज्ञान

त्रिविध भक्ति। सापेक्षतः इसे कहत किरीटी। भक्ति चौथी।।१२।। वैसी न यह पहली ना दूसरी। ना चौथी या तीसरी। जो यह सहज स्थिति मेरी। भक्ति नाम।।१३।। अज्ञान मेरा आलोकित कर। अन्यथा ज्ञान को दिखाकर। सबसे सर्वात्मक का भजन कराकर। शांत करे जो।।१४।। जो यहां देखे जैसे। उसको वहां दिखत वैसे। जिस अखंड प्रकाश से। भासत सब यह।।१५।। स्वप्न दिखना या न दिखना पार्थ। अपने ही अस्तित्व से तत्त्वतः। विश्व का भास अभाव समस्त। प्रकाश से जिस।।१६।। ऐसा यह मेरा प्रकाश। जो सर्वथा निर्विशेष। उसको ही भक्ति विशेष। संज्ञा पूर्ण।।१७।। यही आर्तों के ठाँयी। रहे होकर आर्तताही। और अपेक्षणीय जो कोई। स्वयं वही।।१८।। जिज्ञासूही आगे वीरेशा। होकर स्वयं जिज्ञासा। मुझको ही ज़िज्ञासु ऐसा। दिखावत यही।।१९।। यही भक्ति अर्थसाधन। और अर्थार्थि होकर अर्जुन। अर्थ यह अभिधान। देत मुझको।।११२०।। एवं लेकर अज्ञान। करे मेरी भक्ति वर्तन। दिखावे मुझ दृष्टाको ही अर्जुन। दृश्य बनाकर।।२१।। यहां मुख से ही मुख दिखत। बोल यह सत्य निश्चित। किंतु दूजापन यह करे झूठ। दर्पण ही वह।।२२।। वैसे दृष्टि देखे एक चन्द्र। परंतु जब होवे रोग तिमिर। जो एकही उसको दो आकार। दिखावे दो।।२३।। वैसे मैं ही मैं सर्वत्र। भक्ति से अपने को प्रतीत। किंतु दृश्यत्व यह व्यर्थ। अज्ञान वश।।२४।। अज्ञान यह अब नष्ट। दृष्टत्व मेरा मुझको प्राप्त। निजबिंब में एकवटत। प्रतिबिंब जैसे।।२५।। जब अशुद्धि से मिश्रित। सोना ही सोना पार्थ। कीट जब होवे नष्ट। केवल शुद्ध वह।।२६।। क्या पूर्णिमा के पहले ही। चंद्र संपूर्ण नाही। किंतु मिले उसी दिन ही। पूर्णता उसको।।२७।। वैसे मैं ही वृद्धि ज्ञानद्वार से। दिखत किन्तु हस्तान्तरसे। दृष्टत्व जब नष्ट आत्मज्ञान से। प्राप्त मुझको ही मैं।।२८।। अतः दृश्य पथ-। अतीत मेरा पार्थ। भक्ति योग निश्चित। कहा यह।।२९।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

इस ज्ञान भक्ति बलसे। ऐक्य जिसका हुआ मुझसे। जानो केवल मैं ही उसे। श्रुतही तुमको।।११३०।। जो उठाकर दोनों भुजा। ज्ञानी मेरी आत्मा साजा। कहा तुमको कपिध्वज। सप्तम अध्याय में।।३१।। वह कल्पादि भक्ति पार्थ। भागवत में सर्वोत्कृष्ट। उपदेशित जो सुस्पष्ट। ब्रह्मदेव को।।३२।। ज्ञानी इसको स्वसंविर्त्ति। शैव कहत शक्ति। हम तो अपनी परम भक्ति। कहत पार्थ।।३३।। मुझको मिलते समय। क्रमयोगी को फलत यह। तब अखिल विश्व कौन्तेय। भासत मद्रूप।।३४।। वहां वैराग्य विवेक सहित। लोपत बंध मोक्षसहित। वृत्ति निवृत्ति सहित। डूबत सब।।३५।। इह पर भेद समस्त। इस भक्ति से होवे निरस्त। निगलकर चारों भूत। आकाश जैसे।।३६।। इसविध वह क्रमयोगी सिद्ध। साध्य साधनातीत शुद्ध। मद्रूप होकर एकवद। भोगत मुझको।।३७।। गंगा समुद्र को मिलने उपरान्त। समुद्ररूप से

लक्षणा भक्ति चौथी भक्ति कहलाती है।।१२।। वैसी यह पहली, या दूसरी नहीं है। ना चौथी या तीसरी। यह भक्ति नाम से मेरी सहज स्थिति है।।१३।। मेरा अज्ञान ज्ञान से प्रकाशित करके ज्ञानभ्रम को (अन्यथा ज्ञान) दिखाकर सबसे सर्वात्मक प्रभु का भजन कराकर शांत करता है।।१४।। प्राणि जिस पदार्थ को जहां देखता है उसको वह पदार्थ उस स्वरूप में उस अधिकरण में अखण्ड प्रकाश से दिखता है।।१५।। हे पार्थ! स्वप्न का दिखना या न दिखना अपने ज्ञान सत्तापर अवलंबित रहता है। तद्वत विश्व का अस्तित्व एवं विश्व का अत्यंताभाव जिस प्रकाश से प्रकाशित होता है।।१६।। ऐसा मेरा सहजसिद्ध नित्य प्रकाश है उसीको 'भक्ति' यह विशेष संज्ञा है।।१७।। अतः आर्त भक्त मैं आर्तता होकर रहता हूं। अपेक्षित निवृत्ति उन सबके रूप में स्वयं मैं ही हूं।।१८।। हे वीर श्रेष्ठ! जिज्ञासुओं में स्वयं जिज्ञासा होकर उसको जिज्ञासा का विषय ब्रह्म भी मैं ही हूं ऐसा श्रीकृष्ण बताते हैं।।१९।। हे अर्जुन! यही भक्ति अर्चना बनकर उसकी प्रार्थना मुझसे ही करवाता है। एवं अर्थार्थि बनकर अर्थ नाम मुझे देता है।।११२०।। हे अर्जुन! इस प्रकार से अज्ञान से मेरी तीन प्रकार की भक्ति होती है। वह मुझ प्रकाशक को प्रकाश्य करके बताती है।।२१।। मुख मुख से दिखता है। एकहि मुखको बिंब एवं प्रतिबिंब दर्पण में द्वैत दिखता है। दर्पण से बिंबरूप मुझको, प्रतिबिंब रूप मुख दिखता है।।२२।। दृष्टि से एक चंद्र दिखता है। किन्तु तिमिर रोग जब उत्पन्न होता है। तब वहां एकहि चंद्र दो दिखते हैं।।२३।। तद्वत सर्वत्र में आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थि बनकर भक्ति को प्रकाशित करता हूं। यहां अज्ञान से दृश्यत्व दिखता है।।२४।। ब्रह्मभाव योग्यता प्राप्त होने पर अज्ञान नष्ट होता है। मेरा दृष्टात्व मुझे अभेद से प्राप्त होता है। दर्पण दूर करतेही जैसे प्रतिबिंब अपने बिंब में एकरूप होता है।।२५।। हे पार्थ! अशुद्ध सुवर्ण, सुवर्ण कहलाता है। (अग्नि के संपर्क में) उसका दोष नष्ट होने पर केवल शुद्ध सुवर्ण रहता है।।२६।। पूर्णिमा के पहले ही क्या चंद्र संपूर्ण नहीं होता? किंतु पूर्णिमा के दिन उसको पूर्णता मिलती है।।२७।। तद्वत अज्ञान से मैं दृश्यरूप से दिखता हूं। वृत्तिज्ञान द्वारा हस्तातंर से दिखता हूं। आत्मज्ञान से जब दृष्टत्व नष्ट होता है तब मुझेही मेरी प्राप्ति होती है।।२८।। हे पार्थ! दृश्य मार्ग से अतीत मेरा भक्तियोग मैंने यहां निश्चित कहा है।।२९।।

ज्ञान लक्षणा भक्ति से मैं जैसा हूं वैसा मुझे तत्त्वतः जानता है। उसके अनन्तर तत्त्वतः मुझे जानने पर (देहपात होने पर) मृत्यु के उपारान्त मेरे में प्रविष्ट होता है।।५५।।

सहज नित्यसिद्ध ज्ञानलक्षणा भक्ति से जो भक्त मेरे से एकरूप होता है वह केवल मैं ही हूं। यह तुम्हें सुनाया है।।११३०।। हे कपिध्वज! सातवें अध्याय में 'ज्ञानी भक्त मेरी आत्मा है' ऐसे हाथ ऊपर उठाकर मैंने कहा था।।३१।। हे पार्थ! वही ज्ञानयुक्त भक्ति का कल्प के प्रारंभ में मैंने ब्रह्मा को चतुःश्लोक भागवत के रूप में सुस्पष्ट उपदेश किया था।।३२।। इसको ज्ञानी स्वसंविति कहते हैं। शैव शक्ति कहते हैं। हम इसको श्रेष्ठ भक्ति कहते हैं।।३३।। हे कौंतेय! मेरे ब्रह्मस्वरूप में एकरूप होते समय क्रमयोगी को ज्ञानलक्षणा भक्ति फलद्रूप होती है। तब संपूर्ण विश्व भगवन्मय दिखाई देता है।।३४।। उस अवस्था में विवेक के साथ वैराग्य, बंध के साथ मोक्ष एवं वृत्ति सहित निवृत्ति लुप्त होती है।।३५।। चारों महाभूत आकाश तत्त्व में समाविष्ट होते हैं, तद्वत अपरोक्ष एवं परोक्ष भेद समाप्त होकर इस भक्ति में समाहित होते हैं।।३६।। इस प्रकार से वह कर्मयोगी कूटस्थ, नित्य साध्य साधनातीत शुद्ध मेरे स्वरूप में एकरूप होकर मेरा अनुभव करता है।।३७।। सागर के साथ एकरूप होकर गंगा जैसी समुद्ररूप में सुशोभित होती वैसे प्रकार इस अनुभव में समझना

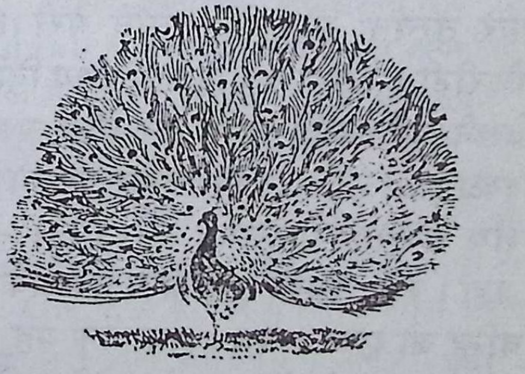

Funding by IKS-MoE

दिखे शोभित। प्रकार वही उस भोग में प्रतीत। जानो तुम ॥३८॥ या दर्पण सम्मुख दर्पण। दिखाया निर्मल करके अर्जुन। वैसे मद्रूप भोग सुख पूर्ण। दृष्टा वह ॥३९॥ दर्पण दूर किया। मुखबोध नष्ट हुआ। अकेले ही स्वाद लिया। स्वरूपानंद का ॥११४०॥ पाकर जागृति स्वप्न नष्ट। ऐक्य अपना ही स्वयं देखत। वह जैसे अनुभवत। दूजे बिन ॥४१॥ भोक्ताही भोग्य जहां का। न घटे भोग भाव यह जिनका। तब कहे वे शब्द से शब्द का। उच्चार कैसे ॥४२॥ न जाने उनके गांव में पार्थ। क्या करे दीप सूर्य को प्रकाशित। अथवा क्या मंडपी में समावत। आकाश वे ॥४३॥ यदि न हो अंग में राजन्यत्व। कैसा राजा राजपन भोगत। क्या अंधःकार आलिंगत। दिनकर को कभी? ॥४४॥ आकाश जो नाहीं किरीटी। कैसी उसको आकाश की प्रतीति। क्या कभी रत्न दीप्ति-। पर आभूषण गुंज के? ॥४५॥ अतः मद्रूप जो न हुआ। न जाने मेरा स्थान कहां। मेरी सच्ची भक्ति वहां। संभव कैसी? ॥४६॥ इसलिये क्रमयोगी वह पार्थ। होकर मद्रूप मुझको भोगत। तारुण्य स्वयं अनुभवत। तरुणांगी जैसी ॥४७॥ तरंग सर्वांग से तोय चुंबत। प्रभा बिंब में सर्वत्र विलसत। अवकाश नभ में सर्वतः। विचरत जैसे ॥४८॥ वैसा रूप मेरा होकर पार्थ। बिन क्रिया मुझको वह भजत। सहज सुवर्ण में स्थित। अलंकार जैसे ॥४९॥

या चंदन की दृति जैसी। चंदन में वसत अपने सी। अथवा सहज शशी में। चंद्रिका जैसी ॥११५०॥ वैसी क्रिया यदि न होवे। अद्वैत में फिर भी भक्ति ही रहे। अनुभव से ही यह जानिये। न गम्य बोलसे वह ॥५१॥ तब पूर्व संस्कार वश से। अनुवादत जो कुछ नाम से। आवाज दूं उसी प्रकार से। पुकारता भी मैं ॥५२॥ बोलते का बोल ही मैं जहां। मिलूं तब संवाद कैसे घटे वहां?। मौन ही उसका सुहाया। स्तवन मेरा ॥५३॥ अतः उस बोलते को जैसे। बोली बोलत भेंट होवे मुझसे। मौन होकर करे तत्त्वतः मौन से। स्तुति मेरी ॥५४॥ वैसे बुद्धि या दृष्टि-। से देखने जावे किरीटी। देखना वह दिखावे दृश्य निश्चिति। हटाकर दृष्टा को ही ॥५५॥ दर्पण में देखने पूर्व पार्थ। दर्पण जो दिखे मुझको यथार्थ। वही मुख देखने उपरान्त। देखे दृष्टाको ॥५६॥ दृश्य जाकर दृष्टा। भेटत दृष्टा को ही तत्त्वतः। तब दृष्टापन भी न शेष सर्वथा। एकलपन से ॥५७॥ स्वप्न में देखी प्रिया। होके जागृत लगे लिपटने जहां। स्त्री, स्वप्न न दोनों वहां। अकेला ही जैसा ॥५८॥ जो काष्ठका करते घर्षण। वन्हि जो एक उत्पन्न। तब दोनों यह भाष नष्ट पूर्ण। स्वयं वन्हि ही शेष ॥५९॥ या प्रतिबिंब डबरे में हाथ से। लेने जावे यदि गभस्ति उससे। तब बिंबपन भी अपना जैसे। खोवत वह ॥११६०॥ वैसा मद्रूप होकर जो अर्जुन। करे दृश्य का दर्शन। मूल दृश्यसहित दृष्टापन। लोपत वहां ॥६१॥ अंधेरे को प्रकाशत भास्कर। वहां न शेष प्रकाश्य अंधकार। वैसे दृश्य में नहीं दृश्यत्व सुवीर। मैं ही होत जब ॥६२॥ तब देखना या न देखना। शेष न कुछ भी करना। वही मेरा दर्शन जानना।

चाहिये।।३८।। हे अर्जुन! दो दर्पण स्वच्छ करके एक दूजे के सम्मुख रखनेपर जैसे एक में दूजा बिंब स्पष्ट दिखता है। वैसे मेरा अनुभव अभेद भाव से वह दृष्टा पूर्ण सुख का उपभोग लेता है।।३९।। दर्पण दूर हटाते ही प्रतिबिंब रूप से मुख का ज्ञान उसके साथ समाप्त होता है। एकान्त में वह स्वरूपानंद का स्वाद लेता है।।११४०।। जागृत होने के बाद स्वप्न नष्ट होता है। तब अपना ही अपने साथ ऐक्य होता है। द्वैत के बिना वह भक्त अभेद से मेरे सुख का अनुभव लेता है।।४१।। द्वैतवादि लोगों का आक्षेप ऐसा है कि, भोक्ता एवं भोग में द्वैत होना चाहिये। भक्त ब्रह्म होने के उपरान्त ब्रह्म का भोग संभव नहीं होगा। (ज्ञानदेव) इसका उत्तर देते हैं शब्द से शब्द का उच्चार होता है। उच्चारण करने का साधन शब्द रहता है। जिसका उच्चार करना वह भी शब्द है। ऐसे अद्वैत में शब्द से शब्द का उच्चार होता है। जहां का भोक्ता ही भोग्य होता है। वहां जिनका भोग का भाव नहीं घटता।।४२।। हे पार्थ! ऐक्य में भोग की संभावना नहीं है ऐसे कहनेवाले के गांव में सूर्य को दीपक से प्रकाशित किया जाता है क्या? उन्होंने आकाश के लिये छोटासा मंडप बनाया है क्या?।।४३।। अंधःकार सूर्य को कैसे आलिंगन देगा? शौर्यतेज आदि गुणों से युक्त राजा न होने से वह प्रभावी शासक बनकर राज्यपद का उपभोग कैसे करेगा।।४४।। हे किरीटी! जिसने आकाश देखा नहीं उसको आकाश की क्या प्रतीति हो सकेगी? सुन्दर रत्न पर गुंज अलंकार क्या शोभा देंगे।।४५।। अतः जो मद्रूप नहीं हुआ वह मेरा स्थान कहां है कैसा जान सकता है? मेरी सच्ची भक्ति वहां कैसी संभव है?।।४६।। हे पार्थ! अतः वह क्रमयोगी ब्रह्मभाव में स्थिर होकर ब्रह्म का अनुभव करता है। जिस प्रकार तरुण्य स्त्री के अंग में तारुण्य रहता है और वह उस तारुण्य का उपभोग करती है।।४७।। तरंग सर्वांग से जल का चुंबन लेता है। सूर्य में सूर्यप्रभा सर्वत्र विलास करती है। आकाश के सब भागों में अवकाश विचरण करता है।।४८।। हे पार्थ! सुवर्ण में अलंकार सहज स्थित होते हैं। तद्वत वह क्रमयोगी मेरा स्वरूप बनकर क्रियाबिन मेरी भक्ति करता है।।४९।। चंदन का सुगंध चंदन में स्वाभाविक निवास करता है। या जैसी चंद्रमा में चंद्रिका स्वाभाविक एकरूप रहती है।।११५०।। वैसी उस भक्ति में क्रिया नहीं होती। किन्तु अद्वैत में भक्ति है। यह अनुभव की बात है। बोलने की नहीं।।५१।। पूर्व जन्म में संस्कार से जो कुछ मेरा नाम संकीर्तन करता है उस नाम से मेरे साथ बात करते हुए, या पुकारते हुए मैं आवाज देता हूं। बोलनेवाला एवं उत्तर देनेवाला भी मैं ही हूं।।५२।। जो बोलनेवाला है वहीं उत्तर देनेवाला होता है तब कौन किससे बोलता? वह सुंदर मौन मेरा स्तवन है।।५३।। अतः स्तुतिपरक शब्द से मेरे साथ बोलते हुए बोलनेवाले क्रमयोगी को मैं जब अभेद में मिलता हूं तब मौन निर्माण होता है। उस मौन से वह मेरी तत्त्वतः स्तुति करता है।।५४।। हे किरिटि! वह क्रमयोगी बुद्धि से (अनुमानप्रमाण से) या दृष्टि से (प्रत्यक्ष प्रमाण से) परोक्ष, अपरोक्ष पद्धति से जब देखता है। तब उसका वह देखना दृश्य को भगाकर दृष्टा का स्वरूप दिखाता है। उसको सर्वत्र दृष्टा आत्मा दिखता है।।५५।। हे पार्थ! दर्पण मुख के सम्मुख आने के पूर्व देखनेवाला मुख का केवल अनुभव होता है। दर्पण में देखने के उपरान्त प्रतिबिंब को देखना देखनेवाले मुख को एकरूप करता है।।५६।। दृष्य नष्ट होकर दृष्टा तत्त्वतः दृष्टा को ही मिलता है। उस एकात्म अवस्था में तब दृष्टापन भी शेष नहीं रहता।।५७।। स्वप्न में स्त्री को देखकर कामी पुरुष आलिंगन देने के प्रयास में जब जागृत होता है, तब वहां स्वप्न एवं स्त्री दोनों का अभाव दिखता है। वह अकेला शेष रहता है।।५८।। दो काष्ठ के घर्षण में जब अग्नि निर्माण होता है तव दो की भाषा समाप्त होते हुए केवल अग्नि शेष रहता है।।५९।। डबरे गें दिखाई देनेवाले प्रतिबिंब को सूर्य समझकर पकड़ने के प्रयास में जल गंदा होकर प्रतिबिंब दिखना समाप्त होता है।।११६०।। हे अर्जुन! वैसा मद्रूप होकर जो दृश्य का दर्शन करता है, तब मूल दृश्य सहित दृष्टापन वहां लुप्त होता है।।६१।। हे सुवीर! अंधेरे का प्रकाशन भास्कर करते हुए वहां प्रकाश्यता रहती नहीं। सूर्य को प्रकाशकता रहती नहीं। तद्वत मद्रूप होने पर दृश्य में दृश्यत्व नहीं रहता।।।६२।। तब देखना या न देखना, कुछ भी करना शेष नहीं रहता। वह ज्ञान ज्ञानातीत देखना वही मेरा निश्चित

सुनिश्चित।।६३।। कुछ भी देखे किरीटी। होवे वस्तु की ही प्राप्ति। दृष्टादृश्यातीता दृष्टि-। को निरंतर।।६४।। और आकाश यह आकाश से। व्याप्त न कहीं हिलत जैसे। उसे स्वयं को मुझ आत्मा से। हुआ वैसे।।६५।। कल्पान्त में उदक उदक से। अवरोधित बहना रुके जैसे। एक मुझ आत्मस्वरूप से वैसे। व्याप्त वह।।६६।। पांव कैसा चढ़े स्वयं के ऊपर। वन्हि कैसा जलावे स्वशरीर। प्रवेशत पानी अपने भीतर। स्नानार्थ कैसा?।।६७।। मैं ही सर्वत्र जब। आना जाना उसका बंद तब। वही यात्रा हुई सब। अद्वय को मुझ।।६८।। जल ऊपर का तरंग। दौड़त यदि सवेग। न आक्रमत भूमिभाग। कदापि वह।।६९।। छोड़ना या जोड़ना स्थान। चलना और जिससे चलना अर्जुन। वह तोय ही एक चूर्ण। इसीलिये।।११७०।। गया कहीं भी स्वभावता। उदकपन से पंडुसुता। उस तरंग की एकात्मता। अभंग सदा।।७१।। वैसे मैंपन से जो चलत। मेरे भीतर पहुंचत। इस यात्रा से नीका होवत। यात्रिक मेरा।।७२।। और 'शरीर स्वभाववश। करे कुछ भी कार्य विशेष। तथापि मैं ही उसी मिष-। से मिलूं उसको।।७३।। वहां कर्म और कर्ता। भेद यह नष्ट तत्त्वता। आत्मरूप से देखते पार्था। मद्रूप ही वह।।७४।। दर्पण को देखे दर्पण। देखना न वह होवे दर्शन। सुवर्ण से ढका सुवर्ण। न ढांक सके जैसे।।७५।। दीप को दीप ने प्रकाशना। साच न वह प्रकाशना। वैसे मद्रूप होकर कर्म करना। वह करना कैसा?।।७६।। कर्म तो करत ही सतत। किंतु कर्ता भाव जब नष्ट। तब न करना ही होत। करना उसका।।७७।। मद्रूप जब क्रिया समस्त। क्रिया न 'शेष तत्त्वतः। इसका ही नाम। पूजन पार्थ। सांकेतिक मेरा।।७८।। अतः करके 'शास्त्रोक्त कर्म साजा। वह अकर्म ही कपिध्वजा'। निष्पन्न जो महापूजा। उससे पूजत मुझे।।७९।। एवं जो बोले वह स्तवन। जो देखे वह दर्शन। मुझ अद्वय के प्रति गमन। वह चलें वहीं।।११८०।। वह करे वही पूजा। संकल्प करे वह जप साजा। स्थिति उसकी जो कपिध्वजा। समाधि मेरी।।८१।। सुवर्ण एवं कंकण। जैसे परस्पर को अनन्य। वह भक्तियोग से अर्जुन। मुझसे वैसा।।८२।। उदक से कल्लोल। कर्पूर से परिमल। रत्न से कांती उज्जवल। अनन्य जैसी।।८३।। किंबहुना तंतु से पट। या मृत्तिका से घट। वैसा वह एकवट। मुझको ही।।८४।। ऐसी अनन्य सिद्ध भक्ति से। मुझको ही सर्वभूतों में उससे। जानत जो भक्त ऐसे। मद्रूप हुआ जो।।८५।। तीनों अवस्थाओं से। उपाध्युपहिताकार से। भावाभावरूप स्फुरण से। दृश्य जो यह।।८६।। वह अशेष ही मैं दृष्टा। इस बोध का जो ज्ञाता। जब अनुभव का झंड़ा सुभटा। नचावे जो।।८७।। रज्जु होवे गोचर। आभास उसका व्यालाकार। रज्जु ही ऐसा निर्धार। होवे जैसा।।८८।। वैसे सुवर्णबिन कोई। आभूषण गुंजभर भी नाही। ओंटकर एकही ठँयी। कीजे जैसे।।८९।। उदक ही एक बिन। तरंग निश्चित नाही भिन्न। होवे ज्ञान तब लोपत पूर्ण। आकार भ्रम जैसा।।११९०।। अथवा स्वप्नविकार समस्त। नापत यदि जागृति उपरान्त। तब एक अपनेबिन पार्थ। न दिखे जैसे।।९१।। वैसे जो कुछ

दर्शन है।।६३।। कौन से भी पदार्थ को देखते समय उस क्रमयोगी को ब्रह्मदर्शन ही होता है। क्योंकि उसकी दृष्टि दृश्य दृश्यातीत होती है।।६४।। आकाश, आकाश मे व्याप्त है। वह कभी हिलता डुलता नहीं। तद्वत मेरे व्यापक स्वरूप से वह क्रमयोगी अंतर्बाह्य व्याप्त रहता है।।६५।। कल्पान्त में प्रलय जल से व्याप्त होने से जल का प्रवाह समाप्त होता है। तद्वत मेरे आत्म स्वरूप से वह क्रमयोगी अंतर्बाह्य व्याप्त होता है। अतः उसके जन्ममृत्यु का मार्ग बंद होता है।।६६।। चरण अपने ऊपर कैसे चलेंगे? अग्नि स्वयं को कैसा जलावेगा? जल स्नान करने के लिए स्वयं के भीतर कैसे प्रविष्ट होगा?।।६७।। ऐसा वह क्रमयोगी ब्रह्मस्वरूप बनने से यात्रा के लिए उसका आना जाना बंद होता है। उसका अद्वय स्वरूप मेरी यात्रा है।।६८।। जल का तरंग जल के सतह पर वेग से दौड़ता है। वह कभी भूमि पर दौड़ता नहीं।।६९।। हे अर्जुन! चलते हुए तरंग अपना स्थान छोड़े या जोड़े, चलना या न चलना, उसका सब कुछ जल ही होता है।।११७०।। हे पंडुसुत! जल की लहरें कहीं भी दौड़ गयीं तो भी उसका मूल जल स्वरूप होने से उसकी एकात्मता नष्ट नहीं होती।।७१।। वैसी क्रमयोगी मद्स्वरूप बनकर जो जीवन चलाता है, वह मेरे भीतर प्रविष्ट होता है। इस यात्रा से वह मेरा उत्तम यात्रिक बनता है।।७२।। शरीर धर्म के अनुसार वह कुछ करने के लिये प्रवृत्त हुआ, तब उस क्रिया के रूप में उसे प्राप्त होता हूं।।७३।। हे पार्थ! उस अवस्था में कर्म एवं कर्ता यह भेद तत्त्वतः नष्ट होता है। आत्मरूप से वह मद्रूप होता है।।७४।। दर्पण जब दर्पण को देखता है तब तत्त्वतः न देखना ही है। सुवर्ण को सुवर्ण से ढांक देना न ढांकने जैसा है।।७५।। दीपक ने दीप को प्रकाशित करना न करने जैसा है। तद्वत मैं कर्ता एवं कर्म होकर मद्रूप से कार्य करना न करना है।।७६।। वह नित्य कर्म करता है। किन्तु कर्ता का भाव नहीं रहता। तब उसका करना न करने के जैसा होता है।।७७।। जब सब क्रियाएं मद्रूप हो जाती हैं तब तत्त्वतः क्रियाएं शेष नहीं रहती हे पार्थ! इसका सांकेतिक नाम मेरा पूजन है।।७८।। हे कपिध्वज! वह क्रमयोगी श्रद्धा से एवं शास्त्रोक्त पद्धति से नित्य नैमित्तिक कर्म, प्रतिमापूजन या पंचमहायज्ञ आदि करता है। यह कर्म करते हुए आत्मदृष्टि से कुछ भी न करना यही उसका महापूजन है। ऐसा वह मेरा महापूजन करता है।।७९।। इस प्रकार से वह जो बोलता है वह मेरा स्तवन है। जो देखता है वह मेरा दर्शन है। वह चलता है वही मेरे अद्वय स्वरूप की यात्रा है।।११८०।। हे कपिध्वज! वह जो करता है, वही मेरा पूजन है। जो मन से संकल्प करता है वही मेरा जप है। वह जिस स्थिति में रहता है वही मेरी समाधि है।।८१।। हे अर्जुन! सुवर्ण अलंकार सुवर्ण से अनन्य होते हैं। तद्वत क्रमयोगी ज्ञानलक्षणा भक्तियोग से मुझसे अनन्य रहता है।।८२।। जल के साथ तरंग कर्पूर के साथ सुगंध, रत्न में उसकी कान्ती जैसी अनन्य रहती है।।८३।। किंबहुना तंतु से वस्त्र, मृत्तिका से घट अनन्य रहता है। वैसा वह मेरा भक्त मुझसे एकरूप रहता है।।८४।। अनन्यसिद्ध भक्ति से मुझे ही सब दृश्यजाति में मेरा भक्त मुझे जानता है।।८५।। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के द्वारा स्थूल एवं कारण इन तीन देहों के उपाधि के आकार से विश्व, तेजस एवं प्राज्ञ इन तीनों सोपाधिक जीवचैतन्य के रूप में भाव या अभाव रूप से उत्पत्ति नाश के रूप में जो दृश्य ज्ञान को विषय होता है।।८६।। हे सुभट! सब दृश्य दृष्टास्वरूप हैं इस ज्ञान में वह क्रमयोगी अपने अनुभव का झंडा सर्वत्र नचाता है।।८७।। रस्सी का ज्ञान होने पर अज्ञान से उसको सर्प समझ लिया था ऐसा निश्चय होता है। कल्पित पदार्थ का नाश अधिष्ठान रूप रहता है।।८८।। सुवर्ण से कोई भी अलंकार वजन में कमी नहीं रहता उसको ओटकर देखा जा सकता है।।८९।। जल से तरंग भिन्न नहीं यह निश्चित जानने के उपरान्त जलबिन उस तरंग के आकार को स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।।११९०।। हे पार्थ! स्वप्न में दिखनेवाले विकारों का नाप लेने के लिए जागृत होने के उपरान्त अपने बिना कुछ दिखता नहीं।।९१।। तद्वत इस विश्व में जो कुछ है उसका ज्ञान है या नहीं के रूप में होता है। उस ज्ञेय का समष्टिज्ञाता ईश्वर एवं व्यक्तिज्ञाता भी मैं ही हूं ऐसा ज्ञान होकर वह

Funding by IKS-MoE

है या नहीं किरीटी। जिससे होवे ज्ञेयस्फूर्ति। भोगत वह मैं ही यह प्रतीति। ज्ञाता होकर।।९२।। जाने मैं अमर मैं अजर। अक्षय मैं अक्षर। अपूर्व मैं अपार। आनंद मैं।।९३।। अचल मैं अच्युत। अनंत मैं अद्वैत। आद्य मैं अव्यक्त। व्यक्त भी मैं।।९४।। ईश्य मैं ईश्वर। अनादि मैं अमर। अभय मैं आधार। आधेय मैं।।९५।। स्वामी मैं सदोदित। सहज मैं संतत। सर्व मैं सर्वगत। सर्वातीत मैं।।९६।। नूतन मैं पुराणु। शून्य मैं संपूर्णु। स्थूल मैं अणु। सब कुछ मैं।।९७।। अक्रिय भी एक। असंग मैं अक्षोत्र। व्याप्य और व्यापक। पुरुषोत्तम मैं।।९८।। अशब्द मैं अक्षोत्र। अरूप मैं अगोत्र। सम मैं स्वतंत्र। परं ब्रह्म मैं।।९९।। ऐसा मुझ एकको आत्मभाव से। साच जानकर इस अद्वय भक्ति से। इस बोध ज्ञाता को वैसे। जाने मैं ही।।१२००।। जागृति उपरान्त अर्जुन। शेष अपना एकपन। और यह भी स्फुरण। उसी को ही जैसा।।१।। या प्रकाशत जब अर्क। वही होवे प्रकाशक। उस अभेद का द्योतक। वही जैसा।।२।। वैसे वैद्य जब विलीन। केवल वेदकही शेष अर्जुन। होवे जिससे यह ज्ञान। जाने वह भी जो।।३।। वह अपना अद्वयपन। जान वह ज्ञप्ति अर्जुन। वह ईश्वर ही मैं पूर्ण। होवे बोध उसको।।४।। पश्चात द्वैताद्वैतातीत। मैं ही आत्मा एक निभ्रांत। जानकर ज्ञान भी जहां पार्थ। प्रविष्ट अनुभव में।।५।। जागृत होते एकपन। देखे अपना जो आपुन। वह भी न जाने कौन। हुआ जो स्वयम्।।६।। अलंकार तो सुवर्ण। चक्षु को प्रतीत जिस क्षण। न ओटते भी उसका सुवर्णपन। अनुभवत जैसे।।७।। अथवा होवे लवण तोय। रहे क्षारता तोयत्व से कौंतेय। वह भी जब क्षरण होय। नष्ट क्षारता पूर्ण।।८।। मैं आप वह भेद वैसे। स्वानंदानुभव समरसता से। लुप्त होकर प्रवेशत जैसे। मेरे में ही पार्थ।।९।। जहां वह की भाष जावे। वहां मैं यह किसको कहें। वैसा मैं और वह दोनों समाये। मद्रूप में ही।।१२१०।। कर्पूर निःशेष जलकर। वहां अग्नि भी नष्ट बुझकर। पश्चात उभयातीत होकर। शेष आकाश जैसा।।११।। घटाया एक-एक में से। बढ़े वह शून्य विशेष जैसे। हैं और नहीं शेष वैसे। मैं ही पार्थ।।१२।। वहां ब्रह्मा आत्मा ईश। इस बोलका नष्ट स्वारस्य। न बोलने को भी अवकाश। न रहे जहां।।१३।। वहां न बोलना ही न बोलकर। वही बोलना पेटभर। ज्ञान अज्ञान छोड़कर। जानना जिसको।।१४।। वहां बोध जानिये बोधसे। आनंद लेना आनंद से। केवल सुख ही भोगना सुख से। निरंतर।।१५।। वहां लाभ को लाभ जुड़त। प्रभा को प्रभा आलिंगत। विस्मय खड़ा डूबत। विस्मय में ही।।१६।। समता वहां समावत। विश्राम विश्रांति पावत। अनुभव स्वतः भ्रमित। अनुभूति में।।१७।। किंबहुना ऐसा निर्मल। मद्रूपता का प्राप्त फल। सेवन करके सुंदरवेल। क्रमयोगी की।।१८।। वह क्रमयोगी के चक्रवर्ती-। के मुकुट में चिद्रत्न मैं किरीटी। बदले में होवे वह निश्चिति। भक्त मेरा।।१९।। किंवा क्रमयोग प्रासाद का। कलश जो यह मोक्षका। उसके ऊपर अवकाश का। हुआ

क्रमयोगी अभेद से मेरी भक्ति करता है।।९२।। मैं जन्मरहित, जरा रहित, मरण रहित, क्षर रहित, अपूर्व, अपार ऐसा आनंद हूं।।९३।। मैं चलनरहित, स्वरूप से भ्रष्ट न होनेवाला, अनंत एवं अद्वैत हूं। जगत उत्पत्ति पूर्व मैं था। मैं अव्यक्त मिराकार हूं। संपूर्ण विश्व के रूप में मैं ही साकार हूं।।९४।। नियम्य (ईश्यु) एवं नियामक (ईश्वर) मैं ही हूं। मैं उत्पत्ति रहित एवं नाशरहित हूं। मैं अभय हूं। विश्व का आधार भी मैं हूं। आधेय (आश्रित) भी मैं ही हूं।।९५।। मैं नित्य स्वामी हूं। मैं स्वाभाविक सतत सत्तारूप हूं। मैं ही सब हूं। सब मैं हूं। एवं सबसे अलग भी मैं ही हूं।।९६।। मैं नित्य नूतन हूं सबसे पुराण पुरुष भी हूं। मैं सर्व विशेष शून्य हूं। सर्वत्र व्याप्त हूं। स्थूल एवं सूक्ष्म भी मैं ही हूं। जग में जो कुछ है, वह सब मैं ही हूं।।९७।। मैं क्रियारहित एक, असंग, शोकरहित, व्याप्य एवं व्यापक, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम मैं ही हूं।।९८।। मैं शब्दरहित, श्रोत्रेंद्रिय रहित, रूपरहित हूं! मैं सर्वगुण रहित एवं सर्वेंद्रिय रहित हूं। मैं कुलगोत्ररहित हूं। सर्वत्र सम एवं स्वतंत्र हूं। मैं साक्षात् परब्रह्म हूं।।९९।। इसप्रकार से मुझे एक को आत्मभाव से जानकर इस वृत्ति ज्ञान को जाननेवाला ब्रह्मस्वरूप ज्ञान मैं हूं। इस प्रकार अद्वैत भक्ति से क्रमयोगी मुझे जानता है।।१२००।। हे अर्जुन! जागृति के उपरान्त अपना अकेलापन शेष रहता है। यह स्फुरणा भी उसी को होती है।।१।। सूर्य स्वयं का प्रकाशन करते हुए वही प्रकाश्य एवं प्रकाशक रहता है। उसमें अभेद का प्रकाशक भी वही होता है।।२।। ज्ञेय का लय होने के उपरान्त केवल ज्ञाता शेष रहता है। हे अर्जुन! यह ज्ञान जिससे होना है, वह मैं ही हूं।।३।। हे अर्जुन! अखण्ड स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान, वह ज्ञान ब्रह्मरूप है। वह मेरा आत्मस्वरूप है ऐसा उस क्रमयोगी को अनुभव आता है।।४।। द्वैत एवं अद्वैत से भिन्न केवल मैं ही आत्मा हूं यह अखंड वृत्तियों के द्वारा समझकर वह वृत्तियां अनुभव में प्रविष्ट होती हैं।।५।। अपने एकत्व का बोध होने पर जब वह स्वयं को देखता है, तब वह स्वयं कौन है यह समझ में नहीं आता।।६।। अलंकार सुवर्ण है यह जिस क्षण को नेत्र को प्रतीत होता है, उस क्षण अलंकार को न ओटते ही उसका तत्त्वस्वरूप सुवर्णत्व का अनुभव आता है।।७।। हे कौंतेय! जल में नमक डालने पर वह जलस्वरूप धारण करता है, किंतु उसकी क्षारता (खारापन) जल में रहती है। स्वाद में प्रतीत होती है। जब क्षरण होता है तब क्षारता भी समाप्त होती है।।८।। तद्वत मैं, तू यह भेद, स्वानंद के अनुभव में समरस होने पर, लुप्त होकर वह क्रमयोगी मुझमें प्रविष्ट होता है।।९।। जहां 'वह' की भाषा समाप्त होती है, तब मैं किसको कहेंगे? वह दोनों मद्रूप में समाविष्ट होते हैं।।१२१०।। कर्पूर जलने के उपरान्त अग्नि बुझकर नष्ट होता है। पश्चात् दोनों से अतीत दाह्य-दाहक भेद शून्य आकाश शेष रहता है।।११।। एक से एक घटाने पर विशेष शून्य शेष रहता है, वैसे हे पार्थ! है एवं नहीं एक दूजे से घट जाने पर केवल ब्रह्म शेष रहता है।।१२।। ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर आदि इस शब्द का स्वरूप स्थिति में कुछ स्वारस्य नहीं है। न बोलने को भी वहां अवकाश नहीं है क्योंकि शुद्ध ब्रह्म कौन से भी प्रकार से वाणी का विषय नहीं होता।।१३।। वहां न बोलना ही विपुल बोलना रहता है। ज्ञान एव अज्ञान की भावना छोड़कर स्वानुभव जाना जाता है।।१४।। ज्ञान से ज्ञान समझना। आनंद से आनंद लेना। सुख से केवल सुख निरन्तर भोगना है।।१५।। उस ब्रह्म स्वरूप में लाभ को फायदा होता है। प्रभा से प्रभा आलिंगित होती है। वहां अमर्याद आनंद, अपरोक्ष ज्ञान, अबाधित सत्य जानकर आश्चर्य में आश्चर्य डूब जाता है।।१६।। वहां साम्य को समता प्राप्त होती है। विश्राम विश्रांति लेने पहुंचता है। अनुभव, (आश्रय एवं विषय न दिखने से) भ्रमित होकर केवल अनुभूति के रूप में रहता है।।१७।। उस क्रमयोगी को शुद्ध, निर्मल ब्रह्मभाव प्राप्त होता है। ब्रह्मभावरूपी फल धारण करके क्रमयोग की लता विस्तारित होती है।।१८।। हे किरीटि! क्रमयोग का चक्रवर्ती सम्राट बने उस साधक के मुकुट में मैं ज्ञानरत्न विराजमान होता हूं। उसके बदले में वह मेरा भक्त बन जाता है।।१९।। या क्रमयोगरूपी प्रासाद पर मोक्ष का ऊंचा कलश है उसके ऊपर वह

विस्तार वहां।।१२२०।। संसार अटवी में पार्थ। चलकर क्रमयोग की उत्तम बाट। मदैक्य गांव में प्रविष्ट। सुनिश्चित।।२१।। और यही क्रमयोग ओघ से। उस भक्ति ज्ञान गंगा से। मेरे स्वानंदो दधि में जैसे। मीनत सवेग।।२२।। अतः इस सीमा तक महत्वपूर्ण। क्रमयोग की महिमा अर्जुन। इसलिये किया निवेदन। बारंबार तुझको।।२३।। किंतु देश काल पदार्थ। अनुकूलता से करना मुझको प्राप्त। ऐसा नहीं मैं सर्वात्मक स्वतः। सर्वस्व सबका।।२४।। अतः आने मेरे ठाई। न करना कष्ट कोई। प्राप्त इसी उपाय से। सत्य सत्य।।२५।। एक शिष्य एक गुरु। यह तो रूढ़ व्यवहारू। वह मत्प्राप्तिप्रकारू। जानने को।।२६।। निधान पृथ्वी के पेट में। अग्नि सोहि काष्ठ में। और दूध जैसा स्तन में। स्वयंसिद्ध।।२७।। किंतु यदि करना उनको प्राप्त। उपाय तो करना निश्चित। वैसा सिद्ध मैं सर्वगत। प्रयत्न से ही प्राप्त।।२८।। इस फलप्राप्ति उपरान्त। प्रस्ताव यह किमर्थ। तब सुनो अभिप्राय पार्थ। उसका ऐसा।।२९।। गीतार्थ का उत्तम गुण। जो वह मोक्षप्राप्ति का साधन। समस्त शास्त्रोपाय अन्य। न स्वयंप्रमाण।।१२३०।। वायु अभ्र को छाटत। न सूर्य को सृजत। या हाथ से शैवाल हटावत। किंतु न करे तोय।।३१।। वैसा आत्मदर्शन में बाधक। जो अविद्यामल विशेख। शास्त्र निर्मल करत अशेख। किंतु स्वयं प्रकाशक मैं।।३२।। अतः संपूर्ण शास्त्र। अविद्या विनाश का यंत्र। किंतु नहीं वे स्वतंत्र। आत्मबोधप्रद।।३३।। उस अध्यात्म शास्त्र को। सत्यप्रमाण अपना दिखाने को। शरण जाना जिसको। सो गीता यह।।३४।। प्राची भानू भूषित। सर्व दिशा करे प्रकाशित। वैसे शास्त्रेश्वर गीता से सनाथ। शास्त्र सब।।३५।। वैसे इस शास्त्रेश्वर ने पार्थ। बहुविस्तार से पूर्वी निवेदित। होवे आत्मा हस्तगत। सहज जिससे।।३६।। किंतु प्रथम श्रवण से कदाचित्। अर्जुन को न होवे स्पष्ट। इस भाव को कृपासहित। लेकर श्रीहरी।।३७।। वही प्रमेय पुनः एकबार। शिष्य मन में होने स्थिर। मुकुलित मुद्रा से लक्ष्मीवर। कहत अब।।३८।। यह समग्र गीता। पावत यहां संपूर्णता। अतः दिखावे एकार्थता। साद्यन्त में।।३९।। इस ग्रंथ के मध्य में। नाना अधिकार प्रसंग में। किया निरूपण सिद्धांत का उसमें। अनेक विश्व।।१२४०।। वही सब सिद्धान्त। इस शास्त्र में प्रस्तुत। पूर्वापर न जानते मानत। यदि ऐसा कोई।।४१।। अतः महासिद्धान्त की ऐक्यता। मिलाकर विविध सिद्धान्त पार्था। उपक्रम जो किया सर्वथा। उपसंहरत वह।।४२।। यहां अविद्यानाश यह स्थल। उससे मोक्षोपादन फल। इन दोनों को केवल। साधन ज्ञान।।४३।। नाना प्रकार से यही ज्ञान। सविस्तार किया प्रतिपादन। उसका ही करना निवेदन। संक्षेप से अब।।४४।। अतः यदि प्राप्त उपेय। तथापि कहने उपाय। पुनः प्रवृत्त हुए देव। इसी भाव से।।४५।।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

तब कहत हे सुभटा। वह क्रमयोगी यह निष्ठ-। से मैं होकर होवे पैठ। मद्रूप

क्रमयोगी अवकाश का विस्तार होता है।।१२२०।। हे पार्थ! संसाररूपी अरण्य में क्रम योग का सुन्दर मार्ग दिखाई दिया। वह मार्ग सीधा मेरे ऐक्यरूपी गांव में प्रविष्ट होता है।।२१।। भक्त चित्तरूपी गंगा प्रवाह से वह क्रमयोगी स्वानंदरूपी महासागर में वेग से प्रविष्ट होता है।।२२।। हे अर्जुन! क्रमयोग का महिमा इस सीमातक महत्वपूर्ण है। इसलिये तुम्हें पुनः-पुनः निवेदन किया है।।२३।। देश, काल एवं पदार्थ की अनुकूलता से प्रयत्नपूर्वक मुझे प्राप्त करना चाहिये, ऐसा मैं परिच्छिन्न वस्तुतः नहीं हूं। मैं स्वतः सिद्ध, सर्वात्मा, सर्वस्वरूप एवं सबका सर्वस्व हूं।।२४।। अतः मेरे प्राप्ति के लिये कौन से भी कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। मैं इस क्रमयोग के सरल मार्ग से निश्चित प्राप्त होता हूं यह त्रिवार सत्य है।।२५।। एक शिष्य एवं एक गुरु यह प्रसिद्ध संप्रदाय, मेरे प्राप्ति के लिये साधन एवं प्रकार तथा उसका फल जानने के लिये है।।२६।। पृथ्वी में जैसे सुवर्ण, चांदी आदि धातु सिद्ध रहती है। काष्ठ में अग्नि सिद्ध रहता है। एवं स्तन में जैसा दूध सिद्ध रहता है।।२७।। किन्तु सिद्ध पदार्थ प्राप्त करने के लिये कष्ट करने की आवश्यकता होती है वैसे ही मैं सिद्ध एवं सर्वगत होते ही मेरे प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। परमात्मा प्रत्येक के हृदय में नित्य व्याप्त रहता है। वह अज्ञान से अप्राप्त होता है। क्रमयोग से प्राप्त (प्रकट) होता है)।।२८।। हे पार्थ! फल प्राप्ति तक क्रमयोग का उपाय बताने के उपरान्त दूसरा उपाय क्यों बताया ऐसा यदि तुम्हारे मन में हो तो उसका अभिप्राय सुनो।।२९।। गीताबोध का यह गुण है कि संपूर्ण गीताशास्त्र मोक्ष्यप्राप्ति के सब उपाय बतानेवाला है। इसलिये श्री गीता के अर्थ को उत्तमत्त्व प्राप्त है। गीता का अनुसरण न करनेवाले अन्य शास्त्र द्वैत प्रतिपादक होने से प्रमाणसिद्ध नहीं है।।१२३०।। वायु केवल मेघों को हटाता है। सूर्य की निर्मिति नहीं कर सकता। हाथ से शैवाल हटाया जाता है किन्तु जल की निर्मिति नहीं की जाती?।।३१।। तद्वत आत्मसाक्षात्कार में प्रतिबंधक अविद्यामल है उसको शास्त्र के अध्ययन से नष्ट किया जाता है। मैं स्वयंप्रकाश हूं। (मेरे प्रकाशन में शास्त्र की आवश्यकता नहीं है)।।३२।। अतः सब अध्यात्म शास्त्र अविद्यानाश करने के लिये होते हैं। किंतु आत्मसाक्षात्कार कराने में वे स्वतंत्र नहीं है।।३३।। उस अध्यात्म शास्त्र को सत्य प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए श्री गीता की शरण लेना पड़ती है। ऐसी गीता की महत्ता है।।३४।। सूर्य से पूर्वदिशा भूषित होते ही सब दिशाएं आलोकित होती हैं। तद्वत सब शास्त्रों में श्रेष्ठ गीता से अन्य शास्त्र सनाथ हुए हैं।।३५।। हे पार्थ! शास्त्रेश्वर श्री गीता ने अन्य उपाय विस्तृत रूप से बताये हैं। उन उपायों से मानो आत्मा हस्तगत होती है।।३६।। किन्तु प्रथम श्रवण में ही उत्कृष्ट अधिकारी होते हुए अर्जुन को आत्मा का अनुभव नहीं होगा। अतः इस भाव को करुणावश मन में धारण करके श्री हरी ने।।३७।। वही प्रमेय पुनः शिष्य में दृढ़ होने के लिए प्रसन्न मुद्रा से लक्ष्मीपति श्री कृष्ण अब बताते हैं।।३८।। यह संपूर्ण गीता जहां समाप्त होती है। वहां सब अध्यायों की एक वाक्यता करके गीतार्थ का आदि से अन्त तक दिखा रहे हैं।।३९।। इस ग्रंथ के मध्य में अंतरंग एवं बहिरंग प्रकार विविध अधिकार प्रसंग में अनेक प्रकार से सिद्धांतों का निरूपण किया।।१२४०।। वह सब सिद्धान्त गीताशास्त्र में प्रस्तुत है। पूर्व एवं उत्तर ग्रंथ की संगति न जाननेवाले ऐसा यदि कहेंगे।।४१।। हे पार्थ! महासिद्धान्त के एकत्व में उपसिद्धान्तों को संबद्ध करके गीताशास्त्र जो उपक्रम है वही उपसंहार में बताकर गीता समाप्त होती है।।४२।। अविद्या निवृत्ति यह महा मूल विषय है। उसके माध्यम से मोक्ष प्राप्ति यह उसका फल है। इन दोनों का साधन केवल ज्ञान है।।४३।। यही सिद्धान्त विविध प्रकार से विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया है। उसका ही अब संक्षेप में निवेदन कर रहे हैं।।४४।। फलपर्यन्त निरूपण आने पर ही पुन्हा उपाय बताना प्रारंभ किया। उपक्रम में जो सिद्धांत बताया वही उपसंहार में बताकर भगवान पुनः बताने के लिये प्रवृत्त हुए।।४५।।

मेरा आश्रय लेनेवाला, सर्व कर्म सर्वदा करनेवाला, मेरी कृपा से नित्य शाश्वत, अव्यय पद प्राप्त करता है।।५६।।

हे अर्जुन! वह क्रमयोगी इन उपायों से ब्रह्मत्व की प्राप्ति करके मेरे शुद्ध स्वरूप में मद्रूप होकर

Funding by IKS-MoE

में।।४६।। स्वकर्म पुष्प से अर्जुन। करके मेरा सुपूजन। पावत प्रसाद पूर्ण। ज्ञानमार्ग का।।४७।। यह ज्ञाननिष्ठा प्राप्त जहां। भक्ति मेरी उल्लसित वहां। भजन समरस से सुखिया। होवे वहां।।४८।। और अखिल विश्व प्रकाशक को। मुझ अपने आत्मरूप को। अनुसरत सर्व व्याप्त को। धनुर्धर।।४९।। छोड़कर अपना रूप धन। आश्रय लेत जल में लवण। या घूमकर सर्वत्र व्योम में पवन। होवे स्थिर।।१२५०।। वैसे बुद्धि वाचा काया से। रहे जो मेरे आश्रय से। निषिद्ध कर्म भी अनजाने से। करे वह।।५१।। तब गंगा के संबंध में। एक नाले और महानदी में। जानो वैसे मेरे बोध में। शुभाशुभ सब।।५२।। या सामान्य काष्ठ और चंदन। तब तक ही दोनों भिन्न। जब तक न ग्रासत पूर्ण। अग्नि उनको।।५३।। देखो लोह और सुवर्ण। तब तक ही भिन्न वर्ण। जब तक पारस करे अंग मिलन-। से एकरूप।।५४।। वैसे शुभाशुभ कर्म पार्थ। तब तक ही रहे भिन्नत्व। जब तक न प्रकाशत। सर्वत्र मैं।।५५।। अरे! रात्रि और दिन। द्वैतभाव शेष अर्जुन। जब तक न प्रवेशत ग्राम। गभस्ति के।।५६।। अतः होते ही मुझसे भेंट। कर्म सब उसके समाप्त। साम्राज्य पर आरूढ़त। सायुज्य के वह।।५७।। देश काल स्वभाव से। संभव न नाश जैसे। पावे पद मेरा सहज से। अविनाश वह।।५८।। मुझ परमात्मा की प्रसन्नता। लभत जिसको पंडुसुता। लाभ उससे श्रेष्ठ सर्वथा। कौनसा जग में?।।५९।।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः । बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

इस कारण तुम अर्जुन। अपने कर्म जात पूर्ण। मेरे स्वरूप में संपूर्ण। करो संन्यस्त।।१२६०।। परंतु वही संन्यास सुवीर। न करना दिखावा मात्र। आत्मविवेक में लगावो समग्र। चित्तवृत्ति यह।।६१।। तब उस विवेक बल से। अपने को पृथक कर्म से। मेरे निर्मल स्वरूप में सहज से। देखोगे तुम।।६२।। और कर्म की जन्मभूमि किरीटी। होवे जो यह प्रकृति। अपने से बहु दूर निश्चिति। देखोगे तुम।।६३।। वहां यह प्रकृति माया। न शेष अपने से धनंजया। भिन्न न रूपबिन छाया। जिस प्रकार।।६४।। ऐसा जब प्रकृति नाश। होकर कर्म संन्यास। घटत बिन सायास। सकारण।।६५।। जब कर्मजात नष्ट तत्त्वता। केवल आत्मा शेष भारता। वहां बुद्धि को करके पतिव्रता। राखो तुम।।६६।। इस बुद्धियोग से अनन्य। मुझमें जब प्रवेशत अर्जुन। तब चित्त चैत्य त्याग से पूर्ण। भजत मुझको ही।।६७।। ऐसे चिंत्यविषय से मुक्त। चित्त मेरे ठौंई युक्त। रहेगा वैसा त्वरित। सर्वदा करो।।६८।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

ऐसी अभेद भक्ति से पांडव। चित्त मद्रूप होवे जब। मेरा प्रसाद संपूर्ण तब। जानो तुम।।६९।। वहां सकल दुःखधाम। भोगत जिससे मृत्यु जन्म। वही जो दुर्गम किंतु सुगम। होंगे तुझको।।१२७०।। देखो सूर्य का सहाय। चक्षु को प्राप्त जब कौंतेय। तब अंधकार का क्या होय। सामर्थ्य वहां?।।७१।। वैसे जब मेरे प्रसाद से। होवे

Funding by IKS-MoE

स्थिर होता है ।।४६।। हे अर्जुन! स्वकर्म पुष्प से मेरा सुपूजन करके ज्ञानमार्ग का पूर्ण प्रसाद मेरी कृपा से प्राप्त करता है ।।४७।। यह ज्ञाननिष्ठा जहां प्राप्त होती है वहां मेरी ज्ञान लक्षणा भक्ति प्रकट होती है। उस भक्तियोग से वह क्रमयोगी समरस होकर मेरे एकत्व में सुखी होता है ।।४८।। हे धनुर्धर! विश्व का प्रकाशक मुझ आत्मरूप को सर्वव्यापक समझकर, वह मेरा अनुसरण करता है ।।४९।। अपना धन रूप छोड़कर नमक जैसे जलरूप होकर रहता है। वायु सर्वत्र संचार करके आकाश में स्थिर होता है ।।१२५०।। तद्वत काया, वाणी एवं मन से जो मेरा आश्रय लेता है उससे कदाचित कभी निषिद्ध कर्म हो गये ।।५१।। किन्तु गंदी नालियां एवं महानदी गंगाजी में समर्पित होते ही गंगारूप होती है। तद्वत मेरे अनुभव ज्ञान से पापपुण्य को एकत्व प्राप्त होता है ।।५२।। सामान्य काष्ठ एवं चंदन यह भेद तब तक है जब वह अग्नि में अग्निरूप नहीं होता ।।५३।। लोह एवं सुवर्ण में तब तक ही भेद है। जब पारस का स्पर्श होता है तब दोनों ही सुवर्ण बनते हैं ।।५४।। हे पार्थ! वैसे शुभ एवं अशुभ कर्म का भेद तब तक ही होता है जब मैं सर्वत्र प्रकाशित होता हूं यह भेद नष्ट होता है ।।५५।। हे अर्जुन! रात्र एवं दिन में भेद तब तक है। सूर्य के ग्राम में प्रविष्ट होने पर यह भेद समाप्त होता है ।।५६।। अतः सब निषिद्ध एवं विहित कर्म मेरा मिलन होते ही मद्रूप होते हैं। वह क्रमयोगी सायुज्य मोक्ष के राजसिंहासन पर विराजमान होता है ।।५७।। देश, काल एवं स्वभाव से जिसका नाश नहीं होता ऐसा वह मेरा अविनाशी स्थान उसको प्राप्त होता है ।।५८।। आत्मा की प्रसन्नता उसको प्राप्त होती है। हे पंडुसुत! उस लाभ से ऐसा कौनसा श्रेष्ठ लाभ इस जग में है ।।५९।।

विवेक बुद्धि से सब कर्म मुझे समर्पित करके मुझमें तत्पर होकर सिद्धि एवं असिद्धि इन दो विषयों में समत्व से बुद्धि योग का आश्रय लेकर, सर्वकाल तुम्हारा चित्त मुझमें स्थिर करना ।।५७।।

हे अर्जुन! इस कारण से तुम अपने अब कर्म मेरे स्वरूप में समर्पित करो ।।१२६०।। हे सुवीर! सर्व कर्म संन्यास कृत्रिम नहीं होना चाहिये। सर्व कर्म करते समय चित्तवृत्ति आत्मविचार में लगाओ ।।६१।। तब विवेक के बल से कर्म से आत्मा को पृथक देखोगे। मेरे निर्मल शुद्ध स्वरूप में सहज स्वयं को अभिन्न पाओगे ।।६२।। हे किरीटि! कर्म की जन्मभूमि जो प्रकृति वह आत्मस्वरूप से बहुत दूर है (भिन्न है) ऐसा अनुभव होगा ।।६३।। हे धनंजय! रूप के बिना छाया नहीं होती वैसी यह प्रकृति मायारूप जानकर अधिष्ठान रूप आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं होती ।।६४।। इस प्रकार से प्रकृति की बाधा समाप्त होते ही सकारण कर्म का संन्यास अनायास होता है ।।६५।। जब तत्त्वतः कर्म नष्ट होते हैं तब हे भारत! केवल आत्मा शेष रहता है। उस आत्मस्वरूप में बुद्धि को पतिव्रता सदृश स्थिर करो ।।६६।। हे अर्जुन! अनन्ययोग से जब बुद्धि मुझमें प्रविष्ट होती है, तब चित्त अन्य चिंतन विषयों का त्याग करके मेरे अकेले को ही पूर्ण भजता है ।।६७।। इस प्रकार से चिंतन विषयों का त्याग किया हुआ चित्त सर्वकाल मेरे में स्थिर होगा। ऐसा उपाय शीघ्र करना ।।६८।।

तुम मेरे में चित्त रखनेवाला होने पर मेरी कृपा से सब दुःख संकटों से पार पावोगे। यदि अहंकार से तुम मेरा नहीं सुनोगे तब तुम्हारा निश्चित नाश होगा ।।५८।।

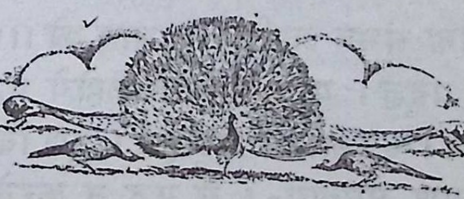

अनन्य भक्ति से जब चित्त भगवन्मय होगा तब मेरा प्रसाद संपूर्ण प्राप्त हुआ ऐसा तुम समझना ।।६९।। सब दुःखों का जन्म स्थान, जिसके कारण पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु भोगने पड़ते हैं, वह दुर्गम होते हुए भी तुम्हें सुगम होगा ।।१२७०।। हे कौंतेय! जब नेत्र को सूर्य की सहायता मिलती है, तब अंधेरे का सामर्थ्य क्या होता है? ।।७१।। तद्वत मेरे कृपा प्रसाद से जिसका जीवांश नष्ट होता है, वह संसाररूपी हव्वा से भयभीत होकर दुःखी कैसा

जीवांश का नाश जैसे। वह संसार हव्वा से। होवे दुःखित कैसे?।।७२।। अतः हे गुडाकेश। तुम संसार दुर्गति से इस। त्रस्त उबारोगे अशेष। प्रसाद से मेरे।।७३।। अथवा अहंभाव पर सवार। मेरा बोलना यह समग्र। कर्ण मन के सीमा पर। न लायेगा तू।।७४।। यदि नित्य अव्यय मुक्त। जो तुम अब होकर व्यर्थ। देहसंबंध का घाव बलिष्ट। सहोगे तुम।।७५।। जिस देह संबंध से पार्थ। प्रतिपद पर आत्मघात। भोगते विश्राम किंचित। कदापि नाही।।७६।। इतना यह दारुण। मरणबिन मरण। भोगेगा यदि कथन। न मानेगा मेरा।।७७।।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

पथ्य द्वेषी का बढ़त ज्वर। दीपद्वेषी का अंधःकार। विवेक द्वेष से अहंकार। पोषत वैसा।।७८।। स्वदेह को नाम अर्जुन। यरदेह को नाम स्वंजन। संग्राम को नाम मलिन। पापाचार।।७९।। ऐसे तीनों के नाम तीन। स्वबुद्धि से रखकर अर्जुन। न करूं मैं युद्ध कृष्ण। कहोगे तुम।।१२८०।। ऐसा यदि मन में निश्चित। लेओगे निर्णय तुम पार्थ। किंतु स्वभाव तेरा जन्मजात। करेगा व्यर्थ वह।।८१।। और मैं अर्जुन ये आत्मिक। इनका वध महापातक। यह तो मायाबिन कुछ तात्त्विक। सोचो तुम।।८२।। पहले तो योद्धा बनना। जूझने को 'शस्त्र लेना। पश्चात न जूझने की करना। प्रतिज्ञा दृढ़।।८३।। अतः युद्ध न करना। व्यर्थ यह कहना। लोकदृष्टि से भी अर्जुना। न मानु मैं।।८४।। तब न लढ़ू मैं ऐसे। निश्चित किया जो मानस से। वह तेरी प्रकृति विरुद्ध तुझसे। करावेगी सहजता से।।८५।।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्तु नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

पानी बहते पूर्व को। तैरना चाहो पश्चिम को। तब आग्रह से उसे पूर्व दिशा को। खीचे वह।।८६।। अथवा कहे यदि धान का कण। न होऊं मैं धानपन से उत्पन्न। क्या बदलना संभव अर्जुन। स्वभाव को।।८७।। वैसा क्षात्र संस्कार सिद्ध। प्रकृति धर्म से बना प्रबुद्ध। यदि न करूं कहोगे युद्ध। किंतु करावेगा तुझसे।।८८।। 'शौर्य तेज दक्षता। एवमादिक पंडुसुता। गुण दिये जन्मता। प्रकृति ने तुझको।।८९।। इसलिये इस गुण समवाय-। से युद्ध न करते धनंजय। बैठना चुपचाप न संभव। कदापि कभी।।१२९०।। अतः इन गुणों से बद्ध सर्वथा। हे कोदंडपाणी पार्था। क्षात्रमार्ग से ही निश्चित तत्त्वता। जाओगे तुम।।९१।। यदि अपना जन्ममूल। न सोचकर केवल। न लढूं ऐसे अचल। व्रत लेवोगे तुम।।९२।। तब बांधकर पांव हाथ। रथ में जिसको रखा पार्थ। न चले तथापि जात। दिगंत में जैसा।।९३।। वैसे तुम अपने से। मैं कुछ न करूं ऐसे। स्वस्थ बैठकर भी भरोसे से। करोगे युद्ध तुम।।९४।। उत्तर विराट का राजपुत्र। रण से जब भागा पार्थ। किया युद्ध वही क्षात्रस्वभाव निश्चित। लढ़ावेगा तुझको।।९५।। महावीर अकरा अक्षौहिणी। अकेले तूने किया पराजित रणीं (रण में)। वही स्वभाव कोदंडपाणी। जुझावेगा तुझको।।९६।। क्या रोग प्रिय

होगा।।७२।। अतः हे गुड़ाकेश मेरे कृपाप्रसाद से संसार दुर्गति से त्रस्त तुम तर जावोगे।।७३।। अथवा अहंकार से तुम मेरे समग्र वाणी को कर्ण एवं मन के सीमा का स्पर्श नहीं होने देगा।।७४।। तब 'तुम नित्य मुक्त अविनाशी ब्रम्ह हो' यह तुम्हारी स्थिति होने पर भी तुम्हे वह न समझने के कारण व्यर्थ होगी। देह तादात्म्य का तीव्र आघात तुम्हें सहना होगा।।७५।। हे पार्थ! देह तादात्म्य में प्रति पद आत्मघात है। वह भोगते हुए जीव को कभी विश्राम नहीं मिलता।।७६।। यदि तुम मेरी वाणी मान्य नहीं करोगे तब तुम्हें मरण बिन दारुण मृत्यु भोगना पड़ेगा।।७७।।

अहंकार का आश्रय करके 'युद्ध नहीं करेंगे' यह तुम्हारा निश्चय व्यर्थ है। तुम्हारा क्षात्र स्वभाव तुम्हें युद्ध के लिए प्रवृत्त करेगा।।५९।।

पथ्य का द्वेष करने से ज्वर बढ़ता है। दीपक का द्वेष करने से अंधःकार को बढ़ावा मिलता है। विवेक का द्वेष करने से अहंकार बढ़ता है।।७८।। स्वयं के देह को अर्जुन नाम, दूसरों के देह को स्वजन नाम एवं युद्ध को पापकर्म कहना।।७९।। इस प्रकार से तीनों को तीन नाम रखकर, हे सुमन! हे कृष्ण 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा तुम कहोगे।।१२८०।। हे पार्थ! ऐसा यदि मन में तुम निश्चित निर्णय करोगे, किन्तु तेरा जन्मजात स्वभाव वह व्यर्थ करेगा।।८१।। मैं अर्जुन हूं। एवं विपक्ष में मेरे आत्मीय जन हैं। उनका वध करना पाप है। माया के बिना इसमें कुछ तत्त्व नहीं है। तुम सोचो।।८२।। प्रथम योद्धा बनकर युद्ध करने के लिए शस्त्रधारण करना। पश्चात न युद्ध करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करना।।८३।। हे अर्जुन! 'मैं युद्ध नहीं करूंगा'! ऐसा तुम कहते हो वह व्यर्थ है। लोक दृष्टि से भी यह मैं मान्य नहीं करूंगा।।८४।। युद्ध न करने का तुम्हारा निश्चय है। उसके विरुद्ध तुम्हारी प्रकृति तुमसे युद्ध करायेगी।।८५।।

क्षत्रियों के रजोगुण से स्वभाविक उत्पन्न, पूर्व जन्म के संचित कर्म से एवं त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्वभाव से निर्माण स्वयं के कर्म का तुम्हें बंधन है। अज्ञान से युद्ध न करने की प्रतिज्ञा का त्याग करके स्वभाव के अधीन होकर तुम युद्ध करोगे।।६०।।

जल पूर्व दिशा में बहते हुए उसके विरुद्ध पश्चिम दिशा में तैरने का प्रयास करने पर जल तुम्हें अपने प्रवाह के मर्यादा में लावेगा।।८६।। धान का कण यदि धान बनना नहीं चाहता। हे अर्जुन! उसकी मूल जाति बदलना क्या संभव है?।।८७।। तद्वत क्षात्र संस्कार से सिद्ध प्रकृति से तुम्हारा जन्म हुआ है (हे प्रबुद्ध!) 'युद्ध नहीं करेंगे' ऐसा कहने पर तुमसे युद्ध करावेगा।।८८।। हे पंडुसुत! शौर्य, तेज एवं दक्षता आदि गुण तुम्हें जन्मतः प्राप्त हैं।।८९।। हे धनंजय! इन गुण समुदाय से युद्ध न करते चुपचाप बैठना कदापि संभव नहीं है।।१२९०।। हे कोदंडपाणी पार्थ! तुम इन गुणों से बद्ध हो। अतः निश्चित ही क्षात्र मार्ग से ही तत्त्वतः तुम निश्चित जावोगे।।९१।। अपने जन्म का मूल-क्षात्रधर्म इनका विचार न करते हुए युद्ध न करने का अचल व्रत यदि तुम लोगे।।९२।। हे पार्थ! हाथ, पैर बांधकर जिसको रथ में रखा है, वह स्वयं न चलते हुए गंतव्य तक पहुंच जाएगा।। दिगंत में जायेगा।।९३।। 'मैं कुछ नहीं करूंगा' ऐसा कहते हुए स्तब्ध बैठोगे। किन्तु तुम निश्चित युद्ध करोगे।।९४।। हे पार्थ! विराट का राजपुत्र उत्तर जब रण से भागा तब तुमने युद्ध किया। यही तुम्हारा क्षात्र स्वभाव तुम्हें निश्चित लड़ावेगा।।९५।। हे कोदंडपाणी। ग्यारह अक्षोहिणी महावीरों को तुमने अकेले युद्ध में पराजित किया। वही तुम्हारा स्वभाव तुम्हें युद्ध करने के लिए बाध्य करेगा।।९६।। रोगी को क्या रोग प्रिय होता है? दरिद्री को क्या दारिद्र्य पसंद है। किन्तु बलिष्ठ

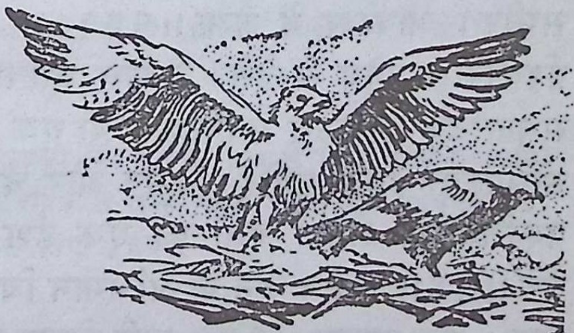

Funding by IKS-MoE

रोगी को?। भाये दारिद्रय दरिद्री को। किंतु प्रारब्ध बलिष्ट उनको। भोगवत वह।।९७।। वह अदृष्ट अर्जुन। न करेगा ईश्वरवश से भिन्न। वही ईश्वर स्थित जान। हृदय में तेरे।।९८।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

सर्व भूतों के अन्तर में। हृदय महाअंबर में। चिद्वृत्ति के सहस्त्र कर में। उदित जो।।९९।। अवस्थात्रय तीनों लोक। आलोकित करके अशेख। किये अन्यथादृष्टि पांथिक। जागृत पार्थ।।१३००।। वेद्योदक के सरोवर में। विकसते विषय कल्लार में। चरावे इंद्रिय षट पदों को उसमें। जीवभ्रमर को।।१।। रहने दो यह रूपक वह ईश्वर। सकल भूतों का अहंकार। ओढ़कर निरन्तर। प्रकटत पार्थ।।२।। स्वमाया का आडवस्त्र। पहनकर अकेला चलावे सूत्र। बाहिर नचावे छाया चित्र। चौर्यांशी लक्ष।।३।। उन ब्रह्मादि कीटांत को। अशेष भूत जात को। देहाकार सृजत उनको। योग्यतानुरूप।।४।। जो देह जिसको पार्थ। अनुरूपपन से प्राप्त। वह भूत उसपर आरूढ़त। सोचूं यही मैं।।५।। सूत्र ग्रथित सूत्र से। तृणबद्ध तृण से। मानत आत्मबिंब को स्वरूप जैसे। बालक जल में।।६।। देहाकार से उसी प्रकार। अपने को दूसरा मानकर। जीव उसका करे स्वीकार। आत्मबुद्धि से।।७।। इस विध शरीर यंत्रपर। बिठकर जीव को सुवीर। चलावत सूत्र वह ईश्वर। प्राक्तन का।।८।। वहां जिसको जो कर्मसूत्र। नियमित किया स्वतंत्र। वह उसी गति को पात्र। होवे पार्थ।।९।। किंबहुना धनुर्धर। भूतों को स्वर्ग संसार-। मध्ये घुमावत तृण को समीर। आकाश में जैसा।।१३१०।। भ्रामक के संग से। लोहा गोल घूमे जैसे। ईश्वरसत्ता योग से वैसे। चेष्टत भूत।।११।। जैसे क्रियाएं अपनी अनेक। चकोर समुद्रादिक। चेष्टत सानिध्य से ही एक। चंद्र के पार्थ।।१२।। सिंधु को चढ़े ज्वार। सोमकान्त द्रवत सुवीर। कुमुद और चकोर-। का संकोच नष्ट।।१३।। वैसे बिना प्रकृतिवश। अनेक भूतों को एक ईश। चेष्टवत जो उसका वास। है हृदय में तेरे।।१४।। अर्जुन जन के अभिमान बिन। मैं ऐसा हृदय में जो मैंपन। वही तत्त्वता जान। रूप उसका।।१५।। वही ईश्वर तेरे हृदयस्थ। करेगा युद्ध को प्रवृत्त। यदि न करोग युद्ध स्वतः। तथापि करावेगा वह।।१६।। अतः ईश्वर सर्वाधिपति। देवे वह जैसी प्रकृति। वर्तत अनुरूप उसके किरीटि। इंद्रियां अपनी।।१७।। तुम दोनों करना न करना। आधीन प्रकृति के जानना। और प्रकृति भी वश में अर्जुना। हृदयस्थ के जिस।।१८।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम्।।६२।।

उसको अहं वाचा चित्त अंग। अर्पण करके शरण रिग (प्रवेश)। महोदधि में उदक गांग। रीगत जैसे।।१९।। जब उसके प्रसाद से। सर्वोपशांति प्रमदा का जैसे। कांत होकर रमेगा स्वानंद से। निजरूप में।।१३२०।। जो उत्पत्ति का कारण। विश्रांति

प्रारब्ध उन्हें भोगना पड़ता है।।९७।। वह अदृश्य प्रारब्ध कर्म, ईश्वर के अधीन होने से ईश्वराज्ञा के विरुद्ध नहीं करेगा। वही ईश्वर तुम्हारे हृदय में स्थित है।।९८।।

ईश्वर मायाबल से देहरूपी यंत्र पर अहंकार द्वारा आरूढ़ होकर भूतमात्र को घुमाता रहता है। वही भूतमात्र के हृदय में स्थित है।।६१।।

सब भूतों के हृदय में, अंतःकरणरूपी महाकाश में समष्टि जीवों के ज्ञानरूप बुद्धि वृत्तियों के हजारों किरणों से उदित हुआ है।।९९।। हे पार्थ! ईश्वर जीव को अज्ञानजन्य जीवदशा भोगने के लिये जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, ऐसी तीन अवस्थाओं का प्रकाशन करता है। भ्रान्त जीवों को मुक्त करने के लिए वेद, शास्त्र एवं गुरुद्वारा ज्ञान का उपदेश करते हैं।।१३००।। ज्ञेयरूपी सरोवर में विषयरूपी कमल विकसित होनेपर इंद्रिय रूपी भ्रमर को (क्षोत्र, त्वक्, चक्षु, जिव्हा, घ्राण एवं मन यह षट्पद) विषयरूपी कमलका सुगंध खिलाता है। जीव के सब इंद्रियों का प्रेरक ईश्वर है। वह कर्म के अनुसार शब्दादि द्वारा सुख दुःखादि फल भोगने के लिए बाध्य करता है।।१।। हे पार्थ! यह रूपक रहने दो। वह ईश्वर सब भूतों का अहंकार रूपी वस्त्र ओढ़कर अखंड प्रकट होता रहता है।।२।। माया के पर्दे के पीछे रहकर अकेला ईश्वर जीव के अहंकार का सूत्र पकड़कर विविध रूपों से जीवरूपी छायाचित्र को (गुड़ियों को) नचाता है।।३।। ब्रह्मदेव से कृमि पर्यंत सब प्राणियों को उनके कर्म के अनुसार अधिकार प्राप्त कराकर देह के विभिन्न आकार बताता है।।४।। जो देह अधिकार के अनुसार प्राप्त होता है उसको उसी देह में आसक्ति होती है।।५।। धागा धागे में उलझा रहता है। घास, घास के बांधा जाता है। छोटा बालक जल में प्रतिबिंब देखकर उसे अपना स्वरूप समझता है।।६।। तद्वत देह को ही आत्मा समझकर उसमें आत्मबुद्धि रखकर मनुष्य देव, पशु, पक्षी आदि देहों के रूप में प्रकट होता है।।७।। हे सुवीर! इस प्रकार से देहरूपी यंत्र पर जीव को बिठाकर वह ईश्वर प्राक्लन का सूत्र चलाता है।।८।। हे पार्थ! जिसके लिये जो कर्मसत्र स्वतंत्र तैयार करके रखा है वह उसी योनी के गती को पात्र होता है।।९।। हे धनुर्धर! वायु तृण को आकाश में जैसा घुमाता है वैसा स्वर्ग एवं संसार में प्राणिमात्र को उनके कर्म के अनुसार घुमाता है।।१३१०।। लोह चुंबक के सान्निध्य में लोहा जैसा गोल घूमता है वैसे ईश्वर सत्ता से प्राणिमात्र सब क्रिया करते हैं।।११।। केवल चंद्रोदय से समुद्र, चकोर, कुमुद, चन्द्रकान्त मणि अपने अपने व्यवहार करते हैं।।१२।। हे सुवीर! समुद्र को ज्वार चढ़ता है। सोमकान्त मणि द्रवित होने लगता है। कुमुद कमलिनी एवं चकोर का संकोच नष्ट होता है।।१३।। सर्व विश्व का उपादान कारण प्रकृति के अधीनस्थ प्राणि विश्व के निमित्तकारण ईश्वर से गतिमान होते हैं। वही ईश्वर तुम्हारे हृदय में है।।१४।। अर्जुनपन के अभिमान के बिना 'मैं' की सामान्य स्फूर्ति ही ईश्वर का स्वरूप है।।१५।। तुम्हारे हृदय में स्थित ईश्वर तुम्हें युद्ध के लिए प्रवृत्त करेगा। स्वतः तुम यदि युद्ध नहीं करोगे तो भी वह तुमसे युद्ध करावेगा।।१६।। हे किरीटी! वह ईश्वर सर्वाधिपती है। जैसी प्रकृति वह देता है। उसके अनुरूप अपनी इंद्रियां व्यवहार करती हैं।।१७।। करना या न करना यह दोनों प्रकृति के अधीन समझना। एवं हे अर्जुन! प्रकृति हृदय में स्थित ईश्वर के अधीन है।।१८।।

उसकी तुम अनन्य भाव से शरण लेना। उसके कृपाप्रसाद से तुम्हें परम शांति एवं शाश्वत पद प्राप्त होगा।।६२।।

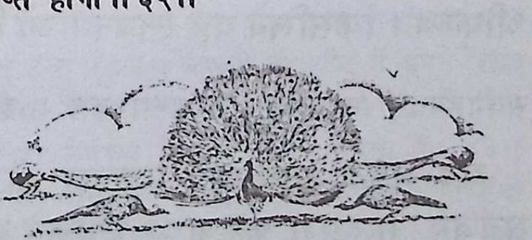

इस प्रकार से अहंकार, वाणी, चित्त एवं देह देकर, जिस प्रकार से गंगा नदी समुद्र में जैसी एकरूप होती है, वैसे तुम सर्वभाव से शरण जावो।।१९।। ईश्वर की कृपाप्रसाद से अविद्या निवृत्तिरूपी तरुण स्त्री का पति होकर स्वानंद में आत्मा से अभिन्न ब्रह्मरूप में तू रमण करेगा।।१३२०।। जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है। जो विश्रांती का विश्रामस्थान है।

का विश्रामस्थान। अनुभूति ही लेत पूर्ण। अनुभव जिसका।।२१।। उस निजात्म पद का राव। होकर रहेगा अव्यय। कहत पार्थ को माधव। सुनिश्चित।।२२।।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

यह गीता नाम विख्यात। सर्व वाङ्मय का मथित। आत्मा जिससे हस्तगत। रत्न होय।।२३।। ज्ञान ऐसी रूढ़ी। वेदान्त में जिसकी प्रौढ़ी। वर्णन से कीर्ति चोखड़ी। प्राप्त जग में।।२४।। इंद्रियगम्य जो ज्ञान। जिसके अत्यल्प किरण। उस सर्वदृष्टा का भी दर्शन। पाया जिसने।।२५।। सो यह आत्मज्ञान। मुझ गौप्य का गुप्त धन। छिपाना अशक्य अर्जुन। जो मेरे तुम।।२६।। इसी कारण किरीटि। अपनी यह गुप्त संपत्ति। दी तेरे हाथ संप्रति। करुणायुक्त।।२७।। जैसी प्रेम से भ्रमित। बालोद्देश्य से माता बोलत। साच यह प्रीति की रीत। किंतु मैं न करूं वैसा।।२८।। यहां आकाश भी छानना। अमृत को भी छीलना। अथवा दिव्य से करवाना। दिव्य जैसे।।२९।। जिसके अंग प्रकाश से। दिखे पाताल का परमाणु वैसे। उस सूर्य को भी डालना जैसे। अंजन पार्थ।।१३३०।। वैसा मैं सर्वज्ञ अर्जुन। करके निर्धारण पूर्ण। नीका वही निरूपण। किया तुझको।।३१।। अब इसके ऊपर। करो नीका निर्धार। निर्धारण से भाये जो आचार। करो वही।।३२।। सुनकर वह कृष्ण वचन। निवांत रहे अर्जुन। देखकर कहे कृष्ण। अच्छे अवंचक तुम।।३३।। परोसते सम्मुख बुभुक्षित। संकोच से कहे मैं तृप्त। रहे क्षुधापीड़ित और प्राप्त। असत्य दोष।।३४।। वैसे, सर्वज्ञ श्रीगुरु सुवीर। भेटत तब आत्मनिर्धार। न पूंछत धरे आभार। धनंजय।।३५।। तब लाभ अपना गमावत। वंचित करे स्वयं को स्वतः। और पाप भी वंचना का प्राप्त। उसको पार्थ।।३६।। वैसा यह तेरा मौन। क्या इसी कारण अर्जुन। जो एकबार कहूं पुनः। ज्ञान यही।।३७।। तब पार्थ कहे भगवंत!। अच्छा जाना मेरा चित्त। कहूं यदि दूसरा ज्ञाता अच्युत। कौन मेरा?।।३८।। यह विश्व ज्ञेय समस्त। ज्ञाता आप एक स्वभावतः। क्या सूर्य को बखानना प्रशस्त। सूर्यही कहकर।।३९।। तब कहत श्रीकृष्ण। किसलिये यह स्तवन। जो किया इतना वर्णन। क्या कम वह?।।१३४०।।

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अब अपना अवधान। एकबार और करके विस्तीर्ण। सुनो मेरा निर्मल वचन। धनंजय!।।४१।। जो वाच्य इसलिये बोलना। अथवा श्राव्य यह सुनना। ऐसा न यह ज्ञान अर्जुना। पाया भाग्य से तुमने।।४२।। शिशु के लिये कूर्मी को। पान्हा फूटत दृष्टि को। या आकाश वहत पानी को। चकोर गृह के लिये।।४३।। जो व्यवहार न होवे जहां। उसी का फल पावे वहां। क्या न लभत जब हुआ। सानुकूल दैव।।४४।। वैसे द्वैत का फेरा पार्थ। टालकर ऐक्य गृह में यथार्थ। भोगना जो निवान्त। ऐसा दुर्लभ जो।।४५।। और निरुपचार जो प्रेम। उसका विषय जो प्रियोत्तम। न दूजा वह आत्मा स्वयम्। जानो तुम।।४६।। दर्पण करना निर्मल। न उसके लिये केवल। देखने

अनुभूति जिसका पूर्ण अनुभव लेती है।।२१।। तुम उस अविनाशी पद का राजा बनकर रहोगे, ऐसा श्रीमाधव पार्थ को सुनिश्चित कहते हैं।।२२।।

तुम्हें गुह्य से गुह्यतर ऐसा ज्ञान मैंने बताया है। इसका विचार करके अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करो।।६३।।

यह गीता नाम से प्रसिद्ध सर्व वाङ्मय का (सार) निचोड़ ऐसा ज्ञान तुम्हें बताया है। इस ज्ञान से आत्मा रूपी रत्न हस्तगत होता।।२३।। आत्मज्ञान नामक प्रसिद्ध शब्द से जिसकी महत्ता वर्णन करने से वेदों को जग में शुद्ध कीर्ति प्राप्त हुई है।।२४।। बुद्धि, इंद्रियां आदि ज्ञानदायक पदार्थ के अति अल्प किरण हैं। (ज्ञातृज्ञेय विहीन आत्मस्वरूप ज्ञान बुद्धिर्पण आदि पदार्थों एवं ईश्वर के सर्वज्ञता का उपजीव्य है) उस सर्वदृष्टा का जिसने दर्शन प्राप्त किया है।।२५।। वही 'यह आत्मज्ञान रहस्य का गुप्तधन है। तुम मेरे प्रिय भक्त हो। तुमसे छिपाना अशक्य है।।२६।। हे किरीटी! इसी कारण से करुणा से युक्त होकर अपना यह गुप्त धन तुम्हें दिया है।।२७।। प्रेम से भ्रमित होकर माता बालक से क्रोध में अपशब्द भी कहती है (उसमें बालक का हित होवे यही भाव रहता है) यह प्रीति की सत्य पद्धति है। मेरा तुम पर प्रेम है। किन्तु उस माता सदृश अज्ञानवश नहीं है। मैं सर्वज्ञ होने के कारण अयथार्थ नहीं कहता।।२८।। आकाश सूक्ष्म होते हुए उसको भी छानकर लेना (गीता शास्त्र में भगवान यथार्थ एवं तत्त्व का सार बताते हैं। वह अत्यंत सूक्ष्म है) अमृत को भी छीलना (अमृत अंतर्बाह्य मधुर है) या दिव्य से दिव्य करवाना।।२९।। जिसके शरीर के प्रकाश में पाताल का परमाणु भी दिखता है। उस सूर्य को भी जैसे अंजन लगाना।।१३३०।। हे अर्जुन! मैं सर्वज्ञ हूं। वेद आदि सब ग्रंथों का विचार करके जो योग्य है। वह तुम्हें मैंने बताया है।।३१।। **अब इसके अनन्तर** तुम उत्तम निर्धार करो। **निर्धार करके जो आचार** तुम्हें योग्य प्रतीत होगा वही करो।।३२।। कृष्णवचन सुनकर अर्जुन स्वस्थ रहा। यह देखकर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! ज्ञान संबंधी प्रश्न करने में निःसंकोच श्रोता हो। मन की शंका तुम प्रकट करते हो।।३३।। भूखे के सन्मुख अन्न परोसने पर भी वह 'मुझे कुछ नहीं चाहिये' ऐसा जब कहता है तब वह स्वयं भूखा रहता है। साथ हि असत्य का दोष उसे लगता है।।३४।। वैसे वीरश्रेष्ठ, सर्वज्ञ श्रीगुरु की प्राप्ति होने पर आत्मनिर्धार के विषय में न पूछते हुये मन में आभार का भाव धनंजय रखता है।।३५।। तब अपना लाभ वह गवावेगा। स्वयं अपने को ठगायेगा। एवं हे पार्थ! ठगाने का पाप भी उसे लगेगा।।३६।। वैसा तुम्हारा यह मौन, हे अर्जुन क्या इसी कारण है, की मैं एक बार वही ज्ञान तुम्हें फिर बतावूं।।३७।। तब पार्थ ने कहा, हे भगवन! आपने मेरे मन का अभिप्राय समझ लिया है। हे अच्युत! प्रत्येक का अंतरंग जाननेवाला तुम्हारे बिना दूसरा ज्ञाता कौन मेरा है।।३८।। अन्य सब पदार्थ जड़ हैं। तुम स्वभावतः चेतन ज्ञाता हो। सूर्य की स्तुति सूर्य कहते हुए कहना क्या योग्य है?।।३९।। अर्जुन के कहने पर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा "शब्द से वर्णन करने की क्या आवश्यकता? जो इतना वर्णन किया वह क्या कम ही है?।।१३४०।।

सब में अत्यंत गुह्यतम ऐसा मेरा श्रेष्ठ वचन हे अर्जुन तुम पुनः एक बार सुनो। तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो अतः तुम्हें मैं यह हितकारी वचन सुनाता हूं।।६४।।

हे धनंजय! अपना अवधान विस्तृत करके मेरी निर्दोष वाणी और एक बार सुनो।।४१।। हे अर्जुन! यह ज्ञान कहने लायक है इसलिये मैं कहता हूं। या सुनने लायक है इसलिये तुम सुन रहे हो ऐसा नहीं है। तुम्हारा भाग्य श्रेष्ठ है। इससे तुम्हें यह ज्ञान प्राप्त हुआ।।४२।। कछवी की दृष्टि में अपने शिशु के लिए पोषण तत्त्व है। चकोर के गृह के लिए आकाश मेघरूप में जल धारण करता है।।४३।। जहां जो व्यवहार नहीं होता उसीका फल सौभाग्य के बिना नहीं मिलता। अनुकूल दैव से क्या प्राप्त नहीं होता?।।४४।। हे पार्थ! जीव ब्रह्म का द्वैत का फेरा समाप्त करके ब्रह्मैक्य के अंतरंग में जो अनुभव लेना वह रहस्य है यह ध्यान में रखना।।४५।। हे प्रियोत्तम अर्जुन! भोगनिरपेक्ष जो प्रेम का विषय आत्मा ही होता है। दूसरा कोई नहीं। इसको तुम जानो।।४६।। दर्पण के लिये दर्पण स्वच्छ नहीं किया जाता। उसमें अपना उज्वल स्वरूप देखने के लिये

अपना रूप उज्जवल। इसीलिये।।४७।। वैसे पार्थ तेरे मिष से। बोलू मैं अपने उद्देश्य से। तेरे मेरे ठँयी कैसे। मैं-तू पन कोई।।४८।। यह हृदय के गुह्य को। कहूं जीव को ही तुझको। जो अनन्य गतिक का मुझको। व्यसन सदा।।४९।। छोड़कर स्वरूप को लवण। जल में होते विलीन। जलरूप होत संपूर्ण। न त्यजे वह।।१३५०।। वैसे तुम मेरे ठँयी। गुह्य न रखत कुछही। तब कहो कैसे तुझसे कोई। राखूं गौप्य?।।५१।। अतः अशेष गूढ़ पार्थ। किया सम्मुख अति स्पष्ट। वह गुह्यातिगुह्य शुद्ध समस्त। सुनो मेरा।।५२।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

अपना सर्वहि व्यापार। बाह्य और अभ्यंतर। मैं सर्वव्यापी परमेश्वर। करो विषय मुझको।।५३।। वायु सर्वतोपरि जैसे। मीनत आकाश में वैसे। रहो तुम सब कर्मो में तैसे। मुझमें ही पार्थ।।५४।। किंबहुना अपना मन। करके मेरा एकायतन। मेरेही श्रवण से कर्ण। भरो सदा।।५५।। आत्म ज्ञान से संपन्न। जो सन्त मेरा ही रूप जान। लुब्ध होवे वही तेरे नयन। कामिनी पर जैसे।।५६।। मैं सबका वसतिस्थान। सुन्दर नाम मेरे जो अर्जुन। भेजो उनको अंतःकरण-। मैं वाचा पथ से।।५७।। हाथों से जो करना। या पांव से चलना। होवे मेरे ही लिये अर्जुना। करो ऐसे।।५८।। अपने या औरों के लिये पार्थ। किया सब करो मुझको समर्पित। उस यज्ञ से बनो नीका निश्चित। याज्ञिक मेरे।।५९।। कितना यह पढ़ाऊं एकेक। करो अपने को सेवक-। भाव से सेव्य इतर जग लोक। धनुर्धर।।१३६०।। वहां लुप्त होकर भूतद्वेष अशेख। सर्वत्र नमोनमः मैं एक। इससे आश्रय अत्यंतिक। पावोगे तुम मेरा।।६१।। तब इस भरे जगत में पार्थ। तीजे की होकर लुप्त बात। तेरा मेरा होगा एकान्त। निरन्तर।।६२।। तब किसी भी अवस्था में संतत। मैं तुझको तुम मेरे को निश्चित। भोगोगे ऐसा सहज वर्धत। सुख नित्य।।६३।। और तीजा प्रतिबंध जहां। अर्जुन संपूर्ण नष्ट हुआ। मैं ही होकर मुझको अन्त में वहां। पावोगे तुम।।६४।। देखो पवन अंबर को। या कल्लोल सागर को। मिलते बाध्य उनको। कौन सी पार्थ?।।६५।। जैसे जल में प्रतिबिंब। जलनाश से वही बिंब-। होते बोलो प्रतिबंध। कोई वहां।।६६।। अतः तुम और हम। दिखत यह जो देहधर्म। पावत जब विराम। होवे मैं ही।।६७।। इस कथन में किंचित। यदि कुछ भी विपरीत। तब साच अर्जुन शपथ। मुझको तेरी।।६८।। यहां शपथ तेरी लेना। यह तो आत्मलिंग को ही स्पर्शना। प्रीत की जाति में लजाना। न संभव कदा।।६९।। वैसे जो वेद्य निष्प्रपंच। भासत जिससे विश्वाभास साच। उसकी आज्ञा का नटनाच। जीतत काल को।।१३७०।। वह देव मैं सत्य संकल्प। जग का हितकर्ता बाप। क्यों शपथ का आक्षेप। करूं मैं?।।७१।। किंतु अर्जुन तेरा मुझको छंद। अतः छोड़ा देवपन का ब्रीद। वैसा मैं अपूर्ण अर्ध। हुआ पूर्ण तुझसे।।७२।। अपने ही काज निमित्त। लेवे राजा अपनी शपथ। वैसे ही जानो निश्चित। धनंजय यह।।७३।। वहां अर्जुनि कहत

स्वच्छ किया जाता है।।४७।। तद्वत हे अर्जुन! तुम्हारे निमित्त से मैं अपने साथ बात करता हूं। तुम्हारे में एवं मुझमें कैसा द्वैत होगा?।।४८।। यह अंतःकरण की गुप्त बात, तुम मेरा जीव हो इसलिये मैं अपने को ही बता रहा हूं। अनन्य भाव से शरण आये भक्त का मुझे व्यसन है।।४९।। अपना स्वरूप छोड़कर नमक जलरूप होता है। जलरूप होते हुए वह लज्जित नहीं होता।।१३५०।। वैसे तुम मेरे पास कुछ भी गुप्त नहीं रखते। अतः मैं तेरे से कैसे गुप्त रख सकता हूं।।५१।। हे पार्थ! सब गुप्त रहस्य जहां पहुंचकर गुप्त नहीं रहते। वह गूढ़ एवं शुद्ध ऐसा मेरा वचन सुनो।।५२।।

तुम्हारा मन मुझमें रखनेवाला बनो। मेरे भक्त बनो। मेरा भजन पूजन करो। मुझे प्रणाम करो। इससे तुम्हें मेरी प्राप्ति होगी। यह मैं सत्य प्रतिज्ञा कर रहा हूं। क्योंकि तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो।।६५।।

अपने अंतर्बाह्य सब व्यवहार का विषय मैं सर्वव्यापी परमेश्वर को करो।।५३।। वायु सब प्रकार से आकाश से एकरूप रहता है। वैसे सब कर्मों से मुझसे एकरूप होकर रहो।।५४।। किंबहुना, तुम अपना मन मेरे लिये मंदिर समझो। मेरा स्वरूप, गुण एवं कर्म के, श्रवण से तुम अपने कर्ण भर दो।।५५।। कामी पुरुष की दृष्टि जैसी कामिनी पर रहती है। वैसे आत्मज्ञान संपन्न संतों को तुम मेरा स्वरूप समझना। तेरी दृष्टि उनपर लुब्ध होने देना।।५६।। हे अर्जुन! मैं सबका वसती स्थान हूं। मेरे जो सुंदर नाम हैं। उनको वाणी के माध्यम से अंतःकरण में भेजो।।५७।। हे अर्जुन! हाथ से कर्म करना या पैर से चलना मेरे लिये ही तुम करना।।५८।। हे पार्थ! अपने लिये या अन्य किसी के लिये किया हुआ सब कर्म मुझको समर्पित करो। उस यज्ञ से मेरे उत्तम याज्ञिक बनो।।५९।। हे धनुर्धर! अब तुम्हें एक- एक क्या पढ़ाऊं? अपने को सेवक समझकर भगवद्‌भाव से सबकी सेवा करो।।१३६०।। इस सेवाभक्ति से प्राणियों की प्रति द्वेषभावना नष्ट होकर सर्वत्र मैं ही एक हूं इस भावना से नमन करते हुए मेरा अव्यभिचारी आश्रय तुम निश्चित पावोगे।।६१।। हे पार्थ! इस चराचर विश्व में तीसरे की बात लुप्त होकर तेरा एवं मेरा निरंतर एकान्त होगा।।६२।। किसी भी अवस्था में मैं तुम्हें भक्त रूप में एवं तुम मुझे भगवद् रूप में अनुभव करोगे। इससे नित्य बढ़नेवाला सुख प्राप्त होगा।।६३।। हे अर्जुन! तुम्हारे एवं हमारे सुख में प्रतिबंध करनेवाला विश्व अज्ञान के साथ नष्ट होता है। मद्रूप होकर अन्त में तुम मुझे प्राप्त करोगे।।६४।। हे पार्थ! आकाश को वायु, तथा समुद्र का तरंग से मिलन। इसमें किसका प्रतिबंध है?।।६५।। जल में प्रतिबंध जल का नाश होने पर जल के साथ एकरूप होते हुए उसको क्या प्रतिबंध है।।६६।। अतः तुम एवं हम यह जो देह का धर्म दिखाई देता है, वह देह का नाश होने पर तुम मद्रूप (ब्रह्म) बनोगे।।६७।। हे अर्जुन! मेरी इस वाणी में किंचित भी असत्य नहीं है। मैं शपथ लेकर कहता हूं।।६८।। यहां इसप्रकार से तेरी शपथ लेना मेरे ही आत्मलिंग को स्पर्श करना है। प्रेम की जाती में लज्जा का स्मरण नहीं होने देते।।६९।। संपूर्ण प्रपंत्र में मैं व्याप्त हूं। उसके अधिष्ठान से अज्ञानी जीवों को मिथ्या विश्व, सत्य प्रतीत होता है। ईश्वर के अमर्यादित सत्ता का नट् सदृश नृत्य करनेवाला उत्कर्ष काल पर भी विजय प्राप्त करता है।। ।।१३७०।। वह मैं सत्यसंकल्प ईश्वर होने से, जग का कल्याण करनेवाला पिता होने से मेरी वाणी के प्रामाण्य के लिए शपथ लेने की क्या जरूरत है।।७१।। हे अर्जुन! मुझे तुम्हारा छंद है। तुम्हारे लिए मैंने देवत्व का ब्रीद छोड़ दिया है। अपूर्ण आधे का त्याग करके मैं तुझसे पूर्ण हुआ हूं। (दोनों नर नारायण हैं। एक दूजे के बिना अधूरे है। भक्त एवं भगवान मिलकर भक्ति को पूर्णत्व प्राप्त होता हैं) ।।७२।। हे धनंजय! अपने महत्व के कार्य के लिए अपनी शपथ खुद लेता है। वैसा यह प्रकार है।।७३।। तब अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! ऐसा विपरीत भाषण करके मुझे लज्जित मत करो।

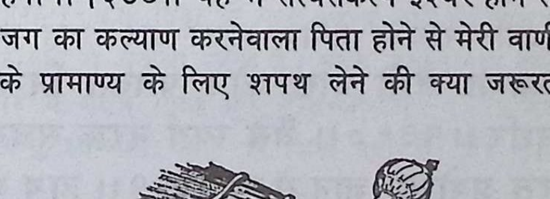

हे कृष्ण!। ऐसे विपरीत न करना भाषण। नाम से आपके ही पूर्ण। मनोरथ मेरे।।७४।। इस पर भी आप कहत। कथन में 'शपथ लेत। क्या इस विनोद को अच्युत। पार कुछ?।।७५।। कमल बन का विकास। करे रवि का एक अंश। वही नित्य देत प्रकाश। जग को पूर्ण।।७६।। पृथ्वी को 'शमवत सागर। वर्षत इतना मेघ अपार। वहां केवल मिषान्तर। चातक का पार्थ।।७७।। अतः आपका असीम औदार्य। मेरे निमित्त से कहना यह। प्राप्ति सब जग को दानी राय। कृपानिधि!।।७८।। देव कहत अब अर्जुन। न करो मेरा स्तवन। किन्तु इसी उपाय से मेरा स्थान। पावोगे तुम।।७९।। सैंधव सिंधु में गिरत। जिस क्षण वही विरत। वहां 'शेष बचने का पार्थ। कारण ही क्या?।।१३८०।। वैसे सर्वत्र मुझे भजते निश्चित। मैं ही सब होवे तत्त्वतः। अहंता निःशेष होकर अन्ततः। होवोगे मैं ही।।८१।। कर्मादिक ये प्रकार। मेरे प्राप्ति तक ही समग्र। जो उपाय 'शुद्ध नाना प्रकार। दिखाये तुझको।।८२।। जो प्रथम ही कर्म संपूर्ण। करना मुझको अर्पण। तब सहज होवे प्रसन्न। मन मेरा।।८३।। पश्चात मेरे इस प्रसाद से। मेरा ज्ञान सिद्ध जैसे। त्रिशुद्धि मीनत उससे। स्वरूप में मेरे।।८४।। उस स्थान में पार्था कोई। साध्यसाधन करना नाहीं। किंबहुना तुझको किंचित ही। 'शेष न वहां।।८५।। देखो सब स्वकर्म किया अर्जुन। तुमने सदा मुझको अर्पण। उससे प्रसन्नता प्राप्त पूर्ण। आज यह मेरी।।८६।। अतः इस प्रसाद बल से। न प्रतिबंध हुआ युद्ध प्रसंग से। जो मोहित तेरे प्रेम से। हुआ आधीन मैं।।८७।। जिससे सप्रपंच अज्ञान जाये। एक मैं ही गोचर होवें। ऐसा युक्तिसहित उपाय बताये। सो गीतारूप यह।।८८।। मैंने ज्ञान तुझको अपना। उपदेशित प्रकार से नाना। जिससे अज्ञान जात नष्ट अर्जुना। धर्माधर्म जो।।८९।।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

आशा जैसी दुःख को। प्रसवत निन्दा दुरित को। और दुर्भाग्य दैन्य को। धनुर्धर।।१३९०।। वैसे स्वर्ग नरक सूचक। प्रसवत अज्ञान धर्मादिक। वह निर्मूल करत अशेख। ज्ञान से इस।।९१।। हाथ में लेकर डोर। छोड़िये जैसा सर्पाकार। या निद्रात्याग से घर बार। स्वप्न का जैसा।।९२।। पीलिया जब नष्ट अर्जुन। नष्ट चन्द्र का पीलापन। या व्याधित्याग से नष्ट कटुपन। मुख का जैसा।।९३।। अस्तंगत जब दिवस। लोपत मृगजल अनायास। काष्ठत्याग से बिन सायास। होवे वन्हिनाश।।९४।। वैसे धर्माधर्म का मिथ्या फल। दिखावे जो अज्ञान मूल। त्यजकर वह त्यज सकल। धर्मजात।।९५।। तब अज्ञान नष्ट होकर। मैं ही एक सहज सर्वत्र। जागृत स्वप्न से सनिद्र। अपना अकेला जैसा।।९६।। वैसे मैं एकबिन कोई। भिन्ना-भिन्न दूजा नाही। सो!हं बोध से उसके ठाँयी। होत अनन्य।।९७।। अपने स्वयं के भेदबिन। जानना मेरा ही एक धन। उसका नाम आना 'शरण। मुझको पार्थ।।९८।। होते घट का विनाश। गगन का गमन में होवे प्रवेश। मुझको 'शरण आने से गुड़ाकेश। होवे ऐक्य।।९९।। सुवर्णमणि सुवर्ण को। आवे कल्लोल जैसा

आपके नाम से मेरे मनोरथ पूर्ण हुए हैं।।७४।। हे अच्युत! आप उपदेश करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। एवं उपदेश करते समय शपथ लेते हो। इस विनोद को कुछ मर्यादा है क्या?।।७५।। सूर्य का एक किरण कमलबन विकसित करता है। वही जग को नित्य प्रकाश देता है।।७६।। चातक पक्षी को एक जलबिंदुकी आवश्यकता होते हुए मेघ पृथ्वी को शांत करके सागर भर जावेगा इतनी जलवर्षा करते हैं। चातक पक्षी निमित्तमात्र है।।७७।। हे कृपानिधि! तुम्हारे औदार्य को मैं निमित्त हुआ हूं। संपूर्ण विश्व को ज्ञानदान करके अपनी कृपा से औदार्य प्रकट हुआ हूं।।७८।। तब देव कहते हैं। हे अर्जुन! मेरा स्तवन मत करो। किंतु इस उपाय से तुम मुझे निश्चित प्राप्त करोगे।।७९।। हे पार्थ! नमक सागर में गिरते ही उसको द्रवरूप होने में जितना समय लगता है उतना ही काल का अंतर होता है। वहां शेष बचने का कारण ही क्या है।।१३८०।। इस प्रकार से सर्वत्र मेरी भक्ति करते हुए तत्त्वतः सब मैं ही निश्चित होता हूं। अन्त में अहंकार निःशेष नष्ट होकर तुम मद्रूप होगे।।८१।। कर्म के यह विविध प्रकार सब मेरे प्राप्ति तक है। कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान आदि शुद्ध विभिन्न प्रकार तुम्हें दिखाये हैं।।८२।। हे अर्जुन! प्रारंभ में सब कर्म मुझे समर्पित करना। तब मेरा मन सहज प्रसन्न होगा।।८३।। पश्चात मेरे इस कृपाप्रसाद से मेरे विषय का ज्ञान मोक्ष सिद्धि करा देनेवाला होता है। उस ज्ञान से मेरे स्वरूप में त्रिकालिक, अबाधिक एकरूप होते हैं।।८४।। हे पार्थ! उस अवस्था में साध्य साधन का अभाव रहता है। किंबहुना इस पद्धति से तुम्हें कुछ कर्तव्य शेष नहीं बचेगा।।८५।। हे अर्जुन! तुमने नित्य तुम्हारे कर्म मुझे समर्पित किये हैं। अतः आज तुम्हें मेरी प्रसन्नता उससे प्राप्त हुई है।।८६।। अनेक प्रतिबंध होते हुए भी इस युद्ध प्रसंग में उपदेश करने के लिए प्रतिबंध नहीं हुआ। क्योंकि तुम्हारे प्रेम से मोहित होने से मैं तेरे अधीन हूं।।८७।। जिससे प्रपंच सहित अज्ञान नष्ट होता है। मैं आत्मत्व से प्रकट होता हूं। युक्ति के साथ अनेक उपाय बताये हैं। वहीं यह गीता का रूप है।।८८।। हे अर्जुन! वही गीतारूपी गुप्त ज्ञान का विविध प्रकार से उपदेश किया धर्म एवं अधर्म को प्रकट करनेवाले अज्ञान का उस ज्ञान से त्याग करो।।८९।।

सर्व कर्मों का-धर्म का परित्याग करके मुझ एक को ही शरण आना। सब पापों से मैं तुम्हें निश्चित मुक्त करूंगा।।६६।।

हे धनुर्धर! आशा जैसी दुःख की, निंदा जैसी पापको, एवं दुर्भाग्य दारिद्रय उत्पन्न करता है।।१३९०।। वैसे अज्ञान स्वर्ग एवं नरक इन फलों को साधनरूप में धर्म, अधर्म को उत्पन्न करता है। उनको आत्मज्ञान से संपूर्ण नष्ट करो।।९१।। रस्सी का यथार्थ स्वरूप समझनेपर सर्पाभास समाप्त होता है। निद्रा का त्याग करने कर स्वप्न की घर गृहस्थी एवं प्रपंच का त्याग होता है।।९२।। हे अर्जुन! पीलिया रोग सुधरने पर दिखाई देनेवाला चंद्रमा में पीलापन लुप्त होता है। ज्वर का नाश होने पर मुख का कटु स्वाद अपने आप जाता है।।९३।। दिन समाप्त होने पर मृगमरीचिका जैसे अपने आप जाती है। या काष्ठ का त्याग करने पर अपने आप अग्नि का नाश बिन सायास होता है।।९४।। वैसे धर्म, अधर्म का मिथ्या फल मूल अज्ञान को प्रकट करता है। अज्ञान का त्याग करके सब धर्म का त्याग करो।।९५।। निद्रा के साथ स्वप्न जाने पर केवल जागृति में अकेला रहता है। तद्वत अज्ञान नष्ट होने पर मैं सर्वत्र सहज हूं। ऐसा जानोगे।।९६।। मेरे बिना स्वरूपतः कुछ भी भिन्न नहीं है। मेरे उस अखण्ड स्वरूप में सोऽहं बोध से एकरूप होना।।९७।। भेद के बिना मेरा एकत्व आत्मत्व से जाना जाता है। उसका ही नाम मुझे अनन्य शरणागति है।।९८।। हे गुड़ाकेश! घट का नाश होने पर घटाकाश महाकाश में प्रविष्ट होता है। वैसे मुझे शरण आने से मेरा ऐक्य होता है।।९९।। सुवर्ण मणि सोने को, तरंग जल को शरण आता है। वैसे हे

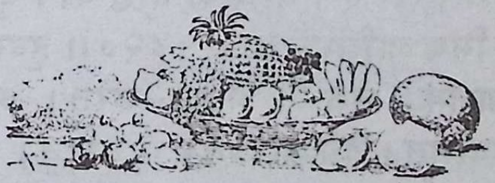

पानी को। वैसे धनंजय मुझको। आना 'शरण तुम।।१४००।। किन्तु पृथकपन से सागर के प्रति। बडवाग्नि 'शरण आवे किरीटि। उसको ही जलावे ऐसी कृति। न करना तुम।।१।। मुझको ही 'शरण आना। और पृथक जीवित्व रखना। धिःकार ऐसे बोल को अर्जुना। प्रज्ञा न त्यजे क्यों?।।२।। राजा को जो स्वीकृत। सामान्य सी कोई पार्थ। वह दासी भी लभत। समानता उसकी।।३।। मुझ विश्वेश्वर से भेंट हुई। और जीव ग्रंथी छूटी नहीं। ऐसी दुर्भाष कर्णतक कतई। न लाना तुम।।४।। अतः मैं होकर मेरी पार्थ। भक्ति करना सहज स्वतः। वह होवे पूर्ण हस्तगत। ज्ञान से जिस।।५।। तब तक्र से निकाला। पीछे पुनः तक्र में डाला। न कभी मक्खन मिला। उसमें जैसे।।६।। वैसे अद्वैत से मुझको पार्थ। 'शरण आने के उपरान्त। धर्माधर्म न बाधत। सहज तुझको।।७।। लोह खड़ा मिट्टी खावे। वह पारस संग जब होवे। बनके सुवर्ण न पुनः होवे। मलिन मल से।।८।। करके काष्ठ का मंथन। होवे अग्नि निर्माण। न रह सके पुनः। काष्ठ में कभी।।९।। अर्जुना क्या दिनकर। देख सकत अंधेर। या जागृति में होवे गोचर। स्वप्न भ्रम।।१४१०।। वैसा मैं जो सर्वव्याप्त। उससे ऐक्य होने उपरान्त। अन्य 'शेष रहने को पार्थ। क्या निमित्त कोई?।।११।। अतः धर्माधर्म की कोई। चिंता न रखना अपने ठौंई। तेरा पाप-पुण्य दोनो ही। होऊंगा मैं।।१२।। मुझसे रहना भिन्न। यही पापबंध कारण। मेरे होते 'शुद्ध ज्ञान। होगा नष्ट बंध।।१३।। जल में गिरत लवण। सबही होवे जल विचक्षण!। तुझको मैं अनन्य 'शरण। होऊं वैसा।।१४।। अनायास इससे भारत!। बंधन से तुम छूटत। जानो मुझको पूर्णतः। करूं मुक्त मैं तुझको।।१५।। इस कारण सर्वथा। न करो ऐसी मनोव्यथा। जानो मुझको करूं पूर्णतः। मुक्त मैं तुझको।।१६।। ऐसे सर्वरूप रूपस ने। सर्व दृष्टिमान ने। सर्व देशनिवास ने। कहा श्रीकृष्ण ने।।१७।। तब 'शामल सकंकण। बाहु पसारकर दक्षिण। आलिंगित स्वशरण। भक्तराज वह।।१८।। जिसकी न होवे प्राप्ति। वाणी लजाकर किरीटि। बुद्धि को लेकर संगति। लौटत पीछे।।१९।। ऐसे जो 'शब्द बुद्धि को। दुष्कर जो प्राप्ति को। किया वही एक दिखाने को। मिष आलिंगन का।।१४२०।। हृदय से हृदय एक होत। इस हृदय का उस हृदय में डालत। द्वैत न मोड़ते करत। अपनासा अर्जुन को।।२१।। दीप से दीप प्रज्जवलित। वैसे परिश्वंग से घटित। न छोड़कर द्वैत। किया अपने जैसा।।२२।। वहां सुख का अपार। आया अर्जुन को महापूर। वहां सर्वव्यापी वह ईश्वर। डूबा उसमें।।२३।। सागर को भेंटत सागर। वहां मेल से दुगनत पूर। व्यापत आकाश समग्र। उछलत ऐसा।।२४।। वैसा कृष्णार्जुन का मिलन। अनावर दोनों को जाने कौन। किंबहुना नारायण ने पूर्ण। व्याप्त चराचर।।२५।। एवं वेद का मूल सूत्र। सर्वाधिकारैक पवित्र। श्रीकृष्ण ने ऐसा गीताशास्त्र। किया प्रकट।।२६।। वहां वेदों का मूल गीता। यह बोध हुआ कैसा तत्त्वता। यदि कहोगे तब कहूं पार्था। उपपत्ति प्रसिद्ध।।२७।। तब जिसके निःश्वास से। उत्पन्न वेदराशी जैसे। वह सत्य प्रतिज्ञ

Funding by IKS-MoE

पार्थ! तुम अभेद से मुझे शरण आओ।।१४००।। बड़वानल सागर में रहकर उसको शरण आया किंतु एकरूप न होते हुए सागर का जल जलाने का प्रयास करके वहां रहता है। हे किरीटी! ऐसी कृति तुम नहीं करना।।१।। हे अर्जुन! मुझे शरण आनेपर जीव भाव रखना ऐसी स्थिति को धिक्कार है। ज्ञान क्या लज्जित नहीं होगा?।।२।। हे पार्थ! राजा ने स्वीकृत की हुई उस दासी को समानता प्राप्त होती है।।३।। मुझ विश्वेश्वर का दर्शन होने के उपरान्त जीव भाव नष्ट नहीं हुआ ऐसी बुरी वाणी कर्ण से कभी न सुनना।।४।। हे पार्थ! मद्रूप होकर मेरी स्वतः सिद्ध भक्ति जिस ज्ञान से प्राप्त होती है उसको पूर्ण हस्तगत करो।।५।। मही से मक्खन निकाला। उसको पुनः मही में डालने पर वह मही के साथ एकरूप नहीं होता।।६।। वैसे हे पार्थ! अद्वैत से मुझको शरण आने के उपरान्त तुझे धर्म-अधर्म की बाधा सहज नहीं हो सकेगी।।७।। खड़े किए हुआ लोहे को मिट्टी खाती है। उसको जंग लग जाता है। किंतु पारस का स्पर्श होने पर जब वह सुवर्ण बनता है, तब मल उसको स्पर्श नहीं करता।।८।। काष्ठ का मंथन करने पर अग्नि उत्पन्न होता है। पुनः वह काष्ठ में नहीं रह सकता।।९।। हे अर्जुन! सूर्य क्या अंधेरा देखता है। जागृति में स्वप्न भ्रम दिखता है क्या?।।१४१०।। मैं सर्वत्र व्याप्त हूं। मुझसे ऐक्य होने के उपरान्त हे पार्थ! मुझसे अलग रहने का कोई कारण है?।।११।। अतः धर्म, अधर्म की तुम चिंता मत करो। तेरा पाप एवं पुण्य दोनों ही मैं होऊंगा।।१२।। मुझसे भिन्न रहना ही पाप के बंध का कारण है। मेरा शुद्ध ज्ञान होने पर बंधन नष्ट होगा।।१३।। जल में नमक गिरने पर उसका जलरूप होता है। तद्वत मुझे अनन्य शरण आनेपर तुम्हारा सब कुछ मैं बनूंगा।।१४।। हे भारत! इस बंधन से तुम्हें अनायास छुटकारा मिलेगा। मुझे आत्मज्ञान से, अपरोक्ष ज्ञान से जानना। मैं तुम्हें निश्चित मुक्त करूंगा।।१५।। अतः हे पार्थ! तुम पाप की चिंता मत करो। मुझे एक कोही तुम शरण आवो।।१६।। सर्व रूपों के योग से जो रूपवान। सर्वदृष्टिवंतों में दिव्यदृष्टि संपन्न। एवं सर्व देशों में निवास करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार अर्जुन को कहा।।१७।। तब श्यामल कंकणयुक्त, दक्षिण बाहु फैलाकर उसने स्वयं को शरण आये हुए भक्तराज अर्जुन को आलिंगन दिया।।१८।। हे किरीटी! जिसकी प्राप्ति न होने पर वाणी लज्जित होकर, बुद्धि को साथ लेकर पीछे लौट जाती है।।१९।। ऐसे बुद्धि एवं वाणी को अगम्य एकतत्त्व अर्जुन को समझाने के लिये भगवान ने आलिंगन का निमित्त किया।।१४२०।। हृदय का हृदय को स्पर्श होते ही भगवान के हृदय से अर्जुन के हृदय में ज्ञान प्रविष्ट हुआ। द्वैत नष्ट न करते हुए भी अर्जुन को अपनी भूमिका पर आरूढ़ किया।।२१।। दीपक से जैसे दीप लगाया जाता है। वैसे आलिंगन से हुआ। द्वैत नष्ट न करते हुए अर्जुन को अपने जैसा बनाया।।२२।। (अर्जुन से युद्ध कराना था अतः द्वैत नष्ट न करते हुये ब्रह्मानुभव कराया, स्वकर्तव्य का बोध जागृत करा दिया) उस समय अर्जुन को आत्मसुख का अपार अनुभव आया उस महापूर में सर्वव्यापी ईश्वर डूब गया।।२३।। समुद्र का समुद्र के साथ मिलन होने पर दुगना पूर उछलता है। मानो समग्र आकाश व्याप्त होगा ऐसा उछलता है।।२४।। वैसा कृष्णार्जुन का मिलन दोनों को अनावर हुआ। किंबहुना चराचर विश्व को नारायण ने समेट लिया।।२५।। इस प्रकार से वेदों का आधारभूत सूत्र सब अधिकारी साधकों को ग्रहण करने के लिये पवित्र। ऐसा यह गीताशास्त्र श्रीकृष्ण ने प्रकट किया।।२६।। हे पार्थ! यहां वेदों का मूल गीता है ऐसा प्रत्यय तत्त्वतः कैसा हुआ ऐसा यदि कहोगे। तब प्रसिद्ध उत्पत्ति बताता हूं।।२७।। जिसके निश्वास से वेदों की उत्पत्ति हुई है उस सत्यप्रतिज्ञ भगवान ने प्रतिज्ञापूर्वक स्वयं के मुख से

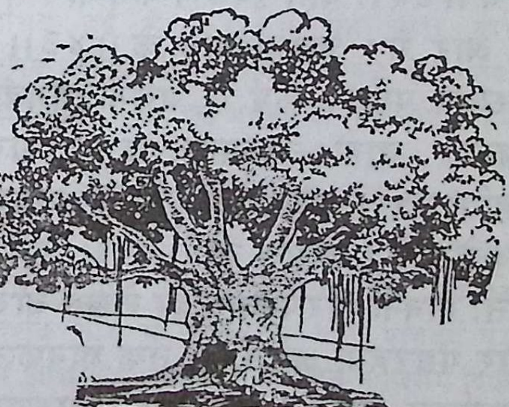

Funding by IKS-MoE

प्रतिज्ञा से। बोलत स्वमुख से।।२८।। अत: वेदों को मूलभूत। गीता यह कथन उचित। और भी एक पार्थ। उपपत्ति यहां।।२९।। जो स्वरूप से न नष्ट। विस्तार जिसका जहां सुप्त। वही उसका यथार्थ। बीज जग में।।१४३०।। तब कांडत्रयात्मक। शब्दराशी जो अशेख। गीता में विद्यमान वृक्ष। बीज में जैसा।।३१।। अत: वेद का बीज। श्री गीता यह मुझ-। को भाये और सहज। दिखत भी पार्थ।।३२।। जो वेदों के तीन विभाग। गीता में प्रकट सुरंग। भूषणरत्न से सर्वांग। सुशोभित जैसे।।३३।। कर्मादिक तीनो अर्जुन। काण्ड का किस स्थान में वर्णन। गीता में विद्यमान वह नयन-। को दिखाऊं सुनो।।३४।। तब प्रथम जो अध्याय। वह शास्त्र प्रवृत्ति प्रस्ताव। द्वितीय में सांख्य सद्‌भाव। प्रकाशित।।३५।। मोक्ष दान में स्वतंत्र। ज्ञान प्रधान यह शास्त्र। इस प्रकार दूजे में सूत्र। डाला पार्थ।।३६।। अज्ञान से जो बद्ध। उनको प्राप्त करना मोक्षपद। कहां कर्मयोग साधन प्रसिद्ध। तृतीयाध्याय में।।३७।। जो देहाभिमानबंध। छोड़कर काम्य निषिद्ध। विहित किन्तु अप्रमाद। बुद्धि से करना।।३८।। कर्म करना सद्‌भाव से। तृतीयाध्याय में भगवंत ने ऐसे। निरूपित जो निश्चय से। वही कर्मकांड यहां।।३९।। और कर्म नित्यादिक। आचरते आवश्यक। अज्ञान से मोचक। होवे कैसे?।।१४४०।। ऐसी जिज्ञासा लेकर। बद्ध मुमुक्षु होकर। ब्रह्मार्पण क्रिया समग्र। निरूपित देवने।।४१।। जो देह वाचा मानस से। कर्म विहित घटत जैसे। वह केवल ईश्वरोद्देश्य से। करना पार्थ।।४२।। यही ईश्वरी कर्म योग से। भजन कथन निमित्त से। निरूपित शेष भाग में आर से। चतुर्थाध्याय के।।४३।। विश्वरूप जहां हुआ व्यक्त। उस ग्यारहवें अध्याय पर्यंत। कर्म से भजना भगवंत। निवेदित जो।।४४।। वह अष्टाध्याय में स्पष्ट। जानो उपासना काण्ड भारत। प्रतिबंध हटाकर शास्त्र। निरूपित वहां।।४५।। और उसी ईश्वर प्रसाद से। प्राप्त श्री गुरु संप्रदाय से। सत्यज्ञान उद्‌बोध से। कोमल जो।।४६।। वही अद्वेष्टादि प्रभृतिक। अथवा अमानित्वादिक। अत: मानना परिपक्वता का लेख। बारह में जानो।।४७।। वह बारह अध्याय आदि। और पंधरहवां अवधी-। तक ज्ञानफल पाक सिद्धि। निरूपण को।।४८।। बारह से ऊर्ध्वमूल पर्यन्त। इन चारों अध्याय में पार्थ। ज्ञानकाण्ड समस्त। निरूपित यहां।।४९।। एवं कांडत्रय निरूपिणी। श्रुति ही यह मनमोहिनी। गीता पद्यरत्न धारिणी। सुविभूषित।।१४५०।। एवं कांडत्रयात्मक। श्रुति मोक्षरूप फल एक। प्राप्त करना आवश्यक। गर्जत ऐसी।।५१।। उस ज्ञान साधन का। प्रतिदिन करे बैर जो उसका। वही अज्ञानवर्ग का। वर्णन षोड़श में।।५२।। लेकर शास्त्रों का सहाय। करे अज्ञान का पराजय। कहे सतरहवां अध्याय। संदेश यह।।५३।। इसविध प्रथमाध्याय से। सतरहवें के अंत तक जैसे। आत्मविश्वास स्वरूप विवरण से। दिखाया देव ने।।५४।। उस अर्थजात का अशेष। तात्पर्य विचार विशेष। जिस अठरहवें में सो खास। कलशाध्याय यह।।५५।। एवं सकल सांख्य सिंधु।

Funding by IKS-MoE

गीताशास्त्र बताया है। ।।२८।। हे पार्थ! वेदों का मूल गीता है यह योग्य कथन है। और भी एक उपपत्ति सुनो।।२९।। जो स्वरूपतः नष्ट नहीं होता। जिसका विस्तार जिसमें लुप्त होता है। वह उसका बीज होता है।।१४३०।। बीज में जैसा वृक्ष रहता है तद्वत गीता का स्वरूप नष्ट न होते हुए कांड़त्रयात्मक वेद गीता में है। ।।३१।। अतः वेदों का बीज श्री गीता है। ऐसा मुझे प्रतीत होता है। वैसा दिखता भी है।।३२।। रत्नालंकारों से जैसी सर्वांग में शोभा आती है। वैसा दिखता भी है।।३३।। रत्नालंकार से जैसी सर्वांग में शोभ आती है, तद्वत वेदों के कर्म, उपासना एवं ज्ञान यह तीनों भाग गीता में उत्तम रीति से प्रकट हैं।।३३।। वह कर्म आदि तीनों काण्ड गीता में किस स्थान पर है वह तुम्हारे दृष्टि को स्पष्ट दिखाता हूं।।३४।। प्रथम अध्याय गीताशास्त्र किस प्रसंग से प्रवृत्त हुआ उसकी प्रस्तावना है। दूसरे अध्याय में सांख्य शास्त्र सद्भाव से प्रकट है (आत्मानात्म विचार से सिद्ध, देह आदि उपाधि से स्वतंत्र, आत्मा का अस्तित्व अबाधित है, यह बताया)।।३५।। यह गीताशास्त्र मोक्ष देने में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा नहीं करता। यह स्वतंत्र शास्त्र है। ज्ञान प्रधान इस शास्त्र का सूत्र द्वितीय अध्याय में डाला है।।३६।। अज्ञान से बद्ध जीवों को मोक्षपद की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म योग तृतीय अध्याय में बताया है।।३७।। देह के अभिमान में बद्ध जीव को काम्य एवं निषिद्ध कर्म छोड़कर केवल वर्णाश्रम विहित कर्म, कर्तृत्वाभिमान एवं फलेच्छा का त्याग करके करना चाहिये।।३८।। निष्काम भावना से कर्म करते रहना यह तृतीय अध्याय में भगवान ने बताया। वह वेदप्रतिपादित कर्मकाण्ड इस अध्याय में बताए हैं।।३९।। वही नित्य नैमित्तिक कर्म का आचरण करने से अज्ञान से छुड़ानेवाला कैसा होता है? देखो!।।१४४०।। ऐसी जिज्ञासा लेकर आकांक्षा निर्माण होने पर बद्ध मनुष्य नित्य कर्म से चित्तशुद्धि होकर मुमुक्षु की अवस्था प्राप्त करने पर भगवान ने उसके लिए ब्रह्मार्पण बुद्धि से क्रिया करने के लिए बताया।।४१।। हे पार्थ! काया, वाचा एवं मन से जैसे विहित कर्म उत्पन्न होता है। वह ईश्वर के लिए ब्रह्मार्पण बुद्धि से करो, ऐसा बताया।।४२।। यही कर्मयोग ईश्वरार्पण बुद्धि से बताने के निमित्त चतुर्थ अध्याय में फलेच्छारहित कर्म ईश्वरप्रीत्यर्थ करने से वही उपासना होती है ऐसा बताया।।४३।। ग्यारह विश्वरूप अध्याय समाप्त होने तक जो भगवान ने कहा वह कर्म से ईश्वरभक्ति करना, यह बताया है।।४४।। चतुर्थ अध्याय के अंतिम भाग से ग्यारह अध्याय तक आठ अध्याय में हे भारत! स्पष्ट रीति से देवताकाण्ड- उपासना काण्ड बताया है। ऐसे गीताशास्त्र स्पष्ट बताता है।।४५।। उसी ईश्वरी प्रसाद से श्रीगुरु परंपरा से प्राप्त कोमल एवं सत्य ज्ञान प्रकट होता है।।४६।। वही कोमल ज्ञान अद्वैष्टत्वादि या अमानित्वादि लक्षणों से दृढ़ निश्चयात्मक हुआ है। अतः बारह अध्याय ज्ञानकांड में परिपक्व हुआ है।।४७।। बारहवें अध्याय से पंधरहवें अध्याय तक ज्ञानरूपी फल को परिपक्वता प्राप्त होवे, यह निरूपण का विषय है।।४८।। अतः संसार वृक्ष का ऊर्ध्व मूल के रूप में जिसका वर्णन है, उस पंधरहवें अध्याय तक चारों अध्याय में ज्ञानकांड का विवरण है।।४९।। इसप्रकार से कांड त्रय का निरूपण करनेवाली गीता यह छोटी सी मनमोहिनी श्रुति भगवती ही है। उसने गीता श्लोकरूपी रत्नों के अलंकार धारण करके वह सुशोभित हुई है।।१४५०।। यह गीता कांड त्रयात्मक श्रुति है। यह मोक्षरूपी फल है। मनुष्य देह धारण करने पर इसे अवश्य प्राप्त करना चाहिये ऐसी श्रुती गर्जना करके हमें बताती है।।५१।। मोक्ष का साधन ज्ञान के साथ जो शत्रुत्व करता है। वे अज्ञान दंध आदि सोलह अध्याय में प्रतिपादित है।।५२।। वेदों के जैसा सर्वज्ञ एवं बलिष्ठ मार्गदर्शक साथ में लेकर दंभ आदि शत्रुवर्ग पर विजय प्राप्त करो यह संदेश भगवान ने जिसमें दिया है, वह सतरहवां अध्याय है।।५३।। इसप्रकार से प्रथम अध्याय से सतरहवें अध्याय के अन्त तक स्वयं का निःश्वासरूप वेदभगवान ने स्वयं के मुख से गीता में स्पष्ट करके दिखाया है।।५४।। उस संपूर्ण गीता का साररूप संक्षेप जिस अध्याय में किया है, वही यह प्रस्तुत कलशाध्याय है।।५५।। एवं भगवद्गीता रूप काव्यग्रंथ सर्वज्ञान का सागर है। औदार्य में अलौकिक मूर्तिमंत वेद है। ऐसा इसको

श्रीमद्भवद गीता प्रबंधु। औदार्य में श्रेष्ठ वेदु। मूर्त जानो।।५६।। वेद यद्यपि ज्ञान संपन्न। किन्तु न कोई ऐसा कृपण। जो कहे अपना गुह्य ज्ञान। त्रिवर्ण को ही।।५७।। स्त्री शूद्रादिक जो अन्य। भोगत भवव्यथा दैन्य। करे अनवसर से पूर्ण। वंचित उनको।।५८।। पूर्ण करने वह न्यूनपन। मानू मैं धारण करके गीतापन। लेवे कोई भी अपना ज्ञान। हुआ सेव्य सबको।।५९।। अर्थरूप से वह मन में। श्रवण से प्रवेशत कर्ण में। जपमिष से वसत वदन में। गीतारूप यह।।१४६०।। नित्य गीतापाठ जो करत। संग में उसके जो रहत। गीता लिखकर बाटत। पुस्तक रूप में।।६१।। इसविध मेरे सहित। संसार चौराहे पर पार्थ। अन्नसत्र डाले सुघट। मोक्ष सुख की।।६२।। जैसे करने आकाश में संचार। अथवा निवास पृथ्वी पर। या रविदीप्ति के व्यवहार-। को सहाय आकाश एक।।६३।। उत्तम अधम वैसे। उपासक माने एक से। कैवल्यपद देवे समान रूप से। जग को सब।।६४।। पूर्वारोप से भयभीत। वेद गीता पेट में छिपत। तब कीर्ति उत्तम होवे प्राप्त। जग में उसको।।६५।। अतः वेद की सुसेव्यता। सो यह मूर्त गीता। पार्थ को श्रीकृष्ण स्वतः। उपदेशत स्वयम्।।६६।। किन्तु वत्स के प्रेमपान्हा से। दूध होवे धरोद्देश्य से। हुआ पांडव के मिष से। जगदुद्धरण।।६७।। चातकी कृपा कारण। मेघ करत जलवर्षण। वहां चराचर संपूर्ण। शमत जैसे।।६८।। कमल के लिये अनन्य गतिक। पुनः पुनः आवे सूर्य प्रकाशक। परन्तु प्राप्त नेत्रसुख। त्रिभुवन को संपूर्ण।।६९।। वैसे अर्जुन के ब्यार। प्रकाशत गीता श्रीराज। संसारसम भारी बोझ। किया दूर।।१४७०।। सर्व शास्त्र रत्नदीप्ति। प्रकाशक त्रिजगत में किरीटि। क्या सूर्य यह लक्ष्मीपति। वक्त्राकाश का?।।७१।। धन्य कुल व कुल पवित्र। जिसका पार्थ इस ज्ञान को पात्र। जिसने किया गीता शास्त्र स्वतंत्र। आवार जगको।।७२।। अस्तु! उस दिव्यालिंगन-। से अर्जुन हुआ अद्वैतमग्न। वहां लाया द्वैतपन। सद्गुरु श्रीकृष्ण ने।।७३।। पश्चात कहत पार्थ!। क्या शास्त्र मन में हुआ स्पष्ट। वहां कहे वह अच्युत!। कृपा आपकी।।७४।। प्राप्त होने निधान। भाग्य होना अर्जुन। किन्तु प्राप्त का भोगज्ञान। क्वचित ही किसी को।।७५।। इतना बड़ा क्षीरसागर। निर्मल दूध का पात्र। कितना कष्ट सुर-असुर। को मंथन समय।।७६।। उसका फल अमृत। यत्न से हुआ प्राप्त। किंतु रक्षण को असमर्थ। अविवेकी वे।।७७।। मिलना जिससे अमरपन। उससे ही हुआ मरण। न था उनको भोगज्ञान। इसीलिये।।७८।। हुआ नहुष स्वर्गाधिपति। किन्तु न जाने आचार नीति। पावे वह भुजंगजाति। क्या न जानत तुम।।७९।। अर्जुन तुमने निश्चित। पुण्य किया बहुत। जो इस शास्त्रराज प्रीत्यर्थ। हुए विषय तुम।।१४८०।। इस शास्त्र का सनातन। संप्रदाय जानकर पूर्ण। शास्त्रार्थ का आचरण। करो नीका।।८१।। नहीं तो अमृत मंथन-। समान होगा अर्जुन। यदि करोगे आचरण। संप्रदाय बिन।।८२।। धेनु उत्तम पुष्ट। किंतु तबही दुग्ध प्राप्त। जब युक्ति कला ज्ञात। दोहन की पार्थ।।८३।। वैसे श्रीगुरु प्रसन्न होवे। विद्या भी

Funding by IKS-MoE

समझना।।५६।। वेद मूलतः ज्ञाननिधि है। किन्तु अत्यंत कृपण है। उसके ज्ञान का उपयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इन तीन वर्णों को केवल होता है। क्योंकि इन तीन वर्णो को केवल गुह्य ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार वेदों ने दिया है।।५७।। संसार दुःख का दैन्य भोगनेवाली स्त्रियां एवं अन्य शूद्र आदि को इस अधिकार से वंचित किया है।।५८।। यह न्यूनता निकाल देने के लिये गीता का रूप धारण करके अपने ज्ञान के प्राप्ति का अधिकार सबको है यह जताते हुए वेद अब सबका सेवक बना है।।५९।। वह अर्थरूप में मन में निवास करता है। श्रवण के निमित्त कर्ण में उसका वास है। जप के निमित्त वह मुख में रहता है वही यह गीता रूप है।।१४६०।। श्री गीता का शुद्ध पाठ करना जो जानता है, उसकी संगति में जो रहता है, गीता लिखकर पुस्तक रूप में जो बांट देता है वह भवदुःख से मुक्त होता है।।६१।। हे पार्थ! इसप्रकार यह गीताशास्त्र संसार के चौराहे पर शुद्ध मोक्ष सुख का मेरे सहित अन्न सत्र में वेद ज्ञान का भोजन करा रहा है।।६२।। तारिकाओं को बैठने के लिये आकाश, मनुष्य, वृक्ष पर्वत आदि को निवास करने के लिये पृथ्वी, भ्रमण करने के लिये सूर्य को आकाश, इन सबके लिये एकमात्र सहायक आकाश होता है।।६३।। तद्वत उत्तम, अधम ऐसा भेद न करते हुये सब उपासको को एक जैसा समझकर सब जग को समान रूप से यह गीता शास्त्र कैवल्य पद देता है।।६४।। अतः कृपणपन की अपकीर्ति से भयभीत होकर वेदों ने श्री गीता का आश्रय लिया। जिससे उनको उत्तम कीर्ति। इस जग में प्राप्त हुई है।।६५।। अतः वेदों की सेवा करने की उत्तम प्रवृत्ति ही प्रत्यक्ष यह श्री गीता है। स्वयं श्रीकृष्ण ने पार्थ को उपदेश किया है।।६६।। बछड़े के लिये गौ के स्तन से प्रेम से जो दुग्धधारा निकलती है वही दूग्ध सबको प्राप्त होता है। अर्जुनरूपी बछड़े के लिये श्रीकृष्णरूपी गाय से भगवत गीतारूपी दुग्धरूपी ज्ञान प्रवाहित होकर विश्व का उद्धार हुआ।।६७।। चातक पक्षी की करुणा आकर मेघ उसके लिये जल लेकर दौड़ते हुये आता है। किन्तु उस जल से चराचर विश्व शांत होता है।।६८।। सूर्य के बिना जिनको दूसरी गति नहीं ऐसे कमल पुष्प के लिए सूर्य प्रति दिन उदित होता है। किन्तु उसके साथ त्रिभुवन के नेत्रों को सुख प्राप्त होता है।।६९।। वैसे अर्जुन के निमित्त श्री गीता सम्राज्ञी प्रकट होकर जिसने संसार का भारी बोझ दूर किया है।।१४७०।। तीनों लोकों में न्याय व्याकरणादि सर्व शास्त्ररूपी रत्नों के प्रकाश को प्रकाशित करनेवाला यह गीता ग्रंथ लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण के वदनरूपी गगन का सूर्य नहीं है क्या?।।७१।। वह पवित्र कुल धन्य है। उस पवित्र कुल का अर्जुन श्री गीता का ज्ञान सुनने सुपात्र हुआ है। मोक्षसुख भोगने के लिये अर्जुन ने विश्व के चारों तरफ श्री गीता का स्वतंत्र बाड़ बनाया है।।७२।। अस्तु उस दिव्य आलिंगन से अर्जुन अद्वैत में मग्न हुआ। तब सद्गुरु श्रीकृष्ण ने उसको द्वैत अवस्था पर लाया।।७३।। भगवान ने कहा, हे अर्जुन! गीता शास्त्र तुम्हारे मन में स्पष्ट हुआ है या नहीं? तब अर्जुन ने कहा, हे अच्युत! आपकी कृपा से मैं समझ पाया हूं।।७४।। धन प्राप्त होने के लिए, हे अर्जुन! भाग्य होना चाहिये। किन्तु प्राप्त धन का उपभोग करने का भाग्य क्वचित् प्राप्त होता है।।७५।। क्षीरसागर निर्मल दूध का कितना बड़ा पात्र है। उसका मंथन करते समय सुर एवं असुरों को कितना कष्ट हुआ है।।७६।। उस कष्ट का फल अमृत यत्न से प्राप्त हुआ। किन्तु फलप्राप्ति के अनन्तर उनका रक्षण अविवेकी नहीं कर सके।।७७।। जिससे अमरत्व प्राप्त होना चाहिये उसके लिए ही मृत्यु प्राप्त हुआ। कष्ट से प्राप्त की हुई वस्तु का किस प्रकार से भोग करना चाहिये इसका ज्ञान न होने से ऐसा हुआ।।७८।। नहुष स्वर्ग का अधिपति हुआ। किन्तु नीतिशुद्ध व्यवहार करना न जानने के कारण वह भ्रमित हुआ। अन्त में अगस्ती ऋषि के शाप से उसे सर्प योनी प्राप्त हुई। हे अर्जुन! क्या तुम यह जानते नहीं हो?।।७९।। हे अर्जुन! तुमने बहुत पुण्य किया है। उससे आज तुम शास्त्रराज गीता को प्रकट करने के लिए निमित्त हुए हो।।१४८०।। इस शास्त्र का सनातन संप्रदाय पूर्ण जानकर शास्त्रार्थ का उत्तम आचरण करो।।८१।। हे अर्जुन! नहीं तो अमृत मंथन के समान होगा। संप्रदाय के बिना आचरण करने से वह निष्फल होगा।।८२।। धेनु उत्तम एवं पुष्ट है। किन्तु दोहने की युक्ति जब ज्ञात होती है तब ही दूध प्राप्त होता

शिष्य लाहे। परंतु तभी फल पावे। करने से संप्रदायपूर्वक।।८४।। अतः इस शास्त्र में उपयुक्त। संप्रदाय जो युक्त। सुनो आदर से अत्यंत। धनंजय।।८५।।

इंद ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

तब तुमने जो यह पार्थ। जाना गीता शास्त्र आस्था सहित। वह तपोहीन को सर्वथः। न कहना कभी।।८६।। अथवा तपस्वी यदि अर्जुन। किंतु गुरुभक्ति विहीन। त्यजो अंत्यज समान। बहिष्कृत वेद से जो।।८७।। वृद्ध यदि वायस। न देना उसको पुरोडाश। न दो गीता वैसी तापस-। को गुरुभक्तिहीन जो।।८८।। जो देहसे करे तपहि। और भजत गुरुदेव को ही। किन्तु गीता श्रवण में नहीं। इच्छा मन में।।८९।। तब तापसी और गुरुभक्त। दोनों गुणों से संयुक्त। किंतु गीता श्रवण को निश्चित। अयोग्य वह।।१४९०।। मुक्ताफल कितना भी सुंदर। किन्तु न उसको छिद्र। गुणप्रवेश उसमें सुवीर। संभव कैसा?।।९१।। माना सागर गंभीर। कौन न यह माने नर?। किंतु होवे यदि वृष्टि उसपर। जावे वृथाहि वह।।९२।। जो भोजन से हुआ तृप्त। उसको परोसना मिष्ठान्न व्यर्थ। क्यों न करना औदार्य प्रकट। क्षुधित को देकर।।९३।। अतः और सब दृष्टि से युक्त। किंतु गीता श्रवण में नहीं चित्त। न कहना यह शास्त्र। कदापि उसको।।९४।। चक्षु यथार्थ जाने रूप को। किंतु क्या वह जाने परिमल को?। अतः जो योग्यता जिसको। फल पावे वही।।९५।। अतः तप और भक्ति। देखना तुम सुभद्रापति। किंतु शास्त्र श्रवण में यदि अनासक्ति। त्यागना ही उसको।।९६।। नातर तप एवं भक्तियुक्त। श्रवण विषय में आर्त। ऐसी भी गुणसंपत। देखो यदि।।९७।। तथापि गीताशास्त्र निर्माता। जो मैं सकल लोकशास्ता। ऐसे मुझ में सामान्यता। देखे जो।।९८।। मैं और मेरे भक्तगण। इनको जो देत दूषण। वे सर्वथा अपात्र जान। गीता श्रवण को।।९९।। उनके वे सब गुण। जानो ऐसे व्यर्थ अर्जुन। दीपस्थान दीपबिन। रात्रि समय में।।१५००।। अंग गोरा और तरुण। ऊपर आभूषण किये धारण। किन्तु यदि उसको अकेले प्राण-। ने छोड़ा जैसे।।१।। सुवर्ण का अति सुंदर। निर्मित विशुद्ध घर। किंतु सर्पिणी से द्वार। रुद्ध जैसा।।२।। मिष्ठान्न सुरस स्वादिष्ट। किंतु मिलाया उसमें कालकूट। बाहिर मैत्री अंतर में कपट। व्यर्थ जैसा।।३।। वैसे तप भक्ति मेधा। वृथा उनकी जानो प्रबुद्धा। जो मेरे भक्तों की करे निंदा। अथवा मेरी।।४।। इस कारण पार्थ। यदि वह मेधावी तपी भक्त। न करने देना इस शास्त्र-। को स्पर्श उसको।।५।। बहुत क्या कहूं अर्जुन। निंदक यदि विधाता समान। न करो गीता निरूपण। कौतुक से भी कभी।।६।। अतः तप की धनुर्धर। नीव दृढ़ तल में डालकर। ऊपर गुरुभक्ति का सुंदर। प्रासाद हुआ जो।।७।। और श्रवणेच्छा का द्वार। खुला नित्य निरन्तर। कलश रम्य शोभत ऊपर। अनिंदा रत्नों का।।८।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

ऐसे भक्तालय में अर्जुन। करो गीता रत्नेश्वर का प्रतिष्ठान। तब योग्यता मेरे ही

है।।८३।। तद्वत श्रीगुरु प्रसन्न होंगे। शिष्य उनसे ज्ञान भी प्राप्त करेगा। किन्तु प्राप्त ज्ञान की संप्रदायपूर्वक उपासना होने पर ही वह फलदायी होती है।।८४।। अतः गीताशास्त्र के लिए जो योग्य संप्रदाय है उसको, हे धनंजय! आदरपूर्वक सुनो।।८५।।

जो तपस्वी नहीं है, जो भगवान एवं श्रीगुरु का भक्त नहीं है। जिसको शास्त्र सुनने की इच्छा नहीं। जो मेरा द्वेष करता है। ऐसे जीवों को यह शास्त्र कभी कहना बताना नहीं।।६७।।

हे अर्जुन! तुमने जो गीताशास्त्र आस्थापूर्वक प्राप्त किया है, उसको तपोहीन व्यक्ति को कभी बताना नहीं।।८६।। हे अर्जुन! तपस्वी भी जो गुरुभक्ति विहीन है, जैसा वेदों ने अंत्यज का त्याग किया है वैसा उसका त्याग तुम करना।।८७।। यज्ञ का पुरोड़ाश वृद्ध कौएं को भी नहीं खिलाता। तद्वत गुरुभक्ति विहीन तपस्वी को भी गीता नहीं बताना।।८८।। किसी ने देह से तप किया हो। श्रीगुरु एवं भगवान की भक्ति भी करता है। किन्तु यह शास्त्र सुनने की इच्छा नहीं है।।८९।। तब तापसी एवं गुरुभक्त है, यह दोनों गुण उसमें एक साथ हैं। किन्तु गीता श्रवण के लिए वह अयोग्य है।।१४९०।। मौक्तिक कितना भी सुंदर होवे। किन्तु उसमें छेद नहीं है। हे सुवीर! उसमें सूत्र का प्रवेश कैसा संभव होगा।।९१।। सागर गंभीर है यह कौन नर मान्य नहीं करता? किन्तु उस पर वृष्टि होने से वह व्यर्थ होती है।।९२।। जो भोजन से तृप्त हुआ है उसको मिष्टान्न परोसना व्यर्थ है। क्षुधित को देकर अपना औदार्य प्रकट क्यों नहीं किया जाता?।।९३।। सब दृष्टि से योग्य होते हुए भी जिसका मन गीता श्रवण में नहीं है, उसको कभी यह शास्त्र बताना नहीं।।९४।। नेत्र रूप का यथार्थ ज्ञान करा देते हैं। किन्तु सुगंध का ज्ञान कराने में असमर्थ हैं। अतः जिसकी जो योग्यता है, वही फल उसको मिलता है।।९५।। अतः तप एवं भक्ति, हे सुभद्रापति! तुम देखना। किन्तु शास्त्र श्रवण में जिसको रुचि नहीं है, उसका त्याग करना।।९६।। किसी को तप एवं भक्ति है। श्रवण की भी इच्छा है। ऐसी गुण संपदा तुम्हें दिखाई दी।।९७।। तब भी यदि गीता शास्त्र के निर्माता, सब लोगों के रक्षण करनेवाला, ऐसे मुझ ईश्वर को जो सामान्य समझेगा,।।९८।। मैं एवं मेरे भक्त गणों को जो दूषण देता है। वे सब गीता श्रवण के लिए अपात्र समझना।।९९।। हे अर्जुन दीप के बिना दीप रखने का स्थान रात्री में व्यर्थ रहता है। वैसे उनके वे सब गुण व्यर्थ समझना।।१५००।। शरीर गौर वर्ण एवं तरुण है। ऊपर आभूषण धारण किये हैं। किन्तु अकेले प्राण उड़ गये हैं,।।१।। सुवर्ण का सुन्दर एवं विशुद्ध घर बनाया। किन्तु घर का द्वार सर्पिणी ने रुद्ध किया है।।२।। सुरस एवं स्वादिष्ट मिष्ठान्न बनाये हैं, किन्तु उसमें कालकूट विष मिलाया है। बाह्य मैत्री एवं अंतरंग में कपट रखना, इन सबका क्या उपयोग है? वह व्यर्थ है।।३।। हे प्रबुद्ध अर्जुन जो मेरी एवं मेरे भक्तों की निंदा करता है उनका तप, भक्ति एवं बुद्धि व्यर्थ है।।४।। हे पार्थ बुद्धिमान, तापसी एवं भक्त होते हुए भी, इस शास्त्र को स्पर्श करने नहीं देता।।५।। अब और क्या कहूं अर्जुन वह यदि ब्रह्मा के सदृश भी है किन्तु निंदक है उसको चेष्टा में भी गीता का निरूपण नहीं करना।।६।। अतः हे धनुर्धर! तप की दृढ़ नीव प्रथम बनाकर ऊपर गुरुभक्ति का प्रासाद बनाना चाहिये।।७।। सुनने की इच्छा का द्वार निरन्तर खुला रखना चाहिये। अनिंदारूपी रत्नों का सुंदर कलश उसके ऊपर शोभा देता है।।८।।

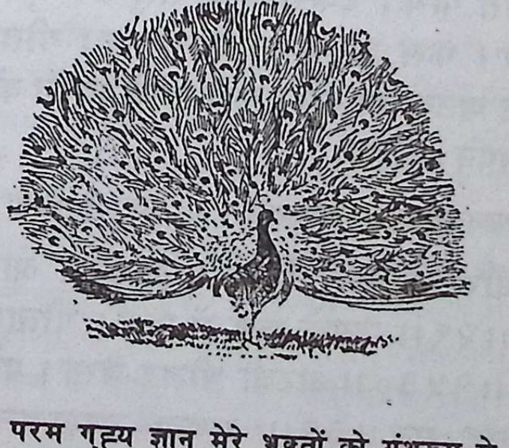

यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तों को ग्रंथरूप से अर्थरूप से बतायेगा वह इस प्रकार से मेरी श्रेष्ठ भक्ति करके मुझे प्राप्त होगा।।६८।।

Funding by IKS-MoE

समान। पावोगे जग में।।९।। त्रिमात्रका के कोख से। प्रणव जो एकाक्षरत्व से। अवरुद्ध गर्भावास में जैसे। धनुर्धर।।१५१०।। वह वेदों का बीजमंत्र। गीतारूप से हुआ विस्तृत। श्लोक पुष्पफल से बहरत। गायत्री रूप से।।११।। वही यह मंत्ररहस्य गीता। भेंट करत भक्त को मेरे पार्था। अनन्य जीव को माता। बालक को जैसी।।१२।। वैसे गीता और भक्त का। मेल करे सादर दोनों का। देहान्त में मुझसे वह मेरा सखा। एकरूप होत।।१३।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

ऐसा करके देहालंकार धारण। देहभाव से अलिप्त पूर्ण। वही जीव प्राण से अर्जुन। प्रिय मेरा।।१४।। ज्ञानी कर्मठ तापस। इन लक्षणों से युक्त मानुष। मध्ये वह एक विशेष। प्रिय मुझको।।१५।। वैसा अशेष भूतल पर। अन्य न देखूं धनुर्धर। जो कहे गीताशास्त्र। भक्त समुदाय को।।१६।। मुझ ईश्वर के भक्ति से पूर्ण। शांति से करे गीता पठण। होवे वह सभा को मंडण। संतसज्जनों की।।१७।। करे नव पल्लवी रोमांचित। मंदानिल से करे कंपित। आमोद जल से भरत। नयन पुष्प को।।१८।। कोकिल कलख मिष से। गद्‌गद् पुकारते जैसे। प्रवेशत बसंत वैसे। मद्‌भक्त आराम में।।१९।। अंबर में जब आवे चंद्र। सफल जन्म होवे चकोर। अथवा नूतन मेघ को मयूर-। देत साद।।१५२०।। गीता पद्यरत्न की वृष्टि। सज्जन समुदाय पर किरीटि। करे मत्प्राप्ति पर दृष्टि। रखकर जो।।२१।। मुझको उसके समान। प्रिय न देखो अन्य। न हुआ न होगा अर्जुन। त्रिभुवन में कोई।।२२।। प्रिय इस सीमा तक पार्थ। उसे मैं हृदय में रखत। जो गीतार्थ की करत। मेजवानी सन्त को।।२३।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः। ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

मेरे तेरे मिलन में पार्था। विस्तरित जो यह कथा। मानो मोक्षधर्मंहि आया सर्वथा। जीने यहां।।२४।। सो यह सकलार्थ बोध। हम दोनों का संवाद। न करते विस्तृत पदभेद। पठण करे जो।।२५।। उसने ज्ञानानल में प्रदीप्त। मूल अविद्या की आहुति पार्थ। देकर किया संतुष्ट। मुझ परमात्मा को।।२६।। गीतार्थ का अनुभव लेकर। फल जो पावत ज्ञानी नर। गीता का गायन पठनकर। पावत वही।।२७।। गीता पाठक को वैसे। फल प्राप्त अर्थज्ञ को जैसे। गीता माता को न भेद वैसे। बालकों में अपने।।२८।।

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः। सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

और सर्वमार्गी निन्दा। छेड़कर आस्था शुद्धा-। गीता श्रवण में श्रद्धा। रखे जो।।२९।। उसके कर्ण में पार्थ। गीताक्षर जब प्रविष्ट। होवे तत्क्षण भागत। पाप दूर।।१५३०।। अटवी भीतर जैसा। प्रवेशत वन्हि सहसा। भागत दश दिशा-। में वनचर सब।।३१।। अथवा उदयाचल पर। उदित जब भास्कर। अंतराल में तिमिर। लुप्त होत।।३२।। वैसे कर्ण महाद्वार में पार्थ। गीता गजर जहां करत। सृष्टि के आदि से कृत समस्त। पाप नष्ट।।३३।। ऐसी प्रक्षालित वंशवेल। होवे

Funding by IKS-MoE

जग में मेरे समान योग्यता तुम्हें प्राप्त होगी ।।९।। हे धनुर्धर जो ॐकार एक अक्षर के रूप में अ, उ, म इन तीन मात्राओं के गर्भ में अवरुद्ध हुआ था ।।१५१०।। वह वेदों का बीजमंत्र गीता रूप से विस्तृत हुआ, एवं गायत्री के रूप में श्लोक रूपी पुष्प एवं फलों से सुशोभित हुआ है ।।११।। हे पार्थ वही मंत्रों का रहस्य जिसमें है ऐसी यह गीता है। मेरे भक्तों से उसका मिलन जो करता है। वह माता के बिना जिस बालक का दूसरा जीवन नहीं है। बालक को उसकी माता के साथ मेल कराता है, ।।१२।। इसप्रकार भक्त एवं श्रीगीता का जो मिलन श्रद्धा से कराता है। देहपात के अनन्तर वह मेरे साथ एकरूप होता है ।।१३।।

मेरे भक्तों को भगवद्गीता के साथ मिलाने का प्रिय कार्य करनेवाला मेरा अधिक प्रिय दूसरा कोई नहीं। हुआ नहीं। होगा नहीं। इस विश्व में उसके बिना मेरा कोई प्रिय नहीं ।।६९।।

हे अर्जुन श्रीगीता का वक्ता देह का अलंकार पहनकर देहभाव से जो पूर्ण आलिप्त रहता है। वह मुझे जीव व प्राण से प्रिय है ।।१४।। ज्ञानी, कर्मठ एवं तापसी इन लक्षणों से युक्त जो गीता का वक्ता है। वह मुझे विशेष प्रिय है ।।१५।। हे धनुर्धर भक्त समुदाय में गीता समझाता है उसके जैसा इस भूतल पर अन्य कोई मुझे प्रिय नहीं है ।।१६।। मुझ ईश्वर के भक्ति प्रेम से जो निरभिमानता से एवं निस्पृह बुद्धि से गीतापठन करता है वह संतों की सभा में भूषण होता है ।।१७।। जो गीता वक्तारूपी वसंत ऋतु श्रवण भक्ति करनेवाले मेरे भक्तरूपी उद्यान को अष्ट सात्विक भावरूपी नवपल्लवों से रोमांचित करते हुए अध्यात्म के मंद वायु से शरीर को डुलाते हुए भक्तिप्रेम के सुगंधरूपी जल से पुष्प सदृश नेत्र प्रेमाश्रु से द्रवित करते हैं ।।१८।। कोयल के मधुमंजुल शब्द, स्वरूप धारण करके, सद्गदित वाणी से बोलते हुए, गीता श्रवण करनेवाले मेरे भक्तरूपी उद्यान में, मानो गीता वक्तारूपी बसंत प्रविष्ट हो रहा है ।।१९।। आकाश में चंद्रमा उदित होते ही चकोर का जन्म सफल होता है। नूतन मेघ, मयूर की पुकार सुनकर आकाश में प्रविष्ट होवे ।।१५२०।। तद्वत मेरे प्राप्ति को ध्यान रखकर संत समदाय को जो गीता श्लोकरूपी रत्न की वृष्टि करता है ।।२१।। हे किरीटी! मुझको उसके जैसा अन्य कोई प्रिय नहीं है। हे अर्जुन! इन तीनों लोगों में प्रिय नहीं होगा ।।२२।। हे पार्थ! वह इस सीमा तक प्रिय होता है, कि मैं उसे हृदय में रखता हूं। जो गीता के अर्थ की मेहमानी संतों से करता है, वह मुझे अत्यंत प्रिय है ।।२३।।

जो हम दोनों का इस धर्मरूप गीता का अध्ययन करेगा उसने ज्ञानयज्ञ द्वारा मेरा पूजन किया ऐसा मेरा मत है ।।७०।।

मेरे, तेरे मिलन में हे पार्थ! गीता कथा विकसित हुई है। मानो मोक्ष धर्म ही जीने के लिए यहां आया है ।।२४।। चारों पुरुषार्थों का ज्ञान हम दोनों के संवाद रूप में प्रकट हुआ है। इसके पद भेद को विस्तृत न करते हुए जो पठन करता है ।।२५।। उसने ज्ञानरूपी प्रदीप्त अग्नि में मूल अविद्या की आहूति देकर, हे पार्थ! मुझ परमात्मा को संतुष्ट किया है ।।२६।। गीता के अर्थ का अनुभव लेकर ज्ञानी नरों को जो फल प्राप्त होता है, वही फल गीता का गायन या पठन करने से प्राप्त होता है ।।२७।। गीता का पाठ करनेवाले को वही फल प्राप्त होता है, जो फल अर्थ जाननेवाले को मिलता है। अपने बालकों में गीतामाता भेद नहीं रखती ।।२८।।

जो श्रद्धा से, मत्सर रहित पुरुष गीता का श्रवण करेगा वह पापबंधन से मुक्त होकर पुण्य कर्म से प्राप्त शुभ लोक उसे प्राप्त होगा ।।७१।।

शास्त्रविहित सर्व कर्म, भक्ति एवं ज्ञानमार्ग की निंदा करना छोड़कर शुद्ध निष्काम भाव से श्री गीता के श्रवण में श्रद्धा रखता है ।।२९।। हे पार्थ! उसके कर्ण में गीता के अक्षर प्रविष्ट होते ही तत्क्षण पाप दूर भागते हैं ।।१५३०।। अरण्य में अकस्मात अग्नि उत्पन्न होने से वन के सब पशु पक्षी दश दिशाओं में भागने लगते हैं ।।३१।। उदयाचल पर सूर्योदय होते ही अंतराल में अंधेरा लुप्त होता है ।।३२।। हे पार्थ! वैसे कर्ण के महाद्वार में गीता की गर्जना होते ही सृष्टि के प्रारंभ से किये गये समस्त पाप नष्ट होते हैं ।।३३।। जन्म परंपरा रूपी वंशलता धुलकर शुद्ध होकर निर्मल एवं पुण्यरूप होती है। एवं उससे भी

Funding by MoE-IKS

पुण्यरूप निर्मल। इससे भी श्रेष्ठ फल। लाहे वह।।३४।। इस गीता के अक्षर। जितनों के कर्णद्वार। में रीगत उतने होत समग्र। अश्वमेघ पूर्ण।।३५।। अतः श्रवण से पाप नष्ट। और धर्म होवे उन्नत। उससे स्वर्गराज्य संपत। पावे अन्त में।।३६।। मेरे प्राप्ति के मार्ग में। प्रथम पड़ाव स्वर्ग में। सुख यथेच्छ भोगकर उसमें। मीनत मुझमें।।३७।। ऐसी गीता अर्जुन। करे जो श्रवण पठण। लाहे आनंदमय मद्रूपता पूर्ण। बहुत क्या कहूं?।।३८।। अतः रहने दो यह पार्थ। जिसलिये 'शास्त्रविस्तार समस्त। किया वह क्या हुआ परिपूर्ति। कार्य तेरा।।३९।।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।।७२।।

तब कहो हे पार्थ!। सब यह 'शास्त्रसिद्धान्त। हुआ तुमको ज्ञात स्पष्ट। एक चित्त से।।१५४०।। हमने जिस रीति से। किये स्वाधीन कर्ण के जैसे। क्या चित्त में तेरे वैसे। समर्पित वे।।४१।। अथवा बीच में ही। छांड़े बिखरे सबही। या उपेक्षा से तुमने ही। छोड़ा उनको।।४२।। जैसे हमने निरूपित। वैसे ही यदि हृदय में प्रविष्ट। तब कहो अब त्वरित। जो पूछूं मैं।।४३।। जो स्वाज्ञानजनित। पूर्व मोह से तुम भ्रमित। क्या वह यही है या लुप्त। कहो पार्थ।।४४।। अधिक क्या पूछूं सांप्रत। इतना ही कहो भारत। कर्माकर्म अपने में अवशिष्ट। देखत कुछ।।४५।। स्वानंदैक्यरस में अर्जुन। होगा अब निमग्न। जगावत भेददशा को कृष्ण। प्रश्न मिष से।।४६।। यदि पूर्ण ब्रह्म हुआ पार्थ। तब साधने अग्रिम कार्यार्थ। द्वैत मर्यादा श्रीकृष्ण नाथ। लांघने न देत।।४७।। वैसे क्या अपना कार्य। न जानत वह सर्वज्ञ। परंतु किया प्रश्न। इसीलिये।।४८।। एवं पूछकर प्रश्न। नष्ट हुआ जो अर्जुनपन। लाकर अनुभव पूर्णपन-। का कहलावत स्वयं।।४९।। देखो छांडके क्षीरसागर। गगन में पुंजमंड़ित वही हिमकर। अभिन्न किंतु भासत पूर्णचंद्र। भिन्न जैसा।।१५५०।। वैसे जब ब्रह्म में यह विस्मरत। वहां जग ही ब्रह्मत्व से भरत। वह भी जहां छांडत तब नष्ट। ब्रह्मपन भी।।५१।। ऐसी ब्रह्मस्मृति विस्मृति से। आकर देहस्थिति पर दुःख से। मैं अर्जुन इस नाम से। हुआ खड़ा।।५२।। तब कंपित करतल से। रोमावली दबाकर वैसे। स्वेद बिंदु पुलकित 'शोषत जैसे। जहां के वहां।।५३।। प्राण क्षोभ से डोलता। अंग अंग से सम्भालता। स्तंभित हुआ स्वतः। भुलाकर सब।।५४।। नेत्र युगल के प्रवाह को। आनंदामृत के भर को। उछलते अश्रुधारा को। पोंछकर पुनः।।५५।। विविध उत्कंठ से परिपूर्ण। कंठ गदगद संपूर्ण। उसे पैठ कर पूर्ण। हृदय भीतर।।५६।। स्वरभंग वाचा का। विपरीत क्रम 'श्वास का। क्षोभ ऐसा प्राण का। करके स्थिर।।५७।।

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

तब अर्जुन कहत हे अच्युत। क्या पूंछत मोह की बात। वह तो समूल हुआ नष्ट। कुटुंबसहित।।५८।। समीप आकर दिनकर। क्या नयन को अंधेर?। प्रश्न को इस

श्रेष्ठ फल उसको प्राप्त होता है।।३४।। इस गीता के अक्षर जीतने लोगों के कर्णद्वार में प्रविष्ट होते हैं, उतने समग्र अश्वमेघ यज्ञ पूर्ण होते हैं।।३५।। अतः श्रवण से पाप नष्ट होते हैं। धर्म का उत्कर्ष होता है। उससे स्वर्ग की राज्य संपत्ति मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है।।३६।। मेरे प्राप्ति के मार्ग में प्रथम स्वर्ग में पड़ाव डाला जाता है। उसमें यथेच्छ सुख भोगकर अन्त में मेरे स्वरूप में एकरूप होता है।।३७।। हे अर्जुन! इस प्रकार से जो गीता श्रवण करता है। या उसका पाठ करता है। उसको मेरी आनंदमय तद्रूपता पूर्ण प्राप्त होती है। अब और क्या कहूं?।।३८।। हे पार्थ! अब यह रहने दो। जिस लिए शास्त्र को विस्तृत रूप से वह समस्त सुनाया वह तेरा कार्य क्या परिपूर्ण हुआ है?।।३९।।

हे अर्जुन! मैंने कहा हुआ गीता शास्त्र एकाग्र मन से तुमने सुना है क्या? हे धनंजय! इसके श्रवण से तुम्हारा अज्ञान जन्य मोह नष्ट हुआ है क्या?।।७२।।

हे पार्थ! तुम मुझे यह बताओ कि मैंने समझाया हुआ यह संपूर्ण गीता शास्त्र का सिद्धान्त एकाग्र चित्त से सुनकर तुम्हारे समझ में आया है क्या?।।१५४०।। जिस रीति से हमने तेरे कर्ण को सौंप दिया है वह वैसे ही तेरे चित्त में समर्पित हुए हैं।।४१।। या बीच में ही सिद्धांतों को गिराने से बिखर गये हैं। या उपेक्षा से तुमने ही उनको छोड़ा है।।४२।। जैसा मैंने कहा था वैसा ही यदि तुम्हारे हृदय में प्रविष्ट हुआ हो, तब मैं कुछ पूछूंगा उसको त्वरित कहो।।४३।। हे पार्थ! अज्ञान से उत्पन्न स्वयं मोह से तुम भ्रमित हुए थे। वह अभी है या लुप्त हुआ है।।४४।। सांप्रत अधिक क्या पूछूं? हे भारत! इतना कहो कर्म एवं अकर्म अपने में शेष है ऐसा कुछ देखते हो या नहीं।।४५।। स्वानंद के ऐक्य रस में अर्जुन निमग्न होगा। इसलिये प्रश्न पूछकर उस दशा से कृष्ण उसको जागृत कर रहे हैं।।४६।। पार्थ पूर्ण ब्रह्स्वास्था को प्राप्त हुआ था। किन्तु अग्रिम कार्य सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्णनाथ द्वैत की मर्यादा का उल्लंघन करने नहीं देते।।४७।। वैसे अपना उपदेश सफल हुआ या नहीं यह सर्वज्ञ श्रीकृष्ण क्या जानते नहीं थे। किन्तु इसीलिए प्रश्न किया।।४८।। इस प्रकार से प्रश्न करके अर्जुनपन का अहंकार जो नष्ट हुआ था। वह पूर्णत्व का अनुभव कराने के उपरान्त स्वयं भगवान उसको कहलवा रहे हैं।।४९।। क्षीर सागर को छोड़कर आकाश में रश्मि पुंज से मंडित पूर्ण चंद्रमा क्षीरसागर से वस्तुतः अलग न होते हुये भी भिन्न दिखाई देता है।।१५५०।। तद्वत भगवान ने प्रश्न के निमित्त अर्जुन को देहभान कराया। तब उसकी स्थिति आंदोलित हुई थी। मैं ब्रह्म हूं यह प्रतीति आते ही संपूर्ण विश्व भी ब्रह्ममय है इसकी प्रतीति हो रही थी। अन्त में उस प्रतीति का भी लोप हो रहा था। विश्व का एवं स्वयं का ब्रह्मबोध भी लुप्त हो रहा था।।५१।। ऐसी ब्रह्मत्व की स्मृति एवं विस्मृति से देहास्थिति पर दुःख से आकर मैं अर्जुन हूं इसका उसे बोध हुआ।।५२।। तब कंपित हथेली से रोमावली दबाते हुए पुलकित शरीर को रोम मूल में स्वदेशबिंदु उसी स्थान पर शोषित कर दिए।।५३।। प्राणवायु क्षोभित होकर शीघ्र श्वसन होने लगा। ताप को शरीर से संभालता हुआ सब भुलाकर स्वयं स्थिर हुआ।।५४।। दोनों नेत्रों से आनंदाश्रु बह रहे थे। पुनः-पुनः बहनेवाले आंसुओं को पुनः-पुनः उसने पोंछा।।५५।। विविध उत्कंठा से परिपूर्ण कंठ गद्गद हुआ था। उसको संपूर्ण हृदय के भीतर स्थिर किया।।५६।। वाणी की रुकी हुई गति, श्वसन का विपरीत क्रम एवं प्राणवायु का क्षोभ स्थिर किया।।५७।।

अर्जुन ने कहा, हे अच्युत! तुम्हारे कृपा प्रसाद से मेरा समूलमोह नष्ट हुआ। मैं संशयरहित हुआ हूं। अब मैं जैसे आप कहोगे वहीं करूंगा।।७३।।

* * *

अर्जुन ने कहा हे अच्युत! तुम्हारे कृपा प्रसाद से मेरा मोह समूल नष्ट हुआ। उसकी बात क्या पूछते हो! वह तो सपरिवार नष्ट हुआ है।।५८।। सूर्योदय होने पर क्या नेत्रों को अंधेरा दिखेगा? इस प्रश्न को

क्या आधार? किस गांव में।।५९।। वैसे आप रमावर। मेरी दृष्टि को गोचर। मोह निर्दालन कर। क्या न पर्याप्त वह?।।१५६०।। माता से भी बढ़कर प्यार से। आपने निरूपित विस्तार से। जो न संभव अति प्रयास से-। भी जानना शक्य।।६१।। अब मोह शेष अथवा नाही। ऐसे यह पूंछत काई। कृतकृत्य हुआ मैं सच ही। कृपा से आपकी।।६२।। था अर्जुनपन से बद्ध। हुआ त्वद्रूप से मुक्त शुद्ध। अब पूंछने कहने का संबंध। दोनों का नाहीं।।६३।। देव आपका प्रसाद। पाया मैंने आत्मबोध। मोह के विषयकंद। करूं निर्मूल मैं।।६४।। अब करना या न करना। उत्पन्न जिस द्वैतभावना-। से सो न जानु आपबिना। सर्वत्र मैं।।६५।। इस विषय में मेरे मन में कोई। संदेह कुछ भी शेष नाहीं। त्रिशुद्धि कर्म जहां नाहीं। वह हुआ मैं।।६६।। आप से ही मुझको मैं ज्ञात। कर्तव्य हुआ समूल नष्ट। अब आपकी आज्ञाबिन अच्युत। अन्य न शेष।।६७।। क्यों की जो दृश्य को नाशत। जो दूना द्वैत को ग्रासत। जो एक किंतु व्यापत। सर्वदेश।।६८।। संबंध से जिसके बंध नष्ट। जिसकी आशा से आशा लुप्त। मिलने से जो सब प्राप्त। अपने को।।६९।। सो आप मेरे गुरुदैवत। जो एकपन को साह्य होत। जिसके लिये करना उल्लंघित। अद्वैत बोध।।१५७०।। स्वयं होकर ब्रह्म। कृत्याकृत्य का छोड़िये काम। पश्चात कीजे निःसीम। सेवा जिसकी।।७१।। गंगा समुद्र सेवा में जात। जाते ही स्वयं समुद्र होत। वैसी भक्त को पात्रता देत। निज पद की।।७२।। सो आप मेरे निरूपचारू। श्रीकृष्ण सेव्य सद्गुरु। किया ब्रह्मत्व का उपकारू। मानु यह।।७३।। जो मेरे आपके आड़। भेद का था किवाड़। हटाकर सेवासुख की जोड़। दी मुझको।।७४।। अतः अब आपकी आज्ञा। सकल देव देवराज्ञा। करूं मैं दो अनुज्ञा। चाहो जैसी।।७५।। अर्जुन के बोलपर अच्युत। सुखमगन नाचन लागत। कहे विश्वफल को मुझे प्राप्त। फल यह आज।।७६।। न्यून रहित सुधाकर। देखकर पूर्ण अपना कुमर। क्या न भूलत क्षीरसागर। मर्यादा अपनी।।७७।। ऐसे संवाद वेदी पर। लग्न दोनों का देखकर। संजय हुआ विभोर। अत्यानंद से।।७८।। आनंदोत्कर्ष से सद्गदित। धृतराष्ट्र को संजय कहत। कैसे हम दोनों रक्षित। बादरायण से।।७९।। आपको देखने संसार। चर्मचक्षु भी नहीं नृपवर। हुआ ज्ञानदृष्टि का व्यवहार। प्राप्त आपको।।१५८०।। और रथ संचालन सेवक। रखा मुझको अश्वपरीक्षक। ऐसे हम सबको सब प्रत्यक्ष। हुआ गोचर।।८१।। यह युद्ध का निर्वाण। रचा यहां अति दारुण। उभय पक्ष से हम पूर्ण। हुए पराजित जैसे।।८२।। इतना जहां संकट। किन्तु कैसा अनुग्रह बलिष्ट। जो ब्रह्मानंद का स्पष्ट। अनुभव देत।।८३।। इसविध संजय बोलत। किंतु वृद्ध स्तब्ध न हुआ द्रवित। चंद्रकिरणों से स्पर्शित। पाषाण जैसा।।८४।। देखकर उसकी दशा। न रखते संबंध जैसा। सुखोन्माद से सहसा। बोलत जात।।८५।। हर्षवेग में मग्न। धृतराष्ट्र को करे कथन। अन्यथा अपात्र वह पूर्ण। जानो निश्चित।।८६।।

संजय उवाच–

किस गांव में आधार मिलेगा।।५९।। हे रमापति! आप हमारे नेत्रों को प्रत्यक्ष गोचर हुए हो। मोह का निर्दालन करने के लिये क्या यह पर्याप्त नहीं है?।।१५६०।। माता से भी बढ़कर प्यार से आपने गीताशास्त्र का विस्तृत निरूपण किया है। जो अत्यंत प्रयास करके भी जानना शक्य नहीं है।।६१।। अब मोह शेष है या नहीं ऐसा जो आपने पूछा है। आपकी कृपा से मैं सत्य में कृतकृत्य हुआ हूं।।६२।। मैं वीरश्रेष्ठ अर्जुन हूं इस अहंकार से बद्ध हुआ था। तद्रूप होकर मैं शुद्ध एवं मुक्त हुआ हूं। अब पूछना एवं बताना दोनों शेष नहीं हैं।।६३।। हे देव! आपके कृपाप्रसाद से मुझे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है। मोह के विषयकंद पूर्ण निर्मूल हुए हैं।।६४।। अब करना या न करना यह संकल्प जिस द्वैतभावना से निर्माण होते हैं वह आप ही हो। तुम्हारे बिना सर्वत्र मैं कुछ नहीं जानता।।६५।। इस विषय में मेरे मन में कोई संदेह शेष नहीं है। जहां त्रिशुद्धि कर्म नहीं होते वह आत्मस्वरूप मैं हुआ हूं।।६६।। हे अच्युत! तुम्हारे कृपाप्रसाद से मुझे मैं प्राप्त हुआ हूं। मेरे स्वरूप का ज्ञान मुझे हुआ है। कर्म समूल नष्ट हुए हैं। आपकी आज्ञाबिन मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है।।६७।। जो दृश्य का नाश करता है। जो द्वैत, द्वैतभावना का ग्रास करता है। जो एक है किंतु सब देशों में व्याप्त है।।६८।। जिसके संबंध से बंध नष्ट होते हैं। जिसकी आशा से आशा का लोप होता है। जिसके मिलने से अपने को सब प्राप्त होता है।।६९।। वही आप मेरे श्रीगुरुदैवत हो। एकरूपता प्राप्त होनें में सहायक हो। जिसके लिए अद्वैतज्ञान का भी उल्लंघन करना चाहिये।।१५७०।। स्वयं ब्रह्म होकर विधि निषेध का कार्य समाप्त करना चाहिये। उर्वरित जीवन में जिसकी निःसीम भक्ति करना चाहिये।।७१।। गंगा समुद्र की सेवा करने जाते ही स्वयं समुद्र बन गयी। वैसी भक्त को अपने जैसा बनाकर ब्रह्मत्व की पात्रता प्राप्त करा दी है।।७२।। वह आप श्रीकृष्ण उपचार के बिना सेवा करने योग्य मेरे सद्गुरु हो। आप ने ब्रह्मत्व प्राप्त करा देने का उपकार मैं क्यों मानूं?।।७३।। तुम्हारे एवं हमारे बीच में जो भेद का द्वार था वह खोलकर मेरे लिए सेवा का सुख प्राप्त करा दिया।।७४।। अतः हे देवादिदेव! आपकी आज्ञा अनुसार मैं व्यवहार करूंगा। चाहे जैसी अनुज्ञा मुझे देना।।७५।। अर्जुन की यह वाणी सुनकर सुख में मग्न होकर भगवान नाचने लगे। विश्वफल को अर्जुनरूपी फल मुझे आज प्राप्त हुआ है।।७६।। अभी तक दिखाई देने का अपूर्ण चंद्रमा को पूर्णिमा के दिन अपने पुत्र को पूर्ण देखकर क्या क्षीरसागर अपनी मर्यादा भूलता नहीं?।।७७।। ऐसे संवाद के वेदी पर श्रीकृष्ण एवं अर्जुन की एकता देखकर संजय आनंद से परिपूर्ण हुआ।।७८।। अत्यंत आनंद से संजय ने धृतराष्ट्र को कहा, आप और मैं बादरायण व्यायजी से रक्षित हुए हैं।।७९।। संसार को देखने के लिए आपको चर्मचक्षु नहीं है। हे राजा! आपको ज्ञान् दृष्टि का व्यवहार प्राप्त हुआ है।।१५८०।। रथ को संचालन करने का सेवक सारथी मैं हूं। आपने मुझे अश्वपरीक्षा करने के लिए रखा है। हम सामान्य सेवक को व्यासकृपा से प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।।८१।। युद्ध का भयंकर अनर्थकारक प्रसंग है। दोनों पक्ष में अपने सुहृद हैं। इस युद्ध में कोई भी पराजित होने पर स्वयं अपने को पराजित करना होगा।।८२।। प्रतिकूल संकट में व्यासजी का अनुग्रह इतना बलिष्ट है कि वह हमसे अनावृत ब्रह्मनंद का अनुभव करा रहे हैं।।८३।।

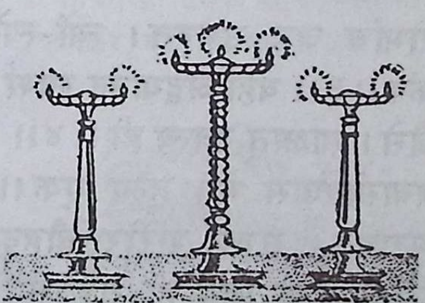

इस प्रकार से संजय बोल रहा था। किन्तु पाषाण को चंद्रकिरणों का स्पर्श होने पर भी जैसा वह द्रवित नहीं होता, वैसा संजय की वाणी सुनकर धृतराष्ट्र स्तब्ध रहा।।८४।। उसकी ऐसी दशा देखकर उससे जैसा कुछ संबंध नहीं ऐसा सुखोन्माद से स्वाभाविक रीति से बोल रहा था।।८५।। हर्षवेग में मग्न होकर धृतराष्ट्र को बता रहा था। वास्तविक सुनने को धृतराष्ट्र अपात्र था।।८६।।

Funding by IKS-MoE

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः। संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

तब कहत कुरुराज को। ऐसे बंधुपुत्र तेरा अधोक्षज को। बोलत वह कथन उसको। भाया अति।।८७।। देखो पूर्वापर सागर। इनमें नाम का ही अन्तर। वैसे अशेष वह नीर। एक जैसे।।८८।। वैसे श्रीकृष्ण और अर्जुन। देहरूप से मात्र भिन्न। किंतु संवादरूप से पूर्ण। अभेद वे।।८९।। दर्पण से भी चोख। दोनों यदि आवत सन्नमुख। वहां एक दूजे को देख। देखत स्वयम्।।१५९०।। वैसे देवसहित पंडुसुत। अपने में देव देखत। पांडव सहित देखे अनंत। स्वयं में ही पार्थ।।९१।। वह देवाधिदेव श्रीकृष्ण। स्वरूप में निहारे जो अर्जुन। विवेक से तब हुआ दर्शन। दोनों का वहां।।९२।। और कुछ भी द्वैत। न दोनों में अवशिष्ट। हुआ पूर्ण अद्वैत। कृष्णार्जुन का।।९३।। अब यदि भेद हुआ दूर। कैसे संभव प्रश्नोत्तर। और यदि भेद न हुआ दूर। संवाद सुख कैसे?।।९४।। अतः द्वैतभाव से बोलत-बोलत। संवाद में द्वैत हुआ लुप्त। वह अलौकिक सुनी बात। दोनों की मैंने।।९५।। साफ करके दर्पण। रखे सम्मुख समान। इसको देखत कौन?। जानना कैसे?।।९६।। क्या दीप के सम्मुख। रखा यदि दीपक। कौन किसका आर्थिक। जाने कौन?।।९७।। अथवा अर्कसम्मुख अर्क। उदित यदि अन्य एक। कौन वहां प्रकाशक। और प्रकाश्य कौन?।।९८।। श्रीकृष्ण और अर्जुन। संवाद से ऐसे हुए अभिन्न। करना उनका निर्धारण। असंभव।।९९।। अजी, मिलते दो उदक। मध्ये रखा लवण वारु एक। की हुआ वह निमिख-। भर में एक।।१६००।। वैसे श्रीकृष्ण और अर्जुन। संवाद का करके मंथन। मेरी भी होवे उसी समान। अवस्था वैसी।।१।। ऐसा जो करे भाषण। तब सात्त्विक भाव उत्पन्न। वहां न जाने संजयपन का स्मरण। खोया कैसे?।।२।। रोमांच जब उभरत। त्यों-त्यों अंग संकुचत। स्तंभ स्वेद को जीतत। अकेला कंप।।३।। वहां अद्वयानंद स्पर्श से। दृष्टि रसमय होवे उससे। अश्रु न ये धारण किये जैसे। साक्षात् द्रवत्व ही।।४।। कुछ न समाये पेट में। शब्द न एक भी कंठ में। वागर्थ श्वासोश्वास में। हुआ एक।।५।। अष्ट सात्त्विक भाव उमड़त। शब्द मुख में मुरावत। संजय शरीर चौहट्टा होत। संवाद सुख का।।६।। उस सुख की ऐसी जाती। जो स्वयं ही धरे शांति। तब पुनः देहस्मृति। प्राप्त उसको।।७।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्। योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

तब शमित आनंद से। कहे जो न ज्ञात उपनिषद से। वह सांप्रत व्यास प्रसाद से। सुनी मैंने।।८।। सुनते तत्क्षण वह गोष्ठी। ब्रह्मत्व की हुई प्राप्ति। मैं तू पन की सृष्टि। विलीन हुई सब।।९।। ये अशेष ही योग। जहां पहुंचत ये मार्ग। उसका वचन किया सुलभ सुरंग। व्यासदेव ने मुझको।।१६१०।। अजी, अर्जुन के मिष से। स्वयं ही दूजा होकर जैसे। नटकर अपने ही उद्देश्य से। निरूपित जो देव ने।।११।। उसको सुनने पात्र। हुए मेरे ये श्रोत्र। क्या बखानु स्वतंत्र। सामर्थ्य उनका।।१२।।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्। केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

संजय ने कहा इस प्रकार से भगवान वासुदेव का एवं महात्मा अर्जुन का अद्भुत एवं रोमांचित करनेवाला संवाद मैंने सुना।।७४।।

हे कुरुदेश के राजा, धृतराष्ट्र! तुम्हारे बंधु के पुत्र ने मोह नष्ट हुआ ऐसे कहने से वह कथन भगवान को अत्यंत प्रिय प्रतीत हुआ।।८७।। पूर्व समुद्र एवं पशिचम समुद्र केवल नाम का भेद है। तत्त्वतः सब जल है।।८८।। वैसे श्रीकृष्ण एवं अर्जुन देहरूप से भिन्न हैं। किन्तु संवाद रूप में उनमें अभेद है।।८९।। दर्पण से शुद्ध दो पदार्थ एक दूजे के सम्मुख आतेहि एक अपना स्वरूप दूजे में देखता है।।१५९०।। वैसे श्रीकृष्ण सहित पंडुसुत अपने में भगवान को देख रहा था। एवं पांडवसहित अनन्त अपने में पार्थ को देख रहे थे।।९१।। देवाधिदेव श्रीकृष्ण को जब अर्जुन अपने स्वरूप में देख रहा था तब विवेक से उसको दोनों का दर्शन वहां हुआ।।९२।। और दोनों में कुछ भी भेद शेष नहीं बचा। श्रीकृष्ण एवं अर्जुन का पूर्ण अद्वैत हुआ।।९३।। यदि भेद दूर हुआ तब प्रश्नोत्तर कैसे संभव है और अद्वैत दूर न हुआ तो संवाद का सुख भी कैसे मिलेगा?।।९४।। द्वैत भाव से बोलते हुए संवाद में द्वैतभाव लुप्त हुआ। दोनों की वह अलौकिक मैंने सुनी।।९५।। दर्पण को साफ करके सम्मुख रखने पर एक में दूजे के अनन्त प्रतिबिंब दिखाई देते हैं। उसमें किसका प्रतिबिंब कौन देखता है, यह कैसे जानेंगे।।९६।। दीप के सामने दीप रखने पर कौनसा दीपक दूजे को प्रकाशित करेगा? एवं जानेगा कौन।।९७।। सूर्य के सम्मुख दूजा सूर्य उदित होने पर उनमें कौनसा प्रकाशक एवं प्रकाश्य है, ऐसा कैसे जानेंगे?।।९८।। श्रीकृष्ण एवं अर्जुन संवाद से अभिन्न हुए। उनका निर्धारण करना असंभव है।।९९।। उदक के दो प्रवाहों का मिलन होने के पूर्व उनके बीच में नमक का अश्व रखा। किंतु उदक के मिलन में वह अश्व भी जलरूप होकर उनमें मिल गया।।१६००।। वैसे श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद मंथन में मेरी भी उसी समान अवस्था हुई है।।१।। ऐसा भाषण जब वह करने लगा तब उसको सात्त्विक भाव उत्पन्न हुए। वहां संजयपन का स्मरण कैसे खो गया?।।२।। जैसे-जैसे शरीर पर रोमांच आ रहे थे। वैसी-वैसी उसकी देह कांती बदल रही थी। स्तंभ एवं स्वेद को कंप अकेला जीत रहा था।।३।। अद्वयानंद के स्पर्श से संजय के नेत्रों में अश्रु उत्पन्न हुये। वे आनंदाश्रुमानो प्रेममय द्रवत्व नेत्रों से साक्षात धारण किया था।।४।। संजय के उदर में कुछ समाया नहीं जा रहा था। कंठ से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। वाणी एवं अर्थ मानो श्वसन में एक हो गये थे।।५।। अष्ट सात्विक भाव उमड़ रहे थे। शब्द मुख में ही विलीन हो गये थे। संवाद सुख का चौराहा, संजय का शरीर बना।।६।। शुद्ध सात्विक भाव से सुख की जाती ऐसी होती है, जिससे अपने आप शांती आती है। तब उसको देह की स्मृति हुई।।७।।

अर्जुन को प्रत्यक्ष उपदेश करनेवाले श्रीकृष्ण से मैंने परमगुह्य योग व्यायजी की कृपाप्रसाद से सुना है।।७५।।

आनंद शांत होने के उपरान्त संजय ने कहा, महाराज! जिस परम गुह्य को उपनिषद भी नहीं जानते, वह मैंने व्यासजी की कृपा से जान लिया।।८।। वह गुह्य बात सुनते ही तत्क्षण मुझे भी ब्रह्मत्व की प्राप्ति हुई है। द्वैत की सृष्टि मैं, तू पन के साथ सब विलीन हुई।।९।। सब योगमार्ग जिस स्थान में पहुंचते हैं, उनकी वाणी, व्यासजी ने मुझे दिव्य दृष्टि देकर, मेरे लिये सुलभ किया।।१६१०।।

अर्जुन के निमित्त से स्वयं दूसरा रूप लेकर स्वयं के साथ भगवान ने बातचीत की है।।११।। वह सुनने के लिए मेरे यह कर्ण पात्र हुए हैं। श्रीगुरु के स्वतंत्र सामर्थ्य का क्या वर्णन करूं?।।१२।।

हे राजा! श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के अद्भुत एवं पवित्र संवाद का पुनः-पुनः स्मरण करके मुझे हर्ष हो रहा है।।७६।।

हुआ विस्मित स्वयं कहते यह। संजयपन विस्मरत संजय। रत्नदीप्ति से आच्छादित जो। रत्न ही जैसे।।१३।। हिमवंत के सरोवर। चंद्रोदय में होत काश्मीर। होवे सूर्योदय में पुनः नीर। आवे द्रवत्व।।१४।। वैसा शरीर की स्मृति से। संवाद स्मरत चित्त से। और पुनः देह विस्मृति से। होवे विस्मरण।।१५।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूममत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान्राजनन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

तब सानंद उठकर नृप को। कहे श्रीहरि के विश्वरूप को। देखकर न प्रसन्नता तुझको। कैसे चुप हो तुम?।।१६।। जो न देखते ही दिखत। नाहीपन से भी भासत। विस्मरण से भी स्मरत। तारू कैसे उसको?।।१७।। उसका मानू चमत्कार। इतना भी नहीं अवसर। मेरे सहित्त वह महापूर। बहावत सब।।१८।। ऐसा जो श्रीकृष्णार्जुन। -संवाद संगम में स्नान। करके देत तिलोदक दान। अहंता का।।१९।। उस अनिवार आनंद से। अलौकिक कुछ सिसकान से। कृष्ण-कृष्ण कहे कंठ से। बारम्बार।।१६२०।। इस आनंद की कोई। अंध कौरव को वार्ता नाहीं। अतः करे जब कल्पना कुछ ही। राव तब।।२१।। हुआ था जो सुख लाभ। अंतर में करके स्वयंभू। बुझावत अवष्टंभ। संजय स्वतः।।२२।। तब नृप कहे इस अवसर। कहना जो बात छोड़कर। कहत बात अनवसर। कैसी रीत तेरी?।।२३।। सुनो तुम यहां व्यास से। बिठाये किस उद्देश्य से। सो तुम अप्रसंग में ऐसे। बोलत काई।।२४।। राजमहल में जंगली जात। दशहि दिशा सुनी पावत। दिन होते ही रात भासत। निशाचर को जैसे।।२५।। जो न जाने जिसका गौरव। उसको लगे वह निःसत्व। अतः उसको अप्रसंगत्व। कहत वह।।२६।। तब कहे कहो प्रस्तुत। यह कलह जो उदित। किसको वह जैत्य। देगा अन्त में।।२७।। वैसे विशेष बहुतेक। हमारा ऐसा मानसिक। जो दुर्योधन का अधिक। प्रताप सदा।।२८।। और पांडवों की तुलना में संजय। देव्हड़ा इसका सैन्य। अतः पायेगा वहां जय। सुनिश्चित।।२९।। हमको तो भासत ऐसा। किंतु कहो ज्योतिष तेरा कैसा। न जानु जैसा होवे वैसा। कहो संजय अब।।१६३०।।

संजय उवाच–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

सुनकर कहे यह संजय। न जानू परस्पर का जयाजय। किंतु जितना होगा आयुष्य। निश्चित जीना उतना।।३१।। चंद्र जहां चंद्रिका वहां। शंभु जहां अंबिका वहां। संत जहां विवेक वहां। सुनिश्चित।।३२।। राजा जहां वहां सैन्य। मैत्री वहां जहां सौजन्य। वन्हि जहां वहां सामर्थ्य। दाहक जानो।।३३।। दया वहां धर्म। धर्म वहां सुखागम। सुख वहां पुरुषोत्तम। विद्यमान जैसा।।३४।। वसंत वहां वन। वन वहां सुमन। सुमन वहां भ्रमरगण। एकत्रित जैसे।।३५।। गुरु वहां ज्ञान। ज्ञान वहां आत्मदर्शन। दर्शन में समाधान। सहज जैसे।।३६।। भाग्य वहां विलास। सुख वहां उल्लास। और सूर्य वहां प्रकाश। रहे जैसा।।३७।। वैसे सकल पुरुषार्थ। जिस

रत्न से रत्न की कांती जैसे आवृत्त होती है, तद्वत बोलते हुए संजय विस्मित हुआ। संजयपन का संजय को विस्मरण हुआ।।१३।। हिमालय पर्वत के तालाब सरोवर चंद्रोदय होने पर बर्फ बनने से स्फटिक जैसे बन जाते हैं। सूर्योदय होते ही उन्हें पुनः द्रवरूप प्राप्त होता है।।१४।। तद्वत शरीर की स्मृति होते ही मन में श्रीकृष्णार्जुन के संवाद का स्मरण करने लगता है। पुनः देह विस्मृति होते ही उसका विस्मरण होता था।।१५।।

हे राजा! भगवान के अत्यंत अद्भुत विश्वरूप का पुनः-पुनः स्मरण करते हुए, मुझे आश्चर्य प्रतीत हो रहा है। मुझे पुनः-पुनः हर्ष हो रहा है।।७७।।

हर्षावेग से खड़े होकर संजय ने कहा। हे राजा! श्रीहरी के विश्वरूप को देखकर तुम्हें क्या प्रसन्नता नहीं होती? तुम स्तब्ध क्यों हो।।१६।। नेत्र से न देखते हि वह अद्याप दिख रहा है। वह रूप अब नेत्रों के सम्मुख नहीं है किन्तु साक्षात है ऐसा लगता है। विस्मरण करने से प्रयास में स्मरण होता है। उस रूप को मैं कैसे भुलाऊं?।।१७।। उसको चमत्कार समझ लेने का भी अवसर नहीं है। वह चमत्कार का महापूर मेरे सहित सब बहाता है।।१८।। श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवादरूपी त्रिवेणी संगम में स्नान करके अहंकार को तिलांजली समर्पित कर रहा हूं।।१९।। इस अनिवार आनंद से अलौकिक कुछ स्मरण से स्फुंदन करते हुए सद्गदित कंठ से पुनः-पुनः "कृष्ण-कृष्ण" कहने लगा।।१६२०।। इस अवस्था का, आनंद का अंधे कौरव को ज्ञान नहीं था। संजय कृष्ण कृष्ण कहते हुए क्यों रो रहा है इसकी कुछ भी कल्पना उसको नहीं थी।।२१।। जो लाभ संजय को हुआ था उसको स्वयं अपने में स्थिर करके अष्ट सात्त्विक भाव का क्षोभ स्वयं शांत किया।।२२।। तब राजा धृतराष्ट्र ने कहा, इस अवसर पर जो बात कहना चाहिये उसको छोड़कर अवसर को अनुचित बात तुम कह रहे हो। यह तुम्हारी रीत कैसी है?।।२३।। व्यासजी ने तुम्हें यहां किस उद्देश्य से बिठाया? तुम अप्रासंगिक बातें कुछ कह रहे हो।।२४।। जंगल में रहनेवाले को राजमहल में ले जाने पर दशदिशाएं उसको शून्य प्रतीत होती हैं। निशाचरों को दिन में रात प्रतिभासित होती है।।२५।। धृतराष्ट्र ने कहा, हे संजय! प्रस्तुत यह युद्ध प्रसंग उत्पन्न हुआ है, उसके अन्त में किसको विजय प्राप्त होगी।।२७।। मेरे मन को ऐसा लग रहा है, कि दूर्योधन का प्रताप नित्य अधिक रहता है।।२८।। एवं पांडवों की तुलना में उसका सैन्य डेढ़ गुना है। अतः संजय! उसको निश्चित जय प्राप्त होगी।।२९।। हमको तो ऐसा लग रहा है किन्तु तुम्हारा भविष्य क्या है। जैसा है वैसा कहो।।१६३०।।

जिसके साथ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुष्य धारण करनेवाले अर्जुन हैं। वहां श्री, ऐश्वर्य, विजय, स्थिर नीति रहती है। यह मेरा निश्चित्त मत है।।७८।।

धृतराष्ट्र की वाणी सुनकर संजय ने कहा, महाराज! मैं दोनों का जय या पराजय नहीं जानता। जितना आयुष्य होता है उतने दिन मनुष्य जीवित रहता है।।३१।। जहां चंद्रमा रहता है वहां उसकी चंद्रिका रहती है। जहां शंकर भगवान वहां अंबिका पार्वती रहती है। जहां संत होते हैं वहां विवेक सुनिश्चित होता है।।३२।। जहां राजा होता है वहां सैन्य रहता है। जहां मैत्री होती है वहां सौजन्य रहता है। जहां अग्नि है वहां उसका दाहक सामर्थ्य भी रहता है।।३३।। जहां दया है वहां धर्म होता है। जहां धर्म होता है वहां सुख की प्राप्ति होती है। जहां सुख होता है वहां पुरुषोत्तम विद्यमान रहते हैं।।३४।। वसंत ऋतू में सुशोभित वन रहता है। वन में सुंदर पुष्प होते हैं। जहां पुष्प होते हैं वहां भ्रमरों के समूह रहते हैं।।३५।। जहां गुरु होते हैं वहां ज्ञानप्राप्ति है। जहां आत्मज्ञान प्राप्त होता है वहां आत्मसाक्षात्कार होता है। आत्मदर्शन होने पर जैसे सहज समाधान प्राप्त होता है।।३६।। जहां भाग्य है वहीं विषयोपभोग का विलास रहता है। जहां सुख प्राप्त होता है वहां चित्त प्रसन्न होता है। जहां सूर्य रहता है वहां प्रकाश होता है।।३७।। तद्वत सकल पुरुषार्थ जिससे सनाथ होते हैं वह जगन्नाथ श्रीकृष्ण जहां

स्वामी से सनाथ। ऐसे जहां श्रीकृष्णनाथ। लक्ष्मी वहां।।३८।। और अपने पति सहित। जगदंबा जहां सतत। अणिमादि दासियां निश्चित। रहत वहां।।३९।। विजयस्वरूप निजांग से कृष्ण। जिस विभाग में विद्यमान। तब जयलाभ पूर्ण। जानो वहां।।१६४०।। विजय नाम से अर्जुन विख्यात। विजय स्वरूप श्रीकृष्णनाथ। अतः विजय श्री सहित। निश्चित वहां।।४१।। उस देश के वृक्ष समस्त। कल्पवृक्ष को होड़ से जीतत। लक्ष्मी एवं लक्ष्मीनाथ। मां-बाप जिसके।।४२।। वहां के पाषाण वे। क्यों न चिंतामणि होवे। उस भूमि को क्यों न आवे। सुवर्णत्व।।४३।। उस गांव की नदियां। क्यों न अमृत बहे वहां। नवल क्या इसमें राया। सोचो जरा।।४४।। उनके स्वच्छंद शब्द। वही निश्चय से बनत वेद। सदेह सच्चिदानंद। क्यों न होवत वे।।४५।। अतः स्वर्गापवर्ग दोनों पूर्ण। पद जिसके स्वाधीन। वह पिता जिसका श्रीकृष्ण। और जननी कमला।।४६।। अतः जिस पक्ष में पद्मनाभ। खड़ा लक्ष्मी का वल्लभ। वहां सब सिद्धियां स्वयंभ। और न जानू मैं।।४७।। समुद्र से उत्पन्न जलधर। उपयोग में उससे बढ़कर। भाग्य पार्थ का उसी प्रकार। विशेष आज।।४८।। लोह को देवे सुवर्णपन। अतः पारस को गुरुपन। किंतु जग का परिपोषण। वही जाने।।४९।। यहां गुरुत्व को आवे हीनत्व। ऐसे यदि कहे कोई क्वचित। क्या न वन्हि दीपत्व से प्रकाशत। प्रकाश अपना?।।१६५०।। वैसे लभते देव की शक्ति। पावे अधिक योग्यता निश्चिति। अतः करके उसकी स्तुति। गौरव देवका ही।।५१।। मुझको सर्वगुणों से जीतना-। पुत्र ने पिता की यह कामना। सो फलीभूत यह भावना। कृष्ण मन की।।५२।। किंबहुना इसविध नृपनाथ। कृष्ण कृपा से समर्थ पार्थ। साक्षेप से सज्ज यथार्थ। पक्ष में जिस।।५३।। वही जानो विजय का ठांव। यहां तुमको क्या संदेह?। यदि न वहां तो व्यर्थ होय। विजय स्वयम।।५४।। अतः जहां श्री वहां श्रीमंत। और जहां वह पंडुका सुत। वहां विजय समरूप निश्चित। अभ्युदय वहां।।५५।। यदि श्री व्यासपर सत्य। मन आपका विश्वास करत। तब ध्रुवहि मानो बात। मेरी यह।।५६।। जहां वह श्रीवल्लभ। जहां भक्तगण कदंब। वहां सुख और लाभ। मांगल्य का।।५७।। यदि होगा वचन यह असत्य। तब न कहूं स्वयं को व्यास का अंकित। इसविध गरजकर उभारत। बाहु वह।।५८।। एवं महाभारत का सार। श्लोक एक में संचित कर। दिया संजय ने कुरुवीर-। के हाथ तब।।५९।। जैसा न जाने वन्हि कितना श्रेष्ठ। किंतु गुणाग्र पर रखके लावत। सूर्य का न्यून निस्तारत। रात्रि समय में।।१६६०।। वैसे शब्द ब्रह्म अनन्त। हुआ सवालक्ष भारत। भारत का सप्त शत। सर्वस्व गीता।।६१।। उस सप्तदशी गीता का। इत्यर्थ श्लोक यह अंतका। व्यासशिष्य संजय का। पूर्णोद्धार जो।।६२।। इस एक ही श्लोक का चिंतन। आस्तिक जो करे पूर्ण। विद्याजात का सार स्वाधीन। किया उसने।।६३।। ऐसे सप्तशत श्लोक सुंदर। धरत गीतापद अंक पर। पद कहे या परमामृत मधुर। गीताकाश का यह।।६४।। आत्मराज के सभागृह

Funding by IKS-MoE

होते हैं वहां लक्ष्मी निवास करती है ।। ३८ ।। एवं अपने पति सहित जगदंबा जहां रहती है वहां अणिमा आदि सिद्धियां दासी बनकर निश्चित रहती हैं ।। ३९ ।। श्रीकृष्ण स्वभावतः विजय स्वरूप है। वह जहां रहता है वहां निश्चित विजय रहती है। वहां विजय एवं लाभ निश्चित है ।। १६४० ।। विजय नाम से अर्जुन विख्यात है। श्रीकृष्णनाथ विजयस्वरूप है। अतः श्री लक्ष्मीसंह विजय वहां निश्चित है ।। ४१ ।। उस देश के समस्त वृक्ष कल्पवृक्ष के साथ होड़ लगाकर विजय प्राप्त करते हैं क्योंकि जगन्माता लक्ष्मी एवं जगत्पिता श्रीकृष्ण ऐसे जिनके मातापिता हैं ।। ४२ ।। उनके देश के पत्थर चिंतामणि क्यों न होंगे? भूमि को सुवर्णत्व क्यों न आवे ।। ४३ ।। उस गांव की नदियों में अमृत क्यों न बहे? हे राजा! इसमें आश्चर्य क्या है? विचार करो ।। ४४ ।। उनके स्वच्छंद शब्द, वही निश्चय से वेद बनते हैं। देह सहित सच्चिदानंद क्यों वे नहीं होंगे? ।। ४५ ।। अतः स्वर्ग एवं मोक्ष जिनके अधीन हैं वह श्रीकृष्ण जिनका पिता है। एवं साक्षात् कमला जिनकी माता है। उसको अन्त में विजय प्राप्त होगी ।। ४६ ।। अतः जिस पक्ष में लक्ष्मीपति पद्मनाभ खड़े हैं वहां सब सिद्धियां स्वयं रहती हैं। और मैं कुछ नहीं जानता ।। ४७ ।। समुद्र से मेघ उत्पन्न होते हैं। किन्तु समुद्र से मेघों का उपयोग विश्व को अधिक होता है। आज पार्थ का भाग्य भी उसी प्रकार से विशेष प्रतीत हो रहा है ।। ४८ ।। लोहे को सुवर्णत्व देने में पारस को श्रेष्ठत्व प्राप्त होता है। किन्तु विश्व का पोषण करने के आर्थिक व्यवहार सुवर्ण से चलने के कारण वह अधिक उपयुक्त है ।। ४९ ।। गुरुत्व को हीनत्व आता है ऐसा यदि कोई कहेंगे, किन्तु वैसा नहीं है। अग्नि दीपक के रूप में अपना प्रकाश प्रकट करता है ।। १६५० ।। भगवद् शक्ति प्राप्त होने से अधिक योग्यता निश्चित प्राप्त होती है। अतः उसकी स्तुति करने से भगवान का गौरव बढ़ता है ।। ५१ ।। मेरे पुत्र ने मुझसे सब गुणों से बढ़कर होना चाहिये [illegible] पिता की इच्छा रहती है। वही श्रीकृष्ण के मन की भावना अर्जुन के रूप में फलीभूत हुई है ।। ५२ ।। किंबहुना हे नृपनाथ! इसप्रकार से श्रीकृष्ण की कृपा से पार्थ समर्थ हुआ है। बल, स्वाभिमान, शस्त्रसज्जता इनके साथ अर्जुन यथार्थ में सज्ज है ।। ५३ ।। वहां विजय का स्थान है। यहां तुम्हें संदेह नहीं होना चाहिये। यदि वहां विजय न मिला तब विजय स्वयं व्यर्थ कहलावेगा ।। ५४ ।। अतः जहां लक्ष्मी है वहां लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण है। एवं जहां पंडुपुत्र अर्जुन है वहां समस्त ऐश्वर्य सहित निश्चित विजय है ।। ५५ ।। व्यास महर्षि के सत्य वचन पर आपका मन विश्वास करता है, तब मेरी यह बात निश्चित मानो ।। ५६ ।। जहां लक्ष्मीवल्लभ श्रीकृष्ण हैं, वहां अनन्य भक्तों का समुदाय है। वहां आत्मसुख एवं मांगल्य की प्राप्ति है ।। ५७ ।। मेरी यह वाणी यदि सत्य नहीं हुई तब मैं व्यासजी से अनुग्रहित नहीं कहलाऊंगा। इस प्रकार से हाथ उठाकर गरजकर संजय ने कहा ।। ५८ ।। एवं महाभारत का सार एक श्लोक में संचित करके कुरुराजा धृतराष्ट्र को संजय ने बताया ।। ५९ ।। अग्नि कितना श्रेष्ठ है समझ में नहीं आता। रात्री में सूर्य आकाश में न होने पर वह बत्ती से अग्र पर प्रज्वलित होकर घर को प्रकाशित करता है ।। १६६० ।। तद्वत वेद अनन्त है। उसमें सवालक्ष श्लोक संहिता का महाभारत ग्रंथ हुआ है। उस महाभारत का सर्वस्व सार सातसौ श्लोकों में श्री गीता हुई है ।। ६१ ।। उन सात सौ श्लोकों का सार अंतिम श्लोक है। यह श्लोक व्यासशिष्य संजय का पूर्णोद्‌गार है ।। ६२ ।। इस एकहि श्लोक का चिंतन करने से उस आस्तिक को संपूर्ण विद्याओं का शुद्ध सार प्राप्त किया ऐसा होगा ।। ६३ ।। ऐसे यह सात सौ श्लोक गीता के पद स्वयं धारण करते हैं। इन श्लोकों को पद्यात्मक काव्य कहेंगे, या गीतारूपी आकाश का मधुर परमामृत कहेंगे ।। ६४ ।। आत्मराजा के सभागृह में यह सात सौ श्लोकरूपी स्तंभ है, ऐसी मेरी कल्पना, प्रतिभा कहती

Funding by IKS-MoE

में। श्लोक ये स्तंभ उसमें। ऐसी मेरी प्रतिभा में। कल्पना एक।।६५।। अथवा गीता यह सप्तशती। मंत्रप्रतिपाद्य भगवती। देकर मोह महिष को मुक्ति। आनंदित वह।।६६।। अतः मन काया वाचा से जो एक। बनेगा इसका सेवक। होगा स्वानंद साम्राज्य का अशेख। चक्रवर्ती वह।।६७।। या अविद्या तिमिर दोष से। प्रतिज्ञा से सूर्य को जीते जैसे। श्लोक प्रकाशित गीता मिष से। श्रीकृष्ण राय ने।।६८।। या यह श्लोकाक्षरद्राक्षलता। मंडप हुई श्री गीता। संसार पथ श्रांत को सर्वथा। विश्राम स्थान।।६९।। श्रीकृष्ण दिव्य सरोवर। जहां श्लोक कल्लार मनोहर। भाग्यवंत संत भ्रमर। लूटत मकरंद।।१६७०।। अथवा ये श्लोक नहीं अन्य। भाये श्री गीता का महिमान। बखानत बंदिजन। उदंड जैसे।।७१।। या श्लोक परकोट। सप्तशत के करके सुघट। आये बस्ती को आगम समस्त। गीतापुर में।।७२।। अथवा आत्मरूप निज कान्त को। आई गीता प्रेम से मिलने को। श्लोक न ये इन बाहों को। पसार के स्वयम्।।७३।। या ये गीता कमलों के भृंग। अथवा ये गीतासागर तरंग। या हरि के ये तुरंग। गीता रथ के।।७४।। अथवा श्लोक सर्व तीर्थ संघात। श्री गीतागंगा में प्रवेशत। जो अर्जुन नर सिंहस्थ। हुआ यहां।।७५।। किंवा न यह श्लोक श्रेणी। अचिन्त्य चित्त चिन्तामणि। की यह कल्पतरु की रोपनी। निर्विकल्प के लिए।।७६।। ऐसे ये सप्तशत श्लोक। एक से बढ़कर एक। छोटे बड़े कैसे पृथक। बखाने अब।।७७।। एक छोटी करे स्तनपान। एक ब्याही करावे दुग्धपान। न संभव ऐसा कथन। कामधेनु को।।७८।। दीप अगला पिछला प्रकाशकर। छोटा या बड़ा भास्कर। उथला या सखोल सागर। संभव कैसे?।।७९।। वैसे प्रथम एवं अंत के। श्लोक न कहो गीता के। क्या पुष्प पारिजात के। नये पुराने कभी?।।१६८०।। इन श्लोकों को उपमा नाही। कैसा समर्थन करे इनका कोई। वाच्य वाचक भेद कतई। न संभव यहां।।८१।। जो इस शास्त्र में एक। श्रीकृष्ण ही वाच्य वाचक। जानत सब लोक। प्रसिद्ध यह।।८२।। अर्थज्ञान और पारायण। दोनों का फल समान। जो हुआ एकीकरण। वाच्य वाचक का यहां।।८३।। अतः मुझको कोई। समर्थन को विषय नाहीं। गीता जानो यह वाङ्मयी। श्रीमूर्ति प्रभु की।।८४।। शास्त्र वाचन से अर्थ ज्ञात। पश्चात वह भी पावत अस्त। नहीं यह शास्त्र समस्त। परब्रह्म ही स्वयं।।८५।। कैसे विश्व को कृपा से। करके महानंद सुलभ जैसे। दिखाया अर्जुन मिष से। श्रीकृष्ण देव ने।।८६।। चकोर का करके निमित्त। तीनों भुवन को संतत। शमवत वह कलावंत। चंद्र जैसा।।८७।। कलिकाल के महाज्वर-। से पीड़ित जन का करने उद्धार। गौतम मिष से शंकर। गंगा को देत।।८८।। वैसे दुग्ध यह गीता को। वत्स करके पार्थ को। दोहत इस गाय को। समस्त जगकारण।।८९।। यहां जीव से यदि करोगे स्नान। होगे गीता स्वरूप पूर्ण। अथवा केवल पारायण। जिव्हा से यदि।।१६९०।। लोह यदि एक अंश से। स्पर्श करे पारस से। सहज पूर्णत्व से। सुवर्ण होय।।९१।। गीतापाठ का यह पात्र। श्लोकपाद यदि स्पर्शत ओष्ठ। तत्क्षण

Funding by IKS-MoE

है।।६५।। अथवा यह सात सौ श्लोकरूपी मंत्रों से प्रतिपादित श्री गीता भगवती मोहरूपी महिषासुर का नाश करके उस विजयोत्साह से आनंदित हुई है।।६६।। अतः शरीर, मन एवं वाणी से जो श्री गीतादेवी की सेवा करेगा उसको वह स्वानंद साम्राज्य का सार्वभौम पद बहाल करेंगी।।६७।। या अविद्यारूपी तिमिर दोष का नाश करने के लिए, यह सात सौ श्लोकरूपी अलौकिक सूर्य, होड़ लगाकर विजय प्राप्त करने के लिए, श्रीकृष्ण राजा ने गीता रूप में प्रकाशित किये हैं।।६८।। जन्म-मृत्यु का प्रवास करके संसार से थके हुए लोगों के विश्राम करने के लिए श्री गीता श्लोकरूपी अक्षरों से द्राक्षलता का मंडप हुई है।।६९।। अथवा यह श्लोक मानो भाग्यवान संतरूपी भ्रमरों से सेवित श्रीकृष्ण रूपी दिव्य सरोवर में विकसित मनोहर कमल पुष्प है।।१६७०।। अथवा यह श्लोक नहीं है। यह श्री गीता का महात्म्य वर्णन करनेवाले विपुल बंदीजन हैं ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है।।७१।। अथवा सब शास्त्र, सात सौ श्लोकों का सुदृढ़ परकोट बनाकर श्री गीतानगर में रहने के लिए आ गये है।।७२।। ये श्लोक नहीं हैं। श्री गीता लक्ष्मी आत्मारूपी प्रियपति को आलिंगन देने के लिए, प्रेम से श्लोकरूपी बाहु फैला रही है।।७३।। या यह श्लोक श्री गीतारूपी कमल पुष्प के भ्रमर हैं। या गीता सागर के तरंग हैं। या श्रीहरी के श्री गीतारूपी रथ को जोड़े हुए अश्व हैं।।७४।। अर्जुन रूपी सिंहस्थ में पर्वकाल के निमित्त श्रीगीतारूपी गंगा में स्नान करने आया हुआ सब श्लोकरूपी तीर्थों का समूह है।।७५।। अथवा यह श्लोकों की पंक्ति नहीं है। अन्तःकरण को अचिंत्य अर्थ देनेवाले आत्मस्वरूप चिंतामणि रत्न हैं। या निरिच्छ की इच्छा पूर्ण करनेवाले कल्पतरुओं का उद्यान है।।७६।। ऐसे ये सात सौ श्लोक हैं। प्रत्त्येक श्लोक एक से बढ़कर एक है। छोटे बड़े कैसा वर्णन किया जायेगा?।।७७।। एक स्तनपान करनेवाली नवजात है। दूसरी ब्याही हुई दुग्धपान कराती है। कामधेनू के लिए ऐसा कथन संभवनीय नहीं है।।७८।। दीप के लिए प्रथम द्वितीय श्रेणी संभव नहीं है। सूर्य में छोटा या बड़ा यह भेद नहीं। अमृत सिंधु सखोल या उथला कैसा होगा?।।७९।। वैसे प्रथम एवं अन्त के गीता के श्लोक हैं ऐसा कहना नहीं चाहिये। पारिजात पुष्प कभी नये एवं पुराने होते हैं?।।१६८०।। इन गीता के श्लोकों को उपमा नहीं है। उनका कैसा कोई समर्थन करे? वाचक शब्द एवं वाच्य अर्थ ऐसा भेद इसमें नहीं है। प्रतिपादक शब्द एवं प्रतिपाद्य ब्रह्म यहां एकरूप है।।८१।। इस गीता शास्त्र में एक श्रीकृष्ण शब्दवृत्तिका का विषय है। एवं श्रीकृष्ण वाचक-शब्दरूप हैं। श्रीकृष्ण रूप से वाच्य वाचक को (नाम-नामी को) शब्दार्थ का अभेद है।।८२।। अतः गीता शास्त्र में अर्थज्ञान से एवं पठन से एकहि फल प्राप्त होता है। क्योंकि वाच्य वाचक का अभेद इस शास्त्र में है।।८३।। अतः समर्थन करने के लिए अब कोई विषय नहीं है। श्रीगीता यह श्री प्रभु श्रीकृष्ण की दिव्य वाड्गमयी मूर्ति है।।८४।। अन्य शास्त्र पाठकों को एवं श्रोताओं को प्रतिपाद्य अर्थ का ज्ञान कराकर पश्चात अस्त होते हैं। वैसा गीताशास्त्र नहीं है। यह स्वरूपतः संपूर्ण फलरूप एवं अविनाशी परब्रह्म है।।८५।। विश्व का उद्धार करने के लिए, करुणा से ब्रह्मानंद सुलभ करके अर्जुन के निमित्त गीता के रूप में श्रीकृष्ण देव ने दिखाया है।।८६।। चकोर के निमित्त तीनों लोकों को नित्य पूर्णकलायुक्त चंद्र जैसा शांत करता है।।८७।। कलिकाल रूपी महाज्वर से संग्रस्त लोगों का उद्धार करने के लिए गौतम ऋषि का निमित्त करके कैलासपती भगवान शंकर ने गंगाजी को प्रवाहित किया।।८८।। श्रीकृष्णरूपी धेनु, अर्जुन को वत्स बनाकर उसका निमित्त करके समस्त विश्व को गीतारूपी दुग्ध उपलब्ध करा रही है।।८९।।

इस गीता गंगा में स्नान करने से- (अर्थ का मनन करने से जीवदशारूपी पाप नष्ट होगा) गीता प्रतिपाद्य ब्रह्मरूप अर्थ से एकरूप बनोगे। पाठक के निमित्त केवल जिव्हा से पारायण करोगे।।१६९०।। लोहे को किसी भी अंग को अंशमात्र पारस का स्पर्श होते ही संपूर्ण लोहा सहज सुवर्ण बनता है।।९१।। इस गीतारूपी पात्र से एक पूर्ण श्लोक, किंवा श्लोक का एक चरण का यदि आपके होठों से स्पर्श होतेहि संरक्षण ब्रह्मत्व

Funding by IKS-MoE

ब्रह्मता से पुष्ट। होवे अंग।।९२।। किंवा यदि मुख मोड़कर। गीता पारायण टालकर। पावोगे श्रवण मात्र-। से फल वही।।९३।। श्रवणपाठ अर्थ से सर्वथा। मोक्ष से न्यून न देत गीता। जैसे किसी को भी समर्थ दाता। नास्ति न कहत।।९४।। अतः विद्वान के साथ। गीता ही एक पढ़ो संतत। क्या लाभ अन्य समस्त। शास्त्रों से यहां?।।९५।। और कृष्णार्जुन में मुक्त। विशद हुई जो बात। वह व्यासने की करतलगत। होवे ऐसी।।९६।। बालक को अति प्रेम से। माता जिमाने बिठाएं जैसे। योग्यता उनकी जानकर वैसे। करत ग्रास।।९७।। या अनिवार समीर को। ज्ञानी स्वाधीन उसको। करत जैसे विंजन को। निर्माण कर।।९८।। जो ज्ञान शब्दातीत। अनुष्टुभ छंद में वह ग्रथित। स्त्री शूद्र बुद्धि को होवे ज्ञात। किया ऐसे।।९९।। स्वाति नक्षत्र के पानी से। न होते यदि मोती उससे। तब सुंदरियों के कैसे। शोभित अंग।।१७००।। नाद न यदि वाद्य में समाहित। तब कैसा गोचर होवत। पुष्प न यदि होते प्राप्त। आमोद कैसा?।।१।। यदि मधुर न होवे पक्वान्न। कैसा रसना को रसास्वादन। दर्पण बिन नयन को नयन। दिखत कैसे।।२।। दृष्टा श्रीगुरुमूर्ति। यदि न होवे साकार किरीटि। तब शिष्य को उसकी उपास्ति। संभव कैसी?।।३।। वैसे वस्तु जो संख्यातीत। वह संख्या में सप्तशत। न किया होता ग्रथित। होवे ज्ञान कैसे?।।४।। मेघ करे सिंधुजल धारण। किंतु जग को होवे उसका ही दर्शन। अमर्याद सिंधु से अर्जुन। लाभ किसको?।।५।। और वाचा को जो अप्राप्त। वे ये श्लोक सुंदर यदि न रचित। श्रवण मुखको यथार्थ। पावत कैसे?।।६।। अतः श्री व्यास श्रेष्ठ ग्रंथकार। विश्व को हुआ उपकार। जो श्रीकृष्ण उक्ति साकार। की ग्रंथ में।।७।। और वही ग्रंथ सांप्रत। श्री व्यास के पद निरखत। श्रवण पथ को किया प्रकट। प्राकृत में अब।।८।। व्यासादिक का उन्मेख। होवे जहां साशंक। वहां मैं भी एक रंक। बकवास करत।।९।। किंतु गीता ईश्वर भोला सरल। धारण करे व्यासोक्ति सुमन माल। किंतु नाही न करे मेरे दूबादल। कदापि वह।।१७१०।। और क्षीरसिंधु के तट-। पर आवे जल पीने गजघट। वहां क्या मच्छर मुरकट-। को रोकत कोई?।।११।। नवजात पंख पंखेरू। न उड़त किंतु नभ में ही स्थिरू। गगन जो आक्रमत सत्वरू। वह गरुड़ भी वहां।।१२।। राजहंस का चलना। उत्कृष्ठ जग में माना। इसलिये क्या न कभी चलना। अन्य किसी ने?।।१३।। सुनो अपने अवकाश से। समावत कलश में बहु जल जैसे। किंतु चुल्लु में चुल्लु जैसे। क्या न भरे वह।।१४।। मशाल का बड़ा आकार। तेज धारण करे बहुर। वहां क्या न शक्ति अनुसार। प्रकाशत बाती?।।१५।। अजी! समुद्र के विस्तार से। आभासत नभ समुद्र में जैसे। क्या न ड़बरे में ड़बरा जैसे। बिंबत वह?।।१६।। वैसे व्यासादिक महामंती। प्रवृत्त इस ग्रंथ में किरीटि। क्या हम जैसे अल्पमति। को मज्जाव वहां?।।१७।। जिस सागर में जलचर। संचरत मंदराकार। क्या मछलियां उनको देखकर। तैरना छोड़े?।।१८।। अरुण अंग समीप पार्थ। अतः सूर्य को देखत। वहां भूतल की क्या न

की शरीर को पुष्टि होगी।।९२।। अथवा मुख मोड़कर श्री गीता का पारायण करना आलस्य से टाल दिया एवं श्रवण से भी वही फल प्राप्त होगा।।९३।। श्रीमंत एवं उदारदाता किसी भी याचक को नाही नहीं कहता। तद्वत श्री गीता के श्रवण, पठन एवं अर्थज्ञान से मोक्षफलहि प्राप्त होता है।।९४।। अतः विद्वान संतों की संगति में गीताशास्त्र का ही अध्ययन करो। अन्य शास्त्र का अध्ययन करने की क्या आवश्यकता है?।।९५।। श्रीकृष्ण एवं अर्जुन इन दोनों में रणमैदान में जो बात विस्तृत रूप से स्पष्ट की गयी उसको व्यासजी ने पद्यबद्ध करके सुलभ करा दी।।९६।। बालक को अत्यंत प्रेम से माता जिमाने बैठाती है। उसकी अवस्था के अनुसार छोटे-छोटे ग्रास खिलाती है।।९७।। वायु अनिवार है। पंख की निर्मिति करके ज्ञानी, कुशल कारीगर ने उसको अपने स्वाधीन किया है।।९८।। जो ज्ञान शब्द से अतीत है, उसको अनुष्टुभ छंद में ग्रंथित करके, स्त्री, शूद्र आदि के बुद्धि को ज्ञात होवे ऐसा सुलभ किया।।९९।। स्वाति नक्षत्र के जल से यदि मोती नहीं बनते तब सुंदर तरुण स्त्रियों का शरीर कैसा सुशोभित होता।।१७००।। वाद्य से नाद की उत्पत्ति यदि नहीं होती तब वह कैसे सुनने का आनंद देता? पुष्प यदि प्राप्त न होते तब सुगंध कैसे प्राप्त होता।।१।। मिष्टान्न यदि मधुर नहीं होता तब जिव्हा को कैसा रसास्वाद मिलता। दर्पण के बिना नयन को नेत्र कैसे दिखते।।२।। हे किरीटि! निर्गुण निराकार दृष्टारूप श्रीगुरु, सगुण साकार न होते तब शिष्य को उपासना करके कैसे आकलन होता?।।३।। वैसे जो संख्या से अतीत वस्तु है उसको सात सौ श्लोकों में ग्रथित न किया होता तब किसी को इस जग में सहज ज्ञात होता? (रण में हुई गुरु शिष्य की बात का ज्ञान कैसे होता?)।।४।। मेघ सागर का जल धारण करते हैं। जग को उसका दर्शन होता है। सागर अमर्याद होने से भी, हे अर्जुन! उससे किसको लाभ होता है?।।५।। वाणी को भी जो प्राप्त नहीं उनकी सुंदर श्लोकों में रचना नहीं की होती तब यह ब्रह्मवस्तु कर्ण को एवं मुख को कैसे सहज प्राप्त होती?।।६।। अतः व्यासजी का विश्वपर बड़ा उपकार है। श्रीकृष्ण की वाणी उस श्रेष्ठ ग्रंथकार ने ग्रंथ में साकार की है।।७।। वही ग्रंथ, व्यासजी के पदों को विचारपूर्वक देखते हुए अब मैंने प्राकृत भाषा में श्रवण सुलभ किया।।८।। श्री व्यास आदि विद्वानों की बुद्धि गीता में प्रतिपाद्य सिद्धांतों के विषय में साशंक रहती है वहां मैं एक दरिद्रि भी बोल रहा हूं।।९।। गीतारूपी ईश्वर भोला है। वह व्यास वचनरूपी पुष्पों की माला जैसे धारण करता है, वैसे मेरे दूब के दल को भी कदापि नाही नहीं करता।।१७१०।। क्षीरसागर के किनारे पर हाथियों के समूह जल पीने के लिए आते हैं। वह समुद्र मच्छरों को, भुनगों को नाही कहता है क्या?।।११।। नूतन पंख का पक्षी ऊंचा न उड़ते हुए आकाश में ही उड़ता है। उसी आकाश में सत्वर आक्रमण करनेवाला वेगवान गरुड़ पक्षी ऊंचाई पर उड़ता रहता है।।१२।। राजहंस की चलने की गति विश्व में उत्कृष्ट मानी जाती है। किन्तु अन्य किसी ने चलना नहीं चाहिये ऐसा नहीं कहा जाता।।१३।। कलश में (गागर में) आकार के अनुरूप जल समाता है। चुल्लू में चुल्लू भरके ही जल आता है।।१४।। मशाल का आकार बड़ा होता है। उसका प्रकाश भी बड़ा होता है। बत्ती छोटी होते हुए भी अपनी शक्ति के अनुसार प्रकाश देती है।।१५।। समुद्र में उसके आकार के अनुसार आकाश प्रतिबिंबित होता है। डबरे में डबरे के आकार का आकाश दिखता है।।१६।। वैसे महाबुद्धिमान व्यासजी आदि गीता ग्रंथ का विवरण करते हैं। हे किरीटी! हमारे जैसे अल्पबुद्धि लोगों को क्या वहां प्रतिबंध है?।।१७।। सागर में मंदार पर्वत के आकार के विशाल जलचर संचार करते हैं। वहां उनको देखकर छोटी मछलियां तैरना छोड़ देती हैं क्या?।।१८।। हे पार्थ! अरुण सूर्य के समीप नित्य रहने से उसको निरंतर देखता है। किन्तु पृथ्वीतल में चींटी भी उसको देख सकती

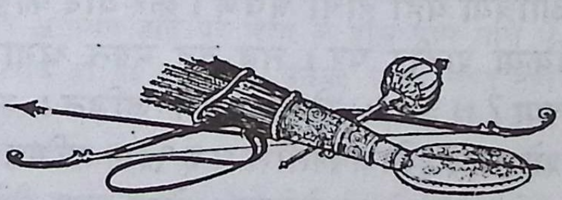

देखत। चीटी उसको?।।१९।। इसलिये हम जन प्राकृत-। ने देशी भाषा में गीता ग्रथित। क्या इसमें हुआ अनुचित। बोलो आप ही।।१७२०।। और पिता आगे चलत। पुत्र पदचिन्ह देखके अनुसरत। तब क्या न वह पहुंचत। इष्ट स्थान?।।२१।। वैसा व्यास के पद चिन्ह पर। भाष्यकारों को बाट पूछकर। अयोग्य मैं न पाऊं चलकर! गंतव्य बिन अन्य।।२२।। और पृथ्वी जिसकी क्षमा से। स्थावर जंगम सम्हाले जैसे। चंद्रमा जिसके अमृत से। क्षमवत जग।।२३।। जिसकी सत्ता से आंगिक। तेज लेकर अर्क। अंधेर समुदाय अशेख। करत दूर।।२४।। समुद्र को जिससे तोय। तोय को जिससे माधुर्य। माधुर्य को सौंदर्य। कृपा से जिसकी।।२५।। पवन को जिसका बल। आकाश जिससे विशाल। ज्ञान जिससे उज्जवल-। चक्रवर्ती।।२६।। वेद जिससे सुभाष। सुख जिससे सोल्लास। विश्व जिससे रूपस। सुनिश्चित।।२७।। वह सर्वोपकारी समर्थ। सद्गुरु श्री निवृत्तिनाथ। मेरे भीतर होकर प्रविष्ट। वास करत।।२८।। अतः अनायास जग में गीता। मैं कहूं प्राकृत में तत्त्वता। क्या विस्मय को वार्ता। कोई यहां।।२९।। मिट्टी की बनी गुरुमूर्ति। बनमें सम्मुख जिसके थी। हुई एकलव्य की कीर्ति। मान्य त्रिगत में।।१७३०।। चंदन के सांनिध्य में वृक्ष। हुए चंदनसम देख। सूर्यसम हुई प्रदीप्त। छाटी वशिष्ट की।।३१।। तब मैं चेतन शुद्ध चित्त। और सहायक श्रीगुरु समर्थ। जो दृष्टिपात से देत। जिसपद अपना।।३२।। पहले ही सतेज दृष्टि। और सर्वत्र सूर्यप्रकाश की व्याप्ति। तब न दिखे ऐसी सृष्टि-। में वस्तु कौनसी?।।३३।। अतः मेरे नित्य नूतन। श्वोच्छवास भी होवे प्रबंध पूर्ण। क्या न शक्य गुरुकृपा से पावत। कहे ज्ञानदेव।।३४।। अतः मैंने प्राकृत में समस्त। श्री गीतार्थ किया व्यक्त। जो होवे सुस्पष्ट। विषय दृष्टि का।।३५।। किंतु प्राकृत भाषारंग-। में निरूपण करते गीता अंतरंग। लाये गायक को वही सुरंग। न्यून न कोई।।३६।। कोई करे गीता गायन। ओवियां यही होंगी भूषण। करे यदि कोई वाचन। पावे गीतार्थ पूर्ण।।३७।। धारण न किया शरीर पर। तब वह मुक्त श्रृंगार। पहिना यदि सुंदर अंगपर। तब कहना क्या?।।३८।। मोती सुवर्ण जडित। सुवर्ण को शोभा देत। किंतु वैसे भी मुक्ता शोभत। निजकांतीसे।।३९।। ग्रथित अथवा मुक्त। न होवे परिमल लुप्त। वसंतागम में सुशोभित। बेला पुष्प जैसे।।१७४०।। गायक को शोभा देत। बिन गायन भी रंग लावत। वह ओवी छंद नें रचित ग्रंथ। लाभदायक।।४१।। आबालवृद्ध को सुबोध। ऐसे अक्षर ओवीबद्ध। जो ब्रह्मरस सुस्वाद-। से पिरोये मैंने।।४२।। चंदन तरु का सर्वत्र। परिमल होने प्रकट। न आवश्यक पुष्प पर्यंत। प्रतीक्षा कोई?।।४३।। वैसे यह प्रबंध श्रवण। समाधि लागे तत्क्षण। सुनकर करने व्याख्यान। क्या न लागे व्यसन?।।४४।। करके ग्रंथ का पठण। पांडित्य आवे अंग में

है।।१९।। अतः हम सामान्य अज्ञ जनों ने देशी प्राकृत भाषा में गीता का विवरण किया है। इसमें क्या अनुचित हुआ है। आप ही बताइये?।।१७२०।। पिता आगे चलता है। पुत्र उन पदचिन्हों को देखकर पीछे चलता है। तब वह इष्ट स्थान में नहीं पहुंचेगा क्या?।।२१।। मैं गीतार्थ जानने के लिए अयोग्य एवं अनाधिकारी होते हुए श्री व्यासजी के पदचिन्हों पर चलते हुए, भाष्यकार शंकराचार्य को मार्ग पूछते हुए गंतव्य स्थान के बिना अन्य स्थान पर कैसे पहुंचूंगा?।।२२।। जिसकी क्षमा से पृथ्वी चराचर का बोझ ढोते स्थावर जंगम को संभाले रहती है। जिसके अमृत से चंद्रमा संपूर्ण जग को शांत करता रहता है।।२३।। जिसकी सत्ता से उसका स्वाभाविक तेज लेकर सूर्य अंधेरे को समूल नष्ट करता है।।२४।। जिससे समुद्र को जल प्राप्त होता है। जिसके कारण जल को मधुरता मिलती है। जिसकी कृपा से माधुर्य को सौंदर्य मिलता है।।२५।। वायु को जिससे शक्ति मिली है। जिसके कारण आकाश विशाल हुआ है। जिससे ज्ञान उज्वल चक्रवर्ती सम्राट बना है।।२६।। वेद जिससे उत्तम, बोलनेवाले बने। जिससे सुख प्रसन्न हुआ है। विश्व जिससे सौंदर्यपूर्ण सुनिश्चित हुआ है।।२७।। सबके ऊपर उपकार करनेवाले समर्थ सद्‌गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे भीतर प्रविष्ट होकर निवास कर रहे हैं।।२८।। अतः इस जग में अनायास श्री गीता को मैं प्राकृत में तत्त्वतः कहता हूं इसमें विस्मय करने की क्या बात है?।।२९।। मिट्टी की गुरुमूर्ति बनाकर उसके सन्मुख जिसने धनुर्विद्या का अभ्यास किया उस एकलव्य को तीनों लोक में कीर्ति प्राप्त हुई है। (एकलव्य नामका मछियारे का पुत्र द्रोणाचार्य के पास विद्या प्राप्त करने गया था। उनके नकारने पर उनकी मिट्टी की मूर्ति पहाड़ पर स्थापित करके एकलव्य ने धनुर्विद्या का अभ्यास किया। उसने उसमें सर्वोच्च सफलता प्राप्त की थी)।।१७३०।। चंदन के सान्निध्य में बढ़ने वाले वृक्ष को चंदन का सुगंध रहता है। वसिष्ठ महर्षि ने सूर्य के स्थान पर अपनी छाटी रखते ही वह प्रदीप्त होकर सूर्यप्रकाश देने लगी।।३१।। मैं तो चैतन्य युक्त शुद्ध अंतःकरण का हूं। मेरे श्रीगुरु सहाय करने में समर्थ हैं। वह केवल दृष्टिपात से शिष्य को उच्च पद की प्राप्ति करा देते हैं (स्वयं के भूमिका पर ले जाते हैं। इसको शक्तिपात दीक्षा कहते हैं)।।३२।। पहले से ही दृष्टि सतेज है। सर्वत्र सूर्यप्रकाश व्याप्त है। सूक्ष्म दृष्टि को दिखेगी नहीं ऐसी कौनसी वस्तु सृष्टि में है?।।३३।। अतः मेरे नित्य नूतन श्वासोच्छ्‌वास भी पूर्ण प्रबंध का रूप धारण करेंगे। श्री गुरुकृपा से क्या प्राप्त नहीं होगा? ऐसा ज्ञानदेव कहते हैं।।३४।। अतः मैंने प्राकृत में समस्त श्री गीता का अर्थ प्रकट किया है। सबके लिए वह विषय सुस्पष्ट हो गया है।।३५।। प्राकृत भाषा में श्री गीता के अंतरंग का निरूपण करते हुए जो रचना हुई है उसका गायन करने से गायक को गुण संपन्नता प्राप्त होगी। वह संस्कृत का ज्ञाता न होने पर भी उसको श्रेष्ठता प्राप्त होगी।।३६।। कोई श्री गीता का गायन करेंगे उन्हें यह ओवियां अलंकार प्रतीत होंगी। गीता का वाचन न करते ओवियों का गायन, पठन या श्रवण करने से गीता के अर्थ का ज्ञान होगा।।३७।। सुंदर अलंकार शरीर पर धारण नहीं किये तब वह मुक्त शृंगार अलंकारों की स्वतंत्र शोभा होगी। सुंदर शरीर पर यदि सुंदर अलंकार धारण किये गये तब अलंकारों का दूसरा औचित्य क्या होगा?।।३८।। सुवर्ण में जड़ाए मोती सुवर्ण की शोभा बढ़ाते हैं। किंतु मुक्त मौक्तिक अपने स्वयं के कांती से शोभा पाते हैं।।३९।। वसंत ऋतु का आगमन होने पर बेला के शुभ्र पुष्प धागे में पिरोये हों या मुक्त हों, उनका सुगंध लुप्त नहीं होता।।१७४०।। संस्कृत गीता के गायन की शोभा बढ़ाते हैं। किंवा गीता का गायन न करते भी आनंद वृद्धिंगत करते हैं। दोनों प्रकार से ओवी छंद में रचना किया हुआ ग्रंथ शोभा देता है।।४१।। बालकों से वृद्ध पर्यंत सबको सुलभ होंगे ऐसे ब्रह्मरस से परिपूर्ण अक्षर मैंने ओवीछंद में पिरोये हैं।।४२।। चंदनवृक्ष को सुगंध के लिए पुष्पों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती।।४३।। तद्वत यह ओवी छंद में ग्रथित प्रबंध कर्ण से सुनते ही श्रोताओं को भाव समाधि प्राप्त करा देता है। सुनने के उपरान्त श्रोता को स्वयं वक्ता बनने का व्यसन नहीं लगता क्या?।।४४।। इस ग्रंथ का पाठ

पूर्ण। तब सहज प्राप्त अमृत को न्यून। माने वह।।४५।। वैसे कवित्य यह अनायास। प्रकट हुआ यहां विशेष। श्रवण ने मनन निदिध्यास। जीत लिये अब।।४६।। उत्तम स्वानंद भोग की प्राप्ति। किसी को भी देगा निश्चिति। सर्वेंद्रियों की करावे तृप्ति। श्रवणमात्र से।।४७।। चतुरता से अपनी चकोर। चंद्रामृत प्राशत चतुर। किंतु चांदनी का भोग समग्र। जग को जैसे।।४८।। इस अध्यात्मशास्त्र में वैसे। आत्मनिरत ही अधिकारी जैसे। किंतु होंगे सुखी वाकचातुर्य से। अन्य लोग।।४९।। ऐसे श्री-निवृत्तिनाथ-। का गौरव देखो यथार्थ। न केवल यह ग्रंथ। कृपा वैभव उनका।।१७५०।। क्षीरसिंधु परिसर में। शक्तिदेवी के फर्णकुहर में। कहा जो त्रिपुरारी ने। जाने कब।।५१।। वह क्षीरकल्लोल में स्थित। मकर उदर में गुप्त। जो थे उनके हाथ। हुआ प्राप्त।।५२।। वही जानो मत्स्येंद्रनाथ। सप्तशृंगीपर जो चौरंगीनाथ। भग्नावयव भेटते ही वह होत। संपूर्ण सर्वांग में।।५३।। तब समाधि अव्यत्यया। भोग इच्छा से दिया। मुद्राज्ञान श्री गोरक्षराया-। को मीननाथ ने।।५४।। जो योगाब्जिनीका सरोवर। विषय विध्वंसैक वीर। किया सर्वेश्वर पदपर। अभिषिक्त उसको।।५५।। पश्चात उन्होंने वह शांभव। अद्वयानंद वैभव। संपादित सप्रभव। श्री गहिनीनाथ को।।५६।। तब भूतजात यह समस्त। देखकर कलिकाल ग्रस्त। आज्ञा देत गहिनीनाथ। श्रीनिवृत्तिनाथ को ऐसी।।५७।। जो आद्यगुरु श्री शंकर। उनका रहस्यज्ञान अपार। शिष्य परंपरा से समग्र। प्राप्त हमको।।५८।। सो वह लेकर पूर्ण। उबारने कलि पीड़ित जन। दौड़कर शीघ्र छुड़ाओ बंधन। सर्वप्रकार से।।५९।। पहले ही वह कृपाल। उसपर गुरुआज्ञा को बोल। हुआ जैसा वर्षाकाल। क्षोभित मेघ को।।१७६०।। तब आर्त की दया से। गीतार्थ ग्रथन मिषसे। जो वर्षत शांतरस से। सो ग्रंथ यह।।६१।। वहां मैं चातकसम तृषार्त। सम्मुख आया दौड़त। अतः यश यह प्राप्त। हुआ मुझको।।६२।। एवं परंपरा से प्राप्त। समाधिधन अपना स्वतंत्र। ग्रंथरूप से दिया एकत्रित। गोसावी ने मुझको।।६३।। न किया मैंने वाचन पठन। न मुझको गुरुसेवा का ज्ञान। कैसी करने ग्रंथ निर्माण। योग्यता मुझको।।६४।। किंतु कृपालु मेरे सद्गुरुनाथ। जो करके मुझको निमित्त। प्रबंधरूप से जग का समस्त। जानो किया रक्षण।।६५।। वह मैंने पुरोहित गुण से। निरूपित जो अधिक न्यून जैसे। वह आप मातृपन से। सहना जी।।६६।। शब्द की जैसी योजना?। प्रमेय में कैसे बढ़ना?। अलंकार कैसे साधना?। न जानू मैं।।६७।। देखो कठपुतली जैसे। चले सूत्रधार के सूत्रसंग से। मुझको दिखाकर बोलत वैसे। स्वामी मेरे।।६८।। इसलिये मैं गुणदोष। विषय में क्षमा न मांगू विशेष। जो गुरुसंजात ग्रंथोपदेश। किया ग्रथित मैंने।।६९।। और आपकी संत सभा में कोई। न्यून शेष रहा कुछ ही। यदि अपूर्व दुलार से आपसे ही। होऊं कुपित मैं।।१७७०।। स्पर्श होकर पारस का। न गया हीनत्व लोह का। तब हुआ दोष किसका। बोलो आप ही?।।७१।। ओहर का यही कार्य। जो प्राप्त होवे

करने के निमित्त से पूर्ण पांडित्य प्राप्त होता है। तब सहज प्राप्त अमृत को वह इस ग्रंथ से कमी समझता है। (ऐसी इस ग्रंथ की मिठास है)।।४५।। ओवीयों की स्वाभाविक रचना से यह कवित्व सबका विश्राम स्थान बना है। क्योंकि श्रवण ने मनन एवं निदिध्यासन को पराजित किया है।।४६।। स्वानंद भोग की उत्तम प्राप्ति किसी को भी निश्चित होगी। यह ग्रंथ श्रवण के द्वारा सब इंद्रियों को तृप्त करेगा।।४७।। अपनी चतुरता से चकोर पक्षी चंद्र किरणों में स्थित अमृत का प्राशन चतुरता से करता है। किन्तु चंद्रप्रकाश सबको सहज प्राप्त है।।४८।। इस अध्यात्मशास्त्र में विवेक-वैराग्यादि साधन संपन्न अंतरंग साधक अधिकारी हैं। अन्य सामान्य लोग वाणी के सौंदर्य से सुखी होंगे।।४९।। यह ग्रंथ मेरा नहीं है। श्रीगुरु निवृत्तिनाथ का यह गौरव है। यह ग्रंथ नहीं। उनकी कृपा का ऐश्वर्य है।।१७५०।। क्षीर समुद्र के परिसर में शक्तिदेवी श्री पार्वतीजी को कभी तो भी त्रिपुरासुर का नाश करनेवाले भगवान आशुतोष ने जो बताया था। वह किसी को ज्ञात नहीं था। ।।५१।। क्षीरसागर के लहरों पर मकर के उदर में जो गुप्त थे, उन मत्स्येंद्रनाथ को वह ज्ञात हुआ।।५२।। वही मत्स्येंद्रनाथ को सप्तशृंगी पर्वत पर, जिनके अवयव भग्न हैं, ऐसे चौरंगीनाथ मिले। वह सर्वांग में पूर्ण हुए। उनको श्री मत्येंद्रनाथ का कृपाप्रसाद प्राप्त हुआ।।५३।। उपसर्गरहित अखंड निर्विकार समाधि का शिष्य को अनुभव कराने के लिए मत्स्येंद्रनाथ ने वह समाधिमुद्रा गोरक्षनाथ को समझाई।।५४।। योगरूपी कमलिनी का सरोवर, विषयों का विध्वंस करने में शूर ऐसे गोरक्षनाथ को समाधि पद पर अष्टांग योगसाधन का सर्वाधिकारी राजा के रूप में मत्स्येंद्रनाथ ने अभिषिक्त किया।।५५।। भगवान श्री शंकर से परंपरा से प्राप्त वह अद्वयानंद का ऐश्वर्य योगसिद्धिओं के प्रभाव सहित श्री गहिनीनाथ को गोरक्षनाथजी से प्राप्त हुआ।।५६।। कलिकाल में सब जीव त्रस्त हो रहे हैं यह देखकर श्री गहिनीनाथजी ने श्री निवृत्तिनाथ को आज्ञा की।।५७।। आदिगुरु श्री शंकर से शिष्य परंपरा से ज्ञान का उपदेश करने का संप्रदाय हम तक प्राप्त हुआ है।।५८।। वह ज्ञानोपदेश का संप्रदाय लेकर कलि से ग्रसित जीवों का उद्धार करने के लिये दौड़कर उनको बंधन से सर्वप्रकार से शीघ्र छुड़ाना।।५९।। पहले ही श्री निवृत्तिनाथ कृपालु हैं। उन्हें श्री गुरुकी आज्ञा प्राप्त हुई है। जैसा वर्षाकाल मेघों के वर्षा को कारण होता है।।१७६०।। उन्होंने दुखियों के दुःख से द्रवित होकर श्रीगीता का अर्थ कहने के निमित्त से शांतरस की वर्षा की वही वह यह ग्रंथ है।।६१।। वहां मैं चातक सदृश तृषार्त होकर दौड़कर सन्मुख आया। अतः यह यश मुझे प्राप्त हुआ है।।६२।। एवं श्रीगुरुपरंपरा से क्रमपूर्वक प्राप्त हुआ निर्विकल्प समाधि का धन इस ग्रंथ रूप से श्री निवृत्तिनाथजी ने एकत्रित करके मुझे दिया है।।६३।। मैंने वाचन या पठन किया नहीं। मुझे श्री गुरुसेवा का ज्ञान भी नहीं है। ग्रंथ निर्मिति की योग्यता भी मुझमें नहीं है।।६४।। मेरे सद्गुरुनाथ कृपालु हैं। मुझे निमित्त बनाकर ग्रंथ के रूप में विश्व का कलिकाल से मानो उन्होंने रक्षण किया है।।६५।। श्री गुरुकृपा से प्राप्त यह ज्ञान पुरोहित गुण से मैंने बताया है। इसमें अधिक या कमी होगी उसको आप मातृभाव से यह लीजिए।।६६।। शब्दालंकार की कैसी योजना करना। प्रमेय को कैसे विस्तृत रूप से सिद्ध करना। अर्थालंकार कैसे सौंदर्यपूर्ण रीति से साध्य करना, यह मैं नहीं जानता।।६७।। कठपुतली जैसे सूत्रधार के सूत्र संगति में व्यवहार करती है वैसे मेरे स्वामी श्री निवृत्तिनाथ मुझको आगे रखकर स्वयं बोल रहे हैं।।६८।। अतः इस ग्रंथ के गुणदोषों के लिए मैं क्षमाप्रार्थना नहीं करता। श्रीगुरु से निर्मित यह उपदेश ही मैंने इस ग्रंथ में प्रकट किया है।।६९।। आप संतों की सभा में कोई न्यून इस ग्रंथ में शेष रहा तब आपका अपूर्व दुलार-आपका स्नेह स्मरण करके मैं आप से ही कुपित होऊंगा।।१७७०।। पारस का स्पर्श होने पर लोहे का यदि हीनत्व नष्ट नहीं हुआ तब दोष किसका आप ही कहो।।७१।। झरने का कार्य गंगाजी में समर्पित होने का होता है। तब भी यदि गंगा न बन जाते तब वह क्या करे

गंगा प्रवाह। तब भी यदि गंगा न होय। बोलो क्या करे वह?।।७२।। मेरा भाग्य योग
महान। जो पाये आप संतों के चरण। अब क्या मुझसे न्यून। रहेगा जग में?।।७३।।
जी समर्थ मेरे स्वामी। मेल किया आप संतों से नामी। जिससे हुआ सर्वकामी।
परिपूर्ण मैं।।७४।। आप समान उदार। पाया मैंने नैहर। अतः हठ ग्रंथ का दुष्कर।
हुआ सिद्ध।।७५।। जी कनक का निखिल। ढ़ालना शक्य भूमंडल। चिंतामणि के
कुलाचल-। का निर्माण शक्य।।७६।। सप्त ही सागर। अमृत से भरना सुकर। चंद्र
करना न दुष्कर। तारांगण को।।७७।। कल्पतरू का उद्यान। लगानां नहीं कठिन।
किंतु गीतार्थ का आकलन। गहन अति।।७८।। वह मैं सर्वथा मूक। कहकर प्राकृत में
लोक। चक्षु से देखे प्रत्यक्ष। किया ऐसा।।७९।। इतना महाग्रंथ सागर। लांघकर
किया पार। फहराया परतीरपर। कीर्तिध्वज मैंने।।१७८०।। वहां गीतार्थ का
प्राकारू। कलशाध्याय महामेरू। मंदिर में पूजी श्रीगुरु-। मूर्ति मैंने।।८१।।
गीतामाता निष्कपट। बालक भूलकर घूमे व्यर्थ। उन मातापुत्र की होवे भेंट। यह
धर्म आपका।।८२।। आप सब संतजन। कृपा मुझपर की महान। जो मैं होकर
समर्थ। किया प्रवचन। कहे ज्ञानदेव।।८३।। क्या कहूं बहुत सकल। पाया मैंने
जन्मफल। जो ग्रंथसिद्धि सकल। कर दी आपने।।८४।। मैंने जिन-जिन आशाओं
से। भरोसा किया आपसे। पूर्ण करके आपने जैसे। किया सुखी।।८५।। मेरे लिये ग्रंथ
की स्वामी। की दूजी सृष्टि यह जो नामी। वह देखकर हंसे महाकर्मी। विश्वामित्र
को भी।।८६।। जो त्रिशंकु के उद्देश्य से। न्यून लाये विधाता को जैसे। क्षणभंगुर
नहीं निश्चित से। शाश्वत यह।।८७।। उपमन्यु के वात्सल्य से। निर्मित क्षीरसागर
शंभु ने जैसे। वह भी उपमा न पावे उससे। जो विषगर्भ वह।।८८।। अंधेरा और
निशाचर-। से त्रस्त हुआ जब चराचर। प्रार्थना से आया भास्कर। किंतु तापदायक
वह।।८९।। संतप्त जग देखकर। शमवत चांदनी को वर्षाकर। किंतु कलंकयुक्त
वह चंद्र। भी पावे उपमा कैसी?।।१७९०।। अतः आप संतजन। कराया मुझसे ग्रंथ
निर्माण। त्रिजगत में उपयुक्त पूर्ण। निरूपम यह।।९१।। किंबहुना आपका किया।
धर्म कीर्तन यह सिद्ध हुआ। बचा शेष जो यहां। सेवकपन मेरा।।९२।। अब हे
विश्वात्मक सदये!। इस वाग्यज्ञ से तोषिये। संतोष से मुझे दीजिये। पसायदान
यह।।९३।। हो खलों का कुटिलत्व नाश। उन्हें सत्कर्म में रति हो अशेष। बढ़े भूतों
में परस्पर विशेष। मित्र भाव।।९४।। दुरितों का तिमिर जावे। विश्व स्वधर्म सूर्य
उदित होवे। जो जो वांछत सो वह पावे। प्राणिजात।।९५।। वर्षत सकल मंगलमय।
ईश्वर निष्ठों का समुदाय। अनवरत भूमंडल में यह। मिले सबको।।९६।। चलते
कल्पतरू का आरव। चेतन चिंतामणि का गांव। मुखरित मूर्त अर्णव। पियूष के
जो।।९७।। चंद्रमा जो अलांछन। मार्तण्ड जो तापहीन। वे सबको सदा सज्जन। होवे
प्रिय।।९८।। किंबहुना त्रिलोक पूर्ण। होवे सब सुख से संपूर्ण। करे आदिपुरुष का

बताओ?।।७२।। अतः महत् भाग्य से मुझे संतों के चरणों की प्राप्ति हुई है। अब इस जग में मुझमें क्या कमी रहेगी?।।७३।। मेरे स्वामी श्री गुरु निवृत्तिनाथ जी ने आप संतों से मेरा मिलन करा दिया है। अब मेरी इच्छाएं परिपूर्ण हो गयी हैं।।७४।। आपके सदृश मां का घर मुझे मिला है। अतः ग्रंथ पूर्ण करने का मेरा हठ सिद्ध हो गया है।।७५।। शुद्ध सुवर्ण का भूमंडल ढ़ालना शक्य है। चिंतामणि रत्न का कुलाचल (पर्वत) निर्माण करना शक्य होगा।।।७६।। सातों समुद्र को अमृत से भर देना सहज़ सरल होगा। तारकाओं को चंद्र बनाना सुलभ होगा।।७७।। कल्पतरुओं का उद्यान लगाना कठिन नहीं। किंतु गीता का अंतरंग प्रकट करना सरल नहीं है। वह अत्यंत गहन है।।७८।। मैं मूक एवं असमर्थ हूं। गीता का अंतरंग अर्थ प्राकृत भाषा में कहते हुए लोगों को प्रत्यक्ष नेत्रों से दिखाई देगा इतना स्पष्ट किया है।।७९।। यह इतना ग्रंथसागर पार करके परतीर पर कीर्ति ध्वज की विजयपताका फहराई है।।१७८०।। गीतार्थ के प्राकार में अष्टादश कलशाध्याय सहित महामेरु जैसा विशाल सुवर्ण मंदिर बनाकर उसमें श्रीगुरुरूपी शिवलिंग की स्थापना की है। उस शिवलिंग का मैं अब ग्रंथ से पूजन कर रहा हूं।।८१।। अकृत्रिम प्रेम करनेवाली गीतामाता से भूलकर व्यर्थ भटकते हुए बालक का मिलन आज हुआ। यह आपका पुण्य प्रभाव है।।८२।। आप सब संतों ने मेरे ऊपर महान कृपा की है। उससे योग्यता प्राप्त होकर प्रवचन करने का मुझमें सामर्थ्य आया। ऐसा ज्ञानदेव कहते हैं।।८३।। अब बहुत क्या कहूं? ग्रंथ समाप्ति तक यह जो कार्य संपन्न हुआ उससे मेरा जन्म सफल हुआ।।८४।। जिन आशाओं से मैंने आपका भरोसा किया था, उसको पूर्ण करके आपने मुझे सुखी किया।।८५।। हे स्वामिन्! मेरे लिए आपने जो ग्रंथरूपी दूजी सृष्टि निर्माण की है उसको देखकर प्रतिसृष्टि निर्माण करनेवाले महाकर्मी विश्वामित्र को भी हम हंसेंगे।।८६।। त्रिशंकु के लिये विश्वामित्रजी द्वारा निर्मित सृष्टि क्षणभंगुर थी। ब्रह्मदेव को कमी लाने उसमें हेतु था। वैसी यह ग्रंथ सृष्टि क्षणभंगुर नहीं है। वह शाश्वत है।।८७।। उपमन्यु के दुलार से भगवान शंकरजी ने क्षीरसागर का निर्माण किया। इस ग्रंथ (सृष्टि के) सागर के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि क्षीरसागर के उदर में विष है। इस ग्रंथ में ज्ञानामृत है।।८८।। अंधेरारूपी राक्षस ने चराचर सृष्टि को निगल लिया था। अतः सृष्टि को उससे छुड़ाने के लिये सूर्यनारायण उदित होते हैं। किंतु प्रकाश की तीव्रता से सृष्टि तप्त हो जाती है। ग्रंथ के ज्ञानामृत से अज्ञानरूपी अंधकार का नाश होकर त्रिविध ताप नष्ट होते हैं।।८९।। सूर्य की प्रखरता तप्त सृष्टि को शांत करने के लिये चंद्रमा अपने प्रकाश की शीतल वर्षा करता है। किंतु चंद्र कलंकयुक्त है। यह ग्रंथ विश्व को शांति प्रदान करके, मोक्ष देनेवाला निष्कलंक एवं अक्षय है। अतः इस ग्रंथ को उपमा नहीं है।।१७९०।। अतः आप संतों ने ग्रंथ के रूप में मुझसे जो कार्य कराया है वह तीनों लोकों के लिये उपयोगी है। वह ग्रंथ पूर्ण उपमा रहित है।।९१।। आपके द्वारा किया गया यह धर्मकीर्तन सिद्ध हुआ है। इस ग्रंथ के कर्तृत्व में मैं निमित्तमात्र सेवक शेष हूं।।९२।। अब ग्रंथ पूर्ण होने के उपरान्त विश्व का आत्मा, विश्वव्यापक, विश्वस्वरूप भगवान मेरे इस वाणी के यज्ञ से संतुष्ट होकर मुझे प्रसाद का दान दीजिये।।९३।। दुष्टों की दुष्टता–कुटिलता नष्ट होवे। धर्म एवं भगवद्भक्ति आदि सत्कर्म में श्रद्धा के साथ प्रेम बढ़ जावे। सब प्राणियों में ऐक्य भाव का मित्रत्व निर्माण होवे।।९४।। पाप का अंधेरा नष्ट होवे। विश्व में स्वधर्मरूपी सूर्य उदित होवे। सत्य, प्रियकर, एवं हितकर विषयों की उनकी इच्छा पूर्ण होवे।।९५।। सब प्रकार से मांगल्य की वर्षा करनेवाले ईश्वरनिष्ठ संतों का समुदाय भूमंडल में उन्हें नित्य निरन्तर मिलता रहे। (जिससे उनकी दुष्ट प्रवृत्ति पुनः न पनपे)।।९६।। संत कल्पतरुओं का चलने वाला उद्यान है। चिंतामणि रत्न के चैतन्ययुक्त गांव हैं। वे अमृत के बोलनेवाले सागर हैं।।९७।। वे कलंक रहित चंद्रमा हैं। तापदायक उष्णता रहित सूर्य हैं। ऐसे संत सज्जन सर्वदा सबको प्रिय होवे।।९८।। किंबहुना तीनों लोकों में सबको सर्व सुखों की प्राप्ति होकर उन्हें पूर्णत्व प्राप्त होवे। और वे आदिनाथ परब्रह्म परमात्का

Funding by IKS-MoE

भजन। अखंडित।।९९।। और ग्रंथोपजीविक। इस जग में विशेख। होवे दृष्टादृष्ट सुख। प्राप्त उनको।।१८००।। तब कहत श्री विश्वेशराव। होगा इच्छित दान पसाव। हुआ इस वर से ज्ञानदेव। सुखी संपूर्ण।।१।। ऐसे यह कलियुग में। और महाराष्ट्र देश में। प्रशांत दक्षिण भाग में। श्री गोदातट पर।।२।। त्रिभुवनैक पवित्र। पंचकोश अनादि क्षेत्र। चलाये जहां से जीवन सूत्र। मोहिनी राज।।३।। वहां यदुवंश विलास। जो सकल कला-निवास। न्याय से पोषत क्षितीश। श्री रामचंद्र।।४।। वहां श्री महेशान्वय संभूत। श्री निवृत्तिनाथ का सुत। किया देशीकार में गीता को अलंकृत। श्री ज्ञानदेव ने।।५।। महाभारत ग्रंथ में। प्रसिद्ध भीष्मपर्व में। श्रीकृष्णार्जुन सुसंवाद में। वर्णित जो।।६।। जो सब उपनिषदों का आगार। सब शास्त्रों का नैहर। सेवित रम्य क्रीड़ा सरोवर। परमहंसों ने जो।।७।। ऐसा गीता का पूर्ण कलश। अध्याय यह अष्टादश। कहे ज्ञानदेव निवृत्तिदास। हुआ संपूर्ण यहां।।८।। आगे आगे सब जीवजाति। लाहे इस ग्रंथ की पुण्य संपत्ति। होवे संपूर्ण सुख की प्राप्ति। सबको सदा।।९।। शके बारह शत बारोत्तर। तब भाष्य करत ज्ञानेश्वर। सच्चिदानंद बाबा सादर। लेखक होत।।१८१०।।

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ज्ञानोर्मिहिन्दीअनुवादे सर्वगीतार्थसंग्रहोनाम अष्टादशोऽध्यायः (श्लोक ७८ ओवियाँ १८१०)

Funding by IKS-MoE

की अखंड भक्ति करते रहे।।९९।। ग्रंथ के ऊपर उपजीविका चलानेवाले लोगों को ऐहिक एवं पारलौकिक सुख प्राप्त होकर भगवद् साक्षात्कार प्राप्त होवे।।१८००।। ऐसी प्रार्थना करने के उपरान्त विश्वात्मक जगद्गुरु श्रीकृष्ण स्वरूप श्रीनिवृत्तिनाथजी ने संतुष्ट होकर कहा, 'तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हें भगवद्कृपा प्रसाद प्राप्त होगा।' इस वर से ज्ञानदेव संपूर्ण सुखी हुए।।१।। इस प्रकार से कलियुग में, महाराष्ट्र देश में, प्रशांत दक्षिण भाग में श्री गोदावरी नदि के किनारे।।२।। तीनों लोकों में एकमात्र पवित्र अनादि पांच कोस का जो क्षेत्र है। वहां से मोहिनीराज संपूर्ण विश्व का जीवन सूत्र चला रहे हैं। (अब उस स्थान को नेवासे कहते हैं। पूर्वकाल में महालय क्षेत्र कहलाता था। वहां के महावैष्णवी देवी को महालया कहते हैं। कुबेर ने इस स्थान पर निधि रखा था। अतः निधि निवास नेवासे हुआ)।।३।। इस महालय क्षेत्र में यदुवंश का भूषण, शास्त्र एवं कलाओं का मर्मज्ञ, न्याय से प्रजा का पालन करनेवाला, पृथ्वीपति श्री रामचंद्रदेव देवगिरी का राजा है।।४।। उनके राज्य में आदिगुरु भगवान आशुतोष शंकर के परम्परा में जन्म लिए श्री निवृत्तिनाथ के शिष्य श्री ज्ञानदेवजी ने श्रीमद्भगवद्गीता पर प्राकृत भाषा का अलंकार चढ़ाया है।।५।। इस प्रकार से महाभारतरूपी ग्राम में भीष्मपर्व नाम से विख्यात अध्याय में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के बीच में जो उत्कृष्ट संवाद हुआ है, वही श्री गीता नाम से सुप्रसिद्ध है।।६।। वह गीता उपनिषदों का सार है। सब शास्त्रों का नैहर है। परमहंस महात्माओं ने जिनका सेवन किया है ऐसा यह मानस सरोवर है। जिसमें सिद्ध, साधक, मुमुक्षु क्रीड़ा करते हैं।।७।। अठारहवां अध्याय श्री गीता का कलश है। वह अब संपूर्ण हुआ है। ऐसा निवृत्तिनाथ के शिष्य श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं।।८।। इस ग्रंथ के पुनः पनुः पठन-श्रवण जन्य पुण्य संपत्ति से सब जीवों जाति को नित्य संपूर्ण सुख की प्राप्ति होवे।।९।। शके बारह शत बारहोत्तर (१२१२) में श्री ज्ञानेश्वरजी ने श्री गीता पर भाष्य किया। श्री सच्चिदानंद बाबा ने आदर पूर्वक लेखन कार्य संपन्न किया।।१८१०।।

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

श्री एकनाथजी ने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ संशोधित करने के उपरांत ज्ञानेश्वरी संबंधित विरचित ओवियां:-

पंधारासौ छटवे श्री शक में। तारण नाम संवत्सर में। अत्यादर से की एकनाथ जी ने। गीता ज्ञानेश्वरी प्रति शुद्ध।।१।। ग्रंथ पहले ही अतिशुद्ध। किंतु पाठभेद से शुद्ध अबद्ध। वह खोजकर एवंविध। प्रतिशुद्ध सिद्ध ज्ञानेश्वरी।।२।। नमो ज्ञानेश्वरा निष्कलंका। जिनकी गीता की पढ़ते टीका। ज्ञान होवे लोगों को नीका। अतिभाविक ग्रंथार्थियों को।।३।। बहुकाल पर्वणी चोखटी। भाद्रपद मास कपिला षष्ठी। प्रतिष्ठान में श्री गोदातटी। हुआ लेखनकार्य संपूर्ण।।४।।

अनुवादिका द्वारा:-

ॐ नमोजी ज्ञानेश्वर। आत्मज्ञानी योगीश्वर। संतश्रेष्ठ कविश्वर। आराध्य उर्मिला के।।१।। प्रतिशुद्धि पश्चात चारसौ साल में। श्रीशके उन्नीससौ छटोत्तर में। रक्ताक्षी नाम संवत्सर में। अद्‌भुत रचना यह।।२।। श्री ज्ञानेश्वरजी की वाणी। प्राकृत साहित्य का मुकुटमणि। आविष्कृत हिंदी में चिंतामणि-। सम फलदायक जो।।३।। पाया गुरुकृपामृत का घूंट। श्री गीता ज्ञानोर्मि हुई प्रकट। किया गुह्य आत्मज्ञान स्पष्ट। सुलभ सबको।।४।। आषाढ़ मास पक्ष शुद्ध। पुण्य पर्व एकादशी प्रसिद्ध। भृगुक्षेत्र में अनुवाद हुआ सिद्ध। पावन रेवा तट पर।।५।।

:: श्रीकृष्णार्पणमस्तु। श्री ज्ञानेश्वरार्पणमस्तु ::

Funding by IKS-MoE

श्री एकनाथजी ने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ का संशोधन करने के उपरान्त ज्ञानेश्वरी के संबंध में विरचित ओवियां–

शर्ालिवाहन शक (१५०६) पंधरासौ छः में, तारणनाम संवत्सर में, जनार्दन स्वामी के शिष्य एकनाथ जी ने अत्यंत श्रद्धा से, ज्ञानेश्वरी की प्रति शुद्ध की।।१।। श्री ज्ञानेश्वर महाराज के द्वारा लिखित ग्रंथ मूलतः अत्यंत शुद्ध है। किन्तु हस्तलिखित पाठ भेद से उसमें अशुद्धि एवं अबद्ध प्रयोग हुए हैं। इस प्रकार से उसका संशोधन करके सिद्ध ज्ञानेश्वरी ग्रंथ की शुद्ध प्रति तैयार की है।।२।। हे निष्कलंक ज्ञानेश्वर! आपको प्रणाम। जिनका श्री गीताभाष्य पढ़ने से अत्यंत श्रद्धावान, ज्ञानी एवं अर्थ समझने की इच्छा करनेवाले लोगों को, धर्म, भक्ति, योग, ज्ञान, वैराग्य इन सब विषयों का ज्ञान उत्तम रीति से प्राप्त होता है।।३।। बहुत कालान्तर से आनेवाली पवित्र पर्वणी, भाद्रपद महिने की कपिलाषष्ठी (कृष्ण पक्ष, षष्ठी तिथि, मंगलवार, हस्त नक्षत्र स्थित सूर्य, व्यतिपात एवं रोहिणी नक्षत्र को कपिला षष्ठी योग कहते हैं) के दिन, प्रतिष्ठान क्षेत्र में (पैठण गांव में) गोदावरी नदि के उत्तर किनारे, ज्ञानेश्वरी की प्रति शुद्ध करने का कार्य संपूर्ण हुआ।।४।।

हिन्दी में अनुवाद पूर्ण होने के उपरान्त डॉ. सौ. जामदार द्वारा निम्नलिखित पंक्तियां जोड़ दी गयी हैं:–

ॐकार स्वरूप ज्ञानेवरजी को नमस्कार है। आप आत्मसाक्षात्कार संपन्न योगीश्वर हो। संत हो। श्रेष्ठ कवीश्वर हो। एवं उर्मिला के आराध्य पूजनीय दैवत हो।।१।। ज्ञानेश्वरी ग्रंथ को श्री संत एकनाथजी द्वारा शुद्ध प्रति करने के उपरान्त चार सौ वर्ष बीत गये। श्री शालिवाहन शक १९०६ में रक्ताक्षी नाम संवत्सर में हिन्दी भाषा में यह अद्भुत रचना हुई है।।२।। श्री ज्ञानदेवजी की वाणी प्राकृत साहित्य का मुकुटमणि है। चिन्तामणि रत्न के समान फल देनेवाली यह रचना है। वह हिन्दी भाषा में प्रकट हुई है।।३।। श्री गुरुकृपा का अमृत घूंट प्राप्त हुआ है। श्री गीता ज्ञानोर्मि प्रकट हुई है। गुप्त आत्मज्ञान को सबके लिए स्पष्ट एवं सुलभ किया है।।४।। आषाढ़ महिने में, शुद्ध पक्ष में, पुष्य नक्षत्र में एकादशी के दिन भृगुक्षेत्र में रेवा नदी के (नर्मदा नदी के) तट पर यह अनुवाद संपूर्ण सिद्ध हुआ।।५।।

श्री कृष्णार्पणमस्तु

:: ॐश्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु ::

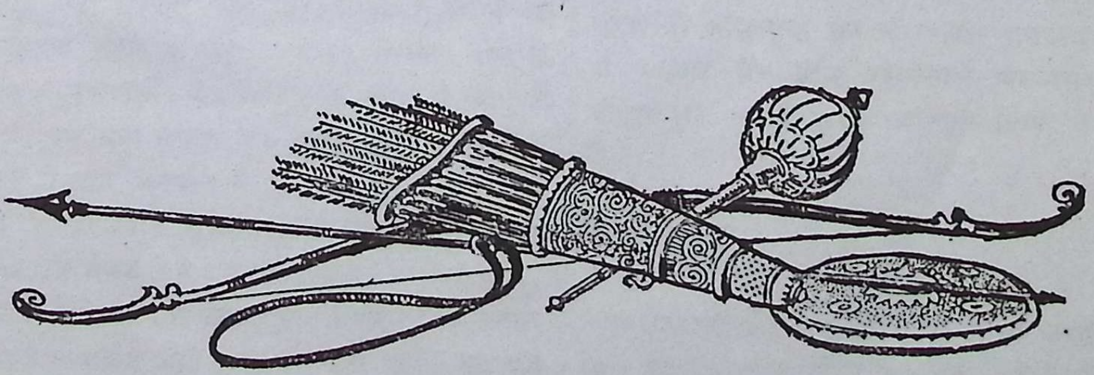

Funding by IKS-MoE

परिशिष्ट

अ. १–३७

परीक्षित राज की सर्पदंश से मृत्यु हुई उसका बदला लेने के लिये उसके पुत्र राजा जन्मेजय ने सर्पसत्र किया। उस यज्ञ में सर्पों का आवाहन करके आहुती दी जाने लगी। किंतु तक्षक ने इंद्र की सहायता प्राप्त की थी। ब्राह्मणवेष धारण करके इंद्र ने जन्मेजय राजा से याचना की एवं तक्षक को जीवनदान मिला।

इंद्र द्वारा ठगाये जाने से जन्मेजय राजा के मन में ब्राह्मणों के प्रति विद्वेष उत्पन्न हुआ। व्यास महर्षि के शिष्यों को उसने अपमानित किया। उनके शाप से राजा को कुष्ठरोग हुआ। अंत में व्यास महर्षि ने जन्मेजय राजा को महाभारत सुनाया। जिससे जन्मेजय राजा का कुष्ठरोग नष्ट हुआ एवं वह पापमुक्त हुआ।

अ. १–६७

टिट्टिभ नामक पक्षिणी के अंडे खाकर मेंढक समुद्र में छुप गया। अंडे लौटाने की प्रार्थना समुद्र ने नहीं मानी। अतः समुद्र को सुखाने के लिए अपने चोंच से खाली करने का प्रयास पक्षिणी ने किया। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, गीतार्थ कथन का मेरा प्रयास उसकी पक्षिणी जैसा है।

अ. १–१४१

अर्जुन ने भगवान को प्रश्न किया, श्रीरामचंद्र ने समुद्र पर शरसेतु क्यों नहीं बनाया? अर्जुन का गर्वहरण करने के लिए भगवान ने कहा राम के सैनिक बलशाली थे। अर्जुन ने कहा, मैं बाण से सुदृढ़ पुल बना सकता हूं। अर्जुन को सेतु बनाने के लिए कहकर भगवान ने हुनमान को बुलाया। एक पैर उसपर रखते ही सेतु टूट गया। अर्जुन लज्जित हुआ तब भगवान ने दूसरा सेतु बनाने के लिये कहा। उसके नीचे सुदर्शन चक्र रखा। हनुमान जब उसपर उछल कूद कर आये किंतु पुल टूटा नहीं। तब युद्ध के समय रथपर आरूढ़ होने का आश्वासन हुनमानने ने अर्जुन को दिया।

अ. १–२००

पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए अर्जुन तपश्चर्या करने लगे। उन्होंने भगवान शंकर की आराधना की। परीक्षा लेने के लिए भगवान शंकर वराह के पीछे लगे। अर्जुन ने भी उस वराह पर बाण छोड़ा। दोनों के बाण एक साथ वराह को लगे। वराह किसका यह जानने के लिए दोनों योद्धाओं में युद्ध छिड़ गया। अर्जुन के पराक्रम से शंकर भगवान प्रसन्न हुए एवं अर्जुन को पाशुपत अस्त्र का प्रसाद मिला।

अ. १–२००

प्रहलाद के भाई को निवात एवं कवच नाम के दो पुत्र थे। समुद्र किनारे रहनेवाले यह दोनों इंद्र के लिए भी अजेय थे। इंद्र की मदद करने के लिए अर्जुन ने बुद्धिमत्ता से उनपर विजय पाई एवं उनका वध किया।

अ. २–१०

अंगारपर्ण नामक गंधर्व अपनी स्त्रियों के साथ विलासरत था। रात के समय पांडव एवं कुंती लाक्षागृह से बचकर जा रहे थे। गंधर्व ने उनको ललकारा। अर्जुन ने अंगारपर्ण का पराभव करने पर उसने प्रसन्न होकर सूक्ष्म पदार्थदर्शक चाक्षुसी विद्या देकर अर्जुन से स्नेह किया।

अ. २–३८

भगवान शंकर के भस्म से निर्माण भस्मासुर ने उनसे वर प्राप्ति की थी। जिससे मस्तक पर हाथ रखते ही मनुष्य भस्म हो जाता था। किंतु पार्वती माता की अभिलाषा मन में रखकर भगवान शंकर के मस्तक पर हाथ रखनेवाले भस्मासुर का, मोहिनीरूप धारण करके भगवान विष्णु ने नाश किया।

अ. ३–१५२

जनकराजा मिथिला नगरी में राज्य करते थे। किंतु वह आत्मज्ञान संपन्न थे। अतः विदेही कहलाते थे। कर्म करते हुए भी वह मुक्त अवस्था में रहते

Funding by IKS-MoE

अ. ३–१६३

मथुरा के राजा कंस का वध करने के उपरान्त श्रीकृष्ण एवं बलराम सांदीपनि ऋषि के आश्रम में विद्याभ्यास के लिए गये थे। अध्ययन पूर्ण करके गुरुदक्षिणा देने की इच्छा श्रीकृष्ण एवं बलराम ने प्रकट की। गुरुपत्नी की इच्छा के अनुसार समुद्र में डूबा हुआ उनका इकलौता पुत्र यमपुरी से लाकर दिया। श्रीकृष्ण का ऐसा अद्भुत पराक्रम था।

अ. ५–११

दूध पीने की इच्छा से उपमन्यु ने उग्र तपश्चर्या करके बाल्यावस्था में भगवान शंकर को प्रसन्न किया। भगवान ने प्रसन्न होकर उनको क्षीरसमुद्र दिया।

अ. ९–३९२

अत्यंत गतिमान गरुड़ भगवान विष्णु का वाहन है। यह कश्यप ऋषि का विनता स्त्री से हुआ पुत्र है। स्वर्गलोक से अमृत लाकर उसने अपनी माता को विमाता की दासता से मुक्त किया। अमृत लाते समय आसक्ति न रखते हुए अमृत लाने से भगवान विष्णु प्रसन्न हुये एवं उसको अमरत्व का वर प्रदान किया।

अ. ९–३९४

सांदीपनी ऋषि के आश्रम में सुदामा नामक दरिद्री ब्राह्मणपुत्र श्रीकृष्ण का मित्र था। भगवान द्वारकाधीश होने के उपरान्त द्वारका में भगवान को मिलने जाने का पत्नी का आग्रह मान्य करते हुए फटे वस्त्र में थोड़ा (पोहा) तंदुल बांधकर द्वारिका पहुंचे। सुदामा का आतिथ्य करते हुए उनके लाये हुए पोहे प्रेम से खाये। उसके बदले में भगवान ने सुवर्ण की सुदामा नगरी बिना मांगे उनको दी।

अ. ९–४४२

इंद्रद्युम्न राजा शाप के कारण गजेंद्र हुआ था। पुष्कर तीर्थ पर हुए नाम का शाप ग्रस्त गंधर्व नक्र बनाया। उसने गजेंद्र का पैर पकड़ा जीवन की आशा छूट जाने पर पूर्व संस्कार के अनुसार गजेंद्र ने भगवान को पुकारा। सूंड से उनको कमल पुष्प समर्पित किया। भगवान ने प्रसन्न होकर सुदर्शन चक्र से नक्र का वध करके गजेंद्र को मुक्त किया। नक्र का भी उद्धार हुआ।

अ. ९–४५०

हिरण्यकश्यपु का पुत्र प्रहलाद भगवद्भक्त था। हरिभक्ति छोड़ने के लिए पिता ने पुत्र को अनेक प्रकार से यातनाएं दीं। किंतु प्रहलाद जन्म से भगवदभक्त था। तुम्हारा भगवान कहां है? ऐसा पिता द्वारा पूछने पर भगवान सर्वत्र है ऐसा उत्तर प्रहलाद ने दिया। तब पत्थर के खंभे पर लात से आघात करते ही भगवान स्तंभ से प्रकट हुए। उनका मस्तक सिंह का एवं शरीर मनुष्य का था। समय संध्या का था। अपने जांघ पर हिरण्यकश्यपु को रखकर बिना शस्त्र से, केवल नाखून से भगवान ने उसका वध किया। क्योंकि ब्रह्माजी से उसने ऐसा ही वर प्राप्त किया था। न दिन में न रात में। न शस्त्र से न भूमि आकाश में मृत्यु हो।

अ. ९–४६६

मथुरा के राजा कंस ने भगवान श्रीकृष्ण के माता-पिता को कारागृह में रखकर उनके छः पुत्रों का वध किया था। किंतु उनकी दो संतानें गोकुल में नंदराजा के घर में बढ़ रही थीं। जिससे कंस नित्य भयभीत रहता था। क्योंकि देवकी के आठवे पुत्र से कंस की मृत्यु होगी ऐसी आकाशवाणी उसने सुनी थी। अंत में श्रीकृष्ण को अनेक बार मारने का प्रयास करने पर उसको मथुरा में बुलाकर हाथी द्वारा मारने का प्रयास किया। कंस द्वारा भेजे गये मल्लों को मारकर कंस का भी वध भगवान ने किया। कंस को सर्वत्र भय से श्रीकृष्ण दिखता था। जिससे शत्रु न होते हुए भी विरोधी भावना से वह मुक्त हुआ।

अ. ९–४६६

युधिष्ठिर राजा होने के उपरान्त उसके राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण को अग्रपूजा से सम्मानित किया है यह देखकर उनका फुफेरा भाई चेदिराजा शिशुपाल को क्रोध आया। उसने कटु शब्दों में भगवान को अपशब्द कहे। सौ बार चुप रहने के उपरान्त भगवान ने उसका शिरच्छेद किया एवं उसको मुक्त किया।

अ. ९–४६८

भगवद्भक्त अक्रूर को कंस ने मथुरा में राम एवं कृष्ण को लाने के लिए गोकुल भेजा था। यह

भगवान के साथ द्वारका में रहने के लिए गया था। इसको ही पांडवों का समाचार लाने के लिए हस्तिनापुर भेजा था।

अ. ९–४७९

श्वेतकी नामक राजा ने बारह वर्ष यज्ञ करके अखंड घृतधारा अग्नि में समर्पित की थी। जिसको अग्नि को जाडय हुआ। औषधियों से युक्त खाण्डव वन का सेवन करने से स्वास्थ्य लाभ होगा ऐसा ब्रह्माजी ने कहने के उपरान्त अग्नि ने कृष्ण एवं अर्जुन से वन की मांग की। खांडववन सेवन करते समय कृष्णार्जुन ने इंद्र से युद्ध किया। किन्तु मय दावन की रक्षा की। उसने मय सभा निर्माण करके पांडवों के राज्य में चार चांद लगा दिये।

अ. ९–४७९

समुद्र का वड़वाग्नि समुद्र का जल शोषण करता रहता है। सागर उसे नया जल देता रहता है।

अ. ९–४८०

भृगु ऋषि ब्रह्माजी के मानसपुत्र हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश में श्रेष्ठ कौन यह आजमाने के लिए विष्णु भगवान को भृगु ऋषि ने लत्ता प्रहार किया। किन्तु क्रोधित न होते हुये विष्णु भगवान ने उनके प्रति आदर व्यक्त करते हुए चरण संवाहन किया। छाती पर हुए आघात वत्सलांछन के रूप में आभूषण समझकर हमेशा के लिए धारण किया।

अ. ९–४८६

समुद्र मंथन के समय हलाहल विष प्रथम निकला। विश्व का नाश होने की संभावना देखकर देवताओं ने भगवान शंकर से प्रार्थना की। भगवान ने विश्व कल्याण के लिए विष को ग्रहण करके कंठ में रख लिया। वे नीलकंठ बने किंतु विष के परिणामस्वरूप देह में तीव्र दाहकता उत्पन्न हुई। अतः शीतलता के लिए उन्होंने मस्तक पर चंद्रमा को धारण किया।

अ. ९–५०२

चंद्रमा अत्रि ऋषि का पुत्र है। दक्ष प्रजापती ने अपनी साठ कन्याएं विवाह में चंद्रमा को दीं थीं। किंतु चंद्रमा को केवल रोहिणी प्रिय थी। अन्य कन्याओं ने पिता से तक्रार की तब दक्ष ने अपने ही दामाद जामात को क्षयी होने का शाप दिया। तबसे चंद्रमा बढ़ता एवं घटता है। चंद्रमा की तपस्या से संतुष्ट होकर शिवजी ने उसको पूर्णिमा के दिन पूर्णत्व दिया।

अ. १०–१८

उत्तानपाद राजा को दो पत्नियां थीं। प्रिय रानी सुरुचि का पुत्र उत्तम पिता की गोद में बैठा है यह देखकर बड़ी रानी सुनीति का पुत्र ध्रुव पिता की गोद में बैठने लगा। जिसको विमाता ने फटकार दिया। अतः ध्रुव बन में तपस्या करने के लिए घर छोड़कर चला गया। नारद ऋषि की कृपा प्राप्त करके उन्होंने बताये हुए मार्ग से तपस्या प्रारंभ की। जिससे भगवान ने प्रसन्न होकर आकाश में चिरंतन स्थिरपद प्रदान किया।

अ. १०–३६

विश्वामित्र ऋषि एवं वसिष्ठ ऋषि में स्पर्धा थी। विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि पद की चाह थी। साक्षीदार के रूप में सूर्य, समुद्र एवं मेरु पर्वत को विश्वामित्र नहीं ला सके। वसिष्ठ जी ने प्रतीक निर्माण किये। उनकी छाती से सूर्यप्रकाश निकलने लगा। कमंडलु से समुद्र जल बहने लगा। दंड ने मेरुपर्वत का रूप धारण किया। वसिष्ठ जी की तपस्या ऐसी सामर्थ्य संपन्न थी।

अ. १०–३६

त्रिशंकु राजा को सदेह स्वर्ग में जाने की इच्छा थी। वसिष्ठ ऋषि के शाप से उसे चंडालत्व प्राप्त हुआ था। विश्वामित्र ने उसके लिए यज्ञ करके उसको स्वर्ग में भेजा। किंतु इंद्र उसको स्वर्ग में प्रवेश करने से रोकने लगा। उसकी दुःस्थीत देखकर विश्वामित्र ने नयी सृष्टि का निर्माण प्रारंभ किया। अन्त में समझौता होकर सृष्टि निर्माण कार्य विश्वामित्र ने बंद किया।

अ. १०–३६

अंजनी पुत्र हनुमान प्रभात कालीन सूर्यबिंब को फल समझकर आकाश में ऊंचे जाने लगे। सूर्य को पकड़नेवाले हनुमान पर इंद्र ने वज्र प्रहार किया।

मारुति मूर्छित हुए। देवताओं ने उनको सावध करके उनको वर प्रदान किया।

अ. १०–३७

वृत्रासुर का वध इंद्र द्वारा किया जाने के उपरान्त अन्य राक्षस सागर में छुप गये। वे रात में बाहर निकलकर ऋषिओं का ही भोजन करते थे। उनका संकट देखकर अगस्ति ऋषि ने अपने तपोबल से एक ही आचमन में समुद्र जल पी लिया। राक्षसों का नाश होने के उपरान्त वही समुद्र जल पुनः समुद्र में स्थापित किया। अतः अगस्ति ऋषि का उच्छिष्ट सागर उनका पुत्र कहलाता है।

अ. १०–२२९

हिमालय में शिव पार्वती का क्रीडाबन शरबण नाम से सुप्रसिद्ध है। शिवजी का वीर्य अग्नि ने एवं छः कृत्तिकाओं ने धारण किया था। पुत्र को छः मुख थे। इसको अग्नि, भू, कार्तिकेय एवं स्कंद नाम हैं। यह देवताओं का सेनापति था।

अ. १०–२५६

इक्ष्वाकु वंश के सगर राजा के ६०,००० हजार पुत्र अश्वमेघ यज्ञ का रक्षण करते हुए विचरण कर रहे थे। इस अश्व को इंद्र ने कपिल ऋषि के आश्रम में चुपके से रख दिया था। अश्व को ढूंढते हुए सगरपुत्र कपिलाश्रम पहुंचे। वहां अश्व प्राप्त होनेपर कपिल महर्षि को उन्होंने भला-बुरा कहा। समाधि मग्न कपिल महर्षि की समाधि भंग होने पर उन्होंने नेत्र खोलते ही सगरपुत्र भस्म हुए। उनके उद्धार के लिए स्वर्ग से गंगा लाने को कहा गया। सगर राजा का नाती अंशुमान ने अश्व लाकर अपने दादा का यज्ञ पूर्ण किया। अंशुमान एवं उनका पुत्र दिलीप राजा ने तपस्या करके गंगा को पृथ्वी पर लाने का प्रयास किया। अन्त में दिलीप के पुत्र भगीरथ ने तपस्या करके गंगा को प्रसन्न किया। शंकरजी को तपस्या से प्रसन्न करके मस्तकपर गंगाजी का भार वहन करने की प्रार्थना की। मार्ग में जान्हू राजा का यज्ञमंडप था। गंगा प्रवाह में डूबने से जन्हू क्रोधित हुए। उन्होंने संपूर्ण जल प्राशन किया। कन्या के रूप में गंगा का स्वीकार करके अपनी जंघा से उसको प्रवाहित किया। अतः वह जन्हू राजा की कन्या जान्हवी कहलाने लगी। भगीरथ ने अपने पूर्वजों के स्थान पर ले जाकर उनका उद्धार किया। अतः गंगा भागींरथी कहलायी गयी।

अ. १०–२८८

वसुदेव देवकी के छः पुत्रों का कंस ने वध किया। आठवें पुत्र का जन्म होते ही उसको गोकुल में नंदराजा के यहां रख आये। नंद पत्नी यशोदा को कन्या हुई थी। उसको लेकर वसुदेव कारागृह में लौट आये।

अ. १०–२८८

नंद यशोदा के पुत्र कृष्ण को मारने के लिए कंस ने अनेक असुर भेज थे। उसमें पूतना नाम की राक्षसी थी। उसने विषयुक्त स्तन से दूध पिलाकर कृष्ण को मारने का प्रयास किया। विष के साथ कृष्ण ने उसके प्राणों का भी हरण किया। वह मृत हुई।

अ. १०–२८९

गोकुल में प्रतिवर्ष नयी फसल आने के उपरान्त इंद्र को खुश करने के लिये अन्नकोट करते थे। वह प्रथा बंद करके गोवर्धन याग कृष्ण ने प्रारंभ किया, जिससे क्रोधित होकर इंद्र ने अनिवार वर्षा की। अपने उंगली पर गोवर्धन पर्वत को उठाकर श्रीकृष्ण ने लोगों को आश्रय दिया। अंत में इंद्र शरण आया।

अ. १०–२९०

कालिया नामक नाग गरुड़ के भय से यमुनादह में छिपा था। फलस्वरूप संपूर्ण जल विषमय हुआ था। कृष्ण के मित्र एवं गाएं जल पीने से मृत हुए। अतः दह में छलांग लगाकर कालिया को कृष्ण ने जर्जर किया। उसकी पत्नियों के प्रार्थनापर उसको जीवित छोड़ा। वहां से उसको रमणक द्वीप जाने की आज्ञा की। गायें एवं गोपाल को जीवित किया।

अ. १०–२९०

श्रीकृष्ण के सामर्थ्य की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्माजी ने गायें एवं गोपाल को चुराकर छिपाकर रखा। उनके स्थान पर वैसे ही गोपाल एवं गायें निर्माण करके किसी को नये उत्पत्ति का आभास होने नहीं दिया। ब्रह्माजी लज्जित होकर शरण आये एवं

Funding by IKS-MoE

उन्होंने गायें एवं गोपाल लौटाये।

अ. १०–२९४

कृष्ण बलराम की भगिनी सुभद्रा का विवाह बलराम ने दूर्योधन के साथ निश्चित किया था। किंतु वह कृष्ण को मान्य नहीं था। बड़े भैय्या का विरोध न करते हुये संन्यासी रूप अर्जुन को द्वारिका के राजमहल में रहने को बुलाया। रेवतक पर्वत पर सुभद्रा का हरण करके रथ इंद्रप्रस्थ ले जाने का प्रयास अर्जुन ने किया। अन्त में दोनों को लाकर उनका विवाह श्रीकृष्ण की इच्छानुसार अर्जुन के साथ हुआ।

अ. ११–३५

अंबरीष राजा दानशूर, पराक्रमी एवं भगवद्भक्त था। वह एकादशी व्रत रखता था। द्वादशी के दिन दुर्वास ऋषि अतिथि आये। स्नान करके आने से उन्हें विलंब हुआ। अतः राजा ने द्वादशी का मुहूर्त में व्रतभंग न होवे इसलिए जलप्रशान किया। दुर्वासा महर्षि आनेपर क्रोधित हुए। उन्होंने अपनी जटा से कृत्या निर्माण करके उसको अंबरीष पर छोड़ी। किंतु भगवान के सुदर्शन चक्र ने उस क्रुद्ध राक्षसी का नाश किया एवं चक्र दुर्वासा की तरफ झपट पड़ा। उसको अपनी तरफ आते देख दुर्वासा सत्यलोक, कैलास एवं वैकुंठ में दौड़े। किंतु किसी ने उन्हें आश्रय नहीं दिया। अन्त में अंबरीष राजा की वे शरण आये। वह भोजन के लिए बिना खाये अतिथि की राह देख रहा था। उन्होंने स्वागत करते ही चक्र लौट गया। अंबरीष राजा ने दुर्वासा के साथ भोजन किया।

अ. ११–६०

धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की सलाह के अनुसार पांडवों को वारणावत नगर में लाक्षागृह में रहने के लिये भेजा था। विदुर को यह जानकारी प्राप्त होते ही उन्होंने युधिष्ठिर को सजग किया। गुप्त रीति से जमीन के भीतर जंगल तक गुप्त मार्ग बनाया गया। जिस रात लाक्षागृह को आग लगाई उस रात पांडव कुंतीमाता के साथ जंगल में पहुंच चुके थे। इसप्रकार पांडवों का रक्षण हुआ।

अ. ११–६१

जय-विजय विष्णु भगवान के द्वार रक्षक थे। सनत्कुमार का मार्ग रोकने के कारण उन्होंने जय-विजय को तीन जन्म तक राक्षस होने का शाप दिया। प्रार्थना करने पर विरोधी भक्ति में भी उन्हें भगवान का स्मरण रहे यह उश्शाप मिला। जिससे वे दोनों हिरण्याक्ष-हिरण्यकश्यपु, रावण-कुंभकर्ण, एवं शिशुपाल-दंतवक्र हुए। भगवान द्वारा मृत्यु होने पर उनका शाप विमोचन हुआ।

अ. ११–१०४

कान्यकुब्ज देश में अजामिल नामका दुराचारी ब्राह्मण था। माता-पिता एवं स्त्री का त्याग करके वह वेश्यागृह में रहता था। उसने अपने छोटे पुत्र का नाम नारायण रखा। मृत्यु के समय वह नारायण को पुकार रहा था। अतः उसको ले जाने के लिए यमदूत एवं विष्णुदूत पहुंचे। दोनों का संवाद सुनकर अजामिल को पश्चाताप हुआ एवं वह विरक्त भगवद्भक्त बना।

अ. ११–१०५

श्रीकृष्ण ने सांदीपनि गुरु के आश्रम में विद्याभ्यास करने के उपरान्त उनका मृत पुत्र लाकर दिया। उस समय शंखरूप धारण करनेवाले पंचजन दैत्य का वध किया। उसकी इच्छा के अनुसार उसके शंख-शरीर को हमेशा के लिये अपने हाथ में धारण किया। पंचजन दैत्य के नाम से भगवान के शंख का नाम पांचजन्य हुआ।

अ. ११–१०६

भक्त प्रहलाद का नाती राजा बली महा बलिष्ठ, उदार एवं धार्मिक था। इंद्रपद प्राप्ति के लिए उसने सौ यज्ञ किये। अंतिम यज्ञ के समय भगवान विष्णु ने बटु वामन का अवतार लिया। बली के आग्रह से उन्होंने त्रिपाद भूमि की दान में याचना की। गुरु शुक्राचार्य का विरोध होते हुए भी बलीराजा ने दान का उदक छोड़ा। बटु वामन ने विश्वरूप धारण करके एक चरण में पृथ्वी एवं दूसरे चरण से आकाश व्याप्त किया। तीसरा चरण रखने के लिये राजा ने अपना मस्तक बढ़ाया तब उसे तीसरे चरण से

पाताल भेजकर प्रसन्नता से वर प्रदान किया। भगवान उसके द्वारपाल बने एवं उसका नित्य रक्षण करते रहे। कार्तिक शुद्ध प्रतिपदा इसीके स्मरण में बली प्रतिपदा कहलाती है।

अ. ११-१८२

कृष्ण ने मिट्टी खाई यह देखकर माता यशोदा क्रोधित हुई। श्रीकृष्ण ने मुख खोलते ही यशोदा माता को मुंह में चौदह भुवनों का दर्शन हुआ।

अ. ११-१८७

ब्रह्मर्षि मार्कण्डेय जी ने भगवान की माया देखने की इच्छा प्रकट की थी। एक बार आश्रम में बैठे हुए उनको पृथ्वी जलमय दिखाई दी। उसमें तैरते हुए एक वट पत्र पर उन्हें एक छोटा बालक दिखाई दिया। उस बालक के श्वास से मार्कण्डेयजी बालक के उदर में प्रविष्ट हुए। वहां वैसी ही सृष्टि उन्हें दिखाई दी जिसमें वे नित्य रहते थे। प्रश्वास के साथ बाहर निकलते ही वे स्वयं आश्रम में ही बैठे हैं ऐसा उन्होंने देखा। यही भगवान की माया थी ऐसा वे जान गये।

अ. ११-४६९

कीचकवध हुआ यह सुनने पर पांडव विराटनगरी में अज्ञातवास कर रहे होंगे ऐसा विचार करके दुर्योधन ससैन्य विराट नगरी में पहुंचकर विराट राजा का गोधन लूटकर ले जाने लगा। विराट राजा का पुत्र कौरव सैन्य देखकर भयचकित हुआ। अतः उसको सारथी बनाकर वृहन्नड़ारूपी अर्जुन ने शत्रुसैन्यपर मोहनास्त्र डाला। अपनी बहिन की गुड़ियों के लिए उत्तर ने कौरवों का वस्त्रहरण किया। उत्तर को अकेले अर्जुन ने विजय प्राप्त करा दी।

अ.१२-६

१.सतरहवियां का स्तन्य-

योगशास्त्र में राजयोग के षोड़श अंग बतलाये गये हैं। यही षोड़श कलाएं कहलाती हैं।

''कला षोड़शकोपेता राजयोगम्य षोडश।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्त ज्ञ नानुसारतः।'

(श्री धर्म कल्पद्रुम राजयोग चतुर्थ खण्ड)

अ.ज्ञान भूमिका के निम्नलिखित सात अंग हैं।

१.ज्ञानन्दा २संन्यासदा ३योगदा ४लीलामुक्ति ५सप्तदा ६आनन्दपदा ७परात्परा।

अंतिम ज्ञानभूमि में पहुंचने से साधक ब्रह्मस्वरूप होता है।

ब.योगशास्त्र के अनुसार धारणा के दो अंग हैं।

१प्रकृतिधारणा २ब्रह्मधारणा।

स.''धारणांगे द्विधा ज्ञेये ब्रह्म. प्रकृति भेदतः।''

३ ध्यान के तीन अंग हैं। १विराट् ध्यान २ईश ध्यान ३ब्रह्मध्यान।

ड.समाधि के चार अंग हैं। दो सविचार एवं दो निर्विचार। इसप्रकार ७ ज्ञान भूमिकाएं, धारणा के २ अंग, ध्यान के तीन अंग एवं समाधि के ४ अंग मिलकर षोड़श कलाएं योगशास्त्र में कहलाती हैं। सहजावस्था इन षोड़श कलाओं के परे है जो कि सत्रहवीं जीवन कला कहलाती है।

मानवी जीवन उपासना से परिपूर्ण होता है। साधक को उपासना करते करते शांत स्निग्ध प्रकाश का दर्शन क्रमशः होता हैं। मानवी देह में स्थित भगवती कुलकुण्डलिनी ज्योतिर्मयी है। वही जीवन शक्ति है। वही आत्मशक्ति है। सहस्त्रदलकमल में शिवशक्ति का मिलन होते ही साधक को अलौकिक प्रकाश दर्शन होता है। भगवती कुण्डलिनी पूर्णरूपेण ज्योतिर्मयस्वरूप में प्रकट होती है। यही चंद्रमा के षोड़श कलाओं के परे शांत, स्निग्ध किन्तु कोटी चंद्रमा के प्रकाश के सदृश प्रकट होने वाली आत्मशक्ति सत्रहवीं जीवनकला कहलाती है। यह स्त्रीरूपा है। इसके इस दिव्य दर्शन के समय साधक को अमृतबिन्दु का आस्वाद सौभाग्य से प्राप्त होता है। ब्रह्माण्डनायिका कुण्डलिनी ब्रह्मशक्ति से एकरूप होने के उपरान्त इस अमृत बिंदु का लाभ होने से यही ब्रह्मशक्ति का स्तन्य दूध कहलाता है।

अ. १२-७

(२) प्रत्यगज्योतिः- जीवभाव युक्त आत्मज्योति प्रत्यगज्योति कतलाती है। श्री गुरुकृपा के साधक जीवभाव न्यौछावर कर देता है एवं शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थिर होता है। इसी को प्रत्यगज्योति की आरती उत्तरना कहते हैं।

अ. १३ – ९५

कैलास का राज्य छोड़कर भगवान शंकर स्मशान में रहने लगे। तब तपश्चर्या में विघ्न उत्पन्न करनेवाला, योगियों का मन विचलित करनेवाला मदन का, अपने तृतीय ज्ञानाग्नि नेत्र से उन्होंने भस्म किया।

अ. १३ – ९५८

कर्दभ ऋषि प्रजापति थे। मनुराजा की कन्या देवहुति उनकी पत्नी थी। भगवान विष्णु कपिल महर्षि के रूप में उनके पुत्र हुए। अपनी माता देवहूति को उन्होंने प्रथम ब्रह्मज्ञान अवगत कराया। पाताल लोक में कपिल महर्षि ने निवास किया था। माता को बताये ब्रह्मज्ञान को ही सांख्ययोग कहते हैं।

अ. १५ – १३४

वनवास में राम लक्ष्मण सीता थे तब इंद्रपुत्र जयंत काक का रूप लेकर उनकी परीक्षा लेने आया। उसने सीता को कष्ट दिया यह देखकर तृण को अभिमंत्रित करके राम ने कौवे पर छोड़ दिया। जहां कौआ गया वहां अस्त्र ने उसका पीछा किया। अन्त में श्रीराम के चरणों में शरण होते हुए उसने जीवनदान की याचना की। तब कौवे का एक नेत्र फोड़कर अस्त्र शांत हुआ। तबसे दोनों नेत्रों में एक ही पुतली से कौआ देखता है।

अ. १५ – ५२६

मंदिर में सिंह मुख रहता है। उसकी कथा स्कंध पुराण में है। जालंधर दैत्य को मारने के लिये शिवजी ने सिंहमुख का मानव निर्माण किया। जालंधर एवं अन्य राक्षसों को मारकर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। अतः शिवजी ने उसको उसका ही शरीर खाने को कहा। शेष बचे हुए मुखाकृति को मंदिर में स्थापित किया। यह कीर्तिमुख कहलाता है। प्रथम इसका दर्शन करके ही मंदिर में भगवान का दर्शन करने की प्रथा है। वैसेही ज्ञान अज्ञान को नष्ट करके अंत में स्वयं विलीन होता है।

अ. १६ – ४७९

नाशिक प्रांत में ब्रह्मगिरि के पास गौतम ऋषि का आश्रम था। एक बार पार्वती माता के मन में गंगा माता के प्रति मत्सरभाव उत्पन्न हुआ। अपने पुत्र गजानन को उन्होंने गंगामाता से छुटकारा दिलाने के लिए कहा। जया नामक अप्सरा को गाय बनाकर उसको उन्होंने आश्रम के खेत में छोड़ दिया। अतः गौतम ऋषि ने एक दर्भ गाय पर फेंका। गाय तत्काल मृत हुई। गजानन की सलाह के अनुसार भगवान शंकर से गंगाप्रवाह की मांग करने के लिए तपस्या प्रारंभ की। भगवान शंकर प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी जटा से गंगा को प्रवाहित किया। वह कुशावर्त में आज भी दिखती है। इस जल में स्नान करके गौतम ऋषि पापमुक्त हुए।

अ. १६ – १२७

व्यास पुत्र शुक जन्मतः परमज्ञानी थे। व्यास महर्षि ने उनको भागवत सुनाया था। वही उन्होंने परीक्षित राजा को सुनाया। उनकी तपस्या भंग करने के लिए इंद्र ने रंभा को भेजा था। किन्तु श्री शुक विचलित नहीं हुए।

अ. १७ – २

मयासुर ने ब्रह्माजी से तीन अभेद्य नगर मांग लिये थे। लोहा, चांदी एवं सोने के बने थे। अजेय समझकर तीनों अधिपति देवताओं को भस्म करते थे। वर्ष में एक बार वे तीनों नगर एक रेषा में कुछ समय आते थे। भगवान शंकर ने एक ही बाण से तीनों नगर नष्ट किये। त्रिपुरासुरों का नाश किया।

अ. १८ – ८३७

प्रसूति के बाद छठवें दिन पूजन करने की हिंदु समाज में प्रथा है। उस रात, रात भर दीपक जलाया जाता है। नवजात शिशु का रक्षण हो यही भावना उसमें रहती है।

अ. १८ – १४७८

समुद्र मंथन से निकला हुआ अमृत मोहिनी रूप धारणकर भगवान विष्णु ने देवताओं को प्रथम पिलाया। यह देखकर राहू एवं केतु चंद्रमा एवं सूर्य के बीच आकर बैठ गये। उनको अमृत दिया गया। किंतु चंद्रसूर्य की सजगता से संकेत पाकर श्री विष्णु ने सुदर्शन चक्र से अमृत गले के नीचे उतरने के पूर्व

उनका वध किया।

अ. १८–१४९७

नहुष राजा पराक्रमी एवं सद्‌गुणी था। ब्रम्हहत्या से इंद्र ने इंद्ररूप का त्याग किया। अतः नहुष राजा को इंद्रपद दिया गया। जब उसने इंद्राणी को देखा तब विचलित होकर इंद्राणी की प्राप्ति की लालसा उसके मन में उत्पन्न हुई। अपूर्व वाहन में बैठकर आने की इंद्राणी की इच्छा का आदर करने के लिए उसने सप्तर्षिओं को रथ में जोतकर शीघ्रता से रथ चलाने का आग्रह करने लगा। अगस्ति ऋषि क्रोधित हुए। उसको सर्प होने का शाप दिया। इंद्रपद से च्युत होकर नहुष राजा सर्प हुआ।

अ. १८–१६६६

रंभासुर को महिषी से महिषासुर हुआ। उसने तीव्र तपश्चर्या करके पुरुष व्यक्ति से मृत्यु न होवे ऐसा वर प्राप्त किया। उसने पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने के लिए सबको त्रस्त किया। भगवती जगज्जननी ने स्त्रीरूप धारण करके महिषासुर से युद्ध किया। उसका वध किया।

अ. १८–१७३०

हिरण्यधेनु नाम के निषाद राजा को एकलव्य नामका पुत्र था। धनुर्विद्या प्राप्त करने के लिए वह द्रोणाचार्य के पास गया था। किंतु विद्यादान करने से उन्होंने इन्कार किया। उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनायी। एवं धनुर्विद्या का अभ्यास उस मूर्ति के सम्मुख प्रारंभ किया। अर्जुन से भी उसकी धनुर्विद्या श्रेष्ठ है यह देखकर द्रोणाचार्य ने गुरुदक्षिणा के रूप में उसका अंगूठा मांग लिया। तबसे निषादजाति के लोग अंगूठे का स्पर्श न करते हुए पैर चलाते हैं॥

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Vidya Mahavidyalaya
960

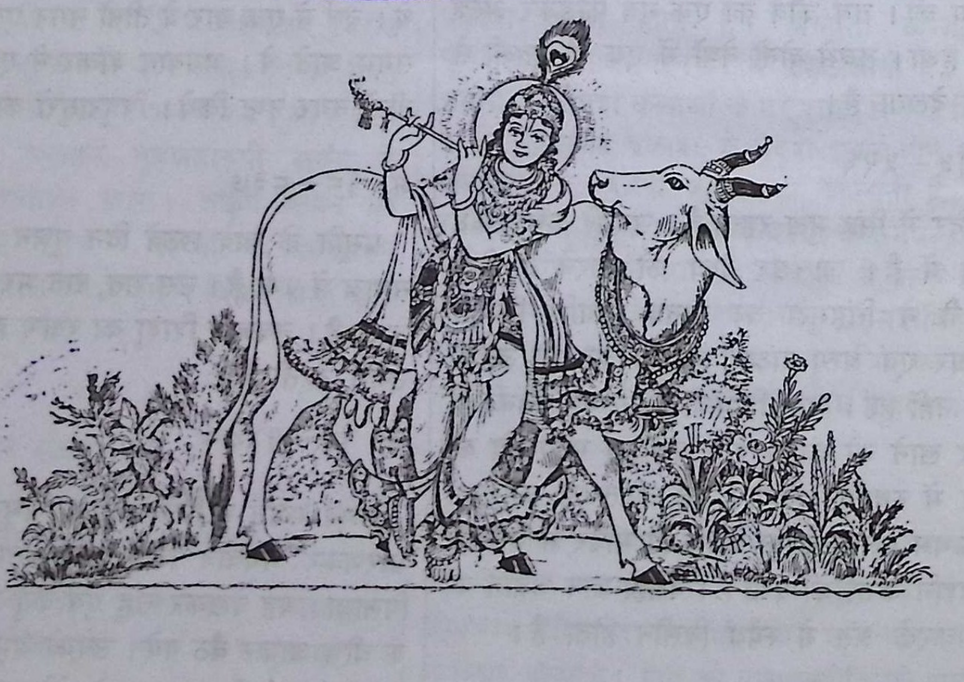

Funding by IKS-MoE

awan's Sri Sankaracharya
960
Mahavidyalaya * Bharatiya Vic

Funding by IKS-MoE

८२०
उ

Funding by IKS-MoE

। दुरितों का तिमिर जावे ।
।। विश्वस्वधर्म सूर्य उदित होवे ।।
। जो जो वांछित सो वह पावे ।
।। प्राणिजात ।।

(ज्ञानेश्वरी)